श्रीमद्-गुणभद्रविरचितम्

उत्तरपुराणम्

अष्टचत्वारिंशत्तमं पर्व

श्रीमान् जिनोऽजितो जीयाद् यद्वचांस्यमलान्यलम्[1] । क्षालयन्ति जलानीव विनेयानां मनोमलम् ॥ १ ॥
पुराणं तस्य वक्ष्येऽहं मोक्षलक्ष्मीसमागमः । श्रुतेन येन भव्यानामव्याहतमहोदयः ॥ २ ॥
इह जम्बूमति द्वीपे विदेहे प्राचि विश्रुते । सीतासरिदपाग्भागे वत्साख्यो विषयो महान् ॥ ३ ॥
सुसीमानगरं तस्मिन् विभूत्या विस्मयावहम् । नाम्नास्य नृपतिः प्राभूत् प्रभुर्विमलवाहनः ॥ ४ ॥
गुणा गुणार्थिभिः प्रार्थ्या न्यायोऽयं चित्रमत्र तत् । गुणाः प्रणयिनः सर्वे स्वयं तं वृण्वते स्म यत् ॥ ५ ॥
शक्तिसिद्धित्रयोपेतो यथान्यायमतन्द्रितः । प्रजाः स पालयामास विधाय स्वप्रजासमाः ॥ ६ ॥
धर्मादिर्यस्ततोऽर्थोऽर्थात् कामो[2][3]ऽये[4]ऽनिष्ठिते, [5]न तौ । इति स्मरन् बभूवासौ जैनधर्मेण धार्मिकः ॥ ७ ॥
स कदाचित् समुत्पन्नबोधिः संज्वलनोदयी । स्वगतं[6] जातसंवेदो रहस्येवमचिन्तयत् ॥ ८ ॥

अनन्तचतुष्टय रूप अन्तरंग लक्ष्मी और अष्टप्रातिहार्य रूप वहिरंग लक्ष्मीसे युक्त वे अजितनाथ स्वामी सदा जयवन्त रहें जिनके कि निर्दोष—पूर्वापरविरोध आदि दोषोंसे रहित वचन, जलकी तरह भव्य जीवोंके मनमें स्थित रागद्वेषादिरूप मलको धो डालते हैं ॥१॥ मैं उन अजितनाथ स्वामीके उस पुराणको कहूँगा जिसके कि सुननेसे भव्य जीवोंको बाधाहीन महाभ्युदयसे युक्त मोक्षरूपी लक्ष्मीका समागम प्राप्त हो जाता है ॥२॥ इस जम्बूद्वीपके अतिशय प्रसिद्ध पूर्व विदेह क्षेत्रमें सीता नदीके दक्षिण तटपर वत्स नामका विशाल देश है ॥३॥ उसमें अपने वैभवसे आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला सुसीमा नामका नगर है। किसी समय इस सुसीमा नगरका राजा विमलवाहन था जो बड़ा ही प्रभावशाली था ॥४॥ संसारमें यह न्याय प्रसिद्ध है कि गुणोंकी चाह रखनेवाले मनुष्य गुणोंकी खोज करते हैं परन्तु इस राजामें यह आश्चर्यकी बात थी कि स्नेहसे भरे हुए सभी गुण अपने-आप ही आकर रहने लगे थे ॥५॥ वह राजा उत्साहशक्ति, मन्त्रशक्ति और फलशक्ति इन तीन शक्तियोंसे तथा उत्साहसिद्धि, मन्त्रसिद्धि और फलसिद्धि इन तीन सिद्धियोंसे सहित था, आलस्यरहित था और अपनी सन्तानके समान न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करता था ॥६॥ 'धर्मसे पुण्य होता है, पुण्यसे अर्थकी प्राप्ति होती है और अर्थसे काम—अभिलषित भोगोंकी प्राप्ति होती है, पुण्यके बिना अर्थ और काम नहीं मिलते हैं' यही सोचकर वह राजा जैनधर्मके द्वारा सच्चा धर्मात्मा हो गया था ॥७॥ किसी समय उस राजाके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय दूर होकर सिर्फ संज्वलन कषायका उदय रह गया उसी समय उसे रत्नत्रयकी प्राप्ति हुई और वह संसारसे विरक्त हो मन-ही-मन एकान्तमें इस प्रकार विचार करने लगा ॥८॥

---

१ वणते क०, ख०, ग०, घ० । २ पुण्यम् । ३ पुण्ये । ४ अपूर्णे । ५ अर्थकामौ न भवतः । ६ स्वागतं ग० ।

आयुषो वसतिः काये कायस्थस्य [1]ममाप्यलम् । आयुर्जलं [2]गलत्याशु मितकालघटीधृतम् ॥ ९ ॥
ततो गलति निःशेषं न यावत्तावदेव हि । वर्त्स्याम्युत्सह्य सन्मार्गे जैने स्वर्गापवर्गयोः ॥ १० ॥
इत्याशापाशमाच्छिद्य बहुभिः सह निस्पृहः । राजलक्ष्म्या स्वतन्त्रोऽपि दीक्षालक्ष्म्या वशीकृतः ॥ ११ ॥
तपस्यन् सुचिरं तीव्रं विस्पष्टैकादशाङ्गकः । [3]नाम्नोऽन्त्यमेव पुण्यात्मा स्वकार्षीद्भावनापरः ॥ १२ ॥
आयुषोऽन्ते समाधानं विधाय परमेष्ठिषु । त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायुरयात् स [4]विजयं जयी ॥ १३ ॥
तत्राद्यायाद्यसंस्थानं [5]शुक्ललेश्याद्वयान्वितः । हस्तोच्छ्रायं शुभं देहं सुवर्णादिचतुष्टयम् ॥ १४ ॥
मासैः षोडशभिः पञ्चदशभिश्चोच्छ्वसन् दिनैः । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राब्दै[6]र्मानसाहारमाहरन् ॥ १५ ॥
निजतेजोऽवधिव्याप्तलोकनालिनिजावधिः[7] । क्षेत्रोत्थापितबलस्तत्पूरककायजविक्रियः ॥ १६ ॥
सातपञ्चशुभः सौख्यमप्रवीचारमन्वभूत् । सप्रवीचारसत्सौख्यात्तदनन्तगुणाधिकम् ॥ १७ ॥
तस्मान्मह्यां [8]महाभागे स्वर्गाद्गोरागमिष्यति । प्रागेव भावनोपात्ततीर्थकृन्नामपुण्यतः ॥ १८ ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे साकेतनगराधिपः । इक्ष्वाकुर्जितशत्र्वाख्यः ख्यातो गोत्रेण काश्यपः ॥ १९ ॥
तस्य शक्राज्ञया गेहे षण्मासान् प्रत्यहं मुहुः । रत्नान्यैलविल[9]स्तिस्रः कोटीः सार्धं न्यपीपतत् ॥२०॥
ज्येष्ठे मासि कलाशेषशशिरोहिण्युपागमे । मुहूर्तात् ब्रह्मणः पूर्वे [10]वरनिद्राविलेक्षणाम् ॥ २१ ॥

'इस जीवका शरीरमें जो निवास हो रहा है वह आयुकर्मसे ही होता है, मैं यद्यपि शरीरमें स्थित हूँ तो भी कालकी परिमित घड़ियोंमें धारण किया हुआ मेरा आयुरूपी जल शीघ्र ही गलता जाता है—उत्तरोत्तर कम होता जाता है इसलिए मेरा वह आयुरूपी जल जबतक समाप्त नहीं होता तबतक मैं स्वर्ग और मोक्षके मार्गभूत जैनधर्ममें उत्साहके साथ प्रवृत्ति करूँगा' ॥९-१०॥ इस प्रकार आशारूपी पाशको छेदकर वह राजा राज्यलक्ष्मीसे निस्पृह हो गया तथा स्वाधीन होनेपर भी अनेक राजाओंके साथ दीक्षारूपी लक्ष्मीके द्वारा अपने आधीन कर लिया गया अर्थात् अनेक राजाओंके साथ उसने जिन-दीक्षा धारण कर ली॥११॥ जिसने बहुत समय तक तीव्र तपस्या की है, जिसे ग्यारह अंगोंका स्पष्ट ज्ञान हो गया है, जिसकी आत्मा पुण्यके प्रकाशसे जगमगा रही है और जो दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओंके चिन्तनमें निरन्तर तत्पर रहता है ऐसे इस विमलवाहनने तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया ॥१२॥ इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेवाला वह विमलवाहन आयुके अन्त समय पञ्चपरमेष्ठियोंमें चित्त स्थिर कर—समाधिमरण कर तैंतीस सागरकी आयुका धारक हो विजय नामक अनुत्तरविमानमें पहुँचा॥१३॥ वहाँ वह द्रव्य और भाव दोनों ही शुक्ललेश्याओंसे सहित था तथा समचतुरस्र संस्थानसे युक्त एक हाथ ऊँचे एवं प्रशस्त रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसे सम्पन्न शुभ शरीरको लेकर उत्पन्न हुआ था, सोलह महीने और पन्द्रह दिन बाद उच्छ्वास लेता था, तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करता था, उसने अपने अवधिज्ञानके द्वारा लोकनाड़ीको व्याप्त कर रखा था अर्थात् लोकनाड़ी पर्यन्तके रूपी पदार्थोंको वह अपने अवधिज्ञानसे देखता था, उसमें लोकनाड़ीको उखाड़कर दूसरी जगह रख देनेकी शक्ति थी, वह उतने ही क्षेत्रमें अपने शरीरकी विक्रिया भी कर सकता था और सुखस्वरूप पंचेन्द्रियोंके द्वारा प्रवीचारजन्य सुखसे अनन्तगुणा अधिक अप्रवीचार सुखका उपभोग करता था ॥१४-१७॥ उस महाभागके स्वर्गसे पृथिवीपर अवतार लेनेके छह माह पूर्वसे ही प्रतिदिन तीर्थंकर नामक पुण्यप्रकृतिके प्रभावसे जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें साकेत नगरके अधिपति इक्ष्वाकुवंशीय काश्यपगोत्री राजा जितशत्रुके घरमें इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने साढ़े तीन करोड़ रत्नोंकी वृष्टि की ॥१८-२०॥ तदनन्तर जेठ महीनेकी अमावसके दिन जब कि रोहिणी नक्षत्रका कला मात्रसे अवशिष्ट-

१ ममाप्यरं ख० । ममापरम् ग०, क०, घ० । २ गलत्यश्रु क०, ख०, ग०, घ० । ३ नाम्नोऽन्त्यं शेष क०, ख०, ग०, घ० । ४ विजयनामानुत्तरविमानम् । ५ द्रव्यतो भावतश्च शुक्ललेश्यासहितः । ६ -र्मन-साहार- क०, ख०, ग०, घ० । ७ निजावधि-क्षेत्रो क०, ग०, घ० । ८ महाभागस्यागाद्गोरागमिष्यतः क०, ख०, ग० । ९ कुबेरः । १० ईषन्निद्राकलुषितलोचनाम् ।

देवीं विजयसेनाख्यां षोडशस्वप्नपूर्वकम् । प्रविशन्तं विलोक्यास्यवक्त्राब्जं [1]गन्धसिन्धुरम् ॥२२॥
प्रातः पृष्टवतीं स्वप्नान् देशावधिविलोचनः । जितशत्रुर्महाराजः फलान्येषामबूबुधत् ॥ २३ ॥
विजयादागतं देवं तद्गर्भे स्फटिकामलम् । विमलानुगसंज्ञान[2]नेत्रत्रितयभास्वरम्[3] ॥ २४ ॥
दशम्यां माघमासस्य शुक्लपक्षे प्रजेश्वरम् । प्रजेशयोगे नीतिर्वा महोदयमसूत सा ॥ २५ ॥
सागरोपमकोटीनां लक्षाः पञ्चाशदुत्तरे । मुक्तिमाद्ये जिने याते तदभ्यन्तरजीविनः ॥ २६ ॥
तदा विधाय देवेन्द्रा मन्दरे सुन्दराकृतेः । जन्माभिषेककल्याणमजिताख्यामकुर्वत ॥ २७ ॥
द्वासप्ततिगुणा लक्षाः पूर्वाणामस्य जीवितम् । चतुःशतानि पञ्चाशदुत्सेधो धनुषां मतः ॥ २८ ॥
भर्तुः सुवर्णवर्णस्य पादे[4] स्वस्यायुषो गते । अजितस्य जिताशेषबाह्याभ्यन्तरविद्विषः ॥ २९ ॥
पूर्वाणां लक्षया हीनं भागत्रितयमायुषः । पूर्वाङ्गमपि नार्पत्यं[5] निर्जितादित्यतेजसः ॥ ३० ॥
त्वया संभोगसौख्यस्य पर्यन्तोऽयं ममेति वा । राज्यलक्ष्म्या परिष्वक्तः श्लाघ्यान् भोगानभुङ्क्त सः ॥३१॥
स कदाचित्सुखासीनः सौधपृष्ठे विशां पतिः । उल्कामलोकतानल्पां जल्पन्तीमध्रुवां श्रियम् ॥ ३२ ॥
विषयेषु तदैवासौ विदां निर्विविदे वरः । लक्ष्मीमभ्यर्णमोक्षाणां क्षेप्तुं किं वा न कारणम् ॥ ३३ ॥
ब्रह्मलोकात्तदाभ्येत्य [6]सुराः सारस्वतादयः । मुनीश्वराः प्रशस्योच्चैस्तत्संदेवान्ववादिषुः ॥ ३४ ॥

चन्द्रमाके साथ संयोग था तब ब्राह्ममुहूर्तके पहले महारानी विजयसेनाने सोलह स्वप्न देखे। उस समय उसके नेत्र बाकी बची हुई अल्प निद्रासे कलुषित हो रहे थे। सोलह स्वप्न देखनेके बाद उसने देखा कि हमारे मुख-कमलमें एक मदोन्मत्त हाथी प्रवेश कर रहा है। जब प्रातःकाल हुआ तो महारानीने जितशत्रु महाराजसे स्वप्नोंका फल पूछा और देशावधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले महाराज जितशत्रुने उनका फल बतलाया कि तुम्हारे स्फटिकके समान निर्मल गर्भमें विजयविमानसे तीर्थंकर पुत्र अवतीर्ण हुआ है। वह पुत्र, निर्मल तथा पूर्व भवसे साथआनेवाले मति-श्रुत-अवधिज्ञानरूपी तीननेत्रोंसे देदीप्यमान है॥२१-२४॥ जिस प्रकार नीति, महान् अभ्युदयको जन्म देती है उसी प्रकार महारानी विजयसेनाने माघ-मासके शुक्लपक्षकी दशमी तिथिके दिन प्रजेशयोगमें प्रजापति तीर्थंकर भगवान्‌को जन्म दिया॥२५॥ भगवान् आदिनाथके मोक्ष चले जानेके बाद जब पचास लाख करोड़ सागर वर्ष बीत चुके तब द्वितीय तीर्थंकरका जन्म हुआ था। इनकी आयु भी इसी अन्तरालमें सम्मिलित थी। जन्म होते ही, सुन्दर शरीरके धारक तीर्थंकर भगवान्‌का देवोंने मेरुपर्वतपर जन्माभिषेक कल्याणक किया और अजितनाथ नाम रखा॥२६-२७॥ इन अजितनाथकी बहत्तर लाख पूर्वकी आयु थी और चार सौ पचास धनुष शरीरकी ऊँचाई थी। अजितनाथ स्वामीके शरीरका रंग सुवर्णके समान पीला था। उन्होंने बाह्य और आभ्यन्तरके समस्त शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली थी। जब उनकी आयुका चतुर्थांश अर्थात् अठारह लाख पूर्व प्रमाणकाल बीत चुका तब उन्हें राज्य प्राप्त हुआ। उस समय उन्होंने अपने तेजसे सूर्यका तेज जीत लिया था। एक लाख पूर्व कम अपनी आयुके तीनभाग तथा एक पूर्वाङ्ग तक उन्होंने राज्य किया। 'देखूँ, आपके साथ सम्भोगसुखका अन्त आता है या मेरा ही अन्त होता है' इस विचारसे राज्यलक्ष्मीके द्वारा आलिंगित हुए भगवान् अजितनाथने प्रशंसनीय भोगोंका अनुभव किया॥२८-३१॥

किसी समय अजितनाथ स्वामी महलकी छतपर सुखसे विराजमान थे कि उन्होंने लक्ष्मीको अस्थिर बतलानेवाली बड़ी भारी उल्का देखी॥३२॥ ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ अजितनाथ स्वामी उसी समय विषयोंसे विरक्त हो गये सो ठीक ही है क्योंकि जिन्हें शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त होनेवाला है उन्हें लक्ष्मीको छोड़नेके लिए कौन-सा कारण नहीं मिल जाता ?॥३३॥ उसी समय सारस्वत आदि देवर्षियों अर्थात् लौकान्तिक देवोंने ब्रह्मस्वर्गसे आकर उनके विचारोंकी बहुत भारी प्रशंसा तथा पुष्टि

---

१ मत्तहस्तिनम्। २ मतिश्रुतावधिज्ञानानि एव नेत्रत्रितयम्। ३ भास्करम् ग०। ४ चतुर्थभागे। ५ नृपतेः कार्यं नार्पत्यं राज्यम्। ६ सौराः क०, ख०, ग०, घ०।

तेषां तदुदितं तस्य लोकस्येवांशुमालिनः । स चक्षुषो यथार्थावलोकेऽगात्सहकारिताम् ॥ ३५ ॥
सुतायाजितसेनाय राज्याभिषेकपूर्वकम् । दत्त्वा विवेकिनां त्याज्यं राज्यं [1]भोज्यमिवोज्झितम् ॥ ३६ ॥
लब्धनिष्क्रान्तिकल्याणमहाभिषवसम्मदः । सुप्रभाशिबिकारूढो व्यूढो नरखगामरैः ॥ ३७ ॥
माघे मासि सिते पक्षे रोहिण्यां नवमीदिने । सहेतुके वने सप्तपर्णद्रुमसमीपगः ॥ ३८ ॥
अपराह्णे सहस्रेण राज्ञामाज्ञाविधायिनाम् । सार्धं [2]षष्ठोपवासेन [3]समाश्रित स संयमम् ॥ ३९ ॥
[4]चतुर्थज्ञानसम्पन्नो द्वितीयेऽह्नि प्रविष्टवान् । साकेतं दानिनां तोषमपूर्वमुपपादयन् ॥ ४० ॥
तत्र [5]ब्रह्मा महीपालस्तस्मै दानं [6]यथाक्रमात् । दत्त्वा सातादिभि पुण्यैः [7]सहापाश्चर्यपञ्चकम् ॥ ४१ ॥
छाद्मस्थ्येन नयन्नब्दान्पौषे द्वादशशुद्धधीः । शुक्लैकादश्यहःप्रान्ते[8] रोहिण्यामाप्तवानसौ ॥ ४२ ॥
सिंहसेनादयस्तस्य नवतिः स्युर्गणाधिपाः । खपञ्चसप्तवह्न्युक्तप्रमाणाः पूर्वधारिणः ॥ ४३ ॥
शिक्षकाः षड्द्वयस्वैकद्विप्रमागणनाः क्रमात् । शून्यद्वयचतूरन्ध्रमिताविज्ञानलोचनाः ॥ ४४ ॥
केवलावगमास्तत्र ते सहस्राणि विंशतिः । चतुःशतैः सहस्राणां विंशतिर्विकृतर्द्धयः ॥ ४५ ॥
शून्यपञ्चचतुर्द्व्येकमनःपर्ययवीक्षणाः । शून्यद्वयचतुर्द्व्येकैस्तस्यानुत्तरवादिनः ॥ ४६ ॥
सर्वे ते पिण्डिताः सन्तो लक्षमेकं तपोधनाः । प्रकुब्जाद्यार्यिकाः शून्यचतुष्कद्वित्रिसङ्गमिताः ॥४७॥
श्रावकास्त्रीणि लक्षाणि श्राविकाः [9]पञ्चलक्षिकाः । देवा देव्यस्त्वसंख्याताः संख्याता द्वादशो गणः ॥४८॥
एवं द्वादशभिर्देवो गणैरेभिः परिष्कृतः । संसारमोक्षतद्धेतुफलभेदान् प्रपञ्चयन् ॥ ४९ ॥

की ॥३४॥ जिस प्रकार लोग देखते तो अपने नेत्रोंसे हैं परन्तु सूर्य उसमें सहायक हो जाता है उसी प्रकार भगवान् यद्यपि स्वयं बुद्ध थे तो भी लौकान्तिक देवोंका कहना उनके यथार्थ अवलोकनमें सहायक हो गया ॥३५॥ उन्होंने जूँठनके समान विवेकी मनुष्योंके द्वारा छोड़नेयोग्य राज्य, राज्याभिषेकपूर्वक अजितसेन नामक पुत्रके लिए दे दिया ॥३६॥ देवोंने उनका दीक्षाकल्याणक-सम्बन्धी महाभिषेक किया। अनन्तर वे सुप्रभा नामकी पालकीपर आरूढ होकर सहेतुक वनकी ओर चले। उनकी पालकीको सर्वप्रथम मनुष्योंने, फिर विद्याधरोंने और फिर देवोंने उठाया था। माघमासके शुक्लपक्षकी नवमीके दिन रोहिणी नक्षत्रका उदय रहते हुए उन्होंने सहेतुक वनमें सप्तपर्ण वृक्षके समीप जाकर सायंकालके समय एक हजार आज्ञाकारी राजाओंके साथ वेलाका नियम लेकर संयम धारण कर लिया—दीक्षा ले ली ॥३७–३९॥ दीक्षा लेते ही वे मनःपर्यय ज्ञानसे सम्पन्न हो गये और दूसरे दिन दानियोंको अपूर्व आनन्द उपजाते हुए साकेतनगरीमें प्रविष्ट हुए ॥४०॥ वहाँ ब्रह्मा नामक राजाने उन्हें यथाक्रमसे दान दिया और सातावेदनीय आदि पुण्यप्रकृतियोंका बन्ध कर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥४१॥ शुद्धज्ञानके धारक भगवान्ने बारह वर्ष छद्मस्थ अवस्थामें बिताये। तदनन्तर पौषशुक्ल एकादशीके दिन शामके समय रोहिणी नक्षत्रमें आप्तपना प्राप्त किया अर्थात् लोकालोकावभासी केवलज्ञानको प्राप्त कर सर्वज्ञ हो गये ॥४२॥ उनके सिंहसेन आदि नब्बे गणधर थे। तीन हजार सात सौ पचास पूर्वधारी, इक्कीस हजार छह सौ शिक्षक, नौ हजार चार सौ अवधिज्ञानी, बीस हजार केवलज्ञानी, बीस हजार चार सौ विक्रियाऋद्धिवाले, बारह हजार चार सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी और बारह हजार चार सौ अनुत्तरवादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर एक लाख तपस्वी थे, प्रकुब्जा आदि तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएँ थीं, तीन लाख श्रावक थे, पाँच लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ थीं। और इस तरह उनकी बारह सभाओंकी संख्या थी ॥४३–४८॥ इस प्रकार बारह सभाओंसे वेष्टित भगवान् अजितनाथ संसार, मोक्ष, उनके कारण तथा फलके भेदोंका विस्तारसे कथन करते थे ॥४९॥ उन

१ उच्छिष्टभोजनमिव । २ दिनद्वयोपवासेन । ३ अङ्गीचकार । ४ मनःपर्ययज्ञानसहितः । ५ ब्रह्म-महीपाले क०, ग०, घ० । ६ यथाक्रमम् क०, ख०, ग० । ७ सह सातम्, आप लेभे, आश्चर्यपञ्चकम् पञ्चाश्चर्यान् इतिच्छेदः । ८ प्राप्त ग० । ९ पञ्चलक्षकाः क०, ख०, ग०, घ० ।

मालिनी

समवसरणलक्ष्म्या वीक्ष्यमाणः कटाक्षैः
सुकृतविकृतचिह्नैरष्टभिः प्रातिहार्यैः ।
अविहतविहतारिः प्राज्यवैराग्यभावः
स्वपरगुरुकृतार्थप्रार्थ्यसम्यक्प्रसिद्धः[1] ॥५०॥

शार्दूलविक्रीडितम्

पापैः क्वापि न जीयतेऽयमिति वा दुर्वादिभिश्चाखिलै-
र्नामान्वर्थमवाप्तवानिति विदां स्तोत्रस्य पात्रं भवन् ।
आर्यक्षेत्रमशेषमेव विहरन् सम्प्राप्य सम्मेदकं
स्थित्वा [2]दिव्यनिनादयोगरहितस्तत्रैव पक्षद्वयम् ॥५१॥
कुर्वाणः समयं प्रति प्रकृतिषु [3]स्त्राव गुणासंख्यया[4]
स्थित्यादिं च विघातयन् स्वमितिकं दण्डादिकं वर्तयन् ।
सूक्ष्मध्याननिरुद्धयोगविभवो विश्लिष्टदेहत्रय-
स्तुर्यध्यानसमाश्रयात्समुपयंश्चाष्टौ गुणान् शुद्धिमाक् ॥५२॥

आर्या

चैत्रज्योत्स्नापक्षे पञ्चम्यां रोहिणीगते चन्द्रे । प्रतिमायोगं बिभ्रत्पूर्वाह्णेऽवाप मुक्तिपदम् ॥५३॥

द्रुतविलम्बितम्

विमलवाहनमाहवदुर्द्धरं दुरितदूरतपश्चरणोद्यतम् ।
सुखनिधिं विजये सुरसत्तमं नमत भक्तिभरादजितं जिनम् ॥५४॥

अजितनाथ स्वामीको समवसरण लक्ष्मी कटाक्षोंसे देख रही थी, वे पुण्योत्पादित चिह्नस्वरूप आठ प्रातिहार्योंसे युक्त थे, उन्होंने कर्मरूपी शत्रुओंमें-से घातिया कर्मरूप शत्रुओंको नष्ट कर दिया था और अघातिया कर्मरूप शत्रुओंको अभी नष्ट नहीं कर पाया था, उनकी वैराग्यपरिणति अत्यन्त बढ़ी हुई थी, वे निज और परके गुरु थे, कृतकृत्य मनुष्योंके प्रार्थनीय थे और अतिशयप्रसिद्ध अथवा समृद्ध थे ॥५०॥ 'यह न तो कहीं पापोंसे जीते जाते हैं और न समस्त वादी ही इन्हें जीत सकते हैं इसलिए 'अजित' इस सार्थक नामको प्राप्त हुए हैं' इस प्रकार विद्वानोंकी स्तुतिके पात्र होते हुए भगवान् अजितनाथने समस्त आर्यक्षेत्रमें विहार किया और अन्तमें सम्मेदाचलपर पहुँचकर दिव्यध्वनिसे रहित हो एक मास तक वहींपर स्थिर निवास किया ॥५१॥ उस समय उन्होंने प्रतिसमय कर्म-प्रकृतियोंकी असंख्यातगुणी निर्जरा की, उनकी स्थिति आदिका विघात किया, दण्डप्रतर आदि लोकपूरणसमुद्घात किया, सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती ध्यानके द्वारा योगोंका वैभव नष्ट किया, औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंके सम्बन्धको पृथक् किया, और सातिशय विशुद्धताको प्राप्त हो व्युपरतक्रियानिवर्ती नामक चतुर्थ शुक्लध्यानके आश्रयसे अनन्तज्ञानादि आठ गुणोंको प्राप्त किया ॥५२॥ इस प्रकार चैत्रशुक्ल पञ्चमीके दिन जब कि चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्रपर था, प्रातःकालके समय प्रतिमायोग धारण करनेवाले भगवान् अजितनाथने मुक्तिपद प्राप्त किया ॥५३॥

जो पहले विमलवाहन भवमें युद्धके समय दुर्जेय रहे फिर पापनाशक तपश्चरणमें उद्यत रहे, तदनन्तर विजयविमानमें सुखके भण्डार स्वरूप श्रेष्ठ देव हुए उन अजित जिनेन्द्रको हे

---

१. समृद्धः ख०, ग० । २ दिव्यध्वनिरहितः । ३ निर्ज्जराम् । ४ गुणसंज्ञया क०, घ० ।

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्थं षोडशभावनाहितमहापुण्योदयापादकः
सद्ध्यानात्खलकर्मजालमखिलं निर्मूलयन्निर्मलः ।
धर्मः शर्मपरम्परां प्रविदधद्यत्र शिवे शाश्वते
तस्माद्धर्ममुपाद्ध्वमुज्झितमदाः शुद्धात्तबुद्धं बुधाः ॥५५॥

तीर्थकृत्सु द्वितीयोऽपि [1]योऽद्वितीयपदस्तुतः । स विधेयात् पुराणोरुमार्गनिर्वहणं कवेः ॥५६॥
तत्तीर्थे सगराभिख्यो द्वितीयश्चक्रवर्तिनाम् । अभूत् पुराणमेतस्य शृणु श्रेणिक धीधन ॥५७॥
द्वीपेऽत्र प्राग्विदेहस्य सीतावाग्भागभूषणे । विषये वत्सकावत्यां पृथिवीनगराधिपः ॥५८॥
जयसेनो जनैः सेव्यो जयसेनास्य वल्लभा । रतिषेणस्तयोः सूनुर्धृतिषेणश्च तावुभौ ॥५९॥
सूर्याचन्द्रमसौ जित्वा सदा भातः कृतोदयौ । पितरौ च (न) [2]मरुन्मार्गपृथिव्यौ वा ततः पृथक् ॥६०॥
कदाचिद्रतिषेणोऽभूत् कृतान्तमुखगह्वरे । केनापि हेतुना किं वा न मृत्योर्हेतुतां व्रजेत् ॥६१॥
[3]सजानिं जयसेनाख्यं [4]सलतं चामरद्रुमम् । [5]शोकाशनिरबाधिष्ट तन्मृत्युघननिर्गतः ॥६२॥
[6]प्रलयः प्राप्तकालस्तावालिलिङ्ग यमाग्रगः । लब्धरन्ध्रा न तिष्ठेयुरकृत्वापकृतिं द्विषः ॥६३॥
भिषक्प्रायोर्जितोपायैः शनैः संलब्धचेतनौ । गुरुणा गुरुणेवैष तेन दुःखेन बोधितः ॥६४॥
विग्रहं तद्गृहं मत्वा निगृहीतुं कृताग्रहः । हन्तुं यमं समुद्युक्तस्तद्धि युक्तं मनस्विनाम् ॥६५॥

भव्यजीवो ! नमस्कार करो ॥५४॥ चूँकि धर्म सोलह भावनाओंसे महापुण्य तीर्थंकर प्रकृतिको उत्पन्न करता है, श्रेष्ठ ध्यानके प्रभावसे समस्त दुष्ट कर्मोंके समूहका नाश कर देता है, स्वयं निर्मल है, सुखकी परम्पराको करनेवाला है और नित्य मोक्षसुखको देता है इसलिए शुद्ध तथा आप्तोपज्ञ धर्मकी हे विद्वज्जनो ! मदरहित होकर उपासना करो ॥५५॥ जो तीर्थंकरोंमें द्वितीय होनेपर भी पदसे स्तुत हैं, अद्वितीय—अनुपम हैं वे अजितनाथ भगवान्, कविको पुराणका विशाल मार्ग पूरा करनेमें सहायता प्रदान करें ॥५६॥

सगर चक्रवर्तीका वर्णन

द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथके तीर्थमें सगर नामका दूसरा चक्रवर्ती हुआ सो हे बुद्धिमान् श्रेणिक ! तू अब उसका चरित्र सुन॥५७॥ इसी जम्बूद्वीपके पूर्व विदेहमें सीता नदीके दक्षिण तटपर वत्सकावती नामका देश है। उसमें पृथिवी नगरका अधिपति, मनुष्योंके द्वारा सेवनीय जयसेन नामका राजा था। उसकी स्त्रीका नाम जयसेना था। उन दोनोंके रतिषेण और धृतिषेण नामके दो पुत्र थे॥५८-५९॥ वे भाग्यशाली दोनों पुत्र अपने तेजसे सदा सूर्य और चन्द्रमाको जीतते हुए शोभित होते थे। उनके माता-पिता आकाश और पृथिवीके समान उनसे कभी पृथक् नहीं रहते थे अर्थात् स्नेहके कारण सदा अपने पास रखते थे॥६०॥ एक दिन किसी कारणवश रतिषेणकी मृत्यु हो गयी सो ठीक ही है क्योंकि मृत्युका कारण क्या नहीं होता? अर्थात् जब मरणका समय आता है तब सभी मृत्युके कारण हो जाते हैं॥६१॥ रतिषेणकी मृत्युरूपी मेघसे निकले हुए शोकरूपी वज्रने लतासहित कल्पवृक्षके समान भार्यासहित राजा जयसेनको बाधित किया—दुःखी किया॥६२॥ उस समय अवसर पाकर यमराजके आगे-आगे चलनेवाली मूर्च्छाने उन दोनोंका आलिंगन किया अर्थात् वे दोनों मूर्च्छित हो गये सो ठीक ही है क्योंकि छिद्र प्राप्त करनेवाले शत्रु अपकार किये बिना नहीं रहते॥६३॥ जब वैद्यजनोंके श्रेष्ठ उपायोंके द्वारा धीरे-धीरे वे चैतन्यको प्राप्त हुए तो बृहस्पतिके समान श्रेष्ठ गुरुने राजा जयसेनको बड़ी कठिनाईसे समझाया॥६४॥ तदनन्तर वह इस शरीरको दुःखका घर मानकर उसका निग्रह करनेके लिए आग्रह करने लगा। और यमराजको मारने-

---

१ योऽद्वितीय. पथि श्रुते क०, ग०। पथि स्तुते ख०, घ०। २ आकाशपृथिव्यौ। ३ सभार्यम्। ४ लतोपेतं कल्पवृक्षमिव। ५ शोकवज्रम्। ६ मूर्च्छा।

जीर्णपर्णवदागण्य प्राणप्रान्तान् परिग्रहान् । राज्यभोग्ये नियुज्यार्थं धृतिषेणं [1]धृतायतिम् ॥६६॥
यशोधरगुरूद्दिष्टं शुद्धमध्यानमाप सः । नृपैर्महारुताख्येन बहुभिर्मैथुनेन च ॥६७॥
कालान्ते कृतसंन्यासविधिः कल्पेऽन्तिमेऽच्युते । देवो महाबलो नाम जयसेनोऽजनिष्ट सः ॥६८॥
महारुतोऽपि तत्रैव मणिकेतुः सुरोऽजनि । आवयोर्योऽवतीर्णः प्राक् तस्यान्यो बोधको भवेत् ॥६९॥
इति तत्र तयोरासीदन्योन्यं संप्रधारणम् । तत्र द्वाविंशतिसागरोपमाण्यामरं सुखम् ॥७०॥
अनुभूयात्र साकेतनगरे [2]कौशले नृपः । समुद्रविजयस्तस्य सुबाला रमणी तयोः ॥७१॥
महाबलोऽभवत्सूनुरिक्ष्वाकुः सगराह्वय । पूर्वाणां सप्ततिर्लक्षाः तस्यायुःपरमावधिः ॥७२॥
चतुःशतानि पञ्चाशदुत्सेधेन धनूंषि सः । सर्वलक्षणसंपूर्णः श्रीमांश्चामीकरच्छविः ॥७३॥
कुमारत्वे दशाष्टौ च लक्षाः पूर्वाण्ययुस्ततः । महामाण्डलिकत्वं च तस्य तावत्प्रमामितम् ॥७४॥
तदोदपादि षट्खण्डभूचक्राक्रमणक्षमम् । चक्रं कीर्तिश्च [3]दिक्चक्रमाक्रमन्त्यात्तविक्रमा ॥७५॥
आद्यचक्रिवदेषोऽपि कृत्वा दिग्विजयं चिरम् । गृह्णन् तत्सारवस्तूनि सर्वान् स्वाज्ञामजिग्रहत् ॥७६॥
ततो निवृत्य साकेतं साम्राज्यश्रीनिकेतनम् । भोगान् दशाङ्गान् निर्भङ्गं निर्विशन्नावसन् सुखम् ॥७७॥
तस्य षष्टिसहस्राणि पुत्राणां कृतिनोऽभवन् । तदाकारेण वा तस्य वेधसा व्यञ्जिता गुणाः ॥७८॥
तस्मिन् सिद्धिवने श्रीनाम्नश्चतुर्मुखयोगिनः । अभ्यदाखिलभास्यासीत् केवलाधिगमस्तदा ॥७९॥
तत्कल्याणस्य देवेन्द्रैर्मणिकेतुः सहागतः । महाबलोऽजनि क्वेति सोपयोगोऽवधित्विषा ॥८०॥

के लिए उद्यत हुआ सो ठीक ही है क्योंकि मनस्वी मनुष्योंको यही योग्य है ॥६५॥ वह प्राणोंका अन्त करनेवाले अथवा इन्द्रियादि प्राण हैं अन्तमें जिनके ऐसे परिग्रहोंको पुराने पत्तोंके समान समझने लगा तथा राज्यके उपभोगमें भाग्यशाली आर्य धृतिषेण नामक पुत्रको नियुक्त कर अनेक राजाओं और महारुत नामक सालेके साथ यशोधर गुरुके द्वारा बतलाये हुए शुद्ध मोक्षमार्गको प्राप्त हुआ—दीक्षित हो गया ॥६६–६७॥ जयसेन मुनिने आयुके अन्तमें संन्यासमरण किया जिससे अन्तिम अच्युत स्वर्गमें महाबल नामके देव हुए ॥६८॥ जयसेनका साला महारुत भी उसी स्वर्गमें मणिकेतु नामका देव हुआ। वहाँ उन दोनोंमें परस्पर प्रतिज्ञा हुई कि हम लोगोंके बीच जो पहले पृथिवीलोकपर अवतीर्ण होगा—जन्म धारण करेगा, दूसरा देव उसे समझानेवाला होगा—संसारका स्वरूप समझाकर दीक्षा लेनेकी प्रेरणा करेगा। महाबल देव, अच्युत स्वर्गमें बाईस सागर पर्यन्त देवोंके सुख भोगकर कोशल देशकी अयोध्या नगरीमें इक्ष्वाकुवंशी राजा समुद्रविजय और रानी सुबालाके सगर नामका पुत्र हुआ। उसकी आयु सत्तर लाख पूर्वकी थी। वह चार सौ पचास धनुष ऊँचा था, सब लक्षणोंसे परिपूर्ण था, लक्ष्मीमान् था तथा सुवर्णके समान कान्तिसे युक्त था ॥६९–७३॥ उसके अठारह लाख पूर्व कुमार अवस्थामें व्यतीत हुए। तदनन्तर महामण्डलेश्वर पद प्राप्त हुआ। उसके बाद इतना ही काल बीत जानेपर छह खण्डोंकी पृथिवीके समूहपर आक्रमण करनेमें समर्थ चक्ररत्न प्रकट हुआ और दिशाओंके समूहपर आक्रमण करती हुई प्रतापपूर्ण कीर्ति प्रकट हुई ॥७४–७५॥ प्रथम चक्रवर्ती भरतके समान इसने भी चिर काल तक दिग्विजय किया, वहाँकी सारपूर्ण वस्तुओंको ग्रहण किया और सब लोगोंको अपनी आज्ञा ग्रहण करायी ॥७६॥ दिग्विजयसे लौटकर वह साम्राज्य-लक्ष्मीके गृहस्वरूप अयोध्या नगरीमें वापस आया और निर्विघ्नरूपसे दस प्रकारके भोगोंका उपभोग करता हुआ सुखसे रहने लगा ॥७७॥ उस पुण्यवान्‌के साठ हजार पुत्र थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो विधाताने पुत्रोंके आकारमें उसके गुण ही प्रकट किये हों ॥७८॥ किसी समय सिद्धिवनमें श्रीचतुर्मुख नामके मुनिराज पधारे थे और उसी समय उन्हें समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था ॥७९॥ उनके कल्याणोत्सवमें अन्य देवों तथा इन्द्रोंके साथ मणिकेतु देव भी आया था। वहाँ आकर

---

१ सुष्ठुभविष्यत्कालसहितम् । २ कोशले क०, ख०, ग०, घ० । ३ काष्ठासमूहं व्याप्नुवन्ती ।

सगरश्चक्रवर्त्येष शेषैः पुण्यैरभूदसौ । इति बुद्ध्वा विशां नाथमुपगम्येदमब्रवीत् ॥८१॥
स्मरस्यावां वदिष्यावस्तत्र कल्पेऽच्युताह्वये । प्राग्महीगतमत्रस्थो [1]बोधयत्वावयोरिति ॥८२॥
मनुष्यजन्मनः सारं साम्राज्यं चिरमन्वभूत् । किं भोगैर्भोगिभोगाभैर्भो [2]भव्यैभिर्भयावहैः ॥८३॥
उत्तिष्ठ स्वविभो मुक्तावित्यस्य विमुखोऽभवत् । चक्रवर्ती स सिद्धयध्वा काललब्ध्या विना कुतः ॥८४॥
ज्ञात्वा तत्तस्य वैमुख्यमन्यालापैर्न्यवर्तयत् । हितेनापि न कुर्वन्ति विप्रियं क्रमवेदिनः ॥८५॥
धिग्भोगानीदृशान्स्वोक्तेरेवं च्यावयतोऽघदान् । दुस्त्यजानिति निर्विण्णो मणिकेतुरगाद् दिवम् ॥८६॥
उपायमेकमालोच्य ततो ग्राहयितुं पुनः । मणिकेतुर्महीपालमवतीर्य महीतलम् ॥८७॥
आलम्ब्य लक्षणैर्लक्ष्यं कान्त्येन्दुं भानुमाभया । वामेन वपुषा कामं निर्जित्य विजितेन्द्रियः ॥८८॥
चारणत्वं समासाद्य भावयन् संयमं परम् । तस्थौ जिनेन्द्रान् वन्दित्वा सगरस्य जिनालये ॥८९॥
दृष्ट्वा तं विस्मयापन्नो [3]वयस्यस्मिन्निदं कुतः । तपस्तवेति पप्रच्छ नृपः [4]सोऽप्यन्यथाब्रवीत् ॥९०॥
यौवनं जरसा ग्रास्यं गलत्यायुः प्रतिक्षणम् । हेयः कायोऽशुचिः पापी दुर्धरो दुःखभाजनम् ॥९१॥
सर्वदानिष्टसंयोगो वियोगश्चेष्टवस्तुभिः । गतोऽनादिर्भवावर्तः पुनश्चानन्त एव सः ॥९२॥
कर्मारिभिरिदं सर्वं दग्ध्वा तानि तपोऽग्निना । यास्याम्यनश्वरीं शुद्धिं यथाहं कनकोपलः ॥९३॥

उसने जानना चाहा कि हमारा मित्र महाबल कहाँ उत्पन्न हुआ है ? इच्छा होते ही उसने अवधिज्ञानके प्रकाशसे जान लिया कि वह बाकी बचे हुए पुण्यसे सगर चक्रवर्ती हुआ है। ऐसा जानकर वह सगर चक्रवर्तीके पास पहुँचा और कहने लगा॥८०–८१॥ कि 'क्यों स्मरण है ? हम दोनों अच्युत स्वर्गमें कहा करते थे कि हम लोगोंके बीच जो पहले पृथिवीपर अवतीर्ण होगा उसे यहाँ रहनेवाला साथी समझायेगा॥८२॥ हे भव्य ! मनुष्यजन्मके सारभूत साम्राज्यका तू चिरकाल तक उपभोग कर चुका है। अब सर्पके फणाके समान भय उत्पन्न करनेवाले इन भोगोंसे क्या लाभ है ? हे राजन् ! अब मुक्तिके लिए उद्योग कर'। मणिकेतुके इतना कहनेपर भी वह चक्रवर्ती इससे विमुख रहा सो ठीक ही है क्योंकि मुक्तिका मार्ग काललब्धिके बिना कहाँसे मिल सकता है?॥८३–८४॥ सगर चक्रवर्तीकी विमुखता जान मणिकेतु अन्य वार्तालाप कर वापस लौट गया सो उचित ही है क्योंकि अनुक्रमको जाननेवाले पुरुष अहितकी बात जाने दो, हितके द्वारा भी किसीकी इच्छाके विरुद्ध काम नहीं करते॥८५॥ 'इन भोगोंको धिक्कार है जो कि मनुष्योंको इस प्रकार अपने कहे हुए वचनोंसे च्युत करा देते हैं, पाप उत्पन्न करनेवाले हैं और बड़ी कठिनाईसे छोड़े जाते हैं' इस तरह निर्वेदको प्राप्त होता हुआ मणिकेतु देव स्वर्ग चला गया॥८६॥ फिर कुछ समय बाद मणिकेतु देव राजाको तप ग्रहण करानेका एक दूसरा उपाय सोचकर पृथिवीपर आया॥८७॥ उसने चारण ऋद्धिधारी मुनिका रूप बनाया। वह मुनि अनेक लक्षणोंसे युक्त था, कान्तिसे चन्द्रमाको, प्रभासे सूर्यको और सुन्दर शरीरसे कामदेवको जीत रहा था। इस प्रकार जितेन्द्रिय हो उत्कृष्ट संयमकी भावना करता हुआ वह मुनि जिनेन्द्र भगवान्‌की बन्दना कर सगर चक्रवर्तीके चैत्यालयमें जा ठहरा॥८८–८९॥ उस चारण मुनिको देख चक्रवर्तीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा कि आपने इस अवस्थामें यह तप क्यों धारण किया है ? चारण मुनिने भी झूठमूठ कहा कि यह यौवन बुढ़ापाके द्वारा ग्रास्य है—ग्रसनेके योग्य है, आयु प्रतिक्षण कम हो रही है, यह शरीर चूँकि अपवित्र है, पापी है, दुर्धर है, और दुःखोंका पात्र है अतः छोड़नेके योग्य है। सदा अनिष्ट वस्तुओंका संयोग और इष्ट वस्तुओंका वियोग होता रहता है। यह संसाररूपी भँवर, अनादि कालसे बीत रही है फिर भी अनन्त ही बनी हुई है। जीवकी यह सब दशा कर्मरूप शत्रुओंके द्वारा की जा रही है अतः मैं तपरूपी अग्निके द्वारा उन कर्म-शत्रुओंको जलाकर सुवर्ण पाषाणके समान अविनाशी शुद्धिको प्राप्त होऊँगा—मोक्ष प्राप्त करूँगा॥९०–९३॥

---

१ बोधयित्वा ल० । २ हे ग० । ३ अस्यां दशायाम् । ४ सोऽपीत्यथाब्रवीत् क०, ख०, ग०, घ० ।

इत्युक्तः संसृतेर्भूपो वेपमानोऽपि नापतत् । पन्थानं निर्वृतेर्बद्धः पुत्रशृङ्खलया दृढम् ॥९४॥
नातिह्रस्वोऽस्य संसार इत्यगात्स विषादवान् । उपायो निष्फलः कस्य न विषादाय धीमतः ॥९५॥
वशीकृतेन साम्राज्यतुच्छलक्ष्म्या निधीशिना । [1]विस्मृताऽच्युतलक्ष्मीश्च कामिनां क्वान्तरज्ञता ॥९६॥
[2]लाभो लाभेषु पुत्राणां लाभः स्वर्गापवर्गयोः । लक्ष्म्योर्नासाविति स्मृत्वा मन्येऽस्यां सोऽनुषक्तवान् ९७
कदाचित्ते सुता दृप्ताः सिंहपोता इवोद्धताः । इति विज्ञापयामासुः समास्थं चक्रवर्तिनम् ॥९८॥
यदि क्षत्रियपुत्राणां [3]शौर्यसाहसशालिनाम् । यौवनं न पितुः [4]प्रैषे दुःसाध्ये साधितेप्सितम् ॥९९॥
किं तेन जन्मना तेन जन्मिनो जीवितेन वा । ननु तत्सर्वसामान्यं जन्मजीवितयोर्द्वयम् ॥१००॥
तदादिश विशामीश प्रैषं नः साहसावहम् । [5]पात्रेसमिततादैन्यं येनैनो[6] वा निरस्यते ॥१०१॥
तदाकर्ण्य मुदा पुत्राः सर्वं चक्रेण साधितम् । भो किं यन्न मे सिद्धं मध्ये हिमवत्समुद्रयोः ॥१०२॥
एष एव मम प्रैषो राज्यलक्ष्मीमिमां मम । संभूय भूयसीं यूयमनुभुङ्ध्वं यथोचितम् ॥१०३॥
इति भूयो [7]नरेन्द्रेण तेन ते सुनिवारिताः । जोषमास्थुर्विधेया[8] हि पितॄणां शुद्धवंशजाः ॥१०४॥
तेऽन्येद्युः पुनरासाद्य नृपं व्यज्ञापयन्निदम् । न भुञ्ज्महे न चेत्प्रैष इत्यभ्यर्णात्मशुद्धयः ॥१०५॥
तच्छ्रुत्वैष स कः प्रैष[9] इति चिन्तयता मनाक् । नन्वस्ति कार्यशेषोऽयं धर्म इत्यात्तहृष्टिना ॥१०६॥

मणिकेतुके इस प्रकार कहनेपर वह चक्रवर्ती संसारसे भयभीत तो हुआ परन्तु मोक्षमार्गको प्राप्त नहीं कर सका क्योंकि पुत्ररूपी साँकलोंसे मजबूत बँधा हुआ था ॥ ९४ ॥ 'अभी इसका संसार बहुत बड़ा है, इस प्रकार विषाद करता हुआ मणिकेतु चला गया सो ठीक ही है क्योंकि निष्फल उपाय किस बुद्धिमान्को विषाद नहीं करता ? ॥ ९५ ॥ वह देव सोचने लगा कि देखो साम्राज्यकी तुच्छ लक्ष्मीसे वशीभूत हुए चक्रवर्तीने अच्युत स्वर्गकी लक्ष्मी भुला दी सो ठीक ही है क्योंकि कामी मनुष्योंको अच्छे-बुरे पदार्थोंके अन्तरका ज्ञान कहाँ होता है ? ॥ ९६ ॥ मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह चक्रवर्ती सब लाभोंमें पुत्र-लाभको ही लाभ मानता है, स्वर्ग और मोक्षलक्ष्मीका लाभ इसके लिए लाभ नहीं है, ऐसा समझकर ही यह पुत्रोंमें अत्यन्त लीन हो रहा है ॥ ९७ ॥

किसी समय सिंहके बच्चोंके समान उद्धत और अहंकारसे भरे हुए वे राजपुत्र सभामें विराजमान चक्रवर्तीसे इस प्रकार निवेदन करने लगे कि शूरवीरता और साहससे सुशोभित क्षत्रिय-पुत्रोंका यौवन यदि दुःसाध्य कार्यमें पिताका मनोरथ सिद्ध नहीं करता तो वह यौवन नहीं है । ऐसे प्राणीके जन्म लेने अथवा जीवन धारण करनेसे क्या लाभ है ? जन्म लेना और जीवन धारण करना ये दोनों ही सर्वसाधारण हैं अर्थात् सब जीवोंके होते हैं । इसलिए हे राजन् ! हम लोगोंको साहससे भरा हुआ कोई ऐसा कार्य बतलाइए कि जिससे हमारी केवल भोजनमें सम्मिलित होनेसे उत्पन्न होनेवाली दीनता अथवा अधर्म दूर हो सके ॥९८–१०१॥

यह सुन चक्रवर्तीने हर्षित होकर कहा कि 'हे पुत्रो ! चक्रसे सब कुछ सिद्ध हो चुका है, हिमवान् पर्वत और समुद्रके बीच ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मुझे सिद्ध नहीं हुई है ? तुम्हारे लिए मेरा यही काम है कि तुम लोग मिलकर मेरी इस विशाल राज्यलक्ष्मीका यथायोग्य रीतिसे उपभोग करो' ॥१०२–१०३॥ इस प्रकार राजाने जब उन्हें बहुत निवारण किया तब वे चुप हो रहे सो ठीक ही है क्योंकि शुद्ध वंशमें उत्पन्न हुए पुत्र पिताके आज्ञाकारी ही होते हैं ॥ १०४ ॥ आत्मशुद्धिसे भरे वे राजपुत्र किसी एक दिन फिर राजाके पास जाकर कहने लगे कि यदि आप हम लोगोंको कोई कार्य नहीं देते हैं तो हम भोजन भी नहीं करते हैं ॥ १०५ ॥ पुत्रोंका निवेदन सुनकर राजा कुछ चिन्तामें पड़ गये । वे सोचने लगे कि इन्हें कौन-सा कार्य दिया जावे । अकस्मात् उन्हें याद आ गयी कि अभी धर्मका एक कार्य बाकी है ।

१ विस्मृताच्युतलक्ष्मीश्च क०, ख०, ग०, घ० । विस्मृतोऽच्युत ल० । २ लाभालाभेषु क०, घ० । ३ सूर्य क०, घ० । ४ प्रैष्यदुःसाध्ये ग० । ५ मात्रभोजनसंमेलनजन्यदैन्यम् । ६ पापमिव । ७ नृपेन्द्रेण क०, ख०, ग०, घ० । ८ आधीनाः आज्ञाकारिण इति यावत् । ९ प्रैष्य ग० ।

गङ्गाप्याज्ञापिता यूयं कैलासे भरतेशिना । गृहाः कृता महारत्नैश्चतुर्विंशतिरर्हताम् ॥१०७॥
तेषां गङ्गां प्रकुर्वीध्वं[1] परिखां परितो गिरिम् । इति तेऽपि तथा कुर्वन् दण्डरत्नेन सत्वरम् ॥१०८॥
मणिकेतुः पुनश्चास्य स्नेहसौजन्यचोदितः । सचिवैर्बोधनोपायं स सहैवं व्यचिन्तयत् ॥१०९॥
किञ्चिद्धितं प्रियं चोक्तं किञ्चिच्च हितमप्रियम् । किञ्चित्प्रियं सदहितं परं चाहितमप्रियम् ॥११०॥
अन्त्यद्वयं परित्यज्य शेषाभ्यां भाषता हितम् । इति निश्चित्य कैलासं तदैवागम्य दर्पिणः ॥१११॥
कुमारान् भस्मराशिं वा व्यधात् क्रूरोरगाकृतिः । कुर्वन्ति सुहृदोऽगत्या हितं चेदप्रियं च तत् ॥११२॥
ज्ञात्वापि तन्मृतिं भूपमाकर्णयितुमक्षमाः । तत्स्नेहं तेषु जानानः संवृत्य सचिवाः स्थिताः ॥११३॥
तदा ब्राह्मणरूपेण मणिकेतुरुपेत्य तम् । महाशोकसमाक्रान्तो[2]ऽवावेदयदिदं वचः ॥११४॥
देव देवे धराचक्रं रक्षति क्षेममत्र नः । किन्त्वन्तकेन मत्पुत्रोऽहार्यारा[3]जीविताववेः ॥११५॥
प्रेयान् ममैक[4] एवासौ नायुषा तेन जीवितम् । नानीतश्चेत्त्वया सोऽद्य तेन मामपि पश्यतः ॥११६॥
तव विद्धयग्रतो नीतं किं कुर्वन्ति न गर्विताः । शलाटुभक्षणे[5] लोलः[6] किं पक्वं तस्त्यजेदिति ॥११७॥
तदाकर्ण्याह[7] सन् राजा द्विज किं वेत्सि नान्तकः[8] । सिद्धैरेव स वार्योऽन्यैर्नेत्यागोपालविश्रुतम् ॥११८॥
अपवर्त्यायुषः केचिद्दद्रायुर्जीविनः परे[9] । तान् सर्वान् संहरत्येष यमो मृत्योरगोचरः ॥११९॥

उन्होंने हर्षित होकर आज्ञा दी कि भरत चक्रवर्तीने कैलास पर्वतपर महारत्नोंसे अरहन्तदेवके चौबीस मन्दिर बनवाये हैं सो तुम लोग उस पर्वतके चारों ओर गंगा नदीको उन मन्दिरोंकी परिखा बना दो।' उन राजपुत्रोंने भी पिताकी आज्ञानुसार दण्डरत्नसे वह काम शीघ्र ही कर दिया ॥१०६–१०८॥

प्रेम और सज्जनतासे प्रेरित हुआ मणिकेतु देव फिर भी अपने मन्त्रियोंके साथ राजा सगरको समझानेके लिए योग्य उपायका इस प्रकार विचार करने लगा ॥ १०९ ॥ कि वचन चार प्रकारके होते हैं-कुछ वचन तो हित और प्रिय दोनों ही होते हैं, कुछ हित और अप्रिय होते हैं, कुछ प्रिय होकर अहित होते हैं और कुछ अहित तथा अप्रिय होते हैं। इन चार प्रकारके वचनोंमें अन्तके दो वचनोंको छोड़कर शेष दो प्रकारके वचनोंसे हितका उपदेश दिया जा सकता है। ऐसा निश्चय कर वह मणिकेतु एक दुष्ट नागका रूप धरकर कैलास पर्वतपर आया और उन अहंकारी राजकुमारोंको भस्मकी राशिके समान कर चला गया सो ठीक ही है क्योंकि मन्त्रीगण जब कुछ उपाय नहीं देखते हैं तब हित होनेपर भी अप्रिय वचनोंका प्रयोग करते ही हैं ॥ ११०–११२ ॥ मन्त्री यह जानते थे कि राजाका पुत्रोंपर कितना स्नेह है अतः पुत्रोंका मरण जानकर भी वे राजाको यह समाचार सुनानेके लिए समर्थ नहीं हो सके। समाचारका सुनाना तो दूर रहा किन्तु उसे छिपाकर ही बैठ रहे ॥ ११३ ॥

तदनन्तर मणिकेतु ब्राह्मणका रूप रखकर चक्रवर्ती सगरके पास पहुँचा और बहुत भारी शोकसे आक्रान्त होकर निम्नांकित वचन कहने लगा ॥ ११४ ॥ 'हे देव ! जब आप पृथिवीमण्डलका पालन कर रहे हैं तब हम लोगोंकी यहाँ सब प्रकार कुशल है किन्तु आयुकी अवधि दूर रहनेपर भी यमराजने मेरा पुत्र हरण कर लिया है। वह मेरा एक ही पुत्र था। यदि आप उसे आयुसे युक्त अर्थात् जीवित नहीं करते हैं तो आज मुझे भी आपके देखते-देखते उस यमराजके द्वारा ले जाया हुआ समझें। क्योंकि अहंकारी लोग क्या नहीं करते हैं। जो कच्चे फल खानेमें सतृष्ण है वह भला पके फल क्यों छोड़ेगा ॥ ११५–११७ ॥

ब्राह्मणके वचन सुनकर राजाने कहा कि हे द्विजराज ! क्या आप नहीं जानते कि यमराज सिद्ध भगवान्‌के द्वारा ही निवारण किया जाता है; अन्य जीवोंके द्वारा नहीं, यह बात तो आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है ॥ ११८ ॥ इस संसारमें कितने ही प्राणी ऐसे हैं कि जिनकी

१ प्रकुर्वीत क०, ख०, ग०, घ०। २ व्यवेदयदिदं ग०। ३ हार्याराज्जीविताववधिः घ०। ह्यहार्यो ल०। ४ ममैव ल०। ५ आमफलभक्षणे। ६ सतृष्णः। ७ स राजा क०, घ०। सम्राजा ल०। ८ नान्तकम् क० घ०। ९ परे ल०।

तस्मिन् वहसि चेद्वैरं जीर्णो मा भूर्गृहे वृथा । मोक्षदीक्षां गृहाणाशु शोकं हित्वेत्युवाच तम् ॥१२०॥
इत्युक्ते देव किं सत्यमेतद्यक्षान्तकात्परः । बलीति तत्र भेतव्यं मया किञ्चिद्विवक्षता ॥१२१॥
तेनान्तकेन ते नीताः सर्वेऽपि स्वान्तिकं सुताः । तस्मात्त्वदुक्तमार्गेण बहुवैरं खलेऽन्तके ॥१२२॥
इत्याह सोऽपि तद्वाक्यवज्रनिर्भिन्नमानसः । गतासुरिव निःस्पन्दो बभूव नृपतिः क्षणम् ॥१२३॥
चन्दनोशीरसम्मिश्रसलिलैः सुहृदुक्तिभिः । उत्क्षेपैश्च मृदूत्क्षेपैः पुनरागत्य चेतनाम् ॥१२४॥
[1]मा माया मा [2]वृथायामा भीमः कामो यमोऽधमः । मङ्गुरः सङ्गमः प्रेम्णः कायोऽश्रेयोऽशुचिः क्षयी ॥१२५॥
[3]वार्मुक्कार्मुकनिर्भासि यौवनं तद्ययौ वनम् । जानन् जिनोऽहमद्यापि मूढोऽत्रैवेति चिन्तयन् ॥१२६॥
भव्ये भगलिदेशेशसिंहविक्रमराड्भुवः । विदर्भायाः सुते राज्यं नियोज्यासौ भगीरथे ॥१२७॥
राजते स्म तपोराज्ये दृढधर्मजिनान्तिके । तावदेव गृहे सन्तो न हेतुर्यावदीक्ष्यते ॥१२८॥
[4]सोऽपि गत्वा भवद्वार्तां महीपतिमबूबुधत् । अनाकर्ण्यामसौ श्रुत्वा गाढं शोकाग्निदीपितः ॥१२९॥
कृत्वा भगीरथे राज्यं तपोऽयाद्दहमप्यतः । इहान्वेष्टुं समायातः शोकाद्युष्मत्कुलद्विजः ॥१३०॥
इति देवः समभ्येत्य मायाभस्मावगुण्ठितान् । कुमारान् बोधयामास मायापि सुहृदां हिता ॥१३१॥

आयु बीचमें ही छिद जाती है और कितने ही ऐसे हैं कि जो जितनी आयुका बन्ध करते हैं उतना जीवित रहते हैं—बीचमें उनका मरण नहीं होता। यह यमराज उन सब जीवोंका संहार करता है पर स्वयं संहारसे रहित है ॥ ११९ ॥ यदि तुम उस यमराजपर द्वेष रखते हो तो घरके भीतर व्यर्थ ही जीर्ण-शीर्ण मत होओ। मोक्ष प्राप्त करनेके लिए शीघ्र ही दीक्षा धारण करो; शोक छोड़ो' ॥ १२० ॥

जब राजा सगर यह कह चुके तो ब्राह्मण-वेषधारी मणिकेतु बोला—'हे देव ! यदि यह सच है कि यमराजसे बढ़कर और कोई बलवान् नहीं है तो मैं जो कुछ कहूँगा उससे आपको भयभीत नहीं होना चाहिए। ॥ १२१ ॥ आपके जो पुत्र कैलास पर्वतपर खाई खोदनेके लिए गये थे वे सब उस यमराजके द्वारा अपने पास बुला लिये गये हैं इसलिए आपको अपने कहे हुए मार्गके अनुसार दुष्ट यमराजपर बहुत वैर धारण करना चाहिए अर्थात् दीक्षा लेकर यमराजको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥ १२२ ॥

ब्राह्मणके उक्त वचनरूपी वज्रसे जिसका हृदय विदीर्ण हो गया है ऐसा राजा सगर क्षण भरमें मरे हुएके समान निश्चेष्ट हो गया ॥ १२३ ॥ चन्दन और खससे मिले हुए जलसे, मित्रोंके वचनोंसे तथा पंखोंकी कोमल वायुसे जब वह सचेत हुआ तो इस प्रकार विचार करने लगा कि व्यर्थ ही खेदको बढ़ानेवाली यह लक्ष्मीरूपी माया मुझे प्राप्त न हो—मुझे इसकी आवश्यकता नहीं। यह काम भयंकर है, यमराज नीच है, प्रेमका समागम नश्वर है, शरीर अपवित्र है, क्षय हो जानेवाला है और इसीलिए सेवन करने योग्य नहीं है अथवा अकल्याणकारी है, यह यौवन इन्द्रधनुषके समान नश्वर है'''ऐसा जानते हुए तीर्थंकर भगवान् वनमें चले जाते हैं। परन्तु मैं मूर्ख अब भी इन्हींमें मूढ़ हो रहा हूँ'''ऐसा विचार कर सगर चक्रवर्तीने भगलि देशके राजा सिंहविक्रमकी पुत्री विदर्भाके पुत्र भव्य भगीरथके लिए राज्य सौंप दिया और आप दृढधर्मा केवलीके समीप दीक्षा धारण कर तपश्चरण रूपी राज्यमें सुशोभित होने लगा सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष घरमें तभी तक रहते हैं जबतक कि विरक्त होनेका कोई कारण नहीं दिखाई देता ॥ १२४–१२८ ॥ इधर चक्रवर्तीने दीक्षा ली उधर वह मणिकेतु देव उन पुत्रोंके पास पहुँचा और कहने लगा कि किसीने आपके मरणका यह अश्रवणीय समाचार राजासे कह दिया जिसे सुनकर वे शोकाग्निसे बहुत ही अधिक उद्दीपित हुए और भगीरथके लिए राज्य देकर तप करने लगे हैं। मैं आपकी कुल-परम्परासे चला आया ब्राह्मण हूँ अतः शोकसे यहाँ आप लोगोंको खोजनेके लिए आया हूँ ॥ १२९–१३० ॥ ऐसा कह-

---

१ मा लक्ष्मीः माया मायास्वरूपा मा भूत् । २ व्यर्थदैर्घ्या । ३ वार्मुक्मेघस्तस्य कार्मुकं धनुरिव निर्भासते शोभते इत्येवंशीलं नश्वरमिति यावत् । ४ कोऽपि ल०, ध० ।

तेऽपि तद्वचनात्प्रापन् तपस्तज्जिनसंश्रयात् । चरमाङ्गधरा युक्तं तदेवौचित्यवेदिनाम् ॥१३२॥
भगीरथोऽपि तान् गत्वा कृत्वा भक्त्या नमस्क्रियाम् । धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रमादत्त श्रावकव्रतम् ॥१३३॥
प्रकटीकृततन्मायो मणिकेतुश्च तान् मुनीन् । क्षन्तव्यमित्युवाचैतान् सगरादीन् सुहृद्वरः ॥१३४॥
कोऽपराधस्तवेदं नस्त्वया प्रियमनुष्ठितम् । हितं चेति प्रसन्नोक्त्या ते तदा [1]तमसान्त्वयन् ॥१३५॥
सोऽपि सन्तुष्य सिद्धार्थो देवो दिवमुपागमत् । परार्थसाधनं प्रायो ज्यायसां परितुष्टये ॥१३६॥
सर्वेऽते सुचिरं कृत्वा सत्तपो विधिवद् बुधाः । शुक्लध्यानेन सम्मेदे सम्प्रापन् परमं पदम् ॥१३७॥
निर्वाणगमनं श्रुत्वा तेषां निर्विण्णमानसः । वरदत्ताय दत्त्वात्मराज्यलक्ष्मीं भगीरथः ॥१३८॥
कैलासपर्वते दीक्षां शिवगुप्तमहामुनेः । आदाय प्रतिमायोगधार्यभूत्स्वर्धुनीतटे[2] ॥१३९॥
सुरेन्द्रेणास्य दुग्धाब्धिपयोभिरभिषेचनात् । क्रमयोस्तत्प्रवाहस्य गङ्गाया सङ्गमे सति ॥१४०॥
तदाप्रभृति तीर्थत्वं गङ्गाप्यस्मिन्नुपागता । कृत्वोत्कृष्टं तपो गङ्गातटेऽसौ निर्वृतिं गतः ॥१४१॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अत्रामुत्र च मित्रवन्न हितकृत् कोऽप्यस्ति बन्धुः परो
गुह्याद् गुह्यतरं गुरोरपि न तद्वाच्यं यदस्योच्यते ।
दुःसाध्यान्यपि साधयत्यगणयन्प्राणांश्च तत्र स्फुटो
दृष्टान्तो मणिकेतुरेव कुरुतां तन्मित्रमीदृग्विधम् ॥१४२॥

कर उस देवने मायामयी भस्मसे अवगुण्ठित राजकुमारोंको सचेत कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि मित्रोंकी माया भी हित करनेवाली होती है ॥ १३१ ॥ मणिकेतुके वचन सुन उन चरमशरीरी राजकुमारोंने भी जिनेन्द्र भगवान्‌का आश्रय लेकर तप धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि जो उचित बातको जानते हैं उन्हें ऐसा करना ही योग्य है ॥ १३२ ॥ जब भगीरथने यह समाचार सुना तब वह भी उन मुनियोंके पास गया और वहाँ उसने उन सबको भक्तिसे नमस्कार कर जिनेंद्रोक्त धर्मका स्वरूप सुना तथा श्रावकके व्रत ग्रहण किये ॥ १३३ ॥ अन्तमें मित्रवर मणिकेतुने उन सगर आदि मुनियोंके समक्ष अपनी समस्त माया प्रकट कर दी और कहा कि आप लोग क्षमा कीजिए ॥ १३४ ॥ 'इसमें आपका अपराध ही क्या है ? यह तो आपने हमारा हित तथा प्रिय कार्य किया है' इस प्रकारके प्रसन्नतासे भरे हुए शब्दों-द्वारा उन सब मुनियोंने मणिकेतु देवको सान्त्वना दी ॥ १३५ ॥ जिसका कार्य सिद्ध हो गया है ऐसा देव भी सन्तुष्ट होकर स्वर्ग चला गया सो ठीक ही है क्योंकि अन्य पुरुषोंके कार्य सिद्ध करनेसे ही प्रायः महापुरुषोंको संतोष होता है ॥ १३६ ॥ वे सभी विद्वान् मुनिराज चिरकाल तक यथाविधि तपश्चरण कर सम्मेद शैल पर पहुँचे और शुक्लध्यानके द्वारा परम पदको प्राप्त हुए ॥ १३७ ॥ उन सबका मोक्ष जाना सुनकर भगीरथका मन निर्वेदसे भर गया अतः उसने वरदत्तके लिए अपनी राज्यश्री सौंपकर कैलास पर्वतपर शिवगुप्त नामक महामुनिसे दीक्षा ले ली तथा गङ्गा नदीके तटपर प्रतिमा योग धारण कर लिया ॥ १३८-१३९ ॥ इन्द्रने क्षीरसागरके जलसे महामुनि भगीरथके चरणोंका अभिषेक किया जिसका प्रवाह गङ्गामें जाकर मिल गया। उसी समयसे गङ्गा नदी भी इस लोकमें तीर्थरूपताको प्राप्त हुई अर्थात् तीर्थ मानी जाने लगी। भगीरथ गङ्गा नदीके तटपर उत्कृष्ट तप कर वहींसे निर्वाणको प्राप्त हुआ ॥ १४०-१४१ ॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक ! इस लोक तथा परलोकमें मित्रके समान हित करनेवाला दूसरा नहीं है। न मित्रसे बढ़कर कोई भाई है। जो बात गुरु अथवा माता-पितासे भी नहीं कही जाती ऐसी गुप्तसे गुप्त बात मित्रसे कही जाती है, मित्र अपने प्राणोंकी भी परवाह नहीं करता हुआ कठिनसे कठिन कार्य सिद्ध कर देता है। मणिकेतु ही

---

१ तम् देवम् असान्त्वयन् शान्तं चक्रुरिति यावत् । २ गङ्गातीरे ।

मालिनी

स जयति जयसेनो यो जितारातिसेनः
श्रुत इति महदादिर्यो बलः प्रान्तकल्पे ।
सगरसकलचक्री योजितो यश्च यश्च
प्रहृतचरमदेहो देहमात्रात्मदेहः ॥ १४३ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे अजिततीर्थकरसगरचक्रधर-
पुराणपरिसमाप्तमित्यष्टचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥ ४८ ॥

इस विषयका स्पष्ट दृष्टान्त है इसलिए सबको ऐसा ही मित्र बनाना चाहिए ॥ १४२ ॥ जो पहले शत्रुओंकी सेनाको जीतनेवाले जयसेन हुए, फिर अच्युत स्वर्गमें महाबल देव हुए, वहाँसे आकर शत्रुओं-द्वारा अजेय सगर चक्रवर्ती हुए और अन्तमें अपना चरम शरीर—अन्तिम देह नष्ट कर शरीर प्रमाण आत्माके धारक रह गये ऐसे महाराज सगर सदा जयवन्त रहें ॥ १४३ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद् गुणभद्राचार्य-द्वारा प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण
महापुराण संग्रहमें अजितनाथ तीर्थंकर तथा सगर चक्रवर्तीका वर्णन
करनेवाला अड़तालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

श्रियं क्रियात्स मे निघ्नन् सम्भवो दम्भजृम्भणम् । सम्मुखीनायते[1] यस्य सद्बोधः सम्मुखेऽखिले[2] ॥ १ ॥
द्वीपेऽस्मिन्नादिमे पूर्वविदेहे नद्युदक्तटे । कच्छाख्ये विषये क्षेमपुरे विमलवाहनः ॥ २ ॥
नाम्ना नरपतिस्तस्य सद्यः केनापि हेतुना । सति [3]त्रिभेदे निर्वेदे स समासन्ननिर्वृतिः ॥ ३ ॥
जन्तुरन्तकदन्तस्थो हन्त जीवितुमीहते । मोहात्तन्निर्गमोपायं न चिन्तयति धिक् तमः ॥ ४ ॥
आयुः परमसङ्ख्याताः क्षणास्ते शरणीकृताः । प्राणिभिर्हानये येमानर्पयन्त्यन्तकप्रभोः ॥ ५ ॥
अभिलाषातपातप्ताश्छायां भोग्यस्य संश्रिता । जीर्णकूलस्य वासोऽमून्न हि क्षेमेण [4]पालयेत् ॥ ६ ॥
इत्यादि चिन्तयन् राज्यं दत्त्वा विमलकीर्तये । स्वयंप्रभजिनस्यान्तेवासित्वं प्रतिपन्नवान् ॥ ७ ॥
एकादशाङ्गधारी सन् त्रैलोक्यक्षोभकारणम् । भावनाभिर्निबध्यान्त्यनामतीर्थकराह्वयम् ॥ ८ ॥
संन्यासविधिना त्यक्तदेहो ग्रैवेयकादिमे । [5]सुदर्शने विमानेऽभूदहमिन्द्रो महर्द्धिकः ॥ ९ ॥
त्रयोविंशतिवार्ध्यायुः स षष्ट्यङ्गुलमानभाक् । [6]शरीरी लेश्यया शुक्लः श्वसन् पक्षोनवत्सरे ॥ १० ॥
खत्रयाग्निद्विवर्षान्ते भोजनं मनसा स्मरन् । निःप्रवीचारभोगोऽन्त्यनरकान्तगतावधिः ॥ ११ ॥
स्वावधिक्षेत्रसञ्चारसमर्थस्तत्प्रमप्रभः । प्राग्देहोत्थतनुव्याप्त्या स्वावधिक्षेत्रपूरकः ॥ १२ ॥

जिनका ज्ञान सामने रखे हुए समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेके लिए दर्पणके समान है तथा जो सब प्रकारके पाखण्डोंके विस्तारको नष्ट करनेवाले हैं ऐसे सम्भवनाथ तीर्थंकर मेरा कल्याण करें ॥ १ ॥ इसी पहले जम्बूद्वीपके पूर्व विदेहक्षेत्रमें सीता नदीके उत्तर तटपर एक कच्छ नामका देश है। उसके क्षेमपुर नगरमें राजा विमलवाहन राज्य करता था ॥ २ ॥ जिसे निकट भविष्यमें मोक्ष होनेवाला है ऐसा वह राजा किसी कारणसे शीघ्र ही विरक्त हो गया। वह विचार करने लगा कि इस संसारमें वैराग्यके तीन कारण उपस्थित हैं ॥ ३ ॥ प्रथम तो यह कि यह जीव यमराजके दाँतोंके बीचमें रहकर भी जीवित रहनेकी इच्छा करता है और मोहकर्मके उदयसे उससे निकलनेका उपाय नहीं सोचता इसलिए इस अज्ञानान्धकार-को धिक्कार हो ॥ ४ ॥ वैराग्यका दूसरा कारण यह है कि इस जीवकी आयु असंख्यात समयकी ही है उन्हें ही यह शरण माने हुए है परन्तु आश्चर्य है कि ये आयुके क्षण ही इन जीवोंको नष्ट होनेके लिए यमराजके समीप पहुँचा देते हैं ॥ ५ ॥ तीसरा कारण यह है कि ये जीव अभिलाषारूपी धूपसे संतप्त होकर विषयभोगरूपी किसी नदीके जीर्ण-शीर्ण तटकी छायाका आश्रय ले रहे हैं सो उनका यह आश्रय कुशलतापूर्वक उनकी रक्षा नहीं कर सका ॥ ६ ॥ इत्यादि विचार करते हुए विमलवाहन राजाने अपना राज्य विमलकीर्ति नामके पुत्रके लिए देकर स्वयंप्रभ जिनेन्द्रकी शिष्यता स्वीकार कर ली अर्थात् उनके पास दीक्षा धारण कर ली ॥ ७ ॥ ग्यारह अङ्गोंका जानकार होकर उसने सोलह कारण भावनाओंके द्वारा तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला तीर्थंकर नामक नामकर्मका बन्ध किया ॥ ८ ॥ अन्तमें संन्या-सकी विधिसे शरीर छोड़कर प्रथम ग्रैवेयकके सुदर्शन विमानमें बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाला अहमिन्द्र हुआ ॥ ९ ॥ तेईस सागरकी उसकी आयु थी, साठ अंगुल ऊँचा उसका शरीर था, शुक्ल लेश्या थी, साढ़े ग्यारह माहमें एक बार श्वास लेता था, तेईस हजार वर्ष बाद मनसे आहारका स्मरण करता था, उसके भोग प्रवीचारसे रहित थे, सातवें नरकके अन्त तक उसका अवधिज्ञान था, अवधिज्ञानके क्षेत्रमें गमन करनेकी शक्ति थी, उतनी ही उसके शरीरकी प्रभा

---

१ –आयते ख०, ग० । सम्मुखे पुरस्ताद् भवतीति सम्मुखीनो दर्पणस्तद्वदाचरतीति सम्मुखीनायते
२ सन्मुखोऽखिले ख० । ३ त्रिभेद क०, ख०, ग०, घ०, म० । ४ यापयेत् ख०, ग० । ५ सुदर्शनविमाने क०, ख०, ग०, घ०, म० । ६ अर्धर्चादित्वात्पुंस्त्वम ।

अणिमादिगुणोपेतं पञ्चपुण्योदयार्पितम् । अहमिन्द्रसुखं श्रीमानन्वभूदमरोत्तमः ॥१३॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे श्रावस्तिनगरेशिनः । राज्ञः काश्यपगोत्रस्य दृढराजस्य सद्युतेः ॥१४॥
वल्लभेक्ष्वाकुवंशस्य सुषेणा तत्सुरागमे । षण्मासान् वसुधाराधि[1]माहात्म्यपदवीं गता ॥१५॥
शुक्लफाल्गुनजाष्टम्यां स्वप्नान् षोडश पञ्चमे । प्रभातसमयेऽपश्यन्नक्षत्रे सुकृतोदयात् ॥१६॥
ततोऽनु वदनं [2]तस्याः स्वप्ने प्राविशदग्रिमः[3] । गिरीन्द्रशिखराकारो वारणश्चारुलक्षणः ॥१७॥
सा तेषां फलमाकर्ण्य स्वपतेर्मुदमागता । नवमे मासि नक्षत्रे पञ्चमे सौम्ययोगगे ॥१८॥
पौर्णमास्यामवापार्घ्यमहमिन्द्रं [4]त्रिविद्युतम् । स जन्मोत्सवकल्याणप्रान्ते सम्भव इत्यभूत् ॥१९॥
सम्भवे तव लोकानां शं भवत्यद्य शम्भव । विनापि परिपाकेन तीर्थकृन्नामकर्मणः ॥२०॥
[5]तवाङ्गचूते प्रीणन्ति लक्षणव्यञ्जनोद्गमे । प्रलम्बबाहुविटपे सुरदृग्भ्रमराश्चिरम् ॥२१॥
परतेजांसि ते तेजो भाति देव तिरोदधत् । मतानि कपिलादीनां स्याद्वादस्येव निर्मलम् ॥२२॥
समस्ताह्लादकेनासोदामोदेनेव चन्दनः । बोधेन सहजातेन त्रिविधेन जगद्धितः ॥२३॥
त्वां लोकः स्नेहसंवृद्धो निर्हेतुहितकारणम् । प्रदीपवन्नमत्येष निधानमिव [6]भास्वरम् ॥२४॥
इति स्तुत्वादिकल्पेशो विहितानन्दनाटकः । पित्रोस्तमर्पयित्वामा स्वर्लोकमगमत्सुरैः ॥२५॥

थी और उतनी ही दूर तक उसका वैक्रियिक शरीर आ जा सकता था ॥१०–१२॥ इस प्रकार वह श्रीमान् उत्तम अहमिन्द्र अणिमा महिमा आदि गुणोंसे सहित तथा पाँच प्रकारके पुण्योदयसे प्राप्त होनेवाले अहमिन्द्रके सुखोंका अनुभव करता था ॥ १३ ॥

अथानन्तर इसी जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें श्रावस्ती नगरीका राजा दृढराज्य था। वह इक्ष्वाकुवंशी तथा काश्यपगोत्री था। उसके शरीरकी कान्ति बहुत ही उत्तम थी। सुषेणा उसकी स्त्रीका नाम था। जब पूर्वोक्त देवके अवतार लेनेमें छह मास बाकी रह गये तब सुषेणा रत्नवृष्टि आदि माहात्म्यको प्राप्त हुई। फाल्गुन शुक्ल अष्टमीके दिन प्रात:कालके समय मृगशिरा नक्षत्रमें पुण्योदयसे रानी सुषेणाने सोलह स्वप्न देखे ॥ १४–१६ ॥ तदनन्तर स्वप्नमें ही उसने देखा कि सुमेरु पर्वतके शिखरके समान आकारवाला तथा सुन्दर लक्षणोंसे युक्त एक श्रेष्ठ हाथी उसके मुखमें प्रवेश कर रहा है ॥१७॥ अपने पतिसे उन स्वप्नोंका फल सुनकर वह आनन्दको प्राप्त हुई। उसी दिन वह अहमिन्द्र उसके गर्भमें आया। तदनन्तर नवमे महीनेमें कार्तिक शुक्ला पौर्णमासीके दिन मृगशिरा नक्षत्र और सौम्य योगमें उसने तीन ज्ञानोंसे युक्त उस पूज्य अहमिन्द्र पुत्रको प्राप्त किया। जन्मकल्याणकसम्बन्धी उत्सव हो जानेके बाद उसका 'संभव' यह नाम प्रसिद्ध हुआ ॥ १८–१९॥ इन्द्रोंने उस समय भगवान् संभवनाथकी इस प्रकार स्तुति की—हे संभवनाथ ! तीर्थंकर नामकर्मके उदयके बिना ही केवल आपके जन्मसे ही आज जीवोंको सुख मिल रहा है। इसलिए आपका संभवनाथ नाम सार्थक है ॥ २० ॥ हे भगवन् ! जिसमें अनेक लक्षण और व्यञ्जनरूपी फूल लग रहे हैं तथा जो लम्बी-लम्बी भुजाओंरूपी शाखाओंसे सुशोभित है ऐसे आपके शरीररूपी आम्रवृक्षपर देवोंके नेत्ररूपी भ्रमर चिरकाल तक तृप्त रहते हैं॥ २१ ॥ हे देव ! जिस प्रकार स्याद्वादका निर्मल तेज कपिल आदिके मतोंका तिरस्कार करता हुआ सुशोभित हो रहा है उसी प्रकार आपका निर्मल तेज भी अन्य लोगोंके तेजको तिरस्कृत करता हुआ सुशोभित हो रहा है ॥ २२ ॥ जिस प्रकार सब जीवोंको आह्लादित करनेवाली सुगन्धिसे चन्दन जगत्का हित करता है उसी प्रकार आप भी साथ उत्पन्न हुए तीन प्रकारके ज्ञानसे जगत्का हित कर रहे हैं ॥ २३ ॥ हे नाथ ! आपके स्नेहसे बढ़ा हुआ यह लोक, दीपकके समान कारणके बिना ही हित करनेवाले तथा खजानेके समान देदीप्यमान आपको नमस्कार कर रहा है ॥ २४ ॥ इस प्रकार स्तुति कर जिसने आनन्द नामका नाटक किया है ऐसा प्रथम स्वर्गका अधिपति सौधर्मेन्द्र माता-पिताके लिए भगवान्को सौंपकर देवोंके साथ स्वर्ग चला गया ॥ २५ ॥ द्वितीय तीर्थंकरकी तीर्थ-

1 वसुधारादिमाहात्म्य–क०, ख०, ग०, घ० । 2 वदनस्यान्तः ल० । 3 –दग्रिमे ल० । 4 त्रिदिवश्च्युतम् ख०, ग० । ज्ञानत्रयसहितम् । 5 तव शरीराम्रवृक्षे टि० । तवाङ्गभूजे ल० । 6 भास्वरः ल० ।

द्वितीयतीर्थसन्ताने समये सागरोपमैः । अशाच्छतसहस्त्रोक्तकोटिभिः प्रान्तमीयुषि ॥२६॥
शम्भवाख्योऽभवत्स्वामी तदभ्यन्तरजीवितः । स पूर्वषष्टिलक्षायुः चतुःशतधनुःप्रमः ॥२७॥
आयुषीते[1] चतुर्भागे प्राप्तराज्यमहोदयः । सुखान्यन्वभवद्देवैरुपनीतान्यनुक्षणम् ॥२८॥
चत्वारिंशच्चतुर्लक्षाः पूर्वाणां समतिक्रमे[2] । चतुःपूर्वाङ्गयुक्तानामभ्रविभ्रमदर्शनात् ॥२९॥
लब्धबोधिः समुत्पन्नवैराग्यो जीवितादिकम् । स्वगतं स्मरति स्मेति शम्भवः स भवान्तकः ॥३०॥
आयुरेवान्तकोऽन्तस्थं भ्रान्त्योक्तोऽन्योऽन्तकः परैः । जन्तवस्तदजानन्तो म्रियन्तेऽनन्तशोऽन्तकात् ॥३१॥
अध्यास्य कायमेवायमन्तकेनाभिभूयते । मूर्खो जन्तुरिदं जाड्यमत्रैव वसतीति यत् ॥३२॥
विरसान् सरसान् मत्वा विषयान् विषसन्निभान् । भुङ्क्ते रागरसाविद्धो धिग् धियोऽनादिविप्लवम् ॥३३॥
आत्मेन्द्रियायुरिष्टार्थसन्निधेः[3] संसृतौ सुखम् । स्वसन्निधिरिह[4] स्थेयान् किं न वेत्ति न तर्क्यते ॥३४॥
विद्युद्द्युतिवल्लक्ष्मीर्नैयं स्थेमानमृच्छति । व्युच्छिन्नेच्छः[5] श्रियं स्थातुं स्वच्छसद्बोधदीधितिम् ॥३५॥
इत्यासत्तरवसारं तं स्तुत्वा लौकान्तिका गताः । दत्त्वा राज्यं स्वपुत्राय प्राप्तनिष्क्रमणोत्सवः ॥३६॥
सिद्धार्थशिबिकामूढां देवैरारुह्य निर्गतः । सहेतुकवने राज्ञां सहस्रेणाप संयमम् ॥३७॥
मनःपर्ययसंज्ञानः श्रावस्तिनगरं[6] प्रति । भिक्षाहेतोर्द्वितीयेऽह्नि प्राविशत् कनकप्रभः ॥३८॥
नृपः सुरेन्द्रदत्ताख्यः सुवर्णाभः प्रतीक्ष्य तम् । दत्त्वा दानं स्फुरद्रत्नमापदाश्चर्यपञ्चकम् ॥३९॥

परम्परामें जब तीस लाख करोड़ सागर बीत चुके थे तब संभवनाथ स्वामी उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें सम्मिलित थी। उनकी साठ लाख पूर्वकी आयु थी, चार सौ धनुष ऊँचा शरीर था, जब उनकी आयुका एक चौथाई भाग बीत चुका तब उन्हें राज्य का महान् वैभव प्राप्त हुआ था। वे सदा देवोपनीत सुखोंका अनुभव किया करते थे ॥ २६-२८ ॥ इस प्रकार सुखोपभोग करते हुए जब चवालीस लाख पूर्व और चार पूर्वाङ्ग व्यतीत हो चुके तब किसी दिन मेघोंका विभ्रम देखनेमें उन्हें बोधिकी प्राप्ति हुई, वे उसी समय विरक्त हो गये और संसारका अन्त करनेवाले श्रीसंभवनाथ स्वामी अपने मनमें आयु आदिका इस प्रकार विचार करने लगे ॥ २९-३० ॥ कि प्राणीके भीतर रहनेवाला आयुकर्म ही यमराज है, अन्य मत वालोंने भूलसे किसी दूसरेको यमराज बतलाया है, संसारके प्राणी इस रहस्यको नहीं जानते अतः अनन्त बार यमराजके द्वारा मारे जाते हैं ॥ ३१ ॥ यमराज इसी शरीरमें रहकर इस शरीरको नष्ट करता है फिर भी इस जीवकी मूर्खता देखो कि यह इसी शरीरमें वास करता है ॥ ३२ ॥ रागरूपी रसमें लीन हुआ यह जीव विषके समान नीरस विषयोंको भी सरस मानकर सेवन करता है इसलिए अनादि कालसे चले आये इसकी बुद्धिके विभ्रमको धिक्कार है ॥ ३३ ॥ आत्मा, इन्द्रिय, आयु और इष्ट पदार्थके संनिधानसे संसारमें सुख होता है सो आत्माका संनिधान तो इस जीवके सदा विद्यमान रहता है फिर भी यह जीव क्यों नहीं जानता और क्यों नहीं इसका विचार करता। यह लक्ष्मी बिजलीकी चमकके समान कभी भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होती। जो जीव इसकी इच्छाको छोड़ देता है वही निर्मल सम्यग्ज्ञानकी किरणोंसे प्रकाशमान मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त हो सकता है ॥ ३४-३५ ॥ इस प्रकार पदार्थके सारको ग्रहण करनेवाले संभवनाथ स्वामीकी स्तुति कर लौकान्तिक देव चले गये। तथा भगवान् भी अपने पुत्रके लिए राज्य देकर दीक्षाकल्याणक उत्सव प्राप्त करते हुए देवों-द्वारा उठायी हुई सिद्धार्थ नामकी पालकीमें सवार हो नगरसे बाहर निकले और सहेतुक वनमें एक हजार राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥ ३६-३७ ॥ दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हो गया। सुवर्णके समान प्रभाको धारण करनेवाले भगवान्ने दूसरे दिन भिक्षाके हेतु श्रावस्ती नगरीमें प्रवेश किया ॥ ३८ ॥ वहाँ काञ्चन जैसी कान्तिके धारक सुरेन्द्रदत्त नामक राजाने उन्हें पडगाहकर आहार दान दिया और जिनमें

१ आयुषि इते गते सतीत्यर्थः। २. सम्मतिक्रमे ल०। ३. सन्निधिः क०। ४ स्वसन्निधेरिह स्थेयं ख०, घ०। स सन्निधिरिह स्थेयां ग०, क०। ५ विच्छिन्नेच्छः क०, घ०। व्युच्छिन्नेच्छः श्रयेत् स्थातुम् क०, ख०, ग०, घ०। ६ मुनिः क०, ख०, ग०, घ०।

अथ मौनव्रतेनायं छद्मस्थोऽब्देषु शुद्धधीः । द्विसप्तसु गते दीक्षावने शाल्मलतरोरधः ॥४०॥
जन्मर्क्षे कार्तिके कृष्णचतुर्थ्यामपराह्णगः । षष्ठोपवासो हत्वाघान् प्रापानन्तचतुष्टयम् ॥४१॥
कल्पामरैः समं सर्वैस्त्रिविधैर्ज्यौतिषादिभिः । व्यधात् कैवल्यकल्याणं तदैवैत्यामराधिपाः ॥४२॥
पञ्चोत्तरशतोद्दिष्टैर्गणेशैः परिवारितः । चारुषेणादिभिः सोऽभाद् गिरीन्द्रो गिरिभिर्यथा ॥४३॥
शून्यपञ्चैकपक्षोक्तचारुपूर्वधरावृतः । [1]शून्यद्वयत्रिरन्ध्रद्वयेकोक्तशिक्षकलक्षितः ॥४४॥
शून्यद्विनवषड्रन्ध्रमितावधिविलोचनः । शून्यत्रयेन्द्रियैकोक्तकेवलावगमान्वितः ॥४५॥
शून्यद्वयाष्टरन्ध्रैकज्ञातवैक्रियिकानुग. । शून्यपञ्चैकपक्षैकज्ञानतुर्यावबोधकः ॥४६॥
शून्यत्रितयपक्षैकसंख्यावादिविभूषितः । पिण्डिताशेषविख्यातोलक्षद्वयपरिष्कृतः ॥४७॥
खचतुष्कद्विवह्नियुक्तधर्मार्याद्यार्यिकागणः । त्रिलक्षोपासकोपेतश्राविकापञ्चलक्षग ॥४८॥
असंख्यदेवदेवीड्यस्तिर्यक्संख्यातसंस्तुतः । एवं द्वादशभेदोक्तधर्मसूद्गणनायक. ॥४९॥
चतुस्त्रिंशदशेषप्रातिहार्याष्टकप्रभुः । दिव्यवाग्ज्योत्स्नया कृत्स्नमाह्लादयन्नमितांशुमान् ॥५०॥
शुद्ध एव चरन् पक्षे मोहलक्ष्म्या सहोद्गतः । निष्कलङ्को निरातङ्को निर्धूतारिः कुपक्षहृत् ॥५१॥
मुनितारागणाकीर्णः कामद्वेषी महोत्सवत् । सद्वृत्तः सर्वदा पूर्णः मन्दाभ्यर्णप्रबोदयः ॥५२॥

अनेक रत्न चमक रहे हैं ऐसे पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ३९ ॥ इस प्रकार शुद्ध बुद्धिके धारक भगवान् सम्भवनाथ चौदह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्थामें मौनसे रहे । तदनन्तर दीक्षावनमें पहुँचकर शाल्मली वृक्षके नीचे कार्तिक कृष्ण चतुर्थीके दिन जन्मकालीन मृगशिर नक्षत्रमें शामके समय वेलाका नियम लेकर ध्यानारूढ हुए और चार घातिया कर्मरूपी पाप-प्रकृतियोंको नष्ट कर अनन्तचतुष्टयको प्राप्त हुए ॥ ४०-४१ ॥ उसी समय इन्द्रोंने कल्पवासियों तथा ज्योतिष्क आदि तीन प्रकारके देवोंकेसाथ कैवल्य महोत्सव किया—ज्ञानकल्याणक उत्सव किया ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार छोटे-छोटे अन्य अनेक पर्वतोंसे घिरा हुआ सुमेरु पर्वत शोभित होता है उसी प्रकार चारुषेण आदि एक सौ पाँच गणधरोंसे घिरे हुए भगवान् सम्भवनाथ सुशोभित हो रहे थे ॥ ४३ ॥ वे दो हजार एक सौ पचास पूर्वधारियोंसे परिवृत थे, एक लाख उन्तीस हजार तीन सौ शिक्षकोंसे युक्त थे ॥ ४४ ॥ नौ हजार छह सौ अवधिज्ञानियोंसे सहित थे, पन्द्रह हजार केवलज्ञानियोंसे युक्त थे ॥ ४५ ॥ उन्नीस हजार आठ सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक उनके साथ थे, बारह हजार एक सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी उनकी सभामें थे ॥ ४६ ॥ तथा बारह हजार वादियोंसे सुशोभित थे, इस प्रकार वे सब मिलाकर दो लाख मुनियोंसे अत्यन्त शोभा पा रहे थे ॥ ४७ ॥ धर्मार्याको आदि लेकर तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएँ थीं, तीन लाख श्रावक थे, पाँच लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यंच उनकी स्तुति करते थे। इस प्रकार वे भगवान्, धर्मको धारण करनेवाली बारह सभाओंके स्वामी थे ॥ ४८-४९ ॥ वे चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्योंके प्रभु थे, दिव्यध्वनिरूपी चाँदनीके द्वारा सबको आह्लादित करते थे तथा सूर्यको नम्रीभूत करनेवाले थे ॥ ५० ॥ भगवान् सम्भवनाथने चन्द्रमाको तिरस्कृत कर दिया था क्योंकि चन्द्रमा सुदी और वदी दोनों पक्षोंमें संचार करता है परन्तु भगवान् शुद्ध अर्थात् निर्दोष पक्षमें ही संचार करते थे, चन्द्रमा दिनमें लक्ष्मीहीन हो जाता है परन्तु भगवान् मोक्षलक्ष्मीसे सहित थे, चन्द्रमा कलंकसहित है परन्तु भगवान् निष्कलंक—निष्पाप थे, चन्द्रमा सातंक—राहु आदिके आक्रमणके भयसे युक्त अथवा क्षय रोगसे सहित है परन्तु भगवान् निरातंक—निर्भय और नीरोग थे, चन्द्रमाके राहु तथा मेघ आदिके आवरणरूप अनेक शत्रु हैं परन्तु भगवान् शत्रुरहित थे, चन्द्रमा-कुपक्ष—कृष्ण पक्षको करनेवाला है परन्तु भगवान् कुपक्ष—मलिन सिद्धान्तको नष्ट करनेवाले थे, चन्द्रमा दिनमें ताराओंसे रहित दिखता है परन्तु भगवान् सदा मुनि रूपी तारागणोंसे युक्त रहते थे, चन्द्रमा कामको बढ़ानेवाला है परन्तु भगवान् कामके शत्रु थे, चन्द्रमा तेजरहित है परन्तु भगवान् महान् तेजके धारक थे, चन्द्रमा पूर्णिमाके सिवाय अन्य तिथियोंमें वृत्ताकार न रहकर भिन्न-भिन्न आकारका धारक होता है परन्तु भगवान् सदा सद्वृत्त—

---

१ अन्यद्वय–ल० ।

सदा त्रिभुवनासेव्यो भव्यपद्मावबोधनः । निरस्तध्वस्ताभयध्वान्तो [1]लोकालोके प्रकाशक ॥५३॥
विधुं सोऽधो विधायैवं विहरद् धर्मवृष्टये । पर्जन्यवत्सतां चेष्टा विश्वलोकसुखप्रदा ॥५४॥
सम्मेदं पर्वतं प्राप्य त्यक्तमासविहारकः । सहस्रमुनिभिः सार्द्धं प्रतिमायोगमागतः ॥५५॥
[2]चैत्रे मासि सिते पक्षे षष्ठ्यामर्केऽस्तसम्मुखे । स्वकीयजन्मनक्षत्रे मोक्षलक्ष्मीं समागमत् ॥५६॥
पञ्चमावगमेशं तं पञ्चमीं गतिमास्थितम् । पञ्चमेऽभ्यर्च्य कल्याणे सञ्चिताया[3] ययुः सुराः ॥५७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अष्टौ शिष्टतमानि संयमगुणस्थानान्यतीत्य क्रमा-
दष्टौ दुष्टतमानुपायनिपुणो निर्मथ्य कर्मद्विपः ।
अष्टाविष्टतमान् गुणानविकलान् कृत्वा तनुं शाश्वती-
मष्टम्यामवनौ स्म [4]सम्भवविभुः शुम्भत्सुखः शोभते ॥५८॥

मालिनी

विपुलविमललक्ष्मीवीक्षितानङ्गलक्ष्मीरिह भुवि विमलादिर्वाहनो देहदीप्त्या ।
इतरविरहमिन्द्रो रुन्द्रकल्याणलक्ष्मीप्रकटितपरिरम्भः सम्भवः शं क्रियाद्वः ॥५९॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे सम्भवतीर्थंकरपुराणं
परिसमाप्तमेकोनपञ्चाशत्तमं पर्व ॥४९॥

सदाचारके धारक रहते थे, चन्द्रमा केवल पूर्णिमाको ही पूर्ण रहता है अन्य तिथियोंमें अपूर्ण रहता है परन्तु भगवान् सदा ज्ञानादि गुणोंसे पूर्ण रहते थे, चन्द्रमाके निकट ध्रुवताराका उदय नहीं रहता परन्तु भगवान् सदा अभ्यर्णध्रुवोदय थे—उनका अभ्युदय ध्रुव अर्थात् स्थायी था, चन्द्रमा केवल मध्यम लोकके द्वारा सेवनीय है परन्तु भगवान् तीनों लोकोंके द्वारा सेवनीय थे, चन्द्रमा कमलोंको मुकुलित कर देता है परन्तु भगवान् सदा भव्य जीवरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करते थे अथवा भव्यजीवोंकी पद्मा अर्थात् लक्ष्मीको बढ़ाते थे, चन्द्रमा केवल बाह्य अन्धकारको ही नष्ट करता है परन्तु भगवान्ने बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके अन्धकारको नष्ट कर दिया था, तथा चन्द्रमा केवल लोकको प्रकाशित करता है परन्तु भगवान्ने लोक-अलोक दोनोंको प्रकाशित कर दिया था। इस प्रकार चन्द्रमाको तिरस्कृत कर धर्मकी वर्षा करनेके लिए भगवान्ने आर्य देशोंमें विहार किया था सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषोंकी चेष्टा मेघके समान सब लोगोंको सुख देनेवाली होती है ॥५१–५४॥ अन्तमें जब आयुका एक माह अवशिष्ट रह गया तब उन्होंने सम्मेदाचल प्राप्त कर विहार बन्द कर दिया और एक हजार मुनियोंके साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया ॥५५॥ तथा चैत्र मासके शुक्ल पक्षकी षष्ठीके दिन जब कि सूर्य अस्त होना चाहता था तब अपने जन्मनक्षत्रमें मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त किया ॥५६॥ जो पंचम ज्ञान—केवलज्ञानके स्वामी हैं और पंचमगति—मोक्षावस्थाको प्राप्त हुए हैं ऐसे भगवान् सम्भवनाथकी पंचमकल्याणक—निर्वाणकल्याणकमें पूजा कर पुण्यका संचय करनेवाले देव यथास्थान चले गये ॥५७॥ उपायोंके जाननेमें निपुण भगवान् सम्भवनाथने छठेसे लेकर चौदहवें तक संयमके उत्तम गुणस्थानोंका उल्लंघन किया, अत्यन्त दुष्ट आठ कर्मरूपी शत्रुओंका विनाश किया, अत्यन्त इष्ट सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंको अपना अविनश्वर शरीर बनाया और अष्टम भूमिमें अनन्त सुखसे युक्त हो सुशोभित होने लगे ॥५८॥ जिन्होंने अनन्तचतुष्टयरूप विशाल तथा निर्मल लक्ष्मी प्राप्त की है, जिन्होंने शरीररहित मोक्षलक्ष्मीका साक्षात्कार किया है, जिन्होंने अपने शरीरकी प्रभासे सूर्यको पराजित कर दिया है, जो पहले इस पृथिवीपर विमलवाहन राजा हुए थे, फिर अहमिन्द्र हुए और तदनन्तर जिन्होंने पंचकल्याणक लक्ष्मीका आलिंगन प्राप्त किया ऐसे श्री सम्भवनाथ स्वामी तुम सबका कल्याण करें ॥५९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्यके द्वारा प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें सम्भवनाथ तीर्थंकरका पुराण वर्णन करनेवाला उनचासवाँ पर्व पूर्ण हुआ।

---

१ लोकालोकौ प्रकाशयन् ल० । २ चैत्रमासि म० । ३ संचिताये क० । संचितपुण्याः । ४ संभवविधुः ल० ।

अर्थे सत्ये वचः सत्यं यद्वक्तुर्वक्ति सत्यताम् । यस्यासौ पातु वन्दारुवृन्दमभिनन्दनः ॥ १ ॥
जम्बूपलक्षिते द्वीपे विदेहे प्राचि दक्षिणे । सीतायां विषयो भाति श्रीमान्मङ्गलावती ॥ २ ॥
राजा महाबलस्तत्र नगरे रत्नसंचये । स्वामिसंपत्समेतोऽभूच्चतुर्वर्णाश्रमाश्रयः ॥ ३ ॥
पाति तस्मिन् महीं नासीद् ध्वनिरन्याय इत्ययम् । [1]प्रावर्तन्त प्रजाः स्वेषु स्वेषु मार्गेष्वनर्गलाः ॥४॥
षाड्गुण्यं तत्र नैर्गुण्यमगाद्विगतविद्विषि । निर्गुणोऽपि गुणस्त्यागसत्यादिभिरसौ गुणी ॥ ५ ॥
निःसपत्नः श्रियः सोऽभूत्पतिस्तस्याः सरस्वती । कीर्तिर्वीरश्रियोऽभूवन् सपत्न्यः प्रीतचेतसः ॥ ६ ॥
[2]अन्यवाक्श्रोत्रयोः कीर्तिस्तस्य वाचि सरस्वती । वीरलक्ष्मीरसौ वक्षस्यहमित्यतुषद्रमा ॥ ७ ॥
कान्ताकल्पलतारम्यो निजकायामरद्रुमः । फलति स्म [3]सुखं तस्य यद्यत्तेनाभिवाञ्छितम् ॥ ८ ॥
रम्यरामामुखाम्भोजसेवालोलाक्षिषट्पदः । सुखेन सोऽनयद्दीर्घं कालं कालकलामिव ॥९॥
कदाचिज्जातवैराग्यः कामभोगे[4]ष्वतर्पणात् । सूनवे धनपालाय दत्त्वा राज्यं महामनाः ॥१०॥
[5]आदात् संयममासाद्य गुरुं विमलवाहनम् । एकादशाङ्गधारी च भावितद्व्यष्टकारणः ॥११॥
तीर्थकृन्नाम संप्रापत् [6]फलं कल्याणपञ्चकम् । येन तीर्थकरोऽयं स्यात् किं नाप्स्यन्ति मनस्विनः ॥१२॥
आयुषोऽन्ते स संन्यस्य विजयेऽनुत्तरादिमे । त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायुरहमिन्द्रत्वमाययौ ॥१३॥

पदार्थके सत्य होनेसे जिनके वचनोंकी सत्यता सिद्ध है और ऐसे सत्य वचन ही जिन यथार्थ वक्ताकी सत्यताको प्रकट करते हैं ऐसे अभिनन्दन स्वामी वन्दना करनेवाले लोगोंको आनन्दित करते हुए हम सबकी रक्षा करें ॥ १ ॥ जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें सीता नदीके दक्षिण तटपर एक मंगलावती नामका देश सुशोभित है ॥ २ ॥ उसके रत्नसंचय नगरमें महाबल नामका राजा था। वह बहुत भारी राजसम्पत्तिसे सहित तथा चारों वर्णों और आश्रमोंका आश्रय था—रक्षा करनेवाला था ॥ ३ ॥ उसके पृथिवीकी रक्षा करते समय 'अन्याय' यह शब्द ही नहीं सुनाई पड़ता था और समस्त प्रजा किसी प्रतिबन्धके बिना ही अपने-अपने मार्गमें प्रवृत्ति करती थी ॥ ४ ॥ शत्रुओंको नष्ट करनेवाले उस राजामें सन्धि-विग्रह आदि छह गुणोंका समूह भी निर्गुणताको प्राप्त हो गया था और इस तरह निर्गुण होनेपर भी वह राजा त्याग तथा सत्य आदि गुणोंसे गुणवान् था ॥ ५ ॥ वह राजा लक्ष्मीका निर्बाध पति था। यद्यपि सरस्वती कीर्ति और वीरलक्ष्मी लक्ष्मी सौतें थीं तो भी राजा सबपर प्रसन्नचित्त रहता था। उसकी कीर्ति अन्य मनुष्योंके वचनों तथा कानोंमें रहती है, सरस्वती उसके वचनोंमें रहती है, वीरलक्ष्मी वक्षःस्थलपर रहती है और मैं सर्वांगमें रहती हूँ यह विचार कर ही लक्ष्मी अत्यन्त सन्तुष्ट रहती थी ॥६–७॥ स्त्रीरूपी कल्पलतासे रमणीय उसका शरीररूपी कल्पवृक्ष, वह जिस-जिसकी इच्छा करता था वही-वही सुख प्रदान करता था ॥ ८ ॥ जिसके नेत्ररूपी भ्रमर सुन्दर स्त्रियोंके मुखरूपी कमलोंकी सेवा करनेमें सदा सतृष्ण रहते हैं ऐसे उस राजा महाबलने बहुत लम्बा समय सुखसे कालकी एक कलाके समान व्यतीत कर दिया ॥ ९ ॥ किसी समय इच्छानुसार मिलनेवाले भोगोपभोगोंमें सन्तुष्ट न होनेसे उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया जिससे उस उदारचेताने धनपाल नामक पुत्रके लिए राज्य देकर विमलवाहन गुरुके पास पहुँच संयम धारण कर वह ग्यारह अंगका पाठी हुआ और सोलह कारण भावनाओंका उसने चिन्तवन किया ॥१०–११॥ सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन करनेसे उसने पंचकल्याणरूपी फलको देनेवाले तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया जिससे वह तीर्थंकर होगा। सो ठीक है क्योंकि मनस्वी मनुष्य क्या नहीं प्राप्त करते ? ॥१२॥ आयुके अन्तमें समाधिमरण कर वह विजय

---

१ प्रवर्तने ल० । २ अनिन्द्याश्रोत्रयोः ख० । ३ सुखे ल० । ४ कामभोगेष्वतर्पणात् क०, ख०, ग०, घ० । ५ अधात् ल० । ६ फलकल्याण—ल० ।

तत्रोक्तदेहलेश्याविद्[1] गुण्योच्छ्वासादिसंयुतः । पञ्चशातसुखास्वादी भवान्ते शान्तमानसः ॥१४॥
ध्यायन् वैराग्यसंपत्त्या तत्रास्थाद्भक्तितोऽर्हतः । कृत्स्नकर्मक्षयं कर्तुं तस्मिन्नत्रागमिष्यति ॥१५॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे साकेतनगराधिपः । इक्ष्वाकुः काश्यपो वंशगोत्राभ्यामद्भुतोदयः ॥१६॥
राजा स्वयंवरो नाम्ना सिद्धार्थाऽस्याग्रवल्लभा । षड्मासान् वसुधारादिपूजामाप्नुवती सता ॥१७॥
वैशाखस्य सिते पक्षे षष्ठ्यां भे सप्तमे शुभे । स्वप्नेक्षानन्तरं वक्त्रं विशन्तं वीक्ष्य सा गजम् ॥१८॥
नृपात्स्वप्नफलैस्तुष्टा दिष्ट्यासूत तमुत्तमम् । [2]माघे मास्यदितौ योगे धवलद्वादशीदिने ॥१९॥
तत्प्रभावविशेषेण प्रकम्पितनिजासनः । त्रैलोक्येशसमुद्भूतिमवबुद्ध्यावधेः सुधीः ॥२०॥
तं [3]तदावाप्य देवेन्द्रः स्वदेव्या दिव्यमानवम् । देवावृतो द्रुतद्रावी देवाद्रौ दिव्यविष्टरे ॥२१॥
बालार्कसन्निभं बालं जलैः क्षीरापगापतेः । [4]स्नापयित्वा विभूष्याख्यां प्रख्याप्यास्याभिनन्दनम् ॥२२॥
बहुबाहुः सहस्राक्षो बहुभावरसान्वितः । विचित्रकरणा[5]रब्धैरङ्गहारैर्नभोङ्गणे ॥२३॥
उद्यताभिनयश्चायं भक्त्यानृत्यत्सताण्डवम् । गतो रागः परां कोटिं धीरोदात्तांश्च [6]नाटयन् ॥२४॥
निवृत्यागत्य साकेतं [7]निष्कृष्य कृतकार्भकम् । पित्रोः पुरो विधायैनं [8]सुरेड्डारामरं पदम् ॥२५॥
संभवस्यान्तरे जाते दशलक्षाब्धिकोटिभिः । तदभ्यन्तरवर्त्यायुरावभासे विदां त्रिभिः ॥२६॥

नामके पहले अनुत्तरमें तैंतीस सागरकी आयुवाला अहमिन्द्र हुआ ॥१३॥ विजय विमानमें जो शरीरकी ऊँचाई, लेश्या, अवधिज्ञान, विक्रिया तथा श्वासोच्छ्वासादिका प्रमाण बतलाया है वह उन सबसे सहित था, पाँचों इन्द्रियोंके सुखका अनुभव करता था, चित्त शान्त था, वैराग्यरूपी सम्पत्तिसे उपलक्षित हो भक्ति-पूर्वक अर्हन्त भगवान्‌का ध्यान करता हुआ वहाँ रहता था और आयुके अन्तमें समस्त कर्मोंका क्षय करनेके लिए इस पृथिवीतलपर अवतार लेगा ॥१४-१५॥ जब अवतार लेनेका समय हुआ तब इस जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें अयोध्या नगरीका स्वामी इक्ष्वाकु वंशी काश्यपगोत्री तथा आश्चर्यकारी वैभवको धारण करनेवाला एक स्वयंवर नामका राजा था। सिद्धार्था उसकी पटरानीका नाम था। अहमिन्द्रके अवतार लेनेके छह माह पूर्वसे सिद्धार्थाने रत्नवृष्टि आदि पूजाको प्राप्त किया और वैशाख मासके शुक्लपक्षकी षष्ठी तिथिके दिन सातवें शुभ नक्षत्र (पुनर्वसु) में सोलह स्वप्न देखनेके बाद अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसी समय वह अहमिन्द्र उसके गर्भमें आया ॥१६-१८॥ राजासे स्वप्नोंका फल सुनकर वह बहुत सन्तुष्ट हुई और माघ मासके शुक्ल पक्षकी द्वादशीके दिन अदिति योगमें उसने पुण्योदयसे उत्तम पुत्र उत्पन्न किया ॥१९॥ उस पुत्रके प्रभावसे इन्द्रका आसन कम्पायमान हो गया जिससे उस बुद्धिमान्‌ने अवधिज्ञानके द्वारा त्रिलोकीनाथका जन्म जान लिया ॥२०॥ इन्द्रने अपनी शचीदेवी-द्वारा उस दिव्य मानवको प्राप्त किया और उसे लेकर देवोंसे आवृत हो शीघ्रतासे सुमेरु पर्वतपर पहुँचा। वहाँ दिव्य सिंहासनपर विराजमान कर बाल सूर्यके समान प्रभावाले बालकका क्षीरसागरके जलसे अभिषेक किया, आभूषण पहनाये और अभिनन्दन नाम रखा ॥२१-२२॥ उस समय जिसने विक्रियावश बहुत-सी भुजाएँ बना ली हैं, हजार नेत्र कर लिये हैं और जो अनेक भाव तथा रसोंसे सहित हैं ऐसे इन्द्रने आश्चर्यकारी कारणोंसे प्रारम्भ किये हुए अंगहारों-द्वारा आकाशरूपी आँगनमें भक्तिसे ताण्डव नृत्य किया और अनेक अभिनय दिखलाये। उस समय उसका राग परम सीमाको प्राप्त था, साथ ही वह अन्य अनेक धीरोदात्त नटोंको भी नृत्य करा रहा था ॥२३-२४॥ जन्माभिषेकसे वापस लौटकर इन्द्र अयोध्यानगरीमें आया तथा मायामयी बालकको दूर कर माता-पिताके सामने सचमुचके बालकको रखकर स्वर्ग चला गया ॥२५॥ श्री सम्भवनाथ तीर्थंकरके बाद दस लाख करोड़ सागर वर्षका अन्तराल बीत जानेपर अभिनन्दननाथ स्वामी अवतीर्ण हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें सम्मिलित थी वे मति श्रुत अवधि इन तीन ज्ञानोंसे सुशोभित

---

१ लेश्यादिगुणोच्छ्वासादि ख०, ग०। २ माघमास्य-ल०। ३ तदादाय क०, घ०। ४ स्नपयित्वा इति भवितव्यम्। ५ करणारम्भैः क०, ख०, घ०। करणारम्भिरङ्गहारैः ग०। ६ नाटयेत् ख०, ग०। ७ निकृष्य ग०। ८ सुरेट् इन्द्रः, आर अगाम, आमरं देवसंबन्धि।

पञ्चाशल्लक्षपूर्वायुः सार्द्धत्रिशतचापमः[1] । [2]बालेन्दुरिव सज्ज्योत्स्नः पुण्यौघो वा स्फुरद्रसः[3] ॥२७॥
स श्रीवृद्धिं च संप्राप्त् सर्वानाह्लादयन् गुणैः । चामीकरच्छविर्याते कौमारे [4]कामसारथौ ॥२८॥
पूर्वद्वादशलक्षेषु सार्द्धेषु प्राप्तवान् स तत् । राज्यं नियोज्य भुङ्क्ष्वेति पितयाँसे तपोवनम् ॥२९॥
इन्दुः कामयते कान्तिं दीप्तिमिच्छ[5]त्यहर्पतिः । वाञ्छत्यैश्वर्यमस्येन्द्रः शममाशासते स्पृहाः ॥३०॥
निजोत्कृष्टानुभागानामनन्तगुणवृद्धितः । तस्य पुण्याणवः सर्वे फलन्ति स्म प्रतिक्षणम् ॥३१॥
अभिभूयान्यतेजांसि सर्वप्रकृतिरञ्जनात् । तारेशमंशुमन्तं च जित्वाराजत्स[6] तेजसा ॥३२॥
नमिताखिलभूपालमौलिरित्यत्र का स्तुतिः । पुण्यात्मा जन्मतोऽयं चेदमरेन्द्रार्चितक्रमः ॥३३॥
तेया श्रीरागिणी [7]वास्याभूत्तत्र कोऽत्र विस्मयः । मोक्षलक्ष्म्या च चेदेष कटाक्षगोचरीकृत. ॥३४॥
शुद्धश्रद्धानमक्षय्यमयस्तीर्थकराह्वयः । आत्मसंपद्धितः कान्त्या जगत्त्रयजयैषिणः[8] ॥३५॥
स धीरललितः पूर्वं राज्ये धीरोद्धतो यमी । [9]धीरः प्रशान्तः पर्यन्ते धीरोदात्तत्वमीयिवान् ॥३६॥
अफलन् शक्तयस्तस्य सिद्धिं धर्मानुबन्धिनीम् । ता एव शक्तयो या हि लोकद्वयहितावहाः ॥३७॥
कीर्तौ श्रुतिः स्तुतौ तस्य गीतिर्वर्णाक्षराङ्किता । प्रीतिर्दृष्टौ जनस्यासीत्स्मृतिश्च गुणगोचरा ॥३८॥
गुणैः प्रागेव सम्पूर्णः स सर्वैराभिगामिकैः । न चेत्किं सेवितुं गर्भे निलिम्पाः कम्पितासनाः ॥३९॥

थे, पचास लाख पूर्व उनकी आयु थी, साढ़े तीन सौ धनुष ऊँचा उनका शरीर था, वे बाल चन्द्रमाके समान कान्तिसे युक्त थे, अथवा जिसका अनुभाग प्रकट हो रहा है ऐसे पुण्य कर्मके समूहके समान जान पड़ते थे ॥२६-२७॥ गुणोंसे सबको आह्लादित करते हुए वे शोभा अथवा लक्ष्मीकी वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे। उनकी कान्ति सुवर्णके समान देदीप्यमान थी। कामदेव जिसका सारथि था ऐसी कुमार अवस्थाको जब साढ़े बारह लाख पूर्व बीत गये तब 'तुम राज्यका उपभोग करो' इस प्रकार राज्य देकर इनके पिता वनको चले गये। उसी समय इन्होंने राज्य प्राप्त किया ॥२८-२९॥ उस समय चन्द्रमा इनकी कान्तिको चाहता था, सूर्य इनके तेजकी इच्छा करता था, इन्द्र इनका वैभव चाहता था और इच्छाएँ इनकी शान्ति चाहती थीं ॥३०॥ अपने उत्कृष्ट अनुभागबन्धकी अनन्तगुणी वृद्धि होनेसे उनके सभी पुण्य परमाणु प्रत्येक समय फल देते रहते थे ॥३१॥ उन्होंने अन्य सबके तेजको जीतकर तथा सब प्रजाको प्रसन्न कर चन्द्रमा और सूर्यको भी जीत लिया था इस तरह वे तेजसे सुशोभित हो रहे थे ॥३१-३२॥ समस्त राजा लोग इन्हें अपने मुकुट झुकाते थे इसमें उनकी क्या स्तुति थी। क्योंकि ये जन्मसे ही ऐसे पुण्यात्मा थे कि इन्द्र भी इनके चरणोंकी पूजा करता था ॥३३॥ जब मोक्षलक्ष्मी भी इन्हें अपने कटाक्षोंका विषय बनाती थी तब राज्यलक्ष्मी इनमें अनुराग करने लगी इसमें आश्चर्यकी क्या बात है ॥३४॥ उनके कभी नष्ट नहीं होनेवाला शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन था और तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति थी। सो ठीक ही है क्योंकि तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यके इससे बढ़कर दूसरी कौन-सी आत्मसम्पत्ति है ? ॥३५॥ वे भगवान् कुमार-अवस्थामें धीर ललित थे, राज्य अवस्थामें धीरोद्धत थे, संयमी अवस्थामें धीर और प्रशान्त थे तथा अन्तिम अवस्थामें धीर और उदात्त अवस्थाको प्राप्त हुए थे ॥३६॥ उनकी उत्साह, मन्त्र और प्रभुत्व इन तीनों शक्तियोंने धर्मानुबन्धिनी सिद्धिको फलीभूत किया था सो ठीक ही है क्योंकि शक्तियाँ वही हैं जो कि दोनों लोकोंमें हित करनेवाली हैं ॥३७॥ उनकी कीर्तिमें शास्त्र भरे पड़े थे, स्तुतिमें वर्ण और अक्षरोंसे अंकित अनेक गीत थे, मनुष्योंकी दृष्टिमें उनकी प्रीति थी, और उनका स्मरण सदा गुणोंके विवेचनके समय होता था ॥३८॥ वे उत्पन्न होनेके पूर्व ही समस्त उत्तम गुणोंसे परिपूर्ण थे।

१ चापगः ख० । चापसः ग० । २ तलेन्दुरिव घ० । ३ पुण्यौघो वा ससद्रसः ग० । पुण्योदावाससद्रसः ख० । पुण्यौघो वा स्फुटद्रविः ल० । ४ कामतां दधौ क०, ख०, ग० । कामसादधौ घ० । ५-मीप्स्यत्यहर्पतिः क०, ख०, ग०, घ० । ६ स्वतेजसा क०, ख० । ७ रागिणी मास्या ग०, ख० । रागिणी सास्या ल० । ८ जयीक्षिणः ग० । जगत्त्रितयजयैषिणः ल० । अत्र पाठे छन्दोभङ्गः । ९ धीरप्रशान्तः घ०, क० ।

पुष्कलं प्राग्भवायातं बोधित्रितयमुत्तमम् । तस्य प्रज्ञागुणाः केऽन्ये वर्णनीया मनीषिभिः ॥४०॥
न वाच्यः पृथगुत्साहो यद्वयं हन्तुमीहते । मोहशत्रुं सशेषाघं खलं त्रैलोक्यकण्टकम् ॥४१॥
[1]उद्गमेऽपि प्रतापोऽस्य माध्यन्दिनदिनाधिपम् । निःप्रतापं करोत्यद्य तमन्यः सहते नु कः ॥४२॥
लिलङ्घयिषवोऽन्योन्यं वर्द्धन्तेऽस्याखिला गुणाः । समानं वर्द्धमानानां स्पर्द्धा केन [2]निषिध्यते ॥४३॥
एवं संसारसारोरुविसरद्भोगभागिनः । [3]प्रान्तबोधदिनाधीशप्रोद्गमोदयभूभृतः ॥४४॥
खचतुष्केन्द्रियस्वंशमितपूर्वेषु निष्ठिते । राज्यकाले जगद्भर्तुरष्टपूर्वाङ्गशेषतः ॥४५॥
प्रादुर्भूतक्षणप्रान्तविनश्यत्सौधविभ्रमे । गन्धर्वनगरे साक्षाद्याते संजातबोधिकः ॥४६॥
अवश्यं भङ्गुरा भोगा भञ्जयन्त्यत्र मां स्थितम् । न पातयति किं स्वस्थं भङ्गुरो विटपः स्फुटम् ॥४७॥
तनुर्मयेप्सितैः सर्वैः स्वीकृतापि त्यजेद्ध्रुवम् । प्रायः पण्याङ्गनेवेति विरक्तः स तनावभूत् ॥४८॥
सत्यायुषि मृतिस्तस्मिन्नसत्यन्नास्ति सापि न । बिभेति चेन्मृतेस्तेन भेतव्यं पूर्वमायुषः ॥४९॥
गन्धर्वनगरेणैव संवादः सर्वसंपदाम् । विभाव्यः अविलायित्वविधेरपधियामपि ॥५०॥
इत्यपश्यत्तदैवैनमानर्चुरमरर्षिजाः । सुरैः संप्राप्तनिष्क्रान्तिकल्याणः शमितेन्द्रियः ॥५१॥
हस्तचित्राख्ययानाधिरूढोऽग्रोद्यानमागतः । माघे सिते [4]स्वगर्भर्क्षे द्वादश्यामपराह्णगः ॥५२॥
दीक्षां षष्ठोपवासेन जैनीं जग्राह राजभिः । सहस्रसंख्यैर्विख्यातैस्तदासज्ञानतुर्यकः ॥५३॥

यदि ऐसा न होता तो गर्भमें ही उनकी सेवा करनेके लिए देवोंके आसन कम्पायमान क्यों होते ? ॥३९॥ उनका उत्तम रत्नत्रय प्रचुर मात्रामें पूर्वभवसे साथ आया था तथा अन्य गुणोंकी क्या बात ? उनकी बुद्धिके गुण भी विद्वानोंके द्वारा वर्णनीय थे ॥४०॥ उनके उत्साह गुणका वर्णन अलगसे तो करना ही नहीं चाहिए क्योंकि वे तीनों लोकोंके कण्टक स्वरूप मोह शत्रुको अन्य समस्त पापोंके साथ नष्ट करना ही चाहते थे ॥४१॥ जन्मके समय भी उनका प्रताप ऐसा था कि दोपहरके सूर्यको भी प्रतापरहित करता था फिर इस समय इसे दूसरा सह ही कौन सकता था ? ॥ ४२ ॥ इनके गुण इस प्रकार बढ़ रहे थे मानो परस्परमें एक-दूसरेका उल्लंघन ही करना चाहते हों । सो ठीक है क्योंकि एक साथ बढ़नेवालोंकी ईर्ष्याको कौन रोक सकता है ? ॥ ४३ ॥ इस प्रकार संसारके श्रेष्ठतम विशाल भोगोंके समूहका उपभोग करनेवाले भगवान् अभिनन्दननाथ केवलज्ञान-रूपी सूर्यका उदय होनेके लिए उदयाचलके समान थे ॥ ४४ ॥ जब उनके राज्यकालके साढ़े छत्तीस लाख पूर्व बीत गये और आयुके आठ पूर्वांग शेष रहे तब वे एक दिन आकाशमें मेघोंकी शोभा देख रहे थे कि उन मेघोंमें प्रथम तो एक सुन्दर महलका आकार प्रकट हुआ परन्तु थोड़ी ही देरमें वह नष्ट हो गया । इस घटनासे उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया । वे सोचने लगे कि ये विनाशीक भोग इस संसारमें रहते हुए मुझे अवश्य ही नष्ट कर देंगे । क्या टूटकर गिरनेवाली शाखा अपने ऊपर स्थित मनुष्यको नीचे नहीं गिरा देती ? ॥ ४५ ॥ यद्यपि मैंने इस शरीरको सभी मनोरथों अथवा समस्त इष्ट पदार्थों-से परिपुष्ट किया है तो भी यह निश्चित है कि वेश्याके समान यह मुझे छोड़ देगा । इस तरह विचार कर वे शरीरसे विरक्त हो गये ॥ ४६–४८ ॥ उन्होंने यह भी विचार किया कि आयुके रहते हुए भी मरण होता है, आयुके न रहनेपर मरण नहीं होता । इसलिए जो मरणसे डरते हैं उन्हें सबसे पहले आयुसे डरना चाहिए ॥ ४९ ॥ समस्त सम्पदाओंका हाल गन्धर्वनगर-के ही समान है अर्थात् जिस प्रकार यह मेघोंका बना गन्धर्वनगर देखते-देखते नष्ट हो गया उसी प्रकार संसारकी समस्त सम्पदाएँ भी नष्ट हो जाती हैं यह बात विद्वानोंकी कौन कहे मूर्ख भी जानते हैं ॥ ५० ॥ जिस समय भगवान् ऐसा विचार कर रहे थे उसी समय लौका-न्तिक देवोंने आकर उनकी पूजा की । देवोंने भगवान्का निष्क्रमण-कल्याणक किया । तदन-न्तर जितेन्द्रिय भगवान् हस्तचित्रा नामकी पालकीपर आरूढ़ होकर अग्रउद्यानमें आये ।

१ जन्मकालेऽपि । २ निषेध्यते क०, ख०, घ० । सर्व किम् निषेध्यते (?) ग० । ३ प्रान्ते बोध ल० ।
४ स्वगर्भनक्षत्रे ।

द्वितीयेऽहनि साकेतं बुभुक्षुः प्राविशन् नृपः । तं प्रतीक्ष्येन्द्रदत्तोऽन्नं दत्त्वापाश्चर्यपञ्चकम् ॥५४॥
अथ मौनव्रतेनैते[1] छाद्मस्थ्येऽष्टादशाब्दके । दीक्षावनेऽसनक्ष्माजमूले षष्ठोपवासिनः ॥५५॥
सिते पौषे चतुर्दश्यां सायाह्ने भेऽस्य सप्तमे । केवलावगमो जज्ञे विश्वामरसमर्चितः ॥५६॥
त्रिखैकोक्तैर्गणाधीशैर्वज्रनाभ्यादिनामभिः । खद्वयेन्द्रियपक्षोक्तैस्त्यक्ताङ्गैः पूर्वधारिभिः ॥५७॥
खाभ्रखद्वयवह्निद्विप्रमालक्षितशिक्षकैः । खद्वयाष्टनवज्ञेयैः प्राज्ञैस्त्रिज्ञानलोचनैः ॥५८॥
खत्रयर्त्वेकसंख्यानैः केवलज्ञानमानिभिः । शून्यत्रितयरन्ध्रैकमितवैक्रियिकर्द्धिभिः[2] ॥५९॥
शून्यपञ्चर्तुरुद्रोक्तमनःपर्ययबोधनैः । एकादशसहस्रोद्यद्वादिभिर्वन्दितक्रमः ॥६०॥
लक्षत्रितयसंपिण्डिताशेषयतिनायकः । खद्वयर्तुखवह्न्यग्निसंख्याभिरमितो गुनः ॥६१॥
मेरुषेणार्यिकाद्यार्यिकाभिर्जगदधीश्वरः । लक्षत्रयोदितोपासकाभ्यर्चितपदद्वयः ॥६२॥
लक्षपञ्चप्रमाप्रोक्तश्राविकालोकसंस्तुतः[3] । असंख्यदेवदेवीड्य[4]स्तिर्यक्संख्यातसेवितः ॥६३॥
इति द्वादशनिर्दिष्टशिष्टभव्यगणाग्रणीः । धर्मवृष्टिं किरन् दूरं विहृत्यार्यावनीतलम् ॥६४॥
यदृच्छयाप्य सम्मेदं स्थित्वा मासं विना ध्वनेः । तात्कालिकक्रियायुक्तो ध्यानद्वयमयोऽमलः ॥६५॥
मुनिभिर्बहुभिः प्राह्णे प्रतिमायोगवानगात् । भे सिते सप्तमे षष्ठ्यां वैशाखेऽर्थं[5] परं पदम् ॥६६॥
तदा भक्त्या नताष्टाङ्गाः सुरेन्द्राः कृतपूजनाः । नुत्वा तमगमन्नाकं त्रैलोक्येशं यथायथम् ॥६७॥

वहाँ उन्होंने माघ शुक्ल द्वादशीके दिन शामके समय अपने जन्म नक्षत्रका उदय रहते वेलाका नियम लेकर एक हजार प्रसिद्ध राजाओंके साथ जिन-दीक्षा धारण कर ली। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया ॥ ५१–५३ ॥ दूसरे दिन भोजन करनेकी इच्छासे उन्होंने साकेत (अयोध्या) नगरमें प्रवेश किया। वहाँ इन्द्रदत्त राजाने पडगाह कर उन्हें आहार दिया तथा पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥ ५४ ॥

तदनन्तर छद्मस्थ अवस्थाके अठारह वर्ष मौनसे बीत जानेपर वे एक दिन दीक्षावनमें असन वृक्षके नीचे वेलाका नियम लेकर ध्यानारूढ हुए ॥ ५५ ॥ पौष शुक्ल चतुर्दशीके दिन शामके समय सातवें पुनर्वसु नक्षत्रमें उन्हें केवलज्ञान हुआ, समस्त देवोंने उनकी पूजा की ॥ ५६ ॥ वज्रनाभि आदि एक सौ तीन गणधर, शरीरसे ममत्व छोड़नेवाले दो हजार पाँच सौ पूर्वधारी, दो लाख तीस हजार पचास शिक्षक, नौ हजार आठ सौ अवधिज्ञानी, सोलह हजार केवलज्ञानी, उन्नीस हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक, ग्यारह हजार छह सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी और ग्यारह हजार प्रचण्ड वादी उनके चरणोंकी निरन्तर वन्दना करते थे ॥ ५७–६० ॥ इस तरह वे सब मिलाकर तीन लाख मुनियोंके स्वामी थे, मेरुषेणा आदि तीन लाख तीस हजार छह सौ आर्यिकाओंसे सहित थे, तीन लाख श्रावक उनके चरण-युगलकी पूजा करते थे, पाँच लाख श्राविकाएँ उनकी स्तुति करती थीं, असंख्यात देव-देवियोंके द्वारा वे स्तुत्य थे, और संख्यात तिर्यंच उनकी सेवा करते थे ॥ ६१–६३ ॥ इस प्रकार शिष्ट और भव्य जीवोंकी बारह सभाओंके नायक भगवान् अभिनन्दननाथने धर्मवृष्टि करते हुए इस आर्यखण्डकी वसुधापर दूर-दूर तक विहार किया ॥ ६४ ॥ इच्छाके बिना ही विहार करते हुए वे सम्मेद गिरिपर जा पहुँचे। वहाँ एक मास तक दिव्य ध्वनिसे रहित होकर ध्यानारूढ रहे, उस समय वे ध्यान कालमें होनेवाली योगनिरोध आदि क्रियाओंसे युक्त थे, समुच्छिन्न क्रिया-प्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती नामक दो ध्यानोंसे सहित थे, अत्यन्त निर्मल थे, और प्रतिमायोगको धारण किये हुए थे। वहींसे उन्होंने वैशाख शुक्ल षष्ठीके दिन प्रातःकालके समय पुनर्वसु नामक सप्तम नक्षत्रमें अनेक मुनियोंके साथ परमपद—मोक्ष प्राप्त किया ॥ ६५–६६ ॥ उसी समय भक्तिसे जिनके आठों अंग झुक रहे हैं ऐसे इन्द्रने आकर उन त्रिलोकीनाथकी पूजा की, स्तुति की और तदनन्तर यथाक्रमसे स्वर्गकी ओर प्रस्थान किया ॥ ६७ ॥

१ मौनव्रतेन इते गते । २ वैक्रियिकर्द्धिभिः क०, ख०, ग०, घ० । वैक्रियिकर्पिभिः ल० । ३ संयुतः ल० । ४ देवदेवीभिः क०, घ० । ५ वैशाखेऽयात् परं पदम् ल० ।

शार्दूलविक्रीडितम्

येनाप्तानिमिषेश्वरैरघमयी[1] श्रीः पञ्चकल्याणजा
यस्यानन्तचतुष्टयोज्ज्वलतरा श्रीरक्षया क्षायिकी ।
यो रूपेण विनापि निर्मलगुणः सिद्धिश्रियालिङ्गितः
स त्रिश्रीरभिनन्दनो जिनपतिर्जीयादनस्तोदयः ॥६८॥

वसन्ततिलका

यो रत्नसंचयपुरेशमहाबलाख्यो
योऽनुत्तरेषु विजयी विजयेऽहमिन्द्रः ।
यश्चाभिनन्दननृपो वृषभेशवंशे
साकेतपत्तनपतिः स जिनोऽवताद्वः ॥६९॥

हरिणीच्छन्दः

उभनयभेदाभ्यां विश्वं विभज्य विभावयन्
स्वभवविभवभ्रष्ट्यै भक्त्या सुभूभिरभिष्टुतः ।
त्रिभुवनविभुर्भूयो भव्या भवाद्भवतां भयद्
भयमभिभवन् भूत्यै भूयादभीरभिनन्दनः ॥७०॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे पुराणमिदं समाप्तमभिनन्दन-
स्वामिनः पञ्चाशत्तमं पर्व ॥५०॥



जिन्होंने इन्द्रोंके द्वारा पंच कल्याणकोंमें उत्पन्न होनेवाली पुण्यमयी लक्ष्मी प्राप्त की, जिन्होंने कर्म क्षयसे होनेवाली तथा अनन्तचतुष्टयसे देदीप्यमान अविनाशी अन्तरंग लक्ष्मी प्राप्त की जो रूपसे रहित होनेपर भी निर्मल गुणोंके धारक रहे, मोक्षलक्ष्मीने जिनका आलिंगन किया, जिनका उदय कभी नष्ट नहीं हो सकता और जो पूर्वोक्त लक्ष्मियोंसे युक्त रहे ऐसे श्री अभिनन्दन जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥ ६८ ॥ जो पहले रत्नसंचय नगरके राजा महाबल हुए, तदनन्तर विजय नामक अनुत्तर विमानमें विजयी अहमिन्द्र हुए, फिर ऋषभ-नाथ तीर्थंकरके वंशमें अयोध्या नगरीके अधिपति अभिनन्दन राजा हुए वे अभिनन्दन स्वामी तुम सबकी रक्षा करें ॥ ६९ ॥ जिन्होंने निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयोंसे विभाग कर समस्त पदार्थोंका विचार किया है, अपने भवकी विभूतिको नष्ट करनेके लिए देवोंने भक्तिसे जिनकी स्तुति की है, जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं, निर्भय हैं और संसारके प्राणियोंका भय दूर करनेवाले हैं ऐसे अभिनन्दन जिनेन्द्र, हे भव्य जीवो ! तुम सबको विभूतिको करनेवाले हों ॥ ७० ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराणके संग्रहमें श्री अभिनन्दनस्वामीका पुराण वर्णन करनेवाला पचासवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।



---

१ पुण्यमयी ।

लक्ष्मीरनश्वरी तेषां येषां [1]तस्य मते[2] मतिः । देयाद्दादेयवाक्[3] सद्भिः सोऽस्मभ्यं सुमतिर्मतिम् ॥१॥
अखण्डे धातकीखण्डे मन्दरे प्राचि पूर्वगे । विदेहे नद्युदक्कूले सुराष्ट्रं पुष्कलावती ॥२॥
पुरेऽस्मिन् पुण्डरीकिण्यां रतिषेणो महीपतिः । प्राग्जन्मोपार्जितोदीर्णपुण्यपण्यात्मसात्कृतम् ॥३॥
राज्यं विनिर्जितारातिनिःकोपं नित्यवृद्धिकम् । स्वामिसम्पत्समेतः सन्नीत्या [4]निर्व्यसनोऽन्वभूत् ॥४॥
[5]या स्वस्यैवास्य सा विद्या चतुर्थी न प्रयोगिणी । यदेकस्यापि दण्डेषु वर्तन्ते न पथि प्रजाः ॥५॥
एकस्य मनसा तृप्तिः कामः करणगोचरे । स्वेष्टाशेषार्थसम्पत्तेः कामस्तस्य न दुर्लभः ॥६॥
अर्थे चतुष्टयी वृत्तिरर्जनादि यथागमम् । देवोऽर्हन्नर्थधर्मौ च तदर्थादुर्लभौ मतौ ॥७॥
गच्छत्येवं चिरं काले हेलया पालितक्षितेः । परस्परानुकूल्येन वर्गत्रितयवर्द्धिनः ॥८॥
जन्तोः किं कुशलं कस्मात्सुखमेषोऽधितिष्ठति । पर्यायावर्तदुर्जन्मदुर्मृत्यूरगदूरगः ॥९॥
न तावदर्थकामाभ्यां सुखं संसारवर्द्धनात् । नामुष्मादपि मे धर्माद्यस्मात्सावद्यसम्भवः ॥१०॥

अथानन्तर जो लोग सुमतिनाथकी बुद्धिको ही बुद्धि मानते हैं अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित मतमें ही जिनकी बुद्धि प्रवृत्त रहती है उन्हें अविनाशी लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। इसके सिवाय जिनके वचन सज्जन पुरुषोंके द्वारा ग्राह्य हैं ऐसे सुमतिनाथ भगवान् हम सबके लिए सद्बुद्धि प्रदान करें ॥१॥ अखण्ड धातकीखण्ड द्वीपमें पूर्व मेरुपर्वतसे पूर्वकी ओर स्थित विदेह क्षेत्रमें सीता नदीके उत्तर तटपर एक पुष्कलावती नामका उत्तम देश है ॥२॥ उसकी पुण्डरीकिणी नगरीमें रतिषेण नामका राजा था। वह राजा राज-सम्पदाओंसे सहित था, उसे किसी प्रकारका व्यसन नहीं था और पूर्व भागमें उपार्जित विशाल पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुए राज्यका नीतिपूर्वक उपभोग करता था। उसका वह राज्य शत्रुओंसे रहित था, क्रोधके कारणोंसे रहित था और निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होता रहता था ॥३–४॥ राजा रतिषेणकी जो राजविद्या थी वह उसीकी थी वैसी राजविद्या अन्य राजाओंमें नहीं पायी जाती थी। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड इन चारों विद्याओंमें चौथी दण्डविद्याका वह कभी प्रयोग नहीं करता था क्योंकि उसकी प्रजा प्राणदण्ड आदि अनेक दण्डोंमें-से किसी एक भी दण्डके मार्गमें नहीं जाती थी ॥५॥ इन्द्रियोंके विषयमें अनुराग रखनेवाले मनुष्यको जो मानसिक तृप्ति होती है उसे काम कहते हैं। वह काम, अपने इष्ट समस्त पदार्थोंकी संपत्ति रहनेसे राजा रतिषेणको कुछ भी दुर्लभ नहीं था ॥६॥ वह राजा अर्जन, रक्षण, वर्धन और व्यय इन चारों उपायोंसे धन संचय करता था और आगमके अनुसार अर्हन्त भगवान्‌को ही देव मानता था। इस प्रकार अर्थ और धर्मको वह कामकी अपेक्षा सुलभ नहीं मानता था अर्थात् कामकी अपेक्षा अर्थ तथा धर्म पुरुषार्थका अधिक सेवन करता था ॥७॥ इस प्रकार लीलापूर्वक पृथिवीका पालन करनेवाले और परस्परकी अनुकूलतासे धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गकी वृद्धि करनेवाले राजा रतिषेणका जब बहुत-सा समय व्यतीत हो गया तब एक दिन उसके हृदयमें निम्नाङ्कित विचार उत्पन्न हुआ ॥८॥ वह विचार करने लगा कि इस संसारमें जीवका कल्याण करनेवाला क्या है? और पर्यायरूपी भँवरोंमें रहनेवाले दुर्जन्म तथा दुर्मरण रूपी सर्पोंसे दूर रहकर यह जीव सुखको किस प्रकार प्राप्त कर सकता है? अर्थ और कामसे तो सुख हो नहीं सकता क्योंकि उनसे संसारकी ही वृद्धि होती है। रहा धर्म, सो जिस धर्ममें पापकी संभावना है उस धर्मसे भी सुख नहीं हो सकता। हाँ, पापरहित एक मुनिधर्म है उसीसे

---

१ यस्य क०, ख०, ग०, घ०, । २ मतिर्मतम् क०, ग० । ३ वाक्सिद्धिः ग० । ४ निर्व्यसनन्वभूत् ल० ।
५ या स्वस्येष्टा च सा विद्या ग० ।

निःसावद्योऽस्ति धर्मोऽन्यस्ततः सुखमनुत्तमम्[1] । इत्युदर्को वितर्कोऽस्य विरक्तस्याभवत्ततः ॥११॥
राज्यस्य दुर्भरं भारं निवेश्यातिरथे[2] तुजि । [3]सुभरं तपसो भारं बभार स भवान्तकृत् ॥१२॥
जिनार्हन्नन्दनाभ्यासे विदितैकादशाङ्गकः । उदासीनः स्वदेहेऽपि मोहारातिजयेच्छया ॥१३॥
यतोऽभीष्टार्थसंसिद्धिस्तच्चरन्ति सुमेधसः । श्रद्धानविनयाद्युक्तकारणोपात्ततीर्थकृत् ॥१४॥
प्रान्ते संन्यस्य बद्ध्वायुरुत्कृष्टमहमिन्द्रताम् । [4]वैजयन्तेऽत्र सम्प्रापदेकारत्निशरीरकः ॥१५॥
मासैः षोडशभिः पञ्चदशभिश्च दिनैः श्वसन् । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राब्दैरन्धो[5] मानसमाहरत् ॥१६॥
शुक्ललेश्य. स्वतेजोऽवधीतविष्टपनालिकः । तत्क्षेत्रविक्रियर्द्धीशस्तदुद्धारिबलान्वितः ॥१७॥
आहमिन्द्रं सुखं मुख्यमङ्गिनामाजवंजवे । निर्द्वन्द्वं निःप्रवीचारं चिरं नीरागमागमत् ॥१८॥
आयुरन्ते समाधानात्तस्मिन्नत्रागमिष्यति । द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे साकेते वृषभान्वये ॥१९॥
तद्गोत्रे क्षत्रियोऽस्तारिः श्लाघ्यो मेघरथोऽभवत् । मङ्गलाऽस्य महादेवी वसुधारादिपूजिता ॥२०॥
मघायां श्रावणे मासि दृष्ट्वा स्वप्नान् गजादिकान् । आस्यं सितद्वितीयायामैक्षिष्टागामुकं द्विपम् ॥२१॥
तत्फलान्यवबुध्यास्मपतेः सम्प्राप्य सम्मदम् । नवमे मासि चैत्रस्य सज्ज्योत्स्नैकादशीदिने ॥२२॥
त्रिज्ञानधारिणं दिव्यं पितृयोगे सतां पतिम् । जगत्त्रयस्य भर्तारमहमिन्द्रमलब्ध सा ॥२३॥
देवेन्द्रास्तं सदा नीत्वा मेरौ [6]जन्मसवोत्सवम् । कृत्वा सुमतिसञ्ज्ञां च पुनस्तद्गेहमानयन् ॥२४॥

इस जीवको उत्तम सुख प्राप्त हो सकता है । इस प्रकार विरक्त राजाके हृदयमें उत्तम फल देने-वाला विचार उत्पन्न हुआ॥६-११॥ तदनन्तर संसारका अन्त करनेवाले राजा रतिषेणने राज्यका भारी भार अपने अतिरथ नामक पुत्रके लिए सौंपकर तपका हलका भार धारण कर लिया॥१२॥ उसने अर्हन्नन्दन जिनेन्द्रके समीप दीक्षा धारण की, ग्यारह अङ्गोंका अध्ययन किया और मोह-शत्रुको जीतनेकी इच्छासे अपने शरीरमें भी ममता छोड़ दी ॥१३॥ उसने दर्शनविशुद्धि, विनय-सम्पन्नता आदि कारणोंसे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया सो ठीक ही है क्योंकि जिससे अभीष्ट पदार्थकी सिद्धि होती है बुद्धिमान् पुरुष वैसा ही आचरण करते हैं ॥१४॥ उसने अन्त समयमें संन्यासमरण कर उत्कृष्ट आयुका बन्ध किया तथा वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र पद प्राप्त किया। वहाँ उसका एक हाथ ऊँचा शरीर था। वह सोलह माह तथा पन्द्रह दिनमें एक बार श्वास लेता था, तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करता था, शुक्ललेश्याका धारक था, अपने तेज तथा अवधिज्ञानसे लोकनाडीको व्याप्त करता था, उतनी ही दूर तक विक्रिया कर सकता था, और लोकनाडी उखाड़कर फेंकनेकी शक्ति रखता था॥१५-१७॥ इस संसारमें अहमिन्द्रका सुख ही मुख्य सुख है, वही निर्द्वन्द है, प्रवीचारसे रहित है और रागसे शून्य है । अहमिन्द्रका सुख राजा रतिषेणके जीवको प्राप्त हुआ था ॥१८॥ आयुके अन्तमें समाधिमरण कर जब वह अहमिन्द्र यहाँ अवतार लेनेको हुआ तब इस जम्बूद्वीप-सम्बन्धी भरत-क्षेत्रकी अयोध्यानगरीमें मेघरथ नामका राजा राज्य करता था । वह भगवान् वृषभदेवके वंश तथा गोत्रमें उत्पन्न हुआ था, क्षत्रिय था, शत्रुओंसे रहित था और अतिशय प्रशंसनीय था । मङ्गला उसकी पट्टरानी थी जो रत्नवृष्टि आदि अतिशयोंसे सन्मानको प्राप्त थी॥१९-२०॥ उसने श्रावणशुक्ल द्वितीयाके दिन मघा नक्षत्रमें हाथी आदि सोलह स्वप्न देखकर अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसी समय वह अहमिन्द्र रानीके गर्भमें आया॥२१॥ अपने पतिसे स्वप्नोंका फल जानकर रानी बहुत ही हर्षित हुई । तदनन्तर नौवें चैत्र माहके शुक्लपक्षकी एकादशीके दिन पितृ योग अर्थात् मघा नक्षत्रमें उसने तीन ज्ञानके धारक, सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ और त्रिभुवनके भर्ता उस अह-मिन्द्रके जीवको उत्पन्न किया॥२२-२३॥ सदाकी भाँति इन्द्र लोग जिन-बालकको सुमेरु पर्वत

१—मनुत्तरम् क०, घ० । २ पुत्रे । 'तुक् तोकं चात्मजः प्रजा' इति कोशः । ३ सुचिरम् ख०, ग० । ४ वैजयन्ते तु ल० । ५ भोजनम् । ६ जन्मोत्सवोत्सवम् क०, घ० । जन्ममहोत्सवम् ल० ।

नवलक्षाब्धिकोटीषु प्रयातेऽनन्तरेऽन्तरे[1] । तदभ्यन्तरवर्त्यायुरुद्पाद्युदितोदयः[2] ॥२५॥
शून्यषट्काब्धिदर्व्यायुः शरासत्रिशतोच्छ्रितिः[3] । सन्तप्ततपनीयाभः स्वभावसुभगाकृतिः ॥२६॥
शैशवोचितसर्वार्थैर्देवानीतैः सदैधितुः[4] । अंशवो वा शिशोरिन्दोर्व्यक्त्यास्त्वाभथवा बभुः ॥२७॥
तनवः कुञ्चिताः स्निग्धाः मूर्धजाजाम्बवत्विषः । मुखपङ्कजमाशङ्क्य मिलिता वास्य षट्पदा ॥२८॥
मया त्रैलोक्यराज्यस्य स्नपनान्ते सुरोत्तमैः । पट्टोऽलम्भीति[5] वास्याधाल्ललाटतटमुन्नतिम् ॥२९॥
कर्णौ लक्षणसम्पूर्णौ नास्य त्रिज्ञानधारिणः । पञ्चवर्षोर्ध्वशिष्यत्वपरिभूतिं प्रतेनतुः ॥३०॥
सुभ्रुवो न भ्रुवोर्वाच्यो विभ्रमोऽस्य पृथग्विदाम् । भ्रूक्षेपमात्रदत्तार्थमार्थसन्तर्पितार्थिनः ॥३१॥
नेत्रे विलासिनी स्निग्धे त्रिवर्णे तस्य रेजतुः । इष्टाखिलार्थसम्प्रेक्षासुखपर्यन्तगामिनी ॥३२॥
मया विनाऽऽस्यशोभा[6] स्यान्नेत्यसौ नासिका स्मयम् । उन्नता दधतीवाभाद्वक्त्राब्जामोदपायिनी ॥३३॥
लक्ष्म्यौ कपोलयोर्लक्ष्म्या वक्षःस्थलसमाश्रितेः[7] । उत्तमाङ्गाश्रयाद् द्वित्वाज् जित्वर्यौ वास्य रेजतुः ॥३४॥
जित्वास्य कुन्दसौन्दर्यं द्विजराजिर्व्यराजत । वक्त्राब्जवाससन्तुष्टा सहासेव सरस्वती ॥३५॥
नाधरस्याधराख्या[8] स्यात्सप्तमास्वादशालिनः । अधरीकृतविश्वामराधरस्याद्रिशोभिनः ॥३६॥
नालप्यते लपस्यास्य शोभा वाग्वल्लभोज्ज्वला । यदि दिव्यो ध्वनिर्विश्ववाचकोऽस्माद्विनिःसृताः ॥३७॥

पर ले गये, वहाँ उन्होंने जन्माभिषेक-सम्बन्धी उत्सव किया, सुमति नाम रखा और फिर घर वापिस ले आये ॥२४॥ अभिनन्दन स्वामीके बाद नौ लाख करोड़ सागर बीत जानेपर उत्कृष्ट पुण्यको धारण करनेवाले भगवान् सुमतिनाथ उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु भी इसी समयमें शामिल थी ॥२५॥ इनकी आयु चालीस लाख पूर्वकी थी, शरीरकी ऊँचाई तीन सौ धनुष थी, तपाये हुए सुवर्णके समान उनकी कान्ति थी, और आकार स्वभावसे ही सुन्दर था ॥ २६ ॥ वे देवोंके द्वारा लाये हुए बाल्यकालके योग्य समस्त पदार्थोंसे वृद्धिको प्राप्त होते थे। उनके शरीरके अवयव ऐसे जान पड़ते थे मानो चन्द्रमाकी किरणें ही हों ॥२७॥ उनके पतले, टेढ़े, चिकने तथा जामुनके समान कान्तिवाले शिरके केश ऐसे जान पड़ते थे मानो मुखमें कमलकी आशंका कर भौंरे ही इकट्ठे हुए हों ॥२८॥ मैंने देवोंके द्वारा अभिषेकके बाद तीन लोकके राज्य का पट्ट प्राप्त किया है। यह सोचकर ही मानो उनका ललाटतक ऊँचाईको प्राप्त हुआ था ॥२९॥ तीन ज्ञानको धारण करनेवाले भगवान्‌के कान सब लक्षणोंसे युक्त थे और पाँच वर्षके बाद भी उन्होंने किसीके शिष्य बननेका तिरस्कार नहीं प्राप्त किया था ॥३०॥ उनकी भौंहें बड़ी ही सुन्दर थीं, भौंहोंके संकेत मात्रसे दिये हुए धन-समूहसे उन्होंने याचकोंको सन्तुष्ट कर दिया था अतः उनकी भौंहोंकी शोभा बड़े-बड़े विद्वानोंके द्वारा भी नहीं कही जा सकती थी ॥३१॥ समस्त इष्ट पदार्थोंके देखनेसे उत्पन्न होनेवाले अपरिमित सुखको प्राप्त हुए उनके दोनों नेत्र विलास पूर्ण थे, स्नेहसे भरे थे, शुक्ल कृष्ण और लाल इस प्रकार तीन वर्णके थे तथा अत्यन्त सुशोभित होते थे ॥३२॥ मुख-कमलकी सुगन्धिका पान करनेवाली उनकी नाक, 'मेरे बिना मुखकी शोभा नहीं हो सकती' इस बातका अहंकार धारण करती हुई ही मानो ऊँची उठ रही थी ॥३३॥ उनके दोनों कपोलोंकी लक्ष्मी उत्तमाङ्ग अर्थात् मस्तकका आश्रय होने तथा संख्या में दो होनेके कारण वक्षःस्थलपर रहनेवाली लक्ष्मीको जीतती हुई-सी शोभित हो रही थी ॥३४॥ उनके दाँतोंकी पंक्ति कुन्द पुष्पके सौन्दर्यको जीतकर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो मुख कमलमें निवास करनेसे संन्तुष्ट हो हँसती हुई सरस्वती ही हो ॥३५॥ जिन्होंने समस्त देवोंको तिरस्कृत कर दिया है, सुमेरु पर्वतकी शोभा बढ़ायी है और छह रसोंके सिवाय सप्तम अलौकिक रसके आस्वादसे सुशोभित हैं ऐसे उनके अधरों (ओठों) की अधर (तुच्छ) संज्ञा नहीं थी ॥३६॥ जिससे समस्त पदार्थोंका उल्लेख करनेवाली दिव्यध्वनि प्रकट हुई है ऐसे उनके मुखकी शोभा तो कही ही नहीं जा सकती। उनके मुखकी शोभा वचनोंसे प्रिय तथा

१ प्रयातेऽनन्तरान्तरे ग०, क० । २ द्युतितोदितः क०, ख०, ग० । द्युतितोदितम् घ० । ३ त्रिशतोच्छ्रितः क०, घ० । ४ सदैव च ग० । ५ वास्याभाल्ललाट- ख०, ग० । ६ आस्यशोभा—मुखशोभा । ७ -माश्रितः ल० । ८ -धराख्यस्य क०, ख०, ग०, घ० ।

[1]हावो वक्त्राम्बुजस्यास्य किं दुर्वर्ण्यस्तेतरां । यदि लीलालितां जग्मुर्निकिम्पेशाः सवल्लभाः ॥३८॥
कण्ठस्य कः स्तवोऽस्य स्याद्यदि त्रैलोक्यकण्ठिका । बद्धामरेशैः स्याद्वादकुण्ठिताखिलवादिनः ॥३९॥
तद्बाहुशिखरे मन्ये शिरसोऽप्यतिलङ्घिनी । वक्षःस्थलनिवासिन्या लक्ष्म्याः क्रीडाचलायते ॥४०॥
धरालक्ष्मीं समाहर्तुं [2]वीरलक्ष्म्या प्रसारितौ । भ्राजेते जयिनस्तस्य भुजावाजानुलम्बिनौ ॥४१॥
पृथक् पृथक्त्वं नाख्येयं रम्यत्वं वास्य वक्षसः । मोक्षाभ्युदयलक्ष्म्या चैतदेवावसतः समम् ॥४२॥
कृशमप्यकृशं मध्यं लक्ष्मीद्वयसमाश्रितम् । ऊर्ध्वदेहं महाभारं वहदेतस्य हेलया ॥४३॥
नाभिः प्रदक्षिणावर्ता गम्भीरेति न कथ्यते । सा चेन्न तादृशी तस्मिन्न स्यादेवं सुलक्षणा ॥४४॥
रूपशोभां विना नेमः[3] [4]स्वाश्रयादिति वाणवः । सन्तः सर्वेऽपि तत्रासन् रम्यस्तत्र कटीतटः ॥४५॥
रम्भास्तम्भादयोऽन्येषामूर्वोर्यान्त्युपमानताम् । उपमेयास्तदूरुभ्यां ते वृत्तत्वादिभिर्गुणैः ॥४६॥
कुतो जानुक्रियेत्येतद् वेद्मि नान्येषु वेधसः । चेदस्मिन्नूरुजङ्घानां शोभास्पर्द्धा[5]नि वृत्तये ॥४७॥
वज्रेण घटिते जङ्घे वेधसाऽस्यान्यथा कथम् । जगत्त्रयगुरोर्भारं बिभ्राते ते तनोस्तनू ॥४८॥
धरेयं सर्वभावेन लग्नाऽस्मत्तलयोरिति । तत्क्रमौ प्रमदेनेव कूर्मपृष्ठौ शुभच्छवी ॥४९॥
इयन्तोऽस्मिन् भविष्यन्ति धर्माः कर्मनिबर्हणाः । इत्याख्यातुमिवाभान्ति विधिनाङ्गुलयः कृता. ॥५०॥

उज्ज्वल थी अथवा वचनरूपी वल्लभा—सरस्वतीसे देदीप्यमान थी ॥३७॥ जबकि अपनी-अपनी वल्लभाओंसे सहित देवेन्द्र भी उसपर सतृष्ण भ्रमर-जैसी अवस्थाको प्राप्त हो गये थे तब उनके मुख-कमलके हावका क्या वर्णन किया जावे ? ॥३८॥ जिन्होंने स्याद्वाद सिद्धान्तसे समस्त वादियोंको कुण्ठित कर दिया है ऐसे भगवान् सुमतिनाथके कण्ठमें जब इन्द्रोंने तीन लोकके अधिपतित्वकी कण्ठी बाँध रखी थी तब उसकी क्या प्रशंसा की जावे ? ॥३९॥ शिरसे भी ऊँचे उठे हुए उनकी भुजाओंके शिखर ऐसे जान पड़ते थे मानो वक्षःस्थलपर रहनेवाली लक्ष्मीके क्रीड़ा-पर्वत ही हों ॥४०॥ घुटनोंतक लटकनेवाली विजयी सुमतिनाथकी भुजाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो पृथिवीकी लक्ष्मीको हरण करनेके लिए वीरलक्ष्मीने ही अपनी भुजाएँ फैलायी हों ॥४१॥ उनके वक्षःस्थलकी शोभाका पृथक्-पृथक् वर्णन कैसे किया जा सकता है जबकि उसपर मोक्षलक्ष्मी और अभ्युदयलक्ष्मी साथ-ही-साथ निवास करती थीं ॥४२॥ उनका मध्यभाग कृश होनेपर भी कृश नहीं था क्योंकि वह मोक्षलक्ष्मी और अभ्युदयलक्ष्मीसे युक्त उनके भारी शरीरको लीलापूर्वक धारण कर रहा था ॥४३॥ उनकी आवर्तके समान गोल नाभि थी यह कहनेकी आवश्यकता नहीं क्योंकि यदि वह वैसी नहीं होती तो उनके शरीरमें अच्छी ही नहीं जान पड़ती ॥४४॥ समस्त अच्छे परमाणुओंने विचार किया—हम किसी अच्छे आश्रयके बिना रूप तथा शोभाको प्राप्त नहीं हो सकते ऐसा विचार कर ही समस्त अच्छे परमाणु उनकी कमरपर आकर स्थित हो गये थे और इसीलिए उनकी कमर अत्यन्त सुन्दर हो गयी थी ॥४५॥ केलेके स्तम्भ आदि पदार्थ अन्य मनुष्योंकी जाँघोंकी उपमानताको भले ही प्राप्त हो जावें परन्तु भगवान् सुमतिनाथके जाँघोंके सामने वे गोलाई आदि गुणोंसे उपमेय बने रहते थे ॥४६॥ विधाताने उनके सुन्दर घुटने किसलिए बनाये थे यह बात मैं ही जानता हूँ अन्य लोग नहीं जानते और वह बात यह है कि इनकी ऊरुओं तथा जंघाओंमें शोभासम्बन्धी ईर्ष्या न हो इस विचारसे ही बीचमें घुटने बनाये थे ॥४७॥ विधाताने उनकी जंघाएँ वज्रसे बनायी थीं, यदि ऐसा न होता तो वे कृश होनेपर भी त्रिभुवनके गुरु अथवा त्रिभुवनमें सबसे भारी उनके शरीरके भारको कैसे धारण करतीं ॥४८॥ यह पृथिवी सम्पूर्ण रूपसे हमारे तलवारोंके नीचे आकर लग गयी है यह सोचकर ही मानो उनके दोनों पैर हर्षसे कछुवेकी पीठके समान शुभ कान्तिके धारक हो गये थे ॥४९॥ इन भगवान् सुमतिनाथमें कर्मोंको नष्ट करनेवाले इतने धर्म प्रकट होंगे यह कहनेके लिए

१ मुखस्य । अयं श्लोकः घ० पुस्तके नास्ति । २ वीरलक्ष्म्या ख०, ग० । ३ नैमः ग० । रूपशोमाविताने ख० । ४ सुष्ठु आश्रयः स्वाश्रयः तस्मात् । ५ निपिद्धये ल० ।

विधाय दशधाऽऽत्मानं विधुरङ्घ्री निषेवते । कान्तिमाभ्यां परं प्राप्तुमित्याशङ्कावहा नखाः ॥ ५१ ॥
एवं सर्वाङ्गशोभास्य लक्षणैर्व्यञ्जनैः शुभा । स्वीकरिष्यति मुक्त्यङ्गनां वेत्यत्र न संशयः ॥ ५२ ॥
कौमारमिति रूपेण सन्धत्ते रामणीयकम् । अनाप्तयौवनस्यास्य तद्विनापि मनोभवात् ॥ ५३ ॥
ततो यौवनमारुह्य कामोऽप्यस्मिन् कृतास्पदः । सम्प्राप्य साधवः स्थानं नाधितिष्ठन्ति के स्वयम्॥५४॥
कुमारकाले पूर्वाणां दशलक्षेषु निष्ठिते । भुञ्जन् स्वर्लोकसाम्राज्यं नृराज्यं चाप स क्रमात् ॥ ५५ ॥
न हिंसा न मृषा तस्य स्तेयसंरक्षणे न च । स्वप्नेऽपि तद्गतानन्दः शुक्ललेश्यस्य केन सः ॥ ५६ ॥
तथा नानिष्टसंयोगो वियोगो नेष्टवस्तुनि । नासातं न निदानं च तत्सङ्क्लेशो न तद्गतः ॥ ५७ ॥
गुणानां वृद्धिमातन्वन् सञ्चयं पुण्यकर्मणाम् । विपाकं विश्वपुण्यानां गुणपुण्यसुखात्मकः ॥५८॥
सेव्यमानः सदा रक्तैः सुरखेचरभूचरैः । निराकृतैहिकारम्भः संभृतः सर्वसंपदाम् ॥ ५९ ॥
निश्रितं कामभोगेषु नित्यं नृसुरभाविषु । न्याय्यार्थपथ्यधर्मेषु [1]शर्मसारं समाप सः ॥ ६० ॥
कान्ताभिः कमनीयाभिः सवयोभिः समीप्सुभिः । दिव्याङ्गरागस्रग्वस्त्रभूषाभी रमते स्म सः ॥ ६१ ॥
दिव्यश्रीर्मानुषी च श्रीः समप्रेमप्रतोषिते । सुखं विदधतुस्तस्य मध्यस्थः कस्य न प्रियः ॥ ६२ ॥
सुखं नाम तदेवात्र यदस्येन्द्रियगोचरम् । स्वर्वन्यसारभोग्यं यत्सुरेशास्यैव रक्षितम् ॥ ६३ ॥
एवं सङ्गमयन् कालं दिव्यराज्यश्रियोर्द्वयोः । व्यरंसीत् संसृतेः सा हि प्रत्यासन्नविनेयता ॥ ६४ ॥

ही मानो विधाताने उनकी दश अंगुलियाँ बनायी थीं ॥५०॥ उनके चरणोंके नख ऐसी शङ्का उत्पन्न करते थे कि मानो उनसे श्रेष्ठ कान्ति प्राप्त करनेके लिए ही चन्द्रमा दश रूप बनाकर उनके चरणोंकी सेवा करता था ॥५१॥ इस प्रकार लक्षणों तथा व्यञ्जनोंसे सुशोभित उनके सर्व शरीरकी शोभा मुक्तिरूपी स्त्रीको स्वीकृत करेगी इसमें कुछ भी संशय नहीं था ॥५२॥ इस प्रकार भगवान्की कुमार अवस्था स्वभावसे ही सुन्दरता धारण कर रही थी, यद्यपि उस समय उन्हें यौवन नहीं प्राप्त हुआ था तो भी वे कामदेवके बिना ही अधिक सुन्दर थे ॥५३॥ तदनन्तर यौवन प्राप्त कर कामदेवने भी उनमें अपना स्थान बना लिया सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे कौन सत्पुरुष हैं जो स्थान पाकर स्वयं नहीं ठहर जाते ॥५४॥

इस प्रकार क्रम-क्रमसे जब उनके कुमार-कालके दश लाख पूर्व बीत चुके तब उन्हें स्वर्गलोकके साम्राज्यका तिरस्कार करनेवाला मनुष्योंका साम्राज्य प्राप्त हुआ ॥५५॥ शुक्ललेश्याको धारण करनेवाले भगवान् सुमतिनाथ न कभी हिंसा करते थे, न झूठ बोलते थे और न चोरी तथा परिग्रह-सम्बन्धी आनन्द उन्हें स्वप्नमें भी कभी प्राप्त होता था। भावार्थ—वे हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और परिग्रहानन्द इन चारों रौद्रध्यानसे रहित थे ॥५६॥ उन्हें न कभी अनिष्ट-संयोग होता था, न कभी इष्ट-वियोग होता था, न कभी वेदनाजन्य दुःख होता था और न वे कभी निदान ही करते थे। इस प्रकार वे चारों आर्तध्यानसम्बन्धी संक्लेशसे रहित थे ॥५७॥ गुण, पुण्य और सुखोंको धारण करनेवाले भगवान् अनेक गुणोंकी वृद्धि करते थे, नवीन पुण्य कर्मका संचय करते थे और पुरातन समस्त पुण्य कर्मोंके विपाकका अनुभव करते थे ॥५८॥ अनुरागसे भरे हुए देव, विद्याधर और भूमिगोचरी मानव सदा उनकी सेवा किया करते थे, उन्होंने इस लोकसम्बन्धी समस्त आरम्भ दूर कर दिये थे, और वे सर्व सम्पदाओंसे परिपूर्ण थे ॥५९॥ वे मनुष्य तथा देवोंमें होनेवाले काम-भोगोंमें, न्यायपूर्ण अर्थमें तथा हितकारी धर्ममें श्रेष्ठ सुखको प्राप्त हुए थे ॥६०॥ वे दिव्य अङ्गराग, माला, वस्त्र और आभूषणोंसे सुशोभित सुन्दर समान अवस्थावाली तथा स्वेच्छासे प्राप्त हुई स्त्रियोंके साथ रमण करते थे ॥६१॥ समान प्रेमसे सन्तोषित दिव्य लक्ष्मी और मानुष्य लक्ष्मी दोनों ही उन्हें सुख पहुँचाती थीं सो ठीक ही है क्योंकि मध्यस्थ मनुष्य किसे प्यारा नहीं होता? ॥६२॥ संसारमें सुख वही था जो इनके इन्द्रिय-गोचर था, क्योंकि स्वर्गमें भी जो सारभूत वस्तु थी उसे इन्द्र इन्हींके लिए सुरक्षित रखता था ॥६३॥

---

1 धर्मसारं ग० ।

सुधीः कथं सुखांशेप्सुविषयामिषगृद्धिमान् । न पापबडिशं पश्येन्न चेदनिमिषायते[2] ॥ ६५ ॥
मूढः प्राणी परां प्रौढिमप्राप्तोऽस्त्वहिताहितः[3] । अहितेनाहितोऽहं च कथं बोधत्रयाहितः ॥ ६६ ॥
निरङ्कुशं न वैराग्यं यादृग्ज्ञानं च तादृशम् । कुतः स्यादात्मन स्वास्थ्यमस्वस्थस्य कुतः सुखम् ॥६७॥
खपञ्चकनवद्व्युक्तैः पूर्वैं राज्येऽवसाधिते । सह द्वादशपूर्वाङ्गैः स्वस्मिन्नेवेत्यचिन्तयत् ॥ ६८ ॥
स्तुतस्तदैव संस्तोत्रैः सर्वैः सारस्वतादिभिः । अभिषेकं सुरैराप्य देवोढाभययानकः ॥ ६९ ॥
दीक्षां षष्ठोपवासेन सहेतुकवनेऽगृहीत् । सिते राज्ञां सहस्रेण सुमतिर्नवमीदिने ॥ ७० ॥
मघाशशिनि वैशाखे पूर्वाह्णे संयमाश्रयम्[4] । तदैवाविरभूदस्य मनःपर्ययसञ्ज्ञकम् ॥ ७१ ॥
पुरं सौमनसं नाम भिक्षायै पश्चिमे दिने । प्राप्तं[5] प्रतोक्ष्य पद्मोऽगात्पूजां द्युम्नद्युतिर्नृपः ॥ ७२ ॥
सामायिकं समादाय समौनः शान्तकल्मषः । तपस्तेपे समाधानात्सहिष्णुर्दुस्सहं परैः ॥ ७३ ॥
विंशतिं वत्सरान्नीत्वा छद्मस्थः प्राक्तने वने । प्रियङ्गुभूरुहोऽधस्तादुपवासद्वयं श्रितः ॥ ७४ ॥
मघायां चैत्रमासस्य धवलैकादशीदिने । पश्चिमाभिमुखे भानौ कैवल्यमुदपादयत्[6] ॥ ७५ ॥
सुरैः संप्राप्ततत्पूजो गणेशैश्चामरादिभिः । स सप्तर्द्धिभिरभ्यर्च्यैः सषोडशशतोन्मुखैः ॥ ७६ ॥
शून्यद्वयचतुःपक्षमितपूर्वधरानुगः । खपञ्चत्रिचतुःपञ्चपक्षोक्तैः[7] शिक्षकैर्युतः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार दिव्य लक्ष्मी और राज्यलक्ष्मी इन दोनोंमें समय व्यतीत करते हुए भगवान् सुमतिनाथ संसारसे विरक्त हो गये सो ठीक ही है क्योंकि निकट भव्यपना इसीको कहते हैं ॥६४॥ भगवान्ने विचार किया कि अल्प सुखकी इच्छा रखनेवाले बुद्धिमान् मानव, इस विषयरूपी मांसमें क्यों लम्पट हो रहे हैं। यदि ये संसारके प्राणी मछलीके समान आचरण न करें तो इन्हें पापरूपी वंसीका साक्षात्कार न करना पड़े ॥६५॥ जो परम चातुर्यको प्राप्त नहीं है ऐसा मूर्ख प्राणी भले ही अहितकारी कार्योंमें लीन रहे परन्तु मैं तो तीन ज्ञानोंसे सहित हूँ फिर भी अहितकारी कार्योंमें कैसे लीन हो गया ? ॥६६॥ जबतक यथेष्ट वैराग्य नहीं होता और यथेष्ट सम्यग्ज्ञान नहीं होता तबतक आत्माकी स्वरूपमें स्थिरता कैसे हो सकती है ? और जिसके स्वस्वरूपमें स्थिरता नहीं है उसके सुख कैसे हो सकता है ? ॥६७॥ राज्य करते हुए जब उन्हें उन्तीस लाख पूर्व और बारह पूर्वाङ्ग बीत चुके तब अपनी आत्मामें उन्होंने पूर्वोक्त विचार किया ॥६८॥ उसी समय सारस्वत आदि समस्त लौकान्तिक देवोंने अच्छे-अच्छे स्तोत्रों-द्वारा उनकी स्तुति की, देवोंने उनका अभिषेक किया और उन्होंने उनकी अभय नामक पालकी उठायी ॥६९॥ इस प्रकार भगवान् सुमतिनाथने वैशाख सुदी नवमीके दिन मघा नक्षत्रमें प्रातःकालके समय सहेतुक वनमें एक हजार राजाओंके साथ वेलाका नियम लेकर दीक्षा धारण कर ली। संयमके प्रभावसे उसी समय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया ॥७०-७१॥ दूसरे दिन वे भिक्षाके लिए सौमनस नामक नगरमें गये। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिके धारक पद्मराजाने पडगाह कर आहार दिया तथा स्वयं प्रतिष्ठा प्राप्त की ॥७२॥ उन्होंने सर्वपापकी निवृत्ति रूप सामायिक संयम धारण किया था, वे मौनसे रहते थे, उनके समस्त पाप शान्त हो चुके थे, वे अत्यन्त सहिष्णु—सहनशील थे जिसे दूसरे लोग नहीं सह सकते ऐसे तपको बड़ी सावधानीके साथ तपते थे ॥७३॥ उन्होंने छद्मस्थ रहकर बीस वर्ष बिताये। तदनन्तर उसी सहेतुक वनमें प्रियङ्गु वृक्षके नीचे दो दिनका उपवास लेकर योग धारण किया ॥७४॥ और चैत्र शुक्ल एकादशीके दिन जब सूर्य पश्चिम दिशाकी ओर ढल रहा था तब केवलज्ञान उत्पन्न किया ॥७५॥ देवोंने उनके ज्ञानकल्याणककी पूजा की। सप्त ऋद्धियोंके धारक अमर आदि एक सौ सोलह गणधर निरन्तर सम्मुख रहकर उनकी पूजा करते थे, दो हजार चार सौ पूर्वधारी निरन्तर उनके साथ

१ अयं श्लोकः ब० पुस्तके नास्ति। २ अनिमिषो मत्स्यस्तद्वदाचरतीति–अनिमिषायते 'पाठीनोऽनिमिषस्तिमिः' इति धनञ्जयः। ३ परां प्रौढिं विज्ञतामप्राप्तो मूढः प्राणी अहिते–अहितकरे कार्ये आहित आसक्तः अस्तु भवतु किन्तु बोधत्रयेण युक्तोऽहं अहितेन कथमाहित इत्याश्चर्यम्। ४ संयमाश्रयात् ग०। ५ प्राप्ते ग०। ६ कैवल्यमुपपादितवान् ल०। ७ पक्षोत्तरैः ल०।

एकादशसहस्रावधीद्धबोधविदीडितः । त्रयोदशसहस्राद्यसमानज्ञानसंस्तुतः[1] ॥ ७८ ॥
शून्यद्वययुगाष्टैकमितवैक्रियकस्तुतः । शून्यद्वयचतुःखैकप्रमितोपान्तविद्वृतः[2] ॥ ७९ ॥
शून्यपञ्चचतुःखैकमितवाद्यभिवन्दितः । पिण्डितैः खचतुष्कद्वित्रिमितैस्तैर्विभूषित ॥ ८० ॥
खचतुष्कत्रिवह्नयुक्तानन्तार्याद्यार्यिकानुगः । त्रिलक्षश्रावकाभ्यर्च्यः श्राविकापञ्चलक्षवान् ॥ ८१ ॥
स देवदेव्यसङ्ख्याततिर्यक्सङ्ख्यातवेष्टितः । विहृत्याष्टदशक्षेत्रविशेषेष्वमराञ्चितः ॥ ८२ ॥
प्रशस्ताशस्तभाषासु भव्यानां दिव्यमक्षिपत् । ध्वनिं बीजविशेषं वा सुभूमिषु महाफलम् ॥ ८३ ॥
विमुक्त[3]विहृतिर्मासं सहस्रमुनिभिः सह । प्रतिमायोगमास्थाय सम्मेदे निर्वृतिं ययौ ॥ ८४ ॥
एकादश्यां सिते चैत्रे मघायामपराह्णगः । अमरैरन्त्यकल्याणमवाप सुमतीश्वरः ॥ ८५ ॥

मालिनी

रिपुनृपयमदण्डः पुण्डरीकिण्यधीशो
हरिरिव रतिषेणो वैजयन्तेऽहमिन्द्रः ।
सुमतिरमितलक्ष्मीस्तीर्थकृद्यः कृतार्थः
सकलगुणसमृद्धो वः स सिद्धिं विदध्यात् ॥ ८६ ॥

रहते थे, वे दो लाख चौअन हजार तीन सौ पचास शिक्षकोंसे सहित थे, ग्यारह हजार अवधिज्ञानी उनकी पूजा करते थे, तेरह हजार केवलज्ञानियोंसे युक्त थे, आठ हजार चार सौ विक्रिया ऋद्धिके धारण करनेवाले उनका स्तवन करते थे, दश हजार चार सौ मनःपर्ययज्ञानी उन्हें घेरे रहते थे, और दश हजार चार सौ पचास वादी उनकी वंदना करते थे, इस प्रकार सब मिलाकर तीन लाख बीस हजार मुनियोंसे वे सुशोभित हो रहे थे ॥७६–८०॥ अनन्तमती आदि तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ उनकी अनुगामिनी थीं, तीन लाख श्रावक उनकी पूजा करते थे, पाँच लाख श्राविकाएँ उनके साथ थीं ॥८१॥ असंख्यात देव-देवियों और संख्यात तिर्यंचोंसे वे सदा घिरे रहते थे। इस प्रकार देवोंके द्वारा पूजित हुए भगवान् सुमतिनाथने अठारह क्षेत्रोंमें विहार कर भव्य जीवोंके लिए उपदेश दिया था। जिस प्रकार अच्छी भूमिमें बीज बोया जाता है और उससे महान् फलकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार भगवान्ने प्रशस्त-अप्रशस्त सभी भाषाओंमें भव्य जीवोंके लिए दिव्य ध्वनि रूपी बीज बोया था और उससे भव्य जीवोंको रत्नत्रयरूपी महान् फलकी प्राप्ति हुई थी ॥८२–८३॥

अन्तमें जब उनकी आयु एक मासकी रह गयी तब उन्होंने विहार करना बन्द कर सम्मेदगिरिपर एक हजार मुनियोंके साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया और वहींसे चैत्र शुक्ल एकादशीके दिन मघा नक्षत्रमें शामके समय निर्वाण प्राप्त किया। देवोंने उनका निर्वाण-कल्याणक किया ॥८४–८५॥ जो पहले शत्रु राजाओंको नष्ट करनेके लिए यमराजके दण्डके समान अथवा इन्द्रके समान पुण्डरीकिणी नगरीके अधिपति राजा रतिषेण थे, फिर वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुए और फिर अनन्त लक्ष्मीके धारक, समस्त गुणोंसे सम्पन्न तथा कृतकृत्य

---

१ ज्ञानिसंयुतः ग० । २ –विद्गतः क०, घ० । –विद्वृतः ग० । ३ विमुक्तविकृतिर्मासं क०, ख०, ग०, घ० । विमुक्तविकृतिः ल० ।

स्रग्धरा

सद्योजातं जिनेन्द्रं स्वरवतरणसंप्राप्तकल्याणकार्यें
वामं जन्माभिषेके [1]सुरपविरचितैर्भूषणैरिद्धशोभम् ।
सन्निष्क्रान्तावघोरं सुमतिमतिमतिं केवलज्ञानसिद्धा-
वीशानं निर्वृतौ तत्पुरुषमपरुषं शान्तये संश्रयध्वम् ॥ ८७ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे सुमतितीर्थपुराणं नाम समाप्तमेकपञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५१ ॥



सुमतिनाथ तीर्थंकर हुए वे तुम सबको सिद्धि प्रदान करें ॥८६॥ जो भगवान् स्वर्गावतरणके समय गर्भकल्याणकके उत्सवमें 'सद्योजात' कहलाये, जन्माभिषेकके समय इन्द्र-द्वारा विरचित आभूषणोंसे सुशोभित होकर 'वाम' कहलाये, दीक्षा-कल्याणकके समय 'अघोर' कहलाये, केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेपर 'ईशान' कहलाये और निर्वाण होनेपर 'तत्पुरुष' कहलाये ऐसे राग-द्वेषरहित अतिशय पूज्य भगवान् सुमतिनाथका शान्तिके लिए हे भव्य जीवो ! आश्रय ग्रहण करो ॥ ८७ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें सुमतिनाथ तीर्थंकरका पुराण वर्णन करनेवाला इक्यावनवाँ पर्व पूर्ण हुआ ॥ ५१ ॥



---

१ सुरपतिरचितै-ध०, क० .

पद्मेऽस्यास्तु न भातीव प्रभास्मिन्निति वाश्रिता । त्यक्त्वा तं यं स पद्मास्मान्पातु पद्मप्रभः प्रभुः ॥ १ ॥
द्वितीये धातकीखण्डे द्वीपे प्राग्भागपूर्वजे । विदेहे दक्षिणे कूले सीताया वत्सदेशजम् ॥ २ ॥
सुसीमानगरं तस्मिन् महाराजोऽपराजितः । न परैर्जीयते जेता स बाह्याभ्यन्तरद्विषाम् ॥ ३ ॥
विक्रमेणैव वक्राणां जेतुर्बाह्यपरिच्छदः । सप्ताङ्गपूर्णं तस्य बलं दोर्बलशालिनः ॥ ४ ॥
तस्य सत्येन वर्षन्ति जीमूताः कर्षकेच्छया । आदिमध्यान्तवाप्याश्च धान्यभेदाः फलप्रदाः ॥ ५ ॥
त्यागेन तस्य दारिद्र्यशब्दः खकुसुमायते । भुवि प्राग्वेषु दारिद्र्यं तैरद्य धनदायितम् ॥ ६ ॥
राज्ञां महागुणास्तस्मिन् सुक्षेत्रोप्तसुबीजवत् । त्रयोऽप्येते फलन्ति स्म सजातीयान् परान् गुणान् ॥ ७ ॥
परेषां वास्य रूपादिसम्पन्नोन्मार्गवृत्तये । तरूत्पाटी मरुन्मेरुं[1] क्षमः कम्पयितुं च किम् ॥ ८ ॥
स षट्प्रकृतिभिर्भूष्यस्ताश्च तेन ततोऽभवत् । तद्राज्यं न परैर्धर्ष्यं परेषां धर्षकः[2] स्वयम् ॥ ९ ॥
एवं भवान्तराध्यर्जितोर्जितायोदयार्पितम् । मार्पत्यं सुचिरं भुक्त्वा संविभक्तं सुहृद्वरैः ॥ १० ॥
क्षणिकाः सर्वपर्यायाः पर्यायैश्चानुभूयते । सुखं कारणविध्वंसे कार्ये कौतस्कुती स्थितिः ॥ ११ ॥
[3]इत्यृजुसूत्रभावेन स सर्वं भङ्गुरं स्मरन् । दत्त्वा राज्यं सुमित्राय सुताय विजितात्मने ॥ १२ ॥
गत्वा तपो गुरुं कृत्वा जिनेन्द्रं पिहितास्रवम् । एकादशाङ्गविद् बद्ध्वा नाम तीर्थकराह्वयम् ॥ १३ ॥

कमल दिनमें ही फूलता है, रातमें बन्द हो जाता है अतः उसमें स्थिर न रह सकनेके कारण जिस प्रकार प्रभाकी शोभा नहीं होती और इसीलिए उसने कमलको छोड़कर जिनका आश्रय ग्रहण किया था उसी प्रकार लक्ष्मीने भी कमलको छोड़कर जिनका आश्रय लिया था वे पद्मप्रभ स्वामी हम सबकी रक्षा करें ॥ १ ॥ दूसरे धातकीखण्डद्वीपके पूर्व विदेहक्षेत्रमें सीता नदीके दक्षिण तटपर वत्स देश है। उसके सुसीमा नगरमें महाराज अपराजित राज्य करते थे। महाराज अपराजित वास्तवमें अपराजित थे क्योंकि उन्हें शत्रु कभी भी नहीं जीत सकते थे और उन्होंने अन्तरंग तथा बहिरंगके सभी शत्रुओंको जीत लिया था ॥ २-३ ॥ वह राजा कुटिल मनुष्योंको अपने पराक्रमसे ही जीत लेता था अतः बाहुबलसे सुशोभित उस राजाकी सप्तांग सेना केवल बाह्य आडम्बर मात्र थी ॥ ४ ॥ उसके सत्यसे मेघ किसानोंकी इच्छानुसार बरसते थे और वर्षके आदि, मध्य तथा अन्तमें बोये जानेवाले सभी धान्य फल प्रदान करते थे ॥५॥ उसके दानके कारण दारिद्र्य शब्द आकाशके फूलके समान हो रहा था और पृथिवी-पर पहले जिन मनुष्योंमें दरिद्रता थी वे अब कुबेरके समान आचरण करने लगे थे ॥६॥ जिस प्रकार उत्तम खेतमें बोये हुए बीज सजातीय अन्य बीजोंको उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार उस राजाके उक्त तीनों महान् गुण सजातीय अन्य गुणोंको उत्पन्न करते थे ॥७॥ इस राजाकी रूपादि सम्पत्ति अन्य मनुष्योंके समान इसे कुमार्गमें नहीं ले गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि वृक्षोंको उखाड़नेवाला क्या मेरु पर्वतको भी कम्पित करनेमें समर्थ है? ॥८॥ वह राजाओंके योग्य सन्धि-विग्रहादि छह गुणोंसे सुशोभित था और छह गुण उससे सुशोभित थे। उसका राज्य दूसरोंके द्वारा धर्षणीय-तिरस्कार करनेके योग्य नहीं था पर वह स्वयं दूसरोंका धर्षक-तिरस्कार करने-वाला था ॥९॥ इस प्रकार अनेक भावोंमें उपार्जित पुण्य कर्मके उदयसे प्राप्त तथा अनेक मित्रोंमें बटे हुए राज्यका उसने चिरकाल तक उपभोग किया ॥१०॥ तदनन्तर वह विचार करने लगा कि इस संसारमें समस्त पर्याय क्षणभंगुर हैं, सुख पर्यायोंके द्वारा भोगा जाता है और कारणका विनाश होनेपर कार्यकी स्थिति कैसे हो सकती है? ॥११॥ इस प्रकार ऋजुसूत्र नयसे सब पदार्थोंको भंगुर स्मरण करते हुए उस राजाने अपने आत्माको वश करनेवाले सुमित्र पुत्रके लिए राज्य दे दिया, वनमें जाकर पिहितास्रव जिनेन्द्रको दीक्षा-गुरु बनाया, ग्यारह अंगोंका अध्ययन कर

१ मेरुक्षमं क० । २ वर्षकं ल० । ३ इत्यन्तर्गतभावेन क०, घ० ।

संन्यस्यान्तपरित्यक्तदेहोऽयादहमिन्द्रताम् । ऊर्ध्वग्रैवेयके रम्ये प्रीतिंकरविमानजः ॥१४॥
एकत्रिंशत्समुद्रायुर्हस्तद्वयशरीरकः । शुक्ललेश्यो दिनैः पञ्चषट्चतुःसम्मितैः श्वसन् ॥१५॥
एकत्रिंशत्सहस्राब्दैर्मानसाहारतर्पितः । तेजोबलावधिज्ञानव्याप्तसप्तमभूतलः ॥१६॥
तत्क्षेत्रविक्रियर्द्धीशः सुखमापाहमिन्द्रजम्[1] । स्वायुरन्ते[2] ततस्तस्मिन्नवनीमागमिष्यति ॥१७॥
जम्बूद्वीपेऽत्र[3] कौशाम्ब्यां पतिरिक्ष्वाकुवंशजः । गोत्रेण काश्यपो राजा धरणाख्यो महानभूत् ॥१८॥
तस्य देवी सुसीमाख्या रत्नवृष्ट्यादिमानिता । प्रभाते माघकृष्णायां षष्ठ्यां चित्रेन्दुसंगमे ॥१९॥
गजादिषोडशस्वप्नवीक्षणानन्तरास्यगम् । निरीक्ष्य वारणं ज्ञातैस्तत्फलैः प्रमदान्विता[4] ॥२०॥
कृष्णपक्षे त्रयोदश्यां त्वष्ट्रयोगेऽपराजितम् । कार्तिके मास्यसूतैषा रक्ताम्भोजदलच्छविम् ॥२१॥
अस्योत्पत्तौ समुत्पत्तिर्गुणानां दोषसन्ततेः । ध्वंसो जातः शमः शोकः प्रमोदात्सर्वदेहिनाम् ॥२२॥
मोहशत्रुर्हतच्छायो नष्टोऽहं वेति कम्पते । स्वर्गापवर्गयोर्मार्गे वाहकेऽस्मिन् भविष्यति ॥२३॥
मोहनिद्रां विहास्यन्ति बहवोऽस्मिन् प्रबोधके । जन्मिनां जाति सम्बन्ध[5]विरोधश्च विनङ्क्ष्यति ॥२४॥
लक्ष्मीर्विकाश[6]मस्यायात् प्रायात् कीर्तिर्जगत्त्रयम् । अभूदित्यादिसंलापो विदुषामितरेतरम् ॥२५॥
तदानीमेव देवेन्द्रास्तं मेरौ क्षीरवारिभिः । स्नपयित्वा विधायाख्यामुदा पद्मप्रभाभिधाम् ॥२६॥
अभिष्टुत्य पुनर्नीत्वा मातुरङ्के महाद्युतिम् । निधाय मुदिता नृत्यं विधाय प्रययुर्दिवम्[7] ॥२७॥
समस्तैः शैशवं तस्य मुदेन्दोरिव वन्द्यते । कः स यः सर्वमाह्लाद वर्द्धमाने पराङ्मुखः ॥२८॥

तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया और आयुके अन्तमें समाधिमरणके द्वारा शरीर छोड़कर अत्यन्त रमणीय ऊर्ध्वग्रैवेयकके प्रीतिंकर विमानमें अहमिन्द्र पद प्राप्त किया ॥१२-१४॥ इकतीस सागर उसकी आयु थी, दो हाथ ऊँचा शरीर था, शुक्ल लेश्या थी, चार सौ पैंसठ दिनमें श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता था, इकतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहारसे सन्तुष्ट होता था, अपने तेज, बल तथा अवधिज्ञानसे सप्तमी पृथिवीको व्याप्त करता था और वहींतक उसकी विक्रियाऋद्धि थी। इस प्रकार अहमिन्द्रसम्बन्धी सुख उसे प्राप्त थे। आयुके अन्तमें जब वहाँसे चय कर पृथिवीपर अवतार लेनेके लिए उद्यत हुआ ॥१५-१७॥ तब इसी जम्बूद्वीपकी कौशाम्बी नगरीमें इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री धरण नामका एक बड़ा राजा था। उसकी सुसीमा नामकी रानी थी जो रत्नवृष्टि आदि अतिशयोंसे सम्मानित थी। माघकृष्ण षष्ठीके दिन प्रातःकालके समय जब चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमाका संयोग हो रहा था तब रानी सुसीमाने हाथी आदि सोलह स्वप्न देखनेके बाद मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। पतिसे स्वप्नोंका फल जानकर वह बहुत ही हर्षित हुई ॥१८-२०॥ कार्तिक मासके कृष्णपक्षकी त्रयोदशीके दिन त्वष्ट्र योगमें उसने लाल कमलकी कलिकाके समान कान्तिवाले अपराजित पुत्रको उत्पन्न किया ॥२१॥ इस पुत्रकी उत्पत्ति होते ही गुणोंकी उत्पत्ति हुई, दोष समूहका नाश हुआ और हर्षसे समस्त प्राणियोंका शोक शान्त हो गया ॥२२॥ स्वर्ग और मोक्षका मार्ग चलानेवाले भगवान्‌के उत्पन्न होते ही मोहरूपी शत्रु कान्ति-रहित हो गया तथा 'अब मैं नष्ट हुआ' यह सोचकर काँपने लगा ॥२३॥ उस समय विद्वानोंमें निम्न प्रकारका वार्तालाप हो रहा था कि जब भगवान् सबको प्रबुद्ध करेंगे तब बहुत-से लोग मोह-निद्राको छोड़ देंगे, प्राणियोंका जन्मजात विरोध नष्ट हो जायेगा, लक्ष्मी विकासको प्राप्त होगी और कीर्ति तीनों जगत्‌में फैल जायेगी ॥२४-२५॥ उसी समय इन्द्रोंने मेरु पर्वतपर ले जाकर क्षीरसागरके जलसे उनका अभिषेक किया, हर्षसे पद्मप्रभ नाम रखा, स्तुति की, तदनन्तर महाकान्तिमान् जिन-बालकको वापस लाकर माताकी गोदमें रखा, हर्षित होकर नृत्य किया और फिर स्वर्गकी ओर प्रस्थान किया ॥२६-२७॥ चन्द्रमाके समान उनके बाल्यकालकी सब बड़े हर्षसे प्रशंसा करते थे सो ठीक

---

१ सुखपायाहमिन्द्रजं ल० । २ आयुरन्ते क०, ख०, ग०, घ०, ल० । ३ जम्बूद्वीपे च कौशाम्ब्यां ल० । ४ प्रमदान्वितैः ख० । ५ संबद्ध-ग०, ख० । ६-विकास क०, घ० । ७ प्राययुर्दिवम् क०, घ०, ग० ।

न कामनीयकं कामे विकायेऽन्यत्र चेदृशम् । तत्कामनीयकं तस्य न केनाप्युपमीयते ॥ २९ ॥
तथैव रूपमप्यस्य कथ्यते किं पृथक् पृथक् । यद्यत्तस्मिन्न तत्तद्गुणैरन्यस्यैरुपमीयते ॥ ३० ॥
कामयन्ते स्त्रियः पुंसः पुमांसस्ता इमं पुनः । ताश्च ते चास्य सौभाग्यं नाल्पभाग्यैरवाप्यते ॥ ३१ ॥
तत्तनावेव सर्वेषां दृष्टिस्तृप्तिं परामिता । सन्तत चूतमञ्जर्यां मत्तालीनामिवावली ॥ ३२ ॥
सर्वेन्द्रियसमाह्लादस्तस्मिन् चेन्न भृशायते । परत्रापूर्णपुण्येषु न क्वापीति वयं स्थिताः ॥ ३३ ॥
खचतुष्केण कोटीनां नवभिश्चोक्तवार्धिभिः । मिते सुमतिसन्ताने पद्मप्रभजिनस्थितिः ॥ ३४ ॥
षट्शून्यवह्निपूर्वायुः शून्यपञ्चद्विचापभाक् । जीवितस्य चतुर्भागे[1] कुमारत्वेन निष्ठिते ॥ ३५ ॥
अलब्ध राज्यं प्राप्तामरेज्यो[2] द्वैराज्यवर्जितम् । क्रमायातं न हीच्छन्ति सन्तस्तच्चान्ययागतम् ॥ ३६ ॥
[3]पट्टबन्धेऽस्य सर्वस्य स्वस्य स्वस्येव सम्मदः । महाभयानि तद्देशे नष्टान्यष्टौ निरन्वयम् ॥ ३७ ॥
दारिद्र्यं विद्रुतं दूरं स्वैरं स्वं संप्रवर्तते । सर्वाणि मङ्गलान्यासन् संगमः सर्वसंपदाम् ॥ ३८ ॥
कस्य कस्मिन्समीप्सेति वदान्येष्वभवद्वचः । कस्यचिन्नैव कस्मिंश्चिदर्थितेत्यवदज्जनः ॥ ३९ ॥
इत्यस्य राज्यसंप्राप्तौ जगत्सुप्तमिवोत्थितम् । तदेव राज्यं राज्येषु प्रजानां यत्सुखावहम् ॥ ४० ॥
हीने षोडशपूर्वाङ्गैः[4] [5]पूर्वलक्षायुषि स्थिते । कदाचिद् द्वारिबन्धस्थगजप्रकृतिसंश्रुतेः ॥ ४१ ॥

ही है क्योंकि जो सबको आह्लादित कर वृद्धिको प्राप्त होता है उससे कौन पराङ्मुख रहता है ? ॥२८॥ भगवान् पद्मप्रभके शरीरकी जैसी सुन्दरता थी वैसी सुन्दरता न तो शरीररहित कामदेवमें थी और न अन्य किसी मनुष्यमें भी। यथार्थमें उनकी सुन्दरताकी किसीसे उपमा नहीं दी जा सकती थी ॥२९॥ इसी प्रकार उनके रूपका भी पृथक्-पृथक् वर्णन नहीं करना चाहिए क्योंकि जो-जो गुण उनमें विद्यमान थे विद्वान् लोग उन गुणोंकी अन्य मनुष्योंमें रहनेवाले गुणोंके साथ उपमा नहीं देते थे ॥३०॥ स्त्रियाँ पुरुषोंकी इच्छा करती हैं और पुरुष स्त्रियोंकी इच्छा करते हैं परन्तु उन पद्मप्रभकी, स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही इच्छा करते थे सो ठीक ही है क्योंकि जिनका भाग्य अल्प है वे इनके सौभाग्यको नहीं पा सकते हैं ॥३१॥ जिस प्रकार मत्त भौरों-की पंक्ति आममंजरीमें परम सन्तोषको प्राप्त होती है उसी प्रकार सब मनुष्योंकी दृष्टि उनके शरीरमें ही परम सन्तोषको प्राप्त करती थी॥३२॥ हम तो ऐसा समझते हैं कि समस्त इन्द्रियोंके सुख यदि उन पद्मप्रभ भगवान्में पूर्णताको प्राप्त नहीं थे तो फिर अल्प पुण्यके धारक दूसरे किन्हीं भी मनुष्योंमें पूर्णताको प्राप्त नहीं हो सकते थे ॥३३॥ जब सुमतिनाथ भगवान्की तीर्थ परम्पराके नब्बे हजार करोड़ सागर बीत गये तब भगवान् पद्मप्रभ उत्पन्न हुए थे ॥३४॥ तीस लाख पूर्व उनकी आयु थी, दो सौ पचास धनुष ऊँचा शरीर था और देव लोग उनकी पूजा करते थे। उनकी आयुका जब एक चौथाई भाग बीत चुका तब उन्होंने एक छत्र राज्य प्राप्त किया। उनका वह राज्य क्रमप्राप्त था—वंश-परम्परासे चला आ रहा था सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन मनुष्य उस राज्यकी इच्छा नहीं करते हैं जो अन्य रीतिसे प्राप्त होता है ॥३५-३६॥ जब भगवान् पद्म-प्रभको राज्यपट्ट बाँधा गया तब सबको ऐसा हर्ष हुआ मानो मुझे ही राज्यपट्ट बाँधा गया हो। उनके देशमें आठों महाभय समूल नष्ट हो गये थे ॥३७॥ दरिद्रता दूर भाग गयी, धन स्वच्छ-न्दतासे बढ़ने लगा, सब मंगल प्रकट हो गये और सब सम्पदाओंका समागम हो गया ॥३८॥ उस समय दाता लोग कहा करते थे कि किस मनुष्यको किस पदार्थकी इच्छा है और याचक लोग कहा करते थे कि किसीको किसी पदार्थकी इच्छा नहीं है ॥३९॥

इस प्रकार जब भगवान् पद्मप्रभको राज्य प्राप्त हुआ तब संसार मानो सोनेसे जाग पड़ा सो ठीक ही है क्योंकि राजाओंका राज्य वही है जो प्रजाको सुख देनेवाला हो ॥४०॥ जब उनकी आयु सोलह पूर्वांग कम एक लाख पूर्वकी रह गयी तब किसी समय दरवाजेपर बँधे हुए हाथीकी दशा सुननेसे उन्हें अपने पूर्व भवोंका ज्ञान हो गया और तत्त्वोंके स्वरूपको

१ चतुर्भाग-ल०। २ प्राप्तामरेड्यो ख०। प्राप्तामरेष्टो ग०। ३ पट्टबन्धस्य ग०। ४ पूर्वाङ्गे ग०, क०। ५ पूर्व लक्षायुषि ल०।

ज्ञातात्मान्यभवो धिक् धिक् संसारमिति तत्त्ववित् । विरक्तः कामभोगेषु पापदुःखप्रदायिषु ॥ ४२ ॥
अदृष्टं किं किमस्पृष्टमनाघ्रातं किमश्रुतम् । किं [1]किमस्वादितं येन पुनर्नवमिवेष्यते ॥ ४३ ॥
भुक्तमेव पुनर्भुक्तं जन्तुनानन्तशो भवे । [2]मध्यमप्यभिलाषाऽब्धेरितं वदत किं ततः ॥ ४४ ॥
नेन्द्रियैरःमनस्तृप्तिर्मिथ्यात्वादिविदूषितैः । [3]वीतघात्युपयोगेऽस्य विश्वं यावन्नगोचरम् ॥ ४५ ॥
रोगोरगाणां तु ज्ञेयं शरीरं वामलूरकम् । दृष्टान् दृष्टापि तैरेव किमिशान्दष्टजीवितान् ॥ ४६ ॥
[4]आहितो [5]देहिनो देहे मोहोऽनेनाविनश्वरः [6] । [7]सहवासः कृतः क्वापि केनाप्यस्यायुषा किमु ॥ ४७ ॥
हिंसादिपञ्चकं धर्मः सुखं यस्येन्द्रियार्थजम् । संसृती रोचते तस्मै विपरीतार्थदर्शिने ॥ ४८ ॥
पापापापोपलेपापक्षेपो येनोपपद्यते । तद्ध्येयं तदनुष्ठेयं तदध्येयं सदा बुधैः ॥ ४९ ॥
इति त्रिविधनिर्वेदभूतबोधिः [8] सुरोत्तमैः । प्रोत्साहितः सुरैः प्राप्तनिष्क्रान्तिस्नानसम्मदः ॥ ५० ॥
निवृत्त्याख्यां समारुह्य शिबिकां स मनोहरे । वने षष्ठोपवासेन दीक्षां शिक्षामिवाग्रहीत् ॥ ५१ ॥
कार्तिके कालपक्षस्य त्रयोदश्यपराह्णगः । चित्रायां भूभुजां सार्द्धं सहस्रेणाहितादरः ॥ ५२ ॥
चतुर्थज्ञानसंपन्नश्चर्यायै पश्चिमे दिने । नगरं वर्द्धमानाख्यं प्राविशद्विदुषां वरः ॥ ५३ ॥
सोमदत्तो नृपस्तस्मै दानादापार्जुनच्छविः । आश्चर्यपञ्चकं किं वा पात्रदानान्न जायते ॥ ५४ ॥
चिन्वन् शुभास्रवैः पुण्यं संवरं कर्मसंहतेः । कुर्वन्गुप्त्यादिषट्केन तपसा निर्जरां च सः ॥ ५५ ॥

जाननेवाले वे संसारको इस प्रकार धिक्कार देने लगे। वे पाप तथा दुःखोंको देनेवाले काम-भोगोंमें विरक्त हो गये। वे विचारने लगे कि इस संसारमें ऐसा कौन-सा पदार्थ है जिसे मैंने देखा न हो, छुआ न हो, सूँघा न हो, सुना न हो, और खाया न हो जिससे वह नयेके समान जान पड़ता है ॥४१-४३॥ यह जीव अपने पूर्वभवोंमें जिन पदार्थोंका अनन्त बार उपभोग कर चुका है उन्हें ही बार-बार भोगता है अतः अभिलाषा रूप सागरके बीच पड़े हुए इस जीवसे क्या कहा जाये ? ॥४४॥ घातिया कर्मोंके नष्ट होनेपर इसके केवलज्ञानरूपी उपयोगमें जबतक सारा संसार नहीं झलकने लगता तबतक मिथ्यात्व आदिसे दूषित इन्द्रियोंसे इसे तृप्ति नहीं हो सकती ॥४५॥ यह शरीर रोगरूपी साँपोंकी बामी है तथा यह जीव देख रहा है कि हमारे इष्टजन इन्हीं रोगरूपी साँपोंसे काटे जाकर नष्ट हो रहे हैं फिर भी यह शरीरमें अविनाशी मोह कर रहा है यह बड़ा आश्चर्य है। क्या आज तक कहीं किसी जीवने आयुके साथ सहवास किया है ? अर्थात् नहीं किया ॥४६-४७॥ जो हिंसादि पाँच पापोंको धर्म मानता है, और इन्द्रिय तथा पदार्थके सम्बन्धसे होनेवाले सुखको सुख समझता है उसी विपरीतदर्शी मनुष्यके लिए यह संसार रुचता है—अच्छा मालूम होता है ॥४८॥ जिस कार्यसे पाप और पुण्य दोनों उपलेपोंका नाश हो जाता है, विद्वानोंको सदा उसीका ध्यान करना चाहिए, उसीका आचरण करना चाहिए और उसीका अध्ययन करना चाहिए ॥४९॥ इस प्रकार संसार, शरीर और भोग इन तीनोंके वैराग्यसे जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है, लौकान्तिक देवोंने जिनका उत्साह बढ़ाया है और चतुर्निकाय देवोंने जिनके दीक्षा-कल्याणकका अभिषेकोत्सव किया है ऐसे भगवान् पद्मप्रभ, निवृत्ति नामकी पालकीपर सवार होकर मनोहर नामके वनमें गये और वहाँ वेलाका नियम लेकर कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीके दिन शामके समय चित्रा नक्षत्रमें एक हजार राजाओंके साथ आदरपूर्वक उन्होंने शिक्षाके समान दीक्षा धारण कर ली ॥५०-५२॥ जिन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे विद्वानोंमें श्रेष्ठ पद्मप्रभ स्वामी दूसरे दिन चर्याके लिए वर्धमान नामक नगरमें प्रविष्ट हुए ॥५३॥ शुक्ल कान्तिके धारक राजा सोमदत्तने उन्हें दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये सो ठीक ही है क्योंकि पात्रदानसे क्या नहीं होता है ? ॥५४॥ शुभ आस्रवोंसे

१ किमनत्वारितं येन । २ मध्यमेत्यभिलाषाब्धेरितं वदतु किं ततः क०, घ०, ख० । नवामप्यभि-ग० । ३ वीतघात्युपयोगस्य क०, ग०, ल० । ४ अहितो ल० । ५ देहिनां घ० । ६ विनश्वरम् क०, घ० । ७ सहवासः कृतं क०, घ०, ख०, सहवासकृतं ल० । ८ निर्वेदभूतो बोधिसुरोत्तमैः क०, घ० । निर्वेदभूतबोधैः ग० ।

षण्मासैर्मौनमास्थाय छाद्मस्थ्यमपनीतवान् । क्षपकश्रेणिमारुह्य नष्टघातिचतुष्टयः ॥५६॥
पौर्णमास्यां सिते चैत्रे मध्याह्ने[1] रवौ गते । चित्रायां केवलज्ञानं प्रतिपेदे परार्थकृत् ॥५७॥
[2]समर्चितो महादेवैः शतेनैनो गणेशिनाम् । स वज्रचामरादीनां दशभिश्च जगद्धितः ॥५८॥
शून्यद्वयाग्निपक्षोक्तसर्वपूर्वधरान्वितः । शून्यत्रिकनवर्तुद्विप्रोक्तशिक्षकलक्षितः ॥५९॥
[3]शून्यत्रिकदशज्ञेयविविधावधिवीक्षणः । खत्रयद्वादशालक्ष्यकेवलावगमाश्रितः ॥६०॥
खद्वयाष्टषडेकाङ्कविक्रियर्द्धिसमृद्धिमान् । शून्यद्वयत्रिशून्यैकप्रोक्ततुर्यावबोधनः ॥६१॥
शून्यद्वयर्तुरन्ध्रोक्तख्यातानुत्तरवादिकः । खचतुष्कादिवह्न्युक्तसंपिण्डितयतीश्वरः ॥६२॥
खचतुष्कद्विवाराशिप्रमिताभिरभिष्टुतः । [4]रात्रिषेणाख्यमुख्याभिरार्यिकाभिः समन्ततः ॥६३॥
त्रिलक्षश्रावकोपेतः श्राविकापञ्चलक्षवान् । सदेवदेव्यसङ्ख्यातस्तिर्यक्संख्यातसंयुतः ॥६४॥
कुर्वन् धर्मोपदेशेन मोक्षमार्गे तनुभृतः । भव्यान् पुण्योदयेनैव धर्मस्थान् सुखोदये ॥६५॥
संमेदपर्वते मासं स्थित्वा [5]योगं निरुद्धवान् । सार्द्धं यतिसहस्रेण प्रतिमायोगमास्थितः[6] ॥६६॥
फाल्गुने मासि चित्रायां चतुर्थ्यामपराह्णगः । कृष्णपक्षे चतुर्थेन समुच्छिन्नक्रियात्मना ॥६७॥
शुक्लध्यानेन कर्माणि हत्वा निर्वाणमापिवान् । तदैत्य चक्रुः शक्राद्याः परिनिर्वाणपूजनम् ॥६८॥

शार्दूलविक्रीडितम्

किं सेव्यं क्रमयुग्ममब्जविजयामस्यैव लक्ष्म्यास्पदं
किं श्रव्यं सकलप्रतीतिजननादस्यैव सत्यं वचः ।

पुण्यका संचय, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय तथा चारित्र इन छह उपायोंसे कर्म समूहका संवर और तपके द्वारा निर्जरा करते हुए उन्होंने छद्मस्थ अवस्थाके छह माह मौनसे व्यतीत किये। तदनन्तर क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर उन्होंने चार घातिया कर्मोंका नाश किया तथा चैत्र शुक्ल पौर्णमासीके दिन जब कि सूर्य मध्याह्नसे कुछ नीचे ढल चुका था तब चित्रा नक्षत्रमें उन पर-कल्याणकारी भगवान्‌ने केवलज्ञान प्राप्त किया ॥५५-५७॥ उसी समय इन्द्रोंने आकर उनकी पूजा की। जगत्का हित करनेवाले भगवान्, वज्रचामर आदि एक सौ दश गणधरोंसे सहित थे, दो हजार तीन सौ पूर्वधारियोंसे युक्त थे, दो लाख उनहत्तर हजार शिक्षकोंसे उपलक्षित थे, दश हजार अवधिज्ञानी और बारह हजार केवलज्ञानी उसके साथ थे, सोलह हजार आठ सौ विक्रियाऋद्धिके धारकोंसे समृद्ध थे, दश हजार तीन सौ मनःपर्ययज्ञानी उनकी सेवा करते थे, और नौ हजार छह सौ श्रेष्ठ वादियोंसे युक्त थे, इस प्रकार सब मिलाकर तीन लाख तीस हजार मुनि सदा उनकी स्तुति करते थे। रात्रिषेणाको आदि लेकर चार लाख बीस हजार आर्यिकाएँ सब ओरसे उनकी स्तुति करती थीं। तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यञ्च उनके साथ थे ॥५८-६४॥ इस प्रकार धर्मोपदेशके द्वारा भव्य जीवोंको मोक्षमार्गमें लगाते और पुण्यकर्मके उदयसे धर्मात्मा जीवोंको सुख प्राप्त कराते हुए भगवान् पद्मप्रभ सम्मेद शिखरपर पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक माह तक ठहरकर योग-निरोध किया तथा एक हजार मुनियोंके साथ प्रतिमायोग धारण किया ॥६५-६६॥

तदनन्तर फाल्गुन कृष्ण चतुर्थीके दिन शामके समय चित्रा नक्षत्रमें उन्होंने समुच्छिन्न-क्रियाप्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानके द्वारा कर्मोंका नाश कर निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय इन्द्र आदि देवोंने आकर उनके निर्वाण-कल्याणकी पूजा की ॥६७-६८॥ सेवा करने योग्य क्या है ? कमलोंको जीत लेनेसे लक्ष्मीने भी जिन्हें अपना स्थान बनाया है ऐसे इन्हीं पद्मप्रभ भगवान्‌के चरण-युगल सेवन करने योग्य हैं। सुनने योग्य क्या है ? सब लोगोंको

---

१ मध्याह्ना ल० । २ समर्चितमहो देवैः क०, ख०, ग०, घ० । ३ शून्यत्रिदशज्ञेय ल० । ४ रतिषेणाख्य-ल० । ५ योगान्निरुद्ध ल० । ६ संस्थितः ल० ।

ज्ञातात्मान्यभवो धिक् धिक् संसारमिति तत्त्ववित् । विरक्तः कामभोगेषु पापदुःखप्रदायिषु ॥ ४२ ॥
अदृष्टं किं किमस्पृष्टमनाघ्रातं किमश्रुतम् । किं [1]किमस्वादितं येन पुनर्नवमिवेष्यते ॥ ४३ ॥
भुक्तमेव पुनर्भुक्तं जन्तुनानन्तशो भवे । [2]मध्यमप्यभिलाषाब्धेरितं वदत किं ततः ॥ ४४ ॥
नेन्द्रियैस्तमनस्तृप्तिर्मिथ्यात्वादिविदूषितैः । [3]वीतघात्युपयोगेऽस्य विश्वं यावन्नगोचरम् ॥ ४५ ॥
रोगोरगाणां नु क्षयं शरीरं वामलूरकम् । दृष्टान् दृष्ट्वापि तैरेव किमिष्टान्नष्टजीवितान् ॥ ४६ ॥
[4]आहितो [5]देहिनो देहे मोहोऽनेनाविनश्वरः [6] । [7]सहवासः कृतः क्वापि केनाप्यस्यायुषा किमु ॥ ४७ ॥
हिंसादिपञ्चकं धर्मः सुखं यस्येन्द्रियार्थजम् । संसृती रोचते तस्मै विपरीतार्थदर्शिने ॥ ४८ ॥
पापापापोपलेपापक्षेपो येनोपपद्यते । तद्ध्येयं तदनुष्ठेयं तदध्येयं सदा बुधैः ॥ ४९ ॥
इति त्रिविधनिर्वेदभूतबोधिः [8] सुरोत्तमैः । प्रोत्साहितः सुरैः प्राप्तनिष्क्रान्तिस्नानसम्मदः ॥ ५० ॥
निवृत्त्याख्यां समारुह्य शिबिकां स मनोहरे । वने षष्ठोपवासेन दीक्षां शिक्षामिवाग्रहीत् ॥ ५१ ॥
कार्तिके कालपक्षस्य त्रयोदश्यपराह्णगः । चित्रायां भूभुजां सार्द्धं सहस्रेणाहितादरः ॥ ५२ ॥
चतुर्थज्ञानः पद्मश्चर्यायै पश्चिमे दिने । नगरं वर्द्धमानाख्यं प्राविशद्विदुषां वरः ॥ ५३ ॥
सोमदत्तो नृपस्तस्मै दानादापार्जुनच्छविः । आश्चर्यपञ्चकं किं वा पात्रदानान्न जायते ॥ ५४ ॥
चिन्वन् शुभास्रवैः पुण्यं संवरं कर्मसंहतेः । कुर्वन्गुप्त्यादिषट्केन तपसा निर्जरां च सः ॥ ५५ ॥

जाननेवाले वे संसारको इस प्रकार धिक्कार देने लगे । वे पाप तथा दुःखोंको देनेवाले काम-भोगोंमें विरक्त हो गये । वे विचारने लगे कि इस संसारमें ऐसा कौन-सा पदार्थ है जिसे मैंने देखा न हो, छुआ न हो, सूँघा न हो, सुना न हो, और खाया न हो जिससे वह नयेके समान जान पड़ता है ।।४१–४३।। यह जीव अपने पूर्वभवोंमें जिन पदार्थोंका अनन्त बार उपभोग कर चुका है उन्हें ही बार-बार भोगता है अतः अभिलाषा रूप सागरके बीच पड़े हुए इस जीवसे क्या कहा जाये ? ।।४४।। घातिया कर्मोंके नष्ट होनेपर इसके केवलज्ञानरूपी उपयोगमें जबतक सारा संसार नहीं झलकने लगता तबतक मिथ्यात्व आदिसे दूषित इन्द्रियोंसे इसे तृप्ति नहीं हो सकती ।।४५।। यह शरीर रोगरूपी साँपोंकी बामी है तथा यह जीव देख रहा है कि हमारे इष्टजन इन्हीं रोगरूपी साँपोंसे काटे जाकर नष्ट हो रहे हैं फिर भी यह शरीरमें अविनाशी मोह कर रहा है यह बड़ा आश्चर्य है । क्या आज तक कहीं किसी जीवने आयुके साथ सहवास किया है ? अर्थात् नहीं किया ।।४६–४७।। जो हिंसादि पाँच पापोंको धर्म मानता है, और इन्द्रिय तथा पदार्थके सम्बन्धसे होनेवाले सुखको सुख समझता है उसी विपरीतदर्शी मनुष्यके लिए यह संसार रुचता है—अच्छा मालूम होता है ।।४८।। जिस कार्यसे पाप और पुण्य दोनों उपलेपोंका नाश हो जाता है, विद्वानोंको सदा उसीका ध्यान करना चाहिए, उसीका आचरण करना चाहिए और उसीका अध्ययन करना चाहिए ।।४९।। इस प्रकार संसार, शरीर और भोग इन तीनोंके वैराग्यसे जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है, लौकान्तिक देवोंने जिनका उत्साह बढ़ाया है और चतुर्निकाय देवोंने जिनके दीक्षा-कल्याणकका अभिषेकोत्सव किया है ऐसे भगवान् पद्मप्रभ, निवृत्ति नामकी पालकीपर सवार होकर मनोहर नामके वनमें गये और वहाँ वेलाका नियम लेकर कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीके दिन शामके समय चित्रा नक्षत्रमें एक हजार राजाओंके साथ आदरपूर्वक उन्होंने शिक्षाके समान दीक्षा धारण कर ली ।।५०–५२।। जिन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे विद्वानोंमें श्रेष्ठ पद्मप्रभ स्वामी दूसरे दिन चर्याके लिए वर्धमान नामक नगरमें प्रविष्ट हुए ।।५३।। शुक्ल कान्तिके धारक राजा सोमदत्तने उन्हें दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये सो ठीक ही है क्योंकि पात्रदानसे क्या नहीं होता है ? ।।५४।। शुभ आस्रवोंसे

---

१ किमनध्यारितं येन । २ मध्यमेत्यभिलाषाब्धेरितं वदतु किं ततः क०, घ०, ख० । नवामप्यभि-ग० । ३ वीतघात्युपयोगस्य क०, ग०, ल० । ४ अहितो ल० । ५ देहिनां ब० । ६ विनश्वरम् क०, घ० । ७ सहवासः कृतं क०, ब०, ख०, सहवासकृतं ल० । ८ निर्वेदभूतो बोधिसुरोत्तमैः क०, घ० । निर्वेदभूतबोधेः ग० ।

षण्मासैर्मौनमास्थाय छाद्मस्थ्यमपनीतवान् । क्षपकश्रेणिमारुह्य नष्टघातिचतुष्टयः ॥५६॥
पौर्णमास्यां सिते चैत्रे मध्याह्नाद्[1] रवौ गते । चित्रायां केवलज्ञानं प्रतिपेदे परार्थकृत् ॥५७॥
[2]समर्चितो महादेवैः शतेनेतो गणेशिनाम् । स वज्रचामरार्दीनां दशभिश्च जगद्धितः ॥५८॥
शून्यद्वयाग्निपक्षोक्तसर्वपूर्वधरान्वितः । शून्यत्रिकनवतुर्द्विप्रोक्तशिक्षकलक्षितः ॥५९॥
[3]शून्यत्रिकदशज्ञेयविविधावधिवीक्षणः । खत्रयद्वादशाख्यकेवलावगमाश्रितः ॥६०॥
खद्वयाष्टषडेकाङ्कविक्रियर्द्धिसमृद्धिमान् । शून्यद्वयत्रिशून्यैकप्रोक्तस्तुर्यावबोधनः ॥६१॥
शून्यद्वयर्तुरन्ध्रोक्तख्यातानुत्तरवादिकः । सचतुष्कादिवह्नियुक्तसंपिण्डितयतीश्वरः ॥६२॥
खचतुष्कद्विवाराशिप्रमिताभिरभिष्टुतः । [4]रात्रिषेणाख्यमुख्याभिरार्यिकाभिः समन्ततः ॥६३॥
त्रिलक्षश्रावकोपेतः श्राविकापञ्चलक्षवान् । सदेवदेव्यसङ्ख्यातस्तिर्यक्संख्यातसंयुतः ॥६४॥
कुर्वन् धर्मोपदेशेन मोक्षमार्गे सतुभृतः । भव्यान् पुण्योदयेनैव धर्मसत्त्वान् सुखोदये ॥६५॥
संमेदपर्वते मासं स्थित्वा [5]योगं निरुद्धवान् । सार्द्धं यतिसहस्रेण प्रतिमायोगमास्थितः[6] ॥६६॥
फाल्गुने मासि चित्रायां चतुर्थ्यामपराह्नगः । कृष्णपक्षे चतुर्थेन समुच्छिन्नक्रियात्मना ॥६७॥
शुक्लध्यानेन कर्माणि हत्वा निर्वाणमापिवान् । तदैत्य चक्रुः शक्राद्याः परिनिर्वाणपूजनम् ॥६८॥

शार्दूलविक्रीडितम्

किं सेव्यं क्रमयुग्ममब्जविजयात्तस्यैव लक्ष्म्यास्पदं
किं श्रव्यं सकलप्रतीतिजननादस्यैव सत्यं वचः ।

पुण्यका संचय, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय तथा चारित्र इन छह उपायोंसे कर्म समूहका संवर और तपके द्वारा निर्जरा करते हुए उन्होंने छद्मस्थ अवस्थाके छह माह मौनसे व्यतीत किये। तदनन्तर क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर उन्होंने चार घातिया कर्मोंका नाश किया तथा चैत्र शुक्ल पौर्णमासीके दिन जब कि सूर्य मध्याह्नसे कुछ नीचे ढल चुका था तब चित्रा नक्षत्रमें उन पर-कल्याणकारी भगवान्ने केवलज्ञान प्राप्त किया ।।५५–५७।। उसी समय इन्द्रोंने आकर उनकी पूजा की। जगत्का हित करनेवाले भगवान्, वज्रचामर आदि एक सौ दश गणधरोंसे सहित थे, दो हजार तीन सौ पूर्वधारियोंसे युक्त थे, दो लाख उनहत्तर हजार शिक्षकोंसे उपलक्षित थे, दश हजार अवधिज्ञानी और बारह हजार केवलज्ञानी उसके साथ थे, सोलह हजार आठ सौ विक्रियाऋद्धिके धारकोंसे समृद्ध थे, दश हजार तीन सौ मनःपर्ययज्ञानी उनकी सेवा करते थे, और नौ हजार छह सौ श्रेष्ठ वादियोंसे युक्त थे, इस प्रकार सब मिलाकर तीन लाख तीस हजार मुनि सदा उनकी स्तुति करते थे। रात्रिषेणाको आदि लेकर चार लाख बीस हजार आर्यिकाएँ सब ओरसे उनकी स्तुति करती थीं। तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यञ्च उनके साथ थे ।।५८–६४।। इस प्रकार धर्मोपदेशके द्वारा भव्य जीवोंको मोक्षमार्गमें लगाते और पुण्यकर्मके उदयसे धर्मात्मा जीवोंको सुख प्राप्त कराते हुए भगवान् पद्मप्रभ सम्मेद शिखरपर पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक माह तक ठहरकर योग-निरोध किया तथा एक हजार मुनियोंके साथ प्रतिमायोग धारण किया ।।६५–६६।।

तदनन्तर फाल्गुन कृष्ण चतुर्थीके दिन शामके समय चित्रा नक्षत्रमें उन्होंने समुच्छिन्न-क्रियाप्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानके द्वारा कर्मोंका नाश कर निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय इन्द्र आदि देवोंने आकर उनके निर्वाण-कल्याणकी पूजा की ।।६७–६८।। सेवा करने योग्य क्या है ? कमलोंको जीत लेनेसे लक्ष्मीने भी जिन्हें अपना स्थान बनाया है ऐसे इन्हीं पद्मप्रभ भगवान्के चरण-युगल सेवन करने योग्य हैं। सुनने योग्य क्या है ? सब लोगोंको

१ मध्याह्नह्ना ल० । २ समर्थितमहो देवैः क०, ख०, ग०, घ० । ३ शून्यत्रिदशज्ञेय ल० । ४ रतिषेणाख्य ल० । ५ योगान्निरुद्ध ल० । ६ संस्थितः ल० ।

किं ध्येयं गुणसन्ततिश्च्युतमलस्यास्यैव काष्ठाश्रया-
दित्युक्तस्तुतिगोचरः स भगवान् पद्मप्रभः पातु वः ॥६९॥
राजा प्रागपराजितो जितरिपुः श्रीमान् सुसीमेश्वरः
पश्चादाप्य तपोऽन्त्यनामसहितो ग्रैवेयकेऽन्त्येऽमरः ।
कौशाम्ब्यां कलितो गुणैरगणितैरिक्ष्वाकुवंशाग्रणीः
षष्ठस्तीर्थकरः परात्महितकृत् पद्मप्रभः शं क्रियात् ॥७०॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे पद्मप्रभार्हत्पुराणवर्णनं नाम द्विपञ्चाशत्तमं पर्व ॥५२॥



विश्वास उत्पन्न करानेवाले इन्हीं पद्मप्रभ भगवान्के सत्य वचन सुननेके योग्य हैं, और ध्यान करने योग्य क्या है ? अतिशय निर्मल इन्हीं पद्मप्रभ भगवान्के दिग्दिगन्त तक फैले हुए गुणोंके समूहका ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार उक्त स्तुतिके विषयभूत भगवान् पद्मप्रभ तुम सबकी रक्षा करें ॥६९॥ जो पहले सुसीमा नगरीके अधिपति, शत्रुओंके जीतनेवाले, पराजित नामके लक्ष्मी-सम्पन्न राजा हुए, फिर तप धारण कर तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध करते हुए अन्तिम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए और तदनन्तर कौशाम्बी नगरीमें अनन्तगुणोंसे सहित, इक्ष्वाकुवंशके अग्रणी, निज-परका कल्याण करनेवाले छठे तीर्थंकर हुए वे पद्मप्रभ स्वामी सब लोगोंका कल्याण करें ॥७०॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमे पद्मप्रभ भगवान्के पुराणका वर्णन करनेवाला बावनवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

तत्त्वं सत्त्वादिना येन नैकेनाप्यवधारितम् । तद्विदप्यसावेव स सुपार्श्वोऽस्तु मे गुरुः ॥ १ ॥
विदेहे धातकीखण्डे प्राच्यां सीतोत्तरे तटे । सुकच्छविषये नन्दिषेणः क्षेमपुराधिपः ॥ २ ॥
प्रज्ञाविक्रमयुक्तस्य स्वानुरक्तानुजीविनः । तस्यानुगुणदैवस्य राज्यश्रीः सुखदायिनी ॥ ३ ॥
शरीरं न भिषग्रक्ष्यं न राज्यमपि मन्त्रिभिः । तथापि तद्द्वयं तस्य क्षेमवत्सुकृतोदयात् ॥ ४ ॥
पुरुषार्थत्रयं तस्मिन्नेकस्मिन्नेव सुस्थितम् । परस्परोपकारेण तस्मात्तस्योपकारिता ॥ ५ ॥
जितारिभूभुजश्चास्य विजिगीषैहलौकिकी । मा भून्नवस्ति सन्मार्गं रक्षतः पारलौकिकी ॥ ६ ॥
एवं राज्यसुखं श्रीमान् बन्धुमित्रानुजीविभिः । [1]सहसानुभवाज्जातवैराग्यातिशयः सुधीः ॥ ७ ॥
[2]मोहोदयोभयाविद्धकायवाक्चित्तवृत्तिभिः । बद्ध्वा कर्माणि तैर्नीतो जातो गतिचतुष्टये ॥ ८ ॥
संसारे चक्रकभ्रान्त्या दुस्तरे दुःखदूषितः । बीतादौ सुचिरं भ्राम्यन्नत्र भव्यो यदृच्छया ॥ ९ ॥
लब्धकालादिरासोऽपि[3] मुक्तिमार्गं सुदुर्गमम् । [4]रैमे रामादिभिर्मुग्धो धिग्धिगस्मां कामुकाग्रिमम् ॥१०॥
निर्मूल्याखिलकर्माणि निर्मलो लोकमूर्ध्वगः । किल नाप्नोमि निर्वाणं सार्वं सर्वज्ञभाषितम् ॥ ११ ॥
इत्याविष्कृतसञ्चिन्त्यः सुस्वान्तः स्वस्य सन्ततौ । सुस्थाप्यात्मजमात्मीयं पतिं धनपतिं सताम् ॥ १२ ॥
नरेन्द्रैर्बहुभिः सार्धं [5]निर्धूताली रजो मुदा । अर्हन्नन्दनपूज्यान्तेवासित्वं प्रत्यपद्यत ॥ १३ ॥

जिन्होंने जीवाजीवादि तत्त्वोंको सत्त्व असत्त्व आदि किसी एक रूपसे निश्चित नहीं किया है फिर भी उनके जानकार वही हैं ऐसे सुपार्श्वनाथ भगवान् मेरे गुरु हों ॥१॥ धातकीखण्डके पूर्व विदेह क्षेत्रमें सीता नदीके उत्तर तट पर सुकच्छ नामका देश है। उसके क्षेमपुर नगरमें नन्दिषेण नामका राजा राज्य करता था ॥२॥ वह राजा बुद्धि और पराक्रमसे युक्त था, उसके अनुचर सदा उसमें अनुराग रखते थे, यही नहीं दैव भी सदा उसके अनुकूल रहता था। इसलिए उसकी राज्य-लक्ष्मी सबको सुख देनेवाली थी ॥३॥ उसके शरीरकी न तो वैद्य लोग रक्षा करते थे और न राज्यकी मंत्री ही रक्षा करते थे फिर भी पुण्योदयसे उसके शरीर और राज्य दोनों ही कुशलयुक्त थे ॥४॥ धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ परस्परका उपकार करते हुए उसी एक राजामें स्थित थे इसलिए यह उस राजाका उपकारीपना ही था ॥५॥ शत्रुओंको जीतनेवाले इस राजा नन्दिषेणको जीतनेकी इच्छा सिर्फ इस लोकसम्बन्धी ही नहीं थी किन्तु समीचीन मार्गकी रक्षा करते हुए इसके परलोकके जीतनेकी भी इच्छा थी ॥६॥ इस प्रकार यह श्रीमान् तथा बुद्धिमान् राजा बन्धुओं, मित्रों तथा सेवकोंके साथ राज्य-सुखका अनुभव करता हुआ शीघ्र ही विरक्त हो गया ॥७॥ वह विचार करने लगा कि यह जीव दर्शनमोह तथा चारित्रमोह इन दोनों मोहकर्मके उदयसे मिली हुई मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे कर्मोंको बाँधकर उन्हींके द्वारा प्रेरित हुआ चारों गतियोंमें उत्पन्न होता है ॥८॥ अत्यन्त दुःखसे तरने योग्य इस अनादि संसारमें चक्रकी तरह चिरकालसे भ्रमण करता हुआ भव्य प्राणी दुःखसे दूषित हुआ कदाचित् कालादि लब्धियाँ पाकर अतिशय कठिन मोक्षमार्गको पाता है फिर भी मोहित हुआ स्त्रियों आदिके साथ क्रीड़ा करता है। मैं भी ऐसा ही हूँ अतः कामियोंमें मुख्य मुझको बार-बार धिक्कार है ॥९-१०॥ मैं समस्त कर्मोंको नष्ट कर निर्मल हो ऊर्ध्वगामी बनकर सबका हित करनेवाले सर्वज्ञ-निरूपित निर्वाणलोकको नहीं प्राप्त हो रहा हूँ यह दुःखकी बात है ॥११॥ इस प्रकार विचार कर उत्तम हृदयको धारण करनेवाले राजा नन्दिषेणने अपने पदपर सज्जनोत्तम धनपति नामक अपने पुत्रको विराजमान किया और स्वयं अनेक राजाओंके साथ पाप कर्मको

---

१ स शीघ्रमनुभवन् जातवैराग्यातिशयः क०, ख० । २ मोहोभयोदयाविद्ध ल० । ३ प्राप्तोऽपि ग० । ४ रमे ल० । ५ निर्धूतालो ल० ।

एकादशाङ्गधारी सन्युक्तस्तद्योग्यकारणैः । स्वीकृत्य तीर्थकृन्नाम संन्यस्यान्ते समाधिमान् ॥ १४ ॥
शुक्ललेश्यो द्विहस्ताङ्को ग्रैवेयकमध्यमे । अहमिन्द्रः सुभद्राख्ये विमाने मध्यमेऽजनि ॥ १५ ॥
चतुःशतेषु पञ्चोत्तरेष्वहःस्वेष निःश्वसन् । शून्यत्रितयसप्तद्विप्रमिताब्देषु चिश्वणन् ॥ १६ ॥
विक्रियावधिवीर्यत्विट्व्याप्तसप्तमभूमिकः । सप्तविंशतिवार्ध्यायुरथ भुक्त्वाखिलं सुखम् ॥ १७ ॥
आयुरन्ते ततस्तस्मिन्नागमिष्यति भूतलम् । द्वीपेऽस्मिन् भारते काशीविषये वृषभान्वये ॥ १८ ॥
सुप्रतिष्ठमहाराजो वाराणस्या महीपतिः । तस्यासीत् पृथिवीषेणा देवी तस्या गृहाङ्गणे ॥ १९ ॥
षण्मासान् साररत्नानि ववृषुः सुरवारिदाः । सितषष्ठ्यां विशाखायां मासि भाद्रपदे शुभान् ॥ २० ॥
स्वप्नान् षोडश संवीक्ष्य वारणं चाननागतम् । ज्ञात्वा पत्युः फलं तेषां परितुष्टाग्निमित्रके ॥ २१ ॥
शुभयोगे सितज्येष्ठद्वादश्यां तं सुरोत्तमम् । सोदपीपदद्तुङ्गमैरावतमिवोर्जितम् ॥ २२ ॥
सुरेन्द्रैर्मन्दरस्यान्ते कृतजन्ममहोत्सवैः । तस्याकारि सुपार्श्वाख्या तत्पादानतमौलिभिः ॥ २३ ॥
कोटीनवसहस्रेषु पद्मप्रभजिनान्तरे । सागरोपमसंख्येषु गते तद्गतजीवितः ॥ २४ ॥
[1]शून्यषट्युगपक्षोक्तपूर्वजीवी धनुःशत- । द्वयोत्सेधो विधुं कान्त्या ह्रपयन्नाप यौवनम् ॥ २५ ॥
[2]लक्षपञ्च सुपूर्वाणां कौमार्ये गतवत्यतः । धनं त्यक्तुं वदान्यो वा साम्राज्यं स्वीचकार सः ॥ २६ ॥
शुश्रूषाद्यष्टधीधुर्यान् सर्वशास्त्रविशारदान् । नटान् सपेटकान् प्रेक्ष्यान्नर्तकान् नृत्यकोविदान् ॥ २७ ॥
सुकण्ठान् गायकान् श्रव्यानष्टाधतोद्यवादकान् । समर्मरुचिरानभ्याख्यानाविद्याकलागुणान् ॥ २८ ॥

नष्ट करता हुआ बड़े हर्षसे पूज्य अर्हन्नन्दन मुनिका शिष्य बन गया ॥१२–१३॥ तदनन्तर ग्यारह अङ्गका धारी होकर उसने आगममें कही हुई दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारणभावनाओंके द्वारा तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया और आयुके अन्तमें संन्यास मरण कर मध्यम ग्रैवेयकके सुभद्र नामक मध्यम विमानमें अहमिन्द्रका जन्म धारण किया। वहाँ उसके शुक्ल लेश्या थी, और दो हाथ ऊँचा शरीर था ॥१४–१५॥ चार सौ पाँच दिनमें श्वास लेता था और सत्ताईस हजार वर्ष बाद आहार ग्रहण करता था ॥१६॥ उसकी विक्रिया ऋद्धि, अवधिज्ञान, बल और कान्ति सप्तमी पृथिवी तक थी तथा सत्ताईस सागर उसकी आयु थी। इस प्रकार समस्त सुख भोग कर आयुके अन्तमें जब वह पृथ्वी तलपर अवतीर्ण होनेको हुआ तब इस जम्बूद्वीपके भारत-वर्ष सम्बन्धी काशी देशमें बनारस नामकी नगरी थी। उसमें सुप्रतिष्ठ महाराज राज्य करते थे। सुप्रतिष्ठका जन्म भगवान् वृषभदेवके इक्ष्वाकु-वंशमें हुआ था। उनकी रानीका नाम पृथिवी-षेणा था। रानी पृथिवीषेणाके घरके आँगनमें देवरूपी मेघोंने छह माह तक उत्कृष्ट रत्नोंकी वर्षा की थी। उसने भाद्रपद शुक्ल षष्ठीके दिन विशाखा नक्षत्रमें सोलह शुभ स्वप्न देखकर मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसी समय वह अहमिन्द्र रानीके गर्भमें आया। पतिके मुखसे स्वप्नोंका फल जानकर रानी पृथिवीषेणा बहुत ही हर्षित हुई। तदनन्तर ज्येष्ठशुक्ल द्वादशीके दिन अग्निमित्र नामक शुभयोगमें उसने ऐरावत हाथीके समान उन्नत और बलवान् अहमिन्द्रको पुत्र रूपसे उत्पन्न किया ॥१७–२२॥ इन्द्रोंने सुमेरु पर्वतके मस्तक पर उसका जन्मकालीन महोत्सव किया, उसके चरणोंमें अपने मुकुट झुकाये और 'सुपार्श्व' ऐसा नाम रक्खा ॥२३॥ पद्मप्रभ जिनेन्द्रके बाद नौ हजार करोड़ सागर बीत जानेपर भगवान् सुपार्श्वनाथका जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें सम्मिलित थी ॥२४॥ उनकी आयु बीस लाख पूर्वकी थी, और शरीरकी ऊँचाई दो सौ धनुष थी, वे अपनी कान्तिसे चन्द्रमाको लज्जित करते थे। इस तरह उन्होंने यौवन-अवस्था प्राप्त की ॥२५॥ जब उनके कुमार-कालके पाँच लाख पूर्व व्यतीत हो गये तब उन्होंने दानीकी भाँति धनका त्याग करनेके लिए साम्राज्य स्वीकार किया ॥२६॥ उस समय इन्द्र शुश्रूषा आदि बुद्धिके आठ गुणोंसे श्रेष्ठ, सर्वशास्त्रोंमें निपुण झुण्डके झुण्ड नटोंको, देखने योग्य तथा नृत्य करनेमें निपुण नर्तकोंको, उत्तम कण्ठवाले गायकोंको, श्रवण करने योग्य चार प्रकारके वादित्र-वादकोंको, हास्य-विनोद

---

१ शून्यषट्[illegible]रेक्त क०, ग०, घ० । षट्युत् ल० । २ लक्षपञ्च: क०, ख०, ग०, घ० । लक्षाः पञ्च ल० ।

स्त्रीश्च तादृग्गुणोपेता गन्धर्वानीकसत्तमाः । आनीय तस्य देवेन्द्रो विनोदैरकरोत्सुखम् ॥ २९ ॥
शेषेन्द्रियत्रयार्थैश्च तत्रोत्कृष्टैर्निरन्तरम् । सुखं तदेव संसारे यदनेनानुभूयते ॥ ३० ॥
निःस्वेदत्वादिसन्नामसंभूतातिशयाष्टकः । सर्वप्रियहितालापी निर्व्यापारोरुवीर्यकः ॥ ३१ ॥
[1]प्रसन्नोऽनपवर्त्यायुर्गुणपुण्यसुखात्मकः । कल्याणकायस्त्रिज्ञानः प्रियङ्गुप्रसवच्छविः ॥ ३२ ॥
मन्दाशुभानुभागोऽयं शुभोत्कृष्टानुभावभाक् । निर्वाणाभ्युदयैश्वर्यकण्ठिकाकुन्तकण्ठकः ॥ ३३ ॥
स्वपादनखसंक्रान्तनिखिलेन्द्रमुखाम्बुजः । एधते श्रीधरोऽगाधतृप्त्यम्भोधौ प्रबुद्धवान् ॥ ३४ ॥
स्वायुराद्यष्टवर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत् । उदिताष्टकषायाणां तीर्थेशां देशसंयमः ॥ ३५ ॥
ततोऽस्य भोगवस्तूनां साकल्येऽपि जितात्मनः । वृत्तिर्नियमितैकाभूदसंख्यगुणनिर्जरा ॥ ३६ ॥
पूर्वाङ्गविंशतिन्यूनलक्षपूर्वायुषि स्थिते । विलोक्यर्तुपरावर्तं सर्वं भावयतोऽध्रुवम् ॥ ३७ ॥
कदाचित्काललब्ध्यास्य विशुद्धोद्बोधदर्पणे । छायाक्रीडेव सा सर्वा साम्राज्यश्रीरभासत ॥ ३८ ॥
ईदृशी नश्वरी ज्ञाता नेयं मायामयी मया । धिग्धिग्मां के न मुह्यन्ति भोगरागान्धचेतसः ॥ ३९ ॥
इत्युदात्तो मनोऽम्भोधौ बोधिर्विधुरिवोद्गतः । देवर्षयस्तदैत्यैनं प्रस्तुतार्थैः समस्तुवन् ॥ ४० ॥
सुरैरूढां समारुह्य शिबिकां च मनोगतिम् । सहेतुकवने शुक्ले ज्येष्ठे षष्ठोपवासभृत् ॥ ४१ ॥

करनेमें चतुर, अनेक विद्याओं और कलाओंमें निपुण अन्य अनेक मनुष्योंको, ऐसे ही गुणोंसे सहित अनेक स्त्रियोंको तथा गन्धर्वोंकी श्रेष्ठ सेनाको बुलाकर अनेक प्रकारके विनोदोंसे भगवान्‌को सुख पहुँचाता था ॥२७–२९॥ इसी प्रकार चक्षु और कर्णके सिवाय शेष तीन इन्द्रियोंके उत्कृष्ट विषयोंसे भी इन्द्र भगवान्‌को निरन्तर सुखी रखता था। यथार्थमें संसारमें सुख वही था जिसका कि भगवान् सुपार्श्वनाथ उपभोग करते थे ॥३०॥ प्रशस्त नामकर्मके उदयसे उनके निःस्वेदत्व आदि आठ अतिशय प्रकट हुए थे, सर्वप्रिय तथा सर्वहितकारी वचन बोलते थे, उनका व्यापाररहित अतुल्य बल था, वे सदा प्रसन्न रहते थे, उनकी आयु अनपवर्त्य थी—असमयमें कटनेवाली नहीं थी, गुण, पुण्य और सुख रूप थे, उनका शरीर कल्याणकारी था, वे मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंसे सहित थे, प्रियंगुके पुष्पके समान उनकी कान्ति थी, उनके अशुभ कर्मका अनुभाग अत्यन्त मन्द था, शुभ कर्मका अनुभाग अत्यन्त उत्कृष्ट था, उनका कण्ठ मानो मोक्ष-स्वर्ग तथा मानवोचित ऐश्वर्यकी कण्ठीसे ही सुशोभित था। उनके चरणोंके नखोंमें समस्त इन्द्रोंके मुखकमल प्रतिबिम्बित हो रहे थे, इस प्रकार लक्ष्मीको धारण करनेवाले प्रकृष्टज्ञानी भगवान् सुपार्श्वनाथ अगाध सन्तोषसागरमें वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे ॥३१–३४॥ जिनके प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ कषायोंका ही केवल उदय रह जाता है ऐसे सभी तीर्थंकरोंके अपनी आयुके प्रारम्भिक आठ वर्षके बाद देश-संयम हो जाता है ॥३५॥ इसलिए यद्यपि उनके भोगोपभोगकी वस्तुओंकी प्रचुरता थी तो भी वे अपनी आत्माको अपने वश रखते थे, उनकी वृत्ति नियमित थी तथा असंख्यातगुणी निर्जराका कारण थी ॥३६॥

जब उनकी आयु बीस पूर्वांग कम एक लाख पूर्वकी रह गयी तब किसी समय ऋतुका परिवर्तन देखकर वे 'समस्त पदार्थ नश्वर हैं' ऐसा चिन्तवन करने लगे ॥३७॥ उनके निर्मल सम्यग्ज्ञानरूपी दर्पणमें काललब्धिके कारण समस्त राज्य-लक्ष्मी छायाकी क्रीडाके समान नश्वर जान पड़ने लगी ॥३८॥ मैं नहीं जान सका कि यह राज्यलक्ष्मी इसी प्रकार शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाली तथा मायासे भरी हुई है। मुझे धिक्कार हो, धिक्कार हो। सचमुच ही जिनके चित्त भोगोंके रागसे अन्धे हो रहे हैं ऐसे कौन मनुष्य हैं जो मोहित न होते हों ॥३९॥ इस प्रकार भगवान्‌के मनरूपी सागरमें चन्द्रमाके समान उत्कृष्ट रत्नत्रय उत्पन्न हुआ और उसी समय लौकान्तिक देवोंने आकर समयानुकूल पदार्थोंसे भगवान्‌की स्तुति की ॥४०॥ तदनन्तर भगवान् सुपार्श्वनाथ, देवोंके द्वारा उठायी हुई मनोगति नामकी पालकीपर आरूढ़ होकर सहेतुक वनमें गये और वहाँ

१. प्रसन्नानपवर्त्यायु–क०, घ० ।

गर्भागमर्क्षे द्वादश्यां सायाह्ने संयमं श्रित. । नृपैः सह सहस्रेण तदापोपान्त्यबोधनम्[1] ॥ ४२ ॥
पश्चिमे दिवसे सोमखेटे तं कनकद्युतिः । नृपो महेन्द्रदत्ताख्यः [2]प्रतीक्ष्यापामरार्चनम् ॥ ४३ ॥
सुपार्श्वो मौनमास्थाय छाद्मस्थ्ये नववर्षकः । सहेतुकवने मूले शिरीषस्य द्व्युपोषितः ॥ ४४ ॥
गर्भावतारनक्षत्रे कृष्णषष्ठ्यपराह्णगः । समुत्पन्नान्तदृग्ज्ञानः संप्राप्तामरपूजनः ॥ ४५ ॥
बलाख्यमुख्यपञ्चान्तरन्ध्रोक्तगणभृद्वृतः । शून्यत्रिशून्यपक्षोक्तसर्वपूर्वधराधिपः ॥ ४६ ॥
शून्यद्विरन्ध्रवार्ध्यब्धिपक्षमानोक्तशिक्षकः । शून्यत्रयनवज्ञाततृतीयावगमश्रितः ॥ ४७ ॥
खत्रयैकैकनिर्दिष्टकेवलावगमान्वितः । शून्यद्वयत्रिपञ्चैकसंख्यावैक्रियिकार्चितः ॥ ४८ ॥
शून्यपञ्चैकरन्ध्रोक्तमनःपर्ययबोधनः । षट्शताष्टसहस्रोक्तवादिवन्दितवाक्पतिः ॥ ४९ ॥
पिण्डीकृतत्रिलक्षोक्तमुनिवृन्दारकाधिपः । मीनार्याद्यार्यिकात्रिंशत्सहस्रान्तत्रिलक्षकः ॥ ५० ॥
त्रिलक्षश्रावकः पञ्चलक्षसत्श्राविकार्चितः । असंख्यदेवदेवीड्यस्तिर्यक्संख्यातसंयुतः ॥ ५१ ॥
धर्मामृतमयीं वाणीं ग्राहयन् विहरन् महीम् । पश्चात्संहृत्य सम्मेदे विहारं मासमुद्वहन् ॥ ५२ ॥
प्रतिमायोगमापाद्यं सहस्रमुनिभिः समम् । फाल्गुने कृष्णसप्तम्यां राधायां दिनपोदये ॥ ५३ ॥
कृतपञ्चमकल्याणाः कल्पपुण्याः सुरोत्तमाः । निर्वाणक्षेत्रमत्रेति परिकल्प्यागमन् दिवम् ॥ ५४ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

दुर्वारां दुरितोरुशत्रुसमितिं निष्पन्नधीर्निष्किरन्[4]
तूष्णीं शुक्लमधिष्ठितः कतिपयाः काष्ठाः प्रतिष्ठां गतः ।

ज्येष्ठशुक्ल द्वादशीके दिन सायंकालके समय, गर्भके विशाखा नक्षत्रमें वेलाका नियम लेकर एक हजार राजाओंके साथ संयमी हो गये—दीक्षित हो गये। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया ॥४१-४२॥ दूसरे दिन वे चर्याके लिए सोमखेट नामक नगरमें गये। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले महेन्द्रदत्त नामके राजाने पडगाह कर देवोंसे पूजा प्राप्त की ॥४३॥ सुपार्श्वनाथ भगवान् छद्मस्थ अवस्थामें नौ वर्ष तक मौन रहे। तदनन्तर उसी सहेतुक वनमें दो दिनके उपवासका नियम लेकर वे शिरीष वृक्षके नीचे ध्यानारूढ़ हुए। वहीं फाल्गुन (?) कृष्ण षष्ठीके दिन सायंकालके समय गर्भावतारके विशाखा नक्षत्रमें उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ जिसमें देवोंने उनकी पूजा की ॥४४-४५॥ वे बलको आदि लेकर पंचानवे गुणधरोंसे सदा घिरे रहते थे, दो हजार तीस पूर्वधारियोंके अधिपति थे, दो लाख चवालीस हजार नौ सौ बीस शिक्षक उनके साथ रहते थे, नौ हजार अवधिज्ञानी उनकी सेवा करते थे, ग्यारह हजार केवलज्ञानी उनके सहगामी थे, पन्द्रह हजार तीन सौ विक्रियाऋद्धिके धारक उनकी पूजा करते थे, नौ हजार एक सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी उनके साथ रहते थे, और आठ हजार छह सौ वादी उनकी वन्दना करते थे। इस प्रकार सब मिलाकर तीन लाख मुनियोंके स्वामी थे। मीनार्याको आदि लेकर तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ उनके साथ रहती थीं, तीन लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकाएँ उनकी पूजा करती थीं, असंख्यात देव-देवियाँ उनकी स्तुति करती थीं और संख्यात तिर्यंच उनकी वन्दना करते थे ॥४६-५१॥ इस प्रकार लोगोंको धर्मामृतरूपी वाणी ग्रहण कराते हुए वे पृथिवीपर विहार करते थे। अन्तमें जब आयुका एक माह रह गया तब विहार बन्द कर वे सम्मेदशिखरपर जा पहुँचे। वहाँ एक हजार मुनियोंके साथ उन्होंने प्रतिमा-योग धारण किया और फाल्गुन कृष्ण सप्तमीके दिन विशाखा नक्षत्रमें सूर्योदयके समय लोकका अग्रभाग प्राप्त किया—मोक्ष पधारे ॥५२-५३॥ तदनन्तर पुण्यवान् कल्पवासी उत्तम देवोंने निर्वाण-कल्याणक किया, तथा 'यहाँ निर्वाण-क्षेत्र है' इस प्रकार सम्मेदशिखरको निर्वाण-क्षेत्र ठहराकर स्वर्गकी ओर प्रयाण किया ॥५४॥

१ मनःपर्ययज्ञानम् । २ प्रतीक्ष्य प्रतिग्राह्य आप लेभे, अमरार्चनं देवकृतपूजाम् । संमतः क०, ख०, ग०, घ०, । ४—निष्क्रियस् क०, ख०, ग०, घ० ।

निष्ठां दुष्टतमां निनाय निपुणो निर्वाणकाष्ठामितः
प्रेष्ठो द्राक्कुरुताच्चिरं परिचितान् पार्श्वे सुपार्श्वः स नः ॥५५॥

वसन्ततिलका

क्षेमाख्यपत्तनपतिर्नुतनन्दिषेणः
कृत्वा तपो नवसुमध्यगतेऽहमिन्द्रः ।
वाराणसीपुरि सुपार्श्वनृपो जितारि-
रिक्ष्वाकुवंशतिलकोऽवतु तीर्थकृद् वः ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे सुपार्श्वस्वामिनः पुराणं परिसमाप्तं त्रिपञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५३ ॥



अत्यन्त बुद्धिमान् और निपुण जिन सुपार्श्वनाथ भगवान्‌ने दुःखसे निवारण करनेके योग्य पापरूपी बड़े भारी शत्रुओंके समूहको नष्ट कर दिया, मौन रखकर उसके साथ युद्ध किया, कुछ कालतक समवसरणमें प्रतिष्ठा प्राप्त की, अत्यन्त दुष्ट दुर्वासनाको दूर किया और अन्तमें निर्वाणकी अवधिको प्राप्त किया, वे श्रेष्ठतम भगवान् सुपार्श्वनाथ हम सब परिचितोंको चिरकालके लिए शीघ्र ही अपने समीपस्थ करें ॥५५॥ जो पहले भवमें क्षेमपुर नगरके स्वामी तथा सबके द्वारा स्तुति करने योग्य नन्दिषेण राजा हुए, फिर तपकर नव ग्रैवेयकोंमें-से मध्यके ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए, तदनन्तर वाराणसी नगरीमें शत्रुओंकोजीतनेवाले और इक्ष्वाकु वंशके तिलक महाराज सुपार्श्व हुए वे सप्तम तीर्थंकर तुम सबकी रक्षा करें ॥५६॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्यसे प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें सुपार्श्वनाथ स्वामीका पुराण वर्णन करनेवाला त्रेपनवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

चतुःपञ्चाशत्तमं पर्व

नीत्वैकवर्णतां [1]सर्वां सभां यः प्रभया स्वया । शुद्धितामनयच्छुद्धः शुद्ध्यै चन्द्रप्रभोऽस्तु नः ॥ १ ॥
देहप्रभेव वाग्यस्याह्लादिन्यपि च बोधिनी । तं नमामि नमोभागे सुरतारापरिष्कृतम् ॥ २ ॥
नामग्रहोऽपि यस्याघं निहन्त्यखिलमङ्गिनाम् । न हन्यात् किं नु तस्यार्च्यं चरितं श्रुतिगोचरम् ॥ ३ ॥
तत्पुराणं ततो वक्ष्ये भवादासप्तमादहम् । श्रोतव्यं भव्य ते श्रद्धां निधाय मगधाधिप ॥ ४ ॥
दानं पूजां तथान्यच्च मुक्त्यै ज्ञानेन संस्कृतम् । तत्पुराणश्रुतेः श्रव्यं तत्तदेव हितैषिभिः ॥ ५ ॥
अर्हद्भिर्भाषितं सूक्तमनुयोगैश्चतुष्टयम् । तेषु पूर्वं पुराणानि तस्मात्प्रोक्तः श्रुतिक्रमः ॥ ६ ॥
सा जिह्वा तौ मनःकर्णौ यैर्वक्तिश्रुतिचिन्तनाः । पूर्वादीनां पुराणानां पुरुषार्थोपदेशिनाम् ॥ ७ ॥
अस्त्यत्र पुष्करद्वीपः तन्मध्ये मानुषोत्तरः । [2]नृसंचारस्य सीमासौ सर्वतो वलयाकृतिः ॥ ८ ॥
तदभ्यन्तरभागे स्तो मन्दरौ पूर्वपश्चिमौ । पूर्वस्मिन् मन्दरे देशो विदेहे पश्चिमे महान् ॥ ९ ॥
सीतोदोदक्तटे दुर्गवनखन्याकरोचितैः । अकृष्टपच्यसस्याद्यैः सुगन्धिर्भूगुणैरभात् ॥ १० ॥
तस्मिन्देशे जनाः सर्वे वर्णत्रयविकल्पिताः । स्निग्धाः सूक्ष्मेक्षणाः प्रेक्ष्या विलोचनविशेषवत् ॥ ११ ॥
ऋजवो धार्मिका वीतदोषाः क्लेशसहिष्णवः । कर्षकाः सफलारम्भाः तपःस्थाँश्चातिशेरते ॥ १२ ॥

जो स्वयं शुद्ध हैं और जिन्होंने अपनी प्रभाके द्वारा समस्त सभाको एक वर्णकी बनाकर शुद्ध कर दी, वे चन्द्रप्रभ स्वामी हम सबकी शुद्धिके लिए हों ॥१॥ शरीरकी प्रभाके समान जिनकी वाणी भी हर्षित करनेवाली तथा पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाली थी और जो आकाशमें देवरूपी ताराओंसे घिरे रहते थे उन चन्द्रप्रभ स्वामीको नमस्कार करता हूँ ॥२॥ जिनका नाम लेना भी जीवोंके समस्त पापोंको नष्ट कर देता है फिर सुना हुआ उनका पवित्र चरित्र क्यों नहीं नष्ट कर देगा ? इसलिए मैं पहलेके सात भवोंसे लेकर उनका चरित्र कहूँगा। हे भव्य श्रेणिक ! तुझे उसे श्रद्धा रखकर सुनना चाहिए ॥३-४॥ दान, पूजा तथा अन्य कारण यदि सम्यग्ज्ञानसे सुशोभित होते हैं तो वे मुक्तिके कारण होते हैं और चूँकि वह सम्यग्ज्ञान इस पुराणके सुननेसे होता है अतः हितकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके द्वारा अवश्य ही सुननेके योग्य है ॥५॥ अर्हन्त भगवान्ने अनुयोगोंके द्वारा जो चार प्रकारके सूक्त बतलाये हैं उनमें पुराण प्रथम सूक्त है। भगवान्ने इन पुराणोंसे ही सुननेका क्रम बतलाया है ॥६॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थका उपदेश देनेवाले भगवान् ऋषभदेव आदिके पुराणोंको जो जीभ कहती है, जो कान सुनते हैं और जो मन सोचता है वही जीभ है, वही कान हैं और वही मन है, अन्य नहीं ॥७॥

इस मध्यम लोकमें एक पुष्करद्वीप है। उसके बीचमें मानुषोत्तर पर्वत है। यह पर्वत चारों ओरसे वलयके आकार गोल है तथा मनुष्योंके आवागमनकी सीमा है ॥८॥ उसके भीतरी भागमें दो सुमेरु पर्वत हैं एक पूर्व मेरु और दूसरा पश्चिम मेरु। पूर्व मेरुके पश्चिमकी ओर विदेहक्षेत्रमें सीतोदा नदीके उत्तर तटपर एक सुगन्धि नामका बड़ा भारी देश है। जो कि योग्य किला, वन, खाई, खानें और बिना बोये होनेवाली धान्य आदि पृथिवीके गुणोंसे सुशोभित है ॥९-१०॥ उस देशके सभी मनुष्य क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णमें विभक्त थे तथा नेत्र विशेषके समान स्नेहसे भरे हुए, सूक्ष्म पदार्थोंको देखनेवाले एवं दर्शनीय थे ॥११॥ उस देशके किसान तपस्वियोंका अतिक्रमण करते थे अर्थात् उनसे आगे बढ़े हुए थे। जिस प्रकार तपस्वी ऋजु अर्थात् सरलपरिणामी होते हैं उसी प्रकार वहाँके किसान भी सरलपरिणामी-भोले-भाले थे, जिस प्रकार तपस्वी धार्मिक होते हैं उसी प्रकार किसान भी धार्मिक थे-धर्मात्मा थे अथवा खेतीकी रक्षाके लिए धर्म-धनुषसे

---

१. सर्वान् ख० । २. नृसंसारस्य ख० ।

जलाशयाश्च सुस्वच्छाः सुखभोग्याः सपद्मकाः । संतापच्छेदिनोऽगाधा मनोनयनहारिणः ॥ १३ ॥
क्षेत्राणि सर्वधान्यानि सर्वतर्पीणि सर्वदा । संपन्नानि महीभर्तुः कोष्ठागाराणि वा बभुः ॥ १४ ॥
ग्रामाः कुक्कुटसम्पात्याः सारा बहुकृषीवलाः । पशुधान्यधनापूर्णा नित्यारम्भा[1] निराकुलाः ॥ १५ ॥
वीतदण्डादिबाधत्वाच्छ्रिताः सर्वसंपदः । वर्णाश्रमसमाकीर्णास्ते स्थानीयानुकारिणः ॥ १६ ॥
[2]असंचारिपथोपेतः सफलाकण्टकद्रुमः । अदृष्टाष्टभयः प्रान्तवीथितन्वीवनाश्रयः ॥ १७ ॥
यद्यज्जनपदस्योक्तं नीतिशास्त्रविशारदैः । लक्षणं तस्य तस्यायं देशो लक्ष्यत्वमीयिवान् ॥ १८ ॥
हानिर्धनस्य सत्पात्रे सत्क्रियायाः फलावधौ । उन्नतेर्विनयस्थाने प्राणस्य परमायुषि ॥ १९ ॥
तुङ्गेषु कुचयोरेव काठिन्यमतिवर्तते । गजेष्वेव प्रपातोऽपि तरुष्वेव [3]दरीषु ॥ २० ॥
दण्डश्छत्रे तुलायां च नागरादिषु तीक्ष्णता । रोधनं सेतुबन्धेषु शब्दशास्त्रेऽपवादभाक् ॥ २१ ॥

सहित थे, जिस प्रकार तपस्वी वीतदोष–दोषोंसे रहित होते हैं उसी प्रकार किसान भी वीतदोष–निर्दोष थे अथवा खेतीकी रक्षाके लिए दोषाएँ—रात्रियाँ व्यतीत करते थे, जिस प्रकार तपस्वी क्षुधा तृषा आदिके कष्ट सहन करते हैं उसी प्रकार किसान भी क्षुधा तृषा आदिके कष्ट सहन करते थे। इस प्रकार सादृश्य होनेपर भी किसान तपस्वियोंसे आगे बढ़े हुए थे उसका कारण था कि तपस्वी मनुष्योंके आरम्भ सफल भी होते थे और निष्फल भी चले जाते थे परन्तु किसानोंके आरम्भ निश्चित रूपसे सफल ही रहते थे॥ १२॥ वहाँके सरोवर अत्यन्त निर्मल थे, सुखसे उपभोग करनेके योग्य थे, कमलोंसे सहित थे, सन्तापका छेद करनेवाले थे, अगाध–गहरे थे और मन तथा नेत्रोंको हरण करनेवाले थे॥ १३॥ वहाँके खेत राजाके भाण्डारके समान जान पड़ते थे, क्योंकि जिस प्रकार राजाओंके भाण्डार सब प्रकारके अनाजसे परिपूर्ण रहते हैं उसी प्रकार वहाँके खेत भी सब प्रकारके अनाजसे परिपूर्ण रहते थे, राजाओंके भाण्डार जिस प्रकार हमेशा सबको सन्तुष्ट करते हैं उसी प्रकार वहाँके खेत भी हमेशा सबको सन्तुष्ट रखते थे, और राजाओंके भाण्डार जिस प्रकार सम्पन्न—सम्पत्तिसे युक्त रहते हैं उसी प्रकार वहाँके खेत भी धान्यरूपी सम्पत्तिसे सम्पन्न रहते थे अथवा 'समन्तात् पन्नाः सम्पन्नाः' सब ओरसे प्राप्त करने योग्य थे॥ १४॥ वहाँके गाँव इतने समीप थे कि मुर्गा भी एकसे उड़कर दूसरेपर जा सकता था, उत्तम थे, उनमें बहुत-से किसान रहते थे, पशु धन-धान्य आदिसे परिपूर्ण थे। उनमें निरन्तर काम-काज होते रहते थे तथा सब प्रकारसे निराकुल थे॥ १५॥ वे गाँव दण्ड आदिकी बाधासे रहित होनेके कारण सर्वसम्पत्तियोंसे सुशोभित थे, वर्णाश्रमसे भरपूर थे और वहीं रहनेवाले लोगोंका अनुकरण करनेवाले थे॥ १६॥ वह देश ऐसे मार्गोंसे सहित था जिनमें जगह-जगह कन्धों पर्यन्त पानी भरा हुआ था, अथवा जो असंचारी–दुर्गम थे, अथवा जो असंवारि—आने जानेकी रुकावटसे रहित थे। वहाँके वृक्ष फलोंसे लदे हुए तथा काँटोंसे रहित थे। आठ प्रकारके भयोंमें-से वहाँ एक भी भय दिखायी नहीं देता था और वहाँके वन समीपवर्ती गलियों रूपी स्त्रियोंके आश्रय थे॥ १७॥ नीतिशास्त्रके विद्वानोंने देशके जो-जो लक्षण कहे हैं यह देश उन सबका लक्ष्य था अर्थात् वे सब लक्षण इसमें पाये जाते थे॥ १८॥ उस देशमें धनकी हानि सत्पात्रको दान देते समय होती थी अन्य समय नहीं। समीचीन क्रियाकी हानि फल प्राप्त होनेपर ही होती थी अन्य समय नहीं। उन्नतिकी हानि विनयके स्थानपर होती थी अन्य स्थानपर नहीं, और प्राणोंकी हानि आयु समाप्त होनेपर ही होती थी अन्य समय नहीं॥१९॥ ऊँचे उठे हुए पदार्थोंमें यदि कठोरता थी तो स्त्रियोंके स्तनोंमें ही थी अन्यत्र नहीं थी। प्रपात यदि था तो हाथियोंमें ही था अर्थात् उन्हींका मद झरता था अन्य मनुष्योंमें प्रपात अर्थात् पतन नहीं था। अथवा प्रपात था तो गुहा आदि निम्न स्थानवर्ती वृक्षोंमें ही था अन्यत्र नहीं॥ २०॥ वहाँ यदि दण्ड था तो छत्र अथवा तराजूमें ही था वहाँके मनुष्योंमें दण्ड नहीं था अर्थात् उनका कभी जुर्माना नहीं होता था। तीक्ष्णता–तेज-

---

१ नित्यारम्भानिराकुलाः ख०, ग०। २ असंचारिपथो ख०, ग०। ३ असंचारि क०,। ४. दरीपु ब, ल०।

निस्त्रिंशशब्दः खड्गेषु विश्वाशित्वं हुताशने । तापकत्वं खराभीषौ मारकत्वं यमाह्वये ॥ २२ ॥
धर्मो जैनेन्द्र एवास्मिन् दिवसे वा दिवाकरः । ततो नैकान्तवादानामुलूकानामिवोद्गमः ॥ २३ ॥
दुर्गाण्यासन् यथास्थानं सातत्येनानुसंस्थितैः । भृतानि यन्त्रशस्त्राम्बुयवसैन्धवरक्षकैः ॥ २४ ॥
तस्य मध्ये शुभस्थाने ललाटे वा विशेषकम् । विशेषैः सर्वरम्याणां श्रीपुरं [1]वामरं पुरम् ॥ २५ ॥
विकसन्नीलनीरेजसरोजालिविलोचनैः । स्वच्छवारिसरोवक्त्रैर्हसत्परपुरश्रियम् ॥ २६ ॥
नानाप्रसूनसुस्वादकेसरासवपायिनः । तत्रालिनोऽलिनीवृन्दैः प्रयान्त्यापानकोत्सवम् ॥ २७ ॥
तदुत्तुङ्गमहासौधगेहैः समुरजारवैः । विश्राम्यन्तु भवन्तोऽत्रेत्याह्वयद्वा घनाघनान् ॥ २८ ॥
तदेव सर्ववस्तूनामाकरीभूतमन्यथा । तानि निष्ठां न किं यान्ति तथा भोगैर्निरन्तरम् ॥ २९ ॥
यद्यदालोक्यते तत्तत्स्ववर्गीणेषु सत्तमम् । भ्रान्तिः स्वर्गोऽयमेवेति करोति मरुतामपि ॥ ३० ॥
सत्कुलेषु समुद्भूतास्तत्र सर्वेऽपि [2]सव्रताः । उत्पद्यन्ते यतः प्रेत्य स्वर्गजाः शुद्धदृष्टयः ॥ ३१ ॥
स्वर्गः किमीदृशो वेति तत्रस्थाश्चारुदर्शनाः । मुक्त्यर्थमेव कुर्वन्ति धर्मं न स्वर्गमभ्यया ॥ ३२ ॥
तत्रोत्सवे जनाः पूजां मङ्गलार्थं प्रकुर्वते । शोके तदपनोदार्थमेते जैनीं विवेकिनः ॥ ३३ ॥
साध्यार्था इव साध्यन्ते जैनवादैः सुहेतुभिः । धर्मार्थकामास्तज्जातैरमेयसुखदायिनः ॥ ३४ ॥

खिता यदि थी तो कोतवाल आदिमें ही, वहाँके मनुष्योंमें तीक्ष्णता नहीं—क्रूरता नहीं थी। रुकावट केवल पुलोंमें ही थी वहाँके मनुष्योंमें किसी प्रकारकी रुकावट नहीं थी। और अपवाद यदि था तो व्याकरण शास्त्रमें ही था वहाँके मनुष्योंमें अपवाद–अपयश नहीं था ॥ २१ ॥ निस्त्रिंश शब्द कृपाणमें ही आता था अर्थात् कृपाण ही (त्रिंशद्भ्योऽङ्गुलिभ्यो निर्गत इति निस्त्रिंशः) तीस अंगुलसे बड़ी रहती थी, वहाँके मनुष्योंमें निस्त्रिंश—क्रूर शब्दका प्रयोग नहीं होता था। विश्वाशित्व अर्थात् सब चीजें खा जाना यह शब्द अग्निमें ही था वहाँके मनुष्योंमें विश्वाशित्व—सर्वभक्षकपना नहीं था। तापकत्व अर्थात् सन्ताप देना केवल सूर्यमें था वहाँके मनुष्योंमें नहीं था, और मारकत्व केवल यमराजके नामोंमें था वहाँके मनुष्योंमें नहीं था ॥ २२ ॥ जिस प्रकार सूर्य दिनमें ही रहता है उसी प्रकार धर्म शब्द केवल जिनेन्द्र प्रणीत धर्ममें ही रहता था। यही कारण था कि वहाँपर उल्लुओंके समान एकान्त वादोंका उद्गम नहीं था ॥ २३ ॥ उस देशमें सदा यथास्थान रखे हुए यन्त्र, शस्त्र, जल, जौ, घोड़े और रक्षकोंसे भरे हुए किले थे ॥ २४ ॥ जिस प्रकार ललाटके बीचमें तिलक होता है उसी प्रकार अनेक शुभस्थानोंसे युक्त उस देशके मध्यमें श्रीपुर नामका नगर है। वह श्रीपुर नगर अपनी सब तरहकी मनोहर वस्तुओंसे देवनगरके समान जान पड़ता था ॥ २५ ॥ खिले हुए नीले तथा लाल कमलोंके समूह ही जिनके नेत्र हैं ऐसे स्वच्छ जलसे भरे हुए सरोवररूपी मुखोंके द्वारा वह नगर शत्रुनगरोंकी शोभाकी मानो हँसी ही उड़ाता था ॥ २६ ॥ उस देशमें अनेक प्रकारके फूलोंके स्वादिष्ट केशरके रसको पीनेवाले भौंरे भ्रमरियोंके समूहके साथ पान-गोष्ठीका आनन्द प्राप्त करते थे ॥ २७ ॥ उस नगरमें बड़े-बड़े ऊँचे पक्के भवन बने हुए थे, उनमें मृदंगोंका शब्द हो रहा था। जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो 'आप लोग यहाँ विश्राम कीजिए' इस प्रकार वह नगर मेघोंको ही बुला रहा था ॥ २८ ॥ ऐसा मालूम होता था कि वह नगर सर्व वस्तुओंकी मानो खान था। यदि ऐसा न होता तो निरन्तर उपभोगमें आनेपर वे समाप्त क्यों नहीं होतीं ? ॥२९॥ उस नगरमें जो-जो वस्तु दिखाई देती थी वह अपने वर्गमें सर्वश्रेष्ठ रहती थी अतः देवोंको भी भ्रम हो जाता था कि क्या यह स्वर्ग ही है ? ॥३०॥ वहाँके रहनेवाले सभी लोग उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुए थे, व्रतसहित थे तथा सम्यग्दृष्टि थे अतः वहाँके मरे हुए जीव स्वर्गमें ही उत्पन्न होते थे॥३१॥ 'स्वर्गमें क्या रखा ? वह तो ऐसा ही है' यह सोचकर वहाँके सम्यग्दृष्टि मनुष्य मोक्षके लिए ही धर्म करते थे, स्वर्गकी इच्छासे नहीं ॥३२॥ उस नगरमें विवेकी मनुष्य उत्सवके समय मंगलके लिए और शोकके समय उसे दूर करनेके लिए जिनेन्द्र भगवान्की पूजा किया करते थे॥३३॥वहाँके जैनवादी लोग अपरिमित सुख देनेवाले धर्म, अर्थ

---

१ वामरं वा देवनगरवत्। २ सुव्रताः क०, घ०।

द्वीपार्द्धचक्रवालो वा प्राकारो यत्परीतवान् । भियेव रविसंतापाल्लीनोऽभून्मणिरश्मिषु ॥३५॥
श्रीषेणो नाम तस्यासीत् पतिः सुरपतिद्युतिः । नतारिमौलिरत्नांशुवारिविकासिक्रमाम्बुजः ॥३६॥
पाति यस्मिन् भुवं जिष्णौ दुष्टा विगतविक्रियाः । अभूवन् शक्तिवन्मन्त्रसंनिधौ वा भुजंगमाः ॥३७॥
उपाया येन संचिन्त्य यथास्थानप्रयोजिताः । ददुः फलमतिस्फीतं समाहर्तृवदर्थितम् ॥३८॥
श्रीकान्ता नाम तस्यासीद् वनिता विनयान्विता । सती मृदुपदन्यासा सत्कवेरिव भारती ॥३९॥
रूपाद्याः स्त्रीगुणास्तस्याः समुत्पन्नाः सुखावहाः । सुता इव सदा पाल्या वन्द्याश्च गुरुवत्सताम् ॥४०॥
अरीरमन्मनः पत्युस्तस्या रूपादयो गुणाः । स्यादेवकारसंयुक्ता नया इव मनीषिणः ॥४१॥
प्रतिच्छन्दः परस्त्रीणां वेधसैषा विनिर्मिता । गुणानामिव मञ्जूषा स्वमतिप्रतिपत्तये ॥४२॥
[1]अपापं सुखमच्छिन्नं [2]सस्नेहं समतृप्तिदम् । मिथुनं तत्समापोच्चैर्मिथुनं वामरं परम् ॥४३॥
स कदाचिन्महीनाथो निष्पुत्रत्वाच्छुचाहितः । इति स्वगतमेकाकी संतत्यर्थमचिन्तयत् ॥४४॥
स्त्रियः संसारवल्लर्यः सत्पुत्रास्तत्फलायिताः । न चेत्ते तस्य रामाभिः पापाभिः किं नृपापिनः ॥४५॥
यः पुत्रवदनाम्भोजं नापश्यद्दैवयोगतः । षट्खण्डश्रीमुखाब्जेन दृष्टेनाप्यस्य तेन किम् ॥४६॥
ततः पुरोधसः प्राप्तुं सुतं सदुपदेशतः । अनर्घ्यैर्मणिभिः पञ्चवर्णैरञ्चितकाञ्चनैः ॥४७॥

और कामको साध्य पदार्थोंके समान उन्हींसे उत्पन्न हुए समीचीन हेतुओंसे सिद्ध करते थे ॥३४॥ उस नगरको घेरे हुए जो कोट था वह ऐसा जान पड़ता था मानो पुष्करवरद्वीपके बीचमें पड़ा हुआ मानुषोत्तर पर्वत ही हो। वह कोट अपने रत्नोंकी किरणोंमें ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्यके सन्तापके भयसे छिप ही गया हो ॥३५॥ नमस्कार करनेवाले शत्रु राजाओंके मुकुटोंमें लगे हुए रत्नोंकी किरणरूपी जलमें जिसके चरण, कमलके समान विकसित हो रहे हैं ऐसा, इन्द्रके समान कान्तिका धारक श्रीषेण नामका राजा उस श्रीपुर नगरका स्वामी था ॥३६॥ जिस प्रकार शक्तिशाली मन्त्रके समीप सर्प विकाररहित हो जाते हैं उसी प्रकार विजयी श्रीषेणके पृथिवीका पालन करनेपर सब दुष्ट लोग विकाररहित हो गये थे ॥३७॥ उसने साम, दान आदि उपायोंका ठीक-ठीक विचार कर यथास्थान प्रयोग किया था इसलिए वे दाताके समान बहुत भारी इच्छित फल प्रदान करते थे ॥३८॥ उसकी विनय करनेवाली श्रीकान्ता नामकी स्त्री थी। वह श्रीकान्ता किसी अच्छे कविकी वाणीके समान थी। क्योंकि जिस प्रकार अच्छे कविकी वाणी सती अर्थात् दुःश्रवत्व आदि दोषोंसे रहित होती है उसी प्रकार वह भी सती अर्थात् पतिव्रता थी और अच्छे कविकी वाणी जिस प्रकार मृदुपदन्यासा अर्थात् कोमलकान्तपदविन्याससे युक्त होती है उसी प्रकार वह भी मृदुपदन्यासा अर्थात् कोमल चरणोंके निक्षेपसे सहित थी ॥३९॥ स्त्रियोंके रूप आदि जो गुण हैं वे सब उसमें सुख देनेवाले उत्पन्न हुए थे। वे गुण पुत्रके समान पालन करने योग्य थे और गुरुओंके समान सज्जनोंके द्वारा वन्दनीय थे ॥४०॥ जिस प्रकार स्यादेवकार–स्यात् एव शब्द (किसी अपेक्षासे पदार्थ ऐसा ही है) से युक्त नय किसी विद्वान्‌के मनको आनन्दित करते हैं उसी प्रकार उसकी कान्ताके रूप आदि गुण पतिके मनको आनन्दित करते थे ॥४१॥ वह स्त्री अन्य स्त्रियोंके लिए आदर्शके समान थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो नामकर्म रूपी विधाताने अपनी बुद्धिकी प्रकर्षता बतलानेके लिए गुणोंकी पेटी ही बनायी हो ॥४२॥ वह दम्पती देवदम्पतीके समान पापरहित, अविनाशी, कभी नष्ट न होनेवाले और समान तृप्तिको देनेवाले उत्कृष्ट सुख प्राप्त करता था ॥४३॥

वह राजा निष्पुत्र था अतः शोकसे पीड़ित होकर पुत्रके लिए अकेला अपने मनमें निम्न प्रकार विचार करने लगा ॥४४॥ स्त्रियाँ संसारकी लताके समान हैं और उत्तम पुत्र उनके फलके समान हैं। यदि मनुष्यके पुत्र नहीं हुए तो इस पापी मनुष्यके लिए पुत्रहीन पापिनी स्त्रियोंसे क्या प्रयोजन है ? ॥४५॥ जिसने दैवयोगसे पुत्रका मुखकमल नहीं देखा है वह छह खण्डकी लक्ष्मीका मुख भले ही देख ले पर उससे क्या लाभ है ॥४६॥ उसने पुत्र प्राप्त करनेके लिए पुरोहितके उप-

---

१ अपारं ल० । २ सस्नेहं सतृप्तिदम् क०, घ० ।

विधाय जिनबिम्बानि प्रातिहार्यैः सहाष्टभिः । भृङ्गारादिविनिर्दिष्टैः संगतान्यष्टमङ्गलैः ॥४८॥
प्रतिष्ठाकल्पसंप्रोक्तैः प्रतिष्ठाप्य क्रियाक्रमैः । कृत्वा महाभिषेकं च जिनसंगममङ्गलैः ॥४९॥
गन्धोदकैः स्वयं देव्या सहैवास्नात्स्तुवन् जिनान् । व्यधादाष्टाह्निकीं पूजामैहिकामुत्रिकोदयाम् ॥५०॥
यातैः कतिपयैर्देव्या दिनैः स्वप्नान् व्यलोकत । गजसिंहेन्दुपद्मामिषेकानीषज्जिनिद्रिता ॥५१॥
तदैव गर्भसंक्रान्तिरभूत्तस्यास्ततः क्रमात् । आलस्यमरुचिस्तन्द्रा जुगुप्सा चानिमित्तका ॥५२॥
[1]अशक्तयोरिवान्योन्यं विजेतुं सुचिरान्मुखम् । कुचयोरादधौ तस्याः कालिमानं दिने दिने ॥५३॥
योषितां भूषणं लज्जा श्लाघ्यं नान्यद्विभूषणम् । इति स्पष्टयितुं वैषा सर्वचेष्टा स्थिता ह्रिया ॥५४॥
तस्या भाराक्षमत्वेन भूषणान्युचितान्यपि । दिवस्ताराकुलानीव निशान्ते स्वल्पतां ययुः ॥५५॥
वाचः परिमिताः स्वल्पवित्तस्येव विभूतयः । चिरं विरम्य श्रव्यत्वाञ्चवाम्भोदावलेरिव[2] ॥५६॥
कुर्युः कुतूहलोत्पत्तिं वाहसम्यर्णवर्तिनाम् । एवं तद्गर्भचिह्नानि व्यक्ताव्यक्तानि चाभवन् ॥५७॥
प्रमोदात्प्राप्य राजानं प्रणम्याननसूचितम् । इति चेत्याब्रुवन् कर्णे तन्महत्तरिकास्तदा ॥५८॥
सरोजं वोदयाद्भानोः कुमुदं वा हिमद्युतेः । व्यकसत्तन्मुखाम्भोजं श्रुतगर्भमहोदयात् ॥५९॥
चन्द्रोदयोऽन्वयाम्भोधेः कुलस्य तिलकायितः । प्रादुर्भावस्तनूजस्य न प्रतोषाय कस्य वा ॥६०॥
अदृष्टवदनाम्भोजमपत्यं गर्भगं च माम् । एवं प्रतोषयत्येतत् दृष्टवक्त्रं किमुच्यते ॥६१॥
मत्वेति ताभ्यो दत्वेष्टं स्वासैः कतिपयैर्वृतः । महादेवीगृहं गत्वा द्विगुणीभूतसंमदः ॥६२॥

देशसे पाँच वर्णके अमूल्य रत्नोंसे मिले सुवर्णकी जिन-प्रतिमाएँ बनवायीं । उन्हें आठ प्रातिहार्यों तथा भृंगार आदि आठ मंगल-द्रव्यसे युक्त किया, प्रतिष्ठाशास्त्रमें कही हुई क्रियाओंके क्रमसे उनकी प्रतिष्ठा करायी, महाभिषेक किया, जिनेन्द्र भगवान्‌के संसर्गसे मंगल रूप हुए गन्धोदकसे रानीके साथ स्वयं स्नान किया, जिनेन्द्र भगवान्‌की स्तुति की तथा इस लोक और परलोक सम्बन्धी अभ्युदयको देनेवाली आष्टाह्निकी पूजा की ॥४७-५०॥ इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत होनेपर कुछ-कुछ जागती हुई रानीने हाथी सिंह चन्द्रमा और लक्ष्मीका अभिषेक ये चार स्वप्न देखे ॥५१॥ उसी समय उसके गर्भ धारण हुआ तथा क्रमसे आलस्य आने लगा, अरुचि होने लगी, तन्द्रा आने लगी और बिना कारण ही ग्लानि होने लगी ॥५२॥ उसके दोनों स्तन चिरकाल व्यतीत हो जानेपर भी परस्पर एक दूसरेको जीतनेमें समर्थ नहीं हो सके थे अतः दोनोंके मुख प्रतिदिन कालिमाको धारण कर रहे थे ॥५३॥ 'स्त्रियोंके लिए लज्जा ही प्रशंसनीय आभूषण है अन्य आभूषण नहीं' यह स्पष्ट करनेके लिए ही मानो उसकी समस्त चेष्टाएँ लज्जासे सहित हो गयी थीं ॥५४॥ जिस प्रकार रात्रिके अन्त भागमें आकाशके ताराओंके समूह अल्प रह जाते हैं उसी प्रकार भार धारण करनेमें समर्थ नहीं होनेसे उसके योग्य आभूषण भी अल्प रह गये थे—विरल हो गये थे ॥५५॥ जिस प्रकार अल्प धनवाले मनुष्यकी विभूतियाँ परिमित रहती हैं उसी प्रकार उसके वचन भी परिमित थे और नयी मेघमालाके शब्दके समान रुक-रुककर बहुत देर बाद सुनाई देते थे ॥५६॥ इस प्रकार उसके गर्भके चिह्न निकटवर्ती मनुष्योंके लिए कुतूहल उत्पन्न कर रहे थे । वे चिह्न कुछ प्रकट थे और कुछ अप्रकट थे ॥५७॥ किसी एक दिन रानीकी प्रधान दासियोंने हर्षसे राजाके पास जाकर और प्रणाम कर उनके कानमें यह समाचार कहा । यद्यपि यह समाचार दासियों-के मुखकी प्रसन्नतासे पहले ही सूचित हो गया था तो भी उन्होंने कहा था ॥५८॥ गर्भ धारणका समाचार सुनकर राजाका मुख-कमल ऐसा विकसित हो गया जैसा कि सूर्योदयसे कमल और चन्द्रोदयसे कुमुद विकसित हो जाता है ॥५९॥ जो वंशरूपी समुद्रको वृद्धिंगत करनेके लिए चन्द्रो-दयके समान है अथवा कुलको अलंकृत करनेके लिए तिलकके समान है ऐसा पुत्रका प्रादुर्भाव किसके सन्तोषके लिए नहीं होता? ॥६०॥ जिसका मुखकमल अभी देखनेको नहीं मिला है, केवल गर्भमें ही स्थित है ऐसा भी जब मुझे इस प्रकार सन्तुष्ट कर रहा है तब मुख दिखानेपर कितना सन्तुष्ट करेगा इस बातका क्या कहना है ॥६१॥ ऐसा मानकर राजाने उन दासियोंके लिए

१ आसक्तयोः क०, घ० । २ नवाम्भोदावलीमिव ल० ।

अभ्रितां वाभ्रपदवीं रत्नगर्भामिव क्षितिम् । उपोदयार्कां प्राचीं वा तां ददर्श दृशः सुखम् ॥ ६३ ॥
सापि दृष्ट्वा महीनाथमभ्युत्थातुं कृतोद्यमा । तथैव देवि तिष्ठेति स्थिता राज्ञा निवारिता ॥ ६४ ॥
नृपस्तयैकशय्यायामुपविश्य चिरं मुदा । सलज्जया सहालाप्य ययौ तदुचितोक्तिभिः ॥ ६५ ॥
दिनेषु केषुचित्पश्चाद्यातेषु प्रकटीभवत् । प्राक् पुण्याद् गुरुशुक्रादिशुभग्रहनिरीक्षणात् ॥ ६६ ॥
हरेर्हरिदिवादित्यं सस्यपाकं यथा शरत् । महोदयमिवाख्यातिरसूत सुतमुत्तमम् ॥ ६७ ॥
प्रवर्द्धमानभाग्यस्य योग्यस्य सकलश्रियः । श्रीवर्मेति शुभं नाम तस्य बन्धुजनो व्यधात् ॥ ६८ ॥
प्रबोधो मूर्छितस्येव दुर्विधस्येव वा निधिः । जयो वाल्पसैन्यस्य राज्ञस्तोषं चकार सः ॥ ६९ ॥
तस्याङ्गतेजसा रत्नदीपिका विहतत्विषः । निशायां सभास्थाने नैरर्थक्यं प्रपेदिरे ॥ ७० ॥
शरीरवृद्धिस्तस्यासीद् भिषक्शास्त्रोक्तवृत्तितः । [1]शब्दशास्त्रादिभिः प्रज्ञावृद्धिः सुविहितक्रियाः ॥ ७१ ॥
स राजा तेन पुत्रेण द्वीपोऽयमिव मेरुणा । सुक्षेम संगतः श्रीमान् पालयन् वलयं क्षितेः ॥ ७२ ॥
जिनं श्रीपद्मनामानमवतीर्णं यदृच्छया । शिवंकरवनोद्याने कदाचिद्वनपालतः ॥ ७३ ॥
श्रुत्वा सप्तपदानीत्वा तां दिशं शिरसाऽनमत् । तदानीमेव संप्राप्य विश्वेशं प्रश्रयाश्रयः ॥ ७४ ॥
त्रिःपरीत्य नमस्कृत्य तं यथास्थानमास्थितः । कृत्वा धर्मपरिप्रश्नं बुद्ध्वा [2]वस्तु यथोदितम् ॥ ७५ ॥
भोगतृष्णामपास्याशु धर्मतृष्णात्तमानसः । दत्त्वा श्रीवर्मणे राज्यं प्राव्राजीत्तज्जिनान्तिके ॥ ७६ ॥

इच्छित पुरस्कार दिया और द्विगुणित आनन्दित होता हुआ कुछ आप्त जनोंके साथ वह रानीके घर गया ॥६२॥ वहाँ उसने नेत्रोंको सुख देनेवाली रानीको ऐसा देखा मानो मेघसे युक्त आकाश ही हो, अथवा रत्नगर्भा पृथ्वी ही हो अथवा उदय होनेके समीपवर्ती सूर्यसे युक्त पूर्व दिशा ही हो ॥६३॥ राजाको देखकर रानी खड़ी होनेकी चेष्टा करने लगी परन्तु 'हे देवि, बैठी रहो' इस प्रकार राजाके मना किये जानेपर बैठी रही ॥६४॥ राजा एक ही शय्यापर चिरकाल तक रानीके साथ बैठा रहा और लज्जासहित रानीके साथ योग्य वार्तालाप कर हर्षित होता हुआ वापिस चला गया ॥६५॥

तदनन्तर कितने ही दिन व्यतीत हो जानेपर पुण्य कर्मके उदयसे अथवा गुरु शुक्र आदि शुभ ग्रहोंके विद्यमान रहते हुए उसने जिस प्रकार इन्द्रकी दिशा (प्राची) सूर्यको उत्पन्न करती है, शरद् ऋतु पके हुए धानको उत्पन्न करती है और कीर्ति महोदयको उत्पन्न करती है उसी प्रकार रानीने उत्तम पुत्र उत्पन्न किया ॥६६-६७॥ जिसका भाग्य बढ़ रहा है और जो सम्पूर्ण लक्ष्मी पानेके योग्य है ऐसे उस पुत्रका बन्धुजनोंने 'श्रीवर्मा' यह शुभ नाम रखा ॥६८॥ जिस प्रकार मूर्छितको सचेत होनेसे सन्तोष होता है, दरिद्रको खजाना मिलनेसे सन्तोष होता है और थोड़ी सेनावाले राजाको विजय मिलनेसे सन्तोष होता है उसी प्रकार उस पुत्र-जन्मसे राजाको सन्तोष हुआ था ॥६९॥ उस पुत्रके शरीरके तेजसे जिनकी कान्ति नष्ट हो गयी है ऐसे रत्नोंके दीपक रात्रिके समय सभा-भवनमें निरर्थक हो गये थे ॥७०॥ उसके शरीरकी वृद्धि वैद्यक शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार होती थी और अच्छी क्रियाओंको करनेवाली बुद्धिकी वृद्धि व्याकरण आदि शास्त्रोंके अनुसार हुई थी ॥७१॥ जिस प्रकार यह जम्बूद्वीप ऊँचे मेरु पर्वतसे सुशोभित होता है उसी प्रकार पृथ्वी-मण्डलका पालन करनेवाला यह लक्ष्मी-सम्पन्न राजा उस श्रेष्ठ पुत्रसे सुशोभित हो रहा था ॥७२॥ किसी एक दिन शिवंकर वनके उद्यानमें श्रीपद्म नामके जिनराज अपनी इच्छासे पधारे थे। वनपालसे यह समाचार सुनकर राजाने उस दिशामें सात कदम जाकर शिरसे नमस्कार किया और बड़ी विनयके साथ उसी समय जिनराजके पास जाकर तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, नमस्कार किया, और यथास्थान आसन ग्रहण किया। राजाने उनसे धर्मका स्वरूप पूछा, उनके कहे अनुसार वस्तु तत्त्वका ज्ञान प्राप्त किया; शीघ्र ही भोगोंकी तृष्णा छोड़ी, धर्मकी तृष्णामें अपना मन

---

१. सर्वशास्त्रादिभिः ग० । २ धर्मं यथोदितम् ल० ।

श्रीवर्मापि जिनेन्द्रोक्त्या [1]धूतमिथ्यामहातमाः । अस्थात्तुर्यगुणस्थानमाद्यं सोपानमुच्यते ॥ ७७ ॥
सन्निधाने च तस्यायः[2] सन्निधापयति स्वयम् । यथाकाममशेषार्थांस्तैः स प्रापेप्सितं सुखम् ॥ ७८ ॥
असौ कदाचिदाषाढपौर्णमासीदिने जिनान् । उपोष्याभ्यर्च्य सत्त्वाप्तैः रात्रौ हर्म्यतले स्थितः ॥ ७९ ॥
विलोक्यापातमुल्काया भोगसारं विरक्तवान् । प्राग्विश्राणितसाम्राज्यः श्रीकान्तायाग्रसूनवे ॥ ८० ॥
अभ्यासे श्रीप्रभेशस्य दीक्षित्वा सुचिरं तपः । विधाय विधिवत्प्रान्ते संन्यस्य श्रीप्रभे गिरौ ॥ ८१ ॥
श्रीप्रभे प्रथमे कल्पे विमाने सागरोपम- । द्वित्वायुः श्रीधरो नाम्ना देवः समुदपद्यत ॥ ८२ ॥
अणिमादिगुणः सप्तहस्तो वैक्रियिकाङ्गभाक् । चतुर्थलेश्यो मासेन निःश्वसन् मनसाहरन्[3] ॥ ८३ ॥
वर्षद्वयसहस्रेण पुद्गलानमृतात्मकान् । तृप्तः कायप्रवीचाराद् व्याप्ताद्यक्ष्मातलावधिः ॥ ८४ ॥
बलतेजोमहाविक्रियाभिः स्वावधिसम्मितः । सुस्थितोऽनुभवन्सौख्यं स्वपुण्यपरिपाकजम् ॥ ८५ ॥
दक्षिणे धातकीखण्डे प्राचीष्वाकारपर्वतात् । भारते [4]विषये श्रीमदलकाख्ये पुरोत्तमम् ॥ ८६ ॥
अयोध्याख्यं नृपस्तस्मिन्नासमावजितंजयः । आसीदजितसेनास्य देवी [5]सुतसुखप्रदा ॥ ८७ ॥
सा कदाचित्तनूजाप्त्यै परिपूज्य जिनेश्वरान् । सुप्ता तच्चिन्तया स्वप्नान्विलोक्याष्टौ शुभानिमान् ॥८८॥
गजेन्द्रवृषसिंहेन्दुरवीन् पद्मसरोवरम् । शङ्खं पूर्णघटं चैतत् फलान्यप्यजितंजयात् ॥ ८९ ॥
गजात्पुत्रं गभीरं गोः सिंहेनानन्तवीर्यकम् । चन्द्रेण तर्पकं तेजः प्रतापाढ्यं दिवाकरात् ॥ ९० ॥

लगाया, श्रीवर्मा पुत्रके लिए राज्य दिया और उन्हीं श्रीपद्म जिनेन्द्रके समीप दीक्षा धारण कर ली ॥७३–७६॥ जिनेन्द्र भगवान्‌के उपदेशसे जिसका मिथ्यादर्शनरूपी महान्धकार नष्ट हो गया है ऐसे श्रीवर्माने भी वह चतुर्थ गुणस्थान धारण किया जो कि मोक्षकी पहली सीढ़ी कहलाती है ॥७७॥ चतुर्थ गुणस्थानके सन्निधानमें जिस पुण्य-कर्मका संचय होता है वह स्वयं ही इच्छानुसार समस्त पदार्थोंको सन्निहित–निकटस्थ करता रहता है। उन पदार्थोंसे श्रीवर्माने इच्छित सुख प्राप्त किया था ॥७८॥

किसी समय राजा श्रीवर्मा आषाढ़ मासकी पूर्णिमाके दिन जिनेन्द्र भगवान्‌की उपासना और पूजा कर अपने आप्तजनोंके साथ रात्रिमें महलकी छतपर बैठा था ॥७९॥ वहाँ उल्कापात देखकर वह भोगोंसे विरक्त हो गया। उसने श्रीकान्त नामक बड़े पुत्रके लिए राज्य दे दिया और श्रीप्रभ जिनेन्द्रके समीप दीक्षा लेकर चिरकाल तक तप किया तथा अन्तमें श्रीप्रभ नामक पर्वतपर विधिपूर्वक संन्यासमरण किया ॥८०–८१॥ जिससे प्रथम स्वर्गके श्रीप्रभ विमानमें दो सागरकी आयु वाला श्रीधर नामका देव हुआ ॥८२॥ वह देव अणिमा, महिमा आदि आठ गुणोंसे युक्त था, सात हाथ ऊँचा उसका शरीर था, वैक्रियिक शरीरका धारक था, पीतलेश्यावाला था, एक माहमें श्वास लेता था; दो हजार वर्षमें अमृतमय पुद्गलोंका मानसिक आहार लेता था, काय-प्रवीचारसे सन्तुष्ट रहता था, प्रथम पृथ्वी तक उसका अवधिज्ञान था, बल तेज तथा विक्रिया भी प्रथम पृथ्वी तक थी, इस तरह अपने पुण्य कर्मके परिपाकसे प्राप्त हुए सुखका उपभोग करता हुआ वह सुखसे रहता था ॥८३–८५॥

धातकीखण्ड द्वीपमें दक्षिणकी ओर जो इष्वाकार पर्वत है उस पर्वतसे पूर्वकी ओर भरतक्षेत्रमें एक अलका नामका सम्पन्न देश है। उसमें अयोध्या नामका उत्तम नगर है। उसमें अजितंजय राजा सुशोभित था। उसकी अजितसेना नामकी वह रानी थी जो कि पुत्र-सुखको प्रदान करती थी ॥८६–८७॥ किसी एक दिन पुत्र-प्राप्तिके लिए उसने जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा की और रात्रिको पुत्रकी चिन्ता करती हुई सो गयी। प्रातः काल नीचे लिखे हुए आठ शुभ स्वप्न उसने देखे। हाथी, बैल, सिंह, चन्द्रमा, सूर्य, कमलोंसे सुशोभित सरोवर, शंख और पूर्ण कलश। राजा अजितंजयसे उसने स्वप्नोंका निम्न प्रकार फल ज्ञात किया। हे देवि! हाथी देखनेसे तुम पुत्रको प्राप्त करोगी; बैलके देखनेसे वह पुत्र गम्भीर प्रकृतिका होगा; सिंहके देखनेसे अनन्तबलका धारक होगा, चन्द्रमाके देखनेसे सबको सन्तुष्ट करनेवाला होगा, सूर्यके देखनेसे तेज और

---

१. वीतमिथ्या–ख०, ग०। २. पुण्यम्। ३. मनसाहरत् ल०। ४. विजये क०, ख०, ग०, घ०। ५. सुखसुतप्रदा।

सरसा शङ्खचक्रादि द्वात्रिंशल्लक्षणान्वितम् । शङ्खेन चक्रिणं पूर्णकुम्भाज्ज्ञात्वा निधीशिनम् ॥ ९१ ॥
तुष्टा कतिपयैर्मासैस्तं श्रीधरमजीजनत् । व्यधादजितसेनाख्यां राजास्य जितविद्विषः ॥ ९२ ॥
तेन तेजस्विना राजा सदाभाद् भास्करेण वा । दिवसो विरजास्तादृक् तनूजः [1]कुलभूषणम् ॥ ९३ ॥
स्वयंप्रभाख्यतीर्थेशमशोकवनमागतम् । परेद्युः सपरीवारः संप्राप्याभ्यर्च्य सन्नतः ॥ ९४ ॥
श्रुत्वा धर्मं सतां त्याज्यं राज्यं निर्जितशत्रवे । प्रदायाजितसेनाय संयम्यासीत्स केवली ॥ ९५ ॥
राजलक्ष्म्या कुमारोऽपि रक्तया स वशीकृतः । प्रौढ एव युवा कामं मुख्यं सौख्यमुपेयिवान् ॥ ९६ ॥
तत्पुण्यपरिपाकेन चक्ररत्नादि चक्रिणः । यद्यत्सत्त्समुत्पन्नं चेतनेतरभेदकम् ॥ ९७ ॥
चक्रमाक्रान्तदिक्चक्रमस्य तस्योद्भवेऽभवत् । पुनर्दिग्विजयो जेतुः पुरबाह्यविहारवत् ॥ ९८ ॥
नासुखोऽनेन कोऽप्यासीन्न परिग्रहमूर्च्छना । षट्खण्डाधीशिनोऽप्यस्य पुण्यं पुण्यानुबन्धि यत् ॥ ९९ ॥
दुःखं स्वकर्मपाकेन सुखं तदनुपालनात् । प्रजानां तस्य साम्राज्ये तस्ताभिः सोऽभिनन्द्यते ॥ १०० ॥
देवविद्याधराधीशमुकुटाग्रेषु सद्युतीन् । विच्छायीकृत्य रत्नांशूंस्तदाज्ञैवोच्छ्रिता बभौ ॥ १०१ ॥
नित्योदयस्य चेन्न स्यात् पद्मानन्दकृतो बलम् । चण्डद्युतेः कथं पाति शक्रोऽध्यक्षः स्वयं दिशम् ॥ १०२ ॥
[2]विधीर्वेधा न चेदग्निं स्थापयेद्रक्षितुं दिशम् । स्वयोनिदाहिना कोऽपि कश्चित् केनापि रक्षितः ॥ १०३ ॥
पालको मारको वेति नान्तकं सर्वभक्षिणम् । किं वेत्ति वेधास्तं पातुं पापिनं परिकल्पयन् ॥ १०४ ॥

प्रतापसे युक्त होगा, सरोवरके देखनेसे शंख-चक्र आदि बत्तीस लक्षणोंसे सहित होगा, शंख देखनेसे चक्रवर्ती होगा और पूर्ण कलश देखनेसे निधियोंका स्वामी होगा ॥८८–९१॥ स्वप्नोंका उक्त प्रकार फल जानकर रानी बहुत ही सन्तुष्ट हुई। तदनन्तर कुछ माह बाद उसने पूर्वोक्त श्रीधरदेवको उत्पन्न किया। राजाने शत्रुओंको जीतनेवाले इस पुत्रका अजितसेन नाम रखा ॥९२॥ राजा उस तेजस्वी पुत्रसे ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि धूलिरहित दिन सूर्यसे सुशोभित होता है। यथार्थमें ऐसा पुत्र ही कुलका आभूषण होता है ॥९३॥ दूसरे दिन स्वयंप्रभ नामक तीर्थंकर अशोक वनमें आये। राजाने परिवारके साथ जाकर उनकी पूजा की, स्तुति की, धर्मोपदेश सुना और सज्जनोंके छोड़ने योग्य राज्य शत्रुओंको जीतनेवाले अजितसेन पुत्रके लिए देकर संयम धारण कर लिया तथा स्वयं केवलज्ञानी बन गया ॥९४–९५॥ इधर अनुरागसे भरी हुई राज्य-लक्ष्मीने कुमार अजितसेनको अपने वश कर लिया जिससे वह युवावस्थामें ही प्रौढ़की तरह मुख्य सुखोंका अनुभव करने लगा ॥९६॥ उसके पुण्य कर्मके उदयसे चक्रवर्तीके चक्ररत्न आदि जो-जो चेतन-अचेतन सामग्री उत्पन्न होती है वह सब आकर उत्पन्न हो गयी ॥९७॥ उसके समस्त दिशाओंके समूहको जीतनेवाला चक्ररत्न प्रकट हुआ। चक्ररत्नके प्रकट होते ही उस विजयीके लिए दिग्विजय करना नगरके बाहर घूमनेके समान सरल हो गया ॥९८॥ इस चक्रवर्तीके कारण कोई भी दुःखी नहीं था और यद्यपि वह छह खण्डका स्वामी था फिर भी परिग्रहमें इसकी आसक्ति नहीं थी। यथार्थमें पुण्य तो वही है जो पुण्य कर्मका बन्ध करनेवाला हो ॥९९॥ उसके साम्राज्यमें प्रजाको यदि दुःख था तो अपने अशुभकर्मोदयसे था और सुख था तो उस राजाके द्वारा सम्यक् रक्षा होनेसे था। यही कारण था कि प्रजा उसकी वन्दना करती थी ॥१००॥ देव और विद्याधर राजाओंके मुकुटोंके अग्रभागपर चमकनेवाले रत्नोंकी किरणोंको निष्प्रभ बनाकर उसकी उन्नत आज्ञा ही सुशोभित होती थी ॥१०१॥ यदि निरन्तर उदय रहनेवाले और कमलोंको आनन्दित करनेवाले सूर्यका बल प्राप्त नहीं होता तो इन्द्र स्वयं अधिपति होकर भी अपनी दिशाकी रक्षा कैसे करता ! ॥१०२॥ विधाता अवश्य ही बुद्धि-हीन है क्योंकि यदि वह बुद्धिहीन नहीं होता तो आग्नेय दिशाकी रक्षाके लिए अग्निको क्यों नियुक्त करता ? भला, जो अपने जन्मदाताको जलानेवाला है उससे भी क्या कहीं किसीकी रक्षा हुई है ? ॥१०३॥ क्या विधाता यह नहीं जानता था कि यमराज पालक है या मारक ? फिर भी उसने उसी सर्व-

---

१ कुलभूषणः क०, घ०। २ विधिर्वेधा ग०, ङ०, म०।

शुनः स्थाने स्थितो दीनो नित्यं यमसमीपगः । स्वजीवितेऽपि सन्देह्यो नैर्ऋतः कस्य पालकः ॥१०५॥
[1]कालळीलां विलव्यालं (?) पाशहस्तो [2]जलप्रियः। स [3]नदीनाश्रयः पाशी प्रजानां केन पालकः ॥१०६॥
धूमध्वजसखोऽस्थास्नुः स्वयमन्यांश्च चालयन् । पालकः स्थापितस्तादृक् स किमेकत्र तिष्ठति ॥१०७॥
लुब्धो न लभते पुण्यं विपुण्यः केन पालकः । धनेन चेददाता तत् गुह्यकोऽपि न पालकः ॥ १०८ ॥
ईशानोऽन्त्यां दशां यातो गणने सर्वपश्चिमः । पिशाचावेष्टितो दुष्टः कथमेष दिशः पतिः ॥ १०९ ॥
कृत्वैतान् बुद्धिवैकल्यात्तदप्रमार्ष्टुं प्रजापतिः । व्यधादेकमिमं मन्ये विश्वदिक्पालनक्षमम् ॥ ११० ॥
इत्युदात्तवचोमाला विरचय्याभिसंस्तुतः । विक्रमाक्रान्तदिक्चक्रः शक्रादीन् सोऽतिलङ्घते ॥ १११ ॥
धनं दानं मतिर्धर्मे शौर्यं भूताभिरक्षणे । आयुः सुखे तनुर्भोगे तस्य वृद्धिमयाच्चिरम् ॥ ११२ ॥
अपरायत्तमच्छिन्नमबाधमयवर्द्धनम् । गुणान्पुष्णन् वितृष्णः सन् सुखेन सुखमीयिवान् ॥ ११३ ॥
ऋतं वाचि दया चित्ते धर्मकर्मणि निर्मलः । स्वान् गुणान् वा प्रजाः पाति राजर्षिः केन नास्तु सः ।११४।
मान्ये नैसर्गिकं तस्य सौजन्यं कथमन्यथा । प्राणहारिणि पापेऽपि रिपौ नोपैति विक्रियाम् ॥ ११५ ॥
न हि मूलहरः कोऽपि नापि कोऽपि कदर्यकः । तादात्विकोऽपि तद्राज्ये सर्वे सद्व्ययकारिणः ॥ ११६ ॥

भक्षी पापीको दक्षिण दिशाका रक्षक बना दिया ॥१०४॥ जो कुत्तेके स्थानपर रहता है, दीन है, सदा यमराजके समीप रहता है और अपने जीवनमें भी जिसे सन्देह है ऐसा नैऋत किसकी रक्षा कर सकता है? ॥१०५॥ जो जल भूमिमें विद्यमान बिलमें मकरादि हिंसक जन्तुके समान रहता है, जिसके हाथमें पाश है, जो जलप्रिय है–जिसे जल प्रिय है (पक्षमें जिसे जड-मूर्ख प्रिय है) और जो नदीनाश्रय है—समुद्रमें रहता है (पक्षमें दीन मनुष्योंका आश्रय नहीं है) ऐसा वरुण प्रजाकी रक्षा कैसे कर सकता है? ॥१०६॥ जो अग्निका मित्र है, स्वयं अस्थिर है और दूसरोंको चलाता रहता है उस वायुको विधाताने वायव्य दिशाका रक्षक स्थापित किया सो ऐसा वायु क्या कहीं ठहर सकता है? ॥१०७॥ जो लोभी है वह कभी पुण्य-संचय नहीं कर सकता और जो पुण्यहीन है वह कैसे रक्षक हो सकता है जब कि कुबेर कभी किसीको धन नहीं देता तब उसे विधाताने रक्षक कैसे बना दिया? ॥१०८॥ ईशान अन्तिम दशाको प्राप्त है, गिनती उसकी सबसे पीछे होती है, पिशाचोंसे घिरा हुआ है और दुष्ट है इसलिए यह ऐशान दिशाका स्वामी कैसे हो सकता है? ॥१०९॥ ऐसा जान पड़ता है कि विधाताने इन सबको बुद्धिकी विकलतासे ही दिशाओंका रक्षक बनाया था और इस कारण उसे भारी अपयश उठाना पड़ा था। अब विधाताने अपना सारा अपयश दूर करनेके लिए ही मानो इस एक अजितसेनको समस्त दिशाओंका पालन करनेमें समर्थ बनाया था ॥११०॥ इस प्रकारके उदार वचनोंकी माला बनाकर सब लोग जिसकी स्तुति करते हैं और अपने पराक्रमसे जिसने समस्त दिशाओंको व्याप्त कर लिया है ऐसा अजितसेन इन्द्रादि देवोंका उल्लंघन करता था ॥१११॥ उसका धन दान देनेमें, बुद्धि धार्मिक कार्योंमें, शूरवीरता प्राणियोंकी रक्षामें, आयु सुखमें और शरीर भोगोपभोगमें सदा वृद्धिको प्राप्त होता रहता था ॥११२॥ उसके पुण्यकी वृद्धि दूसरेके अधीन नहीं थी, कभी नष्ट नहीं होती थी और उसमें किसी तरहकी बाधा नहीं आती थी। इस प्रकार वह तृष्णारहित होकर गुणोंका पोषण करता हुआ बड़े आरामसे सुखको प्राप्त होता था ॥११३॥ उसके वचनोंमें सत्यता थी, चित्तमें दया थी, धार्मिक कार्योंमें निर्मलता थी, और प्रजाकी अपने गुणोंके समान रक्षा करता था फिर वह राजर्षि क्यों न हो? ॥११४॥ मैं तो ऐसा मानता हूँ कि सुजनता उसका स्वाभाविक गुण था। यदि ऐसा न होता तो प्राण हरण करनेवाले पापी शत्रुपर भी वह विकारको क्यों नहीं प्राप्त होता ॥११५॥ उसके राज्यमें न तो कोई मूलहर था–मूल पूँजीको खानेवाला था, न कोई कदर्य था–अतिशय कृपण था और

---

१ 'कालिकेलाबिलव्यालः' इति पाठो भवेत्। कलिलस्येयं जलस्य इयं कालिला सा चासौ इला च भूमिश्चेति कालिकेला तस्यां विद्यमानो बिलो गर्तसन्निभो नीचैःप्रदेशः तत्र विद्यमानो व्यालो मकरादिजन्तुरिव, इति तदर्थः। २ जलं प्रियो यस्य सः, पक्षे डलयोरभेदात् जडो मूर्खः प्रियो यस्य सः। ३ नदीनामिनः स्वामी नदीनः समुद्रः स आश्रयो यस्य स, पक्षे न दीनानाम् आश्रय इति नदीनाश्रयः 'सह सुपा' इत्यनेन समासः।

इति तस्मिन् महीं पाति सौराज्ये सति भूपतौ । प्रजाः प्रजापतिं मत्वा तमैधन्त सुमेधसम् ॥११७॥
रत्नानि निधयश्चास्य चतुर्दश नवाभवन् । नवयौवनसंप्राप्तौ प्राप्तपुण्योदयात् प्रभोः ॥११८॥
भाजनं भोजनं शय्या चमूर्वाहनमासनम् । निधीरत्नं पुरं नाट्यमिति भोगान्दशान्वभूत् ॥११९॥
श्रद्धादिगुणसंपन्नः स कदाचिन्महीपतिः । अरिन्दमाय दत्वान्नं सतं मासोपवासिने ॥१२०॥
गृहीतनवपुण्यात्मा वसुधारादिपञ्चकम् । प्रापाश्चर्यमनाप्यं किं सदनुष्ठानतत्परैः ॥१२१॥
असौ मनोहरोद्याने गुणप्रभजिनेश्वरम्[१] । परेद्युः प्राप्य तत्प्रोक्तं धर्मसारं रसायनम् ॥१२२॥
पीत्वा [२]स्वभवसम्बन्धश्रुतिबन्धुप्रचोदितः । सद्यो निर्विद्य साम्राज्यं वितीर्य जितशत्रवे ॥१२३॥
त्रैलोक्यजयिनं जेतुं मोहराजं कृतोद्यमः । [३]राजभिर्बहुभिः सार्द्धं गृहीत्वा साधनं तपः ॥१२४॥
चरित्वा निरतीचारं तनुं त्यक्त्वायुषोऽवधौ । नभस्तिलकगिर्यग्रे शान्तकारविमानगः ॥१२५॥
अच्युतेन्द्रोऽजनिष्टासवार्द्धिद्वाविंशतिस्थितिः । हस्तत्रयप्रमाणात्तनिर्धातुतनुभास्करः ॥१२६॥
शुक्ललेश्यः श्वसन्मासैरेकादशभिराहरन् । द्वाविंशतिसहस्राब्दैर्मनसा[४]ऽऽहारमामरम् ॥१२७॥
तमःप्रभावधिव्याप्तदेशावधिविलोचनः । तत्क्षेत्रव्यापिसत्तेजोबलोत्तरशरीरभाक् ॥१२८॥
दिव्यभोगांश्चिरं भुक्त्वा स्वायुरन्ते विशुद्धदृक् । [५]प्राग्भागधातकीखण्डे सीतादक्षिणकूलगे ॥१२९॥
विषये मङ्गलावत्यां रत्नसंचय[६]पूःपतिः । देव्यां कनकमालायां वल्लभः कनकप्रभः ॥१३०॥

न कोई तादात्विक था—भविष्यत्का विचार न रख वर्तमानमें ही मौज उड़ानेवाला था, किन्तु सभी समीचीन कार्योंमें खर्च करनेवाले थे ॥११६॥ इस प्रकार जब वह राजा पृथिवीका पालन करता था तब सब ओर सुराज्य हो रहा था और प्रजा उस बुद्धिमान् राजाको ब्रह्मा मानकर वृद्धि को प्राप्त हो रही थी ॥११७॥ जब नव यौवन प्राप्त हुआ तब उस राजाके पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मके उदयसे चौदह रत्न और नौ निधियाँ प्रकट हुई थीं ॥११८॥ भाजन, भोजन, शय्या, सेना, सवारी, आसन, निधि, रत्न, नगर और नाट्य इन दश भोगोंका वह अनुभव करता था ॥११९॥ श्रद्धा आदि गुणोंसे सम्पन्न उस राजाने किसी समय एक माहका उपवास करनेवाले अरिन्दम नामक साधुके लिए आहार-दान देकर नवीन पुण्यका बन्ध किया तथा रत्न-वृष्टि आदि पंचाश्चर्य प्राप्त किये सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम कार्यों के करनेमें तत्पर रहनेवाले मनुष्योंको क्या दुर्लभ है ? ॥१२०–१२१॥ दूसरे दिन वह राजा, गुणप्रभ जिनेन्द्रकी वन्दना करनेके लिए मनोहर नामक उद्यानमें गया। वहाँ उसने जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए श्रेष्ठ धर्मरूपी रसायनका पान किया, अपने पूर्व भवके सम्बन्ध सुने, जिनसे भाईके समान प्रेरित हो शीघ्र ही वैराग्य प्राप्त कर लिया। वह जितशत्रु नामक पुत्रके लिए राज्य देकर त्रैलोक्यविजयी मोह राजाको जीतनेके लिए तत्पर हो गया तथा बहुत-से राजाओंके साथ उसने तप धारण कर लिया। इस प्रकार निरतिचार तप तपकर आयु के अन्तमें वह नभस्तिलक नामक पर्वतके अग्रभागपर शरीर छोड़ सोलहवें स्वर्गके शान्तकार विमानमें अच्युतेन्द्र हुआ। वहाँ उसकी बाईस सागरकी आयु थी, तीन हाथ ऊँचा तथा धातु-उपधातुओंसे रहित देदीप्यमान शरीर था, शुक्ललेश्या थी, वह ग्यारह माहमें एक बार श्वास लेता था, बाईस हजार वर्ष बाद एक बार अमृतमयी मानसिक आहार लेता था, उसके देशावधिज्ञान-रूपी नेत्र छठीं पृथिवी तकके पदार्थों तकको देखते थे, उसका समीचीन तेज, बल तथा वैक्रियिक शरीर भी छठीं पृथिवी तक व्याप्त हो सकता था ॥१२२–१२८॥ इस प्रकार निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला वह अच्युतेन्द्र चिरकाल तक स्वर्गके सुख भोग आयुके अन्तमें कहाँ उत्पन्न हुआ यह कहते हैं ॥१२९॥

पूर्व धातकीखण्ड द्वीपमें सीता नदीके दाहिने तटपर एक मङ्गलावती नामका देश था। उसके रत्नसंचय नगरमें कनकप्रभ राजा राज्य करते थे। उनकी कनकमाला नामकी रानी थी। वह अहमिन्द्र उन दोनों दम्पतियोंके शुभ स्वप्नों-द्वारा अपनी सूचना देता हुआ पद्मनाभ नामका पुत्र

---

१ जिनेशितम् ल० । २ स्वभाव क०, घ० । स्वभवः ख०, ग०, ल० । ३ रामाभिः ख० । ४ मनिसाहार–क०, ख०, घ० । ५ प्राग्भागे ल० । ६ रत्नसंचयभूपतिः ख० ।

पद्मनाभः सुतो जातस्तयोः सुस्वप्नपूर्वकम् । बालानुकूलपर्युष्टिविशेषैः सोऽभ्यवर्द्धत ॥ १३१ ॥
उपयोगक्षमाशेषपर्याप्तिपरिनिष्ठितम् । आरोप्य तं व्रतं राजा विद्यागृहमवीविशत् ॥ १३२ ॥
अभिजातपरीवारो दासहस्तिपकादिकान् । दूरीकृत्य स निःशेषा विद्याः शिक्षितुमुद्ययौ ॥ १३३ ॥
तथेन्द्रियततिस्तेन पराजीयत सा यथा । निजार्थैः सर्वभावेन तनोति प्रीतिमात्मनः ॥ १३४ ॥
स धीमान् वृद्धसंयोगं व्यधाद् विनयवृद्धये । [1]विनयः शास्त्रनिर्णीतः कृत्रिमः सहजोऽपरः ॥ १३५ ॥
तं संपूर्णकलं प्राप्य कान्तं सहजकृत्रिमौ । राजानं गुरुशुक्रौ वा रेजतुर्विनयौ भृशम् ॥ १३६ ॥
स धीमान् षोडशे वर्षे विरेजे प्राप्य यौवनम् । वनं सुष्ठु विनीतात्मा संयतो वा जितेन्द्रियः ॥१३७॥
रूपान्वयवयःशिक्षासंपन्नं तमविक्रियम्[2] । [3]भद्रं गजं विनीतात्मा[4] समालोक्य मुदा पिता ॥ १३८ ॥
विद्यापूजां विधायास्य जिनपूजापुरःसरम् । संस्कृतस्येव रत्नस्य व्यधाद् बुद्धिं क्रियान्तरे ॥ १३९ ॥
कलाभिरिव बालेन्दुं शुद्धपक्षसमाश्रयात् । रम्यं राजा तमूर्जो[5] वा प्रमदाभिरपूरयन् ॥ १४० ॥
तस्य सोमप्रभादीनां देवीनामभवन् सुताः । शुभाः सुवर्णनाभाद्याः भास्करस्येव [6]भानवः ॥ १४१ ॥
पुत्रपौत्रादिभिः श्रीमान् परीतः कनकप्रभः । स्वराज्यं पालयन्नेवं सुखेनान्येद्युरुद्धधीः ॥ १४२ ॥
मनोहरवने धर्मं श्रीधराज्जिनपुङ्गवात् । श्रुत्वा संयोज्य साम्राज्यं सूनौ संयम्य निर्वृतः ॥ १४३ ॥
पद्मनाभश्च तत्रैव गृहीतोपासकव्रतः । [7]तन्त्रावापगतव्यासममात्यैः संप्रवर्तयन् ॥ १४४ ॥

उत्पन्न हुआ। पद्मनाभ, बालकोचित सेवा-विशेषके द्वारा निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होता रहता था ॥१३०-१३१॥ उपयोग तथा क्षमा आदि सब गुणोंकी पूर्णता हो जानेपर राजाने उसे व्रत देकर विद्यागृहमें प्रविष्ट कराया ॥१३२॥ कुलीन विद्वानोंके साथ रहनेवाला वह राजकुमार, दास तथा महावत आदिको दूर कर अर्थात् इनकी अनेक कलाओंको छोड़कर अन्य समस्त विद्याओंके सीखनेमें उद्यम करने लगा ॥१३३॥ उसने इन्द्रियोंके समूहको इस प्रकार जीत रखा था कि वे इन्द्रियाँ सब रूपसे अपने विषयोंके द्वारा केवल आत्माके साथ ही प्रेम बढ़ाती थीं ॥१३४॥ वह बुद्धिमान् विनयकी वृद्धिके लिए सदा वृद्धजनोंकी संगति करता था। शास्त्रोंसे निर्णय कर विनय करना कृत्रिम विनय है और स्वभावसे ही विनय करना स्वाभाविक विनय है ॥१३५॥ जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमाको पाकर गुरु और शुक्र ग्रह अत्यन्त सुशोभित होते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण कलाओंको धारण करनेवाले अतिशय सुन्दर उस राजकुमारको पाकर स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों प्रकारके विनय अतिशय सुशोभित हो रहे थे ॥१३६॥ वह बुद्धिमान् राजकुमार सोलहवें वर्षमें यौवन प्राप्त कर ऐसा सुशोभित हुआ जैसा कि विनयवान् जितेन्द्रिय संयमी वनको पाकर सुशोभित होता है ॥१३७॥ जिस प्रकार भद्र जातिके हाथीको देखकर उसका शिक्षक हर्षित होता है उसी प्रकार रूप, वंश, अवस्था और शिक्षासे सम्पन्न तथा विकारसे रहित पुत्रको देखकर पिता बहुत ही हर्षित हुए। उन्होंने जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजाके साथ उसकी विद्याका आदर किया तथा संस्कार किये हुए रत्नके समान उसकी बुद्धि दूसरे कार्यमें लगायी ॥१३८-१३९॥ जिस प्रकार शुद्धपक्ष-शुक्लपक्षके आश्रयसे कलाओंके द्वारा बालचन्द्रको पूर्ण किया जाता है उसी प्रकार बलवान् राजाने उस सुन्दर पुत्रको अनेक स्त्रियोंसे पूर्ण किया था अर्थात् उसका अनेक स्त्रियोंके साथ विवाह किया था ॥१४०॥ जिस प्रकार सूर्यके किरणें उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार उसकी सोमप्रभा आदि रानियोंके सुवर्णनाभ आदि शुभ पुत्र उत्पन्न हुए ॥१४१॥ इस प्रकार पुत्र-पौत्रादिसे घिरे हुए श्रीमान् और बुद्धिमान् राजा कनकप्रभ सुखसे अपने राज्यका पालन करते थे ॥१४२॥

किसी दिन उन्होंने मनोहर नामक वनमें पधारे हुए श्रीधर नामक जिनराजसे धर्मका स्वरूप सुनकर अपना राज्य पुत्रके लिए दे दिया तथा संयम धारण कर क्रम-क्रमसे निर्वाण प्राप्त कर लिया ॥१४३॥ पद्मनाभने भी उन्हीं जिनराजके समीप श्रावकके व्रत लिये तथा मन्त्रियोंके साथ

---

१ विनीतः ख० । २ तमविक्रियः ल० । ३ भद्राङ्गजं क०, ग०, घ० । ४ विनेता वा क०, ख०, ग०, घ० । ५ तमूर्जी वा० ग० । ६ भाजनम् ग० । ७ 'तन्त्रः स्वराष्ट्रचिन्तायामावापः परचिन्तनम्' ।

विश्रम्भहाससंस्पर्शविनोदैरतिपेशलैः । कामिनीनां कलालापैः [1]सविलोलैर्विलोकनैः ॥ १४५ ॥
अनङ्गपूर्वरङ्गस्य पुष्पाञ्जलिनिभैः[2] शुभैः । समप्रेमसमुत्पन्नैः प्रसादं प्राप चेतसः ॥ १४६ ॥
कामकल्पद्रुमोद्भूतं परिपक्वं फलोत्तमम् । रामाप्रेमोपनीतं सा[3] सीमाऽऽसीत्तस्य निर्वृतेः ॥ १४७ ॥
प्राक्तनोपात्तपुण्यस्य फलमेतदिति स्फुटम् । प्रबोधयन्नसौ मूढान्सुधीर्दीप्तिरभूत् सुखी ॥ १४८ ॥
सोऽपि श्रीधरसान्निध्ये बुद्ध्वा धर्मं बुधोत्तमः । संसारमोक्षयाथात्म्यमात्मन्येवमचिन्तयत् ॥ १४९ ॥
यावदौदयिको भावस्तावत्संसृतिरात्मनः । स च कर्माणि तत्कर्म तावद्यावत्सकारणम् ॥ १५० ॥
कारणान्यपि पञ्चैव मिथ्यात्वादीनि कर्मणः । मिथ्यात्वे सत्यवश्यं स्यात्तत्र शेषं चतुष्टयम् ॥ १५१ ॥
असंयमे त्रयं द्वे स्तः प्रमादे योगसंज्ञकम्[4] । कषाये निःकषायस्य योग एव हि बन्धकृत् ॥ १५२ ॥
स्वस्मिन् स्वस्मिन् गुणस्थाने मिथ्यात्वादेर्विनाशनात् । स्वहेतोस्तत्कृतो बन्धस्तत्र तत्र विनश्यति ॥ १५३ ॥
सदादित्रितयं नंक्ष्यत् पश्चात्तच्च स्वकालतः । आपर्यन्तगुणस्थानात्तत्क्षयात्संसृतेः क्षयः ॥ १५४ ॥
संसारे प्रलयं याते पापे जन्मादिलक्षणे । क्षायिकैरात्मनो भावैरात्मन्यात्मा समेधते ॥ १५५ ॥
इति तत्त्वं जिनोद्दिष्टमजानानोऽन्धवच्चिरम् । भ्रान्तः संसारकान्तारे दुर्गे दुःखी[5] दुरन्तके ॥ १५६ ॥
असंयमादिकं सर्वमुज्झित्वा कर्मकारणम् । शुद्धश्रद्धादिमोक्षाङ्गपञ्चकं समुपैम्यहम् ॥ १५७ ॥

स्वराष्ट्र और पर-राष्ट्रकी नीतिका विचार करता हुआ वह सुखसे रहने लगा ॥१४४॥ परस्परके समान प्रेमसे उत्पन्न हुए और कामदेवके पूर्व रंगकी शुभ पुष्पांजलिके समान अत्यन्त कोमल स्त्रियोंकी विनय, हँसी, स्पर्श, विनोद, मनोहर बातचीत और चंचल चितवनोंके द्वारा वह चित्त की परम प्रसन्नताको प्राप्त होता था ॥१४५–१४६॥ कामदेव रूपी कल्प-वृक्षसे उत्पन्न हुए, स्त्रियोंके प्रेमसे प्राप्त हुए और पके हुए भोगोपभोग रूपी उत्तम फल राजा पद्मनाभके सुखकी सीमा हुए थे ॥१४७॥ ये सब भोगोपभोग पूर्वभवमें किये हुए पुण्यकर्मके फल हैं इस प्रकार मूर्ख मनुष्योंको स्पष्ट रीतिसे बतलाता हुआ वह तेजस्वी पद्मनाभ सुखी हुआ था ॥१४८॥ विद्वानोंमें श्रेष्ठ पद्मनाभ भी, श्रीधर मुनिके समीप धर्मका स्वरूप जानकर अपने हृदयमें संसार और मोक्षका यथार्थ स्वरूप इस प्रकार विचारने लगा ॥१४९॥ उसने विचार किया कि 'जब तक औदयिक भाव रहता है तब तक आत्माको संसार-भ्रमण करना पड़ता है, औदयिक भाव तब तक रहता है जब तक कि कर्म रहते हैं और कर्म तब तक रहते हैं जब तक कि उनके कारण विद्यमान रहते हैं ॥१५०॥ कर्मोंके कारण मिथ्यात्वादिक पाँच हैं। उनमें-से जहाँ मिथ्यात्व रहता है वहाँ बाकी के चार कारण अवश्य रहते हैं ॥१५१॥ जहाँ असंयम रहता है वहाँ उसके सिवाय प्रमाद, कषाय और योग ये तीन कारण रहते हैं। जहाँ प्रमाद रहता है वहाँ उसके सिवाय योग और कषाय ये दो कारण रहते हैं। जहाँ कषाय रहती है वहाँ उसके सिवाय योग कारण रहता है और जहाँ कषायका अभाव है वहाँ सिर्फ योग ही बन्धका कारण रहता है ॥१५२॥ अपने-अपने गुणस्थानमें मिथ्यात्वादि कारणोंका नाश होनेसे वहाँ उनके निमित्तसे होनेवाला बन्ध भी नष्ट हो जाता है ॥१५३॥ पहले सत्ता, बन्ध और उदय नष्ट होते हैं, उनके पश्चात् चौदहवें गुण स्थान तक अपने-अपने कालके अनुसार कर्म नष्ट होते हैं तथा कर्मोंके नाश होनेसे संसारका नाश हो जाता है ॥१५४॥ जो पाप रूप है और जन्म-मरण ही जिसका लक्षण है ऐसे संसारके नष्ट हो जानेपर आत्माके क्षायिक भाव ही शेष रह जाते हैं। उस समय यह आत्मा अपने आपमें उन्हीं क्षायिक भावोंके साथ बढ़ता रहता है ॥१५५॥ इस प्रकार जिनेन्द्र देवके द्वारा कहे हुए तत्त्वको नहीं जाननेवाला यह प्राणी, जिसका अन्त मिलना अत्यन्त कठिन है ऐसे संसाररूपी दुर्गम वनमें अन्धेके समान चिरकालसे भटक रहा है ॥१५६॥ अब मैं असंयम आदि कर्मबन्धके समस्त कारणोंको छोड़कर शुद्ध श्रद्धान आदि मोक्षके पाँचों कारणोंको प्राप्त होता हूँ—धारण करता हूँ' ॥१५७॥

---

१ सविलासैर्विलोकनैः ख० । २ निभः ल० । ३ सत्समासीत्तस्य क०, घ० । तत्सीमासीत्तस्य ख० । ४ योगसंज्ञके ल० । ५ दुःखे ख० ।

इत्यन्तस्तत्त्वतो ज्ञात्वा पद्मनाभो हिताहिते । दत्त्वा सुवर्णनाभाय [1]प्रभावं बाह्यसंपदः ॥ १५८ ॥
राजभिर्बहुभिः सार्धं संयमं प्रतिपद्य सः । समाचरंश्चतुर्भेदे प्रसिद्धे मुक्तिसाधने ॥ १५९ ॥
दृग्बष्टकारणसंप्राप्तभावनो नामतीर्थकृत् । स्वीकृत्यैकादशाङ्गाब्धिपारगः परमं तपः ॥ १६० ॥
सिंहनिष्क्रीडिताद्युग्रं विधायाबुधदुस्तरम्[2] । कालान्ते सम्यगाराध्य समुत्सृष्टशरीरकः ॥ १६१ ॥
वैजयन्ते त्रयस्त्रिंशत्सागरायुरजायत । पूर्वोक्तदेहलेश्यादिविशेषो दिव्यसौख्यभाक् ॥ १६२ ॥
तस्मिन् षण्मासशेषायुष्या[3]गमिष्यति भूतले । द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे नृपश्चन्द्रपुराधिपः[4] ॥ १६३ ॥
इक्ष्वाकुः काश्यपो वंशगोत्राभ्यामद्भुतोदयः । महासेनो महादेवी लक्ष्मणा स्वगृहाङ्गणे ॥ १६४ ॥
वसुधारां सुरैः प्राप्ता देवीभिः परिवारिता । दिव्यवस्त्रस्रगालेपशयनादिसुखोचिता ॥ १६५ ॥
चैत्रस्य कृष्णपञ्चम्यां स्वप्नान् याममनोहरे । दृष्ट्वा षोडश संतुष्य समुत्थायोदिते रवौ ॥ १६६ ॥
[5]पुण्यप्रसाधनोपेता [6]स्ववक्त्रार्पितसम्मदा । स्वप्नान् सिंहासमासीनं स्वानवाजीगमत् पतिम् ॥ १६७ ॥
सोऽपि स्वावधिबोधेन तत्फलानि पृथक् पृथक् । राज्ञ्यै निवेदयामास सापि सन्तोषसंभृता ॥ १६८ ॥
कान्तिं लज्जां धृतिं कीर्तिं बुद्धिं सौभाग्यसंपदम् । श्रीह्रीधृत्यादिदेवीषु वर्धयन्तीषु संततम् ॥१६९॥
[7]पौषासितैकादश्यां सा शक्रयोगे सुरार्चितम् । अहमिन्द्रमतर्क्यामं त्रिबोधमुपपादयत् ॥ १७० ॥
तदैवाभ्येत्य नाकीशो महामन्दरमस्तके । सिंहासनं समारोप्य सुस्नाप्य क्षीरवारिभिः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार अन्तरंगमें हिताहितका यथार्थ स्वरूप जानकर पद्मनाभने बाह्य सम्पदाओंकी प्रभुता सुवर्णनाभके लिए दे दी और बहुत-से राजाओंके साथ दीक्षा धारण कर ली। अब वह मोक्षके कारणभूत चारों आराधनाओंका आचरण करने लगा, सोलह कारण-भावनाओंका चिन्तवन करने लगा तथा ग्यारह अंगोंका पारगामी बनकर उसने तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया। जिसे अज्ञानी जीव नहीं कर सकते ऐसे सिंहनिष्क्रीडित आदि कठिन तप उसने किये और आयुके अन्तमें समाधिमरण-पूर्वक शरीर छोड़ा जिससे वैजयन्त विमानमें तैंतीस सागर की आयुका धारक अहमिन्द्र हुआ। उसके शरीरका प्रमाण तथा लेश्यादिकी विशेषता पहले कहे अनुसार थी। इस तरह वह दिव्य सुखका उपभोग करता हुआ रहता था ॥१५८–१६२॥

तदनन्तर जब उसकी आयु छह माहकी बाकी रह गयी तब इस जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें एक चन्द्रपुर नामका नगर था। उसमें इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री तथा आश्चर्यकारी वैभवको धारण करनेवाला महासेन नामका राजा राज्य करता था। उसकी महादेवीका नाम लक्ष्मणा था। लक्ष्मणाने अपने घरके आंगनमें देवोंके द्वारा बरसायी हुई रत्नोंकी धारा प्राप्त की थी। श्री ह्री आदि देवियाँ सदा उसे घेरे रहती थीं। देवोपनीत वस्त्र, माला, लेप तथा शय्या आदि सुखोंका समुचित उपभोग करनेवाली रानीने चैत्रकृष्ण पंचमीके दिन पिछली रात्रिमें सोलह स्वप्न देखकर सन्तोष लाभ किया। सूर्योदयके समय उसने उठकर अच्छे-अच्छे वस्त्राभरण धारण किये तथा प्रसन्नमुख होकर सिंहासन पर बैठे हुए पतिसे अपने सब स्वप्न निवेदन किये ॥ १६३–१६७ ॥ राजा महासेनने भी अवधिज्ञानसे उन स्वप्नोंका फल जानकर रानीके लिए पृथक्-पृथक् बतलाया जिन्हें सुनकर वह बहुत ही हर्षित हुई ॥ १६८ ॥ श्री ह्री धृति आदि देवियाँ उसकी कान्ति, लज्जा, धैर्य, कीर्ति, बुद्धि और सौभाग्य-सम्पत्तिको सदा बढ़ाती रहती थीं ॥ १६९ ॥ इस प्रकार कितने ही दिन व्यतीत हो जानेपर उसने पौषकृष्ण एकादशीके दिन शक्रयोगमें देव पूजित, अचिन्त्य प्रभाके धारक और तीन ज्ञानसे सम्पन्न उस अहमिन्द्र पुत्रको उत्पन्न किया ॥१७०॥ उसी समय इन्द्रने आकर महामेरुके शिखरपर विद्यमान सिंहासनपर उक्त जिन-बालकको विराजमान किया, क्षीरसागरके जलसे उनका अभिषेक किया, सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित किया, तीन लोकके राज्यकी कण्ठी बाँधी और फिर प्रसन्नतासे हजार

---

१ प्रभावं राज्यसम्पदः ग० । प्राभवं राज्यसंपदः क०, ख०, घ० । २ विधायाबुधदुस्तरम् ल० । ३ शेषायुषा क० । ४ चन्द्रपुराधिपः क०, घ० । ५ पुण्यप्रसाधनोपेतो क०, ख०, ग०, घ० । ६ स्ववक्त्रार्पितसंमदा क० । ७ पौषे सितैकादश्यन्ते ग० ।

विभूष्य भूषणैः सर्वैर्दृष्ट्वा त्रैलोक्यकण्ठिकाम् । मुदा वीक्ष्य सहस्राक्षो व्यवहारप्रसिद्धये ॥ १७२ ॥
कुलं कुवलयस्यास्य संभवे विकसत्तराम् । यतस्ततश्चकाराख्यां साथ चन्द्रप्रभं प्रभोः ॥ १७३ ॥
आनन्दनाटकं चास्य निर्वर्त्याग्रे शचीपतिः । पुनरानीय तत्पित्रोरर्पयित्वा जगत्पतिम् ॥ १७४ ॥
भोगोपभोगयोग्यैस्तु वस्तुभिः परिचर्यताम् । भगवानिति संदिश्य यक्षेशं स्वाश्रयं ययौ ॥ १७५ ॥
प्रबोधमहतां स्त्रीत्वमपि निन्द्यं जगत्पतेः । लोकोपकारिणः प्रासेः सपुण्यां लक्ष्मणामिमाम् ॥ १७६ ॥
पावनीं स्तुवतां नीत्वा देवाश्चापन् महाफलम् । स्त्रीतेदृशी वरिष्ठेति मेनिरेऽनिमिषाङ्गनाः ॥ १७७ ॥
गतेऽनन्तरसन्ताने सागरोपमकोटिभिः । शतैर्नवभिरेषोऽभूत्तदभ्यन्तरजीवितः ॥ १७८ ॥
शून्यषट्कैकपूर्वायुः सार्द्धचापशतोच्छ्रितिः । अवर्द्धतेव शीतांशुः कलाशेषो जगन्नुतः ॥ १७९ ॥
इतः स्वामिंस्त्वमेहीति कुतूहलविलासिनी । प्रसारितकरन्यस्तसत्कराम्भोजसमाश्रयः ॥ १८० ॥
अकारणसमुद्भूतस्मितकान्तमुखाम्बुजः । कदाचित्प्रस्खलत्पादविन्यासो मणिकुट्टिमे ॥ १८१ ॥
इत्यादितद्वयोयोग्यमुग्धशुद्धविचेष्टितैः । नीत्वा बाल्यं स कौमारमाप प्रार्थ्यं सुखार्थिभिः ॥ १८२ ॥
अमृतैस्तनुमेतस्य[1] कृतां मन्यामहे वयम् । वेधसेति जनालापाः प्रवर्तन्ते स्म कौतुकात् ॥ १८३ ॥
आधिक्याद्भावलेश्येव निर्गतेवेक्षयाश्रियाम् । द्रव्यलेश्या व्यभासिष्ट जित्वा पूर्णेन्दुजद्युतिम् ॥ १८४ ॥
यशसा लेश्यया चास्य ज्योतिषां छादिता द्युतिः । भोगभूमिर्निवृत्तेति प्रतोषमकरोज्जनः ॥ १८५ ॥*

नेत्र बनाकर उन्हें देखा। उनके उत्पन्न होते ही यह कुवलय अर्थात् पृथ्वी-मण्डलका समूह अथवा नील-कमलोंका समूह अत्यन्त विकसित हो गया था इसलिए इन्द्रने व्यवहारकी प्रसिद्धिके लिए उनका 'चन्द्रप्रभ' यह सार्थक नाम रखा ॥१७१-१७३॥ इन्द्रने इन त्रिलोकीनाथके आगे आनन्द नामक नाटक किया। तदनन्तर उन्हें लाकर उनके माता-पिताके लिए सौंप दिया ॥१७४॥ 'तुम भोगोपभोगकी योग्य वस्तुओंके द्वारा भगवान्की सेवा करो' इस प्रकार कुबेरके लिए सन्देश देकर इन्द्र अपने स्थानपर चला गया ॥१७५॥ यद्यपि विद्वान् लोग स्त्री-पर्यायको निन्द्य बतलाते हैं तथापि लोगोंका कल्याण करनेवाले जगत्पति भगवान्को धारण करनेसे यह लक्ष्मणा बड़ी ही पुण्यवती है, बड़ी ही पवित्र है,' इस प्रकार देव लोग उसकी स्तुति कर महान् फलको प्राप्त हुए थे तथा 'इस प्रकारकी स्त्री-पर्याय श्रेष्ठ है' ऐसा देवियोंने भी स्वीकृत किया था ॥१७६-१७७॥

भगवान् सुपार्श्वनाथके मोक्ष जानेके बाद जब नौ सौ करोड़ सागरका अन्तर बीत चुका तब भगवान् चन्द्रप्रभ उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु भी इसी अन्तरमें सम्मिलित थी ॥१७८॥ दश लाख पूर्वकी उनकी आयु थी, एक सौ पचास धनुष ऊँचा शरीर था, द्वितीयाके चन्द्रमाकी तरह वे बढ़ रहे थे तथा समस्त संसार उनकी स्तुति करता था ॥ १७९ ॥ 'हे स्वामिन्! आप इधर आइए' इस प्रकार कुतूहलवश कोई देवी उन्हें बुलाती थी। वे उसके फैलाये हुए हाथोंपर कमलोंके समान अपनी हथेलियाँ रख देते थे। उस समय कारणके बिना ही प्रकट हुई मन्द मुसकानसे उनका मुखकमल बहुत ही सुन्दर दिखता था। वे कभी मणिजटित पृथिवीपर लड़खड़ाते हुए पैर रखते थे ॥ १८०-१८१ ॥ इस प्रकार उस अवस्थाके योग्य भोलीभाली शुद्ध चेष्टाओंसे बाल्यकालको बिताकर वे सुखाभिलाषी मनुष्योंके द्वारा चाहने योग्य कौमार अवस्थाको प्राप्त हुए ॥ १८२ ॥ उस समय वहाँके लोगोंमें कौतुकवश इस प्रकार-की बातचीत होती थी कि हम ऐसा समझते हैं कि विधाताने इनका शरीर अमृतसे ही बनाया है ॥ १८३ ॥ उनकी द्रव्य लेश्या अर्थात् शरीरकी कान्ति पूर्ण चन्द्रमाकी कान्तिको जीत कर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो बाह्य वस्तुओंको देखनेके लिए अधिक होनेसे भावलेश्या ही बाहर निकल आयी हो ॥ भावार्थ—उनका शरीर शुक्ल था और भाव भी शुक्ल—उज्ज्वल थे ॥ १८४ ॥ उनके यश और लेश्यासे ज्योतिषी देवोंकी कान्ति छिप गयी थी इसलिए 'भोगभूमि लौट आयी है' यह समझकर लोग सन्तुष्ट होने लगे थे ॥ १८५ ॥ (ये बाल्य अवस्थासे ही

१–स्तनुरेतस्य क०, घ० ।

*१८५ तमश्लोकादग्रे क०-ख०-ग०-घ०-पुस्तकेष्वयं श्लोकोऽधिको वर्तते, ल० पुस्तके नास्ति– 'आबाल्यादेष पीयूषभोजी तेन तनुद्युतिः । अमानुषी हताशेषद्युतिरित्यब्रवीज्जनः' ॥

द्युतिस्तस्य द्युतिर्वाभात् मिश्रिता रविचन्द्रयोः । तत्सदा व्यकसन्मन्ये पद्मानि कुमुदान्यपि ॥ १८६ ॥
कुन्दहास्या गुणास्तस्य चन्द्रस्येवांशवोऽमलाः । विकासयन्ति भव्यानां मनःकुवलयावलिम् ॥ १८७ ॥
सहोत्पत्त्या श्रियोऽनेन सोदर्यन्दोरिति श्रुतिः । अजानद्भिर्जनैरेतदन्यथा परिकल्पितम् ॥ १८८ ॥
चन्द्रस्येवोदयेऽस्यापि[1] सर्वसंतापहारिणः । ह्लादते भासते वर्द्धते स्म लोको निराकुलः ॥ १८९ ॥
एतस्यैव गुणैर्लक्ष्मी मन्ये कीर्तिश्च निर्मला । कारणानुगुणं कार्यमिति सत्यं भवेद्यदि ॥ १९० ॥
महाविभूतिसंपन्नः [3]सज्जमज्जनमङ्गलः । सालङ्कारक्रियो[4] वेलां कदाचिदनयत् कृती ॥ १९१ ॥
वीणावाद्येन हृद्येन गीतैर्मुरजवादनैः[5] । कदाचिद्धनदानीतभूषावस्त्रावलोकनैः ॥ १९२ ॥
वादिप्रवाद्युपन्यस्तपक्षादिसुपरीक्षणैः । कुतूहलेक्षणायातभव्यलोकात्मदर्शनैः ॥ १९३ ॥
धर्मादयो व्यवर्द्धन्त गुणाः पापाद्ययास्तक्षयम् । कौमारेऽस्मिन् स्थितेऽप्येवं किं वाच्यं संयमे सति ॥ १९४ ॥
इति द्विलक्षपञ्चाशत्सहस्रप्रमितैर्गतैः । पूर्वैं राज्याभिषेकाप्त्या परमानन्दसुन्दरः ॥ १९५ ॥
नावतो मण्डलं राहोः स्वहस्ततलसंमितम् । किं तेजोऽर्कस्य तेजोऽस्य तेजस्त्रैलोक्यरक्षिणः ॥ १९६ ॥
शक्रादयोऽपि कैङ्कर्यं जन्मनः प्राग्वहन्ति चेत् । ऐश्वर्यादिभिरेषोऽन्यैर्वृतः कैरुपमीयताम् ॥ १९७ ॥
तले कपोलयोः स्त्रीणां छेदे वा दन्तिदन्तयोः । स विलोक्य स्मरस्मेरं स्वमुखं सुखमन्वियवान् ॥ १९८ ॥

अमृतका भोजन करते हैं अतः इनके शरीरकी कान्ति मनुष्योंसे भिन्न है तथा अन्य सबकी कान्तिको पराजित करती है।) उनके शरीरकी कान्ति ऐसी सुशोभित होती थी मानो सूर्य और चन्द्रमाकी मिली हुई कान्ति हो। इसीलिए तो उनके समीप निरन्तर कमल और कुमुद दोनों ही खिले रहते थे॥ १८६॥ कुन्दके फूलोंकी हँसी उड़ानेवाले उनके गुण चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल थे। इसीलिए तो वे भव्य जीवोंके मनरूपी नीलकमलोंके समूहको विकसित करते रहते थे॥ १८७॥ लक्ष्मी इन्हींके साथ उत्पन्न हुई थी इसलिए वह इन्हींकी बहन थी। 'लक्ष्मी चन्द्रमाकी बहन है' यह जो लोकमें प्रसिद्धि है वह अज्ञानी लोगोंने मिथ्या कल्पना कर ली है॥ १८८॥ जिस प्रकार चन्द्रमाका उदय होनेपर यह लोक हर्षित हो उठता है, सुशोभित होने लगता है और निराकुल होकर बढ़ने लगता है उसी प्रकार सब प्रकारके सन्तापको हरनेवाले चन्द्रप्रभ भगवान्‌का जन्म होनेपर यह सारा संसार हर्षित हो रहा है, सुशोभित हो रहा है और निराकुल होकर बढ़ रहा है॥ १८९॥ 'कारणके अनुकूल ही कार्य होता है' यदि यह लोकोक्ति सत्य है तो मानना पड़ता है कि इनकी लक्ष्मी और कीर्ति इन्हींके गुणोंसे निर्मल हुई थीं। भावार्थ—उनके गुण निर्मल थे अतः उनसे जो लक्ष्मी और कीर्ति उत्पन्न हुई थी वह भी निर्मल ही थी॥ १९०॥ जो बहुत भारी विभूतिसे सम्पन्न हैं, जो स्नान आदि मांगलिक कार्योंसे सजे रहते हैं और अलंकारोंसे सुशोभित हैं ऐसे अतिशय कुशल भगवान् कभी-कभी मनोहर वीणा बजाते थे, मृदंग आदि बाजोंके साथ गाना गाते थे, कभी कुबेरके द्वारा लाये हुए आभूषण तथा वस्त्र आदि देखते थे, कभी वादी-प्रतिवादियोंके द्वारा उपस्थापित पक्ष आदिकी परीक्षा करते थे और कभी कुतूहलवश अपना दर्शन करनेके लिए आये हुए भव्य जीवोंको दर्शन देते थे इस प्रकार अपना समय व्यतीत करते थे॥ १९१-१९३॥ जब भगवान् कौमार अवस्थामें ही थे तभी धर्म आदि गुणोंकी वृद्धि हो गयी थी और पाप आदिका क्षय हो गया था, फिर संयम धारण करनेपर तो कहना ही क्या है?॥ १९४॥ इस प्रकार दो लाख पचास हजार पूर्व व्यतीत होनेपर उन्हें राज्याभिषेक प्राप्त हुआ था और उससे वे बहुत ही हर्षित तथा सुन्दर जान पड़ते थे॥ १९५॥ जो अपनी हथेलीप्रमाण मण्डलकी राहुसे रक्षा नहीं कर सकता ऐसे सूर्यका तेज किस कामका? तेज तो इन भगवान् चन्द्रप्रभका था जो कि तीन लोककी रक्षा करते थे॥ १९६॥ जिनके जन्मके पहले ही इन्द्र आदि देव किंकरता स्वीकृत कर लेते हैं ऐसे अन्य ऐश्वर्य आदिसे घिरे हुए इन चन्द्रप्रभ भगवान्‌को किसकी उपमा दी जाय?॥ १९७॥ वे

१ चन्द्रस्येवोदयस्यापि ल०। २ माप्या ल०। ३ मान्यमज्जनमङ्गलः ख०, ग०। • सज्जं सावधानीकृतं मज्जनं मङ्गलस्नानं यस्य सः इति क-पुस्तके टिप्पणी। ४ सालङ्कारक्रियां ख०। ५ मुरजवादिभिः ल०।

विलोकिनीनां कान्तानामुत्सुकानां विलासकृत् । त्यागीव स सुखी जातः [1]स्ववक्त्ररसतर्पणात् ॥ १९९ ॥
नान्तरायः परं तस्य कान्तावक्त्राब्जवीक्षणे । जातपङ्केरुहाशङ्कैर्भ्रमद्भिर्भ्रमरैर्विना ॥ २०० ॥
मधुपैश्चपलैर्लोलैर्युक्तायुक्ताविचारकैः । मलिनैः किमकर्तव्यं प्रवेशो यदि लभ्यते ॥ २०१ ॥
खचतुष्केन्द्रियर्तूक्तैः पूर्वैः साम्राज्यसंपदः । चतुर्विंशतिपूर्वाङ्गैः संमितां भगवत्सुखम् ॥ २०२ ॥
सत्यां प्रयाति कालेऽसावलङ्कारगृहेऽन्यदा । प्रपश्यन् वदनाम्भोजं दर्पणागतमात्मनः ॥ २०३ ॥
[2]तत्रावधार्य निर्वेदहेतुं कंचिन्मुखे स्थितम् । पातुकः पश्य कायोऽयमीतयः प्रीतयोऽप्यमूः ॥ २०४ ॥
किं सुखं यदि न स्वस्मात्का लक्ष्मीश्चेदियं चला । किं यौवनं यदि ध्वंसि किमायुर्यदि सावधि ॥ २०५ ॥
सबन्धो बन्धुभिः कोऽसौ चेद्वियोगपुरस्सरः । स एवाहं त एवार्थास्तान्येव करणान्यपि ॥ २०६ ॥
प्रीतिः सैवानुभूतिश्च वृत्तिश्चास्यां भवावनौ[3] । परिवृत्तमिदं सर्वं पुनः पुनरनन्तरम् ॥ २०७ ॥
तत्र किं जातमप्येष्यत्काले किं वा भविष्यति । इति जानन्नहं चास्मिन्मोमुह्यामि मुहुर्मुहुः ॥ २०८ ॥
अनित्ये नित्यबुद्धिर्मे दुःखे सुखमिति स्मृतिः । अशुचौ शुचिरित्यास्था परत्रात्ममतिर्यथा ॥ २०९ ॥
अविद्ययैवमाक्रान्तो दुरन्ते भववारिधौ । चतुर्विधोरुदुःखोग्रदुर्गदैराहितश्चिरम् ॥ २१० ॥
इत्ययेनायतेनैवमायासित इवाकुलः । काललब्धिं परिप्राप्य क्षुण्णमार्गजिहासया ॥ २११ ॥
गुणाकां भावुको भाविकेवलावगमादिभिः । स्मरन्निव्याप सन्मत्या [4]संफल्येव समागमम्[5] ॥ २१२ ॥

स्त्रियोंके कपोल-तलमें अथवा हाथी-दाँतके टुकड़ेमें कामदेवसे मुसकराता हुआ अपना मुख देखकर सुखी होते थे ॥१९८॥ जिस प्रकार कोई दानी पुरुष दान देकर सुखी होता है उसी प्रकार शृंगार चेष्टाओंको करनेवाले भगवान्, अपनी ओर देखनेवाली उत्सुक स्त्रियोंके लिए अपने मुखका रस समर्पण करनेसे सुखी होते थे ॥१९९॥ मुखमें कमलकी आशंका होनेसे जो पास ही में मँडरा रहे हैं ऐसे भ्रमरोंको छोड़कर स्त्रीका मुख-कमल देखनेमें उन्हें और बाधक नहीं था ॥२००॥ चंचल सतृष्ण, योग्य अयोग्यका विचार नहीं करनेवाले और मलिन मधुप-भ्रमर भी (पक्षमें मद्यपायी लोग भी) जब प्रवेश पा सकते हैं तब संसारमें ऐसा कार्य ही कौन है जो नहीं किया जा सकता हो ॥२०१॥ इस प्रकार साम्राज्य-सम्पदाका उपभोग करते हुए जब उनका छह लाख पचास हजार पूर्व तथा चौबीस पूर्वांगका लम्बा समय सुख पूर्वक क्षण-भरके समान बीत गया तब वे एक दिन आभूषण धारण करनेके घरमें दर्पणमें अपना मुख-कमल देख रहे थे ॥२०२-२०३॥ वहाँ उन्होंने मुखपर स्थित किसी वस्तुको वैराग्यका कारण निश्चित किया और इस प्रकार विचार करने लगे। 'देखो यह शरीर नश्वर है तथा इससे जो प्रीति की जाती है वह भी ईतिके समान दुःखदायी है ॥२०४॥ वह सुख ही क्या है जो अपनी आत्मासे उत्पन्न न हो, वह लक्ष्मी ही क्या है जो चंचल हो, वह यौवन ही क्या है जो नष्ट हो जानेवाला हो, और वह आयु ही क्या है जो अवधिसे सहित हो—सान्त हो ॥२०५॥ जिसका आगे वियोग होनेवाला है ऐसा बन्धुजनोंके साथ समागम किस कामका ? मैं वही हूँ, पदार्थ वही हैं, इन्द्रियाँ भी वही हैं, प्रीति और अनुभूति भी वही है, तथा प्रवृत्ति भी वही है किन्तु इस संसार की भूमिमें यह सब बार-बार बदलता रहता है ॥२०६-२०७॥ इस संसारमें अबतक क्या हुआ है और आगे क्या होनेवाला है यह मैं जानता हूँ, फिर भी बार-बार मोहको प्राप्त हो रहा हूँ यह आश्चर्य है ॥२०८॥ मैं आज तक अनित्य पदार्थोंको नित्य समझता रहा, दुःखको सुख स्मरण करता रहा, अपवित्र पदार्थोंको पवित्र मानता रहा और परको आत्मा जानता रहा ॥२०९॥ इस प्रकार अज्ञानसे आक्रान्त हुआ यह जीव, जिसका अन्त अत्यन्त कठिन है ऐसे संसाररूपी सागरमें चार प्रकारके विशाल दुःख तथा भयंकर रोगोंके द्वारा चिरकालसे पीड़ित हो रहा है ॥२१०॥ इस प्रकार काल-लब्धिको पाकर संसारका मार्ग छोड़नेकी इच्छासे वे बड़े लम्बे पुण्यकर्मके द्वारा खिन्न हुएके समान व्याकुल हो गये ॥२११॥ आगे होनेवाले

१ स्ववक्त्रसंतर्पणात् ल० (छन्दोभङ्गः) । २ तदावधार्य ल० । ३ भवावली ल० । ४ सफल्येव ल० ।
५ समागमे ल० ।

दीक्षालक्ष्म्याः स्वयं प्राप्ता सद्बुद्धिः सिद्धिदायिनी । इति प्रबुद्धतत्त्वं तं प्रणम्य सुरसंस्तुताः ॥ २१३ ॥
यथोचितमभिष्टुत्य ब्रह्मलोकं पुनर्ययुः । नृपोऽपि वरचन्द्रस्य कृत्वा राज्याभिषेचनम् ॥ २१४ ॥
विनिःक्रमणकल्याणपूजां प्राप्य सुरेश्वरैः । आरुह्य सुरसंधार्यां शिबिकां विमलाह्वयाम् ॥ २१५ ॥
दिनद्वयोपवासित्वा वने सर्वर्तुकाह्वये । [1]पौषे मास्यनुराधायामेकादश्यां महीभुजाम् ॥ २१६ ॥
सहस्रेणाप्य नैर्ग्रन्थ्यं मनःपर्ययमाप्तवान् । [2]द्वितीये दिवसे तस्मै पुरे नलिननामनि ॥ २१७ ॥
सोमदत्तो नृपो गौरः प्रदायाहारमुत्तमम् । पुण्यानि नव संप्राप्य वसुधारादिपञ्चकम् ॥ २१८ ॥
सुरैस्तद्दानसंतुष्टैरापित स्वीचकार सः । धृत्वा व्रतानि संपाल्य समितीस्त्यक्तदण्डकः ॥ २१९ ॥
निगृहीतकषायारिर्वर्द्धमानविशुद्धिभाक् । त्रिगुप्तः शीलसंपन्नो गुणी प्रोक्ततपोद्वयः ॥ २२० ॥
वस्तुवृत्तिवचोभेदैरन्तर्यन् भावयत् । दशप्रकारधर्मस्थः षोडाशेषपरीषहः ॥ २२१ ॥
अनित्याशुचिदुःखत्वं स्मरन् कायादिकं मुहुः । गत्वा सर्वत्र माध्यस्थ्यं परमं योगमाश्रितः ॥ २२२ ॥
त्रीन् मासान् जिनकल्पेन नीत्वा दीक्षावनान्तरे । अधस्तान्नागवृक्षस्य स्थित्वा षष्ठोपवासभृत् ॥ २२३ ॥
फाल्गुने कृष्णसप्तम्यामनुराधापराह्णके । प्रागेव निहिताशेषश्रद्धानप्रतिपक्षकः ॥ २२४ ॥
करणत्रयसंयोगात् क्षपकश्रेणिमाश्रितः । स्फुरत्तुरीयचारित्रो द्रव्यभावविकल्पतः ॥ २२५ ॥
[3]शुक्लध्यानेद्धसद्ध्यात्या मोहारातिं निहत्य सः । [4]सावगाढदगर्योऽभाद् विचतुष्कादिभास्कर ॥ २२६ ॥

केवलज्ञानादि गुणोंसे मुझे समृद्ध होना चाहिए' ऐसा स्मरण करते हुए वे दूतीके समान सद्बुद्धिके साथ समागमको प्राप्त हुए थे ॥२१२॥ मोक्ष प्राप्त करनेवाली उनकी सद्बुद्धि अपने-आप दीक्षा-लक्ष्मीको प्राप्त हो गयी थी। इस प्रकार जिन्होंने आत्मतत्त्वको समझ लिया है ऐसे भगवान् चन्द्रप्रभके समीप लौकान्तिक देव आये और यथायोग्य स्तुति कर ब्रह्मस्वर्गको वापस चले गये। तदनन्तर महाराज चन्द्रप्रभ भी वरचन्द्र नामक पुत्रका राज्याभिषेक कर देवोंके द्वारा की हुई दीक्षा-कल्याणककी पूजाको प्राप्त हुए और देवोंके द्वारा उठायी हुई विमला नामकी पालकीमें सवार होकर सर्वर्तुक नामक वनमें गये। वहाँ उन्होंने दो दिनके उपवासका नियम लेकर पौष कृष्ण एकादशीके दिन अनुराधा नक्षत्रमें एक हजार राजाओंके साथ निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हो गया। दूसरे दिन वे चर्याके लिए नलिन नामक नगरमें गये। वहाँ गौर वर्णवाले सोमदत्त राजाने उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक उत्तम आहार देकर दानसे सन्तुष्ट हुए देवोंके द्वारा प्रकटित रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य प्राप्त किये। भगवान अहिंसा आदि पाँच महाव्रतोंको धारण करते थे, ईर्या आदि पाँच समितियोंका पालन करते थे, मन, वचन, कायकी निरर्थक प्रवृत्ति रूप तीन दण्डोंका त्याग करते थे ॥२१३-२१९॥ उन्होंने कषायरूपी शत्रुका निग्रह कर दिया था, उनकी विशुद्धता निरन्तर बढ़ती रहती थी, वे तीन गुप्तियोंसे युक्त थे, शीलसहित थे, गुणी थे, अन्तरंग और बहिरंग दोनों तपोंको धारण करते थे, वस्तु वृत्ति और वचनके भेदसे निरन्तर पदार्थका चिन्तन करते थे, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंमें स्थित रहते थे, समस्त परिषह सहन करते थे, 'यह शरीरादि पदार्थ अनित्य हैं, अशुचि हैं और दुःख रूप हैं' ऐसा बार-बार स्मरण रखते थे तथा समस्त पदार्थोंमें माध्यस्थ्य भाव रखकर परमयोगको प्राप्त हुए थे ॥२२०-२२२॥ इस प्रकार जिन-कल्प-मुद्राके द्वारा तीन माह बिताकर वे दीक्षावनमें नागवृक्षके नीचे बेलाका नियम लेकर स्थित हुए। वह फाल्गुन कृष्ण सप्तमीके सायंकालका समय था और उस दिन अनुराधा नक्षत्रका उदय था। सम्यग्दर्शनको घातनेवाली प्रकृतियोंका तो उन्होंने पहले ही क्षय कर दिया अब अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण-रूप तीन परिणामोंके संयोगसे क्षपक श्रेणीको प्राप्त हुए। वहाँ उनके द्रव्य तथा भाव दोनों ही रूपसे चौथा सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र प्रकट हो गया ॥२२३-२२५॥ वहाँ उन्होंने प्रथम शुक्लध्यानके प्रभावसे मोहरूपी शत्रुको नष्ट कर दिया जिससे उनका सम्यग्दर्शन अवगाढ़ सम्यग्दर्शन हो गया।

१ पौषमास्यनु-ल० । २ द्वितीयदिवसे ल० । ३ धर्मध्यानेद्धसद्ध्यात्या ल०, ग०, घ०, क० । ४ सावगाढदृगन्त्यार्थो ख० । सावगाढदृगस्त्र्येऽर्यो ल० ।

द्वितीयशुक्लध्यानेन घातित्रितयघातकः । जीवस्यैवोपयोगाख्यो गुणः शेषेष्वसंभवात् ॥ २२७ ॥
घातीति नाम तद्घातादभूदघचतुष्टये । अघातिष्वपि केषांचिदेव तत्र विलोपनात् ॥ २२८ ॥
परावगाढं सम्यक्त्वं चर्यान्त्यौ ज्ञानदर्शने । दानादिपञ्चकं प्राप्य सयोगः सकलो जिनः ॥ २२९ ॥
सर्वज्ञः सर्वलोकेशः सार्वः सर्वैकरक्षकः । सर्वदृक् सर्वदेवेन्द्रवन्द्यः सर्वार्थदेशकः ॥ २३० ॥
चतुस्त्रिंशदतीशेषविशेषविभवोदयः । प्रातिहार्याष्टकव्यक्तीकृततीर्थकरोदयः ॥ २३१ ॥
देवदेवः समस्तेन्द्रमुकुटोढाङ्घ्रिपङ्कजः । स्वप्रभाह्लादिताशेषविश्वो लोकविभूषणः ॥ २३२ ॥
गतिजीवगुणस्थाननयमानादिविस्तृतेः । प्रबोधकः स्थितो व्योम्नि श्रीमान् चन्द्रप्रभो जिनः ॥ २३३ ॥
क्रौर्यधुर्येण शौर्येण [1]यदेहः संचितं परम् । सिंहैस्तु स्वजातैर्वा व्यूढं तस्यासनं व्यभात् ॥ २३४ ॥
केवलद्युतिरेवैषं मूर्तिजातेव भास्वरा । देहप्रभा दिशो विश्वा भासयन्त्यस्य शोभते ॥ २३५ ॥
[2]चामरैरामरैरेष प्रभाप्रकटितायतिः । हंसाभधवलैर्गङ्गातरङ्गैरिव सेव्यते ॥ २३६ ॥
ध्वनिरेकोऽपि दिव्योऽस्य प्रकाशो वांशुमालिनः । [3]द्रष्टॄणां सर्वभावानां सश्रोत्राणां प्रकाशकः ॥ २३७ ॥
त्रिभिः शिवं पदं प्राप्यमस्माभिरिति चावदत् । मोक्षमार्गः पृथग्भूतो भाति छत्रत्रयं विभोः ॥ २३८ ॥
भाति पिण्डीद्रुमो भर्तुरशोकः संश्रयादहम् । इत्याविष्कृतरागो वा पल्लवैः प्रसवैरपि ॥ २३९ ॥

उस समय चार ज्ञानोंसे देदीप्यमान चन्द्रप्रभ भगवान् अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥ २२६ ॥ बारहवें गुणस्थानके अन्तमें उन्होंने द्वितीय शुक्लध्यानके प्रभावसे मोहातिरिक्त तीन घातिया कर्मोंका क्षय कर दिया। उपयोग जीवका ही खास गुण है क्योंकि वह जीवके सिवाय अन्य द्रव्योंमें नहीं पाया जाता। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय कर्म जीवके उपयोग गुणका घात करते हैं इसलिए घातिया कहलाते हैं। उन भगवान्के घातिया कर्मोंका नाश हुआ था और अघातिया कर्मोंमें-से भी कितनी ही प्रकृतियोंका नाश हुआ था। इस प्रकार वे परमावगाढ सम्यग्दर्शन, अन्तिम यथाख्यात चारित्र, क्षायिक ज्ञान, दर्शन तथा ज्ञानादि पाँच लब्धियाँ पाकर शरीरसहित सयोगकेवली जिनेन्द्र हो गये ॥२२७-२२९॥ उस समय वे सर्वज्ञ थे, समस्त लोकके स्वामी थे, सबका हित करनेवाले थे, सबके एक मात्र रक्षक थे, सर्वदर्शी थे, समस्त इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय थे और समस्त पदार्थोंका उपदेश देनेवाले थे ॥२३०॥ चौंतीस अतिशयोंके द्वारा उनके विशेष वैभवका उदय प्रकट हो रहा था और आठ प्रातिहार्योंके द्वारा तीर्थंकर नामकर्मका उदय व्यक्त हो रहा था ॥

दीक्षालक्ष्म्याः स्वयं प्राप्ता सद्बुद्धिः सिद्धिदायिनी । इति प्रबुद्धतत्त्वं तं प्रपद्य सुरसंयताः ॥ २१३ ॥
यथोचितमभिष्टुत्य ब्रह्मलोकं पुनर्ययुः । नृपोऽपि वरचन्द्रस्य कृत्वा राज्याभिषेचनम् ॥ २१४ ॥
विनिःक्रमणकल्याणपूजां प्राप्य सुरेश्वरैः । आरुह्य सुरसंधार्यां शिबिकां विमलाह्वयाम् ॥ २१५ ॥
दिनद्वयोपवासित्वा वने सर्वर्तुकाह्वये । [1]पौषे मास्यनुराधायामेकादश्यां महीभुजाम् ॥ २१६ ॥
सहस्रेणाप्य नैर्ग्रन्थ्यं मनःपर्ययमाप्तवान् । [2]द्वितीये दिवसे तस्मै पुरे नलिननामनि ॥ २१७ ॥
सोमदत्तो नृपो गौरः प्रदायाहारमुत्तमम् । पुण्यानि नव संप्राप्य वसुधारादिपञ्चकम् ॥ २१८ ॥
सुरैस्तद्दानसंतुष्टैरापितं स्वीचकार सः । धृत्वा व्रतानि सपाल्य समितीस्त्यक्तदण्डकः ॥ २१९ ॥
निगृहीतकषायारिर्वर्द्धमानविशुद्धिभाक् । त्रिगुप्तः शीलसंपन्नो गुणी प्रोक्ततपोद्वयः ॥ २२० ॥
वस्तुवृत्तिवचोभेदाश्चैरन्तर्येण भावयन् । दशप्रकारधर्मस्थः सोढाशेषपरीषहः ॥ २२१ ॥
अनित्याशुचिदुःखत्वं स्मरन् कायादिकं मुहुः । गत्वा सर्वत्र माध्यस्थ्यं परमं योगमाश्रितः ॥ २२२ ॥
त्रीन् मासान् जिनकल्पेन नीत्वा दीक्षावनान्तरे । अधस्तान्नागवृक्षस्य स्थित्वा षष्ठोपवासभृत् ॥ २२३ ॥
फाल्गुने कृष्णसप्तम्यामनुराधापराह्णके । प्रागेव निहिताशेषश्रद्धानप्रतिपक्षकः ॥ २२४ ॥
करणत्रयसंयोगात् क्षपकश्रेणिमाश्रितः । स्फुरत्तुरीयचारित्रो द्रव्यभावविकल्पतः ॥ २२५ ॥
[3]शुक्लध्यानोद्धसद्ध्यात्या मोहारातिं निहत्य सः । [4]सावगाढदृगर्योऽभाद् विध्वस्तदुःकादिभास्करः ॥ २२६ ॥

केवलज्ञानादि गुणोंसे मुझे समृद्ध होना चाहिए''''ऐसा स्मरण करते हुए वे दूतीके समान सद्-बुद्धिके साथ समागमको प्राप्त हुए थे ॥२१२॥ मोक्ष प्राप्त करनेवाली उनकी सद्बुद्धि अपने-आप दीक्षा-लक्ष्मीको प्राप्त हो गयी थी। इस प्रकार जिन्होंने आत्मतत्त्वको समझ लिया है ऐसे भगवान् चन्द्रप्रभके समीप लौकान्तिक देव आये और यथायोग्य स्तुति कर ब्रह्मस्वर्गको वापस चले गये। तदनन्तर महाराज चन्द्रप्रभ भी वरचन्द्र नामक पुत्रका राज्याभिषेक कर देवोंके द्वारा की हुई दीक्षा-कल्याणककी पूजाको प्राप्त हुए और देवोंके द्वारा उठायी हुई विमला नामकी पालकी-में सवार होकर सर्वर्तुक नामक वनमें गये। वहाँ उन्होंने दो दिनके उपवासका नियम लेकर पौष कृष्ण एकादशीके दिन अनुराधा नक्षत्रमें एक हजार राजाओंके साथ निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हो गया। दूसरे दिन वे चर्याके लिए नलिन नामक नगरमें गये। वहाँ गौर वर्णवाले सोमदत्त राजाने उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक उत्तम आहार देकर दानसे सन्तुष्ट हुए देवोंके द्वारा प्रकटित रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य प्राप्त किये। भगवान् अहिंसा आदि पाँच महाव्रतोंको धारण करते थे, ईर्या आदि पाँच समितियोंका पालन करते थे, मन, वचन, कायकी निरर्थक प्रवृत्ति रूप तीन दण्डोंका त्याग करते थे ॥२१३-२१९॥ उन्होंने कषाय-रूपी शत्रुका निग्रह कर दिया था, उनकी विशुद्धता निरन्तर बढ़ती रहती थी, वे तीन गुप्तियों-से युक्त थे, शीलसहित थे, गुणी थे, अन्तरंग और बहिरंग दोनों तपोंको धारण करते थे, वस्तु वृत्ति और वचनके भेदसे निरन्तर पदार्थका चिन्तन करते थे, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंमें स्थित रहते थे, समस्त परिषह सहन करते थे, 'यह शरीरादि पदार्थ अनित्य हैं, अशुचि हैं और दुःख रूप हैं' ऐसा बार-बार स्मरण रखते थे तथा समस्त पदार्थोंमें माध्यस्थ्य भाव रखकर परमयोगको प्राप्त हुए थे ॥२२०-२२२॥ इस प्रकार जिन-कल्प-मुद्राके द्वारा तीन माह बिताकर वे दीक्षावनमें नागवृक्षके नीचे वेलाका नियम लेकर स्थित हुए। वह फाल्गुन कृष्ण सप्तमीके सायंकालका समय था और उस दिन अनुराधा नक्षत्रका उदय था। सम्यग्दर्शनको घातनेवाली प्रकृतियोंका तो उन्होंने पहले ही क्षय कर दिया अब अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति-करण-रूप तीन परिणामोंके संयोगसे क्षपक श्रेणीको प्राप्त हुए। वहाँ उनके द्रव्य तथा भाव दोनों ही रूपसे चौथा सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र प्रकट हो गया ॥२२३-२२५॥ वहाँ उन्होंने प्रथम शुक्लध्यानके प्रभावसे मोहरूपी शत्रुको नष्ट कर दिया जिससे उनका सम्यग्दर्शन अवगाढ़ सम्यग्दर्शन हो गया।

१ पौषमास्यनु— ल० । २ द्वितीयदिवसे ल० । ३ धर्मध्यानेद्धसद्ध्यात्या ल०, ग०, घ०, क० । ४ सावगाढदृगन्त्यार्यो ख० । सावगाढदृगन्त्योऽर्यो ल० ।

द्वितीयशुक्लध्यानेन घातित्रितयघातकः । जीवस्यैवोपयोगाख्यो गुणः शेषेष्वसंभवात् ॥ २२७ ॥
घातीति नाम तद्घातादभूदघचतुष्टये । अघातिष्वपि केषांचिदेव तत्र विलोपनात् ॥ २२८ ॥
परावगाढं सम्यक्त्वं चर्यान्त्या ज्ञानदर्शने । दानादिपञ्चकं प्राप्य सयोगः सकलो जिनः ॥ २२९ ॥
सर्वज्ञः सर्वलोकेशः सार्वः सर्वैकरक्षकः । सर्वदृक् सर्वदेवेन्द्रवन्द्यः सर्वार्थदेशकः ॥ २३० ॥
चतुस्त्रिंशदतीशेषविशेषविभवोदयः । प्रातिहार्याष्टकव्यक्तीकृततीर्थकरोदयः ॥ २३१ ॥
देवदेवः समस्तेन्द्रमुकुटोढाङ्घ्रिपङ्कजः । स्वप्रभाह्लादिताशेषविश्वो लोकविभूषणः ॥ २३२ ॥
गतिजीवगुणस्थाननयमानादिविस्तृतेः । प्रबोधकः स्थितो व्योम्नि श्रीमान् चन्द्रप्रभो जिनः ॥ २३३ ॥
क्रौर्यधुर्येण शौर्येण [1]यदंहः संचितं परम् । सिंहैर्हन्तुं स्वजातेर्वा व्यूढं तस्यासनं व्यमात् ॥ २३४ ॥
केवलद्युतिरेवैवं मूर्तिजातेव भास्वरा । देहप्रभा दिशो विश्वा भासयन्त्यस्य शोभते ॥ २३५ ॥
[2]चामरैरामरैरेष प्रभाप्रकटितायतिः । हंसांसधवलैर्गाङ्गैस्तरङ्गैरिव सेव्यते ॥ २३६ ॥
ध्वनिरेकोऽपि दिव्योऽस्य प्रकाशो वांशुमालिनः । [3]द्रष्टॄणां सर्वभावानां सश्रोत्राणां प्रकाशकः ॥ २३७ ॥
त्रिभिः शिवं पदं प्राप्यमस्माभिरिति वा वदत् । मोक्षमार्गः पृथग्भूतो भाति छत्रत्रयं विभोः ॥ २३८ ॥
भाति पिण्डीद्रुमो भर्तुरशोकः संश्रयादहम् । इत्याविष्कृतरागो वा पल्लवैः प्रसवैरपि ॥ २३९ ॥

उस समय चार ज्ञानोंसे देदीप्यमान चन्द्रप्रभ भगवान् अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥ २२६ ॥ बारहवें गुणस्थानके अन्तमें उन्होंने द्वितीय शुक्लध्यानके प्रभावसे मोहातिरिक्त तीन घातिया कर्मोंका क्षय कर दिया। उपयोग जीवका ही खास गुण है क्योंकि वह जीवके सिवाय अन्य द्रव्योंमें नहीं पाया जाता। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय कर्म जीवके उपयोग गुणका घात करते हैं इसलिए घातिया कहलाते हैं। उन भगवानके घातिया कर्मोंका नाश हुआ था और अघातिया कर्मोंमें-से भी कितनी ही प्रकृतियोंका नाश हुआ था। इस प्रकार वे परमावगाढ सम्यग्दर्शन, अन्तिम यथाख्यात चारित्र, क्षायिक ज्ञान, दर्शन तथा ज्ञानादि पाँच लब्धियाँ पाकर शरीरसहित सयोगकेवली जिनेन्द्र हो गये ॥२२७-२२९॥ उस समय वे सर्वज्ञ थे, समस्त लोकके स्वामी थे, सबका हित करनेवाले थे, सबके एक मात्र रक्षक थे, सर्वदर्शी थे, समस्त इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय थे और समस्त पदार्थोंका उपदेश देनेवाले थे ॥२३०॥ चौंतीस अतिशयोंके द्वारा उनके विशेष वैभवका उदय प्रकट हो रहा था और आठ प्रातिहार्योंके द्वारा तीर्थंकर नामकर्मका उदय व्यक्त हो रहा था ॥ २३१ ॥ वे देवोंके देव थे, उनके चरण-कमलोंको समस्त इन्द्र अपने मुकुटोंपर धारण करते थे, अपनी प्रभासे उन्होंने समस्त संसारको आनन्दित किया था, तथा वे समस्त लोकके आभूषण थे ॥२३२॥ गति, जीव, समास, गुणस्थान, नय, प्रमाण आदिके विस्तारका ज्ञान करानेवाले श्रीमान् चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र आकाशमें स्थित थे ॥२३३॥ सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ उनका सिंहासन ऐसा सुशोभित हो रहा था कि सिंह जातिने क्रूरता-प्रधान शूर-वीरताके द्वारा पहले जिस पापका संचय किया था उसे हरनेके लिए मानो उन्होंने भगवान्का सिंहासन उठा रखा था ॥ २३४ ॥ समस्त दिशाओंको प्रकाशित करती हुई उनके शरीरकी प्रभा ऐसी जान पड़ती थी मानो देदीप्यमान केवलज्ञानकी कान्ति ही तदाकार हो गयी हो ॥२३५॥ हंसोंके कंधोंके समान सफेद देवोंके चामरोंसे जिनकी प्रभाकी दीर्घता प्रकट हो रही है ऐसे भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो गंगानदीकी लहरें ही उनकी सेवा कर रही हों ॥२३६॥ जिस प्रकार सूर्यका एक ही प्रकाश देखनेवालोंके लिए समस्त पदार्थोंका प्रकाश कर देता है उसी प्रकार भगवान्की एक ही दिव्यध्वनि सुननेवालोंके लिए समस्त पदार्थोंका प्रकाश कर देती थी ॥२३७॥ भगवान्का छत्रत्रय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग जुदा-जुदा होकर यह कह रहा हो कि मोक्षकी प्राप्ति हम तीनोंसे ही हो सकती है अन्यसे नहीं ॥२३८॥ लाल-लाल अशोक वृक्ष ऐसा

१. यदहः ग०, ल०। २. चमरै–ल०। ३. द्रष्टॄणां सर्वभावानां सश्रोत्राणां प्रकाशकः ख०, ग०। नराणां सर्वभावानां संश्रुतानां प्रकाशकः ल०।

अभात् सुमनसां वृष्टिः पतन्ती नभसो विभुम् । तारावलिरिवायान्ती सेवितुं भक्तिनिर्भरा ॥ २४० ॥
देवदुन्दुभयो नादं दध्वनुस्तजिनाश्रयः । दिशः श्रावयितुं वास्य मोहारातिजयं विभोः ॥ २४१ ॥
प्रसादस्य प्रभामध्ये प्रसन्नं वक्त्रमण्डलम् । नाकनद्यामिवाम्भोजमिव वा बिम्बमैन्दवम् ॥ २४२ ॥
श्रीमद्गन्धकुटीमध्ये चतुर्भिस्त्रिगुणैर्गणैः । तारागणैः शरच्चन्द्र इव सेव्यो व्यराजत ॥ २४३ ॥
दत्तादित्रिनवत्युक्तगणेशः खत्रयद्विक—[1] प्रोक्तपूर्वधरः शून्यत्रिकाष्टावधिलोचनः ॥ २४४ ॥
शून्यद्वयचतुःशून्यद्विक[2]प्रोक्तशिक्षकः । खचतुष्कैकनिर्दिष्टकेवलावगमाग्रणीः ॥ २४५ ॥
चतुर्दशसहस्रोक्तविक्रियर्द्धिविभूषितः । खत्रयाष्टचतुर्ज्ञानपरिपत्परिवारितः ॥ २४६ ॥
खद्वयर्त्वर्षिवादीशः सर्वसार्द्धद्विलक्षकः । खचतुष्काष्टवह्नियुक्तवरुणाद्यार्यिकानुतः ॥ २४७ ॥
त्रिलक्षश्रावकाभ्यर्च्यः श्राविकापञ्चलक्षकः । असंख्यदेवदेवीड्यस्तिर्यक्संख्यातसेवित[3] ॥ २४८ ॥
प्रादक्षिण्येन भव्येशं परीत्यैते गणाः पृथक् । स्वकोष्ठेष्ववतिष्ठन्ते[4] विहिताञ्जलिकुड्मलाः ॥ २४९ ॥
तत्राकृत्रिमसंभूतभक्तिभारानतः स्फुरन् । मुकुटाग्रमणिः स्तोत्रं द्वितीयेन्द्रोऽभ्यधादिदम् ॥ २५० ॥
रत्नत्रयेण येनाप्तं रत्नत्रयमनुत्तरम् । त्वं देह्यस्मभ्यमप्युच्चैः सरत्नत्रयसंपदम् ॥ २५१ ॥
स्वार्थः सागरमेरूणां परार्थः कल्पभूरुहाम् । देव स्वार्थः परार्थश्च महिमा महतस्तव ॥२५२॥
ददासि परमं सौख्यमित्यस्तु भवतः [5]स्तवः । नन्द नन्देति देवस्य साधितात्मार्थसंपदः ॥ २५३ ॥

सुशोभित हो रहा था मानो भगवान्‌के आश्रयसे ही मैं अशोक—शोकरहित हुआ हूँ अतः उनके प्रति अपने पत्रों और फूलोंके द्वारा अनुराग ही प्रकट कर रहा हो ॥ २३९ ॥ आकाशसे पड़ती हुई फूलोंकी वर्षा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो भगवान्‌की सेवा करनेके लिए भक्तिसे भरी हुई ताराओंकी पंक्ति ही आ रही हो ॥२४०॥ समुद्रकी गर्जनाको जीतनेवाले देवोंके नगाड़े ठीक इस तरह शब्द कर रहे थे मानो वे दिशाओंको यह सुना रहे हों कि भगवानने मोहरूपी शत्रुको जीत लिया है ॥२४१॥ उनकी प्रभाके मध्यमें प्रसन्नतासे भरा हुआ मुख-मण्डल ऐसा सुशोभित होता था मानो आकाशगंगामें कमल ही खिल रहा हो अथवा चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब ही हो ॥२४२॥ जिस प्रकार तारागणोंसे सेवित शरद्-ऋतुका चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी प्रकार बारह सभाओंसे सेवित भगवान् गन्धकुटीके मध्यमें सुशोभित हो रहे थे ॥२४३॥ उनके दत्त आदि तेरानवें गणधर थे, दो हजार पूर्वधारी थे, आठ हजार अवधिज्ञानी थे, दो लाख चार सौ शिक्षक थे; दश हजार केवलज्ञानी थे। वे चौदह हजार विक्रिया-ऋद्धिके धारक मुनियोंसे विभूषित थे, आठ हजार मनःपर्यय ज्ञानके धारक उनकी सेवा करते थे, तथा सात हजार छह सौ वादियोंके स्वामी थे। इस प्रकार सब मुनियोंकी संख्या अढ़ाई लाख थी। वरुणा आदि तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ उनकी स्तुति करती थीं। तीन लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकाएँ उनकी पूजा करती थीं। वे असंख्यात देव-देवियोंसे स्तुत्य थे और संख्यात तिर्यंच उनकी सेवा करते थे ॥२४४–२४८॥ ये सब बारह सभाओंके जीव प्रदक्षिणा रूपसे भव्योंके स्वामी भगवान चन्द्रप्रभको घेरे हुए थे, सब अपने-अपने कोठोंमें बैठे थे और सभी कमलके मुकुलके समान अपने-अपने हाथ जोड़े हुए थे ॥ २४९ ॥

उसी समय जो उत्पन्न हुई भक्तिके भारसे नम्र हो रहा है और जिसके मुकुटके अग्रभागमें लगे हुए मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसा दूसरा ऐशानेन्द्र इस प्रकार स्तुति करने लगा ॥२५०॥ वह कहने लगा कि हे भगवन्! जिस रत्नत्रयसे आपने उत्कृष्ट रत्नत्रय प्राप्त किया है वही रत्नत्रय-सम्पत्ति आप मुझे भी दीजिए ॥२५१॥ हे देव! समुद्र और सुमेरु पर्वतकी महिमा केवल अपने लिए है तथा कल्पवृक्षकी महिमा केवल परके लिए है परन्तु सबसे बड़े ऐसे आपकी महिमा अपने तथा दूसरे दोनोंके लिए है ॥२५२॥ हे भगवन्! आप परम सुखके देनेवाले हैं ऐसी आपकी स्तुति तो दूर ही रही, अपने आत्मतत्त्वरूपी सम्पदाको सिद्ध करनेवाले आप सदा समृद्धिमान् हों

१ द्वयं ख० । २ द्वय क०, ख०, घ० । ३ सन्नतः ल० । ४ स्वकोष्ठेऽप्यवतिष्ठन्ते ल० । ५ स्तवं ल०, ख० ।

त्वद्वचो वाचि धर्मस्ते हृदि वृत्तिस्तनौ भवेत् । यस्य स त्वादृशो भूत्वा परमानन्दमश्नुते ॥ २५४ ॥
त्वयैवैकेन कर्मारीन् भुवनत्रयविद्विषः । शुक्लध्यानासिना हत्वा मुक्तिसाम्राज्यमर्जितम् ॥ २५५ ॥
त्वत्पादपादपोद्भूतसान्द्रच्छायां समाश्रिताः । पापार्करोगघर्मोऽग्रदुःखसन्तापदूरगाः ॥ २५६ ॥
सागरोऽनन्तकान्तारं संसारः सर्वदेहिनाम् । त्वन्मताश्रितभव्यानां गोष्पदं नन्दनं वनम् ॥ २५७ ॥
फलं [1]त्रिलोकसाम्राज्यं क्लेशकृच्चरणस्मृतिः । लोकस्तत्रापि मन्देच्छो न वेत्ति हितमात्मने ॥ २५८ ॥
आधाराधेयभावोऽयमनन्यसदृशस्तव । अधःस्थं जगदाधेयमाधारस्त्वं [2]तदग्रिमः ॥ २५९ ॥
वेदकोऽसि न वेद्योऽसि न पाल्योऽस्यसि पालकः । कर्तासि नासि कार्यस्त्वं न पोष्योऽस्यसि पोषकः ॥ २६० ॥
त्वां नमन्नुत्तमः स्तोता गुरुश्च गुणगौरवात् । अनमन् तप्यते पापैरस्तुवन् [3]शप्यते सदा ॥ २६१ ॥
नास्तिकाः पापिनः केचिद् [4]दैष्टिकाश्च हतोद्यमाः । त्वदीयास्त्वास्तिका धर्म्याः परत्र हितोद्यमाः ॥ २६२ ॥
सर्वत्र सर्वदा सर्वं सर्वेषां सार्वसर्ववित् । प्रकाशयति नैवेन्दुर्भानुर्वान्येषु का कथा ॥ २६३ ॥

समृद्धिमान् हों, मैं यही स्तुति करता हूँ ॥२५३॥ जो मनुष्य आपके वचनको अपने वचनोंमें, आपके धर्मको अपने हृदयमें और आपकी प्रवृत्तिको अपने शरीरमें धारण करता है वह आप जैसा ही होकर परम आनन्दको प्राप्त होता है ॥२५४॥ हे नाथ ! आप अकेलेने ही शुक्लध्यानरूपी तलवारके द्वारा तीनों लोकोंसे द्वेष रखनेवाले कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट कर मुक्तिका साम्राज्य प्राप्त कर लिया है ॥२५५॥ हे प्रभो ! जो आपके चरणरूपी वृक्षसे उत्पन्न हुई सघन छायाका आश्रय लेते हैं वे पापरूपी सूर्यके रोगरूपी घामसे तीव्र दुःखरूपी सन्तापसे दूर रहते हैं ॥२५६॥ हे देव ! यह संसार, समस्त जीवोंके लिए या तो समुद्र है या अनन्त वन है परन्तु जो भव्य आपके मतका आश्रय लेते हैं उनके लिए गायका खुर है अथवा नन्दन वन है ॥२५७॥ हे भगवन् ! यद्यपि आपके चरणोंका स्मरण करनेसे कुछ क्लेश अवश्य होता है परन्तु उसका फल तीनों लोकोंका साम्राज्य है। आश्चर्य है कि ये संसारके प्राणी उस महान् फलमें भी मन्द इच्छा रखते हैं इससे जान पड़ता है कि ये अपनी आत्माका हित नहीं जानते ॥२५८॥ हे प्रभो ! आपका यह आधाराधेय भाव अनन्यसदृश है—सर्वथा अनुपम है क्योंकि नीचे रहनेवाला यह संसार तो आधेय है और उसके ऊपर रहनेवाले आप आधार हैं। भावार्थ—जो चीज नीचे रहती है वह आधार कहलाती है और जो उसके ऊपर रहती है वह आधेय कहलाती है परन्तु आपके आधाराधेय भावकी व्यवस्था इस व्यवस्थासे भिन्न है अतः अनुपम है। दूसरे पक्षमें यह अर्थ है कि आप जगत् रक्षक हैं अतः आधार हैं और जगत् आपकी रक्षाका विषय है अतः आधेय है ॥२५९॥ आप सबको जानते हैं परन्तु आप किसीके द्वारा नहीं जाने जाते, आप सबके रक्षक हैं परन्तु आप किसीके द्वारा रक्षा करने योग्य नहीं हैं, आप सबके करनेवाले हैं परन्तु आप किसीके कार्य नहीं हैं, आप सबके जाननेवाले हैं परन्तु आप किसीके द्वारा जाननेके योग्य नहीं हैं और आप सबका पोषण करनेवाले हैं परन्तु आप किसीके द्वारा पोषण किये जानेके योग्य नहीं हैं ॥२६०॥ जो आपको नमस्कार करता है वह उत्तम हो जाता है, इसी प्रकार जो आपकी स्तुति करता है वह गुणोंके गौरवसे गुरु अथवा श्रेष्ठ हो जाता है। इसके विपरीत जो आपको नमस्कार नहीं करता वह पापोंसे सन्तप्त होता है और जो आपकी स्तुति नहीं करता वह सदा निन्दाको प्राप्त होता है ॥२६१॥ हे भगवन् ! इस संसारमें कितने ही लोग नास्तिक हैं—परलोककी सत्ता स्वीकृत नहीं करते हैं इसलिए स्वच्छन्द होकर तरह-तरहके पाप करते हैं और कितने ही लोग केवल भाग्यवादी हैं इसीलिए उद्यमहीन होकर अकर्मण्य हो रहे हैं परन्तु आपके भक्त लोग आस्तिक हैं—परलोककी सत्ता स्वीकृत करते हैं इसलिए 'परलोक बिगड़ न जाये' इस भयसे सदा धार्मिक क्रियाएँ करते हैं और परलोकके सुधारके लिए सदा उद्यम करते हैं ॥२६२॥ सबका हित करनेवाले और सबको जाननेवाले आप सब जगह सब समय सब पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं। ऐसा प्रकाश न चन्द्रमा कर सकता है और न सूर्य ही

१ त्रैलोक्य ल० । २ तदग्रतः ल० । ३ नाप्यते ल० । ४ दैष्टिकाश्च ल०, ख० ।

न स्थिरं क्षणिकं ज्ञानमात्रं शून्यमनोक्षणात्[1] । वस्तु प्रतिक्षणं तत्त्वान्यस्वरूपं तवेक्षणात् ॥२६४॥
अस्त्यात्मा बोधसद्भावात्परजन्मास्ति तत्स्मृतेः । सर्वविच्चास्ति धीवृद्धेस्त्वदुपज्ञमिदं त्रयम् ॥ २६५ ॥
द्रव्याद् द्रव्यस्य वा भेदं गुणस्याप्यवदद्विधीः । गुणैः परिणतिं द्रव्यस्यावादीस्त्वं यथार्थदृक् ॥ २६६ ॥
अप्रतीपा प्रभा भाति देव देहस्य तेऽनिशम् । चन्द्रप्रभेति नामेदमपरीक्ष्य हरिर्व्यधात् ॥ २६७ ॥
इति शब्दार्थगम्भीरस्तवनेन सुराधिपः । चिरं सपुण्यमात्मानं बहुमेने स हृष्टधीः ॥ २६८ ॥
अथ चन्द्रप्रभः स्वामी धर्मतीर्थं प्रवर्तयन् । सर्वान् देशान् विहृत्यार्यान् सम्मेदतलमाश्रवान् ॥ २६९ ॥
विहारमुपसंहृत्य मासं सिद्धशिलातले । प्रतिमायोगमास्थाय सहस्रमुनिभिः सह ॥ २७० ॥
फाल्गुनेऽशुक्लसप्तम्यां ज्येष्ठाचन्द्रेऽपराह्णके । तृतीयशुक्लध्यानेन कृतयोगनिरोधकः ॥ २७१ ॥
अयोगपदमासाद्य तुर्यशुक्लेन निर्हरन् । शेषकर्माणि निर्लुप्तशरीरः परमोऽभवत् ॥ २७२ ॥
सुरा निर्वाणकल्याणपूजाविधिविधायिनः । पुण्यपण्यं समादाय तदीयुः स्वस्वमास्पदम् ॥ २७३ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

संपूर्णः किमयं शरच्छशधरः किं वार्पितो दर्पणः
सर्वार्थावगतेः किमेष विलसत्पीयूषपिण्डः पृथुः ।
किं पुण्याणुमयश्च योऽयमिति यद्वक्त्राम्बुजं शङ्क्यते
सोऽयं चन्द्रजिनस्तमो व्यपहरन्नंहोमयाद्रक्षतात् ॥ २७४ ॥

फिर, अन्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या है ? ॥२६३॥ हे भगवन् ! कोई भी वस्तु न नित्य है, न क्षणिक है, न ज्ञानमात्र है और न अदृश्य होनेसे शून्य रूप है किन्तु आपके दर्शनसे प्रत्येक वस्तु तत्त्व और अतत्त्व रूप—अस्ति और नास्ति रूप है ॥२६४॥ आत्मा है, क्योंकि उसमें ज्ञानका सद्भाव है, आत्मा दूसरा जन्म धारण करता है क्योंकि उसका स्मरण बना रहता है, और आत्मा सर्वज्ञ है क्योंकि ज्ञानमें वृद्धि देखी जाती है । हे भगवन् ! ये तीनों ही सिद्धान्त आपके ही कहे हुए हैं ॥२६५॥ जिस प्रकार एक द्रव्यसे दूसरा द्रव्य जुदा है उसी प्रकार द्रव्यसे गुण भी जुदा है ऐसा कितने ही बुद्धिहीन मनुष्य कहते हैं परन्तु आपने कहा है कि द्रव्यका परिणमन गुणोंसे ही होता है अर्थात् द्रव्यसे गुण सर्वथा जुदा पदार्थ नहीं है । इसीलिए आप यथार्थद्रष्टा हैं—आप पदार्थके स्वरूपको ठीक-ठीक देखते हैं ॥२६६॥ हे नाथ ! चन्द्रमाकी प्रभा तो राहुसे तिरोहित हो जाती है परन्तु आपके शरीरकी प्रभा बिना किसी प्रतिबन्धके रात-दिन प्रकाशित रही आती है अतः इन्द्रने जो आपका 'चन्द्रप्रभ' (चन्द्रमा-जैसी प्रभावाला) नाम रखा है वह बिना परीक्षा किये ही रख दिया है ॥२६७॥ इस प्रकार जिसमें शब्द और अर्थ दोनों ही गम्भीर हैं ऐसे स्तवनसे प्रसन्न बुद्धिके धारक इन्द्रने अपने आपको चिरकालके लिए बहुत ही पुण्यवान् माना था ॥२६८॥

अथानन्तर चन्द्रप्रभ स्वामी समस्त आर्य देशोंमें विहार कर धर्म-तीर्थकी प्रवृत्ति करते हुए सम्मेदशिखरपर पहुँचे ॥२६९॥ वहाँ वे विहार बन्द कर एक हजार मुनियोंके साथ प्रतिमायोग धारण कर एक माह तक सिद्धशिलापर आरूढ़ रहे ॥२७०॥ और फाल्गुन कृष्ण सप्तमीके दिन ज्येष्ठा नक्षत्रमें सायंकालके समय योग-निरोध कर चौदहवें गुणस्थानको प्राप्त हुए तथा चतुर्थ शुक्लध्यानके द्वारा शरीरको नष्ट कर सर्वोत्कृष्ट सिद्ध हो गये ॥२७१–२७२॥ उसी समय निर्वाण कल्याणकी पूजाकी विधिको करनेवाले देव आये और पुण्यरूपी पण्य—खरीदने योग्य पदार्थ-को लेकर अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥२७३॥

'क्या यह शरद्ऋतुका पूर्ण चन्द्रमा है, अथवा समस्त पदार्थोंको जाननेके लिए रखा हुआ दर्पण है, अथवा अमृतका शोभायमान विशाल पिण्ड है अथवा पुण्य परमाणुओंका समूह है' इस प्रकार जिनके मुख-कमलको देखकर लोग शंका किया करते हैं वे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र अज्ञानान्धकारको

---

१. –मनोक्षणात् क० ।

लेश्या यस्य मृणालनालधवला श्लाघ्योभयी[1] शोभते
यस्यास्येन्दुरहर्दिवं कुवलयाह्लादं विधत्ते ध्रुवम् ।
यद्बोधोज्ज्वलदर्पणे त्रिसमयं जीवादिकं लक्ष्यते
स श्रीमान् दिशताच्छ्रियं जिनपतिर्नष्टाष्टकर्माष्टक ॥ २७५ ॥

श्रीवर्मा श्रीधरो देवोऽजितसेनोऽच्युताधिपः । पद्मनाभोऽहमिन्द्रोऽस्मान् पातु चन्द्रप्रभः प्रभुः ॥ २७६ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे चन्द्रप्रभपुराणं परिसमाप्तं चतुःपञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५४ ॥



नष्ट करते हुए पापके भयसे हमारी रक्षा करें ॥२७४॥ जिनकी द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकारकी लेश्याएँ कमलकी मृणालके समान सफेद तथा प्रशंसनीय सुशोभित हैं, जिनका मुखरूपी चन्द्रमा रात-दिन कुवलय–पृथिवी-मण्डल अथवा नील कमलोंके समूहको हर्षित करता रहता है, जिनके ज्ञानरूपी निर्मल दर्पणमें त्रिकालसम्बन्धी जीवाजीवादि पदार्थ दिखाई देते हैं और जिन्होंने अष्ट कर्मोंका समूह नष्ट कर दिया है ऐसे मोक्ष-लक्ष्मीसे सम्पन्न चन्द्रप्रभ स्वामी हम सबको लक्ष्मी प्रदान करें ॥ २७५ ॥ जो पहले श्रीवर्मा हुए, फिर श्रीधर देव हुए, तदनन्तर अजितसेन हुए, तत्पश्चात् अच्युत स्वर्गके इन्द्र हुए, फिर पद्मनाभ हुए फिर अहमिन्द्र हुए और तदनन्तर अष्टम तीर्थंकर हुए ऐसे चन्द्रप्रभ स्वामी हम सबकी रक्षा करें ॥ २७६ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें चन्द्रप्रभ पुराणका वर्णन करनेवाला चौवनवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥



---

१ श्लाघ्योभया ल० ।

विधाय विपुले मार्गे विनेयांश्चामले स्वयम् । स्वयं च सुविधिर्योऽभूद् विधेयान्नः स तं विधिम् ॥१॥
पुष्करार्द्धेन्द्रदिग्भागे[1] मन्दरप्राग्विदेहभाक् । सीतासरिदुदक्कूले विषयः पुष्कलावती ॥ २ ॥
तत्राभूत्पुण्डरीकिण्यां महीपद्मो महीपतिः । दोर्दण्डखण्डितारातिमण्डलश्चण्डविक्रमः ॥ ३ ॥
पुराणमपि सन्मार्गं स स्ववृत्त्याऽकरोन्नवम् । पाश्चात्यानां तु तद्वृत्त्या पुराणः सोऽभवत्पुनः ॥ ४ ॥
संपोष्य पालयामास गां स्वां सा च स्वयं मुदा । प्रस्नुता निजसारेण तं सदा समतर्पयत् ॥ ५ ॥
स्वानुरक्तान् जनान् सर्वान् स्वगुणैः स व्यधात् सुधीः । ते च तं प्रीणयन्ति स्म प्रत्यहं सर्वभावतः॥६॥
शेषाः प्रकृतयस्तेन विहिता वर्द्धिताश्च याः । स्वेन स्वेनोपकारेण ताश्चैनं वृद्धिमानयन् ॥ ७ ॥
अवर्द्धन्त गुणास्तस्मिन् सद्वृत्ते शास्त्रशालिनि । मुनिवल्लब्धसंस्कारा बभुश्च मणयो यथा ॥ ८ ॥
विभज्य राज्यलक्ष्मीं स्वां यथास्वं स्वसमाश्रितैः । स्वोऽन्वभूच्चिरमच्छिन्नं सन्तः साधारणश्रियः ॥९॥
वदन्तीन्द्रयमस्थानं राजानं नीतिवेदिनः । कृतीन्द्रस्थान एवायं दण्ड्याभावात्प्रजागुणात् ॥ १० ॥
रतिरच्छिन्नसन्ताना तस्य भोग्याश्च तादृशाः[2] । तस्मात्स्वसुखविच्छेदं नावेदक्षीणपुण्यकः[3] ॥ ११॥

जिन्होंने विशाल तथा निर्मल मोक्षमार्गमें अनेक शिष्योंको लगाया और स्वयं लगे एवं जो सुविधि रूप हैं—उत्तम मोक्षमार्गकी विधि रूप हैं अथवा उत्तम पुण्यसे सहित हैं वे सुविधिनाथ भगवान् हम सबके लिए सुविधि—मोक्षमार्गकी विधि अथवा उत्तम पुण्य प्रदान करें ॥१॥ पुष्करार्धद्वीपके पूर्व दिग्भागमें जो मेरु पर्वत है उसके पूर्व विदेहक्षेत्रमें सीतानदीके उत्तर तटपर पुष्कलावती नामका एक देश है । उसकी पुण्डरीकिणी नगरीमें महापद्म नामका राजा राज्य करता था । उस राजाने अपने भुजदण्डोंसे शत्रुओंके समूह खण्डित कर दिये थे, वह अत्यन्त पराक्रमी था, वह किसी पुराने मार्गको अपनी वृत्तिके द्वारा नया कर देता था और फिर आगे होनेवाले लोगोंके लिए वही नया मार्ग पुराना हो जाता था ॥ २-४ ॥ जिस प्रकार कोई गोपाल अपनी गायका अच्छी तरह भरण-पोषण कर उसकी रक्षा करता है और गाय द्रवीभूत होकर बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे दूध देती हुई सदा सन्तुष्ट रखती है उसी प्रकार वह राजा अपनी पृथिवीका भरण-पोषण कर उसकी रक्षा करता था और वह पृथिवी भी द्रवीभूत हो बड़ी प्रसन्नताके साथ अपनेमें उत्पन्न होनेवाले रत्न आदि श्रेष्ठ पदार्थोंके द्वारा उस राजाको सन्तुष्ट रखती थी ॥ ५ ॥ वह बुद्धिमान् सब लोगोंको अपने गुणोंके द्वारा अपनेमें अनुरक्त बनाता था और सब लोग भी सब प्रकारसे उस बुद्धिमान्को प्रसन्न रखते थे ॥६॥ उसने मन्त्री पुरोहित आदि जिन कार्य-कर्ताओंको नियुक्त किया था तथा उन्हें बढ़ाया था वे सब अपने-अपने उपकारोंसे उस राजाको सदा बढ़ाते रहते थे ॥७॥ जिस प्रकार मुनियोंमें अनेक गुण वृद्धिको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार उस सदाचारी और शास्त्रज्ञानसे सुशोभित राजामें अनेक गुण वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे तथा जिस प्रकार संस्कार किये हुए मणि सुशोभित होते हैं उसी प्रकार उस राजामें अनेक गुण सुशोभित हो रहे थे ॥८॥ वह राजा यथायोग्य रीतिसे विभाग कर अपने आश्रित परिवारके साथ अखण्ड रूपसे चिरकाल तक अपनी राज्य-लक्ष्मीका उपभोग करता रहा सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष लक्ष्मीको सर्वसाधारणके उपभोगके योग्य समझते हैं ॥ ९ ॥ नीतिके जाननेवाले राजाको इन्द्र और यमके समान कहते हैं परन्तु वह पुण्यात्मा इन्द्रके ही समान था क्योंकि उसकी सब प्रजा गुणवती थी अतः उसके राज्यमें कोई दण्ड देनेके योग्य नहीं था ॥१०॥ उसके सुखकी परम्परा निरन्तर बनी रहती थी और उसके भोगोपभोगके योग्य पदार्थ भी सदा उपस्थित रहते थे अतः विशाल पुण्यका धारी वह राजा अपने

१ दिग्भागमन्दर ग०, घ० । २ तादृशः ल० । ३ क्षुण्णपुण्यकः ख०, ल० ।

इति स्वपुण्यमाहात्म्यसंपादितमहोत्सवः । स कदाचिन्महैश्वर्यं श्रुत्वा स्ववनपालकात् ॥ १२ ॥
जिनं मनोहरोद्याने स्थितं भूतहिताह्वयम् । गत्वा विभूत्या भूतेशं त्रिः परीत्य कृतार्चनः ॥ १३ ॥
वन्दित्वा स्वोचितस्थाने स्थित्वा मुकुलिताञ्जलिः । आकर्ण्य धर्ममुत्पन्नबोधिरेवमचिन्तयत् ॥ १४ ॥
आत्मायमात्मनात्मायमात्मन्याविष्कृतासुखम् । विधायानादिकालीनमिथ्यात्वोदयदूषितः ॥ १५ ॥
उन्मादीव मदीवान्धो वावेशी वाविचारकः । यद्यदात्माहितं मोहात्तत्तदेवाचरंश्चिरम् ॥ १६ ॥
भ्रमित्वा भवकान्तारे प्रभ्रष्टो निर्वृतेः पथः । इत्यतोऽनुभवाद्भीत्वा मुक्तिमार्गप्रपित्सया ॥ १७ ॥
सूनवे धनदाख्याय वितीर्यैश्वर्यमात्मनः । प्राव्राजीद् बहुभिः सार्द्धं राजभिर्भवभीरुभिः ॥ १८ ॥
क्रमादेकादशाङ्गाब्धिपारगो भावनापरः । बद्ध्वा तीर्थकरं नाम प्रान्ते स्वाराधनाविधिः ॥ १९ ॥
त्रिंशत्यब्ध्युपमात्तायुः सार्द्धहस्तत्रयोच्छ्रितिः । शुक्ललेश्यः श्वसन् मासैर्दशभिर्दशभिर्बली ॥ २० ॥
स्मरन् सहस्रविंशत्या वत्सराणां तनुस्थितिम् । [1]मानसोऽस्य प्रवीचारः प्राप्तधूमप्रभावधिः ॥ २१ ॥
विक्रियाबलतेजोभिः स्वावधिक्षेत्रसम्मितः । उत्कृष्टाष्टगुणैश्वर्यः प्राणतेन्द्रोऽजनिष्ट सः ॥ २२ ॥
दीर्घं तत्र सुखं भुक्त्वा तस्मिन्नत्रागमिष्यति । द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे काकन्दीनगराधिपः ॥ २३ ॥
इक्ष्वाकुः काश्यपो वंशगोत्राभ्यां क्षत्रियाग्रिमः । सुग्रीवोऽस्य महादेवी जयरामेति रम्यभाः ॥ २४ ॥
सा देवैर्वसुधारादिपूजां प्राप्य परार्धिकाम् । फाल्गुने मूलनक्षत्रे तामसे नवमीदिने ॥ २५ ॥
प्रभाते षोडश स्वप्नान् दरनिद्राविलेक्षणा । विलोक्य तत्फलान्यात्मपतेर्ज्ञात्वा प्रमोदिनी ॥ २६ ॥

सुखके विरहको कभी जानता ही नहीं था ॥११॥ इस प्रकार अपने पुण्यके माहात्म्यसे जिसके महोत्सव निरन्तर बढ़ते रहते हैं ऐसे राजा महापद्मने किसी दिन अपने वनपालसे सुना कि मनोहर नामक उद्यानमें महान् ऐश्वर्यके धारक भूतहित नामके जिनराज स्थित हैं। वह उनकी वन्दनाके लिए बड़े वैभवसे गया और समस्त जीवोंके स्वामी जिनराजकी तीन प्रदक्षिणाएँ देकर उसने पूजा की, वन्दना की तथा हाथ जोड़कर अपने योग्य स्थानपर बैठकर उनसे धर्मोपदेश सुना। उपदेश सुननेसे उसे आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और वह इस प्रकार विचार करने लगा ॥१२–१४॥ अनादिकालीन मिथ्यात्वके उदयसे दूषित हुआ यह आत्मा, अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा दुःख उत्पन्न कर पागलकी तरह अथवा मतवालेकी तरह अन्धा हो रहा है तथा किसी भूताविष्टके समान अविचारी हो रहा है। जो-जो कार्य आत्माके लिए अहितकारी हैं मोहोदयसे यह प्राणी चिरकालसे उन्हींका आचरण करता चला आ रहा है। संसाररूपी अटवीमें भटक-भटककर यह मोक्षके मार्गसे भ्रष्ट हो गया है। इस प्रकार चिन्तवन कर वह संसारसे भयभीत हो गया तथा मोक्ष-मार्गको प्राप्त करनेकी इच्छासे धनद नामक पुत्रके लिए अपना ऐश्वर्य प्रदान कर संसारसे डरनेवाले अनेक राजाओंके साथ दीक्षित हो गया ॥१५–१८॥ क्रम-क्रमसे वह ग्यारह अंगरूपी समुद्रका पारगामी हो गया, सोलह कारणभावनाओंके चिन्तवनमें तत्पर रहने लगा और तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध कर अन्तमें उसने समाधिमरण धारण किया ॥१९॥ समाधिमरणके प्रभावसे वह प्राणत स्वर्गका इन्द्र हुआ। वहाँ बीस सागरकी उसकी आयु थी, साढ़े तीन हाथ ऊँचा शरीर था, शुक्ललेश्या थी, दश-दश माहमें श्वास लेता था, बीस हजार वर्ष बाद आहार लेता था, मानसिक प्रवीचार करता था, धूमप्रभा पृथिवी तक उसका अवधिज्ञान था, विक्रिया बल और तेजकी सीमा भी उसके अवधिज्ञानकी सीमाके बराबर थी तथा अणिमा महिमा आदि आठ उत्कृष्ट गुणोंसे उसका ऐश्वर्य बढ़ा हुआ था ॥२०–२२॥ वहाँका दीर्घ सुख भोगकर जब वह यहाँ आनेके लिए उद्यत हुआ तब इस जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रकी काकन्दी नगरीमें इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री सुग्रीव नामका क्षत्रिय राजा राज्य करता था। सुन्दर कान्तिको धारण करनेवाली जयरामा उसकी पट्टरानी थी ॥२३–२४॥ उस रानीने देवोंके द्वारा अतिशय श्रेष्ठ रत्नवृष्टि आदि सम्मानको पाकर फाल्गुन कृष्ण नवमीके दिन प्रभात कालके समय मूलनक्षत्रमें जब कि उसके नेत्र कुछ-कुछ बाकी बची हुई निद्रासे मलिन हो रहे थे, सोलह स्वप्न देखे। स्वप्न देखकर उसने अपने

---

१ मानसोऽर्थ्यः प्रवीचारः ल० ।

मार्गशीर्षे सिते पक्षे जैत्रयोगे तमुत्तमम् । प्रासूत प्रतिपद्याशु तदैत्यैन्द्राः सहामरैः ॥ २७ ॥
क्षीराभिषेकं भूषान्ते पुष्पदन्ताख्यमब्रुवन् । कुन्दपुष्पप्रभाभासि देहदीप्त्या विराजितम् ॥ २८ ॥
सागरोपमकोटीनां नवत्यामन्तरे गते । एष चन्द्रप्रभस्याभूत्तदभ्यन्तरजीवितः ॥ २९ ॥
पूर्वलक्षद्वयात्मायुः शतचापसमुच्छ्रितिः । लक्षार्द्धपूर्वकालेऽस्य कौमारमगमत् सुखम् ॥ ३० ॥
अथाप्य पूज्यं साम्राज्यमच्युतेन्द्रादिभिर्विभुः । अन्वभूत्सुखमाश्लिष्टमिष्टैः शिष्टैरभिष्टुतः ॥ ३१ ॥
कान्ताभिः करणैः सर्वैरमुष्मादपि यत्सुखम् । ताभ्योऽनेन तयोः कस्य बहुत्वं कथ्यतां बुधैः ॥ ३२ ॥
पुण्यवानस्त्वयं किन्तु मन्ये ता बहुपुण्यकाः । याः समभ्यर्णनिर्वाणसुखमेनमरीरमन् ॥ ३३ ॥
यः स्वर्गसारसौख्याब्धिमग्नः सन् भुवमागतः । तान्येव भोग्यवस्तूनि यानि तं चाभ्यलाषयन् ॥३४॥
अनन्तशोऽहमिन्द्रत्वं प्राप्य तेनाप्यतृप्तवान् । सुखेनानेन चेदेष तृप्तः सौख्येष्विदं मुख्यम् ॥ ३५ ॥
अष्टाविंशतिपूर्वाङ्गयुतलक्षार्द्धपूर्वके । राज्यकाले गते प्रीत्या कुर्वतो दिग्विलोकनम् ॥ ३६ ॥
आपतन्तीं विलोक्योल्कामस्यासीदीदृशी मतिः । दीपिकेऽयं ममानादिमहामोहतमोऽपहा ॥ ३७ ॥
इति तद्धेतुसंभूतविमलात्मगमात्मकः । स्वयंबुद्धो विबुद्धः सन् तत्त्वमेवं विभावयन् ॥ ३८ ॥
स्पष्टमद्य मया दृष्टं विश्वमेतद्विडम्बनम् । कर्मेन्द्रजालिकेनैवं विपर्यस्य प्रदर्शितम् ॥ ३९ ॥

पतिसे उनका फल जाना और जानकर बहुत ही हर्षित हुई ॥२५-२६॥ मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा के दिन जैत्रयोगमें उस महादेवीने वह उत्तम पुत्र उत्पन्न किया। उसी समय इन्द्रोंने देवोंके साथ आकर उनका क्षीरसागरके जलसे अभिषेक किया, आभूषण पहनाये और कुन्दके फूलके समान कान्तिसे सुशोभित शरीरकी दीप्तिसे विराजित उन भगवान्‌का पुष्पदन्त नाम रक्खा ॥२७-२८॥ श्री चन्द्रप्रभ भगवान्‌के बाद जब नव्वे करोड़ सागरका अन्तर बीत चुका था तब श्री पुष्पदन्त भगवान् हुए थे। उनकी आयु भी इसी अन्तरमें शामिल थी ॥२९॥ दो लाख पूर्वकी उनकी आयु थी, सौ धनुष ऊँचा शरीर था और पचास हजार पूर्व तक उन्होंने कुमार-अवस्थाके सुख प्राप्त किये थे ॥३०॥

अथानन्तर अच्युतेन्द्रादि देव जिसे पूज्य समझते हैं ऐसा साम्राज्य पाकर उन पुष्पदन्त भगवान्‌ने इष्ट पदार्थोंके संयोगसे युक्त सुखका अनुभव किया। उस समय बड़े-बड़े पूज्य पुरुष उनकी स्तुति किया करते थे ॥३१॥ सब स्त्रियोंसे, इन्द्रियोंसे और इस राज्यसे जो भगवान् सुविधिनाथको सुख मिलता था और भगवान् सुविधिनाथसे उन स्त्रियोंको जो सुख मिलता था उन दोनोंमें विद्वान् लोग किसको बड़ा अथवा बहुत कहें ? ॥३२॥ भगवान् पुण्यवान् रहें किन्तु मैं उन स्त्रियोंको भी बहुत पुण्यात्मा समझता हूँ क्योंकि मोक्षका सुख जिनके समीप है ऐसे भगवान्‌को भी वे प्रसन्न करती थीं—क्रीड़ा कराती थीं ॥३३॥ वे भगवान् स्वर्गके श्रेष्ठ सुख-रूपी समुद्रमें मग्न रहकर पृथिवीपर आये थे अर्थात् स्वर्गके सुखोंसे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ था इसलिए पृथिवीपर आये थे। इससे कहना पड़ता है कि यथार्थ भोग्य वस्तुएँ वही थीं जो कि भगवान्‌को अभिलाषा उत्पन्न कराती थीं—अच्छी लगती थीं ॥३४॥ जो भगवान् अनन्त बार अहमिन्द्र पद पाकर भी उससे सन्तुष्ट नहीं हुए वे यदि मनुष्य-लोकके इस सुखसे सन्तुष्ट हुए तो कहना चाहिए कि सब सुखोंमें यही सुख प्रधान था ॥३५॥ इस प्रकार प्रेमपूर्वक राज्य करते हुए जब उनके राज्य-कालके पचास हजार पूर्व और अट्ठाईस पूर्वांग बीत गये तब वे एक दिन दिशाओंका अवलोकन कर रहे थे। उसी समय उल्कापात देखकर उनके मनमें इस प्रकार विचार उत्पन्न हुआ कि यह उल्का नहीं है किन्तु मेरे अनादिकालीन महामोहरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाली दीपिका है ॥३६-३७॥ इस प्रकार उस उल्काके निमित्तसे उन्हें निर्मल आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया। वे स्वयंबुद्ध भगवान् इस निमित्तसे प्रतिबुद्ध होकर तत्त्व-का इस प्रकार विचार करने लगे कि आज मैंने स्पष्ट देख लिया कि यह संसार विड-

१–स्पीष्टुतः (?) ल० ।

कामशोकभयोन्मादस्वप्नचौर्याद्युपद्रुताः । असत्सदिति पश्यन्ति पुरतो वा व्यवस्थितम् ॥४०॥
न स्थास्नु न शुभं किंचिन्न सुखं मे न किंचन । ममाहमेव मत्तोऽन्यदन्यदेवाखिलं जगत् ॥४१॥
अहमन्यदिति द्वाभ्यां शब्दाभ्यां सम्यगर्पितम् । तथापि कोऽप्ययं मोहादाग्रहो विग्रहादिषु ॥ ४२ ॥
अहं मम शुभं नित्यं सुखमित्यतथात्मसु । अस्मादेव विपर्यासाद् भ्रान्तोऽहं भववारिधौ ॥ ४३ ॥
जन्मदुःखजरामृत्युमहामकरभीकरे । इति साम्राज्यलक्ष्मीं स तितिक्षुरभवत्तदा ॥४४॥
क्षिप्त्वा लौकान्तिकायातपूजो राज्यभरं सुते । सुमतौ प्राप्तकल्याणः सुरेन्द्रैः परिवारितः ॥ ४५ ॥
आरुह्य शिबिकां सूर्यप्रभाख्यां पुष्पके वने । मार्गशीर्षे सिते पक्षे प्रतिपद्यपराह्णके ॥ ४६ ॥
दीक्षां षष्ठोपवासेन सम्महस्त्रनृपोऽगृहीत् । मनःपर्ययसंज्ञानो द्वितीयेऽह्नि प्रविष्टवान् ॥ ४७ ॥
चर्यां शैलपुरे पुष्पमित्रश्चामीकरच्छविः । तत्र तं भोजयित्वाऽऽप पञ्चाश्चर्याणि पार्थिवः ॥ ४८ ॥
एवं तपस्यतो याताः छाद्मस्थ्येन चतुःसमाः । मूलर्क्षे कार्तिके शुक्लद्वितीयायां दिनक्षये ॥ ४९ ॥
दिनद्वयोपवासः सन्नधस्तान्नागभूरुहः । दीक्षावने विधूताघः प्राप्तानन्तचतुष्टयः ॥ ५० ॥
चतुर्विधामराधीशविहितातर्क्यवैभवः । मुनिरूपितविश्वार्थदिव्यध्वनिविराजितः ॥ ५१ ॥
विदर्भनाममुख्याष्टाशीतिसप्तर्द्धिसंयुतः । शून्यद्वयेन्द्रियैकोक्तश्रुतकेवलिनायकः ॥ ५२ ॥
खद्वयेन्द्रियपञ्चेन्द्रियैकशिक्षकरक्षकः । शून्यद्वयाब्धिकर्मोक्तत्रिज्ञानधरसेवितः ॥ ५३ ॥
शून्यत्रयमुनिप्रोक्तकेवलज्ञानलोचनः । खत्रयत्र्येकनिर्णीतविक्रियर्द्धिविवेष्टितः ॥ ५४ ॥
शून्यद्वयेन्द्रियद्व्युक्तमनःपर्ययबोधनः । शून्यद्वयर्तुषट्प्रोक्तवादिवन्द्याङ्घ्रिपङ्कजः ॥५५॥

रचना रूप है। कर्मरूपी इन्द्रजालियाने ही इसे उलटा कर दिखलाया है ॥३८–३९॥ काम, शोक, भय, उन्माद, स्वप्न और चोरी आदिसे उपद्रुत हुए प्राणी सामने रखे हुए असत् पदार्थको सत् समझने लगते हैं ॥४०॥ इस संसारमें न तो कोई वस्तु स्थिर है, न शुभ है, न कुछ सुख देनेवाली है और न कोई पदार्थ मेरा है, मेरा तो मेरा आत्मा ही है, यह सारा संसार मुझसे जुदा है और मैं इससे जुदा हूँ, इन दो शब्दोंके द्वारा ही जो कुछ कहा जाता है वही सत्य है, फिर भी आश्चर्य है कि मोहोदयसे शरीरादि पदार्थोंमें इस जीवकी आत्मीय बुद्धि हो रही है ॥४१–४२॥ शरीरादिक ही मैं हूँ, मेरा सब सुख शुभ है, नित्य है इस प्रकार अन्य पदार्थोंमें जो मेरी विपर्यय-बुद्धि हो रही है उसी-से मैं अनेक दुःख देनेवाले जरा, मरण और मृत्यु रूपी बड़े-बड़े मकरोंसे भयंकर इस संसाररूपी समुद्रमें भ्रमण कर रहा हूँ। ऐसा विचार कर वे राज्य-लक्ष्मीको छोड़नेकी इच्छा करने लगे ॥४३–४४॥ लौकान्तिक देवोंने उनकी पूजा की। उन्होंने सुमति नामक पुत्रके लिए राज्यका भार सौंप दिया, इन्द्रोंने दीक्षा-कल्याणक कर उन्हें घेर लिया ॥४५॥ वे उसी समय सूर्यप्रभा नामकी पालकी-पर सवार होकर पुष्पकवनमें गये और मार्गशीर्षके शुक्लपक्षकी प्रतिपदाके दिन सायंकालके समय वेलाका नियम लेकर एक हजार राजाओंके साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय-ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे दूसरे दिन आहारके लिए शैलपुर नामक नगरमें प्रविष्ट हुए। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले पुष्पमित्र राजाने उन्हें भोजन कराकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥४६–४८॥ इस प्रकार छद्मस्थ अवस्थामें तपस्या करते हुए उनके चार वर्ष बीत गये। तदनन्तर कार्तिक शुक्ल द्वितीयाके दिन सायंकालके समय मूल-नक्षत्रमें दो दिनका उपवास लेकर नागवृक्षके नीचे स्थित हुए और उसी दीक्षावनमें घातिया कर्मरूपी पापकर्मोको नष्ट कर अनन्तचतुष्टयको प्राप्त हो गये ॥४९–५०॥ चतुर्णिकाय देवोंके इन्द्रोंने उनके अचिन्त्य वैभवकी रचना की—समवसरण बनाया और वे समस्त पदार्थोंका निरूपण करनेवाली दिव्यध्वनिसे सुशोभित हुए ॥५१॥ वे सात ऋद्धियोंको धारण करनेवाले विदर्भ आदि अट्ठासी गणधरोंसे सहित थे, पन्द्रह सौ श्रुतकेवलियों-के स्वामी थे; एक लाख पचपन हजार पाँच सौ शिक्षकोंके रक्षक थे, आठ हजार चार सौ अवधि-ज्ञानियोंसे सेवित थे, सात हजार केवलज्ञानियों और तेरह हजार विक्रिया ऋद्धिके धारकोंसे वेष्टित थे, सात हजार पाँच सौ मनःपर्ययज्ञानियों और छह हजार छह सौ वादियों-के द्वारा उनके मङ्गलमय चरणोंकी पूजा होती थी, इस प्रकार वे सब मिलाकर दो लाख मुनियों-के स्वामी थे, घोषार्याको आदि लेकर तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाओंसे सहित थे, दो लाख श्रावकोंसे युक्त थे, पाँच लाख श्राविकाओंसे पूजित थे, असंख्यात देवों और संख्यात तिर्यंचों-

पिण्डितर्षिद्विलक्षेशः स्वचतुष्काष्टवह्निमान् । घोषार्याद्यार्यिकोपेतो द्विलक्षश्रावकान्वितः ॥ ५६ ॥
श्राविकापञ्चलक्षार्च्यः संख्यातीतमरुद्गणः । तिर्यक्संख्यातसंपन्नो गणैरित्येभिरर्चितः ॥५७॥
विहृत्य विषयान् प्राप्य संमेदं रुद्धयोगकः । मासे भाद्रपदेऽष्टम्यां शुक्ले मूले पराह्णके ॥ ५८ ॥
सहस्रमुनिभिः सार्द्धं मुक्तिं सुविधिराप्तवान् । निलिम्पाः परिनिर्वाणकल्याणान्ते दिवं ययुः ॥ ५९ ॥

स्रग्धरा

दुर्गं मार्गं परेषां सुगममभिगमात्स्वस्य शुद्धं व्यधात्ः
प्राप्तुं स्वर्गापवर्गौ सुविधिमुपशमं चेतसा बिभ्रतां तम् ।
भक्तानां मोक्षलक्ष्मीपतिमतिविकसत्पुष्पदन्तं भदन्तं
भास्वन्तं दन्तकान्त्या प्रहसितवदनं पुष्पदन्तं नमामः ॥ ६० ॥

वसन्ततिलका

शान्तं वपुः श्रवणहारि वचश्चरित्रं
सर्वोपकारि तव देव ततो भवन्तम् ।
संसारमारवमहास्थलरुद्रसान्द्र-
छायामहीरुहमिमं सुविधिं श्रयामः ॥ ६१ ॥
योऽजायत क्षितिभृदत्र महादिपद्मः
पश्चादभूद्दिवि चतुर्दशकल्पनाथः ।
प्रान्ते बभूव भरते सुविधिर्नृपेन्द्र-
स्तीर्थेश्वरः स नवमः कुरुताच्छ्रियं वः ॥ ६२ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे पुष्पदन्तपुराणा—
वसितं पञ्चपञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५५ ॥



से सम्पन्न थे। इस तरह बारह सभाओंसे पूजित भगवान् पुष्पदन्त आर्य देशोंमें बिहार कर सम्मेदशिखरपर पहुँचे और योग निरोध कर भाद्रशुक्ल अष्टमीके दिन मूल-नक्षत्रमें सायंकाल-के समय एक हजार मुनियोंके साथ मोक्षको प्राप्त हो गये। देव आये और उनका निर्वाण-कल्याणक कर स्वर्ग चले गये ॥५२–५९॥

जिन्होंने स्वयं चलकर मोक्षका कठिन मार्ग दूसरोंके लिए सरल तथा शुद्ध कर दिया है, जिन्होंने चित्तमें उपशम भावको धारण करनेवाले भक्तोंके लिए स्वर्ग और मोक्षका मार्ग प्राप्त करनेकी उत्तम विधि बतलायी है, जो मोक्ष-लक्ष्मीके स्वामी हैं, जिनके दाँत खिले हुए पुष्पके समान हैं, जो स्वयं देदीप्यमान हैं और जिनका मुख दाँतोंकी कान्तिसे सुशोभित है ऐसे भगवान् पुष्पदन्तको हम नमस्कार करते हैं ॥६०॥ हे देव ! आपका शरीर शान्त है, वचन कानोंको हरनेवाले हैं, चरित्र सबका उपकार करनेवाला है और आप स्वयं संसाररूपी विशाल मरुस्थलके बीचमें 'सघन' छायादार वृक्षके समान हैं अतः हम सब आपका ही आश्रय लेते हैं ॥६१॥

जो पहले महापद्म नामक राजा हुए, फिर स्वर्गमें चौदहवें कल्पके इन्द्र हुए और तदनन्तर भरतक्षेत्रमें महाराज सुविधि नामक नौवें तीर्थंकर हुए ऐसे सुविधिनाथ अथवा पुष्पदन्त हम सबको लक्ष्मी प्रदान करें ॥६२॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद् गुणभद्राचार्य प्रणीत, त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें पुष्पदन्त पुराणका वर्णन करनेवाला पचपनवाँ पर्व समाप्त हुआ।



शीतलो यस्य सद्धर्मः कर्मधर्माशुभीषुभिः[1] । संतप्तानां शशीवासौ शीतलः शीतलोऽस्तु नः ॥ १ ॥
पुष्करद्वीपपूर्वार्द्धमन्दरप्राग्विदेहभाक् । सीतापाक्तटवत्सस्थसुसीमानगराधिपः ॥ २ ॥
भूपतिः पद्मगुल्माख्यो दृष्टोपायचतुष्टयः । पञ्चाङ्गमन्त्रनिर्णीतसन्धिविग्रहतत्त्ववित् ॥ ३ ॥
प्रज्ञावारिपरीषेकवृद्धिमद्राज्यभूरुहः । सप्तप्रकृतिशाखाभिः फलत्यस्य फलत्रयम् ॥ ४ ॥
प्रतापवाडवालोलज्वालामालापरिस्फुरन् । चन्द्रासिधारावार्वार्द्धिमग्नारातिमहीधरः ॥ ५ ॥
स्वयमुत्पाद्य दैवेन लक्ष्मीं बुद्ध्योद्यमेन च । विधाय सर्वसंभोग्यां भोक्तापि गुणवानसौ ॥ ६ ॥
न्यायार्जितार्थसन्तर्पितार्थिसार्थे निराकुलम् । पाति तस्मिन् धराचक्रं सर्वर्तुसुखशालिनि ॥ ७ ॥
कोकिलालिकलालापा विलसत्पल्लवाधरा । सौगन्ध्यान्वितमत्तालिकलितोद्गमलोचना ॥ ८ ॥
[2]वीतनीहारसज्ज्योत्स्नाहासा स्वच्छाम्बराम्बरा । संपूर्णचन्द्रबिम्बास्या वकुलामोदवासिता ॥ ९ ॥
मलयानिलनिःश्वासा कर्णिकारतनुच्छविः । वसन्तश्रीरिवायाता तत्सङ्गमसमुत्सुका ॥ १० ॥
अनङ्गस्तद्बलेनैनं पञ्चबाणोऽपि निष्ठुरम् । अविध्यद्बहुबाणो वा को न कालबले बली ॥ ११ ॥

जिनका कहा हुआ समीचीन धर्म, कर्मरूपी सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त प्राणियोंके लिए चन्द्रमाके समान शीतल है—शान्ति उत्पन्न करनेवाला है वे शीतलनाथ भगवान् हम सबके लिए शीतल हों—शान्ति उत्पन्न करनेवाले हों ॥१॥ पुष्करवर द्वीपके पूर्वार्ध भागमें जो मेरु पर्वत है उसकी पूर्व दिशाके विदेह क्षेत्रमें सीतानदीके दक्षिण तटपर एक वत्स नामका देश है। उसके सुसीमा नगरमें पद्मगुल्म नामका राजा राज्य करता था। राजा पद्मगुल्म साम, दान, दण्ड और भेद इन चार उपायोंका ज्ञाता था, सहाय, साधनोपाय, देशविभाग, कालविभाग और विनिपातप्रतीकार इन पाँच अंगोंसे निर्णीत सन्धि और विग्रह—युद्धके रहस्यको जाननेवाला था। उसका राज्यरूपी वृक्ष बुद्धि-रूपी जलके सिंचनसे खूब वृद्धिको प्राप्त हो रहा था, तथा स्वामी, मन्त्री, किला, खजाना, मित्र, देश और सेना इन सात प्रकृतिरूपी शाखाओंसे विस्तारको प्राप्त होकर धर्म, अर्थ और कामरूपी तीन फलोंको निरन्तर फलता रहता था ॥२-४॥ वह प्रताप-रूपी बड़वानलकी चंचल ज्वालाओंके समूहसे अत्यन्त देदीप्यमान था तथा उसने अपने चन्द्रहास—खड्गकी धाराजलके समुद्रमें समस्त शत्रु राजारूप पर्वतोंको डुबा दिया था ॥५॥ उस गुणवान् राजाने दैव, बुद्धि और उद्यमके द्वारा स्वयं लक्ष्मीका उपार्जन कर उसे सर्वसाधारणके द्वारा उपभोग करने योग्य बना दिया था। साथ ही वह स्वयं भी उसका उपभोग करता था ॥६॥ न्यायोपार्जित धनके द्वारा याचकोंके समूहको सन्तुष्ट करनेवाला तथा समस्त ऋतुओंके सुख भोगनेवाला राजा पद्मगुल्म जब इस धराचक्रका—पृथिवीमण्डलका पालन करता था तब उसके समागमकी उत्सुकतासे ही मानो वसन्त ऋतु आ गयी थी। कोकिलाओं और भ्रमरोंके मनोहर शब्द ही उसके मनोहर शब्द थे, वृक्षोंके लहलहाते हुए पल्लव ही उसके ओठ थे, सुगन्धिसे एकत्रित हुए मत्त भ्रमरोंसे सहित पुष्प ही उसके नेत्र थे, कुहरासे रहित निर्मल चाँदनी ही उसका हास्य था, स्वच्छ आकाश ही उसका वस्त्र था, सम्पूर्ण चन्द्रमाका मण्डल ही उसका मुख था, मौलिश्रीकी सुगन्धिसे सुवासित मलय समीर ही उसका श्वासोच्छ्वास था और कनेरके फूल ही उसके शरीरकी पीत कान्ति थी ॥ ७-१० ॥ कामदेव यद्यपि शरीररहित था और उसके पास सिर्फ पाँच ही बाण थे, तो भी वह राजा पद्मगुल्मको इस प्रकार निष्ठुरतासे पीड़ा पहुँचाने लगा जैसे कि अनेक बाणोंसहित हो सो ठीक ही है क्योंकि समयका बल पाकर कौन नहीं बलवान् हो जाता है ? ॥११॥ जिसका मन

१ कृतधर्मांशुभीषुभिः ख० । कर्मधर्मांशुभीशुभिः ल० । कर्म एव धर्मांशुः सूर्यः तस्य अभीषवः किरणाः तैः । २ भामिनीहार ख०, ल० ।

[1]स सुखेप्सुर्वसन्तश्रीविवशीकृतमानसः । तया विवृद्धसंप्रीतिराक्रीडति निरन्तरम् ॥ १२ ॥
सापि कालानिलोद्धूता घनाली वा व्यलीयत । तदपायसमुद्भूतशोकव्याकुलिताशयः ॥ १३ ॥
कामो नाम खलः कोऽपि तापयत्यखिलं जगत् । पापी सकलचित्तस्थो विग्रही [2]विग्रहाद्विना ॥ १४ ॥
तं ध्यानानलनिर्दग्धमद्यैव विदधाम्यहम् । इत्याविर्भूतवैराग्यश्चन्दने निजनन्दने ॥ १५ ॥
राज्यभारं समारोप्य मुनिमानन्दनामकम् । संप्राप्य [3]सर्वसङ्गाङ्गवैमुख्यं स समीयिवान् ॥ १६ ॥
विपाकसूत्रपर्यन्तसकलाङ्गधरः शमी । स्वीकृत्य तीर्थकृन्नाम विधाय सुचिरं तपः ॥ १७ ॥
संप्राप्य [4]जीवितस्यान्ते त्रिधाराधनसाधनः । आरणाख्येऽभवत्कल्पे सुरेन्द्रो [5]इन्द्रवैभवः ॥ १८ ॥
द्वाविंशत्यब्धिमानायुः हस्तत्रितयविग्रहः । शुक्ललेश्याद्वयो मासैः सदैकादशभिः श्वसन् ॥ १९ ॥
द्वाविंशतिसहस्राब्दैर्मानसाहारतर्पितः । श्रीमान् मनःप्रवीचारः [6]प्राकाम्याद्यष्टधागुणः ॥ २० ॥
प्राक्षष्ठनरकाद् व्याप्ततृतीयज्ञानभास्वरः । तत्प्रमाणबलस्तावत् प्रकाशतनुविक्रियः ॥ २१ ॥
बीनबाह्यविकारोरुवरसौख्याब्धिपारगः । कलामिव [7]किलासंख्यामयमायुरजीगमत् ॥ २२ ॥
तस्मिन्भुवं समायाति षण्मासस्थितिजीविते । द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे विषये मलयाह्वये ॥ २३ ॥
राजा भद्रपुरं वंशो पुरोर्दृढरथोऽभवत् । महादेवी सुनन्दास्य तद्गृहं धनदाज्ञया ॥ २४ ॥
रत्नैरपूरयन् देवाः षण्मासैर्गुह्यकाह्वयाः । सापि स्वप्नान्निशाप्रान्ते[8] षोडशालोक्य मानिनी ॥२५॥

वसन्तलक्ष्मीने अपने अधीन कर लिया है तथा जो अनेक सुख प्राप्त करना चाहता है ऐसा वह राजा प्रीतिको बढ़ाता हुआ उस वसन्तलक्ष्मीके साथ निरन्तर क्रीड़ा करने लगा ॥१२॥ परन्तु जिस प्रकार वायुसे उड़ायी हुई मेघमाला कहीं जा छिपती है उसी प्रकार कालरूपी वायुसे उड़ायी वह वसन्तश्री अन्तर्हित हो गयी और उसके नष्ट होनेसे उत्पन्न हुए शोकके द्वारा उसका चित्त बहुत ही व्याकुल हो गया ॥१३॥ वह विचार करने लगा कि यह काम बड़ा दुष्ट है, यह पापी समस्त संसारको दुःखी करता है, सबके चित्तमें रहता है और विग्रह–शरीररहित होनेपर भी विग्रही—शरीरसहित (पक्षमें उपद्रव करनेवाला) है ॥१४॥ मैं उस कामको आज ही ध्यानरूपी अग्निके द्वारा भस्म करता हूँ। इस प्रकार उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ। वह चन्दन नामक पुत्रके लिए राज्यका भार सौंपकर आनन्द नामक मुनिराजके समीप पहुँचा और समस्त परिग्रह तथा शरीरसे विमुख हो गया ॥१५-१६॥ शान्त परिणामोंको धारण करनेवाले उसने विपाकसूत्र तक सब अंगोंका अध्ययन किया, चिरकाल तक तपश्चरण किया, तीर्थंकर नाम-कर्मका बन्ध किया, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन आराधनाओंका साधन किया तथा आयुके अन्तमें वह समाधिमरण कर आरण नामक पन्द्रहवें स्वर्गमें विशाल वैभवको धारण करनेवाला इन्द्र हुआ ॥१७-१८॥ वहाँ उसकी आयु बाईस सागरकी थी, तीन हाथ ऊँचा उसका शरीर था, द्रव्य और भाव दोनों ही शुक्ललेश्याएँ थीं, ग्यारह माहमें श्वास लेता था, बाईस हजार वर्षमें मानसिक आहार लेकर सन्तुष्ट रहता था, लक्ष्मीमान् था, मानसिक प्रवीचारसे युक्त था, प्राकाम्य आदि आठ गुणोंका धारक था, छठवें नरकके पहले-पहले तक व्याप्त रहनेवाले अवधिज्ञानसे देदीप्यमान था, इतनी ही दूर तक उसका बल तथा विक्रिया शक्ति थी और बाह्य-विकारोंसे रहित विशाल श्रेष्ठ सुखरूपी सागरका पारगामी था, इस प्रकार उसने अपनी असंख्यात वर्षकी आयुको कालकी कलाके समान—एक क्षणके समान बिता दिया ॥१९-२२॥ जब उस इन्द्रकी आयु छह माहकी बाकी रह गयी और वह पृथिवीपर आनेके लिए उद्यत हुआ तब जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रसम्बन्धी मलय नामक देशमें भद्रपुर नगरका स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा दृढरथ राज्य करता था। उसकी महारानीका नाम सुनन्दा था। कुबेरकी आज्ञासे यक्ष जातिके देवोंने छह मास पहलेसे रत्नोंके द्वारा सुनन्दाका

१ सन् सुखेप्सु–ग० । सुसुखेप्सु–ल० । २ विग्रहं विना ख० । ३ सर्वसङ्गाङ्गवैमुख्यं (सर्वपरिग्रहशरीरविमुखत्वं) क०, टि० । सर्वसंभोगवैमुख्यम् ल० । ४ जीवितस्यान्ते ल० । ५ विशालवैभवः । ६ प्राकाम्याद्यष्टधीगुणः ल० । प्राकाम्याद्यष्टधागुणैः ख० । ७ कलासंख्य–ल० । ८ निशाप्रान्ते ल० ।

प्रविशन्तं गजं चास्ये भूपतेस्तत्फलान्यवैत्¹ । तदाषाढनक्षत्रे कृष्णाष्टम्यां दिवश्च्युतः ॥ २६ ॥
चैत्रे स देवः स्वर्गाग्रात् गुणैः सद्वृत्ततादिभिः । नार्घ्यः शुक्तिपुटे तस्या वार्बिन्दुर्वोदरेऽभवत् ॥ २७ ॥
आदिकल्याणसम्पूजां प्रीत्यैत्य विदधुः सुराः । द्वादश्यामसिते माघे विश्वयोगेऽजनि क्रमात् ॥ २८ ॥
तदैवागत्य तं नीत्वा ²महामेरुं महोत्सवाः । देवा महाभिषेकान्ते व्याहरन्ति स्म शीतलम् ॥ २९ ॥
नवकोट्यब्धिमानोक्तपुष्पदन्तान्तरान्तिमे । पल्योपमचतुर्भागे व्युच्छिन्ने धर्मकर्मणि ॥ ३० ॥
तदभ्यन्तरवर्त्यायुरुत्पन्नः कनकच्छविः । लक्षैकपूर्वायुर्धनुर्नवतिविग्रहः ॥ ३१ ॥
गते स्वायुश्चतुर्भागे कौमारे स्वपितुः पदम् । प्राप्य प्रधानसिद्धिं च पालयामास स प्रजाः ॥ ३२ ॥
गत्यादिशुभनामानि सद्वेद्यं गोत्रमुत्तमम् । आयुस्तीर्थकरोपेतमपवर्तविवर्जितम् ॥३३॥
सर्वाण्येतानि संभूय स्वोत्कृष्टानुभवोदयात् । सुखदानि ततस्तस्य सुखं केनोपमीयते ॥ ३४ ॥
स्वायुश्चतुर्थभागावशेषे ह्रासितसंसृतिम्³ । प्रत्याख्यानकषायोदयावसाने प्रतिष्ठितम् ॥ ३५ ॥
तं कदाचिद्विहारार्थं वनं यातं महौजसम् । हिमानीपटलं सद्यः प्रच्छाद्य ⁴विलयं गतम् ॥ ३६ ॥
स तद्धेतुसमुद्भूतबोधिरित्थमचिन्तयत् । क्षणं प्रत्यर्थपर्यायैरिदं विश्वं विनश्वरम् ॥ ३७ ॥
दुःखदुःखिनिमित्तात्मत्रितयं निश्चितं मया । सुखादित्रयविज्ञानमेतन्मोहानुबन्धजात् ॥ ३८ ॥
अहं किल सुखी सौख्यमेतत् किल पुनः सुखम् । पुण्यात्किल महामोहः काललब्ध्या विनानयत् ॥३९॥

घर भर दिया। मानवती सुनन्दाने भी रात्रिके अन्तिम भागमें सोलह स्वप्न देखकर अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। प्रातःकाल राजासे उनका फल ज्ञात किया और उसी समय चैत्र कृष्ण अष्टमीके दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रमें सद्वृत्तता—सदाचार आदि गुणोंसे उपलक्षित वह देव स्वर्गसे च्युत होकर रानीके उदरमें उस प्रकार अवतीर्ण हुआ जिस प्रकार कि सद्वृत्तता—गोलाई आदि गुणोंसे उपलक्षित जलकी बूँद शुक्तिके उदरमें अवतीर्ण होती है ॥२६-२७॥ देवोंने आकर बड़े प्रेमसे प्रथम कल्याणककी पूजा की। क्रम-क्रमसे नव माह व्यतीत होनेपर माघकृष्ण द्वादशीके दिन विश्वयोगमें पुत्र-जन्म हुआ ॥२८॥ उसी समय बहुत भारी उत्सवसे भरे देव लोग आकर उस बालकको सुमेरु पर्वतपर ले गये। वहाँ उन्होंने उसका महाभिषेक किया और शीतलनाथ नाम रखा ॥२९॥ भगवान् पुष्पदन्तके मोक्ष चले जानेके बाद नौ करोड़ सागरका अन्तर बीत जानेपर भगवान् शीतलनाथका जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसीमें सम्मिलित थी। उनके जन्म लेनेके पहले पल्यके चौथाई भाग तक धर्म-कर्मका विच्छेद रहा था। भगवान्के शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान थी, आयु एक लाख पूर्वकी थी और शरीर नब्बे धनुष ऊँचा था ॥३०-३१॥ जब आयुके चतुर्थ-भागके प्रमाण कुमारकाल व्यतीत हो गया तब उन्होंने अपने पिताका पद प्राप्त किया तथा प्रधान सिद्धि प्राप्त कर प्रजाका पालन किया ॥३२॥ गति आदि शुभ नामकर्म, साता वेदनीय, उत्तम गोत्र और अपघात मरणसे रहित तथा तीर्थंकर नामकर्मसे सहित आयु-कर्म ये सभी मिलकर उत्कृष्ट अनुभाग-बन्धका उदय होनेसे उनके लिए सब प्रकारके सुख प्रदान करते थे अतः उनके सुखकी उपमा किसके साथ दी जा सकती है ? ॥३३-३४॥ इस प्रकार जब उनकी आयुका चतुर्थ भाग शेष रह गया, तथा संसार-भ्रमण अत्यन्त अल्प रह गया तब उनके प्रत्याख्यानावरण कषायका अन्त हो गया। महातेजस्वी भगवान् शीतलनाथ किसी समय विहार करनेके लिए वनमें गये। वहाँ उन्होंने देखा कि पालेका समूह जो क्षण-भर पहले समस्त पदार्थोंको ढके हुए था शीघ्र ही नष्ट हो गया है ॥३५-३६॥ इस प्रकरणसे उन्हें आत्म-ज्ञान उत्पन्न हो गया और वे इस प्रकार विचार करने लगे कि प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण-भरमें बदलते रहते हैं उन्हींसे यह सारा संसार विनश्वर है ॥३७॥ आज मैंने दुःख, दुःखी और दुःखके निमित्त इन तीनोंका निश्चय कर लिया। मोहके अनुबन्धसे मैं इन तीनोंको सुख, सुखी और सुखका निमित्त समझता रहा ॥३८॥ 'मैं सुखी हूँ, यह सुख है और यह सुख पुण्योदयसे फिर भी मुझे मिलेगा' यह बड़ा भारी मोह है जो कि काललब्धिके बिना हो रहा

---

१ न्यवीत् (?) ल० । २ महामेरु ल० । ३ संसृतिः ल० । ४ प्रलयं ल० ।

कर्म स्यात्किं न वा पुण्यं कर्म चेत्कर्मणा कुतः । सुखं रतिविकाराभिलाषदोषवतोऽङ्गिनः ॥ ४० ॥
विषयैरेव चेत्सौख्यं तेषां पर्यन्तगोऽस्म्यहम् । तत कुतो न मे तृप्तिः मिथ्यावैषयिकं सुखम् ॥ ४१ ॥
औदासीन्यं सुखं तच्च सति मोहे कुतस्ततः । मोहारिमेव निर्मूलं विलयं प्रापये द्रुतम् ॥ ४२ ॥
इत्याकलय्य [1]याथात्म्यं हेयपक्षे निवेशितम् । दत्त्वा पुत्राय साम्राज्यं मोहिनामादरावहम् ॥ ४३ ॥
लब्धलौकान्तिकस्तोत्रः प्राप्ततत्कालपूजनः । शुक्रप्रभां समारुह्य सहेतुकवनान्तरे ॥ ४४ ॥
पूर्वाषाढे माघमासे कृष्णद्वादश्यहःक्षये । उपवासद्वयी[2] राजसहस्रेणैत्य संयमम् ॥ ४५ ॥
चतुर्ज्ञानो द्वितीयेऽह्नि स चर्यार्थं प्रविष्टवान् । अरिष्टनगरं तस्मै नवपुण्यः पुनर्वसुः ॥ ४६ ॥
नाम्ना नरपतिर्दत्त्वा परमान्नं प्रमोदवान् । वित्तं(?)र्णसमरैस्तुष्टैः प्रापदाश्चर्यपञ्चकम् ॥ ४७ ॥
छाद्मस्थ्येन समास्तिस्रो नीत्वा बिल्वद्रुमाश्रयः । पौषकृष्णचतुर्दश्यां पूर्वाषाढेऽपराह्णगे ॥ ४८ ॥
दिनद्वयोपवासेन कैवल्यं कनकद्युतिः । प्रापदाप्य तदा देवाः तस्य पूजामकुर्वत ॥ ४९ ॥
अनगाराग्र्यमुख्यैकाशीतिसप्तर्द्धिसत्तमः । शून्यद्वययुगैकोक्तपूज्यपूर्वधरान्वितः ॥ ५० ॥
शून्यद्वयद्विरन्ध्रेन्द्रियोक्तशिक्षकलक्षितः । शून्यद्वयद्विसप्ताङ्कज्ञानत्रयविलोचनः ॥ ५१ ॥
शून्यत्रितयसप्तोक्तपञ्चमावगमान्वितः । शून्यत्रितयपक्षैकविक्रियर्द्धियतीडितः ॥ ५२ ॥
खद्विकेन्द्रियसप्तोक्तमनःपर्ययसंयतः । शून्यद्वयद्विपञ्चोक्तवादिमुख्याञ्चितक्रमः ॥ ५३ ॥
एकीकृतयतिव्रात[3]लक्षासमुपलक्षितः । खचतुष्काष्टवह्न्युक्तध[4]रणाद्यार्यिकान्वितः ॥ ५४ ॥
उपासकद्विलक्षार्च्यो द्विगुणश्राविकानुत । असंख्यदेवदेवीड्यस्तिर्यक्संख्यातसेवितः ॥ ५५ ॥

है ॥३९॥ कर्म पुण्यरूप हों अथवा न हों, यदि कर्म विद्यमान हैं तो उनसे इस जीवको सुख कैसे मिल सकता है ? क्योंकि यह जीव राग-द्वेष तथा अभिलाषा आदि अनेक दोषोंसे युक्त है ॥४०॥ यदि विषयोंसे ही सुख प्राप्त होता है तो मैं विषयोंके अन्तको प्राप्त हूँ अर्थात् मुझे सबसे अधिक सुख प्राप्त हैं फिर मुझे सन्तोष क्यों नहीं होता । इससे जान पड़ता है कि विषय-सम्बन्धी सुख मिथ्या सुख है ॥४१॥ उदासीनता ही सच्चा सुख है और वह उदासीनता मोहके रहते हुए कैसे हो सकती है ? इसलिए मैं सर्वप्रथम इस मोह-शत्रुको ही शीघ्रताके साथ जड़-मूलसे नष्ट करता हूँ ॥४२॥ इस प्रकार पदार्थके यथार्थ स्वरूपका विचार कर उन्होंने विवेकियोंके द्वारा छोड़नेके योग्य और मोही जीवोंके द्वारा आदर देनेके योग्य अपना सारा साम्राज्य पुत्रके लिए दे दिया ॥४३॥ उसी समय आये हुए लौकान्तिक देवोंने जिनकी स्तुति की है तथा उन्होंने दीक्षा-कल्याणक पूजा प्राप्त की है ऐसे भगवान शीतलनाथ शुक्रप्रभा नामकी पालकीपर सवार होकर सहेतुक वनमें पहुँचे ॥४४॥ वहाँ उन्होंने माघकृष्ण द्वादशीके दिन सायंकालके समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रमें दो उपवासका नियम लेकर एक हजार राजाओंके साथ संयम धारण किया ॥४५॥ चार ज्ञानके धारी भगवान् दूसरे दिन चर्याके लिए अरिष्टनगरमें प्रविष्ट हुए। वहाँ नवधा भक्ति करनेवाले पुनर्वसु राजाने बड़े हर्षके साथ उन्हें खीरका आहार देकर सन्तुष्ट देवोंके द्वारा प्रदत्त पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥४६–४७॥ तदनन्तर छद्मस्थ अवस्थाके तीन वर्ष बिताकर वे एक दिन बेलके वृक्षके नीचे दो दिनके उपवासका नियम लेकर विराजमान हुए। जिससे पौषकृष्ण चतुर्दशीके दिन पूर्वाषाढ़ नक्षत्रमें सायंकालके समय सुवर्णके समान कान्तिवाले उन भगवान्‌ने केवलज्ञान प्राप्त किया। उसी समय देवोंने आकर उनके ज्ञान-कल्याणककी पूजा की ॥४८–४९॥ उनकी सभामें सप्त ऋद्धियोंको धारण करनेवाले अनगार आदि इक्यासी गणधर थे। चौदह सौ पूर्वधारी थे, उनसठ हजार दो सौ शिक्षक थे, सात हजार दो सौ अवधिज्ञानी थे, सात हजार केवलज्ञानी थे, बारह हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक मुनि उनकी पूजा करते थे, सात हजार पाँच सौ मनःपर्ययज्ञानी उनके चरणोंकी पूजा करते थे, इस तरह सब मुनियोंकी संख्या एक लाख थी, धरणा आदि तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ उसके साथ थीं,

---

१ याथात्म्यहेय क० । २ उपवासद्वयो ख०, ल० । ३ लक्षः समुप-ख० । लक्षसमुप-ल० । ४ धारणाद्या क० ।

विहृत्य विविधान् देशान् भव्यमिथ्यादृशो बहून्। सम्यक्त्वादिगुणस्थानान्यापयन् धर्मदेशनात् ॥५६॥
सम्मेदशैलमासाद्य मासमात्रोज्झितक्रियः। प्रतिमायोगमास्थाय सहस्रमुनिसंवृतः ॥५७॥
धवलाश्वयुजाष्टम्यां पूर्वाषाढेऽपराह्णगः। नाशिताशेषकर्मारिः समगात्परमं पदम् ॥५८॥
कृत्वा पञ्चमकल्याणं देवेन्द्रा द्योतिताखिलाः। स्वदेहद्युतिभिः स्तुत्वा शीतलं संसृता दिवम् ॥५९॥

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

यस्योत्पादमनुप्रसादमगमच्चन्द्रोदयाद्वा जगत्
बन्धूनां व्यकसन्मुखानि निखिलान्यब्जानि वार्कोद्गतेः।
अर्थान् प्राप्य समीप्सितान् बहुमुदा सत्यर्थवन्तोऽर्थिनः
तं वन्दे त्रिदशार्चितं रतितृषानिःशोषिणं शीतलम् ॥६०॥
दिग्दन्तावलकर्णमूलगलितैर्दानैस्तताऽमोदनै–
र्दत्तार्द्धेन्दुनिभोज्ज्वलालिकतिलकास्तत्र पर्यङ्के[2] ॥
दिक्कन्याः कलकण्ठिकाश्च रचितैर्गायन्ति यद्गीश्वरै-
र्यस्याभ्युद्धतमोहघोरविजयं तं शीतलं संस्तुवे ॥६१॥

रथोद्धतावृत्तम्

पद्मगुल्ममखिलैः स्तुतं गुणैरारणेन्द्रममरार्चितं नमः।
तीर्थकृत्सुदशमं दयामयं शीतलं नमत सर्वशीतलम् ॥६२॥

अनुष्टुप्

शीतलेशस्य तीर्थान्ते सद्धर्मो नाशमेयिवान्। वक्तृश्रोतृचरिष्णूनामभावात्कालदोषतः ॥६३॥

दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ उनकी अर्चा तथा स्तुति करती थीं, असंख्यात देव-देवियाँ उनका स्तवन करती थीं और संख्यात तिर्यंच उनकी सेवा करते थे ॥५०-५५॥ असंख्यात देशोंमें विहार कर धर्मोपदेशके द्वारा बहुत-से भव्य मिथ्यादृष्टि जीवोंको सम्यक्त्व आदि गुणस्थान प्राप्त कराते हुए वे सम्मेदशिखरपर पहुँचे। वहाँ एक माहका योग-निरोध कर उन्होंने प्रतिमा योग धारण किया और एक हजार मुनियोंके साथ आश्विन शुक्ला अष्टमीके दिन सायं-कालके समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रमें समस्त कर्म-शत्रुओंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त किया ॥५६-५८॥ अपने शरीरकी कान्तिसे सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले इन्द्र पंचम कल्याणक कर तथा शीतल-नाथ जिनेन्द्रकी स्तुति कर स्वर्गको चले गये ॥५९॥

जिनका जन्म होते ही संसार इस प्रकार प्रसन्नताको प्राप्त हो गया जिस प्रकार कि चन्द्रोदय-से होता है। समस्त भाई-बन्धुओंके मुख इस प्रकार विकसित हो गये जिस प्रकार कि सूर्यसे कमल विकसित हो जाते हैं और याचक लोग इच्छित पदार्थ पाकर बड़े हर्षसे कृतकृत्य हो गये उन देव-पूजित, रति तथा तृष्णाको नष्ट करनेवाले शीतल जिनेन्द्रकी मैं वन्दना करता हूँ—स्तुति करता हूँ॥६०॥ दिग्गजोंके कपोलमूलसे गलते हुए तथा सबको सुगन्धित एवं हर्षित करनेवाले मद-जल-से जिन्होंने ललाटपर अर्धचन्द्राकार तिलक दिया है, जिनके कण्ठ मधुर हैं ऐसी दिक्कन्याएँ स्व-रचित पद्योंके द्वारा जिनकी अत्यन्त उद्दण्ड मोहरूपी शूर-वीरको जीत लेनेके गीत गाती हैं उन शीतल जिनेन्द्रकी मैं स्तुति करता हूँ ॥६१॥ जो पहले सब तरहके गुणोंसे स्तुत्य पद्मगुल्म नामके राजा हुए, फिर देवोंके द्वारा पूजित आरण स्वर्गके इन्द्र हुए और तदनन्तर दशम तीर्थंकर हुए उन दयालु तथा सबको शान्त करनेवाले श्री शीतल जिनेन्द्रको हे भव्य जीवो! नमस्कार करो ॥६२॥

अथानन्तर-श्री शीतलनाथ भगवान्के तीर्थके अन्तिम भागमें काल-दोषसे वक्ता, श्रोता और आचरण करनेवाले धर्मात्मा लोगोंका अभाव हो जानेसे समीचीन जैन धर्मका नाश हो गया ॥६३॥

१—न्यायोजन् ल०। २ तद्दत्तपर्यन्तके ख०। तद्दत्तिपर्यन्तके ल०।

तदा मलयदेशेशो निवसन् भद्रिले पुरे । राजा मेघरथस्तस्य सचिवः सत्यकीर्तिवाक्[1] ॥ ६४ ॥
स कदाचित्सभागेहे सिंहासनमधिष्ठितः । आपृच्छत सभासीनान् धर्मार्थं द्रव्यदित्सया ॥ ६५ ॥
दानेषु कतमद्दानं दत्तं बहुफलं भवेत् । इत्यतो मतिवाक्सारः सचिवो दानतत्त्ववित् ॥ ६६ ॥
शास्त्राभयान्नदानानि प्रोक्तानि मुनिसत्तमैः । पूर्वपूर्वबहूपात्तफलानीमानि धीमताम् ॥ ६७ ॥
पूर्वापरविरोधादिदूरं हिंसाद्यपासनम् । प्रमाणद्वयसंवादि[2] शास्त्रं सर्वज्ञभाषितम् ॥ ६८ ॥
भूयः संसारभीरूणां सतामनुजिघृक्षया । व्याख्यानं तस्य शास्त्रस्य शास्त्रदानं तदुच्यते ॥ ६९ ॥
मुमुक्षोर्दृष्टतत्त्वस्य बन्धहेतुजिहासया । प्राणिपीडापरित्यागस्तद्दानमभयाह्वयम् ॥ ७० ॥
हिंसादिदोषदूरेभ्यो ज्ञानिभ्यो बाह्यसाधनम् । प्राहुराहारदानं तच्छुद्धाहारातिसर्जनम् ॥ ७१ ॥
आभ्यामाद्यन्तदानाभ्यामुभयोः कर्मनिर्जरा । पुण्यास्रवश्च शेषेण दातुस्तदुभयं भवेत् ॥ ७२ ॥
न ज्ञानात्सन्ति दानानि विना ज्ञानं न शास्त्रतः । हेयादेयादितत्त्वावभासनं[3] परमं हि तत् ॥ ७३ ॥
तद्व्याख्यातं श्रुतं सम्यग् भावितं शुद्धबुद्धये । तयोर्हेयं[4] परित्यज्य हितमादाय सव्रता ॥ ७४ ॥
मुक्तिमार्गं समाश्रित्य क्रमाच्छान्तेन्द्रियाशयाः[5] । शुक्लध्यानमभिष्टाय प्राप्नुवन्त्यमृतं पदम् ॥ ७५ ॥
तस्माद् दानेषु तच्छ्रेष्ठं प्रदातुर्गृह्णतामपि । निरवद्यं निजानन्दनिर्वाणपदसाधनम् ॥ ७६ ॥
अन्त्यादप्यल्पसावद्यादभयस्यमभिष्टुतम् । त्रिभिरेभिर्महादानैः प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ७७ ॥

उस समय भद्रिलपुरमें मलय देशका स्वामी राजा मेघरथ रहता था, उसके मन्त्रीका नाम सत्यकीर्ति था ॥६४॥ किसी एक दिन राजा मेघरथ सभा-भवनमें सिंहासनपर बैठे हुए थे, उसी समय उन्होंने धर्मके लिए धन दान करनेकी इच्छासे सभामें बैठे हुए लोगोंसे कहा ॥६५॥ कि सब दानोंमें ऐसा कौन-सा दान है कि जिसके देनेपर बहुत फल होता हो ? इसके उत्तरमें दानके तत्त्वको जाननेवाला मन्त्री इस प्रकार कहने लगा ॥६६॥ कि श्रेष्ठ मुनियोंने शास्त्रदान, अभयदान और अन्नदान ये तीन प्रकारके दान कहे हैं । ये दान बुद्धिमानोंके लिए पहले-पहले अधिक फल देनेवाले हैं अर्थात् अन्नदानकी अपेक्षा अभयदानका और अभयदानकी अपेक्षा शास्त्रदानका बहुत फल है ॥६७॥ जो सर्वज्ञदेवका कहा हुआ हो, पूर्वापरविरोध आदि दोषोंसे रहित हो, हिंसादि पापोंको दूर करनेवाला हो और प्रत्यक्ष परोक्ष दोनों प्रमाणोंसे सम्पन्न हो उसे शास्त्र कहते हैं ॥६८॥ संसारके दुःखोंसे डरे हुए सत्पुरुषोंका उपकार करनेकी इच्छासे पूर्वोक्त शास्त्रका व्याख्यान करना शास्त्रदान कहलाता है ॥६९॥ मोक्ष प्राप्त करनेका इच्छुक तथा तत्त्वोंके स्वरूपको जाननेवाला मुनि कर्मबन्धके कारणोंको छोड़नेकी इच्छासे जो प्राणिपीड़ाका त्याग करता है उसे अभयदान कहते हैं ।७०। हिंसादि दोषोंसे दूर रहनेवाले ज्ञानी साधुओंके लिए शरीरादि बाह्य साधनोंकी रक्षाके अर्थ जो शुद्ध आहार दिया जाता है उसे आहार दान कहते हैं ॥७१॥ इन आदि और अन्तके दानोंसे देने तथा लेनेवाले दोनोंको ही कर्मोंकी निर्जरा एवं पुण्य कर्मका आस्रव होता है और अभयदानसे सिर्फ देनेवालेके ही उक्त दोनों फल होते हैं ॥७२॥ इस संसारमें ज्ञानसे बढ़कर अन्य दान नहीं हैं और ज्ञान शास्त्रके बिना नहीं हो सकता। वास्तवमें शास्त्र ही हेय और उपादेय तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाला श्रेष्ठ साधन है ॥७३॥ शास्त्रका अच्छी तरह व्याख्यान करना, सुनना और चिन्तवन करना शुद्ध बुद्धिका कारण है । शुद्ध बुद्धिके होनेपर ही भव्य जीव हेय पदार्थको छोड़कर और हितकारी पदार्थको ग्रहण कर व्रती बनते हैं, मोक्षमार्गका अवलम्बन लेकर क्रम-क्रमसे इन्द्रियों तथा मनको शान्त करते हैं और अन्तमें शुक्लध्यानका अवलम्बन लेकर अविनाशी मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ॥७४-७५॥ इसलिए सब दानोंमें शास्त्रदान ही श्रेष्ठ है, पाप-कार्योंसे रहित है तथा देने और लेनेवाले दोनोंके लिए ही निजानन्द रूप मोक्ष-प्राप्तिका कारण है ॥७६॥ अन्तिम आहारदानमें थोड़ा आरम्भ-जन्य पाप करना पड़ता है इसलिए उनकी अपेक्षा अभयदान श्रेष्ठ है । यह जीव इन तीन महादानोंके द्वारा परम पदको प्राप्त

---

१ कीर्तिमाक् ख० । २ संवादि ल० । ३ हेयोपेयादि ल० । ४ तथा हेयं ख०, ग० । ५ क्रमात् शान्तेन्द्रियाशयाः क०, घ० ।

इति प्राग्वैवमुक्तेऽपि राज्ञा नन्नाभमन्यत । कपोतलेश्यामाहात्म्यादन्यद्दानप्रदित्सया ॥ ७८ ॥
तत्रैव नगरे भूतिशर्माख्यो ब्राह्मणोऽभवत् । प्रणीतदुःश्रुतैः राज्ञोऽरञ्जयत्स्वमनीषया ॥ ७९ ॥
तस्मिन्नुपरते तस्य तनयः सर्वशास्त्रवित् । मुण्डशालायनो जातस्तत्रासीनोऽब्रवीदसौ ॥ ८० ॥
मुनीनां दुर्विधानां च दानत्रयमिदं मतम् । [1]महेच्छानां महीशानां दानमस्त्यन्यदुत्तमम् ॥ ८१ ॥
भूसुवर्णादिभूयिष्ठमाचन्द्रार्कयशस्करम् । शापानुग्रहशालिभ्यो ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छत ॥ ८२ ॥
आर्षमत्र श्रुतं चास्ति दानस्यास्योपदेशकम् । इत्यानीय गृहात्स्वोक्तं तत्पुस्तकमवाचयत ॥ ८३ ॥
इत्थं तेनेङ्गितज्ञेन लब्ध्वावसरमुत्पथम् । मुण्डशालायनेनोक्तं राजा तद्बह्वमन्यत ॥ ८४ ॥
पापाभीरोरभद्रस्य विषयान्धस्य दुर्मतेः । रञ्जितः स महीपालः परलोकमहाशया ॥ ८५ ॥
कदाचित्कार्तिके मासे पौर्णमास्यां शुचीभवन् । मुण्डशालायनं भक्त्या पूजयित्वाक्षतादिभिः ॥ ८६ ॥
भूसुवर्णादितत्प्रोक्तदानान्यदित दुर्मतिः । तं दृष्ट्वा भक्तिमान् भूपममात्यः [2]प्रत्युवाच तम् ॥ ८७ ॥
अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं जिनैर्मतम् । स्वपरोपकृतिं प्राहुरत्र तज्ज्ञा अनुग्रहम् ॥ ८८ ॥
[3]स्वोपकारोऽयसंवृद्धिः परस्य गुणवर्द्धनम् । स्वशब्दो धनपर्यायवाची पात्रेऽतिसर्जनम् ॥ ८९ ॥
स्वस्य दानं प्रशंसन्ति तज्जानन्नपि किं वृथा । कुपात्रेऽर्थं विसृज्यैवं त्रयाणां विहतिः कृता ॥ ९० ॥
सुबीजं सुप्रभूतं च प्रक्षिप्तं किं तदूषरे । फलं भवति संक्लेश-बीजनाश-फलाद्विना ॥ ९१ ॥

होता है ॥७७॥ इस प्रकार कहे जानेपर भी राजाने दानका यह निरूपण स्वीकृत नहीं किया क्योंकि वह कपोतलेश्याके माहात्म्यसे इन तीन दानोंके सिवाय और ही कुछ दान देना चाहता था ॥७८॥

उसी नगरमें एक भूतिशर्मा नामक ब्राह्मण रहता था। वह अपनी बुद्धिके अनुसार खोटे-खोटे शास्त्र बनाकर राजाको प्रसन्न किया करता था ॥७९॥ उसके मरनेपर उसका मुण्डशालायन नामक पुत्र समस्त शास्त्रोंका जाननेवाला हुआ। वह उस समय उसी सभामें बैठा हुआ था अतः मन्त्रीके द्वारा पूर्वोक्त दानका निरूपण समाप्त होते ही कहने लगा ॥८०॥ कि ये तीन दान मुनियोंके लिए अथवा दरिद्र मनुष्योंके लिए हैं। बड़ी-बड़ी इच्छा रखनेवाले राजाओंके लिए, तो दूसरे ही उत्तम दान हैं ॥८१॥ शाप तथा अनुग्रह करनेकी शक्तिसे सुशोभित ब्राह्मणोंके लिए, जबतक चन्द्र अथवा सूर्य हैं तबतक यशका करनेवाला पृथिवी तथा सुवर्णादिका बहुत भारी दान दीजिए ॥८२॥ इस दानका समर्थन करनेवाला ऋषिप्रणीत शास्त्र भी विद्यमान है, ऐसा कहकर वह अपने घरसे अपनी बनायी हुई पुस्तक ले आया और सभामें उसे बचवा दिया ॥८३॥ इस प्रकार अभिप्राय जाननेवाले मुण्डशालायनने अवसर पाकर कुमार्गका उपदेश दिया और राजाने उसे बहुत माना—उसका सत्कार किया ॥८४॥ देखो, मुण्डशालायन पापसे नहीं डरता था, अभद्र था, विषयान्ध था और दुर्बुद्धि था फिर भी राजा परलोककी बड़ी भारी आशासे उसपर अनुरक्त हो गया—प्रसन्न हो गया ॥८५॥ किसी समय कार्तिक मासकी पौर्णमासीके दिन उस दुर्बुद्धि राजाने शुद्ध होकर बड़ी भक्तिके साथ अक्षतादि द्रव्योंसे मुण्डशालायनकी पूजा कर उसे उसके द्वारा कहे हुए भूमि तथा सुवर्णादिके दान दिये। यह देख भक्त मन्त्रीने राजासे कहा ॥८६–८७॥ अनुग्रहके लिए अपना धन या अपनी कोई वस्तु देना सो दान है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है और इस विषयके जानकार मनुष्य अपने तथा परके उपकारको ही अनुग्रह कहते हैं ॥८८॥ पुण्य कर्मकी वृद्धि होना यह अपना उपकार है—अनुग्रह है और परके गुणोंकी वृद्धि होना परका उपकार है। स्व शब्द धनका पर्यायवाची है। धनका पात्रके लिए देना स्व दान कहलाता है। यही दान प्रशंसनीय दान है फिर जानते हुए भी आप इस प्रकार कुपात्रके लिए धन दान देकर आप दाता, दान और पात्र तीनोंको क्यों नष्ट कर रहे हैं ॥८९–९०॥ उत्तम बीज कितना ही अधिक क्यों न हो, यदि ऊसर जमीनमें डाला जायेगा तो उससे संक्लेश और बीज नाश रूप फलके सिवाय और क्या होगा?

---

१ महेशानां महीपानां ग० । २ प्रत्युवाचत ल० । ३ अयस्य पुण्यकर्मणः संवृद्धिरयसंवृद्धिः, स्वे मकारः।

सुबीजमल्पमप्युप्तं सुक्षेत्रे कालवेदिना । तत्सहस्रगुणीभूतं वपकस्य फलं भवेत् ॥ ९२ ॥
इति भक्तेन तेनोक्तमुदाहरणकोटिभिः । धीमता तन्महीभर्तुरुपकाराय नाभवत् ॥ ९३ ॥
कालदष्टस्य वा मन्त्रो भैषज्यं वा गतायुषः । आजन्मान्धस्य वादर्शो विपरीतस्य सद्वचः ॥ ९४ ॥
विहायादिक्रमायातं दानमार्गं कुमार्गगः । मूर्खप्रलपितं दानमाराद्धीपमवीवृतत् ॥ ९५ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

कन्याहस्तिसुवर्णवाजिकपिलादासीतिलस्यन्दन-
क्षमागेहप्रतिबद्धमत्र दशधा दानं दरिद्रेप्सितम् ।
तीर्थान्ते जिनशीतलस्य सुतरामाविश्चकार स्वयं
लुब्धो वस्तुषु भूतिशर्मतनयोऽसौ मुण्डशालायनः ॥ ९६ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे शीतलपुराणं नाम परिसमाप्तं षट्पञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५६ ॥



कुछ भी नहीं ॥९१॥ इसके विपरीत उत्तम बीज थोड़ा भी क्यों न हो, यदि समयको जाननेवाले मनुष्यके द्वारा उत्तम क्षेत्रमें बोया जाता है तो बोनेवालेके लिए उससे हजारगुना फल प्राप्त होता है ॥९२॥ इस प्रकार उस बुद्धिमान् एवं भक्त मन्त्रीने यद्यपि करोड़ों उदाहरण देकर उस राजाको समझाया परन्तु उससे राजाका कुछ भी उपकार नहीं हुआ ॥९३॥ सो ठीक ही है क्योंकि विपरीत बुद्धिवाले मनुष्यके लिए सत्-पुरुषोंके वचन ऐसे हैं जैसे कि कालके काटेके लिए मन्त्र, जिसकी आयु पूर्ण हो चुकी है उसके लिए औषधि, और जन्मके अन्धेके लिए दर्पण ॥९४॥ उस कुमार्गगामी राजाने प्रारम्भसे ही चले आये दानके मार्गको छोड़कर मूर्ख मुण्डशालायनके द्वारा कहे हुए आधुनिक दानके मार्गको प्रचलित किया ॥९५॥ इस प्रकार लौकिक वस्तुओंके लोभी, भूतिशर्माके पुत्र मुण्डशालायनने श्रीशीतलनाथ जिनेन्द्र तीर्थके अन्तिम समयमें दरिद्रोंको अच्छा लगनेवाला—कन्यादान, हस्तिदान, सुवर्णदान, अश्वदान, गोदान, दासीदान, तिलदान, रथदान, भूमिदान और गृहदान यह दश प्रकारका दान स्वयं ही अच्छी तरह प्रकट किया—चलाया ॥९६॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें शीतलपुराणका वर्णन करनेवाला छप्पनवाँ पर्व पूर्ण हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमं पर्व

[1]श्रेयः श्रेयेषु[2] नान्यस्त्यः [3]श्रेयसः श्रेयसे बुधैः । इति [4]श्रेयोऽर्थिभिः श्रेयः श्रेयान्नः श्रेयसेऽस्तु सः ॥१॥
पुष्करार्द्धेन्द्रदिक्मेरुप्राग्विदेहे सुकच्छके । सीतानद्युत्तरे देशे नृपः क्षेमपुराधिपः ॥ २ ॥
नलिनप्रभनामाभून्नमिताशेषविद्विषः । प्रजानुरागसम्प्रादिताचिन्त्यमहिमाश्रयः ॥ ३ ॥
पृथक्त्रिभेदनिर्णीतशक्तिसिद्ध्युदयोदितः । शमव्यायामसम्प्राप्तक्षेमयोगोऽयमैधत ॥ ४ ॥
भूभृत्त्वमर्थवत्तस्मिन्नयसन्न्यायेन पालनात् । स्थितौ सुस्थाप्य सुस्निग्धां धरामवित स प्रजाः ॥ ५ ॥
धर्म एवापरं धर्मं तस्मिन्सन्मार्गवर्तिनि । अर्थकामौ च धर्म्यौ यत्तत् स धर्ममयोऽभवत् ॥ ६ ॥
एवं स्वकृतपुण्यानुभावोदितसुखाकरः । लोकपालोपमो दीर्घं पालयन्नखिलामिलाम् ॥ ७ ॥
[5]सहस्राम्रवणेऽनन्तजिनं तद्वनपालकात् । अवतीर्णं विदित्वात्मपरिवारपरिष्कृतः ॥ ८ ॥
गत्वाऽभ्यर्च्य चिरं स्तुत्वा नत्वा स्वोचितदेशभाक् । श्रुत्वा धर्मं समुत्पन्नतत्त्वबुद्धिरिति स्मरन् ॥ ९ ॥
कस्मिन् केन कथं कस्मात् कस्य किं श्रेय इत्यदः । अजानता मया भ्रान्तं भ्रान्तेनानन्तजन्मसु ॥ १० ॥
आहितो बहुधा मोहान्मयैवैष परिग्रहः । तत्त्यागाद्यदि निर्वाणं कस्मात्कालविलम्बनम् ॥ ११ ॥
इति नाम्ना सुपुत्राय [6]पुत्राय गुणशालिने । दत्त्वा राज्यं समं भूपैर्बहुभिः संयमं ययौ ॥ १२ ॥
शिक्षितैकादशाङ्गोऽसौ तीर्थकृन्नामधाम सन् । संन्यस्याजनि कल्पेऽन्ते सुराधीशोऽच्युताह्वयः ॥ १३ ॥

आश्रय लेने योग्य पदार्थोंमें श्रेयांसनाथको छोड़कर कल्याणके लिए विद्वानोंके द्वारा और दूसरा आश्रय लेने योग्य नहीं है-इस तरह कल्याणके अभिलाषी मनुष्योंके द्वारा आश्रय करने योग्य भगवान् श्रेयांसनाथ हम सबके कल्याणके लिए हों ॥१॥ पुष्करार्ध द्वीपसम्बन्धी पूर्व विदेह क्षेत्रके सुकच्छ देशमें सीता नदीके उत्तर तट पर क्षेमपुर नामका नगर है। उसमें समस्त शत्रुओंको नम्र करनेवाला तथा प्रजाके अनुरागसे प्राप्त अचिन्त्य महिमाका आश्रयभूत नलिनप्रभ नामका राजा राज्य करता था ॥२-३॥ पृथक्-पृथक् तीन भेदोंके द्वारा जिनका निर्णय किया गया है ऐसी शक्तियों, सिद्धियों और उदयोंसे जो अभ्युदयको प्राप्त है तथा शान्ति और परिश्रमसे जिसे क्षेम और योग प्राप्त हुए हैं ऐसा यह राजा सदा बढ़ता रहता था ॥४॥ वह राजा न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करता था और स्नेहपूर्ण पृथिवीको मर्यादामें स्थिर रखता था अतः उसका भूभृत्पना सार्थक था ॥५॥ समीचीन मार्गमें चलनेवाले अन्य धर्मस्वरूप उस श्रेष्ठ राजामें धर्म तो था ही, किन्तु अर्थ तथा काम भी धर्मयुक्त थे। अतः वह धर्ममय ही था ॥६॥ इस प्रकार स्वकृत पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त सुख-की खानस्वरूप यह राजा लोकपालके समान इस समस्त पृथिवीका दीर्घ काल तक पालन करता रहा ॥७॥ एक दिन वनपालसे उसे मालूम हुआ कि सहस्राम्रवणमें अनन्त जिनेन्द्र अवतीर्ण हुए हैं तो वह अपने समस्त परिवारसे युक्त होकर सहस्राम्रवणमें गया। वहाँ उसने जिनेन्द्रदेवकी पूजा की, चिर-काल तक स्तुति की, नमस्कार किया और फिर अपने योग्य स्थानपर बैठ गया। तदनन्तर धर्मोपदेश सुनकर उसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे इस प्रकार चिन्तवन करने लगा कि किसका कहाँ किसके द्वारा किस प्रकार किससे और कितना कल्याण हो सकता है यह न जानकर मैंने खेद-खिन्न होते हुए अनन्त जन्मोंमें भ्रमण किया है। मैंने जो बहुत प्रकारका परिग्रह इकट्ठा कर रखा है वह मोहवश ही किया है इसलिए इसके त्यागसे यदि निर्वाण प्राप्त हो सकता है, तब समय बितानेसे क्या लाभ है? ॥८-११॥ ऐसा विचार कर उसने गुणोंसे सुशोभित सुपुत्र नामक पुत्रके लिए राज्य देकर बहुत-से राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥१२॥ ग्यारह अंगोंका अध्ययन किया, तीर्थंकर नाम-

---

१ श्रयणीय । २ श्रेयेषु आश्रयणीयेषु । ३ श्रेयसः एकादशतीर्थंकरात् । ४ कल्याणार्थिभिः ।
५ सहस्राम्रवने ल० । ६ सुपुत्राय सुपुत्रगुणशालिने ख०, ग०, ल० ।

पुष्पोत्तरविमानेऽसौ द्वाविंशत्यब्धिजीवितः । हस्तत्रयप्रमाणाङ्गः प्रोक्तलेश्यादिभिर्युतः ॥ १४ ॥
देवीभिर्दिव्यभावाभिः कमनीयाभिरन्वहम् । भवसाराणि सौख्यानि तत्र प्रीत्यान्वभूच्चिरम् ॥ १५ ॥
कल्पातीता विरागास्ते परे चाल्पसुखास्ततः । संसारसौख्यपर्यन्तसन्तोषात्समतीयिवान् ॥ १६ ॥
अनुभूय सुखं तस्मिन् तस्मिन्नत्रागमिष्यति । द्वीपेऽस्मिन् भारते सिंहपुराधीशो नरेश्वरः ॥ १७ ॥
इक्ष्वाकुवंशविख्यातो विष्णुनामास्य वल्लभा । नन्दा षण्मासमंप्राप्तवसुधारादिपूजना ॥ १८ ॥
ज्येष्ठे मास्यसिते षष्ठ्यां श्रवणे रात्रिनिर्गमे । स्ववक्त्रावेशिनागेन्द्रात्स्वप्नानैक्षिष्ट षोडश ॥ १९ ॥
तत्फलान्यवबुध्यासौ पत्युः सम्प्राप्य सम्मदम् । तदैवायातदेवेन्द्रविहितोरुमहोत्सवा ॥ २० ॥
नवमासान् यथोक्तेन नीत्वा संतोष्य सुप्रजाः । फाल्गुने मासि कृष्णैकादश्यां त्रिज्ञानधारिणम् ॥ २१ ॥
विष्णुयोगे महाभागमसूताच्युतनायकम् । मेघावलीव सद्वृष्टिविशेषं विश्वतुष्टये ॥ २२ ॥
तदुद्भवे प्रसन्नानि मनांसि सकलाङ्गिनाम् । जलस्थलानि वा[1] सद्यः सर्वत्र शरदागमे ॥ २३ ॥
अर्थिनो धनसंतृप्त्या धनिनो दीनतर्पणैः[2] । ते च ते चेष्टसम्भोगात्सोद्धवाः[3] स्युस्तदुद्भवे ॥ २४ ॥
तदा सर्वर्तवस्तत्र स्वैः स्वैर्भावैर्मनोहरैः । प्रादुर्बभूवुः सम्भूय सर्वाङ्गिसुखहेतवः ॥ २५ ॥
नीरोगाः प्रापुरारोग्यं शोकिनो वीतशोकताम् । धर्मिष्ठतां च पापिष्ठाश्चित्रमीशसमुद्भवे ॥ २६ ॥
जनस्य चेदयं तोषस्तदानीमतिमात्रया । पित्रोस्तस्य प्रमोदस्य प्रमा केन विधीयते ॥ २७ ॥

कर्मका बन्ध किया और आयुके अन्तमें समाधिमरण कर सोलहवें अच्युत स्वर्गके पुष्पोत्तर विमानमें अच्युत नामका इन्द्र हुआ। वहाँ बाईस सागर प्रमाण उसकी आयु थी, तीन हाथ ऊँचा शरीर था और ऊपर जिनका वर्णन आ चुका है ऐसी लेश्या आदिसे सहित था ॥१३–१४॥ दिव्य भावोंको धारण करनेवाली सुन्दर देवियोंके साथ उसने बहुत समय तक प्रतिदिन उत्तमसे उत्तम सुखोंका बड़ी प्रीतिसे उपभोग किया ॥१५॥ कल्पातीत—सोलहवें स्वर्गके आगेके अहमिन्द्र विराग हैं—रागरहित हैं और अन्य देव अल्प सुखवाले हैं इसलिए संसारके सबसे अधिक सुखोंसे सन्तुष्ट होकर वह अपनी आयु व्यतीत करता था ॥१६॥ वहाँके सुख भोगकर जब वह यहाँ आनेके लिए उद्यत हुआ तब इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें सिंहपुर नगरका स्वामी इक्ष्वाकु वंशसे प्रसिद्ध विष्णु नामक राजा राज्य करता था ॥१७॥ उसकी वल्लभाका नाम नन्दा था। नन्दाने गर्भधारणके छह माह पूर्वसे ही रत्नवृष्टि आदि कई तरहकी पूजा प्राप्त की थी ॥१८॥ ज्येष्ठ कृष्ण षष्ठीके दिन श्रवण नक्षत्रमें प्रातःकालके समय उसने सोलह स्वप्न तथा अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ हाथी देखा ॥१९॥ पतिसे उनका फल जानकर वह बहुत ही हर्षको प्राप्त हुई। उसी समय इन्द्रोंने आकर गर्भकल्याणकका महोत्सव किया ॥२०॥ उत्तम सन्तानको धारण करनेवाली नन्दाने पूर्वोक्त विधिसे नौ माह बिताकर फाल्गुन कृष्ण एकादशीके दिन विष्णुयोगमें तीन ज्ञानोंके धारक तथा महाभाग्यशाली उस अच्युतेन्द्रको संसारके सन्तोषके लिए उस प्रकार उत्पन्न किया जिस प्रकार कि मेघमाला उत्तम वृष्टिको उत्पन्न करती है ॥२१–२२॥ जिस प्रकार शरद्-ऋतुके आनेपर सब जगहके जलाशय शीघ्र ही प्रसन्न–स्वच्छ हो जाते हैं उसी प्रकार उनका जन्म होते ही सब जीवोंके मन प्रसन्न हो गये थे—हर्षसे भर गये थे ॥२३॥ भगवान्‌का जन्म होनेपर याचक लोग धन पाकर हर्षित हुए थे, धनी लोग दीन मनुष्योंको सन्तुष्ट करनेसे हर्षित हुए थे और वे दोनों इष्ट भोग पाकर सुखी हुए थे ॥२४॥ उस समय सब जीवोंको सुख देनेवाली समस्त ऋतुएँ मिलकर अपने-अपने मनोहर भावोंसे प्रकट हुई थीं ॥२५॥ बड़ा आश्चर्य था कि उस समय भगवान्‌का जन्म होनेपर रोगी मनुष्य नीरोग हो गये थे, शोकवाले शोकरहित हो गये थे, और पापी जीव धर्मात्मा बन गये थे ॥२६॥ जब उस समय साधारण मनुष्योंको इतना सन्तोष हो रहा था तब माता-पिताके सन्तोषका प्रमाण कौन

---

१ 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थेऽपि समुच्चये' इति कोशः। २ दीनतर्पणात् ग०। ३ सोद्धवाः सहर्षाः 'क्षण उद्धव उत्सवः'।

सद्यश्चतुर्विधा देवाः कृत्वा तेजोमयं जगत् । स्वाङ्गाभरणभाभारैरापतन्ति स्म सर्वतः ॥२८॥
नेदुर्दुन्दुभयो हृद्याः पेतुः कुसुमवृष्टयः । नेटुरामरनर्तक्यो जगुः स्वादु[1] सुगायकाः ॥ २९॥
लोकोऽयं देवलोको वा ततश्चान्यद्भुतोदयः । अपूर्वः कोऽप्यभूद्वेति तदासन् [2]द्युसदां गिरः ॥३०॥
[3]पितरौ तस्य सौधर्मः स्वयं सद्भूषणादिभिः । शची देवी च सन्तोष्य माययाऽऽदाय बालकम् ॥३१॥
ऐरावतगजस्कन्धमारोप्यामरसेनया । सहलीलः स सम्प्राप्य महामेरुं महौजसम् ॥३२॥
पञ्चमावारपारात्तक्षीरवारिघटोत्करैः । अभिषिच्य विभूष्येशं श्रेयानित्यवदन्मुदा ॥३३॥
तत्र पुरं समानीय मातुरङ्के निधाय तम् । सुराधीशः सुरैः सार्द्धं[4] प्रमुदा[5]रं सुरालयं ॥३४॥
गुणैः सार्द्धमवर्द्धन्त तदास्यावयवाः शुभाः । क्रमात्कान्तिं प्रपुष्यन्तो बालचन्द्रस्य वांशुभिः ॥३५॥
स सत्रयर्तुपक्षर्तुषड्वत्सरशताब्धिभिः । ऊनसागरकोट्यन्ते पल्यार्द्धं धर्मसन्ततौ ॥३६॥
व्युच्छिन्नायां तदभ्यन्तरायुः श्रेयःसमुद्भवः । पञ्चशून्ययुगाष्टाब्दजीवितः कनकप्रभः ॥ ३७ ॥
चापाशीतिसमुत्सेधो बलौजस्तेजसां निधिः । एकविंशतिलक्षाब्दकौमारे[6] सुखसागरः ॥ ३८ ॥
प्राप्य राज्यं सुरैः पूज्यं सर्वलोकनमस्कृतः । तर्पयंश्चन्द्रवत्सर्वान् दर्पितान् भानुवत्तपन् ॥ ३९ ॥
तेजोमहामणिर्वार्द्धिर्गाम्भीर्ये शशयोद्भवः । शैत्ये धर्म इव श्रेयः सुखं स्वस्याकरोच्चिरम् ॥ ४० ॥
प्राग्जन्मसुकृता[7]येन कृतायां सर्वसम्पदि । वृद्धिपौरुषयोर्व्याप्तिस्तस्यामूद् धर्मकामयोः ॥ ४१ ॥

बता सकता है ? ॥२७॥ शीघ्र ही चारों निकायके देव अपने शरीर तथा आभरणोंकी प्रभाके समूहसे समस्त संसारको तेजोमय करते हुए चारों ओरसे आ गये ॥२८॥ मनोहर दुन्दुभियाँ बजने लगीं, पुष्प-वर्षाएँ होने लगीं, देव-नर्तकियाँ नृत्य करने लगीं और स्वर्गके गवैया मधुर गान गाने लगे ॥२९॥ 'यह लोक देव लोक है अथवा उससे भी अधिक वैभवको धारण करनेवाला कोई दूसरा ही लोक है' इस प्रकार देवोंके शब्द निकल रहे थे ॥३०॥ सौधर्मेन्द्रने स्वयं उत्तम आभूषणादिसे भगवान्‌के माता-पिताको संतुष्ट किया और इन्द्राणीने मायासे माताको संतुष्ट कर जिन-बालकको उठा लिया ॥३१॥ सौधर्मेन्द्र महातेजस्वी जिन-बालकको ऐरावत हाथीके कन्धे-पर विराजमान कर देवोंकी सेनाके साथ लीला-पूर्वक महामेरु पर्वतपर पहुँचा ॥३२॥ वहाँ उसने पंचम क्षीरसमुद्रसे लाये हुए क्षीर रूप जलके कलशोंके समूहसे भगवान्‌का अभिषेक किया, आभू-षण पहिनाये और बड़े हर्षके साथ उनका श्रेयांस यह नाम रखा ॥३३॥ इन्द्र मेरु पर्वतसे लौटकर नगरमें आया और जिन-बालकको माताकी गोदमें रख, देवोंके साथ उत्सव मनाता हुआ स्वर्ग चला गया ॥३४॥ जिस प्रकार किरणोंके द्वारा क्रम-क्रमसे कान्तिको पुष्ट करनेवाले बाल-चन्द्रमाके अवयव बढ़ते रहते हैं उसी प्रकार किरणोंके साथ-साथ उस समय भगवान्‌के शरीरावयव बढ़ते रहते थे ॥३५॥ शीतलनाथ भगवान्‌के मोक्ष-जानेके बाद जब सौ सागर और छयासठ लाख छब्बीस हजार वर्ष कम एक करोड़ सागर प्रमाण अन्तराल बीत गया तथा आधे पल्य तक धर्मकी परम्परा टूटी रही तब भगवान् श्रेयांसनाथका जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें शामिल थी। उनकी कुल आयु चौरासी लाख वर्षकी थी। शरीर सुवर्णके समान कान्तिवाला था, ऊँचाई अस्सी धनुषकी थी, तथा स्वयं बल, ओज और तेजके भंडार थे। जब उनकी कुमारावस्थाके इक्कीस लाख वर्ष बीत चुके तब सुखके सागरस्वरूप भगवान्‌ने देवोंके द्वारा पूजनीय राज्य प्राप्त किया। उस समय सब लोग उन्हें नमस्कार करते थे, वे चन्द्रमाके समान सबको संतृप्त करते थे और अहंकारी मनुष्योंको सूर्यके समान संतापित करते थे ॥३६–३९॥ उन भगवान्‌ने महामणिके समान अपने आपको तेजस्वी बनाया था, समुद्रके समान गम्भीर किया था, चन्द्रमाके समान शीतल बनाया था और धर्मके समान चिरकाल तक कल्याणकारी श्रुत-स्वरूप बनाया था ॥४०॥ पूर्व जन्ममें अच्छी तरह किये हुए पुण्य कर्मसे उन्हें सर्व प्रकारकी सम्पदाएँ तो स्वयं

१. स्वर्गगायकाः । सुनायकाः ख० । सुगायमाः ल० । २. दिवि सीदन्तीति द्युसदः तेषाम् देवानाम् । ३. माता च पिता चेति पितरौ, एकशेषः । ४. प्रसन्नो भूत्वा । ५. आर जगाम । ६. कौमारे सु-ल० । ७. पूर्वजन्मसुविहितपुण्यकर्मणा ।

तथा शुभविनोदेषु देवैः पुण्यानुबन्धिषु । सम्पादितेषु कान्ताभिर्दिनान्यारमतोऽगमन् ॥ ४२ ॥
एवं पञ्चपञ्चाशद्विभिनसंवत्सरावधौ । राज्यकालेऽयमन्येद्युर्वसन्तपरिवर्तनम् ॥ ४३ ॥
विलोक्य किल कालेन सर्वं ग्रासीकृतं जगत् । सोऽपि कालो व्ययं याति क्षणादिपरिवर्तनैः ॥ ४४ ॥
कस्यान्यस्य स्थिरीभावो विश्वमेतद्विनश्वरम् । शाश्वतं न पदं यावत् प्राप्यते सुस्थितिः कुतः ॥ ४५ ॥
इति स चिन्तयन् लब्धस्तुति सारस्वतादिभिः । श्रेयस्करे समारोप्य सुते राज्यं सुराधिपैः ॥ ४६ ॥
प्राप्य निष्क्रमणस्नानमारुह्य विमलप्रभाम् । शिबिकां देवसंवाह्यां त्यक्ताहारो दिनद्वयम् ॥ ४७ ॥
मनोहरमहोद्याने फाल्गुनैकादशीदिने । कृष्णपक्षे सहस्रेण पूर्वाह्णे भूभुजां समम् ॥ ४८ ॥
श्रवणे संयमं प्राप्य चतुर्थावगमेन स. । दिने द्वितीये सिद्धार्थनगरं भुक्तयेऽविशत् ॥ ४९ ॥
तस्मै हेमद्युतिर्नन्दभूपतिर्भक्तिपूर्वकम् । दत्त्वाऽन्नं प्राप्य सत्पुण्यं पञ्चाश्चर्याण्यजर्यधीः ॥ ५० ॥
द्विसंवत्सरमानेन छाद्मस्थ्ये गतवत्यसौ । मुनिर्मनोहरोद्याने तुम्बुरद्रुमसंश्रयः ॥ ५१ ॥
दिनद्वयोपवासेन माघे मास्यपराह्णगः । श्रवणे कृष्णपक्षान्ते कैवल्यमुदपादयत् ॥ ५२ ॥
तदा चतुर्थकल्याणपूजां देवाश्चतुर्विधाः । तस्य निर्वर्तयामासुर्विविधर्द्धिसमन्विताः ॥ ५३ ॥
सप्तसप्ततिकुन्थ्वादिगणभृद्वृन्दवेष्टितः । शून्यद्वयानलैकोक्तसर्वपूर्वधरान्वितः ॥ ५४ ॥
खद्वयद्व्यष्टवार्ध्युक्तशिक्षकौघसमपूजितः । शून्यत्रितयषट्प्रोक्ततृतीयज्ञानमानितः ॥ ५५ ॥
शून्यद्वयेन्द्रियर्त्वुक्तपञ्चमज्ञानभास्करः । शून्यत्रिकैकैकाख्येयविक्रियर्द्धिविभूषितः ॥ ५६ ॥

प्राप्त हो गई थीं अतः उनकी बुद्धि और पौरुषकी व्याप्ति सिर्फ धर्म और काममें ही रहती थी। भावार्थ—उन्हें अर्थकी चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी ॥४१॥ देवोंके द्वारा किये हुए पुण्यानुबन्धी शुभ विनोदोंमें स्त्रियोंके साथ क्रीडा करते हुए उनके दिन व्यतीत हो रहे थे ॥४२॥ इस प्रकार बयालीस वर्ष तक उन्होंने राज्य किया। तदनन्तर किसी दिन वसन्त ऋतुका परिवर्तन देखकर वे विचार करने लगे कि जिस कालने इस समस्त संसारको ग्रस्त कर रखा है वह काल भी जब क्षण घड़ी घंटा आदिके परिवर्तनसे नष्ट होता जा रहा है तब अन्य किस पदार्थमें स्थिरता रह सकती है ? यथार्थमें यह समस्त संसार विनश्वर है, जब तक शाश्वत पद—अविनाशी मोक्ष पद नहीं प्राप्त कर लिया जाता है तब तक एक जगह सुखसे कैसे रहा जा सकता है ? ॥४३–४५॥ भगवान् ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उसी समय सारस्वत आदि लौकान्तिक देवोंने आकर उनकी स्तुति की। उन्होंने श्रेयस्कर पुत्रके लिए राज्य दिया, इन्द्रोंके द्वारा दीक्षा-कल्याणकके समय होनेवाला महाभिषेक प्राप्त किया और देवोंके द्वारा उठायी जानेके योग्य विमलप्रभा नामकी पालकीपर सवार होकर मनोहर नामक महान् उद्यानकी ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर उन्होंने दो दिनके लिए आहारका त्याग कर फाल्गुन कृष्ण एकादशीके दिन प्रातःकालके समय श्रवण नक्षत्रमें एक हजार राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया। उसी समय उन्हें चौथा मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन उन्होंने भोजनके लिए सिद्धार्थ नगरमें प्रवेश किया ॥४६–४९॥ वहाँ उनके लिए सुवर्णके समान कान्तिवाले नन्द राजाने भक्ति-पूर्वक आहार दिया जिससे उत्तम बुद्धिवाले उस राजाने श्रेष्ठ पुण्य और पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥५०॥ इस प्रकार छद्मस्थ अवस्थाके दो वर्ष बीत जानेपर एक दिन महामुनि श्रेयांसनाथ मनोहर नामक उद्यानमें दो दिनके उपवासका नियम लेकर तुम्बुर वृक्षके नीचे बैठे और वहींपर उन्हें माघकृष्ण अमावस्याके दिन श्रवण नक्षत्रमें सायंकालके समय केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ॥५१–५२॥ उसी समय अनेक ऋद्धियोंसे सहित चार निकायके देवोंने उनके चतुर्थ कल्याणककी पूजा की ॥५३॥

भगवान् श्रेयांसनाथ कुन्थु आदि सतहत्तर गणधरोंके समूहसे घिरे हुए थे, तेरहसौ पूर्व-वादियोंसे सहित थे, अड़तालीस हजार दो सौ उत्तम शिक्षक मुनियोंके द्वारा पूजित थे, छह हजार अवधिज्ञानियोंसे सम्मानित थे, छह हजार पाँचसौ केवलज्ञानी रूपी सूर्योंसे सहित थे, ग्यारह हजार विक्रियाऋद्धिके धारकोंसे सुशोभित थे, छह हजार मनःपर्ययज्ञानियोंसे युक्त थे, और पाँच हजार मुख्य वादियोंसे सेवित थे। सब प्रकार सब मिलाकर चौरासी हजार मुनियोंसे सहित

षट्सहस्रप्रमाप्रोक्तमनःपर्ययवीक्षणः । शून्यत्रितयपञ्चोक्तवादिमुख्यसमाश्रितः ॥५७॥
शून्यत्रययुगाष्टोक्तपिण्डिताखिलरक्षितः । खचतुष्टयपक्षैकधारणाद्यार्यिकार्चितः ॥५८॥
द्विलक्षोपासकोपेतो द्विगुणश्राविकार्चितः । पूर्वोक्तदेवतिर्यक्को विहरन् धर्ममादिशन् ॥५९॥
सम्मेदगिरिमासाद्य[1] निष्क्रियो मासमास्थितः । सहस्रमुनिभिः सार्धं प्रतिमायोगधारकः ॥६०॥
पौर्णमास्यां धनिष्ठायां दिनान्ते श्रावणे सताम् । असंख्यातगुणश्रेण्या निर्जरां विदधन्मुहुः ॥६१॥
विध्वस्य विश्वकर्माणि ध्यानाभ्यां स्थानपञ्चके । पञ्चमीं गतिमध्यास्य सिद्धः श्रेयान् सुनिर्वृतः ॥६२॥
[2]विफलानिमिषत्वाः स्मो विनास्मादिति वा सुराः । कृतनिर्वाणकल्याणास्तदैव त्रिदिवं ययुः ॥६३॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

निर्धूय यस्य निजजन्मनि सत्समस्त-
मान्ध्यं चराचरमशेषमवेक्षमाणम् ।
ज्ञानं प्रतापविरहान्निजरूपसंस्थं
श्रेयान् जिनः स दिशतादशिवच्युतिं वः ॥६४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

सत्यं सार्वदयामयं तव वचः सर्वं सुहृद्भ्यो हितं
चारित्रं च विभोस्तदेतदुभयं ब्रूते विशुद्धिं पराम् ।
तस्मादेव समाश्रयन्ति विबुधास्त्वामेव शक्रादयो
मत्वेति स्तुतिगोचरो स विदुषां श्रेयान् स वः श्रेयसे ॥६५॥

राजाभून्नलिनप्रभः प्रभुतमः प्रध्वस्तपापप्रभः
कल्पान्ते सकलामराधिपपतिः संकल्पसौख्याकरः ।

थे । इनके सिवाय एक लाख बीस हजार धारणा आदि आर्यिकाएँ उनकी पूजा करती थीं, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाएँ उनके साथ थीं, पहले कहे अनुसार असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यञ्च सदा उनके साथ रहते थे । इस प्रकार विहार करते और धर्मका उपदेश देते हुए वे सम्मेदशिखरपर जा पहुँचे । वहाँ एक माह तक योग-निरोध कर एक हजार मुनियोंके साथ उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया । श्रावणशुक्ला पौर्णमासीके दिन सायंकालके समय धनिष्ठा नक्षत्रमें विद्यमान कर्मोंकी असंख्यातगुणश्रेणी निर्जरा की और अ इ उ ऋ लृ इन पाँच लघु अक्षरोंके उच्चारणमें जितना समय लगता है उतने समयमें अन्तिम दो शुक्लध्यानोंसे समस्त कर्मोंको नष्ट कर पञ्चमी गतिमें स्थित हो वे भगवान् श्रेयांसनाथ मुक्त होते हुए सिद्ध हो गये ॥५४-६२॥ इसके विना हमारा टिमकाररहितपना व्यर्थ है ऐसा विचार कर देवोंने उसी समय उनका निर्वाण-कल्याणक किया और उत्सव कर सब स्वर्ग चले गये ॥६३॥

जिनके ज्ञानने उत्पन्न होते ही समस्त अन्धकारको नष्ट कर सब चराचर विश्वको देख लिया था, और कोई प्रतिपक्षी न होनेसे जो अपने ही स्वरूपमें स्थित रहा था ऐसे श्रेयांसनाथ जिनेन्द्र तुम सबका अकल्याण दूर करें ॥६४॥ 'हे प्रभो ! आपके वचन सत्य, सबका हित करनेवाले तथा दयामय हैं । इसी प्रकार आपका समस्त चारित्र सुहृत् जनोंके लिए हितकारी है । हे भगवन् ! आपकी ये दोनों वस्तुएँ आपकी परम विशुद्धिको प्रकट करती हैं । हे देव ! इसीलिए इन्द्र आदि देव भक्ति-पूर्वक आपका ही आश्रय लेते हैं । इस प्रकार विद्वान् लोग जिनकी स्तुति किया करते हैं ऐसे श्रेयांसनाथ भगवान् तुम सबके कल्याणके लिए हों ॥६५॥ जो पहले पापकी प्रभाको नष्ट करनेवाले श्रेष्ठतम नलिनप्रभ राजा हुए, तदनन्तर अन्तिम कल्पमें संकल्प मात्रसे

---

१ –माश्रित्य ल० । २ विफलम् अनिमिषत्वं पक्ष्मस्पन्दराहित्यं येषां तथाभूताः ।

स बालवत्सया धेन्वा क्रुधा प्रतिहतोऽपतत् । दौष्ट्यान्निर्वासितो देशान् भ्राम्यंस्तत्रागतो विधीः ॥८०॥
विशाखनन्दी तं दृष्ट्वा वेश्यासौधतले स्थितः । व्यहसद्विक्रमस्तेऽद्य क्व यातः स इति क्रुधा ॥ ८१ ॥
सशल्यः सोऽपि तच्छ्रुत्वा सनिदानोऽसुसंक्षये । महाशुक्रेऽभवद्देवो यत्रासीदनुजः पितुः ॥ ८२ ॥
[1]षोडशाब्ध्यायुषा दिव्यभोगान् देव्यप्सरोगणैः । ईप्सिताननुभूयासौ ततः प्रच्युत्य भूतले ॥ ८३ ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे[2] सुरम्यविषये पुरे । प्रजापतिर्महाराजः पोदनाख्येऽभवत्पतिः ॥ ८४ ॥
प्राणप्रिया महादेवी तस्याजनि मृगावती । तस्यां सुस्वप्नवीक्षान्ते त्रिपृष्ठाख्यः सुतोऽभवत् ॥ ८५ ॥
पितृव्योऽपि च्युतस्तस्मात्तोको[3]ऽभूत्तन्महीपतेः । जयावत्यां [4]पुरे चैत्य विक्रमी विजयाह्वयः ॥ ८६ ॥
भ्रमन् विशाखनन्दी च चिरं संसारचक्रके । विजयार्द्धोत्तरश्रेण्यामलकाख्यपुरेशिनः ॥ ८७ ॥
मयूरग्रीवसंज्ञस्य स्वपुण्यपरिपाकतः । हयग्रीवाह्वयः सूनुरजायत जितारिराट् ॥ ८८ ॥
अशीतिचापदेहौ तावादिमौ रामकेशवौ । पञ्चशून्ययुगाष्टाब्दनिर्मङ्गपरमायुषौ ॥ ८९ ॥
शङ्खेन्द्रनीलसङ्काशौ हत्वाऽश्वग्रीवमुद्धतम् । त्रिखण्डमण्डितायास्ताविहाभूतां पती क्षितेः ॥ ९० ॥
द्विगुणाष्टसहस्राणां मुकुटाङ्कमहीभुजाम् । खगव्यन्तरदेवानामाधिपत्यं समीयतुः ॥ ९१ ॥
त्रिपृष्ठस्य धनुःशङ्खचक्रदण्डासिशक्तयः । गदा च सप्तरत्नानि रक्षितान्यभवन् सुरैः ॥ ९२ ॥
रामस्यापि गदा रत्नमाला [5]समुशलं हलम् । श्रद्धानज्ञानचारित्रतपांसीवाभवञ्छ्रिये ॥ ९३ ॥
देव्यः स्वयम्प्रभामुख्या [6]मुकुटेशप्रमा बभुः । केशवस्य तदर्द्धास्ता रामस्यापि मनःप्रिया. ॥ ९४ ॥

विहार करता हुआ एक दिन मथुरा नगरीमें प्रविष्ट हुआ ॥७९॥ वहाँ एक छोटे बछड़ेवाली गायने क्रोधसे धक्का दिया जिससे वह गिर पड़ा। दुष्टताके कारण राज्यसे बाहर निकला हुआ मूर्ख विशाखनन्दी अनेक देशोंमें घूमता हुआ उसी मथुरा नगरीमें आकर रहने लगा था। वह उस समय एक वेश्याके मकानकी छतपर बैठा था। वहाँसे उसने विश्वनन्दीको गिरा हुआ देखकर क्रोधसे उसकी हँसी की कि तुम्हारा वह पराक्रम आज कहाँ गया ? ॥८०-८१॥ विश्वनन्दीको कुछ शल्य थी अतः उसने विशाखनन्दीकी हँसी सुनकर निदान किया। तथा प्राणक्षय होनेपर महाशुक्र स्वर्गमें जहाँ कि पिताका छोटा भाई उत्पन्न हुआ था, देव हुआ ॥८२॥ वहाँ सोलह सागर प्रमाण उसकी आयु थी। समस्त आयु भर देवियों और अप्सराओंके समूहके साथ मनचाहे भोग भोगकर वहाँसे च्युत हुआ और इस पृथ्वीतल पर जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रके सुरम्य देशमें पोदनपुर नगरके राजा प्रजापतिकी प्राणप्रिया मृगावती नामकी महादेवीके शुभ स्वप्न देखनेके बाद त्रिपृष्ठ नामका पुत्र हुआ ॥८३-८५॥ काकाका जीव भी वहाँसे—महाशुक्र स्वर्गसे च्युत होकर इसी नगरीके राजाकी दूसरी पत्नी जयावतीके विजय नामका पुत्र हुआ ॥८६॥ और विशाखनन्दी चिरकाल तक संसार-चक्रमें भ्रमण करता हुआ विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीकी अलका नगरीके स्वामी मयूरग्रीव राजाके अपने पुण्योदयसे शत्रु राजाओंको जीतनेवाला अश्वग्रीव नामका पुत्र हुआ ॥८७-८८॥ इधर विजय और त्रिपृष्ठ दोनों ही प्रथम बलभद्र तथा नारायण थे, उनका शरीर अस्सी धनुष ऊँचा था और चौरासी लाख वर्षकी उनकी आयु थी ॥८९॥ विजयका शरीर शंखके समान सफेद था और त्रिपृष्ठका शरीर इन्द्रनीलमणिके समान नील था। वे दोनों उद्दण्ड अश्वग्रीवको मारकर तीन खण्डोंसे शोभित पृथिवीके अधिपति हुए थे ॥९०॥ वे दोनों ही सोलह हजार मुकुट-बद्ध राजाओं, विद्याधरों एवं व्यन्तर देवोंके आधिपत्यको प्राप्त हुए थे ॥९१॥ त्रिपृष्ठके धनुष, शंख, चक्र, दण्ड, असि, शक्ति और गदा ये सात रत्न थे जो कि देवोंसे सुरक्षित थे ॥९२॥ बलभद्रके भी गदा, रत्नमाला, मुसल और हल, ये चार रत्न थे जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपके समान लक्ष्मीको बढ़ानेवाले थे ॥९३॥ त्रिपृष्ठकी स्वयंप्रभाको आदि लेकर सोलह हजार स्त्रियाँ थीं और बलभद्रके

---

१ एष पाठः क०-ख०-ग०-घ०-प्रतिसंमतः, षोडशाब्धिसमायुर्दिव्यभोगानप्सरोगणैः ल० । २ वर्षे ल० । ३ पुत्रः । 'पुत्रः सूनुरपत्यं च तुक्तोकौ चात्मजः सुतः ।' इति कोषः । ४ परैर्वैत्य ल० । ५ समुसलं ग० । ६ मुकुटबद्धराजप्रमाणाः षोडशसहस्रप्रमिता इति यावत् ।

यस्तीर्थाधिपतिस्त्रिलोकमहितः श्रीमान् श्रियं श्रायसं
स्याद्वादं प्रतिपाद्य सिद्धिमगमत् श्रेयान् जिनः सोऽस्तु वः ॥६६॥

[1]जिनसेनानुगायास्मै पुराणकवये नमः। गुणभद्रभदन्ताय लोकसेनार्चिताङ्घ्रये ॥६७॥
तीर्थेऽस्मिन् केशवः श्रीमानभूदाद्यः समुद्यमी। भरतश्चक्रिणां वासौ त्रिखण्डपरिपालिनाम् ॥६८॥
आतृतीयभवात्तस्य चरितं प्रणिगद्यते। उदितास्तगभूपानामुदाहरणमित्यदः ॥६९॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे विषयो मगधाह्वयः। पुरं राजगृहं तस्मिन् पुरन्दरपुरोत्तमम् ॥७०॥
स्वर्गादेत्यात्र भूभृतां राज्ञां यद्गृहमेव तत्। भोगोपभोगसम्पत्त्या नाम तस्यार्थवत्ततः ॥७१॥
विश्वभूतिः पतिस्तस्य जैनी देव्यनयोस्सुतः। विश्वनन्दनशीलत्वाद्विश्वनन्दीति विश्रुतः ॥७२॥
विश्वभूतेर्विशाखादिभूतिर्जातोऽनुजः प्रिया। लक्ष्मणाख्यास्य नन्दन्तविशाखस्तनयोऽनयोः ॥७३॥
विश्वभूतिस्तपः प्रायात् कृत्वा राज्ये निजानुजम्। प्रजाः प्रपालयत्यस्मिन्प्रणताखिलभूपतौ ॥७४॥
नानावीरुल्लतावृक्षैर्विराजन्नन्दनं वनम्। यद्विश्वनन्दिनस्तत्र प्राणेभ्योऽपि प्रियं परम् ॥७५॥
विशाखभूतिपुत्रेण निर्भर्त्स्य वनपालकान्। स्वीकृतं तद्बलात्तेन तेनासीत्संयुगस्तयोः ॥७६॥
संग्रामासहनात्तत्र दृष्ट्वा तस्य पलायनम्। विश्वनन्दी विरक्तः सन् धिग्मोहमिति चिन्तयन् ॥७७॥
त्यक्त्वा सर्वं समागत्य सम्भूतगुरुसन्निधौ। पितृव्यमग्रणीकृत्य संयमं प्रत्यपद्यत ॥७८॥
स शीलगुणसम्पन्नः कुर्वन्ननशनं तपः। विहरन्नेकदा भोक्तुं प्राविशन् मथुरापुरम् ॥७९॥

प्राप्त होनेवाले सुखोंकी खान स्वरूप, समस्त देवोंके अधिपति—अच्युतेन्द्र हुए और फिर त्रिलोक-पूजित तीर्थंकर होकर कल्याणकारी स्याद्वादका उपदेश देते हुए मोक्षको प्राप्त हुए ऐसे श्रीमान् श्रेयांसनाथ जिनेन्द्र तुम सबकी लक्ष्मीके लिए हों—तुम सबको लक्ष्मी प्रदान करें ॥६६॥

[जो जिनसेनके अनुगामी हैं—शिष्य हैं तथा लोकसेन नामक शिष्यके द्वारा जिनके चरणकमल पूजित हुए हैं और जो इस पुराणके बनानेवाले कवि हैं ऐसे भदन्त गुणभद्राचार्यको नमस्कार हो ॥६७॥]

जिस प्रकार चक्रवर्तियोंमें प्रथम चक्रवर्ती भरत हुआ उसी प्रकार श्रेयांसनाथके तीर्थमें तीन खण्डको पालन करनेवाले नारायणोंमें उद्यमी प्रथम नारायण हुआ ॥६८॥ उसीका चरित्र तीसरे भवसे लेकर कहता हूँ। यह उदित होकर अस्त होनेवाले राजाओंका एक अच्छा उदाहरण है॥६९॥ इस जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें एक मगधनामका देश है उसमें राजगृह नामका नगर है जो कि इन्द्रपुरीसे भी उत्तम है ॥७०॥ स्वर्गसे आकर उत्पन्न होनेवाले राजाओंका यह घर है इसलिए भोगोपभोगकी सम्पत्तिकी अपेक्षा उसका 'राजगृह' यह नाम सार्थक है ॥७१॥ किसी समय विश्वभूति राजा उस राजगृह नगरका स्वामी था, उसकी रानीका नाम जैनी था। इन दोनोंके एक पुत्र था जो कि सबके लिए आनन्ददायी स्वभाववाला होनेके कारण विश्वनन्दी नामसे प्रसिद्ध था ॥७२॥ विश्वभूतिके विशाखभूति नामका छोटा भाई था. उसकी स्त्रीका नाम लक्ष्मणा था और उन दोनोंके विशाखनन्दी नामका पुत्र था ॥७३॥ विश्वभूति अपने छोटे भाईको राज्य सौंपकर तपके लिए चला गया और समस्त राजाओंको नम्र बनाता हुआ विशाखभूति प्रजाका पालन करने लगा ॥७४॥ उसी राजगृह नगरमें नाना गुल्मों, लताओं और वृक्षोंसे सुशोभित एक नन्दन नामका बाग था जो कि विश्वनन्दीको प्राणोंसे अधिक प्यारा था ॥७५॥ विशाखभूतिके पुत्रने वनपालोंको डाँट कर जबर्दस्ती वह वन ले लिया जिससे उन दोनों—विश्वनन्दी और विशाखनन्दीमें युद्ध हुआ॥७६॥ विशाखनन्दी उस युद्धको नहीं सह सका अतः भाग खड़ा हुआ। यह देखकर विश्वनन्दीको वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह विचार करने लगा कि इस मोहको धिक्कार है ॥७७॥ वह सबको छोड़कर सम्भूत गुरुके समीप आया और काका विशाखभूतिको अग्रगामी बनाकर अर्थात् उसे साथ लेकर दीक्षित हो गया ॥७८॥ वह शील तथा गुणोंसे सम्पन्न होकर अनशन तप करने लगा तथा

---

१ अयं श्लोकः प्रक्षिप्तो भाति।

स बालवत्सया धेन्वा क्रुधा प्रतिहतोऽपतत् । दौष्ट्यान्निर्वासितो देशान् भ्राम्यंस्तत्रागतो विधीः ॥८०॥
विशाखनन्दी तं दृष्ट्वा वेश्यासौधतले स्थितः । व्यहसद्विक्रमस्तेऽद्य क्व यातः स इति क्रुधा ॥ ८१ ॥
सशल्यः सोऽपि तच्छ्रुत्वा सनिदानोऽसुसंक्षये । महाशुक्रेऽभवद्देवो यत्रासीदनुज पितुः ॥ ८२ ॥
[1]षोडशाब्ध्यायुषा दिव्यभोगान् देव्यप्सरोगणैः । ईप्सिताननुभूयासौ ततः प्रच्युत्य भूतले ॥ ८३ ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे[2] सुरम्यविषये पुरे । प्रजापतिर्महाराजः पोदनाख्येऽभवत्पतिः ॥ ८४ ॥
प्राणप्रिया महादेवी तस्याजनि मृगावती । तस्यां सुस्वप्नवीक्षान्ते त्रिपृष्ठाख्यः सुतोऽभवत् ॥ ८५ ॥
पितृव्योऽपि च्युतस्तस्मात्तोको[3]ऽभूत्तन्महीपतेः । जयावत्यां[4] पुरे चैत्य विक्रमी विजयाह्वयः ॥ ८६ ॥
भ्रमन् विशाखनन्दी च चिरं संसारचक्रके । विजयार्द्धोत्तरश्रेण्यामलकाख्यपुरेशिन. ॥ ८७ ॥
मयूरग्रीवसंज्ञस्य स्वपुण्यपरिपाकत. । हयग्रीवाह्वयः सूनुरजायत जितारिराट् ॥ ८८ ॥
अशीतिचापदेहौ तावादिमौ रामकेशवौ । पञ्चशून्ययुगाष्टाब्दनिर्मङ्क्षपरमायुषौ ॥ ८९ ॥
शङ्खेन्द्रनीलसङ्काशौ हत्वाऽश्वग्रीवमुद्धतम् । त्रिखण्डमण्डितायास्ताविहाभूतां पती क्षितेः ॥ ९० ॥
द्विगुणाष्टसहस्राणां मुकुटाङ्कमहीभुजाम् । खगव्यन्तरदेवानामाधिपत्यं समीयतुः ॥ ९१ ॥
त्रिपृष्ठस्य धनुःशङ्खचक्रदण्डासिशक्तयः । गदा च सप्तरत्नानि रक्षितान्यभवन् सुरैः ॥ ९२ ॥
रामस्यापि गदा रत्नमाला [5]समुशलं हलम् । अज्ञानशानचारित्रतपांसीवामवञ्छ्रिये ॥ ९३ ॥
देव्यः स्वयम्प्रभामुख्या [6]मुकुटेशप्रमा बभुः । केशवस्य तदर्द्धास्ता रामस्यापि मन.प्रियाः ॥ ९४ ॥

विहार करता हुआ एक दिन मथुरा नगरीमें प्रविष्ट हुआ ॥७९॥ वहाँ एक छोटे बछड़ेवाली गायने क्रोधसे धक्का दिया जिससे वह गिर पड़ा। दुष्टताके कारण राज्यसे बाहर निकला हुआ मूर्ख विशाखनन्दी अनेक देशोंमें घूमता हुआ उसी मथुरानगरीमें आकर रहने लगा था। वह उस समय एक वेश्याके मकानकी छतपर बैठा था। वहाँसे उसने विश्वनन्दीको गिरा हुआ देखकर क्रोधसे उसकी हँसी की कि तुम्हारा वह पराक्रम आज कहाँ गया ? ॥८०–८१॥ विश्वनन्दीको कुछ शल्य थी अतः उसने विशाखनन्दीकी हँसी सुनकर निदान किया। तथा प्राणक्षय होनेपर महाशुक्र स्वर्गमें जहाँ कि पिताका छोटा भाई उत्पन्न हुआ था, देव हुआ ॥८२॥ वहाँ सोलह सागर प्रमाण उसकी आयु थी। समस्त आयु भर देवियों और अप्सराओंके समूहके साथ मनचाहे भोग भोगकर वहाँसे च्युत हुआ और इस पृथ्वी तल पर जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रके सुरम्य देशमें पोदनपुर नगरके राजा प्रजापतिकी प्राणप्रिया मृगावती नामकी महादेवीके शुभ स्वप्न देखनेके बाद त्रिपृष्ठ नामका पुत्र हुआ ॥८३–८५॥ काकाका जीव भी वहाँसे—महाशुक्र स्वर्गसे च्युत होकर इसी नगरीके राजाकी दूसरी पत्नी जयावतीके विजय नामका पुत्र हुआ ॥८६॥ और विशाखनन्दी चिरकाल तक संसार-चक्रमें भ्रमण करता हुआ विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीकी अलका नगरीके स्वामी मयूरग्रीव राजाके अपने पुण्योदयसे शत्रु राजाओंको जीतनेवाला अश्वग्रीव नामका पुत्र हुआ ॥८७–८८॥ इधर विजय और त्रिपृष्ठ दोनों ही प्रथम बलभद्र तथा नारायण थे, उनका शरीर अस्सी धनुष ऊँचा था और चौरासी लाख वर्षकी उनकी आयु थी ॥८९॥ विजयका शरीर शंखके समान सफेद था और त्रिपृष्ठका शरीर इन्द्रनीलमणिके समान नील था। वे दोनों उद्दण्ड अश्वग्रीवको मारकर तीन खण्डोंसे शोभित पृथिवीके अधिपति हुए थे ॥९०॥ वे दोनों ही सोलह हजार मुकुट-बद्ध राजाओं, विद्याधरों एवं व्यन्तर देवोंके आधिपत्यको प्राप्त हुए थे ॥९१॥ त्रिपृष्ठके धनुष, शंख, चक्र, दण्ड, असि, शक्ति और गदा ये सात रत्न थे जो कि देवोंसे सुरक्षित थे ॥९२॥ बलभद्रके भी गदा, रत्नमाला, मुसल और हल, ये चार रत्न थे जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपके समान लक्ष्मी-को बढ़ानेवाले थे ॥९३॥ त्रिपृष्ठकी स्वयंप्रभाको आदि लेकर सोलह हजार स्त्रियाँ थीं और बलभद्रके

---

१ एष पाठः क०-ख०-ग०-घ०-प्रतिसंमतः, षोडशाब्धिसमायुर्दिव्यभोगानप्सरोगणैः ल० । २ वर्षे ल० । ३ पुत्रः । 'पुत्रः सूनुरपत्यं च तुक्तोकौ चात्मजः सुतः ।' इति कोषः । ४ परैर्वैत्य ल० । ५ समुसलं ग० । ६ मुकुटबद्धराजप्रमाणाः षोडशसहस्रप्रमिता इति यावत् ।

स संरम्य चिरं ताभिर्बह्वारम्भपरिग्रहः । सप्तमीं पृथिवीं प्राप केशवश्चाश्वकन्धरः ॥ ९५ ॥
सीरपाणिश्च तद्दुःखाद्देवादाय संयमम् । सुवर्णकुम्भयोगीन्द्राद्भूदगृहकेवली ॥ ९६ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

कृत्वा राज्यममू सहैव सुचिरं भुक्त्वा सुखं तादृशं
पृथ्वीमूलमगात्किलाखिलमहादुःखालयं केशवः ।
रामो धाम परं सुखस्य जगतां मूर्द्धानमध्यास्त धिक्
दुष्टं कः सुखभागविकोमगविधिं यावन्न हन्यादमुम् ॥ ९७ ॥

उपजातिच्छन्दः

प्रागत्र विश्वनन्दीति विशामधीशस्ततो महाशुक्रमधिष्ठितोऽमरः ।
पुनस्त्रिपृष्ठो भरतार्द्धचक्री चितावकः सप्तमभूमिमाश्रयत् ॥ ९८ ॥

वंशस्थवृत्तम्

विशाखभूतिर्धरणीपतिर्यमी महन्महाशुक्रगतस्ततश्च्युतः ।
हलायुधोऽसौ विजयाह्वयः क्षयं भवं स नीत्वा परमात्मतामितः ॥ ९९ ॥
विशाखनन्दी विहतप्रतापो[1] व्यसुः परिभ्रम्य भवे चिरं ततः ।
खगाधिनाथो हयकन्धराह्वयो रिपुस्त्रिपृष्ठस्य ययावधोगतिम् ॥ १०० ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे श्रेयस्तीर्थकरत्रिपृष्ठ-
विजयाश्वग्रीवपुराणं परिसमाप्तं सप्तपञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५७ ॥



चित्तको प्रिय लगनेवाली आठ हजार स्त्रियाँ थीं ॥९४॥ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहको धारण करनेवाले त्रिपृष्ठ नारायण उन स्त्रियोंके साथ चिरकाल तक रमण कर सातवीं पृथिवीको प्राप्त हुआ—सप्तम नरक गया । इसी प्रकार अश्वग्रीव प्रतिनारायण भी सप्तम नरक गया ॥९५॥ बलभद्रने भाईके दुःखसे दुःखी होकर उसी समय सुवर्णकुम्भ नामक योगिराजके पास संयम धारण कर लिया और क्रम-क्रमसे अनगारकेवली हुआ ॥९६॥ देखो, त्रिपृष्ठ और विजयने साथ ही साथ राज्य किया, और चिरकाल तक अनुपम सुख भोगे परन्तु नारायण—त्रिपृष्ठ समस्त दुःखोंके महान् गृह स्वरूप सातवें नरकमें पहुँचा और बलभद्र सुखके स्थानभूत त्रिलोकके अग्रभागपर जाकर अधिष्ठित हुआ इसलिए प्रतिकूल रहनेवाले इस दुष्ट कर्मको धिक्कार हो । जब तक इस कर्मको नष्ट नहीं कर दिया जावे तब तक इस संसारमें सुखका भागी कौन हो सकता है ? ॥९७॥ त्रिपृष्ठ, पहले तो विश्वनन्दी नामका राजा हुआ फिर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ, फिर त्रिपृष्ठ नामका अर्धचक्री—नारायण हुआ और फिर पापोंका संचय कर सातवें नरक गया ॥९८॥ बलभद्र, पहले विशाखभूति नामका राजा था फिर मुनि होकर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ, वहाँसे चयकर विजय नामका बलभद्र हुआ और फिर संसारको नष्ट कर परमात्म-अवस्थाको प्राप्त हुआ ॥९९॥ प्रतिनारायण पहले विशाखनन्दी हुआ, फिर प्रताप रहित हो मरकर चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता रहा, फिर अश्वग्रीव नामका विद्याधर हुआ जो कि त्रिपृष्ठ नारायणका शत्रु होकर अधोगति—नरकगतिको प्राप्त हुआ ॥१००॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराण संग्रहमें श्रेयांसनाथ तीर्थंकर, त्रिपृष्ठ नारायण, विजय बलभद्र और अश्वग्रीव प्रतिनारायणके पुराणका वर्णन करनेवाला सत्तावनवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥५७॥



---

१ अत्र छन्दोभङ्गः, 'विहतप्रतापकः' इति पाठो भवेत् ।

[1]वासोरिन्द्रस्य पूज्योऽयं वसुपूज्यस्य वा सुतः । वासुपूज्यः सतां पूज्यः स ज्ञानेन पुनातु नः ॥ १ ॥
पुष्करार्द्धेन्द्रदिग्मेरुसीतापाग्वत्सकावती- [2]विषये ख्यातरत्नादिपुरे पद्मोत्तरः पतिः ॥ २ ॥
कीर्तिर्गुणमयी वाचि मूर्तिः पुण्यमयीक्षणे । वृत्तिर्धर्ममयी चित्ते सर्वेषामस्य भूभुजः ॥ ३ ॥
शान्तिर्वाचि दया चित्ते धाम देहे नयो मतौ । धनं दाने जिने भक्तिः प्रतापस्तस्य शत्रुषु ॥ ४ ॥
पाति तस्मिन् भुवं भूपे न्यायमार्गानुवर्तिनि । वृद्धिमेव प्रजाः प्रापुर्मुनौ समितयो यथा ॥ ५ ॥
[3]गुणास्तस्य धनं लक्ष्मीस्तदीयापि[4] गुणप्रिया । तया सह ततो दीर्घं निर्द्वन्द्वं सुखमाप्नुवन् ॥ ६ ॥
स कदाचित् समासीनं मनोहरगिरौ जिनम् । युगन्धराह्वयं स्तोत्रैरुपास्य स्वभक्तितः ॥ ७ ॥
श्रुत्वा सप्रश्रयो धर्ममनुप्रेक्षानुचिन्तनात् । जातत्रिभेदनिर्वेगः[5] पुनश्चैवमचिन्तयत् ॥ ८ ॥
श्रियो माया सुखं दुःखं [6]विनाशावधि जीवितम् । संयोगो विप्रयोगान्तः कायोऽयं [7]सामयः खलः ॥ ९ ॥
कात्र प्रीतिरहं जन्मपञ्चावर्तान्महाभयात् । निर्गच्छाम्यवलम्ब्यैतां काललब्धिमुपस्थिताम् ॥ १० ॥
ततो राज्यभरं पुत्रे धनमित्रे नियोज्य सः । महीशैर्बहुभिः सार्द्धमदीक्षिष्टात्मशुद्धये ॥ ११ ॥
अधीत्यैकादशाङ्गानि श्रद्धानाद्यात्तसम्पदा । बद्ध्वा तीर्थकरं नाम प्रान्ते संन्यस्य शुद्धधीः ॥ १२ ॥

जो वासु अर्थात् इन्द्रके पूज्य हैं अथवा महाराज वसुपूज्यके पुत्र हैं और सज्जन लोग जिनकी पूजा करते हैं ऐसे वासुपूज्य भगवान् अपने ज्ञानसे हम सबको पवित्र करें ॥१॥ पुष्करार्ध द्वीपके पूर्व मेरुकी ओर सीता नदीके दक्षिण तटपर वत्सकावती नामका एक देश है। उसके प्रसिद्ध रत्नपुर नगरमें पद्मोत्तर नामका राजा राज्य करता था ॥२॥ उस राजाकी गुणमयी कीर्ति सबके वचनोंमें रहती थी, पुण्यमयी मूर्ति सबके नेत्रोंमें रहती थी, और धर्ममयी वृत्ति सबके चित्तमें रहती थी ॥ ३ ॥ उसके वचनोंमें शान्ति थी, चित्तमें दया थी, शरीरमें तेज था, बुद्धिमें नीति थी, दानमें धन था, जिनेन्द्र भगवान्में भक्ति थी और शत्रुओंमें प्रताप था अर्थात् अपने प्रतापसे शत्रुओंको नष्ट करता था ॥ ४ ॥ जिस प्रकार न्यायमार्गसे चलनेवाले मुनिमें समितियाँ बढ़ती रहती हैं उसी प्रकार न्यायमार्गके चलनेवाले उस राजाके पृथिवीका पालन करते समय प्रजा खूब बढ़ रही थी ॥ ५ ॥ उसके गुण ही धन था तथा उसकी लक्ष्मी भी गुणोंमें प्रेम करनेवाली थी इसलिए वह उस लक्ष्मीके साथ बिना किसी प्रतिबन्धके विशाल सुख प्राप्त करता रहता था ॥ ६ ॥ किसी दिन मनोहर नामके पर्वतपर युगन्धर जिनराज विराजमान थे। पद्मोत्तर राजाने वहाँ जाकर भक्तिपूर्वक अनेक स्तोत्रोंसे उनकी उपासना की ॥ ७ ॥ विनयपूर्वक धर्म सुना और अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन किया। अनुप्रेक्षाओंके चिन्तवनसे उसे संसार, शरीर और भोगोंसे तीन प्रकारका वैराग्य उत्पन्न हो गया। वैराग्य होनेपर वह इस प्रकार पुनः चिन्तवन करने लगा ॥८॥ कि यह लक्ष्मी मायारूप है, सुख दुःखरूप है, जीवन मरणपर्यन्त है, संयोग वियोग होने तक है और यह दुष्ट शरीर रोगोंसे सहित है ॥ ९ ॥ अतः इन सबमें क्या प्रेम करना है ? अब तो मैं उपस्थित हुई इस काललब्धिका अवलम्बन लेकर अत्यन्त भयानक इस संसाररूपी पंच परावर्तनोंसे बाहर निकलता हूँ ॥१०॥ ऐसा विचारकर उसने राज्यका भार धनमित्र नामक पुत्रके लिए सौंपा और स्वयं आत्म-शुद्धिके लिए अनेक राजाओंके साथ दीक्षा ले ली ॥११॥ निर्मल बुद्धिके धारक पद्मोत्तर मुनिने ग्यारह अंगोंका

---

१ वासुना इन्द्रेण पूज्यः वासुपूज्यः, अथवा वसुपूज्यस्य अपत्यं वासुपूज्यः। २ विषयख्यात ख०। ३ गुणस्तस्य ग०, ल०। ४ तद्यापि ल० (?)। ५ निर्वेदः ल०। ६ मरणावधि। ७ सामयः सरोगः।

महाशुक्रविमानेऽभूम्महाशुक्रोऽमराधिपः । षोडशाब्धिप्रमाणायुश्चतुर्हस्तशरीरभाक् ॥ १३ ॥
पद्मलेश्यः श्वसन्मासैरष्टभिस्तुष्टमानसः । षोडशाब्दसहस्रान्ते मानसाहारमाहरन् ॥ १४ ॥
सदा शब्दप्रवीचारश्चतुर्थक्ष्मागतावधिः । प्रभावधिरिवैतस्य विक्रियाबलतेजसाम् ॥ १५ ॥
तत्रामरीकलालापगीतवाद्यादिमोदिते । चोदिते कालपर्यायैस्तस्मिन्नत्रागमिष्यति ॥ १६ ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते चम्पानगरेऽङ्गनराधिपः । इक्ष्वाकुः काश्यपः ख्यातो वसुपूज्योऽस्य भामिनी ॥१७॥
प्रिया जयावती प्राप्तवसुधारादिमानना । आषाढकृष्णषष्ठ्यन्ते चतुर्विंशर्क्षलक्षिते ॥ १८ ॥
दृष्ट्वा स्वप्नान् फलं तेषां पत्युर्ज्ञात्वाऽतितोषिणी । अष्टौ मासान् क्रमान्नीत्वा प्राप्तफाल्गुनमासिका ॥१९॥
कृष्णायां [1]वारुणे योगे चतुर्दश्यां सुरोत्तमम् । सर्वप्राणिहितं पुत्रं सुखेनेयमजीजनत् ॥ २० ॥
सुराः सौधर्ममुख्यास्तं सुराद्रौ क्षीरसागरात् । घटैरानीय पानीयं स्नपयित्वा प्रसाधनम् ॥ २१ ॥
विधाय वासुपूज्यं च नामादाय पुनर्गृहम् । नीत्वा वासान् स्वकीयांस्ते जग्मुर्जातमहोत्सवाः ॥ २२ ॥
श्रेयस्तीर्थान्तरे पञ्चाशच्चतुःसागरोपमे । प्रान्तपल्यत्रिभागेऽस्मिन् व्युच्छित्तौ [2]धर्मसन्ततेः ॥ २३ ॥
तदभ्यन्तरवर्त्यायुः सोऽभवच्चापसप्ततिः । पञ्चशून्यद्विसप्ताब्दजीवितः कुङ्कुमच्छविः ॥ २४ ॥
इष्टाष्टादशधान्यानां बीजानां वृद्धिकारणम् । [3]भेकलेह्यमिव क्षेत्रं गुणानामेष भूपतिः ॥ २५ ॥
विषमस्य गुणाः प्राप्य सर्वे सत्फलदायिनः । समां वृष्टिरिवाभीष्टां सस्यभेदा जगद्धिताः ॥ २६ ॥

अध्ययन किया, दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं रूप सम्पत्तिके प्रभावसे तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया और अन्तमें संन्यास धारण किया ॥१२॥ जिससे महाशुक्र विमानमें महाशुक्र नामका इन्द्र हुआ। सोलह सागर प्रमाण उसकी आयु थी और चार हाथ ऊँचा शरीर था ॥१३॥ पद्मलेश्या थी, आठ माहमें एक बार श्वास लेता था, सदा संतुष्टचित्त रहता था और सोलह हजार वर्ष बीतनेपर एक बार मानसिक आहार लेता था ॥१४॥ सदा शब्दसे ही प्रवीचार करता था अर्थात् देवाङ्गनाओंके मधुर शब्द सुनने मात्रसे उसकी काम-बाधा शान्त हो जाती थी, चतुर्थ पृथिवी तक उसके अवधिज्ञानका विषय था, और चतुर्थ पृथिवी तक ही उसकी विक्रिया बल और तेजकी अवधि थी ॥१५॥ वहाँ देवियोंके मधुर वचन, गीत, बाजे आदिसे वह सदा प्रसन्न रहता था। अन्तमें काल द्रव्यकी पर्यायोंसे प्रेरित होकर जब वह यहाँ आनेवाला हुआ ॥१६॥

तब इस जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके चम्पा नगरमें वसुपूज्य नामका अंगदेशका राजा रहता था। वह इक्ष्वाकुवंशी तथा काश्यपगोत्री था। उसकी प्रिया स्त्रीका नाम जयावती था, जयावतीने रत्नवृष्टि आदि सम्मान प्राप्त किया था। तदनन्तर उसने आषाढकृष्ण षष्ठीके दिन चौबीसवें शतभिषा नक्षत्रमें सोलह स्वप्न देखे और पतिसे उनका फल जानकर बहुत ही सन्तोष प्राप्त किया। क्रम-क्रमसे आठ माह बीत जानेपर जब नौवाँ फाल्गुन माह आया तब उसने कृष्णपक्षकी चतुर्दशीके दिन वारुण योगमें सब प्राणियोंका हित करनेवाले उस इन्द्ररूप पुत्रको सुखसे उत्पन्न किया॥ १७-२०॥ सौधर्म आदि देवोंने उसे सुमेरु पर्वतपर ले जाकर कलश-द्वारा क्षीरसागरसे लाये हुए जलके द्वारा उसका जन्माभिषेक किया, आभूषण पहिनाये, वासुपूज्य नाम रखा, घर वापिस लाये और अनेक महोत्सव कर अपने-अपने निवास-स्थानोंकी ओर गमन किया॥२१-२२॥ श्री श्रेयांसनाथ तीर्थंकरके तीर्थसे जब चौवन सागर प्रमाण अन्तर बीत चुका था और अन्तिम पल्यसे तृतीय भागमें जब धर्मकी सन्ततिका विच्छेद हो गया था तब वासुपूज्य भगवान्‌का जन्म हुआ था। इनकी आयु भी इसी अन्तरमें सम्मिलित थी, वे सत्तर धनुष ऊँचे थे, बहत्तर लाख वर्षकी उनकी आयु थी और कुंकुमके समान उनके शरीरकी कान्ति थी ॥२३-२४॥ जिस प्रकार मेंढकोंके द्वारा आस्वादन करने योग्य अर्थात् सजल क्षेत्र अठारह प्रकारके इष्ट धान्योंके बीजोंकी वृद्धिका कारण होता है उसी प्रकार यह राजा गुणोंकी वृद्धिका कारण था।।२५॥जिस प्रकार संसारका हित करनेवाले सब प्रकारके धान्य, समा नामकी इच्छित वर्षाको पाकर श्रेष्ठ फल देनेवाले होते हैं उसी प्रकार समस्त गुण

---

१ वरुणे योगे ख०, ग०। २ धर्मसन्ततौ क०, ग०, घ०। ३ भेकलेह्य ल०।

त्रयः साप्ताहिका मेघा अशीतिः कणशीकराः । षष्टिरातपमेघानामेघवृष्टिः[1] समा मता ॥ २७ ॥
अगुर्गुणा गुणीभावमन्येष्वस्मिंस्तु मुख्यताम् । आश्रयः कस्य वैशिष्ट्यं विशिष्टो न प्रकल्पते ॥ २८ ॥
गुणी गुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाश इष्यते । इति बुद्ध्वा सुधीः सर्वान् गुणान् सम्यगपालयत् ॥ २९ ॥
अष्टादशसमा लक्षाः कौमारे प्राप्य संसृतेः । निर्विद्यात्मगतं धीमान् याथात्म्यं समचिन्तयत् ॥ ३० ॥
निर्बुद्धिर्विषयसंसक्तो[2] बध्नन्नात्मानमात्मना । बन्धैश्चतुर्विधैर्दुःखं भुञ्जानश्च चतुर्विधम् ॥ ३१ ॥
अनादौ जन्मकान्तारे भ्रान्त्वा कालादिलब्धितः । सन्मार्गं प्राप्तवाँस्तेन प्रगुणं यामि सद्गतिम् ॥ ३२ ॥
अस्तु कायः शुचिः स्थास्नुः प्रेक्षणीयो निरामयः । आयुश्चिरमनाबाधं सुखं[3] सन्ततसाधनम् ॥ ३३ ॥
किन्तु ध्रुवो वियोगोऽत्र रागात्मकमिदं सुखम् । रागी बध्नाति कर्माणि बन्धः संसारकारणम् ॥ ३४ ॥
चतुर्गतिमयः सोऽपि ताश्च दुःखसुखावहाः । ततः किममुनेत्येतत्त्याज्यमेव विचक्षणैः ॥ ३५ ॥
इति चिन्तयतस्तस्य स्तवो लौकान्तिकैः कृतः । सुरा निष्क्रमणस्नानभूषणाद्युत्सवं व्यधुः ॥ ३६ ॥
शिबिकां देवसंरूढामारुह्य पृथिवीपतिः । वने मनोहरोद्याने चतुर्थोपोषितं वहन् ॥ ३७ ॥
विशाखर्क्षे चतुर्दश्यां सायाह्ने कृष्णफाल्गुने । सामायिकं समादाय तुर्यज्ञानोऽप्यभूद्विभुः ॥ ३८ ॥
सह तेन महीपालाः षट्सप्ततिमिताहिताः । प्रव्रज्यां प्रत्यपद्यन्त परमार्थविदो मुदा ॥ ३९ ॥
द्वितीये दिवसेऽविक्षन् महानगरमन्वसे । सुन्दराख्यो नृपस्तस्मै सुवर्णाभोऽदिताशनम् ॥ ४० ॥

इस राजाकी बुद्धिको पाकर श्रेष्ठ फल देनेवाले हो गये थे ॥२६॥ सात दिन तक मेघोंका बरसना त्रय कहलाता है, अस्सी दिन तक बरसना कणशीकर कहलाता है और बीच-बीचमें आतप-धूप प्रकट करनेवाले मेघोंका साठ दिन तक बरसना समावृष्टि कहलाती है ॥२७॥ गुण, अन्य हरिहरादिकमें जाकर अप्रधान हो गये थे परन्तु इन वासुपूज्य भगवान्में वही गुण मुख्यताको प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि विशिष्ट आश्रय किसकी विशेषताको नहीं करते ? ॥२८॥ चूँकि गुणी पदार्थ गुणोंसे तन्मय होता है अतः गुणका नाश होनेसे गुणी पदार्थका भी नाश हो जाता है यह विचार कर ही बुद्धिमान् वासुपूज्य भगवान् समस्त गुणोंका अच्छी तरह पालन करते थे ॥२९॥ जब कुमार-कालके अठारह लाख वर्ष बीत गये तब संसारसे विरक्त होकर बुद्धिमान् भगवान् अपने मनमें पदार्थके यथार्थ स्वरूपका इस प्रकार विचार करने लगे ॥३०॥ यह निर्बुद्धि प्राणी विषयोंमें आसक्त होकर अपनी आत्माको अपने ही द्वारा बाँध लेता है तथा चार प्रकारके बन्धसे चार प्रकारका दुःख भोगता हुआ इस अनादि संसार-वनमें भ्रमण कर रहा है। अब मैं कलादि लब्धियोंसे उत्तम गुणको प्रकट करनेवाले सन्मार्गको प्राप्त हुआ हूँ अतः मुझे मोक्ष रूप सद्गति ही प्राप्त करना चाहिए ॥३१-३२॥ शरीर भले ही पवित्र हो, स्थायी हो, दर्शनीय-सुन्दर हो, नीरोग हो, आयु चिरकाल तक बाधासे रहित हो, और सुखके साधन निरन्तर मिलते रहें परन्तु यह निश्चित है कि इन सबका वियोग अवश्यंभावी है, यह इन्द्रियजन्य सुख रागरूप है, रागी जीव कर्मोंको बाँधता है, बन्ध संसारका कारण है, संसार चतुर्गति रूप है और चारों गतियाँ दुःख तथा सुखको देनेवाली हैं अथवा दुःखरूप सुखको देनेवाली हैं। अतः मुझे इस संसारसे क्या प्रयोजन है ? यह तो बुद्धि-मानोंके द्वारा छोड़ने योग्य ही है ॥३३-३५॥ इधर भगवान् ऐसा चिन्तवन कर रहे थे उधर लौका-न्तिक देवोंने आकर उनकी स्तुति प्रारम्भ कर दी। देवोंने दीक्षा-कल्याणकके समय होनेवाला अभिषेक किया; आभूषण पहनाये तथा अनेक उत्सव किये ॥३६॥ महाराज वासुपूज्य देवोंके द्वारा उठायी गयी पालकीपर सवार होकर मनोहरोद्यान नामक वनमें गये और वहाँ एक दिनके उपवासका नियम लेकर फाल्गुनकृष्ण चतुर्दशीके दिन सायंकालके समय विशाखा नक्षत्रमें सामा-यिक नामका चारित्र ग्रहण कर साथ-ही-साथ मनःपर्ययज्ञानके धारक भी हो गये ॥३७-३८॥ उनके साथ परमार्थको जाननेवाले छह सौ छिहत्तर राजाओंने भी बड़े हर्षसे दीक्षा प्राप्त की थी ॥३९॥ दूसरे दिन उन्होंने आहारके लिए महानगरमें प्रवेश किया। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले सुन्दर

---

१ षष्टिरातपमेघानां मेघवृष्टिः क०, घ० । -मेघा वृष्टिः ल० । २ संशक्तो ल० । ३ सन्ततिसाधनम् ग०, ख० ।

आश्चर्यपञ्चकं चापि तेन छाद्मस्थ्यवत्सरे । गते श्रीवासुपूज्येशः स्वदीक्षावनमागतः ॥ ४१ ॥
कदम्बवृक्षमूलस्थः सोपवासोऽपराह्णके । माघज्योत्स्नाद्वितीयायां विशाखर्क्षेऽभवज्जिनः ॥ ४२ ॥
सौधर्ममुख्यदेवेन्द्रास्तदैवैनमपूजयन् । तत्कल्याणं न विस्तार्यं नाम्नोऽन्त्यस्योदये यतः ॥ ४३ ॥
षट्षष्टिमितधर्मादिगणभृद्वृन्दवन्दितः । खद्वयद्व्येकविज्ञातपूर्वपूर्वधरावृतः ॥ ४४ ॥
खद्वयद्विनवाग्न्युक्तशिक्षकाभिष्टुतक्रमः । शून्यद्वयचतुःपञ्चप्रोक्तावधिबुधश्रितः[1] ॥ ४५ ॥
शून्यत्रिकर्तुविख्यातश्रुतकेवलवीक्षणः । खचतुष्कैकनिर्णीतविक्रियर्द्धिविभूषितः ॥ ४६ ॥
षट्सहस्रचतुर्ज्ञानमानितक्रमपङ्कजः । खद्वयद्विचतुःप्रोक्तवादिसाधितमच्छ्रुतिः ॥ ४७ ॥
शून्यत्रयद्विसप्तोक्तपिण्डिताखिलमण्डितः । शून्यत्रयर्तुशून्यैकसेनार्याद्यार्यिकादिधृत् ॥ ४८ ॥
द्विलक्षश्रावकोपेतः श्राविकातुर्यलक्षकः । पूर्वोक्तदेवदेवीड्यस्तिर्यक्संख्यातसंस्तुतः ॥ ४९ ॥
स तैः सह विहृत्याखिलार्यक्षेत्राणि तर्पयन् । धर्मवृष्ट्या क्रमात्प्राप्य चम्पामब्दसहस्रकम् ॥ ५० ॥
स्थित्वाऽत्र निष्क्रियं मासं नद्या [2]राजतमालिका-सम्ज्ञायाश्चित्तहारिण्याः [3]पर्यन्तावनिवर्तिनि ॥ ५१ ॥
अग्रमन्दरशैलस्य सानुस्थानविभूषणे । वने मनोहरोद्याने पल्यङ्कासनमाश्रितः ॥ ५२ ॥
मासे भाद्रपदे ज्योत्स्नाचतुर्दश्यापराह्णके । विशाखायां ययौ मुक्तिं चतुर्णवतिसंयतैः ॥ ५३ ॥
परिनिर्वाणकल्याणपूजाप्रान्ते महोत्सवैः । अवन्दिषत ते देवं देवाः सेवाविचक्षणाः ॥ ५४ ॥
विजिगीषोर्गुणैः[4]षड्भिः[5]सिद्धिश्चेत्सुप्रयोजितैः । मुमुक्षोः किं न [6]सामीभिः [7]लक्षाचतुरशीतिभिः ॥ ५५ ॥

नामके राजाने उन्हें आहार दिया॥४०॥ और पंचाश्चर्य प्राप्त किये । तदनन्तर छद्मस्थ अवस्थाका एक वर्ष बीत जानेपर किसी दिन वासुपूज्य स्वामी अपने दीक्षावनमें आये ॥४१॥ वहाँ उन्होंने कदम्ब वृक्षके नीचे बैठकर उपवासका नियम लिया और माघशुक्ल द्वितीयाके दिन सायंकालके समय विशाखा नक्षत्रमें चार घातिया कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया । अब वे जिनराज हो गये ॥४२॥ सौधर्म आदि इन्द्रोंने उसी समय आकर उनकी पूजा की। चूँकि भगवान्‌का वह दीक्षा-कल्याणक नामकर्मके उदयसे हुआ था अतः उसका विस्तारके साथ वर्णन नहीं किया जा सकता ॥४३॥ वे धर्मको आदि लेकर छयासठ गणधरोंके समूहसे वन्दित थे, बारह सौ पूर्व-धारियोंसे घिरे रहते थे, उनतालीस हजार दो सौ शिक्षक उनके चरणोंकी स्तुति करते थे, पाँच हजार चार सौ अवधिज्ञानी उनकी सेवा करते थे, छह हजार केवलज्ञानी उनके साथ थे, दस हजार विक्रिया ऋद्धिको धारण करनेवाले मुनि उनकी शोभा बढ़ा रहे थे, छह हजार मनःपर्ययज्ञानी उनके चरण-कमलोंका आदर करते थे और चार हजार दो सौ वादी उनकी उत्तम प्रसिद्धिको बढ़ा रहे थे । इस प्रकार सब मिलकर बहत्तर हजार मुनियोंसे सुशोभित थे, एक लाख छह हजार सेना आदि आर्यिकाओंको धारण करते थे, दो लाख श्रावकोंसे सहित थे, चार लाख श्राविकाओंसे युक्त थे, असंख्यात देव-देवियोंसे स्तुत्य थे और संख्यात तिर्यंचोंसे स्तुत थे ॥४४–४९॥ भगवान्‌ने इन सबके साथ समस्त आर्यक्षेत्रोंमें विहार कर उन्हें धर्मवृष्टिसे संतृप्त किया और क्रम-क्रमसे चम्पा नगरीमें आकर एक हजार वर्ष तक रहे । जब आयुमें एक मास शेष रह गया तब योग-निरोध कर रजत-मालिका नामक नदीके किनारेकी भूमिपर वर्तमान, मन्दरगिरिके शिखरको सुशोभित करनेवाले मनोहरोद्यानमें पर्यंकासनसे स्थित हुए तथा भाद्रपदशुक्ला चतुर्दशीके दिन सायंकालके समय विशाखा नक्षत्रमें चौरानबे मुनियोंके साथ मुक्तिको प्राप्त हुए ॥५०–५३॥ सेवा करनेमें अत्यन्त निपुण देवोंने निर्वाणकल्याणककी पूजाके बाद बड़े उत्सवसे भगवान्‌की वन्दना की ॥५४॥ जब कि विजयकी इच्छा रखनेवाले राजाको, अच्छी तरह प्रयोगमें लाये हुए सन्धि-विग्रह आदि छह गुणोंसे ही सिद्धि (विजय) मिल जाती है तब मोक्षाभिलाषी भगवान्‌को चौरासी लाख गुणोंसे सिद्धि (मुक्ति) क्यों नहीं मिलती ? अवश्य मिलती ॥५५॥

---

१ स्मृतः ल० । २ रजतमालिका क०, घ० । रजतबालिका ख०, ग० । रजतमौलिका ल० । ३ पर्यन्तावनिवर्तनः ग० । ४ सन्धिविग्रहादिभिः षड्गुणैः । ५ सफलता-विजयः । ६ सा सिद्धिः अमीभिः गुणैः । ७ चतुरशीतिलक्षप्रमितोत्तरगुणैः ।

मालिनी

सदसदुभयमेतत्तैकशब्देन वाच्यं
त्रितयमपि पृथक्तत्तुर्यभङ्गेन युञ्ज्यात् ।
इति सकलपदार्था सप्तभङ्गी त्वयोक्ता
कथमवितथवाक्त्वं वासुपूज्यो न पूज्यः ॥ ५६ ॥

वसन्ततिलका

धर्मो दया कथमसौ सपरिग्रहस्य
वृष्टिर्धरातलहिता किमवग्रहेऽस्ति ।
तस्मात्त्वया द्वयपरिग्रहमुक्तिरुक्ता
तद्वासनासुमहितो जिन वासुपूज्य ॥ ५७ ॥
पद्मोत्तरः प्रथमजन्मनि पार्थिवेशः
शुक्रे महत्त्वमरषट्पदपद्मपादः ।
यो वासुपूज्ययुवराट् त्रिजगत्प्रपूज्यः
राज्ये जिनः स दिशतादतुलं सुखं वः ॥ ५८ ॥

अनुष्टुप्

तीर्थे श्रीवासुपूज्यस्य द्विपृष्ठो नाम भूपतिः । त्रिखण्डाधिपतिर्जातो द्वितीयः सोऽर्द्धचक्रिणाम् ॥ ५९ ॥
वृत्तकं तस्य वक्ष्यामो जन्मत्रयसमाश्रितम् । श्रुते१ येन भव्यानां भवेद् भूयो भवाद्भयम् ॥ ६० ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे कनकादिपुराधिप । सुषेणो नाम तस्यासीन्नर्तकी गुणमञ्जरी ॥ ६१ ॥
रूपिणी सुभगानृत्यगीतवाद्यादिविश्रुता । सरस्वती द्वितीयेव सर्वभूपाभिवाञ्छिता ॥ ६२ ॥
अस्ति तत्रैव देशोऽन्यो मलयाख्यो मनोहरः । विन्ध्यशक्तिः पतिस्तस्य नृपो विन्ध्यपुरे वसन् ॥६३॥

पदार्थ कथंचित् सत् है, कथंचित् असत् है, कथंचित् सत्-असत् उभयरूप है, कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् सत् अवक्तव्य है, कथंचित् असत् अवक्तव्य है, और कथंचित् सदसद्-वक्तव्य है, इस प्रकार हे भगवन्, आपने प्रत्येक पदार्थके प्रति सप्तभङ्गीका निरूपण किया है और इसीलिए आप सत्यवादी रूपसे प्रसिद्ध हैं फिर हे वासुपूज्य देव ! आप पूज्य क्यों न हों ? अवश्य हों ॥५६॥ धर्म दया रूप है, परन्तु वह दयारूप धर्म परिग्रह सहित पुरुषके कैसे हो सकता है ? वर्षा पृथिवीतलका कल्याण करनेवाली है परन्तु प्रतिबन्धके रहते हुए कैसे हो सकती है ? इसीलिए आपने अन्तरंग-बहिरंग-दोनों परिग्रहोंके त्यागका उपदेश दिया है । हे वासुपूज्य जिनेन्द्र ! आप इसी परिग्रह-त्यागकी वासनासे पूजित हैं ॥५७॥ जो पहले जन्ममें पद्मोत्तर राजा हुए, फिर महाशुक्र स्वर्गमें इन्द्र हुए, वह इन्द्र, जिनके कि चरण, देवरूपी भ्रमरोंके लिए कमलके समान थे और फिर त्रिजगत्पूज्य वासुपूज्य जिनेन्द्र हुए, वह जिनेन्द्र, जिन्होंने कि बालब्रह्मचारी रहकर ही राज्य किया था, वे बारहवें तीर्थंकर तुम सबके लिए अतुल्य सुख प्रदान करें ॥५८॥

अथानन्तर-श्री वासुपूज्य स्वामीके तीर्थमें द्विपृष्ठ नामका राजा हुआ जो तीन खण्डका स्वामी था और दूसरा अर्धचक्री (नारायण) था ॥५९॥ यहाँ उसका तीन जन्म सम्बन्धी चरित्र कहता हूँ जिसके सुननेसे भव्य-जीवोंको संसारसे बहुत भारी भय उत्पन्न होगा ॥६०॥ इसी जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें एक कनकपुर नामका नगर है। उसके राजाका नाम सुषेण था। सुषेणके एक गुणमंजरी नामकी नृत्यकारिणी थी ॥६१॥ वह नृत्यकारिणी रूपवती थी, सौभाग्यवती थी, गीत नृत्य तथा बाजे बजाने आदि कलाओंमें प्रसिद्ध थी, और दूसरी सरस्वतीके समान जान पड़ती थी, इसीलिए सब राजा उसे चाहते थे ॥६२॥ उसी भरतक्षेत्रमें एक मलय नामका मनोहर देश था, उसके विन्ध्य-

---

१ सुभगागीतनृत्य ल० ।

स रक्तो गुणमञ्जर्याः प्रेक्षायामिव षट्पदः । चूतप्रसवमञ्जर्या माधुर्यैरसरञ्जितः ॥ ६४ ॥
रत्नाद्युपायनोपेतं [1]मितार्थं चित्तहारिणम् । सुषेणं प्रतिसम्मान्य प्राहिणोन्नर्तकीप्सया ॥ ६५ ॥
दूतोऽपि सत्वरं गत्वा स सुषेणमहीपतिम् । दृष्ट्वा यथोचितं तस्मै दत्त्वोपायनमब्रवीत् ॥ ६६ ॥
युष्मद्गृहे महारत्नं नर्तकी किल विश्रुता । विन्ध्यशक्तिर्भवद्बन्धुस्तां द्रष्टुमभिलाषुकः ॥ ६७ ॥
तत्प्रयोजनमुद्दिश्य प्रहितोऽहं महीपते । त्वयापि सा प्रहेतव्या प्रत्यानीय समर्पये ॥ ६८ ॥
इत्यनल्पवचः श्रुत्वा सुतरां कोपवेपिना । याहि याहि किमश्राव्यैर्वचोभिर्दर्पशालिभिः ॥ ६९ ॥
इति निर्भर्त्सितो भूयः सुषेणेन दुरुक्तिभिः । दूतः प्रत्येत्य तत्सर्वं विन्ध्यशक्तिं [2]व्यजिज्ञपत् ॥ ७० ॥
सोऽपि कोपग्रहाविष्टस्तद्वचःश्रवणाद् भृशम् । अस्तु को दोष इत्यात्मगतमालोच्य मन्त्रिभिः ॥ ७१ ॥
शूरो लघुसमुत्थानः कूटयुद्धविशारदः । अवस्कन्देन सम्प्राप्य सारसांग्रामिकाग्रणीः ॥ ७२ ॥
विधाय सङ्गरे भङ्गं तत्कीर्तिमिव नर्तकीम् । [3]तामाहरद् गते पुण्ये कस्य किं कोऽत्र नाहरत् ॥ ७३ ॥
दन्तभङ्गो गजेन्द्रस्य दंष्ट्राभङ्गो मृगद्विषः । मानभङ्गो महीभर्तुर्महिमानमपह्नुते ॥ ७४ ॥
स तेन मानभङ्गेन स्वगृहाद्भग्नमानसः । पृष्ठभङ्गेन नागो वा न प्रतस्थे पदात्पदम् ॥ ७५ ॥
स कदाचित्सनिर्वेदः[4] सुव्रताख्यजिनाधिपात् । अनगारात्परिज्ञातधर्मा निर्मलचेतसा ॥ ७६ ॥
स कोऽपि पापपाको मे येन तेनाप्यहं जितः । इति सञ्चिन्त्य पापारिं निहन्तुं मतिमातनोत् ॥ ७७ ॥
तपस्तनूनपात्तापतनूकृततनुश्चिरम् । सारिकोपः स संन्यस्य सनिदानः सुरोऽभवत् ॥ ७८ ॥

पुर नगरमें विन्ध्यशक्ति नामका राजा रहता था ॥६३॥ जिस प्रकार मधुरताके रससे अनुरक्त हुआ भ्रमर आम्रमंजरीके देखनेमें आसक्त होता है उसी प्रकार वह राजा गुणमंजरीके देखनेमें आसक्त था ॥६४॥ उसने नृत्यकारिणीको प्राप्त करनेकी इच्छासे सुषेण राजाका सम्मान कर उसके पास रत्न आदिकी भेंट लेकर चित्तको हरण करनेवाला एक दूत भेजा ॥६५॥ उस दूतने भी शीघ्र जाकर सुषेण महाराजके दर्शन किये, यथायोग्य भेंट दी और निम्न प्रकार समाचार कहा ॥६६॥ उसने कहा कि आपके घरमें जो अत्यन्त प्रसिद्ध नर्तकीरूपी महारत्न है, उसे आपका भाई विन्ध्यशक्ति देखना चाहता है ॥६७॥ हे राजन्! इसी प्रयोजनको लेकर मैं यहाँ भेजा गया हूँ। आप भी उस नृत्यकारिणी-को भेज दीजिए। मैं उसे वापस लाकर आपको सौंप दूँगा ॥६८॥ दूतके ऐसे वचन सुनकर सुषेण क्रोधसे अत्यन्त काँपने लगा और कहने लगा कि जा, जा, नहीं सुनने योग्य तथा अहंकारसे भरे हुए इन वचनोंसे क्या लाभ है? इस प्रकार सुषेण राजाने खोटे शब्दों-द्वारा दूतकी बहुत भारी भर्त्सना की। दूतने वापस आकर यह सब समाचार राजा विन्ध्यशक्तिसे कह दिये ॥६९-७०॥ दूतके वचन सुननेसे वह भी बहुत भारी क्रोधरूपी ग्रहसे आविष्ट हो गया—अत्यन्त कुपित हो गया और कहने लगा कि रहने दो, क्या दोष है? तदनन्तर मन्त्रियोंके साथ उसने कुछ गुप्त विचार किया ॥७१॥ कूट युद्ध करनेमें चतुर, श्रेष्ठ योद्धाओंके आगे चलनेवाला और शूरवीर वह राजा अपनी सेना लेकर शीघ्र ही चला ॥७२॥ विन्ध्यशक्तिने युद्धमें राजा सुषेणको पराजित किया और उसकी कीर्तिके समान नृत्यकारिणीको जबरदस्ती छीन लिया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यके चले जाने पर कौन किसकी क्या वस्तु नहीं हर लेता? ॥७३॥ जिस प्रकार दाँतका टूट जाना हाथीकी महिमा-को छिपा लेता है, और दाढ़का टूट जाना सिंहकी महिमाको तिरोहित कर देता है उसी प्रकार मान-भंग राजाकी महिमाको छिपा देता है ॥७४॥ उस मान-भंगसे राजा सुषेणका दिल टूट गया अतः जिस प्रकार पीठ टूट जानेसे सर्प एक पद भी नहीं चल पाता है उसी प्रकार वह भी अपने स्थानसे एक पद भी नहीं चल सका ॥७५॥ किसी एक दिन उसने विरक्त होकर धर्मके स्वरूपको जाननेवाले गृह-त्यागी सुव्रत जिनेन्द्रसे धर्मोपदेश सुना और निर्मल चित्तसे इस प्रकार विचार किया कि यह हमारे किसी पापका ही उदय था जिससे विन्ध्यशक्तिने मुझे हरा दिया। ऐसा विचार कर उसने पाप-रूपी शत्रुको नष्ट करनेकी इच्छा की ॥७६-७७॥ और उन्हीं जिनेन्द्रसे दीक्षा ले

---

१ मितभाषिणं दूतम्। २ प्रजिज्ञपत् ल०। ३ ततोऽहरद् ल०। ४ सनिर्वेगः ख०। सनिर्वेदं ल०।

विमानेऽनुपमे नाम्ना कल्पे प्राणतनामनि । विंशत्यब्ध्युपमायुः सन् स्वष्टर्द्धिकृतसम्मदः ॥ ७९ ॥
अत्रैव भारते[1] श्रीमान् महापुरमधिष्ठितः । नृपो वायुरथो नाम भुक्त्वा राज्यश्रियं चिरम् ॥ ८० ॥
श्रुत्वा सुव्रतनामार्हत्पार्श्वे धर्मं स तत्त्ववित् । सुतं घनरथं राज्ये स्थापयित्वाऽगमत्तपः ॥ ८१ ॥
अधीत्य सर्वशास्त्राणि विधाय परमं तपः । तत्रैवेन्द्रोऽभवत्कल्पे विमानेऽनुत्तराह्वये ॥ ८२ ॥
ततोऽवतीर्य वर्षेऽस्मिन् पुरीद्वारावतीपतेः[2] । ब्रह्माख्यस्याचलस्तोकः सुभद्रायामभूद्विभुः ॥ ८३ ॥
तस्यैवासौ सुषेणाख्योऽप्युषायामात्मजोऽजनि । द्विपृष्ठाख्यस्तनुस्तस्य चापसप्ततिसम्मिता ॥ ८४ ॥
द्वासप्ततिसमालक्षाः परमायुर्निरन्तरम् । राजभोगानभुङ्क्तोच्चैरिक्ष्वाकूणां कुलाग्रणीः ॥ ८५ ॥
कुन्देन्द्रनीलसङ्काशावभातां बलकेशवौ । सङ्गमेन प्रवाहो वा गङ्गायमुनयोरमू ॥ ८६ ॥
अविभक्तां महीमेतावभुङ्क्तां पुण्यनायकौ । सरस्वतीं गुरूद्दिष्टां समानश्राविकाविव ॥ ८७ ॥
अविवेकस्तयोरासीदधीताशेषशास्त्रयोः । अपि श्रीकामिनीयोगे स एव किल शस्यते ॥ ८८ ॥
स्थिरावत्युन्नतौ शुक्लनीलौ भातः स्म भूभृतौ । कैलासाञ्जनसञ्ज्ञौ वा सङ्गतौ तौ मनोहरौ ॥ ८९ ॥
इतः स विन्ध्यशक्त्याख्यो घटीयन्त्रसमश्चिरम् । भ्रान्त्वा संसारवाराशावणीयः पुण्यसाधनः ॥ ९० ॥
इहैव श्रीधराख्यस्य भोगवर्द्धनपूःपतेः[3] । अभूदखिलविख्यातस्तनूजस्तारकाख्यया ॥ ९१ ॥
बभार भास्वरां लक्ष्मीं भरतार्द्धनिवासिनीम् । स्वचक्राक्रान्तिसन्त्रासदासीभूत(ख)भूधरः ॥ ९२ ॥

ली। बहुत दिन तक तपरूपी अग्निके सन्तापसे उसका शरीर कृश हो गया था। अन्तमें शत्रुपर क्रोध रखता हुआ वह निदान बन्ध-सहित संन्यास धारण कर प्राणत स्वर्गके अनुपम नामक विमानमें बीस सागरकी आयुवाला तथा आठ ऋद्धियोंसे हर्षित देव हुआ ॥७८–७९॥

अथानन्तर इसी भरतक्षेत्रके महापुर नगरमें श्रीमान् वायुरथ नामका राजा रहता था। चिरकाल तक राज्यलक्ष्मीका उपभोग कर उसने सुव्रत नामक जिनेन्द्रके पास धर्मका उपदेश सुना, तत्त्वज्ञानी वह पहलेसे ही था अतः विरक्त होकर घनरथ नामक पुत्रको राज्य देकर तपके लिए चला गया ॥८०–८१॥ समस्त शास्त्रोंका अध्ययन कर तथा उत्कृष्ट तप कर वह उसी प्राणत स्वर्गके अनुत्तर नामक विमानमें इन्द्र हुआ ॥८२॥ वहाँसे चय कर इसी भरतक्षेत्रकी द्वारावती नगरीके राजा ब्रह्मके उनकी रानी सुभद्राके अचलस्तोक नामका पुत्र हुआ ॥८३॥ तथा सुषेणका जीव भी वहाँसे चय कर उसी ब्रह्म राजाकी दूसरी रानी उषाके द्विपृष्ठ नामका पुत्र हुआ। उस द्विपृष्ठका शरीर सत्तर धनुष ऊँचा था और आयु बहत्तर लाख वर्षकी थी। इस प्रकार इक्ष्वाकु वंशका अग्रेसर वह द्विपृष्ठ राजाओंके उत्कृष्ट भोगोंका उपभोग करता था ॥८४–८५॥ कुन्द पुष्प तथा इन्द्रनील मणिके समान कान्तिवाले वे बलभद्र और नारायण जब परस्परमें मिलते थे तब गंगा और यमुनाके प्रवाहके समान जान पड़ते थे ॥८६॥ जिस प्रकार समान दो श्रावक गुरुके द्वारा दी हुई सरस्वतीका बिना विभाग किये ही उपभोग करते हैं उसी प्रकार पुण्यके स्वामी वे दोनों भाई बिना विभाग किये ही पृथिवीका उपभोग करते थे ॥८७॥ समस्त शास्त्रोंका अध्ययन करनेवाले उन दोनों भाइयोंमें अभेद था—किसी प्रकारका भेदभाव नहीं था सो ठीक ही है क्योंकि उसी अभेदकी प्रशंसा होती है जो कि लक्ष्मी और स्त्रीका संयोग होनेपर भी बना रहता है ॥८८॥ वे दोनों स्थिर थे, बहुत ही ऊँचे थे, तथा सफेद और नील रंगके थे इसलिए ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो कैलास और अंजनगिरि ही एक जगह आ मिले हों ॥८९॥

इधर राजा विन्ध्यशक्ति, घटी यन्त्रके समान चिरकाल तक संसार-सागरमें भ्रमण करता रहा। अन्तमें जब थोड़े-से पुण्यके साधन प्राप्त हुए तब इसी भरतक्षेत्रके भोगवर्धन नगरके राजा श्रीधरके सर्व प्रसिद्ध तारक नामका पुत्र हुआ ॥९०–९१॥ अपने चक्रके आक्रमण सम्बन्धी भयसे जिसने समस्त विद्याधर तथा भूमि-गोचरियोंको अपना दास बना लिया है ऐसा वह तारक आधे

---

१ भरते ल० । २ पुरीद्वारवतीपतेः क०, ख० । पुरे ख०, ग० । ३ भूपतेः ख० ग० ।

आस्तामन्यत्र तद्भीत्या मन्दमन्दप्रभे रवौ । मन्ये [1]विकस्वरा पद्मा पद्मेष्वपि न जातुचित् ॥९३॥
[2]पुराणभूपमार्गस्य सोऽभवत्पारिपन्थिकः । सिंहिकानन्दनो वोग्रः पूर्णमास्यमृतद्युतेः ॥९४॥
गलन्ति गर्भास्तन्नाम्ना गर्भिणीनां भयोद्भवात् । घनाघनावलीनां वा क्रूरग्रहविकारतः ॥९५॥
अन्विष्य प्रतियोद्धारमलब्ध्वा क्रुद्धमानसः । स्वप्रतापाग्निधूमेन दूषितो वा मषीनिभः ॥ ९६ ॥
संतप्तसर्वमूर्धन्यः घर्मघर्मांशुदुस्सहः । स पाताभिमुखः किं स्युः स्थावरास्तादृशः श्रियः ॥ ९७ ॥
अखण्डस्य त्रिखण्डस्याधिपत्यं समुद्वहन् । जन्मान्तरागतात्युग्रविरोधाराध्यचोदित ॥ ९८ ॥
द्विपृष्ठाचलयोर्वृद्धिं प्ररूढां सोढुमक्षमः । कहरदीकृतनिःशेषमहीपालकृषीवलः ॥ ९९ ॥
ब्राह्मवत्करदौ नैतौ दुर्मदेनापि दर्पितौ[3] । [4]दुष्टमाशीविषं गेहे वर्धमानं सहेत कः ॥ १०० ॥
उच्छेद्यकोटिमारूढौ ममेमौ येन केनचित् । सन्दूष्याहं हनिष्यामि निजप्रकृतिदूषितौ ॥ १०१ ॥
[5]इत्यपायं विचिन्त्यैकं दुर्वाक्यं कलहप्रियम् । प्राहिणोत्सोऽपि तौ प्राप्य सहसैवाह दुर्मुखः ॥ १०२ ॥
इत्यादिशति वां देवस्तारको [6]मारको द्विषाम् । युष्मद्गृहे किलैकोऽस्ति ख्यातो गन्धगजो महान् ॥१०३॥
आश्वसौ मे प्रहेतव्यो नो चेद्युष्मच्छिरोद्वयम् । खण्डीकृत्याहरिष्यामि गजं मज्जयसेनया ॥ १०४ ॥
इत्यसभ्यमसोढव्यं तेनोक्तं कलहार्थिना । श्रुत्वाऽचलोऽचलो धीरोदात्तोऽब्रवीदिदम् ॥ १०५ ॥
गजो नाम कियान् शीघ्रमेत्वसावेव सेनया । तस्मै ददामहेऽन्यच्च येनासौ स्वास्थ्यमाप्नुयात् ॥ १०६ ॥

भरतक्षेत्रमें रहनेवाली देदीप्यमान लक्ष्मीको धारण कर रहा था ॥९२॥ अन्य जगह्की बात रहने दीजिए, मैं तो ऐसा मानता हूँ कि—उसके डरसे सूर्यकी प्रभा भी मन्द पड़ गयी थी इसलिए लक्ष्मी कमलोंमें भी कभी प्रसन्न नहीं दिखती थी ॥९३॥ जिस प्रकार उग्र राहु पूर्णिमाके चन्द्रमाका विरोधी होता है उसी प्रकार उग्र प्रकृतिवाला तारक भी प्राचीन राजाओंके मार्गका विरोधी था ॥९४॥ जिस प्रकार किसी क्रूर ग्रहके विकारसे मेघमालाके गर्भ गिर जाते हैं उसी प्रकार तारकका नाम लेते ही भय उत्पन्न होनेसे गर्भिणी स्त्रियोंके गर्भ गिर जाते थे ॥९५॥ स्याहीके समान श्याम वर्णवाला वह तारक सदा शत्रुओंको ढूँढ़ता रहता था और जब किसी शत्रुको नहीं पाता था तब ऐसा जान पड़ता था मानो अपने प्रतापरूपी अग्निके धुएँसे ही काला पड़ गया हो ॥९६॥ जिसने समस्त क्षत्रियोंको संतप्त कर रक्खा है और जो ग्रीष्म ऋतुके सूर्यके समान दुःखसे सहन करने योग्य है ऐसा वह तारक अन्तमें पतनके सम्मुख हुआ सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे लोगोंकी लक्ष्मी क्या स्थिर रह सकती है ? ॥९७॥ जो अखण्ड तीन खण्डोंका स्वामित्व धारण करता था ऐसा तारक जन्मान्तरसे आये हुए तीव्र विरोधसे प्रेरित होकर द्विपृष्ठ नारायण और अचल बलभद्रकी वृद्धिको नहीं सह सका। वह सोचने लगा कि मैंने समस्त राजाओं और किसानोंको कर देनेवाला बना लिया है परन्तु ये दोनों भाई ब्राह्मणके समान कर नहीं देते। इतना ही नहीं, दुष्ट गर्वसे युक्त भी हैं। अपने घरमें बढ़ते हुए दुष्ट साँपको कौन सहन करेगा ? ॥९८-१००॥ ये दोनों ही मेरे द्वारा नष्ट किये जाने योग्य शत्रुओंकी श्रेणीमें स्थित हैं तथा अपने स्वभावसे दूषित भी हैं अतः जिस किसी तरह दोष लगाकर इन्हें अवश्य ही नष्ट करूँगा ॥१०१॥ इस प्रकार अपायका विचार कर उसने दुर्वचन कहनेवाला एक कलह-प्रेमी दूत भेजा और वह दुष्ट दूत भी सहसा उन दोनों भाइयोंके पास जाकर इस प्रकार कहने लगा कि शत्रुओंको मारनेवाले तारक महाराजने आज्ञा दी है कि तुम्हारे घरमें जो एक बड़ा भारी प्रसिद्ध गन्धहस्ती है वह हमारे लिए शीघ्र ही भेजो अन्यथा तुम दोनोंके शिर खण्डित कर अपनी विजयी सेनाके द्वारा उस हाथीको जबरदस्ती मँगा लूँगा ॥१०२-१०४॥ इस प्रकार उस कलहकारी दूतके द्वारा कहे हुए असभ्य तथा सहन करनेके अयोग्य वचन सुनकर पर्वतके समान अचल, उदार तथा धीरोदात्त प्रकृतिके धारक अचल बलभद्र इस तरह कहने लगे ॥१०५॥ कि हाथी क्या चीज है ? तारक महाराज ही अपनी सेनाके साथ शीघ्र आवें। हम उनके

---

१. विकस्मरा ल० । २. पुराणभूतमार्गस्य ल० । ३. दर्पितम् ख० । ४. दुष्टाशाशी–ल० । ५. इत्युपायं ल० । ६. वारको क० ।

इत्यादि तेन गम्भीरमभ्युक्तः स विसर्जितः । पवमान इव प्राप्य तत्कोपाग्निमदीपयत् ॥ १०७ ॥
तच्छ्रुत्वा सोऽरिः कोपाग्निप्रदीप्तः पावकप्रभः । तौ पतङ्गायितावित्थं मत्क्रोधाग्नेरवोचताम् ॥ १०८ ॥
इत्यनालोच्य कार्याङ्गं मन्त्रतः सचिवैः समम् । स्वयमभ्युत्थितं मत्वा प्रस्थितः प्राप्तुमन्तकम् ॥ १०९ ॥
दुर्णयाभिमुखो मूर्खश्चालयित्वाऽखिलामिलाम् । षडङ्गेन बलेनासौ प्राप्य तावुद्यौन्मुखौ ॥ ११० ॥
समुल्लङ्घितमर्यादः कालान्तजलधिं जयन् । अरुणद्दारुणस्तूर्णं पुरं स्वबलवेलया ॥ १११ ॥
वालवद्वेलया वेलां तत्सेनां निजसेनया । न्यरौत्सीदबलनिःसारामचलोऽप्यचलस्थितिः ॥ ११२ ॥
द्विपृष्ठो मत्तमातङ्गं सिंहपोत इवोद्धतः । [1]पराक्रमैकसाहाय्यादाक्रमद् बलिनं द्विषम् ॥ ११३ ॥
तारकोऽपि चिरं युद्ध्वा तं निराकर्तुमक्षमः । भ्रामयित्वाऽक्षिपच्चक्रं यमचक्रमिवात्मनः ॥ ११४ ॥
तत्परीत्य स्थितं बाहौ दक्षिणे दयितश्रियः । तस्यासौ तेन चक्रेण नरकं तमजीगमत् ॥ ११५ ॥
द्विपृष्ठः सप्तसद्रत्नत्रिखण्डेशस्तदाभवत् । अचलो बलदेवोऽभूत्प्राप्तरत्नचतुष्टयः ॥ ११६ ॥
कृत्वा दिग्विजयं जित्वा प्रतीपाख्यातभूभृतः । नत्वा श्रीवासुपूज्येशं प्रविश्य पुरमात्मनः ॥ ११७ ॥
चिरं त्रिखण्डसाम्राज्यं विधाय विविधैः सुखैः । द्विपृष्ठः कालनिष्ठायामवधिष्ठानमाश्रितः ॥ ११८ ॥
अचलोऽपि तदुद्वेगाद्वासुपूज्यजिनाश्रयात् । सम्प्राप्य संयमं मोक्षलक्ष्म्या सङ्गममीयिवान् ॥ ११९ ॥

वसन्ततिलका

पुण्यैकबीजमवलम्ब्य महीमिवाप्य लब्धोदयौ समसुपार्जितसत्स्वरूपौ ।
एकोऽगमत् फलितुमङ्कुरवत् किलोर्ध्वं पापी परो विफलमूलसमस्त्वधस्तात् ॥ १२० ॥

लिए वह हाथी तथा अन्य वस्तुएँ देंगे जिससे कि वे स्वस्थता–कुशलता (पक्षमें स्वः स्वर्गे तिष्ठतीति स्वस्थः 'शर्परे खरि विसर्गलोपो वा वक्तव्यः' इति वार्तिकेन सकारस्य लोपः। स्वस्थस्य भावः स्वास्थ्यम्) मृत्युको प्राप्त कर सकेंगे ॥१०६॥ इस प्रकार गम्भीर वचन कहकर अचल बलभद्रने उस दूतको विदा कर दिया और उसने भी जाकर हवाकी तरह उसकी कोपाग्निको प्रदीप्त कर दिया ॥१०७॥ यह सुनकर कोपाग्निसे प्रदीप्त हुआ तारक अग्निके समान प्रज्वलित हो गया और कहने लगा कि इस प्रकार वे दोनों भाई मेरी क्रोधाग्निके पतंगे बन रहे हैं ॥१०८॥ उसने मन्त्रियोंके साथ बैठकर किसी कार्यका विचार नहीं किया और अपने-आपको सर्वशक्ति-सम्पन्न मानकर मृत्यु प्राप्त करनेके लिए प्रस्थान कर दिया ॥१०९॥ अन्याय करनेके सम्मुख हुआ वह मूर्ख षडंग सेनासे समस्त पृथिवीको कँपाता हुआ उदय होनेके सम्मुख हुए उन दोनों भाइयोंके पास जा पहुँचा। उसने सब मर्यादाका उल्लंघन कर दिया था इसलिए प्रलयकालके समुद्रको भी जीत रहा था। इस प्रकार अतिशय दुष्ट तारकने शीघ्र ही जाकर अपनी सेनारूपी वेला (ज्वारभाटा)के द्वारा अचल और द्विपृष्ठके नगरको घेर लिया ॥११०-१११॥ जिस प्रकार कोई पर्वत जलकी लहरको अनायास ही रोक देता है उसी प्रकार पर्वतके समान स्थिर रहनेवाले अचलने अपनी सेनाके द्वारा उसकी निःसार सेनाको अनायास ही रोक दिया था ॥११२॥ जिस प्रकार सिंहका बच्चा मत्त हाथीके ऊपर आक्रमण करता है उसी प्रकार उद्धत प्रकृतिवाले द्विपृष्ठने भी एक पराक्रमकी सहायतासे ही बलवान् शत्रुपर आक्रमण कर दिया ॥११३॥ तारकने यद्यपि चिरकाल तक युद्ध किया पर तो भी वह द्विपृष्ठको पराजित करनेमें समर्थ नहीं हो सका। अन्तमें उसने यमराजके चक्रके समान अपना चक्र घुमाकर फेंका ॥११४॥ वह चक्र द्विपृष्ठकी प्रदक्षिणा देकर उस लक्ष्मीपतिकी दाहिनी भुजा पर स्थिर हो गया और उसने उसी चक्रसे तारकको नरक भेज दिया ॥११५॥ उसी समय द्विपृष्ठ, सात उत्तम रत्नोंका तथा तीन खण्ड पृथिवीका स्वामी हो गया और अचल बलभद्र बन गया तथा चार रत्न उसे प्राप्त हो गये ॥११६॥ दोनों भाइयोंने शत्रु राजाओंको जीत कर दिग्विजय किया और श्री वासुपूज्य स्वामीको नमस्कार कर अपने नगरमें प्रवेश किया ॥११७॥ चिरकाल तक तीन खण्डका राज्य कर अनेक सुख भोगे। आयुके अन्तमें मरकर द्विपृष्ठ सातवें नरक गया ॥११८॥ भाईके वियोगसे अचलको बहुत शोक हुआ जिससे उसने श्रीवासुपूज्य स्वामीका आश्रय लेकर संयम धारण कर लिया तथा मोक्ष-लक्ष्मीके साथ समागम प्राप्त किया ॥११९॥ उन दोनों भाइयोंने किसी

---

1 पराक्रमैकसाहाय्यमाक्रमद् ग० ।

मालिनी

इदमिति विधिपाकाद् वृत्तमस्मिन् द्विपृष्ठे
परिणतमचले च प्रत्यहं चिन्तयित्वा ।
विपुलमतिभिरार्यैः कार्यमुत्सृज्य पापं
सकलसुखनिधानं पुण्यमेव प्रतीपम् ॥ १२१ ॥

पृथ्वी

पुरेऽत्र कनकादिके प्रथितवान् सुषेणो नृपः
ततोऽनु तपसि स्थितोऽजनि चतुर्दशस्वर्गभाक् ।
त्रिखण्डपरिपालकोऽभवदतो द्विपृष्ठाख्यया
परिग्रहमहाभराद्दुपगतः क्षितिं सप्तमीम् ॥ १२२ ॥

वंशस्थवृत्तम्

महापुरे वायुरथो महीपतिः प्रपद्य चारित्रमनुत्तरं ययौ ।
ततो बली द्वारवतीपुरेऽचलस्त्रिलोकपूज्यत्वमवाप्य निर्वृत्तः ॥ १२३ ॥

वसन्ततिलका

विख्यातविन्ध्यनगरेऽजनि विन्ध्यशक्ति-
र्भ्रान्त्वा चिरं भववने चितपुण्यलेशः ।
श्रीभोगवर्द्धनपुराधिपतारकाख्यः
प्राप द्विपृष्ठरिपुरन्त्यमहीं महांहाः[1] ॥ १२४ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे वासुपूज्यजिनपतिद्विपृष्ठाचल-तारकपुराणं परिसमाप्तम् अष्टपञ्चाशत्तमं पर्व ॥ ५८ ॥

■

पुण्यका बीज पाकर तीन खण्डकी पृथिवी पायी, अनेक विभूतियाँ पायीं और साथ-ही-साथ उत्तम पद प्राप्त किया परन्तु उनमें-से एक तो अंकुरके समान फल प्राप्त करनेके लिए ऊपरकी ओर (मोक्ष) गया और दूसरा पापसे युक्त होनेके कारण फलरहित जड़के समान नीचेकी ओर (नरक) गया ॥१२०॥ इस प्रकार द्विपृष्ठ तथा अचलका जो भी जीवन-वृत्त घटित हुआ है वह सब कर्मोदयसे ही घटित हुआ है ऐसा विचार कर विशाल बुद्धिके धारक आर्य पुरुषोंको पाप छोड़कर उसके विपरीत समस्त सुखोंका भण्डार जो पुण्य है वही करना चाहिए ॥१२१॥ राजा द्विपृष्ठ पहले इसी भरतक्षेत्रके कनकपुर नगरमें सुषेण नामका प्रसिद्ध राजा हुआ, फिर तपश्चरण कर चौदहवें स्वर्गमें देव हुआ, तदनन्तर तीन खण्डकी रक्षा करनेवाला द्विपृष्ठ नामका अर्धचक्री हुआ और इसके बाद परिग्रहके महान् भारसे मरकर सातवें नरक गया ॥१२२॥ बलभद्र, पहले महापुर नगरमें वायुरथ राजा हुआ, फिर उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त कर उसी प्राणत स्वर्गके अनुत्तरविमानमें उत्पन्न हुआ, तदनन्तर द्वारावती नगरीमें अचल नामका बलभद्र हुआ और अन्तमें निर्वाण प्राप्त कर त्रिभुवनके द्वारा पूज्य हुआ ॥१२३॥ प्रतिनारायण तारक, पहले प्रसिद्ध विन्ध्यनगरमें विन्ध्यशक्ति नामका राजा हुआ, फिर चिरकाल तक संसार-वनमें भ्रमण करता रहा। कदाचित् थोड़ा पुण्यका संचय कर श्री भोगवर्द्धन नगरका राजा तारक हुआ और अन्तमें द्विपृष्ठनारायणका शत्रु होकर—उनके हाथसे मारा जाकर महापापके उदयसे अन्तिम पृथिवीमें नारकी उत्पन्न हुआ ॥१२४॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें श्री वासुपूज्य जिनेन्द्र, द्विपृष्ठनारायण, अचल बलभद्र और तारक प्रतिनारायणका वर्णन करनेवाला अट्ठावनवाँ पर्व पूर्ण हुआ ॥५८॥

■

---

१ महत् अंहः पापं यस्य स महांहाः महापापः ।

विमलेऽब्दसमे बोधे दृश्यते विमलं जगत्। [1]विमलं यस्य मे सोऽद्य विमलं विमलः क्रियात् ॥ १ ॥
प्रतीचि धातकीखण्डे देवाद्र्यपरभागभाक्। नदीदक्षिणकूलस्थो विषयो रम्यकावती ॥ २ ॥
पद्मसेनो महीशोऽत्र महानगरमास्थितः। प्रजाभ्य इव कल्पागः समीप्सितफलप्रदः ॥ ३ ॥
[2]तस्यासीत्स्वपरविभागोक्तनीतिशास्त्रार्थनिश्चये[3]। उदाहरणमित्याहुस्तद्वृत्तं शास्त्रवेदिनः ॥ ४ ॥
अर्जनानुभवावर्थे प्रजानामात्मवृत्तिभिः। व्यापारो रक्षके तस्मिन् महीशे मर्दितद्विषि ॥ ५ ॥
नाक्रामति प्रजा न्यायं तां नाक्रमति भूपतिः। तं त्रिवर्गः त्रिवर्गस्य नान्योन्यातिक्रमः क्वचित् ॥ ६ ॥
प्रीतिंकरवने [4]सर्वगुप्तकेवलसंनिधौ। धर्मतत्त्वं परिज्ञाय भाव्यजन्मद्वयं च सः ॥ ७ ॥
तदैव तीर्थकृज्जात इव जातमहोत्सवः। पद्मनाभाय दत्त्वैश्यं [5]प्रारब्ध परमं तपः ॥ ८ ॥
प्रतीतैकादशाङ्गार्थो भावनाहिततीर्थकृत्। शेषपुण्यसमग्रोऽयमाराध्यान्ते चतुष्टयम् ॥ ९ ॥
सहस्रारविमानेशस्तन्नामेन्द्रोऽजनिष्ट सः। अष्टादशाब्धिमानायुरेकचापतनूच्छ्रितिः ॥ १० ॥
जघन्यशुक्लद्वयभाग् नवमासेषु निःश्वसन्। अष्टादशसहस्राब्दैराहारं मनसाऽऽहरन् ॥ ११ ॥
तृप्तो रूपप्रवीचारात् प्राक्चतुर्थधरावधिः। तावन्मात्रप्रकाशाद्रिरणिमादिगुणोन्नतः ॥ १२ ॥
स स्नेहामृतसम्पृक्तमुखाम्बुरुहदर्शनात्। सन्तर्पितामरीचेताः सुचिरं सुखमन्वभूत् ॥ १३ ॥

जिनके दर्पणके समान निर्मल ज्ञानमें सारा संसार निर्मल—स्पष्ट दिखाई देता है और जिनके सब प्रकारके मलोंका अभाव हो चुका है ऐसे श्री विमलनाथ स्वामी आज हमारे मलोंका अभाव करें—हम सबको निर्मल बनावें ॥१॥ पश्चिम धातकीखण्ड द्वीपमें मेरुपर्वतसे पश्चिमकी ओर सीता नदीके दक्षिण तटपर रम्यकावती नामका एक देश है ॥२॥ उसके महानगरमें वह पद्मसेन राजा राज्य करता था जो कि प्रजाके लिए कल्पवृक्षके समान इच्छित फल देनेवाला था ॥३॥ स्वदेश तथा परदेशके विभागसे कहे हुए नीति-शास्त्र-सम्बन्धी अर्थका निश्चय करनेमें उस राजाका चरित्र उदाहरण रूप था—ऐसा शास्त्रके जानकार कहा करते थे ॥४॥ शत्रुओंको नष्ट करनेवाले उस राजाके राज्य करते समय अपनी-अपनी वृत्तिके अनुसार धनका अर्जन तथा उपभोग करना ही प्रजाका व्यापार रह गया था ॥५॥ वहाँकी प्रजा कभी न्यायका उल्लंघन नहीं करती थी, राजा प्रजाका उल्लंघन नहीं करता था, धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग राजाका उल्लंघन नहीं करता था और त्रिवर्ग परस्पर एक-दूसरेका उल्लंघन नहीं करता था ॥६॥ किसी एक दिन राजा पद्मसेनने प्रीतिंकर वनमें सर्वगुप्त केवलीके समीप धर्मका स्वरूप जाना और उन्हींसे यह भी जाना कि हमारे सिर्फ दो आगामी भव बाकी रह गये हैं ॥७॥ उसी समय उसने ऐसा उत्सव मनाया मानो मैं तीर्थंकर ही हो गया हूँ और पद्मनाभ पुत्रके लिए राज्य देकर उत्कृष्ट तप तपना शुरू कर दिया ॥८॥ ग्यारह अंगोंका अध्ययन कर उनपर दृढ़ प्रत्यय किया, दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंके द्वारा तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया, अन्य पुण्य प्रकृतियोंका भी यथायोग्य संचय किया और अन्त समयमें चार आराधनाओंकी आराधना कर सहस्रार नामक स्वर्गमें सहस्रार नामका इन्द्रपद प्राप्त किया। वहाँ अठारह सागर उसकी आयु थी, एक धनुष अर्थात् चार हाथ ऊँचा शरीर था, द्रव्य और भावकी अपेक्षा जघन्य शुक्ललेश्या थी, वह नौ माहमें एक बार श्वास लेता था, अठारह हजार वर्षमें एक बार मानसिक आहार ग्रहण करता था, देवांगनाओंका रूप देखकर ही उसकी काम-व्यथा शान्त हो जाती थी, चतुर्थ पृथिवी तक उसके अवधिज्ञानका विषय था, वहीं तक उसकी दीप्ति आदि फैल सकती थी, वह अणिमा महिमा आदि गुणोंसे समुन्नत

---

१ मलस्याभावो विमलम् अव्ययीभावसमासः। २ विभोगोक्त क०, घ०। ३ शास्त्रसमुच्चये ल०। ४ सर्वतप्त ल०। ५ प्रारब्धं ख०, ल०।

सुरलोकादिमं लोकमिन्द्रेऽस्मिन्नागमिष्यति । क्षेत्रेऽत्र पुरि काम्पिल्ये पुरुदेवान्वयो नृपः ॥ १४ ॥
कृतवर्मा महादेवी जयश्यामाऽस्य विश्रुता । देवेन्द्रकृतपूजार्हा वसुधारादिवस्तुभिः ॥ १५ ॥
शुचौ कृष्णदशम्यन्तरजन्यामुत्तरादिमे । ऋक्षे भाद्रपदे दृष्ट्वा स्वप्नान् षोडश सत्फलान् ॥ १६ ॥
तदानीमेव हस्तीन्द्रं विशन्तं वक्त्रवारिजे[1] । व्यलोकिष्ट फलान्येषामवबुध्य महीपतेः ॥ १७ ॥
ततः स्वविष्टराकम्पाद्विवेदिततदुत्सवैः । सुरैः स्वर्गात्समायातैराप कल्याणमादिमम् ॥ १८ ॥
वर्द्धमानेन गर्भेण तेनावर्द्धत सम्मदः । हृदये बन्धुवर्गस्य दुर्गतस्य धनेन वा ॥ १९ ॥
प्रमोदाय सुतस्येह सामान्यस्यापि सम्भवः । किमुच्यते पुनः सूतेः प्रागानम्रसुरेशिनः ॥ २० ॥
[2]माघशुक्लचतुर्थ्यां सा तमहिर्बुध्नयोगतः । त्रिबोधं त्रिजगन्नाथं प्रासूत विमलप्रभम् ॥ २१ ॥
जन्माभिषेककल्याणप्रान्ते विमलवाहनम् । तमाहुरमराः सर्वे सर्वसंस्तुतिगोचरम् ॥ २२ ॥
वासुपूज्येशसन्ताने त्रिंशत्सागरसम्मिते । [3]प्रान्तपल्योपमे धर्मध्वंसे तद्गतजीवितः ॥ २३ ॥
षष्टिलक्षमिताब्दायुः षष्टिचापतनुप्रमः[4] । अष्टापदप्रभः [5]सोऽभूत् सर्वपुण्यसमुच्चयः ॥ २४ ॥
खपञ्चकेन्द्रियैकाब्दकौमारविरतौ कृती । राज्याभिषेकपूतात्मा पावनीकृतविष्टपः ॥ २५ ॥
लक्ष्मीः सहचरी तस्य कीर्तिर्जन्मान्तरागता । सरस्वती सहोत्पन्ना वीरलक्ष्म्या स्वयं वृतः ॥ २६ ॥
गुणाः सत्यादयस्तस्मिन् वर्द्धन्ते स्म यथा तथा । मुनीन्द्रैरपि सम्प्रार्थ्या वर्णना तेषु का परा ॥ २७ ॥

था, स्नेहरूपी अमृतसे सम्पृक्त रहनेवाले उसके मुख-कमलको देखनेसे देवांगनाओंका चित्त सन्तुष्ट हो जाता था। इस प्रकार चिरकाल तक उसने सुखका अनुभव किया ॥९–१३॥

यह इन्द्र जब स्वर्ग लोकसे चय कर इस पृथिवी लोकपर आनेवाला हुआ तब इसी भरत-क्षेत्रके काम्पिल्य नगरमें भगवान् ऋषभदेवका वंशज कृतवर्मा नामका राजा राज्य करता था। जय-श्यामा उसकी प्रसिद्ध महादेवी थी। इन्द्रादि देवोंने रत्नवृष्टि आदिके द्वारा जयश्यामाकी पूजा की। ॥१४–१५॥ उसने ज्येष्ठकृष्णा दशमीके दिन रात्रिके पिछले भागमें उत्तराभाद्रपद नक्षत्रके रहते हुए सोलह स्वप्न देखे, उसी समय अपने मुख-कमलमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा, और राजासे इन सबका फल ज्ञात किया ॥१६–१७॥ उसी समय अपने आसनोंके कम्पनसे जिन्हें गर्भ-कल्याणककी सूचना हो गयी है ऐसे देवोंने स्वर्गसे आकर प्रथम–गर्भकल्याणक किया ॥१८॥

जिस प्रकार बढ़ते हुए धनसे किसी दरिद्र मनुष्यके हृदयमें हर्षकी वृद्धि होने लगती है उसी प्रकार रानी जयश्यामाके बढ़ते हुए गर्भसे बन्धुजनोंके हृदयमें हर्षकी वृद्धि होने लगी थी ॥१९॥ इस संसारमें साधारणसे साधारण पुत्रका जन्म भी हर्षका कारण है तब जिसके जन्मके पूर्व ही इन्द्र लोग नम्रीभूत हो गये हों उस पुत्रके जन्मकी बात ही क्या कहना है? ॥२०॥ माघशुक्ल चतुर्थीके दिन (ख० ग० प्रतिके पाठकी अपेक्षा चतुर्दशीके दिन) अहिर्बुध्न योगमें रानी जयश्यामाने तीन ज्ञानके धारी, तीन जगत्के स्वामी तथा निर्मलप्रभाके धारक भगवान्‌को जन्म दिया ॥२१॥ जन्मा-भिषेकके बाद सब देवोंने उनका विमलवाहन नाम रखा और सबने स्तुति की ॥२२॥ भगवान् वासुपूज्यके तीर्थके बाद जब तीस सागर वर्ष बीत गये और पल्यके अन्तिम भागमें धर्मका विच्छेद हो गया तब विमलवाहन भगवान्‌का जन्म हुआ था। उनकी आयु इसी अन्तरालमें शामिल थी ॥२३॥ उनकी आयु साठ लाख वर्षकी थी, शरीर साठ धनुष ऊँचा था, कान्ति सुवर्णके समान थी और वे ऐसे सुशोभित होते थे मानो समस्त पुण्योंकी राशि ही हों ॥२४॥ समस्त लोकको पवित्र करने-वाले, अतिशय पुण्यशाली भगवान् विमलवाहनकी आत्मा पन्द्रह लाख प्रमाण कुमारकाल बीत जानेपर राज्याभिषेकसे पवित्र हुई थी ॥२५॥ लक्ष्मी उनकी सहचारिणी थी, कीर्ति जन्मान्तरसे साथ आयी थी, सरस्वती साथ ही उत्पन्न हुई थी और वीर-लक्ष्मीने उन्हें स्वयं स्वीकृत किया था ॥२६॥ उस राजामें जो सत्यादि गुण बढ़ रहे थे वे बड़े-बड़े मुनियोंके द्वारा भी प्रार्थनीय थे इससे बढ़कर

---

१ वारिजम् ख०, ग० । २ माघशुक्लचतुर्दश्यां ख०, ग० । ३ प्राप्त-ल० । ४ वपुःप्रभः ल० । ५ सोऽभात् क०, ख०, ग०, घ० ।

सुखस्य तस्य को वेत्ति प्रमां मुक्तिसुखस्य चेत् । [1]अनन्तरनितान्तत्वादानन्त्यादतिशुद्धितः ॥ २८ ॥
देवदेवस्तदैवासावासीद् विश्वसुरेश्वरैः । अभ्यर्चितांह्रिरागन्त्री केवलं केवलात्मता ॥ २९ ॥
यशः प्रकाशयत्याशाः [2]श्रीशः कुन्देन्दुनिर्मलम् । काशप्रसवलीकाशमाकाशं चाकरोदद: ॥ ३० ॥
त्रिंशच्छतसहस्राब्दराज्यकालावसानगः । भोगान् विभज्य भुञ्जानो भूय: षड्ऋतुसम्भवान् ॥ ३१ ॥
हिमानीपटलच्छन्नदिग्भूभूरुहभूधरे । हेमन्ते हैमनीं लक्ष्मीं विलीनां वीक्ष्य तत्क्षणात् ॥ ३२ ॥
विरक्तः संसृतेः पूर्वनिजजन्मोपयोगवान् । रोगीव नितरां खिन्नो मानभङ्गविमर्शनात् ॥ ३३ ॥
सञ्ज्ञानैस्त्रिभिरप्येभिः किं कृत्यमवधौ स्थिते । वीर्येण च किमेतेन यदुत्कर्षमनाहवन्[3] ॥ ३४ ॥
चारित्रस्य न गन्धोऽपि प्रत्याख्यानोदयो यतः । बन्धश्चतुर्विधोऽप्यस्ति बहुमोहपरिग्रहः ॥ ३५ ॥
प्रमादाः सन्ति सर्वेऽपि निर्जराप्यल्पिकैव सा । अहो मोहस्य माहात्म्यं मात्याम्यहमिहैव हि ॥ ३६ ॥
साहसं पश्य [4]भुञ्जेऽहं [5]भोगान्भोगानिवोरगान् । पुण्यस्य कर्मणः पाकादेतन्मे सम्प्रवर्तते ॥ ३७ ॥
तस्य यावन्न यात्यन्तमनन्तं तत्सुखं कुतः । इतीवचित्तो विमलो विमलावगमोद्गमात् ॥ ३८ ॥
तदैवायातसारस्वतादिभिः कृतसंस्तवः । सुरैस्तृतीयकल्याणे विहिताभिषवोत्सवः ॥ ३९ ॥
देवदत्तां समारुह्य शिबिकाममरैर्वृतः । विभुः सहेतुकोद्याने प्राव्राजीद् द्व्युपवासभाक् ॥ ४० ॥
माघशुक्लचतुर्थ्यह्नःप्रान्ते षड्विंशकर्क्षके । सहस्रनरपैः सार्द्धं प्राप्य तुर्यावबोधनम् ॥ ४१ ॥

इनकी और क्या स्तुति हो सकती थी ॥२७॥ अत्यन्त विशुद्धताके कारण थोड़े ही दिन बाद जिन्हें मोक्षका अनन्त सुख प्राप्त होनेवाला है ऐसे विमलवाहन भगवान्‌के अनन्त सुखका वर्णन भला कौन कर सकता है ? ॥२८॥ जब उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ तब समस्त इन्द्रोंने उनके चरण-कमलोंकी पूजा की थी और इसीलिए वे देवाधिदेव कहलाये थे ॥२९॥ लक्ष्मीके अधिपति भगवान् विमलवाहनका कुन्दपुष्प अथवा चन्द्रमाके समान निर्मल यश दिशाओंको प्रकाशित कर रहा था और आकाशको काशके पुष्पके समान बना रहा था ॥३०॥ इस प्रकार छह ऋतुओंमें उत्पन्न हुए भोगोंका उपभोग करते हुए भगवान्‌के तीस लाख वर्ष बीत गये ॥३१॥

एक दिन उन्होंने, जिसमें समस्त दिशाएँ, भूमि, वृक्ष और पर्वत बर्फसे ढक रहे थे ऐसी हेमन्त ऋतुमें बर्फकी शोभाको तत्क्षणमें विलीन होता देखा ॥३२॥ जिससे उन्हें उसी समय संसारसे वैराग्य उत्पन्न हो गया, उसी समय उन्हें अपने पूर्व जन्मकी सब बातें याद आ गयीं और मान-भंगका विचार कर रोगीके समान अत्यन्त खेदखिन्न हुए ॥३३॥ वे सोचने लगे कि इन तीन सम्यग्ज्ञानोंसे क्या होनेवाला है क्योंकि इन सभीकी सीमा है—इन सभीका विषय क्षेत्र परिमित है और इस वीर्यसे भी क्या लाभ है जो कि परमोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त नहीं है ॥३४॥ चूँकि प्रत्याख्याना-वरण कर्मका उदय है अतः मेरे चारित्र (महाव्रत)का लेश भी नहीं है और बहुत प्रकारका मोह तथा परिग्रह विद्यमान है अतः चारों प्रकार बन्ध भी विद्यमान है ॥३५॥ प्रमाद भी अभी मौजूद है और निर्जरा भी बहुत थोड़ी है। अहो ! मोहकी बड़ी महिमा है कि अब भी मैं इन्हीं संसारकी वस्तुओंमें मस्त हो रहा हूँ ॥३६॥ मेरा साहस तो देखो कि मैं अबतक सर्पके शरीर अथवा फणके समान भयंकर इन भोगोंको भोग रहा हूँ। यह भोगोपभोग मुझे पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुए हैं ॥३७॥ सो जबतक इस पुण्यकर्मका अन्त नहीं कर देता तबतक मुझे अनन्त सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस प्रकार निर्मल ज्ञान उत्पन्न होनेसे विमलवाहन भगवान्‌ने अपने हृदयमें विचार किया ॥३८॥ उसी समय आये हुए सारस्वत आदि लौकान्तिक देवोंने उनका स्तवन किया तथा अन्य देवोंने दीक्षाकल्याणकके समय होनेवाले अभिषेकका उत्सव किया ॥३९॥ तदनन्तर देवोंके द्वारा घिरे हुए भगवान् देवदत्ता नामकी पालकीपर सवार होकर सहेतुक वनमें गये और वहाँ दो दिनके उपवासका नियम लेकर दीक्षित हो गये ॥४०॥ उन्होंने यह दीक्षा

---

१ अनन्तरं नितान्तत्वात् क०, घ० । २ श्रिया ईट् तस्य लक्ष्मीश्वरस्य । ३ -मनाप्तवान् ग०, ल० । ४ परिभुञ्जेऽमून् ल० । ५ सर्पशरीराणीव ।

द्वितीयेऽह्नि पुरं[1] नन्दनाभिधं भुक्तयेऽविशत् । जयो नाम नृपस्तस्मै दत्त्वाऽन्नं कनकप्रभः ॥ ४२ ॥
पञ्चाश्चर्यं समापाप्यं[2] किन्न वा पात्रदानतः । सामायिकं समादाय संयमं शुद्धचेतसा ॥ ४३ ॥
त्रिवत्सरमिते याते तपस्येष महामुनिः । निजदीक्षावने जम्बूद्रुममूले द्व्युपोषितः ॥ ४४ ॥
माघे मासि सिते पक्षे षष्ठ्यां प्रेष्ठोऽपराह्णके । स्वदीक्षादाननक्षत्रे घातिकर्मविनाशनात् ॥ ४५ ॥
केवलावगमं प्रापत्सद्यो व्याप्तचराचरः । तदैवापँश्च देवेन्द्राः स्वानमन्मुकुटाननाः ॥ ४६ ॥
देवदुन्दुभिमुख्याष्टप्रातिहार्यादिवैभवम् । प्राप्य तैर्गन्धकुट्यन्तर्गतसिंहासने स्थितः ॥ ४७ ॥
मन्दरादिगणाधीशपञ्चपञ्चाशदावृतः । शतोत्तरसहस्रोक्तपूज्यपूर्वधरैर्वृतः ॥ ४८ ॥
खत्रिपञ्चर्तुवह्न्युक्तशिक्षकैरुपलक्षितः । खद्वयाष्टचतुर्मेयत्रिविधावधिवन्दितः ॥ ४९ ॥
खद्वयेन्द्रियपञ्चाभिधेयकेवललोचनः । शून्यत्रयनवज्ञातविक्रियर्द्ध्युपबृंहितः ॥ ५० ॥
खद्वयेन्द्रियपञ्चाधिगम्यतुर्यावबोधनः । खद्वयर्त्वग्निनिर्णीतवादिसंयतसंयुतः ॥ ५१ ॥
अष्टषष्टिसहस्रोक्तसर्वसंयमिसंस्तुतः । त्रिसहस्रैकलक्षोक्तपद्मार्याद्यार्यिकार्चितः ॥ ५२ ॥
द्विलक्षश्रावकोपेतो द्विगुणश्राविकार्चितः । पूर्वोक्तद्विगणोपेतो धर्मक्षेत्रेष्वनारतम् ॥ ५३ ॥
भवातपपरिम्लानभव्यसस्याभितर्पकः । सम्मेदपर्वतं प्राप्य मासमेकं गतक्रियः ॥ ५४ ॥
खद्वयर्त्वष्टसम्प्रोक्तयतिभिः प्रतिमां गतः । आषाढस्योत्तराभाद्रे कृष्णाष्टम्यां निशामुखे ॥ ५५ ॥
सद्यः कृत्वा समुद्घातं सूक्ष्मं शुक्लं समाश्रितः । सम्यग्योगाद्योगः सन् स्वास्थ्यं रोगीव सोऽगमत् ॥५६॥

माघशुक्ल चतुर्थीके दिन सायंकालके समय छब्बीसवें—उत्तराभाद्रपद नक्षत्रमें एक हजार राजाओंके साथ ली थी और उसी दिन वे चौथा—मनःपर्ययज्ञान प्राप्त कर चार ज्ञानके धारी हो गये थे ॥४१॥ दूसरे दिन उन्होंने भोजनके लिए नन्दनपुर नगरमें प्रवेश किया । वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले राजा कनकप्रभने उन्हें आहार दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये सो ठीक ही है क्योंकि पात्रदानसे क्या नहीं प्राप्त होता ? इस प्रकार सामायिक चारित्र धारण करके शुद्ध हृदयसे तपस्या करने लगे ॥४२-४३॥ जब तीन वर्ष बीत गये तब वे महामुनि एक दिन अपने दीक्षावनमें दो दिनके उपवासका नियम लेकर जामुनके वृक्षके नीचे ध्यानारूढ हुए ॥४४॥ फलस्वरूप माघशुक्ल षष्ठीके दिन सायंकालके समय अतिशय श्रेष्ठ भगवान् विमलवाहनने अपने दीक्षाग्रहणके नक्षत्रमें घातिया कर्मोंका विनाश कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया । अब वे चर-अचर समस्त पदार्थोंको शीघ्र ही जानने लगे । उसी समय अपने मुकुट तथा मुख झुकाये हुए देव लोग आये । उन्होंने देवदुन्दुभि आदि आठ मुख्य प्रातिहार्योंका वैभव प्रकट किया। उसे पाकर वे गन्ध-कुटीके मध्यमें स्थित सिंहासनपर विराजमान हुए॥४५-४७॥ वे भगवान् मन्दर आदि पचपन गणधरोंसे सदा घिरे रहते थे, ग्यारह सौ पूज्य पूर्वधारियोंसे सहित थे, छत्तीस हजार पाँच सौ तीस शिक्षकोंसे युक्त थे, चार हजार आठसौ तीनों प्रकारके अवधि-ज्ञानियोंसे वन्दित थे, पाँच हजार पाँचसौ केवलज्ञानी उनके साथ थे, नौ हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक उनके संघकी वृद्धि करते थे, पाँच हजार पाँच सौ मनःपर्यय ज्ञानी उनके समवसरणमें थे, वे तीन हजार छह सौ वादियोंसे सहित थे, इस प्रकार अड़सठ हजार मुनि उनकी स्तुति करते थे । पद्माको आदि लेकर एक लाख तीन हजार आर्यिकाएँ उनकी पूजा करती थीं, वे दो लाख श्रावकोंसे सहित थे तथा चार लाख श्राविकाओंसे पूजित थे । इनके सिवाय दो गणों अर्थात् असंख्यात देव-देवियों और संख्यात तिर्यंचोंसे वे सहित थे । इस तरह धर्मक्षेत्रोंमें उन्होंने निरन्तर विहार किया तथा संसाररूपी आतपसे मुरझाये हुए भव्यरूपी धान्योंको सन्तुष्ट किया । अन्तमें सम्मेद शिखरपर जाकर उन्होंने एक माहका योग निरोध किया ॥४८-५४॥ आठ हजार छह सौ मुनियोंके साथ प्रतिमा योग धारण किया तथा आषाढ़ कृष्ण अष्टमीके दिन उत्तराभाद्रपद नक्षत्रमें प्रातःकालके समय शीघ्र ही समुद्घात कर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामका शुक्लध्यान धारण किया तथा तत्काल ही सयोग अवस्थासे अयोग अवस्था धारण कर उस प्रकार स्वास्थ्य (स्वरूपावस्थान) अर्थात् मोक्ष प्राप्त किया जिस प्रकार कि

१ पुरे ल० । २ समाप लेभे, आप्यं लभ्यम् ।

तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् पूज्या कालाष्टमी बुधैः। तदेवालम्बनं कृत्वा मिथ्यादृग्भिश्च पूज्यते ॥५७॥
कृत्वाऽन्त्येष्टिं तदाभ्येत्य सौधर्मप्रमुखाः सुराः। सिद्धस्तुतिभिरर्थ्याभिरवन्दिषत निर्वृतम् ॥ ५८ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

सन्तत्या मलसञ्चयः परिणतो हिंसादिभिः सन्ततं
संसारे सुकृतास्ततो निजगुणा नेयुर्विशुद्धिं क्वचित्।
तानद्याहमवाप्य बुद्धिममलां शुद्धिं नयामीत्ययं
शुक्लध्यानमुपाश्रितोऽतिविमलस्तस्माद्यथार्थाह्वयः ॥५९॥

वसन्ततिलका

श्रद्धानबोधरदनं गुणपुण्यमूर्ति-
माराधना चरणमायतधर्महस्तम्।
सन्मार्गवारणमघारिमभिप्रचोद्य
विध्वंसनाद्विमलवाहनमाहुरेनम् ॥६०॥

मालिनी

विनिहतपरसेनः पद्मसेनो महीशः
सुरसमितिसमर्च्यः स्पष्टसौख्योऽष्टमेन्द्रः।
विपुलविमलकीर्तिर्विश्वविश्वम्भरेशो
विमलजिनपतिः स्तात् सुष्टुतस्तुष्टये वः ॥६१॥
स्तिमिततमसमाधिध्वस्तनिःशेषदोषं
क्रमगमकरणान्तर्द्धानहीनावबोधम्।
विमलममलमूर्तिं कीर्तिभाजं सुभाजां
नमत विमलताप्त्यै भक्तिभारेण भव्याः ॥६२॥

कोई रोगी स्वास्थ्य (नीरोग अवस्था) प्राप्त करता है ॥५५-५६॥ उसी समयसे लेकर लोकमें आषाढ़ कृष्ण अष्टमी, कालाष्टमीके नामसे विद्वानोंके द्वारा पूज्य हो गयी और इसी निमित्तको पाकर मिथ्या-दृष्टि लोग भी उसकी पूजा करने लगे ॥५७॥ उसी समय सौधर्म आदि देवोंने आकर उनका अन्त्येष्टि संस्कार किया और मुक्त हुए उन भगवान्‌की अर्थपूर्ण सिद्ध स्तुतियोंसे वन्दना की ॥५८॥

हिंसा आदि पापोंसे परिणत हुआ यह जीव निरन्तर मलका संचय करता रहता है और पुण्यके द्वारा भी इसी संसारमें निरन्तर विद्यमान रहता है अतः कहीं अपने गुणोंको विशुद्ध बनाना चाहिए—पाप पुण्यके विकल्पसे रहित बनाना चाहिए। आज मैं निर्मल बुद्धि—शुद्धोपयोगकी भावनाको प्राप्त कर अपने उन गुणोंको शुद्धि प्राप्त कराता हूँ—'पुण्य-पापके विकल्पसे दूर हटाकर शुद्ध बनाता हूँ' ऐसा विचार कर ही जो शुक्लध्यानको प्राप्त हुए थे ऐसे विमलवाहन भगवान् अपने सार्थक नामको धारण करते थे ॥५९॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही जिसके दो दाँत हैं; गुण ही जिसका पवित्र शरीर है, चार आराधनाएँ ही जिसके चरण हैं और विशाल धर्म ही जिसकी सूँड है ऐसे सन्मार्गरूपी हाथीको पाप-रूपी शत्रुके प्रति प्रेरित कर भगवान् विमलवाहनने पाप-रूपी शत्रुको नष्ट किया था इसलिए ही लोग उन्हें विमलवाहन (विमलं वाहनं यानं यस्य सः विमलवाहनः—निर्मल सवारीसे युक्त) कहते थे ॥६०॥ जो पहले शत्रुओंकी सेनाको नष्ट करनेवाले पद्मसेन राजा हुए, फिर देव-समूहसे पूजनीय तथा स्पष्ट सुखोंसे युक्त अष्टम स्वर्गके इन्द्र हुए, और तदनन्तर विशाल निर्मल कीर्तिके धारक एवं समस्त पृथिवीके स्वामी विमलवाहन जिनेन्द्र हुए, वे तेरहवें विमलनाथ तीर्थंकर अच्छी तरह आप लोगोंके सन्तोषके लिए हों ॥६१॥ हे भव्य जीवो! जिन्होंने अपनी अत्यन्त निश्चल समाधिके द्वारा

तीर्थे विमलनाथस्य सञ्जातौ रामकेशवौ । धर्मस्वयम्भूनामानौ तयोश्चरितमुच्यते ॥६३॥
विदेहेऽस्मिन् प्रतीच्यासीन्मित्रनन्दीति भूभुजः । स्ववशीकृतनिःशेषनिजभोग्यमहीतलः ॥६४॥
प्रजानामेष रक्तत्वात् प्रजाश्चास्य प्रपालनात् । सर्वदा वृद्धयेऽभूवन् भवेत्स्वार्थो परार्थता ॥६५॥
स्वचक्रमिव तस्यासीत्परचक्रं च धीमतः । चक्रबुद्धेः स्वचक्रं च परचक्रमपक्रमात् ॥६६॥
अतृप्यदेष भूपालस्तर्पयित्वाऽखिलाः प्रजाः । परोपकारवृत्तीनां परतृप्तिः स्वतृप्तये ॥६७॥
स कदाचित्समासाद्य सुव्रतं जिनपुङ्गवम् । श्रुत्वा धर्मं सुधीर्मत्वा स्वाङ्गभोगादि भंगुरम् ॥६८॥
सङ्गिनो बत सीदन्ति सङ्गमादाहितांहसः । निःसङ्गतां न गच्छन्ति किं गतं न विदन्त्यमी ॥६९॥
इति निर्विद्य संसाराद् गृहीत्वा संयमं परम् । संन्यस्यागात् त्रयस्त्रिंशद्वार्द्धिस्थितिरनुत्तरम् ॥७०॥
ततो द्वारवतीपुर्यां[1] सुतो भद्रमहीपतेः । सुभद्रायाश्च धर्माख्यः सोऽभूत्सुस्वप्नपूर्वकम् ॥७१॥
अत्रास्मिन् भारते वर्षे कुणालविषये पुरम् । श्रावस्ती तत्र राजाऽभूत्सुकेतुर्भोगतत्परः ॥७२॥
कामजे व्यसने द्यूते संसक्तः कर्मचोदितः । निषिद्धो मन्त्रिभिर्बन्धुवर्गैश्च बहुशो हितैः ॥७३॥
चोदितो वा स तैर्भूयो दीव्यन् दैवविलोमतः । राष्ट्रं वित्तं बलं देवीं सर्वमस्यापहारितम् ॥७४॥
क्रोधजेषु त्रिपूक्तेषु कामजेषु चतुर्षु च । नापरं व्यसनं द्यूतान्निकृष्टं प्राहुरागमाः ॥७५॥

समस्त दोषोंको नष्ट कर दिया है, जिनका ज्ञान क्रम, इन्द्रिय तथा मनसे रहित है, जिनका शरीर अत्यन्त निर्मल है और देव भी जिनकी कीर्तिका गान करते हैं ऐसे विमलनाथ भगवान्‌को निर्मलता प्राप्त करनेके लिए तुम सब बड़ी भक्तिसे नमस्कार करो ॥६२॥

अथानन्तर श्री विमलनाथ भगवान्‌के तीर्थमें धर्म और स्वयंभू नामके बलभद्र तथा नारायण हुए इसलिए अब उनका चरित कहा जाता है ॥६३॥ इसी भरतक्षेत्रके पश्चिम विदेह क्षेत्रमें एक मित्रनन्दी नामका राजा था, उसने अपने उपभोग करने योग्य समस्त पृथिवी अपने आधीन कर ली थी ॥६४॥ प्रजा इसके साथ प्रेम रखती थी इसलिए यह प्रजाकी वृद्धिके लिए था और यह प्रजाकी रक्षा करता था अतः प्रजा इसकी वृद्धिके लिए थी—राजा और प्रजा दोनों ही सदा एक-दूसरेकी वृद्धि करते थे सो ठीक ही है क्योंकि परोपकारके भीतर स्वोपकार भी निहित रहता है ॥६५॥ उस बुद्धिमान्‌के लिए शत्रुकी सेना भी स्वसेनाके समान थी और जिसकी बुद्धि चक्रके समान फिरा करती थी—चंचल रहती थी उसके लिए क्रमका उल्लंघन होनेसे स्वसेना भी शत्रुसेनाके समान हो जाती थी ॥६६॥ यह राजा समस्त प्रजाको सन्तुष्ट करके ही स्वयं सन्तुष्ट होता था सो ठीक ही है क्योंकि परोपकार करनेवाले मनुष्योंके दूसरोंको सन्तुष्ट करनेसे ही अपना सन्तोष होता है ॥६७॥ किसी एक दिन वह बुद्धिमान् सुव्रत नामक जिनेन्द्रके पास पहुँचा और वहाँ धर्मका स्वरूप सुनकर अपने शरीर तथा भोगादिको नश्वर मानने लगा ॥६८॥ वह सोचने लगा—बड़े दुःखकी बात है कि ये संसारके प्राणी परिग्रहके समागमसे ही पापोंका संचय करते हुए दुःखी हो रहे हैं फिर भी निष्परिग्रह अवस्थाको प्राप्त नहीं होते—सब परिग्रह छोड़कर दिगम्बर नहीं होते। बड़ा आश्चर्य है कि ये सामनेकी बातको भी नहीं जानते ॥६९॥ इस प्रकार संसारसे विरक्त होकर उसने उत्कृष्ट संयम धारण कर लिया और अन्त समयमें संन्यास धारण कर अनुत्तर विमानमें तैंतीस सागरकी आयुवाला अहमिन्द्र हुआ ॥७०॥

वहाँसे चय कर द्वारावती नगरीके राजा भद्रकी रानी सुभद्राके शुभ स्वप्न देखनेके बाद धर्म नामका पुत्र हुआ ॥७१॥ इसी भारतवर्षके कुणाल देशमें एक श्रावस्ती नामका नगर था वहाँ पर भोगोंमें तल्लीन हुआ सुकेतु नामका राजा रहता था ॥७२॥ अशुभ कर्मके उदयसे वह बहुत कामी था, तथा द्यूत व्यसनमें आसक्त था। यद्यपि हित चाहनेवाले मन्त्रियों और कुटुम्बियोंने उसे बहुत बार रोका पर उसके बदले उनसे प्रेरित हुएके समान वह बार-बार जुआ खेलता रहा और कर्मोदयके विपरीत होनेसे वह अपना देश-धन-बल और रानी सब कुछ हार गया ॥७३-७४॥ क्रोधसे उत्पन्न

---

[1] द्वारावती क०, घ० ।

महागुणेषु यत्सत्यमुक्तं प्राग् हार्यते हि तत् । द्यूतासक्तेन लज्जाभिमानं पश्चात्कुलं सुखम् ॥ ७६ ॥
सौजन्यं बन्धवो धर्मो द्रव्यं क्षेत्रं गृहं यशः । पितरौ दारका दाराः स्वयं चातिप्रसङ्गतः ॥ ७७ ॥
न स्नानं भोजनं स्वापो निरोधाद्रोगमृच्छति । न यात्यर्थान् वृथा क्लेशी बहुदोषं चिनोत्यघम् ॥ ७८ ॥
करोति कुत्सितं कर्म जायते पारिपन्थिकः । याचतेऽन्येषु [1]वार्थार्थमकार्येषु प्रवर्तते ॥ ७९ ॥
बन्धुभिः स परित्यक्तो राजभिर्याति यातनाम् । इति द्यूतस्य को दोषानुद्देष्टुमपि शक्नुयात् ॥ ८० ॥
सुकेतुरेव दृष्टान्तो येन राज्यं च हारितम् । तस्माल्लोकद्वये वाञ्छन् दूरतो द्यूतमुत्सृजेत् ॥ ८१ ॥
सुकेतुरिति सर्वस्वहानिशोकाकुलीकृतः । गत्वा सुदर्शनाचार्य[2]पादमूलं श्रुतागमः ॥ ८२ ॥
सद्यो निर्विद्य संसारात्प्रव्रज्याप्यशुभाशयः[3] । शोकादन्नं समुत्सृज्य तपोभिरतिदुष्करैः ॥ ८३ ॥
दीर्घकालमलं तप्त्वा कलागुणविदग्धता । बलं चैतेन मे भूयात्तपसेत्यायुषः क्षये ॥ ८४ ॥
कृत्वा निदानं संन्यस्य लान्तवकल्पमास्थितः । तत्र दिव्यसुखं प्रापत्स चतुर्दशसागरम् ॥ ८५ ॥
ततः सोऽप्यवतीर्यात्र भद्रस्यैव महीभुजः । बभूव पृथिवीदेव्यां स्वयम्भूः सूनुषु प्रियः ॥ ८६ ॥
धर्मो बलः स्वयम्भूश्च केशवस्तौ परस्परम् । अभूतां प्रीतिसम्पन्नावन्वभूतां श्रियं चिरम् ॥ ८७ ॥
सुकेतुजातौ द्यूतेन निर्जित्य बलिना हठात् । स्वीकृतं येन तद्राज्यं सोऽभूद्रत्नपुरे मधुः ॥ ८८ ॥
तज्जन्मवैरसंस्कारसमेतेनाशुनामुना । तन्नामश्रुतिमात्रेण सकोपेन स्वयम्भुवा ॥ ८९ ॥

होनेवाले मद्य, मांस और शिकार इन तीन व्यसनोंमें तथा कामसे उत्पन्न होनेवाले जुआ, चोरी, वेश्या और पर-स्त्रीसेवन इन चार व्यसनोंमें जुआ खेलनेके समान कोई नीच व्यसन नहीं है ऐसा सब शास्त्रकार कहते हैं ॥७५॥ जो सत्य महागुणोंमें कहा गया है जुआ खेलनेमें आसक्त मनुष्य उसे सबसे पहले हारता है। पीछे लज्जा, अभिमान, कुल, सुख, सज्जनता, बन्धुवर्ग, धर्म, द्रव्य, क्षेत्र, घर, यश, माता-पिता, बाल-बच्चे, स्त्रियाँ और स्वयं अपने-आपको हारता—नष्ट करता है। जुआ खेलनेवाला मनुष्य अत्यासक्तिके कारण न स्नान करता है, न भोजन करता है, न सोता है और इन आवश्यक कार्योंका रोध हो जानेसे रोगी हो जाता है। जुआ खेलनेसे धन प्राप्त होता हो सो बात नहीं, वह व्यर्थ ही क्लेश उठाता है, अनेक दोष उत्पन्न करनेवाले पापका संचय करता है, निन्द्य कार्य कर बैठता है, सबका शत्रु बन जाता है, दूसरे लोगोंसे याचना करने लगता है और धनके लिए नहीं करने योग्य कर्मोंमें प्रवृत्ति करने लगता है। बन्धुजन उसे छोड़ देते हैं—घरसे निकाल देते हैं, एवं राजाकी ओरसे उसे अनेक कष्ट प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जुआके दोषोंका नामोल्लेख करनेके लिए भी कौन समर्थ है ? ॥७६-८०॥ राजा सुकेतु ही इसका सबसे अच्छा दृष्टान्त है क्योंकि वह इस जुआके द्वारा अपना राज्य भी हरा बैठा था। इसलिए जो मनुष्य अपने दोनों लोकोंका भला चाहता है वह जुआको दूरसे ही छोड़ देवे ॥८१॥ इस प्रकार सुकेतु जब अपना सर्वस्व हार चुका तब शोकसे व्याकुल होकर सुदर्शनाचार्यके चरण-मूलमें गया। वहाँ उसने जिनागमका उपदेश सुना और संसारसे विरक्त होकर दीक्षा धारण कर ली। यद्यपि उसने दीक्षा धारण कर ली थी तथापि उसका आशय निर्मल नहीं हुआ था। उसने शोकसे अन्न छोड़ दिया और अत्यन्त कठिन तपश्चरण किया ॥८२-८३॥ इस प्रकार दीर्घकाल तक तपश्चरण कर उसने आयुके अन्तिम समयमें निदान किया कि इस तपके द्वारा मेरे कला, गुण, चतुरता और बल प्रकट हों ॥८४॥ ऐसा निदान कर वह संन्यास-मरणसे मरा तथा लान्तव स्वर्गमें देव हुआ। वहाँ चौदह सागर तक स्वर्गीय सुखका उपभोग करता रहा ॥८५॥ वहाँसे चयकर इसी भरतक्षेत्रकी द्वारावती नगरीके भद्र राजाकी पृथिवी रानीके स्वयम्भू नामका पुत्र हुआ। यह पुत्र राजाको सब पुत्रोंमें अधिक प्यारा था ॥८६॥ धर्म बलभद्र था और स्वयंभू नारायण था। दोनोंमें ही परस्पर अधिक प्रीति थी और दोनों ही चिरकाल तक राज्यलक्ष्मीका उपभोग करते रहे ॥८७॥ सुकेतुकी पर्यायमें बलिनामके राजाने जुआमें सुकेतुका राज्य छीन लिया था वह मरकर रत्नपुर नगरमें राजा मधु हुआ था ॥८८॥ पूर्व जन्मके

१ वा अर्थार्थं धनार्थम् । २ सुदर्शनाचार्यपाद ख० । ३ -प्यशुभाशयं ग०, घ०, क० ।

मधोः केनापि भूपेन प्रहितं प्राभृतं स्वयम् । घातयित्वोभयोर्दूतौ साधिक्षेपमगृह्णत ॥ ९० ॥
प्रीत्यप्रीतिसमुत्पन्नः संस्कारो जायते स्थिरः[1] । तस्मादप्रीतिमात्मज्ञो न कुर्यात्क्वापि कस्यचित् ॥ ९१ ॥
आकर्ण्य नारदाद् दूतमृत्युमावेशितक्रुधा । यथावभिमुखं योद्धुं रामकेशवयोर्मधुः ॥ ९२ ॥
तौ च संग्रामसन्नद्धौ क्रुद्धौ युद्धविशारदौ । प्रापतुः सहसा हन्तुं तं यमानलसन्निभौ ॥ ९३ ॥
सैन्ययोरुभयोरासीत् संग्रामः संहरन्निव । परस्परं चिरं घोरः शूरयोर्भीरुभीप्रदः ॥ ९४ ॥
स्वयम्भुवं समुद्दिश्य तदा सोढा मधुः क्रुधा । ज्वलच्चक्रं विवर्त्याशु न्यक्षिपत्तज्जिघांसया ॥ ९५ ॥
तद्गत्वाऽऽशु परीत्यैनं भुजाग्रे दक्षिणे स्थितम् । अवतीर्य मरुन्मार्गाद्भास्करस्येव मण्डलम् ॥ ९६ ॥
तदेवादाय सक्रोधः स्वयम्भूर्विद्विषं प्रति । [2]प्रहित्यादादसूंस्तस्य किं न स्यात् सुकृतोदयात् ॥ ९७ ॥
आधिपत्यं तदावाप्य भरतार्द्धस्य केशवः । वासवो वाऽन्वभूद्भोगान्निर्विघ्नं स्वाग्रजान्वितः ॥ ९८ ॥
मधुः सत्त्वं समुत्सृज्य भूयः [3]संश्रितवान् रजः । बद्ध्वायुर्नारकं प्रापच्चिरयं स तमस्तमः ॥ ९९ ॥
केशवोऽपि तमन्वेष्टुमिव वैरानुबन्धनात् । तदेव [4]नरकं पश्चात्प्राविक्षत् पापपाकतः ॥ १०० ॥
बलोऽपि तद्वियोगोत्थशोकसन्तप्तमानसः । निर्विद्य संसृतेः प्राप्य जिनं विमलवाहनम् ॥ १०१ ॥
सामायिकं समादाय संयमं संयताग्रणीः । [5]विग्रहे [6]विग्रहीवोग्रं निर्व्यग्रमकरोत्तपः ॥ १०२ ॥
सद्वृत्तस्तेजसो मूर्तिर्धुन्वन्नभ्युदितस्तमः । असम्बाधमगादूर्ध्वं भास्वानिव बलोऽमलः ॥ १०३ ॥

वैरका संस्कार होनेसे राजा स्वयंभू मधुका नाम सुनने मात्रसे कुपित हो जाता था ॥८९॥ किसी समय किसी राजाने राजा मधुके लिए भेंट भेजी थी, राजा स्वयंभूने दोनोंके दूतोंको मारकर तिरस्कारके साथ वह भेंट स्वयं छीन ली ॥९०॥ आचार्य कहते हैं कि प्रेम और द्वेषसे उत्पन्न हुआ संस्कार स्थिर हो जाता है इसलिए आत्मज्ञानी मनुष्यको कहीं किसीके साथ द्वेष नहीं करना चाहिए ॥९१॥ जब मधुने नारदसे दूतके मरनेका समाचार सुना तो वह क्रोधित होकर युद्ध करनेके लिए बलभद्र और नारायणके सम्मुख चला ॥९२॥ इधर युद्ध करनेमें चतुर तथा कुपित बलभद्र और नारायण युद्धके लिए पहलेसे ही तैयार बैठे थे अतः यमराज और अग्निकी समानता रखनेवाले ये दोनों राजा मधुको मारनेके लिए सहसा उसके पास पहुँचे ॥९३॥ दोनों शूरकी सेनाओंमें परस्परका संहार करनेवाला तथा कायर मनुष्योंको भय उत्पन्न करनेवाला चिरकाल तक घमासान युद्ध हुआ ॥९४॥ अन्तमें राजा मधुने कुपित होकर स्वयंभूको मारनेके उद्देश्यसे शीघ्र ही जलता हुआ चक्र घुमाकर फेंका ॥९५॥ वह चक्र शीघ्रताके साथ जाकर तथा प्रदक्षिणा देकर स्वयंभूकी दाहिनी भुजाके अग्रभागपर ठहर गया। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशसे उतरकर सूर्यका बिम्ब ही नीचे आ गया हो ॥९६॥ उसी समय राजा स्वयंभूने कुपित होकर वह चक्र शत्रुके प्रति फेंका सो ठीक ही है क्योंकि पुण्योदयसे क्या नहीं होता ? ॥९७॥ उसी समय स्वयंभू-नारायण, आधे भरतक्षेत्रका राज्य प्राप्त कर इन्द्रके समान अपने बड़े भाईके साथ उसका निर्विघ्न उपभोग करने लगा ॥९८॥ राजा मधुने प्राण छोड़कर बहुत भारी पापका संचय किया जिससे नरकायु बाँधकर तमस्तम नामक सातवें नरकमें गया ॥९९॥ और नारायण स्वयंभू भी वैरके संस्कारसे उसे खोजनेके लिए ही मानो अपने पापोदयके कारण पीछेसे उसी नरकमें प्रविष्ट हुआ ॥१००॥ स्वयंभूके वियोगसे उत्पन्न हुए शोकके द्वारा जिसका हृदय सन्तप्त हो रहा था ऐसा बलभद्र धर्म भी संसारसे विरक्त होकर भगवान् विमलनाथके समीप पहुँचा ॥१०१॥ और सामायिक संयम धारण कर संयमियोंमें अग्रेसर हो गया। उसने निराकुल होकर इतना कठिन तप किया मानो शरीरके साथ विद्वेष ही ठान रखा हो ॥१०२॥ उस समय बलभद्र ठीक सूर्यके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार सूर्य सद्वृत्त अर्थात् गोलाकार होता है उसी प्रकार बलभद्र भी सद्वृत्त—सदाचारसे युक्त थे, जिस प्रकार सूर्य तेजकी मूर्तिस्वरूप होता है उसी प्रकार बलभद्र भी तेजकी मूर्तिस्वरूप

---

१ स्थितिः ग० । २ प्रहित्य अदात् असून् तस्य इति पदच्छेदः । ३ संसृतिबीजजम् ल० । ४ नारकं क०, घ० । ५ विग्रहे शरीरे । ६ विग्रही विद्वेषी ।

वसन्ततिलका

द्यूतेन मोहविहितेन विधीः स्वयंभूः
यातो मधुश्च नरकं दुरिती दुरन्तम् ।
धर्मादिकं त्रितयमेव कुमार्गवृत्त्या
हेतुः श्रितं भवति दुःखपरम्परायाः ॥ १०४ ॥

क्रोधादिभिः सुतपसोऽपि भवेन्निदानं
तस्स्याद् दुरन्तदुरितोर्जितदुःखहेतुः ।
तेनाप मुक्तिपथगोऽप्यपथं सुकेतु-
स्त्याज्यं ततः खलसमागमवन्निदानम् ॥ १०५ ॥

मालिनी

द्युतिविजितमित्रो मित्रनन्दी क्षितीशो
यमसमितिसमग्रोऽनुत्तराधीश्वरोऽभूत् ।
अनुधरणिमितः सन् द्वारवत्यां [1]सुधर्मः
परमपदमवापत्साधितात्मस्वरूपः ॥ १०६ ॥

पृथ्वी

कुणालविषये सुकेतुरधिराडभूद् दुर्मति-
स्ततः कृततपाः सुरोऽजनि सुखालये लान्तवे ।
कृतान्तसदृशो मधोरनुबभूव चक्रेश्वर-
स्ततश्च दुरितोदयात्क्षितिमगात्स्वयंभूरधः ॥ १०७ ॥

जिनस्यास्यैव तीर्थेऽर्यौ गणेशौ मेरुमन्दरौ । तुङ्गौ स्थिरौ सुरैः सेव्यौ वक्ष्यामश्चरितं तयोः ॥१०८॥

थे, जिस प्रकार सूर्य उदित होते ही अन्धकारको नष्ट कर देता है उसी प्रकार बलभद्रने मुनि होते ही अन्तरंगके अन्धकारको नष्ट कर दिया था, जिस प्रकार सूर्य निर्मल होता है उसी प्रकार बलभद्र भी कर्ममलके नष्ट हो जानेसे निर्मल थे और जिस प्रकार सूर्य बिना किसी रुकावटके ऊपर आकाशमें गमन करता है उसी प्रकार बलभद्र भी बिना किसी रुकावटके ऊपर तीन लोकके अग्रभागपर जा विराजमान हुए ॥१०३॥ देखो, मोह वश किये हुए जुआसे मूर्ख स्वयम्भू और राजा मधु पापका संचय कर दुःखदायी नरकमें पहुँचे सो ठीक ही है क्योंकि धर्म, अर्थ, काम इन तीनका यदि कुमार्ग वृत्तिसे सेवन किया जाये तो यह तीनों ही दुःख-परम्पराके कारण हो जाते हैं ॥१०४॥ कोई उत्तम तपश्चरण करे और क्रोधादिके वशीभूत हो निदान-बन्ध कर ले तो उसका वह निदान-बन्ध अतिशय पापसे उत्पन्न दुःखका कारण हो जाता है। देखो, सुकेतु यद्यपि मोक्षमार्गका पथिक था तो भी निदान-बन्धके कारण कुगतिको प्राप्त हुआ अतः दुष्ट मनुष्यकी संगतिके समान निदान-बन्ध दूरसे ही छोड़ने योग्य है ॥१०५॥ धर्म पहले अपनी कान्तिसे सूर्यको जीतनेवाला मित्रनन्दी नामका राजा हुआ, फिर महाव्रत और समितियोंसे सम्पन्न होकर अनुत्तरविमानका स्वामी हुआ, वहाँसे चयकर पृथिवीपर द्वारावती नगरीमें सुधर्म बलभद्र हुआ और तदनन्तर आत्म-स्वरूपको सिद्ध कर मोक्ष पदको प्राप्त हुआ ॥१०६॥ स्वयम्भू पहले कुणाल देशका मूर्ख राजा सुकेतु हुआ, फिर तपश्चरण कर सुखके स्थान-स्वरूप लान्तव स्वर्गमें देव हुआ, फिर राजा मधुको नष्ट करनेके लिए यमराजके समान चक्रपति–नारायण हुआ और तदनन्तर पापोदयसे नीचे सातवीं पृथिवीमें गया ॥१०७॥

अथानन्तर—इन्हीं विमलवाहन तीर्थंकरके तीर्थमें अत्यन्त उन्नत, स्थिर और देवोंके द्वारा सेवनीय मेरु और मन्दर नामके दो गणधर हुए थे इसलिए अब उनका चरित कहते हैं ॥१०८॥

---

1 सुवर्मः ल० ।

द्वीपेऽपरविदेहेऽस्मिन् सीतोदानद्युदक्तटे । विषये गन्धमालिन्यां वीतशोकपुराधिपः ॥ १०९ ॥
वैजयन्तो नृपस्तस्य देव्याः सर्वश्रियः सुतौ । संजयन्तजयन्ताख्यौ राजपुत्रगुणान्वितौ ॥ ११० ॥
तावन्येद्युरशोकाख्यवने तीर्थकृतोऽन्तिके । धर्मं स्वयंभुवः श्रुत्वा भोगनिर्वेदचोदितौ ॥ १११ ॥
संजयन्ततनूजाय वैजयन्ताय धीमते । दत्त्वा राज्यं समं पित्रा संयमं समवापतुः ॥ ११२ ॥
सप्तमे संयमस्थाने क्षीणाशेषकषायकः । सामरस्यं समाप्याप वैजयन्तो जिनेशिताम् ॥ ११३ ॥
पितुः कैवल्यसंप्राप्तिकल्याणे धरणेशिनः । जयन्तो वीक्ष्य सौन्दर्यमैश्वर्यं च महन्मुनिः ॥ ११४ ॥
धरणेन्द्रोऽभवन्मृत्वा दुर्मतिः स निदानतः । अत्यल्पं बहुमौल्येन गृह्णतो न हि दुर्लभम् ॥ ११५ ॥
अन्येद्युः संजयन्ताख्यं प्रतिमायोगधारिणम् । मनोहरपुराभ्यर्णभीमारण्यान्तरं यतिम् ॥ ११६ ॥
विद्युद्दंष्ट्राह्वयो विद्याधरो वीक्ष्याक्षमो रुषा । पूर्ववैरानुसंधानसमुद्भूतातिवेगया ॥ ११७ ॥
उद्धृत्येलाख्ययाप्यद्रेर्भरतेऽपाग्दिगाश्रिता । नदी कुसुमवत्याख्या हरवत्यभिधा परा ॥ ११८ ॥
सुवर्णगजवत्यौ च चण्डवेगा च पञ्चमी । न्यक्षिपत्संगमे तासामगाधे सलिले खलः ॥ ११९ ॥
अयं पापी महाकायो दानवो मानवाशनः । सर्वानस्मान् पृथग्दृष्ट्वा खादितुं निभृतं स्थितः ॥ १२० ॥
शरकुन्तादिशस्त्रौघैर्निघृणं सर्वभक्षिणम् । वयं सर्वेऽपि संभूय हनामोऽखिलविद्विषम् ॥ १२१ ॥
उपेक्षितोऽयमद्यैव भुग्नकुक्षिर्बुभुक्षितः । भक्षयेदुक्षितोऽवश्यं निशायां स्त्रीः शिशून्पशून् ॥ १२२ ॥
तस्मान्मद्वचनं यूयं प्रतीत किमहं वृथा । मृषा भाषे किमेतेन वैरमस्त्यत्र मे पृथक् ॥ १२३ ॥
इति तेन खगा मुग्धाः पुनः सर्वेऽपि नोदिताः । तथेति मृत्युसंत्रस्ताः समस्ताः शस्त्रसंहृताः ॥ १२४ ॥
आदाय साधुमूर्धन्यं समाहितमहाधियम् । समन्ताद्धन्तुमारब्धा विश्रब्धं लुब्धकोपमाः ॥ १२५ ॥

जम्बूद्वीपके पश्चिम विदेह क्षेत्रमें सीतोदा नदीके उत्तर तटपर एक गन्धमालिनी नामका देश है उसके वीतशोक नगरमें वैजयन्त राजा राज्य करता था। उसकी सर्वश्री नामकी रानी थी और उन दोनोंके संजयन्त तथा जयन्त नामके दो पुत्र थे, ये दोनों ही पुत्र राजपुत्रोंके गुणोंसे सहित थे ॥१०९-११०॥ किसी दूसरे दिन अशोक वनमें स्वयम्भू नामक तीर्थंकर पधारे। उनके समीप जाकर दोनों भाइयोंने धर्मका स्वरूप सुना और दोनों ही भोगोंसे विरक्त हो गये॥१११॥ उन्होंने संजयन्तके पुत्र वैजयन्तके लिए जो कि अतिशय बुद्धिमान् था राज्य देकर पिताके साथ संयम धारण कर लिया ॥११२॥ संयमके सातवें स्थान अर्थात् बारहवें गुणस्थानमें समस्त कषायोंका क्षय कर जिन्होंने समरसपना—पूर्ण वीतरागता प्राप्त कर ली है ऐसे वैजयन्त मुनिराज जिनराज अवस्थाको प्राप्त हुए ॥११३॥ पिताके केवलज्ञानका उत्सव मनानेके लिए सब देव आये तथा धरणेन्द्र भी आया। धरणेन्द्रके सौन्दर्य और बहुत भारी ऐश्वर्यको देखकर जयन्त मुनिने धरणेन्द्र होनेका निदान किया। उस निदानके प्रभावसे वह दुर्बुद्धि मरकर धरणेन्द्र हुआ सो ठीक ही है क्योंकि बहुत मूल्यसे अल्प मूल्यकी वस्तु खरीदना दुर्लभ नहीं है ॥११४-११५॥ किसी एक दिन संजयन्त मुनि, मनोहर नगरके समीपवर्ती भीम नामक वनमें प्रतिमा योग धारण कर विराजमान थे ॥११६॥ वहींसे विद्युद्दंष्ट्र नामका विद्याधर निकला। वह पूर्वभवके वैरके स्मरणसे उत्पन्न हुए तीव्र वेगसे युक्त क्रोधसे आगे बढ़नेके लिए असमर्थ हो गया। वह दुष्ट उन मुनिराजको उठा लाया तथा भरतक्षेत्रके इला नामक पर्वतकी दक्षिण दिशाकी ओर जहाँ कुसुमवती, हरवती, सुवर्णवती, गजवती और चण्डवेगा इन नदियोंका समागम होता है वहाँ उन नदियोंके अगाध जलमें छोड़ आया ॥११७-११९॥ इतना ही नहीं उसने भोले-भाले विद्याधरोंको निम्नांकित शब्द कहकर उत्तेजित भी किया। वह कहने लगा कि यह कोई बड़े शरीरका धारक, मनुष्योंको खानेवाला पापी राक्षस है, यह हम सबको अलग-अलग देखकर खानेके लिए चुपचाप खड़ा है, इस निर्दय, सर्वभक्षी तथा सर्वद्वेषी दैत्यको हम लोग मिलकर बाण तथा भाले आदि शस्त्रोंके समूहसे मारें, देखो, यह भूखा है, भूखसे इसका पेट झुका जा रहा है, यदि इसकी उपेक्षा की गयी तो यह देखते-देखते आज रात्रिको ही स्त्रियों-बच्चों

सोऽपि सर्वसहिष्णुः सन् वज्रकायोऽचलाकृतिः । निश्चलो निर्वृतिं यातः शुक्लध्यानेन शुद्धधीः ॥१२६॥
सर्वे निर्वाणकल्याणपूजां कर्तुं सुराधिपाः । चतुर्विधाः समं प्रापंस्तदा तद्भक्तिचोदिताः ॥ १२७ ॥
स्वाग्रजाङ्गेक्षणोद्भूततृतीयावगमः क्रुधा । नागेन्द्रो नागपाशेन तान् बबन्धाखिलान् खगान् ॥ १२८ ॥
नास्माकं देव दोषोऽस्ति विद्युद्दंष्ट्रेण पापिना । विदेहादमुमानीय भयं चास्मास्खचारिणाम् ॥ १२९ ॥
प्रतिपाद्य जनैरेभिरकारि विविधो मुधा । महोपसर्ग इत्याहुस्तेषु केचिद्विचक्षणाः ॥ १३० ॥
श्रुत्वा तन्नागराजोऽपि तेषु कालुष्यमुत्सृजन् । विद्युद्दंष्ट्रं पयोराशौ सबन्धुं क्षेप्तुमुद्यतः ॥ १३१ ॥
आदित्याभस्तदा देवो गुणहेतुस्तयोरभूत् । मध्ये ज्ञातानुबन्धो वा धातुप्रत्यययोः परः ॥ १३२ ॥
कृतदोषोऽस्त्ययं नागनाथ किन्त्वनुरोधतः । ममास्य क्षम्यतां क्षुद्रे कः कोपस्त्वादृशां पशौ ॥ १३३ ॥
पुरादितीर्थकृत्काले भवद्वंशसमुद्भवैः । वंशोऽस्य निर्मितो दत्त्वा विद्या विद्याधरेशिनाम् ॥ १३४ ॥
'संवर्ध्य विषवृक्षं च छेत्तुं स्वयमनैतु कः । इत्याबालप्रसिद्धं किं न वेत्सि विषभृत्पते ॥ १३५ ॥
इत्युक्तस्तेन नागेन्द्रः प्रत्युवाच तपोधनम् । मदग्रजमयं दुष्टो निर्हेतुकममीमरत् ॥ १३६ ॥
तद्ध्रुवं मम हन्तव्यो न निषेध्यं त्वयाधिकम् । मयेति सहसा देवस्तमाह मतिमान् वृथा । १३७ ॥
वैरं वहसि ते भ्राता जातौ जातोऽयमेव किम् । विद्युद्दंष्ट्रो न किं भ्राता संजातः संसृतौ भ्रमन् ॥१३८॥

तथा पशुओंको खा जावेगा। इसलिए आप लोग मेरे वचनोंपर विश्वास करो. मैं वृथा ही झूठ क्यों बोलूँगा? क्या इसके साथ मेरा द्वेष है?' इस प्रकार उसके द्वारा प्रेरित हुए सब विद्याधर मृत्युसे डर गये और जिस प्रकार किसी विश्वासपात्र मनुष्यको ठग लोग मारने लगते हैं उस प्रकार शस्त्रोंका समूह लेकर साधुशिरोमणि एवं समाधिमें स्थित उन संजयन्त मुनिराजको वे विद्याधर सब ओरसे मारने लगे ॥१२०-१२५॥ जयन्त मुनिराज भी इस समस्त उपसर्गको सह गये। उनका शरीर वज्रके समान सुदृढ़ था, वे पर्वतके समान निश्चल खड़े रहे और शुक्लध्यानके प्रभावसे निर्मल ज्ञानके धारी मोक्षको प्राप्त हो गये ॥१२६॥ उसी समय चारों निकायके इन्द्र उनकी भक्तिसे प्रेरित होकर निर्वाण-कल्याणककी पूजा करनेके लिए आये ॥१२७॥ सब देवोंके साथ पूर्वोक्त धरणेन्द्र भी आया था, अपने बड़े भाईका शरीर देखनेसे उसे अवधिज्ञान प्रकट हो गया जिससे वह बड़ा कुपित हुआ। उसने उन समस्त विद्याधरोंको नागपाशसे बाँध लिया ॥१२८॥ उन विद्याधरोंमें कोई-कोई बुद्धिमान भी थे अतः उन्होंने प्रार्थना की कि हे देव! इस कार्यमें हम लोगोंका दोष नहीं है, पापी विद्युद्दंष्ट्र इन्हें विदेह क्षेत्रसे उठा लाया और विद्याधरोंको इसने बतलाया कि इनसे तुम सबको बहुत भय है। ऐसा कहकर इसी दुष्टने हम सब लोगोंसे व्यर्थ ही यह महान् उपसर्ग करवाया है ॥१२९-१३०॥ विद्याधरोंकी प्रार्थना सुनकर धरणेन्द्रने उनपर क्रोध छोड़ दिया और परिवारसहित विद्युद्दंष्ट्रको समुद्रमें गिरानेका उद्यम किया ॥१३१॥ उसी समय वहाँ एक आदित्याभ नामका देव आया था जो कि विद्युद्दंष्ट्र और धरणेन्द्र दोनोंके ही गुण-लाभका उस प्रकार हेतु हुआ था जिस प्रकार कि किसी धातु और प्रत्ययके बीचमें आया हुआ अनुबन्ध गुण—व्याकरणमें प्रसिद्ध संज्ञाविशेषका हेतु होता हो ॥१३२॥ वह कहने लगा कि हे नागराज! यद्यपि इस विद्युद्दंष्ट्रने अपराध किया है तथापि मेरे अनुरोधसे इसपर क्षमा कीजिए। आप-जैसे महापुरुषोंका इस क्षुद्र पशुपर क्रोध कैसा? ॥१३३॥ बहुत पहले, आदिनाथ तीर्थंकरके समय आपके वंशमें उत्पन्न हुए धरणेन्द्रके द्वारा विद्याधरोंको विद्याएँ देकर इसके वंशकी रचना की गयी थी। लोकमें यह बात बालक तक जानते हैं कि अन्य वृक्षकी बात जाने दो, विष-वृक्षको भी स्वयं बढ़ाकर स्वयं काटना उचित नहीं है, फिर हे नागराज! आप क्या यह बात नहीं जानते? ॥१३४-१३५॥ जब आदित्याभ यह कह चुका तब नागराज-धरणेन्द्रने उत्तर दिया कि 'इस दुष्टने मेरे तपस्वी बड़े भाईको अकारण ही मारा है अतः यह मेरे द्वारा अवश्य ही मारा जावेगा। इस विषयमें आप मेरी इच्छाको रोक नहीं सकते।' यह सुनकर बुद्धिमान् देवने कहा कि—'आप वृथा ही वैर धारण कर

१ 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' इति कुमारसंभवे कालिदासमहाकवेः ।

बन्धुः कः को न वा बन्धुर्बन्धुताबन्धुताद्वयम् । संसारे परिवर्तेत [1]विदामत्राग्रहः कुतः ॥ १३९ ॥
कृतापराधे भ्राता ते विद्युद्दंष्ट्रमदण्डयत् । ततोऽयं स्मृततज्जन्मा मुनेरस्यापकारकः ॥ १४० ॥
अग्रजं तव पापोऽयं प्राक्तजन्मचतुष्टये । महावैरानुबन्धेन [2]लोकान्तरमजीगमत् ॥ १४१ ॥
अस्मिन् जन्मन्यमुं मन्ये मुनेरस्योपकारकम् । खगमेतत्कृतं सोढ्वा यन्मुक्तिमयमेयिवान् ॥ १४२ ॥
आस्तां तावदिदं भद्र भद्रं निर्वृतिकारणम् । प्राक्तनस्यापकारस्य वद केन प्रतिक्रिया ॥ १४३ ॥
इत्याकर्ण्य फणीन्द्रस्तत्कथ्यतां सा कथा मम । कथमित्यन्वयुङ्क्तासावादित्याभं समुत्सुकः ॥ १४४ ॥
शृणु वैरं विसृज्यास्मिन् बुद्धिमन् शुद्धचेतसा । तत्प्रपञ्चं वदामीति देवो विस्पष्टमभ्यधात् ॥ १४५ ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते सिंहपुराधीशो महीपतिः । सिंहसेनः प्रिया तस्य रामदत्ताऽभवत्सती ॥ १४६ ॥
श्रीभूतिः सत्यघोषाङ्को मन्त्री तस्य महीपतेः । श्रुतिस्मृतिपुराणादिशास्त्रविद् ब्राह्मणोत्तमः ॥ १४७ ॥
पद्मखण्डपुरे श्रेष्ठिसुदत्ताख्यसुमित्रयोः । भद्रमित्रः सुतो रत्नद्वीपे पुण्योदयात्स्वयम् ॥ १४८ ॥
उपार्जितपरार्घ्योरुरत्नः सिंहपुरं स्थिरम् । तिष्ठासुर्मन्त्रिणं दृष्ट्वा सर्वमावेद्य तन्मतात् ॥ १४९ ॥
तस्य हस्ते स्वरत्नानि स्थापयित्वा स बान्धवान् । आनेतुं पद्मखण्डाख्यं गत्वा तस्मान्निवर्त्य सः ॥१५०॥
पुनरभ्येत्य रत्नानि सत्यघोषमयाचत । सोऽपि तद्रत्नमोहेन न जानामीत्यपाह्नुत ॥ १५१ ॥
भद्रमित्रोऽपि पूत्कारं सर्वतो नगरेऽकरोत् । सत्यघोषोऽपि पापिष्ठैरेष चौरैरभिद्रुतः ॥ १५२ ॥

रहे हैं। इस संसारमें क्या यही तुम्हारा भाई है ? और संसारमें भ्रमण करता हुआ विद्युद्दंष्ट्र क्या आज तक तुम्हारा भाई नहीं हुआ। इस संसारमें कौन बन्धु है ? और कौन बन्धु नहीं है ? बन्धुता और अबन्धुता दोनों ही परिवर्तनशील हैं—आज जो बन्धु है वह कल अबन्धु हो सकता है और आज जो अबन्धु है वह कल बन्धु हो सकता है अतः इस विषयमें विद्वानोंको आग्रह क्यों होना चाहिए ? ॥१३६-१३९॥ पूर्व जन्ममें अपराध करनेपर तुम्हारे भाई संजयन्तने विद्युद्दंष्ट्रके जीवको दण्ड दिया था, आज इसे पूर्व जन्मकी वह बात याद आ गयी अतः इसने मुनिका अपकार किया है ॥१४०॥ इस पापीने तुम्हारे बड़े भाईको पिछले चार जन्मोंमें भी महावैरके संस्कारसे परलोक भेजा है—मारा है ॥१४१॥ इस जन्ममें तो मैं इस विद्याधरको इन मुनिराजका उपकार करनेवाला मानता हूँ क्योंकि, इसके द्वारा किये हुए उपसर्गको सहकर ही ये मुक्तिको प्राप्त हुए हैं ॥१४२॥ हे भद्र ! इस कल्याण करनेवाले मोक्षके कारणको जाने दीजिए। आप यह कहिए कि पूर्व जन्ममें किए हुए अपकारका क्या प्रतिकार हो सकता है ? ॥१४३॥

यह सुनकर धरणेन्द्रने उत्सुक होकर आदित्याभसे कहा कि वह कथा किस प्रकार है ? आप मुझसे कहिये ॥१४४॥ वह देव कहने लगा कि हे बुद्धिमान् ! इस विद्युद्दंष्ट्रपर वैर छोड़कर शुद्ध हृदयसे सुनो, मैं वह सब कथा विस्तारसे साफ-साफ कहता हूँ ॥१४५॥

इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें सिंहपुर नगरका स्वामी राजा सिंहसेन था। उसकी रामदत्ता नामकी पतिव्रता रानी थी॥१४६॥उस राजाका श्रीभूति नामका मन्त्री था, वह श्रुति स्मृति तथा पुराण आदि शास्त्रोंका जाननेवाला था, उत्तम ब्राह्मण था, और अपने-आपको सत्यघोष कहता था॥१४७॥ उसी देशके पद्मखण्डपुर नगरमें एक सुदत्त नामका सेठ रहता था। उसकी सुमित्रा स्त्रीसे भद्रमित्र नामका पुत्र हुआ। उसने पुण्योदयसे रत्नद्वीपमें जाकर स्वयं बहुत-से बड़े-बड़े रत्न कमाये। उन्हें लेकर वह सिंहपुर नगर आया और वहीं स्थायी रूपसे रहनेकी इच्छा करने लगा। उसने श्रीभूति मन्त्रीसे मिलकर सब बात कही और उसकी संमतिसे अपने रत्न उसके हाथमें रखकर अपने भाई-बन्धुओंको लेनेके लिए वह पद्मखण्ड नगरमें गया। जब वहाँसे वापिस आया तब उसने सत्यघोषसे अपने रत्न माँगे परन्तु रत्नोंके मोहमें पड़कर सत्यघोष बदल गया और कहने लगा कि मैं कुछ नहीं जानता ॥१४८-१५१॥ तब भद्रमित्रने सब नगरमें रोना-चिल्लाना शुरू किया और सत्यघोषने भी अपनी प्रामाणिकता बनाये रखनेके लिए लोगोंको यह बतलाया कि पापी चोरोंने इसका सब धन लूट लिया

---

१ विदामत्र ग्रहः कुतः ग० । विदामताग्रहः ल० । २ लोकोत्तर ल० ।

नष्टं स्वहरणोद्भूतशोकव्याकुलिताशयः । प्रलापीति जनानीतम् स्वग्रामाण्यादृश्यमहन् ॥ १५३ ॥
समक्षं भूपतेरात्मशुद्ध्यर्थं शपथं च सः । धर्माधिकृतनिर्दिष्टं चकाराचारदूरगः ॥ १५४ ॥
भद्रमित्रोऽपि पापेन वञ्चितोऽहं विजातिना । द्विजातिनेत्यनाथोऽपि नामुञ्चत् पूत्कृतिं मुहुः ॥ १५५ ॥
चतुर्विधोपधाशुद्धं युक्तं जात्यादिभिर्गुणैः । त्वां सत्यं सत्यघोषाङ्कं मत्वा मन्त्रिगुणोत्तमम् ॥ १५६ ॥
मया न्यासीकृतं हस्ते तव रत्नकरण्डकम् । किमेवमपलापेन हेतुं तद्ब्रूहि युज्यते ॥ १५७ ॥
सिंहसेनमहाराजप्रसादेन न तेऽस्ति किम् । छत्रसिंहासने मुक्त्वा ननु राज्यमिदं तव ॥ १५८ ॥
धर्मं यशो महत्त्वं च किं वृथैव विघातयेः । न्यासापह्नवदोषं किं न वेत्सि [1]स्मृतिपूजितम् ॥ १५९ ॥
एतदेवार्थशास्त्रस्य नित्यमध्ययने फलम् । यत्परानतिसंधत्ते नातिसंधीयते परैः ॥ १६० ॥
इत्यत्र परशब्दार्थे विपर्येषि परो मतः । तत्र शत्रुरहं किं भोः सत्यघोष रिपुस्तव ॥ १६१ ॥
सद्भावप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता । अङ्कमारुह्य [2]सुप्तस्य हन्तुः किं नाम पौरुषम् ॥ १६२ ॥
महामोहग्रहग्रस्त श्रीभूते भाविजन्मना । त्वं तन्मा नीनशो देहि मह्यं रत्नकरण्डकम् ॥ १६३ ॥
ईदृशान्येतत्प्रमाणानि जातिस्तेषामियं स्वयम् । जानंश्च मम रत्नानि किमित्येवमपह्नुषे ॥ १६४ ॥
एवं [3]नित्यं निशाप्रान्ते रोरौत्यारुह्य भूरुहम् । कृत्ये कृच्छ्रेऽपि सत्त्वाढ्या न त्यजन्ति समुद्यमम् ॥ १६५ ॥
[4]मुहुर्मुहुस्तदाकर्ण्य महादेव्या मनस्यभूत् । नासेऽहं नायमुन्मत्तः सर्वदाऽनुगतं वदन् ॥ १६६ ॥
इति सावेद्य भूपालं द्यूतोपायेन मन्त्रिणम् । जित्वा यज्ञोपवीतेन सार्द्धं तन्नाममुद्रिकाम् ॥ १६७ ॥
दत्त्वा निपुणमत्याख्यधात्रीकरतले मिथः । प्रहितं मन्त्रिणा देहि भद्रमित्रकरण्डकम् ॥ १६८ ॥

है। इसी शोकसे इसका चित्त व्याकुल हो गया है और उसी दशामें यह सब बक रहा है ॥१५२-१५३॥ सदाचारसे दूर रहनेवाले उस सत्यघोषने अपनी शुद्धता प्रकट करनेके लिए राजाके समक्ष धर्माधिकारियों—न्यायाधीशोंके द्वारा बतलायी हुई शपथ खायी॥१५४॥ भद्रमित्र यद्यपि अनाथ रह गया था तो भी उसने अपना रोना नहीं छोड़ा, वह बार-बार यही कहता था कि इस पापी विजाति ब्राह्मणने मुझे ठग लिया॥१५५॥ हे सत्यघोष! मैंने तुझे चारों तरहसे शुद्ध जाति आदि गुणोंसे युक्त मन्त्रियोंके उत्तम गुणोंसे विभूषित तथा सचमुच ही सत्यघोष समझा था इसलिए ही मैंने अपना रत्नोंका पिटारा तेरे हाथमें सौंप दिया था, अब इस तरह तू क्यों बदल रहा है, इस बदलनेका कारण क्या है और यह सब करना क्या ठीक है ? महाराज सिंहसेनके प्रसादसे तेरे क्या नहीं है ? छत्र और सिंहासनको छोड़कर यह सारा राज्य तेरा ही तो है ॥१५६-१५८॥ फिर धर्म, यश और बड़प्पनको व्यर्थ ही क्यों नष्ट कर रहा है ? क्या तू स्मृतियोंमें कहे हुए न्यासापहारके दोषको नहीं जानता ? ॥१५९॥ तूने जो निरन्तर अर्थशास्त्रका अध्ययन किया है क्या उसका यही फल है कि तू सदा दूसरोंको ठगता है और दूसरोंके द्वारा स्वयं नहीं ठगाया जाता ॥१६०॥ अथवा तू पर शब्दका अर्थ विपरीत समझता है—परका अर्थ दूसरा न लेकर शत्रु लेता है सो हे सत्यघोष ! क्या सचमुच ही मैं तुम्हारा शत्रु हूँ ? ॥१६१॥ सद्भावनासे पासमें आये हुए मनुष्योंको ठगनेमें क्या चतुराई है ? गोदमें आकर सोये हुएको मारनेवालेका पुरुषार्थ क्या पुरुषार्थ है ? हे श्रीभूति ! तू महामोहरूपी पिशाचसे ग्रस्त हो रहा है, तू अपने भावी जीवनको नष्ट मत कर, मेरा रत्नोंका पिटारा मुझे दे दे ॥१६२-१६३॥ मेरे रत्न ऐसे हैं, इतने बड़े हैं और उनकी यह जाति है, यह सब तू जानता है फिर क्यों इस तरह उन्हें छिपाता है ? ॥१६४॥ इस प्रकार वह भद्रमित्र प्रतिदिन प्रातःकालके समय किसी वृक्षपर चढ़कर बार-बार रोता था सो ठीक ही है क्योंकि धीर वीर मनुष्य कठिन कार्यमें भी उद्यम नहीं छोड़ते ॥१६५॥ बार-बार उसका एक-सा रोना सुनकर एक दिन रानीके मनमें विचार आया कि चूँकि यह सदा एक ही सदृश शब्द कहता है अतः यह उन्मत्त नहीं है, ऐसा समझ पड़ता है ॥१६६॥ रानीने यह विचार राजासे प्रकट किये और मन्त्रीके साथ जुआ खेलकर उसका यज्ञोपवीत तथा उसके नामकी अँगूठी जीत ली ॥१६७॥ तदनन्तर उसके निपुणमती नामकी धायके

---

१ स्मृतिनिन्दितम् ख० ग० । स्मृतिदूषितम् क० । २ सुप्तानां हेतुः (?) क० । ३ नित्ये क० ।
४. ध-पुस्तकेऽयं श्लोक उज्झितः ।

अभिज्ञानं च तस्यैतदित्युक्त्वा सान्निधानृतः । तदानयेति सन्दिश्य [1]धात्रीमानीनयत्तदा ॥ १६९ ॥
तत्रान्यानि च रत्नानि क्षिप्त्वा क्षितिभुजा स्वयम् । भद्रमित्रं समाहूय रहस्येतद्भवेत्तव ॥ १७० ॥
[2]इत्युक्तः स भवेद्देव ममैव तत्करण्डकम् । किन्तु रत्नान्यनर्घ्याणि मिश्रितान्यत्र कानिचित् ॥ १७१ ॥
एतानि सन्ति मे नैव ममैतानीति शुद्धधीः । स्वरत्नान्येव सत्योक्तिजग्राहोत्कामणीः सताम् ॥ १७२ ॥
सन्तुष्य भूपतिस्तस्मै सत्यघोषाङ्कसङ्गतम् । ज्येष्ठं श्रेष्ठिपदं भद्रमित्रायादित वेदिता ॥ १७३ ॥
सत्यघोषो मृषावादी पापी पापं समाचरन् । धर्माधिकरणोक्तेन दण्ड्यतामिति भूभुजा १७४ ॥
प्रेरितास्तेन मार्गेण सर्वस्वहरणं तथा । चपेटा वज्रमुष्ट्याख्यमल्लस्य त्रिंशदूर्जिताः ॥ १७५ ॥
कांस्यपात्रत्रयापूर्णनवगोमयभक्षणम् । इति त्रिविधदण्डेन न्यगृह्णन्[3] पुररक्षकाः ॥ १७६ ॥
नृपेऽनुबद्धवैरः सन् मृत्वार्तध्यानदूषितः । द्विजिह्वोऽगन्धनो नाम भाण्डागारेऽजनिष्ट सः ॥ १७७ ॥
अन्यायेनान्यवित्तस्य स्वीकारश्चौर्यमुच्यते । नैसर्गिकं निमित्तोत्थं [4]तदेवं द्विविधं स्मृतम् ॥ १७८ ॥
आद्यमाजन्मनो लोभनिकृष्टस्पर्द्धकोदयात् । सत्यप्यर्थे गृहे स्वस्य कोटीकोट्यादिसंख्यया ॥ १७९ ॥
न चौर्येण विना तोषः सत्याये सति च व्यये । तद्वतस्तादृशो भावः सर्वेषां वा क्षुधार्दितः[5] ॥ १८० ॥
[6]स्त्रीसुतादिव्ययाशक्तेर्निरार्थादिसरन्भवेत् । तच्च लोभोदयेनैव दुर्विपाकेन केनचित् ॥ १८१ ॥

हाथमें दोनों चीजें देकर उसे एकान्तमें समझाया कि 'तू श्रीभूति मन्त्रीके घर जा और उनकी स्त्रीसे कह कि मुझे मन्त्रीने भेजा है, तू मेरे लिए भद्रमित्रका पिटारा दे दे। पहचानके लिए उन्होंने यह दोनों चीजें भेजी हैं। इस प्रकार झूठ-मूठ ही कहकर तू वह रत्नोंका पिटारा ले आ, इस तरह सिखलाकर रानी रामदत्ताने धाय भेजकर मन्त्रीके घरसे वह रत्नोंका [पिटारा मँगा लिया ॥१६८-१६९॥ राजाने उस पिटारेमें और दूसरे रत्न डालकर भद्रमित्रको स्वयं एकान्तमें बुलाया और कहा कि क्या यह पिटारा तुम्हारा है? ॥१७०॥ राजाके ऐसा कहनेपर भद्रमित्रने कहा कि हे देव! यह पिटारा तो हमारा ही है परन्तु इसमें कुछ दूसरे अमूल्य रत्न मिला दिये गये हैं ॥१७१॥ इनमें ये रत्न मेरे नहीं हैं और ये मेरे हैं इस तरह कहकर सच बोलनेवाले, शुद्धबुद्धिके धारक तथा सज्जनोंमें श्रेष्ठ भद्रमित्रने अपने ही रत्न ले लिये ॥१७२॥ यह जानकर राजा बहुत ही सन्तुष्ट हुए और उन्होंने भद्रमित्रके लिए सत्यघोष नामके साथ अत्यन्त उत्कृष्ट सेठका पद दे दिया—भद्रमित्रको राजश्रेष्ठी बना दिया और उसका 'सत्यघोष' उपनाम रख दिया ॥१७३॥ सत्यघोष मन्त्री झूठ बोलनेवाला है, पापी है तथा इसने बहुत पाप किये हैं इसलिए इसे दण्डित किया जाये-इस प्रकार धर्माधिकारियोंके कहे अनुसार राजाने उसे दण्ड दिये जानेकी अनुमति दे दी ॥१७४॥ इस प्रकार राजाके द्वारा प्रेरित हुए नगरके रक्षकोंने श्रीभूति मन्त्रीके लिए तीन दण्ड निश्चित किये—१ इसका सब धन छीन लिया जाये, २ वज्रमुष्टि पहलवानके मजबूत तीस घूँसे दिये जायें, और ३ कांसेकी तीन थालोंमें रखा हुआ नया गोबर खिलाया जाये। इस प्रकार नगरके रक्षकोंने उसे तीन प्रकारके दण्डोंसे दण्डित किया ॥१७५-१७६॥ श्रीभूति राजाके साथ वैर बाँधकर आर्तध्यानसे दूषित होता हुआ मरा और मरकर राजाके भाण्डारमें अगन्धन नामका साँप हुआ ॥१७७॥

अन्यायसे दूसरेका धन ले लेना चोरी कहलाती है वह दो प्रकारकी मानी गयी है एक जो स्वभावसे ही होती है और दूसरी किसी निमित्तसे ॥१७८॥ जो चोरी स्वभावसे होती है वह जन्मसे ही लोभ कषायके निकृष्ट स्पर्द्धकोंका उदय होनेसे होती है। जिस मनुष्यके नैसर्गिक चोरी करनेकी आदत होती है उसके घरमें करोड़ोंका धन रहनेपर भी तथा करोड़ोंका आय-व्यय होनेपर भी चोरीके बिना उसे सन्तोष नहीं होता। जिस प्रकार सबको क्षुधा आदिकी बाधा होती है उसी प्रकार उसके चोरीका भाव होता है ॥१७९-१८०॥ जब घरमें स्त्री-पुत्र

---

१ धात्रीमानिषात्तदा (?) ल० । २ इत्युक्ते ख० । ३ निगृह्णन् ल० । ४ तदेव ल० । ५ क्षुधादिकाः ख० । ६ स्त्रीसुताधि क०, ख०, ग०, घ० ।

द्वयेन तेन बध्नाति दुरायुर्दुष्टचेष्टया । दुर्गतौ सुचिरं दुःखं दुरन्तं ह्यनुभावयेत् ॥१८२॥
सौजन्यं हन्यते भ्रंशो विश्रम्भस्य धनादिषु । विपत्तिः प्राणपर्यन्ता मित्रबन्ध्वादिभिः सह ॥१८३॥
गुणप्रसवसंदृब्धा कीर्तिरम्लानमालिका । लतेव दावसंश्लिष्टा सद्यश्चौर्येण हन्यते ॥१८४॥
इतीदं जानता सर्वं सत्यघोषेण दुर्धिया । आद्यांशकेन चौर्येण साहसं तदनुष्ठितम् ॥१८५॥
सद्यो मन्त्रिपदाद् भ्रष्टो निग्रहं तादृशं गतः । दुर्गतिं च पुनः प्राप्तो महापापानुबन्धिनीम् ॥१८६॥
इत्यमात्यस्य दुर्वृत्तं राजाऽऽत्मनि विचिन्तयन् । धम्मिलाख्याय विप्राय तस्मान्मन्त्रिपदं ददौ ॥१८७॥
काले गच्छति सत्येवमन्येद्युरसनाटवी– । पर्यन्तविमलाद्यन्तकान्तारक्ष्माभृति स्थितम् ॥१८८॥
वरधर्मयतिं प्राप्य भद्रमित्रवणिग्वरः । श्रुत्वा धर्मं धनं दाने त्यजन्नमतिमात्रया ॥१८९॥
तस्य माता सुमित्राख्याऽसहमानातिकोपिनी । काले मृत्वाऽसनाटव्यां [1]शार्दूलीभूयमागता ॥१९०॥
यदृच्छया वनं यातमवलोक्य दुराशया । साऽखादत्स्वसुतं कोपाच्चित्रं[2] किं [3]नाद्यमङ्गिनाम् ॥१९१॥
स स्नेहाद्रामदत्तायाः सिंहचन्द्रः सुतोऽभवत् । पूर्णचन्द्रोऽनुजस्तस्य भूपतेस्तावतिप्रियौ ॥१९२॥
भाण्डागारावलोकार्थं कदाचिन्नृपतिं गतम् । दशति स्म निजक्रोधाच्चक्षुःश्रुतिरगन्धनः ॥१९३॥
तदा गरुडदण्डेन सर्पानाहूय मन्त्रतः । निर्दोषोऽमुं प्रविश्याग्निं निर्गतः शुद्धिमाप्नुयात् ॥१९४॥
अन्यथा निग्रहीष्यामीत्युक्ता विषधराः परे । जलाशयादिवाक्लेशान्निर्यान्ति स्म हुताशनात् ॥१९५॥

भादिका खर्च अधिक होता है और घरमें धनका अभाव होता है तब दूसरी तरहकी चोरी करनी पड़ती है वह भी लोभ कषाय अथवा किसी अन्य दुष्कर्मके उदयसे होती है ॥१८१॥ यह जीव दोनों प्रकारकी चोरियोंसे अशुभ आयुका बन्ध करता है और अपनी दुष्ट चेष्टासे दुर्गतिमें चिरकाल तक भारी दुःख सहन करता है ॥१८२॥ चोरी करनेवालेकी सज्जनता नष्ट हो जाती है, धनादिके विषयमें उसका विश्वास चला जाता है, और मित्र तथा भाई-बन्धुओंके साथ उसे प्राणान्त विपत्ति उठानी पड़ती है ॥१८३॥ जिस प्रकार दावानलसे छुई हुई लता शीघ्र ही नष्ट हो जाती है उसी प्रकार गुणरूपी फूलोंसे गुँथी हुई कीर्तिरूपी ताजी माला चोरीसे शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥१८४॥ यह सब जानते हुए भी मूर्ख सत्यघोष (श्रीभूति)ने पहली नैसर्गिक चोरीके द्वारा यह साहस कर डाला ॥१८५॥ इस चोरीके कारण ही वह मन्त्री पदसे शीघ्र ही भ्रष्ट कर दिया गया, उसे पूर्वोक्त कठिन तीन दण्ड भोगने पड़े तथा बड़े भारी पापसे बँधी हुई दुर्गतिमें जाना पड़ा ॥१८६॥ इस प्रकार अपने हृदयमें मन्त्रीके दुराचारका चिन्तवन करते हुए सिंहसेनने उसका मन्त्रीपद धर्मिल नामक ब्राह्मणके लिए दे दिया ॥१८७॥

इस प्रकार समय व्यतीत होनेपर किसी दिन असना नामके वनमें विमलकान्तार नामके पर्वतपर विराजमान वरधर्म नामके मुनिराजके पास जाकर सेठ भद्रमित्रने धर्मका स्वरूप सुना और अपना बहुत-सा धन दानमें दे दिया। उसकी माता सुमित्रा इसके इतने दानको न सह सकी अतः अत्यन्त क्रुद्ध हुई और अन्तमें मरकर उसी असना नामके वनमें व्याघ्री हुई ॥१८८-१९०॥ एक दिन भद्रमित्र अपनी इच्छासे असना वनमें गया था उसे देखकर दुष्ट अभिप्रायवाली व्याघ्रीने उस अपने ही पुत्रको खा लिया सो ठीक ही है क्योंकि क्रोधसे जीवोंका क्या भक्ष्य नहीं हो जाता ? ॥१९१॥ वह भद्रमित्र मरकर स्नेहके कारण रानी रामदत्ताके सिंहचन्द्र नामका पुत्र हुआ तथा पूर्णचन्द्र उसका छोटा भाई हुआ। ये दोनों ही पुत्र राजाको अत्यन्त प्रिय थे ॥१९२॥ किसी समय राजा सिंहसेन अपना भाण्डागार देखनेके लिए गये थे वहाँ सत्यघोषके जीव अगन्धन नामक सर्पने उसे स्वकीय क्रोधसे डस लिया ॥१९३॥ उस गरुड़दण्ड नामक गारुड़ीने मन्त्रसे सब सर्पोंको बुलाकर कहा कि तुम लोगोंमें जो निर्दोष हो वह अग्निमें प्रवेश कर बाहर निकले और शुद्धता प्राप्त करे ॥१९४॥ अन्यथा प्रवृत्ति करनेपर मैं दण्डित करूँगा। इस प्रकार कहनेपर अगन्धनको छोड़ बाकी सब सर्प उस अग्निसे क्लेशके बिना ही इस तरह बाहर निकल आये जिस तरह कि मानो किसी जलाशयसे ही बाहर निकल आये

१ सा व्यालीभूय– ल० । २ चित्रं ख०, ग० । ३ आद्यं खाद्यम् ।

अगन्धनस्तु तद्वह्नौ भस्मितः कोपमानवान् । कालकाख्ये वने जज्ञे सलोभश्चमरो मृगः ॥१९६॥
सिंहसेनोऽपि कालान्ते सामजः सल्लकीवने । संभूयाशनिघोषाख्यां समवाप मदोद्धुरः ॥१९७॥
सिंहचन्द्रोऽभवद्राजा यौवराज्येऽजनीतरः । भुञ्जानयोस्तयोर्लक्ष्मीं काले क्षण इवायति ॥१९८॥
कदाचित्सिंहसेनोपरतिवार्ताश्रुतेरिते[1] । द्रष्टुं दान्तहिरण्यादिमती संयमसंयुते ॥१९९॥
समीपे रामदत्तापि तयो संयममाददौ । तच्छोकात्सिंहचन्द्रोऽपि पूर्णचन्द्रयतिं श्रितः ॥२००॥
श्रुत्वा धर्ममिदं जन्म यदि याति वृथा नृणाम् । कुतः पुनरिहोत्पत्तिर्भ्रान्तिरेवेति चिन्तयन् ॥२०१॥
कृत्वा राज्येऽनुजन्मानं द्वितीयं प्राप्य संयमे[2] । गुणस्थानं विशुद्ध्यन्[3] स[4] प्रमादपरिवर्जनात् ॥२०२॥
खचारणत्वं तुर्यावगमोत्कर्षं च लब्धवान् । रामदत्ता कदाचित्तं दृष्ट्वा संजातसंमदा ॥२०३॥
मनोहरवनोद्याने वन्दित्वा विधिपूर्वकम् । तत्तपोविघ्नसंप्रश्नपर्यन्ते पुत्रवत्सला ॥२०४॥
पूर्णचन्द्रः परित्यज्य धर्मं भोगे कृतादरः । प्रत्येत्युत न वा धर्ममित्यन्वयुङ्क्त सा ॥२०५॥
प्रत्याह सिंहचन्द्रोऽपि युष्मद्धर्मं ग्रहीष्यति । मा भूत्खेदः कथां चास्य शृणुतान्यभवाश्रिताम् ॥२०६॥
कोशले विषये वृद्धग्रामे नाम्ना मृगायणः । विप्रस्तस्याभवद्धर्मपत्नी च मधुराह्वया ॥२०७॥
तत्सुता वारुणीसंज्ञा जीवितान्ते मृगायणः । साकेताधीशिनो दिव्यबलस्य सुमतेश्च सः ॥२०८॥
सुता हिरण्यवत्यासीत्सुरम्यविषये पुरे । पोदनेऽधीशिने पूर्णचन्द्रायादायि सा सती ॥२०९॥

हों ॥१९५॥ परन्तु अगन्धन क्रोध और मानसे भरा था अतः उस अग्निमें जल गया और मरकर कालक नामक वनमें लोभसहित चमरी जातिका मृग हुआ ॥१९६॥ राजा सिंहसेन भी आयुके अन्तमें मरकर सल्लकी वनमें अशनिघोष नामका मदोन्मत्त हाथी हुआ ॥१९७॥

इधर सिंहचन्द्र राजा हुआ और पूर्णचन्द्र युवराज बना। राज्यलक्ष्मीका उपभोग करते हुए उन दोनोंका बहुत भारी समय जब एक क्षणके समान बीत गया ॥१९८॥ तब एक दिन राजा सिंहसेनकी मृत्युके समाचार सुननेसे दान्तमति और हिरण्यमति नामकी संयम धारण करनेवाली आर्यिकाएँ रानी रामदत्ताके पास आयीं ॥१९९॥ रामदत्ताने भी उन दोनोंके समीप संयम धारण कर लिया। इस शोकसे राजा सिंहचन्द्र पूर्णचन्द्र नामक मुनिराजके पास गया और धर्मोपदेश सुनकर यह विचार करने लगा कि यदि यह मनुष्य-जन्म व्यर्थ चला जाता है तो फिर इसमें उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है, इसमें उत्पत्ति होनेकी आशा रखना भ्रम मात्र है अथवा नाना योनियोंमें भटकना ही बाकी रह जाता है ॥२००-२०१॥ इस प्रकार विचार कर उसने छोटे भाई पूर्णचन्द्रको राज्यमें नियुक्त किया और स्वयं दीक्षा धारण कर ली। वह प्रमादको छोड़कर विशुद्ध होता हुआ संयमके द्वितीय गुणस्थान अर्थात् अप्रमत्त विरत नामक सप्तम गुणस्थानको प्राप्त हुआ ॥२०२॥ तपके प्रभावसे उसे आकाशचारण ऋद्धि तथा मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हुआ। किसी समय रामदत्ता सिंहचन्द्र मुनिको देखकर बहुत ही हर्षित हुई ॥२०३॥ उसने मनोहरवन नामके उद्यानमें विधिपूर्वक उनकी वन्दना की, तपके निर्विघ्न होनेका समाचार पूछा और अन्तमें पुत्रस्नेहके कारण यह पूछा कि पूर्णचन्द्र धर्मको छोड़कर भोगोंका आदर कर रहा है वह कभी धर्मको प्राप्त होगा या नहीं? ॥२०४-२०५॥ सिंहचन्द्र मुनिने उत्तर दिया कि खेद मत करो, वह अवश्य ही तुमसे अथवा तुम्हारे धर्मको ग्रहण करेगा। मैं इसके अन्य भवसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा कहता हूँ सो सुनो ॥२०६॥

कोशल देशके वृद्ध नामक ग्राममें एक मृगायण नामका ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्रीका नाम मधुरा था ॥२०७॥ उन दोनोंके वारुणी नामकी पुत्री थी, मृगायण आयुके अन्तमें मरकर साकेतनगरके राजा दिव्यबल और उसकी रानी सुमतिके हिरण्यवती नामकी पुत्री हुई। वह सती

---

१ मरणवार्ताश्रवणात् इते—प्राप्ते समागतवत्यौ इत्यर्थः। २ संयमम् क०, ग०, घ०। ३ सन् क०, ख०, ग०, घ०, म०, ल०। ४ प्रमादपरिमार्जनात् क०, घ०।

मधुराऽपि तयोर्जाता रामदत्ता त्वमुत्तमा । भद्रमित्रवणिक् सिंहचन्द्रस्ते स्नेहतोऽभवत् ॥२१०॥
वारुणी पूर्णचन्द्रोऽयं त्वत्पिता भद्रबाहुतः । गृहीतसंयमोऽथात्र संवृत्तो गुरुरावयोः ॥२११॥
माता ते दान्तमत्यन्ते दीक्षिता क्षान्तिरद्य ते । सिंहसेनोऽहिना दष्टः करीन्द्रोऽशनिघोषकः ॥२१२॥
भूत्वा वने भ्रमन्मत्तो मामालोक्य जिघांसया । धावति स्म मयाऽऽकाशे स्थित्वाऽसौ प्रतिबोधितः २१३
पूर्वसंबन्धमाख्याय सर्वं सम्यक् प्रबुद्धवान् । संयमासंयमं भव्यः स्वयं सद्यः समग्रहीत् ॥२१४॥
शान्तचित्तः स निर्वेदो ध्यायन् कायाद्यसारताम् । कृत्वा मासोपवासादीन् शुष्कपत्राणि पारयन् ॥२१५॥
कुर्वन्नेवं महासत्त्वश्चिरं घोरतरं तपः । [1]यूपकेसरिणीनामसरित्तीर्थे कृशो जलम्[2] ॥२१६॥
पातुं प्रविष्टस्तं वीक्ष्य स सर्पश्चमरः पुनः[3] । जातः [4]कुक्कुटसर्पोऽत्र तदास्यारुह्य मस्तकम् ॥२१७॥
दशति स्म गजोऽप्येतद्विषेण विगतासुकः । समाधिमरणाज्जज्ञे सहस्रारे रविप्रिये ॥२१८॥
विमाने श्रीधरो देवो धर्मिलश्चायुषः क्षये । तत्रैव वानरः सोऽभूत्सख्या तेन गजेशिनः ॥२१९॥
हतः [5]कुक्कुटसर्पोऽपि [6]तृतीयनरकेऽभवत् । गजस्य रदनौ मुक्ताश्चादद्व्याधिकतेजसः ॥२२०॥
व्याधः शृगालवन्नाम धनमित्राय दत्तवान् । राजश्रेष्ठी च तौ तांश्च पूर्णचन्द्रमहीभुजे ॥२२१॥
ददौ दन्तद्वयेनासौ व्यधात्पादचतुष्टयम् । पल्यङ्कस्यात्मनो मुक्ताभिश्च हारमभाव तम् ॥२२२॥
ईदृशं संसृतेर्भावं भावयन् को विधीर्न[7] चेत् । रतिं तनोति भोगेषु भवाभावमभावयन्[8] ॥२२३॥

हिरण्यवती पोदनपुर नगरके राजा पूर्णचन्द्रके लिए दी गयी—ब्याही गयी ॥२०८-२०९॥ मृगायण ब्राह्मणकी स्त्री मधुरा भी मरकर उन दोनों—पूर्णचन्द्र और हिरण्यवतीके तू रामदत्ता नामकी पुत्री हुई थी, सेठ भद्रमित्र तेरे स्नेहसे सिंहचन्द्र नामका पुत्र हुआ था और वारुणीका जीव यह पूर्णचन्द्र हुआ है। तुम्हारे पिताने भद्रबाहुसे दीक्षा ली थी और उनसे मैंने दीक्षा ली थी इस प्रकार तुम्हारे पिता हम दोनोंके गुरु हुए हैं ॥२१०-२११॥ तेरी माताने दान्तमतीके समीप दीक्षा धारण की थी और फिर हिरण्यवती मातासे तूने दीक्षा धारण की है। आज तुझे सब प्रकारकी शान्ति है। राजा सिंहसेनको साँपने डस लिया था जिससे मरकर वह वनमें अशनिघोष नामका हाथी हुआ। एक दिन वह मदोन्मत्त हाथी वनमें घूम रहा था, वहीं मैं था, मुझे देखकर वह मारनेकी इच्छासे दौड़ा, मुझे आकाशचारण ऋद्धि थी अतः मैंने आकाशमें स्थित हो पूर्वभवका सम्बन्ध बताकर उसे समझाया। वह ठीक-ठीक सब समझ गया जिससे उस भव्यने शीघ्र ही संयमासंयम—देशव्रत ग्रहण कर लिया ॥२१२-२१४॥ अब उसका चित्त बिलकुल शान्त है, वह सदा विरक्त रहता हुआ शरीर आदिकी निःसारताका विचार करता रहता है, लगातार एक-एक माहके उपवास कर सूखे पत्तोंकी पारणा करता है ॥२१५॥ इस प्रकार महान् धैर्यका धारक वह हाथी चिरकाल तक कठिन तपश्चरण कर अत्यन्त दुर्बल हो गया। एक दिन वह यूपकेसरिणी नामकी नदीके किनारे पानी पीनेके लिए घुसा। उसे देखकर श्रीभूति—सत्यघोषके जीवने जो मरकर चमरी मृग और बादमें कुर्कुट सर्प हुआ था उस हाथीके मस्तकपर चढ़कर उसे डस लिया। उसके विषसे हाथी मर गया, वह चूँकि समाधिमरणसे मरा था अतः सहस्रारस्वर्गके रविप्रिय नामक विमानमें श्रीधर नामका देव हुआ। धर्मिल ब्राह्मण, जिसे कि राजा सिंहसेनने श्रीभूतिके बाद अपना मन्त्री बनाया था आयुके अन्तमें मरकर उसी वनमें वानर हुआ था। उस वानरको पूर्वोक्त हाथीके साथ मित्रता थी अतः उसने उस कुर्कुट सर्पको मार डाला जिससे वह मरकर तीसरे नरकमें उत्पन्न हुआ। इधर शृगालवान् नामके व्याधने उस हाथीके दोनों दाँत तोड़े और अत्यन्त चमकीले मोती निकाले तथा धनमित्र नामक सेठके लिए दिये। राजश्रेष्ठी धनमित्रने वे दोनों दाँत तथा मोती राजा पूर्णचन्द्रके लिए दिये ॥२१६-२२१॥ राजा पूर्णचन्द्रने उन दोनों दाँतोंसे अपने पलंगके चार पाये बनवाये और मोतियोंसे हार बनवाकर पहिना ॥२२२॥ वह मनुष्य सर्वथा बुद्धिरहित नहीं है अथवा

---

१ पय.केसरिणी ख० । २ कृशोबलः ख०, ल० । ३ पुरः ल० । ४ कुर्कुट ख०, ग० । ५ कुर्कुट ग० । ६ तृतीये नरके ख० । ७ विगता धीर्यस्य स विधीः मूर्ख इत्यर्थः । ८ अचिन्तयन् ।

इत्यसौ सिंहचन्द्रोक्तं रामदत्ताऽवबुध्य तत् । पुत्रस्नेहात्स्वयं गत्वा पूर्णचन्द्रमजिज्ञपत् ॥२२४॥
गृहीतधर्मतत्त्वोऽसौ चिरं राज्यमपालयत् । रामदत्तापि तत्स्नेहात्सनिदानायुषोऽवधौ ॥२२५॥
महाशुक्रे विमानेऽभूद् भास्करे भास्कराह्वयः । पूर्णचन्द्रोऽपि तत्रैव वैडूर्ये तत्कृताह्वयः ॥२२६॥
सिंहचन्द्रो मुनीन्द्रोऽपि सम्यगाराध्य शुद्धधीः । प्रीतिंकरविमानेऽभूदूर्ध्वग्रैवेयकोर्ध्वके ॥२२७॥
रामदत्ता ततश्च्युत्वा धरणीतिलके पुरे । अत्रैव दक्षिणश्रेण्यामतिवेगखगेशिनः ॥२२८॥
श्रीधराख्या सुता जाता माताऽस्याः स्यात्सुलक्षणा । दत्तेयमलकाधीशो [1]दर्शकाय खगेशिने ॥२२९॥
वैडूर्याधिपतिश्चायं दुहिताऽभूद्यशोधरा । [2]पुष्कराख्यपुरे सूर्यावर्तायादाय्यसावपि ॥२३०॥
[3]राजा श्रीधरदेवोऽपि रश्मिवेगस्तयोरभूत् । कदाचिन्मुनिचन्द्राख्यमुनिधर्मानुशासनात् ॥२३१॥
सूर्यावर्ते [4]तपो याते श्रीधरा च यशोधरा । दीक्षां समग्रहीषातां गुणवत्यार्यिकान्तिके ॥२३२॥
कदाचिद्रश्मिवेगोऽगात्सिद्धकूटजिनालयम् । हरिचन्द्राह्वयं [5]तत्र दृष्ट्वा चारणसंयतम्[6] ॥२३३॥
श्रुत्वा धर्मं च सम्यक्त्वं संयमं प्रतिपद्य सः । चारणत्वं च संप्राप्तः सद्योगगनगोचरम्[7] ॥२३४॥
का नाख्यगुहायां तं कदाचिदवलोक्य ते । वन्दित्वातिष्ठतां तत्र श्रीधरा च यशोधरा ॥२३५॥
प्राक्तनो नारकस्तस्माच्च्युत्यापविपाकतः । चिरं भ्रमित्वा संसारे महानजगरोऽभवत् ॥२३६॥

संसारके अभावका विचार नहीं करता है तो संसारके ऐसे स्वभावका विचार करनेवाला कौन मनुष्य है जो विषय-भोगोंमें प्रीति बढ़ानेवाला हो ? ॥२२३॥ इस तरह सिंहचन्द्र मुनिके समझानेपर रामदत्ताको बोध हुआ, वह पुत्रके स्नेहसे राजा पूर्णचन्द्रके पास गयी और उसे सब बातें कहकर समझाया ॥२२४॥ पूर्णचन्द्रने धर्मके तत्त्वको समझा और चिरकाल तक राज्यका पालन किया। रामदत्ताने पुत्रके स्नेहसे निदान किया और आयुके अन्तमें मरकर महाशुक्र स्वर्गके भास्कर नामक विमानमें देव पद प्राप्त किया। तथा पूर्णचन्द्र भी उसी स्वर्गके वैडूर्य नामक विमानमें वैडूर्य नामका देव हुआ ॥२२५-२२६॥ निर्मल ज्ञानके धारक सिंहचन्द्र मुनिराज भी अच्छी तरह समाधिमरण कर नौवें ग्रैवेयकके प्रीतिंकर विमानमें अहमिन्द्र हुए ॥२२७॥ रामदत्ताका जीव महाशुक्र स्वर्गसे चयकर इसी दक्षिण श्रेणीके धरणीतिलक नामक नगरके स्वामी अतिवेग विद्याधरके श्रीधरा नामकी पुत्री हुआ। वहाँ इसकी माताका नाम सुलक्षणा था। यह श्रीधरा पुत्री अ नगरीके अधिपति दर्शक नामक विद्याधरके राजाके लिए दी गयी। पूर्णचन्द्रका जीव जो महाशुक्र स्वर्गके वैडूर्य विमानमें वैडूर्य नामक देव हुआ था वहाँसे चयकर इसी श्रीधराके शोधरा नामकी वह कन्या हुई जो कि पुष्करपुर नगरके राजा सूर्यावर्तके लिए दी गयी थी ॥२२८-२३०॥ राजा सिंहसेन अथवा अशनिघोष हाथीका जीव श्रीधर देव उन दोनों—सूर्यावर्त और यशोधराके रश्मिवेग नामका पुत्र हुआ। किसी समय मुनिचन्द्र नामक मुनिसे धर्मोपदेश सुनकर राजा सूर्यावर्त तपके लिए चले गये और श्रीधरा तथा यशोधराने गुणवती आर्यिकाके पास दीक्षा धारण कर ली ॥२३१-२३२॥ किसी समय रश्मिवेग सिद्धकूटपर विद्यमान जिन-मन्दिरके दर्शनके लिए गया था, वहाँ उसने चारणऋद्धि धारी हरिचन्द्र नामक मुनिराजके दर्शन कर उसने धर्मका स्वरूप सुना, उन्हींसे सम्यग्दर्शन और संयम प्राप्त कर मुनि हो गया तथा शीघ्र ही आकाशचारण ऋद्धि प्राप्त कर ली ॥२३३-२३४॥ किसी दिन रश्मिवेग मुनि काञ्चन नामकी गुहामें विराजमान थे, उन्हें देखकर श्रीधरा और यशोधरा आर्यिकाएँ उन्हें नमस्कार कर वहीं बैठ गयीं ॥२३५॥

इधर सत्यघोषका जीव जो तीसरे नरकमें नारकी हुआ था वहाँसे निकलकर पापके उदयसे चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता रहा और अन्तमें उसी वनमें महान् अजगर हुआ ॥२३६॥

१ दर्शिताय ख० । २ भास्कराख्यपुरे सूर्यावर्तायादाय्यसावपि ख०, ग० । ३ गजः श्रीधर ख०, ग० । गजः पाठान्तरं इति क-पुस्तके सूचितम् । ४ तपो जाते क०, ग०, घ० । ५ यत्र क०, ख० । ६ चारणसंयमम् ख० । ७ गमनगोचरम् ल० ।

ते च तं च निरीक्ष्यैष स सूर्यप्रतिमं क्रुधा । सहागिलत् समाराध्य ते कापिष्ठे बभूवतुः ॥२३७॥
रुचकाख्ये विमानेऽयं मुनिश्चार्कप्रभाह्वये । देवः पङ्कप्रभां प्रापत् पापादजगरोऽपि सः ॥२३८॥
सिंहचन्द्रो दिवोऽभ्येत्य द्वीपेऽस्मिन् चक्रपूःपतेः । अपराजितराजस्य सुन्दर्याश्च सुतोऽभवत् ॥२३९॥
चक्रायुधस्ततोऽस्यैव रश्मिवेगश्च्युतो दिवः । संजातश्चित्रमालायां सुतो वज्रायुधाह्वयः ॥२४०॥
श्रीधरा चागता नाकात् पृथिवीतिलके पुरे । सुताऽभूत् प्रियकारिण्यामतिवेगमहीपतेः ॥२४१॥
सर्वलक्षणसंपूर्णा[1] रत्नमालातिविश्रुता । वज्रायुधस्य सा देवी समजायत [2]सम्मुदे ॥२४२॥
यशोधरा तयो रत्नायुधः सूनुरजायत । एवमेते स्वपूर्वायफलमप्रापुरन्वहम् ॥२४३॥
श्रुत्वाऽपराजितो धर्ममन्येद्युः पिहितास्रवात् । चक्रायुधाय साम्राज्यं दत्त्वाऽदीक्षिष्ट धीरधीः ॥२४४॥
वज्रायुधे समारोप्य राज्यं चक्रायुधो नृपः । प्राव्राजीत् स्वपितुः पार्श्वे स तज्जन्मनि मुक्तिभाक् ॥२४५॥
अधिरत्नायुधं राज्यं कृत्वा चक्रायुधान्तिके । वज्रायुधोऽप्यगाद्दीक्षां किं न कुर्वन्ति सात्त्विकाः ॥२४६॥
सक्तो रत्नायुधो भोगे त्यक्त्वा धर्मकथामपि । सोऽन्वभूद्रति[3]गृध्नुत्वात्सुखानि चिरमन्यदा ॥२४७॥
मनोरममहोद्याने वज्रदन्तमहामुनि । व्याचक्ष्यमाणलोकानुयोगश्रवणवृद्धधीः ॥२४८॥
पूर्वजन्मस्मृतेर्मेघविजयो [4]योगधारणः । मांसादिकवलं[5] नादाद् ध्यायन् संसृतिदुःस्थितिम् ॥२४९॥
[6]राजाऽत्र व्याकुलीभूय मन्त्रिवैद्यवरान् स्वयम् । पप्रच्छ को विकारोऽस्य गजस्येत्याहितादरः ॥२५०॥

उन श्रीधरा तथा यशोधरा आर्यिकाओंको और सूर्यके समान दीप्तिवाले उन रश्मिवेग मुनिराजको देखकर उस अजगरने क्रोधसे एक ही साथ निगल लिया। समाधिमरण कर आर्यिकाएँ तो कापिष्ठ नामक स्वर्गके रुचक नामक विमानमें उत्पन्न हुईं और मुनि उसी स्वर्गके अर्कप्रभ नामक विमानमें देव उत्पन्न हुए। यह अजगर भी पापके उदयसे पंकप्रभा नामक चतुर्थ पृथिवीमें पहुँचा ॥२३७-२३८॥ सिंहचन्द्रका जीव स्वर्गसे चयकर इसी जम्बूद्वीपके चक्रपुर नगरके स्वामी राजा अपराजित और उनकी सुन्दरी नामकी रानीके चक्रायुध नामका पुत्र हुआ। ॥२३९॥ उसके कुछ समय बाद रश्मिवेगका जीव भी स्वर्गसे च्युत होकर इसी अपराजित राजाकी दूसरी रानी चित्रमालाके वज्रायुध नामका पुत्र हुआ ॥२४०॥ श्रीधरा आर्यिका स्वर्गसे चयकर धरणीतिलक नगरके स्वामी अतिवेग राजाकी प्रियकारिणी रानीके समस्त लक्षणोंसे सम्पूर्ण रत्नमाला नामकी अत्यन्त प्रसिद्ध पुत्री हुई। यह रत्नमाला आगे चलकर वज्रायुधके आनन्दको बढ़ानेवाली उसकी प्राणप्रिया हुई ॥२४१-२४२॥ और यशोधरा आर्यिका स्वर्गसे चयकर इन दोनों—वज्रायुध और रत्नमालाके रत्नायु नामका पुत्र हुई। इस प्रकारसे सब यहाँ प्रतिदिन अपने-अपने पूर्व पुण्यका फल प्राप्त करने लगे ॥२४३॥

किसी दिन धीरबुद्धिके धारक राजा अपराजितने पिहितास्रव मुनिसे धर्मोपदेश सुना और चक्रायुधके लिए राज्य देकर दीक्षा ले ली ॥२४४॥ कुछ समय बाद राजा चक्रायुध भी वज्रायुधपर राज्यका भार रखकर अपने पिताके पास दीक्षित हो गये और उसी जन्ममें मोक्ष चले गये ॥२४५॥ अब वज्रायुधने भी राज्यका भार रत्नायुधके लिए सौंपकर चक्रायुधके समीप दीक्षा ले ली सो ठीक ही है क्योंकि सत्त्वगुणके धारक क्या नहीं करते ? ॥२४६॥ रत्नायुध भोगोंमें आसक्त था। अतः धर्मकी कथा छोड़कर बड़ी लम्पटताके साथ वह चिरकाल तक राज्यके सुख भोगता रहा। किसी समय मनोरम नामके महोद्यानमें वज्रदन्त महामुनि लोकानुयोगका वर्णन कर रहे थे उसे सुनकर बड़ी बुद्धिवाले, राजाके मेघविजय नामक हाथीको अपने पूर्व भवका स्मरण हो आया जिससे उसने योग धारण कर लिया, मांसादि ग्रास लेना छोड़ दिया और संसारकी दुःखमय स्थितिका वह विचार करने लगा ॥२४७-२४९॥ यह देख राजा घबड़ा गया, उसने बड़े-बड़े मन्त्र-वादियों तथा वैद्योंको बुलाकर स्वयं ही बड़े आदरसे पूछा कि इस हाथीको क्या विकार हो गया

---

१ संपूर्ण ल० । २ संमदे क०, ग०, घ० । संमदे ख० । ३ -द्रतिगृध्नुत्वात् ग० । ४ योगधारणः ख० । यागधारणः ग० । जागधारणः क०, घ० । ५ मांसादिकवलं नादाद् ग० । ६ राजा तु ल० ।

विचार्य ते त्रिदोषोत्थविकारानवलोकनात् । अनुमानादयं[1] धर्मश्रुतेर्जातिस्मरोऽभवत् ॥२५१॥
इति सत्पात्रनिष्पन्नशुद्धाहारं घृतादिभिः । मिश्रितं न्यक्षिपत्क्षिप्तं तमभुङ्क्त द्विपोत्तमः ॥२५२॥
तदा सविस्मयो राजा गत्वाऽवधिविलोचनम् । वज्रदन्तं तदाख्याय तद्धेतुं पृच्छति स्म सः ॥२५३॥
मुनिर्बभाषे भो भूप शृणु तत्संविधानकम् । भारतेऽस्मिन्नृपः प्रीतिभद्रः छत्रपुराधिपः ॥२५४॥
सुन्दर्यामभवत्तस्य सुतः प्रीतिंकराह्वयः । मन्त्री चित्रमतिस्तस्य कमला कमलोपमा ॥२५५॥
गृहिणी तुग्बभूवास्या विचित्रमतिराख्यया । नृपमन्त्रिसुतौ श्रुत्वा धर्मं धर्मरुचेर्यतेः ॥२५६॥
तदैव भोगनिर्विण्णौ द्वावप्याददतुस्तपः । क्षीरास्रवर्द्धिरुत्पन्ना प्रीतिंकरमहामुनेः ॥२५७॥
साकेतपुरमन्येद्युर्जग्मतुस्तौ यथाक्रमम् । विहरन्तावुपोष्यास्त[2] तत्र मन्त्रिसुतो यतिः ॥२५८॥
प्रीतिंकरः पुरे चर्यां यान्तं स्वगृहसन्निधौ । गणिका बुद्धिषेणाख्या प्रणम्य विनयान्विता ॥२५९॥
दानयोग्यकुला नाहमस्मीत्यात्मानमुच्छुचा । निन्दन्ती बाढमप्राक्षीन्मुने कथय जन्मिनाम् ॥२६०॥
कुलरूपादयः केन जायन्ते संस्तुता इति । मद्यमांसादिकत्यागादित्युदीर्य मुनिश्च सः ॥२६१॥
ततः प्रत्यागतः कस्मात् स्थितो हेतोश्चिरं पुरे । भवानिति तमप्राक्षीद्विचित्रमतिरादरात् ॥२६२॥
सोऽपि तद्गणिकावार्तां यथावृत्तं न्यवेदयत् । परेद्युर्मन्त्रितुग् भिक्षावेलायां गणिकागृहम् ॥२६३॥
प्राविशत्सापि तं दृष्ट्वा समुत्थाय ससंभ्रमम् । वन्दित्वा पूर्ववद्धर्ममन्वयुङ्क्त कृतादरा ॥२६४॥
कामरागकथामेव व्याजहार स दुर्मतिः । तदिङ्गितज्ञयावज्ञा तया तस्मिन्न्यधीयत ॥२६५॥
प्राप्तापमानेन रुषा सूपकारोक्तिसंस्कृतात् । मांसात्तन्नगराधीशं गन्धमित्रमहीपतिम् ॥२६६॥

है ? ॥२५०॥ उन्होंने जब वात, पित्त और कफसे उत्पन्न हुआ कोई विकार नहीं देखा तब अनुमानसे विचारकर कहा कि धर्मश्रवण करनेसे इसे जाति-स्मरण हो गया है इसलिए उन्होंने किसी अच्छे बर्तनमें बना तथा घृत आदिसे मिला हुआ शुद्ध आहार उसके सामने रखा जिसे उस गजराजने खा लिया ॥२५१-२५२॥ यह देख राजा बहुत ही आश्चर्यको प्राप्त हुआ। वह वज्रदन्त नामक अवधिज्ञानी मुनिराजके पास गया और यह सब समाचार कहकर उनसे इसका कारण पूछने लगा ॥२५३॥ मुनिराजने कहा कि हे राजन् ! मैं सब कारण कहता हूँ तू सुन। इसी भरतक्षेत्रमें छत्रपुर नगरका राजा प्रीतिभद्र था। उसकी सुन्दरी नामकी रानीसे प्रीतिंकर नामक पुत्र हुआ। राजाके एक चित्रमति नामक मन्त्री था और लक्ष्मीके समान उसकी कमला नामकी स्त्री थी ॥२५४-२५५॥ कमलाके विचित्रमति नामका पुत्र हुआ। एक दिन राजा और मन्त्री दोनोंके पुत्रोंने धर्मरुचि नामके मुनिराजसे धर्मका उपदेश सुना और उसी समय भोगोंसे उदास होकर दोनोंने तप धारण कर लिया। महामुनि प्रीतिंकरको क्षीरास्रव नामकी ऋद्धि उत्पन्न हो गयी ॥२५६-२५७॥ एक दिन वे दोनों मुनि क्रम-क्रमसे विहार करते हुए साकेतपुर पहुँचे। उनमें-से मन्त्रिपुत्र विचित्रमति मुनि उपवासका नियम लेकर नगरके बाहर रह गये और राजपुत्र प्रीतिंकर मुनिचर्याके लिए नगरमें गये। अपने घरके समीप जाता हुआ देख बुद्धिषेणा नामकी वेश्याने उन्हें बड़ी विनयसे प्रणाम किया ॥२५८-२५९॥ और मेरा कुल दान देने योग्य नहीं है इसलिए बड़े शोकसे अपनी निन्दा करती हुई उसने मुनिराजसे पूछा कि हे मुने, आप यह बताइए कि प्राणियोंको उत्तम कुल तथा रूप आदिकी प्राप्ति किस कारणसे होती है ? 'मद्य मांसादिके त्यागसे होती है' ऐसा कहकर वह मुनि नगरसे वापस लौट आये। दूसरे विचित्रमति मुनिने उनसे आदरके साथ पूछा कि आप नगरमें बहुत देर तक कैसे ठहरे ? ॥ २६०-२६२॥ उन्होंने भी वेश्याके साथ जो बात हुई थी वह ज्योंकी त्यों निवेदन कर दी। दूसरे दिन मन्त्रिपुत्र विचित्रमति मुनिने भिक्षाके समय वेश्याके घरमें प्रवेश किया। वेश्या मुनिको देखकर एकदम उठी तथा नमस्कार कर पहलेके समान बड़े आदरसे धर्मका स्वरूप पूछने लगी ॥२६३-२६४॥ परन्तु दुर्बुद्धि विचित्रमति मुनिने उसके साथ काम और राग-सम्बन्धी कथाएँ ही कीं। वेश्या उनके अभिप्रायको समझ गयी अतः उसने उनका तिरस्कार किया ॥२६५॥ विचित्रमति

---

१ –दयंधर्म– ल० । २ 'आस्त' इति क्रियापदम् ।

वशीकृत्य ततो बुद्धिषेणा चात्मकृतामुना । स विचित्रमतिर्मृत्वा तवायममवद्गजः ॥२६७॥
अस्मिन् त्रिलोकप्रज्ञप्तिश्रवणाज्जातिसंस्मृतेः । निर्विण्णोऽयं समासन्नविनेयो नाग्रहीद्विषाम् ॥२६८॥
त्यागो भोगाय धर्मस्य काचायेव महामणेः । जनन्या इव दास्यर्थं तस्मात्तादृक् त्यजेद् बुधः ॥२६९॥
इति तद्भूभुगाकर्ण्य धिक्कामं धर्मदूषकम् । धर्म एव परं मित्रमिति धर्मरतोऽभवत् ॥२७०॥
तदैव दत्त्वा स्वं राज्यं स्वपुत्रायैत्य संयमम् । मात्रा सहायुषः प्रान्ते कल्पेऽन्तेऽनिमिषोऽभवत् ॥२७१॥
प्राक्तनो नारकः पङ्कप्रभाया निर्गतश्चिरम् । नानायोनिषु संभ्रम्य नानादुःखानि निर्विशन् ॥२७२॥
इह छत्रपुरे दारुणाख्यस्य तनयोऽभवत् । मङ्ग्यां व्याधस्य पापेन प्राक्तनेनातिदारुणः ॥२७३॥
स ते प्रियङ्गुखण्डाख्ये प्रतिमायोगधारिणम् । वज्रायुधं खलस्तस्मिंल्लोकान्तरमजीगमत् ॥२७४॥
सोढ्वा व्याधकृतं तीव्रमुपसर्गमसौ मुनिः । धर्मध्यानेन सर्वार्थसिद्धिं संप्रापदिद्धधीः ॥२७५॥
सप्तमीं पृथिवीं पापादध्युवासातिदारुणः । प्राग्भागे धातकीखण्डे विदेहे पश्चिमे महान् ॥२७६॥
देशोऽस्ति गन्धिलस्तस्मिन्नयोध्यानगरे नृपः । अर्हद्दासोऽभवत्तस्य सुव्रता सुखदायिनी ॥२७७॥
रत्नमाला तयोरासीत्सूनुर्वीतभयाह्वयः । तस्यैव जिनदत्तायामभूद्रत्नायुधः सुतः ॥२७८॥
नाम्ना विभीषणो जातौ तावुभौ रामकेशवौ । अविभज्य श्रियं दीर्घकालं भुक्त्वा यथोचितम् ॥२७९॥
कालान्ते केशवोऽयासीद्बद्ध्वायुः शर्कराप्रभाम् । स हलयपि निष्क्रम्यान्तेवासित्वा लान्तवं ययौ ॥२८०॥
आदित्याभः स एवाहं द्वितीयपृथिवीस्थितम् । प्रविश्य नरकं स्नेहाद्विभीषणमबोधयत्[2] ॥२८१॥

वेश्यासे अपमान पाकर बहुत ही क्रुद्ध हुआ । उसने मुनिपना छोड़ दिया और राजाकी नौकरी कर ली । वहाँ पाकशास्त्रके कहे अनुसार बनाये हुए मांससे उसने उस नगरके स्वामी राजा गन्धमित्रको अपने वश कर लिया और इस उपायसे उस बुद्धिषेणाको अपने अधीन कर लिया । अन्तमें वह विचित्रमति मरकर तुम्हारा हाथी हुआ है ॥२६६-२६७॥ मैं यहाँ त्रिलोकप्रज्ञप्तिका पाठ कर रहा था उसे सुनकर इसे जाति-स्मरण हुआ है । अब यह संसारसे विरक्त है, निकट भव्य है और इसीलिए इसने अशुद्ध भोजन करना छोड़ दिया है ॥२६८॥ भोगके लिए धर्मका त्याग करना ऐसा है जैसा कि काचके लिए महामणिका और दासीके लिए माताका त्याग करना है इसलिए विद्वानोंको चाहिए कि वे भोगोंका सदा त्याग करें ॥२६९॥ यह सुनकर राजा कहने लगा कि 'धर्मको दूषित करनेवाले कामको धिक्कार है, वास्तवमें धर्म ही परम मित्र है' ऐसा कहकर वह धर्ममें तत्पर हो गया ॥२७०॥ उसने उसी समय अपना राज्य पुत्रके लिए दे दिया और माताके साथ संयम धारण कर लिया । तपश्चरण कर मरा और आयुके अन्तमें सोलहवें स्वर्गमें देव हुआ ॥२७१॥

सत्यघोषका जीव जो पंकप्रभा नामक चौथे नरकमें गया था वहाँसे निकलकर चिरकाल तक नाना योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अनेक दुःख भोगता रहा ॥२७२॥ एक बार वह पूर्वकृत पापके उदयसे इसी छत्रपुर नगरमें दारुण नामक व्याधकी मंगी नामक स्त्रीसे अतिदारुण नामका पुत्र हुआ ॥२७३॥ किसी एक दिन प्रियंगुखण्ड नामके वनमें वज्रायुध मुनि प्रतिमायोग धारण कर विराजमान थे उन्हें उस दुष्ट भीलके लड़केने परलोक भेज दिया— मार डाला ॥२७४॥ तीक्ष्ण बुद्धिके धारक वे मुनि व्याधके द्वारा किया हुआ तीव्र उपसर्ग सहकर धर्मध्यानसे सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए ॥२७५॥ और अतिदारुण नामका व्याध मुनिहत्याके पापसे सातवें नरकमें उत्पन्न हुआ ।

पूर्व धातकीखण्डके पश्चिम विदेहक्षेत्रमें गन्धिल नामक देश है उसके अयोध्या नगरमें राजा अर्हद्दास रहते थे, उनकी सुख देनेवाली सुव्रता नामकी स्त्री थी । रत्नमालाका जीव उन दोनोंके वीतभय नामका पुत्र हुआ । और उसी राजाकी दूसरी रानी जिनदत्ताके रत्नायुधका जीव विभीषण नामका पुत्र हुआ । वे दोनों ही पुत्र बलभद्र तथा नारायण थे और दीर्घकाल तक विभाग किये बिना ही राजलक्ष्मीका यथायोग्य उपभोग करते रहे ॥२७६-२७९॥ अन्तमें नारायण तो नरकायुका बन्ध कर शर्कराप्रभामें गया और बलभद्र अन्तिम समयमें दीक्षा लेकर लान्तव स्वर्गमें उत्पन्न हुआ ॥२८०॥ मैं वही आदित्याभ नामका देव हूँ, मैंने स्नेहवश दूसरे नरकमें जाकर वहाँ

१ अनिमिषो देवः । २ –मबोधयम् म० ।

बुद्ध्वा ततः स निर्यातो द्वीपेऽस्मिन् विजये पुरे । ऐरावते महत्यासीदयोध्या तदधीश्वरः ॥२८२॥
श्रीवर्माऽस्य सुसीमाख्या देवी तस्याः सुतोऽभवत् । [1]श्रीधर्मासावनन्ताख्यमुनेरादाय संयमम् ॥२८३॥
ब्रह्मकल्पेऽभवद् देवो दिव्याष्टगुणभूषितः । सर्वार्थसिद्धिजः संजयन्तो वज्रायुधोऽभवत् ॥२८४॥
ब्रह्मकल्पादिहागत्य त्वं जयन्तो निदानतः । मोहाद्विलुप्तसम्यक्त्वोऽजनिष्ट नागनायकः ॥२८५॥
प्राक्तनो नारकः प्रान्तपृथिवीतो विनिर्गतः । जघन्यायुरहिर्भूत्वा तृतीयां पृथिवीं गतः ॥२८६॥
ततो निर्गत्य तिर्यक्षु त्रसेषु स्थावरेषु च । भ्रान्त्वाऽस्मिन् भरते भूतरमणाख्यवनान्तरे ॥२८७॥
ऐरावतीनदीतीरे मृगशृङ्गसुतोऽभवत् । गोशृङ्गतापसाधीशः शङ्खिकायां विरक्तधीः ॥२८८॥
स पञ्चाग्नितपः कुर्वन् दिव्यादितिलकाधिपम् । खगं वीक्ष्यांशुमालाख्यं निदानमकरोत्कुधीः ॥२८९॥
मृत्वाऽत्र खगशैलोदक्श्रेण्यां गगनवल्लभे । वज्रदंष्ट्रखगेशस्य प्रिया विद्युत्प्रभा तयोः ॥२९०॥
विद्युद्दंष्ट्रः सुतो जातः सोऽयं वैरानुबन्धतः । बद्ध्वा कर्म चिरं दुःखमापत्प्राप्स्यति चापरम् ॥२९१॥
एवं कर्मवशाज्जन्तुः संसारे परिवर्तते । पिता पुत्रः सुतो माता माता भ्राता स च स्वसा ॥२९२॥
स्वसा नप्ता भवेत्का वा बन्धुसंबन्धसंस्थितिः । कस्य को नापकर्ताऽत्र नोपकर्ता च कस्य कः ॥२९३॥
तस्माद्वैरानुबन्धेन मा कृथाः पापबन्धनम् । मुञ्च वैरं महानाग ! विद्युद्दंष्ट्रश्च मुच्यताम् ॥२९४॥
इति तद्देववाक्सौधवृष्ट्या सन्तर्पितोऽहिराट् । देवाहं त्वत्प्रसादेन सद्धर्मं श्रद्दधे स्म भोः ॥२९५॥
किन्तु विद्याबलादेष विद्युद्दंष्ट्रोऽघमाचरत् । तस्मादस्यान्वयस्यैव महाविद्यां छिनद्म्यहम् ॥२९६॥
इत्याहैतद्वचः श्रुत्वा देवो मदनुरोधनः । त्वया नैतद्विधातव्यमित्याख्यत्फणिनां पतिम् ॥२९७॥

रहनेवाले विभीषणको सम्बोधा था ॥२८१॥ वह प्रतिबोधको प्राप्त हुआ और वहाँसे निकलकर इसी जम्बूद्वीपके ऐरावत क्षेत्रकी अयोध्या नगरीके राजा श्रीवर्माकी सुसीमा देवीके श्रीधर्मा नामका पुत्र हुआ। और वयस्क होनेपर अनन्त नामक मुनिराजसे संयम ग्रहण कर ब्रह्मस्वर्गमें आठ दिव्य गुणोंसे विभूषित देव हुआ। वज्रायुधका जीव जो सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ था वहाँसे आकर संजयन्त हुआ ॥२८२-२८४॥ श्रीधर्माका जीव ब्रह्मस्वर्गसे आकर तू जयन्त हुआ था और निदान बाँधकर मोह-कर्मके उदयसे धरणीन्द्र हुआ ॥२८५॥ सत्यघोषका जीव सातवीं पृथिवीसे निकलकर जघन्य आयुका धारक साँप हुआ और फिर तीसरे नरक गया ॥२८६॥ वहाँसे निकल कर त्रस स्थावर रूप तिर्यंच गतिमें भ्रमण करता रहा। एक बार भूतरमण नामक वनके मध्यमें ऐरावती नदीके किनारे गोशृंग नामक तापसकी शंखिका नामक स्त्रीके मृगशृंग नामका पुत्र हुआ। वह विरक्त होकर पञ्चाग्नि तप कर रहा था कि इतनेमें वहाँसे दिव्यतिलक नगरका राजा अंशुमाल नामका विद्याधर निकला। उसे देखकर उस मूर्खने निदान बन्ध किया ॥२८७-२८९॥ अन्तमें मरकर इसी भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वतके उत्तर श्रेणी-सम्बन्धी गगनवल्लभ नगरके राजा वज्रदंष्ट्र विद्याधरकी विद्युत्प्रभा रानीके विद्युद्दंष्ट्र नामका पुत्र हुआ। इसने पूर्व वैरके संस्कारसे कर्मबन्ध कर चिरकाल तक दुःख पाये और आगे भी पावेगा ॥२९०-२९१॥ इस प्रकार कर्मके वश होकर यह जीव परिवर्तन करता रहता है। पिता पुत्र हो जाता है, पुत्र माता हो जाता है, माता भाई हो जाती है, भाई बहन हो जाता है और बहन नाती हो जाती है सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें बन्धुजनोंके सम्बन्धकी स्थिरता ही क्या है ? इस संसारमें किसने किसका अपकार नहीं किया और किसने किसका उपकार नहीं किया ? इसलिए वैर बाँधकर पापका बन्ध मत करो। हे नागराज—हे धरणेन्द्र ! वैर छोड़ो और विद्युद्दंष्ट्रको भी छोड़ दो ॥२९२-२९४॥ इस प्रकार उस देवके वचनरूप अमृतकी वर्षासे धरणेन्द्र बहुत ही सन्तुष्ट हुआ। वह कहने लगा कि हे देव ! तुम्हारे प्रसादसे आज मैं समीचीन धर्मका श्रद्धान करता हूँ ॥२९५॥ किन्तु इस विद्युद्दंष्ट्रने जो यह पापका आचरण किया है वह विद्याके बलसे ही किया है इसलिए मैं इसकी तथा इसके वंशकी महाविद्याको छीन लेता हूँ' यह कहा ॥२९६॥ उसके वचन सुनकर वह देव धरणेन्द्रसे फिर कहने लगा कि आपको

---

१ श्रीधर्मास्य क०, ग०, घ०। श्रीधावा सा ल०, म०।

सोऽपि यद्येवमेतस्य वंशानां मा सिध्यन् महा- । विद्याः पुंसां स्त्रियः संजयन्तभट्टारकान्तिके ॥२९८॥
साधयन्त्वन्यथा दर्पादिमे दुष्टाः कुचेष्टिताः । भविष्यतां च साधूनां पापाः कुर्वन्त्युपद्रवम् ॥२९९॥
एषोऽपि पर्वतो विद्याधरह्रीक्रीडितः परः । ह्रीमन्नामेत्युदीर्यास्मिन् अनुजप्रतिमां व्यधात् ॥३००॥
विद्युद्दंष्ट्रं च साम्नोक्तैर्धर्मन्यायानुयायिभिः । कृत्वा [1]प्रशान्तकालुष्यं देवं चाभ्यर्च्य यातवान् ॥३०१॥
देवोऽपि स्वायुरन्तेऽस्मिन्नुत्तरे मथुरापुरे । अनन्तवीर्यराड्मेरुमालिन्योर्मेरुनामभाक् ॥३०२॥
तस्यैवामितवत्यां स धरणीन्द्रोऽपि मन्दरः । समभूतां सुतावेताविव शुक्रबृहस्पती ॥३०३॥
तावासन्नविनेयत्वात् श्रित्वा विमलवाहनम् । श्रुत्वा स्वभवसंबन्धमग्रायेतां गणेशिताम् ॥३०४॥
इह प्रत्येकमेतेषां नामग्रहणपूर्वकम् । [2]गतिभेदावली व्याख्या संक्षेपेणाभिधीयते ॥३०५॥
सिंहसेनोऽशनिघोषप्रान्तः श्रीधरसंज्ञकः । रश्मिवेगः प्रभातार्को वज्रायुधमहानृपः ॥३०६॥
सर्वार्थसिद्धौ देवेन्द्रः संजयन्तः ततश्च्युतः । इत्यष्टजन्मभिः प्रापत्सिंहसेनः शिवं पदम् ॥३०७॥
मधुरा रामदत्तानु भास्करः श्रीधरा सुरः । रत्नमालाऽच्युते देवस्ततो वीतभयाह्वयः ॥३०८॥
आदित्याभस्ततो मेरुर्गणेशो विमलेशिनः । सप्तर्द्धिसमवेतः सन् प्रायासीत् परमं पदम् ॥३०९॥
वारुणी पूर्णचन्द्राख्यो वैडूर्यास्माद्यशोधरा । कापिष्ठकल्पेऽनल्पर्द्धिर्देवोऽभूद्रुचकप्रभः ॥३१०॥
रत्नायुधोऽन्त्यकल्पस्थस्ततश्च्युत्वा विभीषणः । द्वितीये नरके पापी श्रीधर्मा ब्रह्मकल्पजः ॥३११॥
जयन्तो धरणाधीशो मन्दरो गणनायकः । चतुर्ज्ञानधरः पारमवापज्जन्मवारिधेः ॥३१२॥
श्रीभूतिसचिवो नागश्चमरः कुक्कुटाहिकः । तृतीये नरके दुःखी वायुः पङ्कप्रभोद्भवः ॥३१३॥

स्वयं नहीं तो मेरे अनुरोधसे ही ऐसा नहीं करना चाहिए ॥२९७॥ धरणेन्द्रने भी उस देवके वचन सुनकर कहा कि यदि ऐसा है तो इसके वंशके पुरुषोंको महाविद्याएँ सिद्ध नहीं होंगी परन्तु इस वंशकी स्त्रियाँ संजयन्त स्वामीके समीप महाविद्याओंको सिद्ध कर सकती हैं। यदि इन अपराधियोंको इतना भी दण्ड नहीं दिया जावेगा तो ये दुष्ट अहंकारसे खोटी चेष्टाएँ करने लगेंगे तथा आगे होनेवाले मुनियोंपर भी ऐसा उपद्रव करेंगे ॥२९८-२९९॥ इस घटनासे इस पर्वतपर-के विद्याधर अत्यन्त लज्जित हुए थे इसलिए इसका नाम 'ह्रीमान्' पर्वत है ऐसा कहकर उसने उस पर्वतपर अपने भाई संजयन्त मुनिकी प्रतिमा बनवायी ॥३००॥ धर्म और न्यायके अनुसार कहे हुए शान्त वचनोंसे विद्युद्दंष्ट्रको कालुष्यरहित किया और उस देवकी पूजा कर अपने स्थानपर चला गया ॥३०१॥ वह देव अपनी आयुके अन्तमें उत्तर मथुरा नगरीके अनन्तवीर्य राजा और मेरुमालिनी नामकी रानीके मेरु नामका पुत्र हुआ ॥३०२॥ तथा धरणेन्द्र भी उसी राजाकी अमितवती रानीके मन्दर नामका पुत्र हुआ। ये दोनों ही भाई शुक्र और बृहस्पतिके समान थे ॥३०३॥ तथा अत्यन्त निकट भव्य थे इसलिए विमलवाहन भगवान्के पास जाकर उन्होंने अपने पूर्वभवके सम्बन्ध सुने एवं दीक्षा लेकर उनके गणधर हो गये ॥३०४॥ अब यहाँ इनमें-से प्रत्येकका नाम लेकर उनकी गति और भवोंके समूहका वर्णन करता हूँ—॥३०५॥

सिंहसेनका जीव अशनिघोष हाथी हुआ, फिर श्रीधर देव, रश्मिवेग, अर्कप्रभदेव, महाराज वज्रायुध, सर्वार्थसिद्धिमें देवेन्द्र और वहाँसे चयकर संजयन्त केवली हुआ। इस प्रकार सिंहसेनने आठ भवमें मोक्षपद पाया ॥३०६-३०७॥ मधुराका जीव रामदत्ता, भास्करदेव, श्रीधरा, देव, रत्नमाला, अच्युतदेव, वीतभय और आदित्यप्रभदेव होकर विमलवाहन भगवान्का मेरु नामका गणधर हुआ और सात ऋद्धियोंसे युक्त होकर उसी भवसे मोक्षको प्राप्त हुआ ॥३०८-३०९॥ वारुणीका जीव पूर्णचन्द्र, वैडूर्यदेव, यशोधरा, कापिष्ठ स्वर्गमें बहुत भारी ऋद्धियोंको धारण करनेवाला रुचकप्रभ नामका देव, रत्नायुध देव, विभीषण पापके कारण दूसरे नरकका नारकी, श्रीधर्मा, ब्रह्मस्वर्गका देव, जयन्त, धरणेन्द्र और विमलनाथका मन्दर नामका गणधर हुआ और चार ज्ञानका धारी होकर संसारसागरसे पार हो गया ॥३१०-३१२॥ श्रीभूति—(सत्यघोष) मन्त्रीका जीव

---

१ प्रशान्त क०, घ० । २ गतिर्भवावली व्याख्या ल० ।

त्रसस्थावरसंभ्रान्तः पश्चाज्जातोऽतिदारुणः । ततस्तमस्तमस्यासीत्सर्पस्तस्माच्च नारकः ॥३१४॥
बहुयोनिपरिभ्रान्तो मृगशृङ्गो मृतस्ततः । [1]विद्युद्दंष्ट्रः खगाधीशः पापी पश्चात् प्रसन्नवान् ॥३१५॥
भद्रमित्रवणिक् सिंहचन्द्रः प्रीतिंकरः सुरः । चक्रायुधो विधूताष्टकर्मा निर्वाणमापिवान् ॥३१६॥

वसन्ततिलका

एवं चतुर्गतिषु ते चिरमुच्चनीच-
स्थानानि कर्मपरिपाकवशात् प्रपद्य ।
सौख्यं क्वचित् क्वचिदयाचितमुग्रदुःख-
मापंस्त्रयोऽत्र परमात्मपदं [2]प्रसन्नाः ॥३१७॥

मालिनी

खलखगमकृतोग्रोपद्रवं कस्यचिद्वा
मनसि शमरसत्वान्मन्यमानो महच्छ्रे ।
शुचितरवरशुक्लध्यानमध्यास्य शुद्धिं
समगमदमलो यः संजयन्त स वोऽव्यात् ॥३१८॥

रथोद्धता

मेरुमन्दरमहाभिधानकौ स्वामिनेन्दुविजयाद्वृतौजसौ ।
पूजितौ मुनिगणाधिनायकौ नायकौ नयमयागमस्य वः ॥३१९॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे विमलतीर्थकर-धर्म-स्वयम्भू-मधु-संजयन्त-मेरुमन्दरपुराणं परिसमाप्तम् एकोनषष्टितमं पर्व ॥५९॥



सर्प, चमर, कुर्कुट सर्प, तीसरे नरकका दुःखी नारकी, अजगर, चौथे नरकका नारकी, त्रस और स्थावरोंके बहुत भव, अतिदारुण, सातवें नरकका नारकी, सर्प, नारकी, अनेक योनियोंमें भ्रमण कर मृगशृंग और फिर मरकर पापी विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर हुआ एवं पीछेसे वैररहित-प्रसन्न भी हो गया था ॥३१२-३१५॥ भद्रमित्र सेठका जीव सिंहचन्द्र, प्रीतिंकरदेव और चक्रायुधका भव धारण कर आठों कर्मोंको नष्ट करता हुआ निर्वाणको प्राप्त हुआ था ॥३१६॥

इस प्रकार कहे हुए तीनों ही जीव अपने-अपने कर्मोदयके वश चिरकाल तक उच्च-नीच स्थान पाकर कहीं तो सुखका अनुभव करते रहे और कहीं विना माँगे हुए तीव्र दुःख भोगते रहे परन्तु अन्तमें तीनों ही निष्पाप होकर परमपदको प्राप्त हुए ॥३१७॥ जिन महानुभावने हृदयमें समता रसके विद्यमान रहनेसे दुष्ट विद्याधरके द्वारा किये हुए भयंकर उपसर्गको 'यह किसी विरले ही भाग्यवान्को प्राप्त होता है' इस प्रकार विचारकर बहुत अच्छा माना और अत्यन्त निर्मल शुक्लध्यानको धारण कर शुद्धता प्राप्त की वे कर्ममल रहित संजयन्त स्वामी तुम सबकी रक्षा करें ॥३१८॥ जिन्होंने सूर्य और चन्द्रमाको जीतकर उत्कृष्ट तेज प्राप्त किया है, जो मुनियोंके समूहके स्वामी हैं, तथा नयोंसे परिपूर्ण जैनागमके नायक हैं ऐसे मेरु और मंदर नामके गणधर सदा आपलोगोंसे पूजित रहें—आपलोग सदा उनकी पूजा करते रहें ॥३१९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें विमलनाथ तीर्थंकर, धर्म, स्वयम्भू, मधु, संजयन्त, मेरु और मन्दर गणधरका वर्णन करनेवाला उनसठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥



---

१ विद्युद्दंष्ट्रखगाधीशः क०, ख०, ग०, घ० । २ प्रपन्नाः ल० ।

षष्टितमं पर्व

अनन्तोऽनन्तदोषाणां हन्ताऽनन्तगुणाकरः । हन्त्वनन्तध्वान्तसंतानमन्तर्गतं जिनः स नः ॥१॥
धातकीखण्डप्राग्भागमेरूदग्विषये महत् । रम्यं पुरमरिष्टाख्यमैकध्यमिव संपदाम्[1] ॥२॥
[2]पतिः पद्मरथस्तस्य पद्मासद्म स्वयं गुणैः । यस्मिन् महीं चिरं पाति प्रापन्प्रीतिं परां प्रजाः ॥३॥
पुण्योदयात्सुरूपादिसामग्री सुखसाधिनी । जन्तोस्तदुदयस्तस्मिन्नुत्कर्षोऽस्ति निरर्गलः ॥४॥
तदिन्द्रियार्थसांनिध्यसमुद्भूतसुखेन सः । शक्रवत्सुष्ठु [3]संतृप्यन्संसारसुखमन्वभूत् ॥५॥
अथान्यदा समासाद्य स्वयंप्रभजिनाधिपम् । सप्रश्रयमभिष्टुत्य श्रुत्वा धर्मं सुनिर्मलम् ॥६॥
संयोगो देहिनां देहैरक्षाणां च स्वगोचरैः । अनित्योऽन्यतराभावे सर्वेषामाजवंजवे ॥७॥
आहितान्यमता सन्तु देहिनो मोहिताशयाः । अहं [4]निहतमोहारिमाहात्म्यार्हत्क्रमाश्रयः ॥८॥
करवाणि कथंकारं मतिमेतेषु निश्चलाम् । इति मोहमहाग्रन्थिमुच्छिद्यास्योद्यता मतिः ॥९॥
ततः परीतदावाग्निशिखासंत्रासितैणवत् । चिरोषितां स संसारस्थलीं हातुं कृतोद्यमः ॥१०॥
सूनौ घनरथे राज्यं नियोज्यादाय संयमम् । एकादशाङ्गवाराशिपारगो बद्धतीर्थकृत् ॥११॥
प्रान्ते स्वाराधनां प्राप्य परित्यक्तशरीरकः । अभूत् पर्यन्तकल्पेन्द्रः पुष्पोत्तरविमानजः ॥१२॥
द्वाविंशत्यब्धिमानायुर्हस्तार्धत्रिधनुस्तनुः । शुक्ललेश्यः श्वसत्येकादशमासैस्तु संख्यया ॥१३॥

अथानन्तर जो अनन्त दोषोंको नष्ट करनेवाले हैं तथा अनन्त गुणोंकी खान-स्वरूप हैं ऐसे श्री अनन्तनाथ भगवान् हम सबके हृदयमें रहनेवाले मोहरूपी अन्धकारकी सन्तानको नष्ट करें॥१॥ धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व मेरुसे उत्तरकी ओर विद्यमान किसी देशमें एक अरिष्ट नामका बड़ा सुन्दर नगर है जो ऐसा जान पड़ता है मानो समस्त सम्पदाओंके रहनेका एक स्थान ही हो॥२॥ उस नगरका राजा पद्मरथ था, वह अपने गुणोंसे पद्मा–लक्ष्मीका स्थान था, उसने चिरकाल तक पृथिवीका पालन किया जिससे प्रजा परम प्रीतिको प्राप्त होती रही ॥३॥ जीवोंको सुख देनेवाली उत्तम रूप आदिकी सामग्री पुण्योदयसे प्राप्त होती है और राजा पद्मरथके वह पुण्यका उदय बहुत भारी तथा बाधारहित था ॥४॥ इसलिए इन्द्रियोंके विषयोंके सान्निध्यसे उत्पन्न होनेवाले सुखसे वह इन्द्रके समान सन्तुष्ट होता हुआ अच्छी तरह संसारके सुखका अनुभव करता था॥५॥ किसी एक दिन वह स्वयंप्रभ जिनेन्द्रके समीप गया। वहाँ उसने विनयके साथ उनकी स्तुति की और निर्मल धर्मका उपदेश सुना॥६॥ तदनन्तर वह चिन्तवन करने लगा कि 'जीवोंका शरीरके साथ और इन्द्रियोंका अपने विषयोंके साथ जो संयोग होता है वह अनित्य है क्योंकि इस संसारमें सभी जीवोंके आत्मा और शरीर तथा इन्द्रियाँ और उनके विषय इनमें-से एकका अभाव होता ही रहता है॥७॥ यदि अन्य मतावलम्बी लोगोंका आशय मोहित हो तो भले ही हो मैंने तो मोहरूपी शत्रुके माहात्म्यको नष्ट करनेवाले अर्हन्त भगवान्‌के चरण-कमलोंका आश्रय प्राप्त किया है। मैं इन विषयोंमें अपनी बुद्धि स्थिर कैसे कर सकता हूँ—इन विषयोंको नित्य किस प्रकार मान सकता हूँ' इस प्रकार इसकी बुद्धि मोहरूपी महागाँठको खोलकर उद्यम करने लगी ॥८-९॥ तदनन्तर जिस प्रकार चारों ओर लगी हुई वनाग्निकी ज्वालाओंसे भयभीत हुआ हरिण अपने बहुत पुराने रहनेके स्थानको छोड़नेका उद्यम करता है उसी प्रकार वह राजा भी चिरकालसे रहनेके स्थान-स्वरूप संसाररूपी स्थलीको छोड़नेका उद्यम करने लगा ॥१०॥ उसने घनरथ नामक पुत्रके लिए राज्य देकर संयम धारण कर लिया और ग्यारह अंगरूपी सागरका पारगामी होकर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया ॥११॥ अन्तमें सल्लेखना धारण कर शरीर छोड़ा और अच्युत स्वर्गके पुष्पोत्तर विमानमें इन्द्रपद प्राप्त किया ॥१२॥ वहाँ उसकी आयु बाईस सागर थी, शरीर साढ़े तीन हाथका था, शुक्ललेश्या थी, वह

---

१ सम्पदा ग०, घ० । २ पतिपद्मरथस्तस्य ग० । ३ संतृप्य क०, ग०, घ० । ४ विहत क०, घ० ।

सत्रयायनपक्षोक्तवर्षैराहारमाहरत् । सुखी मनःप्रवीचारात्तमसः प्रागतावधिः ॥१४॥
तत्प्रमाणबलस्तेजोविक्रियाभ्यां च तत्प्रमः । चिरं तत्र सुखं भुक्त्वा तस्मिन्नत्रागमिष्यति ॥१५॥
द्वीपेऽस्मिन् दक्षिणे भागे साकेतनगरेश्वरः । इक्ष्वाकुः काश्यपः सिंहसेनो नाम महानृपः ॥१६॥
जयश्यामा महादेवी तस्यास्या वेश्मनः पुरः । वसुधारां सुराः सारां मासषट्कमपीपतन् ॥१७॥
कार्तिके मासि रेवत्यां प्रभातेऽह्नि तदादिमे । निरीक्ष्य षोडश स्वप्नान् विशन्तं वाऽऽननं गजम् ॥१८॥
अवगम्य फलं तेषां भूभुजोऽवधिलोचनात् । गर्भस्थिताच्युतेन्द्रासौ परितोषमगात्परम् ॥१९॥
ततः स्वर्गावतरणकल्याणाभिषवं सुराः । संपाद्य वस्त्रमाल्योरुभूषणैस्तावपूजयन् ॥२०॥
सुखगर्भा जयश्यामा ज्येष्ठमास्यसिते सुतम् । द्वादश्यां [1]पूषयोगेऽसौ सपुण्यमुदपादयत् ॥२१॥
तदागत्य मरुन्मुख्या [2]मेरुशैलेऽभिषिच्य तम् । अनन्तजिनमन्वर्थनामानं विदधुर्मुदा ॥२२॥
नवाब्ध्युपमसंताने पल्यपादत्रये स्थिते । धर्मेऽतीतार्हतो ध्वस्ते तदभ्यन्तरजीवितः ॥२३॥
त्रिंशल्लक्षसमात्मायुः पञ्चाशच्चापसम्मितः । कनत्कनकसंकाशः सर्वलक्षणलक्षितः ॥२४॥
खचतुष्केन्द्रियद्व्यब्देष्वतीतेष्वभिषेचनम् । राज्यस्यालभताभ्यर्च्यस्स[3] नृखेशमरुद्वरैः ॥२५॥
खपञ्चकेन्द्रियैकोक्तवर्षे राज्यव्यतिक्रमे । कदाचिदुल्का[4]पतनहेतुनोत्पन्नबोधिकः ॥२६॥
अज्ञानबीजसंरूढामसंयममहीधृताम् । प्रमादवारिसंसिक्तां कषायस्कन्धयष्टिकाम् ॥२७॥
योगालम्बनसंवृद्धां तिर्यग्गतिपृथक्कृताम् । जराकुसुमसंछन्नां बह्वामयपलाशिकाम् ॥२८॥

ग्यारह माहमें एक बार श्वास लेता था, बाईस हजार वर्ष बाद आहार ग्रहण करता था, मानसिक प्रवीचारसे सुखी रहता था, तमःप्रभा नामक छठी पृथिवी तक उसका अवधिज्ञान था और वहींतक उसका बल, विक्रिया और तेज था। इस प्रकार चिरकाल तक सुख भोगकर वह इस मध्यम लोकमें आनेके लिए सम्मुख हुआ ॥१३–१५॥

उस समय इस जम्बूद्वीपके दक्षिण भरत क्षेत्रकी अयोध्या नगरीमें इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री महाराज सिंहसेन राज्य करते थे ॥१६॥ उनकी महारानीका नाम जयश्यामा था। देवोंने उसके घरके आगे छह माह तक रत्नोंकी श्रेष्ठ धारा बरसायी ॥१७॥ कार्तिक कृष्णा प्रतिपदाके दिन प्रातःकालके समय रेवती नक्षत्रमें उसने सोलह स्वप्न देखनेके बाद मुँहमें प्रवेश करता हुआ हाथी देखा ॥१८॥ अवधिज्ञानी राजासे उन स्वप्नोंका फल जाना। उसी समय वह अच्युतेन्द्र उसके गर्भमें आकर स्थित हुआ जिससे वह बहुत भारी सन्तोषको प्राप्त हुई ॥१९॥ तदनन्तर देवोंने गर्भकल्याणकका अभिषेक कर वस्त्र, माला और बड़े-बड़े आभूषणोंसे महाराज सिंहसेन और रानी जयश्यामाकी पूजा की ॥२०॥ जयश्यामाका गर्भ सुखसे बढ़ने लगा। नव माह व्यतीत होनेपर उसने ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशीके दिन पूषायोगमें पुण्यवान् पुत्र उत्पन्न किया ॥२१॥ उसी समय इन्द्रोंने आकर उस पुत्रका मेरु पर्वतपर अभिषेक किया और बड़े हर्षसे अनन्तजित् यह सार्थक नाम रखा ॥२२॥ श्रीविमलनाथ भगवान्के बाद नौ सागर और पौन पल्य बीत जानेपर तथा अन्तिम समय धर्मका विच्छेद हो जानेपर भगवान् अनन्त जिनेन्द्र उत्पन्न हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें शामिल थी ॥२३॥ उनकी आयु तीन लाख वर्षकी थी, शरीर पचास धनुष ऊँचा था, देदीप्यमान सुवर्णके समान रंग था और वे सब लक्षणोंसे सहित थे ॥२४॥ मनुष्य, विद्याधर और देवोंके द्वारा पूजनीय भगवान् अनन्तनाथने सात लाख पचास हजार वर्ष बीत जानेपर राज्याभिषेक प्राप्त किया था ॥२५॥ और जब राज्य करते हुए उन्हें पन्द्रह लाख वर्ष बीत गये तब किसी एक दिन उल्कापात देखकर उन्हें बोधिकी प्राप्ति हुई ॥२६॥ वे सोचने लगे कि यह दुष्कर्मरूपी बेल अज्ञानरूपी बीजसे उत्पन्न हुई है, असंयमरूपी पृथिवीके द्वारा धारण की हुई है, प्रमादरूपी जलसे सींची गयी है, कषाय ही इसकी स्कन्धयष्टि है—बड़ी मोटी शाखा है, योगके आलम्बनसे बढ़ी हुई है, तिर्यंच-

---

१ पुष्य- ल० । २ मुख्यशैले ख०, ग०, ल० । ३–भ्यर्च्यांस्स नृपेशमरुद्वरैः ख० ।–भ्यर्च्यं स नृपेशमनुद्वरैः ल० । ४–दुल्कापातेन ग० ।

दुःखदुःफलसन्नम्रां दुष्कर्मविषवल्लरीम् । शुक्लध्यानासिनामूलं चिच्छित्सुः स्वात्मसिद्धये ॥२९॥
लौकान्तिकैः समभ्येत्य प्रस्तुवद्भिः प्रपूजितः । अनन्तविजये राज्यं नियोज्य विजयी सुते ॥३०॥
सुरैस्तृतीयकल्याणपूजां प्राप्याधिरूढवान् । यानं सागरदत्ताख्यं सहेतुकवनान्तरे ॥३१॥
ज्येष्ठे षष्ठोपवासेन रेवत्यां द्वादशीदिने । सहस्रेणामिते राज्ञामदीक्षिष्टापराह्णके ॥३२॥
संप्राप्तोपान्त्यसंज्ञानः ससामायिकसंयमः । द्वितीयेऽह्नि स चर्यायै साकेतं समुपेयिवान् ॥३३॥
विशाखभूपतिस्तस्मै दत्त्वाऽन्नं कनकच्छविः । आश्चर्यपञ्चकं प्राप ज्ञापकं स्वर्गमोक्षयोः ॥३४॥
संवत्सरद्वये याते छाद्मस्थ्ये प्राक्तने वने । अश्वत्थपादपोपान्ते कैवल्यमुदपीपदत् ॥३५॥
चैत्रेऽमावास्यहःप्रान्ते रेवत्यां सुरसत्तमाः । तदैव तुर्यकल्याणपूजां च निरवर्तयन् ॥३६॥
जयाख्यमुख्यपञ्चाशद्गणभृद्बृंहितात्मवाक् । सहस्रपूर्वभृद्वन्द्यः खद्वयद्वयत्रिवादिराट् ॥३७॥
खद्वयेन्द्रियरन्ध्राग्निसंख्यालक्षितशिक्षकः । शून्यद्वयत्रिवार्ध्युक्ततृतीयज्ञानपूजितः ॥३८॥
शून्यत्रयेन्द्रियप्रोक्तकेवलावगमान्वितः । शून्यत्रयवसूद्दिष्टविक्रियर्द्धिविभूषितः ॥३९॥
शून्यत्रयेन्द्रियप्रोक्तमनःपर्ययबोधनः[1] । पिण्डीकृतोक्तषट्षष्टिसहस्रमुनिमानितः[2] ॥४०॥
सलक्षाष्टसहस्रोक्तसर्वश्र्याद्यार्यिकागणः । द्विलक्षश्रावकाभ्यर्च्यो द्विगुणश्राविकास्तुतः ॥४१॥
असंख्यदेवदेवीड्यस्तिर्यक्संख्यातसेवितः । इति द्वादशविख्यातभव्यवृन्दारकाग्रणीः ॥४२॥
सदसद्वादसद्भावमाविष्कुर्वन्ननन्तजित् । विहृत्य विश्रुतान् देशान् विनेयान्योजयन् पथि ॥४३॥
सम्मेदगिरिमासाद्य विहाय विहृतिं स्थितः । मासं शताधिकैः षड्भिः सहस्रैः मुनिभिः सह ॥४४॥

गतिके द्वारा फैली हुई है, वृद्धावस्थारूपी फूलोंसे ढकी हुई है, अनेक रोग ही इसके पत्ते हैं, और दुःखरूपी दुष्ट फलोंसे झुक रही है। मैं इस दुष्ट कर्मरूपी बेलको शुक्ल ध्यानरूपी तलवारके द्वारा आत्म-कल्याणके लिए जड़-मूलसे काटना चाहता हूँ॥२७-२९॥ ऐसा विचार करते ही स्तुति करते हुए लौकान्तिक देव आ पहुँचे। उन्होंने उनकी पूजा की, विजयी भगवान्‌ने अपने अनन्तविजय पुत्रके लिए राज्य दिया; देवोंने तृतीय—दीक्षा-कल्याणकी पूजा की, भगवान् सागरदत्त नामक पालकीपर सवार होकर सहेतुक वनमें गये और वहाँ बेलाका नियम लेकर ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशीके दिन सायंकालके समय एक हजार राजाओंके साथ दीक्षित हो गये॥३०-३२॥ जिन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हुआ है और जो सामायिक संयमसे सहित हैं ऐसे अनन्तनाथ दूसरे दिन चर्याके लिए साकेतपुरमें गये॥३३॥ वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले विशाख नामक राजाने उन्हें आहार देकर स्वर्ग तथा मोक्षकी सूचना देनेवाले पंचाश्चर्य प्राप्त किये॥३४॥ इस प्रकार तपश्चरण करते हुए जब छद्मस्थ अवस्थाके दो वर्ष बीत गये तब पूर्वोक्त सहेतुक वनमें अश्वत्थ—पीपल वृक्षके नीचे चैत्र कृष्ण अमावस्याके दिन सायंकालके समय रेवती नक्षत्रमें उन्होंने केवलज्ञान उत्पन्न किया। उसी समय देवोंने चतुर्थ कल्याणककी पूजा की॥३५-३६॥

जय आदि पचास गणधरोंके द्वारा उनकी दिव्य ध्वनिका विस्तार होता था, वे एक हजार पूर्वधारियोंके द्वारा वन्दनीय थे, तीन हजार दो सौ वाद करनेवाले मुनियोंके स्वामी थे, उनतालीस हजार पाँच सौ शिक्षक उनके साथ रहते थे, चार हजार तीन सौ अवधिज्ञानी उनकी पूजा करते थे, वे पाँच हजार केवलज्ञानियोंसे सहित थे, आठ हजार विक्रियाऋद्धिके धारकोंसे विभूषित थे, पाँच हजार मनःपर्ययज्ञानी उनके साथ रहते थे, इस प्रकार सब मिलाकर छयासठ हजार मुनि उनकी पूजा करते थे। सर्वश्रीको आदि लेकर एक लाख आठ हजार आर्यिकाओंका समूह उनके साथ था, दो लाख श्रावक उनकी पूजा करते थे और चार लाख श्राविकाएँ उनकी स्तुति करती थीं। वे असंख्यात देव-देवियोंके द्वारा स्तुत थे और संख्यात तिर्यंचोंसे सेवित थे। इस तरह बारह सभाओंमें विद्यमान भव्य समूहके अग्रणी थे॥३७-४२॥ पदार्थ कथंचित् सद्रूप है और कथंचित् असद्रूप है इस प्रकार विधि और निषेध पक्षके सद्भावको प्रकट करते हुए भगवान् अनन्तजित्‌ने प्रसिद्ध देशोंमें विहार कर भव्य जीवोंको सन्मार्गमें लगाया॥४३॥ अन्तमें सम्मेद शिखरपर जाकर उन्होंने

---

१ संयुतः क०, घ०। २ मानतः क०।

प्रतिमायोगधारी सन्नमावस्याप्रराञिभाक् । तुरीयध्यानयोगेन संप्रापत्परमं पदम् ॥४५॥
सद्यो [1]द्युसत्समूहोऽपि संप्राप्यान्त्येष्टिमादरात् । विधाय विधिवत्स्वौकः स्वर्लोकं सर्वतो ययौ ॥४६॥

मालिनी

कुनयघनतमोऽन्धं कुश्रुतोलूकविद्विट्
सुनयमयमयूखैः विश्वमाशु प्रकाश्य ।
प्रकटपरमदीप्तिर्बोधयन् भव्यपद्मान्
प्रदहतु स [2]जिनेनोऽनन्तजिद् दुष्कृतं वः ॥४७॥

वसन्ततिलका

प्राक्पालकः प्रथितपद्मरथः पृथिव्याः[4]
पश्चाद्विनिश्चितमतिस्तपसाच्युतेन्द्रः ।
तस्माच्च्युतोऽभवदनन्तजिदन्तकान्तो
यः सोऽवताद् द्रुतमनन्तभवान्तकाद् वः ॥४८॥

तत्रैव सुप्रभो रामः केशवः पुरुषोत्तमः । व्यावर्ण्यते भवैस्त्रिभिः त्रिपु वृत्तकमेतयोः ॥४९॥
एतस्मिन् भारते वर्षे पोदनाधिपतिः नृपः । वसुषेणो महादेवी तस्य नन्देत्यनिन्दिता ॥५०॥
देवी पञ्चशतेऽप्यस्यां स राजा प्रेमनिर्भरः । रेमे वसन्तमञ्जर्यां चञ्चरीक इवोत्सुकः ॥५१॥
मलयाधीश्वरो नाम्ना कदाचिच्चण्डशासनः । आजगाम नृपं द्रष्टुं तत्पुरं मित्रतां गत. ॥५२॥
नन्दासंदर्शनेनासौ मोहितः पापपाकवान् । आहृत्य तामुपायेन स्वदेशमगमत्कुधीः ॥५३॥
वसुषेणोऽप्यशक्तत्वात्तत्पराभवदुःखितः । चिन्तान्तकसमाकृष्यमाणप्राण. स्मृतेर्बलात् ॥५४॥

विहार करना छोड़ दिया और एक माहका योग निरोध कर छह हजार एक सौ मुनियोंके साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया। तथा चैत्र कृष्ण अमावास्याके दिन रात्रिके प्रथम भागमें चतुर्थ शुक्ल ध्यानके द्वारा परमपद प्राप्त किया ॥४४-४५॥ उसी समय देवोंके समूहने आकर बड़े आदरसे विधिपूर्वक अन्तिम संस्कार किया और यह सब क्रिया कर वे सब ओर अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥४६॥ जिन्होंने मिथ्यानयरूपी सघन अन्धकारसे भरे हुए समस्त लोकको सम्यक् नयरूपी किरणोंसे शीघ्र ही प्रकाशित कर दिया है, जो मिथ्या शास्त्ररूपी उल्लुओंसे द्वेष करनेवाले हैं, जिनकी उत्कृष्ट दीप्ति अत्यन्त प्रकाशमान है और जो भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेवाले हैं ऐसे श्री अनन्तजित् भगवान्‌रूपी सूर्य तुम सबके पापको जलावें ॥४७॥ जो पहले पद्मरथ नामके प्रसिद्ध राजा हुए, फिर तपके प्रभावसे निःशंक बुद्धिके धारक अच्युतेन्द्र हुए और फिर वहाँसे चयकर मरणको जीतनेवाले अनन्तजित् नामक जिनेन्द्र हुए वे अनन्त भवोंमें होनेवाले मरणसे तुम सबकी रक्षा करें ॥४८॥

अथानन्तर—इन्हीं अनन्तनाथके समयमें सुप्रभ बलभद्र और पुरुषोत्तम नामक नारायण हुए हैं इसलिए इन दोनोंके तीन भवोंका उत्कृष्ट चरित्र कहता हूँ ॥४९॥ इसी भरतक्षेत्रके पोदनपुर नगरमें राजा वसुषेण रहते थे। उनकी महारानीका नाम नन्दा था जो अतिशय प्रशंसनीय थी ॥५०॥ उस राजाके यद्यपि पाँच सौ स्त्रियाँ थीं तो भी वह नन्दाके ऊपर ही विशेष प्रेम करता था सो ठीक ही है क्योंकि वसन्त ऋतुमें अनेक फूल होनेपर भी भ्रमर आम्रमंजरीपर ही अधिक उत्सुक रहता है ॥५१॥ मलय देशका राजा चण्डशासन, राजा वसुषेणका मित्र था इसलिए वह किसी समय उसके दर्शन करनेके लिए पोदनपुर आया ॥५२॥ पापके उदयसे प्रेरित हुआ चण्डशासन नन्दाको देखनेसे उसपर मोहित हो गया अतः वह दुर्बुद्धि किसी उपायसे उसे हरकर अपने देश ले गया ॥५३॥ राजा वसुषेण असमर्थ था अतः उस पराभवसे बहुत दुःखी हुआ, चिन्तारूपी यमराज

---

१ दिवि स्वर्गे सीदन्तीति द्युसदस्तेषां समूहः देवसमूहः । २ जिनसूर्यः । ३ तत् क०, ख० । ४ पृथिव्यां ल०, ख० ।

श्रेयोगणधरं प्राप्य प्रव्रज्यां प्रतिपद्य सः । सिंहनिःक्रीडिताद्युग्रं तपस्तप्त्वा महाबलः ॥ ५५ ॥
यदि विद्येत चर्यायाः फलमन्यत्र जन्मनि । अलङ्घ्यशासनः कान्तो भवामीत्यकरोन्मतिम् ॥ ५६ ॥
ततो विहितसंन्यासः सहस्रारं जगाम सः । अष्टादशसमुद्रायुर्द्वादशं कल्पमुत्तमम् ॥ ५७ ॥
अथ जम्बूमति द्वीपे प्राग्विदेहे महर्द्धिके । नन्दनाख्ये पुरे प्राभून्नराधीशो महाबलः ॥ ५८ ॥
प्रजानां पालको भोक्ता सुखानामतिधार्मिकः । श्रीमान् दिक्प्रान्तविश्रान्तकीर्तिरार्तिहरोऽर्थिनाम् ॥५९॥
स कदाचिच्छरीरादियाथात्म्यावगमोदयात् । विरक्तस्तेषु निर्वाणपदवीप्रापणोत्सुकः ॥ ६० ॥
दत्त्वा राज्यं स्वपुत्राय प्रजापालार्हदन्तिके । गृहीतसंयमः सिंहनिःक्रीडिततपः श्रितः ॥ ६१ ॥
संन्यस्यन्ति सहस्रारं प्राप्याष्टादशसागरः । स्थितिं भोगांश्चिरं भुक्त्वा तदन्ते शान्तमानसः ॥ ६२ ॥
अथेह भारते द्वारवत्यां सोमप्रभप्रभोः । जयवत्यामभूत्सूनुः सुरूपः सुप्रभाह्वयः ॥ ६३ ॥
महायतिः समुत्तुङ्गः सुरविद्याधराश्रयः । श्वेतिमानं दधत् सोऽभाद् विजयार्द्ध इवापरः ॥ ६४ ॥
कलङ्कविकलः कान्तः संततं सर्वचित्तहृत् । पद्मानन्दविधायीत्थमतिशेते विधुं च सः ॥ ६५ ॥
तस्यैव सुषेणाख्यः सीतायां पुरुषोत्तमः । तोकोऽजनि जनानन्दविधायी विविधैर्गुणैः ॥ ६६ ॥

उसके प्राण खींच रहा था परन्तु उसे शास्त्रज्ञानका बल था अतः वह शान्त होकर श्रेय नामक गणधरके पास जाकर दीक्षित हो गया। उस महाबलवान्ने सिंहनिष्क्रीडित आदि कठिन तप कर यह निदान किया कि यदि मेरी इस तपश्चर्याका कुछ फल हो तो मैं अन्य जन्ममें ऐसा राजा होऊँ कि जिसकी आज्ञाका कोई भी उल्लंघन न कर सके ॥५४-५६॥ तदनन्तर संन्यास मरण कर वह सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग गया। वहाँ अठारह सागरकी उसकी आयु थी ॥५७॥

अथानन्तर जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें एक सम्पत्तिसम्पन्न नन्दन नामका नगर है। उसमें महाबल नामका राजा राज्य करता था। वह प्रजाको रक्षा करता हुआ सुखोंका उपभोग करता था, अत्यन्त धर्मात्मा था, श्रीमान् था, उसकी कीर्ति दिशाओंके अन्त तक फैली थी, और वह याचकोंकी पीड़ा दूर करनेवाला था—बहुत दानी था ॥५८-५९॥ एक दिन उसे शरीरादि वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपका बोध हो गया जिससे वह उनसे विरक्त होकर मोक्ष प्राप्त करनेके लिए उत्सुक हो गया ॥६०॥ उसने अपने पुत्रके लिए राज्य दिया और प्रजापाल नामक अर्हन्तके समीप संयम धारण कर सिंहनिष्क्रीडित नामका तप किया ॥६१॥ अन्तमें संन्यास धारण कर अठारह सागरकी स्थितिवाले सहस्रार स्वर्गमें उत्पन्न हुआ। वहाँ चिरकाल तक भोग भोगता रहा। जब अन्तिम समय आया तब शान्तचित्त होकर मरा ॥६२॥ और इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रकी द्वारवती नगरके स्वामी राजा सोमप्रभकी रानी जयवन्तीके सुप्रभ नामका सुन्दर पुत्र हुआ ॥६३॥ वह सुप्रभ दूसरे विजयार्धके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार विजयार्ध महायति—बहुत लम्बा है उसी प्रकार सुप्रभ भी महायति—उत्तम भविष्यसे सहित था, जिस प्रकार विजयार्ध समुत्तुंग—ऊँचा है उसी प्रकार सुप्रभ भी समुत्तुंग—उदार प्रकृतिका था, जिस प्रकार विजयार्ध देव और विद्याधरोंका आश्रय—आधार—रहनेका स्थान है उसी प्रकार सुप्रभ भी देव और विद्याधरोंका आश्रय—रक्षक था और जिस प्रकार विजयार्ध श्वेतिमा—शुक्लवर्णको धारण करता है उसी प्रकार सुप्रभ भी श्वेतिमा—शुक्लवर्ण अथवा कीर्तिसम्बन्धी शुक्लताको धारण करता था ॥६४॥ यही नहीं, वह सुप्रभ चन्द्रमाको भी पराजित करता था क्योंकि चन्द्रमा कलंकसहित है परन्तु सुप्रभ कलंकरहित था, चन्द्रमा केवल रात्रिके समय ही कान्त—सुन्दर दिखता है परन्तु सुप्रभ रात्रिदिन सदा ही सुन्दर दिखता था, चन्द्रमा सबके चित्तको हरण नहीं करता—चकवा आदिको प्रिय नहीं लगता परन्तु सुप्रभ सबके चित्तको हरण करता था—सर्वप्रिय था, और चन्द्रमा पद्मानन्दविधायी नहीं है—कमलोंको विकसित नहीं करता परन्तु सुप्रभ पद्मानन्दविधायी था—लक्ष्मीको आनन्दित करनेवाला था ॥६५॥ उसी राजाकी सीता नामकी रानीके वसुषेणका जीव पुरुषोत्तम नामका पुत्र

---

१ महाबलः ल० ।

सेव्यस्तेजस्विभिः सर्वैरविलङ्घ्यमहोन्नतिः । महारत्नसमुद्भासी सुमेरुरिव सुन्दरः ॥ ६७ ॥
शुक्लकृष्णत्विषौ लोकव्यवहारप्रवर्तकौ । पक्षाविव विभातः स्म शुभ्रौ तौ रामकेशवौ ॥ ६८ ॥
पञ्चाशद्धनुरुच्छ्रायौ त्रिंशल्लक्षसमायुषौ । समं समसुखौ कालं समजीगमतां चिरम् ॥ ६९ ॥
अथ भ्रान्त्वा भवे दीर्घं प्राक्तनश्चण्डशासनः । चण्डांशुरिव चण्डोऽभूद्दण्डिताराति‌मण्डलः ॥ ७० ॥
काशिदेशे नृपो वाराणसीनगरनायकः । मधुसूदनशब्दाख्यो विख्यातबलविक्रमः ॥ ७१ ॥
तौ तदोदयिनौ श्रुत्वा नारदादसहिष्णुकः । तव मे प्रेषय प्रार्थ्यगजरत्नादिकं करम् ॥ ७२ ॥
तदाकर्णनकालान्तवातोद्धूतमनोऽम्बुधिः । युगान्तान्तकदुष्प्रेक्ष्यश्चुक्रोध पुरुषोत्तमः ॥ ७३ ॥
सुप्रभोऽपि प्रभाजालं विकिरन् दिक्षु चक्षुषोः । ज्वालावलिमिव क्रोधपावकार्चिस्तताशयः ॥ ७४ ॥
न ज्ञातः कः करो नाम किं करो येन भुज्यते । तं दास्यामः स्फुरत्खड्गं शिरसाऽसौ प्रतीच्छतु ॥ ७५ ॥
एतु गृह्णातु को दोष इत्याविष्कृततेजसौ । उभाववोचतामुच्चैर्नारदं परुषोक्तिभिः ॥ ७६ ॥
ततस्तदवगम्यायात् संक्रुद्धो मधुसूदनः । हन्तुं तौ तौ च हन्तुं तं रोषादगमतां प्रति ॥ ७७ ॥
सेनयोरुभयोरासीत्संग्रामः संहरन्निव । सर्वानहंस्तदारिस्तं चक्रेण पुरुषोत्तमः ॥ ७८ ॥

हुआ जो कि अनेक गुणोंसे मनुष्योंको आनन्दित करनेवाला था ॥६६॥ वह पुरुषोत्तम सुमेरु पर्वतके समान सुन्दर था क्योंकि जिस प्रकार सुमेरु पर्वत समस्त तेजस्वियों—सूर्य, चन्द्रमा आदि देवोंके द्वारा सेव्यमान है उसी प्रकार पुरुषोत्तम भी समस्त तेजस्वियों—प्रतापी मनुष्योंके द्वारा सेव्यमान था, जिस प्रकार सुमेरु पर्वतकी महोन्नति—भारी ऊँचाईका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता उसी प्रकार पुरुषोत्तमकी महोन्नति—भारी श्रेष्ठता अथवा उदारताका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता और जिस प्रकार सुमेरु पर्वत महारत्नों—बड़े-बड़े रत्नोंसे सुशोभित है उसी प्रकार पुरुषोत्तम भी महारत्नों—बहुमूल्य रत्नों अथवा श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुशोभित था ॥६७॥ वे बलभद्र और नारायण क्रमशः शुक्ल और कृष्ण कान्तिके धारक थे, तथा समस्त लोक-व्यवहारके प्रवर्तक थे अतः शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षके समान सुशोभित होते थे ॥६८॥ उन दोनोंका पचास धनुष ऊँचा शरीर था, तीस लाख वर्षकी दोनोंकी आयु थी और एक समान दोनोंको सुख था अतः साथ-ही-साथ सुखोपभोग करते हुए उन्होंने बहुत-सा समय बिता दिया ॥६९॥

अथानन्तर—पहले जिस चण्डशासनका वर्णन कर आये हैं वह अनेक भवोंमें घूमकर काशी देशकी वाराणसी नगरीका स्वामी मधुसूदन नामका राजा हुआ। वह सूर्यके समान अत्यन्त तेजस्वी था, उसने समस्त शत्रुओंके समूहको दण्डित कर दिया था तथा उसका बल और पराक्रम बहुत ही प्रसिद्ध था ॥७०-७१॥ नारदसे उस असहिष्णुने उन बलभद्र और नारायणका वैभव सुनकर उसके पास खबर भेजी कि तुम मेरे लिए हाथी तथा रत्न आदि कर-स्वरूप भेजो ॥७२॥ उसकी खबर सुनकर पुरुषोत्तमका मनरूपी समुद्र ऐसा क्षुभित हो गया मानो प्रलय-कालकी वायुसे ही क्षुभित हो उठा हो, वह प्रलय कालके यमराजके समान दुष्प्रेक्ष्य हो गया और अत्यन्त क्रोध करने लगा ॥७३॥ बलभद्र सुप्रभ भी दिशाओंमें अपने नेत्रोंकी लाल-लाल कान्तिको इस प्रकार बिखेरने लगा मानो क्रोधरूपी अग्निकी ज्वालाओंके समूहको ही बिखेर रहा हो ॥७४॥ वह कहने लगा—'मैं नहीं जानता कि कर क्या कहलाता है ? क्या हाथको कर कहते हैं ? जिससे कि खाया जाता है। अच्छा तो मैं जिसमें तलवार चमक रही है ऐसा कर—हाथ दूँगा वह सिरसे उसे स्वीकार करे ॥७५॥ वह आवे और कल ले जावे इसमें क्या हानि है ?' इस प्रकार तेज प्रकट करनेवाले दोनों भाइयोंने कटुक शब्दोंके द्वारा नारदको उच्च स्वरसे उत्तर दिया ॥७६॥ तदनन्तर यह समाचार सुनकर मधुसूदन बहुत ही कुपित हुआ और उन दोनों भाइयोंको मारनेके लिए चला तथा वे दोनों भाई भी क्रोधसे उसे मारनेके लिए चले ॥७७॥ दोनों सेनाओंका ऐसा संग्राम हुआ मानो सबका संहार ही करना चाहता हो। शत्रु—मधुसूदनने पुरुषोत्तमके ऊपर चक्र चलाया परन्तु वह चक्र पुरुषोत्तमका कुछ नहीं बिगाड़ सका। अन्तमें पुरुषोत्तमने उसी चक्रसे मधुसूदनको

त्रिखण्डाधिपतित्वं तौ चतुर्थौ रामकेशवौ । ज्योतिर्लोकाधिनाथत्वमन्वभूतामिवेन्दिनौ[1] ॥७९॥
केशवो जीवितान्तेऽगादवधिस्थानमायुषाम्[2] । सुप्रभस्तद्वियोगोत्थशोकानलसमन्वितः ॥८०॥
प्रबोधितः प्रसन्नात्मा सोमप्रभजिनेशिना । दीक्षित्वा श्रेणिमारुह्य स मोक्षमगमत्सुधीः ॥८१॥

वसन्ततिलका

संभूय पोदनपुरे वसुषेणनामा कृत्वा तपः सुरवरोऽजनि शुक्ललेश्यः ।
तस्माच्च्युतोऽर्द्धभरताधिपतिर्हतारिः प्रापान्तिमां क्षितिमधः पुरुषोत्तमाख्यः ॥८२॥

वियोगिनी

मलयाधिपचण्डशासनो नृपतिः[3] पापमतिर्भ्रमंश्चिरम् ।
भववारिनिधावभूदधः खलु गन्ता मधुसूदनाभिधः ॥८३॥

वंशस्थवृत्तम्

महाबलाख्यः पुरि नन्दने नृपः महातपा द्वादशकल्पजः सुरः ।
पुनर्बलः सुप्रभसंज्ञयाऽगमत् परं पदं प्रास्तसमस्तसङ्गकः ॥८४॥

आर्या

साम्राज्यस्य सौख्यं सुप्रभपुरुषोत्तमौ समं भुक्त्वा ।
प्रथमो निर्वाणमगादपरोऽधो वृत्तिवैचित्र्यम् ॥८५॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे अनन्ततीर्थंकर–सुप्रभपुरुषोत्तम-
मधुसूदनपुराणं समाप्तं षष्टितमं पर्व ॥६०॥

■

मार डाला ॥७८॥ दोनों भाई चौथे बलभद्र और नारायण हुए तथा तीन खण्डके आधिपत्यका इस प्रकार अनुभव करने लगे जिस प्रकार कि सूर्य और चन्द्रमा ज्योतिर्लोकके आधिपत्यका अनुभव करते हैं ॥७९॥ आयुके अन्तमें पुरुषोत्तम नारायण छठे नरक गया और सुप्रभ बलभद्र उसके वियोगसे उत्पन्न शोकरूपी अग्निसे बहुत ही सन्तप्त हुआ ॥८०॥ सोमप्रभ जिनेन्द्रने उसे समझाया जिससे प्रसन्नचित्त होकर उसने दीक्षा ले ली और अन्तमें क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ होकर उस बुद्धिमान्‌ने मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥८१॥

पुरुषोत्तम पहले पोदनपुर नगरमें वसुषेण नामका राजा हुआ, फिर तप कर शुक्ललेश्याका धारक देव हुआ, फिर वहाँसे चयकर अर्धभरतक्षेत्रका स्वामी, तथा शत्रुओंका नष्ट करनेवाला पुरुषोत्तम नामका नारायण हुआ एवं उसके बाद अधोलोकमें सातवीं पृथिवीमें उत्पन्न हुआ ॥८२॥ मलयदेशका अधिपति पापी राजा चण्डशासन चिरकाल तक भ्रमण करता हुआ मधुसूदन हुआ और तदनन्तर संसाररूपी सागरके अधोभागमें निमग्न हुआ ॥८३॥ सुप्रभ पहले नन्दन नामक नगरमें महाबल नामका राजा था फिर महान् तप कर बारहवें स्वर्गमें देव हुआ, तदनन्तर सुप्रभ नामका बलभद्र हुआ और समस्त परिग्रह छोड़कर उसी भवसे परमपदको प्राप्त हुआ ॥८४॥ देखो, सुप्रभ और पुरुषोत्तम एक ही साथ साम्राज्यके श्रेष्ठ सुखोंका उपभोग करते थे परन्तु उनमेंसे ये पहला—सुप्रभ तो मोक्ष गया और दूसरा—पुरुषोत्तम नरक गया, यह सब अपनी वृत्ति-प्रवृत्तिकी विचित्रता है ॥८५॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें अनन्तनाथ तीर्थंकर, सुप्रभ बलभद्र, पुरुषोत्तम नारायण और मधुसूदन प्रति-नारायणके पुराणका वर्णन करनेवाला साठवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

■

---

१ चन्द्रसूर्यौ । २ -मायुषा ल० । ३ नृपतिं ल० ।

धर्मे यस्मिन् समुद्भूता धर्मा दश सुनिर्मलाः । स धर्मः शर्म मे दद्यादधर्ममपहृत्य नः ॥१॥
धातकीखण्डप्राग्भागे प्राग्विदेहे सरित्तटे । दक्षिणे वत्सविषये सुसीमानगरं महत् ॥२॥
पतिर्दशरथस्तस्य प्रज्ञाविक्रमदैववान् । स्ववशीकृतसर्वारिः निर्व्यायामः समे स्थितः ॥३॥
सुखानि धर्मसाराणि प्रजापालनलालसः । बन्धुभिश्च सुहृद्भिश्च सह विश्रब्धमन्वभूत् ॥४॥
माधवे शुक्लपक्षान्ते संप्रवृत्तमहोत्सवे । चन्द्रोपरागमालोक्य सद्यो निर्विण्णमानसः ॥५॥
कान्तः कुवलयाह्लादी कलाभिः परिपूर्णवान् । ईदृशस्यापि चेदीदृगवस्थाऽन्यस्य का गतिः ॥६॥
इति मत्वा सुते राज्यभारं कृत्वा महारथे । नैःसंग्याल्लाघवोपेतमङ्गीकृत्य स संयमम् ॥७॥
एकादशाङ्गधारी सन् भावितद्व्यष्टकारणः । निबद्धतीर्थकृत्पुण्यः स्वाराध्यान्ते विशुद्धधीः ॥८॥
त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायुः एकहस्ततनूच्छ्रितिः । पञ्चरन्ध्रचतुर्मानदिनैरुच्छ्वासवान् मनाक् ॥९॥
लोकनाड्यन्तरव्यापिविमलावधिबोधनः । तत्क्षेत्रविक्रियातेजोबलसंपत्समन्वितः ॥१०॥
त्रिसहस्राधिकत्रिंशत्सहस्राब्दैः समाहरन् । मुहूर्ते मानसाहारं शुक्ललेश्याद्वयश्चिरम् ॥११॥
सर्वार्थसिद्धौ सत्सौख्यं निःप्रवीचारमन्वभूत् । ततो नृलोकमेतस्मिन् पुण्यभाज्यागमिष्यति ॥१२॥
द्वीपेऽस्मिन्भारते रत्नपुराधीशो महीपतेः । कुरुवंशस्य गोत्रेण काश्यपस्य महौजसः ॥१३॥
देव्या भानुमहाराजसंज्ञस्य विपुलश्रियः । सुप्रभायाः सुरानीतवसुधारादिसंपदः ॥१४॥

जिन धर्मनाथ भगवान्से अत्यन्त निर्मल उत्तमक्षमा आदि दश धर्म उत्पन्न हुए वे धर्मनाथ भगवान् हम लोगोंका अधर्म दूर कर हमारे लिए सुख प्रदान करें ॥१॥ पूर्व धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें नदीके दक्षिण तटपर एक वत्स नामका देश है। उसमें सुसीमा नामका महानगर है ॥२॥ वहाँ राजा दशरथ राज्य करता था, वह बुद्धि, बल और भाग्य तीनोंसे सहित था। चूँकि उसने समस्त शत्रु अपने वश कर लिये थे इसलिए युद्ध आदिके उद्योगसे रहित होकर वह शान्तिसे रहता था ॥३॥ प्रजाकी रक्षा करनेमें सदा उसकी इच्छा रहती थी और वह बन्धुओं तथा मित्रोंके साथ निश्चिन्ततापूर्वक धर्म-प्रधान सुखोंका उपभोग करता था ॥४॥ एक बार वैशाख शुक्ल पूर्णिमाके दिन सब लोग उत्सव मना रहे थे उसी समय चन्द्र-ग्रहण पड़ा उसे देखकर राजा दशरथका मन भोगोंसे एकदम उदास हो गया ॥५॥ यह चन्द्रमा सुन्दर है, कुवलयों—नीलकमलों (पक्षमें–महीमण्डल) को आनन्दित करनेवाला है और कलाओंसे परिपूर्ण है। जब इसकी भी ऐसी अवस्था हुई है तब अन्य पुरुषकी क्या अवस्था होगी ॥६॥ ऐसा मानकर उसने महारथ नामक पुत्रके लिए राज्यभार सौंपा और स्वयं परिग्रहरहित होनेसे भारहीन होकर संयम धारण कर लिया ॥७॥ उसने ग्यारह अंगोंका अध्ययन कर सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन किया, तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिका बन्ध किया और आयुके अन्तमें समाधिमरण कर अपनी बुद्धिको निर्मल बनाया ॥८॥ अब वह सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ, तैंतीस सागर उसकी स्थिति थी, एक हाथ ऊँचा उसका शरीर था, चार सौ निन्यानवें दिन अथवा साढ़े सोलह माहमें एक बार कुछ श्वास लेता था ॥९॥ लोक नाड़ीके अन्त तक उसके निर्मल अवधिज्ञानका विषय था, उतनी ही दूर तक फैलनेवाली विक्रिया तेज तथा बलरूप सम्पत्तिसे सहित था ॥१०॥ तीस हजार वर्षमें एक बार मानसिक आहार लेता था, द्रव्य और भावसम्बन्धी दोनों शुक्ललेश्याओंसे युक्त था ॥११॥ इस प्रकार वह सर्वार्थसिद्धिमें प्रवीचार रहित उत्तम सुखका अनुभव करता था। वह पुण्यशाली जब वहाँसे चयकर मनुष्य लोकमें जन्म लेनेके लिए तत्पर हुआ ॥१२॥ तब इस जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें एक रत्नपुर नामका नगर था उसमें कुरुवंशी काश्यपगोत्री महातेजस्वी और महालक्ष्मीसम्पन्न महाराज भानु राज्य करते थे। उनकी महादेवीका नाम सुप्रभा था, देवोंने रत्नवृष्टि आदि सम्पदाओंके द्वारा उसका सम्मान

सितपक्षत्रयोदश्यां वैशाखे रेवतीविधौ । निशान्ते षोडशस्वप्नाः समभूवन् इमोः स्फुटाः ॥१५॥
सा [1]प्रबुध्य फलान्यासमपतेरवधिलोचनात् । तेषां विज्ञाय संभूतसुतेवाप्तेस्मसम्मदम् ॥१६॥
तदैवानुत्तरादन्त्यादस्या गर्भेऽभवद्विभुः । सुरेन्द्राश्च [?]कल्याणमकुर्वन्[2] समागताः ॥१७॥
धवले नवमासान्ते पुष्ययोगे त्रयोदशी । दिने माघे सुतं मासे साऽसूतावधिलोचनम् ॥१८॥
तदैवानिमिषाधीशाः शक्रं नीत्वाऽमरभूधरे । क्षीराब्धिवारिभिर्भूरिकार्तस्वरघटोद्धृतैः ॥१९॥
अभिषिच्य विभूष्योच्चैर्धर्माख्यमगदन्मुदा । सर्वभूतहितश्रीमत्सद्धर्मपथदेशनात् ॥२०॥
अनन्तजिनसंताने चतुःसागरसंमिते । काले पर्यन्तपल्यार्द्धे धर्मेऽस्तमीयुषि ॥२१॥
तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्धर्मनामोदपादि सः । दशलक्षसमाजीवी तप्तकाञ्चनसच्छविः ॥२२॥
खाष्टैकहस्तसद्देहो [3]वयः कौमारमुद्वहन् । सार्द्धकद्वयादन्ते लब्धराज्यमहोदयः ॥२३॥
तुङ्गत्वादतिशुद्धत्वात्प्रेक्ष्यत्वात्स्वाश्रयात्ततः । अशेषपोषकत्वाच्च मेघान्तजलदोपमः ॥२४॥
भद्रत्वाद् बहुदानत्वात्सौलक्षण्यान्महत्त्वतः । सुकरत्वात्सुरंभत्वादपरो वा गजोत्तमः ॥२५॥
निग्रहानुग्रहौ तस्य न द्वेषेच्छाप्रवर्तितौ । गुणदोषकृतौ तस्मान्निगृह्णन्नपि पूज्यते ॥२६॥
कीर्तिस्तस्य लता सत्यं नो चेद्विश्वविसर्पिणी । कथं कविवचोवारिसेकादद्यापि वर्द्धते ॥२७॥
धरित्री सुखसंभोग्या तस्य स्वगुणरञ्जिता । नाधिकेवोत्तमा काममभीष्टफलदायिनी ॥२८॥

बढ़ाया था। रानी सुप्रभाने वैशाख शुक्ल त्रयोदशीके दिन रेवती नक्षत्रमें प्रातःकालके समय सोलह स्वप्न देखे ॥१३–१५॥ जागकर उसने अपने अवधिज्ञानी पतिसे उन स्वप्नोंका फल मालूम किया और ऐसा हर्षका अनुभव किया मानो पुत्र ही उत्पन्न हो गया हो ॥१६॥ उसी समय अन्तिम अनुत्तर-विमानसे—सर्वार्थसिद्धिसे चयकर वह अहमिन्द्र रानीके गर्भमें अवतीर्ण हुआ। इन्द्रोंने आकर गर्भकल्याणकका उत्सव किया ॥१७॥ नव माह बीत जानेपर माघ शुक्ला त्रयोदशीके दिन गुरुयोग (पुष्य नक्षत्र) में उसने अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंके धारक पुत्रको उत्पन्न किया ॥१८॥ उसी समय इन्द्रोंने सुमेरु पर्वतपर ले जाकर बहुत भारी सुवर्ण-कलशोंमें भरे हुए क्षीरसागरके जलसे उनका अभिषेक कर आभूषण पहनाये तथा हर्षसे धर्मनाथ नाम रखा ॥१९॥ जब अनन्तनाथ भगवान्‌के बाद चार सागर प्रमाण काल बीत चुका और अन्तिम पल्यका आधा भाग जब धर्मरहित हो गया तब धर्मनाथ भगवान्‌का जन्म हुआ था, उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें शामिल थी। उनकी आयु दशलाख वर्षकी थी, शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान थी, शरीरकी ऊँचाई एक सौ अस्सी हाथ थी। जब उनके कुमारकालके अढ़ाई लाख वर्ष बीत गये तब उन्हें राज्यका अभ्युदय प्राप्त हुआ था ॥२०–॥२३॥ वे अत्यन्त ऊँचे थे, अत्यन्त शुद्ध थे, दर्शनीय थे, उत्तम आश्रय देनेवाले थे, और सबका पोषण करनेवाले थे अतः शरदृऋतुके मेघके समान थे ॥२४॥ अथवा किसी उत्तम हाथीके समान थे क्योंकि जिस प्रकार उत्तम हाथी भद्र जातिका होता है उसी प्रकार वे भी भद्र प्रकृति थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार बहु दान—बहुत मदसे युक्त होता है उसी प्रकार वे भी बहु दान—बहुत दानसे युक्त थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार सुलक्षण—अच्छे-अच्छे लक्षणोंसे सहित होता है उसी प्रकार वे भी सुलक्षण—अच्छे सामुद्रिक चिह्नोंसे सहित थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार महान् होता है उसी प्रकार वे भी महान्—श्रेष्ठ थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार सुकर—उत्तम सूँड़से सहित होता है उसी प्रकार वे भी सुकर—उत्तम हाथोंसे सहित थे, और उत्तम हाथी जिस प्रकार सुरेभ—उत्तम शब्दसे सहित होता है उसी प्रकार वे भी सुरेभ उत्तम-मधुर शब्दोंसे सहित थे ॥२५॥ वे दुर्जनोंका निग्रह और सज्जनोंका अनुग्रह करते थे सो द्वेष अथवा इच्छाके वश नहीं करते थे किन्तु गुण और दोषकी अपेक्षा करते थे अतः निग्रह करते हुए भी वे प्रजाके पूज्य थे ॥२६॥ उनकी समस्त संसारमें फैलनेवाली कीर्ति यदि लता नहीं थी तो वह कवियोंके प्रवचनरूपी जलके सेकसे आज भी क्यों बढ़ रही है ॥२७॥ सुखसे सम्भोग करने योग्य तथा अपने गुणोंसे अनुरक्त पृथिवी उनके

---

१ प्रबुध्या ल० । २–मकुर्वन्त ल० । ३ स्वयं ल० । वयं क०, ख०, ग० ।

धर्मादस्मादवाप्स्यन्ति कर्मारातिनिबर्हणात् । शर्म चेन्निर्मलं भव्याः शर्मास्य किमु वर्ण्यते ॥२९॥
पञ्चलक्षसमाराज्यकालेऽतीते कदाप्यसौ । उल्कापातसमुद्भूतवैराग्यादित्यचिन्तयत् ॥३०॥
कथं क्व कस्माज्जातो मे [1]किम्मयः कस्य [2]भाजनम् । किं भविष्यति कायोऽयमिति चिन्तामकुर्वता ॥३१॥
दुर्विदग्धेन मांगत्यमनेन सुचिरं कृतम् । अश्नता दुःखमावर्ज्यं पापं पापविपाकतः ॥३२॥
दुःखमेव सुखं मत्वा दुर्मतिः कर्मचोदितः । शर्म शाश्वतमप्राप्य भ्रान्तोऽहं जन्मसंततौ ॥३३॥
बोधादयो गुणाः स्वेऽमी ममैतदविकल्पयन् । रागादिकान् गुणान्मत्वा धिग्मां मतिविपर्यात् ॥३४॥
स्नेहमोहग्रहग्रस्तो मुहुर्बन्धुधनान्वकम्[3] । पोषयन्नर्जयन्पापसंचयाद् दुर्गतीर्गतः ॥३५॥
एवमेनं स्वयं बुद्धं मत्वा लौकान्तिकाः सुराः । तुष्टुवुर्निष्ठितार्थस्त्वं देवाद्येत्यातिभक्तिकाः ॥३६॥
सुधर्मनाम्नि स ज्येष्ठे पुत्रे निहितराज्यकः । [4]प्राप्तनिष्क्रमणारम्भकल्याणाभिषवोत्सवः[5] ॥३७॥
शिबिकां नागदत्ताख्यामारुह्य सुरसत्तमैः । सह शालवनोद्यानं गत्वा षष्ठोपवासवान् ॥३८॥
माघज्योत्स्नात्रयोदश्यामपराह्णे नृपैः [6]समम् । सहस्रेण स पुष्यर्क्षे दीक्षां मौक्षीं समग्रहीत् ॥३९॥
चतुर्थज्ञानसंपन्नो द्वितीयेऽह्न्यविशत्पुरीम् । भोक्तुं पाटलिपुत्राख्यां समुद्बद्धपताकिकाम् ॥४०॥
[7]धन्यषेणमहीपालो दत्त्वाऽस्मै कनकद्युतिः । दानमुत्तमपात्राय प्रापदाश्चर्यपञ्चकम् ॥४१॥
तथैकवर्षच्छाद्मस्थकालेऽतीते पुरातने । वने सप्तच्छदस्याधः कृतषष्ठोपवासकः ॥४२॥
पूर्णमास्यां च पुष्यर्क्षे सायाह्ने प्राप केवलम् । भासमाद च सत्पूजां तुर्यकल्याणसूचिनीम् ॥४३॥

लिए उत्तम नायिकाके समान इच्छानुसार फल देनेवाली थी ॥२८॥ जब अन्य भव्य जीव इन धर्मनाथ भगवान्‌के प्रभावसे अपने कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट कर निर्मल सुख प्राप्त करेंगे तब इनके सुखका वर्णन कैसे किया जा सकता है ? ॥२९॥

जब पाँच लाख वर्ष प्रमाण राज्यकाल बीत गया तब किसी एक दिन उल्कापात देखनेसे इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। विरक्त होकर वे इस प्रकार चिन्तवन करने लगे—'मेरा यह शरीर कैसे, कहाँ और किससे उत्पन्न हुआ है ? क्रियात्मक है, किसका पात्र है और आगे चलकर क्या होगा' ऐसा विचार न कर मुझ मूर्खने इसके साथ चिरकाल तक संगति की। पापका संचय कर उसके उदयसे मैं आज तक दुःख भोगता रहा। कर्मसे प्रेरित हुए मुझ दुर्मतिने दुःखको ही सुख मानकर कभी शाश्वत-स्थायी सुख प्राप्त नहीं किया। मैं व्यर्थ ही अनेक भवोंमें भ्रमण कर थक गया। ये ज्ञान दर्शन आदि मेरे गुण हैं यह मैंने कल्पना भी नहीं की किन्तु इसके विरुद्ध बुद्धिके विपरीत होनेसे रागादिको अपना गुण मानता रहा। स्नेह तथा मोहरूपी ग्रहोंसे ग्रसा हुआ यह प्राणी बार-बार परिवारके लोगों तथा धनका पोषण करता हुआ पाप उपार्जन करता है और पापके संचयसे अनेक दुर्गतियोंमें भटकता है'। इस प्रकार भगवान्‌को स्वयं बुद्ध जानकर लौकान्तिक देव आये और बड़ी भक्तिके साथ इस प्रकार स्तुति करने लगे कि हे देव ! आज आप कृतार्थ-कृतकृत्य हुए ॥३०-३६॥ उन्होंने सुधर्म नामके ज्येष्ठ पुत्रके लिए राज्य दिया, दीक्षा-कल्याणकके समय होने वाले अभिषेकका उत्सव प्राप्त किया, नागदत्ता नामकी पालकीमें सवार होकर ज्येष्ठ देवोंके साथ शालवनके उद्यानमें जाकर दो दिनके उपवासका नियम लिया और माघशुक्ला त्रयोदशीके दिन सायंकालके समय पुष्य नक्षत्रमें एक हजार राजाओंके साथ मोक्ष प्राप्त करानेवाली दीक्षा धारण कर ली ॥३७-३९॥ दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। वे दूसरे दिन आहार लेनेके लिए पताकाओंसे सजी हुई पाटलिपुत्र नामकी नगरीमें गये ॥४०॥ वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले धन्यषेण राजाने उन उत्तम पात्रके लिए दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥४१॥ तदनन्तर छद्मस्थ अवस्थाका एक वर्ष बीत जानेपर उन्होंने उसी पुरातन वनमें सप्तच्छद वृक्षके नीचे दो दिनके उपवास-का नियम लेकर योग धारण किया और पौषशुक्ल पूर्णिमाके दिन सायंकालके समय पुष्य नक्षत्रमें

---

१ किमात्मकः । २ भाजनः क०, घ० । भाजने ख० । ३ धनाद्यलम् ल० । ४ प्राप्त: ल० । ५–सवम् ल० । ६ सह ख० । ७ धान्यषेण क०, घ० ।

अरिष्टसेनाद्यनलयुगमानगणाधिपः । शून्यद्वयनवप्रोक्तसर्वपूर्वधरावृतः ॥४४॥
शून्यद्वयद्विशून्याब्धिप्रमितशिक्षकलक्षितः । षट्शतत्रिसहस्रोक्तत्रिविधावधिलोचनः ॥४५॥
शून्यद्वयेन्द्रियाम्भोधिप्रोक्तकेवलवीक्षणः । शून्यत्रिकमुनिज्ञानविक्रियर्द्धिविभूषितः ॥४६॥
केवलज्ञानिमानोक्तमनःपर्ययविद्वृतः[1] । खद्वयाष्टद्विविज्ञातवादिवृन्दाभिवन्दितः ॥४७॥
पिण्डीकृतचतुःषष्टिसहस्रमुनिसाधनः । खखाब्धिपक्षषट्प्रोक्तसुव्रताद्यार्यिकार्चितः ॥४८॥
द्विलक्षश्रावकोपेतो द्विगुणश्राविकावृतः । पूर्वोक्तदेवसंदोहतिर्यक्संख्यातसंश्रितः ॥४९॥
इति द्वादशभेदोक्तगणसंपत्समर्चितः । धर्मो धर्ममुपादिक्षद्धर्मध्वजविराजितः ॥५०॥
विहारमन्ते संहृत्य संमेदे गिरिसत्तमे । मासमेकमयोगः सन्नवाष्टशतसंयतैः ॥५१॥
शुचिशुक्लचतुर्थ्यन्ते[3] रात्रौ ध्यातिं पृथग्द्वयीम् । आपूर्य पुष्यनक्षत्रे मोक्षलक्ष्मीमुपागमत् ॥५२॥
तदामृताशनाधीशाः सहसाऽऽगत्य सर्वतः । कृत्वा निर्वाणकल्याणमवन्दिषत तं जिनम् ॥५३॥

आर्या

विजित्य दशरथः स रिपून्नृपोऽन्त्याहमिन्द्रतां गत्वा ।
धर्मः स पातु पापैर्धर्मा युधि यस्य दशरथायन्ते ॥५४॥

मालिनी

निहतसकलघाती निश्चलात्मावबोधो
गदितपरमधर्मो धर्मनामा जिनेन्द्रः ।
त्रितयतनुविनाशान्[4] निर्मलः शर्मसारो
दिशतु सुखमनन्तं शान्तसर्वात्मको वः ॥५५॥

केवलज्ञान प्राप्त किया। देवोंने चतुर्थ कल्याणककी उत्तम पूजा की ॥४१–४३॥ वे अरिष्टसेनको आदि लेकर तैंतालीस गणधरोंके स्वामी थे, नौ सौ ग्यारह पूर्वधारियोंसे आवृत थे, चालीस हजार सात सौ शिक्षकोंसे सहित थे, तीन हजार छह सौ तीन प्रकारके अवधिज्ञानियोंसे युक्त थे, चार हजार पाँच सौ केवलज्ञानी उनके साथ थे, सात हजार विक्रियाऋद्धिके धारक उनकी शोभा बढ़ा रहे थे, चार हजार पाँच सौ मनःपर्ययज्ञानी उन्हें घेरे रहते थे, दो हजार आठ सौ वादियोंके समूह उनकी वन्दना करते थे, इस तरह सब मिलाकर चौंसठ हजार मुनि उनके साथ रहते थे, सुव्रताको आदि लेकर बासठ हजार चार सौ आर्यिकाएँ उनकी पूजा करती थीं, वे दो लाख श्रावकोंसे सहित थे, चार लाख श्राविकाओंसे आवृत थे, असंख्यात देव-देवियों और संख्यात तिर्यंचोंसे सेवित थे ॥४४–४९॥ इस प्रकार बारह सभाओंकी सम्पत्तिसे सहित तथा धर्मकी ध्वजासे सुशोभित भगवान्ने धर्मका उपदेश दिया ॥५०॥ अन्तमें विहार बन्द कर वे पर्वतराज सम्मेदशिखरपर पहुँचे और एक माहका योग निरोध कर आठ सौ नौ मुनियोंके साथ ध्यानारूढ़ हुए। तथा ज्येष्ठशुक्ला चतुर्थीके दिन रात्रिके अन्त भागमें सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती नामक शुक्लध्यानको पूर्ण कर पुष्य नक्षत्रमें मोक्ष-लक्ष्मीको प्राप्त हुए ॥५१–५२॥ उसी समय सब ओरसे देवोंने आकर निर्वाण कल्याणकका उत्सव किया तथा वन्दना की ॥५३॥ जो पहले भवमें शत्रुओंको जीतनेवाले दशरथ राजा हुए, फिर अहमिन्द्रताको प्राप्त हुए तथा जिनके द्वारा कहे हुए दश धर्म पापोंके साथ युद्ध करनेमें दश रथोंके समान आचरण करते हैं वे धर्मनाथ भगवान् तुम सबकी रक्षा करें ॥५४॥ जिन्होंने समस्त घातिया कर्म नष्ट कर दिये हैं, जिनका केवलज्ञान अत्यन्त निश्चल है, जिन्होंने श्रेष्ठ धर्मका प्रतिपादन किया है, जो तीनों शरीरोंके नष्ट हो जानेसे अत्यन्त निर्मल हैं, जो स्वयं अनन्त सुखसे सम्पन्न हैं और जिन्होंने समस्त आत्माओंको शान्त कर दिया है ऐसे धर्मनाथ जिनेन्द्र तुम सबके लिए अनन्त सुख प्रदान करें ॥५५॥

---

१ विवृतः ल० । २ समन्वितः ल० । ३–नुर्थ्यन्ते ल० । ४ विनाशो क०, घ० ।

अस्मिन्नेवाभवत्तीर्थे बलः श्रीमान् सुदर्शनः । केशवः सिंहशब्दान्तपुरुषः परिषद्बलः ॥५६॥
तयोराख्यानकं वक्ष्ये भवत्रयसमाश्रयम् । इह राजगृहे राजा सुमित्रो नाम गर्वितः ॥५७॥
[1]महामल्लो बहून् जित्वा लब्धपूजः परीक्षकैः । तृणायमन्यमानोऽन्यानमाद्यद् दुष्टदन्तिवत् ॥५८॥
कदाचिद्राजसिंहाख्यः महीनाथो मदोद्धतः । तद्दर्पशातनायागात्तां पुरीं मल्लयुद्धवित् ॥५९॥
सुमित्रस्तेन रङ्गस्थो निर्जितः सुचिराद्युधा । उत्खातदन्तदन्तीव तदाऽस्थादतिदुःखितः ॥६०॥
मानभङ्गेन भग्नः सन्नसौ राज्यभराक्षमः । नियुक्तवान् सुतं राज्ये मानप्राणा हि मानिनः ॥६१॥
कृष्णाचार्यं समासाद्य श्रुत्वा धर्मं [2]यथोदितम् । प्रवव्राजातिनिर्विण्णस्तद्धि योग्यं मनस्विनाम् ॥६२॥
क्रमेणोग्रं तपः कुर्वन् सिंहनिःक्रीडितादिकम् । स्वपराजयसंक्लेशादिति प्रान्ते व्यचिन्तयत् ॥६३॥
फलं चेदस्ति चर्यायास्तया सोऽन्यत्र जन्मनि । [3]मम स्तां विद्विषो जेतुं महाबलपराक्रमौ[4] ॥६४॥
तथैव संन्यस्याभूच्च माहेन्द्रे सप्तसागरः । स्थितिर्दिवश्चिरं भोगान् भुञ्जानः सुखमास्थितः ॥६५॥
द्वीपेऽस्मिन् मन्दरप्राचि [5]वीतशोकापुरं पतिः । नरादिवृषभो राजाऽजनि जातमहोदयः ॥६६॥
भुक्त्वा कोपद्वयापेतं राज्यमूर्जितसौख्यभाक् । सद्यः संजातनिर्वेदोऽत्यजद्दमवरान्तिके ॥६७॥
स घोरतपसा दीर्घं गमयित्वाऽऽयुरात्मनः । सहस्रारं जगामाष्टदशसागरसंस्थितिः[6] ॥६८॥
फलं [7]स्वानिमिषत्वस्य प्राप्यानारतलोकनात् । प्राणप्रियाणां पर्यन्ते शान्तचेता निजायुषः ॥६९॥
अस्मिन् खगपुराधीशसिंहसेनमहीपतेः । इक्ष्वाकोर्विजयायाश्च तनूजोऽभूत्सुदर्शनः ॥७०॥

अथानन्तर इन्हीं धर्मनाथ भगवान्के तीर्थमें श्रीमान् सुदर्शन नामका बलभद्र तथा सभामें सबसे बलवान् पुरुषसिंह नामका नारायण हुआ ॥५६॥ अतः यहाँ उनका तीन भवका चरित कहता हूँ। इसी राजगृह नगरमें राजा सुमित्र राज्य करता था, वह बड़ा अभिमानी था, बड़ा मल्ल था, उसने बहुत मल्लोंको जीत लिया था इसलिए परीक्षक लोग उनकी पूजा किया करते थे—उसे पूज्य मानते थे, वह सदा दूसरोंको तृणके समान तुच्छ मानता था, और दुष्ट हाथीके समान मदोन्मत्त था ॥५७-५८॥ किसी समय मदसे उद्धत तथा मल्लयुद्धको जाननेवाला राजसिंह नामका राजा उसका गर्व शान्त करनेके लिए राजगृह नगरीमें आया ॥५९॥ उसने बहुत देर तक युद्ध करनेके बाद रंगभूमिमें स्थित राजा सुमित्रको हरा दिया जिससे वह दाँत उखाड़े हुए हाथीके समान बहुत दुःखी हुआ ॥६०॥ मान भंग होनेसे उसका हृदय एकदम टूट गया, वह राज्यका भार धारण करनेमें समर्थ नहीं रहा अतः उसने राज्यपर पुत्रको नियुक्त कर दिया सो ठीक ही है; क्योंकि मान ही मानियोंके प्राण हैं ॥६१॥ निर्वेद भरा हुआ राजा सुमित्र कृष्णाचार्यके पास पहुँचा और उनके द्वारा कहे हुए धर्मोपदेशको सुनकर दीक्षित हो गया सो ठीक ही है क्योंकि मनस्वी मनुष्योंको यही योग्य है ॥६२॥ यद्यपि उसने क्रम-क्रमसे सिंहनिष्क्रीडित आदि कठिन तप किये तो भी उसके हृदयमें अपने पराजयका संक्लेश बना रहा अतः अन्तमें उसने ऐसा विचार किया कि यदि मेरी इस तपश्चर्याका फल अन्य जन्ममें प्राप्त हो तो मुझे ऐसा महान् बल और पराक्रम प्राप्त होवे जिससे मैं शत्रुओंको जीत सकूँ ॥६३-६४॥ ऐसा निदान कर वह संन्याससे मरा और माहेन्द्र स्वर्गमें सात सागरकी स्थितिवाला देव हुआ। वह वहाँ भोगोंको भोगता हुआ चिरकाल तक सुखसे स्थित रहा ॥६५॥ तदनन्तर इसी जम्बूद्वीपमें मेरुपर्वतके पूर्वकी ओर वीतशोकापुरी नामकी नगरी है उसमें ऐश्वर्यशाली नरवृषभ नामका राजा राज्य करता था। उसने बाह्याभ्यन्तर प्रकृतिके कोपसे रहित राज्य भोगा, बहुत भारी सुख भोगे और अन्तमें विरक्त होकर समस्त राज्य त्याग दिया और दमवर मुनिराजके पास दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली ॥६६-६७॥ अपनी विशाल आयु कठिन तपसे बिताकर वह सहस्रार स्वर्गमें अठारह सागरकी स्थितिवाला देव हुआ ॥६८॥ प्राणप्रिय देवांगनाओंको निरन्तर देखनेसे उसने अपने टिमकार रहित नेत्रोंका फल प्राप्त किया

---

१ महाबलो ग० । २ यथोचितम् ल० । ३ समस्तान् ल० । ४ पराक्रमे ल० । ५ हृतशोकपुरीपतिः ग० । ६ संस्थितः क०, घ० । ७ फलं स्वनिमिषत्वस्य ख० ।

अम्बिकायां सुतोऽस्यैव सुमित्रः केशवोऽभवत् । [illegible] ॥७१॥
परस्परानुकूल्येन मतिरूपबलान्वितौ । परानाक्रम्य सर्वान् स्वान् [illegible] ॥७२॥
अविभक्तापि दोषाय भुज्यमाना तयोरभूत् । न लक्ष्मीः शुद्धचित्तानां शुद्धये निखिलमप्यदः ॥७३॥
अथात्रैव भारते क्षेत्रे विषये कुरुजाङ्गले । हास्तिनाख्यपुरे धीशो मधुक्रीडो महीपतिः ॥७४॥
राजसिंहचरो जिताखिलारातिसंहतिः । असहँस्तौ समुद्यन्तौ तेजसा बलकेशवौ ॥७५॥
करं परार्घ्यरत्नानि याचितुं प्राहिणोद्बली । दण्डगर्भाभिधानाभिख्यं सचिवं [illegible] ॥७६॥
तद्वचःश्रवणात्तौ च गजकण्ठरवश्रुतेः । कण्ठीरवौ वा संक्रुद्धौ [illegible] तेजसा ॥७७॥
क्रीडितुं याचते मूढो गर्भस्थालं जडः करम् । [illegible] ॥७८॥
इत्युक्तवन्तौ तत्कोपकठोरोक्त्या स सत्वरम् । गत्वा [illegible] ॥७९॥
सोऽपि तद्दुर्वचः श्रुत्वा कोपारुणितविग्रहः । विग्रहाय सहैताभ्यां [illegible] ॥८०॥
अभिगम्य तमाक्रम्य युद्ध्वा युद्धविशारदः । अच्छिनत्तस्य चक्रेण शिरः सद्यः स केशवः ॥८१॥
तौ त्रिखण्डाधिपत्येन लक्ष्मीमनुबभूवतुः । अवधिस्थानमापन्नः केशवो जीवितावधौ ॥८२॥
हलायुधोऽपि तच्छोकाद्धर्मतीर्थकरं श्रितः । प्रव्रज्य प्रोद्धुताघौघः प्राप्नोति स्म परं पदम् ॥८३॥

मालिनी

प्रतिहतपरसैन्यौ मानशौण्डौ प्रचण्डौ
फलितसुकृतसारौ तावखण्डत्रिखण्डौ ।

और आयुके अन्तमें शान्तचित्त होकर इसी जम्बूद्वीपके खगपुर नगरके इक्ष्वाकुवंशी राजा सिंहसेनकी विजया रानीसे सुदर्शन नामका पुत्र हुआ ॥६९-७०॥ इसी राजाकी अम्बिका नामकी दूसरी रानीके सुमित्रका जीव नारायण हुआ। वे दोनों भाई पैंतालीस धनुष ऊँचे थे और दश लाख वर्षकी आयुके धारक थे ॥७१॥ एक-दूसरेके अनुकूल बुद्धि, रूप और बलसे सहित उन दोनों भाइयोंने समस्त शत्रुओंपर आक्रमण कर आत्मीय लोगोंको अपने गुणोंसे अनुरक्त बनाया था ॥७२॥ यद्यपि उन दोनोंकी लक्ष्मी अविभक्त थी—परस्पर बाँटी नहीं गयी थी तो भी उनके लिए कोई दोष उत्पन्न नहीं करती थी सो ठीक ही है क्योंकि जिनका चित्त शुद्ध है उनके लिए सभी वस्तुएँ शुद्धताके लिए ही होती हैं ॥७३॥

अथानन्तर इसी भरतक्षेत्रके कुरुजांगल देशमें एक हस्तिनापुर नामका नगर है उसमें मधुक्रीड नामका राजा राज्य करता था। वह सुमित्रको जीतनेवाला राजसिंहका जीव था। उसने समस्त शत्रुओंके समूहको जीत लिया था, वह तेजसे बढ़ते हुए बलभद्र और नारायणको नहीं सह सका इसलिए उस बलवान्ने कर-स्वरूप अनेकों श्रेष्ठ रत्न माँगनेके लिए दण्डगर्भ नामका प्रधानमन्त्री भेजा ॥७४-७६॥ जिसप्रकार हाथीके कण्ठका शब्द सुनकर सिंह क्रुद्ध हो जाते हैं उसीप्रकार सूर्यके समान तेजके धारक दोनों भाई प्रधानमन्त्रीके शब्द सुनकर क्रुद्ध हो उठे ॥७७॥ और कहने लगे कि वह मूर्ख खेलनेके लिए साँपों-भरा हुआ कर माँगता है सो यदि वह पास आया तो उसके लिए वह कर अवश्य दिया जावेगा ॥७८॥ इस प्रकार क्रोधसे वे दोनों भाई कठोर शब्द कहने लगे और उस मन्त्रीने शीघ्र ही जाकर राजा मधुक्रीडको इसकी खबर दी ॥७९॥ राजा मधुक्रीड भी उनके दुर्वचन सुनकर क्रोधसे लाल शरीर हो गया और उनके साथ युद्ध करनेके लिए बहुत बड़ी सेना लेकर चला ॥८०॥ युद्ध करनेमें चतुर नारायण भी उसके सामने आया, उसपर आक्रमण किया, चिरकाल तक उसके साथ युद्ध किया और अन्तमें उसीके चलाये हुए चक्रसे शीघ्र ही उसका शिर काट डाला ॥८१॥ दोनों भाई तीन खण्डके अधीश्वर बनकर राज्यलक्ष्मीका उपभोग करते रहे। उनमें नारायण, आयुका अन्त होनेपर सातवें नरक गया ॥८२॥ उसके शोकसे बलभद्रने धर्मनाथ तीर्थंकरकी शरणमें जाकर दीक्षा ले ली और पापोंके समूहको नष्ट कर परम पद प्राप्त किया

---

१ विजये ल० । २ समुद्यातौ ख० ।

किल खलविधिनैवं पश्य विश्लेषितौ धिग्
दुरितपरवशत्वं केशवस्यैव मोहात् ॥८४॥

वसन्ततिलका

प्राग्भूभुजः (?) प्रथितराजगृहे सुमित्रो
माहेन्द्रकल्पजसुरश्च्युतवाँस्ततोऽस्मिन् ।
भूपोऽभवत्खगपुरे पुरुषादिसिंहः
पश्चात्स सप्तममहीं च जगाम भीमाम् ॥८५॥
प्रोद्यद्दन्तिदमनोऽजनि राजसिंहो
भ्रान्त्वा चिरं भववनेषु विनष्टमार्गः ।
दृष्टानुमार्गमजनिष्ट स हास्तिनाख्ये
क्रीडाक्षरान्तमधुराप गतिं दुरन्ताम् ॥८६॥

पृथ्वी

नरादिवृषभः पुरे विदितवीतशोके महान्
तपश्चिरमुपास्य घोरमभवत्सहस्रारके ।
ततः खगपुरे बलः क्षपितशत्रुपक्षोऽभवत्
क्षमैकनिकयो विलीनविलयः सुखं क्षायिकम् ॥८७॥

तत्तीर्थस्यान्तरे चक्री तृतीयो मघवानभूत् । आतृतीयभवात्तस्य पुराणं प्रणिगद्यते ॥८८॥
वासुपूज्यजिनेशस्य तीर्थेऽभून्नृपतिर्महान् । नाम्ना नरपतिर्भुक्त्वा भोगान् भाग्यसमर्पितान् ॥८९॥
वैराग्यकाष्ठामारुह्य कृत्वोत्कृष्टतपो[1] व्यसुः । ग्रैवेयकेऽभवत्पुण्यादहमिन्द्रेषु मध्यमे ॥९०॥
सप्तविंशतिवार्ध्यायुर्दिव्यभोगान्मनोहरान् । अनुभूय ततश्च्युत्वा धर्मतीर्थकरान्तरे ॥९१॥
कोशले विषये रम्ये साकेतनगरीपतेः । इक्ष्वाकोः स सुमित्रस्य भद्रायाश्च सुतोऽभवत् ॥९२॥
मघवाख्यः स पुण्यात्मा भविष्यन् भरताधिपः । पञ्चलक्षसमाजीवी कल्याणपरमायुषा ॥९३॥

॥८३॥ देखो, दोनों ही भाई शत्रुसेनाको नष्ट करनेवाले थे, अभिमानी थे, शूर-वीर थे, पुण्यके फल-का उपभोग करनेवाले थे, और तीन खण्डके स्वामी थे फिर भी इस तरह दुष्ट कर्मके द्वारा अलग-अलग कर दिये गये। मोहके उदयसे पापका फल नारायणको ही प्राप्त हुआ इसलिए पापोंकी अधीनताको धिक्कार है ॥८४॥ पुरुषसिंह नारायण, पहले प्रसिद्ध राजगृह नगरमें सुमित्र नामका राजा था, फिर माहेन्द्र स्वर्गमें देव हुआ, वहाँ से च्युत होकर इस खगपुर नगरमें पुरुषसिंह नाम-का नारायण हुआ और उसके पश्चात् भयंकर सातवें नरकमें नारकी हुआ ॥८५॥ मधुक्रीड प्रति-नारायण पहले मदोन्मत्त हाथियोंको वश करनेवाला राजसिंह नामका राजा था, फिर मार्ग-भ्रष्ट होकर चिरकाल तक संसाररूपी वनमें भ्रमण करता रहा, तदनन्तर धर्ममार्गका अवलम्बन कर हस्तिनापुर नगरमें मधुक्रीड हुआ और उसके पश्चात् दुर्गतिको प्राप्त हुआ ॥८६॥ सुदर्शन बलभद्र, पहले प्रसिद्ध वीतशोक नगरमें नरवृषभ नामक राजा था, फिर चिरकाल तक घोर तप-श्चरण कर सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ, फिर वहाँसे चय कर खगपुर नगरमें शत्रुओंका पक्ष नष्ट करनेवाला बलभद्र हुआ और फिर क्षमाका घर होता हुआ मरणरहित होकर क्षायिक सुखको प्राप्त हुआ ॥८७॥

इन्हीं धर्मनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें तीसरे मघवा चक्रवर्ती हुए इसलिए तीसरे भवसे लेकर उनका पुराण कहता हूँ ॥८८॥ श्रीवासुपूज्य तीर्थंकरके तीर्थमें नरपति नामका एक बड़ा राजा था वह भाग्योदयसे प्राप्त हुए भोगोंको भोग कर विरक्त हुआ और उत्कृष्ट तपश्चरण कर मरा। अन्तमें पुण्योदयसे मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुआ ॥८९-९०॥ सत्ताईस सागर तक मनोहर दिव्य भोगों-को भोगकर वह वहाँ से च्युत हुआ और धर्मनाथ तीर्थंकरके अन्तरालमें कोशल नामक मनोहर

१ विगता असवः प्राणा यस्य सः ।

सार्द्धद्विचत्वारिंशच्चापोच्छ्रितिः कनकद्युतिः । षट्खण्डमण्डितां पृथ्वीं प्रतिपाल्य प्रतापवान् ॥९४॥
चतुर्दशमहारत्नभूषणो निधिनायकः । नृखेचरसुराधीशान्नमयन् क्रमयोर्युगम् ॥९५॥
स्वोक्तप्रमाणदेवीभिरनुभूय यथेप्सितम् । दशाङ्गभोगान् भूयिष्ठान् सुनिष्ठितमनोरथः ॥९६॥
सुधीर्मनोहरोद्याने स कदाचिद्यदृच्छया । विलोक्याभयघोषाख्यं केवलावगमद्युतिम् ॥९७॥
त्रिःपरीत्याभिवन्द्यैनं श्रुत्वा धर्मं तदन्तिके । विदित्वा तत्त्वसद्भावं विरज्य विषयेष्वलम् ॥९८॥
प्रियमित्राय पुत्राय दत्त्वा साम्राज्यसंपदम् । स बाह्याभ्यन्तरग्रन्थांस्त्यक्त्वा संयममाददौ ॥९९॥
शुद्धश्रद्धानचारित्रः श्रुतसंपत्समन्वितः । द्वितीयशुक्लध्यानेन घातित्रयविघातकृत् ॥१००॥
नवकेवललब्धीशो धर्मवद्धर्मदेशनात् । विनेयनायकार्षीत्स निर्वाणपदवीं पराम् ॥१०१॥
ध्यानद्वयसमुन्मूलिताघातिकचतुष्टयः । पुण्यापुण्यविनिर्मोक्षादक्षय्यं मोक्षमाक्षिपत् ॥१०२॥

मालिनी

नरपतिरिह नाम्ना वासुपूज्यस्य तीर्थे
प्रशमगुरुचरित्रेणाहमिन्द्रो महर्द्धिः ।
अभवदखिलपुण्यश्चक्रवर्ती तृतीय-
स्तदनु च मघवाख्यो मुख्यसौख्यं समापत् ॥१०३॥

समनन्तरमेवास्य विनीतानगरेशिनः । नृपस्यानन्तवीर्यस्य सूर्यवंशशिखामणेः ॥१०४॥
सहदेव्याश्च संभूतः कल्पादागत्य षोडशात् । सूनुः सनत्कुमाराख्यः प्रियश्चक्राङ्कितश्रियः ॥१०५॥
लक्षत्रयायुःत्र्यंकचक्रवर्तिसमुच्छ्रितिः । चामीकरच्छविः स्वेच्छावशीकृतवसुंधरः ॥१०६॥

देशकी अयोध्यापुरीके स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा सुमित्रकी भद्रारानीसे भगवान् नामका पुण्यात्मा पुत्र हुआ। यही आगे चलकर भरत क्षेत्रका स्वामी चक्रवर्ती होगा। उसने पाँच लाख वर्षकी कल्याणकारी उत्कृष्ट आयु प्राप्त की थी। साढ़े चालीस धनुष ऊँचा उसका शरीर था, सुवर्णके समान शरीरकी कान्ति थी। वह प्रतापी छह खण्डोंसे सुशोभित पृथिवीका पालन कर चौदह महारत्नोंसे विभूषित एवं नौ निधियोंका नायक था। वह मनुष्य, विद्याधर और इन्द्रोंको अपने चरणयुगलमें झुकाता था। चक्रवर्तियोंकी विभूतिके प्रमाणमें कही हुई—छयानवे हजार देवियोंके साथ इच्छानुसार दश प्रकारके भोगोंको भोगता हुआ वह अपने मनोरथ पूर्ण करता था। किसी एक दिन मनोहर नामक उद्यानमें अकस्मात् अभयघोष नामक केवली पधारे। उस बुद्धिमान्ने उनके दर्शन कर तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, वन्दना की, धर्मका स्वरूप सुना, उनके समीप तत्त्वोंके सद्भावका ज्ञान प्राप्त किया, विषयोंसे अत्यन्त विरक्त होकर प्रियमित्र नामक पुत्रके लिए साम्राज्य पदकी विभूति प्रदान की और बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर संयम धारण कर लिया ॥९१–९९॥ वह शुद्ध सम्यग्दर्शन तथा निर्दोष चरित्रका धारक था, शास्त्रज्ञानरूपी सम्पत्तिसे सहित था, उसने द्वितीय शुक्लध्यानके द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंका विघात कर दिया था ॥१००॥ अब वे नौ केवललब्धियोंके स्वामी हो गये तथा धर्मनाथ तीर्थंकरके समान धर्मका उपदेश देकर अनेक भव्य जीवोंको अतिशय श्रेष्ठ मोक्ष पदवी प्राप्त कराने लगे ॥१०१॥ अन्तमें शुक्लध्यानके तृतीय और चतुर्थ भेदके द्वारा उन्होंने अघाति चतुष्कका क्षय कर दिया और पुण्य-पाप कर्मोंसे विनिर्मुक्त होकर अविनाशी मोक्ष प्राप्त किया ॥१०२॥ तीसरा चक्रवर्ती मघवा पहले वासुपूज्य स्वामीके तीर्थमें नरपति नामका राजा था, फिर उत्तम शान्तिसे युक्त श्रेष्ठ चारित्रके प्रभावसे बड़ी ऋद्धिका धारक अहमिन्द्र हुआ, फिर समस्त पुण्यसे युक्त मघवा नामका तीसरा चक्रवर्ती हुआ और तत्पश्चात् मोक्षके श्रेष्ठ सुखको प्राप्त हुआ ॥१०३॥

अथानन्तर—मघवा चक्रवर्तीके बाद ही अयोध्या नगरीके अधिपति, सूर्य वंशके शिरोमणि राजा अनन्तवीर्यकी सहदेवी रानीके सोलहवें स्वर्गसे आकर सनत्कुमार नामका पुत्र हुआ। वह चक्रवर्तीकी लक्ष्मीका प्रिय वल्लभ था ॥१०४–१०५॥ उसकी आयु तीन लाख वर्षकी

दशाङ्गभोगसंभोगसंतर्पितनिजेन्द्रियः । समर्थितार्थिसं[1]कल्पो ऽनल्पकल्पमहीरुहः ॥१०७॥
हिमवत्सागरान्तान्त[2]र्महीमध्यमहीभुजाम् । आधिपत्यं समातन्वन्नन्वभूदधिकां श्रियम् ॥१०८॥
प्रयात्येवं सुखेनास्य काले सौधर्मसंसदि । सनत्कुमारदेवेन्द्ररूपस्यास्त्यत्र जित्वरः ॥१०९॥
कोऽपीति देवैः संपृष्टः सौधर्मेन्द्रोऽब्रवीदिदम् । सनत्कुमारश्चक्रेशो बाढं सर्वाङ्गसुन्दरः ॥११०॥
स्वप्नेऽपि केनचित्तादृग्दृष्टपूर्वः कदाचन । नास्तीति तद्वचः श्रुत्वा सद्यः संजातकौतुकौ ॥१११॥
द्वौ देवौ भुवमागत्य तद्रूपालोकनेच्छया । दृष्ट्वा तं शक्रसंप्रोक्तं सत्यमित्यात्तसंमदौ ॥११२॥
सनत्कुमारचक्रेशं निजागमनकारणम् । बोधयित्वा सुधीश्चक्रिन् शृणु चित्तं समादधत् ॥११३॥
यदि रोगजरादुःखमृत्यवो न स्युरत्र ते । सौन्दर्येण [3]त्वमत्रैवमतिशेषे जिनानपि ॥११४॥
इत्युक्त्वा तौ सुरौ सूक्तं [4]स्वधाम सहसा गतौ । काललब्ध्येव तद्वाचा प्रबुद्धो भूभुजां पतिः ॥११५॥
रूपयौवनसौन्दर्यसंपत्सौख्यादयो नृणाम् । विद्युल्लताविलासाभा मन्ये प्रागेव नश्वराः ॥११६॥
इत्वरीः संपदस्त्यक्त्वा जित्वाऽहमिहैनसाम् । सत्वरं तनुमुज्झित्वा गत्वरोऽस्मीत्यकायताम् ॥११७॥
स्मरन् देवकुमाराख्ये सुते राज्यं नियोज्य सः । शिवगुप्तजिनोपान्ते दीक्षां बहुभिराददे ॥११८॥
पञ्चभिः सद्व्रतैः पूज्यः पालितेर्यादिपञ्चकः । षडावश्यकवश्यात्मा निरुद्धेन्द्रियसंततिः ॥११९॥
निश्चेलः कृतभूवासो दन्तधावनवर्जितः । उत्थायैवैकदाभोजी स्फुरन्मूलगुणैरलम् ॥१२०॥

थी, और शरीरकी ऊँचाई पूर्व चक्रवर्तीके शरीरकी ऊँचाईके समान साढ़े ब्यालीस धनुष थी। सुवर्णके समान कान्तिवाले उस चक्रवर्तीने समस्त पृथिवीको अपने अधीन कर लिया था ॥१०६॥ दश प्रकारके भोगोंके समागमसे उसकी समस्त इन्द्रियाँ सन्तुष्ट हुई थीं। वह याचकोंके संकल्पको पूर्ण करनेवाला मानो बड़ा भारी कल्पवृक्ष ही था ॥१०७॥ हिमवान् पर्वतसे लेकर दक्षिण समुद्र तककी पृथिवीके बीच जितने राजा थे उन सबके ऊपर आधिपत्यको विस्तृत करता हुआ वह बहुत भारी लक्ष्मीका उपभोग करता था ॥१०८॥

इस प्रकार इधर इनका समय सुखसे व्यतीत हो रहा था उधर सौधर्म इन्द्रकी सभामें देवोंने सौधर्मेन्द्रसे पूछा कि क्या कोई इस लोकमें सनत्कुमार इन्द्रके रूपको जीतनेवाला है? सौधर्मेन्द्रने उत्तर दिया कि हाँ, सनत्कुमार चक्रवर्ती सर्वांग सुन्दर है। उसके समान रूपवाला पुरुष कभी किसीने स्वप्नमें भी नहीं देखा है। सौधर्मेन्द्रके वचन सुनकर दो देवोंको कौतूहल उत्पन्न हुआ और वे उसका रूप देखनेकी इच्छासे पृथिवीपर आये। जब उन्होंने सनत्कुमार चक्रवर्तीको देखा तब 'सौधर्मेन्द्रका कहना ठीक है' ऐसा कहकर वे बहुत ही हर्षित हुए ॥१०९–११२॥ उन देवोंने सनत्कुमार चक्रवर्तीको अपने आनेका कारण बतलाकर कहा कि हे बुद्धिमन्! चक्रवर्तिन्! चित्तको सावधान कर सुनिए—यदि इस संसारमें आपके लिए रोग, बुढ़ापा, दुःख तथा मरणकी सम्भावना न हो तो आप अपने सौन्दर्यसे तीर्थंकरको भी जीत सकते हैं ॥११३–११४॥ ऐसा कहकर वे दोनों देव शीघ्र ही अपने स्थानपर चले गये। राजा सनत्कुमार उन देवोंके वचनोंसे ऐसा प्रतिबुद्ध हुआ मानो काललब्धिने ही आकर उसे प्रतिबुद्ध कर दिया हो ॥११५॥ वह चिन्तवन करने लगा कि मनुष्योंके रूप, यौवन, सौन्दर्य, सम्पत्ति और सुख आदि बिजली रूप लताके विलाससे पहले ही नष्ट हो जानेवाले हैं ॥११६॥ मैं इन नश्वर सम्पत्तियोंको छोड़कर पापोंको जीतनेवाला बनूँगा और शीघ्र ही इस शरीरको छोड़कर अशरीर अवस्थाको प्राप्त होऊँगा ॥११७॥ ऐसा विचारकर उन्होंने देवकुमार नामक पुत्रके लिए राज्य देकर शिवगुप्त जिनेन्द्रके समीप अनेक राजाओंके साथ दीक्षा ले ली ॥११८॥ वे अहिंसा आदि पाँच महाव्रतोंसे पूज्य थे, ईर्या आदि पाँच समितियोंका पालन करते थे, छह आवश्यकोंसे उन्होंने अपने-आपको वश कर लिया था, इन्द्रियोंकी सन्ततिको रोक लिया था, वस्त्रका त्याग कर रखा था, वे पृथिवीपर शयन करते थे, कभी दातौन नहीं करते थे; खड़े-खड़े एक बार भोजन करते थे। इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणोंसे अत्यन्त शोभायमान थे ॥११९–

---

१ सङ्कल्पोऽनल्पं ख०। २ यात ल०। ३ त्वमत्रैव क०, ख०, ग०, घ०। ४ सुधाम क०, ख०, घ०।

त्रिकालयोगवीरासनैकपार्श्वादिशायिभिः । उत्तरैश्च गुणैर्नित्यं यथायोग्यं समाचरन् ॥१२१॥
क्षमावान् क्षमाविभागो वा वारि वाश्रिततापनुत् । [1]गिरीश इव निष्कम्पो निःसंगः परमाणुवत् ॥१२२॥
निर्लेपोऽम्बुदमार्गो[2] वा गम्भीरो वाऽऽपगापतिः । शशीव सर्वसंह्लादी भानुमानिव [3]भास्वरः ॥१२३॥
बाह्याभ्यन्तरसंशुद्धः सुधौतकलधौतवत् । आदर्शवत्समादर्शी संकोची कूर्मसंनिभः ॥१२४॥
[4]अहिर्वास्वाकृतावासः करीवाशब्दयानकः । शृगालवत्पुरालोकी स शूरो राजसिंहवत् ॥१२५॥
सदा विनिद्रो मृगवत्सोढाशेषपरीषहः । उपसर्गसहो विक्रियाद्युक्तविविधर्द्धिकः ॥१२६॥
क्षपकश्रेणिमारुह्य ध्यानद्वयसुसाधनः । घातिकर्माणि निर्धूय कैवल्यमुदपादयत् ॥१२७॥
पुनर्विहृत्य सद्धर्मदेशनाद्भव्यान् बहून् । विनेयान् मुक्तिसन्मार्गं दुर्गं दुर्मार्गवर्तिनाम् ॥१२८॥
पश्चादन्तर्मुहूर्तायुर्योगं रुद्ध्वा त्रिभेदकम् । सर्वकर्मक्षयावाप्यमवाप्मोक्षमक्षयम् ॥१२९॥

वसन्ततिलका

जित्वा जिनेन्द्रवपुषेन्द्रसनत्कुमार-
माक्रम्य विक्रमबलेन दिशां च चक्रम् ।
चक्रेण धर्मविहितेन हताघचक्रो
दिश्यात्स वः श्रियमिहाशु सनत्कुमारः ॥१३०॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे धर्मतीर्थकर-सुदर्शन-पुरुषसिंहमधु-
क्रीडमघवत्सनत्कुमारपुराणं परिसमाप्तम् एकषष्टितमं पर्व ॥६१॥



१२०॥ तीन कालमें योगधारण करना, वीरासन आदि आसन लगाना तथा एक करवटसे सोना आदि शास्त्रोंमें कहे हुए उत्तरगुणोंका निरन्तर यथायोग्य आचरण करते थे ॥१२१॥ वे पृथिवीके समान क्षमाके धारक थे, पानीके समान आश्रित मनुष्योंके सन्तापको दूर करते थे, पर्वतके समान अकम्प थे, परमाणुके समान निःसंग थे, आकाशके समान निर्लेप थे, समुद्रके समान गम्भीर थे, चन्द्रमाके समान सबको आह्लादित करते थे, सूर्यके समान देदीप्यमान थे, तपाये हुए सुवर्णके समान भीतर-बाहर शुद्ध थे, दर्पणके समान समदर्शी थे, कछुवेके समान संकोची थे, साँपके समान कहीं अपना स्थिर निवास नहीं बनाते थे, हाथीके समान चुपचाप गमन करते थे, शृगालके समान सामने देखते थे, उत्तम सिंहके समान शूरवीर थे और हरिणके समान सदा विनिद्र-जागरूक रहते थे। उन्होंने सब परिषह जीत लिये थे, सब उपसर्ग सह लिये थे और विक्रिया आदि अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं ॥ १२२-१२६ ॥ उन्होंने क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर दो शुक्लध्यानोंके द्वारा घातिया कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञान उत्पन्न किया था ॥१२७॥ तदनन्तर अनेक देशोंमें विहार कर अनेक भव्य जीवोंको समीचीन धर्मका उपदेश दिया और कुमार्गमें चलनेवाले मनुष्योंके लिए दुर्गम मोक्षका समीचीन मार्ग सबको बतलाया ॥ १२८ ॥ जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्तकी रह गयी तब तीनों योगोंका निरोध कर उन्होंने समस्त कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होनेवाला अविनाशी मोक्षपद प्राप्त किया ॥१२९॥ जिन्होंने अपने जिनेन्द्रके समान शरीरसे सनत्कुमार इन्द्रको जीत लिया, जिन्होंने अपने पराक्रमके बलसे दिशाओंके समूहपर आक्रमण किया और धर्मचक्र-द्वारा पापोंका समूह नष्ट किया वे श्रीसनत्कुमार भगवान् तुम सबके लिए शीघ्र ही लक्ष्मी प्रदान करें ॥ १३० ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें तीर्थंकर, सुदर्शन बलभद्र, पुरुषसिंह नारायण, मधुक्रीड़ प्रतिनारायण, मघवा और सनत्कुमार चक्रवर्तीके पुराणका वर्णन करनेवाला इकसठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥६१॥



---

१ गिरीन्द्र क०, ख० । २ आकाश इव । ३ भास्करः ल० । ४ अहिर्वा स्वकृता ल० ।

बुद्ध्वा सपर्ययं सर्वं बोध्यामावाद्भवच्छिदः । यस्यावबोधो विश्रान्तः स शान्तिः शान्तयेऽस्तु वः ॥१॥
वक्तृश्रोतृकथाभेदान् वर्णयित्वा पुरा बुधः । पश्चाद्धर्मकथां ब्रूयाद् गम्भीरार्थां यथार्थदृक् ॥ २ ॥
विद्वत्त्वं सच्चरित्रत्वं दयालुत्वं प्रगल्भता । वाक्सौभाग्येङ्गितज्ञत्वे प्रश्नक्षोदसहिष्णुता ॥ ३ ॥
सौमुख्यं लोकविज्ञानं [1]ख्यातिपूजाद्यवीक्षणम् । मिताभिधानमित्यादि गुणा धर्मोपदेष्टरि ॥ ४ ॥
तत्त्वज्ञेऽप्यपचारित्रे वक्तर्येतत्कथं स्वयम् । न चरेदिति तत्प्रोक्तं न गृह्णन्ति पृथग्जनाः ॥ ५ ॥
सच्चारित्रेऽप्यशास्त्रज्ञे वक्तर्यल्पश्रुतोद्धता- । सहासयुक्तं सन्मार्गं विदधत्यवधीरणाम् ॥ ६ ॥
विद्वत्त्वसच्चरित्रत्वे मुख्यं वक्तरि लक्षणम् । अबाधितस्वरूपं वा जीवस्य ज्ञानदर्शने ॥ ७ ॥
[2]युक्तमेतदयुक्तं चेत्युक्तं सम्यग्विचारयन् । स्थाने कुर्वन्नुपालम्भं भक्त्या सूक्तं समाददन् ॥ ८ ॥
असारप्राग्गृहीतार्थविशेषाविहितादरः । अहसन् स्खलितस्थाने गुरुभक्तः क्षमापरः ॥ ९ ॥
संसारभीरुराप्रोक्तवाग्धारणपरायण. । [3]शुकमृद्धंससंप्रोक्तगुणः श्रोता निगद्यते ॥ १० ॥
जीवाजीवादितत्त्वार्थो यत्र सम्यग्निरूप्यते । तनुसंसृतिभोगेषु निर्वेदश्च हितैषिणाम् ॥ ११ ॥
दानपूजातपःशीलविशेषाश्च विशेषतः । बन्धमोक्षौ तयोर्हेतुफले चाऽसुभृतां पृथक् ॥ १२ ॥
घटामटति युक्त्यैव सदसत्त्वादिकल्पना । ख्याता प्राणिदया यत्र मातेव हितकारिणी ॥ १३ ॥

संसारको नष्ट करनेवाले जिन शान्तिनाथ भगवान्‌का ज्ञान, पर्याय सहित समस्त द्रव्योंको जानकर आगे जानने योग्य द्रव्य न रहनेसे विश्रान्त हो गया वे शान्तिनाथ भगवान् तुम सबकी शान्तिके लिए हों ॥ १ ॥ पदार्थके यथार्थस्वरूपको देखनेवाला विद्वान् पहले वक्ता, श्रोता तथा कथाके भेदोंका वर्णन कर पीछे गम्भीर अर्थसे भरी हुई धर्मकथा कहे ॥२॥ विद्वान् होना, श्रेष्ठ चारित्र धारण करना, दयालु होना, बुद्धिमान् होना, बोलनेमें चतुर होना, दूसरोंके इशारेको समझ लेना, प्रश्नोंके उपद्रवको सहन करना, मुख अच्छा होना, लोक-व्यवहारका ज्ञाता होना, प्रसिद्धि तथा पूजाकी अपेक्षा नहीं रखना और थोड़ा बोलना, इत्यादि धर्मोपदेश देनेवालेके गुण हैं॥३-४॥ यदि वक्ता तत्त्वोंका जानकार होकर भी चारित्रसे रहित होगा तो यह कहे अनुसार स्वयं आचरण क्यों नहीं करता ऐसा सोचकर साधारण मनुष्य उसकी बातको ग्रहण नहीं करेंगे ॥५॥ यदि वक्ता सम्यक् चारित्रसे युक्त होकर भी शास्त्रका ज्ञाता नहीं होगा तो वह थोड़े-से शास्त्र-ज्ञानसे उद्धत हुए मनुष्योंके हास्ययुक्त वचनोंसे समीचीन मोक्षमार्गकी हँसी करावेगा ॥ ६ ॥ जिस प्रकार ज्ञान और दर्शन जीवका अबाधित स्वरूप है उसी प्रकार विद्वत्ता और सच्चरित्रता वक्ताका मुख्य लक्षण है ॥७॥ 'यह योग्य है ? अथवा अयोग्य है ?' इस प्रकार कही हुई बातका अच्छी तरह विचार कर सकता हो, अवसरपर अयोग्य बातके दोष कह सकता हो, उत्तम बातको भक्तिसे ग्रहण करता हो, उपदेश-श्रवणके पहले ग्रहण किये हुए असार उपदेशमें जो विशेष आदर अथवा हठ नहीं करता हो, भूल हो जानेपर जो हँसी करता हो, गुरुभक्त हो, क्षमावान् हो, संसारसे डरनेवाला हो, कहे हुए वचनोंको धारण करनेमें तत्पर हो, तोता मिट्टी अथवा हंसके गुणोंसे सहित हो वह श्रोता कहलाता है ॥ ८-१०॥ जिसमें जीव अजीव आदि पदार्थोंका अच्छी तरह निरूपण किया जाता हो, हितेच्छु मनुष्योंको शरीर, संसार और भोगोंसे वैराग्य प्राप्त कराया जाता हो, दान, पूजा, तप और शीलकी विशेषताएँ विशेषताके साथ बतलायी जाती हों, जीवोंके लिए बन्ध, मोक्ष तथा उनके कारण और फलोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता हो, जिसमें सत् और असत्‌की कल्पना युक्तिसे की जाती हो, जहाँ माताके समान हित करनेवाली दयाका खूब वर्णन हो, और जिसके सुननेसे प्राणी सर्वपरि

---

१. ख्यातिपूजाद्यमीक्षणम् ल० । २. भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद्भृशं भीतिमान् सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम् । धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं गृह्णन् धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः ॥ ७ ॥ आत्मानुशासने गुणभद्रस्य । ३. पशु क० ग० घ० ।

सर्वसंगपरित्यागाद्यत्र यान्त्यङ्गिनः शिवम् । तत्त्वधर्मकथा सा स्यात्साऽन्या धर्मकथापरा ॥ १४ ॥
एवं पृथग्विनिर्दिश्य वक्त्रादित्रयलक्षणम् । अतः परं प्रवक्ष्यामि शान्तीशचरितं महत् ॥ १५ ॥
अथास्य द्वीपनाथस्य जम्बूद्वीपमहीपतेः । लवणाम्भोधिनीलाम्भो लसद्विपुलवाससः ॥ १६ ॥
वक्त्रलीलां दधद्भात्यभीष्टं भरताह्वयम् । षट्खण्डमण्डितं वार्द्धिहिमवन्मध्यसंश्रितम् ॥ १७ ॥
भोगभूभोगनागादिदशाङ्गश्चक्रिणामपि । तत्र तीर्थकृतां [1]चैश्यं सिद्धिश्चाघातिसंक्षयात् ॥ १८ ॥
तस्मात्स्वर्गलोकाच्च वरिष्ठं वर्ण्यते बुधैः । ऐरावतसमं वृद्धिहानिभ्यां परिवर्तनात् ॥ १९ ॥
मध्ये तस्य गिरिर्भाति भरतार्द्धविभागकृत् । पूर्वापरायतस्तुङ्गः यशोराशिरिवोज्ज्वलः ॥ २० ॥
सर्वलोकजयाज्जाततोषाया वसुधास्त्रियः । पुञ्जीभूतः प्रहासो वा राजते राजताचलः ॥ २१ ॥
सफला सर्वदा वृष्टिर्ममोपरि न जातुचित् । युष्माकमिति शैलेन्द्रान् हसतीव स्वतेजसा ॥ २२ ॥
चलस्वभावे कुटिले जलाढ्ये जलधिप्रिये । [2]गुहास्यादिति नद्यौ योऽवमीदिति जुगुप्सया ॥ २३ ॥
देवविद्याधरैः सेव्यः सदा स्वाश्रयवर्तिभिः । सर्वेन्द्रियसुखस्थानमेष चक्रिणमन्वगात् ॥ २४ ॥
अपाच्यां चक्रवालान्तं पूःश्रेण्यां रथनूपुरम् । [3]सबलाकमिव व्योम कुर्वती यत्र केतुभिः ॥ २५ ॥
वेष्टिता रत्नशालेन या पयोधरचुम्बिना । रत्नवेदिकयेवेयं जम्बूद्वीपवसुन्धरा ॥ २६ ॥
वर्द्धन्ते यत्र धर्मार्थकामाः संहर्षणादिव । यस्यां दरिद्रशब्दस्य बहिरर्थनिवृत्तितः ॥ २७ ॥

ग्रहका त्याग कर मोक्ष प्राप्त करते हों वह तत्त्वधर्म कथा कहलाती है इसका दूसरा नाम धर्मकथा भी है ॥ ११–१४ ॥ इस प्रकार वक्ता, श्रोता और धर्मकथाके पृथक्-पृथक् लक्षण कहे। अब इसके आगे शान्तिनाथ भगवान्‌का विस्तृत चरित्र कहता हूँ ॥ १५ ॥

अथानन्तर—जो समस्त द्वीपोंका स्वामी है और लवणसमुद्रका नीला जल ही जिसके बड़े शोभायमान वस्त्र हैं ऐसे जम्बूद्वीपरूपी महाराजके मुखकी शोभाको धारण करनेवाला, छह खण्डोंसे सुशोभित, लवणसमुद्र तथा हिमवान् पर्वतके मध्यमें स्थित भरतनामका एक अभीष्ट क्षेत्र है ॥१६-१७॥ वहाँ भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले भोगोंको आदि लेकर चक्रवर्ती दश प्रकारके भोग, तीर्थंकरोंका ऐश्वर्य और अघातिया कर्मोंके क्षयसे प्रकट होनेवाली सिद्धि-मुक्ति भी प्राप्त होती है इसलिए विद्वान् लोग उसे स्वर्गलोकसे भी श्रेष्ठ कहते हैं। उस क्षेत्रमें ऐरावत क्षेत्रके समान वृद्धि और ह्रासके द्वारा परिवर्तन होता रहता है ॥१८-१९॥ उसके ठीक बीचमें भरतक्षेत्रका आधा विभाग करनेवाला, पूर्वसे पश्चिम तक लम्बा तथा ऊँचा विजयार्ध पर्वत सुशोभित होता है जो कि उज्ज्वल यशके समूहके समान जान पड़ता है ॥२०॥ अथवा चाँदीका बना हुआ वह विजयार्ध पर्वत ऐसा जान पड़ता है कि स्वर्ग लोकको जीतनेसे जिसे सन्तोष उत्पन्न हुआ है ऐसी पृथिवीरूपी स्त्रीका इकट्ठा हुआ मानो हास्य ही हो ॥ २१ ॥ हमारे ऊपर पड़ी हुई वृष्टि सदा सफल होती है और तुम लोगोंके ऊपर पड़ी हुई वृष्टि कभी सफल नहीं होती इस प्रकार वह पर्वत अपने तेजसे सुमेरु पर्वतोंकी मानो हँसी ही करता रहता है ॥२२॥ ये नदियाँ चंचल स्वभाववाली हैं, कुटिल हैं, जलसे (पक्षमें जड़-मूर्खोंसे) आढ्य–सहित हैं, और जलधि–समुद्र (पक्षमें जडधि–मूर्ख) को प्रिय हैं इसलिए घृणासे ही मानो उसने गंगा-सिन्धु इन दो नदियोंको अपने गुहारूपी मुखसे वमन कर दिया था ॥ २३ ॥ वह पर्वत चक्रवर्तीका अनुकरण करता था क्योंकि जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने आश्रयमें रहनेवाले देव और विद्याधरोंके द्वारा सदा सेवनीय होता है और समस्त इन्द्रिय-सुखोंका स्थान होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी अपने-अपने आश्रयमें रहनेवाले देव और विद्याधरोंसे सदा सेवित था और समस्त इन्द्रिय-सुखोंका स्थान था ॥२४॥ उस विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें रथनूपुर चक्रवाल नामकी नगरी है जो अपनी पताकाओंसे आकाशको मानो बलाकाओंसे सहित ही करती रहती है ॥२५॥ वह मेघोंको चूमनेवाले रत्नमय कोटसे घिरी हुई है इसलिए ऐसी जान पड़ती है मानो रत्नकी वेदिकासे घिरी हुई जम्बूद्वीपकी भूमि ही हो ॥२६॥ वहाँ धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ हर्षसे बढ़ रहे थे और दरिद्र शब्द कहीं बाहरसे भी नहीं दिखाई देता था—सदा छिपा रहता था

---

१. ब ऐश्यं ऐश्वर्यम् । २. गृहास्यादिति ल० । ३. स्वर्गलोक ल० ।

प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगैरन्यदुर्गमैः । पदार्थानां परीक्षेव गोपुरैर्याव भासते ॥ २८ ॥
अशीलभूषणा यत्र न सन्ति कुलयोषितः । वाचो जिनेन्द्रविद्यायामिवाचारित्रदेशिकाः ॥ २९ ॥
ज्वलनादिजटी तस्याः पतिः खगपतिः कृती । मणीनामिव वाराशिर्गुणिनामाकरोऽभवत् ॥ ३० ॥
प्रतापाद्विद्विषो यस्य म्लानुर्वार्कस्य पल्लवाः । वृष्ट्याऽवर्द्धन्त वल्लर्यो वा नीत्या सफलाः प्रजाः ॥ ३१ ॥
तेन स्थाने यथाकालं शालयो वा सुयोजिताः । सामाद्यः सदोपायाः प्राफलन् बहुभोगतः ॥ ३२ ॥
अतीतान् विश्वभूपेशान् संख्याभेदानिवोत्तरः । गुणस्थानकवृद्धिभ्यां विजित्य स महानभूत् ॥ ३३ ॥
उभयायत्तसिद्धित्वाद् दैवपौरुषयोगतः । [1]कोपद्वयव्यपेतत्वात्तन्त्रावापविमर्शनात् ॥ ३४ ॥
शक्तिसिद्ध्यनुगामित्वाद्योगक्षेमसमागमात् । षड्गुणानुगुणत्वाच्च तद्राज्यमुदितोदितम् ॥ ३५ ॥
तिलकान्तदिवीत्यासीत्पुरं तत्र महीपतिः । चन्द्राभस्तत्प्रिया नाम्ना सुभद्रेति तयोः सुता ॥ ३६ ॥
वायुवेगा जिताशेषवेगिविद्याधराधिपा । स्ववेगविद्यया प्रोद्यद्विद्युद्द्योतजिद्द्युतिः ॥ ३७ ॥
तस्य त्रिवर्गनिष्पत्त्यै सा विश्वगुणभूषणा । भूता पुरुषकारस्य सदैवस्येव शेमुषी ॥ ३८ ॥
प्रतिपच्चन्द्ररेखेव सा सर्वजनसंस्तुता । द्वितीयेव धरारक्ता भोग्या तेन स्वपौरुषात् ॥ ३९ ॥
लक्ष्मीः परिकरस्तस्या व्यधायि विविधर्द्धिका । तत्प्रेमप्रेरणात्तेन बालभ्ये न करोति किम् ॥ ४० ॥

॥२७॥ जिस प्रकार अन्य मतावलम्बियोंके लिए दुर्गम-कठिन प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोग इन चार उपायोंके द्वारा पदार्थोंकी परीक्षा सुशोभित होती है उसी प्रकार शत्रुओंके लिए दुर्गम-दुःखसे प्रवेश करनेके योग्य चार गोपुरोंसे वह नगरी सुशोभित हो रही थी ॥२८॥ जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌की विद्यामें अचारित्र—असंयमका उपदेश देनेवाले वचन नहीं हैं उसी प्रकार उस नगरीमें शीलरूपी आभूषणसे रहित कुलवती स्त्रियाँ नहीं थीं ॥ २९ ॥ ज्वलनजटी विद्याधर उस नगरीका राजा था, जो अत्यन्त कुशल था और जिस प्रकार मणियोंका आकर—खान समुद्र है उसी प्रकार वह गुणी मनुष्योंका आकर था ॥३०॥ जिस प्रकार सूर्यके प्रतापसे नये पत्ते मुरझा जाते हैं उसी प्रकार उसके प्रतापसे शत्रु मुरझा जाते थे—कान्तिहीन हो जाते थे और जिस प्रकार वर्षासे लताएँ बढ़ने लगती हैं उसी प्रकार उनकी नीतिसे प्रजा सफल होकर बढ़ रही थी ॥३१॥ जिस प्रकार यथासमय यथास्थान बोये हुए धान उत्तम फल देते हैं उसी प्रकार उसके द्वारा यथासमय यथास्थान प्रयोग किये हुए साम आदि उपाय बहुत फल देते थे ॥३२॥ जिस प्रकार आगेकी संख्या पिछली संख्याओंसे बड़ी होती है उसी प्रकार वह राजा पिछले समस्त राजाओंको अपने गुणों और स्थानोंसे जीतकर बड़ा हुआ था ॥ ३३ ॥ उसकी समस्त सिद्धियाँ देव और पुरुषार्थ दोनोंके अधीन थीं, वह मन्त्री आदि मूल प्रकृति तथा प्रजा आदि बाह्य प्रकृतिके क्रोधसे रहित होकर स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्रका विचार करता था, उत्साह शक्ति, मन्त्र शक्ति और प्रभुत्वशक्ति इन तीन शक्तियों तथा इनसे निष्पन्न होनेवाली तीन सिद्धियोंकी अनुकूलतासे उसे सदा योग और क्षेमका समागम होता रहता था, साथ ही वह सन्धि विग्रह यान आदि छह गुणोंकी अनुकूलता रखता था इसलिए उसका राज्य निरन्तर बढ़ता ही रहता था ॥ ३४–३५ ॥

उसी विजयार्ध पर द्युतिलक नामका दूसरा नगर था। राजा चन्द्राभ उसमें राज्य करता था, उसकी रानीका नाम सुभद्रा था। उन दोनोंके वायुवेगा नामकी पुत्री थी। उसने अपनी वेगविद्याके द्वारा समस्त वेगशाली विद्याधर राजाओंको जीत लिया था। उसकी कान्ति चमकती हुई बिजलीके प्रकाशको जीतनेवाली थी ॥३६–३७॥ जिस प्रकार भाग्यशाली पुरुषार्थी मनुष्यकी बुद्धि उसकी त्रिवर्ग सिद्धिका कारण होती है उसी प्रकार समस्त गुणोंसे विभूषित वह वायुवेगा राजा ज्वलनजटीकी त्रिवर्गसिद्धिका कारण हुई थी ॥३८॥ प्रतिपदाके चन्द्रमाकी रेखाके समान वह सब मनुष्योंके द्वारा स्तुत्य थी। तथा अनुरागसे भरी हुई द्वितीय भूमिके समान वह अपने ही पुरुषार्थसे राजा ज्वलनके भोगने योग्य हुई थी ॥३९॥ वायुवेगाके प्रेमकी

१. कोपोदयव्यपेतत्वात्तत्रा–ल० ।

कौर्कान्यादनुरक्तत्वादभूत्सैकपतिः सती । भूपतेश्चैकभार्यत्वं प्रेमाधिक्याज्जगुर्जनाः ॥४१॥
रूपादिगुणसंपत्तिस्तस्याः किं कथ्यते पृथक् । तस्य पौलोमवच्छक्रे तस्यां प्रीतिरमानुषी ॥४२॥
दयायबोधयोर्मोक्ष इव सूनुस्तयोरभूत् । अर्ककीर्तिः स्वकीर्त्याभाप्रभासितजगत्त्रयः ॥४३॥
नीतिविक्रमयोर्लक्ष्मीरिव सर्वमनोहरा । स्वयंप्रभाभिधानाऽऽसीत्प्रभेव विधुना सह ॥४४॥
मुखेनाम्भोजमक्षिभ्यामुत्पलं मणिदर्पणम् । त्विषा कान्त्या विधुं जित्वा बभौ सा जयपताकया ॥४५॥
उत्पन्नं यौवनं तस्यां लतिकायां प्रसूनवत् । खगकामिषु पुष्पेषुज्वरश्चोत्थापितस्तया ॥४६॥
आपाण्डुगण्डभामासिवक्त्रलोलविलोचना । मध्याङ्गकार्श्यसंभूतसंभ्रान्त्येव स्वयंप्रभा ॥४७॥
तन्व्या रोमावली तन्वी हरिनीलरुचिर्बभौ । आरुरुक्षुरिवोद्धत्या तुङ्गपीनघनस्तनौ ॥४८॥
अनालीढमनोजापि व्यक्ततद्विक्रियेव सा । संलक्ष्यौवनेनैव जनानामगमद्दृशम् ॥४९॥
अथान्येद्युर्जगन्नन्दनाभिनन्दनचारणौ । स्थितौ मनोहरोद्याने ज्ञात्वा पतिर्निवेदकात् ॥५०॥
चतुरङ्गबलोपेतः सपुत्रोऽन्तःपुरावृतः । गत्वाभिवन्द्य सद्धर्मश्रवणानन्तरं परम् ॥५१॥
सम्यग्दर्शनमादाय दानशीलादि चादरात् । प्रणम्य चारणौ भक्त्या प्रत्येत्य प्राविशत्पुरम् ॥५२॥
स्वयंप्रभापि सद्धर्मं तत्रादायैकदा मुदा । पर्वोपवासप्रम्लानतनुरभ्यर्च्य चार्हतः ॥५३॥

प्रेरणासे ज्वलनजटीने अनेक ऋद्धियोंसे युक्त राजलक्ष्मीको उसका परिकर—दासी बना दिया था सो ठीक ही है क्योंकि अलभ्य वस्तुके विषयमें मनुष्य क्या नहीं करता है ? ॥४०॥ बड़े कुलमें उत्पन्न होनेसे तथा अनुरागसे युक्त होनेके कारण उस पतिव्रताके एक पतिव्रत था और प्रेमकी अधिकतासे उस राजाके एकपत्नीव्रत था ऐसा लोग कहते हैं ॥४१॥ जिस प्रकार इन्द्राणीमें इन्द्रकी लोकोत्तर प्रीति होती है उसी प्रकार उसमें ज्वलनजटीकी लोकोत्तर प्रीति थी फिर उसके रूपादि गुणोंका पृथक्-पृथक् क्या वर्णन किया जावे ॥४२॥ जिस प्रकार दया और सम्यग्ज्ञानके मोक्ष होता है उसी प्रकार उन दोनोंके अपनी कीर्तिकी प्रभासे तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाला अर्ककीर्ति नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥४३॥ जिस प्रकार नीति और पराक्रमके लक्ष्मी होती है उसी प्रकार उन दोनोंके सबका मन हरनेवाली स्वयम्प्रभा नामकी पुत्री भी उत्पन्न हुई जो अर्ककीर्तिके साथ इस प्रकार बढ़ने लगी जिस प्रकारकी चन्द्रमाके साथ उसकी प्रभा बढ़ती है ॥४४॥ वह मुखसे कमलको, नेत्रोंसे उत्पलको, आभासे मणिमय दर्पणको और कान्तिसे चन्द्रमाको जीतकर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो भौंहरूप पताका ही फहरा रही हो ॥४५॥ लतामें फूलके समान ज्यों ही उसके शरीरमें यौवन उत्पन्न हुआ त्यों ही उसने कामी विद्याधरोंमें कामज्वर उत्पन्न कर दिया ॥४६॥ कुछ-कुछ पीले और सफेद कपोलोंकी कान्तिसे सुशोभित मुखमण्डलपर उसके नेत्र बड़े चंचल हो रहे थे जिनसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कमरको पतली देख उसके टूट जानेके भयसे ही नेत्रोंको चंचल कर रही हो ॥४७॥ उस दुबली पतली स्वयम्प्रभाकी इन्द्रनील मणिके समान कान्तिवाली पतली रोमावली ऐसी जान पड़ती थी मानो उछलकर ऊँचे स्थूल और निबिड़ स्तनोंपर चढ़ना ही चाहती हो ॥४८॥ यद्यपि कामदेवने उसका स्पर्श नहीं किया था तथापि प्राप्त हुए यौवनसे ही वह कामदेवके विकारको प्रकट करती हुई-सी मनुष्योंके दृष्टिगोचर हो रही थी ॥४९॥

अथानन्तर किसी एक दिन जगन्नन्दन और नाभिनन्दन नामके दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज मनोहर नामक उद्यानमें आकर विराजमान हुए। उनके आगमनकी खबर देनेवाले वनपालसे यह समाचार जानकर राजा चतुरंग सेना, पुत्र तथा अन्तःपुरके साथ उनके समीप गया। वहाँ वन्दना कर उसने श्रेष्ठ धर्मका स्वरूप सुना, बड़े आदरसे सम्यग्दर्शन तथा दान शील आदि व्रत ग्रहण किये, तदनन्तर भक्तिपूर्वक उन चारणऋद्धिधारी मुनियोंको प्रणाम कर वह नगरमें वापस आ गया ॥५०-५२॥ स्वयम्प्रभाने भी वहाँ समीचीन धर्म ग्रहण किया। एक दिन उसने पर्वके समय

---

१. दिगन्तरः ल० ।

तत्पादपङ्कजस्पर्शात्पवित्रां पापहां स्रजम् । चित्रां पित्रेऽदित स्वाभ्यां हस्ताभ्यां विनयानता ॥५४॥
तामादाय महीनाथो भक्त्यापश्यत्स्वयंप्रभाम् । उपवासपरिश्रान्तां पारयेति विसर्ज्य ताम् ॥५५॥
यौवनापूर्णसर्वाङ्गरमणीया प्रियात्मजा । कस्मै देयेयमित्येवमात्मन्येव वितर्कयन् ॥५६॥
[1]मन्त्रिवर्गं समाहूय प्रस्तुतार्थं न्यवेदयत् । श्रुत्वा तत्सुश्रुतः प्राह परीक्ष्यात्मनि निश्चितम् ॥५७॥
अमुष्मिन्नुत्तरश्रेण्यामलकाख्यपुरेशिनः । मयूरग्रीवसंज्ञस्य प्रिया नीलाञ्जना तयोः ॥५८॥
अश्वग्रीवोऽग्रिमो नीलरथः कण्ठान्तनीलसु । वज्राख्यातास्त्रयः सर्वेऽप्यभूवन् पञ्च सूनवः ॥५९॥
अश्वग्रीवस्य कनकचित्रा देवी सुतास्तयोः । ते ग्रीवाङ्गदचूडान्तरत्ना रत्नरथादिभिः ॥६०॥
शतानि पञ्च मन्त्र्यस्य हरिश्मश्रुः श्रुताम्बुधिः । शतबिन्दुश्च नैमित्तिकोऽष्टाङ्गनिपुणो महान् ॥६१॥
इति सम्पूर्णराज्याय खगश्रेणीद्वयेशिने । अश्वग्रीवाय दातव्या कन्येत्येतद्विचारयन् ॥६२॥
अस्त्येव सुश्रुताख्यातं सर्वमित्यवनीपतिम् । इदं बहुश्रुतोऽवोचदुत्तरं स्वमनोगतम् ॥६३॥
स्वाभिजात्यमरोगत्वं वयः शीलं श्रुतं वपुः । लक्ष्मीः पक्षः परीवारो वरे नव गुणाः स्मृताः ॥६४॥
अश्वग्रीवे त एतेऽपि सन्ति किन्तु वयोऽधिकम् । तस्मात्कोऽपि वरोऽन्योऽस्तु सवयास्तद्गुणान्वितः ॥६५॥
राजा सिंहरथः ख्यातः पुरे गगनवल्लभे । परः पद्मरथो मेघपुरे चित्रपुराधिराट् ॥६६॥
अरिंजयाख्यस्त्रिपुरे खगेशो ललिताङ्गदः । कनकादिरथो विद्याकुशलोऽश्वपुरेश्वरः ॥६७॥
महारत्नपुरे विश्वखगाधीशो धनंजयः । कन्यैष्वेकतमायेयं दातव्येति विनिश्चितम् ॥६८॥
अवधार्य वचस्तस्य विचार्य श्रुतसागरः । स्मृतिचक्षुरिमां वाचं व्याजहार मनोहराम् ॥६९॥

उपवास किया जिससे उसका शरीर कुछ म्लान हो गया। उसने अर्हन्त भगवान्‌की पूजा की तथा उनके चरण-कमलोंके सम्पर्कसे पवित्र पापहारिणी विचित्र माला विनयसे झुककर दोनों हाथोंसे पिताके लिए दी ॥५३-५४॥ राजाने भक्तिपूर्वक वह माला ले ली और उपवाससे थकी हुई स्वयम्प्रभाकी ओर देख, 'जाओ पारणा करो' यह कह उसे विदा किया ॥५५॥ पुत्रीके चले जानेपर राजा मन-ही-मन विचार करने लगा कि जो यौवनसे परिपूर्ण समस्त अंगोंसे सुन्दर है ऐसी यह पुत्री किसके लिए देनी चाहिए ॥५६॥ उसने उसी समय मन्त्रिवर्गको बुलाकर प्रकृत बात कही, उसे सुनकर सुश्रुत नामका मन्त्री परीक्षा कर तथा अपने मनमें निश्चय कर बोला ॥५७॥ कि इसी विजयार्धकी उत्तर श्रेणीमें अलका नगरीके राजा मयूरग्रीव हैं, उनकी स्त्रीका नाम नीलांजना है, उन दोनोंके अश्वग्रीव, नीलरथ, नीलकण्ठ, सुकण्ठ और वज्रकण्ठ नामके पाँच पुत्र हैं। इनमें अश्वग्रीव सबसे बड़ा है ॥५८-५९॥ अश्वग्रीवकी स्त्रीका नाम कनकचित्रा है उन दोनोंके रत्नग्रीव, रत्नांगद, रत्नचूड तथा रत्नरथ आदि पाँच सौ पुत्र हैं। शास्त्रज्ञानका सागर हरिश्मश्रु इसका मन्त्री है तथा शतबिन्दु निमित्तज्ञानी है—पुरोहित है जो कि अष्टांग निमित्तज्ञानमें अतिशय निपुण है ॥६०-६१॥ इस प्रकार अश्वग्रीव सम्पूर्ण राज्यका अधिपति है और दोनों श्रेणियोंका स्वामी है अतः इसके लिए ही कन्या देनी चाहिए ॥६२॥ इसके बाद सुश्रुत मन्त्रीके द्वारा कही हुई बातका विचार करता हुआ बहुश्रुत मन्त्री राजासे अपने हृदयकी बात कहने लगा। वह बोला कि सुश्रुत मन्त्रीने जो कुछ कहा है वह यद्यपि ठीक है तो भी निम्नांकित बात विचारणीय है। कुलीनता, आरोग्य, अवस्था, शील, श्रुत, शरीर, लक्ष्मी, पक्ष और परिवार, वर के ये नौ गुण कहे गये हैं। अश्वग्रीवमें यद्यपि ये सभी गुण विद्यमान हैं किन्तु उसकी अवस्था अधिक है, अतः कोई दूसरा वर जिसकी अवस्था कन्याके समान हो और गुण अश्वग्रीवके समान हों, खोजना चाहिए ॥६३-६५॥ गगनवल्लभपुरका राजा सिंहरथ प्रसिद्ध है, मेघपुरमें श्रेष्ठ राजा पद्मरथ रहता है, चित्रपुरका स्वामी अरिंजय है। त्रिपुरनगरमें विद्याधरोंका राजा ललितांगद रहता है, अश्वपुरका राजा कनकरथ विद्यामें अत्यन्त कुशल है, और महारत्नपुरका राजा धनंजय समस्त विद्याधरोंका स्वामी है। इनमें-से किसी एकके लिए कन्या देनी चाहिए, यह निश्चय है ॥६६-६८॥ बहुश्रुतके

---

१. नृपवर्गं ग०।

कुलारोग्यवयोरूपाद्युपेताय यदीष्यते । दातुं कन्या मया किंचिदुच्यते श्रूयतां मनाक् ॥ ७० ॥
पुरं सुरेन्द्रकान्तारमुदक्श्रेण्यां तदीश्वरः । मेघवाहननामास्य प्रियाभून्मेघमालिनी ॥ ७१ ॥
तयोर्विद्युत्प्रभः सूनुर्ज्योतिर्मालामला सुता । खगाधीशो ननन्दाभ्यामिवायेन धिया च सः ॥ ७२ ॥
सिद्धकूटमगात्स्तोतुं कदाचिन्मेघवाहनः । तत्र दृष्ट्वावधिज्ञानं वरधर्माख्यचारणम् ॥ ७३ ॥
वन्दित्वा धर्ममाकर्ण्य स्वसूनोः प्राक्तनं भवम् । पप्रच्छ शृणु विद्याभृन्नग्रगीत्यादेति सोऽब्रवीत् ॥ ७४ ॥
द्वीपेऽस्मिन् प्राग्विदेहेऽस्ति विषयो वत्सकावती । पुरी प्रभाकरी राजा नन्दनः सुन्दराकृतिः ॥ ७५ ॥
सूनुर्विजयभद्रोऽस्य जयसेनोदरोदितः । सोऽन्यदा फलितं चूतं वने वीक्ष्य मनोहरे ॥ ७६ ॥
विफलं तत्समुद्भूतवैराग्यः पिहितास्रवात् । गुरोः सहस्रैर्भूपालैश्चतुर्भिः संयमं ययौ ॥ ७७ ॥
प्रान्ते माहेन्द्रकल्पेऽभूद्विमाने चक्रकाह्वये । सप्ताब्धिजीवितो दिव्यभोगांस्तत्रान्वभूच्चिरम् ॥ ७८ ॥
ततः प्रच्युत्य सूनुस्तेऽजायतायं प्रयाति च । निर्वाणमिति संस्तोतुं मया यातेन तच्छ्रुतम् ॥ ७९ ॥
तस्मै वरगुणैः सर्वैः पूर्णायेयं प्रदीयताम् । ज्योतिर्माला च गृह्णीमः सपुण्यामर्ककीर्तये ॥ ८० ॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा सुमतिर्मतिसत्तमः । कन्यां संप्रार्थयन्तेऽमी खगाधीशाः पृथक् पृथक् ॥ ८१ ॥
तस्मान्नास्मै प्रदातव्या बहुवैरं भवेत्ततः । स्वयंवरविधिः श्रेयानित्युक्त्वा विरराम सः ॥ ८२ ॥
तदेवानुमतं सर्वैस्ततः संपूज्य मन्त्रिणः । विसर्ज्य खेचराधीशः संभिन्नश्रोतृनामकम् ॥ ८३ ॥

वचन हृदयमें धारण कर तथा विचार कर स्मृतिरूपी नेत्रको धारण करनेवाला श्रुत नामका तीसरा मन्त्री निम्नांकित मनोहर वचन कहने लगा ॥६६॥ यदि कुल, आरोग्य, वय और रूप आदिसे सहित वरके लिए कन्या देना चाहते हों तो मैं कुछ कहता हूँ उसे थोड़ा सुनिए ॥७०॥

इसी विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें सुरेन्द्रकान्तार नामका नगर है उसके राजाका नाम मेघवाहन है। उसके मेघमालिनी नामकी वल्लभा है। उन दोनोंके विद्युत्प्रभ नामका पुत्र और ज्योतिर्माला नामकी निर्मल पुत्री है। खगेन्द्र मेघवाहन इन दोनों पुत्र-पुत्रियोंसे ऐसा समृद्धिमान् सम्पन्न हो रहा था जैसा कि कोई पुण्य कर्म और सुबुद्धिसे होता है। अर्थात् पुत्र पुण्यके समान था और पुत्री बुद्धिके समान थी ॥७१-७२॥ किसी एक दिन मेघवाहन स्तुति करनेके लिए सिद्धकूट गया था। वहाँ वरधर्म नामके अवधिज्ञानी चारणऋद्धिधारी मुनिकी वन्दना कर उसने पहले तो धर्मका स्वरूप सुना और बादमें अपने पुत्रके पूर्व भव पूछे। मुनिने कहा कि हे विद्याधर ! चित्त लगाकर सुनो, मैं कहता हूँ ॥७३-७४॥

जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें वत्सकावती नामका देश है उसमें प्रभाकरी नामकी नगरी है वहाँ सुन्दर आकारवाला नन्दन नामका राजा राज्य करता था ॥७५॥ जयसेना स्त्रीके उदरसे उत्पन्न हुआ विजयभद्र नामका इसका पुत्र था। उस विजयभद्रने किसी दिन मनोहर नामक उद्यानमें फला हुआ आमका वृक्ष देखा फिर कुछ दिन बाद उसी वृक्षको फलरहित देखा। यह देख उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया और पिहितास्रवके गुरुसे चार हजार राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥७६-७७॥ आयुके अन्तमें माहेन्द्र स्वर्गके चक्रक नामक विमानमें सातसागरकी आयुवाला देव हुआ। वहाँ चिरकाल तक दिव्यभोगोंका उपभोग करता रहा ॥७८॥ वहाँसे च्युत होकर यह तुम्हारा पुत्र हुआ है और इसी भवसे निर्वाणको प्राप्त होगा। श्रुतसागर मन्त्री कहने लगा कि मैं भी स्तुति करनेके लिए सिद्धकूट जिनालयमें वरधर्म नामक चारण मुनिके पास गया था वहीं यह सब मैंने सुना है ॥७९॥ इस प्रकार विद्युत्प्रभ वरके योग्य समस्त गुणोंसे सहित है उसे ही यह कन्या दी जावे और उसकी पुण्यशालिनी बहन ज्योतिर्मालाको हम लोग अर्ककीर्तिके लिए स्वीकृत करें ॥८०॥ इस प्रकार श्रुतसागरके वचन सुनकर विद्वानोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ सुमति नामका मन्त्री बोला कि इस कन्याको पृथक्-पृथक् अनेक विद्याधर राजा चाहते हैं इसलिए विद्युत्प्रभको कन्या नहीं देनी चाहिए क्योंकि ऐसा करनेसे बहुत राजाओंके साथ वैर हो जानेकी सम्भावना है मेरी समझसे तो स्वयंवर करना ठीक होगा। ऐसा कहकर वह चुप हो गया ॥८१-८२॥ सब लोगोंने यही बात स्वीकृत कर ली, इसलिए विद्याधर राजाने सब मन्त्रियोंको बिदा कर दिया

स्वयंप्रभायाः कश्चेतोवल्लभो भवतेति तम् । अपृच्छन् स पुराणार्थवेदीत्थं प्रत्युवाच तम् ॥ ८४ ॥
गुरुः प्रथमचक्रेशं प्राक्पुराणनिरूपणे । आदिकेशवसंबद्धमित्यवोचत्कथान्तरम् ॥ ८५ ॥
द्वीपेऽस्मिन् पुष्कलावत्यां विषये प्राग्विदेहजे । समीपे पुण्डरीकिण्या नगर्या मधुके वने ॥ ८६ ॥
पुरूरवा वनाधीशो मार्गभ्रष्टस्य दर्शनात् । मुनेः सागरसेनस्य पथः संचितपुण्यकः ॥ ८७ ॥
मद्यमांसनिवृत्तेश्च कृतसौधर्मसंभवः । ततः प्रच्युत्य तेऽनन्तसेनायाश्च सुतोऽभवत् ॥ ८८ ॥
मरीचिरेष दुर्मार्गदेशनानिरतश्चिरम् । भ्रान्त्वा संसारचक्रेऽस्मिन् सुरम्यविषये पुरम् ॥ ८९ ॥
पोदनाख्यं पतिस्तस्य प्रजापतिमहानृपः । स तनूजो मृगावत्यां त्रिपृष्ठोऽस्य भविष्यति ॥ ९० ॥
अग्रजोऽस्यैव भद्राया विजयो भविता सुतः । तावेतौ श्रेयसस्तीर्थे हत्वाऽश्वग्रीवविद्विषम् ॥ ९१ ॥
त्रिखण्डराज्यभागेशौ प्रथमौ बलकेशवौ । त्रिपृष्ठः संसृतौ भ्रान्त्वा भावी तीर्थकरोऽन्तिमः ॥ ९२ ॥
भवतोऽपि नमेः कच्छसुतस्यान्वयसंभवात् । वंशजे नास्ति संबन्धस्तेन बाहुबलीशितुः ॥ ९३ ॥
त्रिपृष्ठाय प्रदातव्या त्रिखण्डश्रीसुखेशिने । अस्तु तस्य मनोहर्त्री कन्या कल्याणभागिनी ॥ ९४ ॥
तेनैव भवतो भावि विश्वविद्याधरेशिता । निश्चित्यैतदनुष्ठेयमादितीर्थकरोदितम् ॥ ९५ ॥
इति तद्वचनं चित्ते विधाय तमसौ मुदा । नैमित्तिकं समापूज्य रथनूपुरभूपतिः ॥ ९६ ॥
सुदूतमिन्दुनामानं सुलेखोपायनान्वितम् । प्रजापतिमहाराजं प्रतिसंप्राहिणोत्तदा ॥ ९७ ॥
स्वयंप्रभापतिर्भावी त्रिपृष्ठ इति भूपतिः । नैमित्तिकाद्विदित्वैतज्जयगुप्तात्पुरैव सः ॥ ९८ ॥
खचराधिपदूतं खादवतीर्णं महोत्सवः । प्रतिगृह्य ससम्मानं वने पुष्पकरण्डके ॥ ९९ ॥

और संभिन्नश्रोतृ नामक निमित्तज्ञानीसे पूछा कि स्वयंप्रभाका हृदयवल्लभ कौन होगा ? पुराणोंके अर्थको जाननेवाले निमित्तज्ञानीने राजाके लिए निम्नप्रकार उत्तर दिया ॥ ८३-८४ ॥ वह कहने लगा कि भगवान् ऋषभदेवने पहले पुराणोंका वर्णन करते समय प्रथम चक्रवर्तीसे, प्रथम नारायणसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा कही थी। जो इस प्रकार है—

इसी जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें एक पुष्कलावती नामका देश है उसकी पुण्डरीकिणी नगरीके समीप ही मधुक नामके वनमें पुरूरवा नामका भीलोंका राजा रहता था। किसी एक दिन मार्ग भूल जानेसे इधर-उधर घूमते हुए सागरसेन मुनिराजके दर्शन कर उसने मार्गमें ही पुण्यका संचय किया तथा मद्य मांस मधुका त्याग कर दिया। इस पुण्यके प्रभावसे वह सौधर्म स्वर्गमें उत्पन्न हुआ और वहाँसे च्युत होकर तुम्हारी अनन्तसेना.नामकी स्त्रीके मरीचि नामका पुत्र हुआ है। यह मिथ्या मार्गके उपदेश देनेमें तत्पर है इसलिए चिरकाल तक इस संसाररूपी चक्रमें भ्रमण कर सुरम्यदेशके पोदनपुर नगरके स्वामी प्रजापति महाराजकी मृगावती रानीसे त्रिपृष्ठ नामका पुत्र होगा ॥ ८५-९० ॥ उन्हीं प्रजापति महाराजकी दूसरी रानी भद्राके एक विजय नामका पुत्र होगा जो कि त्रिपृष्ठका बड़ा भाई होगा। ये दोनों भाई श्रेयान्सनाथ और तीर्थंकरके तीर्थमें अश्वग्रीव नामक शत्रुको मारकर तीन खण्डके स्वामी होंगे और पहले बलभद्र नारायण कहलावेंगे। त्रिपृष्ठ संसारमें भ्रमण कर अन्तिम तीर्थंकर होगा ॥ ९१-९२ ॥ आपका भी जन्म राजा कच्छके पुत्र नमिके वंशमें हुआ है अतः बाहुबली स्वामीके वंशमें उत्पन्न होनेवाले उस त्रिपृष्ठके साथ आपका सम्बन्ध है ही ॥९३॥ इसलिए तीन खण्डकी लक्ष्मी और सुखके स्वामी त्रिपृष्ठके लिए यह कन्या देनी चाहिए, यह कल्याण करनेवाली कन्या उसका मन हरण करनेवाली हो ॥९४॥ त्रिपृष्ठको कन्या देनेसे आप भी समस्त विद्याधरोंके स्वामी हो जावेंगे इसलिए भगवान् आदिनाथके द्वारा कही हुई इस बातका निश्चय कर आपको यह अवश्य ही करना चाहिए ॥९५॥ इस प्रकार निमित्तज्ञानीके वचनोंको हृदयमें धारण कर रथनूपुर नगरके राजाने बड़े हर्षसे उस निमित्तज्ञानीकी पूजा की ॥९६॥ और उसी समय उत्तम लेख और भेंटके साथ इन्दु नामका एक दूत प्रजापति महाराजके पास भेजा ॥ ९७ ॥ 'यह त्रिपृष्ठ स्वयंप्रभाका पति होगा' यह बात प्रजापति महाराजने जयगुप्त नामक निमित्तज्ञानीसे पहले ही जान ली थी इसलिए उसने आकाशसे उतरते हुए विद्याधरराजके दूतका, पुष्पकरण्डक

स दूतो राजगेहं स्वं संप्रविश्य सभागृहे । सिंहासने समासीनः प्राभृतं सचिवार्पितम् ॥१००॥
विलोक्य रागाद् भूपेन स्वानुरागः समर्पितः । प्राभृतेनैव तुष्टाः स्म इति दूतं प्रतोषयन् ॥१०१॥
श्रीत्रिपृष्ठः कुमाराणां वरिष्ठः कन्ययाऽनया । स्वयंप्रभाख्यया लक्ष्म्येवाद्यालंक्रियतामिति ॥ १०२ ॥
श्रुत्वा यथार्थमस्याविर्भूतद्विगुणसंमदः । वाचिकं च समाकर्ण्य भुजाग्राक्रान्तमस्तकः ॥ १०३ ॥
स्वयमेव खगाधीशः स्वजामातुर्महोदयम् । इमं विधातुमन्यं च सचिन्तस्तत्र के वयम् ॥ १०४ ॥
इति दूतं तदायातं कार्यसिद्ध्या प्रसादयन् । प्रपूज्य प्रतिदत्तं च प्रदायाशु व्यसर्जयत् ॥ १०५ ॥
स दूतः सत्वरं गत्वा रथनूपुरनायकम् । प्राप्य प्रणम्य कल्याणकार्यसिद्धिं व्यजिज्ञपत् ॥ १०६ ॥
तच्छ्रुत्वा खेचराधीशः प्रप्रमोदप्रचोदितः । न कालहरणं कार्यमिति कन्यासमन्वितः ॥ १०७ ॥
महाविभूत्या संप्राप्य नगरं पोदनाह्वयम् । उद्बद्धतोरणं दत्तचन्दनच्छटमुत्सुकम् ॥ १०८ ॥
केतुमालाचलद्दोर्भिराह्वयद्वातिसंभ्रमात् । प्रतिपातः स्वसंपत्त्या महीशः प्राविशन्मुदा ॥ १०९ ॥
प्रविश्य स्वोचितस्थाने तेनैव विनिवेशितः । प्राज्यप्राघूर्णकाचारप्रसन्नहृदयाननः ॥ ११० ॥
विवाहोचितविन्यासैस्तर्पिताशेषभूतलः । स्वयंप्रभां प्रभां वान्यां त्रिपृष्ठाय प्रदाय ताम् ॥ १११ ॥
सिंहाहिविद्विड्वाहिन्यौ विद्ये साधयितुं ददौ । ते तत्र सर्वे संभूय न्यगाहन्त सुखाम्बुधिम् ॥ ११२ ॥
इतोऽश्वग्रीवचक्रेशो विनाशपिशुनः पुरे । उत्पातस्त्रिविधः प्रोच्चः सद्यः सममुद्ययौ ॥ ११३ ॥
अभूतपूर्वं तं दृष्ट्वा सहसा भीतिमान् जनः । पल्योपमाष्टभागावशेषे वा भोगभूभुजः ॥ ११४ ॥

नामके वनमें बड़े उत्सवसे स्वागत-सत्कार किया ॥९८-९९॥ महाराज उस दूतके साथ अपने राजभवनमें प्रविष्ट होकर जब सभागृहमें राजसिंहासनपर विराजमान हुए तब मन्त्रीने दूतके द्वारा लायी हुई भेंट समर्पित की। राजाने उस भेंटको बड़े प्रेमसे देखकर अपना अनुराग प्रकट किया और दूतको सन्तुष्ट करते हुए कहा कि हम तो इस भेंटसे ही सन्तुष्ट हो गये ॥१००-१०१॥ तदनन्तर दूतने सन्देश सुनाया कि यह श्रीमान् त्रिपृष्ठ समस्त कुमारोंमें श्रेष्ठ हैं अतः इसे लक्ष्मीके समान स्वयम्प्रभा नामकी इस कन्यासे आज सुशोभित किया जावे। इस यथार्थ सन्देशको सुनकर प्रजापति महाराजका हर्ष दुगुना हो गया। वे मस्तकपर भुजा रखते हुए बोले कि जब विद्याधरोंके राजा स्वयं ही अपने जमाईका यह तथा अन्य महोत्सव करनेके लिए चिन्तित हैं तब हम लोग क्या चीज हैं? ॥१०२-१०४॥ इस प्रकार उस समय आये हुए दूतको महाराज प्रजापतिने कार्यकी सिद्धिसे प्रसन्न किया, उसका सम्मान किया और बदलेकी भेंट देकर शीघ्र ही विदा कर दिया ॥१०५॥ वह दूत भी शीघ्र ही जाकर रथनूपुरनगरके राजाके पास पहुँचा और प्रणाम कर उसने कल्याणकारी कार्य सिद्ध होनेकी खबर दी ॥१०६॥ यह सुनकर विद्याधरोंका राजा बहुत भारी हर्षसे प्रेरित हुआ और सोचने लगा कि 'इस कार्यमें विलम्ब करना योग्य नहीं है' यह विचार कर वह कन्यासहित बड़े ठाट-बाटसे पोदनपुर पहुँचा। उस समय उस नगरमें जगह-जगह तोरण बाँधे गये थे, चन्दनका छिड़काव किया था, सब जगह उत्सुकता-ही-उत्सुकता दिखाई दे रही थी, और पताकाओंकी पंक्तिरूप चंचल भुजाओं-से वह ऐसा जान पड़ता था मानो बुला ही रहा हो। महाराज प्रजापतिने अपनी सम्पत्तिके अनुसार उसकी अगवानी की। इस प्रकार उसने बड़े हर्षसे नगरमें प्रवेश किया ॥१०७-१०९॥ प्रवेश करनेके बाद महाराज प्रजापतिने उसे स्वयं ही योग्य स्थानपर ठहराया और पाहुनेके योग्य उसका सत्कार किया। इस सत्कारसे उसका हृदय तथा मुख दोनों ही प्रसन्न हो गये ॥११०॥ विवाहके योग्य सामग्रीसे उसने समस्त पृथिवी तलको सन्तुष्ट किया और दूसरी प्रभाके समान अपनी स्वयंप्रभा नामकी पुत्री त्रिपृष्ठके लिए देकर सिद्ध करनेके लिए सिंहवाहिनी और गरुड़वाहिनी नामकी दो विद्याएँ दीं। इस तरह वे सब मिलकर सुखरूपी समुद्रमें गोता लगाने लगे ॥१११-११२॥ इधर अश्वग्रीव प्रतिनारायणके नगरमें विनाशको सूचित करनेवाले तीन प्रकारके उत्पात बहुत शीघ्र साथ-ही-साथ होने लगे ॥११३॥ जिस प्रकार तीसरे कालके अन्तमें पल्यका आठवाँ भाग बाकी रहनेपर नयी-नयी बातोंको देखकर भोगभूमिके लोग भयभीत होते हैं उसी

---

१. –सत्यम्त ख० । –मन्यच्च क०, ग०, घ० ।

अश्वग्रीवश्च संभ्रान्तः समन्त्र्य पृष्टवान् पृथक् । शतबिन्दुं निमित्तज्ञं किमेतदिति तत्फलम् ॥ ११५ ॥
येन सिंहो हतः सिन्धुदेशे रूढपराक्रमः । अहारि प्राभृतं येन त्वां प्रति प्रहितं हठात् ॥ ११६ ॥
रथनूपुरनाथेन भवद्योग्यं प्रदायि च । यस्मै स्त्रीरत्नमेतस्मात्संक्षोभस्ते भविष्यति ॥ ११७ ॥
तत्सूचकमिदं सर्वं कुर्वेतस्य[1] प्रतिक्रियाम् । इति नैमित्तिकेनोक्तं कृत्वा हृदि खगाधिपः ॥ ११८ ॥
अरेर्गदस्य चात्मज्ञः प्रादुर्भावनिषेधनम् । विदधाति तदस्याभिर्विस्मृतं सस्मयैर्वृथा ॥ ११९ ॥
इदानीमप्यसौ दुष्टो युष्माभिरविलम्बितम् । विषाङ्कुरवदुच्छेद्य इत्यवादीत् स्वमन्त्रिणः ॥ १२० ॥
तेऽपि तत्सर्वमन्विष्य स्वगूढप्रहितैश्चरैः । नैमित्तिकोक्तं निश्चित्य तस्य सिंहवधादिकम् ॥ १२१ ॥
त्रिपृष्ठो नाम दर्पिष्ठः प्रजापतिसुतः क्षितौ । विश्वक्षितीशानाक्रम्य विक्रमाद्विजिगीषते ॥ १२२ ॥
परीक्षितव्यः सोऽस्मासु[2] कीदृश इति दक्षिणैः । दूतैरिति खगाधीशमवोचन्मन्त्रिणः पृथक् ॥ १२३ ॥
तदाकर्ण्य तदैवासौ चिन्तागतिमनोगती । दूतौ संप्रेषयामास त्रिपृष्ठं प्रति विद्वरौ ॥ १२४ ॥
गत्वा तौ स्वागतिं पूर्वं निवेद्यानुमतौ नृपम् । दृष्ट्वा यथोचितं दत्त्वा प्राभृतं विनयान्वितौ ॥ १२५ ॥
अश्वग्रीवेण देवेन त्वमद्याज्ञापितोऽस्यहम् । रथावर्ताद्रिमेष्यामि तमायातु भवानिति ॥ १२६ ॥
आवां त्वामागतौ नेतुमाज्ञामारोप्य मस्तकम् । आगन्तव्यं त्वयेत्युच्चैरूचतुः सोऽपि कोपवान् ॥ १२७ ॥
अश्वग्रीवाः खरग्रीवाः क्रौञ्चग्रीवास्तथापरे । दृष्टाः क्रमेलकग्रीवा नापूर्वो न:[3] स दृश्यताम् ॥ १२८ ॥
इत्याह तौ च किं युक्तमवमन्तुं खगेश्वरम् । विश्वरूपसमभ्यर्च्यं तं भवत्पक्षपातिनम् ॥ १२९ ॥

प्रकार उन अभूतपूर्व उत्पातोंको देखकर वहाँके मनुष्य सहसा भयभीत होने लगे ॥११४॥ अश्वग्रीव भी घबड़ा गया । उसने सलाह कर एकान्तमें शतबिन्दु नामक निमित्तज्ञानीसे 'यह क्या है ?' इन शब्दों-द्वारा उनका फल पूछा ॥११५॥ शतबिन्दुने कहा कि जिसने सिन्धु देशमें पराक्रमी सिंह मारा है, जिसने तुम्हारे प्रति भेजी हुई भेंट जबर्दस्ती छीन ली और रथनूपुर नगरके राजा ज्वलनजटीने जिसके लिए आपके योग्य स्त्रीरत्न दे दिया है उससे आपको क्षोभ होगा ॥११६-११७॥ ये सब उत्पात उसीके सूचक हैं । तुम इसका प्रतिकार करो । इस प्रकार निमित्तज्ञानीके द्वारा कही बातको हृदयमें रखकर अश्वग्रीव अपने मन्त्रियोंसे कहने लगा कि आत्मज्ञानी मनुष्य शत्रु और रोगको उत्पन्न होते ही नष्ट कर देते हैं परन्तु हमने व्यर्थ ही अहंकारी रहकर यह बात भुला दी ॥११८-११९॥ अब भी यह दुष्ट आप लोगोंके द्वारा विषके अंकुरके समान शीघ्र ही छेदन कर देनेके योग्य है ॥१२०॥ उन मन्त्रियोंने भी गुप्त रूपसे भेजे हुए दूतोंके द्वारा उन सबकी खोज लगा ली और निमित्तज्ञानीने जिन सिंहवध आदिकी बातें कही थीं उन सबका पता चलाकर निश्चय कर लिया कि इस पृथिवीपर प्रजापतिका पुत्र त्रिपृष्ठ ही बड़ा अहंकारी है । वह अपने पराक्रमसे सब राजाओंपर आक्रमण कर उन्हें जीतना चाहता है ॥१२१-१२२॥ वह हम लोगोंके विषयमें कैसा है ?—अनुकूल-प्रतिकूल कैसा विचार रखता है इस प्रकार सरल चित्त—निष्कपट दूत भेजकर उसकी परीक्षा करनी चाहिए। मन्त्रियोंने ऐसा पृथक्-पृथक् राजासे कहा ॥१२३॥ उसी समय उसने उक्त बात सुनकर चिन्तागति और मनोगति नामके दो विद्वान् दूत त्रिपृष्ठके पास भेजे ॥१२४॥ उन दूतोंने जाकर पहले अपने आनेकी राजाके लिए सूचना दी, फिर राजाके दर्शन किये, अनन्तर विनयसे नम्रीभूत होकर यथायोग्य भेंट दी ॥१२५॥ फिर कहने लगे कि राजा अश्वग्रीवने आज तुम्हें आज्ञा दी है कि मैं रथावर्त नामके पर्वतपर जाता हूँ आप भी आइए ॥१२६॥ हम दोनों तुम्हें लेनेके लिए आये हैं । आपको उसकी आज्ञा मस्तकपर रखकर आना चाहिए । ऐसा उन दोनोंने जोरसे कहा । यह सुनकर त्रिपृष्ठ बहुत क्रुद्ध हुआ और कहने लगा कि अश्वग्रीव (घोड़े-जैसी गरदनवाले) खरग्रीव, (गधे-जैसी गरदनवाले), क्रौंचग्रीव (क्रौंच पक्षी-जैसी गरदनवाले) और क्रमेलक ग्रीव (ऊँट-जैसी गरदनवाले) ये सब मैंने देखे हैं । अतः देखनेवाले हम लोगोंके लिए वह अपूर्व आदमी नहीं जिससे कि देखा जावे ॥१२७-१२८॥ इस प्रकार जब वह त्रिपृष्ठ कह चुका तब दूतोंने फिरसे कहा कि वह अश्वग्रीव सब विद्याधरोंका स्वामी है, सबके

१. कुरु एतस्य । २. तः क० । अस्माकम् ।

इत्याहतुः खगेशोऽस्तु पक्षपाती न वार्यते । नाहमेष्यामि तं द्रष्टुमिति प्रत्यब्रवीदसौ ॥ १३० ॥
दर्पादिदं न वक्तव्यमदृष्ट्वा चक्रवर्तिनम् । देहेऽपि न स्थितिर्भूमौ कः पुनः स्थातुमर्हति ॥ १३१ ॥
इति श्रुत्वा वचो राजा तयोश्चक्रेण वर्तितुम् । शक्तोऽसौ किं घटादीनां कारकः कस्तदग्रगीः ॥ १३२ ॥
तस्य किं प्रेक्ष्यमित्युक्तौ तौ सकोपाववोचताम् । कन्यारत्नमिदं चक्रिभोग्यं किं तेऽद्य जीर्यते ॥ १३३ ॥
रथनूपुरराजाऽसौ ज्वलनादिजटी कथम् । प्रजापतिश्च नामापि संधत्ते चक्रिणि द्विषि ॥ १३४ ॥
इति सद्यस्ततो दूतौ निर्गत्य[1] द्रुतगामिनौ । प्राप्याश्वग्रीवमानम्य प्रोचतुस्तद्विजृम्भणम् ॥ १३५ ॥
खगेश्वरोऽपि तच्छ्रोतुमक्षमो रूक्षवीक्षणः । भेरीमास्फालयामास रणप्रारम्भसूचिनीम् ॥ १३६ ॥
तद्ध्वनिर्व्याप दिक्प्रान्तान् हत्वा दिग्दन्तिनां मदम् । चक्रवर्तिनि संक्रुद्धे महान्तः के न बिभ्यति ॥ १३७ ॥
चतुरङ्गबलेनासौ रथावर्तमगाद् गिरिम् । पेतुरुल्काश्चचालेला दिक्षु दाहा जजृम्भिरे ॥ १३८ ॥
प्रजापतिसुतौ चैतद्विदित्वा विततौजसौ । प्रतीयतुः प्रतापाग्निभस्मितारातीन्धनोत्करौ ॥ १३९ ॥
उभयोः सेनयोस्तत्र संग्रामः समभून्महान् । समक्षयात्तयोः प्रापदन्तकः समवर्तिताम् ॥ १४० ॥
युद्ध्वा चिरं पदातीनां वृथा किं क्रियते क्षयः । इति त्रिपृष्ठो युद्धार्थमभ्यश्वग्रीवमेयिवान् ॥ १४१ ॥
हयग्रीवोऽपि जन्मान्तरानुबद्धोरुवैरतः । आच्छादयदतिक्रुद्धः शरवर्षैर्विरोधिनम् ॥ १४२ ॥
द्वन्द्वयुद्धेन तौ जेतुमक्षमावितरेतरम् । मायायुद्धं समारब्धौ महाविद्याबलोद्धतौ ॥ १४३ ॥
युद्ध्वा चिरं हयग्रीवश्चक्रं न्यक्षिपदभ्यरिम् । तदेवादाय तद्ग्रीवामच्छिदत् केशवः क्रुधा ॥ १४४ ॥

द्वारा पूजनीय है और आपका पक्ष करता है इसलिए उसका अपमान करना उचित नहीं है ॥१२९॥ यह सुनकर त्रिपृष्ठने कहा कि वह खग अर्थात् पक्षियोंका ईश है—स्वामी है इसलिए पक्ष अर्थात् पंखोंसे चले इसके लिए मनाही नहीं है परन्तु मैं उसके दर्शनके लिए नहीं जाऊँगा ॥१३०॥ यह सुनकर दूतोंने फिर कहा कि अहंकारसे ऐसा नहीं कहना चाहिए। चक्रवर्तीके दर्शन बिना शरीरमें भी स्थिति नहीं हो सकती फिर भूमिपर स्थिर रहनेके लिए कौन समर्थ है ? ॥१३१॥ दूतोंके वचन सुनकर त्रिपृष्ठने फिर कहा कि तुम्हारा राजा चक्र फिराना जानता है सो क्या वह घट आदिका बनानेवाला (कुम्भकार) कर्ता कारक है, उसके क्या दर्शन करना है ? यह सुनकर दूतोंको क्रोध आ गया। वे कुपित होकर बोले कि यह कन्यारत्न जो कि चक्रवर्तीके भोगने योग्य है क्या अब तुम्हें हजम हो जावेगा ? और चक्रवर्तीके कुपित होनेपर रथनूपुरका राजा ज्वलनजटी तथा प्रजापति अपना नाम भी क्या सुरक्षित रख सकेगा। इतना कह वे दूत वहाँसे शीघ्र ही निकलकर अश्वग्रीवके पास पहुँचे और नमस्कार कर त्रिपृष्ठके वैभवका समाचार कहने लगे ॥१३२–१३५॥ अश्वग्रीव यह सब सुननेके लिए असमर्थ हो गया, उसकी आँखें रूखी हो गयीं और उसी समय उसने युद्ध प्रारम्भकी सूचना देनेवाली भेरी बजवा दी ॥१३६॥ उस भेरीका शब्द दिग्गजोंका मद नष्ट कर दिशाओंके अन्त तक व्याप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि चक्रवर्तीके कुपित होनेपर ऐसे कौन महापुरुष हैं जो भयभीत नहीं होते हों ॥१३७॥ यह अश्वग्रीव चतुरंग सेनाके साथ रथावर्त पर्वतपर जा पहुँचा, वहाँ उल्काएँ गिरने लगीं, पृथिवी हिलने लगी और दिशाओंमें दाह-दोष होने लगे ॥१३८॥ जिनका ओज चारों ओर फैल रहा है और जिन्होंने अपने प्रतापरूपी अग्निके द्वारा शत्रुरूपी इन्धनकी राशि भस्म कर दी है ऐसे प्रजापतिके दोनों पुत्रोंको जब इस बातका पता चला तो इसके सम्मुख आये ॥१३९॥ वहाँ दोनों सेनाओंमें महान् संग्राम हुआ। दोनों सेनाओंका समान क्षय हो रहा था इसलिए यमराज सचमुच ही समवर्तिता—मध्यस्थताको प्राप्त हुआ था ॥१४०॥ चिरकाल तक युद्ध करनेके बाद त्रिपृष्ठने सोचा कि सैनिकोंका व्यर्थ ही क्षय क्यों किया जाता है। ऐसा सोचकर वह युद्धके लिए अश्वग्रीवके सामने आया ॥१४१॥ जन्मान्तरसे बँधे हुए भारी वैरके कारण अश्वग्रीव बहुत क्रुद्ध था अतः उसने बाण-वर्षाके द्वारा शत्रुको आच्छादित कर लिया ॥१४२॥ जब वे दोनों द्वन्द्व युद्धसे एक-दूसरेको जीतनेके लिए समर्थ न हो सके तब महाविद्याओंके बलसे उद्धत हुए दोनों मायायुद्ध करनेके लिए तैयार हो गये ॥१४३॥ अश्वग्रीवने

---

१. निर्गम्य ।

तावर्कविधुसंकाशौ त्रिपृष्ठविजयौ विभू । भरतार्द्धाधिपत्येन भातः स्म ध्वस्तविद्विषौ ॥१४५॥
नृपेन्द्रैः खेचराधीशैर्व्यन्तरैर्मागधादिभिः । कृताभिषेकः संप्राप त्रिपृष्ठः पृष्ठतां क्षितेः ॥१४६॥
आधिपत्यं द्वयोः श्रेण्योर्वितताराद्विकेशवः । हृष्टः स्वयंप्रभापित्रे न स्यात्किं श्रीमदाश्रयात् ॥१४७॥
असिः शङ्खो धनुश्चक्रं शक्तिर्दण्डो गदाभवन् । रत्नानि सप्त चक्रेशो रक्षितानि मरुद्गणैः ॥१४८॥
रत्नमाला हलं भास्वद्रामस्य मुशलं गदा । महारत्नानि चत्वारि बभूवुर्भाविनिर्वृतेः ॥१४९॥
देव्यः स्वयंप्रभामुख्याः सहस्राण्यस्य षोडश । बलस्याष्टसहस्राणि कुलरूपगुणान्विताः ॥१५०॥
अर्ककीर्तेः कुमारस्य ज्योतिर्मालां खगाधिपः । प्राजापत्यविवाहेन महत्या सम्पदाग्रहीत् ॥१५१॥
तयोरमिततेजाश्च सुतारा चाभवत्सुता । प्रतिपच्चन्द्रयोः शुक्लपक्षरेखेव चैन्दवी ॥१५२॥
विष्णोः स्वयंप्रभायां च सुतः श्रीविजयोऽजनि । ततो विजयभद्राख्यः सुता ज्योतिःप्रभाह्वया ॥१५३॥
प्रजापतिमहाराजः [1]भूरिप्राप्तमहोदयः । कदाचिज्जातसंवेगः संप्राप्य पिहिताश्रवम् ॥१५४॥
आदाज्जैनेश्वरं रूपं त्यक्त्वाऽशेषपरिग्रहम् । येन संप्राप्यते भावः सुखात्मपरमात्मनः ॥१५५॥
बाह्येतरद्विषड्भेदतपस्यविरतोद्यमः । चिरं तपस्यन् संचित्तमायुरन्ते समादधत् ॥१५६॥
मिथ्यात्वं संयमाभावं प्रमादं सकषायताम् । [2]कैवल्य स सयोगत्वं त्यक्त्वाऽभूत्परमः क्रमात् ॥१५७॥
खेचरेशोऽपि तच्छ्रुत्वा राज्यं दत्त्वाऽर्ककीर्तये । निर्ग्रन्थरूपमापन्नो जगन्नन्दनसंनिधौ ॥१५८॥
अयाचितमनादानमार्जवं त्यागमस्पृहाम् । क्रोधादिहापनं ज्ञानाभ्यासं ध्यानं च सोऽन्वयात् ॥१५९॥

चिरकाल तक युद्ध कर शत्रुके सम्मुख चक्र फेंका और नारायण त्रिपृष्ठने वही चक्र लेकर क्रोधसे उसकी गरदन छेद डाली ॥१४४॥ शत्रुओंके नष्ट करनेवाले त्रिपृष्ठ और विजय आधे भरत क्षेत्रका आधिपत्य पाकर सूर्य और चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे थे ॥१४५॥ भूमिगोचरी राजाओं, विद्याधर राजाओं और मगधादि देवोंके द्वारा जिनका अभिषेक किया गया था ऐसे त्रिपृष्ठ नारायण पृथिवीमें श्रेष्ठताको प्राप्त हुए ॥१४६॥ प्रथम नारायण त्रिपृष्ठने हर्षित होकर स्वयंप्रभाके पिताके लिए दोनों श्रेणियोंका आधिपत्य प्रदान किया सो ठीक ही है क्योंकि श्रीमानोंके आश्रयसे क्या नहीं होता है? ॥१४७॥ असि, शंख, धनुष, चक्र, शक्ति, दण्ड और गदा ये सात नारायणके रत्न थे। देवोंके समूह इनकी रक्षा करते थे ॥१४८॥ रत्नमाला, देदीप्यमान हल, मुसल और गदा ये चार मोक्ष प्राप्त करनेवाले बलभद्रके महारत्न थे ॥१४९॥ नारायणकी स्वयंप्रभाको आदि लेकर सोलह हजार स्त्रियाँ थीं और बलभद्रकी कुल, रूप तथा गुणोंसे युक्त आठ हजार रानियाँ थीं ॥१५०॥ ज्वलनजटी विद्याधरने कुमार अर्ककीर्तिके लिए ज्योतिर्माला नामकी कन्या बड़ी विभूतिके साथ प्राजापत्य विवाहसे स्वीकृत की ॥१५१॥ अर्ककीर्ति और ज्योतिर्मालाके अमिततेज नामका पुत्र तथा सुतारा नामकी पुत्री हुई। ये दोनों भाई-बहन ऐसे सुन्दर थे मानो शुक्ल पक्षकी पडिवाके चन्द्रमाकी रेखाएँ ही हों ॥१५२॥ इधर त्रिपृष्ठ नारायणके स्वयंप्रभा रानीसे पहले श्रीविजय नामका पुत्र हुआ, फिर विजयभद्र पुत्र हुआ, फिर ज्योतिःप्रभा नामकी पुत्री हुई ॥१५३॥ महान् अभ्युदयको प्राप्त हुए प्रजापति महाराजको कदाचित् वैराग्य उत्पन्न हो गया जिससे पिहितास्रव गुरुके पास जाकर उन्होंने समस्त परिग्रहका त्याग कर दिया और श्रीजिनेन्द्र भगवान्का वह रूप धारण कर लिया जिससे सुखस्वरूप परमात्माका स्वभाव प्राप्त होता है ॥ १५४–१५५ ॥ छह बाह्य और छह अभ्यन्तरके भेदसे बारह प्रकारके तपश्चरणमें निरन्तर उद्योग करनेवाले प्रजापति मुनिने चिरकाल तक तपस्या की और आयुके अन्तमें चित्तको स्थिर कर क्रमसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, सकषायता तथा सयोगकेवली अवस्थाका त्याग कर परमोत्कृष्ट अवस्था—मोक्ष पद प्राप्त किया ॥ १५६–१५७ ॥ विद्याधरोंके राजा ज्वलनजटीने भी जब यह समाचार सुना तब उन्होंने अर्ककीर्तिके लिए राज्य देकर जगन्नन्दन मुनिके समीप दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली ॥१५८॥ याचना नहीं करना, बिना दिये कुछ ग्रहण नहीं करना, सरलता रखना, त्याग करना,

१. प्रतिप्राप्त क०, ख०, ग, घ० । २. आ कैवल्यं सयोगत्वं क०, ख० ।

ततो निःशेषमंहांसि निहत्य निरुपाधिः । निराकारोऽपि साकारो निर्वाणमगमत्परम् ॥१६०॥
त्रिपृष्ठो निष्ठुरारातिविजयी विजयानुगः । त्रिखण्डाखण्डगोमिन्याः कामं कामान्समन्वभूत् ॥१६१॥
स कदाचित्स्वजामातुः सुतयाऽमिततेजसः । स्वयंवरविधानेन मालामासञ्जयद्गले ॥१६२॥
अनेनैव विधानेन सुतारा चानुरागिणी । स्वयं श्रीविजयस्यासीद्वक्षःस्थलनिवासिनी ॥१६३॥
इत्यन्योन्याभिवृद्धापत्यसंबन्धाः सर्वबान्धवाः । स्वच्छाम्भःपूर्णसंफुल्लसरसः श्रियमभ्ययुः ॥१६४॥
आयुरन्तेऽवधिस्थानप्राप्तेऽर्द्धभरतेशिनि । विजयो राज्यमायोज्य सुते श्रीविजये स्वयम् ॥१६५॥
दत्त्वा विजयभद्राय यौवराज्यपदं च सः । चक्रिशोकसमाक्रान्तस्वान्तो हन्तुमघद्विषम् ॥१६६॥
सहस्रैः सप्तभिः सार्द्धं राजभिः संयमं ययौ । सुवर्णकुम्भमभ्येत्य मुनिमभ्यर्णनिर्वृतिः ॥१६७॥
घातिकर्माणि निर्मूल्य कैवल्यं चोदपादयत् । भूखलिम्पसंपूज्यो व्यपेतागारकेवली ॥१६८॥
तदाकर्ण्यार्ककीर्तिश्च निधायामिततेजसम् । राज्ये विपुलमत्याख्याच्चारणादगमत्तपः ॥१६९॥
नष्टकर्माष्टकोऽभीष्टामसावष्टमीं महीम् । अनाप्यं नाम किं त्यक्तं व्यक्तमाशावधारिणाम् ॥१७०॥
तयोरधिकसप्रीत्या याति काले निराकुलम् । सुखेनामितशब्दादितेजःश्रीविजयाख्ययोः ॥१७१॥
कश्चिच्छ्रीविजयाधीशं साशीर्वादः कदाचन । उपेत्य राजंश्चित्तं त्वं प्रणिधेहि ममोदिते ॥१७२॥
पोदनाधिपतेर्मूर्ध्नि पतितेऽतोऽह्नि सप्तमे । महाशनिस्ततश्चिन्त्यः प्रतीकारोऽस्य सत्वरम् ॥१७३॥
इत्यब्रवीत्तदाकर्ण्य युवराजोऽरुणेक्षणः । वद किं पतिता सर्वविदस्ते मस्तके तदा ॥१७४॥
इति नैमित्तिकं दृष्ट्वा प्राक्षीत्सोऽप्याह मूर्ध्नि मे । रत्नवृष्टिः पतेत्साकमभिषेकेण इत्यदः ॥१७५॥

किसी चीजकी इच्छा नहीं रखना, क्रोधादिका त्याग करना, ज्ञानाभ्यास करना और ध्यान करना—इन सब गुणोंको वे प्राप्त हुए थे ॥१५९॥ वे समस्त पापोंका त्याग कर निर्द्वन्द्व हुए। निराकार होकर भी साकार हुए तथा उत्तम निर्वाण पदको प्राप्त हुए ॥१६०॥

इधर विजय बलभद्रका अनुगामी त्रिपृष्ठ कठिन शत्रुओंपर विजय प्राप्त करता हुआ तीन खण्डकी अखण्ड पृथिवीके भोगोंका इच्छानुसार उपभोग करता रहा ॥१६१॥ किसी एक दिन त्रिपृष्ठने स्वयंवरकी विधिसे अपनी कन्या ज्योतिःप्रभाके द्वारा जामाता अमिततेजके गलेमें वर-माला डलवायी ॥१६२॥ अनुरागसे भरी सुतारा भी इसी स्वयंवरकी विधिसे श्रीविजयके वक्षः-स्थलपर निवास करनेवाली हुई ॥१६३॥ इस प्रकार परस्परमें जिन्होंने अपने पुत्र-पुत्रियोंके सम्बन्ध किये हैं ऐसे ये समस्त परिवारके लोग स्वच्छन्द जलसे भरे हुए प्रफुल्लित सरोवरकी शोभाको प्राप्त हो रहे थे ॥१६४॥ आयुके अन्तमें अर्धचक्रवर्ती त्रिपृष्ठ तो सातवें नरक गया और विजय बलभद्र श्रीविजय नामक पुत्रके लिए राज्य देकर तथा विजयभद्रको युवराज बनाकर पापरूपी शत्रुको नष्ट करनेके लिए उद्यत हुए। यद्यपि उनका चित्त नारायणके शोकसे व्याप्त था तथापि निकट समयमें मोक्षगामी होनेसे उन्होंने सुवर्णकुम्भ नामक मुनिराजके पास जाकर सात हजार राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥१६५-१६७॥ घातिया कर्म नष्ट कर केवल-ज्ञान उत्पन्न किया और देवोंके द्वारा पूज्य अनगारकेवली हुए ॥१६८॥ यह सुनकर अर्ककीर्तिने अमिततेजको राज्यपर बैठाया और स्वयं विपुलमति नामक चारणमुनिसे तप धारण कर लिया ॥१६९॥ कुछ समय बाद उसने अष्ट कर्मोंको नष्ट कर अभिवांछित अष्टम पृथिवी प्राप्त कर ली सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें जिन्होंने आशाका त्याग कर दिया है उन्हें कौन-सी वस्तु अप्राप्य है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥१७०॥ इधर अमिततेज और श्रीविजय दोनोंमें अखण्ड प्रेम था, दोनोंका काल बिना किसी आकुलताके सुखसे व्यतीत हो रहा था ॥१७१॥ किसी दिन कोई एक पुरुष श्रीविजय राजाके पास आया और आशीर्वाद देता हुआ बोला कि हे राजन् ! मेरी बातपर चित्त लगाइए ॥१७२॥ आजसे सातवें दिन पोदनपुरके राजाके मस्तकपर महावज्र गिरेगा, अतः शीघ्र ही इसके प्रतीकारका विचार कीजिए ॥१७३॥ यह सुनकर युवराज कुपित हुआ, उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वह उस निमित्तज्ञानीसे बोला कि यदि तू सर्वज्ञ है तो बता कि उस समय तेरे मस्तकपर क्या पड़ेगा ? ॥१७४॥ निमित्तज्ञानीने भी कहा कि उस

सावष्टम्भं वचः श्रुत्वा तस्य राजा सविस्मयः । भद्र त्वयाऽऽस्यतामस्मिन्नासने किंचिदुच्यते ॥१७६॥
किंगोत्रः किंगुरुर्ब्रूहि किंशास्त्रः किंनिमित्तकः । किंनाम किंनिमित्तोऽयमादेश इति पृष्टवान् ॥१७७॥
कुण्डलाख्यपुरे राजा नाम्ना सिंहरथो महान् । पुरोहितः सुरगुरुस्तस्य शिष्यो विशारदः ॥१७८॥
तच्छिष्येण निमित्तानि प्रव्रज्य हलिना सह । मयाऽष्टाङ्गान्यधीतानि सोपदेशश्रुतानि च ॥१७९॥
अष्टाङ्गानि निमित्तानि कानि किंलक्षणानि चेत् । शृणु श्रीविजयायुष्मन् यथाप्रश्नं ब्रवीमि ते ॥१८०॥
अन्तरिक्षं भौमाङ्गस्वरव्यञ्जनलक्षणः । छिन्नस्वप्नविभेदेन प्रोक्तान्यागमवेदिभिः ॥१८१॥
तारास्थ्यात्साहचर्याद्वा ज्योतिषामन्तरिक्षवाक् । चन्द्रादिपञ्चभेदानामुदयास्तमयादिभिः ॥१८२॥
जयः पराजयो हानिर्वृद्धिर्मृत्युः सजीवितः । लाभालाभौ निरूप्यन्ते यत्रान्यानि च तत्त्वतः ॥१८३॥
भूमिस्थानादिभेदेन हानिवृद्ध्यादिवेदनम् । भूम्यन्तःस्थितरत्नादिकथनं भौममिष्यते ॥१८४॥
अङ्गप्रत्यङ्गसंस्पर्शदर्शनादिभिरङ्गिनाम् । अङ्गकालत्रयोत्पन्नशुभाशुभनिरूपणम् ॥१८५॥
मृदङ्गादिगजेन्द्रादिचेतनेतरसुस्वरैः । दुःस्वरैश्च स्वरोऽभीष्टानिष्टप्रापणसूचनः ॥१८६॥
शिरोमुखादिसंजाततिललक्ष्मव्रणादिभिः । व्यञ्जनं स्थानमानैश्वर्यलाभालाभादिवेदनम् ॥१८७॥
श्रीवृक्षस्वस्तिकाद्यष्टशताङ्गगतलक्षणैः । भोगैश्वर्यादिसंप्राप्तिकथनं लक्षणं मतम् ॥१८८॥
देवमानुषरक्षोविभागैर्वस्त्रायुधादिषु । मूषकादिकृतच्छेदैः छिन्नं तत्फलभाषणम् ॥१८९॥
शुभाशुभविभागोक्तस्वप्नसंदर्शनान्नृणाम् । स्वप्नो वृद्धिविनाशादियाथात्म्यकथनं मतः ॥१९०॥

समय मेरे मस्तकपर अभिषेकके साथ रत्नवृष्टि पड़ेगी ॥१७५॥ उसके अभिमानपूर्ण वचन सुनकर राजाको आश्चर्य हुआ। उसने कहा कि हे भद्र ! तुम इस आसनपर बैठो, मैं कुछ कहता हूँ ॥१७६॥ कहो तो सही, आपका गोत्र क्या है ? गुरु कौन है, क्या-क्या शास्त्र आपने पढ़े हैं, क्या-क्या निमित्त आप जानते हैं, आपका क्या नाम है ? और आपका यह आदेश किस कारण हो रहा है ? यह सब राजाने पूछा ॥१७७॥ निमित्तज्ञानी कहने लगा कि कुण्डलपुर नगरमें सिंहरथ नामका एक बड़ा राजा है। उसके पुरोहितका नाम सुरगुरु है और उसका एक शिष्य बहुत ही विद्वान् है ॥१७८॥ किसी एक दिन बलभद्रके साथ दीक्षा लेकर मैंने उसके शिष्यके साथ अष्टांग निमित्तज्ञानका अध्ययन किया है और उपदेशके साथ उनका श्रवण भी किया है ॥१७९॥ अष्टांग निमित्त कौन हैं और उनके लक्षण क्या हैं ? यदि यह आप जानना चाहते हैं तो हे आयुष्मन् विजय ! तुम सुनो, मैं तुम्हारे प्रश्नके अनुसार सब कहता हूँ ॥१८०॥ आगमके जानकार आचार्योंने अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न इनके भेदसे आठ तरहके निमित्त कहे हैं ॥१८१॥ चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे ये पाँच प्रकारके ज्योतिषी आकाशमें रहते हैं अथवा आकाशके साथ सदा उनका साहचर्य रहता है इसलिए इन्हें अन्तरिक्ष—आकाश कहते हैं। इनके उदय अस्त आदिके द्वारा जो जय-पराजय, हानि, वृद्धि, शोक, जीवन, लाभ, अलाभ तथा अन्य बातोंका यथार्थ निरूपण होता है उसे अन्तरिक्षनिमित्त कहते हैं ॥१८२-१८३॥ पृथिवीके जुदे-जुदे स्थान आदिके भेदसे किसीकी हानि वृद्धि आदिका बतलाना तथा पृथिवीके भीतर रखे हुए रत्न आदिका कहना सो भौमनिमित्त है ॥१८४॥ अंग-उपांगके स्पर्श करने अथवा देखनेसे जो प्राणियोंके तीन कालमें उत्पन्न होनेवाले शुभ-अशुभका निरूपण होता है वह अंग-निमित्त कहलाता है ॥१८५॥

मृदंग आदि अचेतन और हाथी आदि चेतन पदार्थोंके सुस्वर तथा दुःस्वरके द्वारा इष्ट-अनिष्ट पदार्थकी प्राप्तिकी सूचना देनेवाला ज्ञान स्वर-निमित्त ज्ञान है ॥१८६॥ शिर, मुख आदिमें उत्पन्न हुए तिल आदि चिह्न अथवा घाव आदिसे किसीका स्थान, मान, ऐश्वर्य, लाभ-अलाभ आदि बतलाना सो व्यंजन-निमित्त है ॥१८७॥ शरीरमें पाये जानेवाले श्रीवृक्ष तथा स्वस्तिक आदि एक सौ आठ लक्षणोंके द्वारा भोग, ऐश्वर्य आदिकी प्राप्तिका कथन करना लक्षण-निमित्त ज्ञान है ॥१८८॥ वस्त्र तथा अस्त्र आदिमें मूषक आदि जो छेद कर देते हैं वे देव, मानुष और राक्षसके भेदसे तीन प्रकारके होते हैं उनसे जो फल कहा जाता है उसे छिन्न-निमित्त कहते हैं ॥१८९॥ शुभ-अशुभके भेदसे स्वप्न दो प्रकारके कहे गये हैं उनके देखनेसे मनुष्योंकी वृद्धि तथा

इत्युक्त्वा क्षुत्पिपासादिद्वाविंशतिपरीषहैः । पीडितोऽसहमानोऽहं पद्मिनीखेटमाश्रयम् ॥ १९१ ॥
तत्र तन्मातुलः सोमशर्मा चन्द्राननां [1]सुताम् । हिरण्यलोमासंभूतां प्रीत्या मह्यं प्रदत्तवान् ॥ १९२ ॥
द्रव्यार्जनं परित्यज्य निमित्ताभ्यासतत्परम् । सा मां निरीक्ष्य निर्विण्णा पितृदत्तधनक्षयात् ॥ १९३ ॥
भोजनावसरेऽन्येद्युर्धनमेतत्त्वदर्जितम् । इति पात्रेऽक्षिपत्क्रोधात् मद्वराटकसंचयम् ॥ १९४ ॥
रञ्जितस्फटिके तत्र तपत्नामीषुसंनिभम् (?) । [2]कान्ताक्षिप्तकरक्षालनाम्बुधारां च पश्यता ॥ १९५ ॥
मयाऽर्थलाभं निश्चित्य तोषामिषवपूर्वकम् । अमोघजिह्वनाम्नाऽयमादेशस्तेऽधुना कृतः ॥ १९६ ॥
इत्यन्वाख्यत् स तच्छ्रुत्वा सयुक्तिकमसौ नृपः । चिन्ताकुलो विसर्ज्यैनमुक्तवानिति मन्त्रिणः ॥ १९७ ॥
इदं प्रत्येयमस्योक्तं विचिन्त्यैतत्प्रतिक्रियाः । अभ्यर्णे मूलनाशे कः कुर्यात् कालविलम्बनम् ॥ १९८ ॥
तच्छ्रुत्वा सुमतिः प्राह त्वामम्भोधिजलान्तरे । लोहमञ्जूषिकान्तस्थं स्थापयामीति रक्षितुम् ॥ १९९ ॥
मकरादिभयं तत्र विजयार्द्धगुहान्तरं । निदधाम इति श्रुत्वा स सुबुद्धिरभाषत ॥ २०० ॥
तद्वचोऽवसितौ प्राज्ञः पुरावृत्तकवित्तदा । अथाख्यानकमित्याख्यत्प्रसिद्धं बुद्धिसागरः ॥ २०१ ॥
दुःशास्त्रश्रुतिदर्पिष्ठः सोमः सिंहपुरे वसन् । परिव्राट् स विवादार्थं जिनदासेन निर्जितः ॥ २०२ ॥
मृत्वा [3]तत्रैव कालान्ते संभूय महिषो महान् । वणिग्लवणदुर्भारचिरवाहवशीकृतः ॥ २०३ ॥
प्राक् पोषयद्भिर्निःशक्तिरिति पश्चादुपेक्षितः । जातिस्मरः पुरे बद्धवैरोऽप्यपगतासुकः ॥ २०४ ॥

हानि आदिका यथार्थ कथन करना स्वप्ननिमित्त कहलाता है ॥१९०॥ यह कहकर वह निमित्तज्ञानी कहने लगा कि क्षुधा, प्यास आदि बाईस परिषहोंसे मैं पीडित हुआ, उन्हें सह नहीं सका इसलिए मुनिपद छोड़कर पद्मिनीखेट नामके नगरमें आ गया ॥१९१॥ वहाँ सोमशर्मा नामके मेरे मामा रहते थे। उनके हिरण्यलोमा नामकी स्त्रीसे उत्पन्न चन्द्रमाके समान मुखवाली एक चन्द्रानना नामकी पुत्री थी। वह उन्होंने मुझे दी ॥१९२॥ मैं धन कमाना छोड़कर निमित्त-शास्त्रके अध्ययनमें लगा रहता था अतः धीरे-धीरे चन्द्राननाके पिताके द्वारा दिया धन समाप्त हो गया। मुझे निर्धन देख वह बहुत विरक्त अथवा खिन्न हुई ॥१९३॥ मैंने कुछ कौड़ियाँ इकट्ठी कर रखी थीं। दूसरे दिन भोजनके समय 'यह तुम्हारा दिया हुआ धन है' ऐसा कहकर उसने क्रोधवश वे सब कौड़ियाँ हमारे पात्रमें डाल दीं ॥१९४॥ उनमें-से एक अच्छी कौड़ी स्फटिक-मणिके बने हुए सुन्दर थालमें जा गिरी, उसपर जलायी हुई अग्निके फुलिंगे पड़ रहे थे (?) उसी समय मेरी स्त्री मेरे हाथ धुलानेके लिए जलकी धारा छोड़ रही थी उसे देखकर मैंने निश्चय कर लिया कि मुझे सन्तोषपूर्वक अवश्य ही धनका लाभ होगा। आपके लिए यह आदेश इस समय अमोघजिह्व नामक मुनिराजने किया है। इस प्रकार निमित्तज्ञानीने कहा। उसके युक्तिपूर्ण वचन सुनकर राजा चिन्तासे व्यग्र हो गया। उसने निमित्तज्ञानीको तो बिदा किया और मन्त्रियोंसे इस प्रकार कहा—कि इस निमित्तज्ञानीकी बातपर विश्वास करो और इसका शीघ्र ही प्रतिकार करो क्योंकि मूलका नाश उपस्थित होनेपर विलम्ब कौन करता है? ॥१९५–१९८॥ यह सुनकर सुमति मन्त्री बोला कि आपकी रक्षा करनेके लिए आपको लोहेकी सन्दूकके भीतर रखकर समुद्रके जलके भीतर बैठाये देते हैं ॥१९९॥ यह सुनकर सुबुद्धि नामका मन्त्री बोला कि नहीं, वहाँ तो मगरमच्छ आदिका भय रहेगा इसलिए विजयार्ध पर्वतकी गुफामें रख देते हैं ॥२००॥ सुबुद्धिकी बात पूरी होते ही बुद्धिमान् तथा प्राचीन वृत्तान्तको जाननेवाला बुद्धिसागर नामका मन्त्री यह प्रसिद्ध कथानक कहने लगा ॥२०१॥

इस भरत क्षेत्रके सिंहपुर नगरमें मिथ्याशास्त्रोंके सुननेसे अत्यन्त घमण्डी सोम नामका परिव्राजक रहता था। उसने जिनदासके साथ वाद-विवाद किया परन्तु वह हार गया ॥२०२॥ आयुके अन्तमें मरकर उसी नगरमें एक बड़ा भारी भैंसा हुआ। उसपर एक वैश्य चिरकाल तक नमकका बहुत भारी बोझ लादता रहा ॥२०३॥ जब वह बोझ ढोनेमें असमर्थ हो गया तब उसके

---

१. शुभाम् ल० । २. कांकाक्षिप्तं ल० । ३. तथैव ग० । तत्रैव ल० ।

जगाद भवता प्रोक्तं युक्तमित्यभ्युपेत्य ते । संभूय मन्त्रिणो यक्षप्रतिबिम्बं नृपासने ॥ २१९ ॥
निवेश्य पोदनाधीशस्त्वमित्येनमपूजयन् । महीशोऽपि परित्यक्तराज्यभोगोपभोगकः ॥ २२० ॥
प्रारब्धपूजादानादिनिजप्रकृतिमण्डलः । जिनचैत्यालये शान्तिकर्म कुर्वन्नुपाविशत् ॥ २२१ ॥
सप्तमेऽहनि यक्षस्य प्रतिमायां महाध्वनिः । न्यपतन्निष्ठुरं मूर्ध्नि सहसा सभयोऽशनिः ॥ २२२ ॥
तस्मिन्नुपद्रवे शान्ते प्रमोदात्पुरवासिनः । वर्द्धमानानकध्वानैःकुर्वन्नुत्सवं परम् ॥ २२३ ॥
[1]नैमित्तिकं समाहूय राजा संपूज्य दत्तवान् । तस्मै ग्रामशतं पद्मिनीखेटेन ससंमदः ॥ २२४ ॥
विधाय विधिवद्भक्त्या शान्तिपूजापुरस्सरम् । महाभिषेकं लोकेशामर्हतां सचिवोत्तमाः ॥ २२५ ॥
अष्टापदमयैः कुम्भैरभिषिच्य महीपतिम् । सिंहासनं समारोप्य सुराज्ये प्रत्यतिष्ठिपन् ॥ २२६ ॥
एवं सुखसुखेनैव काले गच्छति सोऽन्यदा । विद्यां स्वमातुरादाय संसाध्याकाशगामिनीम् ॥ २२७ ॥
सुतारया सह ज्योतिर्वनं गत्वा रिरंसया । यथेष्टं विहरंस्तत्र सलीलं कान्तया स्थितः ॥ २२८ ॥
इतश्चमरचञ्चाख्यपुरेशोऽशनिघोषकः । आसुर्याश्च सुतो लक्ष्म्या महानिन्द्राशनेः खगः ॥ २२९ ॥
विद्यां स भ्रामरीं नाम्ना प्रसाध्यायान्पुरं स्वकम् । सुतारां वीक्ष्य जातेच्छस्तामादातुं कृतोद्यमः ॥ २३० ॥
कृत्रिमैणच्छलात्तस्मादपनीय महीपतिम् । तद्रूपेण निवृत्यैत्य सुतारां दुरिताशयः ॥ २३१ ॥
मृगोऽगाद् वायुवेगेन तं ग्रहीतुमपारयन् । आगतोऽहं प्रयात्यस्तमर्को यावः पुरं प्रति ॥ २३२ ॥
इत्युक्त्वाऽऽरोप्य तां खेटो विमानमगमत्[2] शठः । गत्वाऽन्तरे स्वसौरूप्यशालिना दर्शितं निजम् ॥ २३३ ॥
रूपमालोक्य तत्कोऽयमिति सा विह्वलाऽभवत् । इतस्तच्छोकवैताळीं सुतारारूपधारिणीम् ॥ २३४ ॥

चाहिए ॥ २१७-२१८ ॥ उसकी यह बात सबने मान ली और कहा कि आपका कहना ठीक है। अनन्तर सब मन्त्रियोंने मिलकर राजाके सिंहासनपर एक यक्षका प्रतिबिम्ब रख दिया और 'तुम्हीं पोदनपुरके राजा हो' यह कहकर उसकी पूजा की। इधर राजाने राज्यके भोग-उपभोग सब छोड़ दिये, पूजा दान आदि सत्कार्य प्रारम्भ कर दिये और अपने स्वभाववाली मण्डली-को साथ लेकर जिनचैत्यालयमें शान्ति कर्म करता हुआ बैठ गया ॥ २१९-२२१ ॥ सातवें दिन उस यक्षकी मूर्तिपर बड़ा भारी शब्द करता हुआ भयंकर वज्र अकस्मात् बड़ी कठोरतासे आ पड़ा ॥२२२॥ उस उपद्रवके शान्त होनेपर नगरवासियोंने बड़े हर्षसे बढ़ते हुए नगाड़ोंके शब्दोंसे बहुत भारी उत्सव किया ॥२२३॥ राजाने बड़े हर्षके साथ उस निमित्तज्ञानीको बुलाकर उसका सत्कार किया और पद्मिनी-खेटके साथ-साथ उसे सौ गाँव दिये ॥२२४॥ श्रेष्ठ मन्त्रियोंने तीन लोकके स्वामी अरहन्त भगवान्‌की विधि-पूर्वक भक्तिके साथ शान्तिपूजा की, महाभिषेक किया और राजाको सिंहासनपर बैठाकर सुवर्णमय कलशोंसे उनका राज्याभिषेक किया तथा उत्तम राज्यमें प्रतिष्ठित किया ॥२२५-२२६॥ इसके बाद उसका काल बहुत भारी सुखसे बीतने लगा। किसी एक दिन उसने अपनी मातासे आकाशगामिनी विद्या लेकर सिद्ध की और सुताराके साथ रमण करनेकी इच्छासे ज्योतिर्वनकी ओर गमन किया। वह वहाँ अपनी इच्छानुसार लीला-पूर्वक विहार करता हुआ रानीके साथ बैठा था, वहाँ चमरचंचपुरका राजा इन्द्राशनि, रानी आसुरीका लक्ष्मीसम्पन्न अशनिघोष नामका विद्याधरपुत्र भ्रामरी विद्याको सिद्ध कर अपने नगरको लौट रहा था। बीचमें सुताराको देखकर उसपर उसकी इच्छा हुई और उसे हरण करनेका उद्यम करने लगा ॥ २२७-२३० ॥ उसने एक कृत्रिम हरिणके छलसे राजाको सुताराके पाससे अलग कर दिया और वह दुष्ट श्रीविजयका रूप बनाकर सुताराके पास लौटकर वापस आया ॥ २३१ ॥ कहने लगा कि हे प्रिये ! वह मृग तो वायुके समान वेगसे चला गया। मैं उसे पकड़नेके लिए असमर्थ रहा अतः लौट आया हूँ, अब सूर्य अस्त हो रहा है इसलिए हम दोनों अपने नगरकी ओर चलें ॥ २३२ ॥ इतना कहकर उस धूर्त विद्याधरने सुताराको विमानपर बैठाया और वहाँसे चल दिया। बीचमें उसने अपना रूप दिखाया जिसे देखकर 'यह कौन है' ऐसा कहती हुई सुतारा बहुत विह्वल हुई। इधर उसी अशनिघोष विद्याधरके द्वारा प्रेरित हुई

---

१ निमित्तकं ग० । २–मगमत्ततः ख० ।

श्मशाने राक्षसः पापी तस्मिन्नेवोदपद्यत । तत्पुराधीशिनौ कुम्भभीमौ कुम्भस्य पाचकः ॥ २०५ ॥
रसायनादिपाकाख्यस्तद्भोज्यपिशितेऽसति । शिशोर्ध्वंसोस्तदा मांसं स कुम्भस्य न्ययोजयत् ॥२०६॥
तत्स्वादलोलुपः पापी तदा प्रभृति खादितुम् । मनुष्यमांसमारब्ध संप्रेप्सुर्नारकीं गतिम् ॥ २०७ ॥
प्रजानां पालको राजा तावत्तिष्ठतु पालने । खादत्ययमिति त्यक्तः स त्याज्यः सचिवादिभिः ॥ २०८ ॥
तन्मांसजीवितः क्रूरः कदाचिन्निजपाचकम् । हत्वा साधिततद्विद्यः संक्रान्तप्रोक्तराक्षसः ॥ २०९ ॥
प्रजाः स भक्षयामास प्रत्यहं परितो भ्रमन् । ततः सर्वेऽपि संत्रस्ताः पौराः संत्यज्य तत्पुरम् ॥ २१० ॥
नगरं प्राविशन् कारकटं नाम महाभिया । तत्राप्यागत्य पापिष्ठः कुम्भाख्योऽभक्षयत्तराम् ॥ २११ ॥
¹ततः प्रभृति तत्प्राहुः कुम्भकारकटं पुरम् । यथादृष्टनृभक्षित्वाद् मांत्वैकशकटौदनम् ॥ २१२ ॥
खादैकमानुषं चेति प्रजास्तस्य स्थितिं व्यधुः । तत्रैव नगरे चण्डकौशिको नाम विप्रकः ॥ २१३ ॥
सोमश्रीस्तत्प्रिया भूतसमुपासनतश्चिरम् । मौण्डकौशिकनामानं तनयं ताववापतुः ॥ २१४ ॥
कुम्भाहाराय यातं तं कदाचिन्मुण्डकौशिकम् । शकटस्योपरि क्षिप्तं नीत्वा भूतैः प्रयायिभिः ॥ २१५ ॥
कुम्भेनानुयता दण्डहस्तेनाक्रम्य तर्जितैः । भयाद् बिले विनिक्षिप्तं जगाराजगरो द्विजम् ॥ २१६ ॥
विजयार्द्धगुहायां तन्निक्षेपणमयुक्तकम् । पथ्यं तद्वचनं श्रुत्वा सूक्ष्मधीर्मतिसागरः ॥ २१७ ॥
भूपतेरशनेः पातो नोक्तो नैमित्तिकेन तत् । पोदनाधिपतिः कश्चिदन्योऽवस्थाप्यतामिति ॥ २१८ ॥

पालकोंने उसकी उपेक्षा कर दी—खाना-पीना देना भी बन्द कर दिया । कारण वश उसे जाति-स्मरण हो गया और वह नगर-भरके साथ वैर करने लगा । अन्तमें मरकर वहींके श्मशानमें पापी राक्षस हुआ । उस नगरके कुम्भ और भीम नामके दो अधिपति थे । कुम्भके रसोइयाका नाम रसायनपाक था, राजा कुम्भ मांसभोजी था, एक दिन मांस नहीं था इसलिए रसोइयाने कुम्भको मरे हुए बच्चेका मांस खिला दिया ॥२०४-२०६॥ वह पापी उसके स्वादसे लुभा गया इसलिए उसी समयसे उसने मनुष्यका मांस खाना शुरू कर दिया, वह वास्तवमें नरक गति प्राप्त करनेको उत्सुक था ॥२०७॥ राजा प्रजाका रक्षक है इसलिए जबतक प्रजाकी रक्षा करनेमें समर्थ है तभीतक राजा रहता है, परन्तु यह तो मनुष्योंको खाने लगा है अतः त्याज्य है ऐसा विचार कर मन्त्रियोंने उस राजाको छोड़ दिया ॥२०८॥ उसका रसोइया उसे नर-मांस देकर जीवित रखता था परन्तु किसी समय उस दुष्टने अपने रसोइयाको ही मारकर विद्या सिद्ध कर ली और उस राक्षसको वश कर लिया ॥२०९॥ अब वह राजा प्रतिदिन चारों ओर घूमता हुआ प्रजाको खाने लगा जिससे समस्त नगरवासी भयभीत हो उस नगरको छोड़कर बहुत भारी भयके साथ कारकट नामक नगरमें जा पहुँचे परन्तु अत्यन्त पापी कुम्भ राजा उस नगरमें भी आकर प्रजाको खाने लगा ॥२१०-२११॥ उसी समयसे लोग उस नगरको कुम्भकारकटपुर कहने लगे । मनुष्योंने देखा कि यह नरभक्षी है इसलिए डरकर उन्होंने उसकी व्यवस्था बना दी कि तुम प्रतिदिन एक गाड़ी भात और एक मनुष्यको खाया करो । उसी नगरमें एक चण्डकौशिक नामका ब्राह्मण रहता था । सोमश्री उसकी स्त्री थी, चिरकाल तक भूतोंकी उपासना करनेके बाद उन दोनोंने मौण्डकौशिक नामका पुत्र प्राप्त किया ॥२१२-२१४॥ किसी एक दिन कुम्भके आहारके लिए मौण्डकौशिककी बारी आयी । लोग उसे गाड़ीपर डालकर ले जा रहे थे कि कुछ भूत उसे ले भागे, कुम्भने हाथमें दण्ड लेकर उन भूतोंका पीछा किया, भूत उसके आक्रमणसे डर गये, इसलिए उन्होंने मुण्डकौशिकको भयसे एक बिलमें डाल दिया परन्तु एक अजगरने वहाँ उस ब्राह्मणको निगल लिया ॥२१५-२१६॥ इसलिए महाराजको विजयार्धकी गुहामें रखना ठीक नहीं है । बुद्धिसागरके ये हितकारी वचन सुनकर सूक्ष्म बुद्धिका धारी मतिसागर मन्त्री कहने लगा कि निमित्तज्ञानीने यह तो कहा नहीं है कि महाराजके ऊपर वज्र गिरेगा । उसका तो कहना है कि जो पोदनपुरका राजा होगा उसपर वज्र गिरेगा इसलिए किसी दूसरे मनुष्यको पोदनपुरका राजा बना देना

---

१ ततःप्रभृति तत्प्राहुः ल० ।

जगाद भवता प्रोक्तं युक्तमित्यभ्युपेत्य ते । संभूय मन्त्रिणो यक्षप्रतिबिम्बं नृपासने ॥ २१९ ॥
निवेश्य पोदनाधीशस्त्वमित्येनमपूजयन् । महीशोऽपि परित्यक्तराज्यभोगोपभोगकः ॥ २२० ॥
प्रारब्धपूजादानादिनिजप्रकृतिमण्डलः । जिनचैत्यालये शान्तिकर्म कुर्वन्नुपाविशत् ॥ २२१ ॥
सप्तमेऽहनि यक्षस्य प्रतिमायां महाध्वनिः । न्यपतद्विद्युरं मूर्ध्नि सहसा भीषणोऽशनिः ॥ २२२ ॥
तस्मिन्नुपद्रवे शान्ते प्रमोदात्पुरवासिनः । वर्द्धमानानकध्वानैरकुर्वन्नुत्सवं परम् ॥ २२३ ॥
[1]नैमित्तिकं समाहूय राजा संपूज्य दत्तवान् । तस्मै ग्रामशतं पद्मिनीखेटेन ससंमदः ॥ २२४ ॥
विधाय विधिवद्भक्त्या शान्तिपूजापुरस्सरम् । महाभिषेकं लोकेशामर्हतां सचिवोत्तमाः ॥ २२५ ॥
अष्टापदमयैः कुम्भैरभिषिच्य महीपतिम् । सिंहासनं समारोप्य सुराज्ये प्रत्यतिष्ठपन् ॥ २२६ ॥
एवं सुखसुखेनैव काले गच्छति सोऽन्यदा । विद्यां स्वमातुरादाय संसाध्याकाशगामिनीम् ॥ २२७ ॥
सुतारया सह ज्योतिर्वनं गत्वा रिरंसया । यथेष्टं विहरंस्तत्र सलीलं कान्तया स्थितः ॥ २२८ ॥
इतश्चमरचञ्चाख्यपुरेशोऽशनिघोषकः । आसुर्याश्च सुतो लक्ष्म्या महानिन्द्राशनेः खगः ॥ २२९ ॥
विद्यां स भ्रामरीं नाम्ना प्रसाध्यायान्पुरं स्वकम् । सुतारां वीक्ष्य जातेच्छस्तामादातुं कृतोद्यमः ॥२३०॥
कृत्रिमैणच्छलात्तस्मादपनीय महीपतिम् । तद्रूपेण निवृत्यैत्य सुतारां दुरिताशयः ॥ २३१ ॥
मृगोऽगाद् वायुवेगेन तं ग्रहीतुमपारयन् । आगतोऽहं प्रयात्यस्तमर्को यावः पुरं प्रति ॥ २३२ ॥
इत्युक्त्वाऽऽरोप्य तां खेटो विमानमगमत्[2] शठः । गत्वाऽन्तरे स्वसौरूप्यशालिना दर्शितं निजम् ॥२३३॥
रूपमालोक्य तत्कोऽयमिति सा विह्वलाऽभवत् । इतस्तत्प्रोक्तवैताळीं सुतारारूपधारिणीम् ॥ २३४ ॥

चाहिए ॥ २१७-२१८ ॥ उसकी यह बात सबने मान ली और कहा कि आपका कहना ठीक है। अनन्तर सब मन्त्रियोंने मिलकर राजाके सिंहासनपर एक यक्षका प्रतिबिम्ब रख दिया और 'तुम्हीं पोदनपुरके राजा हो' यह कहकर उसकी पूजा की। इधर राजाने राज्यके भोग-उपभोग सब छोड़ दिये, पूजा दान आदि सत्कार्य प्रारम्भ कर दिये और अपने स्वभाववाली मण्डली-को साथ लेकर जिनचैत्यालयमें शान्ति कर्म करता हुआ बैठ गया ॥ २१९-२२१ ॥ सातवें दिन उस यक्षकी मूर्तिपर बड़ा भारी शब्द करता हुआ भयंकर वज्र अकस्मात् बड़ी कठोरतासे आ पड़ा ॥२२२॥ उस उपद्रवके शान्त होनेपर नगरवासियोंने बड़े हर्षसे बढ़ते हुए नगाड़ोंके शब्दोंसे बहुत भारी उत्सव किया ॥२२३॥ राजाने बड़े हर्षके साथ उस निमित्तज्ञानीको बुलाकर उसका सत्कार किया और पद्मिनी-खेटके साथ-साथ उसे सौ गाँव दिये ॥२२४॥ श्रेष्ठ मन्त्रियोंने तीन लोकके स्वामी अरहन्त भगवान्की विधि-पूर्वक भक्तिके साथ शान्तिपूजा की, महाभिषेक किया और राजाको सिंहासनपर बैठाकर सुवर्णमय कलशोंसे उनका राज्याभिषेक किया तथा उत्तम राज्यमें प्रतिष्ठित किया ॥२२५-२२६॥ इसके बाद उसका काल बहुत भारी सुखसे बीतने लगा। किसी एक दिन उसने अपनी मातासे आकाशगामिनी विद्या लेकर सिद्ध की और सुताराके साथ रमण करनेकी इच्छासे ज्योतिर्वनकी ओर गमन किया। वह वहाँ अपनी इच्छानुसार लीला-पूर्वक विहार करता हुआ रानीके साथ बैठा था, यहाँ चमरचंचपुरका राजा इन्द्राशनि, रानी आसुरीका लक्ष्मीसम्पन्न अशनिघोष नामका विद्याधरपुत्र भ्रामरी विद्याको सिद्ध कर अपने नगरको लौट रहा था। बीचमें सुताराको देखकर उसपर उसकी इच्छा हुई और उसे हरण करनेका उद्यम करने लगा ॥ २२७-२३० ॥ उसने एक कृत्रिम हरिणके छलसे राजाको सुताराके पाससे अलग कर दिया और वह दुष्ट श्रीविजयका रूप बनाकर सुताराके पास लौटकर वापस आया ॥ २३१ ॥ कहने लगा कि हे प्रिये ! वह मृग तो वायुके समान वेगसे चला गया। मैं उसे पकड़नेके लिए असमर्थ रहा अतः लौट आया हूँ, अब सूर्य अस्त हो रहा है इसलिए हम दोनों अपने नगरकी ओर चलें ॥ २३२ ॥ इतना कहकर उस धूर्त विद्याधरने सुताराको विमानपर बैठाया और वहाँसे चल दिया। बीचमें उसने अपना रूप दिखाया जिसे देखकर 'यह कौन है' ऐसा कहती हुई सुतारा बहुत विह्वल हुई। इधर उसी अशनिघोष विद्याधरके द्वारा प्रेरित हुई

१ निमित्तकं ग० । २-मगमत्ततः ल० ।

धर्षितां कुक्कुटसर्पेण दष्टाहमिति संभ्रमात् । म्रियमाणामिवालोक्य विनिवृत्यागतः स्वयम् ॥ २३५ ॥
अहार्यं तद्विषं ज्ञात्वा मणिमन्त्रौषधादिभिः । सुस्निग्धः पोदनाधीशो मर्तुं सह तयोत्सुकः ॥ २३६ ॥
सूर्यकान्तसमुद्भूतहुतभुग्ज्वलितेन्धनः । चितिकां कान्तया सार्द्धमारुरोह शुचाकुलः ॥ २३७ ॥
तदैव खेचरौ कौचित् तत्र सन्निहितौ तयोः । विद्याविच्छेदिनीं विद्यां स्मृत्वैकेन महोजसा ॥ २३८ ॥
हताऽसौ भीतवैताली वामपादेन दर्शित- । स्वरूपाऽस्य पुरः स्थातुमशक्ताऽगाददृश्यताम् ॥ २३९ ॥
तद्विलोक्य महीपालो नितरां विस्मयं गतः । किमेतदित्यवोचत्तं खचरश्चाह तत्कथाम् ॥ २४० ॥
द्वीपेऽस्मिन् दक्षिणश्रेण्यां भरते खचराचले । ज्योतिःप्रभपुराधीशः संभिन्नोऽहं मम प्रिया ॥ २४१ ॥
संज्ञया सर्वकल्याणी सूनुर्दीपशिखाह्वयः । एष मे स्वामिना गत्वा रथनूपुरभूभुजा ॥ २४२ ॥
विहर्तुं विपुलोद्याने नलान्तशिखरश्रुते । ततो निवर्तमानः सन् स्वयानकविमानगाम्[1] ॥ २४३ ॥
क्व मे श्रीविजयः स्वामी रथनूपुरभूपते । क्व मां पाहीति साक्रोशस्वनितां करुणस्वनम् ॥ २४४ ॥
श्रुत्वाहं तत्र गत्वाऽऽख्यं करत्वं कां वा हरस्यमूम् । इत्यसौ चाह सक्रोधं चमरचञ्चपुराधिपः ॥ २४५ ॥
खगेशोऽशनिघोषाख्यो हठादेनां नयाम्यहम् । भवतो यदि सामर्थ्यमस्त्येनां मोचयेति मोचय ॥ २४६ ॥
तदाकर्ण्य मत्स्वामिनोऽनुजा भगिनी नीयते तेन सानुजा । सामान्यवत्कथं यामि हन्म्येनमिति निश्चयात् ॥ २४७ ॥
योद्धुं प्रक्रममाणं मां निवार्यानेन मा कृथाः । वृथेति युद्धं निर्बन्धात्पोदनाख्यपुराधिपः ॥ २४८ ॥
ज्योतिर्वने वियोगेन मम शोकानलाहतः । वर्तते तत्र गत्वा त्वं मदवस्थां निवेदय ॥ २४९ ॥

वैताली विद्या सुताराका रूप रखकर बैठ गयी ॥ २३३-२३४ ॥ जब श्रीविजय वापस लौटकर आया तब उसने कहा कि मुझे कुक्कुटसाँपने डस लिया है। इतना कहकर उसने बड़े सम्भ्रमसे ऐसी चेष्टा बनायी जैसे मर रही हो। उसे देख राजाने जाना कि इसका विष मणि, मन्त्र तथा ओषधि आदिसे दूर नहीं हो सकता। अन्तमें निराश होकर स्नेहसे भरा पोदनाधिपति उस कृत्रिम सुताराके साथ मरनेके लिए उत्सुक हो गया। उसने एक चिता बनायी, सूर्यकान्तमणिसे उत्पन्न अग्निके द्वारा उसका इन्धन प्रज्वलित किया और शोकसे व्याकुल हो उस कपटी सुताराके साथ चितापर आरूढ़ हो गया ॥२३५-२३७॥ उसी समय वहाँसे कोई दो विद्याधर जा रहे थे उनमें एक महा तेजस्वी था उसने विद्याविच्छेदिनी नामकी विद्याका स्मरण कर उस भयभीत वैतालीको बायें पैरसे ठोकर लगायी जिससे उसने अपना असली रूप दिखा दिया। अब वह श्रीविजयके सामने खड़ी रहनेके लिए भी समर्थ न हो सकी अतः अदृश्यताको प्राप्त हो गयी ॥ २३८-२३९ ॥ यह देख राजा श्रीविजय बहुत भारी आश्चर्यको प्राप्त हुए। उन्होंने कहा कि यह क्या है ? उत्तरमें विद्याधर उसकी कथा इस प्रकार कहने लगा ॥ २४० ॥

इस जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रके विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक ज्योतिःप्रभ नामका नगर है। मैं वहाँका राजा सम्भिन्न हूँ, यह सर्वकल्याणी नामकी मेरी स्त्री है और यह दीपशिख नामका मेरा पुत्र है। मैं अपने स्वामी रथनूपुर नगरके राजा अमिततेजके साथ शिखरनल नामसे प्रसिद्ध विशाल उद्यानमें विहार करनेके लिए गया था। वहाँसे लौटते समय मैंने मार्गमें सुना कि एक स्त्री अपने विमानपर बैठी हुई रो रही है और कह रही है कि 'मेरे स्वामी श्रीविजय कहाँ हैं ? हे रथनूपुरके नाथ ! कहाँ हो ? मेरी रक्षा करो।' इस प्रकार उसके करुण शब्द सुनकर मैं वहाँ गया और बोला कि तू कौन है ? तथा किसे हरण कर ले जा रहा है ? मेरी बात सुनकर वह बोला कि मैं चमरचंच नगरका राजा अशनिघोष नामका विद्याधर हूँ। इसे जबर्दस्ती लिये जा रहा हूँ, यदि आपमें शक्ति है तो आओ और इसे छुड़ाओ ॥२४१-२४६॥ यह सुनकर मैंने निश्चय किया कि यह तो मेरे स्वामी अमिततेजकी छोटी बहनको ले जा रहा है। मैं साधारण मनुष्यकी तरह कैसे चला जाऊँ ? इसे अभी मारता हूँ। ऐसा निश्चय कर मैं उसके साथ युद्ध करनेके लिए तत्पर हुआ ही था कि इस स्त्रीने मुझे रोककर कहा कि आग्रह वश वृथा युद्ध मत करो, पोदनपुरके राजा ज्योतिर्वनमें

---

[1] विमानके क०, घ०। विमानगे ग०। विमानगा ल०।

इति स्वकान्तया राजन् प्रेषितोऽहमिहागतः । इयं त्वद्वैरिनिर्दिष्टदेवतेत्यादराद्धितः ॥२५०॥
श्रुत्वा तत्पोदनाधीशो सत्कृतं कथ्यतामिदम् । वृत्तान्तं सत्वरं गत्वा सन्मित्रेण त्वयाऽधुना ॥२५१॥
मज्जनन्यनुजादीनामित्युक्तोऽसौ नभश्चरः । सुतं दीपशिखं सद्यः प्राहिणोत्पोदनं प्रति ॥२५२॥
अभवत्पोदनाख्येऽपि बहूत्पातविजृम्भणम् । तद्दृष्ट्वाऽमोघजिह्वाख्यो जयगुप्तश्च संभ्रमात् ॥२५३॥
उत्पन्नं स्वामिनः किंचिद् भयं तदपि निर्गतम् । आगमिष्यति चाद्यैव कश्चित्कुशलवार्तया ॥२५४॥
स्वस्थास्तिष्ठन्तु तत्रभवन्तो मा गमन् भयम् । इति स्वयंप्रभादींस्तावाश्वासं नयतः स्म तौ ॥२५५॥
तदैव गगनाद्दीपशिखोऽप्यागत्य भूतलम् । स्वयंप्रभां सुतं चास्याः प्रणम्य विधिवत्सुधीः ॥२५६॥
क्षेमं श्रीविजयाधीशो भवद्भिस्त्यज्यतां भयम् । इति तद्वृत्तकं[1] सर्वं यथावस्थं न्यवेदयत् ॥२५७॥
तद्वार्ताकर्णनाद्दावपरिम्लानलतोपमा । निर्वाणाभ्यर्णदीपस्य शिखेव विगतप्रभा ॥२५८॥
श्रुतप्रावृड्घनध्वानकलहंसीव शोकिनी । स्याद्वादवादिविध्वस्तदुःश्रुतिर्वाकुलाकुला ॥२५९॥
तदानीमेव निर्गत्य चतुरङ्गबलान्विता । स्वयंप्रभाऽगात् सखगा ससुता तद्वनान्तरम् ॥ २६० ॥
आयान्तीं दूरतो दृष्ट्वा मातरं सानुजानुगाम् । प्रतिगत्यानमत्तस्याः पादयोः पोदनाधिपः ॥ २६१ ॥
स्वयंप्रभा च तं दृष्ट्वा बाष्पाविलविलोचना । उत्तिष्ठ पुत्र दृष्टोऽसि मत्पुण्याच्चिरजीवितः ॥ २६२ ॥
इति श्रीविजयं दोर्भ्यामुत्थाप्यास्पृश्य तोषिणी । सुखासीनमथापृच्छत्सुताराहरणादिकम् ॥ २६३ ॥
खगः संभिन्ननामाऽयं सेवकोऽमिततेजसः । अनेनोपकृतिर्याऽद्य कृता साऽस्य त्वयापि न ॥ २६४ ॥

मेरे वियोगके कारण शोकाग्निसे पीड़ित हो रहे हैं तुम वहाँ जाकर उनसे मेरी दशा कह दो। इस प्रकार हे राजन्, मैं तुम्हारी स्त्रीके द्वारा भेजा हुआ यहाँ आया हूँ। यह तुम्हारे वैरीकी आज्ञाकारिणी वैताली देवी है। ऐसा उस हितकारी विद्याधरने बड़े आदरसे कहा। इस प्रकार सम्भिन्न विद्याधरके द्वारा कही हुई बातको पोदनपुरके राजाने बड़े आदरसे सुना और कहा कि आपने यह बहुत अच्छा किया। आप मेरे सन्मित्र हैं अतः इस समय आप शीघ्र ही जाकर यह समाचार मेरी माता तथा छोटे भाई आदिसे कह दीजिए। ऐसा कहनेपर उस विद्याधरने अपने दीपशिख नामक पुत्रको शीघ्र ही पोदनपुरकी ओर भेज दिया ॥२४७-२५२॥ उधर पोदनपुरमें भी बहुत उत्पातोंका विस्तार हो रहा था, उसे देखकर अमोघजिह्व और जयगुप्त नामके निमित्तज्ञानी बड़े संयमसे कह रहे थे कि स्वामीको कुछ भय उत्पन्न हुआ था परन्तु अब वह दूर हो गया है, उनका कुशल समाचार लेकर आज ही कोई मनुष्य आयेगा। इसलिए आप लोग स्वस्थ रहें, भयको प्राप्त न हों। इस प्रकार वे दोनों ही विद्याधर, स्वयंप्रभा आदिको धीरज बँधा रहे थे ॥२५३-२५५॥ उसी समय दीपशिख नामका बुद्धिमान् विद्याधर आकाशसे पृथिवी-तलपर आया और विधि-पूर्वक स्वयंप्रभा तथा उसके पुत्रको प्रणाम कर कहने लगा कि महाराज श्रीविजयकी सब प्रकारकी कुशलता है, आप लोग भय छोड़िए, इस प्रकार सब समाचार ज्योंके त्यों कह दिये ॥२५६-२५७॥ उस बातको सुननेसे, जिस प्रकार दावानलसे लता म्लान हो जाती है, अथवा बुझनेवाले दीपककी शिखा जिस प्रकार प्रभाहीन हो जाती है, अथवा वर्षा ऋतुके मेघका शब्द सुननेवाली कलहंसी जिस प्रकार शोकयुक्त हो जाती है अथवा जिस प्रकार किसी स्याद्वादी विद्वान्के द्वारा विध्वस्त हुई दुःश्रुति (मिथ्याशास्त्र) व्याकुल हो जाती है उसी प्रकार स्वयंप्रभा भी म्लान शरीर, प्रभारहित, शोकयुक्त तथा अत्यन्त आकुल हो गयी थी ॥२५८-२५९॥ वह उस विद्याधरको तथा पुत्रको साथ लेकर उस वनके बीच पहुँच गयी ॥२६०॥ पोदनाधिपतिने छोटे भाईके साथ आती हुई माताको दूरसे ही देखा और सामने जाकर उसके चरणोंमें नमस्कार किया ॥२६१॥ पुत्रको देखकर स्वयंप्रभाके नेत्र हर्षाश्रुओंसे व्याप्त हो गये। वह कहने लगी कि 'हे पुत्र ! उठ, मैंने अपने पुण्योदयसे तेरे दर्शन पा लिये, तू चिरंजीव रह' इस प्रकार कहकर उसने श्रीविजयको अपनी दोनों भुजाओंसे उठा लिया, उसका स्पर्श किया और बहुत भारी सन्तोषका अनुभव किया। अथानन्तर—जब श्रीविजय सुखसे बैठ गये तब उसने सुताराके हरण आदिका समाचार पूछा ॥२६२-२६३॥ श्रीविजयने कहा कि यह सम्भिन्न-

---

१ —न्वृत्तकं ल० ।

मत्वेति शेषमप्याह ततोऽमावध्यनूभवम्[1] । तनूजं पुररक्षायै निवर्त्याग्रजान्विता ॥ २६५ ॥
रथनूपुरमुद्दिश्य गता गगनवर्त्मना । स्वदेशचरचारोक्त्या विदितामिततेजसा ॥ २६६ ॥
महाविभूत्या प्रत्येत्य सामिका परितुष्टता । प्रवेशिता सकेतूच्चैः पुरमाबद्धतोरणम् ॥ २६७ ॥
प्राघूर्णकविधिं विश्वं विधाय विधिवत्तयोः । यदागमनकार्यं च ज्ञात्वा विद्याधराधिपः ॥ २६८ ॥
दूतं मरीचिनामानमिन्द्राशनिसुतं प्रति । प्रहित्य तन्मुखात्तस्य विदित्वा दुस्सहं वचः ॥ २६९ ॥
आलोच्य मन्त्रिभिः सार्द्धमुच्छेत्तुं तं मदोद्धतम् । मैथुनाय महेच्छाय निजायात्र समागतम् ॥२७०॥
युद्धवीर्यं प्रहरणावरणं बन्धमोचनम् । इति विद्यात्रयं शत्रुध्वंसार्थमदितादरात् ॥ २७१ ॥
रश्मिवेगसुवेगादिमहस्त्रार्द्धात्मजैः सह । पोदनेशं व्रजेत्युक्त्वा शत्रोरुपरि दर्पिणः ॥ २७२ ॥
सहस्ररश्मिना सार्द्धं ज्यायसा स्वात्मजेन सः । महाज्वालाकाह्वयां [2]सर्वविद्याच्छेदनसंयुताम् ॥ २७३ ॥
संजयन्तमहाचैत्यमूले साधयितुं गतः । ह्रीमन्तं पर्वतं विद्यां विद्यानां साधनास्पदम् ॥ २७४ ॥
रश्मिवेगादिभिः सार्द्धं श्रुत्वा श्रीविजयागमम् । युद्धायाशनिघोषेण प्रेषिताः स्वसुताः क्रुधा ॥ २७५ ॥
सुघोषः शतघोषाख्यः स सहस्रादिघोषकः । युद्ध्वाऽन्येऽपि च मासार्द्धं सर्वे भङ्गमुपागमन् ॥ २७६ ॥
तद् बुद्ध्वा क्रोधसंतप्तो योद्धुं स्वयमुपेयिवान् । स्वनाशपिशुनाशेषघोषणोऽशनिघोषकः ॥ २७७ ॥
युद्धे श्रीविजयोऽप्येनं विधातुं प्राहरद् द्विधा । भ्रामरीविद्यया सोऽपि द्विरूपः समजायत ॥ २७८ ॥
चतुर्गुणत्वमायातौ पुनस्तौ तेन खण्डितौ । संग्रामोऽशनिघोषैकमायाऽभूदिति खण्डनात् ॥ २७९ ॥

नामक विद्याधर अमिततेजका सेवक है। हे माता! आज इसने मेरा जो उपकार किया है वह तुझने भी नहीं किया ॥२६४॥ ऐसा कहकर उसने जो-जो बात हुई थी वह सब कह सुनायी। तदनन्तर स्वयंप्रभाने छोटे पुत्रको तो नगरकी रक्षाके लिए वापस लौटा दिया और बड़े पुत्रको साथ लेकर वह आकाशमार्गसे रथनूपुर नगरको चली। अपने देशमें घूमनेवाले गुप्तचरोंके कहनेसे अमिततेजको इस बातका पता चल गया जिससे उसने बड़े वैभवके साथ उसकी अगवानी की तथा सन्तुष्ट होकर जिसमें बड़ी ऊँची पताकाएँ फहरा रही हैं और तोरण बाँधे गये हैं ऐसे अपने नगरमें उसका प्रवेश कराया ॥२६५-२६७॥ उस विद्याधरोंके स्वामी अमिततेजने उनका पाहुनेके समान सम्पूर्ण स्वागत-सत्कार किया और उनके आनेका कारण जानकर इन्द्राशनिके पुत्र अशनिघोषके पास मरीचि नामका दूत भेजा। उसने दूतसे असह्य वचन कहे। दूतने वापस आकर वे सब वचन अमिततेजसे कहे। उन्हें सुनकर अमिततेजने मन्त्रियोंके साथ सलाह कर मदसे उद्धत हुए उस अशनिघोषको नष्ट करनेका दृढ़ निश्चय कर लिया। उस अभिप्रायवाले अपने बहनोईको उसने शत्रुओंका विध्वंस करनेके लिए वंशपरम्परागत युद्धवीर्य, प्रहरणावरण और बन्धमोचन नामकी तीन विद्याएँ बड़े आदरसे दीं ॥२६८-२७१॥ तथा रश्मिवेग सुवेग आदि पाँच सौ पुत्रोंके साथ-साथ पोदनपुरके राजा श्रीविजयसे अहंकारी शत्रुपर जानेके लिए कहा ॥२७२॥ और स्वयं सहस्ररश्मि नामक अपने बड़े पुत्रके साथ समस्त विद्याओंको छेदनेवाली महाज्वाला नामकी विद्याको सिद्ध करनेके लिए विद्याएँ सिद्ध करनेकी जगह ह्रीमन्त पर्वतपर श्रीसंजयन्त मुनिकी विशाल प्रतिमाके समीप गया ॥२७३-२७४॥ इधर जब अशनिघोषने सुना कि श्रीविजय युद्धके लिए रश्मिवेग आदिके साथ आ रहा है तब उसने क्रोधसे सुघोष, शतघोष, सहस्रघोष आदि अपने पुत्र भेजे। उसके वे समस्त पुत्र तथा अन्य लोग पन्द्रह दिन तक युद्ध कर अन्तमें पराजित हुए। जिसकी समस्त घोषणाएँ अपने नाशको सूचित करनेवाली हैं ऐसे अशनिघोषने जब यह समाचार सुना तब वह क्रोधसे सन्तप्त होकर स्वयं ही युद्ध करनेके लिए गया ॥२७५-२७७॥ इधर युद्धमें श्रीविजयने अशनिघोषके दो टुकड़े करनेके लिए प्रहार किया। उधर भ्रामरी विद्यासे उसने दो रूप बना लिये। श्रीविजयने नष्ट करनेके लिए उन दोनोंके दो-दो टुकड़े किये तो उधर अशनिघोषने चार रूप बना लिये। इस प्रकार वह सारी

---

१ अनु पश्चाद् उद्भवतीति अनूद्भवस्तम् अनुजमिति यावत्। २ सार्व–ल०।

तदा साधितविद्यः सन् रथनूपुरनायकः । ए–(इ)त्यादिशन्महाज्वालविद्यां तां सोढुमक्षमः ॥ २८० ॥
मासार्द्धकृतसंग्रामो विजयाख्यजिनेशिनः । नाभेयसीमनामाद्रिगजध्वजसमीपगाम् ॥ २८१ ॥
सभां नीत्वा खगेशोऽगात्कोपात्तेऽप्यनुयायिनः । मानस्तम्भं निरीक्ष्यासन् प्रशान्तचित्तवृत्तयः ॥ २८२ ॥
जिनं प्रदक्षिणीकृत्य त्रिः प्रणम्य जगत्पतिम् । वान्तवैरविषाः सर्वे तत्रासिषत ते समम् ॥ २८३ ॥
तदागत्यासुरी देवी सती शीलवती स्वयम् । सुतारां द्रुतमानीय परिम्लानलतोपमाम् ॥ २८४ ॥
मत्पुत्रस्य युवां क्षन्तुमपराधमर्हतः । इत्युदीर्यार्पयत्सा श्रीविजयामिततेजसोः ॥ २८५ ॥
तिरश्चामपि चेद्वैरमहार्यं जातिहेतुकम् । विनश्यति जिनाभ्याशे मनुष्याणां किमुच्यते ॥ २८६ ॥
कर्माण्यनादिबद्धानि मुच्यन्ते यदि संस्मृतेः । जिनानां सन्निधौ तेषां नाश्चर्यं वैरमोचनम् ॥ २८७ ॥
अन्तको दुर्निवारोऽत्र वार्यते सोऽपि हेलया । जिनस्मरणमात्रेण न वार्योऽन्यः स को रिपुः ॥ २८८ ॥
तदन्तकप्रतीकारे स्मरणीयो मनीषिभिः । [1]जगत्त्रयैकनाथोऽर्हन् पुरेह च हितावहः ॥ २८९ ॥
अथ विद्याधराधीशः प्रणम्य प्राञ्जलिर्जिनम् । भक्त्या सद्धर्ममप्राक्षीत्स तत्त्वार्थबुभुत्सया ॥ २९० ॥
महादुःखोर्मिसंकीर्णदुःसंसारपयोनिधेः । स्फुरत्कषायनक्रस्य पारः केनाप्यते जिन ॥ २९१ ॥
प्रष्टव्यो नापरः कोऽपि तीर्णसंसारसागरः । त्वमेवैको जगद्बन्धो विनेयाननुशाधि नः[2] ॥ २९२ ॥
भवद्भाषामहानावा रत्नत्रयमहाधनाः । [3]स्वस्थानं जन्मवाराशे[4]रवापन्सुखसाधनम् ॥ २९३ ॥

सेना अशनिघोषकी मायासे भर गयी ॥२७८-२७९॥ इतनेमें ही रथनूपुरका राजा अमिततेज विद्या सिद्ध कर आ गया और आते ही उसने महाज्वाला नामकी विद्याको आदेश दिया। अशनिघोष उस विद्याको सह नहीं सका ॥२८०॥ इसलिए पन्द्रह दिन तक युद्ध कर भागा और भयसे नाभेयसीम नामके पर्वतपर गजध्वजके समीपवर्ती विजय तीर्थंकरके समवसरणमें जा घुसा। अमिततेज तथा श्रीविजय आदि भी क्रोधित हो उसका पीछा करते-करते उसी समवसरणमें जा पहुँचे। वहाँ मानस्तम्भ देखकर उन सबकी चित्त-वृत्तियाँ शान्त हो गयीं। सबने जगत्पति जिनेन्द्र भगवान्‌की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, उन्हें प्रणाम किया और वैररूपी विषको उगलकर वे सब वहाँ साथ-साथ बैठ गये ॥२८१-२८३॥ उसी समय शीलवती आसुरी देवी मुरझायी हुई लताके समान सुताराको शीघ्र ही लायी और श्रीविजय तथा अमिततेजको समर्पण कर बोली कि आप दोनों हमारे पुत्रका अपराध क्षमा कर देनेके योग्य हैं ॥२८४-२८५॥ तिर्यंचोंका जो जन्मजात वैर छूट नहीं सकता वह भी जब जिनेन्द्र भगवान्‌के समीप आकर छूट जाता है तब मनुष्योंकी तो बात ही क्या कहना है? ॥२८६॥ जब जिनेन्द्र भगवान्‌के स्मरणसे अनादि कालके बँधे हुए कर्म छूट जाते हैं तब उनके समीप वैर छूट जावे इसमें आश्चर्य ही क्या है? ॥२८७॥ जो बड़े दुःखसे निवारण किया जाता है ऐसा यमराज भी जब जिनेन्द्र भगवान्‌के स्मरण मात्रसे अनायास ही रोक दिया जाता है तब दूसरा ऐसा कौन शत्रु है जो रोका न जा सके? ॥२८८॥ इसलिए बुद्धिमानोंको यमराजका प्रतिकार करनेके लिए तीनों लोकोंके नाथ अर्हन्त भगवान्‌का ही स्मरण करना चाहिए। वही इस लोक तथा परलोकमें हितके करनेवाले हैं ॥२८९॥

अथानन्तर विद्याधरोंके स्वामी अमिततेजने हाथ जोड़कर बड़ी भक्तिसे भगवान्‌को नमस्कार किया और तत्त्वार्थको जाननेकी इच्छासे सद्धर्मका स्वरूप पूछा ॥२९०॥ जिसमें कषायरूपी मगरमच्छ तैर रहे हैं और जो अनेक दुःखरूपी लहरोंसे भरा हुआ है ऐसे संसाररूपी विकराल सागरका पार कौन पा सकता है? यह बात जिनेन्द्र भगवान्‌से ही पूछी जा सकती है किसी दूसरेसे नहीं क्योंकि उन्होंने ही संसाररूपी सागरको पार कर पाया है। हे भगवन्! एक आप ही जगत्‌के बन्धु हैं अतः हम सब शिष्योंको आप सद्धर्मका स्वरूप बतलाइए ॥२९१-२९२॥ रत्नत्रय रूपी महाधनको धारण करनेवाले पुरुष आपकी दिव्यध्वनि रूपी बड़ी भारी नावके द्वारा ही इस संसाररूपी समुद्रसे निकलकर सुख देनेवाले अपने स्थानको

---

१ जगत्त्रैलोक्यनाथोऽर्हन् ग० । २–ननु शास्मि नः ग० ।–ननुसाधि नः ल० । ३ सत्स्थानं ल० । ४–रावापत् ल० ।

इति तं च ततो देवो वाचा प्रोवाच दिव्यया । संतर्प्यन्ते यया भव्याः प्राच्या वृष्ट्येव चातकाः ॥२९४॥
शृणु भव्य भवस्यास्य कारणं कर्म कर्मणः । हेतवो हे खगाधीश मिथ्यात्वासंयमादयः ॥ २९५ ॥
मिथ्यात्वोदयसंभूतपरिणामो विपर्ययम् । ज्ञानस्य जनयन् विद्धि मिथ्यात्वं बन्धकारणम् ॥ २९६ ॥
अज्ञानसंशयैकान्तविपरीतविकल्पनम् । विनयैकान्तजं चेति तज्ज्ञैस्तत्पञ्चधा मतम् ॥ २९७ ॥
पापधर्माभिधानात्तबोधदूरेषु जन्तुषु । मिथ्यात्वोदयपर्यायो मिथ्यात्वं स्यात्तदादिमम् ॥ २९८ ॥
[1]आप्तागमादिनानात्वात्तत्त्वे दोलायमानता । येन संशयमिथ्यात्वं तद्विद्धि बुधसत्तम[2] ॥ २९९ ॥
द्रव्यपर्यायरूपेऽर्थे भक्ते चाक्षरसाधने । तस्यादेकान्तमिथ्यात्वं येनैकान्तावधारणम् ॥ ३०० ॥
यो ज्ञानज्ञायकज्ञेययाथात्म्ये निर्णयोऽन्यथा । स येनात्मनि तद्विद्धि मिथ्यात्वं विपरीतजम् ॥ ३०१ ॥
मनोवाक्कायवृत्तेन प्रणतौ सर्ववस्तुषु । मुक्त्युपायमतिर्येन मिथ्यात्वं स्यात् यदन्तिमम् ॥ ३०२ ॥
अव्रतस्य मनःकायवचोवृत्तिरसंयमः । तज्ज्ञैः सोऽपि द्विधा प्रोक्तः प्राणीन्द्रियसमाश्रयात् ॥ ३०३ ॥
अप्रत्याख्यानमोहानामुदयो यावदङ्गिनाम् । आ चतुर्थगुणस्थानात्तावत्स बन्धकारणम् ॥ ३०४ ॥
कायवाक्चेतसां वृत्तिर्व्रतानां मलकारिणी । या सा षष्ठगुणस्थाने प्रमादो बन्धवृत्तये ॥ ३०५ ॥
प्रोक्ताः पञ्चदशैतस्य भेदाः संज्वलनोदयात् । चारित्रत्रययुक्तस्य प्रायश्चित्तस्य हेतवः ॥ ३०६ ॥
यः संज्वलनसंज्ञस्य चतुष्कस्योदयाद्भवेत् । गुणस्थानचतुष्के स कषायो बन्धहेतुकः ॥ ३०७ ॥
स च षोडशभेदेन कषायः कथितो जिनैः । उपशान्तादितो हेतुर्बन्धे स्थित्यनुभागयोः ॥ ३०८ ॥

प्राप्त करते हैं ॥२९३॥ ऐसा विद्याधरोंके राजाने भगवान्से पूछा। तदनन्तर भगवान् दिव्य-ध्वनिके द्वारा कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार पूर्व वृष्टिके द्वारा चातक पक्षी सन्तोषको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार भव्य जीव दिव्यध्वनिके द्वारा सन्तोषको प्राप्त होते हैं ॥२९४॥ हे विद्याधर भव्य! सुन, इस संसारके कारण कर्म हैं और कर्मके कारण मिथ्यात्व असंयम आदि हैं ॥२९५॥ मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो परिणाम ज्ञानको भी विपरीत कर देता है उसे मिथ्यात्व जानो। यह मिथ्यात्व बन्धका कारण है ॥२९६॥ अज्ञान, संशय, एकान्त, विपरीत और विनयके भेदसे ज्ञानी पुरुष उस मिथ्यात्वको पाँच प्रकारका मानते हैं ॥२९७॥ पाप और धर्मके नामसे दूर रहनेवाले जीवोंके, मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जो परिणाम होता है वह अज्ञान मिथ्यात्व है ॥२९८॥ आप्त तथा आगम आदिके नाना होनेके कारण जिसके उदयसे तत्त्वके स्वरूपमें दोलायमानता—चंचलता बनी रहती है उसे हे श्रेष्ठ विद्वान्! तुम संशय मिथ्यात्व जानो ॥२९९॥ द्रव्य पर्यायरूप पदार्थमें अथवा मोक्षका साधन जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है उसमें किसी एकका ही एकान्त रूपसे निश्चय करना सो एकान्त मिथ्यादर्शन है ॥३००॥ आत्मामें जिसका उदय रहते हुए ज्ञान ज्ञायक और ज्ञेयके यथार्थ स्वरूपका विपरीत निर्णय होता है उसे विपरीत मिथ्यादर्शन जानो ॥३०१॥ मन, वचन और कायके द्वारा जहाँ सब देवोंको प्रणाम किया जाता है और समस्त पदार्थोंको मोक्षका उपाय माना जाता है उसे विनय मिथ्यात्व कहते हैं ॥३०२॥ व्रतरहित पुरुषकी जो मन वचन कायकी क्रिया है उसे असंयम कहते हैं। इस विषयके जानकार मनुष्योंने प्राणी-असंयम और इन्द्रिय-असंयमके भेदसे असंयमके दो भेद कहे हैं ॥३०३॥ जबतक जीवोंके अप्रत्याख्यानावरण चारित्र मोहका उदय रहता है तबतक अर्थात् चतुर्थगुणस्थान तक असंयम बन्धका कारण माना गया है ॥३०४॥ छठे गुणस्थानोंमें व्रतोंमें संशय उत्पन्न करनेवाली जो मन वचन कायकी प्रवृत्ति है उसे प्रमाद कहते हैं। यह प्रमाद छठे गुणस्थान तक बन्धका कारण होता है ॥३०५॥ प्रमादके पन्द्रह भेद कहे गये हैं। ये संज्वलन कषायका उदय होनेसे होते हैं तथा सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि इन तीन चारित्रोंसे युक्त जीवके प्रायश्चित्तके कारण बनते हैं ॥३०६॥ सातवेंसे लेकर दसवें तक चार गुणस्थानोंमें संज्वलन क्रोध मान माया लोभके उदयसे जो परिणाम होते हैं उन्हें कषाय कहते हैं। इन चार गुणस्थानोंमें यह कषाय ही बन्धका कारण है ॥३०७॥ जिनेन्द्र

---

१ आत्मागमादि ल० । २ बुधसत्तमम् ल० ।

आत्मप्रदेशसंचारो योगो बन्धविधायकः । गुणस्थानत्रये ज्ञेयः सद्वेद्यस्य स एककः ॥ ३०९ ॥
मानसः स चतुर्भेदस्तावानेव वचःस्थितः । काये सप्तविधः सर्वो यथास्वं द्वयबन्धकृत् ॥ ३१० ॥
पञ्चभिर्बध्यते मिथ्यात्वादिभिर्वर्णितैः सदा । स विंशतिशतेनायं कर्मणां स्वोचिते पदे ॥ ३११ ॥
जन्तुस्तैर्भ्राम्यते भूयो भूयो गत्यादिपर्ययः । आद्यगुणस्थानसर्वजीवसमात्मकः ॥ ३१२ ॥
त्र्यज्ञानदर्शनोपेतस्त्रिभावो वर्जितसंयमः । भव्योऽभव्यश्च संसारचक्रावर्तगर्तगः ॥ ३१३ ॥
जन्ममृत्युजरारोगसुखदुःखादिभेदभाक् । अतीतानादिकालेऽत्र कश्चित्कालादिलब्धितः ॥ ३१४ ॥
करणत्रयसंशान्तसप्तप्रकृतिसंचयः । प्राप्तविच्छिन्नसंसारः शमसंभूतदर्शनः ॥ ३१५ ॥
अप्रत्याख्यानमिश्राख्यभावाप्तद्वादशव्रतः । प्रत्याख्यानाख्यमिश्राख्यभावावाप्तमहाव्रतः ॥ ३१६ ॥
सप्तप्रकृतिनिर्नाशलब्धक्षायिकदर्शनः । मोहारातिविघातोत्थक्षायिकाचारभूषितः ॥ ३१७ ॥
द्वितीयशुक्लसद्ध्यानो घातित्रितय[1]घातकः । नवकेवलभावाप्त्या स्नातकः सर्वदृग्जिनः ॥ ३१८ ॥
तृतीयशुक्लसद्ध्याननिरुद्धाशेषयोगकः । समुच्छिन्नक्रियायोगाद्विच्छिन्नाशेषबन्धकः ॥ ३१९ ॥
एवं त्रिरूपसन्मार्गात् क्रमाद्भववारिधिम् । भव्यो भवादृशो भव्य समुत्तीर्यैधते सदा ॥ ३२० ॥
इति तां जन्मनिर्वाणप्रक्रियां जिनभाषिताम् । श्रुत्वा पीतामृतो वाऽसौ विश्वविद्याधरेश्वरः ॥ ३२१ ॥

भगवान्‌ने इस कषायके सोलह भेद कहे हैं। यह कषाय उपशान्तमोह गुणस्थानके इसी ओर स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्धका कारण माना गया है ॥ ३०८ ॥ आत्माके प्रदेशोंमें जो संचार होता है उसे योग कहते हैं। यह योग ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें इन तीन गुणस्थानोंमें सातावेदनीयके बन्धका कारण माना गया है। इन गुणस्थानोंमें यह एक ही बन्धका कारण है ॥३०९॥ मनोयोग चार प्रकारका है, वचन योग चार प्रकारका है और काय-योग सात प्रकारका है। ये सभी योग यथायोग्य जहाँ जितने सम्भव हों उतने प्रकृति और प्रदेश बन्धके कारण हैं। हे आर्य! जिनका अभी वर्णन किया है ऐसे इन मिथ्यात्व आदि पाँचके द्वारा यह जीव अपने-अपने योग्य स्थानोंमें एक सौ बीस कर्मप्रकृतियोंसे सदा बँधता रहता है ॥ ३१०-३११ ॥ इन्हीं प्रकृतियोंके कारण यह जीव गति आदि पर्यायोंमें बार-बार घूमता रहता है, प्रथम गुणस्थानमें इस जीवके सभी जीव समान होते हैं, वहाँ यह जीव तीन अज्ञान और तीन अदर्शनोंसे सहित होता है, उसके औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये तीन भाव होते हैं, संयमका अभाव होता है, कोई जीव भव्य रहता है और कोई अभव्य होता है। इस प्रकार संसारचक्रके भँवररूपी गड्ढेमें पड़ा हुआ यह जीव जन्म जरा मरण रोग सुख दुःख आदि विविध भेदोंको प्राप्त करता हुआ अनादि कालसे इस संसारमें निवास कर रहा है। इनमें-से कोई जीव कालादि लब्धियोंका निमित्त पाकर अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणामोंसे मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियोंका उपशम करता है तथा संसारकी परिपाटीका विच्छेद कर उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। तदनन्तर अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशमसे महाव्रत प्राप्त करता है। कभी अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ तथा मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। कभी मोह-कर्मरूपी शत्रुके उच्छेदसे उत्पन्न हुए क्षायिक चारित्रसे अलंकृत होता है। तदनन्तर द्वितीय शुक्ल-ध्यानका धारक होकर तीन घातिया कर्मोंका क्षय करता है, उस समय नव केवल-लब्धियोंकी प्राप्तिसे अर्हन्त होकर सबके द्वारा पूज्य हो जाता है। कुछ समय बाद तृतीय शुक्लध्यानके द्वारा समस्त योगोंको रोक देता है और समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक चौथे शुक्ल ध्यानके द्वारा समस्त कर्मबन्धको नष्ट कर देता है। इस प्रकार हे भव्य! तेरे समान भव्य प्राणी क्रम-क्रमसे प्राप्त हुए तीन प्रकारके सन्मार्गके द्वारा संसार-समुद्रसे पार होकर सदा सुखसे बढ़ता रहता है ॥३१२-३२०॥ इस प्रकार समस्त विद्याधरोंका स्वामी अमिततेज, श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा

---

१ घातित्रय-ल० ।

कालाद्युक्तचतुर्भेदप्रायोग्यप्रापणात्तदा । सम्यक्श्रद्धानसंशुद्धः श्रावकव्रतभूषितः ॥ ३२२ ॥
भगवन् किंचिदिच्छामि प्रष्टुमन्यच्च चेतसि । स्थितं मेऽशनिघोषोऽयं प्रभावं तत्त्वतोऽवयन् ॥३२३॥
सुतारां मेऽनुजामेव हृतवान् केन हेतुना । इत्यप्राक्षीज्जिनेन्द्रोऽपि हेतुं तस्यैवमब्रवीत् ॥ ३२४ ॥
जम्बूपलक्षिते द्वीपे विषये मगधाह्वये । अचलग्रामवास्तव्यो ब्राह्मणो धरणीजटः[1] ॥ ३२५ ॥
अग्निला गृहिणी तोकौ भूत्यन्तेन्द्राग्निसंज्ञकौ । कपिलस्तस्य दासेरस्तद्वेदाध्ययने स्वयम् ॥ ३२६ ॥
वेदान्स सूक्ष्मबुद्धित्वादज्ञासीद् ग्रन्थतोऽर्थतः । तं ज्ञात्वा ब्राह्मणः क्रुद्ध्वा त्वयाऽयोग्यमिदं कृतम्॥३२७॥
इति दासीसुतं गेहात्तदैव निरजीगमत् । कपिलोऽपि विषण्णत्वात्तस्माद्रत्नं पुरं ययौ ॥ ३२८ ॥
श्रुत्वाऽध्ययनसंपन्नं योग्यं तं वीक्ष्य सत्यकः । विप्रः स्वतनुजां जम्बूसमुत्पन्नां समर्पयत् ॥ ३२९ ॥
स राजपूजितस्तत्र सर्वशास्त्रार्थसारवित् । व्याख्यामखण्डितां कुर्वन्ननयत्कतिचित्समाः ॥ ३३० ॥
तस्य विप्रकुलायोग्यदुश्चरित्रविमर्शनात् । तद्भार्या सत्यभामाऽयं[2] कस्येत्यायत्तसंशया ॥ ३३१ ॥
वार्तापरम्पराज्ञातस्वर्कायप्राभवं[3] द्विजम् । स्वदारिद्र्यापनोदार्थं स्वान्तिकं समुपागतम् ॥ ३३२॥
दूरात् कपिलको दृष्ट्वा दुष्टात्मा धरणीजटम्[4] । कुपितोऽपि मनस्यस्मै प्रत्युत्थायाभिवाद्य च ॥३३३॥
समुच्चासनमारोप्य मातुर्भ्रात्रोश्च किं मम । कुशलं ब्रूत मद्भाग्याद्यूयमत्रैवमागताः ॥ ३३४ ॥

कही हुई जन्मसे लेकर निर्वाण पर्यन्तकी प्रक्रियाको सुनकर ऐसा सन्तुष्ट हुआ मानो उसने अमृतका ही पान किया हो ॥ ३२१ ॥ ऊपर कही हुई कालादि चार लब्धियोंकी प्राप्तिसे उस समय उसने सम्यग्दर्शनसे शुद्ध होकर अपने-आपको श्रावकोंके व्रतसे विभूषित किया ॥ ३२२ ॥ उसने भगवान्‌से पूछा कि हे भगवन् ! मैं अपने चित्तमें स्थित एक दूसरी बात आपसे पूछना चाहता हूँ। बात यह है कि इस अशनिघोषने मेरा प्रभाव जानते हुए भी मेरी छोटी बहिन सुताराका हरण किया है सो किस कारणसे किया है ? उत्तरमें जिनेन्द्र भगवान् भी उसका कारण इस प्रकार कहने लगे ॥ ३२३-३२४ ॥

जम्बूद्वीपके मगध देशमें एक अचल नामका ग्राम है। उसमें धरणीजट नामका ब्राह्मण रहता था ॥३२५॥ उसकी स्त्रीका नाम अग्निला था और उन दोनोंके इन्द्रभूति तथा अग्निभूति नामके दो पुत्र थे। इनके सिवाय एक कपिल नामका दासीपुत्र भी था। जब वह ब्राह्मण अपने पुत्रोंको वेद पढ़ाता था तब कपिलको अलग रखता था परन्तु कपिल इतना सूक्ष्मबुद्धि था कि उसने अपने-आप ही शब्द तथा अर्थ-दोनों रूपसे वेदोंको जान लिया था। जब ब्राह्मणको इस बातका पता चला तब उसने कुपित होकर 'तूने यह अयोग्य किया' यह कहकर उस दासी-पुत्रको उसी समय घरसे निकाल दिया। कपिल भी दुःखी होता हुआ वहाँसे रत्नपुर नामक नगरमें चला गया ॥ ३२६–३२८ ॥ रत्नपुरमें एक सत्यक नामक ब्राह्मण रहता था। उसने कपिलको अध्ययनसे सम्पन्न तथा योग्य देख जम्बू नामक स्त्रीसे उत्पन्न हुई अपनी कन्या समर्पित कर दी ॥ ३२९ ॥ इस प्रकार राजपूज्य एवं समस्त शास्त्रोंके सारपूर्ण अर्थके ज्ञाता कपिलने जिसको कोई खण्डन न कर सके ऐसी व्याख्या करते हुए रत्नपुर नगरमें कुछ वर्ष व्यतीत किये ॥ ३३० ॥ कपिल विद्वान् अवश्य था परन्तु उसका आचरण ब्राह्मण कुलके योग्य नहीं था अतः उसकी स्त्री सत्यभामा उसके दुश्चरितका विचार कर सदा संशय करती रहती थी कि यह किसका पुत्र है ? ॥ ३३१ ॥ इधर धरणीजट दरिद्र हो गया। उसने परम्परासे कपिलके प्रभावकी सब बातें जान लीं इसलिए वह अपनी दरिद्रता दूर करनेके लिए कपिलके पास गया। उसे आया देख कपिल मन-ही-मन बहुत कुपित हुआ परन्तु बाह्यमें उसने उठकर अभिवादन-प्रणाम किया। उच्च आसनपर बैठाया और कहा कि कहिए मेरी माता तथा भाइयोंकी कुशलता है न ? मेरे सौभाग्यसे आप यहाँ पधारे यह अच्छा किया इस प्रकार

---

१ धरणीजडः ख, ल० । २ कस्येत्यायत्तसंशयम् क०, घ० । कस्येत्यायत्तसंशयः ल० । ३ द्विजः ग० । ४ धरणीजडं ल० ।

इति पृष्ट्वा प्रतोष्यैनं स्नानवस्त्रासनादिभिः । स्वजात्युद्भेदभीतत्वात् सम्यक् तस्य मनोऽग्रहीत् ॥३३५॥
सोऽपि विप्रोऽतिदारिद्र्याभिद्रुतः पुत्रमेव तम् । प्रतिपद्याचरत्स्वार्थो नार्थिनां स्थितिपालनम् ॥३३६॥
दिनानि कानिचिद्यातान्येवं संवृतवृत्तयोः । तयोः कदाचित्तं विप्रं सत्यभामा धनार्चिनम् ॥३३७॥
अप्राक्षीत्तत्परोक्षेऽयं किं सत्यं ब्रूत वः सुतः । एतद्दुश्चरिताच्चास्य प्रत्येमीति पुत्रताम् ॥३३८॥
स सुवर्णवसुर्गेहं यियासुश्चेतसा द्विषन् । गदित्वाऽगाद्यथावृत्तं दुष्टानां नास्ति दुष्करम् ॥३३९॥
अथ तन्नगराधीशः श्रीषेणः सिंहनन्दिताऽ- । निन्दिता च प्रिये तस्य तयोरिन्द्रेन्दुसन्निभौ ॥३४०॥
इन्द्रोपेन्द्रादिसेनान्तौ तनूजौ मनुजोत्तमौ । ताभ्यामतिविनीताभ्यां पितरः प्रीतिमागमन् ॥३४१॥
पापस्य रतिना सत्यभामा सान्वयमानिनी । सहवासमनिच्छन्ती भूपतिं शरणं गता ॥३४२॥
ततः [2]कापिलकं शोकान्मस्तकन्यस्तहस्तकम् । स्वोपान्तोपेतमन्यायघोषणं कृतकद्विजम् ॥३४३॥
वीक्ष्य [3]विज्ञातवृत्तान्तः स श्रीषेणमहीपतिः । पापिष्ठानां विजातीनां नाकार्यं नाम किंचन ॥३४४॥
एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम् । आदिमध्यावसानेषु न ते यान्ति विक्रियाम् ॥३४५॥
स्वयंरक्तो विरक्तायां योऽनुरागं प्रवाञ्छति । [4]हरिनीलमणौ वामौ तेजः काङ्क्षन्ति लोहितम् ॥३४६॥
इत्यादि चिन्तयन् सद्यस्तं दुराचारमात्मनः । देशान्निराकरोद्धर्म्या न सहन्ते स्थितिक्षतिम् ॥३४७॥
कदाचिच्च महीपालः चारणद्वन्द्वमागतम् । प्रतीक्ष्यादित्यगत्याख्यमरिंजयमपि स्वयम् ॥३४८॥

पूछकर स्नान वस्त्र आसन आदिसे उसे सन्तुष्ट किया और कहीं हमारी जातिका भेद खुल न जाये इस भयसे उसने उसके मनको अच्छी तरह ग्रहण कर लिया ॥३३२-३३५॥ दरिद्रतासे पीड़ित हुआ पापी ब्राह्मण भी कपिलको अपना पुत्र कहकर उसके साथ पुत्र-जैसा व्यवहार करने लगा सो ठीक है क्योंकि स्वार्थी मनुष्योंकी मर्यादाका पालन नहीं होता ॥३३६॥ इस प्रकार अपने समाचारोंको छिपाते हुए उन पिता-पुत्रके कितने ही दिन निकल गये। एक दिन कपिलके परोक्षमें सत्यभामाने ब्राह्मणको बहुत-सा धन देकर पूछा कि आप सत्य कहिए। क्या यह आपका ही पुत्र है? इसके दुश्चरित्रसे मुझे विश्वास नहीं होता कि यह आपका ही पुत्र है। धरणीजट हृदयमें तो कपिलके साथ द्वेष रखता ही था और इधर सत्यभामाके दिये हुए सुवर्ण तथा धनको साथ लेकर घर जाना चाहता था इसलिए सब वृत्तान्त सच-सच कहकर घर चला गया सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट मनुष्योंके लिए कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है ॥३३७-३३९॥

अथानन्तर उस नगरका राजा श्रीषेण था। उसके सिंहनन्दिता और अनिन्दिता नामकी दो रानियाँ थीं। उन दोनोंको इन्द्र और चन्द्रमाके समान सुन्दर मनुष्योंमें उत्तम इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन नामके दो पुत्र थे। वे दोनों ही पुत्र अत्यन्त नम्र थे अतः माता-पिता उनसे बहुत प्रसन्न रहते थे ॥३४०-३४१॥ सत्यभामाको अपने वंशका अभिमान था अतः वह अपने पापी पतिके साथ सहवासकी इच्छा न रखती हुई राजाकी शरण गयी ॥३४२॥ उस समय अन्याय-की घोषणा करनेवाला वह बनावटी ब्राह्मण कपिल राजाके पास ही बैठा था, शोकके कारण उसने अपना हाथ अपने मस्तकपर लगा रखा था, उसे देखकर और उसका हाल जानकर श्रीषेण राजाने विचार किया कि पापी विजातीय मनुष्योंको संसारमें न करने योग्य कुछ भी कार्य नहीं है। इसलिए राजा लोग ऐसे कुलीन मनुष्योंका संग्रह करते हैं जो आदि मध्य और अन्तमें कभी भी विचारको प्राप्त नहीं होते ॥३४३-३४५॥ जो स्वयं अनुरक्त हुआ पुरुष विरक्त स्त्रीमें अनुरागकी इच्छा करता है वह इन्द्रनील मणिमें लाल तेजकी इच्छा करता है ॥३४६॥ इत्यादि विचार करते हुए राजाने उस दुराचारीको शीघ्र ही अपने देशसे निकाल दिया सो ठीक ही है क्योंकि धर्मात्मा पुरुष मर्यादाकी हानिको सहन नहीं करते ॥३४७॥ किसी एक दिन राजाने घरपर आये हुए आदित्यगति और अरिंजय नामके दो चारण मुनियोंको पडि-गाह कर स्वयं आहार दान दिया, पंचाश्चर्य प्राप्त किये और दश प्रकारके कल्पवृक्षोंके भोग

दत्वाऽसदा नमेनाभ्यामत्राप्त्याश्चर्यपञ्चकम् । उदक्कुर्वायुरभ्नाद्[1] दशाङ्गतरुभागदम् ॥३४९॥
देव्यौ दानानुमोदेन सत्यभामा च सत्क्रिया । तदेवायुरवापुस्ता. किं न स्यात्साधुसंगमात् ॥३५०॥
अथ कौशाम्ब्यधीशस्य महाबलमहीपतेः । श्रीमत्यश्च सुता नाम्ना श्रीकान्ता कान्ततावधिः ॥३५१॥
राजा तामिन्द्रसेनस्य विवाहविधिना ददौ । तया सहागतानन्तमतिः सामान्यकामिनी ॥३५२॥
एतयोपेन्द्रसेनस्य सांगत्यं स्नेहनिर्भरम् । अभूदभूच्च तद्धेतोस्तयोरुद्यानवर्तिनोः ॥३५३॥
युद्धोद्यमस्तदाकर्ण्य तौ निवारयितुं नृपः । गत्वा कामातुरौ क्रुद्धावसमर्थः प्रियात्मजः ॥३५४॥
सोढुं तनुजयोर्दुःखमार्द्राशयतया स्वयम् । अशक्नुवन् समाघ्राय विषपुष्पं मृतिं ययौ ॥३५५॥
तदेव पुष्पमाघ्राय [2]समीयुर्विगतासुताम् । तद्देव्यौ सत्यभामा च विचित्रा विधिचोदना ॥३५६॥
धातकीखण्डपूर्वार्द्धकुरुपूत्तरनामसु । दम्पती नृपतिः सिंहनन्दिता च बभूवतुः ॥३५७॥
अभूदनिन्दिताऽऽर्योऽयं सत्यभामा च वल्लभा । तस्थुः सर्वेऽपि ते तत्र भोगभूभोगभागिनः ॥३५८॥
अथ कश्चित्खगो मध्ये प्रविश्य नृपपुत्रयोः । वृथा किमिति युद्ध्येतामनुजा युवयोरियम् ॥३५९॥
इत्याह तद्वचः श्रुत्वा कुमाराभ्यां सविस्मयम् । कथं तदिति संपृष्टः प्रत्याह गगनेचरः ॥३६०॥
धातकीखण्डप्राग्भागे[3] मन्दरप्राच्यपुष्कला- । वती खगाद्र्यपाक्श्रेणीगतादित्याभपूर्भुजः ॥३६१॥
तनूजो मित्रसेनायां सुकुण्डलिखगेशिनः । मणिकुण्डलनामाहं कदाचित्पुण्डरीकिणीम् ॥३६२॥
गतोऽमितप्रभार्हद्भ्यः श्रुत्वा धर्मं सनातनम् । मत्पूर्वभवसंबन्धमप्राक्षमवदंश्च ते ॥३६३॥

प्रदान करनेवाली उत्तरकुरुकी आयु बाँधी। राजाकी दोनों रानियोंने तथा उत्तम कार्य करनेवाली सत्यभामाने भी दानकी अनुमोदनासे उसी उत्तरकुरुकी आयुका बन्ध किया सो ठीक ही है क्योंकि साधुओंके समागमसे क्या नहीं होता ? ॥३४८-३५०॥

अथानन्तर कौशाम्बी नगरीमें राजा महाबल राज्य करते थे, उनकी श्रीमती नामकी रानी थी और उन दोनोंके श्रीकान्ता नामकी पुत्री थी। वह श्रीकान्ता मानो सुन्दरताकी सीमा ही थी ॥३५१॥ राजा महाबलने वह श्रीकान्ता विवाहकी विधिपूर्वक इन्द्रसेनके लिए दी थी। श्रीकान्ताके साथ अनन्तमति नामकी एक साधारण स्त्री भी गयी थी। उसके साथ उपेन्द्रसेनका स्नेहपूर्ण समागम हो गया और इस निमित्तको लेकर बगीचामें रहनेवाले दोनों भाइयोंमें युद्ध होनेकी तैयारी हो गयी। जब राजाने यह समाचार सुना तब वे उन्हें रोकनेके लिए गये परन्तु वे दोनों ही कामी तथा क्रोधी थे अतः राजा उन्हें रोकनेमें असमर्थ रहे। राजाको दोनों ही पुत्र अत्यन्त प्रिय थे। साथ ही उनके परिणाम अत्यन्त आर्द्र-कोमल थे अतः वे पुत्रोंका दुःख सहन करनेमें समर्थ नहीं हो सके। फल यह हुआ कि वे विष-पुष्प सूँघ कर मर गये ॥३५२-३५५॥ वही विष-पुष्प सूँघकर राजाकी दोनों स्त्रियाँ तथा सत्यभामा भी प्राणरहित हो गयीं सो ठीक ही है क्योंकि कर्मोंकी प्रेरणा विचित्र होती है ॥३५६॥ धातकीखण्डके पूर्वार्ध भागमें जो उत्तरकुरु नामका प्रदेश है उसमें राजा तथा सिंहनन्दिता दोनों दम्पती हुए और अनिन्दिता नामकी रानी आर्य तथा सत्यभामा उसकी स्त्री हुई। इस प्रकार वे सब वहाँ भोगभूमिके भोग भोगते हुए सुखसे रहने लगे ॥३५७-३५८॥

अथानन्तर कोई एक विद्याधर युद्ध करनेवाले दोनों भाइयोंके बीच प्रवेश कर कहने लगा कि तुम दोनों व्यर्थ ही क्यों युद्ध करते हो ? यह तो तुम्हारी छोटी बहन है। उसके वचन सुनकर दोनों कुमारोंने आश्चर्यके साथ पूछा कि यह कैसे ? उत्तरमें विद्याधरने कहा ॥३५९-३६०॥ कि धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वभागमें मेरुपर्वतसे पूर्वकी ओर एक पुष्कलावती नामका देश है। उसमें विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीपर आदित्याभ नामका नगर है। उसमें सुकुण्डली नामका विद्याधर राज्य करता है। सुकुण्डलीकी स्त्रीका नाम मित्रसेना है। मैं उन दोनोंका मणिकुण्डल नामका पुत्र हूँ। मैं किसी समय पुण्डरीकिणी नगरी गया था, वहाँ अमितप्रभ जिनेन्द्रसे सनातनधर्मका स्वरूप

१ –रभ्नात् ग०। –रग्रस्थात् ल०। २ समापुर्विगतासुताम् ख०। समीयुर्विगतासुकाम् ल०।
३ प्राग्भागे ख०।

तृतीये पुष्कराख्यातद्वीपेऽपरसुराचलात् । प्रतीच्यां वीतशोकाख्यं सरिद्विषयमध्यगम् ॥ ३६४ ॥
पुरं चक्रध्वजस्तस्य पतिः कनकमालिका । देवी कनकपद्मादिलते जाते तयोः सुते ॥ ३६५ ॥
विद्युन्मत्याश्च तस्यैव देव्याः पद्मावती सुता । याति काले सुखं तेषां कदाचित्काललब्धितः ॥ ३६६ ॥
प्रपीतामितसेनाख्यागणिनीवाग्रसायना । सुते कनकमाला च कल्पेऽजनिषतादिमे ॥ ३६७ ॥
सुगः पद्मावती वीक्ष्य गणिकां कामुकद्वयम् । प्रसाध्यमानां तद्वित्साऽभूत्तत्र सुरकन्यका ॥ ३६८ ॥
ततः कनकमालेयं त्वमभूर्मणिकुण्डली । सुताद्वयं च तद्रत्नपुरेऽभूतां नृपात्मजौ ॥ ३६९ ॥
स्वर्गच्युत्वाऽनन्तमत्याख्या सुरवेश्य व्यजायत । तद्धेतोर्वर्तते युद्धमत्र तद्राजपुत्रयोः ॥३७०॥
इति जैनीमिमां वाणीमाकर्ण्यान्यायकारिणौ । युवामज्ञातधर्माणौ निषेद्धुमहमागतः ॥ ३७१ ॥
इति तद्वचनाद्गीतकलहौ जातसंविदौ । सद्यः संभूतनिर्वेगौ सुधर्मगुरुसंनिधौ ॥ ३७२ ॥
दीक्षामादाय निर्वाणमार्गपर्यन्तगामिनौ । क्षायिकानन्तबोधादिगुणौ निर्वृतिमापतुः ॥ ३७३ ॥
तदानन्तमतिश्चात्त[1] संपूर्णश्रावकव्रता । नाकलोकमवापाप्यं न किं वा सदनुग्रहात् ॥ ३७४ ॥
सौधर्मकल्पे श्रीषेणो विमाने श्रीप्रभोऽभवत्[2] । देवी श्रीनिलयेऽविद्युत्प्रभाऽभूत् सिंहनन्दिता ॥ ३७५ ॥
ब्राह्मण्यनिन्दिते चास्तां विमाने विमलप्रभे । देवी शुक्लप्रभा नाम्ना देवोऽत्र विमलप्रभः ॥ ३७६ ॥
पञ्चपल्योपमप्रान्ते श्रीषेणः प्रच्युतस्ततः । अर्ककीर्तेः सुतः श्रीमानजनिष्ठा[3] स्त्वमीदृशः ॥ ३७७ ॥
[4]तव ज्योतिःप्रभा कान्ताऽजनि सा सिंहनन्दिता । आसीदनिन्दिता चायं देवी श्रीविजयाह्वयः ॥ ३७८ ॥

सुनकर मैंने अपने पूर्वभव पूछे। उत्तरमें वे कहने लगे–॥३६१-३६३॥ कि तीसरे पुष्करवर द्वीपमें पश्चिम मेरुपर्वतसे पश्चिमकी ओर सरिद् नामका एक देश है। उसके मध्यमें वीतशोक नामका नगर है। उसके राजाका नाम चक्रध्वज था, चक्रध्वजकी स्त्रीका नाम कनकमालिका था। उन दोनोंके कनकलता और पद्मलता नामकी दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुई ॥३६४-३६५॥ उसी राजाकी एक विद्युन्मति नामकी दूसरी रानी थी उसके पद्मावती नामकी पुत्री थी। इस प्रकार इन सबका समय सुखसे बीत रहा था। किसी दिन काललब्धिके निमित्तसे रानी कनकमाला और उसकी दोनों पुत्रियोंने अमितसेना नामकी गणिनीके वचनरूपी रसायनका पान किया जिससे वे तीनों ही मरकर प्रथम स्वर्गमें देव हुए। इधर पद्मावतीने देखा कि एक वेश्या दो कामियोंको प्रसन्न कर रही है उसे देख पद्मावतीने भी वैसे ही होनेकी इच्छा की। मरकर वह स्वर्गमें अप्सरा हुई ॥३६६-३६८॥ तदनन्तर कनकमालाका जीव, वहाँसे चलकर मणिकुण्डली नामका राजा हुआ है और दोनों पुत्रियोंके जीव रत्नपुर नगरमें राजपुत्र हुए हैं। जिस अप्सराका उल्लेख ऊपर आ चुका है वह स्वर्गसे चय कर अनन्तमति हुई है। इसी अनन्तमतिको लेकर आज तुम दोनों राजपुत्रोंका युद्ध हो रहा है ॥३६९-३७०॥ इस प्रकार जिनेन्द्रदेवकी कही हुई वाणी सुनकर, अन्याय करनेवाले और धर्मको न जाननेवाले तुम लोगोंको रोकनेके लिए मैं यहाँ आया हूँ ॥३७१॥ इस प्रकार विद्याधरके वचनोंसे दोनोंका कलह दूर हो गया, दोनोंको आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया, दोनोंको शीघ्र ही वैराग्य उत्पन्न हो गया, दोनोंने सुधर्मगुरुके पास दीक्षा ले ली, दोनों ही मोक्षमार्गके अन्त तक पहुँचे, दोनों ही क्षायिक अनन्तज्ञानादि गुणोंके धारक हुए और दोनों ही अन्तमें निर्वाणको प्राप्त हुए ॥३७२-३७३॥ तथा अनन्तमतिने भी हृदयमें श्रावकके सम्पूर्ण व्रत धारण किये और अन्तमें स्वर्गलोक प्राप्त किया सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंके अनुग्रहसे कौन-सी वस्तु नहीं मिलती? ॥३७४॥ राजा श्रीषेणका जीव भोगभूमिसे चलकर सौधर्म स्वर्गके श्रीप्रभ विमानमें श्रीप्रभ नामका देव हुआ, रानी सिंहनन्दिताका जीव उसी स्वर्गके श्रीनिलय विमानमें विद्युत्प्रभा नामकी देवी हुई ॥३७५॥ सत्यभामा ब्राह्मणी और अनिन्दिता नामकी रानीके जीव क्रमशः विमलप्रभ विमानमें शुक्लप्रभा नामकी देवी और विमलप्रभ नामके देव हुए ॥३७६॥ राजा श्रीषेणका जीव पाँच पल्य प्रमाण आयुके अन्तमें वहाँसे चय कर इस तरहकी लक्ष्मीसे सम्पन्न तू अर्ककीर्तिका पुत्र हुआ है ॥३७७॥ सिंहनन्दिता तुम्हारी

१ तदानन्तमतिश्चाप ख०, ग० । २ श्रीप्रभेऽभवत् ल० । ३–नजनिष्ट–ग० । ४ तव ज्योतिः क०, घ०, । भवज्ज्योतिः ल० ।

सत्यभामा सुताराऽभूत्प्राक्तनः कपिलः खलः । सुचिरं दुर्गतिं भ्रान्त्वा संभूतरमणे वने ॥ ३७९ ॥
ऐरावतीनदीतीरे सम्भूत्तापसाश्रमे । सुतश्चपलवेगायां कौशिकान्मृगशृङ्गवाक् ॥ ३८० ॥
कृतापसव्रतं दीर्घमनुष्ठाय दुराशयः । श्रियं चपलवेगस्य विलोक्य खचरेशिनः ॥ ३८१ ॥
निदानं मनसा मूढो विधाय बुधनिन्दितम् । जनित्वाऽशनिघोषोऽयं सुतारां स्नेहतोऽग्रहीत् ॥ ३८२ ॥
भवे भाव्यत्र नवमे पञ्चमश्चक्रवर्तिनाम् । [1]तीर्थेशां षोडशः शान्तिर्भवान् शान्तिप्रदः सताम् ॥ ३८३ ॥
इति तज्जिनशीतांशुवाग्ज्योत्स्नाप्रसरप्रभा । प्रसन्नाद्भूत्सत्खेचरेन्द्रहृत्कुमुदाकरः ॥ ३८४ ॥
तदैवाशनिघोषाख्यो माता चास्य स्वयंप्रभा । सुतारा च परे [2]चापन्निर्विण्णा संयमं परम् ॥ ३८५ ॥
अभिनन्द्य जिनं सर्वे त्रिःपरीत्य यथोचितम् । जग्मुश्चक्रितनूजाद्यास्ते सहामिततेजसा ॥ ३८६ ॥
अर्ककीर्तिसुतः कुर्वन्नुपोष्यं सर्वपर्वसु । स्थितिभेदे च तद्योग्यं प्रायश्चित्तं समाचरन् ॥ ३८७ ॥
महापूजां सदा कुर्वन् पात्रदानादि चादरात् । ददद्धर्मकथां शृण्वन् भव्यान् धर्मं प्रबोधयन् ॥ ३८८ ॥
निःशङ्कादिगुणांस्तन्वन्दृष्टिमोहानपोहयन् । [3]इनो वाऽमिततेजाः सन् सुखप्रेक्ष्योऽमृतांशुवत् ॥ ३८९ ॥
संयमीव शमं यातः पालकः पितृवत्प्रजाः । लोकद्वयहितं धर्म्यं कर्म प्रावर्तयत्सदा ॥ ३९० ॥
प्रज्ञप्तिकामरूपिण्यावथाग्निस्तम्भिनी परा । उदकस्तम्भिनी विद्या विद्या विश्वप्रवेशिनी ॥ ३९१ ॥
अप्रतीघातगामिन्या सहान्याकाशगामिनी । उत्पादिनी पराविद्या सा वशीकरणी श्रुता[4] ॥ ३९२ ॥
आवेशिनी दशम्यन्या मान्या प्रस्थापनीति च । प्रमोहनी प्रहरणी संक्रामण्याख्ययोदिता ॥ ३९३ ॥
आवर्तनी संग्रहणी भञ्जनी च विपाटनी । प्रावर्तनी प्रमोदिन्या सहान्यापि प्रहापणी ॥ ३९४ ॥

ज्योतिःप्रभा नामकी स्त्री हुई है, देवी अनिन्दिताका जीव श्रीविजय हुआ है, सत्यभामा सुतारा हुई है और पहलेका दुष्ट कपिल चिरकाल तक दुर्गतियोंमें भ्रमण कर सम्भूतरमण नामके वनमें ऐरावती नदीके किनारे तापसियोंके आश्रममें कौशिक नामक तापसकी चपलवेगा स्त्रीसे मृगशृंग नामका पुत्र हुआ है ॥३७८-३८०॥ वहाँपर उस दुष्टने बहुत समय तक खोटे तपस्वियोंके व्रत पालन किये। किसी एक दिन चपलवेग विद्याधरकी लक्ष्मी देखकर उस मूर्खने मनमें, विद्वान् जिसकी निन्दा करते हैं ऐसा निदान बन्ध किया। उसीके फलसे यह अशनिघोष हुआ है और पूर्व स्नेहके कारण ही इसने सुताराका हरण किया है ॥३८१-३८२॥ तेरा जीव आगे होनेवाले नौवें भवमें सज्जनोंको शान्ति देनेवाला पाँचवाँ चक्रवर्ती और शान्तिनाथ नामका सोलहवाँ तीर्थंकर होगा ॥३८३॥ इस प्रकार जिनेन्द्ररूपी चन्द्रमाकी फैली हुई वचनरूपी चाँदनीकी प्रभाके सम्बन्धसे विद्याधरोंके इन्द्र अमिततेजका हृदयरूपी कुमुदोंसे भरा सरोवर खिल उठा ॥३८४॥ उसी समय अशनिघोष, उसकी माता स्वयम्प्रभा, सुतारा तथा अन्य कितने ही लोगोंने विरक्त होकर श्रेष्ठ संयम धारण किया ॥३८५॥ चक्रवर्तीके पुत्रको आदि लेकर बाकीके सब लोग जिनेन्द्र भगवान्की स्तुति कर तथा तीन प्रदक्षिणाएँ देकर अमिततेजके साथ यथायोग्य स्थानपर चले गये ॥३८६॥ इधर अर्ककीर्तिका पुत्र अमिततेज समस्त पर्वोंमें उपवास करता था, यदि कदाचित् ग्रहण किये हुए व्रतकी मर्यादाका भंग होता था तो उसके योग्य प्रायश्चित्त लेता था, सदा महापूजा करता था, आदरसे पात्रदानादि करता था, धर्म-कथा सुनता था, भव्योंको धर्मोपदेश देता था, निःशंकित आदि गुणोंका विस्तार करता था, दर्शनमोहको नष्ट करता था, सूर्यके समान अपरिमित तेजका धारक था और चन्द्रमाके समान सुखसे देखने योग्य था ॥३८७-३८९॥ वह संयमीके समान शान्त था, पिताकी तरह प्रजाका पालन करता था और दोनों लोकोंके हित करनेवाले धार्मिक कार्योंकी निरन्तर प्रवृत्ति रखता था ॥३९०॥ प्रज्ञप्ति, कामरूपिणी, अग्निस्तम्भिनी, उदकस्तम्भिनी, विश्वप्रवेशिनी, अप्रतिघातगामिनी, आकाशगामिनी, उत्पादिनी, वशीकरणी, दशमी, आवेशिनी, माननीयप्रस्थापिनी, प्रमोहनी, प्रहरणी, संक्रामणी, आवर्तनी, संग्रहणी, भंजनी, विपाटिनी, प्रावर्तनी, प्रमोदिनी,

---

१ तीर्थेशः ख० । २ आपन्निर्विण्णाः ख०, ग० । ३ सूर्य इव । ४ स्तुता ल० ।

प्रभावती प्रलापिन्या निक्षेपिण्या च या स्मृता। [1]शबरी परा चाण्डाली मातङ्गीति च कीर्तिता ॥३९५॥
गौरी षडङ्गिका श्रीमत्कन्या च शतसंकुला। कुमाण्डीति च विख्याता तथा विरलवेगिका ॥३९६॥
रोहिण्यतो मनोवेगा महावेगाह्वयापि च। चण्डवेगा सचपलवेगा लघुकरीति च ॥३९७॥
पर्णलघ्वाख्यका वेगावतीति प्रतिपादिता। शीतोष्णदे च वेताल्यौ महाज्वालाभिधानिका ॥३९८॥
छेदनी सर्वविद्यानां युद्धवीर्येति चोदिता। बन्धानां मोचनी चोक्ता [2]प्रहारावरणी तथा ॥३९९॥
भ्रामर्यभोगिनीत्यादिकुलजातिप्रसाधिता। विद्यास्तासामयं पारं गत्वा योगीव निर्बभौ ॥४००॥
श्रेणीद्वयाधिपत्येन विद्याधरधराधिपः। प्राप्य तच्चक्रवर्तित्वं चिरं भोगानभुङ्क्त सः ॥४०१॥
कदाचित्खचराधीशश्चारणाय यथाविधि। दानं दमवराख्याय दत्त्वाऽऽपाश्चर्यपञ्चकम् ॥४०२॥
अन्यदाऽमिततेजःश्रीविजयौ विनताननौ। नत्वाऽमरगुरुं देवगुरुं च मुनिपुङ्गवम्[3] ॥४०३॥
दृष्ट्वा धर्मस्य याथात्म्यं[4] पीत्वा तद्वचनामृतम्। अजरामरतां प्राप्ताविव तोषमुपेयतुः ॥४०४॥
पुनः श्रीविजयोऽप्राक्षीद्भवसंबन्धमात्मनः। पितुः स भगवान् प्राह प्रथमः[5] प्राक्तनकल्पः ॥४०५॥
साकल्येन तदाख्यातं विश्वनन्दिभवादितः। समाकर्ण्य तदाख्यानं भोगे कृतनिदानकः ॥४०६॥
किंचित्कालं समासाद्य खभूचरसुखामृतम्। विपुलादिमतेः पार्श्वे विमलादिमतेश्च तौ ॥४०७॥
महीभुजौ निशम्यैकमासमात्रात्मजीवितम्। दत्त्वाऽर्कतेजसे राज्यं श्रीदत्ताय च सादरम् ॥४०८॥
कृताष्टाह्निकसत्पूजौ मुनीशश्चन्दने वने। समीपे नन्दनाख्यस्य त्यक्त्वा सङ्गं तयोः स्वर्गे ॥४०९॥
प्रायोपगमसंन्यासविधिमाराध्य शुद्धधीः। नन्द्यावर्तेऽभवत्कल्पे रविचूलस्त्रयोदशे ॥४१०॥
अभूच्छ्रीविजयोऽप्यत्र स्वस्तिके मणिचूलकः। विंशत्यब्ध्युपमायुष्यौ जीवितावसितौ ततः ॥४११॥

प्रज्ञापणी, प्रभावती, प्रलापिनी, निक्षेपणी, शबरी, चाण्डाली, मातंगी, गौरी, षडंगिका, श्रीमत्कन्या, शतसंकुला, कुभाण्डी, विरलवेगिका, रोहिणी, मनोवेगा, महावेगा, चण्डवेगा, चपलवेगा, लघुकरी, पर्णलघु, वेगावती, शीतदा, उष्णदा, वेताली, महाज्वाला, सर्वविद्याछेदिनी, युद्धवीर्या, बन्धमोचनी, प्रहारावरणी, भ्रामरी, अभोगिनी इत्यादि कुल और जातिमें उत्पन्न हुई अनेक विद्याएँ सिद्ध कीं। उन सब विद्याओंका पारगामी होकर वह योगीके समान सुशोभित हो रहा ॥३९९-४००॥ दोनों श्रेणियोंका अधिपति होनेसे वह सब विद्याधरोंका राजा था और इस प्रकार विद्याधरोंका चक्रवर्तीपना पाकर वह चिरकाल तक भोगता रहा ॥४०१॥ किसी एक दिन विद्याधरोंके अधिपति अमिततेजने दमवर नामक चारण ऋद्धिधारी मुनिको विधिपूर्वक आहार दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥४०२॥ किसी एक दिन अमिततेज तथा श्रीविजयने मस्तक झुकाकर अमरगुरु और देवगुरु नामक दो श्रेष्ठ मुनियोंको नमस्कार किया, धर्मका यथार्थ स्वरूप देखा, उनके वचनामृतका पान किया और ऐसा सन्तोष प्राप्त किया मानो अजर-अमरपना ही प्राप्त कर लिया हो ॥४०३-४०४॥ तदनन्तर श्रीविजयने अपने तथा पिताके पूर्वभवोंका सम्बन्ध पूछा जिससे समस्त पापोंको नष्ट करनेवाले पहले भगवान् अमरगुरु कहने लगे ॥४०५॥ उन्होंने विश्वनन्दीके भवसे लेकर समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। उसे सुनकर अमिततेजने भोगोंका निदानबन्ध किया ॥४०६॥ अमिततेज तथा श्रीविजय दोनोंने कुछ काल तक विद्याधरों तथा भूमि-गोचरियोंके सुखामृतका पान किया। तदनन्तर दोनोंने विपुलमति और विमलमति नामके मुनियोंके पास 'अपनी आयु एक मास मात्रकी रह गयी है' ऐसा सुनकर अर्कतेज तथा श्रीदत्त नामके पुत्रोंके लिए राज्य दे दिया, बड़े आदरसे आष्टाह्निक पूजा की तथा नन्दन नामक मुनिराजके समीप चन्दनवनमें सब परिग्रहका त्याग कर प्रायोपगमन संन्यास धारण कर लिया। अन्तमें समाधिमरण कर शुद्ध बुद्धिका धारक विद्याधरोंका राजा अमिततेज तेरहवें स्वर्गके नन्द्यावर्त विमानमें रविचूल नामका देव हुआ और श्रीविजय भी इसी स्वर्गके स्वस्तिक विमानमें मणिचूल नामका देव हुआ। वहाँ दोनोंकी आयु बीस सागरकी थी। आयु समाप्त होनेपर वहाँसे च्युत हुए ॥४०७-४११॥

---

१ शर्वरीया च ल०। २ प्रहारावरणी ल०। ३ मुनिपुङ्गवौ ग०। ४ माहात्म्यं ल०। ५ प्रथमं ग०।

द्वीपेऽस्मिन् प्राग्विदेहस्थविलसद्वत्सकावती । देशे प्रभाकरीपुर्याः पतिः स्तिमितसागरः ॥४१२॥
देवी वसुंधरा जातस्तयोरादित्यचूलवाक् । देवोऽपराजितः सूनुर्नन्द्यावर्ताद् दिवश्च्युतः ॥४१३॥
तस्यैवानुमतौ देव्यां मणिचूलोऽप्यभूत्सुतः । श्रीमाननन्तवीर्याख्यो दिविजः स्वस्तिकाच्च्युतः ॥४१४॥
कान्त्या कुवलयाह्लादात्तृष्णातापापनोदनात् । कलाधरत्वाज्जातौ स्म जम्बूद्वीपविधूपमौ ॥४१५॥
पद्मानन्दकरौ [1]भास्वद्वपुषौ ध्वस्ततामसौ । नित्योदयौ जगन्नेत्रे तावाद्यौ वा दिवाकरौ ॥४१६॥
न वञ्चकौ कलावन्तौ सप्रतापौ न दाहकौ । करद्वयव्यपेतौ तौ सत्करौ रेजतुस्तराम् ॥४१७॥
नोपमानस्तयोः कामो रूपेणानङ्गतां गतः । नीत्या नान्योन्यजेतारौ गुरुशुक्रौ च तत्समौ ॥४१८॥
हीयते वर्द्धते चापि भास्करेण विनिर्मिता । वर्द्धते तत्कृता छाया वर्द्धमानस्य वा तरोः ॥४१९॥
न तयोर्विग्रहो यानं तथाप्यरिमहीभुजः । तत्प्रतापभयात्ताभ्यां स्वयं संधातुमुत्सुकाः ॥४२०॥

उनमें-से रविचूल नामका देव नन्द्यावर्त विमानसे च्युत होकर जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें स्थित वत्सकावती देशकी प्रभाकरी नगरीके राजा स्तिमितसागर और उनकी रानी वसुन्धराके अपराजित नामका पुत्र हुआ । मणिचूल देव भी स्वस्तिक विमानसे च्युत होकर उसी राजाकी अनुमति नामकी रानीसे अनन्तवीर्य नामका लक्ष्मीसम्पन्न पुत्र हुआ ॥४१२-४१४॥ वे दोनों ही भाई जम्बूद्वीपके चन्द्रमाओंके समान सुशोभित होते थे क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा कान्तिसे युक्त होता है उसी प्रकार वे भी उत्तम कान्तिसे युक्त थे, जिस प्रकार चन्द्रमा कुवलय-नील कमलोंको आह्लादित करता है उसी प्रकार वे भी कुवलय-पृथिवी-मण्डलको आह्लादित करते थे, जिस प्रकार चन्द्रमा तृष्णा-तृषा और आतापको दूर करता है। उसी प्रकार वे भी तृष्णारूपी आताप-दुःखको दूर करते थे और जिस प्रकार चन्द्रमा कलाधर-सोलह कलाओंका धारक होता है उसी प्रकार वे भी अनेक कलाओं—अनेक चतुराइयोंके धारक थे ॥४१५॥ अथवा वे दोनों भाई बालसूर्यके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार बालसूर्य पद्मानन्दकर-कमलोंको आनन्दित करनेवाला होता है उसी प्रकार वे दोनों भाई भी पद्मानन्दकर-लक्ष्मीको आनन्दित करनेवाले थे, जिस प्रकार बालसूर्य भास्वद्वपु—देदीप्यमान शरीरका धारक होता है उसी प्रकार वे दोनों भाई भी देदीप्यमान शरीरके धारक थे, जिस प्रकार बालसूर्य ध्वस्ततामस—अन्धकारको नष्ट करनेवाला होता है उसी प्रकार वे दोनों भाई भी ध्वस्ततामस—अज्ञानान्धकार-को नष्ट करनेवाले थे, जिस प्रकार बालसूर्य नित्योदय होते हैं—उनका उद्गमन निरन्तर होता रहता है उसी प्रकार वे दोनों भाई भी नित्योदय थे—उनका ऐश्वर्य निरन्तर विद्यमान रहता था और जिस प्रकार बालसूर्य जगन्नेत्र-जगच्चक्षु नामको धारण करनेवाले हैं उसी प्रकार वे दोनों भाई भी जगन्नेत्र—जगत्के लिए नेत्रके समान थे ॥४१६॥ वे दोनों भाई कलावान् थे परन्तु कभी किसीको ठगते नहीं थे, प्रताप सहित थे परन्तु किसीको दाह नहीं पहुँचाते थे, दोनों करों—दोनों प्रकारके टैक्सोंसे (आयात और निर्यात करोंसे) रहित होनेपर भी सत्कार—उत्तम कार्य करनेवाले अथवा उत्तम हाथोंसे सहित थे इस प्रकार वे अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥४१७॥ रूपकी अपेक्षा उन्हें कामदेवकी उपमा नहीं दी जा सकती थी क्योंकि वह अशरीरताको प्राप्त हो चुका था तथा नीतिकी अपेक्षा परस्पर एक दूसरेको जीतनेवाले गुरु तथा शुक्र उनके समान नहीं थे। भावार्थ—लोकमें सुन्दरताके लिए कामदेवकी उपमा दी जाती है परन्तु उन दोनों भाइयोंके लिए कामदेवकी उपमा सम्भव नहीं थी क्योंकि वे दोनों शरीरसे सहित थे और कामदेव शरीरसे रहित था। इसीप्रकार लोकमें नीतिविज्ञताके लिए गुरु—बृहस्पति और शुक्र-शुक्राचार्यकी उपमा दी जाती है परन्तु उन दोनों भाइयोंके लिए उनकी उपमा लागू नहीं होती थी क्योंकि गुरु और शुक्र परस्पर एक दूसरेको जीतनेवाले थे परन्तु वे दोनों परस्परमें एक दूसरेको नहीं जीत सकते थे ॥४१८॥ सूर्यके द्वारा रची हुई छाया कभी घटती है तो कभी बढ़ती है परन्तु उन दोनों भाइयोंके द्वारा की हुई छाया बढ़ते हुए वृक्षकी छायाके समान निरन्तर बढ़ती ही रहती है ॥४१९॥ वे न कभी युद्ध

---

1 ताम्यद्वपुषौ ल० ।

अवर्द्धिषातां तावेवं राज्यलक्ष्मीकटाक्षगौ । नवं वयः समासाद्य शुक्लाष्टम्यमृतांशुवत् ॥४२१॥
पर्याप्तौ राज्यभोगस्य योग्ययोर्मत्तनूजयोः । इतीव रतिमच्छैत्सीद्भोगेष्वेष पिताऽन्यदा ॥४२२॥
तदैव तौ समाहूय कुमारावमरोपमौ । अभिषिच्यार्पयद्राज्यं यौवराज्यं च सोऽस्पृहः ॥४२३॥
स्वयं स्वयंप्रभाख्यानजिनपादोपसेवनम् । संयमेन समासाद्य धरणेन्द्रर्द्धिदर्शनात् ॥४२४॥
निदानदूषितो बालतपा लोलुतया सुखे । स्वकालान्ते विशुद्धात्मा जगाम धरणेशिताम् ॥४२५॥
[1]तत्पदे तौ समासाद्य बीजमूलाङ्कुराविव । नीतिवारिपरीषेकात्सुभूमौ वृद्धिमीयतुः ॥४२६॥
अभ्युद्गतास्तयोः पूर्वं सप्रतापनयांशवः । आक्रम्य मस्तके चक्रुरास्पदं सर्वभूभृताम् ॥४२७॥
लक्ष्म्यौ नवे युवानौ यौ तत्प्रीतिः समसंगमात् । भोगासक्तिं व्यधाद्गाढं तयोरुद्गतपुण्ययोः ॥४२८॥
नर्तकी बर्बरीत्येका ख्याताऽन्या च चिलातिका । नृत्यविद्येव सामर्थ्याद् रूपद्वयमुपागता ॥४२९॥
भूपती तौ तयोर्नृत्यं कदाचिज्जातसंमदौ । विलोकमानावासीनावागमन्नारदस्तदा ॥४३०॥
सूर्याचन्द्रमसौ सैंहिकेयो वा जनिताशुभः । नृत्तासंगात्कुमाराभ्यां क्रूरः सोऽविहितादरः ॥४३१॥
जाज्वल्यमानकोपाग्निशिखासंतप्तमानसः । चण्डांशुरिव [2]मध्याह्ने जज्वाल शुचिसंगमात् ॥४३२॥
स तदैव समामध्यान्निर्गत्य कलहप्रियः । प्राक्प्रापत्कोपवेगेन नगरे शिवमन्दिरे ॥४३३॥

करते थे और न कभी शत्रुओंपर चढ़ाई ही करते थे फिर भी शत्रु राजा उन दोनोंके साथ सदा सन्धि करनेके लिए उत्सुक बने रहते थे ॥४२०॥ इस तरह जिन्हें राज्य-लक्ष्मी अपने कटाक्षोंका विषय बना रही है-ऐसे वे दोनों भाई नवीन अवस्थाको पाकर शुक्लपक्षकी अष्टमीके चन्द्रमाके समान बढ़ते ही रहते थे ॥४२१॥ 'अब मेरे दोनों योग्य पुत्रोंकी अवस्था राज्यका उपभोग करनेके योग्य हो गयी, ऐसा विचार कर किसी एक दिन इनके पिताने भोगोंमें प्रीति करना छोड़ दिया ॥४२२॥ उसी समय इच्छारहित राजाने देव तुल्य दोनों भाइयोंको बुलाकर उनका अभिषेक किया तथा एकको राज्य देकर दूसरेको युवराज बना दिया ॥४२३॥ और स्वयं, स्वयम्प्रभ नामक जिनेन्द्रके चरणोंके समीप जाकर संयम धारण कर लिया। धरणेन्द्रकी ऋद्धि देखकर उसने निदान बन्ध किया। उससे दूषित होकर बालतप करता रहा। वह सांसारिक सुख प्राप्त करनेका इच्छुक था। आयुके अन्तमें विशुद्ध परिणामोंसे मरा और धरणेन्द्र-अवस्थाको प्राप्त हुआ ॥४२४-४२५॥

इधर जिस प्रकार उत्तम भूमिमें बीज तथा उससे उत्पन्न हुए अंकुर जलके सेचनसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वे दोनों भाई राज्य तथा युवराजका पद पाकर नीति रूप जलके सेचनसे वृद्धिको प्राप्त हुए ॥४२६॥ जिस प्रकार सूर्यकी तेजस्वी किरणें प्रकट होकर सबसे पहले समस्त पर्वतोंके मस्तकों-शिखरोंपर अपना स्थान जमाती हैं उसी प्रकार उन दोनों भाइयोंकी प्रकट हुई प्रतापपूर्ण नीतिकी किरणोंने आक्रमण कर सर्व-प्रथम समस्त राजाओंके मस्तकोंपर अपना स्थान जमाया था ॥४२७॥ जिनका पुण्य प्रकट हो रहा है ऐसे दोनों भाइयोंकी राज-लक्ष्मियाँ नयी थीं और स्वयं भी दोनों तरुण थे इसलिए सदृश समागमके कारण उनमें जो प्रीति उत्पन्न हुई थी उसने उनकी भोगासक्तिको ठीक ही बढ़ा दिया था ॥४२८॥ उनके बर्बरी और चिलातिका नामकी दो नृत्यकारिणियाँ थीं जो ऐसी जान पड़ती थीं मानो नृत्य-विद्याने ही अपनी सामर्थ्यसे दो रूप धारण कर लिये हों ॥४२९॥ किसी एक दिन दोनों राजा बड़े हर्षके साथ उन नृत्यकारिणियोंका नृत्य देखते हुए सुखसे बैठे थे कि उसी समय नारदजी आ गये ॥४३०॥ दोनों भाई नृत्य देखनेमें आसक्त थे अतः नारदजीका आदर नहीं कर सके। वे क्रूर तो पहलेसे ही थे इस प्रकरणसे उनका अभिप्राय और भी खराब हो गया। वे उन दोनों भाइयोंके समीप आते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो सूर्य और चन्द्रमाके समीप राहु आ रहा हो। अत्यन्त जलती हुई क्रोधाग्निकी शिखाओंसे उनका मन सन्तप्त हो गया। जिस प्रकार जेठके महीनेमें दोपहरके समय सूर्य जलने लगता है उसी प्रकार उस समय नारदजी जल रहे थे—अत्यन्त कुपित हो रहे थे। कलहप्रेमी नारदजी उसी समय सभाके बीचसे बाहर निकल आये

---

१ तत्पदं क० । २ मध्येह्नि ख० ।

दमितारिं [1]सभामध्ये संनिविष्टं स्वविष्टरे। [2]अस्तमस्तकमास्वन्तमिव प्रपतनोन्मुखम् ॥४३४॥
सद्यो विलोक्य सोऽप्याशु प्रत्युत्थानपुरस्सरम्। प्रतिगृह्य प्रणम्योच्चैर्विष्टरे संनिवेश्य तम् ॥४३५॥
दत्ताशिषं किमुद्दिश्य भवन्तो मामुपागताः। संपदं किं ममादेष्टुं प्राप्ताः किं वा महापदम् ॥४३६॥
इत्यप्राक्षीदसौ वास्य विकासिवदनाम्बुजः। संमदं जनयन् वाचमवोचत्प्रीतिवर्द्धिनीम् ॥४३७॥
सारभूतानि वस्तूनि तवान्वेष्टुं परिभ्रमन्। नर्तकीद्वयमद्राक्षं प्रेक्षायोग्यं तवैव तत् ॥४३८॥
अस्थानस्थं समीक्ष्यैवमनिष्टं सोढुमक्षमः। आगतोऽहं कथं सह्या पादे चूडामणिस्थितिः ॥४३९॥
संप्रत्यप्रतिमल्लौ वा नूतनश्रीमदोद्धतौ। प्रभाकरीपुराधीशौ व्यलीकविजिगीषुकौ ॥४४०॥
सप्तव्यसनसंसक्तौ सुखोच्छेद्यौ प्रमादिनौ। तयोर्गृहे सुखग्राह्यं जगत्सारमवस्थितम् ॥४४१॥
तद्दूतप्रेषणादेव तवाद्यायाति हेलया। कालहानिर्न कर्तव्या हस्तासन्नेऽतिदुर्लभे ॥४४२॥
इत्येवं प्रेरितस्तेन सपापेन यमेन वा। दमितारिः समासन्नमरणः श्रवणं ददौ ॥४४३॥
तदैव नर्तकीवार्ताश्रुतिव्यामुग्धचेतनः। दूतं सोऽयापयत् प्रस्तुतार्थसंबन्धवेदिनम् ॥४४४॥
प्राहिणोद्वत्सकावत्याः महीशौ शौर्यशालिनौ। प्रति सोऽपि नृपादेशादन्तरेऽह्नान्यहापयन् ॥४४५॥
गत्वा जिनगृहे प्रोषधोपवाससमन्वितम्। अपराजितराजं च युवराजं च सुस्थितम् ॥४४६॥
दृष्ट्वाऽमात्यमुखाद्दूतो निवेदितनिजागमः। यथोचितं प्रदायाभ्यां स्वानीतोपायनं सुधीः ॥४४७॥
ज्वलत्यस्य प्रतापाग्निर्दिव्यायस्पिण्डभास्वरः। कृतदोषान् व्यलीकाभिमानिनो दहति द्रुतम् ॥४४८॥

और क्रोधजन्य वेगसे शीघ्र ही शिवमन्दिरनगर जा पहुँचे ॥४३१-४३३॥ वहाँ सभाके बीचमें राजा दमितारि अपने आसनपर बैठा था और ऐसा जान पड़ता था मानो अस्ताचलके शिखर-पर स्थित पतनोन्मुख सूर्य ही हो ॥४३४॥ उसने नारदजीको आता हुआ देख लिया अतः शीघ्र ही उठकर उनका पडिगाहन किया, प्रणाम किया और ऊँचे सिंहासनपर बैठाया ॥४३५॥ जब नारदजी आशीर्वाद देकर बैठ गये तब उसने पूछा कि आप क्या उद्देश्य लेकर हमारे यहाँ पधारे हैं ? क्या मुझे सम्पत्ति देनेके लिए पधारे हैं अथवा कोई बड़ा भारी पद प्रदान करनेके लिए आपका समागम हुआ है ? यह सुनकर नारदजीका मुखकमल खिल उठा। वे राजाको हर्ष उत्पन्न करते हुए प्रीति बढ़ानेवाले वचन कहने लगे ॥४३६-४३७॥ उन्होंने कहा कि हे राजन् ! मैं तुम्हारे लिए सारभूत वस्तुएँ खोजनेके लिए निरन्तर घूमता रहता हूँ। मैंने आज दो नृत्य-कारिणी देखी हैं जो आपके ही देखने योग्य हैं ॥४३८॥ वे इस समय ठीक स्थानोंमें स्थित नहीं हैं। मैं ऐसी अनिष्ट बात सहनेके लिए समर्थ नहीं हूँ इसीलिए आपके पास आया हूँ, क्या कभी चूड़ामणिकी स्थिति चरणोंके बीच सहन की जा सकती है ? ॥४३९॥ इस समय जिनसे कोई लड़नेवाला नहीं है, जो नवीन लक्ष्मीके मदसे उद्धत हो रहे हैं और जो झूठमूठके ही विजिगीषु बने हुए हैं ऐसे प्रभाकरी नगरीके स्वामी राजा अपराजित तथा अनन्तवीर्य हैं। वे सप्त-व्यसनोंमें आसक्त होकर प्रमादी हो रहे हैं इसलिए सरलतासे नष्ट किये जा सकते हैं। संसारका सारभूत वह नृत्यकारिणियोंका जोड़ा उन्हींके घरमें अवस्थित है। उसे आप सुखसे ग्रहण कर सकते हैं, दूत भेजनेसे वह आज ही लीलामात्रमें तुम्हारे पास आ जायेगा इसलिए अत्यन्त दुर्लभ वस्तु जब हाथके समीप ही विद्यमान है तब समय बिताना अच्छा नहीं ॥४४०-४४२॥ इस प्रकार यमराजके समान पापी नारदने जिसे प्रेरणा दी है तथा जिसका मरण अत्यन्त निकट है ऐसा दमितारि नारदकी बातमें आ गया ॥४४३॥ नृत्यकारिणीकी बात सुनते ही उसका चित्त मुग्ध हो गया। उसने उसी समय वत्सकावती देशके पराक्रमी राजा अपराजित और अनन्तवीर्यके पास प्रकृत अर्थको निवेदन करनेवाला दूत भेंटके साथ भेजा। वह दूत भी राजाकी आज्ञासे बीचमें दिन नहीं बिताता हुआ—शीघ्र ही प्रभाकरीपुरी पहुँचा। उस समय दोनों ही भाई प्रोषधोपवासका व्रत लेकर जिनमन्दिरमें बैठे हुए थे। उन्हें देखकर बुद्धिमान् दूतने मन्त्रीके मुखसे अपने आनेका समाचार भेजा और अपने साथ लायी हुई भेंट दोनों भाइयोंके लिए यथायोग्य समर्पण की ॥४४४-४४७॥ वह कहने लगा कि दिव्य लोहेके पिण्डके

१ समास्थाने क०, ग०। २ अस्ता[illegible]तसूर्यमिव।

तस्य नाम्नैव निर्भिन्नहृदयाः प्राकृतद्विषः । वमन्ति वैरमस्त्रं वा विनम्रा भयविह्वलाः ॥ ४४९ ॥
न सन्ति सहजास्तस्य शत्रवः शुद्धचेतसः । विभज्यान्वयजैर्विश्वैस्तद्राज्यं भुज्यते यतः ॥ ४५० ॥
कृत्रिमाः केन जायन्ते रिपवस्तस्य भूभुजः । मालेवाज्ञा हृतावज्ञैरुह्यते यदि मूर्द्धभिः ॥ ४५१ ॥
विनम्रविश्वविद्येशमुकुटाग्रमणित्विषा । स पादपीठपर्यन्ते विधत्ते धनुरामरम् ॥ ४५२ ॥
यशः कुन्देन्दुनिर्भासि तस्याराविजयार्जितम् । कन्या गायन्ति दिग्दन्तिदन्तपर्यन्तके कलम् ॥ ४५३ ॥
दुर्दमा विद्विषस्तेन [1]दान्ता यन्त्रेव दन्तिनः । दमितारिरिति ख्यातिं संधत्तेऽन्वर्थपेशलम् ॥ ४५४ ॥
तस्य शौर्यानलो भस्मिताखिलारातिरिन्धनः । आज्वलीति तथाप्यग्निकुमारामरभीषणः ॥ ४५५ ॥
प्रेषितः श्रीमता तेन देवेनाहं युवां प्रति । प्रीतये याचितुं तस्माद्दातव्यं नर्तकीद्वयम् ॥ ४५६ ॥
युष्मदीयं भुवि ख्यातं योग्यं तस्यैव तद्यतः । युवयोः स हि तद्दानात्सुप्रसन्नः फलिष्यति ॥ ४५७ ॥
इत्यब्रवीदद‍ः श्रुत्वा तमावासं प्रहित्य तौ । किं कार्यमिति पृच्छन्तौ स्थितावाहूय मन्त्रिणः ॥ ४५८ ॥
तयोः पुण्योदयात्सद्यस्तृतीयभवदेवताः । सुनिरूप्य स्वरूपाणि [2]ताः स्वयं समुपाश्रयन् ॥ ४५९ ॥
वयं युवाभ्यां संयोज्या [3]निजाभिप्रेतकर्मणि । [4]अस्थाने माकुलीभूतामित्याहुश्चाहितादराः ॥ ४६० ॥
श्रुत्वैतद्राज्यभारं स्वं निधाय निजमन्त्रिषु । नर्तकीवेषमादाय राज्ञाऽऽज्ञां प्रेषिते तत. ॥ ४६१ ॥

समान देदीप्यमान राजा दमितारिकी प्रतापरूपी अग्नि निरन्तर जलती रहती है, वह अपराधो तथा झूठमूठके अभिमानी मनुष्योंको शीघ्र ही जला डालती है ॥४४८॥ उसका नाम लेते ही स्वभावसे वैरी मनुष्योंका हृदय फट जाता है। वे भयसे इतने विह्वल हो जाते हैं कि विनम्र होकर शीघ्र ही वैर तथा अस्त्र दोनों ही छोड़ देते हैं ॥४४९॥ उसका चित्त बड़ा निर्मल है, वह अपने वंशके सब लोगोंके साथ विभाग कर राज्यका उपभोग करता है इसलिए परिवारमें उत्पन्न हुए शत्रु उसके हैं ही नहीं ॥४५०॥ जब तिरस्कारको न चाहनेवाले लोग उसकी आज्ञाको मालाके समान अपने मस्तकपर धारण करते हैं तब उस राजाके कृत्रिम शत्रु तो हो ही कैसे सकते हैं ? ॥४५१॥ वह अपने चरणपीठके समोप नम्रीभूत हुए समस्त विद्याधरोंके मुकुटके अग्रभागमें मणियोंकी किरणोंसे इन्द्रधनुष बनाया करता है ॥४५२॥ शत्रुओंको जीतनेसे उत्पन्न हुआ उसका यश कुन्दपुष्प तथा चन्द्रमाके समान शोभायमान है, उसके ऐसे मनोहर यशको कन्याएँ दिग्गजोंके दाँतोंके समीप निरन्तर गाती रहती हैं ॥४५३॥ जिस प्रकार महावतोंके द्वारा बड़े-बड़े दुर्जेय हाथी वश कर लिये जाते हैं उसी प्रकार उसके द्वारा भी बड़े-बड़े दुर्जेय राजा वश कर लिये गये थे इसलिए उसका 'दमितारि' यह नाम सार्थक प्रसिद्धिको धारण करता है ॥४५४॥ यद्यपि उसकी प्रतापरूपी अग्निने समस्त शत्रुरूपी इन्धनको जला डाला है तो भी अग्निकुमारदेवके समान भयंकर दिखनेवाली उसकी प्रतापरूपी अग्नि निरन्तर जलती रहती है ॥४५५॥ उसी श्रीमान् दमितारि राजाने दोनों नृत्यकारिणियाँ माँगनेके लिए मुझे आपके पास भेजा है सो प्रीति बढ़ानेके लिए आपको अवश्य देना चाहिए ॥४५६॥ आपकी नृत्यकारिणियाँ पृथिवीमें प्रसिद्ध हैं अतः उसीके योग्य हैं। नृत्यकारिणियोंके देनेसे वह तुम दोनोंपर प्रसन्न होगा और अच्छा फल प्रदान करेगा। इस प्रकार उस दूतने कहा। राजाने उसे सुनकर दूतको तो विश्राम करनेके लिए भेजा और मन्त्रियोंको बुलाकर पूछा कि इस परिस्थितिमें क्या करना चाहिए ? ॥४५७-४५८॥ उनके पुण्य कर्मके उदयसे तीसरे भवकी विद्यादेवताएँ शीघ्र ही आ पहुँचीं और अपना स्वरूप दिखाकर स्वयं ही कहने लगीं कि हमलोग आपके द्वारा अपने इष्ट कार्यमें लगानेके योग्य हैं। आप लोग अस्थानमें व्यर्थ ही व्याकुल न हों— ऐसा उन्होंने बड़े आदरसे कहा ॥४५९-४६०॥ देवताओंकी बात सुन दोनों भाइयोंने अपने राज्य-का भार अपने मन्त्रियोंपर रखकर नर्तकियोंका वेष धारण किया और दूतसे कहा कि चलो चलें,

---

१ दाता यन्त्रेव (?) ल० । २ तौ ल० । ३ निजाभिप्रेम–ल० । ४ मास्थाने ख० ।

यामेति [1]दूतेनालप्य संप्राप्य शिवमन्दिरम् । समालोचितगूढार्थौ प्रविश्य नृपमन्दिरम् ॥ ४६२ ॥
दृष्टवन्तौ खगाधीशं [2]यथौचित्यं प्रतुष्य सः । संभाष्य सामवाक्सारः पूजयित्वा दिने परे ॥ ४६३ ॥
अङ्गहारैः सकरणैः रसैर्भावैर्मनोहरैः । नृत्यं तयोर्विलोक्याप्तसंमदः परितोषितः ॥ ४६४ ॥
भवन्नृत्यकलां [3]कन्यां वासु[4] शिक्षयतां सुताम् । मदीयामित्यदात्कन्यामेताभ्यां कनकश्रियम् ॥ ४६५ ॥
[5]आदाय तां यथायोग्यं [6]नर्तयन्तौ नृपात्मजाम् । पेठतुर्गुणसंदब्ध[7]मिति ते मावि‍चक्रिणः ॥ ४६६ ॥

पृथ्वीच्छन्दः

गुणैः कुलबलादिभिर्भुवि विजित्य विश्वान् नृपान्
मनोजमपि लज्जयन् भववरो वपुसंपदा ।
विदग्धवनिताविकासललिताविलोकालयः
क्षितेः पतिरनन्तवीर्य इति विश्रुतः पातु वः ॥ ४६७ ॥

अनुष्टुप्

तदा तच्छ्रुतिमात्रेण मदनाविष्टविग्रहा । स्तूयते यः स को ब्रूतमित्यप्राक्षीन्नृपात्मजा ॥ ४६८ ॥
प्रभाकरीपुराधीशोऽजनिस्तिमितसागरात् । महामणिरिव क्ष्माभृन्मौलिचूडामणीयितः ॥ ४६९ ॥
कान्ताकल्पलतारोहरम्यकल्पमहीरुहः । कामिनीभ्रमरीभोग्यमुखाम्भोजविराजितः ॥ ४७० ॥
इति [8]तद्द्वयतद्रूपलावण्याद्यनुवर्णनात् । द्विगुणीभूतसंप्रीतिरित्युवाच खगात्मजा ॥ ४७१ ॥
किमसौ लभ्यते द्रष्टुं कन्यके सुष्ठु लभ्यते । त्वयेत्यनन्तवीर्यस्य रूपं साक्षात्प्रदर्शितम् ॥ ४७२ ॥

राजाने हम दोनोंको भेजा है। इस प्रकार दूतके साथ वार्तालाप कर वे दोनों शिवमन्दिरनगर पहुँचे और किसी गूढ़ अर्थकी आलोचना करते हुए राजभवनमें प्रविष्ट हुए ॥४६१-४६२॥ वहाँ उन्होंने विद्याधरोंके राजा दमितारिके यथायोग्य दर्शन किये। राजा दमितारिने सन्तुष्ट होकर उनके साथ शान्तिपूर्ण शब्दोंमें सम्भाषण किया, उनका आदर-सत्कार किया, दूसरे दिन मनको हरण करनेवाले अंगहार, करण, रस और भावोंसे परिपूर्ण उनका नृत्य देखकर बहुत ही हर्ष तथा सन्तोषका अनुभव किया ॥४६३-४६४॥ एक दिन उसने उन दोनोंसे कहा कि 'हे सुन्दरियो! आप अपनी सुन्दर नृत्यकला हमारी पुत्रीको सिखला दीजिए' यह कहकर उसने अपनी कनकश्री नामकी पुत्री उन दोनोंके लिए सौंप दी ॥४६५॥ वे दोनों उस राजपुत्रीको लेकर यथायोग्य नृत्य कराने लगे। एक दिन उन्होंने भावी चक्रवर्तीके गुणोंसे गुम्फित निम्न प्रकारका गीत गाया ॥४६६॥ 'जिसने अपने कुल, बल आदि गुणोंके द्वारा पृथिवी पर समस्त राजाओंको जीत लिया है, जो अपनी शरीरकी सम्पत्तिसे कामदेवको भी लज्जित करता है, संसारमें अत्यन्त श्रेष्ठ है, और जो सुन्दर स्त्रियोंके विलास तथा मनोहर चितवनोंका घर है, ऐसा अनन्तवीर्य इस नामसे प्रसिद्ध पृथिवीका स्वामी तुम सबकी रक्षा करें' ॥४६७॥ उस गीतके सुनते ही जिसके शरीरमें कामदेवने प्रवेश किया है ऐसी राजपुत्रीने उन दोनोंसे पूछा कि 'जिसकी स्तुति की जा रही है वह कौन है?' यह कहिए ॥४६८॥ उत्तरमें उन्होंने कहा कि 'वह प्रभाकरीपुरीका अधिपति है, राजा स्तिमितसागरसे उत्पन्न हुआ है, महामणिके समान राजाओंके मस्तकपर स्थित चूडामणिके समान जान पड़ता है, स्त्रीरूपी कल्पलताके चढ़नेके लिए मानो कल्पवृक्ष ही है, और स्त्रीरूपी भ्रमरीके उपभोग करनेके योग्य मुखकमलसे सुशोभित है' ॥४६९-४७०॥ इस प्रकार उन दोनोंके द्वारा अत्यन्तवीर्यके रूप तथा लावण्य आदिका वर्णन सुनकर जिसकी प्रीति दूनी हो गयी है ऐसी विद्याधरकी पुत्री कनकश्री बोली 'क्या वह देखनेको मिल सकता है?'। उत्तरमें उन्होंने कहा कि 'हे कन्ये! तुझे अच्छी तरह मिल सकता है।' ऐसा

---

१ दूतमालप्य ख०, ग०, ल०। २ यथोचितं ल०। ३ कल्यामाशु शिष्यतां सुताम् ख०, ग०, घ०, म०। कुलाकल्यामाशु क०। ४ हे सुन्दर्यौ। ५ आदीय ल०। ६ नृत्तयन्तौ ल०। ७ संदर्भ ख०। संदोह क०। ८ तयोर्द्वयं तेन तस्य रूपलावण्याद्यनुवर्णनात्।

तद्दर्शनसमुद्भूतमदनज्वरविह्वलाम् । नर्तक्यौ तां समादाय जग्मतुर्मरुतः पथा ॥४७३॥
तद्वार्तां खेचराधीशः श्रुत्वाऽन्तर्वंशिकोदितात् । स्वभटान्प्रेषयामास तद्द्वयानयनं प्रति ॥४७४॥
तदागमनमालोक्य स निवर्त्य हली बली । न्ययुध्यतानुजं दूरं स्थापयित्वा सकन्यकम् ॥४७५॥
ते तेन सुचिरं युद्ध्वा कृतान्तोपान्तमाश्रिताः । दमितारिः पुनः क्रुद्ध्वा युद्धशौण्डान् समादिशत् ॥४७६॥
तेऽपि तत्खड्गधारोरुवारिराशाविवाद्रयः । निमज्जन्ति स्म तच्छ्रुत्वा खगाधीशः सविस्मयः ॥४७७॥
नर्तक्योर्न प्रभावोऽयं किमेतद् ब्रूत मन्त्रिणः । इत्याह ते च तत्तत्त्वं स्वयं ज्ञात्वा न्यवेदयन् ॥४७८॥
तदा लब्धेन्धनो वाग्निः क्रुद्धो वा गजविद्विषः । दमितारिः स्वयं योद्धुं चचाल स्वबलान्वितः ॥४७९॥
एकाकोऽपि हली सर्वान् विद्याविक्रमसाधनः । दमितारिं विमुच्यैतान् देहशेषांश्चकार सः ॥४८०॥
दमितारिं यमं वैकं हन्तुमायान्तमग्रजम् । अनन्तवीर्यस्तं दृष्ट्वा केसरीव मदद्विपम् ॥४८१॥
अभ्येत्यानेकधा युद्ध्वा विद्याबलमदोद्धतम् । विमर्दीकृत्य निस्पन्दं व्याधादधिकविक्रमः ॥४८२॥
खगेशश्चक्रमादाय क्षिपति स्माभिभूभुजम् । दक्षिणाप्रकराभ्यर्णे तस्थिवत्तत्परीत्य तम् ॥४८३॥
मृत्युं वा धर्मचक्रेण योगी तं [1]खेचराधिपम् । अहंस्तेनैव चक्रेण विक्रमी भाविकेशवः ॥४८४॥
इति युद्धान्तमासाद्य गगने गच्छतोस्तयोः । पूज्यातिक्रमभीत्येव विमाने सहसा स्थिते ॥४८५॥
केनचित् कीलितो वेगो न यातः केन हेतुना । इति तौ परितो वीक्ष्य सदो दिव्यं व्यलोकयत ॥४८६॥

कहकर उन्होंने अनन्तवीर्यका साक्षात् रूप दिखा दिया ॥४७१-४७२॥ उसे देखकर कनकश्री काम-ज्वरसे विह्वल हो गयी और उसे लेकर वे दोनों नृत्यकारिणी आकाशमार्गसे चली गयीं ॥४७३॥ विद्याधरोंके स्वामी दमितारिने यह बात अन्तःपुरके अधिकारियोंके कहनेसे सुनी और उन दोनोंको वापस लानेके लिए अपने योद्धा भेजे ॥४७४॥ बलवान् बलभद्रने योद्धाओंका आगमन देख, कन्या सहित छोटे भाईको दूर रखा और स्वयं लौटकर युद्ध किया ॥४७५॥ जब बलभद्रने चिरकाल तक युद्ध कर उन योद्धाओंको यमराजके पास भेज दिया तब दमितारिने कुपित होकर युद्ध करनेमें समर्थ दूसरे योद्धाओंको आज्ञा दी ॥४७६॥ वे योद्धा भी, जिस प्रकार समुद्रमें पहाड़ डूब जाते हैं उसी प्रकार बलभद्रकी खड्गधाराके विशाल पानीमें डूब गये। यह सुनकर दमितारिको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥४७७॥ उसने मन्त्रियोंको बुलाकर कहा कि 'यह प्रभाव नृत्य-कारिणियोंका नहीं हो सकता, ठीक बात क्या है? आप लोग कहें? मन्त्रियोंने सब बात ठीक-ठीक जानकर राजासे कही ॥४७८॥ उस समय जिस प्रकार इन्धन पाकर अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, अथवा सिंहका क्रोध भड़क उठता है उसी प्रकार राजा दमितारि भी कुपित हो स्वयं युद्ध करनेके लिए अपनी सेना साथ लेकर चला ॥ ४७९ ॥ परन्तु विद्या और पराक्रमसे युक्त एक बलभद्रने ही उन सबको मार गिराया सिर्फ दमितारिको ही बाकी छोड़ा ॥ ४८० ॥ इधर जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथीके ऊपर सिंह आ टूटता है उसी प्रकार बड़े भाईको मारनेके लिए आते हुए यमराजके समान दमितारिको देखकर अनन्तवीर्य उसपर टूट पड़ा ॥४८१॥ अधिक पराक्रमी अनन्तवीर्यने उसके साथ अनेक प्रकारका युद्ध किया, तथा विद्या और बलके मदसे उद्धत उस दमितारिको मदरहित कर निश्चेष्ट बना दिया था ॥४८२॥ अबकी बार विद्याधरोंके राजा दमितारिने चक्र लेकर राजा अनन्तवीर्यके सामने फेंका परन्तु वह चक्र उनकी प्रदक्षिणा देकर दाहिने कन्धेके समीप ठहर गया ॥४८३॥ जिस प्रकार योगिराज धर्म-चक्रके द्वारा मृत्युको नष्ट करते हैं उसी प्रकार पराक्रमी भावी नारायणने उसी चक्रके द्वारा दमितारिको नष्ट कर दिया—मार डाला ॥४८४॥ इस तरह युद्ध समाप्त कर दोनों भाई आकाश-में जा रहे थे कि पूज्य पुरुषोंका कहीं उल्लंघन न हो जावे इस भयसे ही मानो उनका विमान सहसा रुक गया ॥४८५॥ यह विमान किसीने कील दिया है अथवा किसी अन्य कारणसे आगे नहीं जा रहा है ऐसा सोचकर वे दोनों भाई चारों ओर देखने लगे। देखते ही उन्हें समवसरण

---

१ खचराधिपम् ल० ।

मानस्तम्भाः सरांस्येतान्येतद्वनचतुष्टयम् । मध्ये गन्धकुटी नूनं जिनेन्द्रः कोऽपि तिष्ठति ॥४८७॥
इति तत्रावतार्यैष शिवमन्दिरनायकः । सुतः कनकपुङ्खस्य जयदेव्याश्च निश्चितः ॥४८८॥
दमितारेः पिता कीर्तिधरो नाम्ना विरक्तवान् । प्राप्य शान्तिकराभ्यासे प्रव्रज्यां पारमेश्वरीम् ॥४८९॥
[1]संवत्सरं समादाय प्रतिमायोगमागमत् । केवलावगमं भक्त्या सुनासीरादिपूजितः ॥४९०॥
इत्युक्त्वैव परीत्य त्रिः प्रणम्य जिनेश्वरम् । श्रुतधर्मकथौ तत्र तस्थतुर्ध्वस्तकल्मषौ ॥४९१॥
कनकश्रीः सहाभ्येत्य ताभ्यां भक्त्या पितामहम् । वन्दित्वा घातिहन्तारमप्राक्षीत्स्वभवान्तरम् ॥४९२॥
इति पृष्टो जिनाधीशो निजवागमृताम्बुभिः । तां तर्पयितुमित्याह परार्थैकफलेहितः ॥४९३॥
अत्र जम्बूद्रुमालक्ष्यद्वीपेऽस्मिन् भरतावनौ । शङ्खाख्यनगरे वैश्यो देविलस्तत्सुताभवः ॥४९४॥
बन्धुश्रियां [2]त्वमेवैका श्रीदत्ता ज्यायसी सती । सुताः पराः कनीयस्यः कुष्ठी पङ्गुः कुणी[3] तथा ॥४९५॥
बधिरा कुब्जका काणा खञ्जा पोषिका स्वयम् । त्वं कदाचिन्मुनिं सर्वयशसं सर्वशैलगम् ॥४९६॥
अभिवन्द्य शमं याता हिंसाविरमणव्रतम् । गृहीत्वा धर्मचक्राख्यमुपवासं च शुद्धधीः ॥४९७॥
अन्यदा सुव्रताख्यायै गणिन्यै विधिपूर्वकम् । दत्त्वाऽन्नदानमेतस्या वमने सत्युपोषितात् ॥४९८॥
सम्यक्त्वाभावतस्तत्र विचिकित्सामगास्ततः । सौधर्मे जीवितस्यान्ते भूत्वा सामानिकामरी ॥४९९॥
ततो मन्दरमालिन्यां दमितारेः सुताभवः । पुण्याद् व्रतोपवासान्ताद्विचिकित्साफलं त्विदम् ॥५००॥
सबलं पितरं हत्वा हृत्वा नीतासि दुःखिनी । विचिकित्सां न कुर्वन्ति तस्मात्साधौ सुधीधनाः ॥५०१॥

दिखाई दिया ॥४८६॥ 'ये मानस्तम्भ हैं, ये सरोवर हैं, ये चार वन हैं और ये गन्धकुटीके बीचमें कोई जिनराज विराजमान हैं' ऐसा कहते हुए अनन्तवीर्य और उनके भाई बलदेव वहाँ उतरे। उतरते ही उन्हें मालूम हुआ कि ये जिनराज, शिवमन्दिरनगरके स्वामी हैं, राजा कनकपुंग और रानी जयदेवीके पुत्र हैं, दमितारिके पिता हैं और कीर्तिधर इनका नाम है। इन्होंने विरक्त होकर शान्तिकर मुनिराजके समीप पारमेश्वरी दीक्षा धारण की थी। एक वर्षका प्रतिमायोग धारण कर जब इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ तब इन्द्र आदि देवोंने बड़ी भक्तिसे इनकी पूजा की थी। ऐसा कहकर उन दोनों भाइयोंने जिनराजकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, बार बार नमस्कार किया, धर्मकथाएँ सुनीं और अपने पापोंको नष्ट कर दोनों ही भाई वहाँपर बैठ गये ॥४८७-४९१॥ कनकश्री भी उनके साथ गयी थी। उसने अपने पितामहको भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले उक्त जिनराजसे अपने भवान्तर पूछे ॥४९२॥ ऐसा पूछनेपर परोपकार करना ही जिनकी समस्त चेष्टाओंका फल है ऐसे जिनेन्द्रदेव अपने वचनामृत रूप जलसे कनकश्रीको सन्तुष्ट करनेके लिए इस प्रकार कहने लगे ॥४९३॥

इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रकी भूमिपर एक शंख नामका नगर था। उसमें देविल नामका वैश्य रहता था। उसकी बन्धुश्री नामकी स्त्रीसे तू श्रीदत्ता नामकी बड़ी और सती पुत्री हुई थी। तेरी और भी छोटी बहिनें थीं जो कुष्ठी, लँगड़ी, टोंटी, बहरी कुबड़ी, कानी और खंजी थीं। इन सबका पालन स्वयं करती थी। तूने किसी समय सर्वशैल नामक पर्वतपर स्थित सर्वयश मुनिराजकी वन्दना की, शान्ति प्राप्त की, अहिंसा व्रत लिया, और परिणाम निर्मल कर धर्मचक्र नामका उपवास किया ॥४९४-४९७॥ किसी दूसरे दिन तूने सुव्रता नामकी आर्यिकाके लिए विधिपूर्वक आहार दिया, उन आर्यिकाने पहले उपवास किया था इसलिए आहार लेनेके बाद उन्हें वमन हो गया और सम्यग्दर्शन न होनेसे तूने उन आर्यिकासे घृणा की। तूने जो अहिंसा व्रत तथा उपवास धारण किया था उसके पुण्यसे तू आयुके अन्तमें मरकर सौधर्म स्वर्गमें सामानिक जातिकी देवी हुई और वहाँसे चयकर राजा दमितारिकी मन्दरमालिनी नामकी रानीसे कनकश्री नामकी पुत्री हुई है। तूने आर्यिकासे जो घृणा की थी उसका फल यह हुआ कि ये लोग तेरे बलवान् पिताको मारकर तुझे जबर्दस्ती ले आये तथा तूने दुःख उठाया। यही कारण है कि बुद्धिमान् लोग कभी

---

१ सांवत्सरं घ०। २ त्वमेकैव क०, ग०, ग०। त्वमेवैक-ख०। ३ कुणिस्तथा क०, ख०, घ०। कुणीस्तथा ग०।

[1]श्रुत्वैतदतिशोकार्ता वन्दित्वा जिनपुङ्गवम् । प्रभाकरीमगात्ताभ्यां सह सा खेचरात्मजा ॥ ५०२ ॥
सुघोषविद्युद्दंष्ट्राख्यौ भ्रातरौ कनकश्रियः । तत्पुरेऽनन्तसेनेन युध्यमानौ बलोद्धतौ ॥ ५०३ ॥
विलोक्य विहितक्रोधौ बध्नतुर्बलकेशवौ । तदाकर्ण्य तदार्ताशतनूजा सोढुमक्षमा ॥ ५०४ ॥
प्रवृद्धतेजसा यूना भानुनेव हतद्युतिः । [2]युताऽसाविन्दुरेखेव क्षीणा पक्षवलाद्विना ॥ ५०५ ॥
शोकदावानलम्लाना वृनेव वनवल्लरी । व्युच्छिन्नकामभोगेच्छा चिच्छित्सुर्दुःखसन्ततिम् ॥ ५०६ ॥
मोचयित्वानुबुध्यैतौ संप्रार्थ्य बलकेशवौ । स्वयंप्रभाख्यतीर्थेशात्पीतधर्मरसायना ॥ ५०७ ॥
सुप्रभागणिनीपार्श्वे दीक्षित्वा जीवितावधौ । सौधर्मकल्पे देवोऽभूच्चित्रं विलसितं विधेः ॥ ५०८ ॥

हरिणी

सुविहितमहोपायौ विद्याबलाद्बहुपुण्यकौ
बुधजनमुतौ सुप्रारम्भौ परस्परसंगतौ ।
हतपृथुरिपू शान्तात्मानौ यथानयविक्रमौ
सममविशतां सिद्धार्थौ तौ पुरीं परमोत्सवाम् ॥ ५०९ ॥

वसन्ततिलका

जित्वा प्रसिद्धखचरान् खचराधिपत्व-
श्रयास्य तद्बलवरत्वमलङ्घ्यशक्तिः ।
व्यक्तीचकार सुचिरादपराजितत्वं
भावेन चैतदिति नैव निजेन नाम्ना ॥ ५१० ॥
चक्रेण तस्य युधि सं दमितारिशक्ति
हत्वा त्रिखण्डपतितां [3]समवाप्य तस्मात् ।

साधुओंमें घृणा नहीं करते हैं ॥४९८-५०१॥

यह सुनकर विद्याधरकी पुत्री शोकसे बहुत ही पीड़ित हुई। अनन्तर जिनेन्द्रदेवकी वन्दना कर नारायण और बलभद्रके साथ प्रभाकरीपुरीको चली गयी। इधर सुघोष और विद्युद्दंष्ट्र कनकश्रीके भाई थे। वे बलसे उद्धत थे और शिवमन्दिरनगरमें ही नारायण तथा बलभद्रके द्वारा भेजे हुए अनन्तसेनके साथ युद्ध कर रहे थे। यह देखकर बलभद्र तथा नारायणको बहुत क्रोध आया, उन्होंने उन दोनोंको बाँध लिया। यह सुनकर कनकश्री उनके दुःखको सहन नहीं कर सकी और जिस प्रकार बढ़ते हुए तेजवाले तरुण सूर्यसे युक्त चन्द्रमाकी रेखा कान्तिहीन तथा क्षीण हो जाती है उसी प्रकार वह भी पक्षबलके बिना कान्तिहीन तथा क्षीण हो गयी ॥५०२-५०५॥ शोकरूपी दावानलसे मुरझाकर वह वनलताके समान दुःखी हो गयी। उसने काम-भोगकी सब इच्छा छोड़ दी, वह केवल भाइयोंका दुःख दूर करना चाहती थी। उसने दोनों भाइयोंको समझाया तथा बलभद्र और नारायणकी प्रार्थना कर उन्हें बन्धनसे छुड़वाया। स्वयम्प्रभनामक तीर्थंकरसे धर्मरूपी रसायनका पान किया और सुप्रभ नामकी गणिनीके समीप दीक्षा धारण कर ली। अन्तमें आयु समाप्त होनेपर सौधर्मस्वर्गमें देव पद प्राप्त किया सो ठीक ही है क्योंकि कर्मका उदय बड़ा विचित्र है ॥५०६-५०८॥ जिन्होंने विद्याके बलसे बड़े-बड़े उपाय किये हैं, जो बहुत पुण्यवान् हैं, विद्वान् लोग जिनकी स्तुति करते हैं, जो अच्छे कार्य ही प्रारम्भ करते हैं, परस्पर मिले रहते हैं, बड़े-बड़े शत्रुओंको मारकर जिनकी आत्माएँ शान्त हैं और नीतिके अनुसार ही जो पराक्रम दिखाते हैं ऐसे उन दोनों भाइयोंने कृतकृत्य होकर बहुत भारी उत्सवोंसे युक्त नगरीमें एक साथ प्रवेश किया ॥५०९॥ अलंघ्य शक्तिको धारण करनेवाले अपराजितने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्याधरोंको जीत कर विद्याधरोंके स्वामीपद तथा बलभद्रका पद प्राप्त किया और इस तरह केवल नामसे ही नहीं किन्तु भावसे भी अपना अपराजित नाम चिरकाल तक प्रकट किया ॥५१०॥ शत्रुओंकी शक्तिको दमन

१ श्रुत्वा तदति ल० । २ युताऽसाविन्दु–ख०, क० । प्लुतासा–ग० । युक्तासा-म० । ३ समवाप ख० ।

वीर्येण सूर्यविजयार्ध्यमनन्तवीर्यो
धुर्योऽभवद् भुवि स शौर्यपरेषु शूरः ॥ ५११ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

नित्यालोचितमन्त्रशक्त्यनुगतः स्फूर्जत्प्रतापानल-
ज्वालाभस्मितवैरिवंशगहनस्त्वं चक्रिणामग्रणीः ।
यस्त्वां कोपयति क्षणादरिरसौ काकज्वलज्ज्वालिना
लीढो लिप्त एव लक्ष्यत इति स्तुत्यस्तदा[1] वन्दिभिः ॥ ५१२ ॥

मालिनीच्छन्दः

गतघनरिपुरोधः स्वाग्रजोद्दिष्टमार्गः
समुपगतविशुद्धिः काललब्ध्या स चक्री ।
रविरिव निजदीप्त्या व्याप्तदिक्चक्रवालः
शरदमिव पुरीं स्वामध्युवासोग्रतेजाः ॥ ५१३ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे अपराजितानन्तवीर्याभ्युदयवर्णनं नाम द्विषष्टितमं पर्व ॥ ६२ ॥

करनेवाले दमितारिको जिसने युद्धमें उसीके चक्रसे मारकर उससे तीन खण्डका राज्य प्राप्त किया, जो अपने वीर्यसे सूर्यको जीतता था तथा शूरवीरोंमें अत्यन्त शूर था ऐसा अनन्तवीर्य पृथिवीमें सर्व श्रेष्ठ था ॥५११॥ वन्दी जन उस अनन्तवीर्य नारायणकी उस समय इस प्रकार स्तुति करते थे कि तू निरन्तर आलोचना की हुई मन्त्रशक्तिके अनुसार चलता है, देदीप्यमान प्रतापाग्निकी ज्वालाओंसे तूने शत्रुओंके वंशरूपी बाँसोंके वनको भस्म कर डाला है, तू सब नारायणोंमें श्रेष्ठ नारायण है; जो शत्रु तुझे कुपित करता है वह क्षणभरमें यमराजकी जलती हुई ज्वालाओंसे आलीढ—व्याप्त हुआ दिखाई देता है ॥५१२॥ जिसके शत्रुरूपी बादलोंका उपरोध नष्ट हो गया है, जो सदा अपने बड़े भाईके बतलाये हुए मार्गपर चलता है, काललब्धि-से जिसे विशुद्धता प्राप्त हुई है, जिसने अपनी दीप्तिसे समस्त दिङ्मण्डलको व्याप्त कर लिया है और जिसका तेज अत्यन्त उग्र है ऐसा वह नारायण अपनी नगरीमें उस प्रकार निवास करता था जिस प्रकार कि सूर्य शरद्ऋतुमें निवास करता है ॥५१३॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत, त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें अपराजित बलभद्र और अनन्तवीर्य नारायणके अभ्युदयका वर्णन करनेवाला बासठवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

---

१ सदा ल० ।

सिंहासने समासीनो [1]वीज्यमानप्रकीर्णकः । अर्द्धचक्री व्यराजिष्ट यथा षट्खण्डमण्डितः ॥ १ ॥
अथापराजितोऽप्यात्मयोग्यरत्नाद्यधीश्वरः । बलदेवपदं प्राप्य प्रत्यहं वृद्धिमातनोत् ॥ २ ॥
एवं भवान्तराबद्धविवृद्धस्नेहयोस्तयोः । काले गच्छत्यविच्छिन्नस्वच्छन्दसुखसारयोः ॥ ३ ॥
विजयायां हलेशस्य बभूव सुमतिः सुता । ज्योत्स्नेव प्रीणिताशेषा शुक्लपक्षेन्दुरेखया ॥ ४ ॥
सान्वहं कुर्वती वृद्धिं स्वस्याः पित्रोरपि स्वयम् । गुणैराह्लादनैः प्रीतिं व्यधात्कुवलयेप्सिताम् ॥ ५ ॥
दानाद्दमवराख्याय चारणाय यथोचितम् । साश्चर्यपञ्चकं प्राप तत्र दृष्ट्वा निजात्मजाम् ॥ ६ ॥
रूपेण केवलेनेयं भूषिता यौवनेन च । वरं प्रार्थयते बाला संश्रिता कालदेवताम् ॥७॥
इति संचिन्त्य तौ श्रावितस्वयंवरघोषणौ । कृत्वा स्वयंवृतेः शालां प्रवेश्यात्र वरोत्तमान् ॥ ८ ॥
सुतां च स्यन्दनारूढां सुप्रीतौ तस्थतुस्तदा । काचिद्विमानमारुह्य [2]सागता सुरसुन्दरी ॥ ९ ॥
अभिजानासि किं देवलोकेऽहं त्वं च कन्यके । [3]वत्स्यावस्तत्र संज्ञानात्समभूत् स्थितिरावयोः ॥१०॥
या प्रागवतरद्धात्रीं तामन्या बोधयत्विति । ब्रुवे नौ भवसंबन्धं संनिधाय मनः शृणु ॥११॥
पुष्करद्वीपपूर्वार्द्धभरते नन्दने पुरे । नयविक्रमसंपन्नो महीशोऽमितविक्रमः ॥१२॥
एतस्यानन्दमत्याश्च धनानन्तश्रियौ सुते । भूत्वा वां सिद्धकूटस्थनन्दनाख्ययतीश्वरात् ॥१३॥

जिसपर चमर ढुर रहे हैं ऐसा सिंहासनपर बैठा हुआ अर्द्धचक्री—नारायण अनन्तवीर्य इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो छह खण्डोंसे सुशोभित पूर्ण चक्रवर्ती ही हो ॥१॥ इसी प्रकार अपराजित भी अपने योग्य रत्न आदिका स्वामी हुआ था और बलभद्रका पद प्राप्त कर प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त होता रहता था ॥२॥ जिनका स्नेह दूसरे भवोंसे सम्बद्ध होनेके कारण निरन्तर बढ़ता रहता है और जो स्वच्छन्द रीतिसे अखण्ड श्रेष्ठ सुखका अनुभव करते हैं ऐसे उन दोनों भाइयोंका काल क्रमसे व्यतीत हो रहा था ॥३॥ कि बलभद्रकी विजया रानीसे सुमति नामकी पुत्री उत्पन्न हुई। वह शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी रेखाओंसे उत्पन्न चाँदनीके समान सबको प्रसन्न करती थी ॥४॥ वह कन्या प्रतिदिन अपनी वृद्धि करती थी और आह्लादकारी गुणोंके द्वारा माता-पिताके भी कुवलयेप्सित—पृथिवीमण्डलमें इष्ट अथवा कुमुदोंको इष्ट प्रेमको बढ़ाती थी ॥५॥ किसी एक दिन राजा अपराजितने दमवरनामक चारणऋद्धिधारी मुनिको आहार दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये। उसी समय उन्होंने अपनी पुत्रीको देखा और विचार किया कि अब यह न केवल रूपसे ही विभूषित है किन्तु यौवनसे भी विभूषित हो गयी है। इस समय यह कन्या कालदेवताका आश्रय पाकर वरकी प्रार्थना कर रही है अर्थात् विवाहके योग्य हो गयी है ॥६-७॥ ऐसा विचार कर उन दोनों भाइयोंने स्वयंवरकी घोषणा सबको सुनवायी और स्वयंवरशाला बनवाकर उसमें अच्छे-अच्छे मनुष्योंका प्रवेश कराया ॥८॥ पुत्रीको रथपर बैठाकर स्वयंवरशालामें भेजा और आप दोनों भाई भी वहीं बैठ गये। कुछ समय बाद एक देवी विमानमें बैठकर आकाशमार्गसे आयी और सुमति कन्यासे कहने लगी ॥९॥ क्यों याद है हम दोनों कन्याएँ स्वर्गमें रहा करती थीं। उस समय हम दोनोंके बीच यह प्रतिज्ञा हुई थी कि जो पृथिवीपर पहले अवतार लेगी उसे दूसरी कन्या समझायेगी। मैं दोनोंके भवोंका सम्बन्ध कहती हूँ सो तुम चित्त स्थिर कर सुनो ॥१०-११॥

पुष्करद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके नन्दनपुर नामक नगरमें नय और पराक्रमसे सुशोभित एक अमितविक्रम नामका राजा राज्य करता था। उसकी आनन्दमती नामकी रानीसे हम

---

१ वीज्यमानः प्रकीर्णकैः ख०, ग०, म० । २ खगता ख०, ग० । –मारुह्य गता ल० । ३ वस्याव: ल० ।

श्रुत्वा धर्मं व्रतैः सार्द्धमुपवासांश्च संविदा । समग्रहीष्वं नौ दृष्ट्वा कदाचित् त्रिपुराधिपः ॥१४॥
मनोहरवनेऽगच्छत् सहवज्राङ्गदः खगः । कान्तया वज्रमालिन्या समासक्तमतिस्तदा ॥१५॥
पुरीं प्रापय्य कान्तां स्वां सहसा पुनरागतः । गृहीत्वाऽऽवां व्रजन्नाशु निजाभिप्रायवेदिनीम् ॥१६॥
आगतामन्तरे दृष्ट्वा दूरात्तां वज्रमालिनीम् । त्यक्त्वा वेणुवने भीत्या तस्याः स्वपुरमीयिवान् ॥१७॥
आवां संन्यस्य तत्रैव सौधर्मेन्द्रस्य शुद्धधीः । व्रतोपवासपुण्येन देवी नवमिकाभवम् ॥१८॥
त्वं च देवी कुबेरस्य रत्याख्या समजायथाः । अन्योन्यमवगत्यैत्य नन्दीश्वरमहामहम् ॥१९॥
अथ मन्दरपर्यन्तवने निर्जन्तुके स्थितम् । चारणं धृतिषेणाख्यं समाश्रित्य प्रणम्य [1]तम् ॥२०॥
आवामप्रश्नयावेदं कदा स्यान्मुक्तिरावयोः । इत्यथो मुनिरप्याह जन्मनीतश्चतुर्थके ॥२१॥
अवश्यं युवयोर्मुक्तिरिति तस्मान्महामते । सुमते नाकिनां लोकात्त्वां बोधयितुमागता ॥२२॥
इत्यवोचत्तदाकर्ण्य सुमतिर्नाम सार्थकम् । कुर्वती पितृनिर्मुक्ता [2]प्राव्राजीत्सुव्रतान्तिके ॥२३॥
[3]कन्यकाभिः शतैः सार्द्धं सप्तभिः सा महातपाः । त्यक्तप्राणानते कल्पे देवोऽभवदनूदिशे ॥२४॥
आधिपत्यं त्रिखण्डस्य विधाय विविधैः सुखैः । प्राविशत्केशवः पापात् प्रान्ते रत्नप्रभां क्षितिम् ॥२५॥
तच्छोकात्सीरपाणिश्च राज्यलक्ष्मीं प्रबुद्धधीः । प्रदायानन्तसेनाय यशोधरमुनीश्वरात् ॥२६॥
आदाय संयमं प्राप्य तृतीयावगमं शमी । त्रिंशद्दिवससंन्यासादच्युताधीश्वरोऽभवत् ॥२७॥
धरणेन्द्रात् पितुर्[4]बुध्वा प्राप्तसम्यक्त्वरत्नकः । संख्यातवर्षैः प्रच्युत्य नरकाद् दुरितच्युतेः ॥२८॥

दोनों धनश्री तथा अनन्तश्री नामकी दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुई थीं। किसी एक दिन हम दोनोंने सिद्धकूटमें विराजमान नन्दन नामके मुनिराजसे धर्मका स्वरूप सुना, व्रत ग्रहण किये तथा सम्यग्ज्ञानके साथ-साथ अनेक उपवास किये। किसी दिन त्रिपुरनगरका स्वामी वज्राङ्गद विद्याधर अपनी वज्रमालिनी स्त्रीके साथ मनोहर नामक वनमें जा रहा था कि वह हम दोनोंको देखकर आसक्त हो गया। वह उसी समय लौटा और अपनी स्त्रीको अपनी नगरीमें भेजकर शीघ्र ही वापस आ गया। इधर वह हम दोनोंको पकड़कर शीघ्र ही जाना चाहता था कि उधरसे उसका अभिप्राय जाननेवाली वज्रमालिनी आ धमकी। उसे दूरसे ही आती देख वज्रांगद डर गया अतः वह हम दोनोंको बंश-वनमें छोड़कर अपने नगरकी ओर चला गया ॥१२-१७॥ हम दोनोंने उसी वनमें संन्यासमरण किया। जिससे शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाली मैं तो व्रत और उपवासके पुण्यसे सौधर्मेन्द्रकी नवमिका नामकी देवी हुई और तू कुबेरकी रति नामकी देवी हुई। एक बार हम दोनों परस्पर मिलकर नन्दीश्वर द्वीपमें महामह यज्ञ देखनेके लिए गयी थीं वहाँसे लौटकर मेरुपर्वतके निकटवर्ती जन्तुरहित वनमें विराजमान धृतिषेण नामक चारणमुनिराजके पास पहुँची थी और उनसे हम दोनोंने यह प्रश्न किया था कि हे भगवन्! हम दोनोंकी मुक्ति कब होगी? हम लोगोंका प्रश्न सुननेके बाद मुनिराजने उत्तर दिया था कि इस जन्मसे चौथे जन्ममें तुम दोनोंकी अवश्य ही मुक्ति होगी। हे बुद्धिमती सुमते! मैं इस कारण ही तुम्हें समझानेके लिए स्वर्गलोकसे यहाँ आयी हूँ ॥१८-२२॥ इस प्रकार उस देवीने कहा। उसे सुनकर सुमति अपना नाम सार्थक करती हुई पितासे छुट्टी पाकर सुव्रता नामकी आर्यिकाके पास सात सौ कन्याओंके साथ दीक्षित हो गयी। दीक्षित होकर उसने बड़ा कठिन तप किया और आयुके अन्तमें मरकर आनत नामक तेरहवें स्वर्गके अनुदिश विमानमें देव हुई ॥२३-२४॥

इधर अनन्तवीर्य नारायण, अनेक प्रकारके सुखोंके साथ तीन खण्डका राज्य करता रहा और अन्तमें पापोदयसे रत्नप्रभा नामकी पहली पृथिवीमें गया ॥२५॥ उसके शोकसे बलभद्र अपराजित, पहले तो बहुत दुःखी हुए फिर जब प्रबुद्ध हुए तब अनन्तसेन नामक पुत्रके लिए राज्य देकर यशोधर मुनिराजसे संयम धारण कर लिया। वे तीसरा ज्ञान (अवधिज्ञान) प्राप्त कर अत्यन्त शान्त हो गये और तीस दिनका संन्यास लेकर अच्युत स्वर्गके इन्द्र हुए ॥२६-२७॥ अपराजित और

१ ताम् ल० । २ प्राव्राजीत् ल० । ३ कन्यकाभिशतैः ल० । ४ लब्ध्वा म०, ल० ।

द्वीपेऽस्मिन्भारते खेचराद्र्युदक्श्रेणिविश्रुते । मेघवाहनविद्याधरेशो गगनवल्लभे ॥२९॥
देव्यां तुग्मेघमालिन्यां मेघनादः खगाधिपः । श्रेणीद्वयाधिपत्येन भोगांश्चिरमनुभुङ्क्त सः ॥३०॥
कदाचिन्मन्दरे विद्यां प्रज्ञप्तिं नन्दने वने । साधयन्मेघनादोऽयमच्युतेन्द्रेण बोधितः ॥३१॥
लब्धबोधिः समाश्रित्य [1]सुरामरगुरुं यमम् । [2]सुगुप्तिसमितीः सम्यगादाय चिरमाचरत् ॥३२॥
अन्येद्युर्नन्दना[3]ख्याद्रौ प्रतिमायोगमागमत् । अश्वग्रीवानुजो भ्रान्त्वा सुकण्ठाख्यो भवार्णवे ॥३३॥
असुरत्वं समासाद्य दृष्ट्वैनं मुनिसत्तमम् । विधाय बहुधा क्रोधादुपसर्गानवारयन् ॥३४॥
महायोगप्रतिज्ञानात्[4] स्थिरं चालयितुं स नः । [5]लज्जातिरस्करिण्येव सोऽन्तर्धानमुपागमः ॥३५॥
मुनिः संन्यस्य कालान्ते सोऽच्युतेऽगात्प्रतीन्द्रताम् । इन्द्रेण सह संप्रीत्या सप्रवीचारसौख्यभाक् ॥३६॥
प्राक्प्रच्युत्याच्युताधीशो द्वीपेऽस्मिन् प्राग्विदेहके । विषये मङ्गलावत्यां रत्नाढ्ये रत्नसंचये ॥३७॥
राज्ञः क्षेमंकराख्यस्य कृतपुण्योऽभवत्सुतः । श्रीमान् कनकचित्रायां भानो वा मेघविद्युतः ॥३८॥
आधानप्रीतिसुप्रीतिधृतिमोदप्रियोद्भवैः । प्रभूत्युक्तक्रियोपेतो धीमान् वज्रायुधाह्वयः ॥३९॥
तन्मातरीव तज्जन्मसंतोषः सर्वेष्वभूद् बहुः । भवेत्प्राचीदिशीवैव किं प्रकाशोंऽशुमालिनः ॥४०॥
अवधिष्ट वपुस्तस्य सार्धं रूपादिसंपदा । भूषितो[6]ऽनिमिषो वाम्यैर्भूषणैः सहजैर्गुणैः ॥४१॥

अनन्तवीर्यका जीव मरकर धरणेन्द्र हुआ था। उसने नरकमें जाकर अनन्तवीर्यको समझाया जिससे प्रतिबुद्ध होकर उसने सम्यग्दर्शनरूपी रत्न प्राप्त कर लिया। संख्यात वर्षकी आयु पूरी कर पापका उदय कम होनेके कारण वहाँसे च्युत हुआ और जम्बूद्वीप-सम्बन्धी भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें प्रसिद्ध गगनवल्लभ नगरके राजा मेघवाहन विद्याधरकी मेघमालिनी नामकी रानीसे मेघनाद नामका विद्याधर पुत्र हुआ। वह दोनों श्रेणियोंका आधिपत्य पाकर चिरकाल तक भोगोंको भोगता रहा ॥२८-३०॥ किसी समय यह मेघनाद मेरु पर्वतके नन्दन वनमें प्रज्ञप्ति नामकी विद्या सिद्ध कर रहा था, वहाँ अपराजितके जीव अच्युतेन्द्रने उसे समझाया ॥३१॥ जिससे उसे आत्मज्ञान हो गया। उसने सुरामरगुरु नामक मुनिराजके पास जाकर दीक्षा धारण कर ली तथा उत्तम गुप्तियों और समितियोंको लेकर चिर काल तक उनका आचरण करता रहा ॥३२॥ किसी एक दिन यही मुनिराज नन्दन नामक पर्वत-पर प्रतिमा योग धारण कर विराजमान थे। अश्वग्रीवका छोटा भाई सुकण्ठ संसार रूपी समुद्रमें चिर काल तक भ्रमण कर असुर अवस्थाको प्राप्त हुआ था। वह वहाँसे निकला और इन श्रेष्ठ मुनिराजको देखकर क्रोधके वश अनेक प्रकारके उपसर्ग करता रहा ॥३३-३४॥ परन्तु वह दुष्ट उन दृढ़प्रतिज्ञ मुनिराजको ग्रहण किये हुए व्रतसे रंच मात्र भी विचलित करनेमें जब समर्थ नहीं हो सका तब लज्जारूपी परदाके द्वारा ही मानो अन्तर्धानको प्राप्त हो गया—छिप गया ॥३५॥ वे मुनिराज संन्यासमरण कर आयुके अन्तमें अच्युतस्वर्गके प्रतीन्द्र हुए और इन्द्रके साथ उत्तम प्रीति रखकर प्रवीचार सुखका अनुभव करने लगे ॥३६॥ अपराजितका जीव जो इन्द्र हुआ था वह पहले च्युत हुआ और इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्वविदेहक्षेत्रके रत्नसंचय नामक नगरमें राजा क्षेमंकरकी कनकचित्रा नामकी रानीसे मेघकी बिजलीसे प्रकाशके समान पुण्यात्मा श्रीमान् तथा बुद्धिमान् वज्रायुध नामका पुत्र हुआ। जब यह उत्पन्न हुआ था तब आधान प्रीति सुप्रीति धृति-मोद प्रियोद्भव आदि क्रियाएँ की गयी थीं ॥३७-३९॥ उसके जन्मसे उसकी माताके ही समान सबको बहुत भारी सन्तोष हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि सूर्यका प्रकाश क्या केवल पूर्व दिशामें ही होता है? भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य पूर्व दिशासे उत्पन्न होता है परन्तु उसका प्रकाश सब दिशाओंमें फैल जाता है उसी प्रकार पुत्रकी उत्पत्ति यद्यपि रानी कनकचित्राके ही हुई थी परन्तु उससे हर्ष सभीको हुआ था ॥४०॥ रूप आदि सम्पदाके साथ उसका शरीर बढ़ने लगा और जिस प्रकार स्वाभाविक आभूषणोंसे देव सुशोभित होता है उसी प्रकार स्वाभाविक

---

१ सुरामरगुरूपमात् क०, ख०, घ०। सुरामरगुरुं पुमान् ग०। २ सुगुप्तिसुमिति म०। सुगुप्ति समिति ल०। ३ नन्दन ख्येऽद्रौ ल०, म०। ४ प्रतिज्ञानात् ख०, म०, घ०। ५ त्रपानेपथ्येन। ६ देव इव।

जनानुरागः प्रागेव तस्मिंस्तस्योदयादभूत् । संध्यारागं इवार्कस्य महाभ्युदयसूचनः ॥४२॥
विश्वाशा व्यानशे तस्य यशो विनदयद् भृशम् । काशप्रसवसंकाशमाश्वासितजनश्रुति ॥४३॥
राज्यलक्ष्म्या स्वभार्यालक्ष्मीमत्या चाप्यनवं वयः । असौ पक्षान्तरं कान्त्या ज्योत्स्नयावाप्य वा विधुः ॥४४॥
सूनुस्तयोः प्रतीन्द्रोऽभूत्सहस्रायुधनामभाक् । [1]वासराद्रेः प्रतीच्यां वा धर्मदीप्तिः कनद्द्युतिः ॥४५॥
श्रीषेणायां सुतस्तस्य शान्तान्तकनकोऽजनि । एवं क्षेमंकरः पुत्रपौत्रादिपरिवारितः ॥४६॥
अप्रतीपप्रतापोऽयं नतभूपकदम्बकः । कदाचिद्वीज्यमानोऽस्थाच्चामरैः सिंहविष्टरे ॥४७॥
तदामरसदस्यासीदीशानस्तुतिगोचरः । वज्रायुधो महासम्यग्दर्शनाधिक्यतः कृती ॥४८॥
देवो विचित्रचूलाख्यस्तत् स्तवं सोढुमक्षमः । अभिवज्रायुधं प्रापत्खलो ह्यन्यस्तवासहः ॥४९॥
दृष्ट्वा रूपपरावृत्त्या महीनाथं यथोचितम् । वादकण्डूययाऽवोचत्सौत्रान्तिकमते स्थितः ॥५०॥
त्वं जीवादिपदार्थानां विद्वान् किल विचारणे । वद पर्यायिणो भिन्नः पर्यायः किं विपर्ययः ॥५१॥
भिन्नश्चेच्छून्यताप्राप्तिस्तयोराधारहानितः । तथा चाव्यपदेशत्वान्नायं पक्षो घटामटेत् ॥५२॥
ऐकत्वसङ्करेऽप्येतन्न युक्तिपदवीं व्रजेत् । अन्योन्यगोचरैकत्वनानात्वद्वन्द्वसंकरात् ॥५३॥
अस्ति चेद् द्रव्यमेकं ते पर्यायाः बहवो मताः । एकात्मकमपीत्येष सङ्गरो भङ्गमाप्नुयात् ॥५४॥
नित्यत्वेऽपि तयोः पुण्यपापपाकात्मताच्युतेः । तद्बन्धनाभावान्मोक्षाभावो न वार्यते ॥५५॥

गुणोंसे वह सुशोभित होने लगा ॥४१॥ जिस प्रकार सूर्यके महाभ्युदयको सूचित करनेवाली उषाकी लालिमा सूर्योदयके पहले ही प्रकट हो जाती है उसी प्रकार उस पुत्रके महाभ्युदयको सूचित करनेवाला मनुष्योंका अनुराग उसके जन्मके पहले ही प्रकट हो गया था ॥४२॥ सब लोगोंके कानोंको आश्वासन देनेवाला और काशके फूलके समान फैला हुआ उसका उज्ज्वल यश समस्त दिशाओंमें फैल गया था ॥४३॥ जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्लपक्षको पाकर कान्ति तथा चन्द्रिकासे सुशोभित होता है उसी प्रकार वह वज्रायुध भी नूतन-तरुण अवस्था पाकर राज्य-लक्ष्मी तथा लक्ष्मीमती नामक स्त्रीसे सुशोभित हो रहा था ॥४४॥ जिस प्रकार प्रातःकालके समय पूर्व दिशासे देदीप्यमान सूर्यका उदय होता है उसी प्रकार उन दोनों—वज्रायुध और लक्ष्मीमतीके अनन्तवीर्य अथवा प्रतीन्द्रका जीव सहस्रायुध नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥४५॥ सहस्रायुधके श्रीषेणा स्त्रीसे कनकशान्त नामका पुत्र हुआ। इस प्रकार राजा क्षेमंकर पुत्र-पौत्र आदि परिवारसे परिवृत होकर राज्य करते थे। उनका प्रताप प्रतिद्वन्द्वीसे रहित था, और अनेक राजाओंके समूह उन्हें नमस्कार करते थे। किसी एक दिन वे सिंहासनपर विराजमान थे, उनपर चमर ढोले जा रहे थे ॥४६-४७॥ ठीक उसी समय देवोंकी सभामें ऐशान स्वर्गके इन्द्रने वज्रायुधकी इस प्रकार स्तुति की—इस समय वज्रायुध महासम्यग्दर्शनकी अधिकतासे अत्यन्त पुण्यवान् है ॥४८॥ विचित्रचूल नामका देव इस स्तुतिको नहीं सह सका अतः परीक्षा करनेके लिए वज्रायुधकी ओर चला सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट मनुष्य दूसरेकी स्तुतिको सहन नहीं कर सकता ॥४९॥ उसने रूप बदलकर राजाके यथायोग्य दर्शन किये और शास्त्रार्थ करनेकी खुजलीसे सौत्रान्तिक मतका आश्रय ले इस प्रकार कहा ॥५०॥ हे राजन्! आप जीव आदि पदार्थोंके विचार करनेमें विद्वान् हैं इसलिए कहिए कि पर्याय पर्यायीसे भिन्न है कि अभिन्न ? ॥५१॥ यदि पर्यायीसे पर्याय भिन्न है तो शून्यताकी प्राप्ति होती है क्योंकि दोनोंका अलग-अलग कोई आधार नहीं है और यह पर्यायी है यह इसका पर्याय है इस प्रकारका व्य-वहार भी नहीं बन सकता अतः यह पक्ष संगत नहीं बैठता ॥५२॥ यदि पर्यायी और पर्यायको एक माना जावे तो यह मानना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि परस्पर एकपना और अनेकपना दोनोंके मिलनेसे संकरदोष आता है ॥५३॥ 'यदि द्रव्य एक है और पर्यायें बहुत हैं' ऐसा आपका मत है तो 'दोनों एक स्वरूप भी हैं' इस प्रतिज्ञाका भंग हो जावेगा ॥५४॥ यदि द्रव्य और पर्याय दोनोंको नित्य मानेंगे तो फिर नित्य होनेके कारण पुण्य पापरूप कर्मोंका उदय नहीं हो सकेगा,

---

१ 'वासरादेरिव प्राच्यां' इति पाठः सुष्ठु प्रतिभाति।

अगत्या क्षणिकत्वं चेत्तयोरभ्युपगम्यते । तदाभ्युपगमत्यागः पक्षसिद्धिश्च मे भवेत् ॥ ५६ ॥
ततो भवन्मतं भद्र बौद्धकैः परिकल्पितम् । [1]कल्पनामात्रमत्रास्थं मा कृथास्त्वं वृथा श्रमम् ॥ ५७ ॥
इत्याकर्ण्य तदीयोक्तं तद्बुधो वज्रायुधोऽभणत् । शृणु चित्तं निधायोच्चैर्माध्यस्थ्यं प्राप्य सौगत[2] ॥ ५८ ॥
जिनेन्द्रवदनेन्दूत्थस्याद्वादामृतपायिनाम् । स्वकर्मफलभोगादिव्यवहारविरोधिनम् ॥ ५९ ॥
क्षणिकैकान्तदुर्वादमवलम्ब्य प्ररूपितः । त्वया दोषो न बाधायै कल्पते धर्मधर्मिणोः ॥ ६० ॥
संज्ञाप्रज्ञास्वचिह्नादिभेदैर्भिन्नत्वमेतयोः । एकत्वं चापृथक्त्वारेणनयैकावलम्बनात् ॥ ६१ ॥
कार्यकारणभावेन कालत्रितयवर्तिनाम् । स्कन्धानामव्यवच्छेदसंतानोऽभ्युपगम्यते ॥ ६२ ॥
स्कन्धानां क्षणिकत्वेऽपि [3]सद्भावात्कृतकर्मणः । युक्तः फलोपभोगादिरस्माकमिति ते मतिः ॥ ६३ ॥
एतेन परिहारेण भवतः पक्षरक्षणम् । वातारिवृक्षबन्धेन रोधो वा मत्तदन्तिनः ॥ ६४ ॥
संतानिभ्यः स संतानः पृथक् किं वाऽपृथग्मतः । पृथक्त्वे किं न पश्यामः संतानिभ्यः पृथक् न तत् ॥ ६५ ॥
अथेष्टोऽव्यतिरेकेण संतानिभ्यः स्वकल्पितः । संतानः शून्यतां तस्य सुगतोऽपि न वारयेत् ॥ ६६ ॥

कर्मोंके उदयके बिना बन्धके कारण रागद्वेष आदि परिणाम नहीं हो सकेंगे. उनके अभावमें कर्मोंका बन्ध नहीं हो सकेगा और जब बन्ध नहीं होगा तब मोक्षके अभावको कौन रोक सकेगा? ॥५५॥ यदि कुछ उपाय न देख पर्याय-पर्यायीको क्षणिक मानना स्वीकृत करते हैं, तो आपके गृहीत पक्षका त्याग और हमारे पक्षकी सिद्धि हो जावेगी ॥५६॥ इसलिए हे भद्र! आपका मत नीच बौद्धोंके द्वारा कल्पित है तथा कल्पना मात्र है इसमें आप व्यर्थ परिश्रम न करें ॥५७॥

इस प्रकार उसका कहा सुनकर विद्वान् वज्रायुध कहने लगा कि 'हे सौगत! चित्तको ऊँचा रखकर तथा माध्यस्थ्य भावको प्राप्त होकर सुन ॥५८॥ अपने द्वारा किया हुआ कर्म और उसके फलको भोगना आदि व्यवहारसे विरोध रखनेवाले क्षणिकैकान्तरूपी मिथ्यामतको लेकर तूने जो दोष बतलाया है वह जिनेन्द्र भगवान्‌के मुखरूपी चन्द्रमासे निकले हुए स्याद्वादरूपी अमृतका पान करनेवाले जैनियोंको कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकता। क्योंकि धर्म और धर्मीमें—गुण और गुणीमें संज्ञा-नाम तथा बुद्धि आदि चिह्नोंका भेद होनेसे भिन्नता है और 'गुण-गुणी कभी अलग नहीं हो सकते' इस एकत्व नयका अवलम्बन लेनेसे दोनोंमें अभिन्नता है—एकता है। भावार्थ—द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा गुण और गुणी, अथवा पर्याय और पर्यायीमें अभेद है—एकता है परन्तु व्यवहार नयकी अपेक्षा दोनोंमें भेद है। अनेकता है ॥५९-६१॥ भूत-भविष्यत्-वर्तमानरूप तीनों कालोंमें रहनेवाले स्कन्धोंमें परस्पर कारण-कार्य भाव रहता है अर्थात् भूतकालके स्कन्धोंसे वर्तमान कालके स्कन्धोंकी उत्पत्ति है इसलिए भूत कालके स्कन्ध कारण हुए और वर्तमान कालके स्कन्ध कार्य हुए। इसी प्रकार वर्तमान कालके स्कन्धोंसे भविष्यत् काल सम्बन्धी स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है अतः वर्तमान काल सम्बन्धी स्कन्ध कारण हुए और भविष्यत् कालसम्बन्धी स्कन्ध कार्य हुए। इस प्रकार कार्य-कारण भाव होनेसे इनमें एक अखण्ड सन्तान मानी जाती है। स्कन्धोंमें यद्यपि क्षणिकता है तो भी सन्तानकी अपेक्षा किये हुए कर्मका सद्भाव रहता है। जब उसका सद्भाव रहता है तब उसके फलका उपभोग भी हमारे मतमें सिद्ध हो जाता है'। ऐसा यदि आपका मत है तो इस परिहारसे आपको अपने पक्षकी रक्षा करना एरण्डके वृक्षसे मत्त हाथीके बाँधनेके समान है। भावार्थ—जिस प्रकार एरण्डके वृक्षसे मत्त हाथी नहीं बाँधा जा सकता उसी प्रकार इस परिहारसे आपके पक्षकी रक्षा नहीं हो सकती ॥६२-६४॥ हम पूछते हैं कि जो सन्तान स्कन्धोंसे उत्पन्न हुई है वह सन्तान सन्तानीसे भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो हम उसे सन्तानीसे पृथक् क्यों नहीं देखते हैं? चूँकि वह हमें पृथक् नहीं दिखाई देती है इसलिए सन्तानीसे भिन्न नहीं है ॥६५॥ यदि आप अपनी कल्पित सन्तानको सन्तानीसे अभिन्न मानते हैं तो फिर उसकी शून्यताको बुद्ध भी नहीं रोक सकते; क्योंकि सन्तानी क्षणिक है अतः उससे अभिन्न रहनेवाली

---

१ कल्पनामात्रमात्रास्थं ख०, ग०। २ सौगतः ख०, ग०। ३ तद्भावात् ल० (?)

प्रध्वंसाद्वास्त्यतिक्रान्तः क्षणो भाव्यप्यनुद्भवात् । भवत्क्षणः स्वरूपास्थित्याप्तो नाप्नोति संततिम् ॥ ६७ ॥
यदि कश्चिच्चतुर्थोऽस्ति संतानस्य तवास्तु सः । ततः संतानवादोऽयं भवद्व्यसनसंततिः ॥ ६८ ॥
इति देवोऽप्यसौ तस्य वाग्वज्रेण विचूर्णितम् । वचो विचिन्त्य स्वं भग्नमानः कालादिलब्धितः ॥६९॥
सद्यः सम्यक्त्वमादाय संपूज्य धरणीश्वरम् । निजागमनवृत्तान्तमभिधाय दिवं गतः ॥ ७० ॥
अथ क्षेमंकरः पृथ्व्याः क्षेमं योगं च संदधत् । लब्धबोधिर्मतिज्ञानक्षयोपशमनावृतः ॥ ७१ ॥
वज्रायुधकुमारस्य कृत्वा राज्याभिषेचनम् । प्राप्तलौकान्तिकस्तोत्रः परिनिष्क्रम्य गेहतः ॥ ७२ ॥
अनावरणमस्थानमप्रमादमनुत्क्रमम् । असंगमकृताहारम[1]नाहार्यमनेकधा ॥ ७३ ॥
अकषायमनारम्भमनवद्यमखण्डितम् । अनारतश्रुताभ्यासं प्रकुर्वन् स तपश्चिरम् ॥ ७४ ॥
निर्ममं निरहंकारं निःशाठ्यं निर्जितेन्द्रियम् । निःक्रोधं निश्चलं चित्तं निर्वृत्यै निर्मलं व्यधात् ॥ ७५ ॥
क्रमात्कैवल्यमप्याप्य व्याहूतपुरुहूतकम् । गणान् द्वादश वाऽऽत्मीयान् दाग्विसर्गादतीतृपत् ॥ ७६ ॥
वज्रायुधेऽथ भूनाथे सुपुण्यफलितां महीम् । [2]पात्यागमन्मधुमासो मदनोन्माददीपनः ॥ ७७ ॥
कोकिलानां कलालापो ध्वनिश्च मधुरोऽलिनाम् । अहरत्काममन्त्रो[3] वा प्राणान् प्रोषितयोषिताम् ॥ ७८॥

सन्तान भी क्षणिक ही रहेगी। इस तरह अभेदवादमें सन्तानकी शून्यता बलात् सिद्ध होती है। जो क्षण बीत चुका है उसका अभाव हो गया है जो आगे आनेवाला है उसका अभी उद्भव नहीं हुआ है और जो वर्तमान क्षण है वह अपने स्वरूपमें ही अतिव्याप्त है अतः इन तीनों क्षणोंसे सन्तानकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। यदि इनके सिवाय कोई चौथा क्षण माना जावे तो उससे सन्तानकी सिद्धि हो सकती है परन्तु चौथा क्षण आप मानते नहीं हैं क्योंकि चौथा क्षण माननेसे तीन क्षण तक स्कन्धकी सत्ता माननी पड़ेगी और जिससे क्षणिकवाद समाप्त हो जावेगा। इस प्रकार आपका यह सन्तानवाद संसारके दुःखोंकी सन्तति मालूम होती है ॥६६-६८॥

इस प्रकार उस देवने जब विचार किया कि हमारे वचन वज्रायुधके वचनरूपी वज्रसे खण्ड-खण्ड हो गये हैं तब उसका समस्त मान दूर हो गया। उसी समय कालादि लब्धियोंकी अनुकूलतासे उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया। उसने राजाकी पूजा की, अपने आनेका वृत्तान्त कहा और फिर वह स्वर्ग चला गया ॥६९-७०॥ अथानन्तर क्षेमंकर महाराज योग और क्षेमका समन्वय करते हुए चिरकाल तक पृथिवीका पालन करते रहे। तदनन्तर किसी दिन उन्होंने मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे युक्त होकर आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥७१॥ वज्रायुधकुमारका राज्याभिषेक किया, लौकान्तिक देवोंके द्वारा स्तुति प्राप्त की और घरसे निकल कर दीक्षा धारण कर ली ॥७२॥ उन्होंने निरन्तर शास्त्रका अभ्यास करते हुए चिरकाल तक अनेक प्रकारका तपश्चरण किया। वे तपश्चरण करते समय किसी प्रकारका आवरण नहीं रखते थे, किसी स्थान-पर नियमित निवास नहीं करते थे, कभी प्रमाद नहीं करते थे, कभी शास्त्रविहित क्रमका उल्लंघन नहीं करते थे, कोई परिग्रह पास नहीं रखते थे, लम्बे-लम्बे उपवास रखकर आहारका त्याग कर देते थे, किसी प्रकारका आभूषण नहीं पहनते थे, कभी कषाय नहीं करते थे, कोई प्रकारका आरम्भ नहीं रखते थे, कोई पाप नहीं करते थे, और गृहीत प्रतिज्ञाओंको कभी खण्डित नहीं करते थे, उन्होंने निर्वाण प्राप्त करनेके लिए अपना चित्त ममतारहित, अहंकाररहित, शठतारहित, जितेन्द्रिय, क्रोधरहित, चंचलतारहित, और निर्मल बना लिया था ॥७३-७५॥ क्रम-क्रमसे उन्होंने केवलज्ञान भी प्राप्त कर लिया, इन्द्र आदि देवता उनके ज्ञान-कल्याणकके उत्सवमें आये और दिव्यध्वनिके द्वारा उन्होंने अपनी बारहों सभाओंको सन्तुष्ट कर दिया ॥७६॥

इधर राजा वज्रायुध उत्तम पुण्यसे फली हुई पृथिवीका पालन करने लगे। धीरे-धीरे कामके उन्मादको बढ़ानेवाला चैतका महीना आया। कोयलोंका मनोहर आलाप और भ्रमरोंका मधुर शब्द कामदेवके मन्त्रके समान विरहिणी स्त्रियोंके प्राण हरण करने लगा। समस्त प्रकारके फूल

१–मकृत्वाहार-क०, घ० । २ रक्षति सति । ३ प्राणमन्त्रो वा ख० ।

वनान्यपि मनोजाय त्रिजगद्विजिगीषवे । यस्मिन् पुष्पकरे स्वैरं ददुः सर्वस्वमात्मनः ॥७९॥
तस्मिन् काले वने रन्तुं [1]स्वदेवरमणे मतिम् । ज्ञात्वा सुदर्शनावक्त्राद्धारिण्याद्यात्मयोषिताम् ॥८०॥
औत्सुक्यात्तद्वनं गत्वा सुदर्शनसरोवरे । जलक्रीडां स्वदेवीभिः प्रवर्तयति भूभुजि[2] ॥८१॥
अपिधाय सरः सद्यः कश्चिद्विद्याधरः खलः । शिलया नागपाशेन तमबध्नान्नृपोऽप्यसौ ॥८२॥
शिलां हस्ततलेनाहत्सा गता शतखण्डताम् । विद्याधरोऽपि दुष्टात्मा तदाशौ प्रपलायितः ॥८३॥
एष पूर्वभवे शत्रुर्विद्युद्दंष्ट्राभिधानकः । वज्रायुधोऽपि देवीभिः सह स्वपुरमागमत् ॥८४॥
एवं सुखेन भूभर्तुः काले गच्छत्यथोदयात्[3] । निधयो नव रत्नानि चतुर्दश तदाऽभवन् ॥८५॥
चक्रवर्तिश्रियं[4] प्राप्य निविष्टं सिंहविष्टरे । कश्चिद्विद्याधरो भीतः शरणं समुपागतः ॥८६॥
तस्यैवानुपदं काचिदुत्खातासिकरा खगी । क्रोधानलशिखेवागात् द्योतयन्ती [5]समावनीम् ॥८७॥
तस्याश्चानुपदं कश्चित्स्थविरः स गदाधरः । समागत्य महाराज दुरात्मैष खगाधमः ॥८८॥
त्वं दुष्टनिग्रहे शिष्टपालने च निरन्तरम् । [6]जागर्सि निग्रहः कार्यस्त्वयास्यान्यायकारिणः ॥८९॥
कोऽस्यान्याय इत्येतत् ज्ञातुमिच्छा तवास्ति चेत् । वदामि देव सम्यक् त्वं प्रणिधाय मनः शृणु ॥९०॥
[7]जम्बूद्वीपसुकच्छाख्यविषये [8]खचराचले । श्रेण्यामुत्तरदिग्जायां शुक्रप्रभपुराधिपः ॥९१॥
खगाधीशिन्द्रदत्ताख्यः प्रिया तस्य यशोधरा । तयोरहं सुतो वायुवेगो विद्याधरैर्मतः ॥९२॥
तत्र किन्नरगीताख्यनगराधिपतिः खगः । [9]चित्रचूलः सुता तस्य सुकान्ता मे प्रियाऽभवत्[10] ॥९३॥

उत्पन्न करनेवाले उस चैत्रके महीनेमें फूलोंसे लदे हुए वन ऐसे जान पड़ते थे मानो त्रिजगद्-विजयी कामदेवके लिए अपना सर्वस्व ही दे रहे हों ॥७७-७९॥ उस समय उसने सुदर्शना रानीके मुखसे तथा धारिणी आदि अपनी स्त्रियोंकी उत्सुकतासे यह जान लिया कि इस समय इनकी अपने देवरमण नामक वनमें क्रीड़ा करनेकी इच्छा है इसलिए वह उस वनमें जाकर सुदर्शन नामक सरोवरमें अपनी रानियोंके साथ जलक्रीड़ा करने लगा ॥८०-८१॥ उसी समय किसी दुष्ट विद्याधरने आकर उस सरोवरको शीघ्र ही एक शिलासे ढक दिया और राजाको नागपाशसे बाँध लिया। राजा वज्रायुधने भी अपने हाथकी हथेलीसे उस शिलापर ऐसा आघात किया कि उसके सौ टुकड़े हो गये। दुष्ट विद्याधर उसी समय भाग गया। यह विद्याधर और कोई नहीं था—पूर्वभवका शत्रु विद्युद्दंष्ट्र था। वज्रायुध अपनी रानियोंके साथ अपने नगरमें वापस आ गया। इस प्रकार पुण्योदयसे राजाका काल सुखसे बीत रहा था। कुछ समय बाद नौ निधियाँ और चौदह रत्न प्रकट हुए ॥८२-८५॥ वह चक्रवर्तीकी विभूति पाकर एक दिन सिंहासनपर बैठा हुआ था कि उस समय भयभीत हुआ एक विद्याधर उसकी शरणमें आया ॥८६॥ उसके पीछे ही एक विद्याधरी हाथमें तलवार लिये क्रोधाग्निकी शिखाके समान सभाभूमिको प्रकाशित करती हुई आयी ॥८७॥ उस विद्याधरीके पीछे ही हाथमें गदा लिये एक वृद्ध विद्याधर आकर कहने लगा कि हे महाराज ! यह विद्याधर दुष्ट नीच है, आप दुष्ट मनुष्योंके निग्रह करने और सत्पुरुषोंके पालन करनेमें निरन्तर जागृत रहते हैं इसलिए आपको इस अन्याय करनेवालेका निग्रह अवश्य करना चाहिये ॥८८-८९॥ इसने कौन-सा अन्याय किया है यदि आपको यह जाननेकी इच्छा है तो हे देव ! मैं कहता हूँ, आप चित्तको अच्छी तरह स्थिर कर सुनें ॥९०॥

जम्बूद्वीपके सुकच्छ देशमें जो विजयार्ध पर्वत है उसकी उत्तरश्रेणीमें एक शुक्रप्रभ नामका नगर है। वहाँ विद्याधरोंके राजा इन्द्रदत्त राज्य करते थे। उनकी रानीका नाम यशोधरा था। मैं उन दोनोंका पुत्र हूँ, वायुवेग मेरा नाम है और सब विद्याधर मुझे मानते हैं ॥९१-९२॥ उसी देश-में किन्नरगीत नामका एक नगर है। उसके राजाका नाम चित्रचूल है। चित्रचूलकी पुत्री सुकान्ता

---

१ स्वे देव-क०, ख०, ग०, घ०, म०,। २ भूभुजे ल०। ३ पुण्योदयात्। ४ चक्रवर्तिश्रियः म०, ल०। ५ सभावनिम् ग०। सभापतिम् ल०। ६ जागर्ति ल०। ७ जम्बूद्वीपे क०, ख०, ग०, घ०, म०। ८ खेचराचले ख०, ग०, म०। खेचरालये ल०। ९ चित्रसेनः म०, ल०। १० भवेत् क०, ग०, घ०।

सुता मम सुकान्तायाश्चैषा शान्तिमतिः सती । विद्यां साधयितुं याता मुनिसागरपर्वतम् ॥९४॥
विद्यासाधनविघ्नार्थं पापोऽयं समुपस्थितः । पुण्योदयात्तदैवास्या विद्या सिद्धिमुपागता ॥९५॥
तद्भयात्त्वामयं पापकर्मकृत्समुपाश्रयत् । [1]विद्यापूजां समादाय तदैवाहं समागमम् ॥९६॥
अदृष्ट्वा मत्सुतां तत्र तन्मार्गं क्षिप्रमन्वितः । इत्यवादीत्स तत्सर्वं श्रुत्वाऽवधिविलोचनः ॥९७॥
जानाम्यहं महद्वास्य विद्याया विघ्नकारणम् । इति वज्रायुधो व्यक्तमेवं प्रोवाच तां कथाम् ॥९८॥
अस्मिन्नैरावते ख्याते गान्धारविषये नृपः । विन्ध्यसेनः पतिर्विन्ध्यपुरस्य विलसन् गुणैः ॥९९॥
सुलक्षणायां तस्याभूत्सूनुर्नलिनकेतुकः । तत्रैव धनमित्रस्य श्रीदत्तायां सुतो वणिक् ॥१००॥
सुदत्तो नाम तस्यासीद्भार्या प्रीतिंकराह्वयात् । दृष्ट्वा नलिनकेतुस्तां क्वचिद्वनविहारिणीम् ॥१०१॥
मदनानलसंतप्ततद्दाहं[2] सोढुमक्षमः । न्यायवृत्तिं समुल्लङ्घ्य बलाद्धृत दुर्मतिः ॥१०२॥
सुदत्तस्तेन निर्विण्णः सुव्रताख्यजिनान्तिके । प्रव्रज्य सुचिरं घोरं तपः कृत्वाऽऽयुषोऽवधौ ॥१०३॥
संन्यस्यैशानकल्पेऽभूदेकसागरजीवितः । तत्र भोगांश्चिरं भुक्त्वा ततः प्रच्युत्य पुण्यभाक् ॥१०४॥
जम्बूद्वीपसुकच्छाख्यविजयार्द्धोत्तरे श्रेण्यां पुरेऽभवत्काञ्चनाद्यन्ततिलकाह्वये ॥१०५॥
महेन्द्रविक्रमस्येष्टतनूजोऽजितसेनवाक् । [3]अमलशीलवेगायां विद्याविक्रमदुर्गतः ॥१०६॥
इतो नलिनकेतुश्च वीक्ष्योल्कापातमात्मवान् । निर्विद्य प्राक्तनात्मीयं दुश्चरित्रं विनिन्दयन् ॥१०७॥
सीमंकरमुनिं श्रित्वा दीक्षामादाय शुद्धधीः । क्रमात्कैवल्यमुपाद्य संप्रापाष्टमीं भुवम् ॥१०८॥

मेरी स्त्री है ॥९३॥ मेरे तथा सुकान्ताके यह शान्तिमती नामकी सती पुत्री उत्पन्न हुई है । यह विद्या सिद्ध करनेके लिए मुनिसागर नामक पर्वतपर गयी थी ॥९४॥ उसी समय यह पापी इसकी विद्या सिद्ध करनेमें विघ्न करनेके लिए उपस्थित हुआ था परन्तु पुण्यकर्मके उदयसे इसकी विद्या सिद्ध हो गयी ॥९५॥ यह पापी विद्याके भयसे ही आपके शरण आया है । मैं विद्याकी पूजाकी सामग्री लेकर उसी समय वहाँ आया था परन्तु वहाँ अपनी पुत्रीको न देख शीघ्र ही उसी मार्गसे इनके पीछे आया हूँ । इस प्रकार उस वृद्ध विद्याधरने कहा । यह सब सुनकर अवधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले राजा वज्रायुध कहने लगे । कि 'इसको विद्यामें विघ्न होनेका जो बड़ा भारी कारण है उसे मैं जानता हूँ' ऐसा कहकर वे स्पष्ट रूपसे उसकी कथा कहने लगे ॥९६-९८॥

उन्होंने कहा कि 'इसी जम्बूद्वीपके ऐरावत क्षेत्रमें गान्धार नामका देश है उसके विन्ध्यपुर नगरमें गुणोंसे सुशोभित राजा विन्ध्यसेन राज्य करता था । उसकी सुलक्षणा रानीसे नलिनकेतु नामका पुत्र हुआ था । उसी नगरमें एक धनमित्र नामका वणिक् रहता था । उसकी श्रीदत्ता स्त्रीसे सुदत्त नामका पुत्र हुआ था । सुदत्तकी स्त्रीका नाम प्रीतिंकरा था । एक दिन प्रीतिंकरा किसी वनमें विहार कर रही थी । उसी समय राजपुत्र नलिनकेतुने उसे देखा और देखते ही कामाग्निसे ऐसा सन्तप्त हुआ कि उसकी दाह सहन करनेमें असमर्थ हो गया । उस दुर्बुद्धिने न्यायवृत्तिका उल्लंघन कर बलपूर्वक प्रीतिंकराका हरण कर लिया ॥९९-१०२॥ सुदत्त इस घटनासे बहुत ही विरक्त हुआ । उसने सुव्रत नामक जिनेन्द्रके समीप दीक्षा ले ली और चिर काल तक घोर तपश्चरण कर आयुके अन्तमें संन्यासमरण किया जिससे ऐशान स्वर्गमें एक सागरकी आयुवाला देव हुआ । वह पुण्यात्मा चिर काल तक भोग भोगकर वहाँसे च्युत हुआ और इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी सुकच्छ देशके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीपर काञ्चनतिलक नामक नगरमें राजा महेन्द्रविक्रम और नीलवेगा नामकी रानीके अजितसेन नामका प्यारा पुत्र हुआ । यह विद्या और पराक्रमसे दुर्जेय है ॥१०३-१०६॥

इधर नलिनकेतुको उल्कापात देखनेसे आत्मज्ञान हो गया । उसने विरक्त होकर अपने पिछले दुश्चरित्रकी निन्दा की, सीमंकर मुनिके पास जाकर दीक्षा ली, बुद्धिको निर्मल बनाया, क्रम-क्रमसे केवलज्ञान उत्पन्न किया और अन्तमें अष्टम भूमि—मोक्ष स्थान प्राप्त कर लिया ॥१०७-१०८॥

---

१ विद्यां पूजां क०, घ० । २ तं दाहं ल० । ३ अमृदनिलवेगायां म०, ल० ।

प्रीतिंकरापि [1]निर्वेगात् श्रित्वा सुव्रतार्यिकाम् । गृहसंगपरित्यागात् कृत्वा चान्द्रायणं परम् ॥ १०९ ॥
प्रान्ते संन्यस्य चाप्याप्य कल्पमैशानमात्मकम् । तत्र स्वायुः स्थितिं नीत्वा दिव्यभोगैस्ततश्च्युता ॥ ११० ॥
[2]तवाजनि सुतेयमस्यं विद्याविघ्नकृत् । तत्संबन्धादिति प्रोक्तं सर्वमाकर्ण्य भूभुजः ॥ १११ ॥
निर्विद्य संसृतेः शान्तिमती क्षेमंकराह्वयात् । तीर्थेशाद्धर्ममास्वाद्य सद्यः प्राप्य सुलक्षणाम् ॥ ११२ ॥
गणिनीं संयमं श्रित्वा संन्यस्यैशानसंज्ञके । नाके निलिम्पो भूत्वा स्वकायपूजार्थमागमत् ॥ ११३ ॥
तदानीमेव कैवल्यं प्रापत् पवनवेगवाक् । सहैवाजितसेनेन कृत्वा पूजां तयोर्ययात् ॥ ११४ ॥
तथा चक्रधरे राज्यलक्ष्म्यालिङ्गितविग्रहे । दशाङ्गभोगसाद्भूते पाति षट्खण्डमण्डलम् ॥ ११५ ॥
विद्याधराद्रिदक्षिण्यां शिवमन्दिरभूपतिः । मेघवाहननामास्य विमलाख्या प्रिया तयोः ॥ ११६ ॥
सुता कनकमालेति कल्याणविधिपूर्वकम् । जाता कनकशान्तेः सा मदकेतुसुखावहा ॥ ११७ ॥
तथा [3]वस्त्वोकसाराख्यपुरार्धीशखगेशिनः । सुता समुद्रसेनस्य जयसेनोदरोदिता ॥ ११८ ॥
प्रिया वसन्तसेनाऽपि बभूवास्य कनीयसी । ताभ्यां निर्वृतिमापासौ दृष्टिचर्याद्वयेन वा ॥ ११९ ॥
[4]कोकिलाप्रथमालापैराहूत इव कौतुकात् । अयाद्वनविहाराय कदाचित्स सहप्रियः ॥ १२० ॥
कन्दमूलफलान्वेषी निधिं वा सुकृतोदयात् । कुमारो मुनिमद्राक्षीद्विपिने विमलप्रभम् ॥ १२१ ॥
तं त्रिः परीत्य वन्दित्वा तत्त्वसर्वं प्रबुद्धवान् । मनोरजः समुद्धूय शुद्धिं बुद्धेरुपासदत् ॥ १२२ ॥
तदानीमेव तं दीक्षालक्ष्मीश्च स्ववशं व्यधात् । सम्फलीव वसन्तश्रीरजायत तपःश्रियः[5] ॥ १२३ ॥

प्रीतिंकरा भी विरक्त होकर सुव्रता आर्यिकाके पास गयी और घर तथा परिग्रहका त्याग कर चान्द्रायण नामका श्रेष्ठ तप करने लगी । अन्तमें संन्यासमरण कर ऐशान स्वर्गमें देवी हुई । वहाँ दिव्य भोगोंके द्वारा अपनी आयु पूरी कर वहाँसे च्युत हुई और अब तुम्हारी पुत्री हुई है । पूर्व पर्यायके सम्बन्धसे ही इस विद्याधरने इसकी विद्यामें विघ्न किया था । इस प्रकार राजा वज्रायुधके द्वारा कही हुई सब बात सुनकर शान्तिमती संसारसे विरक्त हो गयी । उसने क्षेमंकर नामक तीर्थंकरसे धर्म श्रवण किया और शीघ्र ही सुलक्षणा नामकी आर्यिकाके पास जाकर संयम धारण कर लिया । अन्तमें संन्यास मरण कर वह ऐशान स्वर्गमें देव हुई । वह अपने शरीरकी पूजाके लिए आयी थी उसी समय पवनवेग और अजितसेन मुनिको केवल ज्ञान प्राप्त हुआ सो उनकी पूजा कर वह अपने स्थानपर चली गयी ॥१०९-११४॥ इस प्रकार जिनका शरीर राज्यलक्ष्मीसे आलिंगित हो रहा है ऐसे चक्रवर्ती वज्रायुध दश प्रकारके भोगोंके अधीन होकर जब छहों खण्ड पृथिवीका पालन करते थे ॥११५॥ तब विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीके शिवमन्दिर नगरमें राजा मेघवाहन राज्य करते थे उनकी स्त्रीका नाम विमला था । उन दोनोंके कनकमाला नामकी पुत्री हुई थी । उसके जन्मकालमें अनेक उत्सव मनाये गये थे । तरुणी होनेपर वह राजा कनकशान्तिको कामसुख प्रदान करनेवाली हुई थी अर्थात् उसके साथ विवाही गयी थी ॥११६-११७॥ इसके सिवाय वस्त्वोकसार नगरके स्वामी समुद्रसेन विद्याधरकी जयसेना रानीके उदरसे उत्पन्न हुई वसन्तसेना भी कनकशान्तिकी छोटी स्त्री थी । जिस प्रकार दृष्टि और चर्या—सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे निर्वृति-निर्वाण-मोक्ष प्राप्त होता है उसी प्रकार उन दोनों स्त्रियोंसे राजा कनकशान्ति निर्वृति-सुख प्राप्त कर रहा था ॥११८-११९॥ किसी समय राजा कनकशान्ति कोयलोंके प्रथम आलापसे बुलाये हुएके समान कौतुक वश अपनी स्त्रियोंके साथ वनविहारके लिए गया था ॥१२०॥ जिस प्रकार कन्दमूल फल ढूँढ़नेवालेको पुण्योदयसे खजाना मिल जाय उसी प्रकार उस कुमारको वनमें विमलप्रभ नामके मुनिराज दीख पड़े ॥१२१॥ उसने उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, वन्दना की, उनसे तत्त्वज्ञान प्राप्त किया और अपने मनकी धूलि उड़ाकर बुद्धिको शुद्ध किया ॥१२२॥ उसी समय दीक्षा-लक्ष्मीने उसे अपने वश कर लिया अर्थात् उसने दीक्षा धारण कर ली इसलिए कहना पड़ता है कि वसन्त-लक्ष्मी मानो तपोलक्ष्मीकी दूती ही थी । भावार्थ—जिस प्रकार दूती, पुरुषका स्त्रीके साथ समागम

१ प्रीतिंकरातिनिर्वेगात् ख० । प्रीतिंकरापि संवेगात् म०, ल० । २ तवाजनि म० । ३ वास्त्वोकसा-राख्य—क०, ग०, घ०, वस्त्वोक म० । ४ कोकिलप्रथमा—क०, ख०, घ० । ५ तपःश्रियम् क०, घ० ।

देव्यौ विमलमत्याख्यगणिनीं ते समाश्रिते । अदीक्षेतां सहैतेन युक्तं तत्कुलयोषिताम् ॥ १२४ ॥
सिद्धाचले कदाचित्तं प्रतिमायोगधारिणम् । खगो वसन्तसेनाया बद्धवैरेण मैथुनः ॥ १२५ ॥
विलोक्य चित्रचूलाख्यः कोपारुणितवीक्षणः । प्रारिप्सुरुपसर्गाय तर्जितः[1] खेचरेश्वरैः[2] ॥ १२६ ॥
अन्यदा रत्नसेनाख्यो नृपो रत्नपुराधिपः । दत्त्वाऽऽप पञ्चकाश्चर्यं भिक्षां कनकशान्तये ॥ १२७ ॥
[3]चित्रचूलः पुनश्चास्य प्रतिमायोगधारिणः । वने सुरनिपाताख्ये विघातं कर्तुमुद्यतः ॥ १२८ ॥
तस्मिन् कोपं परित्यज्य घातिघाता यतीश्वरः । केवलावगमं प्रापत्कोऽपि कोपो न धीमताम् ॥ १२९ ॥
देवागमनमालोक्य भीत्वा स खगपापकः । तमेव शरणं यातो नीचानां वृत्तिरीदृशी ॥ १३० ॥
अथ वज्रायुधाधीशो [4]नप्तृकैवल्यदर्शनात् । लब्धबोधिः सहस्रायुधाय राज्यं प्रदाय तत् ॥ १३१ ॥
दीक्षां क्षेमंकराख्या[5]त्तीर्थकर्तुरुपान्तगः । प्राप्य सिद्धिगिरौ वर्षप्रतिमायोगमास्थितः ॥ १३२ ॥
तस्य पादौ समालम्ब्य वाल्मीकं बहुवर्धत । वर्द्धयन्ति महात्मानः पादलग्नानपि द्विषः ॥ १३३ ॥
व्रततिं तं व्रतत्योऽपि मार्दवं वा समीप्सवः । गाढं रूढाः समासेदुराकण्ठमभितस्तनुम् ॥ १३४ ॥
अश्वग्रीवसुतौ रत्नकण्ठरत्नायुधाभिधौ । भ्रान्त्वा [6]जन्मन्यतिबलमहाबलसमाख्यया ॥ १३५ ॥
भूत्वाऽसुरौ तमभ्येत्य तद्विघातं चिकीर्षुकौ । रम्भातिलोत्तमे दृष्ट्वा तर्जयित्वाऽतिभक्तितः ॥ १३६ ॥

करा देती है उसी प्रकार वसन्तलक्ष्मीने राजा कनकशान्तिका तपोलक्ष्मीके साथ समागम करा दिया था ॥१२३॥ इसीके साथ इसकी दोनों स्त्रियोंने भी विमलमती आर्यिकाके पास जाकर दीक्षा धारण कर ली सो ठीक ही है क्योंकि कुलीन स्त्रियोंको ऐसा करना उचित ही है ॥१२४॥ किसी समय कनकशान्ति मुनिराज सिद्धाचलपर प्रतिमायोगसे विराजमान थे वहींपर उनकी स्त्री वसन्तसेनाका भाई चित्रचूल नामका विद्याधर आया। पूर्वजन्मके बँधे हुए बैरके कारण उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वह उपसर्ग प्रारम्भ करना ही चाहता था कि विद्याधरोंके अधिपतिने ललकारकर उसे भगा दिया ॥१२४-१२६॥ किसी एक दिन रत्नपुरके राजा रत्नसेनने मुनिराज कनकशान्तिके लिए आहार देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥१२७॥ किसी दूसरे दिन वही मुनिराज सुरनिपात नामके वनमें प्रतिमायोग धारण कर विराजमान थे। वह चित्रचूल नामका विद्याधर फिरसे उपसर्ग करनेके लिए तत्पर हुआ ॥१२८॥ परन्तु उन मुनिराजने उसपर रंचमात्र भी क्रोध नहीं किया बल्कि घातिया कर्मोंका नाश कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमानोंको किसीपर क्रोध करना उचित नहीं है ॥१२९॥ केवलज्ञानका उत्सव मनानेके लिए देवोंका आगमन हुआ। उसे देख वह पापी विद्याधर डरकर उन्हीं केवली भगवान्की शरणमें पहुँचा सो ठीक ही है क्योंकि नीच मनुष्योंकी प्रवृत्ति ऐसी ही होती है ॥१३०॥

अथानन्तर नातीके केवलज्ञानका उत्सव देखनेसे वज्रायुध महाराजको भी आत्मज्ञान हो गया जिससे उन्होंने सहस्रायुधके लिए राज्य दे दिया और क्षेमंकर तीर्थंकरके पास पहुँचकर दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेनेके बाद ही उन्होंने सिद्धिगिरि नामक पर्वतपर एक वर्षके लिए प्रतिमायोग धारण कर लिया ॥१३१-१३२॥ उनके चरणोंका आश्रय पाकर बहुत-से बमीठे तैयार होगये सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुष चरणोंमें लगे शत्रुओंको भी बढ़ाते हैं ॥१३३॥ उनके शरीरके चारों ओर सघन रूपसे जमी हुई लताएँ भी मानो उनके परिणामोंकी कोमलता प्राप्त करनेके लिए ही मुनिराजके पास तक जा पहुँची थीं ॥१३४॥ अश्वग्रीवके रत्नकण्ठ और रत्नायुध नामके जो दो पुत्र थे वे चिरकाल तक संसारमें भ्रमण कर अतिबल और महाबल नामके असुर हुए। वे दोनों ही असुर उन मुनिराजका विघात करनेकी इच्छासे उनके सम्मुख गये परन्तु रम्भा और तिलोत्तमा नामकी देवियोंने देख लिया अतः डाँटकर भगा दिया तथा दिव्य गन्ध आदिके द्वारा बड़ी भक्तिसे उनकी पूजा की। पूजाके बाद वे देवियाँ स्वर्ग चली गयीं। देखो कहाँ दो स्त्रियाँ और

१ तर्जितं ख० । २ खचरेश्वरैः ल० । ३ रत्नचूलः ख० । ४ नप्तृकेवल–ल० । ५–ख्यात–ख० । ६ जन्मानि ल० ।

गन्धादिभिर्यतिं दिव्यैरभ्यर्च्य दिवमीयतुः । क्व वा ते क्वाऽसुरौ पुण्ये सति किं न जयावहम् ॥१३७॥
कञ्चित्कारणमुद्दिश्य वज्रायुधसुतोऽपि तत् । राज्यं शतबलिन्युच्चैर्निधाय निहतस्पृहः ॥१३८॥
संयमं सम्यगादाय तुर्यान्न्यात् पिहितास्रवात् । योगावसाने स प्रापद्वज्रायुधमुनीश्वरम् ॥१३९॥
तावुभौ सुचिरं कृत्वा तपश्चर्यां सह दुस्सहाम् । वैभारपर्वतस्याग्रे विग्रहेऽप्यकृताग्रहौ ॥१४०॥
ऊर्ध्वग्रैवेयकस्याधोऽभूतां सौमनसाह्वये । एकान्नत्रिंशदब्ध्यायुषौ विमाने महर्द्धिकौ ॥१४१॥
ततो वज्रायुधश्च्युत्वा द्वीपेऽस्मिन् प्राग्विदेहगे । विषये पुष्कलावत्यां नगरी पुण्डरीकिणी ॥१४२॥
पतिर्घनरथस्तस्य देवी कान्ता मनोहरा । तयोर्मेघरथाख्योऽभूदाधानाद्यात्तसत्क्रियः ॥१४३॥
तस्यैवान्योऽहमिन्द्रोऽपि सुतो दृढरथाह्वयः । जातो मनोरमायां ताविव चन्द्रदिवाकरौ ॥१४४॥
तयोः पराक्रमप्रज्ञाप्रश्रयप्रभवक्षमाः । सत्यत्यागादयोऽन्ये च प्रादुरासन् गुणाः स्थिराः ॥१४५॥
सुतौ तौ यौवनापूर्णौ प्राप्तैश्वर्याविव द्विपौ । विलोक्य तद्विवाहार्थं महीशो विहितस्मृतिः ॥१४६॥
ज्येष्ठसूनोर्विवाहेन प्रियमित्रा मनोरमे । कनीयसोऽपि सुमतिं विदधे चित्तवल्लभाम् ॥१४७॥
अभवत्प्रियमित्रायां तनूजो नन्दिवर्द्धनः । सुमत्यां वरसेनाख्यः सुतो दृढरथस्य च ॥१४८॥
इति स्वपुत्रपौत्रादिसुखसाधनसंयुतः । सिंहविष्टरमध्यास्य शक्रलीलां समावहन् ॥१४९॥
तदा प्रियमित्रायाः सुषेणा नाम चेटिका । कुक्कुटं समानीय [1]घनतुण्डाभिधानकम् ॥१५०॥
दर्शयित्वाऽऽह यद्येनं जयेयुः कुक्कुटाः परे । परेषां प्रददे तेभ्यो दीनाराणां सहस्रकम् ॥१५१॥
इति देव्याः कनीयस्याः श्रुत्वा तद्दासिकाऽऽनयत् । काञ्चना वज्रतुण्डाख्यं कुक्कुटं योधने पटुम् ॥१५२॥

कहाँ वे असुर फिर भी उन स्त्रियोंने असुरोंको भगा दिया, सो ठीक है क्योंकि पुण्यके रहते हुए कौन-सा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता ? ॥१३५-१३७॥

इधर वज्रायुधके पुत्र सहस्रायुधको भी किसी कारणसे वैराग्य हो गया, उन्होंने अपना राज्य शतबलीके लिए दे दिया, सब प्रकारकी इच्छाएँ छोड़ दीं और पिहितास्रव नामके मुनिराजसे उत्तम संयम प्राप्त कर लिया। जब एक वर्षका योग समाप्त हुआ तब वे अपने पिता-वज्रायुध मुनिराजके समीप जा पहुँचे ॥१३८-१३९॥ पिता पुत्र दोनोंने चिरकाल तक दुःसह तपस्या की, अन्तमें वे वैभार पर्वतके अग्रभागपर पहुँचे। वहाँ उन्होंने शरीरमें भी अपना आग्रह छोड़ दिया अर्थात् शरीरसे स्नेहरहित होकर संन्यासमरण किया और ऊर्ध्वग्रैवेयकके नीचेके सौमनस नामक विमानमें बड़ी ऋद्धिके धारक अहमिन्द्र हुए. वहाँ उनतीस सागरकी उनकी आयु थी ॥१४०-१४१॥

इसी जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें पुष्कलावती नामका देश है। उसकी पुण्डरीकिणी नामकी नगरीमें राजा घनरथ राज्य करते थे। उनकी मनोहरा नामकी सुन्दर रानी थी। वज्रायुधका जीव ग्रैवेयकसे च्युत होकर उन्हीं दोनोंके मेघरथ नामका पुत्र हुआ। उसके जन्मके पहले गर्भाधान आदि क्रियाएँ हुई थीं ॥१४२-१४३॥ उन्हीं राजा घनरथकी दूसरी रानी मनोरमा थी। दूसरा अहमिन्द्र (सहस्रायुधका जीव) उसीके गर्भसे दृढरथ नामका पुत्र हुआ। ये दोनों ही पुत्र चन्द्र और सूर्यके समान जान पड़ते थे ॥१४४॥ उन दोनोंमें पराक्रम, बुद्धि, विनय, प्रभाव, क्षमा, सत्य, त्याग आदि अनेक स्थायी गुण प्रकट हुए थे ॥१४५॥ दोनों ही पुत्र पूर्ण युवा हो गये और ऐश्वर्य प्राप्त गजराजके समान सुशोभित होने लगे। उन्हें देख राजाका ध्यान उनके विवाहकी ओर गया ॥१४६॥ उन्होंने बड़े पुत्रका विवाह प्रियमित्रा और मनोरमाके साथ किया था तथा सुमतिको छोटे पुत्रकी हृदयवल्लभा बनाया था ॥१४७॥ कुमार मेघरथकी प्रियमित्रा स्त्रीसे नन्दिवर्धन नामका पुत्र हुआ और दृढरथकी सुमति नामकी स्त्रीसे वरसेन नामका पुत्र हुआ ॥१४८॥ इस प्रकार पुत्र-पौत्र आदि सुखके समस्त साधनोंसे युक्त राजा घनरथ सिंहासनपर बैठकर इन्द्रकी लीला धारण करता था ॥१४९॥ उसी समय प्रियमित्राकी सुषेणा नामकी दासी घनतुण्ड नामका मुर्गा लाकर दिखलाती हुई बोली कि यदि दूसरोंके मुर्गे इसे जीत लें तो मैं एक हजार दीनार दूँगी। यह सुनकर छोटी स्त्रीकी कांचना

१ वज्रतुण्डाभिधानकं क०, ख०, ग०, घ०।

अन्योन्यदुःखहेतुत्वादेतयोः पश्यतामपि । हिंसानन्दादिकं द्रष्टुमयोग्यं धर्मवेदिनाम् ॥१५३॥
इति स्मरंश्च भव्यानां बहूनामुपशान्तये । स्वकीयपुत्रमाहात्म्यप्रकाशनधिया च तत् ॥१५४॥
युद्धं घनरथाधीशो लोकमानो दृढक्रुधो । स मेघरथमप्राक्षीद् बलमेतत्कुतोऽनयोः ॥१५५॥
इति तेन स पृष्टः सन् विशुद्धावधिलोचनः । तयोस्तादृशयुद्धस्य हेतुमेवमुदाहरत् ॥१५६॥
अस्मिन्नैरावते रत्नपुरे शाकटिकौ क्रुधा । सोदर्यौ भद्रधन्याख्यौ बलीवर्दनिमित्ततः ॥१५७॥
पापिष्ठौ [1]श्रीनदीतीरे हत्वा मृत्वा परस्परम् । काञ्चनाख्यसरित्तीरे श्वेतताम्रादिकर्णकौ ॥१५८॥
स्वपूर्वजन्मपापेन जायेतां वनवारणौ । तत्रापि भवसंबद्धक्रोधाद्युध्वा मृतिं गतौ ॥१५९॥
अयोध्यापुरवास्तव्यो नन्दिमित्रोऽस्ति [2]वल्लवः । महिषीमण्डले तस्य जज्ञाते गवलोत्तमौ ॥१६०॥
दृप्तौ तत्रापि संरम्भसंभूतौ तौ परस्परम् । बभूवतुश्चिरं युद्ध्वा शृंगाग्राकृष्टजीवितौ ॥१६१॥
अस्मिन्नेव पुरे शक्तिवरशब्दादिसेनयोः । मेषावभूतां तौ राजपुत्रयोर्वज्रमस्तकौ ॥१६२॥
युद्ध्वाऽन्योन्यं गतप्राणौ संजातौ कुक्कुटाविमौ । स्वविद्याध्यासितावेतौ गूढौ योधयतः खगौ ॥१६३॥
कारणं किं तयोः कौ च तौ चेच्छृणु महीपते । जम्बूपलक्षिते द्वीपे भरते खचराचले ॥१६४॥
पुरेऽभूदुत्तरश्रेण्यां कनकादिनि भूपतिः । खगो गरुडवेगाख्यो धृतिषेणास्य वल्लभा ॥१६५॥
तिलकान्तदिविश्चन्द्रतिलकश्च सुतौ तयोः । सिद्धकूटे समासीनं चारणद्वन्द्वमाश्रितौ ॥१६६॥
स्तुत्वा स्वजन्मसंबन्धं सप्रश्रयमपृच्छताम् । ज्येष्ठो मुनिस्तयोरेवं तत्प्रपञ्चमभाषत ॥१६७॥

नामकी दासो एक वज्रतुण्ड नामका मुर्गा ले आयी। दोनोंका युद्ध होने लगा, वह युद्ध दोनों मुर्गोंके लिए दुःखका कारण था तथा देखनेवालोंके लिए भी हिंसानन्द आदि रौद्रध्यान करनेवाला था अतः धर्मात्माओंके देखने योग्य नहीं है ॥१५०-१५३॥ ऐसा विचार कर बहुत-से भव्य जीवोंको शान्ति प्राप्त कराने तथा अपने पुत्रका माहात्म्य प्रकाशित करनेकी बुद्धिसे राजा घनरथ उन दोनों क्रोधी मुर्गोंका युद्ध देखते हुए मेघरथसे पूछने लगे कि इनमें यह बल कहाँसे आया ? ॥१५४-१५५॥ इस प्रकार घनरथके पूछनेपर विशुद्ध अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाला मेघरथ, उन दोनों मुर्गोंके वैसे युद्धका कारण कहने लगा ॥१५६॥ उसने इस प्रकार कहना शुरू किया कि इसी जम्बूद्वीपके ऐरावत क्षेत्रमें एक रत्नपुर नामका नगर है उसमें भद्र और धन्य नामके दो सगे भाई थे। दोनों ही गाड़ी चलानेका कार्य करते थे। एक दिन वे दोनों ही पापी श्रीनदीके किनारे बैलके निमित्तसे लड़ पड़े और परस्पर एक-दूसरेको मारकर मर गये। अपने पूर्व जन्मके पापसे मरकर वे दोनों कांचन नदीके किनारे श्वेतकर्ण और ताम्रकर्ण नामके जंगली हाथी हुए। वहाँपर भी वे दोनों पूर्व भवके बँधे हुए क्रोधसे लड़कर मर गये ॥१५७-१५९॥ मरकर अयोध्या नगरमें रहनेवाले नन्दिमित्र नामक गोपालकी भैंसोंके झुण्डमें दो उत्तम भैंसे हुए ॥१६०॥ दोनों ही अहंकारी थे अतः परस्परमें बहुत ही कुपित हुए और चिरकाल तक युद्ध कर सींगोंके अग्रभागकी चोटसे दोनोंके प्राण निकल गये ॥१६१॥ अबकी बार वे दोनों उसी अयोध्या नगरमें शक्तीवरसेन और शब्दवरसेन नामक राजपुत्रोंके मेढा हुए। उनके मस्तक वज्रके समान मजबूत थे। मेढ़े भी परस्परमें लड़े और मरकर ये मुर्गे हुए हैं। अपनी-अपनी विद्याओंसे युक्त हुए दो विद्याधर छिपकर इन्हें लड़ा रहे हैं ॥१६२-१६३॥ उन विद्याधरोंके लड़ानेका कारण क्या है ? और वे कौन हैं ? हे राजन्, यदि यह आप जानना चाहते हैं तो सुनें। इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीपर एक कनकपुर नामका नगर है। उसमें गरुडवेग नामका राजा राज्य करता था। धृतिषेणा उसकी स्त्रीका नाम था। उन दोनोंके दिवितिलक और चन्द्रतिलक नामके दो पुत्र थे। एक दिन ये दोनों ही पुत्र सिद्धकूटपर विराजमान चारणयुगलके पास पहुँचे ॥१६४-१६६॥ और स्तुति कर बड़ी विनयके साथ अपने पूर्वभवके सम्बन्ध पूछने लगे। उनमें जो बड़े मुनि थे वे इस प्रकार विस्तारसे कहने लगे ॥ १६७ ॥

---

१ नदीतीर्थे ख० । गोपालः ।

धातकीखण्डप्राग्भागे पुरैरावते भुवि । तिलकाख्यं पतिस्तस्य बभूवाभयघोषवाक् ॥ १६८ ॥
सुवर्णतिलका तस्य देवी जातौ सुतौ तयोः । विजयोऽन्यो जयन्तश्च संपन्ननयविक्रमौ ॥ १६९ ॥
तत्राद्रिदक्षिणश्रेणीमन्दाराख्यपुरेशिनः । शंखस्य जयदेव्याश्च पृथिवीतिलका सुता ॥ १७० ॥
तस्य स्वभयघोषस्य साऽभवत्प्राणवल्लभा । [1]एकं संवत्सरं तस्यामेवासक्तेऽन्यदा विभौ ॥ १७१ ॥
सुवर्णतिलका सार्द्धं विहर्तुं भवता वनम् । [2]वष्टीति नृपतिं चंचत्कान्त्यादितिलकाऽवदत् ॥ १७२ ॥
तच्चेटिकावचः श्रुत्वा तद्गन्तुमभिधाय तम्[3] । पृथिवीतिलका रम्यं वनमत्रैव दर्शये ॥ १७३ ॥
इति तत्कालजं सर्वं वनवस्तु प्रदर्श्य सा । तेन शक्नुवती रोद्धुं मानभङ्गेन पीडिता ॥ १७४ ॥
सुमतिं गणिनीं प्राप्य प्रव्रज्यामाददे सती । हेतुरासन्नभव्यानां मानश्च हितसिद्धये ॥ १७५ ॥
भक्त्या दमवराख्याय दत्वा दानं महीपतिः । आश्चर्यपंचकं प्राप्य कदाचिदभयाह्वयः ॥ १७६ ॥
अवाप्य सह सूनुभ्यामनन्तगुरुसंनिधिम् । लब्धबोधिः समादत्त दुस्सहं स महाव्रतम् ॥ १७७ ॥
कारणं तीर्थकृन्नाम्नां भावयित्वाऽऽयुषोऽवधौ । सम्यगाराध्य पुत्राभ्यामच्युतं कल्पमाप्तवान् ॥ १७८ ॥
द्वाविंशत्यब्धिमानायुर्भुक्त्वा भोगांश्च तौ ततः । जीवितान्ते भवन्तौ तौ जातौ नृपकुमारकौ ॥ १७९ ॥
इति तत्सम्यगाकर्ण्य भगवन्नावयोः पिता । क्वेति पृष्टो मुनिस्ताभ्यामब्रवीदिति तत्कथाम् ॥ १८० ॥
ततः प्रच्युत्य [4]कल्पान्ताद् हेमाङ्गदमहीपतेः । सुतोऽभून्मेघमालिन्यां देव्यां घनरथाह्वयः ॥ १८१ ॥
इदानीं पुण्डरीकिण्यां युद्धं कुक्कुटयोरसौ । [5]प्रेक्षमाणः स्थितः श्रीमान् देवीसुतसमन्वितः ॥ १८२ ॥

धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व भागमें जो ऐरावत क्षेत्र है उसकी भूमिपर एक तिलक नामका नगर है। उसके स्वामीका नाम अभयघोष था और उनकी स्त्रीका नाम सुवर्णतिलक था। उन दोनोंके विजय और जयन्त नामके दो पुत्र थे। वे दोनों ही पुत्र नीति और पराक्रमसे सम्पन्न थे। इसी क्षेत्रके विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें स्थित मन्दारनगरके राजा शंख और उनकी रानी जयदेवीके पृथिवीतिलका नामकी पुत्री थी ॥ १६८-१७० ॥ वह राजा अभयघोषकी प्राण-वल्लभा हुई थी। राजा अभयघोष उसमें आसक्त होनेसे एक वर्ष तक उसीके यहाँ रहे आये ॥ १७१ ॥ एक दिन चंचत्कान्तितिलका नामकी दासी आकर राजासे कहने लगी कि रानी सुवर्णतिलका आपके साथ वनमें विहार करना चाहती हैं ॥ १७२ ॥ चेटीके वचन सुनकर राजा वहाँ जाना चाहता था परन्तु पृथिवीतिलका राजासे मनोहर वचन बोली और कहने लगी कि वह यहीं दिखलाये देती हूँ ॥ १७३ ॥ ऐसा कहकर उसने उस समयमें होनेवाली वनकी सब वस्तुएँ दिखला दीं और इस कारण वह राजाको रोकनेमें समर्थ हो सकी। रानी सुवर्णतिलका इस मानभंगसे बहुत दुःखी हुई। अन्तमें उस सतीने सुमति नामक आर्यिकाके पास दीक्षा ले ली सो ठीक ही है क्योंकि निकट भव्यजीवोंका मानहित सिद्धिका कारण हो जाता है ॥ १७४-१७५ ॥ अभयघोष राजाने किसी दिन दमवर नामक मुनिराजके लिए भक्ति-पूर्वक दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥ १७६ ॥ वह एक दिन अपने दोनों पुत्रोंके साथ अनन्त नामक गुरुके समीप गया था वहाँ उसे आत्मज्ञान हो गया जिससे उसने कठिन महाव्रत धारण कर लिये ॥ १७७ ॥ तीर्थंकर नामकर्मके बन्धमें कारणभूत सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन किया और आयुके अन्तमें समाधिमरण कर अपने दोनों पुत्रोंके साथ अच्युतस्वर्गमें देव हुआ ॥ १७८ ॥ बाईस सागर-की आयु पाकर वे तीनों वहाँ मनोवाञ्छित भोग भोगते रहे। आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत होकर दोनों ही विजय और जयन्त राजकुमारके जीव तुम दोनों उत्पन्न हुए हो ॥ १७९ ॥ यह सब अच्छी तरह सुनकर वे दोनों ही फिर पूछने लगे—कि हे भगवन्! हमारे पिता कहाँ हैं? ऐसा पूछे जाने-पर वे पिताकी कथा इस प्रकार कहने लगे—॥ १८० ॥ उन्होंने कहा कि तुम्हारे पिताका जीव अच्युतस्वर्गसे च्युत होकर हेमांगद राजाकी मेघमालिनी नामकी रानीके घनरथ नामका पुत्र हुआ है वह श्रीमान् इस समय रानियों तथा पुत्रोंके साथ पुण्डरीकिणी नगरीमें मुर्गोंका युद्ध

---

१ एक म०, ल०। २ वश् कान्तौ, कामयते इच्छतीत्यर्थः। ३ ताम् क०, ख०, ग०, घ०, म०, ल०। ४ कल्पान्ते ल०। ५ प्रेक्ष्यमाणः ख०।

तदाकर्ण्य भवत्तौ श्रुत्वा तावागतावितौ । इति मेघरथात्सर्वमाकर्ण्याभीष्टविद्विषम् ॥ १८३ ॥
प्रकटीकृत्य तौ नृपं कुमारं चाभिपूज्य तम् । गत्वा गोवर्द्धनोपान्ते दीक्षामिद्धिमवापताम् ॥ १८४ ॥
स्वपूर्वभवसंबन्धं विदित्वा कुक्कुटौ च तौ । मुक्त्वा परस्पराबद्धवैरं संन्यस्य साहसात् ॥ १८५ ॥
अभूतां भूतरमणदेवरमणाख्यवनद्वये । ताम्रादिचूलकनकचूलान्तौ भूतजातिजौ ॥ १८६ ॥
तदैवागम्य तौ देवौ प्रीत्या मेघरथाह्वयम् । संपूज्याख्याय संबन्धं स्वजन्मान्तरजं स्फुटम् ॥ १८७ ॥
मानुषोत्तरमूलान्तर्वर्ति विश्वं विलोकय । एष एवावयोस्त्वत्तः प्रत्युपकारो विधीयताम् ॥ १८८ ॥
इत्युदीर्य कुमारं तं तथास्त्वति प्रतिश्रुतम् । नानर्द्धिव्याप्तैः समारोप्य विमानं विविधर्द्धिकम् ॥ १८९ ॥
संप्राप्य गगनाभोगं मेघमालाविभूषितम् । दर्शयामासतुर्यान्तौ कान्तान् देशान्यथाक्रमम् ॥ १९० ॥
भरताख्यो देशस्ततो हैमवतः परः । हरिवर्षो विदेहश्च रम्यकः पञ्चमो मतः ॥ १९१ ॥
हैरण्यवतनामा च परश्चैरावताह्वयः । पश्यैते सप्त भूभागा विभक्ताः सप्तभिर्गिरिभिः ॥ १९२ ॥
हिमवान् महाहिमवान् निषधो मन्दरो महान् । नीलो रुक्मी शिखरीत्येते विख्याताः कुलपर्वताः ॥ १९३ ॥
इमा रम्या महानद्यश्चतुर्दश समुद्रगाः । पद्मादिह्रदसंभूता नानास्रोतस्विनीयुताः ॥ १९४ ॥
गङ्गा सिन्धुश्च रोहिच्च रोहितास्या[3] हरित्परा । हरिकान्ता परा सीता सीतोदा चाष्टमी नदी ॥ १९५ ॥
नारी च नरकान्ता च कूलान्ता[4] स्वर्णसंज्ञिका । ततोऽन्या रूप्यकूलाख्या रक्ता रक्तोदया सह ॥ १९६ ॥
ह्रदाः षोडशसंख्याः स्युः कुशेशयविभूषिताः । पद्मः पद्मो महापद्मस्तिगिञ्छः केसरी महा– ॥ १९७ ॥
पुण्डरीकस्तथा पुण्डरीको निषधनामकः । परो देवकुरुः सूर्यः सुलसो[5] दशमः स्मृतः ॥ १९८ ॥
विद्युत्प्रभाह्वयः ख्यातो नीलवान् कुरूत्तरः । चन्द्रश्चैरावतो माल्यवांश्च विख्यातसंज्ञकः ॥ १९९ ॥
तेष्वाद्येषु षट्सु स्युस्ताः श्रीह्रीधृतिकीर्तयः । बुद्धिर्लक्ष्मीश्च शक्रस्य व्यन्तर्यो वल्लभाङ्गनाः ॥ २०० ॥

देखता हुआ बैठा है ॥१८१-१८२॥ उन मुनिराजसे ये सब बातें सुनकर वे दोनों ही विद्याधर आपके दर्शनके लिए यहाँ आये हैं। इस तरह मेघरथसे सब समाचार सुनकर उन विद्याधरोंने अपना स्वरूप प्रकट किया, राजा घनरथ और कुमार मेघरथकी पूजा की तथा गोवर्धन मुनिराजके समीप जाकर दीक्षा प्राप्त कर ली ॥१८३-१८४॥ उन दोनों मुर्गोंने भी अपना पूर्वभवका सम्बन्ध जानकर परस्परका बँधा हुआ वैर छोड़ दिया और अन्तमें साहसके साथ संन्यास धारण कर लिया और भूतरमण तथा देवरमण नामक वनमें ताम्रचूल और कनकचूल नामके भूतजातीय व्यन्तर हुए ॥१८५-१८६॥ उसी समय वे दोनों देव पुण्डरीकिणी नगरीमें आये और बड़े प्रेमसे मेघरथकी पूजा कर अपने पूर्व जन्मका सम्बन्ध स्पष्ट रूपसे कहने लगे ॥१८७॥ अन्तमें उन्होंने कहा कि आप मानुषोत्तर पर्वतके भीतर विद्यमान समस्त संसारको देख लीजिए, हम लोगोंके द्वारा आपका कमसे कम यही उपकार हो जावे ॥१८८॥ देवोंके ऐसा कहनेपर कुमारने जब 'तथास्तु' कहकर उनकी बात स्वीकृत कर ली तब देवोंने कुमारको उसके आप्तजनोंके साथ अनेक ऋद्धियोंसे युक्त विमानपर बैठाया और मेघमालासे विभूषित आकाशमें ले जाकर यथाक्रमसे चलते-चलते, सुन्दर देश दिखलाये ॥१८९-१९०॥ वे बतलाते जाते थे कि यह पहला भरतक्षेत्र है, यह उसके आगे हैमवत क्षेत्र है, यह हरिवर्ष क्षेत्र है, यह विदेह क्षेत्र है, यह पाँचवाँ रम्यक क्षेत्र है, यह हैरण्यवत क्षेत्र है और यह ऐरावत क्षेत्र है। इस प्रकार ये सात कुलाचलोंसे विभाजित ये सात क्षेत्र हैं ॥१९१-१९२॥ हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, महामेरु, नील, रुक्मी और शिखरी ये सात प्रसिद्ध कुलाचल हैं ॥१९३॥ ये पद्म आदि सरोवरोंसे निकलनेवाली, समुद्रकी ओर जानेवाली, अनेक नदियोंसे युक्त, मनोहर चौदह महानदियाँ हैं ॥१९४॥ गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये उनके नाम हैं ॥१९५-१९६॥ देखो, कमलोंसे सुशोभित ये सोलह ह्रद-सरोवर हैं। पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक, पुण्डरीक, निषध, देवकुरु, सूर्य, दशवाँ सुलस, विद्युत्प्रभ, नीलवान्, उत्तरकुरु, चन्द्र, ऐरावत और माल्यवान् ये उन सोलह ह्रदोंके नाम हैं ॥१९७-१९९॥ इनमें-से आदिके छह ह्रदोंमें क्रमसे श्री,

---

१ विधीयते ल० । २ विमुक्ताः ल० । ३ रोहिताख्या ल० । ४ सुवर्ण- ल० । ५ सुलभो ल० । ६

नागाः शेषेषु तन्नामधेयाः संवसन्ति [illegible] पश्य चा महाभाग प्रेक्ष्या वक्षारपर्वताः ॥ २०१ ॥
चित्रपद्मादिकूटाख्यौ कूटान्तनलिनादिकः । एकशैलत्रिकूटश्च पूर्वो वैश्रवणादिकः ॥ २०२ ॥
अञ्जनात्म अञ्जनः श्रद्धावांश्च वै विजयावती । आशीविषस्तथा नाम्ना सुखावह [illegible] ॥ २०३ ॥
चन्द्रमालस्तथा सूर्यमाली नागादिमालकः । देवमालः परो [illegible] ॥ २०४ ॥
विद्युत्प्रभः सौमनसः [illegible] । विभङ्गनद्यो [illegible] स्वच्छाम्बुनिम्नगाः ॥ २०५ ॥
ह्रदा ह्रदवती परा पङ्कवत्यपि च । तप्तजला [illegible] च महोन्मत्तजला [illegible] ॥ २०६ ॥
क्षीरोदा च [illegible] स्रोतोऽन्तर्वाहिनी [illegible] । गन्धमालिनी फेनमालिन्यूर्मिमालिनी ॥ २०७ ॥
[illegible] च विषयाः कच्छासुकच्छादि [illegible] । महाकच्छा तथा कच्छकावती [illegible] ॥ २०८ ॥
पुष्कला पुष्कलावत्यौ वत्सा [illegible] च [illegible] । सुवत्सा च महावत्सा [illegible] ॥ २०९ ॥
रम्या च रम्यकाख्या रमणीया मंगलावती । पद्मा सुपद्मा महापद्मा [illegible] ॥ २१० ॥
शङ्खा च नलिनाख्या च कुमुदा सरिता परा । वप्रा सुवप्रा च महावप्रा [illegible] ॥ २११ ॥
गन्धा सुगन्धा गन्धावत् सुगन्धा गन्धमालिनी । एताश्च राजधान्यो [illegible] ॥ २१२ ॥
क्षेमा क्षेमपुरी चान्याऽरिष्टाऽरिष्टपुरी परा । खड्गाख्यया च मञ्जूषा औषधी पुण्डरीकिणी ॥ २१३ ॥
सुसीमा कुण्डला साऽपराजिता [illegible] । प्रभंकराङ्कवत्याख्या पद्मावत्यभिधेति [illegible] ॥ २१४ ॥
शुभा शब्दाभिधाना च नगरी रत्नसंचया । अश्वपुरसिंहमहापुर्यौ विजयादिपुरी परा ॥ २१५ ॥
अरजा विरजाशोका वीतशोका [illegible] । विजया वैजयन्त्यन्या जयन्ताऽपराजिता ॥ २१६ ॥
अथ चक्रपुरी खड्गपुर्ययोध्या च वर्णिता । [illegible] ॥ २१७ ॥
[illegible] प्रदक्षिणेन [illegible] । समुद्रादिवनादीनि [illegible] ॥ २१८ ॥

ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये इन्द्रकी वल्लभा व्यन्तर देवियाँ रहती हैं ॥२००॥ बाकीके शेष ह्रदोंमें उसी नामके नागकुमारदेव सदा निवास करते हैं। हे महाभाग! इधर देखो, ये देखने योग्य वक्षार पर्वत हैं ॥२०१॥ चित्रकूट, पद्मकूट, नलिनकूट, एकशैल, त्रिकूट, वैश्रवणकूट, अंजनात्म, अंजन, श्रद्धावान्, विजयावती, आशीविष, सुखावह, चन्द्रमाल, सूर्य-माल, नागमाल और देवमाल ये सोलह इनके नाम हैं। इनके सिवाय गन्धमादन, माल्यवान, विद्युत्प्रभ और सौमनस्य ये चार गजदन्त हैं। ये सब पर्वत उत्पत्ति तथा विनाशसे दूर रहते हैं—अनादिनिधन हैं। इधर स्वच्छ जलसे भरी हुई ये विभंग नदियाँ हैं ॥२०२-२०५॥ ह्रदा, ह्रदवती, पंकवती, तप्तजला, मत्तजला, उन्मत्तजला, क्षीरोदा, शीतोदा, स्रोतोऽन्तर्वाहिनी, गन्धमालिनी, फेनमालिनी और ऊर्मिमालिनी ये बारह इनके नाम हैं ॥२०६-२०७॥ हे कुमार! स्पष्ट देखिए, कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छकावती, आवर्ता, लांगला, पुष्कला, पुष्कलावती, वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सकावती, रम्या, रम्यका, रमणीया, मंगलावती, पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मावती, शंखा, नलिना, कुमुदा, सरिता, वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गन्धा, सुगन्धा, गन्धावत्सुगन्धा और गन्धमालिनी ये बत्तीस विदेहक्षेत्रके देश हैं। तथा क्षेमा, क्षेमपुरी, अरिष्टा, अरिष्टपुरी, खड्गा, मंजूषा, औषधी, पुण्डरीकिणी, सुसीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभंकरा, अंकवती, पद्मावती, शुभा, रत्नसंचया, अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयपुरी, अरजा, विरजा, अशोका, वीतशोका, विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता, चक्रपुरी, खड्गपुरी, अयोध्या और अवध्या ये बत्तीस नगरियाँ उन देशोंकी राजधानियाँ हैं। ये वक्षार पर्वत, विभंग नदी और देश आदि सब सीता नदीके उत्तरकी ओर मेरु पर्वतके समीपसे प्रदक्षिणा रूपसे वर्णन किये हैं। इनके सिवाय उन व्यन्तर देवोंने समुद्र, वन आदि जो-जो दिखलाये थे वे सब राजकुमारने देखे। इच्छानुसार मानुषोत्तर पर्वत देखा और उसके बीचमें रहनेवाले समस्त प्रिय स्थान देखे। अपना तेज प्रकट करनेवाले राजकुमारने बड़ी

१ वैश्रवणादिमः ल०। विकटावती ग०। विजयावती ल०। ३ गम्भीरमालिनी ग०, ल०, म०। ४ पद्मकावत्यभिख्यया ख०। पद्मावत्यभिधोदिताम् म०। ५ नलिनाख्या च ल०। ६ गन्धवती सदा ल०। ७ औषधी ख०। न्यौषधी घ०। औषाधि-म०। ८ [illegible]

तदाकर्ण्य भवद्भ्रान्त्या खगौ तावागताविमौ । इति मेघरथात्सर्वमाकर्ण्याभीय[1] निजाकृतम् ॥ १८३ ॥
एकीकृत्य नौ भूपं कुमारं चाभिपूज्य तम् । गत्वा गोवर्द्धनोपान्ते दीक्षामिहिम[?]प[?]म् ॥ १८४ ॥
स्वपूर्वभवसंबन्धं विदित्वा कुक्कुटौ च तौ । मुक्त्वा परस्पराबद्धवैरं संन्यस्य साहसात् ॥ १८५ ॥
अभूतां भूतदेवादिरमणाख्यवनद्वये । ताम्रादिचूलचूलान्तकनकौ भूतजातिजौ ॥ १८६ ॥
तदैवागत्य तौ देवौ प्रीत्या मेघरथाह्वयम् । संपूज्याख्याय संबन्धं स्वजन्मान्तरजं स्फुटम् ॥ १८७ ॥
मानुषोत्तरमूलान्तर्वर्ति विश्वं विलोकय । एष एव तवावाभ्यामुपकारो विधीयताम् ॥ १८८ ॥
इत्युदीर्य कुमारं तं स्यात्तथेति प्रतिश्रुतम् । सार्धं स्वाप्तैः समारोप्य विमानं वि[?]म् ॥ १८९ ॥
संप्राप्य गगनाभोगं मेघमालाविभूषितम् । दर्शयामास तुर्यान्तौ कान्तान् देशान्य[?]क्रमम् ॥ १९० ॥
भरतः प्रथमो देशस्ततो हैमवतः परः । हरिवर्षो विदेहश्च रम्यकः पंचमो मतः ॥ १९१ ॥
हैरण्यवतसंज्ञश्च परश्चैरावताह्वयः । पश्यैते सप्त भूखण्डं विभक्ताः[2] सप्तभिर्गिरिभिः ॥ १९२ ॥
हिमवान् महाहिमवान् निषधो मन्दरो महान् । नीलो रुक्मी शिखरिण्यो विख्याताः कुलपर्वताः ॥ १९३ ॥
इमा रम्या महानद्यश्चतुर्दशसमुद्रगाः । पद्मादिह्रदसंभूता नानास्रोतस्विनीयुताः ॥ १९४ ॥
गङ्गा सिन्धुश्च रोहिच्च रोहितास्या[3] हरित्परा । हरिकान्ता परा सीता सीतोदा चापरा नदी ॥ १९५ ॥
नारी च नरकान्ता च कूलान्ता [4]स्वर्णसंज्ञिका । ततोऽन्या रूप्यकूलाख्या रक्ता रक्तोदया सह ॥ १९६ ॥
ह्रदाः षोडशसंख्याः स्युः कुशेशयविभूषिताः । पश्य पद्मो महापद्मस्तिगिञ्छः केसरी महा– ॥ १९७ ॥
पुण्डरीकस्तथा पुण्डरीको निषधनामकः । परो देवकुरुः सूर्यः [5]सुलसो दशमः स्मृतः ॥ १९८ ॥
विद्युत्प्रभाह्वयः स्यात्तो नीलवान् कुरुरुत्तरः । चन्द्रश्चैरावतो माल्यवांश्च विख्यातसंज्ञकः ॥ १९९ ॥
ते[?]माद्येषु षट्सु स्युस्ता श्रीह्रीधृतिकीर्तयः । बुद्धिलक्ष्मीश्च शक्रस्य व्यन्तर्यो वल्लभाङ्गनाः ॥ २०० ॥

देखता हुआ बैठा है ॥१८१-१८२॥ उन मुनिराजसे ये सब बातें सुनकर ये दोनों ही विद्याधर आपके भ्रमसे यहाँ आये हैं। इस तरह मेघरथसे सब समाचार सुनकर उन विद्याधरोंने अपना स्वरूप प्रकट किया, राजा घनरथ और कुमार मेघरथकी पूजा की तथा गोवर्धन मुनिराजके समीप जाकर दीक्षा प्राप्त कर ली ॥१८३-१८४॥ उन दोनों मुर्गोंने भी अपना पूर्वभवका सम्बन्ध जानकर परस्परका बँधा हुआ वैर छोड़ दिया और अन्तमें साहसके साथ संन्यास धारण कर लिया। और भूतरमण तथा देवरमण नामक वनमें ताम्रचूल और कनकचूल नामके भूतजातीय व्यन्तर हुए ॥१८५-१८६॥ उसी समय वे दोनों देव पुण्डरीकिणी नगरीमें आये और बड़े प्रेमसे मेघरथकी पूजा कर अपने पूर्व जन्मका सम्बन्ध स्पष्ट रूपसे कहने लगे ॥१८७॥ अन्तमें उन्होंने कहा कि आप मानुषोत्तर पर्वतके भीतर विद्यमान समस्त संसारको देख लीजिए। हम लोगोंके द्वारा आपका कमसे कम यही उपकार हो जावे ॥१८८॥ देवोंके ऐसा कहनेपर कुमारने जब 'तथास्तु' कहकर उनकी बात स्वीकृत कर ली तब देवोंने कुमारको उसके आप्त जनोंके साथ अनेक ऋद्धियोंसे युक्त विमानपर बैठाया और मेघमालासे विभूषित आकाशमें ले जाकर यथाक्रमसे चलते-चलते सुन्दर देश दिखलाये ॥१८९-१९०॥ वे बतलाते जाते थे कि यह पहला भरतक्षेत्र है, यह उसके आगे हैमवत क्षेत्र है, यह हरिवर्ष क्षेत्र है, यह विदेह क्षेत्र है, यह पाँचवाँ रम्यक क्षेत्र है, यह हैरण्यवत क्षेत्र है और यह ऐरावत क्षेत्र है। इस प्रकार हे स्वामिन्! सात कुलाचलोंसे विभाजित ये सात क्षेत्र हैं ॥१९१-१९२॥ हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, महामेरु, नील, रुक्मी और शिखरी ये सात प्रसिद्ध कुलाचल हैं ॥१९३॥ ये पद्म आदि सरोवरोंसे निकलनेवाली, समुद्रकी ओर जानेवाली, अनेक नदियोंसे युक्त, मनोहर चौदह महानदियाँ हैं ॥१९४॥ गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये उनके नाम हैं ॥१९५-१९६॥ देखो, कमलोंसे सुशोभित ये सोलह ह्रद-सरोवर हैं। पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक, पुण्डरीक, निषध, देवकुरु, सूर्य, दशवाँ सुलस, विद्युत्प्रभ, नीलवान्, उत्तरकुरु, चन्द्र, ऐरावत और माल्यवान् ये उन सोलह ह्रदोंके नाम हैं ॥१९७-१९९॥ इनमें-से आदिके छह ह्रदोंमें क्रमसे श्री,

१ विधीयते ल० । २ विभक्ताः ल० । ३ रोहितास्या ल० । ४ सुवर्ण ल० । ५ सुलसो ल० । ४

नागाः शेषेषु तन्नामधेयाः संततवासिनः । पश्यामी च महाभाग प्रेक्ष्या वक्षारपर्वताः ॥ २०१ ॥
चित्रपद्माद्रिकूटाख्यौ कूटान्नलिनः परः । एकशैलस्त्रिकूटश्च कूटो वैश्रवणादिकः[1] ॥ २०२ ॥
अञ्जनात्माञ्जनौ श्रद्धावांश्च विजयावती[2] । आशीविषाभिधानश्च सुखावहसमाह्वयः ॥ २०३ ॥
चन्द्रमालस्तथा सूर्यमालो नागादिमालवाक् । देवमालः परो गन्धमादनो माल्यवानपि ॥ २०४ ॥
विद्युत्प्रभः सौमनसः प्रक्षयोत्पत्तिदूरगाः । विभङ्गनद्योऽप्येताश्च स्वच्छाम्बुपरिपूरिताः ॥ २०५ ॥
ह्रदा ह्रदवतीसंज्ञे परा पङ्कवतीति च । तप्तजलाख्या च सहोन्मत्तजलाह्वया ॥ २०६ ॥
क्षीरोदा च सीतोदा स्रोतोऽन्तर्वाहिनी परा । [3]गन्धादिमालिनी फेनमालिन्यूर्मादिमालिनी ॥ २०७ ॥
अमी च विषयाः कच्छसुकच्छपरिभाषितौ । महाकच्छा तथा कच्छकावत्यावर्तलाङ्गलाः ॥ २०८ ॥
पुष्कला पुष्कलावत्यौ वत्सा नाम्ना च कीर्तिता । सुवत्सा च महावत्सा विख्याता वत्सकावती ॥ २०९ ॥
रम्या च रम्यकाख्या रमणीया मंगलावती । पद्मा सुपद्मा महापद्मा [4]पद्मकावत्यभिख्यया ॥ २१० ॥
शङ्खा च [5]नलिनाख्या च कुमुदा सरिता परा । वप्रा सुवप्रा च महावप्रा वप्रकावती ॥ २११ ॥
गन्धा सुगन्धा [6]गन्धावत् सुगन्धा गन्धमालिनी । एताश्च राजधान्योऽत्र कुमारालोकय स्फुटम् ॥ २१२ ॥
क्षेमा क्षेमपुरी चान्याऽरिष्टाऽरिष्टपुरी परा । खड्गाख्यया च मञ्जूषा [7]औषधी पुण्डरीकिणी ॥ २१३ ॥
सुसीमा कुण्डला साऽपराजितसंज्ञया । प्रभंकराङ्कवत्याख्या पद्मावत्यभिधोदिता ॥ २१४ ॥
[8]शुभा शब्दाभिधाना च नगरी रत्नसंचया । अश्वसिंहमहापुर्यौ विजयादिपुरी परा ॥ २१५ ॥
अरजा विरजाश्चैवमशोका वीतशोकवाक् । विजया वैजयन्ती च जयन्ता अपराजिता ॥ २१६ ॥
अथ चक्रपुरी खड्गपुर्ययोध्या च वर्णिता । अवध्येत्यथ सीतायास्तासामन्येऽप्यसंनिधेः ॥ २१७ ॥
प्रादक्षिण्येन वक्षाराद्याश्च प्रतिपादिताः । समुद्रादिवनादीनि व्यन्तरैर्दर्शितानि भूभुजा ॥ २१८ ॥

ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये इन्द्रकी वल्लभा व्यन्तर देवियाँ रहती हैं ॥२००॥ बाकीके दश ह्रदोंमें उसी नामके नागकुमारदेव सदा निवास करते हैं। हे महाभाग! इधर देखो, ये देखने योग्य वक्षार पर्वत हैं ॥२०१॥ चित्रकूट, पद्मकूट, नलिनकूट, एकशैल, त्रिकूट, वैश्रवणकूट, अंजनात्म, अंजन, श्रद्धावान्, विजयावती, आशीविष, सुखावह, चन्द्रमाल, सूर्यमाल, नागमाल और देवमाल ये सोलह इनके नाम हैं। इनके सिवाय गन्धमादन, माल्यवान, विद्युत्प्रभ और सौमनस्य ये चार गजदन्त हैं। ये सब पर्वत उत्पत्ति तथा विनाशसे दूर रहते हैं—अनादिनिधन हैं। इधर स्वच्छ जलसे भरी हुई ये विभंग नदियाँ हैं ॥२०२-२०५॥ ह्रदा, ह्रदवती, पंकवती, तप्तजला, मत्तजला, उन्मत्तजला, क्षीरोदा, सीतोदा, स्रोतोऽन्तवाहिनी, गन्धमालिनी, फेनमालिनी और ऊर्मिमालिनी ये बारह इनके नाम हैं ॥२०६-२०७॥ हे कुमार! स्पष्ट देखिए, कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छकावती, आवर्ता, लांगला, पुष्कला, पुष्कलावती, वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सकावती, रम्या, रम्यका, रमणीया, मंगलावती, पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मावती, शंखा, नलिना, कुमुदा, सरिता, वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गन्धा, सुगन्धा, गन्धावत्सुगन्धा और गन्धमालिनी ये बत्तीस विदेहक्षेत्रके देश हैं। तथा क्षेमा, क्षेमपुरी, अरिष्टा, अरिष्टपुरी, खड्गा, मंजूषा, औषधी, पुण्डरीकिणी, सुसीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभंकरी, अंकवती, पद्मावती, शुभा, रत्नसंचया, अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयपुरी, अरजा, विरजा, अशोका, वीतशोका, विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता, चक्रपुरी, खड्गपुरी, अयोध्या और अवध्या ये बत्तीस नगरियाँ उन देशोंकी राजधानियाँ हैं। ये वक्षार पर्वत, विभंग नदी और देश आदि सब सीता नदीके उत्तरकी ओर मेरु पर्वतके समीपसे प्रदक्षिणा रूपसे वर्णन किये हैं। इनके सिवाय उन व्यन्तर देवोंने समुद्र, वन आदि जो-जो दिखलाये थे वे सब राजकुमारने देखे। इच्छानुसार मानुषोत्तर पर्वत देखा और उसके बीचमें रहनेवाले समस्त प्रिय स्थान देखे। अपना तेज प्रकट करनेवाले राजकुमारने बड़ी

1 वैश्रवणादिमः ल०। विकटावती ग०। विजयावती ल०। 2 गम्भीरमालिनी ग०, ल०, म०। 4 पद्मकावत्यभिख्यया ख०। पद्मावत्यभिधोदिता म०। 5 नलिनाख्या च ल०। 6 गन्धवती सुगन्धा ल०। 7 चौषधी ख०। त्यौषधी ग०। चौषधिःम०। 8 शुभशब्दाभिधाना च ख०, ग०।

पश्यन्नान्यानि च स्वैरं मानुषोत्तरभूभृतः । मध्यवर्तीनि सर्वाणि प्रीत्याविष्कृततेजसा ॥ २१९ ॥
अकृत्रिमजिनागाराण्यभ्यर्च्य स्तुतिभिश्चिरम् । [1]स्तुत्वाऽर्थाभिर्निवृत्यापि स्वपुरं परमोत्सवम् ॥ २२०॥
दिव्याभरणदानेन परिपूज्य महीपतिम् । सामोक्तिभिश्च तौ व्यन्तरेशौ स्वाधामगमयतुः ॥ २२१ ॥
यः कर्मव्यतिहारेण नोपकारार्णवं तरेत् । स जीवन्नपि निर्जीवो [2]निर्गन्धप्रसवोपमः ॥ २२२ ॥
कुक्कवाकू च चेदेवमुपकारविदौ कथम् । मनुष्यो जरयत्यङ्गे न चेदुपकृतं खलः ॥ २२३ ॥
कदाचित्काललाभेन नृपो घनरथाह्वयः । चोदितः स्वगतं धीमानिति देहाद्यचिन्तयत् ॥ २२४ ॥
धिक्कष्टमिष्टमित्येतत् शरीरं जन्तुरावसेत् । [3]अवस्करगृहाच्चैनं नापैत्यतिजुगुप्सितम् ॥ २२५ ॥
तर्पकाणि सुखान्याहुः कानि तान्यत्र देहिनाम् । मोहः कोऽप्ययमिदुःखेषु सुखास्था पापहेतुषु ॥२२६॥
जन्माद्यन्तर्मुहूर्तं चेज्जीवितं निश्चितं ततः । न क्षणे च कुतो जन्मी जायेत न हिते रतः ॥ २२७ ॥
बन्धवो बन्धनान्येते संपदो विपदोऽङ्गिनाम्[4]। न चेदेवं कुतः सन्तो वनान्तं[5] प्राक्तना गताः ॥२२८॥
वितर्कयन्तमित्येनं प्राप्य लौकान्तिकामराः । विज्ञायावधिविज्ञानादनुवर्तुं तदीप्सितम् ॥ २२९ ॥
देव देवस्य को वक्ता देव एवावगच्छति । साधु हेयमुपादेयं चार्थमित्यादिसंस्तवैः ॥ २३० ॥
स्तुत्वा सतामभिष्टुत्यमभ्यर्च्य प्रसवैर्निजैः । नियोगमनुपाल्य स्वं स्वं धामैतुं नभोऽगमन् ॥ २३१ ॥
ततो मेघ[6]रथो राज्यमभिषेकपुरस्सरम् । नियोज्याभिषवं देवैः स्वयं चाप्याप संयमम् ॥ २३२ ॥

प्रीतिसे अकृत्रिम जिन-मन्दिरोंकी पूजा की, अर्थपूर्ण स्तुतियोंसे स्तुति की और तदनन्तर बड़े उत्सवोंसे युक्त अपने नगरमें वापस आ गये ॥२०८-२२०॥ वहाँ आकर उन व्यन्तर देवोंने दिव्य आभरण-देकर तथा शान्तिपूर्ण शब्द कहकर राजाकी पूजा की और उसके बाद वे निवासस्थानपर चले गये ॥२२१॥ जो मनुष्य बदलेके कार्यसे उपकार रूपी समुद्रको नहीं तिरता है अर्थात् उपकारी मनुष्यका प्रत्युपकार नहीं करता है वह गन्धरहित फूलके समान जीता हुआ भी मरेके समान है ॥२२२॥ जब ये दो मुर्गे इस प्रकार उपकार माननेवाले हैं तब फिर मनुष्य अपने शरीरमें जीर्ण क्यों होता है ? यदि उसने उपकार नहीं किया तो वह दुष्ट ही है ॥२२३॥

किसी एक दिन काललब्धिसे प्रेरित हुए बुद्धिमान् राजा घनरथ अपने मनमें शरीरादिका इस प्रकार विचार करने लगे ॥२२४॥ इस जीवको धिक्कार है । बड़े दुःखकी बात है कि यह जीव शरीरको इष्ट समझकर उसमें निवास करता है परन्तु यह इस शरीरको विष्ठाके घरसे भी अधिक घृणास्पद नहीं जानता ॥२२५॥ जो सन्तोष उत्पन्न करनेवाले हों उन्हें सुख कहते हैं। परन्तु ऐसे सुख संसारमें प्राणियोंको मिलते ही कहाँ हैं ? यह कोई मोहका ही उदय समझना चाहिए कि जिसमें यह प्राणी पापके कारणभूत दुःखोंको सुख समझने लगता है ॥२२६॥ जन्मसे लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त यदि जीवके जीवित रहनेका निश्चय होता तो भी ठीक है परन्तु यह क्षण-भर भी जीवित रहेगा जब इस बातका भी निश्चय नहीं है तब यह जीव आत्महित करनेमें तत्पर क्यों नहीं होता ? ॥२२७॥ ये भाई-बन्धु एक प्रकारके बन्धन हैं और सम्पदाएँ भी प्राणियोंके लिए विपत्तिरूप हैं। यदि ऐसा न होता तो पहलेके सज्जन पुरुष जंगलके मध्य क्यों जाते ? ॥२२८॥ इधर महाराज घनरथ ऐसा चिन्तवन कर रहे थे कि उसी समय अवधिज्ञानसे जानकर लौकान्तिक देव उनके इष्ट पदार्थका समर्थन करनेके लिए आ पहुँचे ॥२२९॥ वे कहने लगे कि हे देव ! आपके लिए हितका उपदेश कौन दे सकता है ? आप स्वयं ही हेय उपादेय पदार्थको जानते हैं। इस प्रकार सज्जनोंके द्वारा स्तुति करने योग्य भगवान् घनरथकी लौकान्तिक देवोंने स्तुति की। स्वर्गीय पुष्पोंसे उनकी पूजा की, अपना नियोग पालन किया और यह सब कर वे अपने-अपने स्थानपर जानेके लिए आकाशमें जा पहुँचे ॥२३०-२३१॥ तदनन्तर भगवान् घनरथने अभिषेक-पूर्वक मेघरथके लिए राज्य दिया, देवोंने उनका अभिषेक किया और इस तरह उन्होंने स्वयं संयम धारण कर लिया

१ स्तुत्वाथ्यभिनिवृत्याविशत्पुरं ल० । २ निर्गन्धकुसुमोपमः ल० । ३ अवास्करगृहाच्चैतन्नानैत्यति- ल० । ४ विपदाङ्गिनाम् ल० । ५ वनान्ते ख०, ग० । ६ मेघरथे ल० ।

मनोवाक्कायसंशुद्धिं विदधद्विजितेन्द्रियः। कषायविषम[1] स्वन्तम[2] मोहं वमन् सुधीः ॥२३३॥
[3] आद्यश्रेण्यां समारुह्य क्रमात्कर्माणि निर्ममः। निर्मूल्य निर्मलं भावमवापाव्रगमस्य सः ॥२३४॥
तदा कैवल्यसंप्राप्ति[4] प्रभावात्कम्पितासनाः। निलिम्पाः सर्वसंपत्त्या पत्युः पूजामकुर्वत ॥२३५॥
स देवरमणोद्याने समं मेघरथोऽन्यदा। स्वदेवीभिर्विहृत्यास्थाच्चन्द्रकान्तशिलातले ॥२३६॥
निविष्टं तं समाक्रम्य गच्छन्कश्चिन्नभश्चरः। गण्डोपल इव व्योम्नि संरुद्धसुविमानकः ॥२३७॥
शिलां रुष्ट्वा[5] नृपारूढामुत्थापयितुमुद्यतः। नृपाङ्गुष्ठाग्रनिर्भुग्नशिलाभारप्रपीडितः ॥२३८॥
तत्सोढुमक्षमो गाढमाक्रन्दात्करुणस्वनम्[6]। तदा तत्खचरी प्राप्य नाथानाथाऽस्मि [7] नाथ्यसे ॥२३९॥
पतिभिक्षां प्रदस्वेति[8] प्राह प्रोत्थापितक्रमः। किमेतदिति भूनाथ संस्पृष्टः प्रियमित्रया ॥२४०॥
विजयार्द्धालकाख्येशो विद्युद्दंष्ट्रखगाधिपः। प्राणेशाऽनिलवेगाऽस्य सुतः सिंहरथस्तयोः ॥२४१॥
अभिवन्द्य जिनार्धाशमायन्नमितवाहनः[9]। ममोपरि विमाने स्वे रुद्धे नायाति केनचित् ॥२४२॥
[10] दिशो विलोक्य मां दृष्ट्वा स्वदर्पात् कोपवेपितः। [11] अस्मान् शिलातलेनामा[12] प्रोत्थापयितुमुद्यमी॥२४३॥
पीडितोऽयं मदङ्गुष्ठेनैषाप्यस्य[13] मनोरमा। इत्यब्रवीत्तदाकर्ण्य किं कोपस्यास्य कारणम् ॥२४४॥

॥२३२॥ उन्होंने मन-वचन-कायको शुद्ध बना लिया था, इन्द्रियोंको जीत लिया था, जिसका फल अच्छा नहीं ऐसे नीच कहे जानेवाले कषायरूपी विषको उगल दिया था, उत्तम बुद्धि प्राप्त की थी, सब ममता छोड़ दी थी, क्षपकश्रेणीपर चढ़कर क्रम-क्रमसे सब कर्मोंको उखाड़-कर दूर कर दिया था और केवलज्ञान प्राप्त करनेके योग्य निर्मल भाव प्राप्त किये थे ॥२३३-२३४॥ उस समय भगवान्‌को केवलज्ञान प्राप्त होनेसे देवोंके आसन कम्पित हो गये। उन्होंने आकर सर्व वैभवके साथ उनकी पूजा की ॥२३५॥

किसी एक समय राजा मेघरथ अपनी रानियोंके साथ विहार कर देवरमण नामक उद्यानमें चन्द्रकान्त मणिके शिलातलपर बैठ गया ॥२३६॥ उसी समय उसके ऊपरसे कोई विद्याधर जा रहा था। उसका विमान आकाशमें ऐसा रुक गया जैसा कि मानो किसी बड़ी चट्टानमें अटक गया हो ॥२३७॥ विमान रुक जानेसे वह बहुत ही कुपित हुआ। राजा मेघरथ जिस शिलापर बैठे थे वह उसे उठानेके लिए उद्यत हुआ, परन्तु राजा मेघरथने अपने पैरके अँगूठासे उस शिलाको दबा दिया जिससे वह शिलाके भारसे बहुत ही पीड़ित हुआ ॥२३८॥ जब वह शिलाका भार सहन करनेमें असमर्थ हो गया तब करुण शब्द करता हुआ चिल्लाने लगा। यह देख, उसकी स्त्री विद्याधरी आयी और कहने लगी कि हे नाथ! मैं अनाथ हुई जाती हूँ, मैं याचना करती हूँ, मुझे पति-भिक्षा दीजिए। ऐसी प्रार्थना की जानेपर मेघरथने अपना पैर ऊपर उठा लिया। यह सब देख प्रियमित्राने राजा मेघरथसे पूछा कि हे नाथ! यह सब क्या है? ॥२३९-२४०॥ यह सुन राजा मेघरथ कहने लगा कि विजयार्धपर्वतपर अलका नगरी-का राजा विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर है। अनिलवेगा उसकी स्त्रीका नाम है। यह उन दोनोंका सिंहरथ नामका पुत्र है। यह जिनेन्द्र भगवान्‌की वन्दना कर अमित नामक विमानमें बैठा हुआ आ रहा था कि इसका विमान किसी कारणसे मेरे ऊपर रुक गया, आगे नहीं जा सका। जब उसने सब दिशाओंकी ओर देखा तो मैं दिख पड़ा। मुझे देख अहंकारके कारण उसका शरीर क्रोधसे काँपने लगा। वह शिलातलके साथ हम सब लोगोंको उठानेके लिए उद्यम करने लगा। मैंने पैरका अँगूठा दबा दिया जिससे यह पीड़ित हो उठा। यह उसकी मनोरमा नामकी स्त्री है। राजा मेघरथने यह कहा। इसे सुनकर प्रियमित्रा रानीने फिर पूछा कि इसके इस क्रोधका

१ न विद्यते सुष्ठु अन्तो यस्य तत् अस्वन्तम्। २ नीचैरिति निगाद्यमानम्। ३ क्षारकश्रेणीम्। ४ प्रभावात् क०, घ०। ५ दृष्ट्वा ल०। ६ करुणस्वरम् ल०। ७ नाथसे घ०। नार्थ्यसे ल०। ८ प्राहाथोत्थापित-ल०। ९ वाहनम् ल०। १० दिशां ल०। ११ अस्मिन् क०, ख०, घ०। १२ शिलातलेन अमा सह इति पदच्छेदः। १३ नैषोऽप्यस्य ल०।

इदमेव किमस्त्यन्यदन्यजन्मापि [1]नेत्यसौ । तयोक्तो नान्यदित्यस्य प्राग्जन्मेत्युपदिष्टवान् ॥२४५॥
द्वीपे द्वितीये पूर्वस्मिन्नैरावतसमाह्वये । देशे शङ्खपुरे राजा [2]राजगुप्तोऽस्य शङ्खिका ॥२४६॥
भार्या तौ शङ्खशैलस्थात्सर्वगुप्तमुनीश्वरात् । आप्तौ जिनगुणख्यातिमुपोषितविधिं समम् ॥२४७॥
भिक्षाचरमथान्येद्युर्धृतिषेणयतीश्वरम् । निरीक्ष्य भिक्षां दत्त्वाऽस्मै वसुधाराद्यवापताम् ॥२४८॥
समाधिगुप्तमासाद्य संन्यस्याभूत्स भूपतिः । ब्रह्मेन्द्रः स्वायुषोत्कृष्टः तस्मात् सिंहरथोऽजनि ॥२४९॥
शङ्खिका च परिभ्रम्य संसारे तपसाऽगमत् । देवलोकं ततश्च्युत्वा खगभूभृदपाक्तटे ॥२५०॥
वस्त्वालयपुरे सेन्द्रकेतोरासीदियं सुता । सती मदनवेगाख्या सुप्रभायां स तच्छ्रुतेः ॥२५१॥
परितुष्य नृपं श्रित्वा पूजयित्वा यथोचितम् । सुवर्णतिलके राज्यं नियोज्य बहुभिः सह ॥२५२॥
दीक्षां घनरथाभ्यर्णे जैनीं सिंहरथोऽग्रहीत् । प्रियमित्राभिधां प्राप्य गणिनीं गुणसंनिधिम् ॥२५३॥
सुधीर्मदनवेगा च कृच्छ्रमुच्चाचरत्तपः । कोपोऽपि क्वापि कोपापलेपनापनुदे मतः २५४॥

अथ स्वपुण्यकर्मोत्थप्राज्यराज्यमहोदयात् । त्रिवर्गफलपर्यन्तपरिपूर्णमनोरथम् ॥२५५॥
शुद्धश्रद्धानसंपन्नं[3] व्रतशीलगुणान्वितम् । सप्रश्रयं श्रुताभिज्ञं प्रगल्भं वल्गुभाषिणम्[4] ॥२५६॥
सप्तपरमस्थानगतं भव्यभास्करम् । नृपं मेघरथं दारदारकादिनिषेवितम् ॥२५७॥
कृत्वा नान्दीश्वरीं पूजां जैनधर्मोपदेशिनम्[5] । सोपवासमवाप्यैकः कपोतः तं सवेपथुः ॥२५८॥

कारण क्या है ॥२४१-२४४॥ यही है कि और कुछ है ? इस जन्म सम्बन्धी या अन्य जन्म सम्बन्धी ? प्रियमित्राके ऐसा पूछनेपर, मेघरथने कहा कि यही कारण है। अन्य नहीं है, इतना कहकर वह उसके पूर्वभव कहने लगा ॥२४५॥

दूसरे धातकीखण्डद्वीपके पूर्वार्धभागमें जो ऐरावत क्षेत्र है, उसके शंखपुर नगरमें राजा राजगुप्त राज्य करता था। उसकी स्त्रीका नाम शंखिका था। एक दिन इन दोनों ही पति-पत्नियोंने शंख शैल नामके पर्वतपर स्थित सर्वगुप्त नामक मुनिराजसे जिनगुणख्याति नामक उपवास साथ-साथ ग्रहण किया। किसी दूसरे दिन धृतिषेण नामके मुनिराज भिक्षाके लिए घूम रहे थे। उन्हें देख दोनों दम्पतियोंने उनके लिए भिक्षा देकर रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥२४६-२४८॥ तदनन्तर राजा राजगुप्त मुनिराजके पास संन्यास धारण किया जिससे उत्कृष्ट आयुका धारक ब्रह्मेन्द्र हुआ। वहाँसे चयकर सिंहरथ हुआ है। शंखिका भी संसारमें भ्रमण कर तपके द्वारा स्वर्ग गयी। वहाँसे च्युत होकर विजयार्धपर्वतके दक्षिण तटपर वस्त्वालय नामके नगरमें राजा सेन्द्रकेतु और उसकी सुप्रभा नामकी स्त्रीसे मदनवेगा नामकी पुत्री उत्पन्न हुई है ॥२४९-२५१॥ यह सुनकर राजा सिंहरथ बहुत ही सन्तुष्ट हुआ। उसने पास जाकर यथायोग्य रीतिसे राजा मेघरथकी पूजा की, सुवर्णतिलक नामक पुत्रके लिए राज्य दिया और बहुत-से राजाओंके साथ घनरथ तीर्थंकरके समीप जैनी दीक्षा ग्रहण कर ली। इधर बुद्धिमती मदनवेगा भी गुणोंकी भाण्डार स्वरूप प्रियमित्रा नामकी आर्यिकाके पास जाकर कठिन तपश्चरण करने लगी। सो ठीक ही है क्योंकि कहींपर क्रोध भी क्रोधका उपलेप दूर करनेवाला माना गया है ॥ २५२-२५४ ॥

अथानन्तर—अपने पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुए श्रेष्ठ राज्यके महोदयसे त्रिवर्गके फलकी प्राप्ति पर्यन्त जिसके समस्त मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं, जो शुद्ध सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न है, व्रतशील आदि गुणोंसे युक्त है, विनय सहित हैं, शास्त्रको जाननेवाला है, गम्भीर है, सत्य बोलनेवाला है, सात परम स्थानोंको प्राप्त है, भव्य जीवोंमें देदीप्यमान है तथा स्त्री पुत्र आदि जिसकी सेवा करते हैं ऐसा राजा मेघरथ किसी दिन आष्टाह्निक पूजा कर जैनधर्मका उपदेश दे रहा था और स्वयं उपवासका नियम लेकर बैठा था कि इतनेमें काँपता हुआ एक कबूतर आया और उसके पीछे ही बड़े वेगसे चलनेवाला एक गीध आया। वह राजाके सामने खड़ा होकर बोला कि हे देव ! मैं बहुत भारी भूखकी वेदनासे पीड़ित हो रहा हूँ इसलिए आप, आपकी शरणमें आया हुआ यह मेरा भक्ष्य

---

१ नैत्यसौ ल० । २ रतिगुप्तोऽस्य ग० । ३ संपन्नव्रतशील ग० । ४ वल्गुभाषितम् ख० । ५ देशिनीम् ल० ।

तस्यानुपदमेवान्यो गृध्रो बद्धजवः पुरः । स्थित्वा नृपस्य [1]देवाहं महाक्षुद्वेदनातुरः ॥ २५९॥
ततः कपोतमेतं मे भक्ष्यं त्वच्छरणागतम् । ददस्व दानशूर त्वं न चेद्विद्ध्यत्र मां मृतम् ॥ २६० ॥
इत्यवादी तदाकर्ण्य युवा दृढरथोऽब्रवीत् । पूज्य ब्रूहि वदत्येष गृध्रः केनास्मि विस्मितः ॥ २६१ ॥
इति स्वानुजसंप्रश्नादित्यवोचन्महीपतिः । [2]इह जम्बूद्रुमद्वीपे क्षेत्रे मेरोरुदग्गते ॥ २६२ ॥
नगरे पद्मिनीखेटे वणिक् सागरसेनवाक् । तस्यामितमतिः प्रीता तयोर्लघुतरौ सुतौ ॥ २६३ ॥
धनमित्रोऽभवन्नन्दिषेणः स्वधनहेतुना । हत्वा परस्परं मृत्वा खगावेतौ बभूवतुः ॥ २६४ ॥
देवः संनिहितः कश्चित् गृध्रस्योपरि कः स चेत् । त्वया हेमरथो नाम्ना दमितारिरणे हतः ॥ २६५ ॥
परिभ्रम्य भवे भूयः कैलासाद्रितटेऽभवत् । [3]पर्णकान्तानदीतीरे श्रीमांश्चन्द्राभिधानकः ॥ २६६ ॥
श्रीदत्तायां कुशास्त्रज्ञस्तनूजः सोमतापसात् । [4]तपः पञ्चाग्नि संतप्य [5]ज्योतिर्लोकेऽमरोऽजनि ॥ २६७ ॥
स कदाचिद्दिवं गत्वा द्वितीयेन्द्रसभासदैः । दाता मेघरथान्नान्यः क्षितावस्तीति संस्तुतम् ॥ २६८ ॥
श्रुत्वा प्रोद्यदमर्षेण मां परीक्षितुमागतः । शृणु चेतः समाधाय भ्रातर्दानादिलक्षणम् ॥ २६९ ॥
अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं विदोऽवदन् । अनुग्रहोऽपि स्वान्योपकारित्वमभिधीयते ॥ २७० ॥
दाता च शक्तिविज्ञानश्रद्धादिगुणलक्षितः । देयं वस्त्वप्यपीडाभाक् तद्द्वयोर्गुणवर्द्धनम् ॥ २७१ ॥
साधनं क्रमशो मुक्तेराहारो भेषजं श्रुतम् । सर्वप्राणिदया शुद्धं देयं सर्वज्ञभाषितम् ॥ २७२ ॥
मोक्षमार्गे स्थितः पाता स्वस्यान्येषां च संसृतेः । पात्रं दानस्य सोऽभीष्टो निष्ठितार्थैर्जिनैः ॥२७३॥
कृतार्थः [6]सन् जगत्त्रातुं निरवद्यं वचोऽवदत् । भव्येभ्यः स हि दाता तद्देयं तत्पात्रमुत्तमम् ॥ २७४ ॥

कबूतर मुझे दे दीजिए । हे दानवीर ! यदि आप यह कबूतर मुझे नहीं देते हैं तो बस, मुझे मरा ही समझिए ॥२५९-२६०॥ गीधके यह वचन सुनकर युवराज दृढरथ कहने लगा कि हे पूज्य ! कहिए तो, यह गीध इस प्रकार क्यों बोल रहा है, इसकी बोली सुनकर तो मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है । अपने छोटे भाईका यह प्रश्न सुनकर राजा मेघरथ इस प्रकार कहने लगा कि इस जम्बूद्वीपमें मेरुपर्वतके उत्तरकी ओर स्थित ऐरावत क्षेत्रके पद्मिनीखेट नामक नगरमें सागरसेन नामका वैश्य रहता था । उसकी स्त्रीका नाम अमितमति था । उन दोनोंके सबसे छोटे पुत्र धनमित्र और नन्दिषेण थे । अपने धनके निमित्तसे दोनों लड़ पड़े और एक-दूसरेको मारकर ये कबूतर तथा गीध नामक पक्षी हुए हैं ॥२६१-२६४॥ गीधके ऊपर कोई एक देव स्थित है । वह कौन है ? यदि यह जानना चाहते हो तो मैं कहता हूँ । दमितारिके युद्धमें तुम्हारे द्वारा जो हेमरथ मारा गया था वह संसारमें भ्रमण कर कैलाश पर्वतके तटपर पर्णकान्ता नदीके किनारे सोम नामक तापस हुआ । उसकी श्रीदत्ता नामक स्त्रीके मिथ्याशास्त्रोंको जाननेवाला चन्द्र नामका पुत्र हुआ । वह पंचाग्नि तप तपकर ज्योतिर्लोकमें देव उत्पन्न हुआ ॥२६५-२६७॥ वह किसी समय स्वर्ग गया हुआ था वहाँ ऐशानेन्द्रके सभासदोंने स्तुति की कि इस समय पृथिवीपर मेघरथसे बढ़कर दूसरा दाता नहीं है । मेरी इस स्तुतिको सुनकर इसे बड़ा क्रोध आया । यह उसी क्रोधवश मेरी परीक्षा करनेके लिए यहाँ आया है । हे भाई ! चित्तको स्थिर कर दान आदिका लक्षण सुनो ॥२६८-२६९॥ अनुग्रह करनेके लिए जो कुछ अपना धन या अन्य कोई वस्तु दी जाती है उसे ज्ञानी पुरुषोंने दान कहा है और अनुग्रह शब्दका अर्थ भी अपना और दूसरेका उपकार करना बतलाया जाता है ॥२७०॥ जो शक्ति विज्ञान श्रद्धा आदि गुणोंसे युक्त होता है वह दाता कहलाता है और जो वस्तु देनेवाले तथा लेनेवाले दोनोंके गुणों-को बढ़ानेवाली है तथा पीड़ा उत्पन्न करनेवाली न हो उसे देय कहते हैं ॥२७१॥ सर्वज्ञदेवने यह देय चार प्रकारका बतलाया है—आहार, औषधि, शास्त्र तथा समस्त प्राणियोंपर दया करना । ये चारों ही शुद्ध देय हैं तथा क्रम-क्रमसे मोक्षके साधन हैं ॥२७२॥ जो मोक्षमार्गमें स्थित है और अपने-आपको तथा दूसरोंको संसार भ्रमणसे रक्षा करता है वह पात्र है ऐसा कर्ममल रहित कृतकृत्य जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥२७३॥ अथवा जो कृतकृत्य होकर जगत्की रक्षा करनेके लिए भव्य जीवोंको

---

१ देवाहं ल० । २ अत्र जम्बूमति द्वीपे ल० । ३ पर्णकान्तनदी ल०, ग०, म० । ४ ततः ख । ५ ज्योतिर्लोकेऽमरो म०, ल० । ६ स ल० ।

न तु मांसादिकं देयं दात्रं नास्य प्रतीच्छकः । तद्दातापि न दातेमौ ज्ञेयौ नरकनायकौ ॥ २७५ ॥
ततो गृध्रो न तत्पात्रं नायं [1]देयः कपोतकः । तथा मेघरथीं वाणीमाकर्ण्य ज्योतिषामरः[2] ॥ २७६ ॥
असि दानविभागज्ञो दानशूरश्च पार्थिव । इति स्तुत्वा प्रदर्श्य स्वं सं[3]प्रपूज्य जगाम सः ॥ २७७ ॥
द्विजद्वयमपि ज्ञात्वा तदुक्तं त्यक्तदेहकम् । अरण्ये देवरमणेऽस्थातां सुरूपातिरूपकौ ॥ २७८ ॥
देवौ मेघरथं पश्चात्त्वत्प्रसादात्कुयोनितः । निरगाव नृपेत्युक्त्वा पूज्यं संपूज्य जग्मतुः ॥ २७९ ॥
कदाचित्स नृपो दानं दत्त्वा दमवरेशिने[4] । चारणाय परिप्राप्तपञ्चाश्चर्यविधिः सुधीः ॥ २८० ॥
नन्दीश्वरे[5] महापूजां विधायोपोषितं श्रितः निशायां प्रतिमायोगे ध्यायन्नस्थाद्दिवाद्रिराट् ॥ २८१ ॥
ईशानेन्द्रो [6]विदित्वैतन्महत्सदसि शुद्धदृक् । धैर्यसारस्त्वमेवाद्य चित्रमित्यब्रवीन्मुदा ॥२८२॥
स्वगतं तं स्तवं श्रुत्वा देवैः कस्य स्तुतिः सतः । त्वयाऽकारीत्यसौ पृष्टः प्रत्याहेति सुरान् प्रति ॥२८३॥
धीरो मेघरथो नाम शुद्धदृक् पार्थिवाग्रणीः । प्रतिमायोगधार्यद्य तस्य मयाद्य स्तुतिः कृता ॥२८४ ॥
तदुदीरितमाकर्ण्य तत्परीक्षातिदक्षिणे । अतिरूपासुरूपाख्ये देव्यावागत्य भूपतिम् ॥ २८५ ॥
विलासैर्विभ्रमैर्हावैर्भावैर्गीतैः प्रजल्पितैः । अन्यैश्च मदनोन्मादहेतुभिस्तन्मनोबलम् ॥ २८६ ॥
विद्युल्लतेव देवाद्रिं ते चालयितुमक्षमे । सत्यमीशानसंप्रोक्तमिति स्तुत्वा [7]स्वरीयतुः ॥ २८७ ॥

निर्दोष वचन कहते हैं वही उत्तम दाता हैं, वही उत्तम देय हैं और वही उत्तम पात्र हैं ॥२७४॥ मांस आदि पदार्थ देय नहीं है, इनकी इच्छा करनेवाला पात्र नहीं है, और इनका देनेवाला दाता नहीं है। ये दोनों तो नरकके अधिकारी हैं ॥२७५॥ कहनेका सारांश यह है कि यह गीध दानका पात्र नहीं है और यह कबूतर देने योग्य नहीं है। इस प्रकार मेघरथकी वाणी सुनकर वह ज्योतिषी देव अपना असली रूप प्रकट कर उसकी स्तुति करने लगा और कहने लगा कि हे राजन्! तुम अवश्य ही दानके विभागको जाननेवाले हो तथा दानके शूर हो। इस तरह पूजा कर चला गया ॥२७६-२७७॥ उन गीध और कबूतर दोनों पक्षियोंने भी मेघरथकी कही सब बातें समझीं और अन्तमें शरीर छोड़कर वे दोनों देवरमण नामक वनमें सुरूप तथा अतिरूप नामके दो व्यन्तर देव हुए ॥२७८॥ तदनन्तर राजा मेघरथके पास आकर वे देव इस प्रकार स्तुति करने लगे कि हे राजन्! आपके प्रसादसे ही हम दोनों कुयोनिसे निकल सके हैं। ऐसा कहकर तथा पूज्य मेघरथकी पूजा कर वे दोनों देव यथास्थान चले गये ॥२७९॥

किसी समय उस बुद्धिमान् राजाने चारण ऋद्धिधारी दमवर स्वामीके लिए दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥२८०॥ किसी दूसरे दिन राजा मेघरथ नन्दीश्वर पर्वमें महापूजा कर और उपवास धारण कर रात्रिके समय प्रतिमायोग-द्वारा ध्यान करता हुआ सुमेरु पर्वतके समान विराजमान था ॥२८१॥ उसी समय देवोंकी सभामें ईशानेन्द्रने यह सब जानकर बड़े हर्षसे कहा कि अहा! आश्चर्य है आज संसारमें तू ही शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और तू ही धीर-वीर है ॥२८२॥ इस तरह अपने-आप की हुई स्तुतिको सुनकर देवोंने ईशानेन्द्रसे पूछा कि आपने किस सज्जनकी स्तुति की है? उत्तरमें इन्द्र देवोंसे इस प्रकार कहने लगा कि राजाओंमें अग्रणी मेघरथ अत्यन्त धीर-वीर है, शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, आज वह प्रतिमायोग धारण कर बैठा है। मैंने उसीकी भक्तिसे स्तुति की है ॥२८३-२८४॥ ईशानेन्द्रकी उक्त बातको सुनकर उसकी परीक्षा करनेमें अत्यन्त चतुर अतिरूपा और सुरूपा नामकी दो देवियाँ राजा मेघरथके पास आयीं और विलास, विभ्रम, हाव-भाव, गीत, बात-चीत तथा कामके उन्मादको बढ़ानेवाले अन्य कारणोंसे उसके मनोबलको विचलित करनेका प्रयत्न करने लगीं परन्तु जिस प्रकार बिजलीरूपी लता सुमेरु पर्वतको विचलित नहीं कर सकती उसी प्रकार वे देवियाँ राजा मेघरथके मनोबलको विचलित नहीं कर सकीं। अन्तमें वे 'ईशानेन्द्रके द्वारा कहा हुआ सच है' इस प्रकार स्तुति कर स्वर्ग चली गयीं ॥२८५-२८७॥

---

१ देयं कपोतकम् घ० । देयं कपोतकः ल० । २ ज्योतिषोऽमरः म०, ल० । ३ संपूज्य क०, ख०, घ० । ४ दमवरेशिनः ख० । ५ नन्दीश्वर ख०, ल० । ६ विदित्वैनं ग० । ७ स्वः स्वर्गं ईयतुः जग्मतुः ।

[1]अन्यदैशानकल्पेशो मदनमध्ये यदृच्छया। समस्तौत्प्रियमित्राया रूपमाकर्ण्य तत्स्तवम् ॥२८८॥
रतिषेणा रतिश्चैत्य देव्यौ तत्र परीक्षितुम्। ऐतां मज्जनवेलायां गन्धतैलाक्तदेहिकाम् ॥२८९॥
निरूप्येन्द्रवचः सम्यक् श्रद्धायाप्यभिभाषितुम्। तया सहैत्य कन्याकृती धृत्वा तां समूचतुः ॥२९०॥
स्वामिभ्यकन्यके[2] द्रष्टुमेतामिति सखीमुखात्। ताभ्यामुक्तं समाकर्ण्य प्रमदादस्तु तिष्ठताम् ॥२९१॥
तावदित्यात्मसंस्कारं कृत्वाऽऽहूयाभ्यदर्शयत्। तां निरीक्ष्याहतुस्ते च प्रागस्त्कान्तिर्न चाधुना ॥२९२॥
इति सा तद्वचः श्रुत्वा प्रियमित्रा महीपतेः। वक्त्रं व्यलोकयत् प्राह सोऽपि कान्ते तथेति ताम् ॥२९३॥
देव्यौ [3]स्वं रूपमादाय निजागमनवृत्तकम्। निवेद्य रूपमस्याश्च धिग्विलक्षणभङ्गुरम् ॥२९४॥
अत्र नाभङ्गुरं किंचिदिति निर्विद्य चेतसा। तां संपूज्येयतुः स्वर्गं स्वदीप्तिव्याप्तदिक्तटे ॥२९५॥
[4]देवी तद्धेतुना [5]खिन्नां नित्यानित्यात्मकं जगत्। सर्वमन्तः शुचं मा गा इत्याश्वास्य महीपतिः ॥२९६॥
राज्यभोगैः स्वकान्ताभिर्नितान्तं निर्वृतिं व्रजन्। गत्वा मनोहरोद्यानमन्येद्युः स्वगुरुं जिनम् ॥२९७॥
सिंहासने समासीनं सुरासुरपरिष्कृतम्। समस्तपरिवारेण त्रिःपरीत्याभिवन्द्य च ॥२९८॥
सर्वभव्यहितं वाञ्छन् पप्रच्छोपासकक्रियाम्[6]। [7]प्रायः कल्पद्रुमस्येव परार्थं चेष्टितं सताम् ॥२९९॥
प्रागुक्तैकादशोपासकस्थानानि विभागतः। उपासकक्रियाख्योपासकाध्ययनाह्वयम् ॥३००॥
[8]अङ्गं सप्तममाख्येयं श्रावकाणां हितैषिणाम्। इति व्यावर्णयामास तीर्थकृत्प्रार्थितार्थकृत् ॥३०१॥
गर्भान्वयक्रियाः पूर्वं ततो दीक्षान्वयक्रियाः। कर्त्रन्वयक्रियाश्चान्यास्तत्संख्याश्चानु[9] तत्त्वतः ॥३०२॥

किसी दूसरे दिन ऐशानेन्द्रने देवोंकी सभामें अपनी इच्छासे राजा मेघरथकी रानी प्रियमित्राके रूपकी प्रशंसा की। उसे सुनकर रतिषेणा और रति नामकी दो देवियाँ उसका रूप देखनेके लिए आयीं। वह स्नानका समय था अतः प्रियमित्राके शरीरमें सुगन्धित तेलका मर्दन हो रहा था। उस समय प्रियमित्राको देखकर देवियोंने इन्द्रके वचन सत्य समझे। अनन्तर उसके साथ बातचीत करनेकी इच्छासे उन देवियोंने कन्याका रूप धारण कर सखीके द्वारा कहला भेजा कि दो धनिक कन्याएँ—सेठकी पुत्रियाँ आपके दर्शन करना चाहती हैं। उनका कहा सुनकर प्रियमित्राने हर्षसे कहा कि 'बहुत अच्छा, ठहरें' इस प्रकार उन्हें ठहराकर रानी प्रियमित्राने अपनी सजावट की। फिर उन कन्याओंको बुलाकर अपने-आपको दिखलाया—उनसे भेंट की। रानीको देखकर दोनों देवियाँ कहने लगीं कि 'जैसी कान्ति पहले थी अब वैसी नहीं है'। कन्याओंके वचन सुनकर प्रियमित्रा राजाका मुख देखने लगी। उत्तरमें राजाने भी कहा कि हे प्रिये ! बात ऐसी ही है ॥२८८-२९३॥ तदनन्तर देवियोंने अपना असली रूप धारण कर अपने आनेका समाचार कहा और इसके विलक्षण किन्तु नश्वर रूपको धिक्कार हो। इस संसारमें कोई भी वस्तु अभंगुर नहीं है। इस प्रकार हृदयसे विरक्त हो रानी प्रियमित्राकी पूजा कर वे देवियाँ अपनी दीप्तिसे दिशाओंके तटको व्याप्त करती हुई स्वर्गको चली गयीं ॥२९४-२९५॥ इस कारणसे रानी प्रियमित्रा खिन्न हुई परन्तु 'यह समस्त संसार ही नित्यानित्यात्मक है अतः हृदयमें कुछ भी शोक मत करो' इस प्रकार राजाने उसे समझा दिया ॥२९६॥ इस तरह अपनी स्त्रियोंके साथ राज्यका उपभोग करते हुए राजा मेघरथ बहुत ही आनन्दको प्राप्त हो रहे थे। किसी दूसरे दिन वे मनोहर नामक उद्यानमें गये। वहाँ उन्होंने सिंहासनपर विराजमान तथा देव और धरणेन्द्रोंसे परिवृत अपने पिता घनरथ तीर्थंकरके दर्शन किये। समस्त परिवारके साथ उन्होंने तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, वन्दना की और समस्त भव्य जीवोंके हितकी इच्छा करते हुए श्रावकोंकी क्रिया पूछी सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंकी चेष्टा कल्पवृक्षके समान प्रायः परोपकारके लिए ही होती है ॥२९७-२९९॥ हे देव ! जिन श्रावकोंके ग्यारह स्थान पहले विभाग कर बतलाये हैं उन्हीं श्रावकोंकी क्रियाओंका निरूपण करनेवाला उपासकाध्ययन नामका सातवाँ अंग, हितकी इच्छा करनेवाले श्रावकोंके लिए कहिए। इस प्रकार राजा मेघरथके पूछनेपर मनोरथको पूर्ण करनेवाले घनरथ तीर्थंकर निम्न प्रकारका वर्णन करने लगे ॥३००-३०१॥ उन्होंने कहा

---

१ अन्यदैशान–ख०, ग०, म०। २ धनाढ्यकन्यके। ३ स्वरूप-ल०। ४ देवी ल० ५ खिन्ना ल०। ६ क्रिया. म०, ल०। ७ प्राप्य ल०। ८ अंगसप्तम ल०। ९ तत्संख्यास्य तु ल०।

गर्भाधानादिनिर्वाणपर्यन्ताः प्रथमक्रियाः । प्रोक्ताः [1]प्राक्त्रिंशदाग्रास्सम्यग्दर्शनशुद्धिषु ॥२०३॥
दीक्षान्वयक्रियाश्चाष्टचत्वारिंशत् प्रकीर्तिताः । अवतारादिक[2] निर्वृत्यन्ता निर्वाणसाधिकाः ॥२०४॥
सद्गृ[3]हित्वादिसिद्ध्यन्ताः सप्त कर्त्रन्वयक्रियाः । सम्यक्स्वरूपमेतासां विधानं फलमप्यदः ॥२०५॥
तदुपासकमध्ययनं [4]श्रुत्वा घनरथोदितम् । नत्वा मेघरथो भक्त्या मुक्त्यै शान्तान्तरङ्गकः ॥२०६॥
शरीरभोगसंसारदौःस्थित्यं चिन्तयन्मुहुः । संयमाभिमुखो राज्ये तिष्ठेत्य[7]नुजमादिशत् ॥२०७॥
त्वया राज्यस्य यो दोषो दृष्टोऽदर्शि मयाप्यसौ । त्याज्यं तच्चेद् गृहीत्वाऽपि प्रागेवाग्रहणं वरम् ॥२०८॥
प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं [5]वरम् । इति तस्मिन्स्तदादानविमुखत्वमुपागते ॥२०९॥
सुताय मेघसेनाय दत्त्वा राज्यं यथाविधि । सहस्रैः सप्तभिः सार्द्धं सानुजो जगतीपतिः ॥२१०॥
नृपैर्दीक्षां समादाय क्रमादेकादशांगवित् । प्रत्ययाँस्तीर्थकृन्नाम्नः षोडशैतान्[6] भावयत् ॥२११॥
जिनोपदिष्टनिर्ग्रन्थमोक्षमार्गे रुचिर्मता । निःशंकतादिकाष्टांगा विशुद्धिर्दर्शनस्य सा ॥२१२॥
मार्गेऽस्मिन्वर्तमानस्य यदुक्तं तद्भवेन्न वा । इति शंकापरित्यागं[7] शंकारहिततां विदुः ॥२१३॥
द्विलोकभोगमिथ्यादृक्कांक्षाख्या त्यक्तिरागमे । द्वितीयमंगमाख्यातं वि[8]शुद्धिर्दर्शनाश्रिता ॥२१४॥
देहाद्यशुचिसद्भावमवगम्य शुचीति यः । संकल्पस्तस्य संत्यागः सा स्यान्निर्विचिकित्सता ॥२१५॥

कि 'श्रावकोंकी क्रियाएँ गर्भान्वय, दीक्षान्वय और क्रियान्वयकी अपेक्षा तीन प्रकारकी हैं इनकी संख्या इस प्रकार है ॥२०२॥ पहली गर्भान्वय क्रियाएँ गर्भाधानको आदि लेकर निर्वाण पर्यन्त होती हैं इनकी संख्या त्रेपन है, ये सम्यग्दर्शनकी शुद्धताको धारण करनेवाले जीवोंके होती हैं तथा इनका वर्णन पहले किया जा चुका है ॥२०३॥ अवतारसे लेकर निर्वाण पर्यन्त होनेवाली दीक्षान्वय क्रियाएँ अड़तालीस कही गयी हैं। ये मोक्ष प्राप्त करानेवाली हैं ॥२०४॥ और सद्-गृहित्वको आदि लेकर सिद्धि पर्यन्त सात कर्त्रन्वय क्रियाएँ हैं। इन सबका ठीक-ठीक स्वरूप यह है, करनेकी विधि यह है तथा फल यह है। इस प्रकार घनरथ तीर्थंकरने विस्तारसे इन सब क्रियाओंका वर्णन किया। इस तरह राजा मेघरथने घनरथ तीर्थंकरके द्वारा कहा हुआ श्रावक धर्मका वर्णन सुनकर उन्हें भक्ति-पूर्वक नमस्कार किया और मोक्ष प्राप्त करनेके लिए अपने हृदय-को अत्यन्त शान्त बना लिया ॥२०५-२०६॥ शरीर, भोग और संसारकी दुर्दशाका बार-बार विचार करते हुए वे संयम धारण करनेके सम्मुख हुए। उन्होंने छोटे भाई दृढ़रथसे कहा कि तुम राज्यपर बैठो। परन्तु दृढ़रथने उत्तर दिया कि आपने राज्यमें जो दोष देखा है वही दोष मैं भी तो देख रहा हूँ। जब कि यह राज्य ग्रहण कर बादमें छोड़नेके ही योग्य है तब उसका पहले-से ही ग्रहण नहीं करना अच्छा है। लोकमें कहावत है कि कीचड़को धोनेकी अपेक्षा उसका दूरसे ही स्पर्श नहीं करना अच्छा है। ऐसा कहकर जब दृढ़रथ राज्य ग्रहण करनेसे विमुख हो गया तब उन्होंने मेघसेन नामक अपने पुत्रके लिए विधिपूर्वक राज्य दे दिया और छोटे भाई तथा सात हजार अन्य राजाओंके साथ दीक्षा धारण कर ली। वे क्रम-क्रमसे ग्यारह अंगके जानकार हो गये। उसी समय उन्होंने तीर्थंकर नामकर्मके बन्धमें कारणभूत निम्नांकित सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन किया ॥२०७-२११॥ जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गमें रुचि होना सो दर्शनविशुद्धि है। उसके निःशंकता आदि आठ अंग हैं ॥२१२॥ मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करनेवाले मनुष्यके लिए जो फल बतलाया है वह होता है या नहीं इस प्रकारकी शंकाका त्याग निःशंकता कहलाती है ॥२१३॥ मिथ्यादृष्टि जीव इस लोक और परलोक-सम्बन्धी भोगोंकी जो आकांक्षा करता है उसका त्याग करना आगममें निःकांक्षित नामका दूसरा अंग बतलाया है। इससे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता होती है ॥२१४॥ शरीर आदिमें अशुचि-अप-वित्र पदार्थोंका सद्भाव है ऐसा जानते हुए भी 'मैं पवित्र हूँ' ऐसा जो संकल्प होता है उसका त्याग

---

१ प्रोक्तास्त्रिपंचाशत् म, ल०, । २ अवतारादिका निर्वृत्यन्ता क०, ख०, ग०, म० । ३ सद्गृहीत्वादि । ४ तिष्ठत्वनुज-ल० । ५ यथा ल०, क०, ग०, घ० । ६-मभावयत् क० । ७ परित्यागः ख० । ८ विशुद्धेर्दर्शनाश्रयः म० ।

अथवाऽर्हन्मते नेदं चेत्सर्वं युक्तमित्यसन्[1] । आग्रहः क्वापि तत्त्यागः सा स्यान्निर्विचिकित्सता ॥३१६॥
तत्त्ववद्भासमानेषु बहुदुर्णयवर्त्मसु । युक्तिं[2] मावाद्विमोहत्वमाहुर्दृष्टेरमूढताम् ॥३१७॥
वृद्धिक्रियात्मधर्मस्य भावनाभिः क्षमादिभिः । अभीष्टं दर्शनस्याङ्गं सुदृग्भिरुपबृंहणम् ॥३१८॥
धर्मध्वंसनिमित्तेषु यः[3] कषायोदयादिषु । धर्माच्यवनसंरक्षा स्वान्ययोः सा स्थितिक्रिया ॥३१९॥
जिनप्रणीतसद्धर्मामृतनित्यानुरागता । वात्सल्यं मार्गमाहात्म्यभावना[4] स्यात्प्रभावना ॥३२०॥
ज्ञानादिषु च तद्वत्सु चादरो निःकषायता । तद्द्वयं विनयस्याहुः सन्तः संपन्नतां स्फुटम् ॥३२१॥
व्रतशील[5]निविष्टेषु भेदेषु निरवद्यता । शीलव्रतानतीचारः प्रोक्तः सूक्तविदां वरैः ॥३२२॥
ज्ञानोपयोगोऽभीक्ष्णोऽसौ या नित्यश्रुतभावना । संवेगः संसृतेर्दुःखाद् दुस्सहान्नित्यभीरुता ॥३२३॥
आहारादित्रयोत्सर्गः पात्रेभ्यस्त्याग इष्यते । यथागमं यथावीर्यं कायक्लेशस्तपो भवेत् ॥३२४॥
कदाचिन्मुनिसङ्घस्य बाह्याभ्यन्तरहेतुभिः । संधारणं समाधिः स्यात्प्रत्यूहे तपसः सति ॥३२५॥
गुणिनां निरवद्येन विधिना दुःखनिर्वृतिम् । वैयावृत्यक्रिया प्रायः साधनं तपसः परम् ॥३२६॥
जिनेषु गणनाथेषु बहुश्रुतेषु चागमे । भावशुद्ध्यानुरागः स्याद्भक्तिः कायादिगोचरा ॥३२७॥
सामायिकादिषट्कस्य यथाकालं प्रवर्तनम् । भवेदावश्यकाहानिर्यथोक्तविधिना मुनेः ॥३२८॥
[6]ज्ञानेन तपसा जैनपूजयाऽन्येन चापि वा । धर्मप्रकाशनं प्राज्ञाः प्राहुर्मार्गप्रभावनाम् ॥३२९॥

करना निर्विचिकित्सा नामका अंग है ॥३१५॥ यदि यह बात अर्हन्तके मतमें न होती तो सब ठीक होता इस प्रकारका आग्रह मिथ्या आग्रह है उसका त्याग करना सो निर्विचिकित्सा अंग है ॥३१६॥ जो वास्तवमें तत्त्व नहीं है किन्तु तत्त्वकी तरह प्रतिभासित होते हैं ऐसे बहुत-से मिथ्यानयके मार्गोंमें 'यह ठीक है' इस प्रकार मोहका नहीं होना अमूढ़ दृष्टि अंग कहलाता है ॥३१७॥ क्षमा आदिकी भावनाओंसे आत्म धर्मकी वृद्धि करना सो सम्यग्दृष्टियोंको प्रिय सम्यग्दर्शनका उपबृंहण नामका अंग है ॥३१८॥ कषायका उदय आदि होना धर्मनाशका कारण है। उसके उपस्थित होनेपर अपनी या दूसरेकी रक्षा करना अर्थात् दोनोंको धर्मसे च्युत नहीं होने देना सो स्थितिकरण अंग है ॥३१९॥ जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए समीचीन धर्म-रूपी अमृतमें निरन्तर अनुराग रखना सो वात्सल्य अंग है और मार्गके माहात्म्यकी भावना करना—जिन-मार्गका प्रभाव फैलाना सो प्रभावना अंग है ॥३२०॥ सम्यग्ज्ञानादि गुणों तथा उनके धारकोंका आदर करना और कषायरहित परिणाम रखना इन दोनोंको सज्जन पुरुष विनयसम्पन्नता कहते हैं ॥३२१॥ व्रत तथा शीलसे युक्त चारित्रके भेदोंमें निर्दोपता रखना—अतिचार नहीं लगाना, शास्त्रके उत्तमज्ञाता पुरुषोंके द्वारा शीलव्रतानतीचार नामकी भावना कही गयी है ॥३२२॥ निरन्तर शास्त्रकी भावना रखना सो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। संसारके दुःसह दुःखसे निरन्तर डरते रहना संवेग कहलाता है ॥३२३॥ पात्रोंके लिए आहार, अभय और शास्त्रका देना त्याग कहलाता है। आगमके अनुकूल अपनी शक्तिके अनुसार कायक्लेश करना तप कहलाता है ॥३२४॥ किसी समय बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे मुनिसंघके तपश्चरणमें विघ्न उपस्थित होनेपर मुनिसंघकी रक्षा करना साधुसमाधि है ॥३२५॥ निर्दोप विधिसे गुणियोंके दुःख दूर करना यह तपका श्रेष्ठ साधन वैयावृत्त्य है ॥३२६॥ अरहन्त देव, आचार्य, बहुश्रुत तथा आगममें मन वचन कायसे भावोंकी शुद्धतापूर्वक अनुराग रखना क्रमसे अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति भावना है ॥३२७॥ मुनिके जो सामायिक आदि छह आवश्यक बतलाये हैं उनमें यथासमय आगमके कहे अनुसार प्रवृत्त होना सो आवश्यका-परिहाणि नामक भावना है ॥३२८॥ ज्ञानसे, तपसे, जिनेन्द्रदेवकी पूजासे, अथवा अन्य किसी उपायसे धर्मका प्रकाश फैलानेको विद्वान् लोग मार्गप्रभावना कहते हैं ॥३२९॥

---

१ -मित्ययम् ख०, ग० । २ युक्तिर्भवे -म० । ३ कषायोपपादिषु ल० । ४ भावनं क०, घ०, म० । ५ निबद्धेषु ल० । ६ प्राहुः ल० । भाव. शुद्धयानु –ख० । दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः । आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपायेऽमृतचन्द्रसूरेः ।

सद्दृष्ट्या सौकुमार्येण छायया रसवत्तया । कदल्यः सर्वसौन्दर्याः संप्रीत्यै रमणीसमाः ॥ ३४५ ॥
आम्राः कम्राः फलैर्नम्राः पल्लवप्रसवोज्ज्वलाः । कोकिलाकारवाचाला लोलालिकुलसंकुलाः ॥३४६॥
स्थूलपक्वफलाः प्रोद्यद्गन्धान्धीकृतषट्पदाः । पनसाः प्रचुरा रेजुरामूलात्फलदायिनः ॥ ३४७ ॥
गुल्मवल्लीद्रुमाः सर्वे प्रसूनभरनम्रगाः । क्रीडागारनिभाः भान्ति कामनाममहीभुजः ॥ ३४८ ॥
निर्भूमिच्छिद्रमच्छिद्रं निःपाषाणं निरूसरम् । निर्नष्टाष्टभयं भूरिभूतलं सफलं सदा ॥ ३४९ ॥
अप्रमादोरुचारित्राः प्रायश्चित्तमिव द्विजाः । न दण्डभयमृच्छन्ति प्रजाः स्वस्थितिपालनात् ॥ ३५० ॥
महाजलाशया नित्यमत्स्याः स्वच्छाम्बुसंभृताः । नानाप्रसवसंछन्ना जह्रुर्ज्योतिर्जगच्छ्रियम् ॥ ३५१ ॥
पुष्पनेत्राः समुत्तुङ्गा विटपायतबाहवः । भूरुहा भूमिपायन्ते सदा चारुफलावहाः[1] ॥ ३५२ ॥
पल्लवोष्ठाः प्रसूनाढ्याः स्तबकस्तन्योऽलिकुलालकाः । सत्पत्राश्चित्रवल्लयों रमण्य इव रेजिरे ॥ ३५३ ॥

फल—बड़े-बड़े फल प्रदान करते हैं, जिस प्रकार उत्तम राजा तुंग—उदारचित्त होता है उसी प्रकार चोच जातिके वृक्ष तुंग—ऊँचे थे, जिस प्रकार राजा बद्धमूल—पक्की जड़वाले होते हैं उसी प्रकार चोच जातिके वृक्ष भी बद्धमूल—पक्की जड़वाले थे। जिस प्रकार उत्तम राजा मनोहर—अत्यन्त सुन्दर होते हैं उसी प्रकार चोच जातिके वृक्ष भी मनोहर—अत्यन्त सुन्दर थे, और जिस प्रकार उत्तम राजा सत्पत्र—अच्छी-अच्छी सवारियोंसे युक्त होते हैं उसी प्रकार चोच जतिके वृक्ष भी सत्पत्र—अच्छे-अच्छे पत्तोंसे युक्त थे ॥३४४॥ वहाँके केलेके वृक्ष स्त्रियोंके समान उत्तमप्रीति करनेवाले थे क्योंकि जिस प्रकार केलेके वृक्ष सद्दृष्टि—देखनेमें अच्छे लगते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी सद्दृष्टि—अच्छी आँखोंवाली थीं, जिस प्रकार केलेके वृक्ष सुकुमार होते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी सुकुमार थीं, जिस प्रकार केलेके वृक्ष छाया—अनातपसे युक्त होते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी छाया—कान्तिसे युक्त थीं, जिस प्रकार केलेके वृक्ष रसीले होते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी रसीली—शृंगारसे युक्त थीं, और केलेके वृक्ष जिस प्रकार सबसे अधिक सुन्दर होते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ सबसे अधिक सुन्दर थीं ॥३४५॥ वहाँके सुन्दर आमके वृक्ष फलोंसे झुक रहे थे, नयी-नयी कोंपलों तथा फूलोंसे उज्ज्वल थे, कोकिलाओंके वार्तालापसे मुखरित थे, और चंचल भ्रमरोंके समूहसे व्यग्र थे ॥३४६॥ जिनमें बड़े-बड़े पके फल लगे हुए हैं, जिनकी निकलती हुई गन्धसे भ्रमर अन्धे हो रहे थे, और जो मूलसे ही लेकर फल देनेवाले थे ऐसे कटहलके वृक्ष वहाँ अधिक सुशोभित होते थे ॥३४७॥ फूलोंके भारसे झुकी हुई वहाँकी झाड़ियाँ, लताएँ और वृक्ष सभी ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेव रूपी राजाके क्रीड़ा-भवन ही हों ॥३४८॥ वहाँकी भूमिमें गड्ढे नहीं थे, छिद्र नहीं थे, पत्थर नहीं थे, ऊसर जमीन नहीं थी, आठ भय नहीं थे किन्तु इसके विपरीत वहाँकी भूमि सदा फल देती रहती थी ॥३४९॥ जिस प्रकार प्रमादरहित श्रेष्ठ चारित्रको पालन करनेवाले द्विज कभी प्रायश्चित्त नहीं प्राप्त करते उसी प्रकार वहाँकी प्रजा अपनी-अपनी मर्यादाका पालन करनेसे कभी दण्डका भय नहीं प्राप्त करती थी ॥३५०॥ जिनमें निरन्तर मच्छ-जलचर जीव रहते हैं, जो स्वच्छ जलसे भरे हुए हैं, और अनेक प्रकारके फूलोंसे आच्छादित हैं ऐसे वहाँ के सरोवर ज्योतिर्लोककी शोभा हरण करते हैं ॥३५१॥ वहाँके वृक्ष ठीक राजाओंके समान आचरण करते थे क्योंकि जिस प्रकार राजा पुष्पनेत्र—कमलपुष्पके समान नेत्रोंवाले होते हैं उसी प्रकार वहाँके वृक्ष भी पुष्पनेत्र—पुष्प रूपी नेत्रोंसे युक्त थे, जिस प्रकार राजा समुत्तुंग—उदाराशय होते हैं उसी प्रकार वहाँके वृक्ष भी समुत्तुंग—बहुत ऊँचे थे, जिस प्रकार राजा विटपायतबाहु होते हैं—शाखाओंके समान लम्बी भुजाओंसे युक्त होते हैं उसी प्रकार वहाँके वृक्ष भी विटपायतबाहवः-शाखाएँ ही जिनकी लम्बी भुजाएँ हैं ऐसे थे और जिस प्रकार राजा सदा उत्तमफल प्रदान करते हैं उसी प्रकार वहाँके वृक्ष भी सदा सुन्दर फलोंको धारण करनेवाले थे ॥३५२॥ वहाँकी अनेक प्रकारकी लताएँ स्त्रियोंके समान सुशोभित हो रही थीं क्योंकि जिस प्रकार स्त्रियोंके लाल-लाल ओठ होते हैं उस प्रकार वहाँकी

---

१ सदाचारफलावहाः।

वत्से धेनोरिव स्नेहो यः सधर्मण्यकृत्रिमः । तद्वात्सल्यं प्रशंसन्ति प्रशंसापारमाश्रिताः ॥३३०॥
इत्येतानि समस्तानि व्यस्तानि च जिनेश्वराः । कारणान्यामनन्त्यन्त्यनाम्नः षोडश बन्धने ॥३३१॥
एतद्भावनया बद्ध्वा तीर्थकृन्नाम निर्मलम् । येन त्रैलोक्यसंक्षोभस्तत् स मेघरथो मुनिः ॥३३२॥
क्रमेण विहरन्देशान् प्राप्तवान् श्रीपुराह्वयम् । श्रीषेणस्तत्पतिस्तस्मै दत्त्वा भिक्षां यथोचितम्[1] ॥३३३॥
पश्चान्नन्दपुरे[2] नन्दनाभिधानश्च भक्तिमान् । तत्रैव पुण्डरीकिण्यां सिंहसेनश्च शुद्धदृक् ॥३३४॥
ज्ञानदर्शनचारित्रतपसां पर्ययान् बहून् । सम्यग्वर्द्धयते प्रापुः[3] पंचाश्चर्याणि दायिनः ॥३३५॥
संयमस्य परां कोटिमारुह्य स मुनीश्वरः । दृढो दृढरथेनामा[4] नभस्तिलकपर्वते ॥३३६॥
मासमात्रं परित्यज्य शरीरं शान्तकल्मषः । प्रायोपगमनेनाप्तः प्राणान्तेनाहमिन्द्रताम् ॥३३७॥
एतौ तत्र त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमजीवितौ । विधूज्ज्वलनरारत्निशरीरौ शुक्ललेश्यकौ ॥३३८॥
मासैः षोडशभिः सार्द्धमा[5]सैर्निःश्वासमीयुषौ । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राब्दैराहृतामृतभोजनौ ॥३३९॥
निःप्रवीचारसौख्याढ्यौ लोकनाड्यन्तराश्रित- । स्वगोचरपरिच्छेदप्रमाणावधिलोचनौ ॥३४०॥
तत्क्षेत्रमितवीर्याभाविक्रियौ सुचिरं स्थितौ । समनन्तरजन्माप्य मोक्षलक्ष्मीसमागमौ ॥३४१॥
अथास्मिन् भारते वर्षे[6] विषयः कुरुजाङ्गलः । आर्यक्षेत्रस्य मध्यस्थः सर्वधान्याकरो महान् ॥३४२॥
तत्र ताम्बूलवल्ल्यक्ताः सफलाः क्रमुकद्रुमाः । पुन्नारदारकाश्लेषसुखं प्रकटयन्ति वा ॥३४३॥
महाफलप्रदास्तुङ्गा बद्धमूला मनोहराः । सुराजवद्विराजन्ते सत्पत्राश्चोचभूरुहाः ॥३४४॥

और बछड़ेमें गायके समान सहधर्मी पुरुषमें जो स्वाभाविक प्रेम है उसे प्रशंसाके पारगामी पुरुष वात्सल्य भावना कहते हैं ॥३३०॥ श्री जिनेन्द्रदेव इन सोलह भावनाओंको सब मिलकर अथवा अलग-अलग रूपसे तीर्थंकर नामकर्मके बन्धका कारण मानते हैं ॥३३१॥ मेघरथ मुनिराजने इन भावनाओंसे उस निर्मल तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया था कि जिससे तीनों लोकोंमें क्षोभ हो जाता है ॥३३२॥ वे क्रम-क्रमसे अनेक देशोंमें विहार करते हुए श्रीपुर नामक नगरमें गये। वहाँके राजा श्रीषेणने उन्हें योग्य विधिसे आहार दिया। इसके पश्चात् नन्दपुर नगरमें नन्दन नामके भक्तिवान् राजाने आहार दिया और तदनन्तर पुण्डरीकिणी नगरीमें निर्मल सम्यग्दृष्टि सिंहसेन राजाने आहार कराया। वे मुनिराज ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपकी अनेक पर्यायोंको अच्छी तरह बढ़ा रहे थे। उन्हें दान देकर उक्त सभी राजाओंने पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥३३३-३३५॥ अत्यन्त धीर वीर मेघरथने दृढरथके साथ-साथ नभस्तिलक नामक पर्वतपर श्रेष्ठ संयम धारण कर एक महीने तक प्रायोपगमन संन्यास धारण किया और अन्तमें शान्त परिणामोंसे शरीर छोड़कर अहमिन्द्र पद प्राप्त किया ॥३३६-३३७॥ वहाँ इन दोनोंकी तैंतीस सागरकी आयु थी। चन्द्रमाके समान उज्ज्वल एक हाथ ऊँचा शरीर था, शुक्ल लेश्या थी, वे साढ़े सोलह माहमें एक बार श्वास लेते थे, तैंतीस हजार वर्ष बाद एक बार अमृतमय आहार ग्रहण करते थे, प्रवीचाररहित सुखसे युक्त थे, उनके अवधिज्ञान रूपी नेत्र लोकनाडीके मध्यवर्ती योग्य पदार्थोंको देखते थे, उनकी शक्ति दीप्ति तथा विक्रियाका क्षेत्र भी अवधिज्ञानके क्षेत्रके बराबर था। इस प्रकार वे वहाँ चिरकाल तक स्थित रहे। वहाँसे च्युत हो एक जन्म धारण कर वे नियमसे मोक्षलक्ष्मीका समागम प्राप्त करेंगे ॥३३८-३४१॥

अथानन्तर—भरत क्षेत्रमें एक कुरुजांगल नामका देश है, जो आर्य क्षेत्रके ठीक मध्यमें स्थित है, सब प्रकारके धान्योंका उत्पत्तिस्थान है और सबसे बड़ा है ॥३४२॥ वहाँपर पानकी बेलोंसे लिपटे एवं फलोंसे युक्त सुपारीके वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो पुरुष स्त्री और बालकोंके आलिंगनका सुख ही प्रकट कर रहे हों ॥३४३॥

वहाँ चोच जातिके वृक्ष किसी उत्तम राजाके समान सुशोभित होते हैं क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजा महाफल—भोगोपभोगके उत्तम पदार्थ प्रदान करता है उसी प्रकार चोच जातिके वृक्ष महा

---

१ यथोचिताम् ल०, ख०, म० । २ -दत्तपुरे म० ल० । ३ प्रापन् क०, ख०, घ० । ४ दृढरथेनाम । दृढरथेन समा सह । दृढरथो नामा ख० । ५ सार्द्धमासनिःश्वास ल० । ६ क्षेत्रे ख०, ग० ।

सद्दृष्ट्या सौकुमार्येण छायया रसवत्तया । कदल्यः सर्वसौन्दर्यैः संप्रीत्यै रमणीसमाः ॥ ३४५ ॥
आम्राः कम्राः फलैर्नम्राः पल्लवप्रसवोज्ज्वलाः । कोकिलालापवाचाला लोलालिकुलसंकुलाः ॥३४६॥
स्थूलपक्वफलाः प्रोद्यद्गन्धान्धीकृतषट्पदाः । पनसाः प्रचुरा रेजुरामूलात्फलदायिनः ॥ ३४७ ॥
गुल्मवल्लीद्रुमाः सर्वे प्रसूनभरभङ्गुराः । क्रीडागारनिभाः भान्ति कामनाममहीभुजः ॥ ३४८ ॥
निर्भूमिच्छिद्रमच्छिद्रं निःपाषाणं निरूषरम् । निर्नष्टाष्टभयं भूरिभूतलं सफलं सदा ॥ ३४९ ॥
अप्रमादोरुचारित्राः प्रायश्चित्तमिव द्विजाः । न दण्डभयमृच्छन्ति प्रजाः स्वस्थितिपालनात् ॥ ३५० ॥
महाजलाशया नित्यमच्छाः स्वच्छाम्बुसंभृताः । नानाप्रसवसंछन्ना जह्रुर्ज्योतिर्जगच्छ्रियम् ॥ ३५१ ॥
पुष्पनेत्राः समुत्तुङ्गा विटपायतबाहवः । भूरुहा भूमिपायन्ते सदा चारुफलावहाः[1] ॥ ३५२ ॥
पल्लवोष्ठाः प्रसूनाढ्यास्तनस्तबकिनोऽलिकुलालकाः । सत्पत्राश्चित्रवल्ल्यो रमण्य इव रेजिरे ॥ ३५३ ॥

फल—बड़े-बड़े फल प्रदान करते हैं, जिस प्रकार उत्तम राजा तुंग—उदारचित्त होता है उसी प्रकार चोच जातिके वृक्ष तुंग—ऊँचे थे, जिस प्रकार राजा बद्धमूल—पक्की जड़वाले होते हैं उसी प्रकार चोच जातिके वृक्ष भी बद्धमूल—पक्की जड़वाले थे। जिस प्रकार उत्तम राजा मनोहर—अत्यन्त सुन्दर होते हैं उसी प्रकार चोच जातिके वृक्ष भी मनोहर—अत्यन्त सुन्दर थे, और जिस प्रकार उत्तम राजा सत्पत्र—अच्छी-अच्छी सवारियोंसे युक्त होते हैं उसी प्रकार चोच जतिके वृक्ष भी सत्पत्र—अच्छे-अच्छे पत्तोंसे युक्त थे ॥३४४॥ वहाँके केलेके वृक्ष स्त्रियोंके समान उत्तमप्रीति करनेवाले थे क्योंकि जिस प्रकार केलेके वृक्ष सद्दृष्टि—देखनेमें अच्छे लगते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी सद्दृष्टि—अच्छी आँखोंवाली थीं, जिस प्रकार केलेके वृक्ष सुकुमार होते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी सुकुमार थीं, जिस प्रकार केलेके वृक्ष छाया—अनातपसे युक्त होते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी छाया—कान्तिसे युक्त थीं, जिस प्रकार केलेके वृक्ष रसीले होते है उसी प्रकार स्त्रियाँ भी रसीली—शृंगारसे युक्त थीं, और केलेके वृक्ष जिस प्रकार सबसे अधिक सुन्दर होते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ सबसे अधिक सुन्दर थीं ॥३४५॥ वहाँके सुन्दर आमके वृक्ष फलोंसे झुक रहे थे, नयी-नयी कोंपलों तथा फूलोंसे उज्ज्वल थे, कोकिलाओंके वार्तालापसे मुखरित थे, और चंचल भ्रमरोंके समूहसे व्यग्र थे ॥३४६॥ जिनमें बड़े-बड़े पके फल लगे हुए हैं, जिनकी निकलती हुई गन्धसे भ्रमर अन्धे हो रहे थे, और जो मूलसे ही लेकर फल देनेवाले थे ऐसे कटहलके वृक्ष वहाँ अधिक सुशोभित होते थे ॥३४७॥ फूलोंके भारसे झुकी हुई वहाँकी झाड़ियाँ, लताएँ और वृक्ष सभी ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेव रूपी राजाके क्रीड़ा-भवन ही हों ॥३४८॥ वहाँकी भूमिमें गड्ढे नहीं थे, छिद्र नहीं थे, पत्थर नहीं थे, ऊसर जमीन नहीं थी, आठ भय नहीं थे किन्तु इसके विपरीत वहाँकी भूमि सदा फल देती रहती थी ॥३४९॥ जिस प्रकार प्रमादरहित श्रेष्ठ चारित्रको पालन करनेवाले द्विज कभी प्रायश्चित्त नहीं प्राप्त करते उसी प्रकार वहाँकी प्रजा अपनी-अपनी मर्यादाका पालन करनेसे कभी दण्डका भय नहीं प्राप्त करती थी ॥३५०॥ जिनमें निरन्तर मच्छ-जलचर जीव रहते हैं, जो स्वच्छ जलसे भरे हुए हैं, और अनेक प्रकारके फूलोंसे आच्छादित हैं ऐसे वहाँ के सरोवर ज्योतिर्लोककी शोभा हरण करते हैं ॥३५१॥ वहाँके वृक्ष ठीक राजाओंके समान आचरण करते थे क्योंकि जिस प्रकार राजा पुष्पनेत्र-कमलपुष्पके समान नेत्रोंवाले होते हैं उसी प्रकार वहाँके वृक्ष भी पुष्पनेत्र—पुष्प रूपी नेत्रोंसे युक्त थे, जिस प्रकार राजा समुत्तुंग-उदाराशय होते हैं उसी प्रकार वहाँके वृक्ष भी समुत्तुंग—बहुत ऊँचे थे, जिस प्रकार राजा विटपायतबाहु होते हैं—शाखाओंके समान लम्बी भुजाओंसे युक्त होते हैं उसी प्रकार वहाँके वृक्ष भी विटपायतबाहवः-शाखाएँ ही जिनकी लम्बी भुजाएँ हैं ऐसे थे और जिस प्रकार राजा सदा उत्तमफल प्रदान करते हैं उसी प्रकार वहाँके वृक्ष भी सदा सुन्दर फलोंको धारण करनेवाले थे ॥३५२॥ वहाँकी अनेक प्रकारकी लताएँ स्त्रियोंके समान सुशोभित हो रही थीं क्योंकि जिस प्रकार स्त्रियोंके लाल-लाल ओठ होते हैं उस प्रकार वहाँकी

---

१ सदाचारफलावहाः ।

आमध्यं रसिकामूलात्पर्यन्ते विरसास्तत । पीड्यन्ते सुगमं यन्त्रैरिक्षवो जितदुर्जनाः ॥ ३५४ ॥
शब्दनिष्पादने लोपः प्रध्वंसः पापवृत्तिषु । दाहो विरहिवर्गेषु वेधः[1] श्रवणयोर्द्वये ॥ ३५५ ॥
दण्डो दारुषु शास्त्रेषु निस्त्रिंशोक्तिस्तपस्विषु । निर्धनत्वं विदानत्वं मदापाये न दन्तिषु ॥ ३५६ ॥
सुरतेषु विलज्जत्वं कान्तकन्यासु याचनम् । तापोऽनलोपजीवेषु मारणं रसवादिषु ॥ ३५७ ॥
नाकाण्डमृत्यवः सन्ति नापि दुर्मार्गगामिनः । मुक्त्वा विग्रहिणां मुक्तमारणान्तिकविग्रहात् ॥ ३५८ ॥
प्राच्यवृत्तिविपर्यासः संयमग्राहिणोऽभवत्[2] । न षट्कर्मसु कस्यापि वर्णानां दुर्णयद्विषाम् ॥ ३५९ ॥
शालयो लीलया वृद्धिमुपेताः सर्वतर्पिणः । विनम्राः फलसंप्राप्तौ भेजुः सद्भूमिपोपमाम् ॥ ३६० ॥
क्षरन्ति वारिदाः काले दुहते धेनवः सदा । फलन्ति भूरुहाः सर्वे पुष्पन्ति च लतास्तताः ॥ ३६१ ॥
नित्योत्सवा निरातङ्का निर्बन्धा धनिकाः प्रजाः । निर्मलाः[3] नित्यकर्माणो नियुक्ताः स्वासु वृत्तिषु ॥ ३६२ ॥

लताओंमें लाल-लाल पल्लव थे, जिस प्रकार स्त्रियाँ मन्द-मन्द मुसकानसे सहित होती हैं उसी प्रकार वहाँकी लताएँ फूलोंसे सहित थीं, जिस प्रकार स्त्रियाँ तन्वंगी-पतली होती हैं उसी प्रकार वहाँकी लताएँ भी तन्वंगी-पतली थीं, जिस प्रकार स्त्रियाँ काले-काले केशोंसे युक्त होती हैं उसी प्रकार वहाँकी लताएँ भी काले-काले भ्रमरोंसे युक्त थीं, और जिस प्रकार स्त्रियाँ सत्पत्र-उत्तमोत्तम पत्र-रचनाओंसे सहित होती हैं उसी प्रकार वहाँकी लताएँ भी उत्तमोत्तम पत्रोंसे युक्त थी ॥३५३॥ जो मूलसे लेकर मध्यभाग तक रसिक हैं और अन्तमें नीरस हैं ऐसे दुर्जनोंको जीतनेवाले ईख ही वहाँपर यन्त्रों-द्वारा अच्छी तरह पीडे जाते थे ॥३५४॥ वहाँपर लोप—अनुबन्ध आदिका अदर्शन शब्दोंके सिद्ध करनेमें होता था अन्य दूसरेका लोप-नाश नहीं होता था, नाश पापरूप प्रवृत्तियोंका होता था, दाह विरही मनुष्योंमें होता था और वेध अर्थात् छेदना दोनों कानोंमें होता था, दूसरी जगह नहीं ॥३५५॥ दण्ड केवल लकड़ियोंमें था। वहाँके प्रजामें दण्ड अर्थात् जुर्माना नहीं था, निस्त्रिंश शब्दका कथन केवल शस्त्रोंमें था वहाँकी प्रजामें यह निस्त्रिंश अर्थात् दुष्टता है ऐसा कथन नहीं था। निर्धनता अर्थात् निष्परिग्रहता तपस्वियोंमें ही थी। वहाँके मनुष्योंमें निर्धनता अर्थात् गरीबी नहीं थी और विदानत्व अर्थात् मदका अभाव, मद सूख जानेपर केवल हाथियोंमें ही था, वहाँकी प्रजामें विदानत्व अर्थात् दान देनेका अभाव नहीं था ॥३५६॥ निर्लज्जपना केवल सम्भोग क्रियाओंमें था, याचना केवल सुन्दर कन्याओंकी होती थी, ताप केवल अग्निसे आजीविका करनेवालोंमें था और मारण केवल रसवादियोंमें था—रसायन आदि बनानेवालोंमें था ॥३५७॥ वहाँ कोई असमयमें नहीं मरते थे, कोई कुमार्गमें नहीं चलते थे और मुक्त जीवों तथा मारणान्तिक समुद्घात करनेवालोंको छोड़कर अन्य कोई विग्रही-शरीररहित तथा मोड़ासे रहित नहीं थे ॥३५८॥ मिथ्या नयसे द्वेष रखनेवाले चारों ही वर्णवाले जीवोंके देवपूजा आदि छह कर्मोंमें कहीं प्राचीन प्रवृत्तिका उल्लंघन नहीं था अर्थात् देवपूजा आदि प्रशस्त कार्योंकी जैसी प्रवृत्ति पहलेसे चली आयी थी उसीके अनुसार सब प्रवृत्ति करते थे। यदि प्राचीन प्रवृत्तिके क्रमका उल्लंघन था तो संयम ग्रहण करनेवालेके ही था अर्थात् संयमी मनुष्य ही पहलेसे चली आयी असंयमरूप प्रवृत्तिका उल्लंघन कर संयमकी नयी प्रवृत्ति स्वीकृत करता था ॥३५९॥ लीलापूर्वक वृद्धिको प्राप्त हुए एवं सबको सन्तुष्ट करनेवाले धान्यके पौधे, फल लगनेपर अत्यन्त नम्र हो गये थे—नीचेको झुक गये थे अतः किसी अच्छे राजाकी उपमाको धारण कर रहे थे ॥३६०॥ वहाँ मेघ समयपर पानी बरसाते थे, गायें सदा दूध देती थीं, सब वृक्ष फलते थे और फैली हुई लताएँ सदा पुष्पोंसे युक्त रहती थीं ॥३६१॥ वहाँकी प्रजा नित्योत्सव थी अर्थात् उसमें निरन्तर उत्सव होते रहते थे, निरातंक थी उसमें किसी प्रकारकी बीमारी नहीं होती थी, निर्बन्ध थी, हठरहित थी, धनिक थी, निर्मल थी, निरन्तर उद्योग करती थी और अपने-अपने कर्मोंमें लगी रहती थी ॥३६२॥

---

१ वेधं ख० । २ भवेत् ख०, ल० । ३ निर्मदा क०, ख०, ग० ।

हास्तिनाख्या पुरी तस्य शुभा नाभिरिवाबभौ । भृशं देशस्य देहस्य महती मध्यवर्तिनी ॥३६३॥
भूरिनीरभवानेकप्रसूनोदितभूतिभिः । तिसृभिः परिखाभिस्तन्नगरं परिवेष्टितम् ॥३६४॥
विभाति गोपुरोपेतद्वाराट्टालकपङ्क्तिभिः । वप्रप्राकारदुर्लङ्घ्यं सुरम्यैः कपिशीर्षकैः ॥३६५॥
इन्द्रकोशबृहद्यन्त्रैर्युक्तं देवपथादिभिः । [1]महाक्षुद्राग्रिमद्वारैर्वीथिभिर्बहुभिश्च तत् ॥३६६॥
राजमार्गा विराजन्ते सारवस्तुसमन्विताः । स्वर्गापवर्गमार्गाभाः संचरच्चारुवृत्तयः ॥३६७॥
न नेपथ्यादिभिर्भेदस्तद्भुवां सारवस्तुजैः । कुलजातिवयोवर्णवचोबोधादिभिर्भिदा ॥३६८॥
तत्पुर्यां सौधकूटाग्रबद्धध्वजनिरोधनात् । नातपस्य प्रवेशोऽस्ति [2]विघनार्कदिनेष्वपि ॥३६९॥
पुष्पाङ्गरागधूपादिसौगन्ध्यान्धीकृतालिभिः । भ्रमद्भिस्तत्र खे प्रावृट्शङ्का गृहशिखण्डिनाम् ॥३७०॥
रूपलावण्यकान्त्यादिगुणैर्युवतिभिर्युताः । युवानस्तैश्च तास्तत्र [3]तदन्योऽन्यसुखावहाः ॥३७१॥
मदनोद्दीपनद्रव्यैर्निसर्गप्रेमतो गुणैः । कान्त्यादिभिश्च दम्पत्योः प्रीतिस्तत्र निरन्तरम् ॥३७२॥
अहिंसालक्षणो धर्मो यतयो विगतस्पृहाः । देवोऽर्हन्नेव निर्दोषस्तत्सर्वेऽप्यत्र धार्मिकाः ॥३७३॥
यत्किंचित् संचितं पापं पंचसूनादिवृत्तिभिः । पात्रदानादिभिः सद्यस्तद्विलुम्पन्त्युपासकाः ॥३७४॥
न्याय्यो नृपः प्रजा धर्म्या [4]निर्जन्तु क्षेत्रमन्वहम् । स्वाध्यायस्तत्पुरं तस्मान्न त्यजन्ति यतीश्वराः ॥३७५॥
नानापुष्प[5]फलानम्रमहीजैर्नन्दनैर्वनैः । नन्दनं च विजीयेत तत्पुरोपान्तवर्तिभिः ॥३७६॥

जिस प्रकार शरीरके मध्यमें बड़ी भारी नाभि होती है उसी प्रकार उस कुरुजांगल देशके मध्यमें एक हस्तिनापुर नामकी नगरी है ॥ ३६३ ॥ अगाध जलमें उत्पन्न हुए अनेक पुष्पों-द्वारा जिनकी शोभा बढ़ रही है ऐसी तीन परिखाओंसे वह नगर घिरा हुआ था ॥३६४॥ धूलिके ढेर और कोटकी दीवारोंसे दुर्लंघ्य वह नगर गोपुरोंसे युक्त दरवाजों, अट्टालिकाओंकी पंक्तियों तथा बन्दरोंके शिर-जैसे आकारवाले बुरजोंसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥३६५॥ वह नगर, राजमार्गमें ही मिलनेवाले डरानेके लिए बनाये हुए हाथी, घोड़े आदिके चित्रों तथा बहुत छोटे दरवाजोंवाली बहुत-सी गलियोंसे युक्त था ॥ ३६६ ॥ जो सार वस्तुओंसे सहित हैं तथा जिनमें सदाचारी मनुष्य इधरसे उधर टहला करते हैं ऐसे वहाँके राजमार्ग स्वर्ग और मोक्षके मार्गके समान सुशोभित होते थे ॥ ३६७ ॥ वहाँ उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंमें श्रेष्ठ वस्तुओंसे उत्पन्न हुए नेपथ्य—वस्त्राभूषणादिसे कुछ भी भेद नहीं था केवल कुल, जाति, अवस्था, वर्ण, वचन और ज्ञानकी अपेक्षा भेद था ॥३६८॥ उस नगरमें राजभवनोंके शिखरोंके अग्रभागपर जो ध्वजाएँ फहरा रही थीं उनसे रुक जानेके कारण जब सूर्यपर बादलोंका आवरण नहीं रहता उन दिनोंमें भी धूपका प्रवेश नहीं हो पाता था ॥३६९॥ पुष्प, अंगराग तथा धूप आदिकी सुगन्धसे अन्धे होकर जो भ्रमर आकाशमें इधर-उधर उड़ रहे थे उनसे घरके मयूरोंको वर्षाऋतुकी शंका हो रही थी ॥३७०॥ वहाँ रूप, लावण्य तथा कान्ति आदि गुणोंसे युक्त युवक युवतियोंके साथ और युवतियाँ युवकोंके साथ रहती थीं तथा परस्पर एक-दूसरेको सुख पहुँचाती थीं ॥३७१॥ वहाँ कामको उद्दीपित करनेवाले पदार्थ, स्वाभाविक प्रेम, तथा कान्ति आदि गुणोंसे स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर प्रीति बनी रहती थी ॥३७२॥ वहाँ धर्म अहिंसा रूप माना जाता था, मुनि इच्छारहित थे, और देव रागादि दोषोंसे रहित अर्हन्त ही माने जाते थे इसलिए वहाँके सभी मनुष्य धर्मात्मा थे ॥३७३॥ वहाँके श्रावक, चक्की-चूल्हा आदि पाँच कार्योंसे जो थोड़ा-सा पाप संचित करते थे उसे पात्रदान आदिके द्वारा शीघ्र ही नष्ट कर डालते थे ॥३७४॥ वहाँका राजा न्यायी था, प्रजा धर्मात्मा थी, क्षेत्र जीवरहित-प्रासुक था, और प्रतिदिन स्वाध्याय होता रहता था इसलिए मुनिराज उस नगरको कभी नहीं छोड़ते थे ॥३७५॥ जिनके वृक्ष अनेक पुष्प और फलोंसे नम्र हो रहे हैं तथा जो सबको आनन्द देनेवाले हैं ऐसे उस नगरके समीपवर्ती

---

१ महाक्षुद्रापि सद्द्वारैः ख० । महाक्षुद्राणि मद्द्वारैः म०, ग० । महाक्षुद्राग्रिसद्द्वारैः क०, घ० । २ विघ्नार्कदिनेष्वपि (?) ल० । ३ तत्तेऽन्योन्यसुखावहाः क०, ख०, म० । ततोऽन्योऽन्यसुखावहः ग० । सुखावहं ख० । ४ निर्जन्तुः ल० । ५ लतानम्र—ल० ।

निष्पन्नसारवस्तूनां निःशेषाणां निजोद्भव-। स्थानेष्वनुपभोग्यत्वात्तदेवायान्ति सर्वतः ॥३७७॥
तत्रस्थैरेव भुज्यन्ते तानि दानेन चेद्बहिः। निर्यान्ति यान्तु तत्तादृक् त्यागिभोगिजनैश्रितम् ॥३७८॥
तत्र तादात्विकाः सर्वे तच्च दोषाय कल्पते। तत्पुण्यात् सर्ववस्तूनि वर्द्धन्ते प्रत्यहं यतः ॥३७९॥
ब्रह्मस्थानोत्तरे भागे भुवोभूद्राजमन्दिरम्। महामेरुनिभं भास्वद्भद्रशालादिभूषितम् ॥३८०॥
यथास्थाननिवेशेन परितो राजमन्दिरम्। उडूनि वा व्यवद्भान्त्यहर्म्याण्यन्यानि वा बभुः ॥३८१॥
तद्राजधानीनाथस्य काश्यपान्वयभास्वतः। भूपस्याजितसेनस्य चित्तनेत्रप्रियप्रदा ॥३८२॥
[1]बालचन्द्रादिसुस्वप्नदर्शिनी प्रियदर्शना। ब्रह्मकल्पच्युतं सूनुं विश्वसेनमजीजनत् ॥३८३॥
गन्धारविषयख्यात[2]गान्धारनगरेशिनः। अजितंजयभूमर्तुरजितायां सुता गता ॥३८४॥
सनत्कुमारादैराख्या विश्वसेनप्रियाभवत्। श्रीह्रीधृत्यादिसंसेव्या नभस्ये कृष्ण[3]सप्तमी ॥३८५॥
दिने भरणिनक्षत्रे यामिनीतुर्यभागगा। स्वप्नान् षोडश साद्राक्षीत्साक्षात्पुत्र[4]फलप्रदान् ॥३८६॥
दरनिद्रासमुद्भूतबाधा शुद्धसुवासना। तदनन्तरमैक्षिष्ट प्रविष्टं वदनं[5] गजम् ॥३८७॥
तदैवासौ दिवो देवस्ततो मेघरथाभिधः। तस्यामवतरद् गर्भे शुक्तौ[6] मुक्तोदबिन्दुवत् ॥३८८॥
तदैव यामभेरी च तत्स्वप्नशुभसूचिनी। जजृम्भे मधुरं सुप्तां बोधयन्तीव सुन्दरीम् ॥३८९॥
पद्मिनीव तदाकर्ण्य विकसन्मुखपंकजा। शय्यागृहात्समुत्थाय कृतमंगलमज्जना ॥३९०॥

वनोंसे इन्द्रका नन्दनवन भी जीता जाता था ॥३७६॥ संसारमें जितनी श्रेष्ठ वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं उन सबका अपनी उत्पत्तिके स्थानमें उपभोग करना अनुचित है इसलिए सब जगहकी श्रेष्ठ वस्तुएँ उसी नगरमें आती थीं और वहाँके रहनेवाले ही उनका उपभोग करते थे। यदि कोई पदार्थ वहाँसे बाहर जाते थे तो दानसे ही बाहर जा सकते थे इस तरह वह नगर पूर्वोक्त त्यागी तथा भोगी जनोंसे व्याप्त था ।।३७७-३७८।। उस नगरके सब लोग तादात्विक थे—सिर्फ वर्तमानकी ओर दृष्टि रखकर जो भी कमाते थे उसे खर्च कर देते थे। उनकी यह प्रवृत्ति दोषाधायक नहीं थी क्योंकि उनके पुण्यसे सभी वस्तुएँ प्रतिदिन बढ़ती रहती थीं ।।३७९।। उस नगरमें ब्रह्मस्थानके उत्तरी भूभागमें राजमन्दिर था जो कि देदीप्यमान भद्रशाल—उत्तमकोट आदिसे विभूषित था और भद्रशाल आदि वनोंसे सुशोभित महामेरुके समान जान पड़ता था ।।३८०।। उस राजमन्दिरके चारों ओर यथायोग्य स्थानोंपर जो अन्य देदीप्यमान सुन्दर महल बने हुए थे वे मेरुके चारों ओर स्थित नक्षत्रोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥३८१॥ उस हस्तिनापुर राजधानीमें काश्यपगोत्री देदीप्यमान राजा अजितसेन राज्य करते थे। उनके चित्त तथा नेत्रोंको आनन्द देनेवाली प्रियदर्शना नामकी स्त्री थी। उसने बालचन्द्रमा आदि शुभ स्वप्न देखकर ब्रह्मस्वर्गसे च्युत हुए विश्वसेन नामक पुत्रको उत्पन्न किया था ।।३८२-३८३।। गन्धार देशके गान्धार नगरके राजा अजितंजयके उनकी अजिता रानीसे सनत्कुमार स्वर्गसे आकर ऐरा नामकी पुत्री हुई थी और यही ऐरा राजा विश्वसेनकी प्रिय रानी हुई थी। श्री, ह्री, धृति आदि देवियाँ उसकी सेवा करती थीं। भादों वदी सप्तमीके दिन भरणी नक्षत्रमें रात्रिके चतुर्थ भागमें उसने साक्षात् पुत्ररूप फलको देनेवाले सोलह स्वप्न देखे ॥३८४-३८६॥ अल्पनिद्राके बीच जिसे कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त हो रहा है तथा जिसके मुखसे शुद्ध सुगन्ध प्रकट हो रही है ऐसी रानी ऐराने स्वप्न देखनेके बाद अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा ।।३८७।। उसी समय मेघरथका जीव स्वर्गसे च्युत होकर रानी ऐराके गर्भमें आकर उस तरह अवतीर्ण हो गया जिस तरह कि शुक्तिमें मोतीरूप परिणमन करनेवाली पानीकी बूँद अवतीर्ण होती है ।। ३८८ ।। उसी समय सोती हुई सुन्दरीको जगानेके लिए ही मानो उसके शुभ स्वप्नोंको सूचित करनेवाली अन्तिम पहरकी भेरी मधुर शब्द करने लगी ।।३८९।। उस भेरीको सुनकर रानी ऐराका मुख-कमल, कमलिनीके समान खिल उठा। उसने शय्यागृहसे उठकर मंगल-स्नान किया,

---

१ बाला चन्द्रादि-ल०। २ गन्धार क०, ग०, म०, ल०। ३ सप्तमे ल०। ४ साक्षात्सत्य—ल०, ख०, म०, म०। ५ वदने ल०। ६ स्वातौ ल०।

तत्कालोचितनेपथ्या कल्पवल्लीव जङ्गमा । सितातपत्रविस्त्रासितार्कबालांशुमालिका ॥३९१॥
प्रकीर्णकपरिक्षेपप्रपञ्चितमहोदया । जनैः कतिपयैरेव प्रत्यासन्नैः परिष्कृता ॥३९२॥
साविशच्चन्द्ररेखाभा सभामिव विभावरीम् । कृतोपचारविनयो[1] तामार्द्धासनमासयत् ॥३९३॥
नृपं साभिनिवेद्यात्मदृष्टं[2] स्वप्नावलीं क्रमात् । तत्फलान्यप्यबोधिष्ट राज्ञः सावधिलोचनात् ॥३९४॥
स्वर्गात्तदैव देवेन्द्राः सह देवैश्चतुर्विधैः । स्वर्गावतारकल्याणं संप्राप्य समुपादयन् ॥३९५॥
त्रिविष्टपेश्वरे गर्भे वर्द्धमाने[3] महोदयैः । अभ्येत्य नवमं मासं माता त्रिजगदीशितुः ॥३९६॥
मासान् पञ्चदश प्राप्तरत्नवृष्ट्यामरार्चना । शुचौ कृष्णचतुर्दश्यां याम्ययोगे निशात्यये ॥३९७॥
नन्दनं जगदानन्दसंदोहमिव सुन्दरम् । असूतामलसद्बोधत्रितयोज्ज्वललोचनम् ॥३९८॥
शङ्खभेरीगजारातिघण्टारावावबोधिताः । जैनं[4] जन्मोत्सवं देवाः संभूय समवर्द्धयन् ॥३९९॥
तदा शची महादेवी प्रद्योतितदिगन्तरा । गर्भगेहं प्रविश्योच्चैर्मायानिद्रावशीकृताम् ॥४००॥
जिनेन्द्रजननीमैरां कुमारसहितां [5]सतीम् । [6]परीत्य प्रणम्याच्यां मायाविष्कृतबालका ॥४०१॥
त्रिलोकमातुः पुरतो निवेश्य परमेश्वरम् । कुमारवरमादाय विश्वामरनमस्कृतम् ॥४०२॥
मृदुबाहुयुगाश्लेषा स्वपतेरकरोत्करे । ऐरावतगजस्कन्धमारोप्य मरुतां पतिः ॥४०३॥
पुरेव पुरुदेवं तं सुराद्रेर्मस्तकार्पितम् । अभिषिच्याम्बुभिः क्षीरमहाम्भोनिधिसंभवैः ॥४०४॥

उस समयके योग्य वस्त्राभूषण पहने और चलती-फिरती कल्पलताके समान राजसभाको प्रस्थान किया। उस समय वह अपने ऊपर लगाये हुए सफेद छत्रसे बालसूर्यकी किरणोंके समूहको भयभीत कर रही थी, ढुरते हुए चमरोंसे अपना बड़ा भारी अभ्युदय प्रकट कर रही थी, और पासमें रहनेवाले कुछ लोगोंसे सहित थी। जिस प्रकार रात्रिमें चन्द्रमाकी रेखा प्रवेश करती है उसी प्रकार उसने राजसभामें प्रवेश किया। औपचारिक विनय करनेवाली उस रानीको राजाने अपना आधा आसन दिया ॥३९०-३९३॥ उसने अपने-द्वारा देखी हुई स्वप्नावली क्रम-क्रमसे राजाको सुनायी और अवधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले राजासे उनका फल मालूम किया ॥३९४॥ उसी समय चतुर्णिकायके देवोंके साथ स्वर्गसे इन्द्र आये और आकर गर्भावतार-कल्याणक करने लगे ॥३९५॥ उधर रानीके गर्भमें इन्द्र बड़े अभ्युदयके साथ बढ़ने लगा और इधर त्रिलोकीनाथकी माता रानी पन्द्रह माह तक देवोंके द्वारा की हुई रत्नवृष्टि आदि पूजा प्राप्त करती रही। जब नवाँ माह आया तब उसने ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशीके दिन याम्ययोगमें प्रातःकालके समय पुत्र उत्पन्न किया। वह पुत्र ऐसा सुन्दर था मानो समस्त संसारके आनन्द-का समूह ही हो। साथ ही अत्यन्त निर्मल मति-श्रुत-अवधिज्ञानरूपी तीन उज्ज्वल नेत्रोंका धारक भी था ॥३९६-३९८॥ शंखनाद, भेरीनाद, सिंहनाद और घंटानादसे जिन्हें जिन-जन्म-की सूचना दी गयी है ऐसे चारों निकायोंके देवोंने मिलकर जिनेन्द्र भगवान्का जन्मोत्सव बढ़ाया ॥३९९॥ उस समय दिशाओंके मध्यको प्रकाशित करनेवाली महादेवी इन्द्राणीने गर्भ-गृहमें प्रवेश किया और कुमारसहित पतिव्रता जिनमाता ऐराको मायामयी निद्रासे वशीभूत कर दिया। उसने पूजनीय जिनमाताको प्रदक्षिणा देकर प्रणाम किया और एक मायामयी बालक उसके सामने रखकर जिन्हें सर्वदेव नमस्कार करते हैं ऐसे श्रेष्ठ कुमार जिन-बालकको उठा लिया तथा अपनी दोनों कोमल भुजाओंसे ले जाकर इन्द्रके हाथोंमें सौंप दिया। इन्द्रने उन्हें ऐरावत हाथीके कन्धेपर विराजमान किया और पहले जिस प्रकार भगवान् आदिनाथको सुमेरु पर्वतके मस्तकपर विराजमान कर क्षीर-महासागरके जलसे उनका अभिषेक किया था इसी प्रकार इन्हें भी सुमेरु पर्वतके मस्तकपर विराजमान कर क्षीर-महासागरके जलसे इनका

---

१ वामार्धासन-ल० । २ दृष्टां स्वप्नावली ग०, ख०, म०, ल० । ३ वर्धमानमहोदयैः क०, घ० । ४ जैनजन्मोत्सवं क०, घ०, ख० । जिनजन्मोत्सवं ग० । ५ शची ल०, म०, क०, घ० । ६ परीत्य त्रिः प्रणम्यार्च्यं मायाविष्कृतबालकम् ल० ।

प्रसाधनविशेषाणामपि चैकं प्रसाधनम् । आचारपालनायैव भूषयित्वा विभूषणैः ॥४०५॥
[1]सर्वशान्तिप्रदो देवः शान्तिरित्यस्तु नामभाक् । इति तस्याभिषेकान्ते नामास्मै निरवर्तयन् ॥४०६॥
प्रीत्या सुरवरैः सार्द्धं मन्दरादेत्य मन्दिरम् । जनन्याः सर्वमावेद्य जगदीशं समर्पयन् ॥४०७॥
अनृत्यच्चोदितानन्दो[2] बहुभावरसोदयः । संमुदश्चेदमर्यादः सरागं कं न नर्तयेत् ॥४०८॥
लोकपालांस्त्रिलोकानां पालकस्य महात्मनः । बालकस्यास्य कल्पेशः पालकान्पर्यकल्पयत् ॥४०९॥
इति द्वितीयकल्याणसाकल्यसमनन्तरम् । सशक्राः सर्वगीर्वाणाः स्वं स्वमोकः समं ययुः ॥४१०॥
चतुर्विभक्तपल्योपमत्र्यंशोनत्रिसागरे । धर्मतीर्थस्य संताने पल्यतुर्यांशशेषिते ॥४११॥
व्युच्छिन्ने मुक्तिसन्मार्गे तदभ्यन्तरजीवितः । शान्तिः समुदपादानम्रनरामरनायकः ॥४१२॥
लक्षासमायुश्चत्वारिंशच्चापाङ्गः सुवर्णरुक् । ध्वजतोरणसूर्येन्दुशङ्खचक्रादिलक्षणः ॥४१३॥
पुण्याद् दृढरथो दीर्घमनुभूयाहमिन्द्रताम् । विश्वसेनाद्यशस्वत्यां सुतश्चक्रायुधोऽभवत् ॥४१४॥
महामणिरिवाम्भोधौ गुणानां वा गणो मुनौ । तत्र शान्तिरगाद् वृद्धिं [3]प्रमदो वोदितोदिते ॥४१५॥
वर्द्धन्ते स्म गुणास्तस्मिन् स्पर्द्धेनावयवैः क्रमात् । [4]तथा विधाय सौन्दर्यं कीर्तिर्लक्ष्मीः सरस्वती ॥४१६॥
अभात्तस्यात्तसौन्दर्यं रूपमापूर्णयौवने । विधोर्विधूतवैकल्यमिव पर्वणि मण्डलम् ॥४१७॥
मृदवस्तनवः स्निग्धाः कृष्णाः केशाः [5]सुकुञ्चिताः । प्राञ्चिताश्चञ्चरीकाभाः शुभास्तन्मस्तकस्थिताः ॥४१८॥
शिरो विराजते तस्य शिखरं वा मरुन्मेरोः । ललाटपट्टभागोऽस्मादहमग्रोपरीति वा ॥४१९॥

अभिषेक किया ॥४००-४०४॥ यद्यपि भगवान् स्वयं उत्तमोत्तम आभूषणोंमें-से एक आभूषण थे तथापि इन्द्रने केवल आचारका पालन करनेके लिए ही उन्हें आभूषणोंसे विभूषित किया था ॥४०५॥ 'ये भगवान् सबको शान्ति देनेवाले हैं इसलिए 'शान्ति' इस नामको प्राप्त हों' ऐसा सोचकर इन्द्रने अभिषेकके बाद उनका शान्तिनाथ नाम रखा ॥४०६॥ तदनन्तर धर्मेन्द्र सब देवोंके साथ बड़े प्रेमसे सुमेरु पर्वतसे राजमन्दिर आया और मातामें सब समाचार कह-कर उसने वे त्रिलोकीनाथ माताको सौंप दिये ॥४०७॥ जिसे आनन्द प्रकट हो रहा है तथा जिसके अनेक भावों और रसोंका उदय हुआ है ऐसे इन्द्रने नृत्य किया सो ठीक ही है क्योंकि जब हर्ष मर्यादाका उल्लंघन कर जाता है तो किस रागी मनुष्यको नहीं नचा देता ? ॥४०८॥ यद्यपि भगवान् तीन लोकके रक्षक थे तो भी इन्द्रने उन बालकरूपधारी महात्माकी रक्षा करनेके लिए लोकपालोंको नियुक्त किया था ॥४०९॥ इस प्रकार जन्मकल्याणकका उत्सव पूर्ण कर समस्त देव इन्द्रके साथ अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥४१०॥

धर्मनाथ तीर्थंकरके बाद पौन पल्य कम तीन सागर बीत जाने तथा पाव पल्य तक मुनिके मार्गका विच्छेद हो लेनेपर जिन्हें मनुष्य और इन्द्र नमस्कार करते हैं ऐसे शान्तिनाथ भगवान् उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु भी इसीमें सम्मिलित थी ॥४११-४१२॥ उनकी एक लाख वर्षकी आयु थी, चालीस धनुष ऊँचा शरीर था, सुवर्णके समान कान्ति थी, ध्वजा, तोरण, सूर्य, चन्द्र, शंख, और चक्र आदिके चिह्न उनके शरीरमें थे ॥४१३॥ पुण्यकर्मके उदयसे दृढरथ भी दीर्घकाल तक अहमिन्द्रपनेका अनुभव कर राजा विश्वसेनकी दूसरी रानी यशस्वतीके चक्रायुध नामका पुत्र हुआ ॥४१४॥ जिस प्रकार समुद्रमें महामणि बढ़ता है, मुनिमें गुणोंका समूह बढ़ता है और प्रकट हुए अभ्युदयमें हर्ष बढ़ता है उसी प्रकार वहाँ बालक शान्तिनाथ बढ़ रहे थे ॥४१५॥ उनमें अनेक गुण, अवयवोंके साथ स्पर्धा करके ही मानो क्रम-क्रमसे बढ़ रहे थे और कीर्ति, लक्ष्मी तथा सरस्वती इस प्रकार बढ़ रही थीं मानो सगी बहन ही हों ॥४१६॥ जिस प्रकार पूर्णिमाके दिन विकलता-खण्डावस्थासे रहित चन्द्रमाका मण्डल सुशोभित होता है उसी प्रकार पूर्ण यौवन प्राप्त होनेपर उनका रूप, सौन्दर्य प्राप्त कर अधिक सुशोभित हो रहा था ॥४१७॥ उनके मस्तकपर इकट्ठे हुए भ्रमरोंके समान, कोमल पतले, चिकने, काले और घूँघरवाले शुभ बाल बड़े ही अच्छे जान पड़ते थे ॥४१८॥ उनका शिर

---

१ सब शान्ति म०, ल० । २ चोद्गतानन्दो ल० । ३ प्रमोदो ल० । ४ यथा विधाय क० ख०, ग०, घ०, म० । ५ सकुञ्चिताः ग०, म०, ल० ।

लक्ष्मीर्ललाटपट्टेऽस्मिंस्तस्य पट्टद्वयार्चिता । राजतामिति वा तुङ्गं विस्तीर्णं च व्यधाद्विधिः ॥४२०॥
सुरूपे कुटिले चास्य भ्रुवौ वेश्येव रेजतुः । कुटिलेति न रेखा किं पीयूषांशोर्विराजते ॥४२१॥
आधिक्यं चक्षुषोः प्राहुः शुभावयवचिन्तकाः । वीक्ष्य तच्चक्षुषी व्यक्तमित्यथमनयोः स्तुतिः ॥४२२॥
कर्णौ तस्य न वर्ण्येते निःशेषश्रुतपात्रताम् । यातौ चेद् दुर्लभं तत्तु शोभान्यत्रापि विद्यते ॥४२३॥
अयं विनिर्जिताशेषं मोहमल्लं विजेष्यते । मात्वत्रैवेति वा तुङ्गा संगता नासिका कृता ॥४२४॥
कपोलफलकौ श्लक्ष्णौ धात्रा वा विपुलौ कृतौ । तद्वक्त्रजसरस्वत्या विनोदेन विलेखितुम् ॥४२५॥
स्मितभेदाः सरस्वत्याः किं किं शुद्धाक्षरावलिः । शंकामिति सिताः स्निग्धाः घनास्तेनु द्विजाः समाः ॥४२६॥
वटबिम्बप्रवालादि परेषां भवतूपमा । नास्याधरस्य तेनायं स्मर्यते नाधरोऽधरः ॥४२७॥
भवेच्चिबुकमन्येषां माविश्मश्रु किमप्यदः । सदा दृश्यमिदं भावादित्यकारीव शोभनम् ॥४२८॥
क्षयी कलङ्की पङ्कोत्थं रजसा दूषितं ततः । नैतद्वक्त्रस्य साधर्म्यं धत्तः स्मेन्दुसरोरुहं ॥४२९॥
ध्वनिश्चेन्निर्गतस्तस्माद्दिव्यो विश्वार्थदर्पणः । पृथक् सुकण्ठता तस्य कण्ठस्य किमु वर्ण्यते ॥४३०॥
स्पर्द्धमानभुजाभ्यां तौङ्ग्येन शिरसा समम् । त्रिकूटहाटकाद्रिर्वा सोऽभात्त्रिभुवनप्रभुः ॥४३१॥
बाहू बहुतरं तस्य भातः स्माजानुलम्बिनौ[1] । धात्रीं संधर्तुकामौ वा केयूरादिविभूषणौ ॥४३२॥
व्यधायि वेधसा तस्य विस्तीर्णं वक्षसः स्थलम् । असंबाधं वसन्त्वस्मिन्निति वा बह्वः श्रियः ॥४३३॥

मेरुपर्वतके शिखरके समान सुशोभित होता था अथवा इस विचारसे ही ऊँचा उठ रहा था कि यद्यपि इनका ललाट राज्यपट्टको प्राप्त होगा परन्तु उससे ऊँचा तो मैं ही हूँ ॥४१९॥ उनके इस ललाटपट्टपर धर्मपट्ट और राज्यपट्ट दोनोंसे पूजित लक्ष्मी सुशोभित होगी इस विचारसे ही मानो विधाताने उनका ललाट ऊँचा तथा चौड़ा बनाया था ॥४२०॥ उनकी सुन्दर तथा कुटिल भौंहें वेश्याके समान सुशोभित हो रही थीं। 'कुटिल है' इसलिए क्या चन्द्रमाकी रेखा सुशोभित नहीं होती अर्थात् अवश्य होती है ॥४२१॥ शुभ अवयवोंका विचार करनेवाले लोग नेत्रोंकी दीर्घताको अच्छा कहते हैं सो .मालूम पड़ता है कि भगवान्‌के नेत्र देखकर ही उन्होंने ऐसा विचार स्थिर किया होगा। यही उनके नेत्रोंकी स्तुति है ॥४२२॥ यदि उनके कान समस्त शास्त्रों-की पात्रताको प्राप्त थे तो उनका वर्णन ही नहीं किया जा सकता क्योंकि संसारमें यही एक बात दुर्लभ है। शोभा तो दूसरी जगह भी हो सकती है ॥४२३॥ 'ये भगवान्, सबको जीतने-वाले मोहरूपी मल्लको जीतेंगे इसलिए ऊँची नाक इन्हींमें शोभा दे सकेगी' ऐसा विचार कर ही मानो विधाताने उनकी नाक कुछ ऊँची बनायी थी॥४२४॥ उनके मुखसे उत्पन्न हुई सरस्वती विनोदसे कुछ लिखेगी यह विचार कर ही मानो विधाताने उनके कपोलरूपी पटिये चिकने और चौड़े बनाये थे ॥४२५॥ उनके सफेद चिकने सघन और एक बराबर दाँत यही शंका उत्पन्न करते थे कि क्या ये सरस्वतीके मन्द हास्यके भेद हैं अथवा क्या शुद्ध अक्षरोंकी पंक्ति ही हैं ॥४२६॥ बरगदका पका फल, बिम्बफल और मूँगा आदि दूसरोंके ओठोंकी उपमा भले ही हो जावें परन्तु उनके ओठकी उपमा नहीं हो सकते इसीलिए इनका अधर—ओंठ अधर—नीच नहीं कहलाता था ॥४२७॥ अन्य लोगोंका चिबुक तो आगे होनेवाली डाढ़ीसे ढक जाता है परन्तु इनका चिबुक सदा दिखाई देता था इससे जान पड़ता है कि वह केवल शोभाके लिए ही बनाया गया था॥४२८॥ चन्द्रमा क्षयी है तथा कलंकसे युक्त है और कमल कीचड़से उत्पन्न है तथा रजसे दूषित है इसलिए दोनों ही उनके मुखकी सदृशता नहीं धारण कर सकते ॥४२९॥ यदि उनके कण्ठसे दर्पणके समान सब पदार्थोंको प्रकट करनेवाली दिव्यध्वनि प्रकट होगी तो फिर उस कण्ठकी सुकण्ठताका अलग वर्णन क्या करना चाहिए ? ॥४३०॥ वे त्रिलोकी-नाथ ऊँचाईके द्वारा शिरके साथ स्पर्धा करनेवाले अपने दोनों कन्धोंसे ऐसे सुशोभित होते थे मानो तीन शिखरोंवाला सुवर्णगिरि ही हो ॥४३१॥ घुटनों तक लम्बी एवं केयूर आदि आभूषणोंसे विभूषित उनकी दोनों भुजाएँ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो पृथिवीको उठाना ही चाहती हों ॥४३२॥ बहुत-सी लक्ष्मियाँ एक-दूसरेकी

---

१ लम्बितौ ल० ।

व्यालम्बमध्यमणिच्छायाहारं वक्षो व्यधात्तराम् । मध्यीकृतार्कसंध्याभ्रहेमाद्रितटसंनिभम् ॥४३४॥
तन्मध्यं मुष्टिसंमायि बिभ्रत्यूर्ध्वतनोर्भरम् । गुरुं निराकुलं तस्य तानवं तेन शोभते ॥४३५॥
गम्भीरा दक्षिणावर्ता तस्याभ्युदयसूचिनी । नाभिः सपद्मा मध्यस्था स्यात्पदं न स्तुतेः कुतः ॥४३६॥
कटीतटी कटीसूत्रधारिणी हारिणी भृशम् । सवेदिकास्थली वास्य जम्बूद्वीपस्य भासते ॥४३७॥
वृत्ते श्लक्ष्णे सुखस्पर्शे स्तां रम्भास्तम्भसंनिभे । किन्त्वस्योरू सदादत्तफले गुरुभरक्षमे ॥४३८॥
मर्यादाकारि यत्तस्मात्तद्द्वैतस्योरुजङ्घयोः । शस्यं जानुद्वयं सद्भिः सत्क्रियं किल शस्यते ॥४३९॥
नमिताशेषदेवेन्द्रौ पादपद्मौ श्रिया श्रितौ । तयोरुपरि चेज्जङ्घे तस्य का वर्णना परा ॥४४०॥
गुल्फयोरिव मन्त्रस्य गूढतेव गुणोऽभवत् । फलदा सा ततः सर्वं फलकृत्त्वाद् गुणि स्मृतम् ॥४४१॥
कूर्मपृष्ठौ क्रमौ तस्य श्रित्वा तौ सुस्थिता धरा । धृता कूर्मेण धात्रीति ध्रुवं रूढिरतोऽभवत् ॥४४२॥
पीनावग्रोन्नतौ सुस्थौ तस्याङ्गुष्ठौ सुखाकरौ । रेजतुर्दर्शयन्तौ वा मार्गं स्वर्गापवर्गयोः ॥४४३॥
अष्टावङ्गुलयस्तस्य बभुः श्लिष्टाः परस्परम् । कर्माण्यष्टावपह्नोतुं निर्गता इव शक्तयः ॥४४४॥
दशधर्माः पुरैवैनं तद्व्याजेनेव सेवितुम् । क्रमौ समाश्रितास्तस्य व्यराजन्त नखाः सुखाः ॥४४५॥
अस्यावयवभावात्ते वासबाधा नमन्ति नौ । इतीव रागिणौ तस्य पादौ पल्लवसंनिभौ ॥४४६॥

बाधाके बिना ही इसमें निवास कर सकें यह सोचकर ही मानो विधाताने उनका वक्षःस्थल बहुत चौड़ा बनाया था ॥४३३॥ जिसके मध्यमें मणियोंकी कान्तिसे सुशोभित हार पड़ा हुआ है ऐसा उनका वक्षःस्थल, जिसके मध्यमें सन्ध्याके लाल-लाल बादल पड़ रहे हैं ऐसे हिमाचलके तटके समान जान पड़ता था ॥४३४॥ मुट्ठीमें समानेके योग्य उनका मध्यभाग चूँकि उपरिवर्ती शरीरके बहुत भारी बोझको बिना किसी आकुलताके धारण करता था अतः उसका पतलापन ठीक ही शोभा देता था ॥४३५॥ उनकी नाभि चूँकि गम्भीर थी, दक्षिणावर्तसे सहित थी। अभ्युदयको सूचित करनेवाली थी, पद्मचिह्नसे सहित थी और मध्यस्थ थी अतः स्तुतिका स्थान—प्रशंसाका पात्र क्यों नहीं होती ? अवश्य होती ॥४३६॥ करधनीको धारण करनेवाली उनकी सुन्दर कमर बहुत ही अधिक सुशोभित होती थी और जम्बूद्वीपकी वेदीसहित जगतीके समान जान पड़ती थी ॥४३७॥ उनके ऊरु केलेके स्तम्भके समान गोल, चिकने तथा स्पर्श करनेपर सुख देनेवाले थे अन्तर केवल इतना था कि केलेके स्तम्भ एक बार फल देते हैं परन्तु वे बार-बार फल देते थे और केलेके स्तम्भ बोझ धारण करनेमें समर्थ नहीं हैं परन्तु वे बहुत भारी बोझ धारण करनेमें समर्थ थे ॥४३८॥ चूँकि उनके घुटनोंने ऊरु और जंघा दोनोंके बीच मर्यादा कर दी थी—दोनोंकी सीमा बाँध दी थी इसलिए वे सत्पुरुषोंके द्वारा प्रशंसनीय थे सो ठीक ही है क्योंकि जो अच्छा कार्य करता है उसकी प्रशंसा क्यों नहीं की जावे ? अवश्य की जावे ॥ ४३९॥ उनके चरणकमल समस्त इन्द्रोंको नमस्कार कराते थे तथा लक्ष्मी उनकी सेवा करती थी। जब उनके चरणकमलोंका यह हाल था तब जंघाएँ तो उनके ऊपर थीं इसलिए उनका और वर्णन क्या किया जाये ? ॥४४०॥ जिस प्रकार मन्त्रमें गूढ़ता गुण रहता है उसी प्रकार उनके दोनों गुल्फों—एड़ीके ऊपरकी गाँठोंमें गूढ़ता गुण रहता था परन्तु उनकी यह गुणता फल देनेवाली थी सो ठीक ही है क्योंकि सभी पदार्थ फलदायी होनेसे ही गुणी कहलाते हैं ॥४४१॥ उनके दोनों चरणोंका पृष्ठभाग कछुएके समान था और यह पृथिवी उन्हींका आश्रय पाकर निराकुल थी। जान पड़ता है कि 'पृथिवी कछुएके द्वारा धारण की गयी है' यह रूढ़ि उसी समयसे प्रचलित हुई है ॥४४२॥ उनके दोनों अँगूठे स्थूल थे, आगेको उठे हुए थे, अच्छी तरह स्थित थे, सुखकी खान थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो स्वर्ग तथा मोक्षका मार्ग ही दिखला रहे हों ॥४४३॥ परस्परमें एक-दूसरेसे सटी हुई उनकी आठों अँगुलियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो आठों कर्मोंका अपह्नव करनेके लिए आठ शक्तियाँ ही प्रकट हुई हों ॥४४४॥ उनके चरणोंका आश्रय लेनेवाले सुखकारी दश नख ऐसे सुशोभित होते थे मानो उन नखोंके बहाने उत्तम क्षमा आदि दशधर्म उनकी सेवा करनेके लिए पहलेसे ही आ गये हों

नामृतांशोर्निशासंगादुष्णत्वाद्भास्करस्य च । तेजस्तस्योपमानं स्याद् [1]भूषणक्ष्माजतेजसः ॥४४७॥
कान्तेः का वर्णना तस्य यदि शक्रः सहस्रदृक् । शचीवदनपङ्केजविमुखस्तं निरीक्षते ॥४४८॥
भूषणानां कुलं लेभे शोभां तस्याङ्गसंगमात् । महामणिनिबद्धेद्धसुधौतकलधौतवत् ॥४४९॥
स्वनामश्रुतिसंशुष्यन्मदारिकरिसंहतेः । रवोऽराजत राजेशो राजकण्ठीरवस्य वा ॥४५०॥
कीर्तिवल्ली जगत्प्रान्तं प्राप्य प्रागेव जन्मनः । तदीयालम्बनाभावादिव तावति सुस्थिता ॥४५१॥
कुलरूपवयःशीलकलाकान्त्यादिभूषणाः । कन्यकास्तत्पिता तेनायोजयत्सुखदायिनीः ॥४५२॥
कामिनांनीलनीरेजदलोज्ज्वलविलोचनैः । प्रेमामृताम्बुसंसिक्तैर्मुहुराह्लादिताशयः ॥४५३॥
चलुभावलिताकोलकीलालसविलोकनैः । स्वमनोधनलुण्टाकैरखण्डं स शमेयिवान्[2] ॥४५४॥
[3]पञ्चवर्गसहस्राब्दकाले गतवतीशितुः । कौमारेण सुखैरेव दिव्यमानुषगोचरैः ॥४५५॥
ततोऽनु तत्प्रमाणेन विश्वसेनसमर्पिते । राज्येऽप्यच्छिन्नभोगस्य काले विगलिते तदा ॥४५६॥
साम्राज्यसंधनान्यस्य चक्रादीनि चतुर्दश । रत्नानि निधयोऽभूवन्नव चाविष्कृतौजसः ॥४५७॥
तेषु चक्रातपत्रासिदण्डाः शस्त्रगृहेऽभवन् । काकिणी चर्मचूडादिमणिश्च श्रीनिकेतने ॥४५८॥
पुरोधाः स्थपतिः सेनापतिर्गृहपतिश्च ते । हास्तिनाख्यपुरे कन्यागजाश्वाः खगभूधरे ॥४५९॥
नवापि निधयः पूज्या नदीसागरसंगमे । तदानीमेव देवेशैरानीताः पुण्यचोदितैः ॥४६०॥
इत्याधिपत्यमासाद्य दशभोगाङ्गसंगतः । तावत्येव गते काले स्वालंकारालयान्तरे ॥४६१॥

करते हैं यह सोचकर ही मानो नवीन पत्तोंके समान उनके दोनों पैर रागी—रागसहित अथवा लालरंगके हो रहे थे ॥४४६॥ चन्द्रमाके साथ रात्रिका समागम रहता है और सूर्य उष्ण है अतः ये दोनों ही उनके तेजकी उपमा नहीं हो सकते। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि उनका तेज भूषणांग जातिके कल्पवृक्षके तेजके समान था ॥४४७॥ जब कि हजार नेत्रवाला इन्द्र इन्द्राणीके मुखकमलसे विमुख होकर उनकी ओर देखता रहता है तब उनकी कान्तिका क्या वर्णन किया जावे? ॥४४८॥ जिस प्रकार महामणियोंसे निबद्ध देदीप्यमान उज्ज्वल सुवर्ण सुशोभित होता है उसी प्रकार उनके शरीरके समागमसे आभूषणोंका समूह सुशोभित होता था ॥४४९॥ अपने नामके सुनने मात्रसे ही जिन्होंने शत्रुरूपी हाथियोंके समूहका मद सुखा दिया है ऐसे राजाधिराज भगवान् शान्तिनाथका शब्द सिंहके शब्दके समान सुशोभित होता था ॥४५०॥ उनकी कीर्तिरूपी लता जन्मसे पहले ही लोकके अन्त तक पहुँच चुकी थी, परन्तु उसके आगे आलम्बन न मिलनेसे वह वहींपर स्थित रह गयी ॥४५१॥ उनके पिताने कुल, रूप, अवस्था, शील, कला, कान्ति आदिसे विभूषित सुख देनेवाली अनेक कन्याओंका उनके साथ समागम कराया था—अनेक कन्याओंके साथ उनका विवाह कराया था ॥४५२॥ प्रेमामृतरूपी जलसे सींचे हुए स्त्रियोंके नीलकमलदलके समान नेत्रोंसे वे अपना हृदय बार-बार प्रसन्न करते थे ॥४५३॥ अपने मनरूपी धनको लूटनेवाली स्त्रियोंकी तिरछी चंचल लीलापूर्वक और आलस-भरी चितवनोंसे वे पूर्ण सुखको प्राप्त होते थे ॥४५४॥ इस तरह देव और मनुष्योंके सुख भोगते हुए भगवान्‌के जब कुमारकालके पचीस हजार वर्ष बीत गये तब महाराज विश्वसेनने उन्हें अपना राज्य समर्पण कर दिया। क्रम-क्रमसे अखण्ड भोग भोगते हुए जब उनके पचीस हजार वर्ष और व्यतीत हो गये तब तेजको प्रकट करनेवाले भगवान्‌के साम्राज्यके साधन चक्र आदि चौदह रत्न और नौ निधियाँ प्रकट हुईं ॥४५५-४५७॥ उन चौदह रत्नोंमें-से चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड ये आयुधशालामें उत्पन्न हुए थे; काकिणी, चर्म और चूड़ामणि श्रीगृहमें प्रकट हुए थे; पुरोहित, स्थपति, सेनापति और गृहपति हस्तिनापुरमें मिले थे और कन्या, गज तथा अश्व विजयार्ध पर्वतपर प्राप्त हुए थे ॥४५८-४५९॥ पूजनीय नौ निधियाँ भी पुण्यसे प्रेरित हुए इन्द्रोंके द्वारा नदी और सागरके समागमपर लाकर दी गयी थीं ॥४६०॥ इस प्रकार चक्रवर्तीका साम्राज्य पाकर दश प्रकारके भोगोंका उपभोग करते हुए जब उनके

---

१ भूषणाङ्गकल्पवृक्षतेजसः । २ शम् सुखम् एयिवान् प्राप्तवान् । ३ पञ्चविंशत् ल० ।

अलंकुर्वन्निजच्छायाद्वयमालोक्य दर्पणे । साश्चर्यं चिन्तयन्नेतत्किमित्यन्तर्गतं कृती ॥४६२॥
लब्धबोधिर्मतिज्ञानक्षयोपशमसंपदा । स्वजन्मान्तर[1]संतानं स्मृत्वा निर्वेदमासवान् ॥४६३॥
घनच्छायासमाः सर्वसंपदः सुरराहति- । विद्युद्द्युतिवल्लक्ष्मीः कायो मायामयोऽपि वा ॥४६४॥
प्रातश्छायायुरात्मीयाः परकीया वियोगवत् । संयोगो हानिवद्वृद्धिर्जन्मेदं पूर्वजन्मवत् ॥४६५॥
इति चेतसि संपश्यन् सर्वमेतन्महीपतिः । निर्गन्तुमुद्ययौ गेहाद् दूरीकृतदुराशयः ॥४६६॥
तदा लौकान्तिकाः प्राप्य धर्मतीर्थस्य वर्द्धने । कालोऽयं तव देवस्य चिरविच्छिन्नसंततेः ॥४६७॥
इत्यबोचन् वचस्तेषामनुमत्य महामतिः । नारायणाय तद्राज्यं सूनवेऽश्राणयन्मुदा ॥४६८॥
ततः सुरगणाधीशविहिताभिषवोत्सवः । युक्तिमद्वचनैर्बन्धून् मोचयित्वाग्रणीः सताम् ॥४६९॥
सर्वार्थसिद्धिं शिबिकामारूह्य स मरुद्धृताम् । सहस्राम्रवनं प्राप्य कमनीयशिलातले ॥४७०॥
कुबेरदिङ्मुखो बद्धपर्यङ्कासनसुस्थितः । ज्येष्ठस्य मास्यसिते पक्षे[2] चतुर्दश्यपराह्णके ॥४७१॥
भरण्यां षष्ठोपवासेन मरण्यां प्रणिधानवान्[3] । कृतसिद्धनमस्कारस्त्यक्तवस्त्राद्युपच्छदः ॥४७२॥
पञ्चमुष्टिभिरुल्लुञ्च्य केशान् क्लेशानिवायतान् । जातरूपं हसन् दीप्त्या जातरूपमवाप्य सः ॥४७३॥
सद्यः सामयिकीं शुद्धिं समनःपर्ययामगात् । केशांस्तदैव देवेशो ज्वलत्पटलिकार्पितान् ॥४७४॥
यथा बहुगुणीभूतानामोदमिलितालिभिः । पञ्चमाब्धितरङ्गाणां [4]परभागे व्यधात्तराम् ॥४७५॥
चक्रायुधादि तद्राज्ञां सहस्रं सह संयमम् । शान्तिनाथेन संप्रापदापदामन्तकारिणा ॥४७६॥

पचीस हजार वर्ष और व्यतीत हो गये तब एक दिन वे अपने अलंकार-गृहके भीतर अलंकार धारण कर रहे थे उसी समय उन्हें दर्पणमें अपने दो प्रतिबिम्ब दिखे । वे बुद्धिमान् भगवान् आश्चर्यके साथ अपने मनमें विचार करने लगे कि यह क्या है ? ॥४६१–४६२॥ उसी समय उन्हें बोधिकी प्राप्ति हुई और मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप सम्पदासे वे पूर्व जन्मकी सब बातें जानकर वैराग्यको प्राप्त हो गये ॥४६३॥ वे विचार करने लगे कि समस्त सम्पदाएँ मेघोंकी छायाके समान हैं, लक्ष्मी, इन्द्रधनुष और बिजलीकी चमकके समान हैं, शरीर माया-मय है, आयु प्रातःकालकी छायाके समान है—उत्तरोत्तर घटती रहती है, अपने लोग परके समान हैं, संयोग-वियोगके समान है, वृद्धि हानिके समान है और यह जन्म पूर्व जन्मके समान है ॥४६४–४६५॥ ऐसा विचार करते हुए चक्रवर्ती शान्तिनाथ अपने समस्त दुर्भाव दूर कर घरसे बाहर निकलनेका उद्योग करने लगे ॥४६६॥ उसी समय लौकान्तिक देवोंने आकर कहा कि हे देव ! जिसकी चिरकालसे सन्तति टूटी हुई है ऐसे इस धर्मरूप तीर्थके प्रवर्तनका आपका यह समय है ॥४६७॥ महाबुद्धिमान् शान्तिनाथ चक्रवर्तीने लौकान्तिक देवोंकी वाणीका अनु-मोदन कर अपना राज्य बड़े हर्षसे नारायण नामक पुत्रके लिए दे दिया ॥४६८॥ तदनन्तर देवसमूहके अधिपति इन्द्रने उनका दीक्षाभिषेक किया । इस प्रकार सज्जनोंमें अग्रेसर भगवान् युक्तिपूर्ण वचनोंके द्वारा समस्त भाई-बन्धुओंको छोड़कर देवताओंके द्वारा उठायी हुई सर्वार्थ-सिद्धि नामकी पालकीमें आरूढ़ हुए और सहस्राम्रवनमें जाकर सुन्दर शिलातलपर उत्तरकी ओर मुख कर पर्यंकासनसे विराजमान हो गये । उसी समय ज्येष्ठकृष्ण चतुर्दशीके दिन शामके समय भरणी नक्षत्रमें बेलाका नियम लेकर उन्होंने अपना उपयोग स्थिर किया, सिद्ध भग-वान्‌को नमस्कार किया, वस्त्र आदि समस्त उपकरण छोड़ दिये, पंचमुष्टियोंके द्वारा लम्बे क्लेशों-के समान केशोंको उखाड़ डाला । अपनी दीप्तिसे जातरूप—सुवर्णकी हँसी करते हुए उन्होंने जातरूप—दिगम्बर मुद्रा प्राप्त कर ली, और शीघ्र ही सामायिक चारित्रसम्बन्धी विशुद्धता तथा मनःपर्ययज्ञान प्राप्त कर लिया । इन्द्रने उनके केशोंको उसी समय देदीप्यमान पिटारेमें रख लिया । सुगन्धके कारण उन केशोंपर आकर बहुत-से भ्रमर बैठ गये थे जिससे ऐसा जान पड़ता था कि वे कई गुणित हो गये हों । इन्द्रने उन केशोंको क्षीरसागरकी तरंगोंके उस ओर क्षेप दिया ॥४६९–४७५॥ चक्रायुधको आदि लेकर एक हजार राजाओंने भी विपत्तिको अन्त करनेवाले श्री

---

१. संजातं म० । २ चतुर्दश्यां पराह्णके म०, । चतुर्थ्यामपराह्णके ल० । ३ प्रणिप्रणिधानवत् ल० । ४ परं भागं ख० ।

भूयादस्माकमप्येवमित्याशासनतत्पराः । [1]पुण्यपण्यं समादाय [2]भक्तिमौल्येन भाक्तिकाः ॥४७७॥
पाकशासनमुख्याश्च नाकलोकोन्मुखा[3] ययुः । [4]स्वाशनाद् विश्वलोकेशो पवित्रं मन्दरं पुरम् ॥४७८॥
प्रविशाय प्रदायान्नं प्रासुकं परमोत्सवात् । सुमित्राख्यमहीपालः प्रापदाश्चर्यपञ्चकम् ॥४७९॥
क्रमादेवं तपः कुर्वन्नुर्वीं सर्वां पवित्रयन् । तनूकृतकषायः सन् मोहारातिजिगीषया ॥४८०॥
बहुभिर्मुनिभिः सार्द्धं श्रीमान् चक्रायुधादिभिः । सहस्राम्रवनं प्राप्य नन्द्यावर्ततरोरधः ॥४८१॥
श्रेष्ठः षष्ठोपवासेन धवले दशमीदिने । पौषे मासि दिनस्यान्ते पल्यङ्कासनमास्थितः ॥४८२॥
प्राङ्मुखो बाह्यसामग्रीं नैर्ग्रन्थ्यादिमवाप्तवान् । करणत्रयसंप्राप्त[5]क्षपकश्रेणिमध्यगः ॥४८३॥
आरूढतुर्यचारित्ररथो [6]धर्म्याभिधानभाक् । ध्यानासिहतमोहारिर्वीतरागोऽन्त्यसंयमः ॥४८४॥
द्वितीयशुक्लसद्ध्यानचक्रविच्छिन्नघातिकः । एवं षोडशवर्षाणि छाद्मस्थ्यं भावमाश्रितः ॥४८५॥
निर्ग्रन्थो नीरजा वीतविघ्नो विश्वैकबान्धवः । केवलज्ञानसाम्राज्यश्रियं शान्तामशिश्रियत् ॥४८६॥
तदा तीर्थकराख्योरुपुण्यकर्ममहामरुत् । संक्षोभितचतुर्भेदसुराम्भोधिर्विजृम्भितः ॥४८७॥
स्वसमुद्भूतसद्भक्तितरङ्गानीतपूजनः । रत्नावलीभिरित्येतं प्रार्थयत्प्राणभृत्पतिम् ॥४८८॥
चक्रायुधादयश्चास्य षट्त्रिंशद्गणनायकाः । शतान्यष्टौ समाख्याताः पूर्वाणां पारदर्शिनः ॥४८९॥
शून्यद्वितयवस्वेकचतुर्निर्मितशिक्षकाः । त्रिसहस्रावधिज्ञानसमुज्ज्वलविलोचनाः ॥४९०॥

शान्तिनाथ भगवान्‌के साथ संयम धारण किया था ॥४७६॥ हमारे भी ऐसा ही संयम हो इस प्रकारकी इच्छा करते हुए इन्द्रादि भक्त देव, भक्तिरूपी मूल्यके द्वारा पुण्यरूपी सौदा खरीद कर स्वर्गलोकके सन्मुख चले गये ॥४७७॥

इधर आहार करनेकी इच्छासे समस्त लोकके स्वामी श्री शान्तिनाथ भगवान् मन्दिरपुर नगरमें प्रविष्ट हुए। वहाँ सुमित्र राजाने बड़े उत्सवके साथ उन्हें प्रासुक आहार देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥४७८-४७९॥ इस प्रकार अनुक्रमसे तपश्चरण करते हुए उन्होंने समस्त पृथिवीको पवित्र किया और मोहरूपी शत्रुको जीतनेकी इच्छासे कषायोंको कृश किया ॥४८०॥ चक्रायुध आदिके अनेक मुनियोंके साथ श्रीमान् भगवान् शान्तिनाथने सहस्राम्रवनमें प्रवेश किया और नन्द्यावर्त वृक्षके नीचे वेलाके उपवासका नियम लेकर वे विराजमान हो गये। अत्यन्त श्रेष्ठ भगवान् पौष शुक्ल दशमीके दिन सायंकालके समय पर्यंकासनसे विराजमान थे। पूर्वकी ओर मुख था, निर्ग्रन्थता आदि समस्त बाह्य सामग्री उन्हें प्राप्त थी, अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणोंसे प्राप्त हुई क्षपक श्रेणीके मध्यमें अवस्थित थे, सूक्ष्मसाम्पराय नामक चतुर्थ चारित्ररूपी रथपर आरूढ़ थे, प्रथम शुक्लध्यानरूपी तलवारके द्वारा उन्होंने मोहरूपी शत्रुको नष्ट कर दिया, अब वे वीतराग होकर यथाख्यातचारित्रके धारक हो गये। अन्तर्मुहूर्त बाद उन्होंने द्वितीय शुक्लध्यानरूपी चक्रके द्वारा घातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया, इस तरह वे सोलह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्थाको प्राप्त रहे। मोहनीय कर्मका क्षय होनेसे वे निर्ग्रन्थ हो गये, ज्ञानावरण, दर्शनावरणका अभाव होनेसे नीरज हो गये, अन्तरायका क्षय होनेसे वीतविघ्न हो गये और समस्त संसारके एक बान्धव होकर उन्होंने अत्यन्त शान्त केवलज्ञानरूपी साम्राज्यलक्ष्मीको प्राप्त किया ॥४८१-४८६॥ उसी समय तीर्थंकर नामका बड़ा भारी पुण्यकर्मरूपी महावायु, चतुर्णिकायके देवरूपी समुद्रको क्षुभित करता हुआ बड़े वेगसे बढ़ रहा था ॥४८७॥ अपने-आपमें उत्पन्न हुई सद्भक्तिरूपी तरंगोंसे जो पूजनकी सामग्री लाये हैं ऐसे सब लोग रत्नावली आदिके द्वारा, सब जीवोंके नाथ श्री शान्तिनाथ भगवान्‌की पूजा करने लगे ॥४८८॥

उनके समवसरणमें चक्रायुधको आदि लेकर छत्तीस गणधर थे, आठ सौ पूर्वोंके पारदर्शी थे, इकतालीस हजार आठ सौ शिक्षक थे, और तीन हजार अवधिज्ञानरूपी निर्मल नेत्रोंके धारक थे

---

१ पुण्यं पण्यं ल० । २ भक्तिमूल्येन म० । ३ लोकोत्सुका म०, ल० । ४ स्वाश्रमान् विश्वलोकेश. ल० । ५ सम्प्राप्ति म०, ल० । ६ श्रेण्यां धर्म्यध्यानं न भवति, अतः 'शुक्लाभिधानभाग्' इति पाठः सुष्ठु प्रतिभाति । अथवा चारित्रमोहस्य मन्दोदयसद्भावतया दशमगुणस्थाने यावत् विवक्षाविशेषतो धर्म्यध्यानमपि धवलायां प्रतिपादितं तदपेक्षया संगतिः करणीया ।

चतुःसहस्रसंख्योक्तकेवलावगमेश्वराः । षट्सहस्राणि संप्रोक्तविक्रियर्द्धिविभूषिताः ॥४९१॥
मनःपर्ययसद्बोधसहस्राणां चतुष्टयम् । शून्यद्वयचतुःपक्षलक्षिताः पूज्यवादिनः ॥४९२॥
ते द्विषष्टिसहस्राणि सर्वेऽपि मुनयो मताः । आर्यिका हरिषेणाद्या. खद्वयत्रिखषड्मिताः ॥४९३॥
श्रावकाः सुरकीर्त्याद्या लक्षद्वयनिरूपिताः । अर्हद्दास्यादिकाः प्रोक्ताः श्राविका द्विगुणास्ततः ॥४९४॥
देवा देव्योऽप्यसंख्याताः[1]स्तिर्यञ्चः संख्ययामिताः । इति द्वादशभिः सार्द्धं गणैः सद्धर्ममादिशत् ॥४९५॥
विहरन्मासमात्रायुः संमेदाचलमागतः । व्यपेतव्याहृतिर्योगमास्थायाचलितं विभुः ॥४९६॥
ज्येष्ठकृष्णचतुर्दश्यां पूर्वरात्रे कृतक्रियः । तृतीयशुक्लध्यानेन रुद्धयोगो विबन्धनः ॥४९७॥
[2]अकारपञ्चकोच्चारमात्रकाले वियोगकः । चतुर्थशुक्लध्यानेन निराकृततनुत्रयः ॥४९८॥
भराण्यां भरणिनक्षत्रे लोकाग्रं गुणविग्रहः । अतीतकाले ताः सिद्धा यत्रानन्ता निरञ्जनाः ॥४९९॥
चतुर्विधामराः सेन्द्राः निस्तन्द्रा रूढभक्तयः । कृत्वान्त्येष्टिं तदागत्य स्वं स्वमावासमाश्रयन् ॥५००॥
चक्रायुधादयोऽप्येवमाध्यायान्त्यतनुत्रयम् । हित्वा नव सहस्राणि निर्वृतिं यतयोऽगमन् ॥५०१॥

मालिनी

इति परममवाप्य ज्ञानदृक्सौख्यवीर्य-
स्फुरिततनुनिवासव्याहृतिस्थानमुच्चैः ।
सुरपतिदृढपूज्यः शान्तिभट्टारको वो
दिशतु परमसप्तस्थानसंप्राप्तिमाप्तः ॥५०२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

कर्माण्यष्ट सकारणानि [3]सकलान्युन्मूल्य नैर्मल्यवान्
सम्यक्त्वादिगुणाष्टकं निजमजः स्वीकृत्य कृत्यान्तगः ।

॥४८९-४९०॥ वे चार हजार केवलज्ञानियोंके स्वामी थे और छह हजार विक्रियाऋद्धिके धारकोंसे सुशोभित थे ॥४९१॥ चार हजार मनःपर्यय ज्ञानी और दो हजार चार सौ पूज्यवादी उनके साथ थे ॥४९२॥ इस प्रकार सब मिलाकर बासठ हजार मुनिराज थे, इनके सिवाय साठ हजार तीन सौ हरिषेणा आदि आर्यिकाएँ थीं, सुरकीर्तिको आदि लेकर दो लाख श्रावक थे, अर्हद्दासीको आदि लेकर चार लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ थीं और संख्यात तिर्यंच थे। इस प्रकार बारह गणोंके साथ-साथ वे समीचीन धर्मका उपदेश देते थे ॥४९३-४९५॥ विहार करते-करते जब एक माहकी आयु शेष रह गयी तब वे भगवान् सम्मेदशिखरपर आये और विहार बन्द कर वहाँ अचल योगसे विराजमान हो गये ॥४९६॥ ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशीके दिन रात्रिके पूर्व भागमें उन कृतकृत्य भगवान् शान्तिनाथने तृतीय शुक्लध्यानके द्वारा समस्त योगोंका निरोध कर दिया, बन्धका अभाव कर दिया और अकार आदि पाँच लघु अक्षरोंके उच्चारणमें जितना काल लगता है उतने समय तक अयोग केवली अवस्था प्राप्त की। वहीं चतुर्थ शुक्लध्यानके द्वारा वे तीनों शरीरोंका नाश कर भरणी नक्षत्रमें लोकके अग्रभागपर जा विराजे। उस समय गुण ही उनका शरीर रह गया था। अतीत कालमें गये हुए कर्ममलरहित अनन्त सिद्ध जहाँ विराजमान थे वहीं जाकर वे विराजमान हो गये ॥४९७-४९९॥ उसी समय इन्द्रसहित, आलस्यरहित और बड़ी भक्तिको धारण करनेवाले चार प्रकारके देव आये और अन्तिम संस्कार—निर्वाणकल्याणककी पूजा कर अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥५००॥ चक्रायुधको आदि लेकर अन्य नौ हजार मुनिराज भी इस तरह ध्यान कर तथा औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंको छोड़कर निर्वाणको प्राप्त हो गये ॥५०१॥

इस प्रकार जिन्होंने उत्तम ज्ञान दर्शन-सुख और वीर्यसे सुशोभित परमौदारिक शरीरमें निवास तथा परमोत्कृष्ट विहारके स्थान प्राप्त किये, जो अरहन्त कहलाये और इन्द्रने जिनकी दृढ़ पूजा की ऐसे श्री शान्तिनाथ भट्टारक तुम सबके लिए सात परम स्थान प्रदान करें ॥५०२॥ जो

१ तिर्यञ्चः ल० । २ इकार ख०, ल०, म० । ३ सफलान्यु-ख०, ग०, म०, ल०, ।

स्वाकारं विगतादिभूतसमये नष्टं समाप्य स्फुटं
शान्तीशस्त्रिजगच्छिखामणिरभूद्धिमं स्वप्रारुच ॥५०३॥

श्रीषेणः कुरुजः सुरः खगपतिर्देवो हलेशोऽमरो
यो वज्रायुधचक्रभृत्सुरपतिः [१]प्राप्याहमिन्द्रं पदम् ।
पश्चान्मेघरथो मुनीन्द्रमहितः सर्वार्थसिद्धिं श्रितः
शान्तीशो जगदेकशान्तिरतुलां दिश्याच्छ्रियं वश्चिरम् ॥५०४॥

आदावनिन्दिता भोगभूमिजो विमलप्रभः । ततः श्रीविजयो देवोऽनन्तवीर्योऽनु नारकः ॥५०५॥
मेघनादः प्रतीन्द्रोऽभूत्सहस्रायुधोऽजनि । ततोऽहमिन्द्रकल्पेशोऽनल्पर्द्धिरभवत्ततः ॥५०६॥
च्युतो दृढरथो जज्ञे प्राज्ञो मेघरथानुजः । अन्त्यानुत्तरजश्चक्रायुधो गणधरोऽक्षरः ॥५०७॥

मालिनी

इति हितकृतवेदी बद्धसौहार्दभावः
सकलजगदधीशा शान्तिनाथेन सार्द्धम् ।
परमसुखपदं संप्राप चक्रायुधाह्वो[२]
भवति किमिह नेष्टं संश्रयान्महद्भिः ॥५०८॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अभयं तावदिहासतां भगवतां मध्येऽपि तीर्थेशिनां
कोऽसौ द्वादशजन्मसु प्रतिभवं प्राप्तप्रवृद्धिं पराम् ।

कारणोंसे सहित समस्त आठों कर्मोंको उखाड़कर अत्यन्त निर्मल हुए थे, जो सम्यक्त्व आदि आठ आत्मीय गुणोंको स्वीकार कर जन्म-मरणसे रहित तथा कृतकृत्य हुए थे, एवं जिनके अष्ट महाप्रातिहार्यरूप वैभव प्रकट हुआ था वे शान्तिनाथ भगवान् अनादि भूतकालमें जो कभी प्राप्त नहीं हो सका ऐसा स्वरूप प्राप्त कर स्पष्ट रूपसे तीनों लोकोंके शिखामणि हुए थे ॥५०३॥ जो पहले राजा श्रीषेण हुए, फिर उत्तम भोगभूमिमें आर्य हुए, फिर देव हुए, फिर विद्याधर हुए, फिर देव हुए, फिर बलभद्र हुए, फिर देव हुए, फिर वज्रायुध चक्रवर्ती हुए, फिर अहमिन्द्र पद पाकर देवोंके स्वामी हुए, फिर मेघरथ हुए, फिर मुनियोंके द्वारा पूजित होकर सर्वार्थसिद्धि गये, और फिर वहाँसे आकर जगत्‌को एक शान्ति प्रदान करनेवाले श्री शान्तिनाथ भगवान् हुए वे सोलहवें तीर्थंकर तुम सबके लिए चिरकाल तक अनुपम लक्ष्मी प्रदान करते रहें ॥५०४॥ जो पहले अनिन्दिता रानी हुई थी, फिर उत्तम भोगभूमिमें आर्य हुआ था, फिर विमलप्रभ देव हुआ, फिर श्रीविजय राजा हुआ, फिर देव हुआ, फिर अनन्तवीर्य नारायण हुआ, फिर नारकी हुआ, फिर मेघनाद हुआ, फिर प्रतीन्द्र हुआ, फिर सहस्रायुध हुआ, फिर बहुत भारी ऋद्धिका धारी अहमिन्द्र हुआ, फिर वहाँसे च्युत होकर मेघरथका छोटा भाई बुद्धिमान् दृढरथ हुआ, फिर अन्तिम अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र हुआ, फिर वहाँसे आकर चक्रायुध नामका गणधर हुआ, फिर अन्तमें अक्षर—अविनाशी-सिद्ध हुआ ॥५०५-५०७॥ इस प्रकार अपने हित और किये हुए उपकारको जाननेवाले चक्रायुधने अपने भाईके साथ सौहार्द धारण कर समस्त जगत्‌के स्वामी श्री शान्तिनाथ भगवान्‌के साथ-साथ परमसुख देनेवाला मोक्ष पद प्राप्त किया सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंकी संगतिसे इस संसारमें कौन-सा इष्ट कार्य सिद्ध नहीं होता ? ॥५०८॥ इस संसारमें अन्य लोगोंकी तो बात जाने दीजिए श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्रको छोड़कर भगवान् तीर्थंकरोंमें भी ऐसा कौन है जिसने बारह भवोंमें-से प्रत्येक भवमें बहुत भारी वृद्धि प्राप्त की

---

१ –पतिर्याप्याहमिन्द्रं ल० । २ चक्रायुधाको ल० ।

भुक्त्वा शान्तिजिनं ततो बुधजना ध्यायन्तु सर्वोत्तरं[1]
सार्वं[2] शान्तिजिनेन्द्रमेव सततं शान्तिं स्वयं प्रेप्सवः ॥५०९॥
ध्वस्तो मुक्तिपथः पुरुप्रभृतिभिर्देवैः पुनर्दर्शितः
किन्त्वन्तं प्रथितावधेर्गमयितुं कोऽपि प्रभुर्नाभवत् ।
देवेनाभिहितस्त्वनेन समगादव्याहतः स्वावधिं
तच्छान्तिं समुपेत तत्रभवतामाद्यं गुरुं धीधनाः ॥५१०॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे शान्तिचक्रधरतीर्थकरपुराणं परिसमाप्तं त्रिषष्टितमं पर्व ॥६३॥

■

हो ? इसलिए हे विद्वान् लोगो, यदि तुम शान्ति चाहते हो तो सबसे उत्तम और सबका भला करनेवाले श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्रका ही निरन्तर ध्यान करते रहो । ॥५०९॥ भोगभूमि आदिके कारण नष्ट हुआ मोक्षमार्ग यद्यपि ऋषभनाथ आदि तीर्थंकरोंके द्वारा फिर-फिरसे दिखलाया गया था तो भी उसे प्रसिद्ध अवधिके अन्त तक ले जानेमें कोई भी समर्थ नहीं हो सका। तदनन्तर भगवान् शान्तिनाथने जो मोक्षमार्ग प्रकट किया वह बिना किसी बाधाके अपनी अवधिको प्राप्त हुआ । इसलिए हे बुद्धिमान् लोगो ! तुम लोग भी आद्यगुरु श्री शान्तिनाथ भगवान्की शरण लो। भावार्थ—शान्तिनाथ भगवान्ने जो मोक्षमार्ग प्रचलित किया था वही आज तक अखण्ड रूपसे चला आ रहा है इसलिए इस युगके आद्यगुरु श्री शान्तिनाथ भगवान् ही हैं। उनके पहले पन्द्रह तीर्थंकरोंने जो मोक्षमार्ग चलाया था वह बीच-बीचमें विनष्ट होता रहा है ॥५१०॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें शान्तिनाथ तीर्थंकर तथा चक्रवर्तीका पुराण वर्णन करनेवाला त्रेसठवाँ पर्व समाप्त हुआ।

१ सर्वोत्तमम् क०, ख०, ग०, घ, । २ सर्वं ख।

चतुःषष्टितमं पर्व

ग्रन्थान् कन्थामिव त्यक्त्वा सद्ग्रन्थान् मोक्षगामिनः ।
रक्षन् सूक्ष्मांश्च कुन्थुभ्यः कुन्थु पान्थान् स पातु वः ॥ १ ॥

द्वीपेऽस्मिन् प्राग्विदेहस्य सीतादक्षिणकूलगे । वत्साख्यविषये[1] राजा सुसीमानगराधिपः ॥२॥
अभूत् सिंहरथो नाम श्रीमान् सिंहपराक्रमः । संहतानपि विद्विष्टान् महिम्नैव वशं नयन् ॥३॥
भयादिव तमंहोऽरिर्बृंहितन्यायवृत्तकम् । [2]दण्डिताखिलभूचक्रं नाढौकिष्टातिदूरतः ॥४॥
भोगानुभव एवास्मै शास्त्रमार्गानुसारिणे । [3]अदितामुत्रिकीं सिद्धिमैहिकीं चास्तविद्विषे ॥५॥
स कदाचिद् दिवोल्कायाः पातमालोक्य कल्पयन् । इयं मोहमहारातिं विघातायेति चेतसा ॥६॥
तदैवापेत्य [4]नत्वार्षिवृषभं यतिपूर्वकम् । श्रुत्वा तदुदितं भक्त्या [5]धर्मतत्त्वस्य विस्तरम् ॥७॥
त्वां समाहितमोहोऽहं यद्युल्कासूचितापदः[6] । ममैवेति विचिन्त्याशु सुधीर्मोहजिहासया ॥८॥
राज्यभारं समारोप्य सुते सह महीभुजैः (?) । बहुभिः संयमं प्राप्य विशुद्धैकादशाङ्गकः ॥९॥
बद्ध्वा तत्कारणैस्तीर्थकरनामादिकं शुभम् । स्वायुरन्ते समाराध्य प्रापान्तिममनुत्तरम् ॥१०॥
अन्वभूदप्रवीचारं सुखं [7]तत्रात्तकौतुकम् । मानसं माननीयं यन्मुनीनां चापरागजम् ॥११॥
इह जम्बूमति द्वीपे भरते कुरुजाङ्गले । [8]हस्तिनाख्यपुराधीशः कौरवः काश्यपान्वयः ॥१२॥

जिन्होंने कन्थाके समान सब परिग्रहोंका त्याग कर मोक्ष प्राप्त करनेवाले सद्ग्रन्थोंकी तथा कुन्थुसे अधिक सूक्ष्म जीवोंकी रक्षा की वे कुन्थुनाथ भगवान् मोक्ष नगर तक जानेवाले तुम सब पथिकोंकी रक्षा करें ॥१॥ इसी जम्बूद्वीपके पूर्वविदेहक्षेत्रमें सीता नदीके दक्षिण तटपर एक वत्स नामका देश है । उसके सुसीमा नगरमें राजा सिंहरथ राज्य करता था । वह श्रीमान् था, सिंहके समान पराक्रमी था और बहुत-से मिले हुए शत्रुओंको अपनी महिमासे ही वश कर लेता था ॥२–३॥ न्यायपूर्ण आचारकी वृद्धि करनेवाले एवं समस्त पृथिवीमण्डलको दण्डित करनेवाले उस राजाके सम्मुख पापरूपी शत्रु मानो भयसे नहीं पहुँचते थे—दूर-दूर ही बने रहते थे ॥४॥ शास्त्रमार्गके अनुसार चलनेवाले और शत्रुओंको नष्ट करनेवाले उस राजाके लिए जो भोगानुभव प्राप्त था वही उसकी इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी सिद्धिको प्रदान करता था ॥५॥ वह राजा किसी समय आकाशमें उल्कापात देखकर चित्तमें विचार करने लगा कि यह उल्का मेरे मोहरूपी शत्रुको नष्ट करनेके लिए ही मानो गिरी है ॥६॥ उसने उसी समय यतिवृषभ नामक मुनिराजके समीप जाकर उन्हें नमस्कार किया और उनके द्वारा कहे हुए धर्मतत्त्वके विस्तारको बड़ी भक्तिसे सुना ॥७॥ वह बुद्धिमान् विचार करने लगा कि मैं मोहसे जकड़ा हुआ था, इस उल्काने ही मुझे आपत्तिकी सूचना दी है ऐसा विचार कर मोहको छोड़नेकी इच्छासे उसने अपना राज्यभार शीघ्र ही पुत्रके लिए सौंप दिया और बहुत-से राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया । संयमी होकर उसने ग्यारह अंगोंका ज्ञान प्राप्त किया तथा सोलह कारण भावनाओंके द्वारा तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिका बन्ध किया । आयुके अन्तमें समाधिमरण कर वह अन्तिम अनुत्तर विमान—सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न हुआ ॥८–१०॥ वहाँ उसने बड़े कौतुकके साथ प्रवीचाररहित उस मानसिक सुखका अनुभव किया जो मुनियोंको भी माननीय तथा वीतरागतासे उत्पन्न हुआ था ॥११॥

इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी कुरुजांगल देशमें हस्तिनापुर नामका नगर है उसमें

---

१ वत्साख्यविजये (?) ग०,। वत्साख्यनगरे (?) ख० । २ दर्पिताखिल—क०, ख०, घ० । काङ्क्षिताखिल–म० । ३ आदिता-क०, घ० । ४ नत्वर्षि ख०, ग० । नन्त्वर्षि ल० । ५ धर्मतीर्थस्य ख० । ६ सूचितापहः ल० । ७ तत्रास्तकौतुकम् ख० । ८ हास्तिनाख्य ख०, ग०, ल० ।

सूरसेनो महाराजः श्रीकान्तास्याग्रवल्लभा । देवेभ्यो वसुधारादिपूजामाप्तवती सती ॥१३॥
[1]भागे मनोहरे यामे दशम्यां निशि पश्चिमे । श्रावणे बहुले पक्षे नक्षत्रे कृत्तिकाह्वये ॥१४॥
सर्वार्थसिद्धिदेवस्य स्वर्गावतरणक्षणे । दृष्टषोडशसुस्वप्ना गजं वक्त्रप्रवेशिनम् ॥१५॥
निशम्य याममेर्यादिमङ्गलध्वनिबोधिता । कृतनित्यक्रिया स्नात्वा धृतमङ्गलमण्डना ॥१६॥
आप्तैः कतिपयैरेव वृत्ता विद्युद्विलासिनी । द्योतयन्ती सदोव्योम साक्षाल्लक्ष्मीरिवापरा ॥१७॥
कृतानुरूपविनया भर्तुरर्द्धासने स्थिता । स्वप्नावलीं निवेद्यास्माद्विदित्वावधिवीक्षणात् ॥१८॥
फलान्यनुक्रमात्तेषां विकसद्वदनाम्बुजा । नलिनीवांशुसंस्पर्शादुष्णांशोरतुषत्तराम् ॥१९॥
तदैवागमिषाधीशाः कल्याणाभिषवं तयोः । विधाय बहुधाभ्यर्च्य तोषयित्वा ययुर्दिवम् ॥२०॥
शुक्तिर्मुक्ताविशेषेण साभूत्सा तेन गर्भिणी । क्रोडीकृता मृताभीषुमेघरेखेव चाबभौ ॥२१॥
नवमे मासि वैशाखशुक्लपक्षादिमे दिने । सासूताग्नेययोगे [2]वा विधुं तमपरा दिशा ॥२२॥
तुरासाहं पुरोधाय समभ्येत्य सुरासुराः । सुमेरुमर्भकं नीत्वा क्षीरसैन्धववारिभिः ॥२३॥
अभिषिच्य विभूष्यैनं कुन्थुमाहूय संज्ञया । समानीय समर्प्यायन् पित्रोरावासमात्मनः ॥२४॥
शान्तीशतीर्थसंतानकालेऽजनि जिनेश्वरः । पल्योपमार्द्धे पुण्याब्धिरतदभ्यन्तरजीवितः ॥२५॥
समाः पञ्चसहस्रोनलक्षाः संवत्सरस्थितिः । पञ्चत्रिंशद्धनुः कायो निष्टप्ताष्टापदद्युतिः ॥२६॥
खपञ्चमुनिवह्निद्विप्रमसंवत्सरान्तरे । नीत्वा कौमारमेतावत्येव काले च राजताम् ॥२७॥

कौरववंशी काश्यपगोत्री महाराज सूरसेन राज्य करते थे। उनकी पट्टरानीका नाम श्रीकान्ता था। उस पतिव्रताने देवोंके द्वारा की हुई रत्नवृष्टि आदि पूजा प्राप्त की थी ॥१२-१३॥ श्रावण कृष्ण दशमीके दिन रात्रिके पिछले भाग सम्बन्धी मनोहर पहर और कृत्तिका नक्षत्रमें जब सर्वार्थसिद्धिके उस अहमिन्द्रकी आयु समाप्त होनेको आयी तब उसने सोलह स्वप्न देखकर अपने मुँहमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा ॥१४-१५॥ प्रातःकाल भेरी आदिके मांगलिक शब्द सुनकर जगी, नित्य कार्य कर स्नान किया, मांगलिक आभूषण पहने और कुछ प्रामाणिक लोगोंसे परिवृत होकर बिजलीके समान सभारूपी आकाशको प्रकाशित करती हुई दूसरी लक्ष्मीके समान राजसभामें पहुँची। वहाँ वह अपनी योग्यताके अनुसार विनय कर पतिके अर्धासनपर विराजमान हुई। अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले पतिको सब स्वप्न सुनाये और उनसे उनका फल मालूम किया। अनुक्रमसे स्वप्नोंका फल जानकर उसका मुखकमल इस प्रकार खिल उठा जिस प्रकार कि सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे कमलिनी खिल उठती है ॥१६-१९॥ उसी समय देवोंने महाराज शूरसेन और महारानी श्रीकान्ताका गर्भकल्याणक सम्बन्धी अभिषेक किया, बहुत प्रकारकी पूजा की और सन्तुष्ट होकर स्वर्गकी ओर प्रयाण किया ॥२०॥ जिस प्रकार मुक्ताविशेषसे सीप गर्भिणी होती है उसी प्रकार उस पुत्रसे रानी श्रीकान्ता गर्भिणी हुई थी और जिस प्रकार चन्द्रमाको गोदीमें धारण करनेवाली मेघोंकी रेखा सुशोभित होती है उसी प्रकार उस पुत्रको गर्भमें धारण करती हुई रानी श्रीकान्ता सुशोभित हो रही थी ॥२१॥ जिस प्रकार पश्चिम दिशा चन्द्रमाको उदित करती है उसी प्रकार रानी श्रीकान्ताने नव मास व्यतीत होनेपर वैशाख शुक्ल प्रतिपदाके दिन आग्नेय योगमें उस पुत्रको उदित किया—जन्म दिया ॥२२॥ उसी समय इन्द्रको आगे कर समस्त देव और धरणेन्द्र आये, उस बालकको सुमेरु पर्वतपर ले गये, क्षीरसागरके जलसे उनका अभिषेक किया, अलंकारोंसे अलंकृत किया, कुन्थु नाम रखा, वापस लाये, माता-पिताको समर्पण किया और अन्तमें सब अपने स्थानपर चले गये ॥२३-२४॥ श्रीशान्तिनाथ तीर्थंकरके मोक्ष जानेके बाद जब आधा पल्य बीत गया तब पुण्यके सागर श्रीकुन्थुनाथ भगवान् उत्पन्न हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें सम्मिलित थी ॥२५॥ पंचानवे हजार वर्षकी उनकी आयु थी, पैंतीस धनुष ऊँचा शरीर था और तपाये हुए सुवर्णके समान कान्ति थी ॥२६॥ तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमारकालके बीत जानेपर उन्हें राज्य प्राप्त हुआ था

---

१ भोगे ल० । २ च ल० ।

निजजन्मदिने [1]चक्रिलक्ष्मीं संप्राप्य संमदात् । दशाङ्गभोगान्निर्विश्य निःप्रतीपं[2] निरन्तरम् ॥२८॥
षडङ्गबलसंयुक्तः कदाचित्क्रीडितुं वनम् । गत्वा रंत्वा चिरं स्वैरं निवृत्यायन्पुनः पुरम् ॥२९॥
मुनिमातपयोगेन स्थितं कंचिन्निरूपयन् । मन्त्रिणं प्रति तर्जन्या पश्य पश्येति चक्रभृत् ॥३०॥
स तं निरीक्ष्य तत्रैव भक्त्यावनतमस्तकः । देवैवं दुष्करं कुर्वंस्तपः किं फलमाप्स्यति ॥३१॥
इत्यप्राक्षीन्नृपोऽप्यस्य भूयः स्मेरमुखोऽवदत् । भवेऽस्मिन्नेव निर्मूल्य कर्माण्याप्नोति निर्वृतिम् ॥३२॥
न चेदेवं सुरेन्द्रत्वचक्रवर्तित्वगोचरम् । सुखमभ्युदयं भुक्त्वा क्रमाच्छाश्वतमेष्यति ॥३३॥
अपरित्यक्तसङ्गस्य भवे पर्यटनं भवेत् । इत्युवैर्मुक्तिसंसारकारणं[3] परमार्थवित् ॥३४॥
कालो माण्डलिकत्वेन यावानीतः सुखायुषा । तावत्येव समानीय महेच्छश्चक्रवर्तिताम् ॥३५॥
विरज्य राज्यभोगेषु निर्वाणसुखलिप्सया । स्वातीतभवबोधेन लब्धबोधिर्बुधोत्तमः ॥३६॥
सारस्वतादिसंस्तोत्रमपि संभाव्य सादरम् । स्वजे नियोज्य राज्यस्य भारं निष्क्रमणोत्सवम् ॥३७॥
स्वयं संप्राप्य देवेन्द्रैः शिबिकां विजयाभिधाम् । आरुह्यामरसंवाह्यां सहेतुकवनं प्रति ॥३८॥
गत्वा षष्ठोपवासेन संयमं प्रत्यपद्यत । जन्ममासपक्षदिवसे कृत्तिकायां नृपोत्तमैः ॥३९॥
सहस्रेणाप तुर्यावबोधं च द्वितीयेऽहनि । पुरं हास्तिनमभ्येयुस्तस्मै गतवतेऽदित ॥४०॥
आहारं धर्ममित्राख्यः प्राप चाश्चर्यपञ्चकम् । कुर्वन्नेवं तपो घोरं नीत्वा षोडशवत्सरान् ॥४१॥
[4]निजदीक्षावने षष्ठेनोपवासेन शुद्धिभाक् । तिलकद्रुममूलस्थश्चैत्रज्योत्स्नापराह्णके ॥४२॥

और इतना ही समय बीत जानेपर उन्हें अपनी जन्मतिथिके दिन चक्रवर्तीकी लक्ष्मी मिली थी। इस प्रकार वे बड़े हर्षसे बाधारहित, निरन्तर दश प्रकारके भोगोंका उपभोग करते थे ॥२७-२८॥ किसी समय वे षडंग सेनासे संयुक्त होकर क्रीडा करनेके लिए वनमें गये थे वहाँ चिरकाल तक इच्छानुसार क्रीडा कर वे नगरको वापस लौट रहे थे ॥२९॥ कि मार्गमें उन्होंने किसी मुनिको आतप योगसे स्थित देखा और देखते ही मन्त्रीके प्रति तर्जनी अंगुलीसे इशारा किया कि देखो। मन्त्री उन मुनिराजको देखकर वहींपर भक्तिसे नतमस्तक हो गया और पूछने लगा कि हे देव! इस तरहका कठिन तप कर ये क्या फल प्राप्त करेंगे? ॥३०-३१॥ चक्रवर्ती कुन्थुनाथ हँसकर फिर कहने लगे कि ये मुनि इसी भवमें कर्मोंको नष्ट कर निर्वाण प्राप्त करेंगे। यदि निर्वाण न प्राप्त कर सकेंगे तो इन्द्र और चक्रवर्तीके सुख तथा ऐश्वर्यका उपभोग कर क्रमसे शाश्वतपद–मोक्ष स्थान प्राप्त करेंगे ॥३२-३३॥ जो परिग्रहका त्याग नहीं करता है उसीका संसारमें परिभ्रमण होता है। इस प्रकार परमार्थको जाननेवाले भगवान् कुन्थुनाथने मोक्ष तथा संसारके कारणोंका निरूपण किया ॥३४॥ उन महानुभावने सुखपूर्वक आयुका उपभोग करते हुए जितना समय मण्डलेश्वर रहकर व्यतीत किया था उतना ही समय चक्रवर्तीपना प्राप्त कर व्यतीत किया था ॥३५॥ तदनन्तर, अपने पूर्वभवका स्मरण होनेसे जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे विद्वानोंमें श्रेष्ठ भगवान् कुन्थुनाथ निर्वाण-सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे राज्यभोगोंमें विरक्त हो गये ॥३६॥ सारस्वत आदि लौकान्तिक देवोंने आकर बड़े आदरसे उनका स्तवन किया। उन्होंने अपने पुत्रको राज्यका भार देकर इन्द्रोंके द्वारा किया हुआ दीक्षा-कल्याणकका उत्सव प्राप्त किया। तदनन्तर देवोंके द्वारा ले जाने योग्य विजया नामकी पालकी-पर सवार होकर वे सहेतुक वनमें गये। वहाँ वेलाका नियम लेकर जन्मके ही मास पक्ष और दिनमें अर्थात् वैशाखशुक्ल प्रतिपदाके दिन कृत्तिका नक्षत्रमें सायंकालके समय एक हजार राजाओंके साथ उन्होंने दीक्षा धारण कर ली। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होगया। दूसरे दिन वे हस्तिनापुर गये वहाँ धर्ममित्र राजाने उन्हें आहार दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये। इस प्रकार घोर तपश्चरण करते हुए उनके सोलह वर्ष बीत गये ॥३७-४१॥ किसी एक दिन

---

१ चक्रिलक्ष्मीं इति पाठः शुद्धो भाति। २ निःप्रतीपं इति पाठो भवेत्। ३ कारणं ल०। ४ जिनदीक्षा ल०।

कृत्तिकायां तृतीयायां कैवल्यमुदपादयत्[1] । मुदा तत्कालसंप्राप्तसर्वामरसमर्थितम्[2] ॥४३॥
प्राप्यं चतुर्थकल्याणपूजाविधिमवाप सः । तस्य स्वयंभूनामाद्याः पञ्चत्रिंशद्गणेशिनः ॥४४॥
शतानि सप्त पूर्वाणां संविदो मुनिसत्तमाः । खपञ्चैकत्रिवाद्ध्युक्ताः शिक्षका क्षिताशयाः ॥४५॥
खद्वयेन्द्रियपक्षोक्तास्तृतीयावगमामलाः । शून्यद्वयद्विवह्न्युक्ताः केवलज्ञानभास्वराः[3] ॥४६॥
खद्वयैकेन्द्रियज्ञातविक्रियर्द्धिविभूषणाः । त्रिशतत्रिसहस्राणि चतुर्थज्ञानधारिणः ॥४७॥
पञ्चाशद्द्विसहस्राणि ख्यातानुत्तरवादिनः । सर्वे ते पिण्डिताः षष्टिसहस्राणि यमेश्वराः ॥४८॥
भाविताद्यार्यिकाः शून्यपञ्चवह्निखषण्मिताः । त्रिलक्षाः श्राविका लक्षद्वयं सर्वेऽप्युपासकाः ॥४९॥
[4]देवदेव्यस्त्वसंख्यातास्तिर्यञ्चः[5] संख्यया मिताः । दिव्येनध्वनिनामीषां कुर्वन्धर्मोपदेशनाम् ॥५०॥
देशान् विहृत्य मासायुः संमेदाचलमास्थितः । प्रतिमायोगमादाय सहस्रमुनिभिः सह ॥५१॥
वैशाखज्यौत्स्नपक्षादिदिने रात्रेः पुरातने । भागे कर्माणि निर्मूल्य कृत्तिकायां निरञ्जनः ॥५२॥
प्राप्तगीर्वाणनिर्वाणपूजः प्रापत्परं पदम् । संशुद्धज्ञानवैराग्यसाबाधमविनश्वरम् ॥५३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

आसीत् सिंहरथो नृपः पृथुतपाः सर्वार्थसिद्धीश्वरः
कल्याणद्वयभाक् षडङ्गशिबिरस्त्रैलोक्यमुख्यार्चितः ।
प्राप्तारमाष्टगुणस्त्रिविष्टपशिखाप्रोद्भासिचूडामणि-
र्दिश्याद्वः श्रियमप्रतीपमहिमा कुन्थुर्जिनः शाश्वतीम् ॥५४॥

विशुद्धताको धारण करनेवाले भगवान् वेलाका नियम लेकर अपने दीक्षा लेनेके वनमें तिलक-वृक्षके नीचे विराजमान हुए। वहीं चैत्रशुक्ला तृतीयाके दिन सायंकालके समय कृत्तिका नक्षत्रमें उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी समय हर्षके साथ सब देव आये। सबने प्रार्थना कर चतुर्थकल्याणककी पूजा की। उनके स्वयम्भूको आदि लेकर पैंतीस गणधर थे, सात सौ मुनिराज पूर्वोंके जानकार थे, तैंतालीस हजार एक सौ पचास मर्मवेदी शिक्षक थे, दो हजार पाँच सौ निर्मल अवधिज्ञानके धारक थे तीन हजार दो सौ केवलज्ञानसे देदीप्यमान थे, पाँच हजार एक सौ विक्रियाऋद्धिके धारक थे, तीन हजार तीन सौ मनःपर्ययज्ञानी थे, दो हजार पचास प्रसिद्ध एवं सर्वश्रेष्ठ वादी थे, इस तरह सब मिलाकर साठ हजार मुनिराज उनके साथ थे ॥४२-४८॥ भाविताको आदि लेकर साठ हजार तीन सौ पचास आर्यिकाएँ थीं, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, दो लाख श्रावक थे, असंख्यात देव-देवियाँ थीं और संख्यात तिर्यंच थे। भगवान् दिव्यध्वनिके द्वारा इन सबके लिए धर्मोपदेश देते हुए विहार करते थे ॥४९-५०॥ इस प्रकार अनेक देशोंमें विहार कर जब उनकी आयु एक मासकी बाकी रह गयी तब वे सम्मेदशिखरपर पहुँचे। वहाँ एक हजार मुनियोंके साथ उन्होंने प्रतिमा योग धारण कर लिया और वैशाख शुक्ल प्रतिपदाके दिन रात्रिके पूर्वभागमें कृत्तिका नक्षत्रका उदय रहते हुए समस्त कर्मोंको उखाड़कर परमपद प्राप्त कर लिया। अब वे निरंजन-कर्मकलंकसे रहित हो गये। देवोंने उनके निर्वाण-कल्याणककी पूजा की। उनका वह परमपद अत्यन्त शुद्ध ज्ञान और वैराग्यसे परिपूर्ण तथा अविनाशी था ॥५१-५३॥

जो पहले भवमें राजा सिंहरथ थे, फिर विशाल तपश्चरण कर सर्वार्थसिद्धिके स्वामी हुए, फिर तीर्थंकर और चक्रवर्ती इस प्रकार दो पदोंको प्राप्त हुए, जो छह प्रकारकी सेनाओंके स्वामी थे, तीनों लोकोंके मुख्य पुरुष जिनकी पूजा करते थे, जिन्हें सम्यक्त्व आदि आठ गुण प्राप्त हुए थे, जो तीन लोकके शिखरपर चूड़ामणिके समान देदीप्यमान थे और जिनकी महिमा बाधासे रहित थी ऐसे

---

१ –मुपपादयत् ख० । २ समर्चितः ख० । ३ भास्कराः ल० । ४ देव्यस्त्वसंख्याता म०, घ०, देवा-देव्योऽप्यसंख्या– ल० । ५ तिर्यञ्चाः ग०, ख०, म०, तिर्यञ्चकाः ल० ।

देहज्योतिषि यस्य शक्रसहिताः सर्वेऽपि मग्नाः सुरा
ज्ञानज्योतिषि पञ्चतत्त्वसहितं मग्नं नभश्चाखिलम् ।
लक्ष्मीधामदधद्विधूतविततध्वान्तः स धामद्वयं
पन्थानं कथयत्वनन्तगुणभृत्कुन्थुर्भवान्तस्य वः ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते कुन्थुचक्रधरतीर्थंकरपुराणं परिसमाप्तं चतुःषष्टितमं पर्व ॥ ६४ ॥



श्रीकुन्थुनाथ भगवान् तुम सबके लिए अविनाशी-मोक्षलक्ष्मी प्रदान करें ॥५४॥ जिनके शरीरकी कान्तिमें इन्द्र सहित समस्त देव निमग्न हो गये, जिनकी ज्ञानरूप ज्योतिमें पंचद्रव्य सहित समस्त आकाश समा गया, जो लक्ष्मीके स्थान हैं, जिन्होंने फैला हुआ अज्ञानान्धकार नष्ट कर दिया, जो आभ्यन्तर और बाह्यके भेदसे दोनों प्रकारके तेजको धारण करते हैं और जो अनन्तगुणोंके धारक हैं ऐसे श्रीकुन्थुनाथ भगवान् तुम सबके लिए मोक्षका मार्ग प्रदर्शित करें ॥ ५५ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें कुन्थुनाथ तीर्थंकर और चक्रवर्तीका वर्णन करनेवाला चौसठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥६४॥

सरतारं परं सारं [1]नरनाथकृतानतिम् । अगाधासारसंसारसागरोत्तारकारणम् ॥ १ ॥
द्वीपे जम्बूद्रुमख्याते सीतोत्तरतटाश्रिते । कच्छाख्यविषये क्षेमपुराधीशो महीपतिः ॥ २ ॥
नाम्ना धनपतिः पाता प्रजानां जनताप्रियः । धात्री धेनुः स्वयं तस्य दुग्धे स्म प्रस्नुतानिशम् ॥३॥
विनार्थिभिरपि त्यागी विनाप्यरिभिरुद्यमी । तर्पितार्थिनि धूतारौ तस्मिंस्तौ सहजौ गुणौ ॥ ४ ॥
[2]स्ववृत्त्यनुगमेनैव वर्गत्रयनिषेविणः । राजा प्रजाश्च राज्येऽस्मिंस्तन्न धर्मव्यतिक्रमः ॥ ५ ॥
कदाचिद्धरणीभर्ता पीत्वार्हन्नन्दतीर्थकृद् । दिव्यध्वनिसमुद्भूतं[3] धर्मसाररसायनम् ॥ ६ ॥
विरज्य राज्यभोगात्तत्साम्राज्यं निजात्मजे । नियोज्य मंक्षु प्रव्रज्यां जैनीं जन्मान्तकारिणीम् ॥ ७ ॥
आसाद्यैकादशाङ्गोरुपारावारस्य पारगः । द्व्यष्टकारणसंबद्धतीर्थकृन्नामपुण्यकृत् ॥ ८ ॥
[4]प्रायोपगमनेनापत्स जयन्तेऽहमिन्द्रताम् । त्रयस्त्रिंशत्समुद्रोपमायुर्हस्ततनुप्रम. ॥ ९ ॥
शुक्ललेश्याद्वयः सार्द्धैर्मासैः षोडशभिः श्वसन् । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राब्दैर्मानसमाहरन् ॥१०॥
अमृतं निःप्रवीचारसुखसागरपारगः । स्वावधिज्ञाननिर्णीतलोकनाड्यर्थविस्तृतिः ॥११॥
स्वावधिक्षेत्रनिर्णीतप्रकाशबलविक्रियः । अतिप्रशान्तरागादिरासन्नीकृतनिर्वृतिः ॥१२॥
सद्वेद्योदयसंभूतमन्वभूद् भोगमुत्तमम् । उदितोदितपर्याप्तिपर्यन्तोपान्तमास्थितः ॥१३॥

अथानन्तर जो अगाध और असार संसाररूपी सागरसे पार कर देनेमें कारण हैं, अनेक राजा जिन्हें नमस्कार करते हैं और जो अत्यन्त श्रेष्ठ हैं ऐसे अरनाथ तीर्थंकरकी तुम सब लोग सेवा करो—उनकी शरणमें जाओ ॥१॥ इस जम्बूद्वीपमें सीता नदीके उत्तर तटपर एक कच्छ नामका देश है। उसके क्षेमपुर नगरमें धनपति नामका राजा राज्य करता था। वह प्रजाका रक्षक था और लोगोंको अत्यन्त प्यारा था। पृथिवीरूपी धेनु सदा द्रवीभूत होकर उसके मनोरथ पूर्ण किया करती थी ॥२–३॥ याचकोंको सन्तुष्ट करनेवाले और शत्रुओंको नष्ट करनेवाले उस राजामें ये दो गुण स्वाभाविक थे कि वह याचकोंके विना भी त्याग करता रहता था और शत्रुओंके न रहनेपर भी उद्यम किया करता था ॥४॥ उसके राज्यमें राजा-प्रजा सब लोग अपनी-अपनी वृत्तिके अनुसार त्रिवर्गका सेवन करते थे इसलिए धर्मका व्यतिक्रम कभी नहीं होता था ॥५॥ किसी एक दिन उस राजाने अर्हन्नन्दन तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिसे उत्पन्न हुए श्रेष्ठधर्मरूपी रसायनका पान किया जिससे राज्य-सम्बन्धी भोगोंसे विरक्त होकर उसने अपना राज्य अपने पुत्रके लिए दे दिया और शीघ्र ही जन्म-मरणका अन्त करनेवाली जैनी दीक्षा धारण कर ली ॥६–७॥ ग्यारह अंगरूपी महासागरके पारगामी होकर उसने सोलह कारणभावनाओंके द्वारा तीर्थंकर नामक पुण्य कर्मका बन्ध किया। अन्तमें प्रायोपगमन संन्यासके द्वारा उसने जयन्त विमानमें अहमिन्द्र पद प्राप्त किया। वहाँ तैंतीस सागर प्रमाण उसकी आयु थी, एक हाथ ऊँचा शरीर था, द्रव्य और भावके भेदसे दोनों प्रकारकी शुक्ल लेश्याएँ थीं, वह साढ़े सोलह माहमें एक बार श्वास लेता था, और तैंतीस हजार वर्षमें एक बार मानसिक अमृतमय आहार ग्रहण करता था। प्रवीचाररहित सुखरूपी सागरका पारगामी था, अपने अवधिज्ञानके द्वारा वह लोकनाड़ीके भीतर रहनेवाले पदार्थोंके विस्तारको जानता था ॥८–११॥ उसके अवधिज्ञानका जितना क्षेत्र था उतने ही क्षेत्र तक उसका प्रकाश, बल और विक्रिया ऋद्धि थी। उसके राग-द्वेष आदि अत्यन्त शान्त हो गये थे और मोक्ष उसके निकट आ चुका था ॥ १२ ॥ वह साता वेदनीयके उदयसे उत्पन्न हुए उत्तम भोगोंका उपभोग करता था।

---

१. नरनाथाकृतानतिम् ख०। २. स्ववृत्यानु–ल०। ३. समुद्भूत–ल०। ४. प्रायोपगमनादापत् म०, ल०।

द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे देशोऽस्ति कुरुजाङ्गलः । [1]हस्तिनाख्यं पुरं तस्य पतिर्गोत्रेण काश्यपः ॥१४॥
सोमवंशसमुद्भूतः[2] सुदर्शनसमाह्वयः । मित्रसेना महादेवी प्राणेभ्योऽप्यस्य वल्लभा ॥१५॥
वसुधारादिकां पूजां प्राप्य [3]प्रीतानुफल्गुने । मासेऽसिततृतीयायां रेवत्यां निशि पश्चिमे ॥१६॥
भागे जयन्तदेवस्य स्वर्गावतरणक्षणे । दृष्टषोडशसुस्वप्ना फलं तेषु निजाधिपम् ॥१७॥
अनुयुज्यावधिज्ञानतदुक्तफलसंश्रुते । प्राप्तत्रैलोक्यराज्येव [4]प्रासीदत्परमोदया ॥१८॥
[5]तदागतामराधीशकृतकल्याणसंमदा । निर्वृता निर्मदा नित्यरम्या सौम्यानना शुचिः ॥१९॥
संश्लाघ्यमाना देवीभिस्तत्कालोचित[6]वस्तुभिः । मेघमालेव सद्गर्भमुद्वहन्ती जगद्धितम् ॥२०॥
मार्गशीर्षे सिते पक्षे पुष्ययोगे चतुर्दशी । तिथौ त्रिविधसद्बोधं तनूजमुदपीपदत्[7] ॥२१॥
तस्य जन्मोत्सवस्यालं वर्णनाय मरुद्वराः । यदि स्वर्गं समुद्वास्य[8] सर्वेऽप्यत्र सजानयः ॥२२॥
अत्यल्पं तृप्तिमापन्ना दीनानाथवनीपकाः । इतीदमिह संप्राप्तं यदि तृप्तं जगत्त्रयम् ॥२३॥
कुन्थुतीर्थेशसंताने पल्ये तुर्यांशसंमिते । सहस्रकोटिवर्षोने तदभ्यन्तरजीवितः ॥२४॥
अरो जिनोऽजनि[9] श्रीमानशीतिं चतुरुत्तराम् । वत्सराणां सहस्राणि परमायुः समुद्वहन् ॥२५॥
त्रिंशच्चापतनूत्सेधः चारुचामीकरच्छविः । लावण्यस्य परा कोटिः सौभाग्यस्याकरः परः ॥२६॥
सौन्दर्यस्य समुद्रोऽयमालयो रूपसंपदः । गुणाः किमस्मिन् संभूताः किं गुणेष्वस्य संभवः ॥२७॥

इस तरह प्राप्त हुए भोगोंका उपभोग करता हुआ आयुके अन्तिम भागको प्राप्त हुआ—वहाँसे च्युत होनेके सम्मुख हुआ ॥१३॥

अथानन्तर इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें कुरुजांगल नामका देश है। उसके हस्तिनापुर नगरमें सोमवंशमें उत्पन्न हुआ काश्यप गोत्रीय राजा सुदर्शन राज्य करता था। उसकी प्राणोंसे भी अधिक प्यारी मित्रसेना नामकी रानी थी ॥१४-१५॥ जब धनपतिके जीव जयन्त विमानके अहमिन्द्रका स्वर्गसे अवतार लेनेका समय आया तब रानी मित्रसेनाने रत्नवृष्टि आदि देवकृत सत्कार पाकर बड़ी प्रसन्नतासे फाल्गुन शुक्ल तृतीयाके दिन रेवती नक्षत्रमें रात्रिके पिछले प्रहर सोलह स्वप्न देखे। सवेरा होते ही उसने अपने अवधिज्ञानी पतिसे उन स्वप्नोंका फल पूछा। तदनन्तर परम वैभवको धारण करनेवाली रानी पतिके द्वारा कहे हुए स्वप्नका फल सुनकर ऐसी प्रसन्न हुई मानो उसे तीन लोकका राज्य ही मिल गया हो ॥१६-१८॥ उसी समय इन्द्रादि देवोंने जिसके गर्भकल्याणकका उत्सव किया है, जो अत्यन्त सन्तुष्ट है, मदरहित है, निरन्तर रमणीक है, सौम्य मुखवाली है, पवित्र है, उस समयके योग्य स्तुतियोंके द्वारा देवियाँ जिसकी स्तुति किया करती हैं, और जो मेघमालाके समान जगत्का हित करनेवाला उत्तम गर्भ धारण करती है ऐसी रानी मित्रसेनाने मगसिर शुक्ल चतुर्दशीके दिन पुष्य नक्षत्रमें तीन ज्ञानोंसे सुशोभित उत्तम पुत्र उत्पन्न किया ॥१९-२१॥ उनके जन्मके समय जो उत्सव हुआ था उसका वर्णन करनेके लिए इतना लिखना ही बहुत है कि उसमें शामिल होनेके लिए अपनी-अपनी देवियों सहित समस्त उत्तम देव स्वर्ग खाली कर यहाँ आये थे ॥२२॥ उस समय दीन अनाथ तथा याचक लोग सन्तोषको प्राप्त हुए थे यह कहना बहुत छोटी बात थी क्योंकि उस समय तो तीनों लोक अत्यन्त सन्तोषको प्राप्त हुए थे ॥२३॥ श्रीकुन्थुनाथ तीर्थंकरके तीर्थके बाद जब एक हजार करोड़ वर्ष कम पल्यका चौथाई भाग बीत गया था तब श्रीअरनाथ भगवान्‌का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें शामिल थी। भगवान् अरनाथकी उत्कृष्ट-श्रेष्ठतम आयु चौरासी हजार वर्षकी थी, तीस धनुष ऊँचा उनका शरीर था, सुवर्णके समान उनकी उत्तम कान्ति थी, वे लावण्यकी अन्तिम सीमा थे, सौभाग्यकी श्रेष्ठ खान थे, भगवान्‌को देखकर शंका होती थी कि ये सौन्दर्यके सागर हैं या सौन्दर्य सम्पत्तिके घर हैं, गुण इनमें उत्पन्न हुए हैं या इनकी गुणोंमें उत्पत्ति हुई है अथवा ये स्वयं गुणमय हैं—गुणरूप

---

१ हास्तिनाख्यं ख०, ग० । २ समुद्भूतसु–ल० । ३ प्रीत्यानु म०, ल० । ४ प्रसीदत् ल० । ५ तदोगता ल० । ६ संस्तुभिः ल० । ७ -मुदयीपयत् ल० । ८ समुद्रास्य क०, ख०, ग०, म० । ९ -जिनश्री-ल० ।

अभूद्गुणमयः किं वेत्याशङ्कां [1]स नयन् जनान् । अवर्द्धत समं लक्ष्म्या बालकल्पद्रुमोपमः ॥२८॥
तस्य शून्यत्रिकैकद्विप्रमाणामितवत्सरे । गते कुमारकालेऽभूद्राज्यं माण्डलिकोचितम् ॥२९॥
तावत्येव गते काले तस्मिन् सकलचक्रिता । भोगान्समन्वभूद्भागे तृतीये स निजायुषः ॥३०॥
कदाचिच्छारदाम्भोदविलयं[2] प्रतिलोकनात् । समुद्भूतस्वजन्मोपयोगबोधिः सुरोत्तमैः ॥३१॥
प्रबोधितोऽनुवादेन दत्वा राज्यं स्वसूनवे । अरविन्दकुमाराय सुरैरूढामधिष्ठितः ॥३२॥
शिबिकां वैजयन्त्याख्यां सहेतुकवनं गतः । दीक्षां षष्ठोपवासेन रेवत्यां दशमीदिने ॥३३॥
शुक्लेऽगान्मार्गशीर्षस्य सायाह्ने भूभुजां[3] सह । सहस्रेण चतुर्ज्ञानधारी च समजायत ॥३४॥
सम्यगेवं तपः कुर्वन् कदाचित्पारणादिने । प्रायाच्चक्रपुरं तस्मै दत्वान्नमपराजितः ॥३५॥
महीपतिः सुवर्णाभः प्रापदाश्चर्यपञ्चकम् । छाद्मस्थ्येनागमंस्तस्य मुनेर्वर्षाणि षोडश ॥३६॥
ततो दीक्षावने मासे कार्तिके द्वादशीदिने । रेवत्यां शुक्लपक्षेऽपराह्णे चूततरोरधः ॥३७॥
षष्ठोपवासेनाहत्य घातीन्याऽर्हन्त्यमासदत् । सुराश्चतुर्थकल्याणे संभूयैनमपूजयन्[4] ॥३८॥
कुम्भार्याद्या गणेशोऽस्य त्रिंशत्पूर्वाङ्गवेदिनः । शून्यैकषट्मिता ज्ञेया शिक्षकाः सूक्ष्मबुद्धयः ॥३९॥
पञ्चवह्न्यष्टपञ्चाग्निमिताश्चिज्ञानधारिणः । शून्यद्वयाष्टपक्षोक्ताः केवलज्ञानलोचनाः ॥४०॥
तावन्तः खद्वयाग्न्यब्धिनिमिता[5] विक्रियर्द्धिकाः । करणेन्द्रियखद्वयुक्ता मनःपर्ययबोधनाः ॥४१॥
शतानि षट्सहस्रं च तत्रानुत्तरवादिनः । सर्वे ते संचिताः पञ्चाशत् सहस्राणि संयताः ॥४२॥
ज्ञेयाः षष्टिसहस्राणि यक्षिलाप्रमुखार्यिकाः । लक्षाः षष्टिसहस्राणि श्रावकाः श्राविकाश्च ताः ॥४३॥

ही हैं। इस प्रकार लोगोंको शंका उत्पन्न करते हुए, बाल कल्पवृक्षकी उपमा धारण करनेवाले भगवान् लक्ष्मीके साथ-साथ वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे ॥२४-२८॥ इस प्रकार कुमार अवस्थाके इक्कीस हजार वर्ष बीत जानेपर उन्हें मण्डलेश्वरके योग्य राज्य प्राप्त हुआ था और इसके बाद जब इतना ही काल और बीत गया तब पूर्ण चक्रवर्तीपद प्राप्त हुआ था। इस तरह भोग भोगते हुए जब आयुका तीसरा भाग बाकी रह गया तब किसी दिन उन्हें शरदृऋतुके मेघोंका अकस्मात् विलय हो जाना देखकर अपने जन्मको सार्थक करनेवाला वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसी समय लौकान्तिक देवोंने उनके विचारोंका समर्थन कर उन्हें प्रबोधित किया और वे अरविन्दकुमार नामक पुत्रके लिए राज्य देकर देवोंके द्वारा उठायी हुई वैजयन्ती नामकी पालकीपर सवार हो सहेतुक वनमें चले गये। वहाँ वेलाका नियम लेकर उन्होंने मगसिर शुक्ला दशमीके दिन रेवती नक्षत्रमें सन्ध्याके समय एक हजार राजाओंके साथ दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा धारण करते ही वे चार ज्ञानके धारी हो गये ॥२९-३४॥ इस प्रकार तपश्चरण करते हुए वे किसी समय पारणाके दिन चक्रपुर नगरमें गये वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले राजा अपराजितने उन्हें आहार देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये। इस तरह मुनिराज अरनाथके जब छद्मस्थ अवस्थाके सोलह वर्ष व्यतीत हो गये ॥३५-३६॥ तब वे दीक्षावनमें कार्तिक शुक्ल द्वादशीके दिन रेवती नक्षत्रमें सायंकालके समय आम्रवृक्षके नीचे वेलाका नियम लेकर विराजमान हुए। उसी समय घातिया कर्म नष्ट कर उन्होंने अर्हन्तपद प्राप्त कर लिया। देवोंने मिलकर चतुर्थ कल्याणकमें उनकी पूजा की ॥३७-३८॥ कुम्भार्यको आदि लेकर उनके तीस गणधर थे, छह सौ दश ग्यारह अंग चौदह पूर्वके जानकार थे, पैंतीस हजार आठ सौ पैंतीस सूक्ष्म बुद्धिको धारण करनेवाले शिक्षक थे ॥३९॥ अट्ठाईस सौ अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, तैंतालीस सौ विक्रिया ऋद्धिको धारण करनेवाले थे, बीस सौ पचपन मनःपर्ययज्ञानी थे ॥४०-४१॥ और सोलह सौ श्रेष्ठवादी थे। इस तरह सब मिलाकर पचास हजार मुनिराज उनके साथ थे ॥४२॥ यक्षिलाको आदि लेकर साठ हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख साठ हजार श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव थे और संख्यात तिर्यंच थे। इस प्रकार इन बारह सभाओंसे घिरे हुए अतिशय बुद्धिमान् भगवान्

---

१ जनयन् ल०। -मानयत् ल०। २ विलायप्रतिलोकनात् ग०। विलासप्रविलोनात् म०। ३ भूभुजैः ल०। ४ -मपूपुजत् ख०, ग०। ५ प्रतिमा म०।

कक्षत्रयं विनिर्दिष्टा देवाः पूर्वोक्तमानकाः । तिर्यग्भेदाश्च संख्याता वृतो[1] द्वादशभिर्गणैः ॥४४॥
एभिर्धर्मोपदेशार्थं व्यहरद्विषयान्[2] सुधीः । मासमात्रावशेषायुः सम्मेदगिरिमस्तके ॥४५॥
सहस्रमुनिभिः सार्द्धं प्रतिमायोगमास्थितः । चैत्रकृष्णान्तरेवत्यां पूर्वरात्रेऽगमच्छिवम् ॥४६॥
तदागत्य सुराधीशाः कृतनिर्वाणपूजनाः । स्तुत्वा स्तुतिशतैर्भक्त्या स्वं स्वमोकः समं ययुः ॥४७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

त्यक्तं येन कुलालचक्रमिव तच्चक्रं धराचक्रचित्,
श्रीश्चासौ घटदासिकेव परमश्रीधर्मचक्रेप्सया ।
युष्मान्भक्तिभरानतान्स दुरितारातेरवध्वंसकृत,
पायाद्भव्यजनानरो जिनपतिः संसारभीरून् सदा ॥४८॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

क्षुत्तृड्भयादिगुरुकर्मकृतोरुदोषा-
नष्टादशापि सनिमित्तमपास्य शुद्धिम् ।
यो लब्धवांस्त्रिभुवनैकगुरुर्गरीया-
नष्टादशो दिशतु शीघ्रमरः शिवं वः ॥४९॥

शार्दूलविक्रीडितम्

प्राग्योऽभून्नृपतिर्महान् धनपतिः पश्चाद्व्रतानां पतिः,
स्वर्गाग्रे विलसज्जयन्तजपतिः प्रोद्यत्सुखानां पतिः ।
षट्खण्डाधिपतिश्चतुर्दशलसद्रत्नैर्निधीनां पतिः,
त्रैलोक्याधिपतिः पुनात्वरपतिः सन् स श्रितान् वश्चिरम् ॥५०॥

अथास्मिन्नेव तीर्थेऽभूत्सुभौमो नाम चक्रभृत् ।[3] तृतीये जन्मन्यत्रैव भरतेऽसौ भुवः पतिः ॥५१॥

अरनाथने धर्मोपदेश देनेके लिए अनेक देशोंमें विहार किया । जब उनकी आयु एक माहकी बाकी रह गयी तब उन्होंने सम्मेदाचलकी शिखरपर एक हजार मुनियोंके साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया तथा चैत्र कृष्ण अमावस्याके दिन रेवती नक्षत्रमें रात्रिके पूर्वभागमें मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥४३-४६॥ उसी समय इन्द्रोंने आकर निर्वाणकल्याणककी पूजा की । भक्तिपूर्वक सैकड़ों स्तुतियोंके द्वारा उनकी स्तुति की, और तदनन्तर वे सब अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥४७॥

जिन्होंने परम लक्ष्मी और धर्मचक्रको प्राप्त करनेकी इच्छासे पृथिवीमण्डलको संचित करनेवाला अपना सुदर्शनचक्र कुम्भकारके चक्रके समान छोड़ दिया और राज्य-लक्ष्मीको घटदासी (पनिहारिन) के समान त्याग दिया। तथा जो पापरूपी शत्रुका विध्वंस करनेवाले हैं ऐसे अरनाथ जिनेन्द्र भक्तिके भारसे नम्रीभूत एवं संसारसे भयभीत तुम सब भव्य लोगोंकी सदा रक्षा करें ॥४८॥ क्षुधा, तृषा, भय आदि बड़े-बड़े कर्मोंके द्वारा किये हुए क्षुधा, तृषा आदि अठारहों दोषोंको उनके निमित्त कारणोंके साथ नष्ट कर जिन्होंने विशुद्धता प्राप्त की थी, जो तीनों लोकोंके एक गुरु थे तथा अतिशय श्रेष्ठ थे ऐसे अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ तुम लोगोंको शीघ्र ही मोक्ष प्रदान करें ॥४९॥ जो पहले धनपति नामके बड़े राजा हुए, फिर व्रतोंके स्वामी मुनिराज हुए, तदनन्तर स्वर्गके अग्रभागमें सुशोभित जयन्त नामक विमानके स्वामी सुखी अहमिन्द्र हुए, फिर छहों खण्डके स्वामी होकर चौदह रत्नों और नौ निधियोंके अधिपति— चक्रवर्ती हुए तथा अन्तमें तीनों लोकोंके स्वामी अरनाथ तीर्थंकर हुए वे अतिशय श्रेष्ठ अठारहवें तीर्थंकर अपने आश्रित रहनेवाले तुम सबको चिरकाल तक पवित्र करते रहें ॥५०॥

अथानन्तर—इन्हीं अरनाथ भगवान्के तीर्थमें सुभौम नामका चक्रवर्ती हुआ था। वह

---

१ वृतो ल० । २ मधु । ३ तृतीय ल० ।

भूपालो नाम संग्रामे बलिभिर्विजिगीषुभिः । [1]प्राप्ताभिमानभंगः सन् भृशं निर्विद्य संसृतेः ॥५२॥
दीक्षां जैनेश्वरीमादात्[2]सम्भूतगुरुसंनिधौ । कदाचित्स तपः कुर्वन्निदानमकरोत्कुधीः[3] ॥५३॥
भूयान्मे चक्रवर्तित्वमिति भोगानुषञ्जनात् । क्षीरं विषेण वा तेन मनसा दूषितं तपः ॥५४॥
स तथैवाचरन् घोरं तपः स्वस्यायुषः क्षये । समाधाय महाशुक्रे संन्यासेनोदपद्यत ॥५५॥
तत्र षोडशवाराशिमानायुः सुखमास्त[4] सः । द्वीपेऽस्मिन् भारते कौशलाख्ये[5] राष्ट्रे गुणान्विते ॥५६॥
सहस्रबाहुरिक्ष्वाकुः साकेतनगराधिपः । राज्ञी तस्याभवच्चित्रमत्याख्या हृदयप्रिया ॥५७॥
[6]कन्याकुब्जमहीशस्य [7]पारताख्यस्य सात्मजा । तस्यां सुतः सुपुण्येन कृतवीराधिपोऽभवत् ॥५८॥
तत्र प्रवर्द्धमानेऽस्मिन्निदमन्यदुदीर्यते । सहस्रभुजभूभर्तुः पितृव्याच्छतबिन्दुतः ॥५९॥
पारताख्यमहीशस्य श्रीमत्यास्तनयः स्वसुः । जमदग्निः सुतामान्तः कौमारे मातृमृत्युतः ॥६०॥
[8]निर्वेगात्तापसो भूत्वा पञ्चाग्नितपसि स्थितः । दृढग्राहिमहीशस्य विप्रेण हरिशर्मणा ॥६१॥
अभूदखण्डितं सख्यमेवं काले प्रयात्यसौ । दृढग्राही तपो जैनमग्रहीद् ब्राह्मणोऽपि च ॥६२॥
तापसव्रतमन्तेऽभूज्ज्योतिर्लोके द्विजोत्तमः । दृढग्राही च सौधर्मे सोऽवधिज्ञानचक्षुषा ॥६३॥
मिथ्यात्वाज्ज्योतिषां[9] लोके समुत्पन्नं द्विजोत्तमम् । विज्ञाय जैनसद्धर्मं तं ग्राहयितुमागमत् ॥६४॥
दृष्ट्वा तं तत्र मिथ्यात्वात्त्वमेवं कुत्सितोऽभवः । [10]उत्कृष्टं शुद्धसम्यक्त्वाद्देवभूयमहं गतः ॥६५॥

तीसरे जन्ममें इसी भरतक्षेत्रमें भूपाल नामका राजा था ।।५१।। किसी समय राजा भूपाल, युद्धमें विजयकी इच्छा रखनेवाले विजिगीषु राजाओंके द्वारा हार गया । मान भंग होनेके कारण वह संसारसे इतना विरक्त हुआ कि उसने सम्भूत नामक गुरुके समीप जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली । उस दुर्बुद्धिने तपश्चरण करते समय निदान कर लिया कि मेरे चक्रवर्तीपना प्रकट हो । उसने यह सब निदान भोगोंमें आसक्ति रखनेके कारण किया था । इस निदानसे उसने अपने तपको हृदयसे ऐसा दूषित बना लिया जैसा कि कोई विषसे दूधको दूषित बना लेता है ।।५२-५४।। वह उसी तरह घोर तपश्चरण करता रहा । आयुके अन्तमें चित्तको स्थिर कर संन्याससे मरा जिससे महाशुक्र स्वर्गमें उत्पन्न हुआ ।।५५।। वहाँ सोलह सागर प्रमाण आयुको धारण करनेवाला वह देव सुखसे निवास करने लगा । इधर इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें अनेक गुणोंसे सहित एक कोशल नामका देश है । उसके अयोध्या नगरमें इक्ष्वाकुवंशी राजा सहस्रबाहु राज्य करता था । हृदयको प्रिय लगनेवाली उसकी चित्रमती नामकी रानी थी । वह चित्रमती कान्यकुब्ज देशके राजा पारतकी पुत्री थी । उत्तम पुण्यके उदयसे उसके कृतवीराधिप नामका पुत्र हुआ ।।५६-५८।। जो दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा । इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा और कही जाती है जो इस प्रकार है—राजा सहस्रबाहुके काका शतबिन्दुसे उनकी श्रीमती नामकी स्त्रीके जमदग्नि नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था । श्रीमती राजा पारतकी बहन थी । कुमार अवस्थामें ही जमदग्निकी माँ मर गयी थी इसलिए विरक्त होकर वह तापस हो गया और पंचाग्नि तप तपने लगा । इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा और है । एक दृढ़ग्राही नामका राजा था । उसकी हरिशर्मा नामके ब्राह्मणके साथ अखण्ड मित्रता थी । इस प्रकार उन दोनोंका समय बीतता रहा । किसी एक दिन दृढ़ग्राही राजाने जैन तप धारण कर लिया और हरिशर्मा ब्राह्मणने भी तापसके व्रत ले लिये । हरिशर्मा ब्राह्मण आयुके अन्तमें मरकर ज्योतिर्लोकमें उत्पन्न हुआ—ज्योतिषी देव हुआ और दृढ़ग्राही सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ । उसने अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे जाना कि हमारा मित्र हरिशर्मा ब्राह्मण मिथ्यात्वके कारण ज्योतिष लोकमें उत्पन्न हुआ है अतः वह उसे समीचीन जैनधर्म धारण करानेके लिए आया ।।५९-६४।। हरिशर्माके जीवको देखकर दृढ़ग्राहीके जीवने कहा कि तुम मिथ्यात्वके कारण इस तरह निन्द्यपर्यायमें उत्पन्न हुए हो और

---

१ प्राप्तोऽ-ल० । २ स भूत-ल० । ३ सुधी ल० । ४ सुखमास स: ख० । ५ कोशल्याख्ये क०, घ० । ६ कान्यकुब्ज ल० । ७ परताख्यस्य क०, घ० । ८ निर्वेदात्तापसो म०, ल० । ९ द्योतिषां क०, घ०, ज्योतिषे ल० । १० उत्कृष्टशुद्ध ल० ।

तस्मादुपेहि मोक्षस्य मार्गमित्यब्रवीत्ततः । तापसानां तपः कस्मादशुद्धमिति संशयात् ॥६६॥
अन्वयुङ्क्त स तं सोऽपि दर्शयाम्येहि भूतलम् । इत्यन्योन्यं समालोच्य कीचकद्वन्द्वतागतौ[1] ॥६७॥
जमदग्निमुनेर्दीर्घ[2]श्मश्वाश्रयमुपाश्रितौ । कांचित् कालकलां स्थित्वा सद्दृष्टिः सुरकीचकः ॥६८॥
समभाषत मायाज्ञो ज्योतिष्कामरकीचकीम् । वनखण्डान्तरं गत्वा प्रत्यायास्याम्यहं प्रिये ॥६९॥
प्रतीक्षस्वात्र मां स्थित्वेत्यसौ चाहागमं तव । न श्रद्दधामि मे देहि शपथं यदि यास्यसि ॥७०॥
इत्यतः सोऽब्रवीद् ब्रूहि पातकेषु किमिच्छसि । पञ्चसु त्वमहं तस्मिन् दास्यामि तदिति स्फुटम् ॥७१॥
साप्याह तेषु मे वाञ्छा कस्मिंश्चिन्नैव देहि मे । तापसस्यास्य यास्यामि गतिं नैष्याम्यहं यदि ॥७२॥
इतीमं शपथं गन्तुं मुञ्चामि त्वां प्रियेति [3]ताम् । तच्छ्रुत्वा कीचकः प्राह मुक्त्वैनं किञ्चिदीप्सितम् ॥७३॥
ब्रूह्यन्यमिति तद्द्वन्द्वविसंवादं स तापसः । श्रुत्वा क्रोधेन संनद्धो विघूर्णितविलोचनः ॥७४॥
हस्ताभ्यां हन्तुमु[4]त्क्रौर्याद् गृहीत्वा निश्चलं द्विजौ । मद्दुर्द्धरतपःप्राप्यभाविलोकोऽमर्मोप्सितः ॥७५॥
युवाभ्यां केन तद्वाच्यमि[5]त्याहातः खगोऽब्रवीद् । मागमः कोपमेतेन सौजन्यं तव नश्यति ॥७६॥
[6]एन्यातञ्चनतक्रेण पयोऽल्पेन न किं क्षतिम् । शृणु ते दुर्गतेर्हेतुं चिरं घोरं तपस्यतः ॥७७॥
कौमारब्रह्मचारित्वं तव संततिविच्छिदे । संतानघातिनः पुंसः का गतिर्नरकाद्विना ॥७८॥
अपुत्रस्य गतिर्नास्तीत्यार्षं किं न त्वया श्रुतम् । कुतोऽविचारकस्त्वेवं क्लिश्नासि जडधीरिति ॥७९॥

मैं सम्यक्त्वके कारण उत्कृष्ट देवपर्यायको प्राप्त हुआ हूँ ॥६५॥ इसलिए तुम मोक्षका मार्ग जो सम्यग्दर्शन है उसे धारण करो। जब दृढग्राहीका जीव यह कह चुका तब हरिशर्माके जीवने कुछ संशय रखकर उससे पूछा कि तापसियोंका तप अशुद्ध क्यों है? उसने भी कहा कि तुम पृथिवी तलपर चलो मैं सब दिखाता हूँ। इस प्रकार सलाह कर दोनोंने चिड़ा और चिड़ियाका रूप बना लिया ॥६६–६७॥ पृथिवीपर आकर वे दोनों ही जमदग्नि मुनिकी बड़ी-बड़ी दाढ़ी और मूँछमें रहने लगे। वहाँ कुछ समय तक ठहरनेके बाद मायाको जाननेवाला सम्यग्दृष्टि चिड़ाका जीव, चिड़ियाका रूप धारण करनेवाले ज्योतिषी देवसे बोला कि हे प्रिये! मैं इस दूसरे वनमें जाकर अभी वापस आता हूँ मैं जबतक आता हूँ तबतक तुम यहीं ठहरकर मेरी प्रतीक्षा करना। इसके उत्तरमें चिड़ियाने कहा कि मुझे तेरा विश्वास नहीं है यदि तू जाता ही है तो सौगन्ध दे जा ॥६८–७०॥ तब वह चिड़ा कहने लगा कि बोल तू पाँच पापोंमें-से किसे चाहती है मैं तुझे उसीकी सौगन्ध दे जाऊँगा ॥७१॥ उत्तरमें चिड़िया कहने लगी कि पाँच पापोंमें-से किसीमें मेरी इच्छा नहीं है। तू यह सौगन्ध दे कि यदि मैं न आऊँ तो इस तापसकी गतिको प्राप्त होऊँ ॥७२॥ हे प्रिय! यदि तू मुझे यह सौगन्ध देगा तो मैं तुझे अन्यत्र जानेके लिए छोड़ूँगी अन्यथा नहीं। चिड़ियाकी बात सुनकर चिड़ाने कहा कि तू यह छोड़कर और जो चाहती है सो कह, मैं उसकी सौगन्ध दूँगा। इस प्रकार चिड़ा और चिड़ियाका वार्तालाप सुनकर वह तापस क्रोधसे सन्तप्त हो गया, उसकी आँखें घूमने लगीं, उसने क्रूरतावश दोनों पक्षियोंको मारनेके लिए हाथसे मजबूत पकड़ लिया, वह कहने लगा कि मेरे कठिन तपसे जो भावी लोक होनेवाला है उसे तुम लोगोंने किस कारणसे पसन्द नहीं किया? यह कहा जाय। तापसके ऐसा कह चुकनेपर चिड़ाने कहा कि आप क्रोध न करें इससे आपकी सज्जनता नष्ट होती है ॥७३-७६॥ क्या थोड़ी-सी जामिनकी छाँछसे दूध नष्ट नहीं हो जाता? यद्यपि आप चिरकालसे घोर तपश्चरण कर रहे हैं तो भी आपकी दुर्गतिका कारण क्या है? सो सुनिए ॥७७॥ आप जो कुमार कालसे ही ब्रह्मचर्यका पालन कर रहे हैं वह सन्तानका नाश करनेके लिए है। सन्तानका घात करनेवाले पुरुषकी नरकके सिवाय दूसरी कौन-सी गति हो सकती है? ॥७८॥ अरे 'पुत्र रहित मनुष्यकी कोई गति नहीं होती' यह आर्षवाक्य—वेदवाक्य क्या आपने नहीं सुना? यदि सुना है तो फिर बिना विचार किये ही क्यों इस तरह दुर्बुद्धि होकर क्लेश

१ द्वन्द्वमागतौ ल० । २ दीर्घश्मश्र्वाश्रा-क०, ख०, ग० । दीर्घ स्मृत्वाश्रय ख० । ३ तम् म०, ल० । ४-मुत्कोपाद् ल० । ५-मित्यहोतः खगोऽ-ल० । ६ (आतञ्चनतक्रेण अमृततक्रेण दुग्धस्य दधिकरणहेतुभूततक्रेण, इति 'क' पुस्तके टिप्पणी)

श्रुत्वा तद्वचनं मन्दमिति निश्चित्य तत्तथा । वधूजनेषु सक्तानामज्ञानतपसः क्षितिः ॥८०॥
ममोपकारकावेताविति मुक्त्वा द्विजद्वयम् । वञ्चितोऽगात्कुधीस्ताभ्यां कन्या[1]कुब्जाधिपं प्रति ॥८१॥
स्थास्नु नाज्ञानवैराग्यमित्यत्राघोषयन्निव । दृष्ट्वा पारतभूपालमात्ममातुलमत्रपः ॥८२॥
आकारेणैव कन्यार्थागमनं स[2] निवेदयन् । आसनद्वयमालोक्य सरागासनमास्थितः ॥८३॥
निजागमनवृत्तान्तं महीपतिमजीगमत् । तदाकर्ण्य नृपः खेदाद्धिग्धिगज्ञानमित्यमुम् ॥८४॥
कन्याशतं ममास्त्यत्र या त्वामिच्छति सास्तु ते । इत्यवोचदसौ चागात्कन्यकास्तं निरीक्ष्य ताः ॥८५॥
अर्द्धदग्धशवं मत्वा तपोदग्धशरीरकम् । जुगुप्सयापलायन्त काश्चित्काश्चिद्भयाहिताः ॥८६॥
व्रीडया पीडितः सोऽपि तास्त्यक्त्वा बालिकां सुताम् । तत्रैवालोक्य मूढात्मा पांसुक्रीडापरायणाम् ॥८७॥
कदलीफलमादर्श्य प्राह मामिच्छतीति ताम् । वाञ्छामीत्यब्रवीत्सा च मामियं वाञ्छतीति ताम्[3] ॥८८॥
[4]नृपं निवेद्य संगृह्य समायासीद्वनं प्रति । पदं प्रति जनैर्निन्द्यमानो दीनतमो जडः ॥८९॥
[5]रेणुकीत्यभिधां तस्या विधाय स्वीचकार सः । प्रवृत्तिर्धर्म इत्येषा तदा प्रभृति वागभूत् ॥९०॥
[6]बोधौ श्रद्धा विशेषस्य भेदौ वा तपसो यतेः । बाह्याभ्यन्तरनामानौ तावभूतां सुतौ स्तुतौ ॥९१॥
इन्द्रः श्वेतश्च रामान्तौ [7]चन्द्रादित्यसमत्विषौ । कामार्थौ वा जनाभीष्टौ युक्तौ वा नयविक्रमौ ॥९२॥
[8]प्रयात्येवं तयोः काले मुनिरन्येद्युरागतः[9] । अरिंजयोऽग्रजो गेहं रेणुक्यास्तद्दिदृक्षया ॥९३॥

उठा रहे हैं ? ॥७९॥ उसके मन्द वचन सुनकर उस तापसने उसका वैसा ही निश्चय कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रीजनोंमें आसक्त रहनेवाले मनुष्योंके अज्ञान तपकी यही भूमिका है ॥८०॥ 'ये दोनों पक्षी मेरा उपकार करनेवाले हैं' ऐसा समझकर उसने दोनों पक्षियोंको छोड़ दिया। इस प्रकार उन दोनों देवोंके द्वारा ठगाया हुआ दुर्बुद्धि तापस कन्याकुब्ज नगरके राजा पारतकी ओर चला। वह मानो इस बातकी घोषणा ही करता जाता था कि अज्ञानपूर्ण वैराग्य स्थिर नहीं रहता। वहाँ अपने मामा पारतको देखकर उस निर्लज्जने अपने आकार मात्रसे ही यह प्रकट कर दिया कि मैं यहाँ कन्याके लिए ही आया हूँ। राजा पारतने उसकी परीक्षाके लिए दो आसन रखे—एक रागरहित और दूसरा रागसहित। दोनों आसनोंको देखकर वह रागसहित आसनपर बैठ गया ॥८१–८३॥ उसने अपने आनेका वृत्तान्त राजाके लिए बतलाया। उसे सुनकर राजा पारत बड़े खेदसे कहने लगा कि इस अज्ञानको धिक्कार हो, धिक्कार हो ॥८४॥ फिर राजाने कहा कि मेरे सौ पुत्रियाँ हैं इनमें-से जो तुझे चाहेगी वह तेरी हो जायेगी। राजाके ऐसा कहनेपर जमदग्नि कन्याओंके पास गया। उनमें-से कितनी ही कन्याएँ 'जिसका शरीर तपसे जल रहा है' ऐसे जमदग्निको अधजला मुर्दा मानकर ग्लानिसे भाग गयीं और कितनी ही भयसे पीड़ित होकर चली गयीं ॥८५–८६॥ लज्जासे पीड़ित हुआ वह मूर्ख तापस उन सब कन्याओंको छोड़कर धूलिमें खेलनेवाली एक छोटी-सी लड़कीके पास गया और केलाका फल दिखाकर कहने लगा कि क्या तू मुझे चाहती है ? लड़कीने कहा कि हाँ चाहती हूँ। तापसने जाकर राजासे कहा कि यह लड़की मुझे चाहती है। इस प्रकार वह लड़कीको लेकर वनको ओर चला गया। पद-पदपर लोग उसकी निन्दा करते थे, वह अत्यन्त दीन तथा मूर्ख था ॥८७–८९॥ जमदग्निने उस लड़कीका रेणुकी नाम रखकर उसके साथ विवाह कर लिया। उसी समयसे 'प्रवृत्ति ही धर्म है' यह कहावत प्रसिद्ध हुई है ॥९०॥ जिस प्रकार श्रद्धा विशेषके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान उत्पन्न होते हैं अथवा किसी मुनिराजके तपके बाह्यतप और आभ्यन्तर तप ये दो भेद प्रकट होते हैं उसी प्रकार जमदग्निके इन्द्र और श्वेतराम नामके दो स्तुत्य पुत्र उत्पन्न हुए। ये दोनों ही पुत्र ऐसे जान पड़ते थे मानो लोगोंको प्रिय काम और अर्थ ही हों अथवा मिले हुए नय और पराक्रम ही हों ॥९१–९२॥ इस प्रकार उन दोनोंका

---

१ कन्यकुब्जा-ल० । २ सन्निवेदयन् क०, ख०, म० । ३ तम् ल० । ४ नृपयावेद्य ल० । ५ रेणुकात्यभि- ल० । ६ बोधो श्रद्धा विशेषस्य भेदो वा तपसःपते ल० । ७ इन्द्रादित्य ल० । ८ प्रत्यात्येवं क० । ९–राययौ ख० ।

[1]दृष्ट्वा यथोपचारेण मुनिं भर्तृप्रचोदिता । पूज्य मङ्गलकाले मे दत्तं किं भवता धनम् ॥९४॥
भद्रेत्याह ततस्तेन मया दत्तं न किंचन । इदानीं दीयते भद्रे त्रिजगत्स्वपि दुर्लभम् ॥९५॥
गृहाण येन प्राप्नोषि त्वं सुखानां परंपराम् । सम्यक्त्वं व्रतसंयुक्तं शीलमालासमुज्ज्वलम् ॥९६॥
इत्युक्त्वा काललब्ध्येव तद्वाचा चोदिता सती । सम्यग्गृहीतमित्याख्यन्मुनिश्चातितुष्टवान् ॥९७॥
कामधेन्वभिधां विद्यामीप्सितार्थप्रदायिनीम् । तस्यै विश्राणयांचक्रे समन्त्रं परशुं च सः ॥९८॥
अथान्यदा ययौ सार्द्धं कृतवीरेण तत्पिता । तपोवनं सनाभित्वाद् भुक्त्वा गन्तव्यमित्यमुम् ॥९९॥
सहस्रबाहुं संभाष्य जमदग्निरभोजयत् । महाराजकुलेऽप्येषा सामग्री नास्ति भोजने ॥१००॥
तपोवननिविष्टानामागता भवतां कुतः । इति स्वमातुरनुजामप्राक्षीद्रेणुकीं [2]मिथः ॥१०१॥
कृतवीरोऽब्रवीत्सापि तद्विद्यालम्भनादिकम् । सोऽपि मोहोदयाविष्टस्तां धेनुमकृतज्ञकः ॥१०२॥
होमधेनुरियं तात वर्णाश्रमगुरोस्तव । याच्ञैषा न युक्तेति तदुक्त्या कोपवेगतः ॥१०३॥
परार्ध्यं यद्धनं लोके तद्योग्यं पृथिवीभुजाम् । न धेनुरीदृशी भोग्या कन्दमूलफलाशिभिः ॥१०४॥
[3]इत्यस्या धेनुमादाय हठात्कारेण गच्छतः । [4]अवस्थितं पुरस्तात्तं जमदग्निं महीपतिः ॥१०५॥
हत्वा स्वमार्गमुल्लङ्घ्य कुमार्गोऽभूत्पुरोन्मुखः[5] । रुदन्तीं [6]रेणुकीं भर्तृमरणात् प्रतनूदरीम् ॥१०६॥
अथ पुत्रौ वनात्पुष्पकन्दमूलफलादिकम् । आदायालोक्य संप्राप्तौ किमेतदिति विस्मयात् ॥१०७॥

काल सुखसे बीत रहा था। एक दिन अरिंजय नामके मुनि जो रेणुकीके बड़े भाई थे उसे देखनेकी इच्छासे उसके घर आये ॥९३॥ रेणुकीने विनयपूर्वक मुनिके दर्शन किये। तदनन्तर पतिसे प्रेरणा पाकर उसने मुनिसे पूछा कि हे पूज्य ! मेरे विवाहके समय आपने मेरे लिए क्या धन दिया था ? ॥९४॥ सो कहो, रेणुकीके ऐसा कहनेपर मुनिने कहा कि उस समय मैंने कुछ भी नहीं दिया था। हे भद्रे ! अब ऐसा धन देता हूँ जोकि तीनों लोकोंमें दुर्लभ है। तू उसे ग्रहण कर। उस धनके द्वारा तू सुखोंकी परम्परा प्राप्त करेगी। यह कहकर उन्होंने व्रतसे संयुक्त तथा शीलकी मालासे उज्ज्वल सम्यक्त्वरूपी धन प्रदान किया और काललब्धिके समान उनके वचनोंसे प्रेरित हुई रेणुकीने कहा कि मैंने आपका दिया सम्यग्दर्शनरूपी धन ग्रहण किया। मुनिराज इस बातसे बहुत ही सन्तुष्ट हुए। उन्होंने मनोवांछित पदार्थ देनेवाली कामधेनु नामकी विद्या और मन्त्रसहित एक फरशा भी उसके लिए प्रदान किया ॥९५–९८॥ किसी दूसरे दिन पुत्र कृतवीरके साथ उसका पिता सहस्रबाहु उस तपोवनमें आया। भाई होनेके कारण जमदग्निने सहस्रबाहुसे कहा कि भोजन करके जाना चाहिए। यह कह जमदग्निने उसे भोजन कराया। कृतवीरने अपनी माँकी छोटी बहन रेणुकीसे पूछा कि भोजनमें ऐसी सामग्री तो राजाओंके घर भी नहीं होती फिर तपोवनमें रहनेवाले आप लोगोंके लिए यह सामग्री कैसे प्राप्त होती है ? उत्तरमें रेणुकीने कामधेनु विद्याकी प्राप्ति आदिका सब समाचार सुना दिया। मोहके उदयसे आविष्ट हुए उस अकृतज्ञ कृतवीरने रेणुकीसे वह कामधेनु विद्या माँगी। रेणुकीने कहा कि हे तात ! यह कामधेनु तुम्हारे वर्णाश्रमोंके गुरु जमदग्निकी होमधेनु है अतः तुम्हारी यह याचना उचित नहीं है। रेणुकीके इतना कहते ही उसे क्रोध आ गया। वह क्रोधके वेगसे कहने लगा कि संसारमें जो भी श्रेष्ठ धन होता है वह राजाओंके योग्य होता है। कन्द मूल तथा फल खानेवाले लोगोंके द्वारा ऐसी कामधेनु भोगने योग्य नहीं हो सकती ॥९९–१०४॥ ऐसा कहकर वह कामधेनुको जबरदस्ती लेकर जाने लगा तब जमदग्नि ऋषि रोकनेके लिए उसके सामने खड़े हो गये। कुमार्गगामी राजा कृतवीर जमदग्निको मारकर तथा अपना मार्ग उल्लंघकर नगरकी ओर चला गया। इधर कृशोदरी रेणुकी पतिकी मृत्युसे रोने लगी। तदनन्तर उसके दोनों पुत्र जब फूल, कन्द, मूल तथा फल आदि लेकर वनसे लौटे तो यह सब देख आश्चर्यसे पूछने लगे कि यह क्या है ? ॥१०५–१०७॥ सब बातको ठीक-ठीक समझकर उन्हें क्रोध आ गया। स्वाभाविक पराक्रमको धारण करनेवाले दोनों भाइयोंने पहले तो शोकसे भरी हुई माताको

१ यष्ट्वा क०, घ०। २ रेणुकाम् ल०, क०, ग०। ३ इत्युक्त्वा म०, ल०। ४ अवस्थितं ल०। ५ परोन्मुखः क०, घ०। ६ रेणुकां ख०।

[1]पृष्ट्वा विज्ञाय तत्सर्वं सकोपौ शोकनिर्भरम् । निर्वाप्य युक्तिमद्वाग्भिस्तौ नैसर्गिकविक्रमौ ॥१०८॥
ध्वजीकृतनिशातोग्रपरशू यमसंनिभौ । गोग्रहे मरणं पुण्यहेतुरित्यत्रिगानतः ॥१०९॥
श्रूयते तत्तथैवास्तां कः सहेत पितुर्वधम् । इत्युक्त्वानुगताशेषस्निग्धान्मुनिकुमारकौ ॥११०॥
तद्गतं मार्गमन्वेत्य साकेतनगरान्तिकम् । संप्राप्य कृतसंग्रामौ कृतवीरेण भूपतिम् ॥१११॥
सहस्रबाहुमाहत्य सायाह्नेऽविशतां पुरम्[2] । हालाहलोपमान्याशु [3]घोरांहःस्फूर्जितान्यलम् ॥११२॥
फलन्त्यकार्यचर्याणां दुःसहां दुःखसंततिम् । सहस्रबाहुसंताननिःशेषीकरणोत्सुकम् ॥११३॥
ज्ञात्वा परशुरामीयमभिप्रायं महीपतिः । भूपालचरदेवेन निदानविषदूषितात् ॥११४॥
समुद्भूतेन तपसो महाशुक्रेऽत्र जन्मिना । राज्ञी सगर्भां चित्रमतीं[4] तां शाण्डिल्यतापसः ॥११५॥
तदग्रजः समादाय गत्वा विज्ञातचर्यया । स सुबन्ध्वाख्यनिर्ग्रन्थमुनेरावेद्य वृत्तकम् ॥११६॥
तत्समीपे निधायार्य मठे मे नास्ति कश्चन । [5]तत्र गत्वा समीक्ष्यागमिष्याम्येषाऽत्र तिष्ठतु ॥११७॥
देवीति गतवांस्तस्मात्तदैवासूत सा सुतम् । तदानीमेव तं तत्र भविष्यच्चक्रनाधिपः ॥११८॥
बालकोऽयमिति ज्ञानादादाय चक्रुर्वनदेवताः । ताभिः प्रपाल्यमानोऽयमनाबाधमवर्द्धत ॥११९॥
दिनानि कानिचिन्नीत्वा महीमाश्लिष्य जातवान् । बालकोऽयं कथं भावी भट्टारक, शुभाशुभम् ॥१२०॥
अनुगृह्यास्य वक्तव्यमिति देव्योदितो मुनिः । एष चक्री भवेदस्य वत्सरे षोडशे ध्रुवम् ॥१२१॥
साग्निचुल्लीगतस्थूलकिलासघृतमध्यगान् । [7]उष्णापूपानुपादाय भक्षयिष्यति बालकः ॥१२२॥

युक्तिपूर्ण वचनोंसे सन्तुष्ट किया फिर तीक्ष्ण फरशाको ध्वजा बनानेवाले, यमतुल्य दोनों भाइयोंने परस्पर कहा कि गायके ग्रहणमें यदि मरण भी हो जाय तो वह पुण्यका कारण है ऐसा शास्त्रोंमें सुना जाता है अथवा यह बात रहने दो, पिताके मरणको कौन सह लेगा ? ऐसा कहकर दोनों ही भाई चल पड़े। स्नेहसे भरे हुए समस्त मुनिकुमार उनके साथ गये ॥१०७-११०॥ राजा सहस्रबाहु और कृतवीर जिस मार्गसे गये थे उसी मार्गपर चलकर वे अयोध्यानगरके समीप पहुँच गये। वहाँ कृतवीरके साथ संग्राम कर उन्होंने राजा सहस्रबाहुको मार डाला और सायंकालके समय नगरमें प्रवेश किया सो ठीक ही है क्योंकि जो अकार्यमें प्रवृत्ति करते हैं उनके लिए हलाहल विषके समान भयंकर पापोंके परिपाक असह्य दुःखोंकी परम्परा रूप फल शीघ्र ही प्रदान करते हैं। इधर रानी चित्रमतीके बड़े भाई शाण्डिल्य नामक तापसको इस बातका पता चला कि परशुराम, सहस्रबाहुकी समस्त सन्तानको नष्ट करनेके लिए उत्सुक है और रानी चित्रमती, निदानरूपी विषसे दूषित तपके कारण महाशुक्र स्वर्गमें उत्पन्न हुए राजा भूपालके जीव स्वरूप देवके द्वारा गर्भवती हुई है अर्थात् उक्त देव रानी चित्रमतीके गर्भमें आया है। ज्यों ही शाण्डिल्यको इस बातका पता चला त्यों ही वह बहन चित्रमतीको लेकर अज्ञात रूपसे चल पड़ा और सुबन्धु नामक निर्ग्रन्थ मुनिके पास जाकर उसने सब समाचार कह सुनाये। 'हे आर्य ! मेरे मठमें कोई नहीं है इसलिए मैं वहाँ जाकर वापस आऊँगा। जबतक मैं वापस आऊँ तबतक यह देवी यहाँ रहेगी' यह कहकर वह चित्रमतीको सुबन्धु मुनिके पास छोड़कर अन्यत्र चला गया ॥१११-११७॥

इधर रानी चित्रमतीने पुत्र उत्पन्न किया। यह बालक भरतक्षेत्रका भावी चक्रवर्ती है यह विचारकर वन-देवताओंने उसे शीघ्र ही उठा लिया। इस प्रकार वन-देवियाँ जिसकी रक्षा करती हैं ऐसा वह बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा ॥११८-११९॥ जब कुछ दिन व्यतीत हो गये तब एक दिन रानीने मुनिसे पूछा कि हे स्वामिन् ! यह बालक पृथिवीका आश्लेषण करता हुआ उत्पन्न हुआ था अतः अनुग्रह करके इसके शुभ-अशुभका निरूपण कीजिए। इस प्रकार रानीके कहनेपर मुनि कहने लगे कि हे अम्ब ! यह बालक सोलहवें वर्षमें अवश्य ही चक्रवर्ती होगा और चक्रवर्ती होनेका यह चिह्न होगा कि यह बालक अग्निसे जलते हुए चूल्हेके ऊपर रखी कढ़ाईके घीके मध्यमें

---

१ दृष्ट्वा ल० । २ पुरीम् ल० । ३ घोराहःस्फूर्जितान्यलम् ल० । ४ चित्रमतिम् ल० । ५ 'तत्र गत्वा समागमिष्याम्येषा त्वत्र तिष्ठतु' ल० । ६ स्याल ख० । ७ उष्णान् पूपान् समादाय, क०, ग० । उष्णानपूपानादाय ख० । उष्णान् पूपानुपादाय छ०, म० ।

अभिज्ञानमिदं मायि चक्रित्वस्यास्य निश्चितम्। तस्मात्मा स्म भयं यासीरिति तामिति दुःखिताम् ॥१२३॥
सुबन्धुनामा यो भृशं स्वास्थ्यमनैषीत्करुणात्मकः। ततस्तदग्रजोऽभ्येत्य तां नीत्वा [1]गृहमात्मनः ॥१२४॥
समुद्भूतोऽयमाश्लिष्य मेदिनीमिति तस्य सः। सुभौम इति संप्रीत्या चक्रे नाम कृतोत्सवः ॥१२५॥
तत्र शास्त्राणि सर्वाणि सप्रयोगाणि संततम्। सोपदेशं समभ्यस्यन् वर्द्धते स्म स गोपितः ॥१२६॥
अथ तौ रेणुकीपुत्रौ प्रवृद्धोग्रपराक्रमौ। त्रिःसप्तकृत्वो निर्मूलमापाद्य [2]क्षत्रियान्वयम् ॥१२७॥
स्वहस्ताखिलभूपालशिरांसि स्थापनेच्छया। शिलास्तम्भेषु संगृह्य बद्धवैरौ गुरोर्वधात् ॥१२८॥
सार्वभौमीं श्रियं सम्यक् संभूयानुबभूवतुः। निमित्तकुशलो नाम्ना कदाचित्स निमित्तवित् ॥१२९॥
भवतः शत्रुरुत्पन्नः प्रयत्नोऽत्र विधीयताम्। कः प्रत्ययोऽस्य चेद्वच्मि [3]विध्वस्ताखिलभूभुजाम् ॥१३०॥
दन्ता यस्याशनं भूत्वा परिणंस्यन्त्यसौ रिपुः। इतीन्द्ररामं राजानं परश्वीशमबूबुधत् ॥१३१॥
श्रुत्वा यथार्थनैमित्तिकोक्तं चेतसि धारयन्। कृत्वा परशुरामोऽपि दानशालां सुभोजनाम् ॥१३२॥
तत्परीक्षार्थमायान्तु येऽत्र [4]विक्षणनार्थिनः। इत्याघोषयति स्मैतत् श्रुत्वा तेऽपि समागमन् ॥१३३॥
तेषां पात्रस्थदन्तान् संप्रदर्श्य परीक्षितुम्। तान् भोजयति भूपाले प्रत्यहं स्वनियोगिभिः ॥१३४॥
पितुर्मरणवृत्तान्तं स्वमातुरवबुद्धवान्। स्वचक्रित्वसंप्राप्तिकालायातं च तत्त्वतः ॥१३५॥
[5]सुसिद्धमुनिभिर्दिष्टसंवृत्तात्मस्वरूपकः। परिव्राजकवेषेण स्वरहस्यार्थवेदिना ॥१३६॥
राजपुत्रसमूहेन सुभौमोऽभ्यागमत्पुरम्। सभाग्यांश्चोदयत्येव काले कल्याणकृद्विधिः ॥१३७॥

स्थित गरम-गरम पुओंको निकालकर खा लेगा। इसलिए तू किसी प्रकारका भय मत कर। इस प्रकार दयासे परिपूर्ण सुबन्धु मुनिने दुःखिनी रानी चित्रमतीको अत्यन्त सुखी किया।

तदनन्तर बड़ा भाई शाण्डिल्य नामका तापस आकर उस चित्रमतीको अपने घर ले गया। यह बालक पृथिवीको छूकर उत्पन्न हुआ था इसलिए शाण्डिल्यने बड़ा भारी उत्सव कर प्रेमके साथ उसका सुभौम नाम रखा ॥१२०-१२५॥ वहाँपर वह उपदेशके अनुसार निरन्तर प्रयोग सहित समस्त शास्त्रोंका अभ्यास करता हुआ गुप्तरूपसे बढ़ने लगा ॥१२६॥ इधर जिनका उग्र पराक्रम बढ़ रहा है ऐसे रेणुकीके दोनों पुत्रोंने इक्कीस बार क्षत्रिय वंशको निर्मूल नष्ट किया ॥१२७॥ पिताके मारे जानेसे जिन्होंने वैर बाँध लिया है ऐसे उन दोनों भाइयोंने अपने हाथसे मारे हुए समस्त राजाओंके शिरोंको एकत्र रखनेकी इच्छासे पत्थरके खम्भोंमें संगृहीत कर रखा था ॥१२८॥ इस तरह दोनों भाई मिलकर समस्त पृथिवीकी राज्यलक्ष्मीका अच्छी तरह उपभोग करते थे। किसी एक दिन निमित्तकुशल नामके निमित्तज्ञानीने फरशाके स्वामी राजा इन्द्ररामसे कहा कि आपका शत्रु उत्पन्न हो गया है इसका प्रतिकार कीजिए। इसका विश्वास कैसे हो? यदि आप यह जानना चाहते हैं तो मैं कहता हूँ। मारे हुए राजाओंके जो दाँत आपने इकट्ठे किये हैं वे जिसके लिए भोजन रूप परिणत हो जावेंगे वही तुम्हारा शत्रु होगा ॥१२९-१३१॥ निमित्तज्ञानीका कहा हुआ सुनकर परशुरामने उसका चित्तमें विचार किया और उत्तम भोजन करानेवाली दानशाला खुलवायी ॥१३२॥ साथमें यह घोषणा करा दी कि जो भोजनाभिलाषी यहाँ आवें उन्हें पात्रमें रखे हुए दाँत दिखलाकर भोजन कराया जावे। इस प्रकार शत्रुकी परीक्षाके लिए वह प्रतिदिन अपने नियोगियों—नौकरोंके द्वारा अनेक पुरुषोंको भोजन कराने लगा ॥१३३-१३४॥ इधर सुभौमने अपनी मातासे अपने पिताके मरनेका समाचार जान लिया, वास्तवमें उसका चक्रवर्तीपना प्राप्त होनेका समय आ चुका था, अतिशय निमित्तज्ञानी सुबन्धु मुनिके कहे अनुसार उसे अपने गुप्त रहनेका भी सब समाचार विदित हो गया अतः वह परिव्राजकका वेष रखकर अपने रहस्यको समझनेवाले राजपुत्रोंके समूहके साथ अयोध्यानगरकी ओर चल पड़ा सो ठीक ही है क्योंकि कल्याणकारी दैव भाग्यशाली पुरुषोंको समयपर प्रेरणा दे ही देता है ॥१३५-१३७॥ उस

---

१ गेहमात्मनः म०, ल०। २ क्षत्रियान्वहम् ल०। ३ त्वद्ध्वस्ताखिल- ख०, ग०। त्वद्धताखिल- ल०। ४ भोजनार्थिनः। ५ सुबन्धुमुनि ग०।

तदा साकेतवास्तव्यदेवताक्रन्दनं महत् । महीकम्पो दिवा ताराद्यदृश्यादिरभवत्पुरे ॥१३८॥
[1]तथागत्य कुमारोऽसौ शालां भोक्तुमुपागतः । [2]तमाहूय निवेश्योच्चैरासने हतभूभुजाम् ॥१३९॥
नियुक्ता दर्शयन्ति स्म दन्तांस्तस्यानुभावतः । [3]कलमान्नं तदासंस्ते तद्दृष्ट्वा परिचारिणः ॥१४०॥
व्यजिज्ञपन्नृपं सोऽपि स धृत्वा नीयतामिति । समर्थान्प्राहिणोद् भृत्यांस्तेऽपि तं प्राप्य निष्ठुराः ॥१४१॥
आहूतोऽसि महीशेन त्वमेह्याशिरुदाहरन् । नाहं यूयमिवास्यादां जीविकां तत्तदन्तिकीम् ॥१४२॥
किमित्येष्यामि यातेति तर्जितास्तत्प्रभावतः । भटा भयज्वरग्रस्ता ययुः सर्वे यथायथम् ॥१४३॥
श्रुत्वा परशुरामस्तत्क्रुद्ध्वा संनद्धसाधनः । [4]समागतस्तदालोक्य सुभौमोऽभिमुखं ययौ ॥१४४॥
बलं परशुरामः[5] स्वं तेन योद्धुं [6]समादिशत् । जन्मप्रभृति तत्पाता भरतव्यन्तराधिपः ॥१४५॥
रक्षित्वाऽस्थात्कुमारं तं तस्मात्तस्याग्रतो बलम् । स्थातुमक्षममालोक्य स्वयं गजमचोदयत् ॥१४६॥
सहसैव सुभौमस्याप्यभवद् गन्धवारणः । चक्रं च संनिधौ दिव्यं सार्वभौमत्वसाधनम् ॥१४७॥
सहस्रदेवतारक्ष्यं किं न स्यात् संमुखे विधौ । वारणेन्द्रं समारुह्य पूर्वाद्रिमिव[7] भास्करः ॥१४८॥
सहस्रारं करे कृत्वा कुमारश्चक्रमाबभौ । तं दृष्ट्वा रुष्टवान् हन्तुं जामदग्न्योऽभ्युपागमत् ॥१४९॥
चक्रेण तं कुमारोऽपि लोकान्तरमजीगमत् । अकरोच्चान्यसैन्यस्य तदैवाभयघोषणाम्[8] ॥१५०॥
अरेशतीर्थसंतानकाले द्विशतकोटिषु । सद्वात्रिंशत्सु जातोऽभूत्सुभौमो वत्सरेष्वयम् ॥१५१॥

समय अयोध्या नगरमें रहनेवाले देवता बड़े जोरसे रोने लगे, पृथिवी काँप उठी और दिनमें तारे आदि दिखने लगे ॥१३८॥ सुभौम कुमार भोजन करनेके लिए जब परशुरामकी दान-शालामें पहुँचे तो वहाँके कर्मचारियोंने बुलाकर उन्हें उच्च आसनपर बैठाया और मारे हुए राजाओंके संचित दाँत दिखलाये परन्तु सुभौमके प्रभावसे वे सब दाँत शालि चावलोंके भात-रूपी हो गये। यह सब देखकर वहाँके परिचारकोंने राजाके लिए इसकी सूचना दी। राजाने भी 'उसे पकड़कर लाया जावे' यह कहकर मजबूत नौकरोंको भेजा। अत्यन्त क्रूर प्रकृतिवाले भृत्योंने सुभौमके पास जाकर कहा कि तुम्हें राजाने बुलाया है अतः शीघ्र चलो। सुभौमने उत्तर दिया कि—'मैं तुम लोगोंके समान इससे नौकरी नहीं लेता फिर इसके पास क्यों जाऊँ?' 'तुम लोग जाओ' ऐसा कहकर उसने उनकी तर्जना की, उसके प्रभावसे वे सब नौकर भयरूपी ज्वरसे ग्रस्त हो गये और सब यथास्थान चले गये ॥१३९-१४३॥ यह सुनकर परशुराम बहुत कुपित हुआ। वह युद्धके सब साधन तैयार कर आ गया। उसे आया देख सुभौम भी उसके सामने गया ॥१४४॥ परशुरामने उसके साथ युद्ध करनेके लिए अपनी सेनाको आज्ञा दी। परन्तु भरतक्षेत्रके अधिपति जिस व्यन्तरदेवने जन्मसे लेकर सुभौमकुमारकी रक्षा की थी उसने उस समय भी उसकी रक्षा की अतः परशुरामकी सेना उसके सामने नहीं ठहर सकी। यह देखकर परशुरामने सुभौमकी ओर स्वयं अपना हाथी बढ़ाया परन्तु उसी समय सुभौमके भी एक गन्धराज-मदोन्मत्त हाथी प्रकट हो गया। यही नहीं, एक हजार देव जिसकी रक्षा करते हैं और जो चक्रवर्तीपनाका साधन है ऐसा देवोपनीत चक्ररत्न भी पास ही प्रकट हो गया सो ठीक ही है क्योंकि भाग्यके सम्मुख रहते हुए क्या नहीं होता? जिस प्रकार पूर्वाचलपर सूर्य आरूढ़ होता है उसी प्रकार उस गजेन्द्रपर आरूढ़ होकर सुभौमकुमार निकला। वह हजार आरेवाले चक्ररत्नको हाथमें लेकर बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था। उसे देखकर परशु-राम बहुत ही कुपित हुआ और सुभौमको मारनेके लिए सामने आया ॥१४५-१४९॥ सुभौम कुमारने भी चक्र-द्वारा उसे परलोक भेज दिया—मार डाला तथा बाकी बची हुई सेनाके लिए उसी समय अभय-घोषणा कर दी ॥१५०॥

श्री अरनाथ तीर्थंकरके बाद दो सौ करोड़ बत्तीस वर्ष व्यतीत हो जानेपर सुभौम चक्रवर्ती

---

१ तदागत्य म०, ल०। २ समाहूय क०, घ०। ३ शालिभोजनम्। ४ समागतं तदालोक्य म०। समागमं तदालोक्य ल०। ५ परशुरामस्तत्तेन ल०। ६ समादिशत् ख०, ग०, म०। ७ पूर्वेन्द्र इव ल०। ८ घोषणम् क०, ख०, ग०।

अभिभूताखिलारातिरष्टमश्चक्रवर्तिषु । समा षष्टिसहस्रायुरष्टाविंशतिचापभः ॥१५२॥
जातरूपच्छविः श्रीमानिक्ष्वाकुकुलकेसरी । विराजमानो विस्पष्टचक्रादिशुभलक्षणैः ॥१५३॥
ततो रत्नानि शेषाणि निधयोऽपि नवाभवन् । षट्खण्डस्याधिपत्येन प्रादुरासीत्स चक्रभृत् ॥१५४॥
चक्रवर्तित्वसंप्राप्यान् भोगान् दशविधांश्चिरम् । अन्वभूदिव देवेन्द्रो दिवि दिव्याननारतम् ॥१५५॥
अन्येद्युः सूपकारोऽस्य नाम्नामृतरसायनः । रसायनाह्विकामस्मै[1] मुदादादग्मिकां हितः ॥१५६॥
तन्नामश्रुतिमात्रेण तद्गुणस्याविचारकः । तद्वैरिचोदितः[2] कोपाद् भूपतिस्तमदण्डयत् ॥१५७॥
सोऽपि तेनैव दण्डेन म्रियमाणोऽतितीव्ररुट् । वध्यासं नृपमित्यात्तनिदानः पुण्यलेशतः ॥१५८॥
ज्योतिर्लोकेऽमरो भूत्वा विभङ्गज्ञानवीक्षणः । अनुस्मृत्य रुषा वैरं जिघांसुः स महीपतिम् ॥१५९॥
जिह्वालोलुपमालक्ष्य संधृत्य वणिगाकृतिम् । सुस्वादुफलदानेन प्रत्यहं तमसेवत ॥१६०॥
निष्ठितानि फलानीति कदाचित्तेन भाषितः[3] । आनेतव्यानि तान्येव गत्वेत्याख्यन्नृपोऽपि तम् ॥१६१॥
आनेतुं तान्यशक्यानि प्राक्समाराध्य देवताम् । तद्वनस्वामिनीं दीर्घं लब्धान्येतानि कानिचित् ॥१६२॥
आसक्तिस्तेषु चेदस्ति देवस्य[4] तद्वनं मया । सह तत्र त्वमायाहि यथेष्टं तानि भक्षय ॥१६३॥
इति प्रकम्पनं तस्य विश्वास्य[5] प्रतिपन्नवान् । राजा प्रक्षीणपुण्यानां विनश्यति विचारणम्[6] ॥१६४॥
एतद्राज्यं परित्यज्य रसनेन्द्रियलोलुपः । मत्स्यवत्किं विनष्टेति मन्त्रिभिर्वारितोऽप्यसौ ॥१६५॥

उत्पन्न हुआ था ॥१५१॥ यह सुभौम समस्त शत्रुओंको नष्ट करनेवाला था और चक्रवर्तियोंमें आठवाँ चक्रवर्ती था। उसकी साठ हजार वर्षकी आयु थी, अट्ठाईस धनुष ऊँचा शरीर था, सुवर्णके समान उसकी कान्ति थी, वह लक्ष्मीमान् था, इक्ष्वाकु वंशका सिंह था—शिरोमणि था, अत्यन्त स्पष्ट दिखनेवाले चक्र आदि शुभ लक्षणोंसे सुशोभित था ॥१५२-१५३॥ तदनन्तर बाकीके रत्न तथा नौ निधियाँ भी प्रकट हो गयीं। इस प्रकार छह खण्डका आधिपत्य पाकर वह चक्रवर्ती रूपमें प्रकट हुआ ॥१५४॥ जिस प्रकार इन्द्र स्वर्गमें निरन्तर दिव्य भोगोंका उपभोग करता रहता है उसी प्रकार सुभौम चक्रवर्ती पदमें प्राप्त होने योग्य दश प्रकारके भोगोंका चिर काल तक उपभोग करता रहा ॥१५५॥ सुभौमका एक अमृतरसायन नामका हितैषी रसोइया था उसने किसी दिन बड़ी प्रसन्नतासे उसके लिए रसायना नामकी कढ़ी परोसी ॥१५६॥ सुभौमने उस कढ़ीके गुणोंका विचार तो नहीं किया, सिर्फ उसका नाम सुनने मात्रसे वह कुपित हो गया। इसीके बीच उस रसोइयाके शत्रुने राजाको उल्टी प्रेरणा दी जिससे क्रोधवश उसने उस रसोइयाको दण्डित किया। इतना अधिक दण्डित किया कि वह रसोइया उस दण्डसे म्रियमाण हो गया। उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर निदान किया कि मैं इस राजाको अवश्य मारूँगा। थोड़े-से पुण्यके कारण वह मरकर ज्योतिर्लोकमें विभङ्गावधिज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाला देव हुआ। पूर्व वैरका स्मरण कर वह क्रोधवश राजाको मारनेकी इच्छा करने लगा ॥१५७-१५९॥ उसने देखा कि यह राजा जिह्वाका लोभी है अतः वह एक व्यापारीका वेष रख मीठे-मीठे फल देकर प्रतिदिन राजाकी सेवा करने लगा ॥१६०॥ किसी एक दिन उस देवने कहा कि महाराज ! वे फल तो अब समाप्त हो गये। राजाने कहा कि यदि समाप्त हो गये तो फिरसे जाकर उन्हीं फलोंको ले आओ ॥१६१॥ उत्तरमें देवने कहा कि वे फल नहीं लाये जा सकते। पहले तो मैंने उस वनकी स्वामिनी देवीकी आराधना कर कुछ फल प्राप्त कर लिये थे ॥१६२॥ यदि आपकी उन फलोंमें आसक्ति है—आप उन्हें अधिक पसन्द करते हैं तो आप मेरे साथ वहाँ स्वयं चलिए और इच्छानुसार उन फलोंको खाइए ॥१६३॥ राजाने उसके मायापूर्ण वचनोंका विश्वास कर उसके साथ जाना स्वीकृत कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि जिनका पुण्य क्षीण हो जाता है उनकी विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है ॥१६४॥ यद्यपि मन्त्रियोंने उस राजाको रोका था कि आप मत्स्यकी तरह रसना इन्द्रियके लोभी हो यह राज्य छोड़-

१ रसायनाधिकामस्मै म० । रसायनाह्विकामस्मै ग० । रसायनाभिधामस्मै ख० । २ चोदितस्तस्माद् क०, घ० । ३ भाषिते म०, ख० । ४ भवतः । ५ विश्वस्य ख० । ६ विचारणा ख० ।

तदुक्तमतिलङ्घ्यासौ पोतेनागाहताम्बुधिम् । तदा रत्नानि तद्गेहात् व्यपेतान्यखिलान्यपि ॥१६६॥
सहस्रयक्षरक्षाणि प्रत्येकं निधिभिः समम् । तद्विदित्वा वणिग्वैरी नीत्वा मध्येऽम्बुधि [1]द्विषम् ॥१६७॥
स्वप्राग्जन्माकृतिं तस्य प्रकटीकृत्य दुर्वचः । उक्त्वा वैरानुबन्धं च क्रूरश्चित्रवधं व्यधात् ॥१६८॥
सुभौमोऽपि विपद्यान्ते रौद्रध्यानपरायणः । श्वाभ्रीं गतिं समापन्नो दुर्मत्या किं न जायते ॥१६९॥
लोभात्सहस्रबाहुश्च प्राप तिर्यग्गतिं सतुक् । जमदग्निसुतौ हिंसापरतन्त्रौ गतावधः ॥१७०॥
तत एव त्यजन्त्येतौ रागद्वेषौ मनीषिणः । तत्त्यागादापुरन्त्यापन्प्राप्स्यन्ति च परं पदम् ॥१७१॥

वसन्ततिलका

एकोऽपि सिंहसदृशः सकलावनीशो
हत्वा पितुर्वधकृ[2]तौ जमदग्निसूनू ।
कीर्त्या त्वया धवलिताऽखिलदिक् सुभौम-
श्चक्री सुदुर्नय[3]वशान्नरकेऽष्टमोऽभूत् ॥१७२॥
भूपालभूपतिरसह्यतपोविधायी
शुक्रेऽभवन्महति षोडशसागरायुः ।
च्युत्वा ततः सकलचक्रधरः सुभौमो
रामान्तकृन्नरकनायकतां जगाम ॥१७३॥

नन्दिषेणो बलः पुण्डरीकोऽर्द्धभरताधिपः । राजपुत्राविमौ जातौ तृतीयेऽत्र भवान्तरे ॥१७४॥
सुकेत्वाश्रयशल्येन तपः कृत्वायुषोऽवधौ । आद्य कल्पं समुत्पद्य ततः प्रच्युत्य चक्रिणः ॥१७५॥
पश्चात्षट्छतकोट्यब्दातीतौ तत्रैव भारते । राज्ञश्चक्रपुराधीशादिक्ष्वाकोर्वरसेनतः ॥१७६॥

कर क्यों नष्ट होते हो तथापि उस मूर्खने एक न मानी । वह उनके वचन उल्लंघन कर जहाज-द्वारा समुद्रमें जा घुसा । उसी समय उसके घरसे जिनमें प्रत्येककी एक-एक हजार यक्ष रक्षा करते थे ऐसे समस्त रत्न निधियोंके साथ-साथ घरसे निकल गये । यह जानकर वैश्यका वेष रखनेवाला शत्रु भूतदेव अपने शत्रु राजाको समुद्रके बीचमें ले गया ॥१६५-१६७॥ वहाँ ले जाकर उस दुष्टने पहले जन्मका अपना रसोइयाका रूप प्रकट कर दिखाया और अनेक दुर्वचन कहकर पूर्वबद्ध वैरके संस्कारसे उसे विचित्र रीतिसे मार डाला ॥१६८॥ सुभौम चक्रवर्ती भी अन्तिम समय रौद्रध्यानसे मरकर नरकगतिमें उत्पन्न हुआ सो ठीक ही है क्योंकि दुर्बुद्धिसे क्या नहीं होता है ? ॥१६९॥ सहस्रबाहु लोभ करनेसे अपने पुत्रके साथ-साथ तिर्यंच गतिमें गया और हिंसामें तत्पर रहनेवाले जमदग्नि ऋषिके दोनों पुत्र अधोगति—नरकगतिमें उत्पन्न हुए ॥१७०॥ इसीलिए बुद्धिमान् लोग इन राग-द्वेष दोनोंको छोड़ देते हैं क्योंकि इनके त्यागसे ही विद्वान् पुरुष वर्तमानमें परमपद प्राप्त करते हैं, भूतकालमें प्राप्त करते थे और आगामी कालमें प्राप्त करेंगे ॥१७१॥ देखो, आठवाँ चक्रवर्ती सुभौम यद्यपि सिंहके समान एक था—अकेला ही था तथापि वह समस्त पृथिवीका स्वामी हुआ । उसने अपने पिताका वध करनेवाले जमदग्निके दोनों पुत्रोंको मारकर अपनी कीर्तिसे समस्त दिशाएँ उज्ज्वल कर दी थीं किन्तु स्वयं दुर्नीतिके वश पड़कर नरकमें उत्पन्न हुआ था ॥१७२॥ सुभौम चक्रवर्तीका जीव पहले तो भूपाल नामका राजा हुआ फिर असह्य तप-तपकर महाशुक्र स्वर्गमें सोलह सागरकी आयुवाला देव हुआ । वहाँसे च्युत होकर परशुरामको मारनेवाला सुभौम नामका सकल चक्रवर्ती हुआ और अन्तमें नरकका अधिपति हुआ ॥१७३॥

अथानन्तर इन्हींके समय नन्दिषेण बलभद्र और पुण्डरीक नारायण ये दोनों ही राजपुत्र हुए हैं । इनमें-से पुण्डरीकका जीव तीसरे भवमें सुकेतुके आश्रयसे शल्य सहित तप कर आयुके अन्तमें पहले स्वर्गमें देव हुआ था, वहाँसे च्युत होकर सुभौम चक्रवर्तीके बाद छह सौ करोड़ वर्ष बीत जाने

---

१ द्विषः ख० । २ —र्वधकृते क०, ख० । ३ वशो ख० ।

वैजयन्त्यां बलो देवो लक्ष्मीमत्यामजायत । पुण्डरीकस्तयोरायुः खत्र्यब्धींन्द्रियाब्दवत् ॥१७७॥
षड्विंशतिरनूत्सेधौ धनुषां नियतायुषोः । स्वतपःसंचितात्पुण्यात्काले यात्यायुषोः सुखम् ॥१७८॥
अन्यदोपेन्द्रसेनाख्यमहीडिन्द्रपुराधिपः । पद्मावतीं सुतां स्वस्य पुण्डरीकाय दत्तवान् ॥१७९॥
अथ दर्पी दुराचारः सुकेतुः प्राक्तनो रिपुः । निजोपार्जितकर्मानुरूपेण भवसंततौ ॥१८०॥
भ्रान्त्वा क्रमेण संचित्य शुभं तदनुरोधतः । भूत्वा चक्रपुराधीशो वशीकृतवसुंधरः ॥१८१॥
ग्रीष्मार्कमण्डलाभत्वादसोढा परतेजसाम् । तद्विवाहश्रुतेः क्रुद्धः संनद्धाशेषसाधनः ॥१८२॥
निशुम्भो मारकोऽरीणां नारकेभ्योऽपि निर्दयः । [1]प्रास्थिताखण्डविक्रान्तः पुण्डरीकं जिघांसुकः ॥१८३॥
युद्ध्वा [2]बहुविधेनामा तेनोद्यत्तेजसा चिरम् । तच्चक्राशनिघातेन घातितासुरधाद्गधः[3] ॥१८४॥
तावुभाविव चन्द्रार्कौ संयुक्तौ लोकपालकौ । स्वप्रभाक्रान्तदिक्चक्रौ पालयित्वा चिरं धराम् ॥१८५॥
अविभक्तश्रियौ प्रीतिं परमां प्रापतुः पृथक् । रम्यचक्षुर्विशेषौ वा रम्यैकविषयेप्सया ॥१८६॥
तयोस्त्रिभवायातपरस्परसमुद्भवात् । प्रेम्णस्तृप्तेरथांशमपि तृप्तिर्नृपत्वजा[4] ॥१८७॥
पुण्डरीकश्चिरं भुक्त्वा भोगांस्तत्रातिसक्तितः । बद्धायुर्नारकं घोरं बह्वारम्भपरिग्रहः ॥१८८॥
प्रान्ते रौद्राभिसंधानाद्दृढमिथ्यात्वभावनः । प्राणैस्तमःप्रभां [5]मृत्वा प्राविशत् पापपाकतः ॥१८९॥

पर इसी भरत क्षेत्र सम्बन्धी चक्रपुर नगरके स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा वरसेनकी लक्ष्मीमती रानीसे पुण्डरीक नामका पुत्र हुआ था तथा इन्हीं राजाकी दूसरी रानी वैजयन्तीसे नन्दिषेण नामका बलभद्र उत्पन्न हुआ था। उन दोनोंकी आयु छप्पन हजार वर्षकी थी, शरीर छब्बीस धनुष ऊँचा था, दोनोंकी आयु नियत थी और अपने तपसे संचित हुए पुण्यके कारण उन दोनोंकी आयुका काल सुखसे व्यतीत हो रहा था ॥१७४-१७८॥ किसी एक दिन इन्द्रपुरके राजा उपेन्द्रसेनने अपनी पद्मावती नामकी पुत्री पुण्डरीकके लिए प्रदान की ॥१७९॥ अथानन्तर पहले भवमें जो सुकेतु नामका राजा था वह अत्यन्त अहंकारी दुराचारी और पुण्डरीकका शत्रु था। वह अपने द्वारा उपार्जित कर्मोंके अनुसार अनेक भवोंमें घूमता रहा। अन्तमें उसने क्रम-क्रमसे कुछ पुण्यका संचय किया था उसके अनुरोधसे वह पृथिवीको वश करनेवाला चक्रपुरका निशुम्भ नामका अधिपति हुआ। उसकी आभा ग्रीष्म ऋतुके सूर्यके मण्डलके समान थी। वह इतना तेजस्वी था कि दूसरेके तेजको बिलकुल ही सहन नहीं करता था। जब उसने पुण्डरीक और पद्मावतीके विवाहका समाचार सुना तो वह बहुत ही कुपित हुआ। उसने सब सेना तैयार कर ली, वह शत्रुओंको मारने वाला था, नारकियोंसे भी कहीं अधिक निर्दय था, और अखण्ड पराक्रमी था। पुण्डरीकको मारनेकी इच्छासे वह चल पड़ा। जिसका तेज निरन्तर बढ़ रहा है ऐसे पुण्डरीकके साथ उस निशुम्भने चिरकाल तक बहुत प्रकारका युद्ध किया और अन्तमें उसके चक्ररूपी वज्रके घातसे निष्प्राण होकर वह अधोगतिमें गया—नरकमें जाकर उत्पन्न हुआ ॥१८०-१८४॥ सूर्य-चन्द्रमाके समान अथवा मिले हुए दो लोकपालोंके समान वे दोनों अपनी प्रभासे दिङ्मण्डलको व्याप्त करते हुए चिरकाल तक पृथिवीका पालन करते रहे ॥१८५॥ वे दोनों ही भाई बिना बाँटी हुई लक्ष्मीका उपभोग करते थे, परस्परमें परम प्रीतिको प्राप्त थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो किसी एक मनोहर विषयको देखते हुए अलग-अलग रहनेवाले दो नेत्र ही हों ॥१८६॥ उन दोनोंकी राज्यसे उत्पन्न हुई तृप्ति, तीन भवसे चले आये पारस्परिक प्रेमसे उत्पन्न होनेवाली तृप्तिके एक अंशको भी नहीं प्राप्त कर सकी थी। भावार्थ—उन दोनोंका पारस्परिक प्रेम राज्य-प्रेमसे कहीं अधिक था ॥१८७॥ पुण्डरीकने चिरकाल तक भोग भोगे और उनमें अत्यन्त आसक्तिके कारण नरककी भयंकर आयुका बन्ध कर लिया। वह बहुत आरम्भ और परिग्रहका धारक था, अन्तमें रौद्र ध्यानके कारण उसकी मिथ्यात्वरूपी भावना भी जागृत हो उठी जिससे मरकर वह पापोदयसे तमःप्रभा नामक छठे नरकमें प्रविष्ट हुआ ॥१८८-१८९॥

१ प्रस्थिताखण्डविक्रान्तिः म०, ल०। २ बहुविधेनासौ तेनोद्यततेजसा ल०। ३ घातितासुः + अयात् + अध इतिच्छेदः। ४ नृपत्वजाम् ल०, म०। ५ क्रीत्वा ख०, म०। कृत्वा क०, घ०।

हलभृत्तद्वियोगेन जातनिर्वेगसारथिः । शिवघोषयतिं प्राप्य संयमं प्रत्यपद्यत ॥१९०॥
स बाह्याभ्यन्तरं शुद्धं तपः कृत्वा निराकुलः । मूलोत्तराणि कर्माणि निर्मूल्यावाप निर्वृतिम् ॥१९१॥

वसन्ततिलका

जातौ तृतीयजनने धरणीशपुत्रौ
पश्चात्सुरौ प्रथमकल्पगतावभूताम् ।
श्रीनन्दिषेणहलभृत्सुनिशुम्भशत्रुः
षष्ठस्त्रिखण्डधरणीट्सु च पुण्डरीकः ॥१९२॥

इत्यार्षे त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीतेऽरतीर्थकरचक्रधर-सुभौमचक्रवर्तिनन्दि-षेणबलदेव-पुण्डरीकार्द्धचक्रवर्तिनिशुम्भनामप्रतिशत्रुपुराणं परिसमाप्तं पञ्चषष्टितमं पर्व ॥६५॥



उसके वियोगसे नन्दिषेण बलभद्रको बहुत ही वैराग्य उत्पन्न हुआ उससे प्रेरित हो उसने शिवघोष नामक मुनिराजके पास जाकर संयम धारण कर लिया ॥१९०॥ उसने निर्द्वन्द्व होकर बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारका शुद्ध तपश्चरण किया और कर्मोंकी मूलोत्तर प्रकृतियोंका नाश कर मोक्ष प्राप्त किया ॥१९१॥ ये दोनों ही तीसरे भवमें राजपुत्र थे, फिर पहले स्वर्गमें देव हुए, तदनन्तर एक तो नन्दिषेण बलभद्र हुआ और दूसरा निशुम्भ प्रतिनारायणका शत्रु पुण्डरीक हुआ। यह तीन खण्डके राजाओं—नारायणोंमें छठा नारायण था ॥१९२॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराण संग्रहमें अरनाथ तीर्थंकर चक्रवर्ती, सुभौम चक्रवर्ती, नन्दिषेण बलभद्र, पुण्डरीक नारायण और निशुम्भ प्रतिनारायणके पुराणका वर्णन करनेवाला पैंसठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥६५॥

---

१ निर्वेद ल० ।

मोहमल्लममल्लं यो व्यजेष्टानिष्टकारिणम् । करीन्द्रं वा हरिः सोऽयं मल्लिः शल्यहरोऽस्तु नः ॥१॥
जम्बूपलक्षिते द्वीपे मेरोः प्राक् कच्छकावती । विषये वीतशोकाख्यपुरं [1]वैश्रवणाह्वयः ॥२॥
महावंशो मही तस्य महागुणमहीयसः । कुम्भकारकरालग्नमृत्स्नेव वशवर्तिनी ॥३॥
योगस्ताभ्यो महांस्तस्य प्रजानां प्रेमकारिणः । ता यस्मादुपयुज्यन्ते कोशदुर्गबलादिभिः ॥४॥
महाभयेषु संधर्तुं संचिनोति धनं प्रजाः । धत्ते दण्डं च सन्मार्गे संप्रवर्तयितुं स ताः ॥५॥
इति प्रवृद्धपुण्यानुभावसंपादितां श्रियम् । प्रियामिव नवोढां तामुदप्रीत्यानुभवंश्चिरम् ॥६॥
कदाचित्प्रावृडारम्भे जृम्भमाणां वनावलीम् । विलोकितुं पुरस्यायादुपशल्यमुदात्तधीः ॥७॥
तत्र शाखोपशाखाः स्वाः प्रसार्यैव नृपो महान् । अवगाह्य महीं तस्थौ न्यग्रोधः सेवितो द्विजैः ॥८॥
तं विलोक्य महीपालः पश्य पश्यास्य विस्तृतिम् । तुङ्गत्वं बद्धमूलत्वं वहत्यन्वेति मामयम् ॥९॥
दर्शयन्निति [2]साश्चर्यं प्रियाणां पार्श्ववर्तिनाम् । गत्वा वनान्तरे भ्रान्त्वा तेनैवायात्[3] पुनः पथा ॥१०॥
आमूलाद् भस्मितं वीक्ष्य वज्रपातेन तं वटम् । कस्यात्र बद्धमूलत्वं कस्य का वात्र विस्तृतिः ॥११॥
कस्य का तुङ्गता नाम यद्यस्यापीदृशी गतिः । इति चिन्तां [4]समापन्नः संसारतः संसृतिस्थितेः ॥१२॥

जिस प्रकार सिंह किसी हाथीको जीतता है उसी प्रकार जिन्होंने अनिष्ट करनेवाले मोहरूपी मल्लको अमल्लकी तरह जीत लिया वे मल्लिनाथ भगवान् हम सबके शल्यको हरण करने वाले हों ॥१॥ इसी जम्बूद्वीपमें मेरुपर्वतसे पूर्वकी ओर कच्छकावती नामके देशमें एक वीतशोक नामका नगर है। उसमें वैश्रवण नामका उच्च कुलीन राजा राज्य करता था। जिस प्रकार कुम्भकारके हाथमें लगी हुई मिट्टी उसके वश रहती है उसी प्रकार बड़े-बड़े गुणोंसे शोभायमान उस राजाकी समस्त पृथिवी उसके वश रहती थी ॥२-३॥ प्रजाका कल्याण करनेवाले उस राजासे प्रजाका सबसे बड़ा योग यह होता था कि वह खजाना, किला तथा सेना आदिके द्वारा उसका उपभोग करता था ॥४॥ वह किसी महाभयके समय प्रजाकी रक्षा करनेके लिए धनका संचय करता था और उस प्रजाको सन्मार्गमें चलानेके लिए उसे दण्ड देता था ॥५॥ इस प्रकार बढ़ते हुए पुण्यके प्रभावसे प्राप्त हुई लक्ष्मी वह नव विवाहिता स्त्रीके समान बड़े हर्षसे चिरकाल तक उपभोग करता रहा ॥६॥ किसी एक दिन उदार बुद्धिवाला वह राजा वर्षाके प्रारम्भमें बढ़ती हुई बनावलीको देखनेके लिए नगरके बाहर गया ॥७॥ वहाँ जिस प्रकार कोई बड़ा राजा अपनी शाखाओं और उपशाखाओंको फैलाकर तथा पृथिवीको व्याप्त कर रहता है और अनेक द्विज—ब्राह्मण उसकी सेवा करते हैं उसी प्रकार एक वटका वृक्ष अपनी शाखाओं और उपशाखाओंको फैलाकर तथा पृथिवीको व्याप्त कर खड़ा था एवं अनेक द्विज—पक्षीगण उसकी सेवा करते थे ॥८॥ उस वटवृक्षको देखकर राजा समीपवर्ती लोगोंसे कहने लगा कि देखो देखो, इसका विस्तार तो देखो। यह ऊँचाई और बद्धमूलताको धारण करता हुआ ऐसा जान पड़ता है मानो हमारा अनुकरण ही कर रहा हो ॥९॥ इस प्रकार समीपवर्ती प्रिय मनुष्योंको आश्चर्यके साथ दिखलाता हुआ वह राजा दूसरे वनमें चला गया और घूमकर फिरसे उसी मार्गसे वापस आया ॥१०॥ लौटकर उसने देखा कि वह वटवृक्ष वज्र गिरनेके कारण जड़ तक भस्म हो गया है। उसे देखकर वह विचार करने लगा कि इस संसारमें मजबूत जड़ किसकी है? विस्तार किसका है? और ऊँचाई किसकी है? जब इस बद्धमूल, विस्तृत और उन्नत वट वृक्षकी ऐसी दशा हो गयी तब दूसरेका क्या विचार हो सकता है? ऐसा विचार करता हुआ वह संसारकी स्थितिसे भयभीत हो गया। उसने अपना राज्य पुत्रके लिए दे दिया और श्रीनाग नामक पर्वत-

१ विश्रवणाह्वयः ग० । २ साश्चर्यं ल० । ३ तेनैवायत् पुरः पथा ल० । ४ चिन्तासमापन्नः ल० ।

प्रदाय राज्यं पुत्राय श्रीनागनगवर्तिनम् । श्रीनागपतिमासाद्य पीतधर्मरसायनः ॥१३॥
राजभिर्बहुभिः सार्द्धमवाप्यात्युन्नतं तपः । अङ्गान्येकादशाङ्गानि विधाय विधिना धिया ॥१४॥
संपाद्य तीर्थकृन्नाम गोत्रं चोपात्तभावनः । तपस्यन्सुचिरं प्रान्ते प्राप्ताशेषपरिग्रहः ॥१५॥
सोऽनुत्तरविमानेषु संबभूवापराजिते । त्रयस्त्रिंशत्समुद्रोपमायुर्हस्तोच्छ्रितिः कृती ॥१६॥
मासान् षोडश मासार्द्धं चातिवाह्य मनाक् सकृत् । [1]श्वसित्याहारमादत्ते मनसा योग्यपुद्गलान् ॥१७॥
त्रयस्त्रिंशत्सहस्रोक्तवत्सराणां व्यतिक्रमे । भोगोऽस्य निःप्रवीचारो लोकनाल्यन्तरावधेः ॥१८॥
तत्क्षेत्रमितभाशक्तिविक्रियस्यामरेशितुः । तस्मिन् षण्मासशेषायुष्यागमिष्यति भूतलम् ॥१९॥
अत्रैव भरते वङ्गविषये मिथिलाधिपः । इक्ष्वाकुर्भूपतिः कुम्भनामा काश्यपगोत्रजः ॥२०॥
प्रजावती महादेवी तस्य लक्ष्मीरिवापरा । पीयूषाशिकृताचिन्त्यवसुधारादिवैभवा ॥२१॥
चैत्रमासे[2] सिते पक्षे निशान्ते प्रतिपद्दिने । अश्विन्यां षोडश स्वप्नान् व्यलोकिष्टेष्टसूचिनः ॥२२॥
तदैव मङ्गलान्युच्चैः पेठुर्मङ्गलपाठकाः । हता प्रभातभेरी च दरनिद्राविघातिनी ॥२३॥
प्रबुध्याधिकसंतोषात्स्नात्वा मङ्गलवेषभृत् । पतिं प्रति गता रेखा चन्द्रस्येव तदातनी ॥२४॥
सभाकुमुद्वतीं[3] सा विकासयन्ती स्वतेजसा । आनन्दयद्विलोक्यैनामभीष्टोऽप्यासनादिभिः ॥२५॥
सुस्थितार्द्धासने सापि स्वप्नांस्तांस्तमवेदयत् । फलान्यमीषां शुश्रूषुः परितोषकराण्यतः ॥२६॥
यथाक्रमं नृपोऽप्युक्त्वा फलं तेषां पृथक् पृथक् । गजवक्त्रप्रवेशावलोकनाद्गर्भमाश्रितः ॥२७॥
तवाहमिन्द्र [4]इत्येनामानयत्प्रमदं परम् । कुर्वन्तस्तद्वचः सत्यं समन्तादमरेश्वराः ॥२८॥

पर विराजमान श्रीनाग नामक मुनिराजके पास जाकर उनसे धर्मरूपी रसायन पान किया ॥११-१३॥ अनेक राजाओंके साथ श्रेष्ठ तप धारण कर लिया, यथाविधि बुद्धिपूर्वक ग्यारह अंगोंका अध्ययन किया, सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया, चिरकाल तक तपस्या की और अन्तमें समस्त परिग्रहका त्याग कर अनुत्तर विमानोंमें-से अपराजित नामक विमानमें देव पद प्राप्त किया। वहाँ उस कुशल अहमिन्द्रकी तैंतीस सागरकी स्थिति थी, एक हाथ ऊँचा शरीर था, साढ़े सोलह माह बीत जानेपर वह एक बार थोड़ी-सी श्वास ग्रहण करता था, तैंतीस हजार वर्ष बीत जानेपर एक बार मानसिक आहार ग्रहण करता था, इसका काम-भोग प्रवीचारसे रहित था, लोकनाड़ी पर्यन्त उसके अवधिज्ञानका विषय था और उतनी ही दूर तक उसकी दीप्ति, शक्ति तथा विक्रिया ऋद्धि थी। इस प्रकार भोगोपभोग करते हुए उस अहमिन्द्रकी आयु जब छह माहकी शेष रह गयी और वह पृथिवीपर आनेके लिए सम्मुख हुआ तब इसी भरत क्षेत्रके वंग देशमें मिथिला नगरीका स्वामी इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री, कुम्भ नामका राजा राज्य करता था ॥१४-२०॥ उसकी प्रजावती नामकी रानी थी जो दूसरी लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी। देवोंने उसका रत्नवृष्टि आदि अचिन्त्य वैभव प्रकट किया था ॥२१॥ उसने चैत्रशुक्ल प्रतिपदाके दिन प्रातःकालके समय अश्विनी नक्षत्रमें इष्ट फलको सूचित करनेवाले सोलह स्वप्न देखे ॥२२॥ उसी समय मंगल पढ़नेवाले लोग उच्च स्वरसे मंगल पढ़ने लगे और अल्प निद्राका विघात करनेवाली प्रातःकालकी भेरी बज उठी ॥२३॥ प्रजावती रानीने जागकर बड़े सन्तोषसे स्नान किया, मंगलवेष धारण किया, और चन्द्रमाकी रेखा जिस प्रकार चन्द्रमाके पास पहुँचती है उसी प्रकार वह अपने पतिके पास पहुँची ॥२४॥ वह अपने तेजसे सभारूपी कुमुदिनीको विकसित कर रही थी। राजाने उसे आती हुई देख आसन आदि देकर आनन्दित किया ॥२५॥ तदनन्तर अर्धासनपर बैठी हुई रानीने वे सब स्वप्न पतिके लिए निवेदन किये—कह सुनाये क्योंकि वह उनसे उन स्वप्नोंका सुखदायी फल सुनना चाहती थी ॥२६॥ राजाने भी क्रम-क्रमसे उन स्वप्नोंका पृथक्-पृथक् फल कहकर बतलाया कि चूँकि तूने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा है अतः अहमिन्द्र तेरे गर्भमें

---

१ श्वसत्याहार-क०, घ०। २ चैत्रे मासे क०, घ०। ३ संसत् कुमुदिनी क०, घ०। कुमुद्वती ल०। ४ इत्येतां क०, घ०।

समागत्य तयोः कृत्वा स्वर्गावतरणोत्सवम् । कल्याणभागिनो[1] पित्रोर्ययुस्तोषात्स्वमाश्रयम् ॥२९॥
तमादायोदरं तस्या निर्बाधं भासते स्म तत् । संक्रान्तपूर्णशीतांशुसंमु[2]खीनतलोपमम् ॥३०॥
सुखेन नवमे मासि पूर्णे पूर्णेन्दुभास्वरम् । विभक्तसर्वावयवं सर्वलक्षणलक्षितम् ॥३१॥
[3]मार्गशीर्षसितैकादशीदिनेऽश्विनीसंगमे । त्रिज्ञानलोचनं देवं तं प्रासूत प्रजावती ॥३२॥
तदामृताशिनः सर्वे संप्राप्य प्राप्तसंमदाः । तेजःपिण्डं समादाय बालं बालार्कसंनिभम् ॥३३॥
गत्वाचलेशे संस्थाप्य पञ्चमाब्धिपयोजलैः । अभिषिच्य विभूष्योचैर्मल्लिनामानमाजगुः ॥३४॥
[4]ते पुनस्तं समानीय नामश्रावणपूर्वकम् । मातुरङ्के[5] व्यवस्थाप्य स्वाधिवासान् प्रपेदिरे ॥३५॥
अरेशतीर्थसंतानकालस्यान्ते स पुण्यभाक् । सहस्रकोटिवर्षस्य तदभ्यन्तरजीव्यभूत् ॥३६॥
समानां पञ्चपञ्चाशत् सहस्राण्यस्य जीवितम् । पञ्चविंशतिचापानानोच्छ्रितेः[6] कनकद्युतेः[7] ॥३७॥
शतसंवत्सरे याते कुमारसमये पुरम् । चलत्सितपताकाभिः सर्वत्रोद्बद्धतोरणैः ॥३८॥
विचित्ररङ्गवल्लीभिर्विकीर्णकुसुमोत्करैः । निर्जिताम्भोनिधिध्वानैः प्रध्वनत्पटहादिभिः ॥३९॥
मल्लिर्निजविवाहार्थं भूयो वीक्ष्य विभूषितम् । स्मृत्वापराजितं रम्यं विमानं पूर्वजन्मनः ॥४०॥
सा वीतरागता प्रीतिरुर्जिता [8]महिमा च सा । कुतः कुतो विवाहोऽयं सतां लज्जाविधायकः ॥४१॥

आया है। इधर यह कहकर राजा, रानीको अत्यन्त हर्षित कर रहा था उधर उसके वचनोंको सत्य करते हुए इन्द्र सब ओरसे आकर उन दोनोंका स्वर्गावतरण—गर्भकल्याणकका उत्सव करने लगे। भगवान्के माता-पिता अनेक कल्याणोंसे युक्त थे, उनकी अर्चा कर देव लोग बड़े सन्तोषसे अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥२७–२९॥ माताका उदर जिन-बालकको धारण कर बिना किसी बाधाके ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिसमें चन्द्रमाका पूर्ण प्रतिबिम्ब पड़ रहा है ऐसा दर्पणका तल ही हो ॥३०॥ सुखसे नौ मास व्यतीत होनेपर रानी प्रजावतीने मगसिर सुदी एकादशीके दिन अश्विनी नक्षत्रमें उस देवको जन्म दिया जो कि पूर्ण चन्द्रमाके समान देदीप्यमान था, जिसके समस्त अवयव अच्छी तरह विभक्त थे, जो समस्त लक्षणोंसे युक्त था और तीन ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाला था ॥३१–३२॥ उसी समय हर्षसे भरे हुए समस्त देव आ पहुँचे और प्रातःकालके सूर्यके समान तेजके पिण्ड स्वरूप उस बालकको लेकर पर्वतराज सुमेरु पर्वतपर गये। वहाँ उन्होंने जिन-बालकको विराजमान कर क्षीरसागरके दुग्ध रूप जलसे उनका अभिषेक किया, उत्तम आभूषण पहिनाये और मल्लिनाथ नाम रखकर जोरसे स्तवन किया ॥३३–३४॥

वे देवलोग जिन बालकको वहाँसे वापस लाये और इनका 'मल्लिनाथ नाम है' ऐसा नाम सुनाते हुए उन्हें माताकी गोदमें विराजमान कर अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥३५॥

अरनाथ तीर्थंकरके बाद एक हजार करोड़ वर्ष बीत जानेपर पुण्यवान् मल्लिनाथ हुए थे। उनकी आयु भी इसीमें शामिल थी ॥३६॥ पचपन हजार वर्षकी उनकी आयु थी, पचीस धनुष ऊँचा शरीर था, सुवर्णके समान कान्ति थी ॥३७॥ कुमारकालके सौ वर्ष बीत जानेपर एक दिन भगवान् मल्लिनाथने देखा कि समस्त नगर हमारे विवाहके लिए सजाया गया है, कहीं चंचल सफेद पताकाएँ फहरायी गयी हैं तो कहीं तोरण बाँधे गये हैं, कहीं चित्र-विचित्र रंगावलियाँ निकाली गयी हैं तो कहीं फूलोंके समूह बिखेरे गये हैं और सब जगह समुद्रकी गर्जनाको जीतनेवाले नगाड़े आदि बाजे मनोहर शब्द कर रहे हैं। इस प्रकार सजाये हुए नगरको देखकर उन्हें पूर्वजन्मके सुन्दर अपराजित विमानका स्मरण आ गया। वे सोचने लगे कि कहाँ तो वीतरागतासे उत्पन्न हुआ प्रेम और उससे प्रकट हुई महिमा और कहाँ सज्जनोंको लज्जा उत्पन्न करनेवाला यह विवाह? यह एक विडम्बना है, साधारण-पामर मनुष्य ही इसे प्रारम्भ करते हैं

---

१. -भागिनः ल०। २ संमुखे भवं संमुखीनं दर्पणस्तस्य तलस्योपमा यस्य तत्। ३ मार्गशीर्षे ल०। ४ तैः म०, ल०। ५ मातुरङ्गे ल०। ६-नोच्छ्रितः ल०। ७ कनकद्युतिः ल०। ८ प्रीतिर्वर्जिता महिमा च सः म०। प्रीतिर्वर्जिता महिमा च सा ख०, ग०। प्रीतिर्वर्जितो महिमा च सः क०, म०। प्रीतिस्तज्जाता महिमे च सा ल०।

विडम्बनमिदं सर्वं प्रकृतं प्राकृतैर्जनैः । निन्दयन्निति निर्विद्य सोऽभून्निष्क्रमणोद्यतः ॥४२॥
तदा सुमुनयः प्राप्य प्रस्तुतस्तुतिविस्तराः[1] । अनुमत्य मतं तस्य ययुः खेन तिरोहिताः ॥४३॥
तीर्थकृत्स्वपि केषांचिदेवासीदीदृशी मतिः । दुष्करो विषयत्यागः कौमारे महतामपि ॥४४॥
इति भक्त्या कृतालापा नभोभागे परस्परम् । परनिष्क्रान्तकल्याणमहाभिषवणोत्सवम् ॥४५॥
सोत्सवाः प्रापयन्ति स्म कुमारममरेश्वराः । कुमारोऽपि जयन्ताभिधानं यानमधिष्ठितः ॥४६॥
गत्वा श्वेतवनोद्यानमुपवासद्वयान्वितः । स्वजन्ममासनक्षत्रदिनपक्षसमाश्रितः ॥४७॥
कृतसिद्धनमस्कारः परित्यक्तोपधिद्वयः । सायाह्ने त्रिशतैर्भूपैः सह संप्राप्य संयमम् ॥४८॥
संयमप्रत्ययोत्पन्नचतुर्थज्ञानभास्वरः[2] । मार्गोऽयमिति संचिन्त्य सम्यग्ज्ञानप्रचोदितः[3] ॥४९॥
मिथिलां प्राविशत्तस्मै नन्दिषेणनराधिपः[4] । प्रदाय प्रासुकाहारं प्राप सुवर्णद्युतिः शुभम् ॥५०॥
[5]दिनषट्के गते तस्य छाद्मस्थ्ये प्राक्तने वने । अधस्तरोरशोकस्य त्यक्ताहर्द्वितयाद् गतिः ॥५१॥
पूर्वाह्णे जन्मनीवाप्यस्य सत्सु दिनादिषु । घातित्रितयनिर्णाशात्केवलावगमोऽभवत् ॥५२॥
बोधिता इव देवेन्द्राः सर्वे ज्ञानेन तेन ते । संभूयागत्य सत्पूजामकुर्वन् सर्ववेदिनः ॥५३॥
अष्टाविंशतिरस्यासन् विशाखाद्या गणाधिपाः । स्वपञ्चेन्द्रियमानोक्ता मुनयः पूर्वधारिणः ॥५४॥
शून्यत्रितयरन्ध्रद्विप्रोक्तसंख्यानशिक्षकाः । द्विशतद्विसहस्रोक्तृतीयावगमस्तुताः ॥५५॥
तावन्तः पञ्चमज्ञानाः खद्वयाब्ध्येकवादिनः । शून्यद्वयनवद्वयुक्तविक्रियर्द्धिविभूषिताः ॥५६॥

बुद्धिमान् नहीं । इस प्रकार विवाहकी निन्दा करते हुए वे विरक्त होकर दीक्षा धारण करनेके लिए उद्यत हो गये ॥३८–४२॥ उसी समय लौकान्तिक देवोंने आकर विस्तारके साथ उनकी स्तुति की, उनके दीक्षा लेनेके विचारका अनुमोदन किया और यह सब कर वे आकाश-मार्गसे अदृश्य हो गये ॥४३॥ अन्य साधारण मनुष्योंकी बात जाने दो तीर्थकरोंमें भी किन्हीं तीर्थकरों-की ही ऐसी बुद्धि होती है सो ठीक ही है क्योंकि कुमारावस्थामें विषयोंका त्याग करना महा-पुरुषोंके लिए भी कठिन कार्य है ॥४४॥ इस प्रकार भक्तिपूर्वक आकाशमें वार्तालाप करते एवं उत्सवसे भरे इन्द्रोंने मल्लिनाथ कुमारको दीक्षाकल्याणकके समय होनेवाला अभिषेक-महोत्सव प्राप्त कराया—उनका दीक्षाकल्याणक-सम्बन्धी महाभिषेक किया तथा मल्लिनाथ कुमार भी जयन्त नामक पालकीपर आरूढ़ होकर श्वेतवनके उद्यानमें पहुँचे । वहाँ उन्होंने दो दिनके उपवासका नियम लेकर अपने जन्मके ही मास, नक्षत्र, दिन और पक्षका आश्रय ग्रहण कर अर्थात् अगहन सुदी एकादशीके दिन अश्विनी नक्षत्रमें सायंकालके समय सिद्ध भगवान्‌को नमस्कार किया, बाह्याभ्यन्तर—दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर दिया और तीन सौ राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥४५–४८॥ वे उसी समय संयमके कारण उत्पन्न हुए मनःपर्ययज्ञानसे देदीप्यमान हो उठे । 'यह सनातन मार्ग है' ऐसा विचार कर सम्यग्ज्ञानसे प्रेरित हुए महामुनि मल्लिनाथ भगवान् पारणाके दिन मिथिलापुरीमें प्रविष्ट हुए । वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले नन्दिषेण नामके राजाने उन्हें प्रासुक आहार देकर शुभ पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥४९–५०॥ छद्मस्थावस्थाके छह दिन व्यतीत हो जानेपर उन्होंने पूर्वोक्त वनमें अशोक वृक्षके नीचे दो दिनके लिए गमनागमनका त्याग कर दिया—दो दिनके उपवासका नियम ले लिया । वहींपर जन्मके समान शुभ दिन और शुभ नक्षत्र आदिमें उन्हें प्रातःकालके समय ज्ञानावरण, दर्शना-वरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंका नाश होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ॥५१–५२॥ उसी केवलज्ञानसे मानो जिन्हें प्रबोध प्राप्त हुआ है ऐसे समस्त इन्द्रोंने एक साथ आकर उन सर्वज्ञ भगवान्‌की पूजा की ॥५३॥

उनके समवसरणमें विशाखको आदि लेकर अट्ठाईस गणधर थे, पाँचसौ पचास पूर्वधारी थे, उनतीस हजार शिक्षक थे, दो हजार दो सौ पूज्य अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, एक हजार चार सौ वादी थे, दो हजार नौ सौ विक्रिया ऋद्धिसे विभूषित थे और एक हजार सात सौ

१ विस्तरैः ख०, ग०, क० । २ भास्करः ल० । ३ सम्यग्ज्ञाने प्रचोदितः ल० । ४ नन्दिषेणो नराधिपः ख० । ५ दिने षट्के ल० ।

शून्यपञ्चमुनीन्द्रैकमनःपर्ययबोधनाः[1] । चत्वारिंशत्सहस्राणि सर्वे संकलनां श्रिताः ॥५७॥
स्वत्रयेन्द्रियपञ्चोक्ता बन्धुषेणादिकार्यिकाः । श्रावकाः लक्षमाः प्रोक्ताः श्राविकास्त्रिगुणास्ततः[2] ॥५८॥
देवा देव्यस्त्वसंख्याताः गण्या कण्ठीरवादयः । एवं द्वादशभिर्देवो गणैरेभिः परिष्कृतः ॥५९॥
मुक्तिमार्गं नयन् भव्यपथिकान् प्रथितध्वनिः । विजहार महादेशान् भव्यसत्त्वानुरोधतः ॥६०॥
ततो मासावशेषायुः संमेदाचलमाश्रितः । प्रतिमायोगमादाय मुनिभिः सह पञ्चभिः ॥६१॥
सहस्रैर्ध्यानमास्थाय भरण्यां पूर्वरात्रतः । फाल्गुनोज्ज्वलपञ्चम्यां तनुवातं समाश्रयत ॥६२॥
कल्याणं निर्वाणकल्याण[4]मन्वेत्यामरनायकाः । गन्धादिभिः समभ्यर्च्य तत्क्षेत्रमपवित्रयन् ॥६३॥

मालिनी

जननमृतितरङ्गाद् दुःखदुर्वारिपूर्णा-
दुपचितगुणरत्नो दुःस्पृहावर्तगर्तात् ।
स कुमतविधुवृद्धाद् ध्याननावा भवाब्धे-
रमजत भुवनाग्रं[5] विग्रहग्राहमुक्तः ॥६४॥

स्वागता

येन शिष्टमुरुवर्त्म विमुक्ते-
र्यं नमन्ति नमिताखिललोकाः ।
यो गुणैः स्वयमधारि समग्रैः
स श्रियं दिशतु मल्लिरशल्यः ॥६५॥

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

अजनि वैश्रवणो धरणीश्वरः
पुनरनुत्तरनाम्न्यपराजिते ।

पचास मनःपर्ययज्ञानी थे। इस प्रकार सब मिलाकर चालीस हजार मुनिराज उनके साथ थे ॥५४–५७॥ बन्धुषेणाको आदि लेकर पचपन हजार आर्यिकाएँ थीं, श्रावक एक लाख थे और श्राविकाएँ तीन लाख थीं, देव-देवियाँ असंख्यात थीं, और सिंह आदि तिर्यंच संख्यात थे। इस प्रकार मल्लिनाथ भगवान् इन बारह सभाओंसे सदा सुशोभित रहते थे ॥५८–५९॥ जिनकी दिव्य ध्वनि अत्यन्त प्रसिद्ध है ऐसे भगवान् मल्लिनाथने भव्य जीवरूपी पथिकोंको मुक्तिमार्गमें लगाते हुए, भव्य जीवोंके अनुरोधसे अनेक बड़े-बड़े देशोंमें विहार किया था ॥६०॥ जब उनकी आयु एक माहकी बाकी रह गयी तब वे सम्मेदाचलपर पहुँचे। वहाँ पाँच हजार मुनियोंके साथ उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया और फाल्गुन शुक्ला पंचमीके दिन भरणी नक्षत्रमें सन्ध्याके समय तनुवातवलय—मोक्षस्थान प्राप्त कर लिया ॥६१–६२॥ उसी समय इन्द्रादि-देवोंने स्वर्गसे आकर निर्वाण-कल्याणकका उत्सव किया और गन्ध आदिके द्वारा पूजा कर उस क्षेत्रको पवित्र बना दिया ॥६३॥ जिसमें जन्म-मरणरूपी तरंगें उठ रही हैं, जो दुःखरूपी खारे पानीसे लबालब भरा हुआ है, जिसमें खोटी इच्छाएँरूपी भँवर पड़नेके गड्ढे हैं और जो मिथ्यामतरूपी चन्द्रमासे निरन्तर बढ़ता रहता है ऐसे संसाररूपी सागरसे, गुणरूपी रत्नोंका संचय करनेवाले मल्लिनाथ भगवान् शरीररूपी मगर-मच्छको दूर छोड़कर ध्यानरूपी नावके द्वारा पार हो लोकके अग्रभागपर पहुँचे थे ॥६४॥ जिन्होंने मोक्षका श्रेष्ठ मार्ग बतलाया था, जिन्हें समस्त लोग नमस्कार करते थे, और जो समग्रगुणोंसे परिपूर्ण थे वे शल्यरहित मल्लि-नाथ भगवान् तुम सबके लिए मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करें ॥६५॥ जो पहले वैश्रवण नामके राजा हुए, फिर अपराजित नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र हुए और फिर अतिशय दुष्ट मोहरूपी

---

१ मुनीन्द्रुक्त म०, ल०। २ स्मृताः ख०, ग०। ३ संख्याताः गुण्याः म०। ४–मन्वेत्यामर–ल०। ५ भुवनाग्रे ल०।

जितलकाखिलमोहमहारिपु-[1]
र्दिशतु मल्लिरसावतुलं सुखम् ॥६६॥

मल्लेर्जिनस्य संतानेऽभूत्पद्मो नाम चक्रभृत् । द्वीपेऽस्मिन् प्राच्यसौ मेरोः सुकच्छविषये नृपः ॥६७॥
श्रीपुरेशः प्रजापालस्तृतीयेऽजनि जन्मनि । स्वामिप्रकृतिसंप्रोक्तगुणानामुत्तमाश्रयः ॥६८॥
सुराज्ञस्तस्य नाभूवन्राज्येऽस्यायुक्तिका[2]दिभिः । प्रजानां पञ्चभिर्बाधास्तदवर्[3]द्धन्त ताः सुखम् ॥६९॥
शक्तित्रितयसंपत्या [4]शत्रूञ्जित्वा जितेश्वरः । विश्रान्तविग्रहो भोगान् धर्मेणार्थेन चान्वभूत् ॥७०॥
स कदाचिद् विलोक्योल्कापातं जातावबोधनः । आपातरमणीयत्वमाकलय्येष्टसंप[5]दम् ॥७१॥
स्थास्नुबुद्ध्या विमुग्धत्वादन्वभूवमिमांश्चिरम् । न चेदुल्काप्रपातोऽयं भूयो भ्रान्तिर्भवार्णवे ॥७२॥
इत्यारोप्य सुते राज्यं शिवगुप्तजिनेश्वरम् । प्रपद्य परमं पित्सु[6]रयासीत् संयमद्वयम् ॥७३॥
समुत्कृष्टाष्टशुद्धीद्धता[7] रुद्धाशुभास्रवः । क्रमात्स्वाकान्तमासाद्य सुसमाहितमानसः ॥७४॥
निजराज्येन संक्रीतं स्वहस्तप्राप्तमच्युतम् । तुतोष कल्पमालोक्य जितक्रेयो हि तुष्यति ॥७५॥
द्वाविंशत्यब्धिमेयायुःप्रान्तेऽसावच्युताधिपः । द्वीपेऽत्र भरते काशी वाराणस्यां महीभुजः ॥७६॥
इक्ष्वाकोः पद्मनाभस्य रामायाश्चाभवत्सुतः । पद्माभिधानः पद्मादिप्रशस्ताशेषलक्षणः ॥७७॥
त्रिंशद्वर्षसहस्रायुर्द्वाविंशतिधनुस्तनुः । सुरसंप्रार्थ्यकान्त्यादिः कार्तस्वरविभास्वरः ॥७८॥

महारिपुको जीतनेवाले तीर्थंकर हुए वे मल्लिनाथ भगवान् तुम सबके लिए अनुपम सुख प्रदान करें ॥६६॥

अथानन्तर—मल्लिनाथ जिनेन्द्रके तीर्थमें पद्म नामका चक्रवर्ती हुआ है वह अपनेसे पहले तीसरे भवमें इसी जम्बूद्वीपके मेरुपर्वतसे पूर्वकी ओर सुकच्छ देशके श्रीपुर नगरमें प्रजापाल नामका राजा था। राजाओंमें जितने प्राकृतिक गुण कहे गये हैं वह उन सबका उत्तम आश्रय था ॥६७-६८॥ अच्छे राजाके राज्यमें प्रजाको अयुक्ति आदि पाँच तरहकी बाधाओंमें-से कोई प्रकारकी बाधा नहीं थी अतः समस्त प्रजा सुखसे बढ़ रही थी ॥६९॥ उस विजयीने तीन शक्तिरूप सम्पत्तिके द्वारा समस्त शत्रुओंको जीत लिया था, समस्त युद्ध शान्त कर दिये थे और धर्म तथा अर्थके द्वारा समस्त भोगोंका उपभोग किया था ॥७०॥ किसी समय उल्कापात देखनेसे उसे आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया। अब वह इष्ट सम्पत्तियोंको आपात रमणीय—प्रारम्भमें ही मनोहर समझने लगा ॥७१॥ वह विचार करने लगा कि मैंने मूर्खतावश इन भोगोंको स्थायी समझकर चिरकाल तक इनका उपभोग किया। यदि आज यह उल्कापात नहीं होता तो संसार-सागरमें मेरा भ्रमण होता ही रहता ॥७२॥ ऐसा विचारकर उसने पुत्रके लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं शिवगुप्त जिनेश्वरके पास जाकर परमपद पानेकी इच्छासे निश्चय और व्यवहारके भेदसे दोनों प्रकारका संयम धारण कर लिया ॥७३॥ अत्यन्त उत्कृष्ट आठ प्रकारकी शुद्धियोंसे उसका तप देदीप्यमान हो रहा था, उसने अशुभ कर्मोंका आस्रव रोक दिया था और क्रम-क्रमसे आयुका अन्त पाकर अपने परिणामोंको समाधियुक्त किया था ॥७४॥ वह अपने राज्यसे खरीदे एवं अपने हाथसे—पुरुषार्थसे प्राप्त हुए अच्युत स्वर्गको देखकर बहुत ही सन्तुष्ट हुआ सो ठीक ही है क्योंकि अल्प मूल्य देकर अधिक मूल्यकी वस्तुको खरीदनेवाला मनुष्य सन्तुष्ट होता ही है ॥७५॥ वहाँ बाईस सागरकी उसकी आयु थी। वह अच्युतेन्द्र आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत होकर कहाँ उत्पन्न हुआ इसका वर्णन करते हैं—

इसी जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें एक काशी नामक देश है। उसकी वाराणसी नामकी नगरीमें इक्ष्वाकुवंशीय पद्मनाभ नामक राजा राज्य करता था। उसकी स्त्रीके पद्म आदि समस्त लक्षणोंसे सहित पद्म नामका पुत्र हुआ था। तीस हजार वर्षकी उसकी आयु थी, बाईस धनुष ऊँचा शरीर था, वह सुवर्णके समान देदीप्यमान था, और उसकी कान्ति आदिकी देव लोग भी प्रार्थना करते थे

---

१ मोहरिपुर्विमु—ख०, म०, ग०। २ भुक्तिवादिभिः म०। ३ तदवर्तन्त म०, ल०। ४ शत्रून् निर्जित्य क०, घ०। ५ संपदाम् म०, ल०। ६ पत्तुमिच्छुः। ७ तपोद्धा क०, घ०।

पुण्योदयात्क्रमेणाप्य चक्रित्वं विक्रमार्जितम् । दशाङ्गभोगान्निःसङ्गमभुङ्क्तानल्पभूचिरम् ॥७९॥
पृथिवीसुन्दरीमुख्यास्तस्याष्टौ पुत्रिकाः सतीः । सुकेतुखचरार्धाश[1] पुत्रेभ्योऽदात्प्रसन्नवान् ॥८०॥
एवं सुखेन कालेऽस्य[2] याति रम्यम्बुदोऽम्बरे । प्रक्षयः प्रमोदमुत्पाद्य सद्योऽसौ विकृतिं ययौ ॥८१॥
तं वीक्ष्य न विपक्षोऽस्य तथाप्येषोऽगमत्क्षयम् । संपत्सु सर्वविद्विट्सु का स्थैर्यास्था विवेकिनः ॥८२॥
इति चक्री समालोच्य संयमेऽभून्नतस्तदा । सुकेतुः कुलवृद्धोऽस्य नाम्ना दुश्चरितोऽब्रवीत् ॥८३॥
राज्यसंप्राप्तिकालस्ते कनीयान् नवयौवनः । भोगान् भुङ्क्ष्व न कालोऽयं तपसः किं विधीर्भवेः ॥८४॥
केनापि तपसा कार्यं किं वृथायासमात्रकम् । नात्र किंचित्फलं नैव परलोकश्च कश्चन ॥८५॥
कथं न परलोकश्चेदभावात्परलोकिनः । पञ्चभूतात्मके काये चेतना मदशक्तिवत् ॥८६॥
पिष्टकिण्वादिसंयोगे तदात्मोक्तिः खपुष्पवत् । ततः प्रेत्योपभोगादिकाङ्क्षा स्वकृतकर्मणः ॥८७॥
वन्ध्यास्तनंधयस्येव खपुष्पापीडलिप्सनम् । आग्रहोऽयं परित्याज्यो राज्यं कुरु निराकुलम् ॥८८॥
सत्यप्यात्मनि कौमारे सुकुमारः कथं तपः । सहसे निष्ठुरं देव [3]पुष्कलैरपि दुष्करम् ॥८९॥
इत्युक्तं तदमात्यस्य स श्रुत्वा शून्यवादिनः । रूपादिरूप एवात्र भूतसङ्घोऽभिलक्ष्यते ॥९०॥
सुखदुःखादिसंवेद्यं चैतन्यं तद्विलक्षणम् । तद्वान् देहादिहान्योऽयं स्वसंवित्त्यानुभूयते ॥९१॥

॥७६-७८॥ पुण्यके उदयसे उसने क्रमपूर्वक अपने पराक्रमके द्वारा अर्जित किया हुआ चक्रवर्तीपना प्राप्त किया था तथा चिरकाल तक बाधा रहित दश प्रकारके भोगोंका आसक्तिके बिना ही उपभोग किया था ॥७९॥ उसके पृथिवीसुन्दरीको आदि लेकर आठ सती पुत्रियाँ थीं जिन्हें उसने बड़ी प्रसन्नताके साथ सुकेतु नामक विद्याधरके पुत्रोंके लिए प्रदान किया था ॥८०॥ इस प्रकार चक्रवर्ती पद्मका काल सुखसे व्यतीत हो रहा था। एक दिन आकाशमें सुन्दर बादल दिखाई दिया जो चक्रवर्तीको हर्ष उत्पन्न कर शीघ्र ही नष्ट हो गया ॥८१॥ उसे देखकर चक्रवर्ती विचार करने लगा कि इस बादलका यद्यपि कोई शत्रु नहीं है तो भी यह नष्ट हो गया फिर जिनके सभी शत्रु हैं ऐसी सम्पत्तियोंमें विवेकी मनुष्यको स्थिर रहनेकी श्रद्धा कैसे हो सकती है ? ॥८२॥ ऐसा विचार कर चक्रवर्ती संयम धारण करनेमें तत्पर हुआ ही था कि उसी समय उसके कुलका वृद्ध दुराचारी सुकेतु कहने लगा कि यह तुम्हारा राज्य-प्राप्तिका समय है, अभी तुम छोटे हो, नवयौवनके धारक हो, अतः भोगोंका अनुभव करो, यह समय तपके योग्य नहीं है, व्यर्थ ही निर्बुद्धि क्यों हो रहे हो ? ॥८३-८४॥ किसी भी तपसे क्या कुछ कार्य सिद्ध होता है। व्यर्थ ही कष्ट उठाना पड़ता है, इसका कुछ भी फल नहीं होता और न कोई परलोक ही है ॥८५॥ परलोक क्यों नहीं है यदि यह जानना चाहते हो तो सुनो, जब परलोकमें रहनेवाले जीवका ही अभाव है तब परलोक कैसे सिद्ध हो जावेगा ? जिस प्रकार आटा और किण्व आदिके संयोगसे मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पंचभूतसे बने हुए शरीरमें चेतना उत्पन्न हो जाती है इसलिए आत्मा नामका कोई पदार्थ है ऐसा कहना आकाश-पुष्पके समान है। जब आत्मा ही नहीं है तब मरनेके बाद अपने किये हुए कर्मका फल भोगने आदिकी आकांक्षा करना वन्ध्यापुत्रके, आकाश-पुष्पका सेहरा प्राप्त करनेकी इच्छाके समान है। इसलिए यह तप करनेका आग्रह छोड़ो और निराकुल होकर राज्य करो ॥८६-८८॥ इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि यदि किसी तरह जीवका अस्तित्व मान भी लिया जाये तो इस कुमारावस्थामें जब कि आप अत्यन्त सुकुमार हैं जिसे प्रौढ़ मनुष्य भी नहीं कर सकते ऐसे कठिन तपको किस प्रकार सहन कर सकेंगे ? ॥८९॥ इस प्रकार शून्यवादी मन्त्रीका कहा सुनकर चक्रवर्ती कहने लगा कि इस संसारमें जो पंचभूतोंका समूह दिखाई देता है वह रूपादि रूप है—स्पर्श रस गन्ध और वर्ण युक्त होनेके कारण पुद्गलात्मक है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादिके द्वारा जिसका वेदन होता है वह चैतन्य भूत समूहसे भिन्न है—पृथक् है। हमारे इस शरीरमें शरीरसे पृथक् चैतन्य गुण युक्त जीव नामका पदार्थ विद्यमान है इसका स्वसंवेदनसे अनुभव होता है और

१ खचराधीशः पुत्रेभ्यो ग०, म०, ल०। २ कालस्य ल०। ३ अति प्रौढे 'पुष्कलस्तु पूर्णश्रेष्ठे' क०, म०, टिप्पण्याम्। दुष्करैः ल०।

मालिनी

प्रथममजनि राजा यः प्रजापालनामा
शमितकरणवृत्त्या प्रान्तकल्पेश्वरोऽभूत् ।
सकलभरतनाथः शर्मणः सद्म पद्मः
परमपदमवाप्तःसोऽमलं शं क्रियान्नः ॥१०१॥

तीर्थेऽस्मिन्नेव [1]संभूतौ सप्तमौ रामकेशवौ । तृतीये तौ भवेऽभूतां साकेते राजपुत्रकौ ॥१०२॥
अप्रियत्वात्पिता त्यक्त्वा तौ स्नेहेन कनीयसे । भ्रात्रे स्वस्मै ददौ यौवराज्यं पदमकल्पितम् ॥१०३॥
मन्त्रिणैव कृतं सर्वमिदमित्यतिकोपिनौ । अमात्ये बद्धवैरौ तौ धर्मतीर्थान्वयानुगौ ॥१०४॥
शिवगुप्तमुनेरन्तेवासितामेत्य संयमम् । विधाय सुविशालाख्ये सौधर्मेऽमरतां गतौ ॥१०५॥
ततः प्रच्युत्य भूपस्य वाराणस्यां बभूवतुः । इक्ष्वाकुतिलकस्याग्निशिखस्य तनयौ प्रियौ ॥१०६॥
मातापराजिता केशवती च क्रमशस्तयोः । नन्दिमित्राह्वयो ज्येष्ठः कनिष्ठो दत्तसंज्ञकः ॥१०७॥
द्वात्रिंशत्सहस्राब्दायुर्द्वाविंशतिधनुस्तनू । चन्द्रेन्द्रनीलसङ्काशावबद्धेतामनुत्तरौ ॥१०८॥
ततो मन्त्री च पूर्वोक्तो भ्रान्त्वा संसारसागरे । क्रमेण विजयार्द्धाद्रिमन्दराख्यपुराधिपः ॥१०९॥
[2]बलीन्द्राभिधया ख्यातो जातो विद्याधराधिपः । सोऽन्येद्युर्युवयोर्भद्रक्षीरोदाख्योऽस्ति विश्रुतः ॥११०॥
महान्ममैव योग्योऽसौ दीयतां गन्धवारणः । इति दर्पात्प्रतिष्ठस्मी प्राहिणोत्प्रति तौ वचः ॥१११॥
श्रुत्वा तद्वचनं तौ च तेनाऽऽभ्यां सुते स्वयम् । देयो चेदीयते दन्ती नोचेत्सोऽपि न दीयते ॥११२॥

मन्दरागके धारक थे, राजाओंके योग्य तेजसे श्रेष्ठ थे, और चक्रवर्तियोंमें नौवें चक्रवर्ती थे ऐसे पद्म बड़े हर्षसे सुशोभित होते थे ॥१००॥

जो पहले प्रजापाल नामका राजा हुआ था, फिर इन्द्रियोंको दमन कर अच्युत स्वर्गका इन्द्र हुआ, तदनन्तर समस्त भरत क्षेत्रका स्वामी और अनेक कल्याणोंका घर पद्म नामका चक्रवर्ती हुआ, फिर परमपदको प्राप्त हुआ ऐसा चक्रवर्ती पद्म हम सबके लिए निर्मल सुख प्रदान करे ॥१०१॥

अथानन्तर—इन्हीं मल्लिनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें सातवें बलभद्र और नारायण हुए थे वे अपनेसे पूर्व तीसरे भवमें अयोध्यानगरके राजपुत्र थे ॥१०२॥ वे दोनों पिताके लिए प्रिय नहीं थे इसलिए पिताने उन्हें छोड़कर स्नेहवश अपने छोटे भाईके लिए युवराज पद दे दिया। यद्यपि छोटे भाईके लिए युवराज पद देनेका निश्चय नहीं था फिर भी राजाने उसे युवराज पद दे दिया ॥१०३॥ दोनों भाइयोंने समझा कि यह सब मन्त्रीने ही किया है इसलिए वे उसपर बहुत कुपित हुए और उसपर वैर बाँधकर धर्मतीर्थके अनुगामी बन गये। उन्होंने शिवगुप्त मुनिराजकी शिष्यता स्वीकृत कर संयम धारण कर लिया। जिससे आयुके अन्तमें मरकर सौधर्म स्वर्गके सुविशाल नामक विमानमें देव पदको प्राप्त हो गये ॥१०४-१०५॥ वहाँसे च्युत होकर बनारसके राजा इक्ष्वाकुवंशके शिरोमणि राजा अग्निशिखके प्रिय पुत्र हुए ॥१०६॥ क्रमशः अपराजिता और केशवती उन दोनोंकी माताएँ थीं। नन्दिमित्र बड़ा भाई था और दत्त छोटा भाई था ॥१०७॥ बत्तीस हजार वर्षकी उनकी आयु थी। बाईस धनुष ऊँचा शरीर था, क्रमसे चन्द्रमा और इन्द्रनील मणिके समान उनके शरीरका वर्ण था और दोनों ही श्रेष्ठतम थे ॥१०८॥

तदनन्तर—जिसका वर्णन पहले आ चुका है ऐसा मन्त्री, संसार-सागरमें भ्रमण कर क्रमसे विजयार्ध पर्वतपर स्थित मन्दरपुर नगरका स्वामी बलीन्द्र नामका विद्याधर राजा हुआ। किसी एक दिन बाधा डालनेवाले उस बलीन्द्रने अहंकारवश तुम्हारे पास सूचना भेजी कि तुम दोनोंके पास जो भद्रक्षीर नामका प्रसिद्ध बड़ा गन्धगज है वह हमारे ही योग्य है अतः हमारे लिए ही दिया जावे ॥१०९-१११॥ दूतके वचन सुनकर उन दोनोंने उत्तर दिया कि यदि तुम्हारा स्वामी बलीन्द्र हम

---

१ सम्भूताम् ल० । २ म० पुस्तके एवं पाठः 'सोऽन्येद्युर्युवयोर्भद्र क्षीरोदाख्योऽतिविश्रुतिः । बलीन्द्राभिधया ख्यातो जातो विद्याधराधिपः' ॥११०॥

इति प्रत्याहतुः कर्णकटुकं तदुदीरितम् । समाकर्ण्य बलीन्द्राख्यो विश्वत्कालानुकारिताम् ॥११३॥
योद्धुमाभ्यां समं भीमकोपः सन्नद्धवाँस्तदा । खगेन्द्रो [1]दक्षिणश्रेण्यां सुरकान्तारपुःपतिः ॥११४॥
केशवत्या महाभ्राता संमेदाद्रौ सुसाधिते । सिंहपक्षीन्द्रवाहिन्यौ [2]महाविद्ये यथाविधि ॥११५॥
दत्त्वा ताभ्यां कुमाराभ्यां नाम्ना केसरिविक्रमः । तदीयकार्यसाहाय्यं बन्धुत्वेनावमन्यत ॥११६॥
तयोस्तुमुलयुद्धेन [3]बलयोर्बलिनोरभूत् । संग्रामः क्षयकालो वा संहरन् सकलाः प्रजाः ॥११७॥
तत्र मायामये युद्धे बलीन्द्रतनयं क्रुधा । [4]मुखं शतबलिं मृत्योः सीरपाणिरनीनयत् ॥११८॥
बलीन्द्रेणापि तं दृष्ट्वा समुत्पन्नरुषात्मनः । प्रहितं चक्रमु[5]द्दिश्य केशवं कौशिकोपमम् ॥११९॥
तत्तं प्रदक्षिणीकृत्य दक्षिणं बाहुमाश्रितम् । तदेवादाय दत्तोऽपि हत्वा तं तच्छिरोऽग्रहीत् ॥१२०॥
युद्धान्ते तौ तदा वीरौ प्रदत्ताभयघोषणौ । त्रिखण्डधरणीचक्रं सचक्रं चक्रतुः स्वकम् ॥१२१॥
चिरं राज्यसुखं भुक्त्वा स्वायुरन्ते स चक्रभृत् । बद्ध्वायुर्नारकं घोरम[6]वधिस्थानमेयिवान् ॥१२२॥
तन्निर्वेदेन रामोऽपि संभूतजिनसंनिधौ । दीक्षित्वा बहुभिर्भूपैरभूद[7]गृहकेवली ॥१२३॥

स्रग्धरा

आतौ साकेतपुर्यां प्रथितनृपसुतौ तौ समादाय दीक्षां
प्रान्ते सौधर्मकल्पे प्रणिहितमनसौ देवभावप्रयातौ ।
वाराणस्यामभूतां पुरुकुलतिलकौ नन्दिमित्रश्च दत्तो
दत्तोऽसौ सप्तमीं क्ष्मां समगमदपरोऽप्याप कैवल्यलक्ष्मीम् ॥१२४॥

दोनोंके लिए अपनी पुत्रियाँ देवे तो उसे यह गन्धगज दिया जा सकता है अन्यथा नहीं दिया जा सकता ॥११२॥ इस प्रकार कानोंको अप्रिय लगनेवाला उनका कहना सुनकर बलीन्द्र अत्यन्त कुपित हुआ। वह यमराजका अनुकरण करता हुआ उन दोनोंके साथ युद्ध करनेके लिए तैयार हो गया। उस समय दक्षिणश्रेणीके सुरकान्तार नगरके स्वामी केसरिविक्रम नामक विद्याधरोंके राजाने जो कि दत्तकी माता केशवतीका बड़ा भाई था सम्मेदशिखरपर विधिपूर्वक सिंहवाहिनी और गरुडवाहिनी नामकी दो विद्याएँ उक्त दोनों कुमारोंके लिए दे दीं और भाईपना मानकर उनके कार्यमें सहायता देना स्वीकृत कर लिया ॥११३-११६॥ तदनन्तर उन दोनोंकी बलवान् सेनाओंका प्रलयकालके समान समस्त प्रजाका संहार करनेवाला भयंकर संग्राम हुआ ॥११७॥ बलीन्द्रके पुत्र शतबलि और बलभद्रमें खूब ही मायामयी युद्ध हुआ। उसमें बलभद्रने शतबलिको क्रोधवश यमराजके मुखमें पहुँचा दिया ॥११८॥ यह देख, बलीन्द्रको क्रोध उत्पन्न हो गया। उसने इन्द्रके तुल्य नारायणदत्तको लक्ष्य कर अपना चक्र चलाया परन्तु वह चक्र प्रदक्षिणा देकर उसकी दाहिनी भुजापर आ गया। दत्तनारायणने उसी चक्रको लेकर उसे मार दिया और उसका शिर हाथमें ले लिया ॥११९-१२०॥ युद्ध समाप्त होते ही उन दोनों वीरोंने अभय घोषणा की और चक्रसहित तीनों खण्डोंके पृथिवी-चक्रको अपने आधीन कर लिया ॥१२१॥ चिरकाल तक राज्यसुख भोगनेके बाद चक्रवर्ती—नारायणदत्त, नरकगति सम्बन्धी भयंकर आयुका बन्ध कर सातवें नरक गया ॥१२२॥ भाईके वियोगसे बलभद्रको बहुत वैराग्य हुआ अतः उसने सम्भूत जिनेन्द्रके पास अनेक राजाओंके साथ दीक्षा ले ली तथा अन्तमें केवली होकर मोक्ष प्राप्त किया ॥१२३॥

जो पहले अयोध्यानगरमें प्रसिद्ध राजपुत्र हुए थे, फिर दीक्षा लेकर आयुके अन्तमें सौधर्मस्वर्गमें देव हुए, वहाँसे च्युत होकर जो बनारस नगरमें इक्ष्वाकु वंशके शिरोमणि नन्दिमित्र और दत्त नामके बलभद्र तथा नारायण हुए। उनमें-से दत्त तो मरकर सातवीं भूमिमें गया और नन्दिषेण

---

१ दक्षिणाश्रेण्यां क०, घ०,। २ महाविद्यौ ख०। ३ बलिनोर्बलिनोरभूत् ख०। ४ मुखे म०। ५ -मुद्दिश्य ख०। ६ -मनधिस्थान-ख०। ७ -रभूद्गृह-ख०।

वसन्ततिलका

मन्त्री चिरं जननवारिनिधौ भ्रमित्वा
पश्चाद् बलीन्द्र इति नामधरः खगेशः ।
दत्ताद्वाप्तमरणो नरकं दुरन्तं
प्रापत्ततः परिहरन्त्वनुबद्धवैरम् ॥१२५॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे मल्लितीर्थकर-पद्मचक्रि-नन्दिमित्र-बलदेव-दत्तनामवासुदेव-बलीन्द्राख्यप्रतिवासुदेवपुराणं परिसमाप्तम् ॥६६॥



कैवल्य-लक्ष्मीको प्राप्त हुआ ॥१२४॥ मन्त्रीका जीव चिरकाल तक संसार-सागरमें भ्रमण कर पीछे बलीन्द्र नामका विद्याधर हुआ और दत्त नारायणके हाथसे मरकर भयंकर नरकमें पहुँचा, इसलिए सज्जन पुरुषोंको वैरका संस्कार छोड़ देना चाहिए ॥१२५॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें मल्लिनाथतीर्थंकर, पद्मचक्रवर्ती, नन्दिमित्र बलदेव, दत्त नारायण और बलीन्द्र प्रति-नारायणके पुराणका वर्णन करनेवाला छयासठवाँ पर्व समाप्त हुआ।

सप्तषष्टितमं पर्व

निवृत्तौ व्रतशब्दार्थो यस्याभूत् सर्ववस्तुषु । देयात् स व्रतं स्वस्य सुव्रतो मुनिसुव्रतः ॥१॥
तृतीये जन्मनीहास्मिन् जिनेन्द्रो मुनिसुव्रतः । भारतेऽङ्गाख्यविषये नृपश्चम्पापुराधिपः ॥२॥
हरिवर्माभिधोऽन्येद्युरुद्याने जिनेश्वरम् । [1]अनन्तवीर्यनामानमनगारं विवन्दिषुः ॥३॥
गत्वात्मपरिवारेण ससपर्यः परीत्य तम् । त्रिः समभ्यर्च्य वन्दित्वा प्राक्षीद्धर्मं सनातनम् ॥४॥
संसारी मुक्त इत्यात्मा [2]द्विधा कर्मभिरष्टभिः । बद्धं संसारिणं प्राहुस्तैर्मुक्तो मुक्त इष्यते ॥५॥
मूलभेदेन तान्यष्टौ ज्ञानावृत्यादिनामभिः । ज्ञेयान्युत्तरभेदेन वस्व[3]ब्ध्येकोक्तसंख्यया ॥६॥
बन्धश्चतुःप्रकारः स्यात्प्रकृत्यादिविकल्पितः । प्रत्ययोऽपि चतुर्भेदो मिथ्यात्वादिर्जिनोदितः ॥७॥
उदयादिविकल्पेन कर्मावस्था चतुर्विधा । संसारः पञ्चधा प्रोक्तो द्रव्यक्षेत्रादिलक्षणः ॥८॥
रोधो गुप्त्यादिभिस्तेषां तपसा रोधनिर्जरे । तुरीयशुक्लध्यानेन मोक्षः सिद्धस्ततो भवेत् ॥९॥
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षो निर्जरा त्वेकदेशतः । [4]मुक्तस्यातुलमत्यन्तरायमात्यन्तिकं सुखम् ॥१०॥
इत्यादि तत्त्वसर्वस्वं भगवांस्तमबूबुधत् । स्ववचोरश्मिजालेन भव्याब्जानां प्रबोधकः ॥११॥
सोऽपि तत्त्वसद्भावमवगम्य यथोदितम् । निर्विद्य संसृतेर्ज्येष्ठपुत्रे राज्यं नियोज्य तत् ॥१२॥
ग्रन्थद्वयपरित्यागे पटुश्चटुलमाययौ । संयमं बहुभिः सार्द्धं मूर्धन्यैरूर्ध्वगामिभिः ॥१३॥
अवादीधरदेकादशाङ्गानि गुरुसंगमात् । अबध्नात्तीर्थकृद्गोत्रं श्रद्धाशुद्ध्यादिभावनः ॥१४॥

जिनके नामके व्रत शब्दका अर्थ सभी पदार्थोंका त्याग था और जो उत्तम व्रतके धारी थे ऐसे श्री मुनिसुव्रत भगवान् हम सबके लिए अपना व्रत प्रदान करें ॥१॥ भगवान् मुनिसुव्रतनाथ इस भवसे पूर्व तीसरे भवमें इसी भरतक्षेत्रके अंग देशके चम्पापुर नगरमें हरिवर्मा नामके राजा थे। किसी एक दिन वहाँके उद्यानमें अनन्तवीर्य नामके निर्ग्रन्थ मुनिराज पधारे। उनकी वन्दना करनेकी इच्छासे राजा हरिवर्मा अपने समस्त परिवारके साथ पूजाकी सामग्री लेकर उनके पास गये। वहाँ उन्होंने उक्त मुनिराजकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, तीन बार पूजा की, तीन बार वन्दना की और तदनन्तर सनातन धर्मका स्वरूप पूछा ॥२-४॥ मुनिराजने कहा कि यह जीव संसारी और मुक्तके भेदसे दो प्रकारका है। जो आठ कर्मोंसे बद्ध है उसे संसारी कहते हैं और जो आठ कर्मोंसे मुक्त है—रहित है उसे मुक्त कहते हैं ॥५॥ उन कर्मोंके ज्ञानावरणादि नामवाले आठ मूल भेद हैं और उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस हैं ॥६॥ प्रकृति आदिके भेदसे बन्धके चार भेद हैं और मिथ्यात्व अविरति कषाय तथा योगके भेदसे प्रत्यय-कर्मबन्धका कारण भी चार प्रकारका जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है ॥७॥ उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके भेदसे कर्मोंकी अवस्था चार प्रकारकी होती है तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावकी अपेक्षा संसार पाँच प्रकारका कहा गया है ॥८॥ गुप्ति आदिके द्वारा उन कर्मोंका संवर होता है तथा तपके द्वारा संवर और निर्जरा दोनों होते हैं। चतुर्थ शुक्लध्यानके द्वारा मोक्ष होता है और मोक्ष होनेसे यह जीव सिद्ध कहलाने लगता है ॥९॥ सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है और एकदेश क्षय होना निर्जरा कही जाती है। मुक्त जीवका जो सुख है वह अतुल्य अन्तरायसे रहित एवं आत्यन्तिक-अन्तातीत होता है ॥१०॥ इस प्रकार अपने वचनरूपी किरणोंके जालसे भव्यजीवरूपी कमलोंको विकसित करनेवाले भगवान् अनन्तवीर्य मुनिराजने राजा हरिवर्माको तत्त्वका उपदेश दिया ॥११॥ राजा हरिवर्मा भी मुनिराजके द्वारा कहे हुए तत्त्वके सद्भावको ठीक-ठीक समझकर संसारसे विरक्त हो गये। उन्होंने अपना राज्य बड़े पुत्रके लिए देकर बाह्याभ्यन्तरके भेदसे दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग कर दिया और शीघ्र ही

---

१ अनन्तवीर्य नाम्ना ल०। २ द्वेधा क०, घ०, म०। ३ वस्वब्ध्येकसंख्यया ल०। ४ मुक्तस्य ल०।

चिरमेवं तपः कृत्वा प्रान्ते स्वाराधनाविधिः । भविष्यत्पञ्चकल्याणः प्राणतेन्द्रोऽभवद्विभुः ॥१५॥
सागरोपमविंशत्यामितायुः शुक्ललेश्यकः । सार्द्धारत्नित्रयोत्सेधो मासैर्दशभिरुच्छ्वसन् ॥१६॥
संवत्सरसहस्राणां विंशत्यामाहिताहृतिः । मनाग्मनःप्रवीचारभोगोऽष्टर्द्धिसमन्वितः ॥१७॥
आपञ्चमावनेरात्मगोचरव्याप्तावधिः । तत्क्षेत्रमितशक्त्यादिश्चिरं तत्रान्वभूत् सुखम् ॥१८॥
तस्मिन् षण्मासशेषायुष्यागमिष्यति भूतलम् । जन्मगेहाङ्गणं तस्य रत्नवृष्ट्यार्चितं सुरैः ॥१९॥
अत्रैव भरते [1]राजा पुरे राजगृहाह्वये । सुमित्रो मगधाधीशो हरिवंशशिखामणि ॥२०॥
गोत्रेण काश्यपस्तस्य देवी सोमाह्वया सुरैः । पूजिता श्रावणे मासि नक्षत्रे श्रवणे दिने ॥२१॥
स्वप्नान् कृष्णद्वितीयायां स्वर्गावतरणोन्मुखे । प्राणताधीश्वरेऽपश्यत् षोडशेष्टार्थसूचकान् ॥२२॥
गजराजं च वक्त्रं स्वं प्रविशन्तं प्रभाविनम् । तेनैव परितोषेण प्रबुद्धा शुद्धवेषभृत् ॥२३॥
नृपमावेदयत्स्वप्नांस्तत्फलश्रवणेच्छया । सावधिः सोऽप्यभाषिष्ट संभूतिं त्रिजगत्पतेः ॥२४॥
तद्वाक्श्रवणसंफुल्लमनोवदनपङ्कजा । तदैवायातदेवेन्द्रकृताभिषवणोत्सवा ॥२५॥
सुरोपनीतभोगोपभोगैः[2] स्वर्गसुखावहैः । नवमं मासमासाद्य सुखेनासूत [3]सुप्रजाम् ॥२६॥
संवत्सरचतुःपञ्चाशल्लक्षप्रमितं [4]व्रजन् । मल्लीशतीर्थसंतानकालान्तर्गतजीवितम् ॥२७॥
तज्जन्मसमयायातैः स्वदीप्तिव्याप्तदिङ्मुखैः । मेरौ सुरेन्द्रैः संप्राप्य मुनिसुव्रतसुश्रुतिम् ॥२८॥

स्वर्ग अथवा मोक्ष जानेवाले राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥१२-१३॥ उन्होंने गुरुके समागमसे ग्यारह अंगोंका अध्ययन किया और दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थंकर गोत्रका बन्ध किया ॥१४॥ इस तरह चिर काल तक तप कर आयुके अन्तमें समाधि-मरणके द्वारा, जिसके आगे चलकर पाँच कल्याणक होनेवाले हैं ऐसा प्राणत स्वर्गका इन्द्र हुआ ॥१५॥ वहाँ बीस सागर प्रमाण उसकी आयु थी, शुक्ल लेश्या थी, साढ़े तीन हाथ ऊँचा शरीर था, वह दस माहमें एक बार श्वास लेता था, बीस हजार वर्षमें एक बार आहार ग्रहण करता था, मन-सम्बन्धी थोड़ा-सा कामभोग करता था, और आठ ऋद्धियोंसे सहित था ॥१६-१७॥ पाँचवीं पृथ्वी तक उनके अवधिज्ञानका विषय था और उतनी ही दूर तक उसकी दीप्ति तथा शक्ति आदिका संचार था। इस प्रकार वह वहाँ चिरकाल तक सुखका उपभोग करता रहा। जब उसकी आयु छह माहकी रह गयी और वह वहाँ पृथिवी तलपर आनेवाला हुआ तब उसके जन्मगृहके आँगनकी देवोंने रत्नवृष्टिके द्वारा पूजा की ॥१८-१९॥

इसी भरतक्षेत्रके मगधदेशमें एक राजगृह नामका नगर है। उसमें हरिवंशका शिरोमणि सुमित्र नामका राजा राज्य करता था ॥२०॥ वह काश्यपगोत्री था, उसकी रानीका नाम सोमा था, देवोंने उसकी पूजा की थी। तदनन्तर श्रावण कृष्ण द्वितीयाके दिन श्रवण नक्षत्रमें जब पूर्वोक्त प्राणतेन्द्र स्वर्गसे अवतार लेनेके सम्मुख हुआ तब रानी सोमाने इष्ट अर्थको सूचित करनेवाले सोलह स्वप्न देखे और उनके बाद ही अपने मुँहमें प्रवेश करता हुआ एक प्रभाववान् हाथी देखा। इसी हर्षसे वह जाग उठी और शुद्ध वेषको धारण कर राजाके पास गयी। वहाँ फल सुननेकी इच्छासे उसने राजाको सब स्वप्न सुनाये ॥२१-२३॥ अवधिज्ञानी राजाने बतलाया कि तुम्हारे तीन जगत्के स्वामी जिनेन्द्र भगवान्का जन्म होगा ॥२४॥ राजाके वचन सुनते ही रानीका हृदय तथा मुखकमल खिल उठा। उसी समय देवोंने आकर उसका अभिषेकोत्सव किया ॥२५॥ स्वर्गीय सुख प्रदान करनेवाले देवोपनीत भोगोपभोगोंसे उसका समय आनन्दसे बीतने लगा। अनुक्रमसे नौवाँ माह पाकर उसने सुखसे उत्तम बालक उत्पन्न किया ॥२६॥ श्रीमल्लिनाथ तीर्थंकरके बाद जब चौवन लाख वर्ष बीत चुके तब इनका जन्म हुआ था, इनकी आयु भी इसीमें शामिल थी ॥२७॥ जन्म समयमें आये हुए एवं अपनी प्रभासे समस्त दिङ्मण्डलको व्याप्त करनेवाले इन्द्रोंने सुमेरु पर्वतपर ले जाकर उनका जन्माभिषेक किया

---

१ राज्ञां ल० । २ भोगैस्स्वर्ग म०, ल० । ३ सुप्रजाम् ल० । ४ प्रमितव्रजन् ल० ।

त्रिंशत्सहस्रवर्षायुश्चापविंशतिसंमितः । सर्पाशनगलच्छायः संपन्नाखिललक्षणः ॥२९॥
खद्वयेन्द्रियसप्ताङ्कवर्षैः कौमारनिर्गमे । राज्याभिषेकं संप्राप्य प्राप्तानन्दपरंपरः ॥३०॥
शून्यत्रिकेन्द्रियैकोक्तसंवत्सरपरिक्षये । गर्जद्घनघटाटोपसमये यागहस्तिनः ॥३१॥
वनस्मरणसंत्यक्तकवलग्रहणं नृपः । निरीक्ष्यावधिनेत्रेण विज्ञातैतन्मनोगतः ॥३२॥
तत्पूर्वभवसंबद्धं कौतूहलवतां नृणाम् । अवोचद् वृत्तिमित्युच्चैः स मनोहरया गिरा ॥३३॥
पूर्वं तालपुराधीशो नाम्ना नरपतिर्नृपः । महाकुलाभिमानादिदुर्लेश्याविध्दचित्तकः ॥३४॥
पात्रापात्रविशेषानभिज्ञः कुज्ञानमोहितः । दत्त्वा किमिच्छकं दानं तत्फलात्समभूदिभः ॥३५॥
नाज्ञानं स्मरति प्राच्यं न राज्यं पूज्यसंपदम् । कुदानस्य च नैःफल्यं वनं स्मरति दुर्मतिः ॥३६॥
तद्वचःश्रवणोत्पन्नस्वपूर्वभवसंस्मृतेः । संयमासंयमं सद्यो जग्राह गजसत्तमः ॥३७॥
तत्प्रत्ययसमुत्पन्नबोधिस्त्यागोन्मुखो नृपः । लौकान्तिकैस्तदैवैत्य प्रस्तुतोक्त्या प्रतिश्रुतः ॥३८॥
स्वराज्यं युवराजाय[2] विजयाय वितीर्य सः । सुरैः संप्राप्तनिःक्रान्तिकल्याणद्रुमधीगुणः (?) ॥३९॥
अपराजितनामोरुशिबिकामधिरूढवान् । रूढकीर्तिः क्षरन्मूढिरूढो नरखगा[3] मरैः ॥४०॥
प्राप्य षष्ठोपवासेन वनं नीलाभिधानकम् । वैशाखे बहुले पक्षे श्रवणे दशमीदिने ॥४१॥
सहस्रभूपैः सायाह्ने सह[4] संयममग्रहीत् । कैश्यमीशः सुरेशानां सुरेशो विश्वदर्शनः ॥४२॥

और मुनिसुव्रतनाथ यह नाम रखा ॥२८॥ उनकी आयु तीस हजार वर्षकी थी, शरीरकी ऊँचाई बीस धनुषकी थी, कान्ति मयूरके कण्ठके समान नीली थी, और स्वयं वे समस्त लक्षणोंसे सम्पन्न थे ॥२९॥ कुमार कालके सात हजार पाँच सौ वर्ष बीत जानेपर वे राज्याभिषेक पाकर आनन्दकी परम्पराको प्राप्त हुए थे ॥३०॥ इस प्रकार जब उनके पन्द्रह हजार वर्ष बीत गये तब किसी दिन गर्जती हुई घन-घटाके समय उनके यागहस्तीने वनका स्मरण कर ग्रास उठाना छोड़ दिया—खाना-पीना बन्द कर दिया। महाराज मुनिसुव्रतनाथ, अपने अवधिज्ञानरूपी नेत्रके द्वारा देखकर उस हाथीके मनकी सब बात जान गये। वे कुतूहलसे भरे हुए मनुष्योंके सामने हाथीके पूर्व भवसे सम्बन्ध रखनेवाला वृत्तान्त उच्च एवं मनोहर वाणीसे इस प्रकार कहने लगे ॥३१-३३॥ पूर्वभवमें यह हाथी तालपुर नगरका स्वामी नरपति नामका राजा था, वहाँ अपने उच्च कुलके अभिमान आदि खोटी-खोटी लेश्याओंसे इसका चित्त सदा घिरा रहता था, वह पात्र और अपात्रकी विशेषतासे अनभिज्ञ था, मिथ्याज्ञानसे सदा मोहित रहता था। वहाँ इसने किमिच्छक दान दिया था उसके फलसे यह हाथी हुआ है ॥३४-३५॥ यह हाथी इस समय न तो अपने पहले अज्ञानका स्मरण कर रहा है, न पूज्य सम्पदासे युक्त राज्यका ध्यान कर रहा है और न कुदानकी निष्फलताका विचार कर रहा है ॥३६॥ भगवान्‌के वचन सुननेसे उस उत्तम हाथीको अपने पूर्व भवका स्मरण हो आया इसलिए उसने शीघ्र ही संयमासंयम धारण-कर लिया ॥३७॥ इसी कारणसे भगवान् मुनिसुव्रतको वैराग्य उत्पन्न हो गया जिससे वे समस्त परिग्रहोंका त्याग करनेके लिए सम्मुख हो गये। उसी समय लौकान्तिक देवोंने आकर उनकी स्तुति की तथा उनके विचारोंका समर्थन किया ॥३८॥ उन्होंने युवराज विजयके लिए अपना राज्य देकर देवोंके द्वारा दीक्षा-कल्याणकका महोत्सव प्राप्त किया ॥३९॥ जिनकी कीर्ति प्रसिद्ध है, जिनका मोहकर्म दूर हो रहा है, और मनुष्य विद्याधर तथा देव जिन्हें ले जा रहे हैं ऐसे वे भगवान् अपराजित नामकी विशाल पालकीपर सवार हुए ॥४०॥ नील नामक वनमें जाकर उन्होंने वेलाके उपवासका नियम लिया और वैशाख कृष्ण दशमीके दिन श्रवण नक्षत्रमें सायंकालके समय एक हजार राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया। शाश्वतपद-मोक्ष प्राप्त करलेकी इच्छा करनेवाले सौधर्म इन्द्रने सर्वदर्शी भगवान् मुनिसुव्रतनाथके बालोंका समूह पंचम-

---

१ सहसान ल०, म० । सर्पाशनः सहसानश्च, उभयोर्मयूरोऽर्थः । २ युवराज्याय ल० । ३ खगाधिपैः क०, घ० । ४ समं म०, ल० ।

शाश्वतं पदमन्विच्छन् प्रापयत्पञ्चमावबुधिम् । चतुर्थावगमः शुद्धमतप्सीत् सोऽप्यलं तपः ॥४३॥
समभावमया तृप्यन् तृप्तोऽपि तनुसंस्थितेः । कदाचित्पारणाकाले प्रायाद्राजगृहं पुरम् ॥४४॥
प्रदाय प्रासुकाहारं तस्मै चामीकरच्छविः । नृपो वृषभसेनाख्यः पञ्चाश्चर्यमवापिवान् ॥४५॥
मासोनवत्सरे याते छाद्मस्थ्ये स्वतपोवने । चम्पकद्रुममूलस्थो विहितोपोषितद्वयः ॥४६॥
स्वदीक्षापक्षनक्षत्रसहिते नवमीदिने । सायाह्ने केवलज्ञानं सद्ध्यानेनोदपादयत् ॥४७॥
तदैवागत्य देवेन्द्रास्तत्कल्याणं व्यधुर्मुदा । मानस्तम्भादिविन्यासविविधर्द्धिविभूषितम् ॥४८॥
मल्लिप्रभृतयोऽभूवन्नष्टादशगणेशिनः । द्वादशाङ्गधराः पञ्चशतानि परमेष्ठिनः ॥४९॥
शिक्षकास्तस्य सद्वन्द्याः सहस्राण्येकविंशतिः । सर्पुरष्टशतं प्रान्तसहस्रमवधीक्षणाः ॥५०॥
तावन्तः केवलज्ञाना विक्रियर्द्धिसमृद्धयः । द्विशतद्विसहस्राणि चतुर्थज्ञानधारिणः ॥५१॥
[1]सहस्रार्द्धं सहस्रं तु वादिनां द्विशताधिकम् । [2]सहस्रं पिण्डिता स्त्रिंशत्सहस्राणि मुनीश्वराः ॥५२॥
[3]पुष्पदन्तादयः पञ्चाशत्सहस्राणि चार्यिकाः । एकका: श्रावका: लक्ष्यस्त्रिगुणाः श्राविकास्ततः ॥५३॥
असंख्यातो मरुत्संघः संख्यातो द्वादशो गणः । एषां धर्मं ब्रुवन्नार्यक्षेत्राणि व्यहरच्चिरम् ॥५४॥
विहृत्य मासमात्रायुः संमेदाचलमूर्द्धनि । प्रतिमायोगधारी सन् ससहस्रमुनीश्वरः ॥५५॥
फाल्गुने श्रवणे कृष्णद्वादश्यां निशि पश्चिमे । भागे हित्वा तनुं मुक्तिमवापन्मुनिसुव्रतः ॥५६॥
कृत्वा पञ्चमकल्याणसपर्यामूर्जितोदयम्[4] । वन्दित्वा सुरवन्दारुवृन्दं यातं यथायथम्[5] ॥५७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

क्वास्ते त्वत्प्रमया सदो विजयते नीलोत्पलानां वनं
व्याप्तं वाक् च मनोगतं श्रुतवतीमां मानुजां मानुराम् ।

सागर-क्षीरसागर भेज दिया। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और इस तरह उन्होंने दीर्घकाल तक शुद्ध तथा निर्मल तप किया ॥४१-४३॥ यद्यपि वे समभावसे ही तृप्त रहते थे तथापि किसी दिन पारणाके समय राजगृह नगरमें गये ॥४४॥ वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले वृषभसेन नामक राजाने उन्हें प्रासुक आहार देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥४५॥ इस प्रकार तपश्चरण करते हुए जब छद्मस्थ अवस्थाके ग्यारह माह बीत चुके तब वे अपने दीक्षा लेनेके वनमें पहुँचे। वहाँ उन्होंने चम्पक वृक्षके नीचे स्थित होकर दो दिनके उपवासका नियम लिया और दीक्षा लेनेके मास, पक्ष, नक्षत्र तथा तिथिमें ही अर्थात् वैशाख कृष्ण नवमीके दिन श्रवण नक्षत्रमें शामके समय उत्तम ध्यानके द्वारा केवलज्ञान उत्पन्न कर लिया ॥४६-४७॥ उसी समय इन्द्रोंने आकर बड़े हर्षसे ज्ञानकल्याणकका उत्सव किया और मानस्तम्भ आदिकी रचना तथा अनेक ऋद्धियों—सम्पदाओंसे विभूषित समवसरणकी रचना की ॥४८॥ उन परमेष्ठीके मल्लिको आदि लेकर अठारह गणधर थे, पाँच सौ द्वादशांगके जाननेवाले थे, सज्जनोंके द्वारा वन्दना करनेके योग्य इक्कीस हजार शिक्षक थे, एक हजार आठ सौ अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, दो हजार दो सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक थे, एक हजार पांच सौ मनःपर्ययज्ञानी थे, और एक हजार दो सौ वादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर तीस हजार मुनिराज उनके साथ थे ॥४९-५२॥ पुष्पदन्ताको आदि लेकर पचास हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, संख्यात तिर्यंच और असंख्यात देव-देवियोंका समूह था। इस तरह उनकी बारह सभाएँ थीं। इन सबके लिए धर्मका उपदेश देते हुए उन्होंने चिरकाल तक आर्य क्षेत्रमें विहार किया। विहार करते-करते जब उनकी आयु एक माहकी बाकी रह गयी तब सम्मेदशिखरपर जाकर उन्होंने एक हजार मुनियोंके साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया और फाल्गुन कृष्ण द्वादशीके दिन रात्रिके पिछले भागमें शरीर छोड़कर मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥५३-५६॥ उसी समय श्रेष्ठ देवोंके समूहने आकर पंचमकल्याणककी पूजा की, बड़े वैभवके साथ वन्दना की और तदनन्तर सब देव यथास्थान चले गये ॥५७॥

१ सहार्धेन सहस्रं तु क०, घ०। २ पिण्डिताः पण्डितास्त्रिंशत् ल०। ३ पुष्पदत्तादयः ल०। ४ –मूर्जितोदयाम् ल०। ५ यथातथम् ल०।

बोधश्चाखिलजं तमो व्यपहरद् ध्वनं जगद्वन्दितं,
वन्दे तन्मुनिसुव्रतस्य भगवन्सार्द्धं तवेन्द्रादिभिः ॥५८॥
कार्यं कारणतो गुणं च गुणिनो भेदं च सामान्यतो
वक्त्येकः पृथगेव कोऽप्यपृथगित्येकान्ततो न द्वयम्।
तत्सर्वं घटते तवैव नयसंयोगात्ततस्त्वं सता-
माप्तोऽभूर्मुनिसुव्रताय भगवंस्तुभ्यं नमः कुर्महे ॥५९॥
प्रागासीद्धरिवर्मनामनृपतिर्लब्ध्वा तपो बद्धवान्
नामान्त्यं बहुभावनः शुचिमतिर्यः प्राणतेन्द्रोऽभवत्
च्युत्वाऽस्मान्मुनिसुव्रतो हरिकुलव्योमामलेन्दुर्जिनो
भूत्वा भव्यकुमुद्वतीं व्यकचयल्लक्ष्मीं प्रदिश्यात्मनः ॥६०॥

तत्तीर्थ एव चक्रेशो हरिषेणसमाह्वयः। स [1]तृतीयभवेऽनन्तजिनतीर्थे नृपो महान् ॥६१॥
कृत्वा तपः समुत्कृष्टं कोऽपि केनापि हेतुना। सनत्कुमारकल्पेऽभूत्सुविशालविमानके ॥६२॥
षट्सागरोपमात्मायुर्भुक्त्वा भोगाननारतम्। ततः प्रच्युत्य तीर्थेऽस्मिन् राज्ये भोगपुरेशितुः ॥६३॥
प्रभोरिक्ष्वाकुवंशस्य पद्मनाभस्य भामिनी। [4]ऐरानयोः सुतो जातो हरिषेणः सुरोत्तमः ॥६४॥
समायुतमितात्मायुः [5]कनकच्छूरसच्छवि। चतुर्विंशतिमानाङ्गः [6]क्रमेणापूर्णयौवनः ॥६५॥
कदाचित्तेन गत्वामा पद्मनाभमहीपतिः [7]। जिनं मनोहरोद्याने ऽनन्तवीर्याभिधानकम् ॥६६॥
अभिवन्द्य ततः श्रुत्वा [8]तत्त्वं संसारमोक्षयोः। संत्यज्य [9]राजसीं वृत्तिं शमे स्थातुं समुत्सुकः ॥६७॥

हे प्रभो! आपके शरीरकी प्रभासे व्याप्त हुई यह सभा ऐसी जान पड़ती है मानो नील कमलोंका वन ही हो, हृदयगत अन्धकारको नष्ट करनेवाले आपके वचन सूर्यसे उत्पन्न दीप्तिको पराजित करते हैं, इसी तरह आपका ज्ञान भी संसारके समस्त पदार्थोंसे उत्पन्न हुए अज्ञानान्धकारको नष्ट करता है इसलिए हे भगवन् मुनिसुव्रतनाथ! जिसे इन्द्रादि देवोंके साथ-साथ सब संसार नमस्कार करता है मैं आपके उस ज्ञानरूपी सूर्यको सदा नमस्कार करता हूँ ॥५८॥ कोई तो कारणसे कार्यको, गुणीसे गुणको और सामान्यसे विशेषको पृथक् बतलाते हैं और कोई एक—अपृथक् बतलाते हैं ये दोनों ही कथन एकान्तवादसे हैं अतः घटित नहीं होते परन्तु आपके नयके संयोगसे दोनों ही ठीक-ठीक घटित हो जाते हैं इसीलिए हे भगवन्! सज्जनपुरुष आपको आप्त कहते हैं और इसीलिए हम सब आपको नमस्कार करते हैं ॥५९॥ जो पहले हरिवर्मा नामके राजा थे, फिर जिन्होंने तप कर तथा सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया, तदनन्तर समाधिमरणसे शरीर छोड़कर प्राणतेन्द्र हुए और वहाँसे आकर जिन्होंने हरिवंशरूपी आकाशके निर्मल चन्द्रमास्वरूप तीर्थंकर होकर भव्यजीवरूपी कुमुदिनियोंको विकसित किया वे श्री मुनिसुव्रतनाथ जिनेन्द्र हम सबके लिए अपनी लक्ष्मी प्रदान करें ॥६०॥

इन्हीं मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें हरिषेण नामका चक्रवर्ती हुआ। वह अपनेसे पूर्व तीसरे भवमें अनन्तनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें एक बड़ा भारी राजा था। वह किसी कारणसे उत्कृष्ट तप कर सनत्कुमार स्वर्गके सुविशाल नामक विमानमें छह सागरकी आयुवाला उत्तम देव हुआ। वहाँ निरन्तर भोगोंका उपभोग कर वहाँसे च्युत हुआ और श्रीमुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें भोगपुर नगरके स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा पद्मनाभकी रानी ऐराके हरिषेण नामका उत्तम पुत्र हुआ ॥६१-६४॥ दश हजार वर्षकी उसकी आयु थी, देदीप्यमान कनकच्छूरसके समान उसकी कान्ति थी, चौबीस धनुष ऊँचा शरीर था और क्रम-क्रमसे उसे पूर्ण यौवन प्राप्त हुआ था ॥६५॥ किसी एक दिन राजा पद्मनाभ हरिषेणके साथ-साथ मनोहर नामक उद्यान में गये हुए थे वहाँ अनन्तवीर्य नामक जिनेन्द्र

---

१ भूमिजो ल०। २ तृतीया ल०। ३ सुविशालविमानकः ल०। ४ ऐरा तयो. ल०। ५ कलकच्छूरस ल०। ६ क्रमेण ल०। ७ महामति ल०। ८ तत्त्वे क०, घ०, म०। ९ राजसां ल०।

राज्यभारं[1] समारोप्य सुते भूपतिभिः समम् । बहुभिः संयमं प्रापत् प्रेप्सुः परमं पदम् ॥६८॥
हरिषेणोऽप्युपादाय श्रावकव्रतमुत्तमम् । मुक्तेर्द्वितीयसोपानमिति मत्वाऽविशत् पुरम् ॥६९॥
तपस्यतश्चिरं घोरं पद्मनाभमहामुनेः । दीक्षावनेऽभूत् कैवल्यं प्रतिमायोगधारिणः ॥७०॥
आसंश्चक्रातपत्रासिदण्डरत्नानि तद्दिने । हरिषेणमहीशस्य तदैवायुधवेश्मनि ॥७१॥
श्रीगृहे काकिणीचर्ममणिरत्नानि चाभवन् । युगपत्तुष्टचित्तोऽसौ नत्वा तद्द्वयशंसिने ॥७२॥
दत्त्वा तुष्टिधनं प्रायाज्जिनपूजाविधित्सया । पूजयित्वाभिवन्द्यैनं जिनं प्रति निवर्त्य सः ॥७३॥
पुरं प्रविश्य चक्रस्य कृतपूजाविधिर्दिशः । जेतुं समुद्यतस्तस्य तदानीमभवत् पुरे ॥७४॥
पुरोहितो गृहपतिः स्थपतिश्च चमूपतिः । हस्त्यश्वकन्यारत्नानि खगाद्रेरानयन् खगाः ॥७५॥
नदीमुखेषु संभूतान्नवापि महतो निधीन् । आनिन्यिरे स्वयं भक्त्या[2] गणबद्धाभिधाः सुराः ॥७६॥
स तैः श्लाघ्यषडङ्गेन बलेन प्रस्थितो दिशः । जित्वा तत्साररत्नानि स्वीकृत्य विजिताखिलः ॥७७॥
स्वराजधान्यां संसेव्यः सुरभूपखगाधिपैः । दशाङ्गभोगान्निर्व्यग्रं निर्विशन् सुचिरं स्थितः ॥७८॥
कदाचित् कार्तिके मासे नन्दीश्वरदिनेष्वयम् । कृत्वाऽष्टसु महापूजां सोपवासोऽन्तिमे दिने ॥७९॥
हर्म्यपृष्ठे सभामध्ये शारदेन्दुरिवाम्बरे । भासमानः समालोक्य राहुग्रासीकृतं विधुम् ॥८०॥
धिगस्तु संसृतेर्भावं ज्योतिर्लोकैकनायकः । ग्रस्तस्तारापतिः कष्टं पूर्णः स्वैर्वेष्टितोऽप्ययम् ॥८१॥

की वन्दना कर उन्होंने उनसे संसार और मोक्षका स्वरूप सुना जिससे वे राजसी वृत्तिको छोड़कर शान्त वृत्तिमें स्थित होनेके लिए उत्सुक हो गये ॥६६–६७॥ परमपद मोक्ष प्राप्त करनेके इच्छुक राजा पद्मनाभने राज्यका भार पुत्रके लिए सौंपा और बहुत-से राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥६८॥ 'यह मोक्ष-महलकी दूसरी सीढ़ी है' ऐसा मानकर हरिषेणने भी श्रावकके उत्तम व्रत धारण कर नगरमें प्रवेश किया ॥६९॥ इधर चिर काल तक घोर तपश्चरण करते हुए पद्मनाभ मुनिराजने दीक्षावनमें ही प्रतिमायोग धारण किया और वहीं उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ॥७०॥ उसी दिन राजा हरिषेणकी आयुधशालामें चक्र, छत्र, खड्ग और दण्ड ये चार रत्न प्रकट हुए तथा श्रीगृहमें काकिणी, चर्म और मणि ये तीन प्रकट हुए । समाचार देनेवालोंने दोनों समाचार एक साथ सुनाये इसलिए हरिषेणका चित्त बहुत ही सन्तुष्ट हुआ । वह समाचार सुनानेवालोंके लिए बहुत-सा पुरस्कार देकर जिन-पूजा करनेकी इच्छासे निकला और जिनेन्द्र भगवान्‌की वन्दना कर वहाँसे वापस लौट नगरमें प्रविष्ट हुआ । वहाँ चक्ररत्नकी पूजा कर वह दिग्विजय करनेके लिए उद्यत हुआ ही था कि उसी समय उसी नगरमें पुरोहित, गृहपति, स्थपति और सेनापति ये चार रत्न प्रकट हुए तथा विद्याधर लोग विजयार्ध पर्वतसे हाथी, घोड़ा और कन्यारत्न ले आये ॥७१–७५॥ गणबद्ध नामके देव नदीमुखों–नदियोंके गिरनेके स्थानोंमें उत्पन्न हुई नौ बड़ी-बड़ी निधियाँ भक्तिपूर्वक स्वयं ले आये ॥७६॥ उसने छह प्रकारकी प्रशंसनीय सेनाके साथ प्रस्थान किया, दिशाओंको जीतकर उनके सारभूत रत्न ग्रहण किये, सबपर विजय प्राप्त की और अन्तमें देव, मनुष्य तथा विद्याधर राजाओंके द्वारा सेवित होते हुए उसने अपनी राजधानीमें प्रवेश किया । वहाँ वह दश प्रकारके भोगोंका निराकुलतासे उपभोग करता हुआ चिर काल तक स्थित रहा ॥७७-७८॥

किसी एक समय कार्तिक मासके नन्दीश्वर पर्वसम्बन्धी आठ दिनोंमें उसने महापूजा की और अन्तिम दिन उपवासका नियम लेकर वह महलकी छतपर सभाके बीचमें बैठा था और ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो आकाशमें शरद् ऋतुका चन्द्रमा सुशोभित हो । वहीं बैठे-बैठे उसने देखा कि चन्द्रमाको राहुने ग्रस लिया है ॥७९–८०॥ यह देख वह विचार करने लगा कि संसारकी इस अवस्थाको धिक्कार हो । देखो, यह चन्द्रमा ज्योतिर्लोकका मुख्य नायक है, पूर्ण है और अपने परिवारसे घिरा हुआ है फिर भी राहुने इसे ग्रस लिया । जब इसकी यह दशा है तब जिसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसा समय आनेपर दूसरोंकी क्या दशा होती होगी ।

---

१ राजभारं क०, घ० । २ महाभक्त्या म०, ल० ।

अत्र का गतिरन्येषां प्राप्ते कालेऽविलङ्घिनि । विधौ विलसतीत्याप्तनिर्वेदो भरताधिपः ॥८२॥
अनुप्रेक्षास्वरूपाख्या मुखेन स्वसभास्थितान् । धर्मसारं निरूप्याशु कृत्वा तत्त्वार्थवेदिनः ॥८३॥
दत्त्वा राज्यं सतां पूज्यो महासेनाय सूनवे । तत्प्रार्थितेन संतर्प्य दीनानाथवनीपकान् ॥८४॥
श्रीनागजिनमासाद्य सीमन्ताचलसुस्थितम् । यथोक्तविधिना त्यक्त्वा सङ्गं व्यक्तमनङ्गजित् ॥८५॥
[1]बहुभिः सह संप्राप्य संयमं शमसाधनम् । क्रमेण [2]प्राप्तबह्वर्द्धिरायुरन्ते चतुर्विधाम् ॥८६॥
आराधनां समाराध्य प्रायोपगमनं श्रितः । क्षीणपापः कृपामूर्तिरापान्तिममनुत्तरम् ॥८७॥

भूपः कोऽपि पुरा श्रिया श्रितवपुः पापोपलेपाद् भृशं
विभ्यत्प्राप्य तपो भवस्य शरणं मत्वा तृतीयेऽभवत् ।
कल्पेऽन्ते भुवमेत्य चक्रिपदवीं संप्राप्य भुक्त्वा सुखं
स श्रीमान् हरिषेणराजवृषभः सर्वार्थसिद्धिं ययौ ॥८८॥

तीर्थेऽस्मिन्नेव संभूतावष्टमौ रामकेशवौ । रामलक्ष्मणनामानौ तत्पुराणं निगद्यते ॥८९॥
इहैव भारते क्षेत्रे राष्ट्रे मलयनामनि । प्रजापतिमहाराजोऽजनि रत्नपुराधिपः ॥९०॥
[3]सुक् तस्य गुणकान्तायां चन्द्रचूलसमाह्वयः । विजयाख्येन तस्यासीत्परंप्रीतिर्मन्त्रिसूनुना ॥९१॥
पितृसल्लालितौ बालौ कुलादिमदचोदितौ । अभूतां दुष्टचारित्रौ दन्तिनौ वा निवर्तिनौ ॥९२॥
अन्येद्युस्तत्पुरे गौतमा-वैश्रवणसंभव- । श्रीदत्ताख्याय मुख्याय कुबेरेणात्मजां सतीम् ॥९३॥
दीयमानां समालोक्य पाण्यम्भःसेकपूर्वकम् । कुबेरदत्तां केनापि महापापविधायिना ॥९४॥

इस प्रकार चन्द्रग्रहण देखकर चक्रवर्ती हरिषेणको वैराग्य उत्पन्न हो गया । उसने अनुप्रेक्षाओंके स्वरूपका वर्णन करते हुए अपनी सभामें स्थित लोगोंको श्रेष्ठ धर्मका स्वरूप बतलाया और शीघ्र ही उन्हें तत्त्वार्थका ज्ञाता बना दिया ॥८१-८३॥ सत्पुरुषोंके द्वारा पूजनीय हरिषेणने अपने महासेन नामक पुत्रके लिए राज्य दिया, मनोवाञ्छित पदार्थ देकर दीन अनाथ तथा याचकोंको सन्तुष्ट किया। तदनन्तर कामको जीतनेवाले उसने सीमन्त पर्वतपर स्थित श्रीनाग नामक मुनिराजके पास जाकर विविध प्रकारके परिग्रहका विधिपूर्वक त्याग कर दिया । उसने अनेक राजाओंके साथ शान्ति प्राप्त करनेका साधनभूत संयम धारण कर लिया, क्रम-क्रमसे अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त कीं और आयुके अन्तमें चार प्रकारकी आराधनाएँ आराध कर प्रायोपगमन नामक संन्यास धारण कर लिया। जिसके समस्त पाप क्षीण हो गये हैं तथा जो दयाकी मूर्तिस्वरूप है ऐसा वह चक्रवर्ती अन्तिम अनुत्तर विमान—सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न हुआ ॥८४-८७॥ श्रीमान् हरिषेण चक्रवर्तीका जीव पहले जिसका शरीर राजलक्ष्मीसे आलिंगित था ऐसा कोई राजा था, फिर पापसे अत्यन्त भयभीत हो उसने संसारका शरण मानकर तप धारण कर लिया जिससे तृतीय स्वर्गमें देव हुआ, फिर आयुके अन्तमें वहाँसे पृथिवीपर आकर हरिषेण चक्रवर्ती हुआ और सुख भोगकर सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ ॥८८॥

अथानन्तर—इन्हीं मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें राम और लक्ष्मण नामके आठवें बलभद्र और नारायण हुए हैं इसलिए यहाँ उनका पुराण कहा जाता है ॥८९॥ उसी भरतक्षेत्रके मलय नामक राष्ट्रमें रत्नपुर नामका एक नगर है। उसमें प्रजापति महाराज राज्य करते थे ॥९०॥ उनकी गुणकान्ता नामकी स्त्रीसे चन्द्रचूल नामका पुत्र हुआ था। उन्हीं प्रजापति महाराजके मन्त्रीका एक विजय नामका पुत्र था। चन्द्रचूल और विजयमें बहुत भारी स्नेह था। ये दोनों ही पुत्र अपने-अपने पिताओंको अत्यन्त प्रिय थे, बड़े लाड़से इनका लालन-पालन होता था और कुल आदिका घमण्ड सदा उन्हें प्रेरित करता रहता था इसलिए वे दुर्दान्त हाथियोंके समान दुराचारी हो गये थे ॥९१-९२॥ किसी एक दिन उसी नगरमें रहनेवाला कुबेर सेठ, उसी नगरमें रहनेवाले वैश्रवण सेठकी गौतमा स्त्रीसे उत्पन्न श्रीदत्त नामक श्रेष्ठ पुत्रके लिए हाथमें जलधारा छोड़ता हुआ अपनी कुबेरदत्ता नामकी

---

१ बाहुभिः ख० । २ प्राप्तसर्प्यर्द्धि म० । ३ ‘सुतस्य’ ल० ।

तस्याः स्वानुचरेणोक्तां श्रुत्वा रूपादिसंपदम् । कुमारे तां स्वसात्कर्तुं सह मित्रे समुद्यते ॥९५॥
वणिक्संघसमाक्रोशध्वनिमाकर्ण्य भूपतिः । स्वतनूजदुराचारदारूद्यत्कोपपावकः ॥९६॥
पुररक्षकमाहूय दुरात्मानं कुमारकम् । लोकान्तरातिथिं सद्यो विधेहीति समादिशत् ॥९७॥
तदैव सोऽपि राजाज्ञाचोदितस्तमुकाङ्कये । जीवग्राहं गृहीत्वैनमानयन्निकटं विभोः ॥९८॥
तदालोक्य किमित्येष पापीहानीयते द्रुतम् । निशातशूलमारोप्य श्मशाने स्थाप्यतामिति ॥९९॥
राज्ञोक्ते प्रस्थितो हन्तुं कुमारं पुररक्षकः । न्यायानुवर्तिनां[1] युक्तं न हि स्नेहानुवर्तनम् ॥१००॥
तदामात्योत्तमः पौरान्पुरस्कृत्य महीपतिम् । व्यजिज्ञपदिति व्यक्तमुत्क्षिप्तकरकुड्मलः ॥१०१॥
कृत्याकृत्यविवेकोऽस्य[2] न बाल्यादेव विद्यते । प्रमादोऽस्माकमेवायं विनेयाः पितृभिः सुताः ॥१०२॥
न दान्तोऽयं नृभिर्दन्ती शैशवे चेद् यथोचितम् । प्राप्तैश्वर्यो न किं कुर्यादसौ दर्पग्रहाहितः ॥१०३॥
न बुद्धिमान् न दुर्बुद्धिर्न वधं दण्डमर्हति । आहार्यबुद्धिरेषोऽतः शिक्षणीयोऽधुनाप्ययम् ॥१०४॥
न कोपोऽस्मिंस्तवास्त्येव[3] न्यायमार्गे निनीषया । निगृह्णास्येक एवायं राज्यसंततिसंवृतौ[4] ॥१०५॥
अन्यत्संधित्सतोऽत्रान्यत्प्रच्युतं तदिति श्रुतिः । सा तवाद्य समायाति संतानोच्छेदकारिणः ॥१०६॥
एतत्फूत्कारतो ज्येष्ठं तनूजमवधीन्नृपः । इत्यवाच्यभयग्रस्ताः पौराश्चैते पुरःस्थिताः ॥१०७॥
तत्क्षमस्वापराधं मे महाप्रार्थितोऽस्यमुम् । एतन्मन्त्रिवचः श्रुत्वा विरूपकमुदीरितम् ॥१०८॥

पुत्री दे रहा था। उसी समय महापापके करनेवाले किसी अनुचरने राजकुमार चन्द्रचूलसे कुबेरदत्ताके रूप आदिकी प्रशंसा की। उसे सुनकर वह अपने मित्र विजयके साथ उस कन्याको बलपूर्वक अपने अधीन करनेके लिए तत्पर हो गया ॥९३-९५॥ यह देख, वैश्योंका समूह चिल्लाता हुआ महाराजके पास गया। उसके रोने-चिल्लानेका शब्द सुनते ही महाराजकी क्रोधाग्नि अपने पुत्रके दुराचाररूपी ईन्धनसे अत्यन्त भड़क उठी। उन्होंने नगरके रक्षकको बुलाकर आज्ञा दी कि इस दुराचारी कुमारको शीघ्र ही लोकान्तरका अतिथि बना दो—मार डालो ॥९६-९७॥ उसी समय राजाज्ञासे प्रेरित हुआ नगररक्षक बहुत भारी भीड़में-से इस राजकुमारको जीवित पकड़कर महाराजके समीप ले आया ॥९८॥ यह देख राजाने विचार किया कि इस पापीको शीघ्र ही किस प्रकार मारा जाये ? कुछ देर तक विचार करनेके बाद उन्होंने नगररक्षकको आदेश दिया कि इसे श्मशानमें ले जाकर पैनी शूलीपर चढ़ा दो ॥९९॥ राजाके कहते ही नगररक्षक कुमारको मारनेके लिए चल दिया। सो ठीक ही है क्योंकि न्यायके अनुसार चलनेवाले पुरुषोंको स्नेहका अनुसरण करना उचित नहीं है ॥१००॥ इधर यह हाल देख प्रधान मन्त्री नगरवासियोंको आगे कर राजाके समीप गया और हस्तरूपी कमल ऊपर उठाकर इस प्रकार निवेदन करने लगा ॥१०१॥ हे देव ! इसे कार्य और अकार्यका विवेक बाल्य-अवस्थासे ही नहीं है, यह हम लोगोंका ही प्रमाद है क्योंकि माता-पिताके द्वारा ही बालक सुशिक्षित और सदाचारी बनाये जाते हैं ॥१०२॥ यदि हाथीको बाल्यावस्थामें यथायोग्य रीतिसे वशमें नहीं किया जाता तो फिर वह मनुष्योंके द्वारा वशमें नहीं किया जा सकता; यही हाल बालकोंका है। यदि ये बाल्यावस्थामें वश नहीं किये जाते हैं तो वे आगे चलकर ऐश्वर्य प्राप्त होनेपर अभिमानरूपी ग्रहसे आक्रान्त हो क्या कर गुजरेंगे इसका ठिकाना नहीं ॥१०३॥ यह कुमार न तो बुद्धिमान् है और न दुर्बुद्धि ही है इसलिए प्राणदण्ड देनेके योग्य नहीं है। अभी यह आहार्य बुद्धि है—इसकी बुद्धि बदली जा सकती है अतः इस समय इसे अच्छी तरह शिक्षा देना चाहिए ॥१०४॥ कुमारपर आपका कोप तो है नहीं, आप तो न्यायमार्गपर ले जानेके लिए ही इसे दण्ड देना चाहते हैं परन्तु आपको इस बातका भी ध्यान रखना चाहिए कि राज्यकी सन्तति धारण करनेके लिए यह एक ही है—आपका यही एक मात्र पुत्र है ॥१०५॥ यदि आप इस एक ही सन्तानको नष्ट कर देंगे तो 'कुछ करना चाहते थे और कुछ हो गया' यह लोकोक्ति आज ही आपके शिर आ पड़ेगी ॥१०६॥ दूसरी बात यह है कि इन लोगोंके रोने-चिल्लानेसे महाराजने अपने बड़े पुत्रको मार डाला इस निन्दाके भयसे ग्रस्त हुए ये सभी नगरवासी आपके

---

१. वर्तिनम् ल० । २ विवेकश्च ल० । ३ तथास्त्येव म०, ल० । ४ संधृतौ ख०, ग० । संततौ ल० ।

अविज्ञैरिव शास्त्रार्थं भवद्भिः श्रुतपारगैः। दुष्टानां निग्रहः शिष्टपालनं भूभुजां मतम् ॥१०९॥
नीतिशास्त्रेषु तत्स्नेहमोहासक्तिभयादिभिः। अस्माभिर्लङ्घिते न्याये भवन्तस्तस्य वर्तकाः ॥११०॥
तस्मादयुक्तं युष्माकं मां योजयितुमुत्पथे। दुष्टो दक्षिणहस्तोऽपि स्वस्य छेद्यो महीभुजा ॥१११॥
कृत्याकृत्यविवेकातिदूरो मूढो महीभुजः (?)। स सांख्यपुरुषस्तेन कृत्यं [1]नात्रापरत्र च ॥११२॥
तस्मान्न प्रतिषेध्योऽहमिति राज्ञाभिभाषिते। पौरास्तदैव जानाति देव एवेत्ययुर्भयात ॥११३॥
सुते निःस्निग्धतां भर्तुर्जानन् देवाहमेव तम्। दण्डयिष्यामि मत्वेति निर्गम्य[2] तदनुज्ञया ॥११४॥
प्राप्य स्वराज्यपुत्राभ्यां वनगिर्यद्रिमब्रवीत्। हे कुमार तवावश्यं मरणं समुपस्थितम् ॥११५॥
विभीः शक्नोषि किं [3]मर्तुमित्यवादीत्स चेदृशम्। बिभेमि चेदहं मृत्योः किमित्येतदनुष्ठितम् ॥११६॥
सलिलं वा तृषार्तस्य शीतलं मरणं मम। तत्र का भीरिति व्यक्तं तदुक्तमवबुध्य सः ॥११७॥
नागरेभ्यो महीभर्त्रे कुमारायात्मनेऽपि च। लोकद्वयहितं कार्यं निश्चित्य सचिवाग्रणीः ॥११८॥
तदद्रिमस्तकं गत्वा महाबलगणेशिनम्। अभिवन्द्य [4]निजायातकार्यं चास्मै न्यवेदयत् ॥११९॥
मनःपर्ययसंज्ञानचक्षुः स गणनायकः। मा भैषीर्द्वाविमौ रामकेशवाविह भाविनौ ॥१२०॥
तृतीयजन्मनीत्याह तच्छ्रुत्वा सचिवो मुदा। तौ तत्रानीय संश्राव्य धर्मं संयममापयत्[5] ॥१२१॥
ततो भूपतिमासाद्य मन्त्रीतीदमबोधयत्। वारणारेरिवाभीरोरेकस्य गुहाश्रित. ॥१२२॥

सामने खड़े हुए हैं ॥१०७॥ इसलिए हे महाराज! हम प्रार्थना करते हैं कि हम लोगोंका यह अपराध क्षमा कर दिया जाय। मन्त्रीके यह वचन सुनकर राजाने कहा कि आपका कहना ठीक नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि आप लोग शास्त्रके पारगामी होकर भी उसका अर्थ नहीं जानते हैं। दुष्टोंका निग्रह करना और सज्जनोंका पालन करना यह राजाओंका धर्म, नीतिशास्त्रोंमें बतलाया गया है। स्नेह, मोह, आसक्ति तथा भय आदि कारणोंसे यदि हम ही इस नीतिमार्गका उल्लंघन करते हैं तो आप लोग उसकी प्रवृत्ति करने लग जावेंगे। इसलिए आप लोगोंका मुझे उन्मार्गमें लगाना अच्छा नहीं है। यदि अपना दाहिना हाथ भी दुष्ट–दोषपूर्ण हो जाय तो राजाको उसे भी काट डालना चाहिए। जो मूर्ख राजा करने योग्य और नहीं करने योग्य कार्योंके विवेकसे दूर रहता है वह सांख्यमतमें माने हुए पुरुषके समान है। उससे इस लोक और परलोकसम्बन्धी कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता ॥१०८-११२॥ इसलिए इस कार्यमें मुझे रोकना ठीक नहीं है। महाराजके इस प्रकार कहनेपर लोगोंने समझा कि महाराज सब बात स्वयं जानते हैं ऐसा समझ सब लोग भयसे अपने-अपने घर चले गये ॥११३॥ पुत्रपर महाराजका प्रेम नहीं है ऐसा जानते हुए मन्त्रीने राजासे कहा कि हे देव! मैं इसे दण्ड स्वयं दूँगा। इस प्रकार राजाकी आज्ञा लेकर मन्त्री भी चला गया ॥११४॥ वह अपने पुत्र और राजपुत्रको साथ लेकर वनगिरि नामके पर्वतपर गया और वहाँ जाकर कुमारसे कहने लगा कि हे कुमार, अब अवश्य ही आपका मरण समीप आ गया है, क्या आप निर्भय हो मरनेके लिए तैयार हैं? उत्तरमें राजकुमारने कहा कि यदि मैं मृत्युसे इस प्रकार डरता तो ऐसा कार्य ही क्यों करता। जिस प्रकार प्याससे पीडित मनुष्यके लिए ठण्डा पानी अच्छा लगता है उसी प्रकार मुझे मरण अच्छा लग रहा है इसमें भयकी कौन-सी बात है? इस तरह कुमारकी बात सुनकर मुख्य मन्त्रीने महाराज, राजकुमार और स्वयं अपने दोनों लोकोंका हित करनेवाला कोई कार्य करनेका निश्चय किया ॥११५-११८॥ तदनन्तर मन्त्रीने उसी पर्वतके शिखरपर जाकर महाबल नामके गणधरकी वन्दना की और उन्हें अपने आनेका सब कार्य भी निवेदन किया ॥११९॥ मनःपर्यय ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले उन गणधर महाराजने कहा कि तुम भयभीत मत हो, ये दोनों ही तीसरे भवमें इस भरतक्षेत्रके नारायण और बलभद्र होनेवाले हैं ॥१२०॥ यह सुनकर मन्त्री उन्हें बड़ी प्रसन्नतासे घर ले आया और धर्म श्रवण कराकर उसने उन दोनोंको संयम धारण करा दिया ॥१२१॥ तदनन्तर वह मन्त्री राजाके समीप आया और यह

[1] नात्रापरत्र च ख०। [2] निर्गत्य ख०। [3] मिवावादीत् ल०। [4] निजायात –क०, घ०। [5] –मापयन् क०, घ०,।

अनादृतस्वसौख्यस्य कस्यचिद् वनवासिनः । स्वकार्येऽत्यतितीव्रस्य जनस्यात्युग्रचेष्टितुः ॥१२३॥
तावर्पितौ मया सोऽपि [1]तावाह कृतदोषयोः । भवतोर्न सुखं स्मार्यं दुःखं भोग्यं सुदुष्करम् ॥१२४॥
स्मर्तव्या देवता चित्ते परलोकनिमित्ततः । इत्येतत्तौ च भद्र त्वं मा कृथाः कष्टदण्डनम् ॥१२५॥
आवाभ्यामावयोः कार्यमित्यात्मकरभावितम् । वेदनां तीव्रमापाद्य परलोकोन्मुखावुभौ ॥१२६॥
अभूतां तद्विलोक्याहमभिप्रेतार्थनिष्ठितम्[2] । [3]सुविधायागतो देव सिद्धं भवदुदीरितम् ॥१२७॥
श्रुत्वा तद्वचनं राजा महादुःखाकुलो मनाक् । निवातस्तिमितक्ष्माजसमानो निश्चलं स्थितः ॥१२८॥
आत्मना मन्त्रिभिर्बन्धुजनैश्चालोच्य निश्चितम् । कार्यं हितमनुष्ठेयं तत्प्राग्नानुष्ठितं त्वया ॥१२९॥
करजालमतिक्रान्तमिव सर्पिमहीरुहे । प्रसूनमिव संशुष्कं कार्यं कालातिपातितम् ॥१३०॥
तत्र शोको न कर्तव्यो वृथेति सचिवोदितम् । श्रुत्वा तद्वचनं ब्रूहि तर्के तद्वृत्तकं कथम् ॥१३१॥
इत्यप्राक्षीत्ततोऽस्याभिप्रायवित्सचिवोऽवदत् । यतयो वनगिर्यग्रिगुहागहनवासिनः ॥१३२॥
धैर्यासिधारानिर्भिन्नकषायविषयद्विषः । स्थूलसूक्ष्मासुभृद्रक्षानितान्तोद्यतवृत्तयः ॥१३३॥
भिया भियेव कोपेन कोपेनेवाजिताशयाः । असंयतेषु भोगोपभोगेष्विव निरादराः ॥१३४॥
तेभ्यस्तौ धर्मसद्भावं श्रुत्वा निर्विद्य दीक्षितौ । इति विस्पष्टतद्वाक्यात् परितुष्टो महीपतिः ॥१३५॥
लोकद्वयहितो नान्यस्त्वमेवेत्यभिनन्द्य तम् । कुपुत्र इव भोगोऽयं [4]पापापवादकारणम् ॥१३६॥

कहने लगा कि कोई एक वनवासी गुहामें रहता था, वह सिंहके समान निर्भय था, उसने अपने सुखोंका अनादर कर दिया था, वह अपने कार्योंमें अत्यन्त तीव्र था और उग्र चेष्टाका धारक था। मैंने वे दोनों ही कुमार उसके लिए सौंप दिये। उस गुहावासीने भी उनसे कहा कि आप दोनोंने बहुत भारी दोष किया है अतः अब आप लोग सुखका स्मरण न करें, अब तो आपको कठिन दुःख भोगना पड़ेगा। परलोकके निमित्त हृदयमें इष्ट देवताका स्मरण करना चाहिए। यह सुनकर उन दोनोंने मुझसे कहा कि 'हे भद्र! आप हम दोनोंके लिए कष्टकर दण्ड न दीजिए, यह कार्य तो हम दोनों स्वयं कर रहे हैं अर्थात् स्वयं ही दण्ड लेनेके लिए तत्पर हैं। यह कह वे दोनों अपने हाथसे उत्पादित तीव्र वेदना प्राप्त कर परलोकके लिए तैयार हो गये। यह देख मैं इष्ट अर्थकी पूर्ति कर वापस चला आया हूँ। हे राजन्! इस तरह आपका अभिप्राय सिद्ध हो गया ॥१२२-१२७॥ मन्त्रीके वचन सुनकर राजा महादुःखसे व्यग्र हो गया और कुछ देर तक हवारहित स्थानमें निष्पन्द खड़े हुए वृक्षके समान निश्चल बैठा रहा ॥१२८॥ तदनन्तर राजाने अपने आप, मन्त्रियों तथा बन्धुजनोंके साथ निश्चय किया और तत्पश्चात् मन्त्रीसे कहा कि तुम्हें सदा हितकारी कार्य करना चाहिए, आज जो तुमने कार्य किया है वह पहले कभी भी तुम्हारे द्वारा नहीं किया गया ॥१२९॥ मन्त्रीने कहा कि जिस प्रकार जो किरणोंका समूह अतीत हो चुकता है और जो फूल साँपवाले वृक्षपर लगा-लगा सूख जाता है, उसके विषयमें शोक करना उचित नहीं होता है उसी प्रकार यह कार्य भी अब कालातिपाती—अतीत हो चुका है अतः अब आपको इस विषयमें शोक नहीं करना चाहिए। मन्त्रीके वचन सुनकर राजाने पूछा कि यथार्थ बात क्या है? तदनन्तर राजाका अभिप्राय जाननेवाला मन्त्री बोला कि वनगिरि पर्वतकी गुफाओं और सघन वनोंमें बहुत-से यति-मुनि रहते हैं। उन्होंने अपने धैर्यरूपी तलवारकी धारासे कषाय और विषयरूपी शत्रुओंको जीत लिया है, क्या स्थूल क्या सूक्ष्म—सभी जीवोंकी रक्षा करनेमें वे निरन्तर तत्पर रहते हैं। भय मानो भयसे ही और क्रोध मानो क्रोधके कारण ही उनके हृदयको नहीं जीत सका है। वे भोग-उपभोगके पदार्थोंमें असंयमियोंके समान सदा निरादर करते रहते हैं। वे दोनों ही कुमार उन यतियोंसे धर्मका सद्भाव सुनकर विरक्त हो दीक्षित हो गये हैं। इस प्रकार मन्त्रीके स्पष्ट वचन सुनकर राजा बहुत ही सन्तुष्ट हुआ ॥१३०-१३५॥ 'दोनों लोकोंका हित करनेवाला तू ही है' इस प्रकार मन्त्रीकी प्रशंसा कर राजाने विचार किया कि ये भोग कुपुत्रके समान पाप और निन्दाके कारण हैं।

---

१ तवाह ल० । २ निष्ठितौ ल० । ३ सुविधाय यातो ल० । ४ पापालापापकारणम् क०, घ०, ।

इति स्वकुलयोग्याय दत्तराज्यमहाभरः । गत्वा गणेशमभ्यर्च्य वनाद्रौ नवसंयतौ ॥१३७॥
मया कृतो महान् दोषस्तं क्षमेथां युवामिति । निगदन्नावयोर्लोकद्वितयैकगुरुर्भवान् ॥१३८॥
संयमोऽयं त्वयैवापि ताभ्यां संप्राप्य संस्तवम् । बहुभिर्भूभुजै.(?)[1] सार्द्धं त्यक्तसङ्गः स संयमम् ॥१३९॥
प्राप्य क्रमेण ध्वस्तारिर्घातिकर्मविघातकृत् । केवलावगमज्योतिर्लोकाग्रे व्यद्युतत्तराम् ॥१४०॥
तौ समुत्कृष्टचारित्रौ द्वौ खड्गपुरबाह्यगौ । आतापयोगमादाय तस्थतुस्त्यक्तविग्रहौ ॥१४१॥
तत्पुराधिपसोमप्रभाह्वयस्य सुदर्शना । सीता च देव्यौ तत्सूनुः सुप्रभः सुप्रभाङ्गधृत् ॥१४२॥
पुरुषोत्तमनामा च गुणैश्च पुरुषोत्तमः । मधुसूदनमुच्छिद्य कृतदिग्जयपूर्वकम् ॥१४३॥
नृखेचरसुराधीशप्रवर्द्धितमहोदयम् । प्रविशन्तं प्रभावन्तं नगरं पुरुषोत्तमम् ॥१४४॥
चन्द्रचूलमुनिर्दृष्ट्वा निदानमकृताज्ञकः । जीवनान्तेऽसितौ सम्यगाराध्योभौ चतुर्विधम्[2] ॥१४५॥
सनत्कुमारकल्पस्य विमाने कनकप्रभे । विजयः स्वर्णचूलेऽन्यो मणिचूलो मणिप्रभे ॥१४६॥
जातवन्तौ तदुत्कृष्टसागरोपमितायुषौ । सुचिरं भुक्तसंभोगौ ततश्च्युत्वेह भारते ॥१४७॥
वाराणसीपुराधीशो राज्ञो दशरथश्रुतेः । सुतः सुबालासंज्ञायां शुभस्वप्नपुरस्सरम् ॥१४८॥
कृष्णपक्षे त्रयोदश्यां फाल्गुने मास्यजायत । मघायां हलभृद्भावी चूलान्तकनकामरः ॥१४९॥
त्रयोदशसहस्राब्दो रामनामानताखिलः । तत एव महीभर्तुः कैकेय्यामभवत्पुरः ॥१५०॥
सरःसूर्येन्दुकलमक्षेत्रसिंहान् महाफलान् । स्वप्नान् संदर्श्य माघस्य शुक्लपक्षादिमे दिने ॥१५१॥

ऐसा विचार कर उसने अपने कुलके योग्य किसी पुत्रको राज्यका महान् भार सौंप दिया और वनगिरि नामक पर्वतपर जाकर गणधर भगवान्की पूजा की। वहींपर नवदीक्षित राजकुमार तथा मन्त्रि-पुत्रको देखकर उसने कहा कि मैंने जो बड़ा भारी अपराध किया है उसे आप दोनों क्षमा कीजिए। राजाके वचन सुनकर नवदीक्षित मुनियोंने कहा कि आप ही हमारे दोनों लोकोंके गुरु हैं, यह संयम आपने ही प्रदान कराया है। इस प्रकार उन दोनोंसे प्रशंसा पाकर राजाने सब परिग्रहका त्याग कर अनेक राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया ॥१३६–१३९॥ क्रम-क्रमसे मोह कर्मका विध्वंस कर अवशिष्ट घातिया कर्मोंका नाश किया और केवलज्ञानरूपी ज्योतिको प्राप्त कर वे लोकके अग्रभागमें देदीप्यमान होने लगे ॥१४०॥

इधर उत्कृष्ट चारित्रका पालन करते हुए वे दोनों ही कुमार आतापन योग लेकर तथा शरीरसे ममत्व छोड़कर खड्गपुर नामक नगरके बाहर स्थित थे ॥१४१॥ उस समय खड्गपुर नगरके राजाका नाम सोमप्रभ था। उसके सुदर्शना और सीता नामकी दो स्त्रियाँ थीं। उन दोनोंके उत्तम कान्तिवाले शरीरको धारण करनेवाला सुप्रभ और गुणोंके द्वारा पुरुषोंमें श्रेष्ठ पुरुषोत्तम इस प्रकार दो पुत्र थे। इनमें पुरुषोत्तम नारायण था वह दिग्विजयके द्वारा मधुसूदन नामक प्रतिनारायणको नष्ट कर नगरमें प्रवेश कर रहा था। मनुष्य, विद्याधर और देवेन्द्र उसके ऐश्वर्यको बढ़ा रहे थे, उसका शरीर भी प्रभापूर्ण था ॥१४२–१४४॥ नगरमें प्रवेश करते देख अज्ञानी चन्द्रचूल मुनि (राजकुमारका जीव) निदान कर बैठा। अन्तमें जीवन समाप्त होनेपर दोनों मुनियोंने चार प्रकारकी आराधना की, चार प्रकारके आहारका त्याग किया। उनमें-से एक तो सनत्कुमार स्वर्गके कनकप्रभ नामक विमानमें विजय नामक देव और दूसरा मणिप्रभ विमानमें मणिचूल नामका देव हुआ। वहाँ उनकी उत्कृष्ट आयु एक सागर प्रमाण थी। चिरकाल तक वहाँ के सुख भोगकर वे वहाँसे च्युत हुए ॥१४५–१४७॥

अथानन्तर इसी भरतक्षेत्रके बनारस नगरमें राजा दशरथ राज्य करते थे। उनकी सुबाला नामकी रानी थी। उसने शुभ स्वप्न देखे और उसीके गर्भसे फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशीके दिन मघा नक्षत्रमें सुवर्णचूल नामका देव जो कि मन्त्रीके पुत्रका जीव था, होनहार बलभद्र हुआ। उसकी तेरह हजार वर्षकी आयु थी, राम नाम था, और उसने सब लोगोंको नम्रीभूत कर रखा था। उन्हीं राजा दशरथकी एक दूसरी रानी कैकेयी थी। उसने सरोवर, सूर्य, चन्द्रमा, धानका खेत

---

१ भूभुजाम् क०। भूभुग्भिर्बहुभिः इति पाठः सुष्ठु भाति। २ चतुर्विधाम् क०, घ०।

विशाखर्क्षे स चक्राङ्को मणिचूलोऽमृताशनः । षड्गुणद्विसहस्राब्दजीवितो लक्ष्मणाह्वयः ॥१५२॥
तौ पञ्चदशचापोच्चौ[1] द्वात्रिंशल्लक्षणान्वितौ । आदिसंहननौ संस्थानं चाभूदादिमं तयोः ॥१५३॥
अमेयवीर्यौ हंसांशनीलोत्पलसमत्विषौ । तयोः सपञ्चपञ्चाशत्-पञ्चाशद्वर्षसंमिते ॥१५४॥
कुमारकाले निष्क्रान्ते [2]नितान्तपरमोदये । भारतेऽस्मिन्नयोध्यायां [3]भरतादिमहीशिनुः ॥१५५॥
गतेष्विक्ष्वाकुमुख्येषु संख्यातीतेष्वनन्तरम् । हरिषेणमहाराजे दशमे चक्रवर्तिनि ॥१५६॥
सर्वार्थसिद्धामुत्पन्ने संवत्सरसहस्रके । काले गलति प्राभूत् सगराख्यो महीपतिः ॥१५७॥
निःखण्डमण्डलश्चण्डः सुलसायाः स्वयंवरे । मधुपिङ्गलनामानं कुमारवरमागतम् ॥१५८॥
दुष्टलक्ष्मायमित्युक्त्वा निरास्थ[4]न्नृपमध्यगम् । सगरे बद्धवैरः सन् निष्क्रम्य मधुपिङ्गलः ॥१५९॥
सलज्जः संयमी भूत्वा महाकालासुरोऽभवत् । सोऽसुरः सगराधीशवंशनिर्मूलनोद्यतः ॥१६०॥
द्विजवेषं समादाय संप्राप्य सगराह्वयम् । [5]अथर्ववेदविहितं प्राणिहिंसापरायणम् ॥१६१॥
कुरु यागं श्रियो वृद्ध्यै शत्रुविच्छेदनेच्छया । इति तं दुर्मतिं भूपं[6] पापाभीरुर्व्यमोहयत् ॥१६२॥
अनुष्ठाय तथा सोऽपि प्राविशत्पापिनां क्षितिम् । निर्मूलं कुलमप्यस्य नष्टं दुर्मार्गवर्तनात् ॥१६३॥
श्रुत्वा तत्सात्मजो रामपितास्माकं क्रमागतम् । साकेतपुरमित्येत्य तदध्यास्यान्वपालयत् ॥१६४॥
तत्रास्य देव्यां कस्यांचिदभवद्भरताह्वयः । शत्रुघ्नश्चान्यदप्येकं दशाननवधाधकः ॥१६५॥

और सिंह ये पाँच महाफल देनेवाले स्वप्न देखे और उसके गर्भसे माघ शुक्ला प्रतिपदाके दिन विशाखा नक्षत्रमें मणिचूल नामका देव जो कि मन्त्रीके पुत्रका जीव था उत्पन्न हुआ। उसके शरीरपर चक्रका चिह्न था, बारह हजार वर्षकी उसकी आयु थी और लक्ष्मण उसका नाम था ॥१४८-१५२॥ वे दोनों ही भाई पन्द्रह धनुष ऊँचे थे, बत्तीस लक्षणोंसे सहित थे, वज्रवृषभनाराचसंहननके धारक थे और उन दोनोंके समचतुरस्रसंस्थान नामका पहला संस्थान था ॥१५३॥ वे दोनों ही अपरिमित शक्तिवाले थे, उनमें-से रामका शरीर हंसके अंश अर्थात् पंखके समान सफेद था और लक्ष्मणका शरीर नील कमलके समान नील कान्तिवाला था। जब रामका पचपन और लक्ष्मणका पचास वर्ष प्रमाण, अत्यन्त श्रेष्ठ ऐश्वर्यसे भरा हुआ कुमारकाल व्यतीत हो गया तब इसी भरतक्षेत्रकी अयोध्यानगरीमें एक सगर नामक राजा हुआ था। वह सगर तब हुआ था जब कि प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराजके बाद इक्ष्वाकुवंशके शिरोमणि असंख्यात राजा हो चुके थे और उनके बाद जब हरिषेण महाराज नामक दसवाँ चक्रवर्ती मरकर सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न हो गया था तथा उसके बाद जब एक हजार वर्ष प्रमाण काल व्यतीत हो चुका था। इस प्रकार काल व्यतीत हो चुकनेपर सगर राजा हुआ था। वह अखण्ड राष्ट्रका स्वामी था, तथा बड़ा ही क्रोधी था। एक बार उसने सुलसाके स्वयंवरमें आये हुए एवं राजाओंके बीचमें बैठे हुए मधुपिंगल नामके श्रेष्ठ राजकुमारको 'यह दुष्ट लक्षणोंसे युक्त है' ऐसा कहकर सभाभूमिसे निकाल दिया। राजा मधुपिंगल सगर राजाके साथ वैर बाँधकर लजाता हुआ स्वयंवर मण्डपसे बाहर निकल पड़ा। अन्तमें संयम धारण कर वह महाकाल नामका असुर हुआ। वह असुर राजा सगरके वंशको निर्मूल करनेमें तत्पर था ॥१५४-१६०॥ वह ब्राह्मणका वेष रखकर राजा सगरके पास पहुँचा और कहने लगा कि तू लक्ष्मीकी वृद्धिके लिए, शत्रुओंका उच्छेद करनेके लिए अथर्ववेदमें कहा हुआ प्राणियोंकी हिंसा करनेवाला यज्ञ कर। इस प्रकार पापसे नहीं डरनेवाले उस महाकाल नामक असुरने उस दुर्बुद्धि राजाको मोहित कर दिया ॥१६१-१६२॥ वह राजा भी उसके कहे अनुसार यज्ञ करके पापियोंकी भूमि अर्थात् नरकमें प्रविष्ट हुआ। इस प्रकार कुमार्गमें प्रवृत्ति करनेसे इस राजाका सबका सब कुल नष्ट हो गया। इस राजा दशरथने जब यह समाचार सुना तब उन्होंने सोचा कि अयोध्यानगर तो हमारी वंशपरम्परासे चला आया है। ऐसा विचारकर वे अपने पुत्रोंके साथ अयोध्यानगरमें गये और वहीं रहकर उसका पालन करने लगे ॥१६३-१६४॥ वहीं इनकी किसी अन्य रानीसे भरत

---

१ चापाङ्को क०, घ०। २ नितान्तपरमोदयौ ख०। नितान्तपरमोदयम् ल०। ३ भरतादिमहीभुजि ख०। भारतादिमहीशितुः ल०। ५ अपूर्व म०, ल०। ६ भूतं ल०।

कारणं प्रकृतं भाविं रामलक्ष्मणयोरिदम् । मिथिलानगराधीशो जनकस्तस्य वल्लभा ॥१६६॥
सुरूपा वसुधादेवी विनयादिविभूषिता । सुता सीतेत्यभूत्तस्याः संप्राप्तनवयौवना ॥१६७॥
तां वरीतुं समायातनृपदूतान् महीपतिः । ददामि तस्मै दैवानुकूल्यं यस्येति सोऽमुचत् ॥१६८॥
नृपः कदाचिदास्थानीं विद्वज्जनविराजिनीम् । आस्थाय कार्यकुशलं कुशलादिमतिं हितम् ॥१६९॥
सेनापतिं समप्राक्षीत् प्राक्प्रवृत्तं कथान्तरम् । पुरा किलात्र सगरः सुलसा चाहुतीकृता ॥१७०॥
परे चाश्वादयः प्रापन् सशरीराः सुरालयम् । इतीदं श्रूयतेऽद्यापि यागेन यदि गम्यते ॥१७१॥
स्वर्लोकः क्रियतेऽस्माभिरपि यागो यथोचितम् । इति तद्वचनं श्रुत्वा स सेनापतिरब्रवीत् ॥१७२॥
नागासुरैः सदा क्रुद्धैर्मात्सर्येण परस्परम् । अन्योन्यारब्धकार्याणां प्रतिघातो विधीयते ॥१७३॥
अयं चाद्य महाकालेनासुरेण नवो विधिः । यागो विनिर्मितस्तस्य विघातः शङ्क्यतेऽरिभिः ॥१७४॥
नागराडुपकर्ताऽभून्नमेश्च विनमेरपि । ततो यागस्य हन्तारः खगास्तत्पक्षपातिनः ॥१७५॥
यागः सिद्ध्यति शक्तानां तद्विकारव्यपोहने । यद्यप्येतन्न बुध्येरन् रूप्यशैलनिवासिनः ॥१७६॥
निश्चितो[1] रावणः शौर्यशाली मानग्रहाहितः । तस्मात्प्रागपि शङ्कास्ति स कदाचित् विघातकृत् ॥१७७॥
स्यात्तद्रामाय शक्ताय दास्यामः कन्यकामिमाम् । इति तद्वचनं सर्वे तुष्टुवुस्तत्सभासिनः ॥१७८॥
निरचिन्वंश्च भूपेन सार्कं तत्कार्यमेव ते । तदैव जनको दूतं प्राहिणोद्रामलक्ष्मणौ ॥१७९॥
मदीययागरक्षार्थं प्रहेतव्यौ कृतत्वरम् । रामाय दास्यते सीता चेति शासनहारिणम् ॥१८०॥

तथा शत्रुघ्न नामके दो पुत्र और हुए थे। रावणको मारनेसे राम और लक्ष्मणका जो यश होनेवाला था उसका एक कारण था–वह यह कि उसी समय मिथिलानगरीमें राजा जनक राज्य करते थे। उनकी अत्यन्त रूपवती तथा विनय आदि गुणोंसे विभूषित वसुधा नामकी रानी थी। राजा जनककी वसुधा नामकी रानीसे सीता नामकी पुत्री उत्पन्न हुई थी। जब वह नवयौवनको प्राप्त हुई तब उसे वरनेके लिए अनेक राजाओंने अपने-अपने दूत भेजे। परन्तु राजाने यह कहकर कि मैं यह पुत्री उसीके लिए दूँगा जिसका कि दैव अनुकूल होगा, उन आये हुए दूतोंको विदा कर दिया ॥१६५-१६८॥

अथानन्तर–किसी एक समय राजा जनक विद्वज्जनोंसे सुशोभित सभामें बैठे हुए थे। वहींपर कार्य करनेमें कुशल तथा हित करनेवाला कुशलमति नामका सेनापति बैठा था। राजा जनकने उससे एक प्राचीन कथा पूछी। वह कहने लगा कि 'पहले राजा सगर, रानी सुलसा तथा घोड़ा आदि अन्य कितने ही जीव यज्ञमें होमे गये थे। वे सब शरीर सहित स्वर्ग गये थे, यह बात सुनी जाती है। यदि आज कल भी यज्ञ करनेसे स्वर्ग प्राप्त होता हो तो हम लोग भी यथायोग्य रीतिसे यज्ञ करें'। राजाके इस प्रकार वचन सुनकर सेनापति कहने लगा कि सदा क्रोधित हुए नागकुमार और असुरकुमार परस्परकी मत्सरतासे एक दूसरेके प्रारम्भ किये हुए कार्योंमें विघ्न करते हैं ॥१६९-१७३॥ चूँकि यज्ञकी यह नयी रीति महाकाल नामक असुरने चलायी है अतः प्रतिपक्षियोंके द्वारा इसमें विघ्न किये जानेकी आशंका है ॥१७४॥ इसके सिवाय एक बात यह भी है कि नागकुमारोंके राजा धरणेन्द्रने नमि तथा विनमिका उपकार किया था इसलिए उसका पक्षपात करनेवाले विद्याधर अवश्य ही यज्ञका विघात करेंगे ॥१७५॥ यज्ञ उन्हींका सिद्ध हो पाता है जो कि उसके विघ्न दूर करनेमें समर्थ होते हैं। यद्यपि विजयार्ध पर्वतपर रहनेवाले विद्याधरोंको इसका पता नहीं चलेगा यह ठीक है तथापि यह निश्चित है कि उनमें रावण बड़ा पराक्रमी और मानरूपी ग्रहसे अधिष्ठित है उससे इस बातका भय पहलेसे ही है कि कदाचित् वह यज्ञमें विघ्न उपस्थित करे ॥१७६-१७७॥ हाँ, एक उपाय हो सकता है कि इस समय रामचन्द्रजी सब प्रकारसे समर्थ हैं उनके लिए यदि हम यह कन्या प्रदान कर देंगे तो वे सब विघ्न दूर कर देंगे। इस प्रकार सेनापतिके वचनोंकी सभामें बैठे हुए सब लोगोंने प्रशंसा की ॥१७८॥ राजा जनकके साथ-ही-साथ सब लोगोंने इस कार्यका निश्चय कर लिया और राजा जनकने उसी समय सत्पुरुष राजा दशरथके पास पत्र तथा भेंटके साथ

---

१ निश्चिन्तो क० ।

सलेखोऽयनं सन्तं नृपं दशरथं प्रति । तथान्यांश्च महीट्सूनून् दूतानानेतुमादिशत् ॥१८१॥
अयोध्येशोऽपि लेखार्थं दूतोक्तं चावधारयन् । तत्प्रयोजननिश्चित्यै मन्त्रिणं पृच्छति स्म सः ॥१८२॥
जनकोक्तं निवेद्यात्र किं कार्यं क्रियतामिति । इदमागमसाराख्यो मन्त्र्यवोचद् वचोऽशुभम्[1] ॥१८३॥
निरन्तरायमंसिद्धौ यागस्योभयलोकजम् । हितं कृतं भवेत्तस्मात्सुगतिरस्त्वनयोरिति ॥१८४॥
वचस्यवसिते तस्य तदुक्तमवधार्य सः । प्रजल्पति स्मातिशयमत्याख्यो मन्त्रिणां मतः ॥१८५॥
धर्मो यागोऽयमित्येतत्प्रमाणपदवीं वचः । न प्राप्नोत्यत एवात्र न वर्तन्ते मनीषिणः ॥१८६॥
प्रमाणभूयं वाक्यस्य वक्तृप्रामाण्यतो भवेत् । सर्वप्राणिवधाशंसियज्ञागमविधायिनः ॥१८७॥
कथमुन्मत्तकस्येव प्रामाण्यं विप्रवादिनः । विरुद्धालपितासिद्धानेति चेद्वेदवादिनः ॥१८८॥
सिद्धे वैकत्र घातोक्तेरन्यत्रैतन्निषेधनात् । स्वयंभूत्वाददोषोऽस्य विरोधे सत्यपीत्यसत् ॥१८९॥
प्रष्टव्योऽसि स्वयंभूत्वं कीदृशं तु तदुच्यताम् । बुद्धिमत्कारणस्पन्दसंबन्धनिरपेक्षणम् ॥१९०॥
स्वयंभूत्वं भवेन्मेघभेकादीनां च सा गतिः । ततः सर्वज्ञनिर्दिष्टं सर्वप्राणिहितात्मकम् ॥१९१॥
ज्ञेयमागमशब्दाख्यं सर्वदोषविवर्जितम् । वर्तते यज्ञशब्दश्च[2] दानदेवर्षिपूजयोः ॥१९२॥
यागो यज्ञः क्रतुः पूजा सपर्येज्याध्वरो मखः । मह इत्यपि पर्यायवचनान्यर्चनाविधेः ॥१९३॥
यज्ञशब्दाभिधेयोरुदानपूजास्वरूपकात् । धर्मात्पुण्यं समावर्ज्य तत्पाकादिविजेश्वराः ॥१९४॥

एक दूत भेजा तथा उससे निम्न सन्देश कहलाया। आप मेरी यज्ञकी रक्षाके लिए शीघ्र ही राम तथा लक्ष्मणको भेजिए। वहाँ रामके लिए सीता नामक कन्या दी जावेगी। राम-लक्ष्मणके सिवाय अन्य राजपुत्रोंको बुलानेके लिए भी अन्य-अन्य दूत भेजे ॥१७९-१८१॥ अयोध्याके स्वामी राजा दशरथने भी पत्रमें लिखा अर्थ समझा, दूतका कहा समाचार सुना और इस सबका प्रयोजन निश्चित करनेके लिए मन्त्रीसे पूछा ॥१८२॥ उन्होंने राजा जनकका कहा हुआ सब मन्त्रियोंको सुनाया और पूछा कि क्या कार्य करना चाहिए? इसके उत्तरमें आगमसार मन्त्री निम्नांकित अशुभ वचन कहने लगा कि यज्ञके निर्विघ्न समाप्त होनेपर दोनों लोकोंमें उत्पन्न होनेवाला हित होगा और उससे इन दोनों कुमारोंकी उत्तम गति होगी ॥१८३-१८४॥ आगमसारके वचन समाप्त होनेपर उसके कहे हुएका निश्चय कर अतिशयमति नामका श्रेष्ठ मन्त्री कहने लगा कि यज्ञ करना धर्म है यह वचन प्रमाणकोटिको प्राप्त नहीं है इसीलिए बुद्धिमान् पुरुष इस कार्यमें प्रवृत्त नहीं होते हैं ॥१८५-१८६॥ वचनकी प्रमाणता वक्ताकी प्रमाणतासे होती है। जिनमें समस्त प्राणियोंकी हिंसाका निरूपण है ऐसे यज्ञप्रवर्तक आगमका उपदेश करनेवाले विरुद्धवादी मनुष्यके वचन पागल पुरुषके वचनके समान प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं। यदि वेदका निरूपण करनेवाले परस्पर विरुद्धभाषी न हों तो उसमें एक जगह हिंसाका विधान और दूसरी जगह उसका निषेध ऐसे दोनों प्रकारके वाक्य क्यों मिलते? कदाचित् यह कहो कि वेद स्वयम्भू है, अपने-आप बना हुआ है अतः परस्पर विरोध होनेपर भी दोष नहीं है। तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि आपसे यह पूछा जा सकता है कि स्वयम्भूपना कैसा है—इसका क्या अर्थ है? यह तो कहिए। यदि बुद्धिमान् मनुष्यरूपी कारणके हलन-चलनरूपी सम्बन्धसे निरपेक्ष रहना अर्थात् किसी भी बुद्धिमान् मनुष्यके हलन-चलनरूपी व्यापारके बिना ही वेद रचा गया है अतः स्वयंभू है। स्वयंभूपनका उक्त अर्थ यदि आप लेते हैं तो मेघोंकी गर्जना और मेढकोंकी टर्रटर्र इनमें भी स्वयंभूपन आ जावेगा क्योंकि ये सब भी तो अपने-आप ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए आगम वही है—शास्त्र वही है जो सर्वज्ञके द्वारा कहा हुआ हो, समस्त प्राणियोंका हित करनेवाला हो और सब दोषोंसे रहित हो। यज्ञ शब्द, दान देना तथा देव और ऋषियोंकी पूजा करने अर्थमें आता है ॥१८७-१९२॥ याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख और मह ये सब पूजाविधिके पर्यायवाचक शब्द हैं ॥१९३॥ यज्ञ शब्दका वाच्यार्थ जो बहुत भारी दान देना और पूजा करना है, तत्स्वरूप धर्मसे ही लोग पुण्यका संचय

१ वचः शुभम् ख०। २ यत्र ल०।

शतक्रतुः शतमखः शताध्वर इति श्रुताः[1] । प्रादुर्भूताः प्रसिद्धास्ते लोकेषु समयेषु च ॥१९५॥
हिंसार्थो यज्ञशब्दश्चेत्तत्कर्तुर्नारकी गतिः । प्रयाति सोऽपि चेत्स्वर्गं विहिंसानामधोगतिः ॥१९६॥
तव स्यादित्यभिप्रायो हिंस्यमानाङ्गिदानतः । तद्वधेन च देवानां पूज्यत्वाद्यज्ञ इत्ययम् ॥१९७॥
वर्तते देवपूजायां दाने चान्वर्थतां गतः । एतत्स्वगृहमान्यं ते यज्ञस्मिन्नेव[2] इत्यपि ॥१९८॥
हिंसायामिति धात्वर्थपाठे किं न विधीयते । न हिंसा यज्ञशब्दार्थो यदि प्राणवधात्मकम् ॥१९९॥
यज्ञं कथं चरन्त्यार्या इत्यशिक्षितलक्षणम् । आर्षानार्षविकल्पेन यागो द्विविध इष्यते ॥२००॥
[3]तीर्थेशा जगदाद्येन परमब्रह्मणोदिते । वेदे जीवादिषड्द्रव्यभेदे याथात्म्यदेशने ॥२०१॥
त्रयोऽग्नयः समुद्दिष्टाः क्रोधकामोदराग्नयः । तेषु क्षमाविरागत्वानशनाहुतिभिर्वने ॥२०२॥
स्थित्वर्[4]षियतिमुन्यस्त[5]शरणाः परमद्विजाः । इत्यात्मयज्ञमिष्टार्थामष्टमीमवनीं ययुः ॥२०३॥
तथा तीर्थगणाधीशशेषकेवलिसद्वपुः । संस्कारमहिताग्नीन्द्रमुकुटोत्थाग्निषु त्रिषु ॥२०४॥
परमात्मपदं प्राप्तान्निजान् पितृपितामहान् । उद्दिश्य भाक्तिकाः पुष्पगन्धाक्षतफलादिभिः ॥२०५॥
आर्षोपासकवेदोक्तमन्त्रोच्चारणपूर्वकम् । दानादिसत्क्रियोपेता गेहाश्रमतपस्विनः ॥२०६॥
नित्यमिष्ट्वेन्द्रसामानिकादिमान्यपदोदिताः । लौकान्तिकाश्च भूत्वामरद्विजा ध्वस्तकल्मषाः ॥२०७॥

करते हैं और उसीके परिपाकसे देवेन्द्र होते हैं। इसलिए ही लोक और शास्त्रोंमें इन्द्रके शतक्रतु, शतमख और शताध्वर आदि नाम प्रसिद्ध हुए हैं तथा सब जगह सुनाई देते हैं ॥१९४–१९५॥ यदि यज्ञ शब्दका अर्थ हिंसा करना ही होता है तो इसके करनेवालेकी नरक गति होनी चाहिए। यदि ऐसा हिंसक भी स्वर्ग चला जाता है तो फिर जो हिंसा नहीं करते हैं उनकी अधोगति होनी चाहिए—उन्हें नरक जाना चाहिए॥१९६॥ कदाचित् आपका यह अभिप्राय हो कि यज्ञमें जिसकी हिंसा की जाती है उसके शरीरका दान किया जाता है अर्थात् सबको वितरण किया जाता है और उसे मारकर देवोंकी पूजा की जाती है इस तरह यज्ञ शब्दका अर्थ जो दान देना और पूजा करना है उसकी सार्थकता हो जाती है? तो आपका यह अभिप्राय ठीक नहीं है क्योंकि इस तरह दान और पूजाका जो अर्थ आपने किया है वह आपके ही घर मान्य होगा, सर्वत्र नहीं। यदि यज्ञ शब्दका अर्थ हिंसा ही है तो फिर धातुपाठमें जहाँ धातुओंके अर्थ बतलाये हैं वहाँ यजधातुका अर्थ हिंसा क्यों नहीं बतलाया? वहाँ तो मात्र 'यज देवपूजा-संगतिकरणदानेषु' अर्थात् यज धातु, देवपूजा, संगतिकरण और दान देना इतने अर्थोंमें आती है। यही बतलाया है। इसलिए यज्ञ शब्दका अर्थ हिंसा करना कभी नहीं हो सकता। कदाचित् आप यह कहें कि यदि हिंसा करना यज्ञ शब्दका अर्थ नहीं है तो आर्य पुरुष प्राणिहिंसा-से भरा हुआ यज्ञ क्यों करते हैं? तो आपका यह कहना अशिक्षित अथवा मूर्खका लक्षण है—चिह्न है। क्योंकि आर्ष और अनार्षके भेदसे यज्ञ दो प्रकारका माना जाता है ॥१९७–२००॥ इस कर्मभूमिरूपी जगत्के आदिमें होनेवाले परमब्रह्म श्रीवृषभदेव तीर्थंकरके द्वारा कहे हुए वेदमें जिसमें कि जीवादि छह द्रव्योंके भेदका यथार्थ उपदेश दिया गया है क्रोधाग्नि, कामाग्नि और उदराग्नि ये तीन अग्नियाँ बतलायी गयी हैं। इनमें क्षमा, वैराग्य और अनशनकी आहुतियाँ देने-वाले जो ऋषि यति मुनि और अनगाररूपी श्रेष्ठ द्विज वनमें निवास करते हैं वे आत्मयज्ञ कर इष्ट अर्थको देनेवाली अष्टम पृथिवी-मोक्ष स्थानको प्राप्त होते हैं ॥२०१–२०३॥ इसके सिवाय तीर्थंकर गणधर तथा अन्य केवलियोंके उत्तम शरीरके संस्कारसे पूज्य एवं अग्निकुमार इन्द्रके मुकुटसे उत्पन्न हुई तीन अग्नियाँ हैं उनमें अत्यन्त भक्त तथा दान आदि उत्तमोत्तम क्रियाओंको करनेवाले तपस्वी, गृहस्थ, परमात्मपदको प्राप्त हुए अपने पिता तथा प्रपितामहको उद्देश्य कर ऋषिप्रणीत वेदमें कहे मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए जो अक्षत गन्ध फल आदिके द्वारा आहुति दी जाती है वह दूसरा आर्ष यज्ञ कहलाता है। जो निरन्तर यह यज्ञ करते हैं वे इन्द्र सामानिक आदि

१ श्रुतिः ल०। २ इष्यते म०, ल०। ३ ख पुस्तके २०१–२०२ पद्ययोः क्रमपरिवर्तो विद्यते। ४ स्थित्वार्ष ख०। ५ अनगाराः।

द्वितीयं ज्ञानवेदस्य सामान्येन सतः सदा। द्रव्यक्षेत्रादिभेदेन कर्तॄणां तीर्थदर्शिनाम् ॥२०८॥
पञ्चकल्याणभेदेषु देवयज्ञविधानतः। चितपुण्यफलं भुक्त्वा क्रमेणाप्स्यन्ति सिद्धताम् ॥२०९॥
यागोऽयमृषिभिः प्रोक्तो यत्यगारिद्वयाश्रयः। आद्यो मोक्षाय साक्षात्स्यादस्यात्परंपरया परः ॥२१०॥
एवं परंपरायातदेवयज्ञविधिस्त्विह। द्विलोकहितकृत्येषु वर्तमानेषु संततम् ॥२११॥
मुनिसुव्रततीर्थेशसंताने सगरद्विषः(?)। महाकालासुरो हिंसायज्ञमज्ञोऽन्वशादमुम् ॥२१२॥
कथं तदिति चेदस्मिन् भारते चारणादिके। युगले नगरे राजाजनि नाम्ना सुयोधनः ॥२१३॥
देवी तस्यातिथिस्तस्यास्तनूजा सुलसानयोः। तस्याः स्वयंवरार्थेन दूतोक्त्या पुरमागते ॥२१४॥
महीशमण्डले साकेतेशिनं सगराह्वयम्। तत्रागन्तुं समुद्युक्तमन्यदा स्वशिरोरुहाम् ॥२१५॥
कलापे पलितं प्राच्यं ज्ञात्वा तैलोपलेपिना। निर्विद्य विमुखं याते विलोक्य कुशला तदा ॥२१६॥
धात्री मन्दोदरी नाम तमित्वा पलितं नवम्। पवित्रं द्रव्यलाभं ते वदतीत्यस्यवूबुधत् ॥२१७॥
तत्रैव सचिवो विश्वभूरप्येत्याम्बभूभृताम्। पराङ्मुखी सा त्वामेव सुलसाभिलषत्यलम् ॥२१८॥
यथा तथाहं कर्तास्मि कौशलेनेत्यभाषत। तद्वचःश्रवणात्प्रीतः साकेतनगराधिपः ॥२१९॥
चतुरङ्गबलेनामा सुयोधनपुरं ययौ। दिनेषु केषुचित्तत्र यातेषु सुलसान्तिके ॥२२०॥
मन्दोदर्याः कुलं रूपं सौन्दर्यं विक्रमो नयः। विनयो विभवो बन्धु. संपदन्ये च ये स्तुता. ॥२२१॥
गुणा वरस्य तेऽयोध्यापुरेशे राजपुत्रिका। तत्सर्वसवगम्यासीत्तस्मिन्नासंजिताशया ॥२२२॥

माननीय पदोंपर अधिष्ठित होकर लौकान्तिक नामक देव ब्राह्मण होते हैं और अन्तमें समस्त पापोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥२०४-२०७॥ दूसरा श्रुतज्ञानरूपी वेद सामान्यकी अपेक्षा सदा विद्यमान रहता है, उसके द्रव्य क्षेत्र आदिके भेदसे अथवा तीर्थंकरोंके पंच कल्याणकोंके भेदसे अनेक भेद हैं, उन सबके समय जो श्री जिनेन्द्रदेवका यज्ञ अर्थात् पूजन करते हैं वे पुण्यका संचय करते हैं और उसका फल भोगकर क्रम-क्रमसे सिद्ध अवस्था—मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥२०८-२०९॥ इस प्रकार ऋषियोंने यह यज्ञ मुनि और गृहस्थके आश्रयसे दो प्रकारका निरूपण किया है। इनमें-से पहला मोक्षका साक्षात् कारण है और दूसरा परम्परासे मोक्षका कारण है ॥२१०॥ इस प्रकार यह देवयज्ञकी विधि परम्परासे चली आयी है, यही दोनों लोकोंका हित करनेवाली है और यही निरन्तर विद्यमान रहती है ॥२११॥ किन्तु श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें सगर राजासे द्वेष रखनेवाला एक महाकाल नामका असुर हुआ। उसी अज्ञानीने इस हिंसा यज्ञका उपदेश दिया है ॥२१२॥ महाकालने ऐसा क्यों किया। यदि यह जाननेकी इच्छा है तो सुन लीजिए। इसी भरतक्षेत्रमें चारणयुगल नामका नगर है। उसमें सुयोधन नामका राजा राज्य करता था ॥२१३॥ उसकी पट्टरानीका नाम अतिथि था, इन दोनोंके सुलसा नामकी पुत्री थी। उसके स्वयंवरके लिए दूतोंके कहनेसे अनेक राजाओंका समूह चारणयुगल नगरमें आया था। अयोध्याका राजा सगर भी उस स्वयंवरमें जानेके लिए उद्यत था परन्तु उसके बालोंके समूहमें एक बाल सफेद था, तेल लगानेवाले सेवकसे उसे विदित हुआ कि यह बहुत पुराना है यह जानकर वह स्वयंवरमें जानेसे विमुख हो गया, उसे निर्वेद वैराग्य हुआ। राजा सगरकी एक मन्दोदरी नामकी धाय थी जो बहुत ही चतुर थी। उसने सगरके पास जाकर कहा कि यह सफेद बाल नया है और तुम्हें किसी पवित्र वस्तुका लाभ होगा यह कह रहा है। उसी समय विश्वभू नामका मन्त्री भी वहाँ आ गया और कहने लगा कि यह सुलसा अन्य राजाओंसे विमुख होकर जिस तरह आपको ही चाहेगी उसी तरह मैं कुशलतासे सब व्यवस्था कर दूँगा। मन्त्रीके वचन सुननेसे राजा सगर बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥२१४-२१९॥ वह चतुरंग सेनाके साथ राजा सुयोधनके नगरकी ओर चल दिया और कुछ दिनोंमें वहाँ पहुँच भी गया। सगरकी मन्दोदरी धाय उसके साथ आयी थी। उसने सुलसाके पास जाकर राजा सगरके कुल, रूप, सौन्दर्य, पराक्रम, नय, विनय, विभव, बन्धु, सम्पत्ति तथा

१ यज्ञवेदस्य ल०। २ देवा यज्ञ ल०। ३ वेदयज्ञ ल०। ४ स्वशिरोरुह–म०। ५ याते ल०।

तद्विदित्वाऽतिथिर्युक्तिमद्वचोभिः प्रदूष्य तम् । सुरम्यविषये पोदनाधीड् बाहुबलीशिनः ॥२२३॥
कुले महाभुजां ज्येष्ठो मद्भ्राता तृणपिङ्गलः । तस्य सर्वयशा देवी तयोस्सूनुर्मधुपिङ्गलः ॥२२४॥
सर्वैर्वरगुणैर्गण्यो नवे वयसि वर्तते । स त्वया मालया माननीयोऽद्य मदपेक्षया ॥२२५॥
साकेतपतिना किं ते सपत्नीदुःखदायिना । इत्याहैतद्वचः सापि [1]सोपरोधाऽभ्युपागमत् ॥२२६॥
तदा प्रभृति कन्यायाः समीप[2]गमनादिकम् । उपायेनातिथिर्देवी मन्दोदर्या न्यवारयत् ॥२२७॥
धात्री च प्रस्तुतार्थस्य विघातमवदद् विभोः । नृपोऽपि मन्त्रिणं प्राह यदस्माभिरभीप्सितम् ॥२२८॥
तत्त्वया सर्वथा साध्यमिति सोऽप्यभ्युपेत्य तत् । वरस्य लक्षणं शस्तमप्रशस्तं च वर्ण्यते ॥२२९॥
येन तादृग्विधं ग्रन्थं समुत्पाद्य विचक्षणः । स्वयंवरविधानाख्यं विधायारोप्य पुस्तके ॥२३०॥
[3]मञ्जूषायां विनिक्षिप्य तदुद्यानवनान्तरे । धरातिरोहितं कृत्वा न्यधादविदितं परैः ॥२३१॥
दिनेषु केषुचिद्यातेषूद्यानावनिशोधने । हलाग्रेणोद्धृतं मन्त्री मया दृष्टं यदृच्छया ॥२३२॥
पुरातनमिदं शास्त्रमित्यजानन्निव स्वयम् । विस्मितो राजपुत्राणां समाजे तदवाचयत् ॥२३३॥
संभावयतु पिङ्गाक्षं कन्यां वरकदम्बके । न मालया मृतिस्तस्याः सा तं चेत्समभावयत् ॥२३४॥
तेनापि न प्रवेष्टव्या सभांहोभीत्रपावता । प्रविष्टोऽप्यत्र यः पापी ततो निर्वास्यतामिति ॥२३५॥
तदासौ सर्वमाकर्ण्य लज्जया मधुपिङ्गलः । तद्गुणत्वात्ततो गत्वा हरिषेणगुरोस्तपः ॥२३६॥

योग्य वरमें अन्य प्रशंसनीय गुण होते हैं उन सबका व्याख्यान किया । यह सब जानकर राजकुमारी सुलसा राजा सगरमें आसक्त हो गयी ।।२२०–२२२।। जब सुलसाकी माता अतिथिको इस बातका पता चला तब उसने युक्तिपूर्ण वचनोंसे राजा सगरकी बहुत निन्दा की और कहा कि सुरम्यदेशके पोदनपुर नगरका राजा बाहुबलीके वंशमें होनेवाले राजाओंमें श्रेष्ठ तृणपिंगल नामका मेरा भाई है । उसकी रानीका नाम सर्वयशा है, उन दोनोंके मधुपिंगल नामका पुत्र है जो वरके योग्य समस्त गुणोंसे गणनीय है—प्रशंसनीय है और नयी अवस्थामें विद्यमान है । आज तुझे मेरी अपेक्षासे ही उसे वरमाला डालकर सम्मानित करना चाहिए ।।२२३–२२५।। सौतका दुःख देनेवाले अयोध्यापति—राजा सगरसे तुझे क्या प्रयोजन है ? माता अतिथिने यह वचन कहे जिन्हें सुलसाने भी उसके आग्रहवश स्वीकृत कर लिया ।।२२६।। उसी समयसे अतिथि देवीने किसी उपायसे कन्याके समीप मन्दोदरीका आना-जाना आदि बिलकुल रोक दिया ।।२२७।। मन्दोदरीने अपने प्रकृत कार्यकी रुकावट राजा सगरसे कही और राजा सगरने अपने मन्त्रीसे कहा कि हमारा जो मनोरथ है वह तुम्हें सब प्रकारसे सिद्ध करना चाहिए । बुद्धिमान् मन्त्रीने राजाकी बात स्वीकार कर स्वयंवर विधान नामका एक ऐसा ग्रन्थ बनवाया कि जिसमें वरके अच्छे और बुरे लक्षण बताये गये थे । उसने वह ग्रन्थ पुस्तकके रूपमें निबद्ध कर एक सन्दूकचीमें रखा और वह सन्दूकची उसी नगरसम्बन्धी उद्यानके किसी वनमें जमीनमें छिपाकर रख दी । यह कार्य इतनी सावधानीसे किया कि किसीको इसका पता भी नहीं चला ।।२२८–२३१।। कितने ही दिन बीत जानेपर वनको पृथिवी खोदते समय उसने हलके अग्रभागसे वह पुस्तक निकाली और कहा कि इच्छानुसार खोदते हुए मुझे यह सन्दूकची मिली है । यह कोई प्राचीन शास्त्र है इस प्रकार कहता हुआ वह आश्चर्य प्रकट करने लगा, मानो कुछ जानता ही नहीं हो । उसने वह पुस्तक राजकुमारोंके समूहमें बचवायी । उसमें लिखा था कि कन्या और वरके समुदायमें जिसकी आँख सफेद और पीली हो, मालाके द्वारा उसका सत्कार नहीं करना चाहिए । अन्यथा कन्याकी मृत्यु हो जाती है या वर मर जाता है । इसलिए पाप डर और लज्जावाले पुरुषको सभामें प्रवेश नहीं करना चाहिए । यदि कोई पापी प्रविष्ट भी हो जाये तो उसे निकाल देना चाहिए ।।२३२–२३५।। मधुपिंगलमें यह सब गुण विद्यमान थे अतः वह यह सब सुन लज्जावश वहाँसे बाहर चला गया और हरिषेण गुरुके पास जाकर उसने तप धारण कर लिया ।

---

१ सापराधा ल० । २ समीपे गमनादिकम् म०, ल० । ३ मञ्जूषायां कुधीः शास्त्रं विनिक्षिप्य वनान्तरे ल०, म० ।

प्रपन्नस्तद्विदित्वा[1] गुर्मुदं सगरभूपतिः । विश्वभूश्चेष्टसंसिद्धावन्ये च कुटिलाशयाः ॥२३७॥
सन्तस्तद्बान्धवाश्चाप्यं विषादमगमँस्तदा । न पश्यन्त्यर्थिनः पापं वञ्चनासंचितं महत् ॥२३८॥
अथ कृत्वा महापूजां दिनान्यष्टौ जिनेशिनाम् । तदन्तेऽभिषवं चैनां सुलसां कन्यकोत्तमाम् ॥२३९॥
स्नातामलंकृतां शुद्धतिथिवारादिसंनिधौ । पुरोधा रथमारोप्य नीत्वा चारुभटावृताम् ॥२४०॥
नृपान् महासनारूढान् स स्वयंवरमण्डपे । यथाक्रमं विनिर्दिश्य कुलजात्यादिभिः पृथक् ॥२४१॥
व्यरमत् सा सनासक्ता साकेतपुरनायकम् । अकरोत् कण्ठदेशे तं मालालंकृतविग्रहम् ॥२४२॥
अनयोरनुरूपोऽयं संगमो वेधसा कृतः । इत्युक्त्वा मत्सरापेतमतुष्यद् भूपमण्डलम् ॥२४३॥
कल्याणविधिपर्याप्तौ[2] स्थित्वा तत्रैव कानिचित् । दिनानि सगरः श्रीमान् सुखेन सुलसान्वितः ॥२४४॥
साकेतनगरं गत्वा भोगाननुभवन् स्थितः । मधुपिङ्गलसाधोश्च वर्तमानस्य संयमे ॥२४५॥
पुरमेकं तनुस्थित्यै विशतो वीक्ष्य लक्षणम् । कश्चिन्नैमित्तिको यूनः पृथ्वीराज्यार्हदेहजैः[3] ॥२४६॥
लक्षणैरेष भिक्षाशी किल किं लक्षणागमैः[4] । इत्यनिन्दत्तदाकर्ण्य परोऽप्येवमभाषत ॥२४७॥
एष राज्यश्रियं[5] भुञ्जन् (?) दूषा सगरमन्त्रिणा । कृत्रिमागममादर्श्य दूषितः सन् ह्रिया तपः ॥२४८॥
प्रपन्नवान् गते चास्मिन् सुलसां सगरोऽग्रहीत् । इति तद्वचनं श्रुत्वा मुनिः क्रोधाग्निदीपितः ॥२४९॥
जन्मान्तरे फलेनास्य तपसः सगरान्वयम् । सर्वं निर्मूलयामीति विधीः कृतनिदानकः ॥२५०॥
मृत्वासावसुरेन्द्रस्य महिषानीक आदिमे । कक्षाभेदे चतुःषष्टिसहस्रासुरनायकः ॥२५१॥

यह जानकर अपनी इष्टसिद्धि होनेसे राजा सगर, विश्वभू मन्त्री, तथा कुटिल अभिप्रायवाले अन्य मनुष्य हर्षको प्राप्त हुए ॥२३६-२३७॥ मधुपिंगलके भाई-बन्धुओंको तथा अन्य सज्जन मनुष्योंको उस समय दुःख हुआ। देखो स्वार्थी मनुष्य दूसरोंको ठगनेसे उत्पन्न हुए बड़े भारी पापको नहीं देखते हैं ॥२३८॥ इधर राजा सुयोधनने आठ दिन तक जिनेन्द्र भगवान्की महापूजा की, और उसके अन्तमें अभिषेक किया। तदनन्तर उत्तम कन्या सुलसाको स्नान कराया, आभूषण पहनाये, और शुद्ध तिथि वार आदिके दिन अनेक उत्तम योद्धाओंसे घिरी हुई उस कन्याको पुरोहित रथमें बैठाकर स्वयंवर-मण्डपमें ले गया ॥२३९-२४०॥ वहाँ अनेक राजा उत्तम-उत्तम आसनोंपर समारूढ़ थे। पुरोहित उनके कुल जाति आदिका पृथक्-पृथक् क्रमपूर्वक निर्देश करने लगा परन्तु सुलसा अयोध्याके राजा सगरमें आसक्त थी अतः उन सब राजाओंको छोड़ती हुई आगे बढ़ती गयी और सगरके गलेमें ही माला डालकर उसका शरीर मालासे अलंकृत किया ॥२४१-२४२॥ 'इन दोनोंका समागम विधाताने ठीक ही किया है' यह कहकर वहाँ जो राजा ईर्ष्यारहित थे वे बहुत ही सन्तुष्ट हुए ॥२४३॥ विवाहकी विधि समाप्त होनेपर लक्ष्मीसम्पन्न राजा सगर सुलसाके साथ वहींपर कुछ दिन तक सुखसे रहा ॥२४४॥ तदनन्तर अयोध्या नगरीमें जाकर भोगोंका अनुभव करता हुआ सुखसे रहने लगा। इधर मधुपिंगल साधु संयम धारण कर रहे थे। एक दिन वे आहारके लिए किसी नगरमें गये थे। वहाँ कोई निमित्तज्ञानी उनके लक्षण देखकर कहने लगा कि 'इस युवाके चिह्न तो पृथिवीका राज्य करनेके योग्य हैं परन्तु यह भिक्षा भोजन करनेवाला है इससे जान पड़ता है कि इन सामुद्रिक शास्त्रोंसे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? ये सब व्यर्थ हैं'। इस प्रकार उस निमित्तज्ञानीने लक्षणशास्त्र—सामुद्रिक शास्त्रकी निन्दा की। उसके साथ ही दूसरा निमित्तज्ञानी था वह कहने लगा कि 'यह तो राज्यलक्ष्मीका ही उपभोग करता था परन्तु सगर राजाके मन्त्रीने झूठ-मूठ ही कृत्रिमशास्त्र दिखलाकर इसे दूषित ठहरा दिया और इसीलिए इसने लज्जावश तप धारण कर लिया। इसके चले जानेपर सगरने सुलसाको स्वीकृत कर लिया'। उस निमित्तज्ञानीके वचन सुनकर मधुपिंगल मुनि क्रोधाग्निसे प्रज्वलित हो गये ॥२४५-२४९॥ 'मैं इस तपके फलसे दूसरे जन्ममें राजा सगरके समस्त वंशको निर्मूल करूँगा' ऐसा उन बुद्धिहीन मधुपिंगल मुनिने

---

१ विदित्वागात् ख०, म०। विदित्वापु –ल०। २ पर्याप्तो ल०। ३ देहजः ब०। ४ –गमे ख०। ५ श्रियो ग०। ६ –माकर्ण्य ल०। –माकल्प्य म०।

महाकालोऽभवत्तत्र देवैरावेष्टितो निजैः । देवलोकमिमं केन प्राप्तोऽहमिति संस्मरन् ॥२५२॥
ज्ञात्वा विभङ्गज्ञानोपयोगेन प्राक्तने भवे । प्रवृत्तमखिलं पापो कोपाविष्कृतचेतसा ॥२५३॥
तस्मिन् मन्त्रिणि भूपे च रूढवैरोऽपि तौ तदा । अनिच्छन् हन्तुमत्युग्रं सुचिकीर्षुरहं तयोः ॥२५४॥
तदुपायसहायांश्च संचिन्त्य समुपस्थितः । नाचिन्तयन् महत्पापमात्मनो धिग्विमूढताम् ॥२५५॥
इदं प्रकृतमात्रान्यत्तदभिप्रायसाधनम् । द्वीपेऽत्र भरते देशे धवले स्वस्तिकावती ॥२५६॥
पुरं विश्वावसुस्तस्य पालको हरिवंशजः । देव्यस्य श्रीमती नाम्ना वसुरासीत् सुतोऽनयोः ॥२५७॥
तत्रैव ब्राह्मणः पूज्यः सर्वशास्त्रविशारदः । अभून् क्षीरकदम्बाख्यो विख्यातोऽध्यापकोत्तमः ॥२५८॥
[1]समीपे तस्य तत्सूनुः पर्वतोऽन्यश्च नारदः । देशान्तरगतच्छात्रस्तुर्यवसुश्च महीपतेः ॥२५९॥
एते त्रयोऽपि विद्यानां पारमापन् स पर्वतः । तेष्वधीर्विपरीतार्थग्राही मोहविपाकतः ॥२६०॥
शेषौ यथोपदिष्टार्थग्राहिणौ ते त्रयोऽप्यगुः । वनं दर्भादिकं चेतुं सोपाध्यायाः कदाचन ॥२६१॥
गुरुः श्रुतधरो नाम तत्रावदशिलातले । स्थितो मुनित्रयं तस्मात्कृत्वाष्टाङ्गनिमित्तकम् ॥२६२॥
तत्समाप्तौ स्तुतिं कृत्वा सुस्थितं तन्निरीक्ष्य सः । तन्नपुण्यपरीक्षार्थं समपृच्छन्मुनीश्वरः ॥२६३॥
पठच्छात्रत्रयस्यास्य नाम किं कस्य किं कुलम् । को भावः का गतिः प्रान्ते भवद्भिः कथ्यतामिति ॥२६४॥
तेष्वेकोऽभाषतात्मज्ञः शृणवस्यत्र्यसमीपगः । वसुः क्षितिपतेः सूनुः तीव्ररागादिदूषितः ॥२६५॥

निदान कर लिया । अन्तमें मरकर वे असुरेन्द्रकी महिष जातिकी सेनाकी पहली कक्षामें चौंसठ हजार असुरोंका नायक महाकाल नामका असुर हुआ । वहाँ उत्पन्न होते ही उसे अनेक आत्मीय देवोंने घेर लिया । मैं इस देवलोकमें किस कारणसे उत्पन्न हुआ हूँ । जब वह इस बातका स्मरण करने लगा तो उसे विभंगावधिज्ञानके द्वारा अपने पूर्वभवका सब समाचार याद आ गया । याद आते ही उस पापीका चित्त क्रोधसे भर गया । मन्त्री और राजाके ऊपर उसका वैर जम गया । यद्यपि उन दोनोंपर उसका वैर जमा हुआ था यथापि वह उन्हें जानसे नहीं मारना चाहता था, उसके बदले वह उनसे कोई भयंकर पाप करवाना चाहता था ॥२५०-२५४॥ वह असुर इसके योग्य उपाय तथा सहायकोंका विचार करता हुआ पृथिवीपर आया परन्तु उसने इस बातका विचार नहीं किया कि इससे मुझे बहुत भारी पापका संचय होता है । आचार्य कहते हैं कि ऐसी मूढ़ताके लिए धिक्कार हो ॥२५५॥ उधर वह अपने कार्यके योग्य उपाय और सहायकोंकी चिन्ता कर रहा था इधर उसके अभिप्रायको सिद्ध करनेवाली दूसरी घटना घटित हुई जो इस प्रकार है । इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके धवल देशमें एक स्वस्तिकावती नामका नगर है । हरिवंशमें उत्पन्न हुआ राजा विश्वावसु उसका पालन करता था । इसकी स्त्रीका नाम श्रीमती था । उन दोनोंके वसु नामका पुत्र था ॥२५६-२५७॥ उसी नगरमें एक क्षीरकदम्ब नामक पूज्य ब्राह्मण रहता था । वह समस्त शास्त्रोंका विद्वान् था और प्रसिद्ध श्रेष्ठ अध्यापक था ॥२५८॥ उसके पास उसका लड़का पर्वत, दूसरे देशसे आया हुआ नारद और राजाका पुत्र वसु ये तीन छात्र एक साथ पढ़ते थे ॥२५९॥ ये तीनों ही छात्र विद्याओंके पारको प्राप्त हुए थे, परन्तु उन तीनोंमें पर्वत निर्बुद्धि था, वह मोहके उदयसे सदा विपरीत अर्थ ग्रहण करता था । बाकी दो छात्र, पदार्थका स्वरूप जैसा गुरु बताते थे वैसा ही ग्रहण करते थे । किसी एक दिन ये तीनों अपने गुरुके साथ कुशा आदि लानेके लिए वनमें गये थे ॥२६०-२६१॥ वहाँ एक पर्वतकी शिलापर श्रुतधर नामके गुरु विराजमान थे । अन्य तीन मुनि उन श्रुतधर गुरुसे अष्टांग निमित्तज्ञानका अध्ययन कर रहे थे । जब अष्टांगनिमित्त ज्ञानका अध्ययन पूर्ण हो गया तब वे तीनों मुनि उन गुरुकी स्तुति कर बैठ गये । उन्हें बैठा देखकर श्रुतधर मुनिराजने उनकी चतुराईकी परीक्षा करनेके लिए पूछा कि 'जो ये तीन छात्र बैठे हैं इनमें किसका क्या नाम है ? क्या कुल है ? क्या अभिप्राय है ? और अन्तमें किसकी क्या गति होगी ? यह आप लोग कहें ॥२६२-२६४॥ उन तीन मुनियोंमें एक आत्मज्ञानी मुनि थे । वे कहने लगे कि सुनिए, यह जो राजाका पुत्र वसु

---

1 समये क० ।

हिंसाधर्मं विनिश्चित्य [1]नरकावासमेष्यति । [2]परोऽब्रवीदयं मध्यस्थितो ब्राह्मणपुत्रकः ॥२६६॥
पर्वताख्यो विधीः क्रूरो महाकालोपदेशनात् । पठित्वाथर्वणं पापशास्त्रं दुर्मार्गदेशकः ॥२६७॥
हिंसैव धर्म इत्यज्ञो रौद्रध्यानपरायणः । बहूंस्तत्र प्रवर्त्यास्मिन् नरकं यास्यतीत्यतः ॥२६८॥
तृतीयोऽपि ततोऽवादीदेष पश्चादवस्थितः । नारदाख्यो द्विजो धीमान् धर्मध्यानपरायणः ॥२६९॥
अहिंसालक्षणं धर्ममाश्रितानामुदाहरन् । पतिर्गिरितटाख्यायाः पुरो भूत्वा परिग्रहम् ॥२७०॥
परित्यज्य तपः प्राप्य प्रान्त्यानुत्तरमेष्यति । इत्येवं तैस्त्रिभिः प्रोक्तं श्रुत्वा सम्यग्यथोदितम् ॥२७१॥
सोपदेशं स्तुतं सर्वैरित्यस्तावीन्मुनिश्च तान् । सर्वमेतदुपाध्यायः प्रत्यासन्नद्रुमाश्रयः ॥२७२॥
प्रणिधानात्तदाकर्ण्य तदेतद्विधिचेष्टितम् । एतयोरशुभं धिग्धिक् किं मयात्र विधीयते ॥२७३॥
विचिन्त्येति यतीन् भक्त्या तत्रैव प्रणिवन्द्य तान् । वैमनस्येन तैश्छात्रैर्नगरं प्राविशत् समम् ॥२७४॥
शास्त्रबाल्यवयोरेकवत्सरे परिपूरणे । वसोः पिता स्वयं पट्टं बध्वा प्रायात्तपोवनम् ॥२७५॥
वसुः निष्कण्टकं पृथ्वीं पालयन् हेलयान्यदा । वनं विहर्तुमभ्येत्य पयोधरपथाद् द्विजान् ॥२७६॥
प्रस्खल्य पतितान् वीक्ष्य विस्मयादिति स्वाद् गुतम् । पततां हेतुनावश्यं भवितव्यमिति स्फुटम् ॥२७७॥
मत्वाकृष्य धनुर्बाणममुञ्चत्तत्प्रदेशवित् । स्खलित्वा [3]पतितं तस्मात्तं समीक्ष्य महीपतिः ॥२७८॥
तत्प्रदेशं स्वयं गत्वा रथिकेन सहास्पृशत् । आकाशस्फटिकस्तम्भं विज्ञायाविदितं परैः ॥२७९॥

हमारे पास बैठा हुआ है यह तीव्र रागादिदूषित है अतः हिंसारूप धर्मका निश्चय कर नरक जावेगा। तदनन्तर बीचमें बैठे हुए दूसरे मुनि कहने लगे कि यह जो ब्राह्मणका लड़का है इसका पर्वत नाम है, यह निर्बुद्धि है, क्रूर है, यह महाकालके उपदेशसे अथर्ववेद नामक पापप्रवर्तक शास्त्रका अध्ययन कर खोटे मार्गका उपदेश देगा, यह अज्ञानी हिंसाको ही धर्म समझता है, निरन्तर रौद्रध्यानमें तत्पर रहता है और बहुत लोगोंको उसी मिथ्यामार्गमें प्रवृत्त करता है अतः नरक जावेगा ॥२६५–२६८॥ तदनन्तर तीसरे मुनि कहने लगे कि यह जो पीछे बैठा है इसका नारद नाम है, यह जातिका ब्राह्मण है, बुद्धिमान् है, धर्मध्यानमें तत्पर रहता है, अपने आश्रित लोगोंको अहिंसारूप धर्मका उपदेश देता है, यह आगे चलकर गिरितट नामक नगरका राजा होगा और अन्तमें परिग्रह छोड़कर तपस्वी होगा तथा अन्तिम अनुत्तरविमानमें उत्पन्न होगा। इस प्रकार उन तीनों मुनियोंका कहा सुनकर श्रुतधर मुनिराजने कहा कि तुम लोगोंने मेरा कहा उपदेश ठीक-ठीक ग्रहण किया है' ऐसा कहकर उन्होंने उन तीनों मुनियोंकी स्तुति की। इधर एक वृक्षके आश्रयमें बैठा हुआ क्षीरकदम्ब उपाध्याय, यह सब बड़ी सावधानीसे सुन रहा था। सुनकर वह विचारने लगा कि विधिकी लीला बड़ी ही विचित्र है, देखो, इन दोनोंकी—पर्वत और वसुकी अशुभगति होनेवाली है, इनके अशुभ कर्मको धिक्कार हो, मैं इस विषयमें कर ही क्या सकता हूँ ? ॥२६९–२७३॥ ऐसा विचारकर उसने उन मुनियोंको वहीं वृक्षके नीचे बैठे-बैठे भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और फिर बड़ी उदासीनतासे उन तीनों छात्रोंके साथ वह अपने नगरमें आ गया ॥२७४॥ एक वर्षके बाद शास्त्राध्ययन तथा बाल्यावस्था पूर्ण होनेपर वसुके पिता विश्वावसु, वसुको राज्यपट्ट बाँधकर स्वयं तपोवनके लिए चले गये ॥२७५॥ इधर वसु पृथिवीका अनायास ही निष्कण्टक पालन करने लगा। किसी एक दिन वह विहार करनेके लिए वनमें गया था। वहीं क्या देखता है कि बहुत-से पक्षी आकाशमें जाते-जाते टकराकर नीचे गिर रहे हैं। यह देख उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह विचार करने लगा कि आकाशसे जो ये पक्षी नीचे गिर रहे हैं इसमें कुछ कारण अवश्य होना चाहिए ॥२७६–२७७॥ यह विचार, उसने उस स्थानका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए धनुष खींचकर एक बाण छोड़ा वह बाण भी वहाँ टकराकर नीचे गिर पड़ा। यह देख, राजा वसु वहाँ स्वयं गया और सारथिके साथ उसने उस स्थानका स्पर्श किया। स्पर्श करते ही उसे मालूम हुआ कि यह आकाशस्फटिका स्तम्भ है, वह स्तम्भ आकाशके रंगसे इतना मिलता-जुलता था कि किसी दूसरेको आज तक

1 नारकावास म०, ल०। 2 पुरो क०, ख०, घ०। 3 पतितंस्मात् ल० (?)।

आनाय्य तेन निर्माप्य पृथुपादचतुष्टयम् । तत्सिंहासनमारुह्य सेव्यमानो नृपादिभिः ॥२८०॥
वसुः सत्यस्य माहात्म्यात्स्थितः खे सिंहविष्टरे । इति विस्मयमानेन जनेनाघोषितोन्नतिः ॥२८१॥
तस्थावेवं प्रयात्यस्य काले पर्वतनारदौ । समित्पुष्पार्थमभ्येत्य वनं नद्याः प्रवाहजम् ॥२८२॥
जलं पीत्वा मयूराणां गतानां मार्गदर्शनात् । बभाषे नारदस्तत्र हे पर्वत शिखावकः ॥२८३॥
तेष्वेकोऽस्ति स्त्रियः सप्तैवेति तच्छ्रवणादसौ । मृषेत्यसोढा चित्तेन व्यधात् पणितबन्धनम् ॥२८४॥
[1]गत्वा ततोऽन्तरं किञ्चित् सद्भूतं नारदोदितम् । विदित्वा विस्मयं सोऽगान्मनागस्मात्पुरोगतः॥२८५॥
[1]करेणुमार्गमालोक्य सस्मितं नारदोऽवदत् । अन्धवामेक्षणा हस्तिवशैकात्राधुना गता ॥२८६॥
अन्धसर्पबिलायानमिव ते पूर्वभाषितम् । आसीद्यादृच्छिकं सत्यमिदं तु परिहास्यताम् ॥२८७॥
प्रयाति तव विज्ञानं मया विदितमस्ति किम् । इति स्मितं स सासूयं चित्ते विस्मयमाप्तवान् ॥२८८॥
तमसत्यं पुनः कर्तुं करिणीगमनानुगः । [2]पुराऽन्तर्नारदोद्दिष्टमुपलभ्य तथैव तत् ॥२८९॥
सशोको गृहमागत्य नारदोक्तं सविस्मयः । मातरं बोधयित्वाह नारदस्येव मे पिता ॥२९०॥
नावोचच्छास्त्रयाथात्म्यमस्ति मय्यस्य नादरः । इति पुत्रवचस्तस्या हृदयं निशितास्त्रवत् ॥२९१॥
विदार्य प्राविशत्पापाद् विपरीतावमर्शनात् । ब्राह्मणी तद्वचश्चिन्तेनावधार्य शुचं गता ॥२९२॥
कृत्वा स्नानाग्निहोत्रादि भुक्त्वा स्वब्राह्मणे स्थिते । अब्रवीत् पर्वतप्रोक्तं तन्निशम्य विदां वरः ॥२९३॥
निर्विशेषोपदेशोऽहं सर्वेषां पुरवं प्रति । विभिन्ना बुद्धयस्तस्मान्नारदः कुशलोऽभवत् ॥२९४॥

उसका बोध नहीं हुआ था ॥२७८-२७९॥ राजा वसुने उस स्तम्भको घर लाकर उसके चार बड़े-बड़े पाये बनवाये और उनका सिंहासन बनवाकर वह उसपर आरूढ़ हुआ । उस समय अनेक राजा आदि उसकी सेवा करते थे। लोग बड़े आश्चर्यसे उसकी उन्नतिकी घोषणा करते हुए कहते थे कि देखो, राजा वसु सत्यके माहात्म्यसे सिंहासनपर अधर आकाशमें बैठता है॥२८०-२८१॥ इस प्रकार इधर राजा वसुका समय बीत रहा था उधर एक दिन पर्वत और नारद, समिधा तथा पुष्प लानेके लिए वनमें गये थे। वहाँ वे क्या देखते हैं कि कुछ मयूर नदीके प्रवाहका पानी पीकर गये हुए हैं। उनका मार्ग देखकर नारदने पर्वतसे कहा कि हे पर्वत ! ये जो मयूर गये हुए हैं उनमें एक तो पुरुष है और बाकी सात स्त्रियाँ हैं। नारदकी बात सुनकर पर्वतने कहा कि तुम्हारा कहना झूठ है, उसे मनमें यह बात सह्य नहीं हुई अतः उसने कोई शर्त बाँध ली ॥२८२-२८४॥ तदनन्तर कुछ आगे जाकर जब उसे इस बातका पता चला कि नारदका कहा सच है तो वह आश्चर्यको प्राप्त हुआ। वे दोनों वहाँसे कुछ और आगे बढ़े तो नारद हाथियोंका मार्ग देखकर मुसकराता हुआ बोला कि यहाँसे जो अभी हस्तिनी गयी है उसका बाँया नेत्र अन्धा है ॥२८५-२८६॥ पर्वतने कहा कि तुम्हारा पहला कहना अन्धे साँपका बिलमें पहुँच जानेके समान यों ही सच निकल आया यह ठीक है परन्तु तुम्हारा यह विज्ञान हँसीको प्राप्त होता है। मैं क्या समझूँ ? इस तरह हँसते हुए ईर्ष्याके साथ उसने कहा और चित्तमें आश्चर्य प्राप्त किया ॥२८७-२८८॥ तदनन्तर नारदको झूठा सिद्ध करनेके लिए वह हस्तिनी-के मार्गका अनुसरण करता हुआ आगे बढ़ा और नगर तक पहुँचनेके पहले ही उसे इस बातका पता चल गया कि नारदने जो कहा था वह सच है ॥२८९॥ अब तो पर्वतके शोकका पार नहीं रहा। वह शोक करता हुआ बड़े आश्चर्यसे घर आया और नारदकी कही हुई सब बात मातासे कहकर कहने लगा कि पिताजी जिस प्रकार नारदको शास्त्रकी यथार्थ बात बतलाते हैं उस प्रकार मुझे नहीं बतलाते हैं। ये सदा मेरा अनादर करते हैं। इस तरह पापोदयसे विपरीत विचार करनेके कारण पुत्रके वचन, तीक्ष्णशस्त्रके समान उसके हृदयको चीरकर भीतर घुस गये। ब्राह्मणी पुत्रके वचनोंका विचार कर हृदयसे शोक करने लगी ॥२९०-२९२॥ जब ब्राह्मण क्षीरकदम्ब स्नान, अग्निहोत्र तथा भोजन करके बैठा तब ब्राह्मणीने पर्वतके द्वारा कही हुई सब बात कह सुनायी। उसे

---

१ इति सर्वत्र पुस्तकेषु पाठः । ल० पुस्तके तु भ्रष्टो विपर्यस्तो वा । २ पुरा तन्नारदोद्दिष्ट ख०, ग० । पुरोऽन्तर्नारदोद्दिष्ट म० । पुरोन्तर्नारदादिष्ट ल० ।

प्रकृत्या त्वत्सुतो मन्दो नासूयास्मिन् विधीयताम्[1] । इति तत्प्रत्ययं कर्तुं नारदं सुतसंनिधौ ॥२९५॥
वद केन वने भ्राम्यन् पर्वतस्योद्रवाकृथः । विस्मयं बह्विति प्राह सोऽपि सप्रश्रयोऽभ्यधात् ॥२९६॥
वनेऽहं पर्वतेनामा गच्छन्नर्मकथारतः[2] । शिखिनां पीतवारीणां सद्यो नद्या निवर्तने ॥२९७॥
स्वचन्द्रककलापाम्भोमध्यमज्जनगौरवात् । भीत्वा व्यावृत्य विमुखं कृतपश्चात्पदस्थितिः ॥२९८॥
कलापी गतवानेक शेषाश्च सजलार्दिता[3] । पत्रमार्गं विधूयागुस्तं दृष्ट्वा समभाषिषि ॥२९९॥
पुमानेकः स्त्रियश्चान्या इति मत्वानुमानतः । ततो वनान्तरात् किंचिदागत्य पुरसंनिधौ ॥३००॥
तथा करिण्याः पादाभ्यां पश्चिमाभ्यां प्रयाणके । स्वमूत्रवहनाद्भागे दक्षिणे तरुवीरुधाम् ॥३०१॥
भङ्गेन मार्गात् प्रच्युत्य श्रमादारूढयोषितः । शीतच्छायाभिलाषेण सुप्तायाः पुलिनस्थले ॥३०२॥
उदरस्पर्शमार्गेण दृशया गुल्मशङ्कया । करिण्याश्चिरगेहाग्रसितोद्यत्केतनेन च ॥३०३॥
मया तदुक्तमित्युक्ते श्रुत्वा तद् द्विजसत्तमः । निजापराधमावस्याभावमाविरभावयत् ॥३०४॥
तदा पर्वतमाताऽपि प्रसन्नाभूत् पुनश्च सः । तस्यास्तन्मुनिवाक्यार्थसंप्रत्ययविधित्सुकः ॥३०५॥
स्वपुत्रच्छात्रयोर्भावपरीक्षायै द्विजाग्रणीः । स्थित्वा सजानिरेकान्ते कृत्वा पिष्टेन बस्तकौ ॥३०६॥
देशेऽर्चित्वा परादृश्ये गन्धमाल्यादिमङ्गलैः । कर्णच्छेदं[4] विधायैतावद्यैवानयतं युवाम् ॥३०७॥
इत्यवादीत्ततः पापी पर्वतोऽस्ति न कश्चन । वनेऽस्मिन्निति विच्छिद्य कर्णौ पितरमागतः ॥३०८॥

सुनकर ज्ञानियोंसे श्रेष्ठ ब्राह्मण कहने लगा कि मैं तो सबको एक-सा उपदेश देता हूँ परन्तु प्रत्येक पुरुषकी बुद्धि भिन्न-भिन्न हुआ करती है यही कारण है कि नारद कुशल हो गया है। तुम्हारा पुत्र स्वभावसे ही मन्द है, इसलिए नारदपर व्यर्थ ही ईर्ष्या न करो। यह कहकर उसने विश्वास दिलानेके लिए पुत्रके समीप ही नारदसे कहा कि कहो, आज वनमें घूमते हुए तुमने पर्वतका क्या उपद्रव किया था? गुरुकी बात सुनकर वह कहने लगा कि बड़ा आश्चर्य है? यह कहते हुए उसने बड़ी विनयसे कहा कि मैं पर्वतके साथ विनोद-वार्ता करता हुआ वनमें आ रहा था। वहाँ मैंने देखा कि कुछ मयूर पानी पीकर नदीसे अभी हाल लौट रहे हैं ॥२९३–२९७॥ उनमें जो मयूर था वह अपनी पूँछके चन्द्रक पानीमें भीगकर भारी हो जानेके भयसे अपने पैर पीछेकी ओर रख फिर मुँह फिराकर लौटा था और बाकी जलसे भीगे हुए अपने पंख फटकारकर जा रहे थे। यह देख मैंने अनुमान-द्वारा पर्वतसे कहा था कि इनमें एक पुरुष है और बाकी स्त्रियाँ हैं। इसके बाद वनके मध्यसे चलकर किसी नगरके समीप देखा कि चलते समय किसी हस्तिनीके पिछले पैर उसीके मूत्रसे भीगे हुए हैं इससे मैंने जाना कि यह हस्तिनी है। उसके दाहिनी ओरके वृक्ष और लताएँ टूटी हुई थीं इससे जाना कि यह हथिनी बाँयीं आँखसे कानी है। उसपर बैठी हुई स्त्री मार्गकी थकावटसे उतरकर शीतल छायाकी इच्छासे नदीके किनारे सोयी थी वहाँ उसके उदरके स्पर्शसे जो चिह्न बन गये थे उन्हें देखकर मैंने जाना था कि यह स्त्री गर्भिणी है। उसकी साड़ीका एक छोर किसी झाड़ीमें उलझकर लग गया था इससे जाना था कि वह सफेद साड़ी पहने थी। जहाँ हस्तिनी ठहरी थी उस घरके अग्रभागपर सफेद ध्वजा फहरा रही थी इससे अनुमान किया था कि इसके पुत्र होगा। इस प्रकार अनुमानसे मैंने ऊपरकी सब बातें कही थीं। नारदकी ये सब बातें सुनकर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने ब्राह्मणीके समक्ष प्रकट कर दिया कि इसमें मेरा अपराध कुछ भी नहीं है—मैंने दोनोंको एक समान उपदेश दिया है ॥२९८–३०४॥ उस समय पर्वतकी माता भी यह सब सुनकर बहुत प्रसन्न हुई थी। तदनन्तर उस ब्राह्मणने पर्वतकी माताको उन मुनियोंके वचनोंका विश्वास दिलानेकी इच्छा की। वह अपने पुत्र पर्वत और विद्यार्थी नारदके भावोंकी परीक्षा करनेके लिए स्त्रीसहित एकान्तमें बैठा। उसने आटेके दो बकरे बनाकर पर्वत और नारदको सौंपते हुए कहा कि जहाँ कोई देख न सके ऐसे स्थानमें ले जाकर चन्दन तथा माला आदि मांगलिक पदार्थोंसे इनकी पूजा करो और फिर कान काटकर इन्हें आज ही यहाँ ले आओ ॥३०५–३०७॥ तदनन्तर पापी पर्वतने सोचा कि इस वनमें कोई नहीं है इसलिए वह एक

---

१ विधीयते म०, ल० । २ कर्मकथारतः क०, ख० । नर्मकथास्तरम् ल० । ३ तज्जलार्दितं ख०, म० । ४ सितागौना-ल० ।

त्वया पूज्य [1]यथोद्दिष्टं तथैव मया कृतम् । इति वीतघृणो हर्षात् स्वप्रेषणमबूबुधत् ॥३०९॥
नारदोऽपि वनं यातोऽदृश्यदेशेऽस्य कर्णयोः । कर्तव्यश्छेद इत्युक्तं गुरुणा चन्द्रभास्करौ ॥२१०॥
नक्षत्राणि ग्रहास्तारकाश्च पश्यन्ति देवताः । [2]सदा संनिहिता सन्ति पक्षिणो मृगजातयः ॥३११॥
नैते शक्या निराकर्तुमित्येत्य गुरुसंनिधिम्[3] । भव्यात्माऽदृष्टदेशस्य वने केनाप्यसंभवात ॥३१२॥
नामादिचतुरर्थेषु पापापख्यातिकारण । क्रियायामविधेयत्वाद्वाहमानीतवानिमम् ॥३१३॥
इत्याह तद्वचः श्रुत्वा स्वसुतस्य जडात्मताम् । विचिन्त्यैकान्तवाद्युक्तं सर्वथा कारणानुगम् ॥३१४॥
कार्यमित्येतदेकान्तमन्तं कुमतमेव तत् । कारणानुमतं कार्यं क्वचित्तत्क्वचिदन्यथा ॥३१५॥
इति स्याद्वादसंदृष्टं सत्यमित्यभितुष्टवान् । शिष्यस्य योग्यतां चित्ते निधाय बुधसत्तमः ॥३१६॥
हे नारद त्वमेवात्र सूक्ष्मप्रज्ञो यथार्थवित् । इतः प्रभृत्युपाध्यायपदे त्वं स्थापितो मया ॥३१७॥
व्याख्येयानि त्वया सर्वशास्त्राणीति प्रपूज्य तम् । प्रावर्द्धयद् गुणैरेव प्रीतिः सर्वत्र धीमताम् ॥३१८॥
निजाभिमुखमासीनं तनूजं चैवमब्रवीत् । विनाङ्ग त्वं विवेकेन [4]व्यधाद्धयेतद्विरूपकम् ॥३१९॥
कार्याकार्यविवेकस्ते न श्रुतादपि विद्यते । कथं जीवसि मच्चक्षुःपरोक्षे गतधीरिति ॥३२०॥
एवं पित्रा सशोकेन कृतशिक्षोऽविचक्षणः । नारदे बद्धवैरोऽभूत् कुधियामीदृशी गतिः ॥३२१॥
स कदाचिदुपाध्यायः सर्वसंगान् परित्यजन् । पर्वतस्तस्य माता च मन्दबुद्धी तथापि तौ ॥३२२॥

बकरेके दोनों कान काटकर पिताके पास वापस आ गया और कहने लगा कि हे पूज्य! आपने जैसा कहा था मैंने वैसा ही किया है। इस प्रकार दयाहीन पर्वतने बड़े हर्षसे अपना कार्य पूर्ण करनेकी सूचना पिताको दी ॥३०८–३०९॥ नारद भी वनमें गया और सोचने लगा कि 'अदृश्य स्थानमें जाकर इसके कान काटना है' ऐसा गुरुजीने कहा था परन्तु यहाँ अदृश्य स्थान है ही कहाँ? देखो न, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह और तारे आदि देवता सब ओरसे देख रहे हैं। पक्षी तथा हरिण आदि अनेक जंगली जीव सदा पास ही रह रहे हैं। ये किसी भी तरह यहाँसे दूर नहीं किये जा सकते। ऐसा विचार कर वह भव्यात्मा गुरुके पास वापस आ गया और कहने लगा कि वनमें ऐसा स्थान मिलना असम्भव है जिसे किसीने नहीं देखा हो। इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चारों पदार्थोंमें पाप तथा निन्दा उत्पन्न करनेवाली क्रियाएँ करनेका विधान नहीं है इसलिए मैं इस बकराको ऐसा ही लेता आया हूँ ॥३१०–३१३॥ नारदके वचन सुनकर उस ब्राह्मणने अपने पुत्रकी मूर्खताका विचार किया और कहा कि जो एकान्तवादी कारणके अनुसार कार्य मानते हैं वह एकान्तवाद है और मिथ्यामत है, कहीं तो कारणके अनुसार कार्य होता है और कहीं इसके विपरीत भी होता है। ऐसा जो स्याद्वादका कहना है वही सत्य है। देखो, मेरे परिणाम सदा दयासे आर्द्र रहते हैं परन्तु मुझसे जो पुत्र हुआ उसके परिणाम अत्यन्त निर्दय हैं। यहाँ कारणके अनुसार कार्य कहाँ हुआ? इस प्रकार वह श्रेष्ठ विद्वान् बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और शिष्यकी योग्यताका हृदयमें विचार कर कहने लगा कि हे नारद! तू ही सूक्ष्मबुद्धिवाला और पदार्थको यथार्थ जाननेवाला है इसलिए आजसे लेकर मैं तुझे उपाध्यायके पदपर नियुक्त करता हूँ। आजसे तू ही समस्त शास्त्रोंका व्याख्यान करना। इस प्रकार उसीका सत्कार कर उसे बढ़ावा दिया सो ठीक ही है क्योंकि सब जगह विद्वानोंकी प्रीति गुणोंसे ही होती है ॥३१४-३१८॥ नारदसे इतना कहनेके बाद उसने सामने बैठे हुए पुत्रसे इस प्रकार कहा—हे पुत्र! तूने विवेकके बिना ही यह विरुद्ध कार्य किया है। देख, शास्त्र पढ़नेपर भी तुझे कार्य और अकार्यका विवेक नहीं हुआ। तू निर्बुद्धि है अतः मेरी आँखोंके ओझल होनेपर कैसे जीवित रह सकेगा? इस प्रकार शोकसे भरे हुए पिताने पर्वतको शिक्षा दी परन्तु उस मूर्खपर उसका कुछ भी असर नहीं हुआ। वह उसके विपरीत नारदसे वैर रखने लगा सो ठीक ही है क्योंकि दुर्बुद्धि मनुष्योंकी ऐसी ही दशा होती है ॥३१९-३२१॥ किसी एक दिन क्षीरकदम्बने समस्त परिग्रहोंके त्याग

---

१ यथादिष्टं ल०, म०। २ तथा म०। ३ सन्निधौ म०, ल०। विधायैतद्विरूपकम् क०, घ०, ख०, म०। विधा ह्येतद्विरूपकम् ल०।

पालनीयौ त्वया भद्र मत्परोक्षेऽपि सर्वथा । इत्यथोचद् वसुं सोऽपि प्रीतोऽस्मि त्वदनुग्रहात् ॥३२३॥
अनुक्तसिद्धमेतत्तु वक्तव्यं किमिदं मम । [1]निधेयः संशयो नात्र पूज्यपाद यथोचितम् ॥३२४॥
परलोकमनुष्ठातुमर्हसीति द्विजोत्तमम् । मनोहरकथाम्लानमालयाभ्यर्चयन्नृपः ॥३२५॥
ततः क्षीरकदम्बो च सम्यक् संप्राप्य संयमम् । प्रान्ते संन्यस्य संप्रासे[2] नाकिनां लोकमुत्तमम् ॥३२६॥
पर्वतोऽपि पितृस्थानमध्यास्याशेषशास्त्रवित् । शिक्षाणां विश्वदिक्कानां व्याख्यातुं रतिमातनोत् ॥३२७॥
तस्मिन्नेव पुरे नारदोऽपि विद्वज्जनान्वितः । सूक्ष्मधीर्विहितस्थानो बभार व्याख्यया यशः ॥३२८॥
गच्छत्येवं तयोः काले कदाचित्साधुसंसदि । अजैर्होतव्यमित्यस्य वाक्यस्यार्थप्ररूपणे ॥३२९॥
विवादोऽभून्महांस्तत्र विगताङ्कुरशक्तिकम् । यवबीजं त्रिवर्षस्थमजमित्यभिधीयते ॥३३०॥
तद्विकारेण सप्तार्चिर्मुखे देवार्चनं विदः । वदन्ति यज्ञमित्याख्यद्गुरुपद्धति नारदः ॥३३१॥
पर्वतोऽप्यजशब्देन[3] पशुभेदः [4]प्रकीर्तितः । यज्ञोऽग्नौ तद्विकारेण होत्रमित्यवदद्विधीः ॥३३२॥
[5]द्वयोर्वचनमाकर्ण्य द्विजप्रमुखसाधवः । मात्सर्यान्नारदेनैष धर्मं प्राणवधादिति ॥३३३॥
प्रतिष्ठापयितुं धाम्यां दुरात्मा पर्वतोऽब्रवीत् । [6]पतितोऽयमयोग्योऽतः सह संभाषणादिभिः ॥३३४॥
इति हस्ततलास्फालनेन निर्भर्त्स्यं तं क्रुधा[7] । घोषयामासुरत्रैव दुर्बुद्धेरीदृशं फलम् ॥३३५॥
एवं बहिः कृतः सर्वैर्मानभङ्गाद्गतो वनम् । तत्र ब्राह्मणवेषेण वयसा परिणामिना ॥३३६॥

करनेका विचार किया इसलिए उसने राजा वसुसे कहा कि यह पर्वत और उसकी माता यद्यपि मन्दबुद्धि हैं तथापि हे भद्र ! मेरे पीछे भी तुम्हें इनका सब प्रकारसे पालन करना चाहिए। उत्तरमें राजा वसुने कहा कि मैं आपके अनुग्रहसे प्रसन्न हूँ। यह कार्य तो बिना कहे ही करने योग्य है इसके लिए आप क्यों कहते हैं ? हे पूज्यपाद ! इसमें थोड़ा भी संशय नहीं कीजिए, आप यथायोग्य परलोकका साधन कीजिए। इस प्रकार मनोहर कथारूपी अम्लान मालाके द्वारा राजा वसुने उस उत्तम ब्राह्मणका खूब ही सत्कार किया ॥३२२-३२५॥ तदनन्तर क्षीरकदम्बने उत्तम संयम धारण कर लिया और अन्तमें संन्यासमरण कर उत्तम स्वर्ग लोकमें जन्म प्राप्त किया ॥३२६॥

इधर समस्त शास्त्रोंका जाननेवाला पर्वत भी पिताके स्थानपर बैठकर सब प्रकारकी शिक्षाओंकी व्याख्या करनेमें प्रेम करने लगा ॥३२७॥ उसी नगरमें सूक्ष्म बुद्धिवाला नारद भी अनेक विद्वानोंके साथ निवास करता था और शास्त्रोंकी व्याख्याके द्वारा यश प्राप्त करता था ॥३२८॥ इस प्रकार उन दोनोंका समय बीत रहा था। किसी एक दिन साधुओंकी सभामें 'अजैर्होतव्यम्' इस वाक्यका अर्थ निरूपण करनेमें बड़ा भारी विवाद चल पड़ा। नारद कहता था कि जिसमें अंकुर उत्पन्न करनेकी शक्ति नष्ट हो गयी है ऐसा तीन वर्षका पुराना जौ अज कहलाता है और उससे बनी हुई वस्तुओंके द्वारा अग्निके मुखमें देवताकी पूजा करना—आहुति देना यज्ञ कहलाता है। नारदका यह व्याख्यान यद्यपि गुरुपद्धतिके अनुसार था परन्तु निर्बुद्धि पर्वत कहता था कि अज शब्द एक पशु विशेषका वाचक है अतः उससे बनी हुई वस्तुओंके द्वारा अग्निमें होम करना यज्ञ कहलाता है ॥३२९-३३२॥ उन दोनोंके वचन सुनकर उत्तम प्रकृतिवाले साधु पुरुष कहने लगे कि इस दुष्ट पर्वतकी नारदके साथ ईर्ष्या है इसीलिए यह प्राणवधसे धर्म होता है यह बात पृथिवीपर प्रतिष्ठापित करनेके लिए कह रहा है। यह पर्वत बड़ा ही दुष्ट है, पतित है अतः हम सब लोगोंके साथ वार्तालाप आदि करनेमें अयोग्य है ॥३३३-३३४॥ इस प्रकार सबने क्रोधवश हाथकी हथेलियोंके ताड़नसे उस पर्वतका तिरस्कार किया और घोषणा की कि दुर्बुद्धिका ऐसा फल इसी लोकमें मिल जाता है ॥३३५॥ इस प्रकार सबके द्वारा बाहर निकाला हुआ पर्वत मान-भंग होनेसे वनमें चला गया। वहाँ महाकाल नामका असुर ब्राह्मणका वेष रखकर भ्रमण कर रहा था। उस समय वह वृद्ध

१ विधेये ल०, म० । २ संप्राप्तो क०, घ० । ३ पदेन ल० । ४ प्रकीर्त्यते ल० । ५ तयोर्वचन- म०, ल० । ६ पतितोऽयमयोग्यो नः क०, घ० । ७ क्रुध्वा क०, घ०, म० । क्रुधात् ल० ।

[1]कृतान्तारोहणासन्नसोपानपदवीरिव[2] । वलीरुद्वहता भूयः स्खलतेवान्धचक्षुषा ॥३३७॥
विरलेन शिरोजेन सितेन दधता सतम् । राजतं वा शिरस्त्राणमन्तिकान्तकजाद्भयात् ॥३३८॥
जराङ्गनासमासंग[3]सुखाद्वामीलचक्षुषा । चलच्छिन्नकरेणेव करिणा कुपिताहिना ॥३३९॥
इवोर्ध्वश्वासिना राजवल्लभेनेव नाग्रतः । अस्फुटं पश्यता भग्नपृष्ठेनापटुभाषिणा ॥३४०॥
राज्ञेव योग्यदण्डेन शमेनेव तनूभृता । विश्वभूनृपकन्यासु[4] बद्धक्रोधमिवात्मनः ॥३४१॥
वक्तुं धारयता यज्ञोपवीतं त्रिगुणीकृतम् । तेन स्वाभिमतारम्भसिद्धिहेतुगवेषिणा ॥३४२॥
महाकालेन दृष्टः सन् पर्वतः पर्वते भ्रमन् । प्रतिगम्य नमानम्य सोऽभ्यधादभिवादनम् ॥३४३॥
महाकालः समाश्वास्य स्वस्ति तेऽस्त्विति सादरम् । तमविज्ञातपूर्वत्वात्कुतस्त्यस्त्वं वनान्तरे ॥३४४॥
परिभ्रमणमेतत्ते ब्रूहि मे केन हेतुना । इत्यपृच्छदसौ चाह निजवृत्तान्तमादितः ॥३४५॥
तं निशम्य महाकालः सगरं मम वैरिणम् । निर्वंशीकर्तुमेव स्यात्समर्थो मे प्रतिष्कसः ॥३४६॥
इति निश्चित्य पापात्मा [5]विप्रलम्भनपण्डितः । त्वत्पिता स्थण्डिलो विष्णुरुपमन्युरहं च भोः ॥३४७॥
[6]भौमोपाध्यायसांनिध्ये शास्त्राभ्यासमकुर्वहि । त्वत्पिता मे ततो विद्धि धर्मभ्राता तमीक्षितुम् ॥३४८॥
ममागमनमेतच्च वैफल्यं समपद्यत । मा भैषीः शत्रुविध्वंसे सहायस्ते भवाम्यहम् ॥३४९॥
इति क्षीरकदम्बात्मजेष्टार्थानुगताः स्वयम् । [7]आथर्वणगताषष्टिसहस्रप्रमिताः पृथक् ॥३५०॥

अवस्थाके रूपमें था, वह बहुत-सी बलि अर्थात् शरीरकी सिकुड़नोंको धारण कर रहा था वे सिकुड़नें ऐसी जान पड़ती थीं मानो यमराजके चढ़नेके लिए सीढ़ियोंका मार्ग ही हो। अन्धेकी तरह वह बार-बार लड़खड़ाकर गिर पड़ता था, उसके शिरपर बिरले-बिरले सफेद बाल थे, वह एक सफेद रंगकी पगड़ी धारण कर रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो यमराजके भयसे उसने चाँदीका टोप ही लगा रखा हो, उसके नेत्र कुछ-कुछ बन्द थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वृद्धावस्थारूपी स्त्रीके समागमसे उत्पन्न हुए सुखसे ही उसके नेत्र बन्द हो रहे थे, उसकी गति सूँड़ कटे हुए हाथीके समान थी, वह क्रुद्ध साँपके समान लम्बी-लम्बी श्वास भर रहा था, राजाके प्यारे मनुष्यके समान वह मदसे आगे नहीं देखता था, उसकी पीठ टूटी हुई थी। वह स्पष्ट नहीं बोल सकता था, जिस प्रकार राजा योग्य दण्डसे सहित होता है अर्थात् सबके लिए योग्य दण्ड—सजा देता है उसी प्रकार वह भी योग्य दण्डसे सहित था—अर्थात् अपने अनुकूल दण्ड—लाठी लिये हुए था, ऊपरसे इतना शान्त दिखता था मानो शरीरधारी शम—शान्ति ही हो, विश्वभू मन्त्री, सगर राजा और सुलसा कन्याके ऊपर हमारा बैर बँधा हुआ है यह कहनेके लिए ही मानो वह तीन लड़का यज्ञोपवीत धारण कर रहा था, वह अपना अभिप्राय सिद्ध करनेके लिए योग्य कारण खोज रहा था। ऐसे महाकालने पर्वतपर घूमते हुए क्षीरकदम्बके पुत्र पर्वतको देखा। ब्राह्मण वेषधारी महाकालने पर्वतके सम्मुख जाकर उसे नमस्कार किया और पर्वतने भी उसका अभिवादन किया॥३३६-३४३॥ महाकालने आश्वासन देते हुए आदरके साथ कहा कि तुम्हारा भला हो। तदनन्तर अजान बनकर महाकालने पर्वतसे पूछा कि तुम कहाँसे आये हो और इस वनके मध्यमें तुम्हारा भ्रमण किस कारणसे हो रहा है? पर्वतने भी प्रारम्भसे लेकर अपना सब वृत्तान्त कह दिया। उसे सुनकर महाकालने सोचा कि यह मेरे वैरी राजाको निर्वंश करनेके लिए समर्थ है, यह मेरा साधर्मी है। ऐसा विचार कर ठगनेमें चतुर पापी महाकाल पर्वतसे कहने लगा कि हे पर्वत! तुम्हारे पिताने, स्थण्डिलने, विष्णुने, उपमन्युने और मैंने भौम नामक उपाध्यायके पास शास्त्राभ्यास किया था इसलिए तुम्हारे पिता मेरे धर्मभाई हैं। उनके दर्शन करनेके लिए ही मेरा यहाँ आना हुआ था परन्तु खेद है कि वह निष्फल हो गया। तुम डरो मत—शत्रुका नाश करनेमें मैं तुम्हारा सहायक हूँ॥३४४-३४९॥ इस प्रकार उस महाकालने क्षीरकदम्बके पुत्र पर्वतके इष्ट अर्थका अनुसरण करनेवाली अथर्ववेद सम्बन्धी साठ

१ कृतान्त ख० । २ पदवीमिव क० । ३ समासङ्ग ल०, म० । ४ कान्तासु ग०, ख० । ५ प्रविलम्भन म०, ख० । ६ भौमोपाध्याय ख० । ७ अथर्वण ग०, म० ।

ऋचो वेदरहस्यानीत्युक्त्वाध्याप्य पर्वतम् । शान्तिपुष्ट्यभिचारात्मक्रियाः पूर्वोक्तमन्त्रणैः ॥३५१॥
निशिताः पवनोपेतवह्निज्वालासमाः फलम् । इष्टेत्पादमिष्यन्ति प्रयुक्ताः पशुहिंसनात् ॥३५२॥
ततः साकेतमध्यास्य शान्तिकादिफलप्रदम् । हिंसायागं समारभ्य प्रभावं विदधामहे ॥३५३॥
इत्युक्त्वा वैरिनाशार्थमात्मीयान् दितिपुत्रकान् । तीव्रान् सगरराष्ट्रस्य बाधां तीव्रज्वरादिभिः ॥३५४॥
कुरुध्वमिति संप्रेष्य सद्विजस्तत्पुरं गतः । सगरं मन्त्रगर्भाशीर्वादेनालोक्य पर्वतः ॥३५५॥
स्वप्रभावं प्रकाश्यास्य स्वदेशविषमाशिवम् । [1]शमयिष्यामि यज्ञेन [2]समन्त्रेणाविलम्बितम् ॥३५६॥
यज्ञाय वेधसा सृष्टाः पशवस्तद्विहिंसनात् । न पापं पुण्यमेव [3]स्यात्स्वर्गोरुसुखसाधनम् ॥३५७॥
इति [4]प्रत्याय्य तं पापः पुनरप्येवमब्रवीत् । त्वं पशूनां सहस्राणि षष्टिं यागस्य सिद्धये ॥३५८॥
कुरु संग्रहमन्यच्च द्रव्यं तद्योग्यमित्यसौ । राजापि सर्ववस्तूनि तथैवास्मै समर्पयत् ॥३५९॥
प्रारभ्य पर्वतो यागं प्राणिनोऽमन्त्रयत्तदा । महाकालः शरीरेण सह स्वर्गमुपागतः ॥३६०॥
इत्याकाशे विमानैस्तान्नीयमानानदर्शयत् । देशाशिवोपसर्गं च तदैवासौ निरस्तवान् ॥३६१॥
तद्दृष्ट्वा देहिनो मुग्धास्तत्प्रलम्भेन मोहिताः । तां गतिं प्रेप्सवो यागमृतिमाकांक्षयन्नलम् ॥३६२॥
तद्यज्ञावसितौ जात्यं हयमेकं विधानतः । इयाज सुलसां देवीमपि राजाज्ञया खलः ॥३६३॥
प्रियकान्तावियोगोत्थशोकदावानलार्चिषा । परिप्लुष्टतनू राजा राजधानीं प्रविष्टवान् ॥३६४॥
शय्यातले विनिक्षिप्य शरीरं प्राणिहिंसनम् । वृत्तं महदिदं धर्मः किमधर्मोऽयमित्यसौ ॥३६५॥
संशयानस्तथान्येद्युर्मुनिं यतिवराभिधम् । अभिवन्द्य यथारब्धं भट्टारक यथास्थितम् ॥३६६॥

हजार ऋचाएँ पृथक्-पृथक् स्वयं बनायीं। ये ऋचाएँ वेदका रहस्य बतलानेवाली थीं, उसने पर्वतके लिए इनका अध्ययन कराया और कहा कि पूर्वोक्त मन्त्रोंसे वायुके द्वारा बढ़ी हुई अग्निकी ज्वालामें शान्ति पुष्टि और अभिचारात्मक क्रियाएँ की जावें तो पशुओंकी हिंसासे इष्ट फलकी प्राप्ति हो जाती है। तदनन्तर उन दोनोंने विचार किया कि हम दोनों अयोध्यामें जाकर रहें और शान्ति आदि फल प्रदान करनेवाला हिंसात्मक यज्ञ प्रारम्भ कर अपना प्रभाव उत्पन्न करें ॥३५०-३५३॥ ऐसा कहकर महाकालने वैरियोंका नाश करनेके लिए अपने क्रूर असुरोंको बुलाया और आदेश दिया कि तुम लोग राजा सगरके देशमें तीव्र ज्वर आदिके द्वारा पीड़ा उत्पन्न करो। यह कहकर असुरोंको भेजा और स्वयं पर्वतको साथ लेकर राजा सगरके नगरमें गया। वहाँ मन्त्र मिश्रित आशीर्वादके द्वारा सगरके दर्शन कर पर्वतने अपना प्रभाव दिखलाते हुए कहा कि तुम्हारे राज्यमें जो घोर अमंगल हो रहा है मैं उसे मन्त्रसहित यज्ञके द्वारा शीघ्र ही शान्त कर दूँगा ॥३५४-३५६॥ विधाताने पशुओंकी सृष्टि यज्ञके लिए ही की है अतः उनकी हिंसासे पाप नहीं होता किन्तु स्वर्गके विशाल सुख प्रदान करनेवाला पुण्य ही होता है ॥३५७॥ इस प्रकार विश्वास दिलाकर वह पापी फिर कहने लगा कि तुम यज्ञकी सिद्धिके लिए साठ हजार पशुओंका तथा यज्ञके योग्य अन्य पदार्थोंका संग्रह करो। राजा सगरने भी उसके कहे अनुसार सब वस्तुएँ उसके लिए सौंप दीं ॥३५८-३५९॥ इधर पर्वतने यज्ञ आरम्भ कर प्राणियोंको मन्त्रित करना शुरू किया—मन्त्रोच्चारण पूर्वक उन्हें यज्ञ-कुण्डमें डालना शुरू किया। उधर महाकालने उन प्राणियोंको विमानोंमें बैठाकर शरीरसहित आकाशमें जाते हुए दिखलाया और विश्वास दिला दिया कि ये सब पशु स्वर्ग गये हैं। उसी समय उसने देशके सब अमंगल और उपसर्ग दूर कर दिये ॥३६०-३६१॥ यह देख बहुत-से भोले प्राणी उसकी प्रतारणा—मायासे मोहित हो गये और स्वर्ग प्राप्त करनेकी इच्छासे यज्ञमें मरनेकी इच्छा करने लगे ॥३६२॥ यज्ञके समाप्त होनेपर उस दुष्ट पर्वतने विधिपूर्वक एक उत्तम जातिका घोड़ा तथा राजाकी आज्ञासे उसकी सुलसा नामकी रानीको भी होम दिया ॥३६३॥ प्रिय स्त्रीके वियोगसे उत्पन्न हुए शोकरूपी दावानलकी ज्वालासे जिसका शरीर जल गया है ऐसा राजा सगर राजधानीमें प्रविष्ट हुआ ॥३६४॥ वहाँ शय्यातलपर अपना शरीर डालकर वह संशय करने लगा कि यह जो बहुत भारी प्राणियोंकी हिंसा हुई है सो यह धर्म है या अधर्म ? ॥३६५॥ ऐसा संशय करता हुआ

---

१ शोषयिष्यामि ल० । २ सुमित्रेणा —ल० । ३ पुण्यमेवास्य ख० । ४ प्रत्याय्य क०, ख०, ग०, घ० ।

ब्रूहि किं कर्म पुण्यं मे पापं चेदं विचार्य तत् । इत्यवोचदसौ चाह धर्मशास्त्रबहिष्कृतम् ॥३६७॥
एतदेव विधातारं सप्तमीं प्रापयेत्क्षितिम् । तस्याभिज्ञानमप्यस्ति दिनेऽस्मिन् सप्तमेऽशनिः ॥३६८॥
पतिष्यति ततो विद्धि सप्तमीं धरणीति ते । तदुक्तं भूपतिर्मत्वा ब्राह्मणं तं न्यवेदयत् ॥३६९॥
तन्मृषा किमसौ वेत्ति नग्नः क्षपणकस्तत. । [1]शङ्कास्ति चेत्तवैतस्याः शान्तिरत्र विधीयते ॥३७०॥
इत्युक्तिभिर्मनस्तस्य संधार्य शिथिलीकृतम् । यज्ञं पुनस्समारब्धं[2] स ततः सप्तमे दिने ॥३७१॥
माययाऽसुरपापस्य सुलसा नभसि स्थिता । देवभावं गता प्राच्यपशुभेदपरिष्कृता[3] ॥३७२॥
यागमृत्युफलेनैषा[4] लब्धा देवगतिर्मया । तं प्रमोदं तवाख्यातुं विमानेऽहमिहागता ॥३७३॥
यज्ञेन प्रीणिता देवाः पितरश्चेत्यभाषत । तद्वचःश्रवणाद् दृष्टं प्रत्यक्षं यागमृत्युजम् ॥३७४॥
फलं जैनमुनेर्वाक्यमसत्यमिति भूपतिः । तीव्रहिंसानुरागेण सद्धर्मद्वेषिणोदयात् ॥३७५॥
संभूतपरिणामेन मूलोत्तरविकल्पितान् । तत्प्रायोग्यसमुत्कृष्टदुष्टसंक्लेशसाधनान् ॥३७६॥
नरकायुःप्रभृत्यष्टकर्मणां स्वोचितस्थितेः । अनुभागस्य बन्धस्य निकाचितनिबन्धने ॥३७७॥
विभीषणाशनिस्वेन तत्काले [5]पतिते रिपौ । [6]तत्कर्मणि प्रसक्ताखिलाङ्गिभिः सगरः सह ॥३७८॥
रौरवेऽजनि दुष्टात्मा महाकालोऽपि तत्क्षणे । स्ववैरपवनापूरणेन गत्वा रसातलम् ॥३७९॥
तं दण्डयितुमुत्क्रोधस्तृतीयनरकावधौ । अन्विष्यानवलोक्यैनं विश्वभूप्रभृतिद्विषम् ॥३८०॥
मृतिप्रयोगसंपादी ततो निर्गत्य निर्घृणः । पर्वतस्य प्रसादेन सुलसासहितः सुखम् ॥३८१॥
प्राप्तोऽहमिति शंसन्तं विमानेऽरिमदर्शयत् । तं दृष्ट्वा तत्परोक्षेऽत्र विश्वभूः सचिव. स्वयम् ॥३८२॥

वह यतिवर नामक मुनिके पास गया और नमस्कार कर पूछने लगा कि हे स्वामिन् ! मैंने जो कार्य प्रारम्भ किया है वह आपको ठीक-ठीक विदित है । विचार कर आप यह कहिए कि मेरा यह कार्य पुण्य रूप है अथवा पाप रूप ? उत्तरमें मुनिराजने कहा कि यह कार्य धर्मशास्त्रसे बहिष्कृत है, यह कार्य ही अपने करनेवालेको सप्तम नरक भेजेगा । उसकी पहचान यह है कि आजसे सातवें दिन वज्र गिरेगा उससे जान लेना कि तुझे सातवीं पृथिवी प्राप्त हुई है । मुनिराजका कहा ठीक मानकर राजाने उस ब्राह्मण-पर्वतसे यह सब बात कही ॥३६६-३६९॥ राजाकी यह बात सुनकर पर्वत कहने लगा कि वह झूठ है, वह नंगा साधु क्या जानता है ? फिर भी तुझे यदि शंका है तो इसकी भी शान्ति कर डालते हैं ॥३७०॥ इस तरहके वचनोंसे राजाका मन स्थिर किया और जो यज्ञ शिथिल कर दिया था उसे फिरसे प्रारम्भ कर दिया । तदनन्तर सातवें दिन उस पापी असुरने दिखलाया कि सुलसा देव पर्याय प्राप्त कर आकाशमें खड़ी है, पहले जो पशु होमे गये थे वे भी उसके साथ हैं । वह राजा सगरसे कह रही है कि यज्ञमें मरनेके फलसे ही मैंने यह देवगति पायी है, मैं यह सब हर्षकी बात आपको कहनेके लिए ही विमानमें बैठकर यहाँ आयी हूँ । यज्ञसे सब देवता प्रसन्न हुए हैं और सब पितर तृप्त हुए हैं । उसके यह वचन सुनकर सगरने विचार किया कि यज्ञमें मरनेका फल प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है अतः जैन मुनिके वचन असत्य हैं । उसी समय तीव्र हिंसासे अनुराग रखनेवाले एवं सद्धर्मके साथ द्वेष करनेवाले कर्मकी मूल-प्रकृति तथा उत्तर प्रकृतियोंके भेदसे उत्पन्न हुए परिणामोंसे, नरकायुको आदि लेकर आठों कर्मोका न छूटनेवाला अपने योग्य उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एवं उत्कृष्ट अनुभागबन्ध पड़ गया । उसी समय भयंकर वज्रपात होनेसे शत्रुका पतन हो गया और उस कार्यमें लगे हुए सब जीवोंके साथ राजा सगर मरकर रौरव नरक—सातवें नरकमें उत्पन्न हुआ । अत्यन्त दुष्ट महाकाल भी तीव्र क्रोध करता हुआ अपने वैररूपी वायुके झँकोरेसे उसे दण्ड देनेके लिए नरक गया परन्तु उसके नीचे जानेकी अवधि तीसरे नरक तक ही थी । वहाँतक उसने उसे खोजा परन्तु जब पता नहीं चला तब वह निर्दय वहाँसे निकला और विश्वभू मन्त्री आदि शत्रुओंको मारनेका उपाय करने लगा । उसने मायासे दिखाया कि राजा सगर सुलसाके साथ विमानमें बैठा हुआ कह रहा है कि मैं पर्वतके

१ शङ्कास्ति चेत्तवैतस्या ल० । २ समारब्धः ल० । ३ पुरस्कृत म०, ल० । ४ फलेनैव ल० । ५ पतितौ । ६ तत्कर्मणि ससत्कर्मप्रसक्ता ल० ।

विषयाधिपतिर्भूत्वा महामेधे कृतोद्यमः । विमानान्तर्गता देवा पितरश्च नभोऽङ्गणे ॥३८३॥
सर्वेषां दर्शिता व्यक्तं महाकालस्य मायया । महामेधस्त्वया यागो मन्त्रिन् पुण्यवता कृतः ॥३८४॥
इति विश्वभुवं भूपः संभूयास्तावियुस्तदा । नारदस्तापसाश्चैतदाकर्ण्यैव दुरात्मना ॥३८५॥
[1]दुर्मार्गो द्विषतानेन धिक् लोकस्य प्रकाशितः । निवार्योऽयमुपायेन केनचित्पापपण्डितः ॥३८६॥
इति सर्वेऽपि संगत्य साकेतपुरमागताः । यथाविधि समालोक्य सचिवं पापिनो नराः ॥३८७॥
नितान्तमर्थकामार्थं कुर्वन्ति प्राणिनां वधम् । न के[2]ऽपि क्वापि धर्मार्थं प्राणिनां सन्ति घातकाः ॥३८८॥
वेदविद्भिरहिंसोक्ता [3]वेदे ब्रह्मनिरूपिते । कल्पवल्लीव मातेव सखीव जगते हिता ॥३८९॥
इति [4]पूर्वर्षिवाक्यस्य त्वया प्रामाण्यमिच्छता । त्याज्यमेतद्वधप्रायं कर्म कर्मनिबन्धनम् ॥३९०॥
तापसैरभ्यधायीति सर्वप्राणिहितैषिभिः । विश्वभूरिदमाकर्ण्य तापसा भोः कथं मया ॥३९१॥
दृष्टं शक्यमपह्नोतुं साक्षात्स्वर्गस्य साधनम् । इति ब्रुवन् पुनर्नारदेनोक्तः पापभीरुणा ॥३९२॥
अमात्योत्तम विद्वांस्त्वं किमिति स्वर्गसाधनम् । सगरं सपरीवारं निर्मूलयितुमिच्छता ॥३९३॥
उपायोऽयं व्यधाय्येवं प्रत्यक्षफलदर्शनात् । केनचित्कुहुकज्ञेन मुग्धानां मोहकारणम् ॥३९४॥
ततः शीलोपवासादिविधिमार्षागमोदितम् । आचरेति स तं प्राह पर्वतं नारदोदितम् ॥३९५॥
श्रुतं त्वयेत्यसौ शास्त्रेणासुरोक्तेन दुर्मतिः । मोहितो नारदेनापि प्रागिदं किं न वा श्रुतम् ॥३९६॥
ममास्य च गुरुर्नान्यो [5]मत्पितैवातिगर्वितः । समस्तरनयाप्येष मदग्र किमिवोच्यते ॥३९७॥

प्रसादसे ही सुखको प्राप्त हुआ हूँ। यह देख, विश्वभू मन्त्री जो कि सगर राजाके पीछे स्वयं उसके देशका स्वामी बन गया था महामेध यज्ञमें उद्यम करने लगा। महाकालकी मायासे सब लोगोंको साफ-साफ दिखाया गया था कि आकाशांगणमें बहुत-से देव तथा पितर लोग अपने-अपने विमानोंमें बैठे हुए हैं। राजा सगर तथा अन्य लोग एकत्रित होकर विश्वभू मन्त्रीकी स्तुति कर रहे हैं कि मन्त्रिन्! तुम बड़े पुण्यशाली हो, तुमने यह महामेध यज्ञ प्रारम्भ कर बहुत अच्छा कार्य किया। इधर यह सब हो रहा था उधर नारद तथा तपस्वियोंने जब यह समाचार सुना तो वे कहने लगे कि इस दुष्ट शत्रुने लोगोंके लिए यह मिथ्या मार्ग बतलाया है अतः इसे धिक्कार है। पाप करनेमें अत्यन्त चतुर इस पर्वतका किसी उपायसे प्रतिकार करना चाहिए। ऐसा विचार कर सब लोग एकत्रित हो अयोध्या नगरमें आये। वहाँ उन्होंने पाप करते हुए विश्वभू मन्त्रीको देखा और देखा कि बहुत-से पापी मनुष्य अर्थ और कामके लिए बहुत-से प्राणियोंका वध कर रहे हैं। तपस्वियोंने विश्वभू मन्त्रीसे कहा कि पापी मनुष्य अर्थ और काम-के लिए तो प्राणियोंका विघात करते हैं परन्तु धर्मके लिए कहीं भी कोई भी मनुष्य प्राणियोंका घात नहीं करते। वेदके जाननेवालोंने ब्रह्मनिरूपित वेदमें अहिंसाको कल्प लताके समान, अथवा सखीके समान जगत्का हित करनेवाली बतलाया है। हे मन्त्रिन्! यदि तुम पूर्व ऋषियों-के इस वाक्यको प्रमाण मानते हो तो तुम्हें हिंसासे भरा हुआ यह कार्य जो कि कर्मबन्धका कारण है अवश्य ही छोड़ देना चाहिए ॥३७१-३९०॥ सब प्राणियोंका हित चाहनेवाले तपस्वियोंने इस प्रकार कहा परन्तु विश्वभू मन्त्रीने इसे सुनकर कहा कि हे तपस्वियो! जो यज्ञ प्रत्यक्ष ही स्वर्ग-का साधन दिखाई दे रहा है उसका अपलाप किस प्रकार किया जा सकता है? तदनन्तर इस प्रकार कहनेवाले विश्वभू मन्त्रीसे पापभीरु नारदने कहा कि हे उत्तम मन्त्रिन्! तू तो विद्वान् है, क्या यह सब स्वर्गका साधन है? अरे, राजा सगरको परिवार-सहित निर्मूल नष्ट करनेकी इच्छा करनेवाले किसी मायावीने इस तरह प्रत्यक्ष फल दिखाकर यह उपाय रचा है, यह उपाय केवल मूर्ख मनुष्योंको ही मोहित करनेका कारण है ॥३९१-३९४॥ इसलिए तू ऋषिप्रणीत आगममें कही हुई शील तथा उपवास आदिकी विधिका आचरण कर। इस प्रकार नारदके वचन सुनकर विश्वभूने पर्वतसे कहा कि तुमने नारदका कहा सुना? महाकाल असुरके द्वारा कहे शास्त्रसे मोहित हुआ दुर्बुद्धि पर्वत कहने लगा कि यह शास्त्र क्या नारदने भी पहले कभी

---

१ दुर्मार्गोऽधिकृतोऽनेन म० ल०। २ कोऽपि ल०। ३ वेदे ब्रह्मनिरूपितः म०। वेदो ब्रह्मनिरूपितः ल०। ४ पूर्वापरवाक्यस्य ल०। ५ मतिस्यै वाति ल० (?)

सश्रुतो मद्गुरोर्धर्मभ्राता जगति विश्रुतः । स्थविरस्तेन च श्रौतं रहस्यं प्रतिपादितम् ॥३९८॥
यागमृत्युफलं साक्षान्मयापि प्रकटीकृतम् । न चेत् ते प्रत्ययो विश्ववेदाम्भोनिधिपारगम् ॥३९९॥
वसुं प्रसिद्धं सत्येन पृच्छेरित्यन्वभाषत । तच्छ्रुत्वा नारदोऽवादीत्को दोषः पृच्छ्यतामसौ ॥४००॥
इदं तावद्विचारार्हं वधश्चेद्धर्मसाधनम् । अहिंसादानशीलादि भवेत्पापप्रसाधनम् ॥४०१॥
अस्तु चेन्मत्स्यबन्धादिपापिनां परमा गतिः । सत्यधर्मतपोब्रह्मचारिणो यान्त्वधोगतिम् ॥४०२॥
यज्ञे पशुवधाद्धर्मो नेतरत्रेति चेन्न तत् । वधस्य दुःखहेतुत्वे सादृश्यादत्र चान्यत्र वा ॥४०३॥
फलेनापि समानेन भाव्यं कस्तन्निषेधकः । अथ त्वमेवं मन्येथाः [1]पशुसृष्टेः स्वयंभुवः ॥४०४॥
[2]यज्ञार्थत्वान्न [3]तस्यास्ति विनियोक्तुरघागमः । [4]इत्येवं चातिमुग्धाभिलाषः साधुविगर्हितः ॥४०५॥
तत्सर्गस्यैव साधुत्वादन्यत्रास्य [5]दुर्घटम् । यदर्थं यद्धि तस्यान्यथोपयोगोऽर्थकृन्न तत् ॥४०६॥
यथान्यथोपयुक्तं स श्लेष्मादिशमनौषधम् । यज्ञार्थपशुसर्गेण क्रयविक्रयणादिकम् ॥४०७॥
तथान्यथा प्रयुक्तं [6]तन्महादोषाय कल्पते । दुर्बलं वादिनं दृष्ट्वा ब्रूमः त्वामभ्युपेत्य च ॥४०८॥
यथा शस्त्रादिभिः प्राणिव्यापादी बध्यतेंऽहसा । मन्त्रैरपि पशून् हत्वा बध्यते निर्विशेषतः ॥४०९॥
पश्वादिलक्षणः सर्गो व्यज्यते क्रियतेऽथवा । क्रियते चेत्खपुष्पादि वासन[7] क्रियते कुतः ॥४१०॥

नहीं सुना । इसके और मेरे गुरु पृथक् नहीं थे, मेरे पिता ही तो दोनोंके गुरु थे फिर भी यह अधिक गर्व करता है । मुझपर ईर्ष्या रखता है अतः आज चाहे जो कह बैठता है । विद्वान् स्थविर मेरे गुरुके धर्म भाई तथा जगत्में प्रसिद्ध थे, उन्हींने मुझे यह श्रुतियोंका रहस्य बतलाया है । यज्ञमें मरनेसे जो फल होता है उसे मैंने भी आज प्रत्यक्ष दिखला दिया है फिर भी यदि तुझे विश्वास नहीं होता है तो समस्त वेदरूपी समुद्रके पारगामी राजा वसुसे जो कि सत्यके कारण प्रसिद्ध है, पूछ सकते हो । यह सुनकर नारदने कहा कि क्या दोष है वसुसे पूछ लिया जावे ॥३९८-४००॥ परन्तु यह बात विचार करनेके योग्य है कि यदि हिंसा, धर्मका साधन मानी जायेगी तो अहिंसा, दान, शील आदि पापके कारण हो जावेंगे ॥४०१॥ हो जावें यदि यह आपका कहना है तो मछलियाँ पकड़नेवाले आदि पापी जीवोंकी शुभ गति होनी चाहिए और सत्य, धर्म, तपश्चरण तथा ब्रह्मचर्यका पालन करनेवालेको अधोगतिमें जाना चाहिए ॥४०२॥ कदाचित् आप यह कहें कि यज्ञमें पशु वध करनेसे धर्म होता है अन्यत्र नहीं होता ? तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वध दोनों ही स्थानोंमें एक समान दुःखका कारण है अतः उसका फल समान ही होना चाहिए इसे कौन रोक सकता है ? कदाचित् आप यह मानते हों कि पशुओंकी रचना विधाताने यज्ञके लिए ही की है, अतः यज्ञमें पशु-हिंसा करनेवालेके लिए पाप-बन्ध नहीं होता तो यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि यह मूर्ख जनकी अभिलाषा है तथा साधुजनोंके द्वारा निन्दित है ॥४०३-४०५॥ यज्ञके लिए ही ब्रह्माने पशुओंकी सृष्टि की है यदि यह आप ठीक मानते हैं तो फिर उनका अन्यत्र उपयोग करना उचित नहीं है क्योंकि जो वस्तु जिस कार्यके लिए बनायी जाती है उसका अन्यथा उपयोग करना कार्यकारी नहीं होता । जैसे कि श्लेष्म आदिको शमन करनेवाली औषधका यदि अन्यथा उपयोग किया जाता है तो वह विपरीतफलदायी होता है । ऐसे ही यज्ञके लिए बनाये गये पशुओंसे यदि क्रय-विक्रय आदि कार्य किया जाता है तो वह महान् दोष उत्पन्न करनेवाला होना चाहिए । तू वाद करना चाहता है परन्तु दुर्बल है—युक्ति बलसे रहित है अतः तेरे पास आकर हम कहते हैं कि जिस प्रकार शस्त्र आदिके द्वारा प्राणियोंका विघात करनेवाला मनुष्य पापसे बद्ध होता है उसी प्रकार मन्त्रोंके द्वारा प्राणियोंका विघात करनेवाला भी बिना किसी विशेषताके पापसे बद्ध होता है ॥४०६-४०९॥ दूसरी बात यह है कि ब्रह्मा जो पशु आदिको बनाता है वह प्रकट करता है अथवा नवीन बनाता है ? यदि नवीन बनाता है तो आकाशके फूल आदि असत् पदार्थ

१ पशुसृष्टिः म०, ल० । २ यज्ञार्थत्वं न तस्यास्ति क०, घ० । ३ तस्याति ल० । ४ इत्ययं ल० । ५ दुर्घटा ल० । ६ प्रयुक्तं तु म०, ल० । ७ वासनः ल० ।

अथाभिव्यज्यते तस्य वाच्यं प्राक्प्रतिबन्धकम्[1]। प्रदीपज्वलनात्पूर्वं घटादेरन्धकारवत् ॥४११॥
अस्तु वा नाहतव्यक्तिसृष्टिवादो विधीयते। इति श्रुत्वा वचस्तस्य सर्वे ते तं समस्तुवन् ॥४१२॥
वसुना चेद् द्वयोर्वादे विच्छेदः सोऽभिगम्यताम्[2]। इति ताभ्यां समं संसद्गच्छत्स्वस्तिकावतीम् ॥४१३॥
तत्सर्वं पर्वतेनोक्तं ज्ञात्वा तज्जननी[3] तदा। सह तेन वसुं दृष्ट्वा पर्वतस्वपरिग्रहः ॥४१४॥
तपोवनोन्मुखेनायं गुरुणापि तवार्पितः। नारदेन सहास्येह तवाध्यक्षे भविष्यति ॥४१५॥
[4]विवादो यदि भङ्गोऽत्र भावी भावियमाननम्। विद्ध्यस्य शरणं नान्यदित्याख्यत्सोऽपि सादरम् ॥४१६॥
विधित्सुर्गुरुशुश्रूषामम्ब मास्मात्र शङ्कथाः। जयमस्य विधास्यामीत्यस्या भयमपाकरोत् ॥४१७॥
अन्येद्युर्वसुमाकाशस्फटिकांह्रयुद्धृतासनम्। सिंहाङ्किमं समारुह्य स्थितं समुपगम्यते ॥४१८॥
संपृच्छन्ति स्म सर्वेऽपि विश्वभूप्रभृतिवादयः। त्वत्तः प्रागप्यहिंसादिधर्मरक्षणतत्पराः ॥४१९॥
चत्वारोऽत्र महीपाला भूता हिममहासम। वस्वादिगिरिपर्यन्तनामानो हरिवंशजाः[5] ॥४२०॥
पुरा चैषु व्यतीतेषु विश्वावसुमहामहीद्। अभूत् ततो भवांश्चासीदहिंसाधर्मरक्षकः ॥४२१॥
त्वमेव सत्यवादीति प्रघोषो भुवनत्रये। विषवह्नितुलादेश्यो वस्तुसंदेहसंनिधौ ॥४२२॥
त्वमेव प्रत्ययोत्पादी छिन्धि नः संशयं विभो। अहिंसालक्षणं धर्मं नारदः प्रत्यपद्यत ॥४२३॥
पर्वतस्तद्विपर्यासमुपाध्यायोपदेशनम्। यादृक् तादृक् त्वया [6]वाच्यमित्यसौ चार्थितः पुरा ॥४२४॥

क्यों नहीं बना देता ? ॥४१०॥ यदि यह कहो कि ब्रह्मा पशु आदिको नवीन नहीं बनाता है किन्तु प्रकट करता है ? तो फिर यह कहना चाहिए कि प्रकट होनेके पहले उनका प्रतिबन्धक क्या था ? उन्हें प्रकट होनेसे रोकनेवाला कौन था ? जिस प्रकार दीपक जलनेके पहले अन्धकार घटादिको रोकनेवाला है उसी प्रकार प्रकट होनेके पहले पशु आदिको रोकनेवाला भी कोई होना चाहिए ॥४११॥ इस प्रकार आपके सृष्टिवादमें यह व्यक्तिवाद आदर करनेके योग्य नहीं है। इस तरह नारदके वचन सुनकर सब लोग उसकी प्रशंसा करने लगे ॥४१२॥ सब कहने लगे कि यदि राजा वसुके द्वारा तुम दोनोंका विवाद विश्रान्त होता है तो उनके पास चला जावे। ऐसा कह सभाके सब लोग नारद और पर्वतके साथ स्वस्तिकावती नगर गये ॥४१३॥ पर्वतके द्वारा कही हुई यह सब जब उसकी माताने जाना तब वह पर्वतको साथ लेकर राजा वसुके पास गयी और राजा वसुके दर्शन कर कहने लगी कि यह निर्धन पर्वत तपोवनके लिए जाते समय तुम्हारे गुरुने तुम्हारे लिए सौंपा था। आज तुम्हारी अध्यक्षतामें यहाँ नारदके साथ विवाद होगा। यदि कदाचित् उस वादमें इसकी पराजय हो गयी तो फिर यमराजका मुख ही इसका शरण होगा अन्य कुछ नहीं, यह तुम निश्चित समझ लो, इस प्रकार पर्वतकी माताने राजा वसुसे कहा। राजा वसु गुरुकी सेवा करना चाहता था अतः बड़े आदरसे बोला कि हे माँ ! इस विषयमें तुम कुछ भी शंका न करो। मैं पर्वतकी ही विजय कराऊँगा। इस तरह कहकर उसने पर्वतकी माँका भय दूर कर दिया। ॥४१४-४१७॥ दूसरे दिन राजा वसु आकाश-स्फटिकके पायोंसे खड़े हुए, सिंहासनपर आरूढ़ होकर राज-सभामें विराजमान था उसी समय वे सब विश्वभू मन्त्री आदि राजसभामें पहुँचकर पूछने लगे कि आपसे पहले भी अहिंसा आदि धर्मकी रक्षा करनेमें तत्पर रहनेवाले हिमगिरि, महागिरि, समगिरि और वसुगिरि नामके चार हरिवंशी राजा हो गये हैं ॥४१८-४१९॥ इन सबके अतीत होनेपर महाराज विश्वावसु हुए और उनके बाद अहिंसा धर्मकी रक्षा करनेवाले आप हुए हैं। आप ही सत्यवादी हैं इस प्रकार तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हैं। किसी भी दशामें संदेह होनेपर आप विष, अग्नि और तुलाके समान हैं। हे स्वामिन् ! आप ही विश्वास उत्पन्न करनेवाले हैं अतः हम लोगोंका संशय दूर कीजिए। नारदने अहिंसालक्षण धर्म बतलाया है और पर्वत इससे विपरीत कहता है अर्थात् हिंसाको धर्म बतलाता है। अब उपाध्याय—गुरुमहाराजका जैसा उपदेश हो वैसा आप कहिए ;

---

१ प्रतिबन्धनम् ल०। २ सोऽभिगम्यते ल०, म०। ३ तज्जनो ल०। ४ विवादे यदि भङ्गोऽत्र भावी भावि यमाननम्। विद्धयस्य शरणं (विद्धि अस्य इति पदच्छेदः) म०। ५ वंशजा हरेः म०। ६ याच्य–ल०।

गुरुपत्न्याप्तनिर्दिष्टं बुध्यमानोऽपि भूपतिः । महाकालमहामोहेनाहितो दुःषमावधेः ॥४२५॥
सामीप्याद्रक्षणानन्दरौद्रध्यानपरायणः । पर्वताभिहितं तत्त्वं दृष्टे काऽनुपपन्नता ॥४२६॥
स्वर्गमस्यैव यागेन[1] सजानिः सगरोऽप्यगात् । ज्वलत्प्रदीपमन्येन को दीपेन प्रकाशयेत् ॥४२७॥
पर्वतोक्तं भयं हित्वा कुरुध्वं स्वर्गसाधनम् । इति हिंसानृतानन्दाद्[2] बद्ध्वायुर्नारकं[3] प्रति ॥४२८॥
मिथ्यापापापवादाभ्यामभीरुरमणीदिदम् । अहो महीपतेर्वक्त्रादपूर्वं घोरमीदृशम् ॥४२९॥
निर्यातमिति वैषम्यादुक्ते नारदतापसैः[4] । आक्रोशदम्बरं नद्यः प्रतिकूलजलस्रवाः ॥४३०॥
सद्यः सरांसि शुष्काणि रक्तवृष्टिरनारता । तीव्रांशोरंशवो मन्दा दिशाशाश्च मलीमसाः ॥४३१॥
बभूवुः प्राणिनः कम्पमादधुर्भयविह्वलाः । तदा महाध्वनिर्धात्री द्विधाभेद[5]मुपागता ॥४३२॥
वसोस्तस्मिन् महारन्ध्रे न्यमज्जत्सिंहविष्टरम् । तद्दृष्ट्वा देवविद्याधरेशा घनपथे स्थिताः ॥४३३॥
अतिक्रम्यादिमं मार्गं वसुराजमहामते[6] । धर्मविध्वंसनं मार्गं माभिधा इत्यघोषयन् ॥४३४॥
पर्वतं वसुराजं च सिंहासननिमज्जनात् । परिम्लानमुखौ दृष्ट्वा महाकालस्य किंकराः ॥४३५॥
तापसाकारमादाय भयं मास्म गच्छतम् । [7]इत्यात्मोत्थापितं चास्या दर्शयन् हरिविष्टरम् ॥४३६॥
नृपोऽप्यहं कथं तत्त्वविद्विभेम्यमृषं वचः । पर्वतस्यैव निश्चिन्वन्निस्याकण्ठं निमग्नवान् ॥४३७॥
अनेनेयमवस्थाभून्मिथ्यावादेन भूपते । त्यजेममिति संप्रार्थितोऽपि यत्नेन साधुभिः ॥४३८॥

इस प्रकार सब लोगोंने राजा वसुसे कहा । राजा वसु यद्यपि आप्त भगवान्के द्वारा कहे हुए धर्मतत्त्वको जानता था तथापि गुरुपत्नी उससे पहले ही प्रार्थना कर चुकी थी, इसके सिवाय वह महाकालके द्वारा उत्पादित महामोहसे युक्त था, दुःषमा नामक पंचम कालकी सीमा निकट थी, और वह स्वयं परिग्रहानन्द रूप रौद्र ध्यानमें तत्पर था अतः कहने लगा कि जो तत्त्व पर्वतने कहा है वही ठीक है । जो वस्तु प्रत्यक्ष दिख रही है उसमें बाधा हो ही कैसे सकती है ॥४२०-४२६॥ इस पर्वतके बताये यज्ञसे ही राजा सगर अपनी रानी सहित स्वर्ग गया है । जो दीपक स्वयं जल रहा है—स्वयं प्रकाशमान है भला उसे दूसरे दीपकके द्वारा कौन प्रकाशित करेगा ? ॥४२७॥ इसलिए तुम लोग भय छोड़कर जो पर्वत कह रहा है वही करो, वही स्वर्गका साधन है । इस प्रकार हिंसानन्दी और मृषानन्दी रौद्र ध्यानके द्वारा राजा वसुने नरकायुका बन्ध कर लिया तथा असत्य भाषणके पाप और लोकनिन्दासे नहीं डरनेवाले राजा वसुने उक्त वचन कहे । राजा वसुकी यह बात सुनकर नारद और तपस्वी कहने लगे कि आश्चर्य है कि राजाके मुखसे ऐसे भयंकर शब्द निकल रहे हैं इसका कोई विषम कारण अवश्य है । उसी समय आकाश गरजने लगा, नदियोंका प्रवाह उलटा बहने लगा, तालाब शीघ्र ही सूख गये, लगातार रक्तकी वर्षा होने लगी, सूर्यकी किरणें फीकी पड़ गयीं, समस्त दिशाएँ मलिन हो गयीं, प्राणी भयसे विह्वल होकर काँपने लगे, बड़े जोरका शब्द करती हुई पृथिवी फटकर दो टूक हो गयी और राजा वसुका सिंहासन उस महागर्तमें निमग्न हो गया । यह देख आकाशमार्गमें खड़े हुए देव और विद्याधर कहने लगे कि हे बुद्धिमान् राजा वसु ! सनातन मार्गका उल्लंघन कर धर्मका विध्वंस करनेवाले मार्गका निरूपण मत करो ॥४२८-४३४॥ पृथिवीमें सिंहासन घुसनेसे पर्वत और राजा वसुका मुख फीका पड़ गया । यह देख महाकालके किंकर तपस्वियोंका वेष रखकर कहने लगे कि आप लोग भयको प्राप्त न हों । यह कहकर उन्होंने वसुका सिंहासन अपने-आपके द्वारा उठाकर लोगोंको दिखला दिया । राजा वसु यद्यपि सिंहासनके साथ नीचे धँस गया था तथापि जोर देकर कहने लगा कि मैं तत्त्वोंका जानकार हूँ अतः इस उपद्रवसे कैसे डर सकता हूँ ? मैं फिर भी कहता हूँ कि पर्वतके वचन ही सत्य हैं । इतना कहते ही वह कण्ठ पर्यन्त पृथिवीमें धँस गया । उस समय साधुओंने—तपस्वियोंने बड़े यत्नसे यद्यपि प्रार्थना की थी कि हे राजन् ! तेरी यह अवस्था असत्य भाषणसे ही हुई है इसलिए इसे छोड़ दे तथापि वह अज्ञानी यज्ञ-

---

१ योगेन क०। २ हिंसानृतानन्दो क०, ख०। ३ नरकं ल०। ४ तापसाः ल०। ५ भक्ति –म०, क०। ६ महापते ल०। ७ इत्यात्मस्थापितं क०, ख०, ल०।

तथापि यज्ञमेवाज्ञः सन्मार्गं प्रतिपादयन् । भुवा कुपितयेवासौ निगीर्णोऽन्त्यामगात्क्षितिम् ॥४३९॥
अथासुरो जगत्प्रत्ययायादाय नरेन्द्रयोः । दिव्यं रूपमवापावां यागश्रद्धया दिवम् ॥४४०॥
नारदोक्तमपाकर्ण्यमित्युक्त्वापदृश्यताम् । शोकाश्चर्यं च तागात्स्वर्गं सुनं हि महीमिति ॥४४१॥
संविसंवदमानेन जनेन महता सह । प्रयागे विश्वभूर्गत्वा राजसूयविधिं व्यधात् ॥४४२॥
महापुराधिपाद्याश्च निन्दन्तो जनमूढताम् । परमब्रह्मनिर्दिष्टमार्गरक्ता मनाक् स्थिताः ॥४४३॥
नारदेनैव धर्मस्य मर्यादेत्यभिनन्द्य तम् । अधिष्ठानमदुस्तस्मै पुरं गिरितटाभिधम् ॥४४४॥
तापसाश्च दयाधर्मविध्वंसविधुराशयाः । कलयन्तः कलिं कालं विचेलुः स्वं स्वमाश्रमम् ॥४४५॥
ततोऽन्येद्युः खगो नाम्ना देवो दिनकरादिमः । पर्वतस्याखिलप्राणिविरुद्धाचरितं त्वया ॥४४६॥
निरुध्यतामिति प्रीत्या निर्दिष्टो नारदेन सः । करिष्यामि तथेत्युक्त्वा नागान्[1] गन्धारपन्नगान् ॥४४७॥
स विद्यया समाहूतांस्तत्प्रपञ्चं यथास्थितम् । अबोधयत्तेऽपि संग्रामे मङ्क्त्वा दैत्यमकुर्वत ॥४४८॥
यज्ञविघ्नं समालोक्य विश्वभूपर्वतावुभौ । शरणान्वेषणोद्युक्तौ महाकालं यदृच्छया ॥४४९॥
पुरः संनिहितं दृष्ट्वा यागविघ्नं तमूचतुः । नागैर्द्वेषिभिरस्माकं विहितोऽयमुपद्रवः ॥४५०॥
नागविद्याश्च विद्यानुप्रवादे परिभाषिताः । निषिद्धं जिनबिम्बानामुपर्यासां विजृम्भणम् ॥४५१॥
ततो युवां जिनाकारान् सुरूपान् दिक्चतुष्टये । निवेश्याभ्यर्च्य यज्ञस्य प्रक्रमेथामिमं विधिम् ॥४५२॥
इत्युपायमसावाह तौ च तच्चक्रतुस्तथा । पुनः खगाधिपोऽभ्येत्य यज्ञविघ्नचिकीर्षया ॥४५३॥

को ही सन्मार्ग बतलाता रहा। अन्तमें पृथिवीने उसे कुपित होकर ही मानो निगल लिया और वह मरकर सातवें नरक गया ॥४३५-४३९॥ तदनन्तर वह असुर जगत्को विश्वास दिलानेके लिए राजा सगर और वसुका सुन्दर रूप धारण कर कहने लगा कि हम दोनों नारदका कहा न सुनकर यज्ञकी श्रद्धासे ही स्वर्गको प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार कहकर वह अदृश्य हो गया। इस घटनासे लोगोंको बहुत शोक और आश्चर्य हुआ। उनमें कोई कहता था कि राजा सगर स्वर्ग गया है और कोई कहता था कि नहीं, नरक गया है। इस तरह विवाद करते हुए विश्वभू मन्त्री अपने घर चला गया। तदनन्तर प्रयागमें उसने राजसूय यज्ञ किया। इसपर महापुर आदि नगरोंके राजा मनुष्योंकी मूढ़ताकी निन्दा करने लगे और परम ब्रह्म-परमात्माके द्वारा बतलाये मार्गमें तल्लीन होते हुए थोड़े दिन तक यों ही ठहरे रहे ॥४४०-४४३॥ इस समय नारदके द्वारा ही धर्मकी मर्यादा स्थिर रह सकी है इसलिए सब लोगोंने उसकी बहुत प्रशंसा की और उसके लिए गिरितट नामका नगर प्रदान किया ॥४४४॥ तापस लोग भी दया धर्मका विध्वंस देख बहुत दुःखी हुए और कलिकालकी महिमा समझते हुए अपने-अपने आश्रमोंमें चले गये ॥४४५॥

तदनन्तर किसी दिन, दिनकरदेव नामका विद्याधर आया, नारदने उससे बड़े प्रेमसे कहा कि इस समय पर्वत समस्त प्राणियोंके विरुद्ध आचरण कर रहा है इसे आपको रोकना चाहिए। उत्तरमें विद्याधरने कहा कि अवश्य रोकूँगा। ऐसा कहकर उसने अपनी विद्यासे गन्धारपन्नग नामक नागकुमार देवोंको बुलाया और विघ्न करनेका सब प्रपंच उन्हें यथा योग्य बतला दिया। नागकुमार देवोंने भी संग्राममें दैत्योंको मार भगाया और यज्ञमें विघ्न मचा दिया। विश्वभू मन्त्री और पर्वत यज्ञमें होनेवाला विघ्न देखकर शरणकी खोज करने लगे। अनायास ही उन्हें सामने खड़ा हुआ महाकाल असुर दिख पड़ा। दिखते ही उन्होंने उससे यज्ञमें विघ्न आनेका सब समाचार कह सुनाया, उसे सुनते ही महाकालने कहा कि हम लोगोंके साथ द्वेष रखनेवाले नागकुमार देवोंने यह उपद्रव किया है। नागविद्याओंका निरूपण विद्यानुवादमें हुआ है। जिनबिम्बोंके ऊपर इनके विस्तारका निषेध बतलाया है अर्थात् जहाँ जिनबिम्ब होते हैं वहाँ इनकी शक्ति क्षीण हो जाती है ॥४४६-४५१॥ इसलिए तुम दोनों चारों दिशाओंमें जिनेन्द्रके आकारकी सुन्दर प्रतिमाएँ रखकर उनकी पूजा करो और तदनन्तर यज्ञकी विधि प्रारम्भ करो ॥४५२॥ इस प्रकार महाकालने यह उपाय कहा और उन

---

१ नागा तं वार ल० (?)।

दृष्ट्वा जैनेन्द्रबिम्बानि विद्याः क्रामन्ति नात्र मे । नारदाय निवेद्येति स्वस्वधाम समाश्रयन् ॥४५४॥
निर्विघ्नं यज्ञनिर्वृत्तौ विश्वभूः पर्वतश्च तौ । जीवितान्ते चिरं दुःखं नरकेऽनुबभूवतुः ॥४५५॥
महाकालोऽप्यभिप्रेतं साधयित्वा स्वरूपधृत् । प्राग्भवे पोदनाधीशो नृपोऽहं मधुपिङ्गकः ॥४५६॥
मयैवं सुलसाहेतोर्महत्पापमनुष्ठितम् । अहिंसालक्षणो धर्मो जिनेन्द्रैरभिभाषितः ॥४५७॥
अनुष्ठेयः स धर्मिष्ठैरित्युक्त्वासौ तिरोदधत् । स्वयं चादात्स्वदुश्चेष्टाप्रायश्चित्तं दयार्द्रधीः ॥४५८॥
[1]निवृत्तिमिव संमोहाद्विहितात्पापकर्मणः । विश्वभूप्रमुखाः सर्वे हिंसाधर्मप्रवृत्तकाः ॥४५९॥
प्रययुस्ते गतिं पापाद्नारकीमिति केचन । दिव्यबोधैः समाकर्ण्य मुनिभिः समुदाहृताम् ॥४६०॥
पर्वतोद्दिष्टदुर्मार्गं नोपेयुः पापभीरवः । केचित्तु दीर्घसंसारास्तस्मिन्नेव व्यवस्थिताः ॥४६१॥
इत्यनेन स मन्त्री च राजा चागममार्हतम् । समासीनाश्च सर्वेऽपि मन्त्रिणं तुष्टुवुस्तराम् ॥४६२॥
तदा सेनापतिर्नाम्ना महीशस्य महाबलः । पुण्यं भवतु पापं वा यागे नस्तेन किं फलम् ॥४६३॥
प्रभावदर्शनं श्रेयो भूभृन्मध्ये कुमारयोः । इत्युक्तवांस्ततो राजा पुनश्चैतत् विचारवत् ॥४६४॥
इति मत्वा विसृज्यैतान् मन्त्रिसेनापतीन् पुनः । हितोपदेशिनं प्रश्नं तमपृच्छत्पुरोहितम् ॥४६५॥
गतयोर्जनकागारं स्यान्न वेष्टं कुमारयोः । इति सोऽपि पुराणेषु निमित्तेषु च लक्षितम् ॥४६६॥
[2]अस्मत्कुमारयोस्तत्र यागे भावी महोदयः । संशयोऽत्र न कर्तव्यस्त्वयान्यच्चेदमुच्यते ॥४६७॥
अथास्मिन् भारते क्षेत्रे मनवस्तीर्थनायकाः । चक्रेशास्त्रिविधा रामा भविष्यन्ति महौजसः ॥४६८॥

दोनोंने उसे यथाविधि किया। तदनन्तर विद्याधरोंका राजा दिनकरदेव यज्ञमें विघ्न करनेकी इच्छासे आया और जिनप्रतिमाएँ देखकर नारदसे कहने लगा कि यहाँ मेरी विद्याएँ नहीं चल सकतीं ऐसा कहकर वह अपने स्थानपर चला गया ॥४५३-४५४॥ इस तरह वह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ और विश्वभू मन्त्री तथा पर्वत दोनों ही आयुके अन्तमें मरकर चिरकालके लिए नरकमें दुःख भोगने लगे ॥४५५॥

अन्तमें महाकाल असुर अपना अभिप्राय पूरा कर अपने असली रूपमें प्रकट हुआ और कहने लगा कि मैं पूर्व भवमें पोदनपुरका राजा मधुपिंगल था। मैंने ही इस तरह सुलसाके निमित्त यह बड़ा भारी पाप किया है। जिनेन्द्र भगवान्ने जिस अहिंसालक्षण धर्मका निरूपण किया है धर्मात्माओंको उसीका पालन करना चाहिए इतना कह वह अन्तर्हित हो गया और दयासे आर्द्र बुद्धि होकर उसने अपनी दुष्ट चेष्टाओंका प्रायश्चित्त स्वयं ग्रहण किया ॥४५६-४५८॥ मोहवश किये हुए पाप कर्मसे निवृत्ति होना ही प्रायश्चित्त कहलाता है। हिंसा धर्ममें प्रवृत्त रहनेवाले विश्वभू आदि समस्त लोग पापके कारण नरकगतिमें गये और पापसे डरनेवाले कितने ही लोगोंने सम्यग्ज्ञानके धारक मुनियोंके द्वारा कहा धर्म सुनकर पर्वतके द्वारा कहा मिथ्यामार्ग स्वीकृत नहीं किया और जिनका संसार दीर्घ था ऐसे कितने ही लोग उसी मिथ्यामार्गमें स्थित रहे आये ॥४५९-४६१॥ इस प्रकार अतिशयमति मन्त्रीके द्वारा कहा हुआ आगम सुनकर प्रथम मन्त्री, राजा तथा अन्य सभासद लोगोंने उस द्वितीय मन्त्रीकी बहुत भारी स्तुति की ॥४६२॥ उस समय राजा दशरथका महाबल नामका सेनापति बोला कि यज्ञमें पुण्य हो चाहे पाप, हम लोगोंको इससे क्या प्रयोजन है ? हम लोगोंको तो राजाओंके बीच दोनों कुमारोंका प्रभाव दिखलाना श्रेयस्कर है। सेनापतिकी यह बात सुनकर राजा दशरथने कहा कि अभी इस बातपर विचार करना है। यह कहकर उन्होंने मन्त्री और सेनापतिको तो विदा किया और तदनन्तर हितका उपदेश देनेवाले पुरोहितसे यह प्रश्न पूछा कि राजा जनकके घर जानेपर दोनों कुमारोंका इष्ट सिद्ध होगा या नहीं ? उत्तरमें पुरोहित भी पुराणों और निमित्तशास्त्रोंके कहे अनुसार कहने लगा कि हमारे इन दोनों कुमारोंका राजा जनकके उस यज्ञमें महान् ऐश्वर्य प्रकट होगा इसमें आपको थोड़ा भी संशय नहीं करना चाहिए। इसके सिवाय एक बात और कहता हूँ ॥४६३-४६७॥ वह यह कि इस भरत क्षेत्रमें मनु-कुलकर, तीर्थकर,

---

१ निवृत्तिरेव ख० । २ अस्मात्कुमारयो-ख० ।

इत्याख्याताः पुराणज्ञैर्मुनीशैः प्राग्मया श्रुताः । [1]तेष्वष्टनाविमौ रामकेशवौ नः कुमारकौ ॥४६९॥
भाविनौ रावणं हत्वेत्यवादीत्तद्विविद्गिरः । तत्तदुक्तं तदाकर्ण्य परितोषमगान्नृपः ॥४७०॥

शार्दूलविक्रीडितम्

कृत्वा पापमदः क्रुधा पशुवधस्योत्सूत्रमाभूतलं,
हिंसायज्ञमवर्तयत् कपटधीः क्रूरो महाकालकः ।
तेनागात्सवसुः सपर्वतखलो घोरां धरां नारकीं
दुर्मार्गान् दुरितावहान्विदधतां नैतन्महत्पापिनाम् ॥४७१॥
व्यामोहात्सुलसाप्रियस्ससुलसः सार्द्धं स्वयं मन्त्रिणा
शत्रुच्छद्मविवेकशून्यहृदयः संपाद्य हिंसाक्रियाम् ।
नष्टो गन्तुमधः क्षितिं दुरितिनामकूरनाशं मुधा
दुःकर्माभिरतस्य किं हि न भवेदन्यस्य चेदृग्विधम् ॥४७२॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

स्वाचार्यवर्यमनुसृत्य हितानुशासी
वादे समेत्य बुधसंसदि साधुवादम् ।
श्रीनारदो विहितभूरितपाः कृतार्थः
सर्वार्थसिद्धिमगमत् सुधियामधीशः ॥४७३॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे दुर्मार्गप्रवर्तनप्रपञ्चव्यावर्णनं नाम सप्तषष्टितमं पर्व ॥ ६७ ॥



तीन प्रकारके चक्रवर्ती (चक्रवर्ती, नारायण और प्रतिनारायण) और महाप्रतापी बलभद्र होते हैं ऐसा पुराणोंके जाननेवाले मुनियोंने कहा है तथा मैंने भी पहले सुना है। हमारे ये दोनों कुमार उन महापुरुषोंमें आठवें बलभद्र और नारायण होंगे ॥४६८-४६९॥ तथा रावणको मारेंगे। इस प्रकार भविष्यको जाननेवाले पुरोहितके वचन सुनकर राजा सन्तोषको प्राप्त हुए ॥४७०॥ कपट रूप बुद्धिको धारण करनेवाले क्रूरपरिणामी महाकालने क्रोधवश समस्त संसारमें शास्त्रों-के विरुद्ध और अत्यन्त पाप रूप पशुओंकी हिंसासे भरे हिंसामय यज्ञकी प्रवृत्ति चलायी इसी कारणसे वह राजा वसु, दुष्ट पर्वतके साथ घोर नरकमें गया सो ठीक ही है क्योंकि जो पाप उत्पन्न करनेवाले मिथ्यामार्ग चलाते हैं उन पापियोंके लिए नरक जाना कोई बड़ी बात नहीं है ॥४७१॥ मोहनीय कर्मके उदयसे जिसका हृदय शत्रुओंका छल समझनेवाले विवेकसे शून्य था ऐसा राजा सगर रानी सुलसा और विश्वभू मन्त्रीके साथ स्वयं हिंसामय क्रियाएँ कर अधो-गतिमें जानेके लिए नष्ट हुआ सो जब राजाकी यह दशा हुई तब जो अन्य साधारण मनुष्य अपने क्रूर परिणामोंको नष्ट न कर व्यर्थ ही दुष्कर्ममें तल्लीन रहते हैं उनकी क्या ऐसी दशा नहीं होगी ? अवश्य होगी ॥४७२॥ जिसने अपने श्रेष्ठ आचार्य गुरुका अनुसरण कर हितका उपदेश दिया, विद्वानोंकी सभामें शास्त्रार्थ कर जिसने साधुवाद–उत्तम प्रशंसा प्राप्त की, जिसने बहुत भारी तप किया और जो विद्वानोंमें श्रेष्ठ था ऐसा श्रीमान् नारद कृतकृत्य होकर सर्वार्थ-सिद्धि गया ॥४७३॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत, त्रिषष्टि लक्षण महापुराण संग्रहमें मिथ्यामार्ग-की प्रवृत्तिके विस्तारका वर्णन करनेवाला सड़सठवाँ पर्व समाप्त हुआ।

---

१ श्रुतेष्व–ल० ।

पुरोहितः पुनश्चासौ तत्कथां श्रोतुमर्हसि[1] । इति संबोध्य भूपालं ततो वक्तुं प्रचक्रमे ॥१॥
क्रमेण श्रव्यशब्दार्थसारवाणिर्भवावलीम्[2] । दशास्यस्य दशाशास्यप्रकाशिस्वयशःश्रियः ॥२॥
अथास्ति[3] नाकलोकाभो धातकीखण्डपूर्वभाग् । भारते भूगुणैर्युक्तो देशः सारसमुच्चयः ॥३॥
तस्मिन्नागपुरे[4] ख्यातो नरदेवो महीपतिः । स कदाचिदनन्ताख्यगणेशात्कृतवन्दनः ॥४॥
श्रुतधर्मकथो जातनिर्वेदो ज्येष्ठसूनवे । प्रदाय भोगदेवाय राज्यमापन्नसंयमः ॥५॥
चरंस्तपः समुत्कृष्टं दृष्ट्वा विद्याधराधिपम् । सद्यश्चपलवेगाख्यं निदानमकरोदधीः ॥६॥
प्रान्ते संन्यस्य सौधर्मकल्पेऽभूदमृताशनः । अथास्मिन्भारते क्षेत्रे विजयार्धमहाचले ॥७॥
खगेशो दक्षिणश्रेण्यां मेघकूटपुराधिपः । विनम्यन्वयसंभूतः सहस्रग्रीवखेचरः ॥८॥
क्रुधात्मभ्रातृपुत्रोरुबलेनोत्सारितस्ततः । गत्वा लङ्कापुरं[5] त्रिंशत्सहस्राब्दान्यपालयत् ॥९॥
तस्य पुत्रः शतग्रीवस्तत्पञ्चशोनवत्सरान् । पाति स्म तत्सुतः पञ्चाशद्ग्रीवोऽप्यन्वपालयत् ॥१०॥
वत्सराणां सहस्राणि विंशतिं तस्य चात्मजः । पुलस्त्यस्त्रिक[6]मेवैकवर्षायुस्तस्य वल्लभा ॥११॥
मेघश्रीरनयोः सूनुः स देवोऽभूद्दशाननः । चतुर्दशसहस्राब्दपरमायुर्महीतलम् ॥१२॥
पालयन्नन्यदा कान्तासहायः क्रीडितुं वनम् । गत्वा लङ्केश्वरः खेचराचलस्थालकेशितुः[7] ॥१३॥

तदनन्तर जिसके शब्द और अर्थ सुनने योग्य हैं तथा वाणी सारपूर्ण है ऐसा पुरोहित, 'महाराज, आप यह कथा श्रवण करनेके योग्य हैं' इस प्रकार महाराज दशरथको सम्बोधित कर अपने यशरूपी लक्ष्मीसे दशों दिशाओंके मुखको प्रकाशित करनेवाले रावणके भवान्तर कहने लगा ॥१-२॥ उसने कहा कि धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व भरतक्षेत्रमें स्वर्गलोकके समान आभा-वाला एवं पृथिवीके गुणोंसे युक्त सारसमुच्चय नामका देश है ॥३॥ उसके नागपुर नगरमें नर-देव नामका राजा राज्य करता था। वह किसी एक दिन अनन्त नामक गणधरके पास गया, उन्हें वन्दना कर उसने उनसे धर्म-कथा सुनी और विरक्त होकर भोगदेव नामक बड़े पुत्रके लिए राज्य दे दिया तथा संयम धारण कर उत्कृष्ट तपश्चरण किया। तपश्चरण करते समय उस मूर्खने कदाचित् चपलवेग नामक विद्याधरोंके राजाको देखकर शीघ्र ही निदान कर लिया। जब आयुका अन्त आया तब संन्यास धारण कर सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ।

अथानन्तर-इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें जो विजयार्ध नामका महान् पर्वत है उसकी दक्षिण श्रेणीमें मेघकूट नामका नगर है। उसमें राजा विनमिके वंशमें उत्पन्न हुआ सहस्रग्रीव नामका विद्याधर राज्य करता था। उसके भाईका पुत्र बहुत बलवान् था इसलिए उसने क्रोधित होकर सहस्रग्रीवको बाहर निकाल दिया था। वह सहस्र ग्रीव वहाँसे निकलकर लंका नगरी गया और वहाँ तीस हजार वर्ष तक राज्य करता रहा ॥४-९॥ उसके पुत्रका नाम शतग्रीव था। सहस्रग्रीवके बाद उसने वहाँ पच्चीस हजार वर्ष तक राज्य किया था। उसका पुत्र पंचाशद्-ग्रीव था उसने भी शतग्रीवके बाद बीस हजार वर्ष तक पृथिवीका पालन किया था, तदनन्तर पंचाशद्ग्रीवके पुलस्त्य नामका पुत्र हुआ उसने भी पिताके बाद पन्द्रह हजार वर्ष तक राज्य किया। उसकी स्त्रीका नाम मेघश्री था। उन दोनोंके वह देव रावण नामका पुत्र हुआ। चौदह हजार वर्षकी उसकी उत्कृष्ट आयु थी, पिताके बाद वह भी पृथिवीका पालन करने लगा। एक दिन लंकाका ईश्वर रावण अपनी स्त्रीके साथ क्रीड़ा करनेके लिए किसी वनमें गया था।

१–मर्हति क०, ल०। २ भवावलिम् ल०। ३ अथास्मिन् क०, ख०, ग०, घ०। ४ नाकपुरे ल०, म०। ५ लङ्कापुरीम् क०, ध०। ६ त्रिसमेवैक (१५०००) क०, ख०; ग०, ध०, म०। त्रिखवैक ल० (?)। ७ खेचराचलकेशितुः ल०।

सुतामिमतवेगस्य विद्यासाधनतत्पराम् । लोलो मणिमतिं वीक्ष्य काममोहवशीकृतः ॥१४॥
तां दुरात्मात्मसात्कर्तुं तद्विद्यासिद्धिमभ्यहन्[1] । सापि द्वादशवर्षोपवासक्लेशकृशीकृता ॥१५॥
तत्सिद्धिविघ्नहेतुत्वात् कुपित्वा खेचरेशिने । पुत्रिकास्यैव भूत्वेमं वध्यासमिति दुर्मतिम् ॥१६॥
कृत्वा भवान्ते मन्दोदरीगर्भं समधिष्ठिता । भूकम्पादिमहोत्पातैस्तज्जन्मसमयोद्भवैः ॥१७॥
विनाशो रावणस्येति नैमित्तिकवचःश्रुतेः । दशाननोऽतिभीतः सन् यत्र क्वचन पापिनीम् ॥१८॥
त्यजेमामिति मारीचमाज्ञापयदसावभीः[2] । सोऽपि मन्दोदरीगेहं गत्वा देवस्य देवि मे ॥१९॥
कर्मैवं निर्घृणस्यासीदिति तस्यै न्यवेदयत् । सापि देवनिदेशस्य नाहमस्मि निवारिका ॥२०॥
इति प्रभूतद्रव्येण मञ्जूषायां[3] निधाय ताम् । तत्संविधानपत्रेण[4] सहोक्त्वेदं च तं मुहुः ॥२१॥
मारीच[5] मानसे स्निग्धः प्रकृत्या बालिकामिमाम् । बाधाविरहिते देशे निक्षिपेति गलज्जले ॥२२॥
विमृज्य लोचने तस्मै स्वतनूजां समर्पयत्[6] । स नीत्वा मिथिलोद्याननिकटप्रकटे क्वचित् ॥२३॥
धरान्तःकृतमञ्जूषो विषण्णो न्यवृतच्छुचा । तस्मिन्नेव दिने दृष्ट्वा गेहनिर्मापणं प्रति ॥२४॥
भूमिसंशोधने लाङ्गलाग्रलग्नां नियोगिनः । मञ्जूषामेतदाश्चर्यमिति भूपमबोधयन् ॥२५॥
सुरूपां बालिकां वीक्ष्य तदभ्यन्तरवर्तिनीम् । नृपस्तद्वतारार्थं विलेखाद्वबुध्य सः ॥२६॥
तत्पूर्वापरसंबन्धमेषा सीताभिधानिका । सुता भवेत्तवेत्येतां वसुधायै ददौ मुदा ॥२७॥

वहाँ विजयार्ध पर्वतके स्थालक नगरके राजा अमितवेगकी पुत्री मणिमती विद्या सिद्ध करनेमें तत्पर थी उसे देखकर चंचल रावण काम और मोहके वश हो गया। उस कन्याको अपने अधीन करनेके लिए उस दुष्टने मणिमतीकी विद्या हरण कर ली। वह कन्या उस विद्याकी सिद्धिके लिए बारह वर्षसे उपवासका क्लेश उठाती अत्यन्त दुर्बल हो गयी थी। विद्याकी सिद्धिमें विघ्न होता देख वह विद्याधरोंके राजापर बहुत कुपित हुई। कुपित होकर उसने निदान किया कि मैं इस राजाकी पुत्री होकर इस दुर्बुद्धिका वध अवश्य करूँगी ॥१०-१६॥ ऐसा निदान कर वह आयुके अन्तमें मन्दोदरीके गर्भमें उत्पन्न हुई। जब उसका जन्म हुआ तब भूकम्प आदि बड़े-बड़े उत्पात हुए उन्हें देख निमित्तज्ञानियोंने कहा कि इस पुत्रीसे रावणका विनाश होगा। यद्यपि रावण निर्भय था तो भी निमित्तज्ञानियोंके वचन सुनकर अत्यन्त भयभीत हो गया। उसने उसी क्षण मारीच नामक मन्त्रीको आज्ञा दी कि इस पापिनी पुत्रीको जहाँ कहीं जाकर छोड़ दो। मारीच भी रावणकी आज्ञा पाकर मन्दोदरीके घर गया और कहने लगा कि हे देवि, मैं बहुत ही निर्दय हूँ अतः महाराजने मुझे ऐसा काम सौंपा है यह कह उसने मन्दोदरीके लिए रावणकी आज्ञा निवेदित की—सूचित की। मन्दोदरीने भी उत्तर दिया कि मैं [illegible] आज्ञाका निवारण नहीं करती हूँ ॥१७-२०॥ यह कहकर उसने एक सन्दूकचीमें बहुत-सा द्रव्य रखकर उस पुत्रीको रखा, और मारीचसे बार-बार यह शब्द कहे कि हे मारीच! तेरा हृदय स्वभावसे ही स्नेहपूर्ण है अतः इस बालिकाको ऐसे स्थानमें छोड़ना जहाँ किसी प्रकारकी बाधा न हो। ऐसा कह उसने जिनसे अश्रु झर रहे हैं ऐसे दोनों नेत्र पोंछकर उसके लिए वह पुत्री सौंप दी। मारीचने ले जाकर वह सन्दूकची मिथिलानगरीके उद्यानके निकट किसी प्रकट स्थानमें जमीनके भीतर रख दी और स्वयं शोकसे विषाद करता हुआ वह लौट गया। उसी दिन कुछ लोग घर बनवानेके लिए जमीन देख रहे थे, वे हल चलाकर उसकी नोंकसे वहाँकी भूमि ठीक कर रहे थे। उसी समय वह सन्दूकची हलके अग्रभागमें आ लगी। वहाँ जो अधिकारी कार्य कर रहे थे उन्होंने इसे आश्चर्य समझ राजा जनकके लिए इसकी सूचना दी ॥२१-२५॥ राजा जनकने उस सन्दूकचीके भीतर रखी हुई सुन्दर कन्या देखी और पत्रसे उसके जन्मका सब समाचार तथा पूर्वापर सम्बन्ध ज्ञात किया। तदनन्तर उसका सीता नाम रखकर 'यह तुम्हारी पुत्री होगी' यह कहते हुए उन्होंने बड़े हर्षसे वह पुत्री वसुधा रानीके

---

१ –मभ्यहरन् ल०। २ –दयान्वधीः ख०। ३ विधाय ताम् ल०। ४ पात्रेण क०, घ०। ५ मन्य मे स्निग्धः ख०, ग०। मान्य मे स्निग्ध म०। मान्यसे स्निग्ध ल०। ६ समार्पयत् ल०।

वसुधा [1]वसुधागेहे गुणयन्ती कलागुणान् । अवर्धयदिमां गूढां[2] लङ्केशोऽपि न वेत्त्यमूम् ॥२८॥
दातां जनकयागस्य तस्मान्नात्रागमिष्यति । दास्यत्यवश्यं रामाय तां कन्यां मिथिलेश्वरः ॥२९॥
तत्कुमारौ प्रहेतव्याविति नैमित्तिकोक्तितः । राज्ञाखिलबलेनामा प्रहितौ रामलक्ष्मणौ ॥३० ॥
प्रत्युद्यातौ महीशेन जनकेनानुरागिणा । प्राग्जन्मसंचितामेयस्वपुण्यपरिपाकतः ॥३१॥
रूपादिगुणसंपत्त्या सत्यमेतौ गतोपमौ । इति पौरैः प्रशंसद्भिः प्रेक्ष्यमाणौ[3] समं ततः ॥३२॥
पुरं प्रविश्य भूपोक्ते स्थाने न्यवसतां सुखम् । दिनैः कतिपयैरेव नृपमण्डलसंनिधौ ॥३३॥
निर्वर्त्याभिमतं यज्ञविधानं तदनन्तरम् । महाविभूतिभिः सीतां ददौ रामाय भूपतिः ॥३४॥
दिनानि कानिचित्तत्र सीतयेव श्रिया समम् । नवप्रेमसमुद्भूतं सुखं रामोऽन्वभूद् भृशम् ॥३५॥
तदा दशरथाभ्यर्णादायातसचिवोक्तिभिः । जनकानुमतः शुद्धतिथौ परिजनान्वितः ॥३६॥
अभ्ययोध्यां[4] पुरीं सीतासमेतो जातसंमदः । लक्ष्मणेन च गत्वाशु स्वानुजाभ्यां स्वबन्धुभिः ॥३७॥
परिवारैश्च स प्रत्युद्गम्यमानो निजां पुरीम् । विभूत्या दिविजेन्द्रो वा विनीतां प्राविशज्जयी ॥३८॥
दृष्ट्वा यथोचितं प्रीत्या पितरौ प्रीतचेतसौ । तस्थौ प्रवर्द्धमानश्रीः सप्रियः सानुजः सुखम् ॥३९॥
तदा तदुत्सवं भूयो वर्द्धयन्नात्मना मधुः । कोकिलालिकु[5]लालापडिण्डिमो मण्डयन् दिशः ॥४०॥
संधिं तपोधनैः सार्धं विग्रहं शिथिलव्रतैः । प्रकुर्वाणस्य कामस्य सामवायिकतां वहन् ॥४१॥

लिए दे दी ॥२६-२७॥ रानी वसुधाने भूमिगृहके भीतर रहकर उस पुत्रीका पालन-पोषण किया है तथा उसके कलारूप गुणोंकी वृद्धि की है। यह कन्या इतनी गुप्त रखी गयी है कि लंकेश्वर रावणको इसका पता भी नहीं है। इसके सिवाय राजा जनक यज्ञ कर रहे हैं यह खबर भी रावणको नहीं है अतः वह इस उत्सवमें नहीं आवेगा। ऐसी स्थितिमें राजा जनक वह कन्या रामके लिए अवश्य देवेंगे। इसलिए राम और लक्ष्मण ये दोनों ही कुमार वहाँ अवश्य ही भेजे जानेके योग्य हैं। इस प्रकार निमित्तज्ञानी पुरोहितके कहनेसे राजा समस्त सेनाके साथ राम और लक्ष्मणको भेज दिया ॥२८-३०॥ अनुरागसे भरे हुए राजा जनकने उन दोनोंकी अगवानी की। 'पूर्व जन्ममें संचित अपने अपरिमित पुण्यके उदयसे जो इन्हें रूप आदि गुणोंकी सम्पदा प्राप्त हुई है उससे ये सचमुच ही अनुपम हैं—उपमा रहित हैं,' इस प्रकार प्रशंसा करते हुए नगरके लोग जिन्हें देख रहे हैं ऐसे दोनों भाई साथ-ही-साथ नगरमें प्रवेश कर राजा जनकके द्वारा बतलाये हुए स्थानपर सुखसे ठहर गये। कुछ दिनोंके बाद जब अनेक राजाओंका समूह आ गया तब उनके सन्निधानमें राजा जनकने अपने इष्ट यज्ञको विधि पूरी की और बड़े वैभवके साथ रामचन्द्रके लिए सीता प्रदान की ॥३१-३४॥ रामचन्द्रजीने कुछ दिन तक लक्ष्मीके समान सीताके साथ वहीं जनकपुरमें नये प्रेमसे उत्पन्न हुए सातिशय सुखका उपभोग किया ॥३५॥ तदनन्तर राजा दशरथके पास आये हुए मन्त्रियोंके कहनेसे रामचन्द्रजीने राजा जनककी आज्ञा ले शुद्ध तिथिमें परिवारके लोग, सीता तथा लक्ष्मणके साथ बड़े हर्षसे अयोध्याकी ओर प्रस्थान किया और शीघ्र ही वहाँ पहुँच गये। वहाँ पहुँचनेपर दोनों छोटे भाई भरत और शत्रुघ्नने, बन्धुओं तथा परिवारके लोगोंने उनकी अगवानी की। जिस प्रकार इन्द्र बड़े वैभवके साथ अपनी नगरी अमरावतीमें प्रवेश करता है उसी प्रकार विजयी रामचन्द्रजीने बड़े वैभवके साथ अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया ॥३६-३८॥ वहाँ उन्होंने प्रसन्न चित्तके धारक माता-पिताके दर्शन यथायोग्य प्रेमसे किये। तदनन्तर जिनकी लक्ष्मी उत्तरोत्तर बढ़ रही है ऐसे रामचन्द्रजी सीता तथा छोटे भाइयोंके साथ सुखसे रहने लगे ॥३९॥

उसी समय अपने द्वारा उनके उत्सवको बढ़ाता हुआ वसन्त ऋतु आ पहुँचा। कोयलों और भ्रमरोंके समूह जो मनोहर शब्द कर रहे थे वही मानो उसके नगाड़े थे, वह समस्त दिशाओंको सुशोभित कर रहा था। जो कामदेव, तपोधन-साधुओंके साथ सन्धि करता है और शिथिल व्रतों

---

१ भूम्यागेहे क० । २ गूढं म०, ल० । ३ प्रेक्षमाणौ ल० (?) । ४ अभ्ययोध्यां परं ग० । ५ कोकिला... म० ।

[1]कामिनां खण्डयन्मानं वियुक्तान् दण्डयन् भृशम् । संयुक्तान् पिण्डितान् कुर्वन् प्रचण्डः प्राविशज्जगत् ॥४२॥
तदागमनमात्रेण सद्वनस्पतिजातयः । काश्चिदङ्कुरिताः काश्चित्सानुरागाः [2]सपल्लवैः ॥४३॥
काश्चित्कोरकिताः काश्चित्सहासाः कुसुमोत्करैः । स्वावध्यागतचित्तेशाः कान्ता इव निरन्तरम् ॥४४॥
हिमानीपटलोन्मुक्तं सुव्यक्तं चन्द्रमण्डलम् । ज्योत्स्नां प्रसारयामास दिक्षु लक्ष्मीविधायिनीम् ॥४५॥
सारमामोदमाघ्राय विकिरन्पुष्पजं रजः । सरोवारिकणः सार्द्धमपाच्य[3] पवनो ववौ ॥४६॥
तदान्याभिश्च रामस्य रामाभिः सहमिर्नृपः । प्रेक्ष्याभिर्लक्ष्मणस्यापि पृथिवीदेविकादिभिः ॥४७॥
प्रीत्या षोडशमानाभिर्जिनपूजापुरस्सरम् । तनूजाभिर्नरेन्द्राणां विवाहमकरोत् कृती ॥४८॥
ततः सर्वर्तुषु प्रेम्णा ताभिस्तौ सुखमीयतुः । ताश्च ताभ्यामथो यस्माद्बाह्यहेतोः सुखप्रदः ॥४९॥
एवं स्वपुण्यपाका[4]प्तसुखानुभवतत्परौ । तौ लब्ध्वावसरं चित्थं कदाचित्प्रोचतुर्नृपम् ॥५०॥
काशिदेशे क्रमायातमस्मत्पुरवरं पुरा । वाराणसी तदद्याभूदनधिष्ठितनायकम् ॥५१॥
आज्ञा यद्यस्ति देवस्य तदावामुदितोदितम् । विधास्याव इति श्रुत्वा नरेन्द्रस्तदुदीरितम् ॥५२॥
[5]वियोगमेतयोः सोढुमक्षमा भरतादयः । अस्मद्वंश्या महीनाथाः स्थित्वात्रैव पुरे पुरा ॥५३॥
षट्खण्डमण्डितां पृथ्वीं बहवोऽपालयंश्चिरम् । एकदेशस्थयोरेव सूर्याचन्द्रमसोरिव ॥५४॥
विभाति भवतोस्तेजो व्याप्नोति महिमण्डलम् । ततः किं तत्प्रयाणेन मा यातमिति[6] सोऽब्रवीत् ॥५५॥

शिथिलाचारियोंके साथ विग्रह रखता है उस कामदेवके साथ वह वसन्त ऋतु अपना खास सम्बन्ध रखता था। वह वसन्त कामी मनुष्योंका मान खण्डित करता था, विरही मनुष्योंको अत्यन्त दण्ड देता था, और संयुक्त मनुष्योंको परस्परमें सम्बद्ध करता था। इस प्रचण्ड शक्तिवाले वसन्त ऋतुने संसारमें प्रवेश किया ॥४०-४२॥ वसन्त ऋतुके आते ही वनमें जो उत्तम वनस्पतियोंकी जातियाँ थीं उनमें-से कितनी ही अंकुरित हो उठीं और कितनी ही अपने पल्लवोंसे सानुराग हो गयीं, कितनी ही वनस्पतियोंपर कलियाँ आ गयी थीं, और कितनी ही वनस्पतियाँ जिनके प्राण-वल्लभ अपनी अवधिके भीतर आ गये हैं ऐसी स्त्रियोंके समान फूलोंके समूहसे निरन्तर हँसने लगीं ॥४३-४४॥ उस समय चन्द्रमाका मण्डल बर्फके पटलसे उन्मुक्त होनेके कारण अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देता था और सब दिशाओंमें शोभा बढ़ानेवाली अपनी चाँदनी फैला रहा था ॥४५॥ दक्षिण दिशाका वायु श्रेष्ठ सुगन्धिको लेकर फूलोंसे उत्पन्न हुई परागको बिखेरता हुआ सरोवरके जलके कणोंके साथ बह रहा था ॥४६॥ उसी समय अतिशय कुशल राजा दशरथने श्रीजिनेन्द्र-देवकी पूजापूर्वक अन्य सात सुन्दर कन्याओंके साथ रामचन्द्रका तथा पृथिवी देवी आदि सोलह राजकन्याओंके साथ लक्ष्मणका विवाह किया था ॥४७-४८॥ तदनन्तर राम और लक्ष्मण दोनों भाई समस्त ऋतुओंमें उन स्त्रियोंके साथ प्रेमपूर्वक सुख प्राप्त करने लगे और वे स्त्रियाँ उन दोनोंके साथ प्रेमपूर्वक सुखका उपभोग करने लगीं सो ठीक ही है क्योंकि पुण्य बाह्य हेतुओंसे ही सुखका देनेवाला होता है ॥४९॥ इस प्रकार पुण्योदयसे श्रेष्ठ सुखका अनुभव करनेमें तत्पर रहनेवाले दोनों भाई किसी समय अवसर पाकर राजा दशरथसे इस प्रकार कहने लगे ॥५०॥ कि काशीदेशमें वाराणसी (बनारस) नामका उत्तम नगर हमारे पूर्वजोंकी परम्परासे ही हमारे अधीन चल रहा है परन्तु वह इस समय स्वामिरहित हो रहा है। यदि आपकी आज्ञा हो तो हम दोनों उसे बढ़ते हुए वैभवसे युक्त कर दें। उनका कहा सुनकर राजा दशरथने कहा कि भरत आदि तुम दोनोंका वियोग सहन करनेमें असमर्थ हैं। पूर्वकालमें हमारे वंशज राजा इसी अयोध्या नगरीमें रहकर ही चिरकाल तक पृथिवीका पालन करते रहे हैं। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा यद्यपि एक स्थानमें रहते हैं तो भी उनका तेज सर्वत्र व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार आप दोनोंका तेज एक स्थानमें स्थित होनेपर भी समस्त पृथिवी-मण्डलमें व्याप्त हो रहा है

---

१ कामितां ल० । २ स्वपल्लवैः ख । ३-मपाच्यः पवनो क०, ख० । ४ स्वपुण्यपाकाप्त-ख०, ग० । स्वपुण्यपाकां त-क० । ५ वियोगमक्षमः सोढुमेतयोर्भरतादयः म०, ल० । ६ मागतामिति ख० । मायातामिति क०, घ० ।

निषिद्धावपि तौ तेन पुनश्चैवमवोचताम् । आवयोरेव देवस्य स्नेहो याननिषेधनम् ॥५६॥
शौर्यस्य संभवो यावद्यावत्पुण्यस्य च स्थितिः । तावदुत्साहसन्नाहं न मुञ्चन्त्युदयार्थिनः ॥५७॥
बुद्धिं शक्तिमुपायं च जयं गुणविकल्पनम् । सम्यक्प्रकृतिभेदांश्च विदित्वा राजसूनुना ॥५८॥
महोद्योगो विधातव्यो विरुद्धान्विजिगीषुणा । स्वभावविनयोद्भूता द्विधा बुद्धिर्निगद्यते ॥५९॥
मन्त्रोत्साहप्रभूक्ता च त्रिधा शक्तिरुदाहृता । [1]पञ्चाङ्गमन्त्रनिर्णीतिर्मन्त्रशक्तिर्मतागमे ॥६०॥
शौर्योर्जितत्वादुत्साहशक्तिः शक्तिज्ञसंमता । प्रभुशक्तिर्महीभर्तुराधिक्यं कोशदण्डयोः ॥६१॥
[2]सामाद्योपप्रदां भेदं दण्डं च नयकोविदाः । वदन्त्युपायांश्चतुरो यैरर्थः साध्यते नृपैः ॥६२॥
प्रियं हितं वचः कायपरिष्वङ्गादि साम तत् । हस्त्यश्वदेशरत्नादि दत्ते सोपप्रदा मता ॥६३॥
कृत्यानामुपजापेन स्वीकृतिं भेदमादिशेत् । शष्पमुष्टिवधं दाहलोपविध्वंसनादिकम् ॥६४॥
शत्रुक्षयकरं कर्म [3]पण्डितैर्दण्डमिष्यते । इन्द्रियाणां निजार्थेषु प्रवृत्तिरविरोधिनी ॥६५॥
कामादिशत्रुविन्यासो [4]वा जयो जयशालिनः । संधिः सविग्रहो नेतुरासनं यानसंश्रयौ ॥६६॥
द्वैधीभावश्च षट् प्रोक्ता गुणाः प्रणयिनः श्रियः । कृतविग्रहयोः पश्चात्केनचिद्धेतुना तयोः ॥६७॥
मैत्रीभावः स संधिः स्यात्सावधिर्विगतावधिः । परस्परापकारोऽरिविजिगीष्वोः स विग्रहः ॥६८॥

इसलिए वहाँ जानेकी क्या आवश्यकता है ? मत जाओ ? यद्यपि महाराज दशरथने उन्हें बनारस जानेसे रोक दिया था तो भी वे पुनः इस प्रकार कहने लगे कि महाराजका हम दोनों-पर जो महान् प्रेम है वही हम दोनोंके जानेमें बाधा कर रहा है ॥५१-५६॥ जबतक शूरवीरता-का होना सम्भव है और जबतक पुण्यकी स्थिति बाकी रहती है तबतक अभ्युदयके इच्छुक पुरुष उत्साहकी तत्परताको नहीं छोड़ते हैं ॥५७॥ जो राजपुत्र विरुद्ध शत्रुओंको जीतना चाहते हैं उन्हें बुद्धि, शक्ति, उपाय, विजय, गुणोंका विकल्प और प्रजा अथवा मन्त्री आदि प्रकृतिके भेदोंको अच्छी तरह जानकर महान् उद्योग करना चाहिए। उनमें-से बुद्धि दो प्रकारकी कही जाती है, एक स्वभावसे उत्पन्न हुई और दूसरी विनयसे उत्पन्न हुई ॥५८-५९॥ शक्ति तीन प्रकारकी कही गयी है एक मन्त्रशक्ति, दूसरी उत्साह-शक्ति, तीसरी प्रभुत्व-शक्ति। सहायक, साधनके उपाय, देश-विभाग, काल-विभाग और बाधक कारणोंका प्रतिकार इन पाँच अंगोंके द्वारा मन्त्रका निर्णय करना आगममें मन्त्रशक्ति बतलायी गयी है ॥६०॥ शक्तिके जाननेवाले शूर-वीरतासे उत्पन्न हुए उत्साहको उत्साह-शक्ति मानते हैं। राजाके पास कोश (खजाना) और दण्ड (सेना) की जो अधिकता होती है उसे प्रभुत्व-शक्ति कहते हैं ॥६१॥ नीतिशास्त्रके विद्वान् साम, दान, भेद और दण्ड इन्हें चार उपाय कहते हैं। इनके द्वारा राजा लोग अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं ॥६२॥ प्रिय तथा हितकारी वचन बोलना और शरीरसे आलिंगन आदि करना साम कहलाता है। हाथी, घोड़ा, देश तथा रत्न आदिका देना उपप्रदा—दान कहलाता है। उपजाप अर्थात् परस्पर फूट डालनेके द्वारा अपना कार्य स्वीकृत करना—सिद्ध करना भेद कहलाता है। शत्रुके घास आदि आवश्यक सामग्रीकी चोरी करा लेना, उनका वध करा देना, आग लगा देना, किसी वस्तुको छिपा देना अथवा सर्वथा नष्ट कर देना इत्यादि शत्रुओंका क्षय करनेवाले जितने कार्य हैं उन्हें पण्डित लोग दण्ड कहते हैं। इन्द्रियोंकी अपने-अपने योग्य विषयोंमें विरोध रहित प्रवृत्ति होना तथा कामादि शत्रुओंको भयभीत करना जयशाली मनुष्यकी जय कहलाती है ॥६३-६५॥ सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव ये राजाके छह गुण कहे गये हैं। ये छहों गुण लक्ष्मीके स्नेही हैं। युद्ध करनेवाले दो राजाओंका पीछे किसी कारणसे जो मैत्रीभाव हो जाता है उसे सन्धि कहते हैं। यह सन्धि दो प्रकारकी है अवधि सहित—कुछ समयके लिए और अवधि रहित—सदाके लिए। शत्रु तथा उसे जीतनेवाला दूसरा राजा ये दोनों परस्परमें जो एक दूसरेका अपकार करते हैं उसे विग्रह कहते हैं

---

१ 'सहायः साधनोपायौ विभागो देशकालयोः । विनिपातप्रतीकारः सिद्धेः पञ्चाङ्गमिष्यते' । २ साम, आयस्य उपप्रदा दानमिति यावत्, भेदं, दण्डं च, चतुर उपायान् वदन्ति । ३ दण्डितैः ल० । ४ विजयो क०, ध० ।

नामिहान्योऽहमप्यन्यमशक्तो हन्तुमित्यसौ । तूष्णींभावो भवेत्तेनुरासनं वृद्धिकारणम् ॥६९॥
स्ववृद्धौ शत्रुहानौ वा द्वयोर्वाभ्युद्यमं स्मृतम् । अरिं प्रति विभोर्यानं तावन्मात्रफलप्रदम् ॥७०॥
अनन्यशरणस्याहुः संश्रयं सत्यसंश्रयम् । संधिविग्रहयोर्वृत्तिर्द्वैधीभावो द्विषां प्रति ॥७१॥
स्वाम्यमात्यौ[1] जनस्थानं कोशो दण्डः सगुप्तिकः । मित्रं[2] च भूमिपालस्य सप्त प्रकृतयः स्मृताः ॥७२॥
इमे राज्यस्थितेः प्राज्ञैः पदार्था हेतवो मताः । तेषूपायवती शक्तिः प्रधानव्यवसायिनी ॥७३॥
पानीयं खननाद्वह्निर्मथनादुपलभ्यते । अदृश्यमपि संप्राप्यं सत्फलं व्यवसायतः ॥७४॥
फलप्रसवहीनं वा सहकारं विहंगमाः । विवेकवन्तो नामोनदिष्टं वा कुत्सितागमम् ॥७५॥
राजपुत्रमनुत्साहं त्यजन्ति विपुलाः श्रियः । स्वकीययोधसामन्तमहामात्यादयोऽपि च ॥७६॥
पुत्रं पिताप्यनुद्योगं मत्वायोग्यं विषीदति । इति विज्ञापनं श्रुत्वा तयोर्नरपतिस्तदा ॥७७॥
युवाभ्यामुक्तमेवेदं प्रत्यपादि कुलोचितम् । इत्याविष्कृतहर्षोऽसिर्मौलिर्संरभूत स्वयम् ॥७८॥
[3]विन्यस्य राज्ययोग्योरुमुकुटं लक्ष्मणस्य च । प्रबध्य यौवराज्याधिपत्यपट्टं महौजसः ॥७९॥
महाभ्युदयसंपादिसत्याशीर्भिः प्रवर्द्धयन् । पुत्रौ प्रस्थापयामास पुरीं वाराणसीं प्रति ॥८०॥
गत्वा प्रविश्य तामुच्चैः पौरान् जानपदानपि । दानमानादिभिः सम्यक् सदा तोषयतोस्तयोः ॥८१॥
दुष्टनिग्रहशिष्टानुपालनप्रविधानयोः । अविलङ्घयतोः पूर्वमर्यादां नीतिवेदिनोः ॥८२॥
प्रजापालनकार्यैकनिष्ठयोर्निष्ठितार्थयोः । काले गच्छति कल्याणैः कल्पैः निःशल्यसौख्यदैः ॥८३॥

॥६६-६८॥ इस समय मुझे कोई दूसरा और मैं किसी दूसरेको नष्ट करनेके लिए समर्थ नहीं हूँ ऐसा विचार कर जो राजा चुप बैठ रहता है उसे आसन कहते हैं। यह आसन नामका गुण राजाओंकी वृद्धिका कारण है ॥६९॥ अपनी वृद्धि और शत्रुकी हानि होनेपर दोनोंका शत्रुके प्रति जो उद्यम है—शत्रुपर चढ़कर जाना है उसे यान कहते हैं। यह यान अपनी वृद्धि और शत्रुकी हानि रूप फलको देनेवाला है ॥७०॥ जिसका कोई शरण नहीं है उसे अपनी शरणमें रखना संश्रय नामका गुण है और शत्रुओंमें सन्धि तथा विग्रह करा देना द्वैधीभाव नामका गुण है ॥७१॥ स्वामी, मन्त्री, देश, खजाना, दण्ड, गढ़ और मित्र ये राजाकी सात प्रकृतियाँ कहलाती हैं ॥७२॥ विद्वान् लोगोंने ऊपर कहे हुए ये सब पदार्थ, राज्य स्थिर रहनेके कारण माने हैं। यद्यपि ये सब कारण हैं तो भी साम आदि उपायोंके साथ शक्तिका प्रयोग करना प्रधान कारण है ॥७३॥ जिस प्रकार खोदनेसे पानी और परस्परकी रगड़से अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार उद्योगसे, जो उत्तम फल अदृश्य है—दिखाई नहीं देता वह भी प्राप्त करनेके योग्य हो जाता है ॥७४॥ जिस प्रकार फल और फूलोंसे रहित आमके वृक्षको पक्षी छोड़ देते हैं और विवेकी मनुष्य उपदिष्ट मिथ्या आगमको छोड़ देते हैं उसी प्रकार उत्साहहीन राजपुत्रको विशाल लक्ष्मी छोड़ देती है। यही नहीं, अपने योद्धा सामन्त और महामन्त्री आदि भी उसे छोड़ देते हैं ॥७५-७६॥ इसी तरह पिता भी उद्यम रहित पुत्रको अयोग्य समझकर दुखी होता है। राम और लक्ष्मणकी ऐसी प्रार्थना सुनकर महाराज दशरथ उस समय बहुत ही प्रसन्न हुए और कहने लगे कि तुम दोनोंने जो कहा है वह अपने कुलके योग्य ही कहा है। इस प्रकार हर्ष प्रकट करते हुए उन्होंने भावी बलभद्र-रामचन्द्रके शिरपर स्वयं अपने हाथोंसे राज्यके योग्य विशाल मुकुट बाँधा और महाप्रतापी लक्ष्मणके लिए यौवराजका आधिपत्य पट्ट प्रदान किया। तदनन्तर महान् वैभव सम्पादन करनेवाले सत्य आशीर्वादके द्वारा बढ़ाते हुए राजा दशरथने उन दोनों पुत्रोंको बनारस नगरके प्रति भेज दिया ॥७७-८०॥ दोनों भाइयोंने जाकर उस उत्कृष्ट नगरमें प्रवेश किया और वहाँके रहनेवाले नगरवासियों तथा देशवासियोंको दोनों भाई सदा दान मान आदिके द्वारा सन्तुष्ट करने लगे। वे सदा दुष्टोंका निग्रह और सज्जनोंका पालन करते थे, नीतिके जानकार थे तथा पूर्व मर्यादाका कभी उल्लंघन नहीं करते थे। उनका प्रजा पालन करना ही मुख्य कार्य था। वे कृतकृत्य हो चुके थे—सब कार्य कर चुके थे अथवा किसी भी कार्यको प्रारम्भ कर उसे पूरा करके ही छोड़ते थे। इस प्रकार शल्य रहित उत्तम सुख प्रदान

१ स्वाम्यमात्यौ ज०, द० । २ मित्रं भूमिपालस्य ज० । ३ विनस्य ज० ।

इतो लङ्कामधिष्ठाय त्रिखण्डभरतावनेः । अधीश्वरोऽहमेवेति गर्वपर्वतभास्करम् ॥८४॥
संभावयन्तमात्मानं रावणं शत्रुरावणम् । निजतेजःप्रतापापहसितोष्णांशुमण्डलम् ॥८५॥
दण्डोपनतसामन्तविनम्रमुकुटाग्रिम- । स्फुरन्मणिमयूखाम्बुविकसच्चरणाम्बुजम् ॥८६॥
निजासने समासीनं कीर्यमाणप्रकीर्णकम् । अवतीर्णं धराभागमिव नीलनवाम्बुदम् ॥८७॥
आभाषमाणमाक्षिप्य[1] सभ्रूभङ्गं भयंकरम् । अनुजैरात्मजैर्मौलैर्भटैश्च परिवारितम् ॥८८॥
पिङ्गोत्तुङ्गजटाजूटप्रभापिञ्जरिताम्बरः । इन्द्रनीलाक्षसूत्रोरुवलयालंकृताङ्गुलिः ॥८९॥
तीर्थाम्बुसंभृतोद्भासिपद्मरागकमण्डलुः । सुवर्णसूत्रयज्ञोपवीतपूतनिजाकृतिः[2] ॥९०॥
खादेत्य नारदोऽन्येद्युः सोपद्वारं[3] समैक्षत । तदालोक्य चिराद्भद्र दृष्टोऽसीति स्वयास्यताम् ॥९१॥
कौतस्कुतः किमर्थं वा तवागमनमित्यसौ । रावणेनानुयुक्तः सन् कुधीरिदमभाषत ॥९२॥
दृप्तदुर्जयभूपोग्रकरिकण्ठीरवाधिप । एतन्मनः समाधाय दशास्य श्रोतुमर्हसि ॥९३॥
वाराणसीपुराद्य ममात्रागमनं विभो । तत्पुरीपतिरिक्ष्वाकुवंशाम्बरदिवाकरः ॥९४॥
सुतो दशरथाख्यस्य रामनामातिविश्रुतः । कुलरूपवयोज्ञानशौर्यसत्यादिभिर्गुणैः ॥९५॥
[4]अनणीयान् स्वपुण्येन स संप्रत्युदयोन्मुखः । तस्मै यज्ञापदेशेन स्वयमाहूय कन्यकाम् ॥९६॥
स्वनामश्रवणादेवगर्विकामुकचेतसम्[5] । पर्याप्तस्त्रीगुणैकव्यक्तिसंपत्कृताकृतिम् ॥९७॥

करनेवाले श्रेष्ठ कल्याणोंसे उनका समय व्यतीत हो रहा था ॥८१-८३॥ इधर रावण, त्रिखण्ड भरतक्षेत्रका मैं ही स्वामी हूँ इस प्रकार अपने-आपको गर्वरूपी पर्वतपर विद्यमान सूर्यके समान समझने लगा। वह शत्रुओंको रुलाता था इसलिए उसका रावण नाम पड़ा था। अपने तेज और प्रतापके द्वारा उसने सूर्य मण्डलको तिरस्कृत कर दिया था। दण्ड लेनेके लिए पास आये हुए सामन्तोंके नम्रीभूत मुकुटोंके अग्रभागमें जो देदीप्यमान मणि लगे हुए थे उनके किरणरूपी जलके भीतर उस रावणके चरणकमल विकसित हो रहे थे। वह अपने सिंहासनपर बैठा हुआ था, उसपर चमर ढुराये जा रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो पृथिवीपर अवतीर्ण हुआ नीलमेघ ही हो। वह भौंह टेढ़ी कर लोगोंसे वार्तालाप कर रहा था जिससे बहुत ही भयंकर जान पड़ता था। छोटे भाई, पुत्र, मूलवर्ग तथा बहुत-से योद्धा उसे घेरे हुए थे ॥८४-८८॥ ऐसे रावणके पास किसी एक दिन नारदजी आ पहुँचे। वे नारदजी अपनी पीली तथा ऊँची उठी हुई जटाओंके समूहकी प्रभासे आकाशको पीतवर्ण कर रहे थे, इन्द्रनीलमणिके बने हुए अक्षसूत्र–जपमालाको उन्होंने अपने हाथमें किसी बड़ी चूड़ीके आकार सदृश लपेट रखा था जिससे उनकी अंगुलियाँ बहुत ही सुशोभित हो रही थीं, तीर्थोदकसे भरा हुआ उनका पद्मराग निर्मित्त कमण्डलु बड़ा भला मालूम होता था और सुवर्णसूत्र निर्मित यज्ञोपवीतसे उनका शरीर पवित्र था। आकाशसे उतरते ही नारदजीने द्वारके समीप रावणको देखा। यह देख रावणने नारदसे कहा कि हे भद्र, बहुत दिन बाद दिखे हो, बैठिए, कहाँसे आ रहे हैं? और आपका आगमन किसलिए हुआ है? रावणके द्वारा इस प्रकार पूछे जानेपर दुर्बुद्धि नारद यह कहने लगा ॥८९-९२॥ अहंकारी तथा दुर्जय राजारूपी क्रुद्ध हस्तियोंको नष्ट करनेमें सिंहके समान हे दशानन! जो मैं कह रहा हूँ उसे तू चित्त स्थिर कर सुन ॥९३॥ हे राजन्! आज मेरा बनारससे यहाँ आना हुआ है। उस नगरीका स्वामी इक्ष्वाकुवंशरूपी आकाशका सूर्य राजा दशरथका अतिशय प्रसिद्ध पुत्र राम है। वह कुल, रूप, वय, ज्ञान, शूरवीरता तथा सत्य आदि गुणोंसे महान् है और अपने पुण्योदयसे इस समय अभ्युदय–ऐश्वर्यके सम्मुख है। मिथिलाके राजा जनकने यज्ञके बहाने उसे स्वयं बुलाकर साक्षात् लक्ष्मीके समान अपनी सीता नामकी पुत्री प्रदान की है। वह इतनी सुन्दरी है कि अपना नाम सुनने मात्रसे ही बड़े-बड़े अहंकारी कामियोंके चित्तको ग्रहण कर लेती है—वश कर लेती है, संसारकी सब स्त्रियोंके गुणोंको इकट्ठा करके उनकी

१–माभाष्य ल०, म०, । २–वीतरुजा निजाकृतिः ल० । ३ सोपचारं ल० । ४ अनणीयः ल० । ५ चेतसा क०, घ० ।

नेत्रगोचरमात्राखिलानङ्गसुखदायिनीम् । जेतुं संभोगरस्यन्ते शक्तां मुक्तिवधूमपि ॥९८॥
त्वामनादृत्य योग्यां[1] ते त्रिखण्डाखण्डसंपदम् । स्त्रीरत्नं त्वात्मजां लक्ष्मीमिवादान्मिथिलाधिपः ॥९९॥
तस्य भोगोपभोगैकनिष्ठस्य विपुलश्रियः । पार्श्वे स्थित्वा सहिष्णुत्वाद् भवन्तमवलोकितुम् ॥१००॥
इह प्रेम्णागतोऽस्मीति नारदोक्त्या खगेशिना । इच्छा पश्यति नो चक्षुः कामिनामित्युदीरितम् ॥१०१॥
सत्यं प्रकुर्वता सद्यः सीतासंबन्धवाक्श्रुतेः । अनङ्गशरसंपाताज्जर्जरीकृतचेतसा ॥१०२॥
धन्यान्यत्र न सा स्थातुं योग्या भाग्यविहीनके । मन्दाकिन्याः स्थितिः क्व स्यात् प्रविहृत्य महाम्बुधिम् ॥१०३॥
[2]बलात्कारेण तां तस्मादपहृत्यातिदुर्बलात् । रत्नमालामिवालोलां करिष्यामि ममोरसि ॥१०४॥
इति कामाग्नितप्तेन तेन[3] पापेन संसदि । स्वस्यामगार्यनार्येण दुर्जनानामियं गतिः ॥१०५॥
स नारदः पुनस्तत्र प्रदीप्तं कोपपावकम् । प्रज्वालयितुमस्येदमाचचक्षेऽतिपापधीः ॥१०६॥
परिप्राप्तोदयो रामो महाराज्यपदे स्थितः । यौवराज्यपदे तस्य लक्ष्मणोऽस्थात्सहोद्भवः ॥१०७॥
वाराणसीं प्रविष्टाभ्यां ताभ्यां विश्वनरेश्वराः[4] । स्वसुतादानसंमानिताभ्यां संबन्धमादधुः ॥१०८॥
ततस्ते तेन रामेण लक्ष्मणाविष्कृतौजसा । न युद्धं युज्यतेऽस्माभिस्त्यज्यतां विग्रहाग्रहः ॥१०९॥
इत्येतदुक्तमाकर्ण्य कुपितस्मितमुद्वहन् । मत्प्रभावं मुने मंक्षु श्रोष्यसीति विसृज्य तम् ॥११०॥
मन्त्रशालां प्रविश्यात्मगतमित्थममन्यत । उपायसाध्यमेतद्धि कार्यं नहि बलात्कृते ॥१११॥

सम्पदासे ही मानो उसका शरीर बनाया गया है, वह नेत्रोंके सामने आते ही सब जीवोंको काम सुख प्रदान करती है और सम्भोगसे होनेवाली तृप्तिके बाद तो मुक्तिरूपी स्त्रीको भी जीतनेमें समर्थ है। स्त्रीरूपी रत्न सर्वथा तुम्हारे योग्य था परन्तु मिथिलापतिने तीन खण्डकी अखण्ड सम्पदाको धारण करनेवाले तुम्हारा अनादर कर रामचन्द्रके लिए प्रदान किया है ॥९४-९९॥ भोगोपभोगमें निमग्न रहनेवाले तथा विपुल लक्ष्मीके धारक रामके पास रहकर मैं आया हूँ। मैं उसे सहन नहीं कर सका इसलिए आपके दर्शन करनेके लिए प्रेमवश यहाँ आया हूँ। नारदजीकी बात सुनकर विद्याधरोंके राजा रावणने 'कामी मनुष्योंकी इच्छा ही देखती है नेत्र नहीं देखते हैं' इस लोकोक्तिको सिद्ध करते हुए कहा। उस समय सीता सम्बन्धी वचन सुननेसे रावणका चित्त कामदेवके बाणोंकी वर्षासे जर्जर हो रहा था। रावणने कहा कि वह भाग्यशालिनी मेरे सिवाय अन्य भाग्यहीनके पास रहनेके योग्य नहीं है। महासागरको छोड़कर गंगाकी स्थिति क्या कहीं अन्यत्र भी होती है? मैं अत्यन्त दुर्बल रामचन्द्रसे सीताको जबरदस्ती छीन लाऊँगा और स्थायी कान्तिको धारण करनेवाली रत्नमालाके समान उसे अपने वक्षःस्थल-पर धारण करूँगा ॥१००-१०४॥ इस प्रकार कामाग्निसे सन्तप्त हुए उस अनार्य-पापी रावणने अपनी सभामें कहा सो ठीक ही है क्योंकि दुर्जन मनुष्योंका ऐसा स्वभाव ही होता है ॥१०५॥

तदनन्तर पाप-बुद्धिका धारक नारद, रावणकी प्रज्वलित क्रोधाग्निको और भी अधिक प्रज्वलित करनेके लिए कहने लगा कि जिसका ऐश्वर्य निरन्तर बढ़ रहा है ऐसा राम तो महाराज पदके योग्य है और भाई लक्ष्मण युवराज पदपर नियुक्त है ॥१०६-१०७॥ जबसे ये दोनों भाई बनारसमें प्रविष्ट हुए हैं तबसे समस्त राजाओंने अपनी-अपनी पुत्रियाँ देकर इनका सम्मान बढ़ाया है और इनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है ॥१०८॥ इसलिए लक्ष्मणसे जिसका प्रताप बढ़ रहा है ऐसे रामचन्द्रके साथ हमलोगोंको युद्ध करना ठीक नहीं है अतः युद्ध करनेका आग्रह छोड़ दीजिए ॥१०९॥ नारदकी यह बात सुनकर रावण क्रोधित होता हुआ हँसा और कहने लगा कि हे मुने! तुम हमारा प्रभाव शीघ्र ही सुनोगे। इतना कहकर उसने नारदको तो विदा किया और स्वयं मन्त्रशालामें प्रवेश कर मनमें ऐसा विचार करने लगा कि यह कार्य किसी उपायसे ही सिद्ध करनेके योग्य है, बलपूर्वक सिद्ध करनेमें इसकी शोभा नहीं है। विद्वान् लोग उपायके द्वारा बड़ेसे बड़े पुरुषकी भी लक्ष्मी हरण कर लेते हैं। ऐसा विचार उसने मन्त्रीको बुलाकर कहा कि राजा दशरथके लड़के राम

महीयसो[1]ऽप्युपायेन श्रीरप्याह्रियते बुधैः । इत्यतोऽमात्यमाहूय हसौ दशरथात्मजौ ॥११२॥
जिगीषू मत्पदं दुष्टावुच्छेदार्हौ कृतस्मरम् । पत्नी सीताभिधानाऽस्ति रामाख्यस्य दुरात्मनः ॥११३॥
तामाहरिष्ये तौ हन्तुं तदुपायं विचिन्तय । इत्यवोचत् स मारीचो विनयाकुञ्चिताञ्जलिः ॥११४॥
शृणु भट्टारक स्वामिन् हितकार्यानुवर्तनम् । अहितप्रतिषेधश्च मन्त्रिकृत्यमिदं द्वयम् ॥११५॥
भवन्निरूपितं कार्यमपथ्यमयशस्करम् । पापानुबन्धि दुःसाध्यमयोग्यं सद्भिर्गर्हितम् ॥११६॥
अन्यदारहृतिर्नाम पातकेष्वतिपातकम् । को हि नाम कुले जातो जातुचिच्चिन्तयेदिति ॥११७॥
अस्त्यन्योऽपि तदुच्छित्त्यामुपायः किमनेन ते । भवद्वंशविनाशैकहेतुना धूमकेतुना ॥११८॥
इत्याख्यत् सार्थकोप.क्यं तन्मारीचं वचो विधीः । नादादासन्नमृत्युत्वाद्[2] दृष्टरिष्ट इवौषधम् ॥११९॥
[3]गृहीतमेव नेत्येतन्नावादीश्चेति मन्त्रिणम् । किमनेन वृथा मन्त्रिन् वचनेनेष्टघातिना ॥१२०॥
वेत्सि चेद् ब्रूहि सीतापहरणोपायमार्य मे । एवं तेनोच्यमानोऽसौ तव चेदेष निश्चयः ॥१२१॥
परीक्ष्य [4]सत्या संकल्पा तस्यास्त्वय्यनुरक्तताम् । आनेया सा सुखेनैव स्निग्धोपायेन केनचित् ॥१२२॥
विरक्ता चेत्त्वया देव हठादाक्षिण्यतामिति । प्रत्याह तत्समाकर्ण्य प्रशंसन्साधु साध्विति ॥ १२३ ॥
तदैव कातरः सूर्पणखामाहूय केनचित् । प्रकारेण त्वया सीता मयि रक्ता विधीयताम् ॥ १२४ ॥
इत्याह सादरं सापि तत्संगीर्य विहायसि । तदैव रंहसा गत्वा प्रापद् वाराणसीं पुरीम् ॥ १२५ ॥
चित्रकूटाभिधोद्याने नन्दनाच्चातिसुन्दरे । रामो रन्तुं तदा गत्वा वसन्ते सीतया सह ॥ १२६ ॥

और लक्ष्मण बड़े अहंकारी हो गये हैं। वे हमारा पद जीतना चाहते हैं इसलिए शीघ्र ही उनका उच्छेद करना चाहिए। दुष्ट रामचन्द्रकी सीता नामकी स्त्री है। मैं उन दोनों भाइयोंको मारनेके लिए उस सीताका हरण करूँगा। तुम इसका उपाय सोचो। जब रावण यह कह चुका तब मारीच नामका मन्त्री विनयसे हाथ जोड़ता हुआ बोला ॥११०–११४॥ कि हे पूज्य स्वामिन्! हितकारी कार्यमें प्रवृत्त कराना और अहितकारी कार्यका निषेध करना मन्त्रीके यही दो कार्य हैं ॥११५॥ आपने जिस कार्यका निरूपण किया है वह अपथ्य है—अहितकारी है, अकीर्ति करनेवाला है, पापानुबन्धी है, दुःसाध्य है, अयोग्य है, सज्जनोंके द्वारा निन्दनीय है, परस्त्रीका अपहरण करना सब पापोंमें बड़ा पाप है, उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ ऐसा कौन पुरुष होगा जो कभी इस अकार्यका विचार करेगा ॥११६–११७॥ फिर उनका उच्छेद करनेके लिए दूसरे उपाय भी विद्यमान हैं अतः आपका वंश नष्ट करनेके लिए धूमकेतुके समान इस कुकृत्यके करनेसे क्या लाभ है? ॥११८॥ इस प्रकार मारीचने सार्थक वचन कहे परन्तु जिस प्रकार निकटकालमें मरनेवाला मनुष्य औषध ग्रहण नहीं करता उसी प्रकार निर्बुद्धि रावणने उसके वचन ग्रहण नहीं किये ॥११९॥ वह मारीचसे कहने लगा कि 'हम तुम्हारी बात नहीं मानते' यही तुमने क्यों नहीं कहा? हे मन्त्रिन्! इष्ट वस्तुका घात करनेवाले इस विपरीत वचनसे क्या लाभ है? ॥१२०॥ हे आर्य! यदि आप सीता-हरणका कोई उपाय जानते हैं तो मेरे लिए कहिए। इस प्रकार रावणके वचन सुन मारीच कहने लगा कि यदि आपका यही निश्चय है तो पहले दूतीके द्वारा इस बातका पता चला लीजिए कि उस सतीका आपमें अनुराग है या नहीं? यदि उसका आपमें अनुराग है तो वह स्नेहपूर्ण किसी सुखकर उपायसे ही लायी जा सकती है और यदि आपमें विरक्त है तो फिर हे देव, हठपूर्वक उसे ले आना चाहिए। मारीचके वचन सुनकर रावण उसकी प्रशंसा करता हुआ 'ठीक-ठीक' ऐसा कहने लगा ॥१२१–१२३॥ उसी समय उस कायरने शूर्पणखाको बुलाकर कहा कि तू किसी उपायसे सीताको मुझमें अनुरक्त कर ॥१२४॥ इस प्रकार उसने बड़े आदरसे कहा। शूर्पणखा भी इस कार्यकी प्रतिज्ञा कर उसी समय वेगसे आकाशमें चल पड़ी और बनारस जा पहुँची ॥१२५॥ उस समय वसन्त ऋतु थी अतः रामचन्द्रजी नन्दन वनसे भी अधिक सुन्दर चित्रकूट नामक वनमें रमण करनेके लिए सीताके

---

१ महीयसाप्युपायेन ख०। २ दुष्टारिष्ट–ख०। दृष्टारिष्ट–म०। ३ गृहीत एव ग०। ४ स्वस्या ल०।

मध्येवनं परिक्रम्य वीक्ष्य नानावनस्पतिम् । सप्रसूनां सहासां वा सरागां वा सपल्लवाम् ॥१२७॥
लतां समुत्सुकस्तन्वीं तन्वीमन्यामिव प्रियाम् । आलोकमानो जानक्यालोकितः स सकोपया ॥१२८॥
कुपितेयं विना हेतोः प्रसाद्येत्येवमब्रवीत् । पश्य चन्द्रानने भृङ्गं लतायाः कुसुमे भृशम् ॥१२९॥
त्वदास्ये मामिवासक्तं तत्र तर्पयितुं स्वयम् । रागं पिण्डीद्रुमाः पुष्पैरुद्गिरन्तीव नूतनैः ॥१३०॥
मम नेत्रालिनोः प्रीत्यै बध्वैभिश्चित्रशेखरम् । स्वहस्तेन प्रिये मेऽमूनलंकुरु शिरोरुहान् ॥१३१॥
एतत्पुष्पैः प्रवालैश्च भूषणानि प्रकल्पये । तथापि त्वं विभास्येतैर्जङ्गमेव लतापरा ॥१३२॥
इत्युक्तिभिरिमां मूकीभूतामालोक्य कामिनीम् । पुनश्चैवमभाषिष्ट स्पष्टेष्टवचनो नृपः ॥१३३॥
त्वद्वक्त्रं दर्पणे वीक्ष्य चक्षुषी ते कृतार्थके । त्वदास्यसौरभेणेव तृप्ता ते नासिका भृशम् ॥१३४॥
त्वच्छ्रव्यगेयसल्लापैः कर्णौ पूर्णरसौ तव । तव बिम्बाधरस्वादात्त्वज्जिह्वान्यरसास्पृहा ॥१३५॥
परिरभ्य करौ तृप्तौ तव त्वत्कठिनस्तनौ । मनोऽपीन्द्रियसंतृप्त्या संतृप्तं नितरां प्रिये ॥१३६॥
त्वय्यात्मन्येवं स्वयं तृप्ता सिद्धाकृतिरिवाधुना । कोपस्ते युक्त एवेति सीतां स चतुरोक्तिभिः ॥१३७॥
ततः प्रसन्नया सार्द्धं सुखं सर्वेन्द्रियोद्भवम् । संप्राप्य नूतनं भूपः कोपोऽपि सुखदः क्वचित् ॥१३८॥
तत्रैव लक्ष्मणोऽप्येवं स्वप्रियाभिः सहारमत् । हृष्टो तदा मुदा कामस्तेभ्योऽभ्यर्थमदः सुखम् ॥१३९॥
एवं रामश्चिरं [1]रन्त्वा कान्ते पश्य रविः करैः । सर्वान् दहति मूर्द्धस्थस्तीव्रः कस्यात्र शान्तये ॥१४०॥

साथ गये हुए थे ॥१२६॥ वहाँ वे वनके बीचमें घूम-घूमकर नाना वनस्पतियोंको देख रहे थे। वहाँ एक लता थी जो फूलोंसे सहित होनेके कारण ऐसी जान पड़ती थी मानो हँस ही रही हो तथा पल्लवोंसे सहित होनेके कारण ऐसी मालूम होती थी मानो अनुरागसे सहित ही हो। वह पतली थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो कृश शरीरवाली कोई दूसरी स्त्री ही हो। वे उसे बड़ी उत्सुकतासे देख रहे थे। उस लताको देखते हुए रामचन्द्रजीके प्रति सीताने कुछ क्रोध-युक्त होकर देखा। उसे देखते ही रामचन्द्रने कहा कि यह बिना कारण ही कुपित हो रही है अतः इसे प्रसन्न करना चाहिए। वे कहने लगे कि हे चन्द्रमुखि ! देख, जिस प्रकार मैं तुम्हारे मुखपर आसक्त रहता हूँ उसी प्रकार इधर यह भ्रमर इस लताके फूलपर कैसा आसक्त हो रहा है ? उधर ये अशोक वृक्ष स्वयं सन्तुष्ट करनेके लिए नये-नये फूलोंके द्वारा मानो अपना अनुराग ही प्रकट कर रहे हैं ॥१२७-१३०॥ हे प्रिये ! मेरे नेत्ररूपी भ्रमरोंको सन्तुष्ट करनेके लिए तू इन फूलोंके द्वारा चित्र-विचित्र सेहरा बाँधकर अपने हाथसे मेरे इन केशोंको अलंकृत कर। मैं तेरे लिए भी इन पुष्पों और प्रवालोंसे भूषण बनाता हूँ। इन फूलों और प्रवालोंसे तू सच-मुच ही एक चलती-फिरती लताके समान सुशोभित होगी ॥१३१-१३२॥ इस प्रकार रामने यद्यपि कितने ही शब्द कहे तो भी सीता क्रोधवश चुप हो बैठी रही। यह देख मिष्ट तथा इष्ट वचन बोलनेवाले राम फिर भी इस प्रकार कहने लगे ॥१३३॥ हे प्रिये ! तेरे नेत्र दर्पणमें तेरा मुख देखकर कृतकृत्य हो चुके हैं और तेरी नाक तेरे मुखकी सुगन्धिसे ही मानो अत्यन्त तृप्त हो गयी है ॥१३४॥ तेरे सुनने तथा गाने योग्य उत्तम शब्द सुनकर कान रससे लबालब भर गये हैं। तेरे अधर-बिम्बका स्वाद लेकर ही तेरी जिह्वा अन्य पदार्थोंके रससे निःस्पृह हो गयी है ॥१३५॥ तेरे हाथ तेरे कठिन स्तनोंका स्पर्श कर सन्तुष्ट हो गये हैं इसी प्रकार हे प्रिये ! तेरी समस्त इन्द्रियोंके सन्तुष्ट हो जानेसे तेरा मन भी खूब सन्तुष्ट हो गया है। इस तरह तू इस समय अपने-आपमें तृप्त हो रही है इसलिए तेरी आकृति ठीक सिद्ध भगवान्‌के समान जान पड़ती है फिरभी हे प्रिये ! तुझे क्रोध करना क्या उचित है। इस प्रकार चतुर शब्दोंके द्वारा रामने सीताको समझाया। तदनन्तर प्रसन्न हुई सीताके साथ राजा रामचन्द्रने समस्त इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए अभूतपूर्व सुखका अनुभव किया। सो ठीक ही है क्योंकि कहीं-कहीं क्रोध भी सुख-दायी हो जाता है ॥१३६-१३८॥ वहींपर लक्ष्मण भी इसी तरह अपनी स्त्रियोंके साथ रमण करते थे। उस समय कामदेव बड़े हर्षसे उन सबके लिए इच्छानुसार सुख प्रदान करता था ॥१३९॥ इस प्रकार रामचन्द्र चिरकाल तक क्रीड़ा कर सीतासे कहने लगे कि हे प्रिये ! यह सूर्य अपनी

१ रत्वा ध० ।

लक्ष्मणाक्रमविक्रान्तिविजितारातिसंनिभाः । छायामात्मनि संलीनां प्रकुर्वन्ति महीरुहः ॥१४१॥
वैराज्यपरिवारो वा मृगरूपः सशावकः । क्वाप्य[1]लब्धाश्रयस्तप्तो भ्राम्यतीतस्ततोऽपि च ॥१४२॥
इति चेतोहरैः सीतां मोदयन् स तया सह । शचीदेव्येव देवेशः कृत्वा वनविनोदनम् ॥१४३॥
किंचित् खिन्नामिवालक्ष्य तां जलाशयमासदत् । तत्र सिञ्चन् प्रियां शीतैर्यन्त्रमुक्तपयःकणैः ॥१४४॥
ईषन्निर्मीलितालोलनयनेन्दीवरोज्ज्वलम् । तद्वक्त्रकमलं पश्यन्नसावल्पं तदातुषत् ॥१४५॥
[2]वक्षोदघ्नमसौ वारि प्राविशत् सस्मितां प्रियाम् । परिरम्भोत्सुकां विद्वानिङ्गितज्ञा हि नागराः ॥१४६॥
भ्रमराः कजकं मुक्त्वा कान्तास्याब्जेऽपतन् समम् । तैराकुलीकृतां दृष्ट्वा खेदी ह्लादी च सोऽभवत् ॥१४७॥
एवं जले चिरं [3]रन्त्वा तत्रापूर्य मनोरथम् । सान्तःपुरो वने रम्यप्रदेशे स्थितिमाश्रयत् ॥१४८॥
तदा सूर्पणखागत्य तयोर्नृपतनूजयोः । वीक्षमाणातुलां लक्ष्मीमनुरक्ता सविस्मयम् ॥१४९॥
प्रभूतप्रसवानम्रकस्याशोकमहीरुहः । अधस्थां सुस्थितां सीतां हरिन्मणिशिलातले ॥१५०॥
वनलक्ष्मीमिवालोक्य भूष्यमाणां सखीजनैः । युक्तमेव खगेशस्य प्रेमास्यामिति वादिनी ॥१५१॥
बभूव स्थविरा रूपपरावर्तनविद्यया । सीताविलाससंदर्शनंभूतव्रीडयेव सा ॥१५२॥
तद्रूपं [4]वर्णयन्तीत्थं सकौतुकममन्यत । स्वबुद्धिकौशलादेतत्कृतं रूपं न वेधसा ॥१५३॥
यादृच्छिकं न चेदस्य किमकारीति नेदृशम् । शेषदेव्यो जराजीर्णां तां दृष्ट्वा यौवनोद्धताः ॥१५४॥

किरणोंसे सबको जला रहा है सो ठीक ही है क्योंकि मस्तकपर स्थित हुआ उग्र प्रकृतिका धारक किसकी शान्तिके लिए होता है ? ॥१४०॥ लक्ष्मणके आक्रमण और पराक्रमसे पराजित हुए शत्रुके समान ये वृक्ष अपनी छायाको अपने-आपमें लीन कर रहे हैं ॥१४१॥ शत्रु राजाओंके परिवारोंके समान इन बच्चों सहित हरिणोंको कहीं भी आश्रय नहीं मिल रहा है इसलिए ये सन्तप्त होकर इधर-उधर घूम रहे हैं ॥१४२॥ इस प्रकार चित्त हरण करनेवाले शब्दोंसे सीताको प्रसन्न करते हुए रामचन्द्र, इन्द्राणीके साथ इन्द्रके समान, सीताके साथ वन-क्रीडा करने लगे ॥१४३॥ रामचन्द्र सीताको कुछ खेद-खिन्न देख सरोवरके पास पहुँचे और सीताको यन्त्रसे छोड़ी हुई जलकी ठण्डी बूँदोंसे सींचने लगे ॥१४४॥ उस समय कुछ-कुछ बन्द हुए चंचल नेत्र-रूपी नीलकमलोंसे उज्ज्वल सीताका मुख-कमल देखते हुए रामचन्द्रजी बहुत कुछ सन्तुष्ट हुए थे ॥१४५॥ वे बुद्धिमान् रामचन्द्रजी आलिंगन करनेमें उत्सुक तथा मन्द हास्य करती हुई सीता-के समीप छाती तक पानीमें घुस गये थे सो ठीक ही है क्योंकि चतुर मनुष्य इशारोंको अच्छी तरह समझते हैं ॥१४६॥ वहाँ बहुत-से भ्रमर कमल छोड़कर एक साथ सीताके मुखकमलपर आ झपटे उनसे वह व्याकुल हो उठी। यह देख रामचन्द्रजी कुछ खिन्न हुए तो कुछ प्रसन्न भी हुए ॥१४७॥ इस तरह जलमें चिरकाल तक क्रीड़ा कर और मनोरथ पूर्ण कर रामचन्द्रजी अपने अन्तःपुरके साथ वनके किसी रमणीय स्थानमें जा बैठे ॥१४८॥ उसी समय वहाँ शूर्पणखा आयी और दोनों राजकुमारोंकी अनुपम शोभाको बड़े आश्चर्यके साथ देखती हुई उनपर अनुरक्त हो गयी ॥१४९॥ उस समय सीता बहुत भारी फूलोंके भारसे झुके हुए किसी सुन्दर अशोक वृक्षके नीचे हरे मणिके शिला-तलपर बैठी हुई थी, आस-पास बैठी हुई सखियाँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं जिससे वह वन-लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी, उसे देख शूर्पणखा कहने लगी कि इसमें रावणका प्रेम होना ठीक ही है ॥१५०-१५१॥ रूपपरावर्तन विद्यासे वह बुढ़िया बन गयी उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो सीताका विलास देखनेसे उत्पन्न हुई लज्जाके कारण ही उसने अपना रूप परिवर्तित कर लिया हो ॥१५२॥ कवि लोग उसके रूपका वर्णन करते थे, और कौतुक सहित ऐसा मानते थे कि विधाताने इसका रूप अपनी बुद्धिकी कुशलतासे नहीं बनाया है अपितु अनायास ही बन गया है। यदि ऐसा न होता तो वह इसके समान ही दूसरा रूप क्यों नहीं बनाता ? ॥ १५३ ॥ सीताको छोड़ अन्य रानियाँ यौवनसे उद्धत हो, वृद्धावस्थाके कारण अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण दिखनेवाली उस बुढ़ियाको देख हँसी करती हुई

---

१ लब्धा ख० । २ वक्षःप्रमाणम् । ३ रत्वा क०, घ० । ४ वर्णयतीत्यर्थः ख० ।

का त्वं वद कुतस्त्या वेत्यवोचन्हासपूर्वकम् । उद्यानपालकस्याहं मातात्रैवेति सा पुनः ॥१५५॥
तासां चित्तपरीक्षार्थमिमां वाचमुदाहरत् । युष्मदपुण्यभागिन्यो मान्याः सन्त्यन्ययोषितः ॥१५६॥
यस्मादाभ्यां कुमाराभ्यां सह भोगपरायणाः । युष्माभिः [1]प्राक्कृतं किं वा पुण्यं तन्मम कथ्यताम् ॥१५७॥
तत्करिष्यामि येनास्य राज्ञी भूत्वा महीपतेः । इमं विरक्तमन्यासु विधास्यामीति तद्वचः ॥१५८॥
श्रुत्वा ताश्चिन्तमेतस्यास्तरुणं स्मरविह्वलम् । वपुरेव जराग्रस्तमित्यलं महसाऽहसन् ॥१५९॥
[2]मा हासीः कुलसौरूप्यकलागुणयुजामिह । समप्रेम[3]फलप्राप्तेः किमन्यज्जन्मनः फलम् ॥१६०॥
वदतेति वदन्तीं तां पुनर्भो जन्मनः फलम् । तवेदमेव चेदस्मद्विभुना विधिना वयम् ॥१६१॥
[4]त्वामद्य योजयिष्यामः परिमुक्तविचारणम् । महादेवी भवेत्यासां हासबाणशरव्यताम् ॥१६२॥
उपयान्तीमिमां वीक्ष्य कारुण्याज्जनकात्मजा । किमित्याकाङ्क्षसि स्त्रीत्वं त्वं हितानवबोधिनी ॥१६३॥
स्त्रीतामनुभवन्तीभिरत्रामूभिरनीप्सितम् । प्राप्तं प्राप्यं च दुर्बुद्धे महापापफलं शृणु ॥१६४॥
अनिष्टलक्षणादन्यैरग्राह्यत्वात्स्थिता गृहे । स्वे वासो मृत्युपर्यन्तं कुलरक्षणकारणात् ॥१६५॥
अपत्यजननाभावे प्रविष्टोत्पन्नगेहयोः । शोकोत्पादनवन्ध्यात्वं निर्भाग्यत्वादगौरवम् ॥१६६॥
दुर्भगत्वेन कान्तानां परित्यागात्पराभवः । अस्पृश्यत्वं रजोदोषात् खण्डनात्कलहादिभिः ॥१६७॥
दुःखदावाग्निसंतापो वन्यानामिव भूरुहाम् । चक्रवर्तिसुतानां च परपादोपसेवना ॥१६८॥

बोली कि बतला तो सही तू कौन है ? और कहाँसे आयी है ? इसके उत्तरमें बुढ़िया कहने लगी कि मैं इस बगीचाकी रक्षा करनेवालेकी माता हूँ और यहींपर रहती हूँ ॥१५४-१५५॥ तदनन्तर उनके चित्तकी परीक्षा करनेके लिए वह फिर कहने लगी कि हे माननीयो ! आप लोगोंके सिवाय जो अन्य स्त्रियाँ हैं वे अपुण्यभागिनी हैं, आप लोग ही पुण्यशालिनी हैं क्योंकि इन कुमारोंके साथ आप लोग भोग भोगनेमें सदा तत्पर रहती हैं। आप लोगोंने पूर्वभवमें कौन-सा पुण्य कर्म किया था, वह मुझसे कहिए। मैं भी उसे करूँगी, जिससे इस राजाकी रानी होकर इसे अन्य रानियोंसे विरक्त कर दूँगी। इस प्रकार उसके वचन सुन सब रानियाँ यह कहती हुई हँसने लगीं कि इसका शरीर ही बुढ़ापासे ग्रस्त हुआ है चित्त तो जवान है और कामसे विह्वल है ॥१५६-१५९॥ इसके उत्तरमें बुढ़िया बोली कि आप लोग कुल, उत्तम रूप तथा कला आदि गुणोंसे युक्त हैं अतः आपको हँसी करना उचित नहीं है। आप सबको एक समान प्रेम रूपी फलकी प्राप्ति हुई है इससे बढ़कर जन्मका दूसरा फल क्या हो सकता है ? आप लोग ही कहें। इस प्रकार कहती हुई बुढ़ियासे वे फिर कहने लगीं कि यदि तेरे जन्मका यही फल है तो हम तुझे अपने-अपने पतिके साथ विधिपूर्वक मिला देंगी। तू बिना किसी विचारके इनकी पट्टरानी हो जाना। इस प्रकार उन स्त्रियोंकी हँसीरूपी बाणोंका निशाना बनती हुई बुढ़ियाको देख सीता दयासे कहने लगी कि तू स्त्रीपना क्यों चाहती है ? जान पड़ता है तू अपना हित भी नहीं समझती ॥१६०-१६३॥ स्त्रीपनेका अनुभव करती हुई ये सब रानियाँ इस लोकमें अनिष्ट फल प्राप्त कर रही हैं। हे दुर्बुद्धे ! यह स्त्रीपर्याय महापापका फल है। सुनो, यदि कन्याके लक्षण अच्छे नहीं हुए तो उसे कोई भी पुरुष ग्रहण नहीं करता इसलिए शोकसे अपने घर ही रहना पड़ता है। इसके सिवाय कन्याको मरण पर्यन्त कुलकी रक्षा करनी पड़ती है ॥१६४-१६५॥ यदि किसीके पुत्र नहीं हुआ तो जिस घरमें प्रविष्ट हुई और जिस घरमें उत्पन्न हुई—उन दोनों ही घरोंमें शोक छाया रहता है। यदि भाग्यहीन होनेसे कोई वन्ध्या हुई तो उसका गौरव नहीं रहता ॥१६६॥ यदि कोई स्त्री दुर्भगा अथवा कुरूपा हुई तो पति उसे छोड़ देता है जिससे सदा तिरस्कार उठाना पड़ता है। रजोदोषसे वह अस्पृश्य हो जाती है—उसे कोई छूता भी नहीं है। यदि कलह आदिके कारण पति उसे छोड़ देता है तो वनमें उत्पन्न हुए वृक्षोंके समान उसे दुःखरूपी दावानलमें सदा जलना पड़ता है। औरकी बात जाने दो चक्रवर्तीकी पुत्रीको भी

१ प्राक्कृतं ल० । २ महायुः म० । ३ समप्रेमहलिप्राप्तेः ल० । ४ त्वमद्य ल० ।

मानभङ्गः सपत्नीषु इष्टोत्कर्षेण केनचित् । स्वभाववक्त्रवाक्कायमनोभिः कुटिलात्मता ॥१६९॥
गर्भसूतिसमुत्पन्नरोगादिपरिपीडनम् । शोचनं स्त्रीसमुत्पत्तावपत्यमरणासुखम्[1] ॥१७०॥
रहस्यकार्यबाह्यत्वं सर्वकार्येष्वतन्त्रता । विधवात्वे महादुःखपात्रत्वं दुष्टचेष्टया ॥१७१॥
दानशीलोपवासादिपरलोकहितक्रिया- । विधानेऽप्रधानत्वं संतानार्थानवापनम् ॥१७२॥
कुलनाशोऽगतिर्मुक्तेरित्याद्यन्यच्च दूषितम् । साधारणमिदं सर्वस्त्रीणां कस्मात्तवाभवत् ॥१७३॥
तस्मिन्सुखाभिलाषित्वं वयस्यस्मिन् गतत्रपे । न चिन्तयसि ते भाविहितं मतिविपर्ययात् ॥१७४॥
स्त्रीत्वे सतीत्वमेवैकं श्लाघ्यं तत्पतिमात्मनः । विरूपं व्याधितं निःस्वं दुःस्वभावमवर्तकम् ॥१७५॥
त्यक्त्वान्यं चेदृशं वादृशं चक्रिणं वाभिलाषिणम् । पश्यन्त्यः कुष्ठिचाण्डालसदृशं नाभिलाषुकाः ॥१७६॥
तमप्याक्रम्य [2]भोगेच्छं सद्यो दृष्टिविषोपमाः । नयन्ति भस्मसाद्भावं यद्बलात् कुलयोषितः ॥१७७॥
इत्याह तद्वचः श्रुत्वा मन्दरोऽद्रिश्च चाल्यते । शक्यं चालयितुं नास्याश्चित्तमित्याकुलाकुला ॥१७८॥
गृहकार्यं भवद्वाक्यश्रुतेर्विस्मृत्य दुःखिता । यामि देव्यहमित्येतच्चरणाववनम्य सा ॥१७९॥
गत्वानिष्ठितकार्यत्वाद्विषण्णा रावणं प्रति । अशक्यारम्भवृत्तीनां क्लेशादन्यत्कुतः फलम् ॥१८०॥
दृष्ट्वा तं स्वोचितं देव सीता शीलवती न सा । वज्रयष्टिरिवान्येन भेत्तुं केनापि शक्यते ॥१८१॥
इति स्वगतवृत्तान्तमुक्त्वा तेऽभिकृतं मया । नोक्तं शीलवती कोपवह्निभीत्येति साब्रवीत् ॥१८२॥

दूसरेके चरणोंकी सेवा करनी पड़ती है ॥१६७-१६८॥ और सपत्नियोंमें यदि किसीकी उत्कृष्टता हुई तो सदा मानभंगका दुःख उठाना पड़ता है। स्वभाव, मुख, वचन, काय, और मनकी अपेक्षा इनमें सदा कुटिलता बनी रहती है ॥१६९॥ गर्भधारण तथा प्रसूतिके समय उत्पन्न होनेवाले अनेक रोगादिकी पीड़ा भोगनी पड़ती है। यदि किसीके कन्याकी उत्पत्ति होती है तो शोक छा जाता है, किसीकी सन्तान मर जाती है तो उसका दुःख भोगना पड़ता है ॥१७०॥ विचार करने योग्य खास कार्योंमें उन्हें बाहर रखा जाता है, समस्त कार्योंमें उन्हें परतन्त्र रहना पड़ता है, दुर्भाग्यवश यदि कोई विधवा हो गयी तो उसे महान् दुःखोंका पात्र होना पड़ता है। दान, शील, उपवास आदि परलोकका हित करनेवाले कार्योंके करनेमें उसकी कोई प्रधानता नहीं रहती। यदि स्त्रीके सन्तान नहीं हुई तो कुलका नाश हो जाता है और मुक्ति तो उसे होती ही नहीं है। इनके सिवाय और भी अनेक दोष हैं जो कि सब स्त्रियोंमें साधारण रूपसे पाये जाते हैं फिर क्यों तुझे इस निन्द्य स्त्रीपर्यायमें सुखकी इच्छा हो रही है। हे निर्लज्जे ! तू इस अवस्थामें भी अपने भावी हितका विचार नहीं कर रही है इससे जान पड़ता है कि तेरी बुद्धि विपरीत हो गयी है ॥१७१-१७४॥ स्त्री पर्यायमें एक सतीपना ही प्रशंसनीय है और वह सतीपना यही है कि अपने पतिको चाहे वह कुरूप हो, बीमार हो, दरिद्र हो, दुष्ट स्वभाववाला हो, अथवा बुरा बरताव करनेवाला हो, छोड़कर ऐसे ही किसी दूसरेकी बात जाने दो, चक्रवर्ती भी यदि इच्छा करता हो तो उसे भी कोढ़ी अथवा चाण्डालके समान नहीं चाहना। यदि कोई ऐसा पुरुष जबरदस्ती आक्रमण कर भोगकी इच्छा रखता है तो उसे कुलवती स्त्रियाँ दृष्टिविष सर्पके समान अपने सतीत्वके बलसे शीघ्र ही भस्म कर देती हैं ॥१७५-१७७॥ इस प्रकार सीताके वचन सुनकर शूर्पणखा मनमें विचार करने लगी कि कदाचित् मन्दरगिरि—सुमेरु पर्वत तो हिलाया जा सकता है पर इसका चित्त नहीं हिलाया जा सकता। ऐसा विचार कर वह बहुत ही व्याकुल हुई ॥१७८॥ और कहने लगी कि हे देवि ! आपके वचन सुननेसे मैं घरका कार्य भूलकर दुःखी हुई, अब जाती हूँ ऐसा कहकर तथा उसके चरणोंको नमस्कार कर वह चली गयी ॥१७९॥ कार्य पूरा न होनेसे वह रावणके पास खेद-खिन्न होकर पहुँची सो ठीक ही है क्योंकि अशक्य कार्योंको प्रारम्भ करनेवाले मनुष्योंको क्लेशके सिवाय और क्या फल हो सकता है ? ॥१८०॥ शूर्पणखाने पहले तो यथायोग्य विधिसे उस रावणके दर्शन किये और तदनन्तर निवेदन किया कि हे देव ! सीता शीलवती है, वह वज्रयष्टिके समान किसी अन्य स्त्रीके द्वारा भेदन नहीं की जा सकती ॥१८१॥ इस तरह अपना वृत्तान्त कहकर उसने यह कहा कि मैंने शीलवतीकी क्रोधाग्निके भयसे

---

१ मरणेऽसुखं ल० । २ भोगेच्छं ग० । भोगोत्थं ल० ।

श्रुत्वा तद्वचनं सर्वमसत्यमवधारयन् । प्रकटीकृतकोपाग्निरिङ्गिताकारवृत्तिभिः ॥१८३॥
मुग्धे फणीन्द्रनिश्वासभोगाटोपविलोकनात् । भीत्वा तद्ग्रहणं को वा विषवादी विमुञ्चति ॥१८४॥
बाह्यस्थैर्यवचः श्रुत्वा भीत्वा तस्यास्त्वमागता । गजकर्णचला स्त्रीणां चित्तवृत्तिर्न वेत्सि किम् ॥१८५॥
नास्याश्चित्तं त्वयाभेदि न जाने केन हेतुना । उपायकुशलाभासीत्यसौ तामभ्यतर्जयत् ॥१८६॥
भोगोपभोगद्वारेण रञ्जयेयं मनो यदि । तत्र यद्वस्तु नान्यत्र तत्स्वप्नेऽप्युपलभ्यते ॥१८७॥
अथ शौर्यादिभी रामसदृशो न क्वचित्पुमान् । वीणादिभिश्चेत्सा सर्वकलागुणविशारदा ॥१८८॥
सुग्रहं तलहस्तेन भूमिष्ठैर्भानुमण्डलम् । पातालादपि शेषाहिः सुहरो डिम्भकेन च ॥१८९॥
समुत्तानयितुं शक्या ससमुद्रा वसुंधरा । भेत्तुं शीलवतीचित्तं न शक्यं मन्मथेन च ॥१९०॥
इत्याख्यत्साप्यदः पापादवकर्ण्य स रावणः । निर्मलैः केतनैर्दूरात्स्फुरद्भिर्जनयद्भृशम् ॥१९१॥
हंसावलीति संदेहं नवनिर्मोकहासिभिः । दिशो मुखरयन्हेमघण्टाचटुलनिःस्वनैः ॥१९२॥
कुर्वन्दृढैर्घनाश्लेषं विश्लिष्टैरिव बन्धुभिः । ययौ पुष्पकमारुह्य गगने सह मन्त्रिणा ॥१९३॥
[1]ध्वजदण्डाग्रनिर्भिन्नवारिदच्युतवार्लवैः । मन्दगन्धवहानीतैर्विनीताध्वपरिश्रमः ॥१९४॥
सीतोत्सुकस्तथा गच्छन् ददृशे पुष्पकस्थितः । शरद्बलाहकान्तःस्थो वासौ नीलबलाहकः ॥१९५॥
संप्राप्य चित्रकूटाख्यं[2] प्रधानं नन्दनं वनम् । प्रविष्ट इव सीतायाश्चित्तं तुष्टिमगादलम् ॥१९६॥

तुम्हारा अभिमत उसके सामने नहीं कहा ॥१८२॥ शूर्पणखाके वचन सुन रावणने वह सब झूठ समझा और अपनी चेष्टा तथा मुखाकृति आदिसे क्रोधाग्निको प्रकट करता हुआ वह कहने लगा कि हे मुग्धे ! ऐसा कौन विषवादी—गारुड़िक है जो सर्पका निःश्वास तथा फणाका विस्तार देख उसके भयसे उसे पकड़ना छोड़ देता है ॥१८३-१८४॥ उसकी बाह्य धीरताके वचन सुनकर ही तू उससे डर गयी और यहाँ वापस चली आयी। स्त्रियोंकी चित्तवृत्ति हाथीके कानके समान चंचल होती है यह क्या तू नहीं जानती ? ॥१८५॥ मैं नहीं जानता कि तूने इसका चित्त क्यों नहीं भेदन किया। तू उपायमें कुशल नहीं है किन्तु कुशल जैसी जान पड़ती है। ऐसा कह रावणने शूर्पणखाको खूब डाँट दिखायी ॥१८६॥ इसके उत्तरमें शूर्पणखा कहने लगी कि यदि मैं भोगोपभोगकी वस्तुओंके द्वारा उसका मन अनुरक्त करती तो जो वस्तु वहाँ रामचन्द्रके पास हैं वे अन्यत्र स्वप्नमें भी नहीं मिलती हैं ॥१८७॥ यदि शूर-वीरता आदिके द्वारा उसे अनुरक्त करती तो रामचन्द्रके समान शूरवीर पुरुष कहीं नहीं है। यदि वीणा आदिके द्वारा उसे वश करना चाहती तो वह स्वयं समस्त कला और गुणोंमें विशारद है। भूमिपर खड़े हुए लोगोंके द्वारा अपनी हथेलीसे सूर्यमण्डलका पकड़ा जाना सरल है, एक बालक भी पाताल-लोकसे शेषनागका हरण कर सकता है ॥१८८-१८९॥ और समुद्र सहित पृथिवी उठायी जा सकती है परन्तु शीलवती स्त्रीका चित्त कामसे भेदन नहीं किया जा सकता। शूर्पणखाके वचन सुनकर रावण पापकर्मके उदयसे पुष्पक विमानपर सवार हो मन्त्रीके साथ आकाशमार्गसे चल पड़ा। पुष्पक विमानपर साँपकी नयी काँचलीकी हँसी करनेवाली निर्मल पताकाएँ फहरा रही थीं उनसे वह लोगोंको 'यह हंसोंकी पंक्ति है' ऐसा सन्देह उत्पन्न कर रहा था। सुवर्णकी बनी छोटी-छोटी घण्टियोंके चंचल शब्दोंसे वह पुष्पक विमान दिशाओंको मुखरित कर रहा था और मेघोंके साथ ऐसा गाढ़ आलिंगन कर रहा था मानो बिछुड़े हुए बन्धुओंके साथ ही आलिंगन कर रहा हो ॥१९०-१९३॥ उस पुष्पक विमानपर जो ध्वजा-दण्ड लगा हुआ था उसके अग्रभागसे मेघ खण्डित हो जाते थे, उन खण्डित मेघोंसे पानीकी छोटी-छोटी बूँदें झड़ने लगती थीं, मन्द-मन्द वायु उन्हें उड़ाकर ले आती थी जिससे रावणका मार्गसम्बन्धी सब परिश्रम दूर होता जाता था ॥१९४॥ सीतामें उत्सुक हो पुष्पक विमानमें बैठकर जाता हुआ रावण ऐसा दिखाई देता था मानो शरद् ऋतुके मेघोंके बीचमें स्थित नीलमेघ ही हो ॥१९५॥ जब वह चित्रकूट नामक आनन्ददायी प्रधान वनमें प्रविष्ट हुआ तब ऐसा सन्तुष्ट हुआ मानो सीताके मनमें ही प्रवेश पा चुका

---

१ ध्वजघण्टाग्र -म० । २ चित्रकूटाख्यनन्दनं नन्दनस्वनम् ख० ।

तदाज्ञयाथ मारीचः परार्घ्यमणिनिर्मितः । भूत्वा हरिणपोतोऽसौ सीतायाः स्वमदर्शयत् ॥१९७॥
तं मनोहारिणं दृष्ट्वा पश्य नाथातिकौतुकम् । हरिणश्चित्रवर्णोऽयं रञ्जयत्यञ्जसा मनः ॥१९८॥
इति सीतावचः श्रुत्वा विनेतुं तत्कुतूहलम् । तदानिनीषया गत्वा रामो वामे विधौ विधीः ॥१९९॥
ग्रीवाभङ्गेन वा पश्यन् कुर्वन् दूरं पुनः प्लुतिम् । वल्गन् धावन् क्षणं खादन् विभयो वा तृणाङ्कुरम् ॥२००॥
हस्तग्राह्यमिवात्मानं कृत्वोड्डीयातिदूरगः । वृथा कर्षति मां मायामृगो वैषोऽतिदुर्ग्रहः ॥२०१॥
वदन्नित्यन्वगात्सोऽपि मृगोऽगाद्गगनाङ्गणम् । कुतः कृत्यपरामर्शः स्त्रीवशीकृतचेतसाम् ॥२०२॥
लोकमानो नभो रामस्तनुतामतिरूपयन् । तस्थौ तथैव विभ्रान्तो घटान्तरगताहिवत् ॥२०३॥
[1]अथातो रामरूपेण परिवृत्तो दशाननः । सीतामित्वा पुरो धृत्वा प्रहितो हरिणो मया ॥२०४॥
वारुणीदिक् प्रिये पश्य बिम्बमेषांशुमालिनः । सिन्दूरतिलकं न्यस्तं बिभ्रतीव विराजते ॥२०५॥
आरोह शिबिकां तस्मादाशु सुन्दरि बन्धुराम् । [2]पुरीगमनकालोऽयं वर्तते सुखरात्रये ॥२०६॥
इत्यवादीत्तदाकर्ण्य सा मायाशिबिकाकृति । विमानं पुष्पकं मोहादारुरोह धरासुता ॥२०७॥
रामं वा तुरगारूढमात्मानं स्म प्रदर्शयन् । महीगतमिव भ्रान्ति जनयन् दुहितुर्महेः ॥२०८॥
तां भुजङ्गीमिवानैषीदुपायेन स्वमृत्यवे । पतिव्रताग्रगां पापी मायापटुर्दशाननः ॥२०९॥
क्रमाल्लङ्कामवाप्यैनामवतार्य वनान्तरे । सद्यो मायां निराकृत्य ज्ञापितानयनक्रमम्[3] ॥२१०॥

हो ॥१९६॥ तदनन्तर रावणकी आज्ञासे मारीचने श्रेष्ठ मणियोंसे निर्मित हरिणके बच्चेका रूप बनाकर अपने-आपको सीताके सामने प्रकट किया ॥१९७॥ उस मनोहारी हरिणको देखकर सीता रामचन्द्रजीसे कहने लगी कि हे नाथ ! यह बहुत भारी कौतुक देखिए, यह अनेक वर्णोंवाला हरिण हमारे मनको अनुरंजित कर रहा है ॥१९८॥ इस प्रकार भाग्यके प्रतिकूल होनेपर बुद्धिरहित रामचन्द्र सीताके वचन सुन उसका कुतूहल दूर करनेके लिए उस हरिणको लानेकी इच्छासे चल पड़े ॥१९९॥ वह हरिण कभी तो गरदन मोड़कर पीछेकी ओर देखता था, कभी दूर तक लम्बी छलांग भरता था, कभी धीरे-धीरे चलता था, कभी दौड़ता था, और कभी निर्भय हो घासके अंकुर खाने लगता था ॥२००॥ कभी अपने-आपको इतने पास ले आता था कि हाथसे पकड़ लिया जावे और कभी उछलकर बहुत दूर चला जाता था । उसकी ऐसी चेष्टा देख रामचन्द्रजी कहने लगे कि यह कोई मायामय मृग है मुझे व्यर्थ ही खींच रहा है और कठिनाईसे पकड़नेके योग्य है । ऐसा कहते हुए रामचन्द्रजी उसके पीछे-पीछे चले गये परन्तु कुछ समय बाद ही वह उछलकर आकाशांगणमें चला गया सो ठीक ही है क्योंकि जिनका चित्त स्त्रीके वश है उन्हें करने योग्य कार्यका विचार कहाँ होता है ? ॥२०१-२०२॥ जिस प्रकार घड़ेके भीतर रखा हुआ साँप दुःखी होता है उसी प्रकार रामचन्द्रजी आकाशकी ओर देखते तथा अपनी हीनताका वर्णन करते हुए वहींपर आश्चर्यसे चकित होकर ठहर गये ॥२०३॥

अथानन्तर रावण रामचन्द्रजीका रूप रखकर सीताके पास आया और कहने लगा कि मैंने उस हरिणको पकड़कर आगे भेज दिया है ॥२०४॥ हे प्रिये ! अब सन्ध्याकाल हो चला है । देखो, यह पश्चिम दिशा सूर्य-बिम्बको धारण करती हुई ऐसी सुशोभित हो रही है मानो सिन्दूरका तिलक ही लगाये हो ॥२०५॥ इसलिए हे सुन्दरि ! अब शीघ्र ही सुन्दर पालकीपर सवार होओ, सुख-पूर्वक रात्रि बितानेके लिए यह नगरीमें वापस जानेका समय है ॥२०६॥ रावणने ऐसा कहा तथा पुष्पक विमानको मायासे पालकीके आकारका बना दिया । सीता भ्रान्तिवश उसपर आरूढ़ हो गयी ॥२०७॥ सीताको व्यामोह उत्पन्न करते हुए रावणने अपने-आपको ऐसा दिखाया मानो घोड़ेपर सवार पृथिवीपर रामचन्द्रजी ही चल रहे हों ॥२०८॥ इस प्रकार मायाचारमें निपुण पापी रावण उपाय-द्वारा पतिव्रताओंमें अग्रगामिनी-श्रेष्ठ सीताको सर्पिणीके समान अपनी मृत्युके लिए ले गया ॥२०९॥ क्रम-क्रमसे लंका पहुँचकर उसने सीताको एक वनके बीच उतारा और शीघ्र ही माया

१ अथैतो क०, ग०, घ० । २ पुरोगमन ल० । ३ क्रमात् घ० । क्रमः ल०, ख०, म० ।

इन्द्रनीलच्छविं देहं गूढार्थं शिष्यसंततेः । आचार्यो वा स तस्याः स्वं सुचिरात्समदर्शयत् ॥२११॥
भयेन लज्जया रामविरहोत्थशुचा च सा । अगाद्राजसुता मूर्च्छामतिकृच्छ्रप्रतिक्रियाम् ॥२१२॥
सद्यः शीलवतीस्पर्शाद्विद्या गगनगामिनी । विनश्यतीति भीत्वाऽसौ जानकीं स्वयमस्पृशन् ॥२१३॥
विद्याधरीः समाहूय शीताम्बुपवनादिभिः । मूर्च्छामस्या निराकुर्युरिति दक्षा न्ययोजयत् ॥२१४॥
उपायैस्ताभिरुद्भूतमूर्च्छाऽबोचद्राजसुता । यूयं काः कः प्रदेशोऽयमिति शङ्काकुलाशया ॥२१५॥
विद्याधर्यो वयं लङ्कापुरमेतन्मनोहरम् । वनं रावणराजस्य त्रिखण्डाधिपतेरिदम् ॥२१६॥
त्वादृशी वनिता लोके न काचित्पुण्यभागिनी । महेन्द्रमिव पौलोमी सुभद्रेवादिभूपतिम् ॥२१७॥
श्रीमती वज्रजङ्घं वा त्वमेनं कुरु ते पतिम् । स्वामिनी भव सौभाग्याद्रावणस्य महाश्रियः ॥२१८॥
जानकी ताभिरित्युक्ता सुदूना दीनमानसा । किं पौलोम्यादयः शीलभङ्गेन ताः पतीन् स्वयम् ॥२१९॥
प्राणेभ्योऽप्यधिकान् का वा विक्रीणन्ति गुणान् श्रिया । त्रिखण्डस्याधिपोऽस्त्वसौ षट्खण्डस्याखिलस्य वा
किं तेन यदि शीलस्य खण्डनं मण्डनस्य मे । प्राणाः सतां न हि प्राणाः गुणाः प्राणाः प्रियास्ततः ॥२२१॥
तद्व्ययात्पालयाम्येतान् गुणप्राणान्न जीविकाम् । मूर्तिर्विनश्वरी यातु विनाशमविनश्वरम् ॥२२२॥
विनश्यति न मे शीलं कुलशैलानुकारि तत् । इति प्रत्युत्तरं दत्वा गृहीत्वा सा व्रतं तदा ॥२२३॥
वदिष्यामि न भोक्ष्ये च यावन्न श्रूयते मया । रामस्य क्षेमवार्तेति मनसालोच्य सुव्रता ॥२२४॥
अवबोधितवैधव्यविरलस्वल्पभूषणा । यथार्थं चिन्तयन्त्यास्त संततं संसृतेः स्थितिम् ॥२२५॥

दूरकर उसके लानेका क्रम सूचित किया। जिस प्रकार कोई आचार्य अपनी शिष्य-परम्पराके लिए किसी गूढ़ अर्थको बहुत देर बाद प्रकट करता है उसी प्रकार उसने इन्द्रनील मणिके समान कान्तिवाला अपना शरीर बहुत देर बाद सीताको दिखलाया ॥२१०-२११॥ उसे देखते ही राजपुत्री सीता, भयसे, लज्जासे, और रामचन्द्रके विरहसे उत्पन्न शोकसे तीव्र दुःखका प्रतिकार करनेवाली मूर्च्छाको प्राप्त हो गयी ॥२१२॥ शीलवती पतिव्रता स्त्रीके स्पर्शसे मेरी आकाशगामिनी विद्या शीघ्र ही नष्ट हो जावेगी इस भयसे उसने सीताका स्वयं स्पर्श नहीं किया ॥२१३॥ किन्तु चतुर विद्याधरियोंको बुलाकर यह आदेश दिया कि तुमलोग शीतल जल तथा हवा आदिसे इसकी मूर्च्छा दूर करो ॥२१४॥ जब उन विद्याधरियोंके अनेक उपायोंसे सीताकी मूर्च्छा दूर हुई तब शंकासे व्याकुलहृदय होती हुई वह उनसे पूछने लगी कि आप लोग कौन हैं? और यह प्रदेश कौन है? ॥२१५॥ इसके उत्तरमें विद्याधरियाँ कहने लगीं कि हम लोग विद्याधरियाँ हैं, यह मनोहर लंकापुरी है, यह तीन खण्डके स्वामी राजा रावणका वन है। इस संसारमें आपके समान कोई दूसरी स्त्री पुण्यशालिनी नहीं है क्योंकि जिस प्रकार इन्द्राणीने इन्द्रको, सुभद्राने भरत चक्रवर्तीको और श्रीमतीने वज्रजंघको अपना पति बनाया था, उसी प्रकार आप भी इस रावणको अपना पति बना रही हैं। आप सौभाग्यसे महालक्ष्मीके धारक रावणकी स्वामिनी होओ॥२१६-२१८॥ इस प्रकार विद्याधरियोंके कहनेपर सीता बहुत ही दुःखी हुई, उसका मन दीन हो गया। वह कहने लगी कि 'क्या इन्द्राणी आदि स्त्रियाँ अपना शील भंग कर इन्द्र आदि पतियोंको प्राप्त हुई थीं?॥२१९॥ ऐसी कौन-सी स्त्रियाँ हैं जो प्राणोंसे भी अधिक अपने गुणोंको लक्ष्मीके बदले बेच देती हों। रावण तीन खण्डका स्वामी हो, चाहे छह खण्डका स्वामी हो और चाहे समस्त लोकका स्वामी हो ॥२२०॥ यदि वह मेरे आभूषण स्वरूप शीलका खण्डन करनेवाला है तो मुझे उससे क्या प्रयोजन है? सज्जनोंको प्राण प्यारे नहीं, किन्तु गुण प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होते हैं ॥२२१॥ मैं प्राण देकर अपने इन गुणरूपी प्राणोंकी रक्षा करूँगी जीवनकी नहीं। यह नश्वर शरीर भले ही नष्ट हो जावे परन्तु कुलाचलोंका अनुकरण करनेवाला मेरा शील कभी नष्ट नहीं हो सकता'। इस प्रकार प्रत्युत्तर देकर उत्तम शील व्रतको धारण करनेवाली सीताने मनसे विचार किया और यह नियम ले लिया कि जबतक रामचन्द्रजीकी कुशलताका समाचार नहीं सुन लूँगी तबतक न बोलूँगी और न भोजन ही करूँगी ॥ २२२-२२४॥ वैधव्यपना प्रकट न हो इस विचारसे जिसने अपने शरीरपर थोड़े-से ही आभूषण रख छोड़े थे बाकी सब दूर कर दिये थे ऐसी सीता वहाँ संसारकी दशाका विचार करती हुई रहने

प्रादुरासंस्तदोत्पाता लङ्कायां किंकरा इव । तद्ध्वंसिकाः कृतान्तस्य समन्ताद्भयदायिनः ॥२२६॥
उत्पन्नमायुधागारे चक्रं वा कालचक्रवत् । यज्ञशालाप्रबद्धस्य बस्तकस्यैव शाद्वलम् ॥२२७॥
तदुत्पत्तिफलस्यास्या नवबोद्धुः खगेशिनः । उज्ज्वलदारं महाचक्रं महातोषमजीजनत् ॥२२८॥
रामो नाम बलो भावी लक्ष्मणोऽप्यनुजातवान् । तस्य रूढप्रतापौ तौ द्वावप्यभिमुखोदयौ ॥२२९॥
सीता शीलवती नेयं जीवन्ती ते भविष्यति । अभिभूतिः सशीलानामत्रैव फलदायिनी ॥२३०॥
उत्पाताश्च पुरेऽभूवन् बहवोऽशुभसूचकाः । लोकद्वयाहितं वाढमयशश्च युगावधि ॥२३१॥
मुञ्चैनां मंक्षिवयं यावन्न[1] चेदं रूढिमृच्छति । इति युक्तिमतीं वाणीमुक्तो मन्त्र्यादिभिस्तदा ॥२३२॥
प्रत्यभाषत लङ्केशो यूयं युक्तिविरोधि किम् । अस्मृत्वा वदतैवं च प्रत्यक्षे का विचारणा ॥२३३॥
चक्ररत्नं समुत्पन्नं सीतापहरणेन मे । [2]षट्खण्डाधाधिपत्यं च तेन चिन्त्यं करस्थितम् ॥२३४॥
स्वयं गृहागतां लक्ष्मीं हन्यात्पादेन को विधीः । इति तद्भाषितं श्रुत्वा व्यरमन् हितवादिनः ॥२३५॥
इत. परिजनो रामं मायामणिमृगानुगम् । विपिने नष्टदिग्भागं सूर्येऽस्ताचलमेयुषि ॥२३६॥
अदृष्ट्वान्विष्य सीतां च वैमनस्यमगात्पराम् । सह्य[3]स्तनोर्वियोगोऽपि स्वामिनः केन सह्यते ॥२३७॥
भानावुदयमायाति मर्त्यलोककचक्षुषि । ध्वान्ते भियेव निर्याते दलन्तीष्वब्जराशिषु ॥२३८॥
घटामटति कोकानां युग्मे युग्मद्विषा मुदा । अर्थः शब्देन वा योगं साधुना जानकीप्रियः ॥२३९॥

लगी ॥२२५॥ उसी समय लंकामें उसे नष्ट करनेवाले यमराजके किंकरोंके समान भय उत्पन्न करनेवाले अनेक उत्पात सब ओर होने लगे ॥२२६॥ जिस प्रकार यज्ञशालामें बँधे हुए बकराके समीप हरी घास उत्पन्न हो उसी प्रकार रावणकी आयुधशालामें कालचक्रके समान चक्ररत्न प्रकट हुआ । विद्याधरोंका राजा रावण उसके उत्पन्न होनेका फल नहीं जानता था—उसे यह नहीं मालूम था कि इससे हमारा ही घात होगा अतः जिसके अरोंका समूह देदीप्यमान हो रहा है ऐसे उस महाचक्रने उसे बहुत भारी सन्तोष उत्पन्न किया ॥२२७-२२८॥

तदनन्तर मन्त्रियोंने उसे समझाया कि 'रामचन्द्र होनहार बलभद्र हैं, और उनका छोटा भाई लक्ष्मण नारायण होनेवाला है । इस समय उन दोनोंका प्रताप बढ़ रहा है और दोनों ही महान् अभ्युदयके सन्मुख हैं । सीता शीलवती स्त्री है, यह जीते जी तुम्हारी नहीं होगी । शीलवान् पुरुषका तिरस्कार इसी लोकमें फल दे देता है । इसके सिवाय नगरमें अशुभकी सूचना देनेवाले बहुत भारी उत्पात भी हो रहे हैं इसलिए दोनों लोकोंमें अहित करने एवं युगान्त तक अपयश बढ़ानेवाले इस कुकार्यको उसके पहले ही शीघ्र छोड़ दो जबतक कि यह बात सर्वत्र प्रसिद्धिको प्राप्त होती है' । इस प्रकार मन्त्रियोंने युक्तिसे भरे वचन रावणसे कहे । रावण प्रत्युत्तरमें कहने लगा कि 'इस तरह आप लोग बिना कुछ सोचे-विचारे ही युक्ति-विरुद्ध वचन क्यों कहते हैं ? अरे, प्रत्यक्ष वस्तुमें विचार करनेकी क्या आवश्यकता है ? देखो, सीता-का अपहरण करनेसे ही मेरे चक्ररत्न प्रकट हुआ है, इसलिए अब तीन खण्डका आधिपत्य मेरे हाथमें ही आ गया यह सोचना चाहिए । ऐसा कौन मूर्ख होगा जो घरपर आयी हुई लक्ष्मीको पैरसे ठुकरावेगा' । इस प्रकार रावणका उत्तर सुनकर हितका उपदेश देनेवाले सब मन्त्री चुप हो गये ॥२२९-२३५॥

इधर रामचन्द्रजी मणियोंसे बने मायामय मृगका पीछा करते-करते वनमें बहुत आगे चले गये वहाँ वे दिशाओंका विभाग भूल गये और सूर्य अस्ताचलपर चला गया । परिवारके लोगोंने उन्हें तथा सीताको बहुत ढूँढ़ा पर जब वे न दिखे तो बहुत ही खेद-खिन्न हुए । सो ठीक ही है क्योंकि शरीरका वियोग तो सहा जा सकता है परन्तु स्वामीका वियोग कौन सह सकता है ॥२३६-२३७॥ सवेरा होनेपर मनुष्य-लोकके चक्षुस्वरूप सूर्यका उदय हुआ, अन्धकार मानो भयसे भाग गया, कमलोंके समूह फूल उठे, रात्रिके कारण परस्पर द्वेष रखनेवाले चकवा-चकवियोंके युगल हर्षसे मिलने लगे और जिस प्रकार अर्थ निर्दोष शब्दके साथ संयोगको प्राप्त होता है अथवा

१–नात्रैवं घ० । -नात्रेदं ख०, ग, । २ षट्खण्डस्याधिपत्यं ल० । ३ सह्यस्तनोर्वि ख०, सह्य. सूनोर्वि-ल० ।

स्वयं परिजनेनापि भास्करो दिवसेन वा । दृष्ट्वा तं मत्प्रिया क्वेति नृपः पप्रच्छ साकुलः ॥२४०॥
देव देवी च देवो वा नास्माभिरवलोकितः । देवी छायेव ते तस्मात्त्वमवैषीति सोऽभ्यधात् ॥२४१॥
[1]इति तद्वचनाल्लब्धरन्ध्रा रामं समग्रहीत् । मूर्च्छा सीतासपत्नीव मोहयन्ती मनः क्षणम् ॥२४२॥
तदा शीतक्रिया सीतासखीव सहसा नृपम् । व्यश्लेषयत्ततः सोऽपि क्व सीतेति प्रबुद्धवान् ॥२४३॥
देवीं परिजनः सर्वं समन्तात्प्रतिभूरुहम् । अन्वेषयन् विलोक्योत्तरीयं वंशविदारितम् ॥२४४॥
तस्मात्तदा तदानीय राघवाय समर्पयन् । उत्तरीयांशुकं देव्या भवत्येतदितः कुतः ॥२४५॥
इति विज्ञाततत्त्वं शोकव्याकुलमानसः । महानुजस्ततश्चिन्तां कुर्वन्नुर्वीश्वरः स्थितः ॥२४६॥
तत्क्षणे संभ्रमाक्रान्तो दूतो दशरथान्तिकात् । तं प्राप्य विनतो मूर्ध्ना कार्यमित्थमभाषत ॥२४७॥
गृहीत्वा रोहिणीं राहौ प्रयाते गगनान्तरम् । एकाकिनं तुषारांशुं भ्राम्यन्तं समलोकिपि ॥२४८॥
स्वप्ने किं फलमेतस्येत्यन्वयुङ्क्त महीपतिः । पुरोहितमसौ चाह सीतामद्य दशाननः ॥२४९॥
गृहीत्वायात्स मायावी रामः स्वामी च कानने । तां समन्वेषितुं शोकादाकुलो भ्राम्यति स्वयम् ॥२५०॥
मङ्क्षु दूतमुखाद्देशप्रापणीयमिति स्फुटम् । तदाज्ञयागतोऽस्मीति लेखगर्भकरण्डकम् ॥२५१॥
न्यधादग्रे तदादाय शिरसा रघुनन्दनः । विमोच्य पत्रमग्रस्थं स्वयमित्थमवाचयत् ॥२५२॥
इतो विनीतानगरात् श्रीमतः श्रीमतां पतिः । प्रेमप्रसारितात्मीयभुजाभ्यां स्वप्रियात्मजौ ॥२५३॥

सूर्य दिनके साथ आ मिलता है उसी प्रकार जानकीवल्लभ रामचन्द्रजी परिवारके लोगोंके साथ आ मिले। परिजनको देखकर राजा रामचन्द्रजीने बड़ी व्यग्रतासे पूछा कि हमारी प्रिया—सीता कहाँ है ? परिजनने उत्तर दिया कि हे देव ! हम लोगोंने न आपको देखा है और न देवीको देखा है। देवी तो छायाके समान आपके पास ही थी अतः आप ही जानें कि कहाँ गयी ? इस प्रकार परिजनके वचनोंसे प्रवेश पाकर क्षण-भरके लिए मनको मोहित करती हुई सीताकी सपत्नीके समान मूर्च्छाने रामचन्द्रको पकड़ लिया—उन्हें मूर्च्छा आ गयी ॥२३८-२४२॥ तदनन्तर-सीताकी सखीके समान शीतोपचारकी क्रियाने राजा रामचन्द्रको मूर्च्छासे जुदा किया और 'सीता कहाँ है' ? ऐसा कहते हुए वे प्रबुद्ध—सचेत हो गये ॥२४३॥ परिजनके समस्त लोगोंने सीताको प्रत्येक वृक्षके नीचे खोजा पर कहीं भी पता नहीं चला। हाँ, किसी बंशकी झाड़ीमें उसके उत्तरीय वस्त्रका एक टुकड़ा फटकर लग रहा था परिजनके लोगोंने उसे लाकर रामचन्द्रजीको सौंप दिया। उसे देखकर वे कहने लगे कि यह तो सीताका उत्तरीय वस्त्र है, यहाँ कैसे आया ? ॥२४४-२४५॥ थोड़ी ही देरमें रामचन्द्रजी उसका सब रहस्य समझ गये। उनका हृदय शोकसे व्याकुल हो गया और वे छोटे भाईके साथ चिन्ता करते हुए वहीं बैठ रहे ॥२४६॥ उसी समय सम्भ्रमसे भरा एक दूत राजा दशरथके पाससे आकर उनके पास पहुँचा और मस्तक झुकाकर इस प्रकार कार्यका निवेदन करने लगा ॥२४७॥ उसने कहा कि आज महाराज दशरथने स्वप्न देखा है कि राहु रोहिणीको हरकर दूसरे आकाशमें चला गया है और उसके विरहमें चन्द्रमा अकेला ही वनमें इधर-उधर भ्रमण कर रहा है। स्वप्न देखनेके बाद ही महाराजने पुरोहितसे पूछा कि 'इस स्वप्नका क्या फल है' ? पुरोहितने उत्तर दिया कि आज मायावी रावण सीताको हरकर ले गया है और स्वामी रामचन्द्र उसे खोजनेके लिए शोकसे आकुल हो वनमें स्वयं भ्रमण कर रहे हैं। दूतके मुखसे यह समाचार स्पष्टरूपसे शीघ्र ही उनके पास भेज देना चाहिए। इस प्रकार पुरोहितने महाराजसे कहा और महाराजकी आज्ञानुसार मैं यहाँ आया हूँ। ऐसा कह दूतने जिसमें पत्र रखा हुआ था ऐसा पिटारा रामचन्द्रके सामने रख दिया। रामचन्द्रने उसे शिरसे लगाकर उठा लिया और खोलकर भीतर रखा हुआ पत्र इस प्रकार बाँचने लगे ॥२४८-२५२॥ उसमें लिखा था कि, इधर लक्ष्मीसम्पन्न अयोध्या नगरसे लक्ष्मीवानोंके स्वामी महाराज दशरथ प्रेमसे फैलायी हुई अपनी दोनों भुजाओंके द्वारा अपने प्रिय पुत्रोंका आलिंगन कर तथा उनके शरीरकी कुशल-वार्ता पूछकर यह आज्ञा देते हैं कि यहाँसे दक्षिण दिशाकी ओर

१ अथ क०, ख०, ग० ।

परिष्वज्यानुयुज्याङ्गक्षेमवार्तां ततः परम् । इदमाज्ञापयत्यत्र दक्षिणाब्ध्यन्तरस्थिताः ॥२५४॥
षट्पञ्चाशन्महाद्वीपाश्चक्रवर्त्यनुवर्तिनः । केशवाश्च स्वमाहात्म्यात्तदर्धपरिरक्षिणः ॥२५५॥
द्वीपोऽस्ति तेषु लङ्काख्यास्त्रिकूटाद्रिविभूषितः । तस्मिन् विनमिसंतानविद्याधरधरेशिनाम् ॥२५६॥
चतुष्टये व्यतिक्रान्ते प्रजापालनलोलुपे[1] । रावणाख्यः खलो लोककण्टकः स्त्रीषु लम्पटः ॥२५७॥
ततोऽभूदन्यदा तस्य नारदेन रणेच्छुना । रूपलावण्यकान्त्यादिकथितं क्षितिजाश्रितम् ॥२५८॥
सद्यैव मदनामोघबाणनिर्भिन्नमानसः । पौलस्त्यो ध्वस्तधीधैर्यो मायावी न्यायदूरगः ॥२५९॥
[2]अनन्यवेद्यमागत्य सोपायं स्वां पुरीं सतीम् । अनैषीत्तावदस्माकमुद्योगसमयो भवेत् ॥२६०॥
तावत्स्वकायसंरक्षा कर्तव्येति प्रियां प्रति । प्राहिणोतु कुमारोऽग्र्यं दूतं स्वं धीरयन्निति ॥२६१॥
पितृलेखार्थमाध्याय स्वशोकः क्रुधोद्धतः । अन्तकस्याङ्कमारोढुं स कङ्केशः किमिच्छति ॥२६२॥
शशस्य सिंहपोतेन किं विरोधेऽस्ति जीविका । सत्यमासन्नमृत्यूनां सद्यो विध्वंसनं मतेः ॥२६३॥
इत्युद्धतोदितैः कोपमाविश्चक्रेऽथ लक्ष्मणः । जनको भरतः शत्रुघ्नश्च [3]तद्वृत्तकश्रुतेः ॥२६४॥
संप्राप्य राघवं सोपचारमालोक्य युक्तिमद् । वाक्यैः शोकं समं नेतुं तदैवं ते समब्रुवन् ॥२६५॥
चौर्येण रावणस्यैव परदारापहारिणः । पराभवः परिद्रोग्धा दुरात्माधर्मवर्तनः ॥२६६॥
सीताशापेन दाह्योऽसौ निर्विचार्यैमकार्यकृत् । महापापकृतां पापमस्मिन्नेव फलिष्यति ॥२६७॥
उपायश्चिन्त्यतां कोऽपि सीतानयनं प्रति । इति तैर्बोधितो[4] रामः सुप्तोत्थित इवाभवत् ॥२६८॥

समुद्रके बीचमें स्थित छप्पन महाद्वीप विद्यमान हैं जो चक्रवर्तीके अनुगामी हैं अर्थात् उन सबमें चक्रवर्तीका शासन चलता है। नारायण भी अपने माहात्म्यसे उन द्वीपोंमें-से आधे द्वीपोंकी रक्षा करते हैं॥२५३-२५५॥ उन द्वीपोंमें एक लंका नामका द्वीप है, जो कि त्रिकूटाचलसे सुशोभित है। उसमें क्रम-क्रमसे राजा विनमिकी सन्तानके चार विद्याधर राजा, जो कि प्रजाकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर रहते थे, जब व्यतीत हो चुके तब रावण नामका वह दुष्ट राजा हुआ है जो कि लोकका कण्टक माना जाता है और स्त्रियोंमें सदा लम्पट रहता है ॥२५६-२५७॥ तदनन्तर युद्धकी इच्छा रखनेवाले नारदने किसी एक दिन रावणके सामने सीताके रूप लावण्य और कान्ति आदिका वर्णन किया। उसी समय रावणका मन कामदेवके अमोघ बाणोंसे खण्डित हो गया। उसकी बुद्धिकी धीरता जाती रही। न्यायमार्गसे दूर रहनेवाला वह मायावी जिस तरह किसी दूसरेको पता न चल सके इस तरह गुप्तरूपसे आकर सती सीताको किसी उपायसे अपनी नगरीमें ले गया है सो जबतक हम लोगोंके उद्योग करनेका समय आता है तबतक अपने शरीरकी रक्षा करनी चाहिए इस प्रकार प्रिया सीताके प्रति उसे समझानेके लिए कुमारको अपना कोई श्रेष्ठ दूत भेजना चाहिए'। ऐसा महाराज दशरथने अपने पत्रमें लिखा था। पिताके पत्रका मतलब समझकर रामचन्द्रका शोक तो रुक गया परन्तु वे क्रोधसे उद्धत हो उठे। वे कहने लगे कि क्या रावण यमराजकी गोदमें चढ़ना चाहता है॥२५८-२६२॥ सिंहके बच्चेके साथ विरोध करनेपर क्या खरगोशका जीवन बच सकता है? सच है कि जिनकी मृत्यु निकट आ जाती है उनकी बुद्धि शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥२६३॥ इस प्रकार रोष-भरे शब्दों-द्वारा रामचन्द्रने क्रोध प्रकट किया। तदनन्तर-लक्ष्मण, जनक, भरत और शत्रुघ्न यह समाचार सुनकर रामचन्द्रजीके पास आये और बड़ी विनय सहित उनसे मिलकर युक्तिपूर्ण शब्दों-द्वारा उनका शोक दूर करनेके लिए सब एक साथ इस प्रकार कहने लगे ॥२६४-२६५॥ उन्होंने कहा कि 'रावण चोरीसे परस्त्री हरकर ले गया है इससे उसीका तिरस्कार हुआ है। वह द्रोह करनेवाला है, दुष्ट है और अधर्मकी प्रवृत्ति चलानेवाला है। उसने चूँकि बिना विचार किये ही यह अकार्य किया है अतः वह सीताके शापसे जलने योग्य है। महापाप करनेवालोंका पाप इसी लोकमें फल देता है ॥२६६-२६७॥ अब सीताको वापस लानेका कोई उपाय सोचना चाहिए।' इस प्रकार उन सबके द्वारा समझाये जानेपर रामचन्द्रजी सोयेसे उठे हुएके समान सावधान हो

१ लोलुपः। २ अनन्यवेद्य ल०। ३ तद्वृत्तकश्रुतः ल०। ४ -र्वचितो ल०।

तत्काले खेचरद्वन्द्वं दौवारिकनिवेदितम् । नृपानुगतमागत्य यथोचितम[1]लोकत ॥२६९॥
भविष्यद्बलदेवोऽपि कृततद्योगसंपदः । एतदागमनं कस्मात् कौ भवन्तौ कुमारकौ ॥२७०॥
इत्यन्वयुङ्क्त सुग्रीवस्तत्रेदं सम्यगब्रवीत् । खगाद्रिदक्षिणश्रेण्यां पुरं किलकिलाह्वयम् ॥२७१॥
तदधीशो बलीन्द्राख्यो विख्यातः खचरेष्वसौ । प्रियङ्गुसुन्दरी तस्य प्रिया तस्यां तनूद्भवौ ॥२७२॥
वालिसुग्रीवनामानावजायावहि भूभुजाम् । पितर्युपरतेऽजायताग्रजस्याधिराजता ॥२७३॥
ममापि युवराजत्वमजनिष्ट क्रमागतम् । एवं गच्छति तत्स्थानमपहृत्य मदग्रजः ॥२७४॥
लोभाक्रान्ताशयो देशात् स निर्वासयति स्म माम् । एषोऽपि दक्षिणश्रेण्यां विद्युत्कान्तापुरेशिनः ॥२७५॥
प्रभञ्जनखगाधीशस्तनूजोऽमिततेजवाक् । त्रिधाविद्योऽञ्जनादेव्यामस्त्यहतपराक्रमः ॥२७६॥
नभश्चरकुमाराणां समुदाये परस्परम् । कदाचिदात्मविद्यानामनुभावपरीक्षणे ॥२७७॥
विजयार्द्धगिरेर्मूर्ध्नि क्रमं विन्यस्य दक्षिणम् । वामपादेन भास्वन्तमपहाय पुनस्तदा ॥२७८॥
त्रसरेणुप्रमाणं स्वं शरीरमकृताद्भुतम् । ततः प्रभृति विद्येशैर्विस्मयाहितमानसैः ॥२७९॥
अणुमानिति हर्षेण निखिलैरस्यभाष्ययम् । पीतव्याकरणाम्भोधिः सखा प्राणाधिको मम ॥२८०॥
गत्वा कदाचिदेतेन सह संमेदपर्वतम् । सिद्धकूटाभिधे तीर्थक्षेत्रेऽर्हत्प्रतिमा बहूः ॥२८१॥
अभ्यर्च्य भक्त्या वन्दित्वा स्थितोऽस्मिन् शुभभावनः । जटामुकुटसंधारी [2]मुक्तायज्ञोपवीतकः ॥२८२॥
काषायवस्त्रः कक्षावलम्बिरत्नकमण्डलुः । करोद्धृतातपत्राणो नैष्ठिकब्रह्मसद्व्रतः ॥२८३॥
नारदो [3]विशिखारूढो रौद्रध्यानपरायणः । अवतीर्य नभोभागात्परीत्य जिनमन्दिरम् ॥२८४॥

गये ॥२६८॥ उसी समय द्वारपालोंने दो विद्याधरोंके आनेका समाचार कहा । राजा रामचन्द्रने उन्हें भीतर बुलाया और उन्होंने योग्य विनयके साथ उनके दर्शन किये ॥२६९॥ होनहार बलभद्र रामचन्द्र भी उनके संयोगसे हर्षित हुए और पूछने लगे कि आप दोनों कुमार यहाँ कहाँसे आये हैं ? और आप कौन हैं ? इसके उत्तरमें सुग्रीव कहने लगा कि विजयार्ध पर्वतकी दक्षिणश्रेणीमें एक किलकिल नामका नगर है। विद्याधरोंमें अतिशय प्रसिद्ध बलीन्द्र नामका विद्याधर उस नगरका स्वामी था। उसकी प्रियंगुसुन्दरी नामकी स्त्री थी। उन दोनोंके हम बालि और सुग्रीव नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए। जब पिताका देहान्त हो गया तब बड़े भाई बालिको राज्य प्राप्त हुआ और मुझे क्रमप्राप्त युवराज पद मिला। इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होनेपर मेरे बड़े भाई बालिके हृदयको लोभने धर दबाया इसलिए उसने मेरा स्थान छीनकर मुझे देशसे बाहर निकाल दिया। यह तो मेरा परिचय हुआ अब रहा यह साथी। सो यह भी दक्षिण श्रेणीके विद्युत्कान्त नगरके स्वामी प्रभंजन विद्याधरका अमिततेज नामका पुत्र है। यह तीनों प्रकारकी विद्याएँ जानता है, अंजना देवीमें उत्पन्न हुआ है, और अखण्ड पराक्रमका धारक है ॥२७०-२७६॥ किसी एक समय विद्याधर-कुमारोंके समूहमें परस्पर अपनी-अपनी विद्याओंके माहात्म्यकी परीक्षा देनेकी बात निश्चित हुई। उस समय इसने विजयार्ध पर्वतके शिखरपर दाहिना पैर रखकर बायें पैरसे सूर्यके विमानमें ठोकर लगायी। तदनन्तर उसी क्षण त्रसरेणुके प्रमाण अपना छोटा-सा शरीर बना लिया। यह देख, विद्याधरोंके चित्त आश्चर्यसे भर गये, उसी समय समस्त विद्याधरोंने बड़े हर्षसे इसका 'अणुमान्' यह नाम रखा। इसने विक्रियारूपी समुद्रका पान कर लिया है अर्थात् यह सब प्रकारकी विक्रिया करनेमें समर्थ है, यह मेरा प्राणोंसे भी अधिक प्यारा मित्र है ॥२७७-२८०॥ मैं किसी एक दिन इसके साथ सम्मेदशिखर पर्वतपर गया था वहाँ सिद्धकूट नामक तीर्थक्षेत्रमें अर्हन्त भगवान्‌की बहुत-सी प्रतिमाओंकी भक्तिपूर्वक पूजा-वन्दना कर वहींपर शुभ भावना करता हुआ बैठ गया। उसी समय वहींपर विमानमें बैठे हुए नारदजी आ पहुँचे। वे जटाओंका मुकुट धारण कर रहे थे, मोतियोंका यज्ञोपवीत पहने थे, गेरुआ वस्त्रोंसे सुशोभित थे, उनकी बगलमें रत्नोंका कमण्डलु लटक रहा था, वे हाथमें छाता लिये हुए थे, नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, और सदा रौद्रध्यानमें

१ यथाविमत ल० (?) । २ शुभयज्ञोपवीतकः ल० । ३--ऽविधिसारूढः ल० । (विमानारूढः) ।

समुपाविशदेकत्र जिनस्तवनपूर्वकम् । समुपेत्य तमप्राक्षं किं मुने स्थानमात्मनः ॥२८५॥
संपद्यते न वेत्येतद्वचनादब्रवीदसौ । रामलक्ष्मणयोरर्द्धभरतस्वामिताचिरात् ॥२८६॥
भविष्यति कृतप्रेषणस्य ताभ्यां तवेप्सितम् । संपत्स्यते च तत्प्रेष्यं किंचिद्राममनोरमाम् ॥२८७॥
विहरन्तीं वने वीक्ष्य रावणो माययाग्रहीत् । तद्रामलक्ष्मणावद्य लङ्काभिगमनोचितम् ॥२८८॥
अन्वेषितारौ पुरुषं तिष्ठतः स्वार्थसिद्धये । इति तद्वचनात्तोषाद्देवास्मि त्वां प्रतीयिव[1] ॥२८९॥
तौ च तद्वचनात् पूजामुचितां चक्रतुस्तयोः । अथ विज्ञापयामास प्रभञ्जनतनूभवः ॥२९०॥
यथादेशोऽस्ति चेद्देव्याः स्थानमन्वेषयाम्यहम् । तत्प्रत्ययार्थमाख्येयमभिज्ञानं महीपते ॥२९१॥
इति तेनोक्तमाकर्ण्य विनम्यन्वयखेन्दुना । यथाभिप्रेतमेतेन प्रसेत्स्यत्यस्तसंशयम् ॥२९२॥
इति मत्वा स्वनामाङ्कमुद्रिकां मत्प्रियेदृशी । वर्णादिभिरिति व्यक्तमुक्त्वा तस्मै ददौ नृपः[2] ॥२९३॥
स रामचरणाम्भोजं विनम्य गगनान्तरम् । समुत्पत्य समुल्लङ्घ्य समुद्रं सत्रिकूटकम् ॥२९४॥
द्विषट्कयोजनायामं नवयोजनविस्तृतम् । द्वात्रिंशद्गोपुरोपेतं रत्नप्राकारवेष्टितम् ॥२९५॥
नानाभवनसंकीर्णं मणितोरणभास्वरम् । महामेरुसमुत्तुङ्गं रावणावासभाजितम् ॥२९६॥
अलिपुंस्कोकिलालापैर्लसत्कुसुमपल्लवैः । सरागहासं गायद्भिरिवोद्यानैर्मनोहरम् ॥२९७॥
लङ्कानगरमासाद्य सीतान्वेषणतत्परः । गृहीतभ्रमराकारो दशाननसभागृहम्[3] ॥२९८॥
इन्द्रजित्प्रमुखान् भूपकुमारान् वीक्ष्य सादरम् । मन्दोदरीप्रभृत्येतद्वनिताश्च निरूपयन् ॥२९९॥
नताखिलखगाधीशमौलिमालार्चितक्रमम् । मध्ये सिंहासनं सिंहविक्रमं शक्रसंनिभम् ॥३००॥

तत्पर रहते थे । उन्होंने आकाशसे उतरकर पहले तो जिन-मन्दिरोंकी प्रदक्षिणा दी, फिर जिनेन्द्र भगवान्का स्तवन किया और तदनन्तर वे एकान्त स्थानमें बैठ गये । मैंने उनके पास जाकर पूछा कि हे मुने ! क्या कभी मुझे अपना पद भी प्राप्त हो सकेगा ? इसके उत्तरमें उन्होंने कहा कि राम और लक्ष्मणका बहुत ही शीघ्र आधे भरत खण्डका स्वामीपन प्रकट होनेवाला है ॥२८१-२८३॥ यदि तू उनके दूतका कार्य कर देगा तो उन दोनोंके द्वारा तेरा मनोरथ सिद्ध हो जायेगा । उन्हें दूत भेजनेका कार्य यों आ पड़ा है कि रामकी स्त्री वनमें विहार कर रही थी उसे रावण छलपूर्वक हरकर ले गया है । इसलिए आज राम और लक्ष्मण अपना कार्य सिद्ध करनेके लिए लंका भेजने योग्य किसी पुरुषकी खोज करते हुए बैठे हैं । इस प्रकार नारदके वचन सुनकर हे देव ! बड़े सन्तोषसे हम दोनों आपके पास आये हैं ॥२८७-२८९॥ दोनों विद्याधरोंके उक्त वचन सुनकर राम-लक्ष्मणने उनका उचित सत्कार किया । तदनन्तर प्रभंजनके पुत्र अणुमान् (हनुमान्) ने प्रार्थना की कि यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं सीता देवीके स्थानकी खोज करूँ । हे राजन् ! देवीको विश्वास उत्पन्न करानेके लिए आप कोई चिह्न बतलाइए ॥२९०-२९१॥ इस प्रकार उसका कहा सुनकर रामचन्द्रजीको विश्वास हो गया कि विनमिके वंशरूपी आकाशके चन्द्रमास्वरूप इस विद्याधरके द्वारा हमारा अभिप्राय निःसन्देह सिद्ध हो जावेगा ॥२९२॥ ऐसा मान राजाने मेरी प्रिया रूप-रंग आदिमें ऐसी है यह स्पष्ट बताकर उसके लिए अपने नामसे चिह्नित मुद्रिका (अँगूठी) दे दी ॥२९३॥ अणुमान् रामचन्द्रके चरण-कमलोंको नमस्कार कर आकाशके बीच जा उड़ा और समुद्र तथा त्रिकूटाचलको लाँघकर लंका नगरमें जा पहुँचा । वह लंका नगर बारह योजन लम्बा और नौ योजन चौड़ा था, बत्तीस गोपुरोंसे सहित था, रत्नोंके कोटसे युक्त था, महामेरुके समान ऊँचा था, रावणके महलोंसे सुशोभित था, एवं जिनमें भ्रमर और पुंस्कोकिलाएँ मनोहर शब्द कर रही हैं तथा फूल और पत्ते सुशोभित हैं अतएव जो राग तथा हासके साथ गाते हुए-से जान पड़ते हैं ऐसे बाग-बगीचोंसे मनोहर था, ऐसे लंका नगरमें जाकर सीताकी खोजमें तत्पर रहनेवाले अणुमान्ने भ्रमरका रूप रख लिया और क्रम-क्रमसे वह रावणके सभागृह, इन्द्रजित् आदि राजकुमारों तथा मन्दोदरी आदि रावणकी स्त्रियोंको बड़े आदरसे देखता हुआ वहाँ पहुँचा जहाँ रावण विद्यमान था ॥२९४-२९९॥ तदनन्तर नमस्कार करते हुए समस्त विद्याधर राजाओंके मुकुटोंकी मालाओंसे जिसके चरण-

---

१ प्रतीत सः ग०, घ० । प्रतीय वः क० । प्रतीरय ख० । २ नमः ल० । ३ सभागृहे म०, ख० ।

नीलाद्रिमिव गङ्गोरुतरङ्गैश्च महीरुहैः । [1]दोधूयमानमालोक्य रावणं रावितद्विषम् ॥२०१॥
अहो पापस्य कोऽप्येष विपाकोऽयमपीदृशः । किल धिग्धर्ममुल्लङ्घ्य परदाराभिलाषुकः ॥२०२॥
ध्रुवं तन्नारदेनोक्तमकालमरणं ध्रुवम् । भावीति भावयन् सीतां तत्सभायामलक्षयन् ॥२०३॥
मन्दमन्दप्रभे भानौ दीने सति दिनात्यये । सहायसंपदं प्रायो मन्वानः संपदावहाम् ॥२०४॥
उदयास्तमयौ नित्यं देहिनामिति रावणम् । रविर्ययौ निरूप्येव समन्तादिति चिन्तयन् ॥२०५॥
दूतो रामस्य गत्वाऽन्तःपुरपश्चिमगोपुरम् । आरुह्य लोकमानोऽयं भ्रमरारावराजितम् ॥२०६॥
वनं सर्वर्तुकं नाम नन्दनं नन्दनोपमम् । फलप्रसवभारावनम्रकम्रमहीरुहैः ॥२०७॥
मन्दगन्धवहोद्धूतनानाप्रसवपांसुभिः । कृतकाद्रिसरोवापीलतालालितमण्डपैः ॥२०८॥
मदनोद्दीपनैर्देशैरन्यैश्चातिमनोहरम् । दृष्ट्वा तत्र मनाक् स्थित्वा सप्रमोदः सकौतुकः ॥२०९॥
तत्रैकस्मिन् समासन्नदेशे विद्याधरीजनैः । सामादिभिर्वशीकर्तुमिङ्गिताकारवेदिभिः ॥२१०॥
परीतां शिंशपाक्ष्माजमूले शोकाकुलीकृताम् । ध्यायन्तीं निभृतां मृत्वा शीर्त्वापि कुलरक्षणे ॥२११॥
सयत्नां शीलमालां वा समालोक्य धरात्मजाम् । इयं सा रावणानीता सीता ज्ञाताभिवर्णितैः ॥२१२॥
अभिज्ञानैर्नृपेन्द्रेण मम पुण्योदयादिति । तद्दर्शनसमुत्पन्नरागो रावणपापिना ॥२१३॥
कल्पवल्लीव दावेन तापितेयं सतीत्यलम् । शोकाभितप्तचित्तोऽपि नीतिमार्गविशारदः ॥२१४॥

कमल पूजित हैं, जो सिंहासनके मध्यमें बैठा है, सिंहके समान पराक्रमी है, इन्द्रके समान है, ढुरते हुए चमरोंसे जो ऐसा जान पड़ता है मानो गंगाकी विशाल तरंगोंसे सुशोभित नीलाचल ही हो और जिसने समस्त शत्रुओंको रुला दिया है ऐसे रावणको देखकर अणुमान्ने सोचा कि इस पापीके यह ऐसा ही विचित्र कर्मका उदय है जिससे प्रेरित हो इसने धर्मका उल्लंघन कर परस्त्रीकी इच्छा की ॥२००-२०२॥ नारदने जो कहा था कि इसका अकालमरण होनेवाला है सो ठीक ही कहा था। इस प्रकार विचार करते हुए अणुमान्ने रावणकी सभामें सीता नहीं देखी ॥२०३॥ धीरे-धीरे सूर्यकी प्रभा मन्द पड़ गयी, दिन अस्त हो गया और सूर्य रावणके लिए यह सूचना देता हुआ ही मानो अस्ताचलकी ओर चला गया कि संसारमें जितने सहायक हैं वे सब प्रायः सम्पत्तिशालियोंकी ही सहायता करते हैं और संसारमें जितने प्राणी हैं उन सबका उदय और अस्त नियमसे होता है ॥२०४-२०५॥ इस प्रकार सब ओरसे चिन्तवन करता हुआ वह रामचन्द्रका दूत अणुमान् अन्तःपुरके पश्चिम गोपुरपर चढ़कर नन्दन नामका वन देखने लगा। वह नन्दन वन भ्रमरोंके शब्दसे सुशोभित था, उसमें समस्त ऋतुओंकी शोभा बिखर रही थी, साथ ही नन्दन-वनके समान जान पड़ता था, फल और फूलोंके बोझसे झुके हुए सुन्दर-सुन्दर वृक्षों, मन्द-मन्द वायुसे उड़ती हुई नाना प्रकारके फूलोंकी परागों, कृत्रिम पर्वतों, सरोवरों, बावलियों तथा लताओंसे सुशोभित मण्डपों और कामको उद्दीपित करनेवाले अन्य अनेक स्थानोंसे अत्यन्त मनोहर था। उसे देख वह अणुमान् कुछ देर तक हर्ष और कौतुकके साथ वहाँ खड़ा रहा ॥२०६-२०९॥ वहीं किसी समीपवर्ती स्थानमें उसने सीताको देखा। उस सीताको साम आदि उपायोंके द्वारा वश करनेके लिए अभिप्रायानुकूल चेष्टाओंको जाननेवाली अनेक विद्याधरियाँ घेरे हुई थीं। वह शिंशपा वृक्षके नीचे शोकसे व्याकुल हुई बैठी थी, चुपचाप ध्यान कर रही थी, मरकर अथवा जीर्ण-शीर्ण होकर भी कुलकी रक्षा करनेमें प्रयत्नशील थी, तथा ऐसी जान पड़ती थी, मानो शीलकी-पातिव्रत्य धर्मकी माला ही हो। ऐसी सीताको देख अणुमान्ने विचार किया कि यह वही सीता है जिसे रावण हरकर लाया है। उसने राजा रामचन्द्रजीके द्वारा बतलाये हुए चिह्नोंसे उसे पहचान लिया और साथ ही यह विचार किया कि मेरे पुण्योदयसे ही मुझे आज इस सतीके दर्शन हुए हैं। दर्शन करनेसे उसे बड़ा अनुराग उत्पन्न हुआ। उसने समझा कि जिस प्रकार दावानलके द्वारा कल्पलता सन्तापित होती है उसी प्रकार पापी रावणके द्वारा यह सती सन्तापित की गयी है। इस प्रकार उसका चित्त यद्यपि शोकसे सन्तप्त हो

१ दुधूयमान ल० (?)।

प्रारब्धकार्यसंसिद्धावुद्यतस्य विवेकिनः । प्राहुर्नीतिविदः कोपं व्यसनं कार्यविघ्नकृत् ॥३१५॥
तस्मादस्थानकोपेन कृतमित्याहितक्षमः । निजागमनवार्तां तामवबोधयितुं सतीम् ॥३१६॥
मनागवसरावेक्षी स्थितस्तावन्निशाकरः । उदयक्ष्माभृदुद्भासिचूडामणिनिभो बभौ ॥३१७॥
दुशाननोऽप्यतिक्रान्ते तत्रास्या दिनसप्तके । सीता कीदृगवस्थेति चिन्तयन् दीपिकावृतः ॥३१८॥
दीव्यत्कल्पद्रुमोपेतनीलाद्रिरिव जङ्गमः । निरीक्षितुं तथैवायात् सोत्कण्ठोऽन्तःपुरान्वितः ॥३१९॥
मद्भर्तुः कुशलोदन्तं संश्रोष्यामि कदा न्विति । मत्वा तां स्तिमिताकारां चिरं वीक्ष्य सविस्मयः ॥३२०॥
न काचिदीदृशी स्त्रीषु[2] पतिभक्तेति चिन्तयन् । अपसृत्य स्थितः किंचिद् दूतीं मञ्जरिकाभिधाम् ॥३२१॥
प्राहिणोत्तदभिप्रायं परिज्ञातुं विवेकिनीम् । आगत्य विनयेनासौ प्रपद्य शृणु मद्वचः ॥३२२॥
भट्टारिके खगेन्द्रस्य खेचरेन्द्रप्रियात्मजाः । देव्यः पञ्चसहस्राणि त्वत्समाना मनोरमाः ॥३२३॥
तासां त्वं स्वामिनी भूत्वा महादेवीपदे स्थिता । त्रिखण्डाधिपतेर्भूयाः सश्रीर्वक्षःस्थले चिरम् ॥३२४॥
विफलं मा कृथा विद्युच्चपलं तव यौवनम् । हस्तात् पुलस्तिपुत्रस्य रामस्त्वां नेष्यतीत्यदः ॥३२५॥
वितर्कणं कदम्बोरुवनं वा विद्धि निष्फलम् । क्षुधार्तसिंहवक्त्रान्तर्वर्तिनं मृगम् ॥३२६॥
परित्याजयितुं ब्रूहि कः समर्थतमः पुमान् । इत्यब्रवीत्तदाकर्ण्य निश्चला वसुधासुता ॥३२७॥
वसुधेव स्थिता भेत्तुं के वा शक्ताः पतिव्रताम् । तां दृष्ट्वा[3] खेचराधीशः स्वयमागत्य कातरः ॥३२८॥
कुलं चेद्रक्षितुं तिष्ठेर्न विचारक्षमं हि तत् । लज्जा चेन्नीचसंबन्धात्सा तस्याः प्रसवोऽत्र न ॥३२९॥

गया तथापि वह नीतिमार्गमें विशारद होनेसे सोचने लगा कि जो विवेकी मनुष्य अपने प्रारम्भ किये हुए कर्मको सिद्ध करनेमें उद्यत रहता है उसे क्रोध करना एक प्रकारका व्यसन है और कार्यमें विघ्न करनेवाला है ऐसा नीतिज्ञ मनुष्य कहते हैं। इसलिए असमयमें क्रोध करना व्यर्थ है ऐसा विचारकर उसने क्षमा धारण की और उस पतिव्रताको अपने आनेका समाचार बतलानेके लिए अवसरकी प्रतीक्षा करता हुआ वह वहीं कुछ समयके लिए खड़ा हो गया। उसी समय चन्द्रमाका उदय हो गया और वह उदयाचलके शिखरपर चूड़ामणिके समान सुशोभित होने लगा ॥३१०-३१७॥ उसी समय 'आज सीताको लाये हुए सात दिन बीत चुके हैं अतः देखना चाहिए कि उसकी क्या दशा है' ऐसा विचार करता हुआ रावण वहाँ आया। वह अनेक दीपिकाओंसे आवृत था—उसके चारों ओर अनेक दीपक जल रहे थे इसलिए वह ऐसा जान पड़ता था मानो देदीप्यमान कल्पवृक्षोंसे सहित चलता-फिरता नीलगिरि ही हो। वह उत्कण्ठासे सहित था तथा अन्तःपुरकी स्त्रियोंसे युक्त था ॥३१८-३१९॥ 'मैं अपने पतिका कुशल समाचार कब सुनूँगी' ऐसा विचार करती हुई सीता चुपचाप स्थिर बैठी हुई थी। उसे रावण बड़ी देर तक आश्चर्यसे देखता रहा और स्त्रियोंके बीच ऐसी पतिव्रता स्त्री कोई दूसरी नहीं है ऐसा विचार कर वह कुछ पीछे हटकर दूर खड़ा रहा। वहींसे उसने सीताका अभिप्राय जाननेके लिए अपनी मंजरिका नामकी विवेकवती दूती उसके पास भेजी। वह दूती सीताके पास आकर विनयसे कहने लगी कि हे स्वामिनी, विद्याधरोंके राजा रावणकी पाँच हजार स्त्रियाँ हैं जो विद्याधर राजाओंकी पुत्रियाँ हैं और तुम्हारे ही समान मनोहर हैं। तुम उन सबकी स्वामिनी होकर महादेवीके पदपर स्थित होओ और तीन खण्डके स्वामी रावणके वक्षःस्थलपर चिरकाल तक लक्ष्मीके साथ-साथ निवास करो ॥३२०-३२४॥ बिजलीके समान चंचल अपने इस यौवनको निष्फल न करो। 'रावणके हाथसे राम तुम्हें वापस ले आवेगा' इस विचारको तुम कदम्बके विशाल वनके समान निष्फल समझो। भूखसे पीड़ित सिंहके मुखके भीतर वर्तमान मृगको छुड़ानेके लिए कौन मनुष्य समर्थ है? इस प्रकार उस मंजरिका नामकी दूतीने कहा सही परन्तु सीता उसे सुनकर पृथिवीके समान ही निश्चल बैठी रही सो ठीक ही है क्योंकि पतिव्रता स्त्रीको भेदन करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है? उसे निश्चल देख रावण स्वयं डरते-डरते पास आकर कहने लगा कि यदि तू कुलकी रक्षा करनेके लिए बैठी है तो यह बात विचार करनेके योग्य नहीं है। यदि लज्जा आती है तो वह नीच मनुष्योंके संसर्गसे

१ निजागमनवृत्तान्त–म०, ल०। २ पतिं भक्तेति ल०। ३ तद्दृष्ट्वा क०।

रामे चेत्प्रेम तद्विद्धि जन्मान्तरितसंनिभम् । चिरं परिचितं कस्माद्विस्मराम्यधुनैव तम् ॥३३०॥
इति चेत्संस्तुतौ जन्तौ केन कस्य न संस्तवः । परिखावारिधिर्दुर्गं त्रिकूटाद्रिः खगेश्वराः ॥३३१॥
दुर्गपालाः पुरं लंका मेघनादादयो भटाः । नायकोऽहं कथं तस्य तव भर्तुः प्रवेशनम् ॥३३२॥
तस्मात्तदाशामुज्झित्वा मदाशां पूरय प्रिये । अवश्यं भाविकार्येऽस्मिन् किं कालहरणेन ते ॥३३३॥
हसन्त्याश्च रुदन्त्याश्च तव प्राघूर्णिकोऽस्म्यहम् । मत्कान्तकान्तासंताने कान्ते चूडामणिर्भव ॥३३४॥
न चेदसि विभाग्यत्वादद्यैव घटदासिका । अतिथिर्वा भव प्रेतनाथावासनिवासिनाम् ॥३३५॥
इति तां [1]मामिवापुण्यः स्वकर्तुं व्यर्थमब्रवीत् । तदाकर्ण्यापि भूसुता[2] समाहितमनास्तदा ॥३३६॥
ध्यानवत्येव नैर्मल्यमादधानाभवत्स्थिरा । खगेशवक्त्रनिर्यातवाग्ज्वालाज्वलनावली ॥३३७॥
सीताधैर्याम्बुधिं प्राप्य सद्यः शान्तिमगात्तदा । विक्रमेण यथा पुंसः सर्वसौभाग्यसंपदा ॥३३८॥
स्त्रीसृष्टिमपि जेतारं मामेषा परिभावुका । किलेति क्रुध्यतः पत्युर्दासक्रोधदवानलम् ॥३३९॥
सद्यः सीतालतां दग्धुं जृम्भमाणं मनोरणे । मन्दोदरी हितश्रव्यवचनामृतवारिभिः ॥३४०॥
प्रशमय्य किमस्थाने जनवत्कोपवान् भवेः । विचिन्तय किमेषा ते दण्डयोग्यावभासते ॥३४१॥
मन्दारप्रसवारब्धमालाग्निक्षेपमर्हति । सतीनां परिभूत्याशु खगामिन्यादिका[3] ध्रुवम् ॥३४२॥
विद्याविनाशमायान्ति तस्या [4]विर्वा विपक्षकः[5] । पुरा स्वयंप्रभाहेतोरश्वग्रीवः खगाधिपः ॥३४३॥
पद्मावतीनिमित्तेन प्रसिद्धो मधुसूदनः । समासक्तः सुताराया विधीरशनिघोषकः ॥३४४॥

होती है अतः यहाँ उसकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती ॥३२५-३२९॥ यदि राममें तेरा प्रेम है तो तू उसे अब मरे हुएके समान समझ। जो चिरकालसे परिचित है उसे इस समय एकदम कैसे भूल जाऊँ? यदि यह तेरा कहना है तो इस संसारमें किसका किसके साथ परिचय नहीं है? कदाचित् यह सोचती हो कि राम यहाँ आकर मुझे ले जायेंगे सो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि समुद्र तो यहाँकी खाई है, त्रिकूटाचल किला है, विद्याधर लोकपाल हैं, लंका नगर है, मेघनाद आदि योद्धा हैं और मैं उनका स्वामी हूँ फिर तुम्हारे रामका यहाँ प्रवेश ही कैसे हो सकता है? ॥३३०-३३२॥ इसलिए हे प्रिये! रामकी आशा छोड़कर मेरी आशा पूर्ण करो। जो कार्य अवश्य ही पूर्ण होनेवाला है उसमें समय बितानेसे तुझे क्या लाभ है? ॥३३३॥ तू चाहे रो और चाहे हँस, मैं तो तेरा पाहुना हो चुका हूँ। हे सुन्दरी! तू मेरी सुन्दर स्त्रियोंके समूहमें चूडामणिके समान हो ॥३३४॥ यदि तू अभाग्यवश मेरा कहना नहीं मानेगी तो तुझे आज ही घटदासी बनना पड़ेगा अथवा यमराजके घर रहनेवालोंका अतिथि होना पड़ेगा ॥३३५॥ इस तरह जिस प्रकार पुण्यहीन मनुष्य लक्ष्मीको वश करनेके लिए व्यर्थ ही बकवास करता है उसी प्रकार उस रावणने सीताको वश करनेके लिए व्यर्थ ही बकवास किया। उसे सुनकर सीता निश्चलचित्त हो धर्म्यध्यानसे युक्तके समान निर्मलता धारण करती हुई निश्चल बैठी रही। रावणके मुखसे निकले हुए वचन-समूहरूपी अग्निकी पंक्ति सीताके धैर्यरूपी समुद्रको पाकर शीघ्र ही उसी समय शान्त हो गयी। उस समय रावण सोचने लगा कि 'मैं जिस प्रकार पराक्रमके द्वारा समस्त पुरुषोंको जीतता हूँ उसी प्रकार अपनी सौभाग्यरूपी सम्पदाके द्वारा समस्त स्त्रियोंको भी जीतता हूँ—उन्हें अपने वश कर लेता हूँ फिर भी यह सीता मेरा तिरस्कार कर रही है' ऐसा विचारकर रावण क्रोध करने लगा। सीतारूपी लताको शीघ्र ही जलानेके लिए रावणके मनरूपी युद्धस्थलमें जो प्रचण्ड क्रोधरूपी दावानल फैल रही थी उसे मन्दोदरीने हितकारी तथा सुननेके योग्य वचनरूपी अमृत जलसे शान्त कर कहा कि, आप इस तरह साधारण पुरुषके समान अस्थानमें क्यों क्रोध करते हैं? जरा सोचो तो सही, यह स्त्री क्या आपके दण्ड देने योग्य है? आप यह याद रखिए कि सती स्त्रियोंका तिरस्कार करनेसे आकाशगामिनी आदि विद्याएँ निश्चित ही नष्ट हो जाती हैं और ऐसा होनेसे आप पक्षरहित पक्षीके समान हो जावेंगे।

---

१ मामिव लक्ष्मीमिव। २ सीता। ३ खगामित्वादिका म०। ४ विः पक्षी। ५ विपक्षकः पक्षरहितः।

पराभवं परिप्राप्तो मा भूस्त्वमपि तादृशैः । मा मंस्था मां सपत्नीति मद्वचस्त्वं प्रमाणयन् ॥३४५॥
त्यज सीतागतं मोहमित्यसौ निजगाद तम् । तदुक्तेरुत्तरं वाक्यमभिधातुमशक्नुवन् ॥३४६॥
समं प्राणैरियं त्याज्येत्यगात्स कुपितः पुरम् । मन्दोदरी परित्यक्तनिजपुत्रीशुचाहिता ॥३४७॥
सीतां मिथः श्रिताभाषिविदादेशभयात् क्षितौ । यां निक्षेपयति स्मेति मया कलहकारणात् ॥३४८॥
आगतासि मत्पुत्री तां त्वां मे मन्यते मनः । पापेन विधिनाऽऽनीता भद्रे त्वं दुःखकारिणा ॥३४९॥
अलङ्घ्यं केनचिच्चात्र प्रायेण विधिचेष्टितम् । इह जन्मनि किं बन्धुः किं वा त्वं मेऽन्यजन्मनि ॥३५०॥
न जाने त्वां विलोक्याद्य मम स्नेहः प्रवर्द्धते । यदि मज्जननीत्वं त्वं पद्मनेत्रेऽवबुध्यसे ॥३५१॥
त्वां मे भावयितुं वष्टि सपत्नीं खचराधिपः । तेन बाले मृतिं वापि याहि मा गास्तदीप्सितम् ॥३५२॥
स्तनप्रसूतिमित्येवं वदन्ती[1] प्रापदुत्सुका । तस्याः पयोधरद्वन्द्वमभिषेक्तुमिवापतत् ॥३५३॥
जलं गद्गदकण्ठायाश्चक्षुर्भ्यां स्नेहसूचनम् । शोकानलपरिम्लानं वक्त्राब्जं चाभवत्तदा ॥३५४॥
तद्वीक्ष्य जानकी सर्वं प्राप्ता स्वामिव मातरम् । जायते स्मार्द्रहृदया बाष्पाविलविलोचना ॥३५५॥
तदभिप्रायमाज्ञाय दशाननवधूत्तमा । यदि स्वकार्यसंसिद्धिमभिकामयसे भृशम् ॥३५६॥
कृताञ्जलिरहं याचे गृहाणाहारमम्बिके । सर्वस्य साधनो देहस्तस्याहारः[2] सुसाधनम् ॥३५७॥
वदन्ति निपुणाः क्ष्मांजे[3] प्रसवादि कुतोऽसति । स्थिते वपुषि रामस्य स्वामिनस्तव वीक्षणम् ॥३५८॥
न चेत्तद्दर्शनं साध्यं वपुषैव महत्तपः । न चेन्मद्वचनं ग्राह्यं त्वयाहमपि भोजनम् ॥३५९॥

पहले स्वयंप्रभाके लिए अश्वग्रीव विद्याधर, पद्मावतीके कारण राजा मधुसूदन और सुतारामें आसक्त हुआ निर्बुद्धि अशनिघोष पराभवको पा चुका है अतः आप भी उन-जैसे मत होओ। ऐसा मत समझिए कि मैं सौतके भयसे ऐसा कह रही हूँ। आप मेरे वचनको प्रमाण मानते हुए सीता सम्बन्धी मोह छोड़ दीजिए। ऐसा मन्दोदरीने रावणसे कहा। रावण उसके वचनोंका उत्तर देनेमें समर्थ नहीं हो सका अतः यह कहता हुआ कुपित हो नगरमें वापस चला गया कि अब तो यह प्राणोंके साथ ही छोड़ी जा सकेगी ॥३३६–३४७॥ इधर जो अपनी छोड़ी हुई पुत्रीके शोकसे युक्त है ऐसी मन्दोदरी सीतासे एकान्तमें कहने लगी कि जिस पुत्रीको मैंने निमित्तज्ञानीके आदेशके डरसे पृथिवीमें नीचे गड़वा दिया था वही कलह करनेके लिए मेरी पुत्री तू आ गयी है ऐसा मेरा मन मानता है। हे भद्रे! तू दुःख देनेवाले पापी विधाताके द्वारा यहाँ लायी गयी है। सो ठीक ही है क्योंकि इस लोकमें प्रायः विधाताकी चेष्टाका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। मालूम नहीं पड़ता कि तू मेरी इस जन्मकी सम्बन्धिनी है अथवा पर जन्मकी सम्बन्धिनी है। न जाने क्यों तुझे देखकर आज मेरा स्नेह बढ़ रहा है। हे कमललोचने! बहुत कुछ सम्भव है कि मैं तेरी माँ हूँ और तू मेरी पुत्री है, यह तू भी समझ रही है। परन्तु यह विद्याधरोंका राजा तुझे मेरी सौत बनाना चाहता है इसलिए हे बेटी! चाहे मरणको भले ही प्राप्त हो जाना परन्तु इसके मनोरथको प्राप्त न होना, इसकी इच्छानुसार काम नहीं करना। इस प्रकार कहती हुई मन्दोदरी बहुत ही उत्सुक हो गयी। उसके स्तनोंसे दूध झरने लगा और उसके स्तनयुगल सीताका अभिषेक करनेके लिए ही मानो नीचेकी ओर झुक गये ॥३४८–३५३॥ उसका कण्ठ गद्गद हो गया, दोनों नेत्रोंसे स्नेहको सूचित करनेवाला जल गिरने लगा और उस समय उसका मुखकमल शोकरूपी अग्निसे मलिन हो गया ॥३५४॥ यह सब देख सीताको ऐसा लगने लगा मानो मैं अपनी माताके पास ही आ गयी हूँ, उसका हृदय आर्द्र हो गया और नेत्र आँसुओंसे भर गये ॥३५५॥ उसका अभिप्राय जानकर रावणकी पट्टरानी मन्दोदरी कहने लगी कि यदि तू अपना कार्य अच्छी तरह सिद्ध करना चाहती है तो हे माँ! मैं हाथ जोड़कर याचना करती हूँ, तू आहार ग्रहण कर, क्योंकि सबका साधन शरीर है और शरीरका साधन आहार है ॥३५६–३५७॥ चतुर मनुष्य यही कहते हैं कि यदि वृक्ष नहीं होगा तो फूल आदि कहाँसे आवेंगे? इसी प्रकार शरीरके रहते ही तुझे तेरे स्वामी रामचन्द्रका दर्शन हो सकेगा ॥ ३५८ ॥ यदि उनका दर्शन साध्य न हो तो इस शरीरसे महान् तप ही करना

१ वदती ल० । २ तथाहारः ल० । ३ वृक्षे ।

त्यजामीत्यवदत्सीताप्येतच्छ्रुत्वावधार्य च । ममामातापि मातेव मद्दुःखे दुःखिताऽजनि ॥३६०॥
इति चित्ते विनम्यैतच्चरणौ स्निग्धमैक्षत । मञ्जूषास्थापनाकाले मत्सुताया इवेक्षितम् ॥३६१॥
एतस्या मधुरं सत्याः संतापयति सर्वतः । इति प्रलयमापन्ना तदा रावणवल्लभा ॥३६२॥
आप्तैर्दुःखेन तद्दुःखाद् विनीता प्राविशत्पुरम् । शिंशिपास्थस्ततोऽभ्येत्य दूतः प्लवगविद्यया ॥३६३॥
परावृत्त्या कपेर्मूर्त्या स्वयं निद्रात्यमितुवान् । विधाय रक्षकान् देव्याः पुरस्तात्समवस्थितः ॥३६४॥
प्रणम्य तां स्ववृत्तान्तं सर्वं संश्राव्य वानरः । रामस्वामिनिर्देशेन लेखगर्भकरण्डकम् ॥३६५॥
मयानीतमिदं देवीत्यग्रेऽस्याः स तदक्षिपत् । [1]तं दृष्ट्वा किमयं मायाविग्रहो रावणोऽधमः ॥३६६॥
शङ्कमानेति सा वीक्ष्य तत्र श्रीवत्सलाञ्छनम् । रत्नाङ्गुलीयकं चात्मपतिनामाक्षराङ्कितम् ॥३६७॥
ममेदमपि भात्येव मायेवास्य दुरात्मनः । को जानाति तथाप्येतत्पत्रं तस्यैव वा भवेत्[2] ॥३६८॥
मद्भाग्यादिति निर्भिद्य मुद्रां[3] पत्रमवाचयत् । [4]वाचनानन्तरं वीतशोकया स्निग्धवीक्षया ॥३६९॥
जीविताहं त्वया स्थानमधितिष्ठसि मे पितुः । इत्युक्तः सीतया कर्णौ पिधाय पवनात्मजः ॥३७०॥
मत्स्वामिनो महादेवी मातर्मान्यकल्पना । त्वां नेतुं मम सामर्थ्यमद्यैवास्ति पतिव्रते ॥३७१॥
नास्ति भट्टारकस्याज्ञा स्वयमेव महीपतिः । हत्वैत्य रावणं तस्य त्वां नेष्यति सह श्रिया ॥३७२॥
तत्साहसेन तत्कीर्तिर्व्याप्यास्तास्[5] भुवनत्रयम् । ततः शरीरसंधारणार्थमाहारमाहर ॥३७३॥

चाहिए। यह सब कहनेके बाद मन्दोदरीने यह भी कहा कि यदि मेरे वचन नहीं मानती है तो मैं भी भोजन छोड़े देती हूँ। मन्दोदरीके वचन सुनकर सीताने विचार किया कि यद्यपि यह मेरी माता नहीं है तथापि माताके समान ही मेरे दुःखसे दुःखी हो रही है। ऐसा विचार कर वह मन-ही-मन मन्दोदरीके चरणोंको नमस्कार कर उसकी ओर बड़े स्नेहसे देखने लगी। उसे ऐसी देख मन्दोदरी सोचने लगी कि मंजूषामें रखते समय जिस प्रकार मेरी पुत्री मेरी ओर देख रही थी उसी प्रकार आज यह सीता मेरी ओर देख रही है। इस पतिव्रताका यह मधुर दर्शन मुझे सब ओरसे सन्तप्त कर रहा है। इस प्रकार शोकको प्राप्त हुई मन्दोदरीने सीताके दुःखसे विनम्र हो आप्तजनोंके साथ-साथ नगरमें बड़े दुःखसे प्रवेश किया। तदनन्तर उसी शिंशपा वृक्षपर बैठे हुए दूत अणुमान्‌ने प्लवग नामक विद्याके द्वारा अपना बन्दर-जैसा रूप बना लिया और वनकी रक्षा करनेवाले पुरुषोंको निद्रासे युक्त कर वह स्वयं सीतादेवीके आगे जा खड़ा हुआ ॥३५१-३६४॥ वानर रूपधारी अणुमान्‌ने सीताको नमस्कार कर उसे अपना सब वृत्तान्त सुना दिया और कहा कि मैं राजा रामचन्द्रजीके आदेशसे, जिसके भीतर पत्र रखा हुआ है ऐसा यह एक पिटारा ले आया हूँ। इतना कह उसने वह पिटारा सीता देवीके आगे रख दिया। वानरको देखकर सीताको सन्देह हुआ कि क्या यह मायामयी शरीरको धारण करनेवाला नीच रावण ही है ? ॥३६५-३६६॥ इस प्रकार सीता संशय कर रही थी कि उसकी दृष्टि श्रीवत्सके चिह्नसे चिह्नित एवं अपने पतिके नामाक्षरोंसे अंकित रत्नमयी अंगूठीपर जा पड़ी। उसे देख वह फिर भी संशय करने लगी कि मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह दुष्ट रावणकी ही माया है। क्या है ? यह कौन जाने, परन्तु यह पत्र तो उन्हींका है और मेरे भाग्यसे ही यहाँ आया है ऐसा सोचकर उसने पत्रपर लगी हुई मुहर तोड़कर पत्र बाँचा। पत्र बाँचते ही उसका शोक नष्ट हो गया। वह स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखकर कहने लगी कि तूने मुझे जीवित रखा है अतः मेरे पिताके पदपर अधिष्ठित है—मेरे पिताके समान है। जब सीताने उक्त वचन कहे तब पवनपुत्र अणुमान्‌ने अपने कान ढककर उत्तर दिया कि हे माता ! आप मेरे स्वामीकी महादेवी हैं, इसपर अन्य कल्पना न कीजिए। हे पतिव्रते ! यद्यपि तुम्हें आज ही ले जानेकी मेरी शक्ति है तथापि स्वामीकी आज्ञा नहीं है। राजा रामचन्द्रजी स्वयं ही आकर रावणको मारेंगे और उसकी लक्ष्मीके साथ-साथ तुम्हें ले जावेंगे। उस साहसपूर्ण कार्यसे उनकी कीर्ति तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर रहेगी

---

१ तद्दृष्ट्वा म०, ल०। २ –भवत् ल०, म०। ३ पत्रं त्ववाचयत् ल०। ४ वचनानन्तरं ल०। ५ व्याप्यताम् ल०।

भगवत्यत्र को दोषो राज्ञा ते संगमोऽचिरात् । इत्याकथयत्ता ततस्त्यक्त्वा वैमनस्यं महीसुता ॥३७४॥
[1]कायस्थितिनिमित्तादानं चाभ्युपेत्य कृतत्वरम् । तत्कालोचितकार्योक्तिकुशला तं व्यसर्जयत् ॥३७५॥
प्रणम्य सोऽपि तत्पादपङ्कजं भास्करोदये । गत्वा ततो झटित्याप रामं स्वागमनोन्मुखम् ॥३७६॥
वदनाब्जप्रसादेन कार्यसिद्धिं न्यवेदयत् । प्रणम्य स्वामिना सम्यक् परिरभ्योदितासनः ॥३७७॥
उपविष्टो मुदा तेन पृष्टो दृष्टेति मत्प्रिया । सप्रपञ्चमुदार्योच्चैर्वचस्तत्प्रीतिहेतुकम् ॥३७८॥
निसर्गाद्रावणो दृप्तश्चक्रं चास्यत्समुत्थयौ । लङ्कायां दुर्निमित्तानि चासन्[2] कृत्याश्च खेचराः ॥३७९॥
सन्ति तत्सेवकाः सर्वमेतदालोच्य मन्त्रिभिः । जानक्यानयनोपायो निश्चेतव्यो यथा तथा ॥३८०॥
इतीदमुचितं कार्यमवदत् पवनात्मजः । तदुक्तं चेतसा सम्यगवधार्यार्जिताशयः ॥३८१॥
[3]ततः सेनापतिं पट्टबन्धेनानिलनन्दनम् । कृत्वाधिराज्यपट्टं च सुग्रीवस्य महीपतिः ॥३८२॥
सह ताभ्यां समप्राक्षीन्मन्त्रिणं[4] कृत्यनिर्णयम् । तत्रैवमङ्गदोऽप्रोचद्देव त्रेधा महीभुजः ॥३८३॥
लोभधर्मासुराद्यादिविजयान्ताभिधानकाः । प्रथमे दानमन्यस्मिन् सामान्त्ये भेददण्डने[5] ॥३८४॥
नयज्ञैः कार्यसिद्ध्यर्थमित्युपायः प्रयुज्यते । अन्तिमो रावणस्तेषु नीचत्वात्क्रूरकर्मकृत् ॥३८५॥
भेददण्डौ प्रयोक्तव्यौ तस्मिन्नीतिविदिभिः । क्रमस्तथापि नोल्लङ्घ्यः साम तावत्प्रयुज्यताम् ॥३८६॥
कः सामविद्प्रयोक्तव्य इत्यस्मिन् संप्रधारणे । दक्षतादिगुणोपेता बहवः सन्ति भूचराः ॥३८७॥

अतः शरीर धारण करनेके लिए आहार ग्रहण करो ॥३६७-३७३॥ हे भगवति ! आहार ग्रहण करनेमें क्या दोष है ? राजा रामचन्द्रके साथ तुम्हारा समागम शीघ्र ही हो जायेगा । इस प्रकार जब अणुमान्ने कहा तब सीताने उदासीनता छोड़कर शीघ्र ही शरीरकी स्थितिके लिए आहार ग्रहण करना स्वीकृत कर लिया और उस समयके योग्य कार्योंके कहनेमें कुशल सीताने उस दूतको शीघ्र ही विदा कर दिया ॥३७४-३७५॥ दूत अणुमान् भी सीताके चरणकमलोंको नमस्कार कर सूर्योदयके समय चला और अपने आगमनकी प्रतीक्षा करनेवाले रामचन्द्रके समीप शीघ्र ही पहुँच गया ॥३७६॥ उसने पहुँचते ही पहले अपने मुखकमलकी प्रसन्नतासे रामचन्द्रजीको कार्यसिद्धिकी सूचना दी फिर उन्हें प्रणाम किया । स्वामी रामचन्द्रने उसे अच्छी तरह आलिंगन कर आसनपर बैठनेके लिए कहा । जब वह हर्ष पूर्वक आसनपर बैठ गया तब रामचन्द्रने उससे पूछा कि क्यों मेरी प्रिया देखी है ? उत्तरमें अणुमान्ने रामचन्द्रको प्रीति उत्पन्न करनेवाले उत्कृष्ट वचन विस्तारके साथ कहे । वह कहने लगा कि रावण स्वभावसे ही अहंकारी है फिर उसके चक्र-रत्न भी प्रकट हो गया है । इसके सिवाय लंकामें बहुत-से अपशकुन हो रहे हैं और उसके विद्याधर सेवक बहुत ही कुशल हैं । इन सब बातोंका मन्त्रियोंके साथ अच्छी तरह विचार कर जिस तरह सम्भव हो उसी तरह सीताको लानेके उपायका शीघ्र ही निश्चय करना चाहिए । इस प्रकार यह योग्य कार्य अणुमान्ने सूचित किया । बलिष्ठ अभिप्रायको धारण करनेवाले रामचन्द्रने अणु-मान्के कहे वचनोंका हृदयमें अच्छी तरह विचार किया । उसी समय उन्होंने अणुमान्को सेना-पतिका पट्ट बाँधा और सुग्रीवको युवराज बनाया ॥३७७-३८२॥ तदनन्तर उन्होंने उन दोनोंके साथ-साथ मन्त्रीसे करने योग्य कार्यका निर्णय पूछा । उत्तरमें अंगदने कहा कि हे स्वामिन् ! राजा तीन प्रकारके होते हैं— १ लोभ-विजय, २ धर्म विजय और ३ असुर-विजय । नीतिके जाननेवाले विद्वान् अपना कार्य सिद्ध करनेके लिए, पहलेके लिए दान देना, दूसरेके साथ शान्तिका व्यवहार करना और तीसरेके लिए भेद तथा दण्डका प्रयोग करना यही ठीक उपाय बतलाते हैं । इन तीन प्रकारके राजाओंमें रावण अन्तिम—असुरविजय राजा है । वह नीच होनेसे क्रूर कार्य करनेवाला है इसलिए नीतिज्ञ मनुष्योंको उसके साथ भेद और दण्ड उपायका ही यद्यपि प्रयोग करना चाहिए तो भी क्रमका उल्लंघन नहीं करना चाहिए । सर्व प्रथम उसके साथ सामका ही प्रयोग करना चाहिए ॥३८३-३८६॥ यदि आप इसका निश्चय करना चाहते हैं कि ऐसा सामका जाननेवाला

---

१ 'स्नानवस्त्रार्चनं कृत्वा मन्दोदर्युपरोधतः' इति म० पुस्तकेऽधिकः पाठः । २—वासन् ल० । ३ 'सेनापतिं पट्टबन्धेनाकृतानिलनन्दनम्' ल० । ४ मन्त्रिणं कर्मनिर्णयम् म० । मन्त्रिणः कर्मनिर्णयम् ल० । ५ भेददण्डनम् ल० ।

किंतु नाकाशगामित्वसामर्थ्यं तेषु विद्यते । तस्मात्सेनापतिः प्रेष्यस्त्वयायं नूतनः कृतः ॥३८८॥
दृष्टमार्गः पराघृष्यः सिद्धकार्यः श्रुतागमः । जात्यादिविद्यासंपन्नः स्यादस्मात्कार्यनिर्णयः ॥३८९॥
इत्येतदुपदेशेन मनोवेगाभिधानकम् । विजयं कुमुदाख्यानं ख्यातं रविगतिं हितम् ॥३९०॥
सहायीकृत्य संपूज्य कुमार भवतोऽपरः । कार्यवित्कार्यकृन्नास्ति नात्रेति श्लाघयन्नृपः ॥३९१॥
पवमानात्मजं वाच्यस्त्वयैवं स विभीषणः । अत्र त्वमेव धर्मज्ञः प्राज्ञः कार्यविपाकवित् ॥३९२॥
हितो लङ्केश्वरायास्मै सूर्यवंशाग्रिमाय च । सीताहरणमन्याय्यमाकल्पमयशस्करम् ॥३९३॥
अपथ्यमिति संश्राव्य रावणं रतिमोहितम् । मोचनीया त्वया सीता तथा सति भवत्कुलम् ॥३९४॥
त्वयैव रक्षितं पापादपायादपवादतः । इति सामोक्तिभिस्तस्मिन् स्वीकृते स्वीकृता द्विषः ॥३९५॥
[1]गोमिन्या सह सीतापि वेत्सि दूतोत्तमापरम् । त्वमेव कृत्यं निर्णीय द्विड्वृत्तं शीघ्रमेहि माम्[2] । ३९६॥
इत्युक्तस्सहायैस्तैः स कुमारः प्रणम्य तम् । गत्वाप्य सहसा लङ्कां ज्ञातो वीक्ष्य विभीषणम् ॥३९७॥
रामभट्टारकेणाहं प्रेषितो भवदन्तिकम् । इति सप्रश्रयं सर्वं तदुक्तं समजीगमत् ॥३९८॥
इदं च स्वयमाहासौ स्वामिसंदेशहारिणम् । प्रापय त्वं खगाधीश मां तस्मै हितकारिणम् ॥३९९॥
रामाभिप्रेतकार्यस्य त्वया सिद्धिस्तथा सति । कार्यमेतत्तु [3]मद्द्वारा विभातु भवतो भवेत् ॥४००॥
त्वयोक्तोऽपि न चेत्सीतां विमुञ्चति स मन्दधीः । नापराधस्तवापुण्यः स्वयमेव विनंक्ष्यति ॥४०१॥

कौन है जिसे वहाँ भेजा जावे ? तो उसका उत्तर यह है कि यद्यपि दक्षता—चतुरता आदि गुणोंसे सहित अनेक भूमिगोचरी राजा हैं परन्तु उनमें आकाशमें चलनेकी सामर्थ्य नहीं है इसलिए आपने जो वह नया सेनापति बनाया है इसे ही भेजना चाहिए ॥३८७-३८८॥ इस अणुमान्ने मार्ग देखा है, इसे दूसरे दबा नहीं सकते, एक बार यह कार्य सिद्ध कर आया है, अनेक शास्त्रोंका जानकार है तथा जाति आदि विद्याओंसे सहित है, इसलिए इससे कार्यका निर्णय अवश्य ही हो जावेगा ॥३८९॥ अंगदके इस उपदेशसे रामचन्द्रने मनोवेग, विजय, कुमुद और हितकारी रविगतिको सहायक बनाकर अणुमान्का आदर-सत्कार कर उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि हे कुमार ! यहाँ आपके सिवाय कार्यको जाननेवाला तथा कार्यको करनेवाला दूसरा नहीं है। राजा रामचन्द्रने अणुमान्से यह भी कहा कि तुम सर्वप्रथम विभीषणसे कहना कि इस लंका द्वीपमें आप ही धर्मके जानकार हैं, विद्वान् हैं और कार्यके परिपाक-फलको जानने-वाले हैं। लंकाके ईश्वर रावण और सूर्यवंशके प्रधान रामचन्द्र दोनोंका हित करनेवाले हैं, इस-लिए आप रावणसे कहिए—जो तू सीताको हरकर लाया है सो तेरा यह कार्य अन्यायपूर्ण है, कल्पान्तकाल तक अपयश करनेवाला है, तथा अहितकारी है। इस प्रकार रतिसे मोहित रावण-को सुनाकर आप सीताको छुड़ा दीजिए। ऐसा करनेपर आप अपने कुलकी पापसे, विनाशसे तथा अपवादसे स्वयं ही रक्षा कर लेंगे। इस प्रकारकी सामोक्तियोंसे यदि विभीषण वशमें हो गया तो शत्रु अपने वशमें ही समझिए। हे दूतोत्तम ! इतना ही नहीं, लक्ष्मीके साथ-साथ सीता भी आयी हुई ही समझिए। इसके सिवाय और जो कुछ करने योग्य कार्य हों उनका तथा शत्रुके समाचारोंका निर्णय कर शीघ्र ही मेरे पास वापस आओ॥३९०-३९६॥ इस प्रकार कह-कर रामचन्द्रने अणुमान्को सहायकोंके साथ विदा किया। कुमार अणुमान् भी रामचन्द्रको नमस्कार कर गया और शीघ्र ही लंका पहुँच गया। वहाँ उसने सब समाचार जानकर विभीषण-के दर्शन किये और विनयपूर्वक कहा कि 'मैं राजा रामचन्द्रके द्वारा आपके पास भेजा गया हूँ' ऐसा कहकर उसने, रामचन्द्रने जो कुछ कहा था वह सब बड़ी विनयके साथ विभीषणसे निवेदन कर दिया ॥३९७-३९८॥ साथ ही उसने अपनी ओरसे यह बात भी कही कि हे विद्याधरोंके ईश ! आप स्वामीका सन्देश लानेवाले तथा हित करनेवाले मुझको रावणके पास तक भेज दीजिए। आपसे रामचन्द्रके इष्टकार्यकी सिद्धि अवश्य हो जावेगी और ऐसा हो जानेपर यह कार्य मेरे-द्वारा आपसे ही सिद्ध हुआ कहलावेगा ॥३९९-४००॥ आपके द्वारा ऐसा कहे जानेपर

---

१ लक्ष्म्या 'लक्ष्मीर्गोमिनीन्दिरा' इति कोशः । २ -मेहि तम् क० । ३ गत्वाह ख० । मद्वाचा ग० ।

वर्धमानश्रियं दृष्ट्वा रामं तत्पुण्यचोदितम् । इतो द्विलयलोकैकहितं यायामधीश्वरम् ॥४०२॥
इति रक्तं स्वयं भूयो रणधीगोचरं बलम् । पञ्चाशत्कोटिसंयुक्तं लक्षाचतुरशीतिकम् ॥४०३॥
[1]सार्द्धत्रिकोटिसंख्यातं खेचरानीकमभ्यदः । बलेन तेन संप्राप्य स नृसिंहः सलक्ष्मणः ॥४०४॥
हनुमत्रैव सीतां वा[2] सीतां च खचरेशिनः । समर्थ. किंतु दाक्षिण्यं विभोर्नैसर्गिकं त्वयि ॥४०५॥
ततोऽहं प्रेषितस्तेन त्वं च किं वेत्सि नेदृशम् । इति तद्वचनं श्रुत्वा कार्यविद् रावणानुजः ॥४०६॥
तदानीमेव तं नीत्वा दशाननमजिज्ञपत् । वचोहरोऽयं रामेण प्रहितो देवसंनिधिम् ॥४०७॥
दृत्यमात्रपि योग्येन क्रमेणालोक्य रावणम् । तदादिष्टासने स्थित्वा प्राभृतार्पणपूर्वकम् ॥४०८॥
श्रव्यैर्हितमितालापैः शृणु देवेति बोधयन् । प्राज्ञो विज्ञापयामास प्रस्पष्टमधुरध्वनिः ॥४०९॥
अयोध्यामधुनाध्यास्य वर्धमानो निजौजसा । [3]आत्माभिगामिकप्रज्ञासाहसो गुणभूषणः ॥४१०॥
राघवः कुशली देवं त्रिखण्डाखण्डनायकम् । कुशलोदन्तसंप्रश्नपूर्वमित्थमभाषत ॥४११॥
सीतान्यस्येति नीता सा त्वस्मदीयेत्यजानता । किं जातं नास्ति दोषो द्राक् प्रेषणीया मनीषिणा ॥४१२॥
न चेद्विनमिवंशैकभूषणस्य महात्मनः । नानारूपमिदं कर्म धर्म-शर्मविघातकृत् ॥४१३॥
[4]कुलपुत्रमहाम्भोधेर्न युक्तं मलधारणम् । सीताविमोचनोत्तुङ्गतरङ्गैः क्षिप्यतां बहिः ॥४१४॥
इति सम्प्रोक्तमाकर्ण्य प्रत्युवाच खगेश्वरः । सीतां नानवबुध्याहमानैषं किंतु [5]भूभुजः ॥४१५॥

भी वह मूर्ख यदि सीताको नहीं छोड़ता है तो इसमें आपका अपराध नहीं है, वह पापी अपने-आप ही नष्ट होगा ॥४०१॥ इस समय जिनकी लक्ष्मी बढ़ रही है ऐसे रामचन्द्रको देख उनके पुण्यसे प्रेरित हुई तथा 'हम लोगोंको दोनों लोकोंका एक कल्याण करनेवाले रामचन्द्रजीको शरण जाना चाहिए' इस प्रकार अनुरागसे भरी रणकी भावनासे ओतप्रोत पचास करोड़ चौरासी लाख भूमिगोचरियोंकी सेना और साढ़े तीन करोड़ विद्याधरोंकी सेना स्वयं ही उनसे आ मिली है। वे रामचन्द्र इतनी सब सेना तथा लक्ष्मणको साथ लेकर स्वयं ही यहाँ आ पहुँचेंगे। यद्यपि वे सीताके समान विद्याधरोंके राजा रावणकी लक्ष्मीको भी आज ही हरनेमें समर्थ हैं किन्तु उनका आपमें स्वाभाविक प्रेम है इसीलिए उन्होंने मुझे भेजा है। क्या आप इस तरहके सब समाचार नहीं जानते ? इस प्रकार अणुमान्‌के वचन सुनकर कार्यको जाननेवाला विभीषण उसी समय उसे रावणके समीप ले जाकर निवेदन करने लगा कि हे देव! रामचन्द्रने यह दूत आपके पास भेजा है ॥४०२-४०७॥ बुद्धिमान् तथा स्पष्ट और मधुर शब्द बोलनेवाले अणुमान्‌ने भी विनयपूर्वक रावणके दर्शन किये, योग्य भेंट समर्पित की। तदनन्तर रावणके द्वारा बतलाये हुए आसनपर बैठकर श्रवण करनेके योग्य हित-मित शब्दों-द्वारा उसने इस प्रकार कहना शुरू किया कि हे देव, सुनिए ॥४०८-४०९॥ जो अपने तेजसे बढ़ रहे हैं, जिनकी बुद्धि तथा साहस सबको अपने अनुकूल बनानेवाला है, गुण ही जिनके आभूषण हैं तथा जो कुशल युक्त हैं ऐसे राजा रामचन्द्रने इस समय अयोध्यानगरमें ही विराजमान होकर तीन खण्डके एक स्वामी आपका पहले तो कुशल-प्रश्न पूछा है और फिर यह कहला भेजा है कि आप सीताको किसी दूसरेकी, समझकर ले आये हैं। परन्तु वह मेरी है, आप बिना जाने लाये हैं इसलिए कुछ बिगड़ा नहीं है। आप बुद्धिमान् हैं अतः उसे शीघ्र भेज दीजिए ॥ ४१०-४१२ ॥ यदि आप सीताको न भेजेंगे तो विनमि वंशके एक रत्न और महात्मा स्वरूप आपका यह विचित्र कार्य धर्म तथा सुखका विघात करनेवाला होगा ॥ ४१३ ॥ कुलीन पुत्ररूपी महासागरको यह कलंक धारण करना उचित नहीं है। अतः सीताको छोड़ने रूप बड़ी-बड़ी तरंगोंके द्वारा इसे बाहर फेंक देना चाहिए ॥ ४१४ ॥ अणुमान्‌के यह वचन सुनकर रावणने उत्तर दिया कि मैं सीताको बिना जाने नहीं लाया हूँ किन्तु जानकर लाया हूँ। मैं राजा हूँ अतः सर्व रत्न मेरे ही हैं और विशेष कर स्त्रीरत्न तो मेरा ही है। तुम्हारे राजा

१ सार्धत्रितयसंख्या ल० । २ स्वां ख०, ग०, घ० । ३ आत्माभिगामकप्राज्ञोत्साहश्च गुणभूषणः ख०, ग०, घ० । आत्माभिगामिकप्रज्ञासाहसगुणभूषणः ल० । ४ कुलपुत्रमिवाम्भोधे– ल० । ५ भूभुजाम् ख०, घ०, म० ।

ममैव सर्वरत्नानि स्त्रीरत्नं तु विशेषतः । प्रेषयस्विति किं वक्तुं युक्तं मां ते महीपतेः[1] ॥४१६॥
जित्वा मां विग्रहेणाशु[2] गृह्णीयात् केन वार्यते । इति तन्नाशसंसूचिवचनं दैवचोदितम् ॥४१७॥
श्रुत्वा रामोदयापादिनिमित्तं शुभसूचकम् । इदमेवात्र नोऽभीष्टमिति चित्तेऽनिलात्मजः ॥ ४१८ ॥
व्याजहार दुरात्मानं दुश्चरित्रं दशाननम् । अन्यायस्य निषेद्धा त्वं निषेध्यश्चेन्निषेद्धरि ॥४१९॥
वाडवाग्निरिवाम्भोधौ केन वा स निषिध्यते । अभेद्येय[3] महं ख्यातो राघवः सिंहविक्रमः ॥४२०॥
[4]अकीर्तिर्निष्फला चन्द्रमिति स्मर्तुं तवोचितम् । मया बन्धुत्वसंबन्धात्तव पथ्यमुदाहृतम् ॥४२१॥
प्रभो गृहाण चेत्तुभ्यं रोचते चेन्न मा गृहीः । इति दूतवचः श्रुत्वा पौलस्त्यः पुनरब्रवीत् ॥४२२॥
रत्नं ममानिवेद्येदं जनकेन समर्पितम् । दर्पाद्दाशरथौ तस्मादाहृतेयं मया रुषा ॥४२३॥
मद्योग्यवस्तुस्वीकारादकीर्तिश्चेद्भवेन्मम । चक्ररत्नं च मद्धस्तादाददातु[5] स राघवः ॥४२४॥
इत्युक्तवतोऽञ्जनासूनुरवोचद्दशकन्धरम् । वचः प्रसन्नगम्भीरं तदुक्त्यनुसारि[6] यत् ॥४२५॥

रामचन्द्रने जो कहला भेजा है कि सीताको भेज दो सो क्या ऐसा कहना उसे योग्य है। ॥४१५-४१६॥ [वह अभिमानियोंमें बड़ा अभिमानी मालूम होता है। वह मेरी श्रेष्ठताको नहीं जानता है। 'मेरे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है' यह समाचार क्या उसके कानोंके समीप तक नहीं पहुँचा है? भूमिगोचरियों तथा विद्याधर राजाओंके मुकुटोंपर मेरे चरण-युगल, स्थल-कमल—गुलाबके समान सुशोभित होते हैं यह बात आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है—बड़ेसे लेकर छोटे तक सब जानते हैं। सीता मेरी है यह बात तो बहुत छोटी है किन्तु समस्त विजयार्ध पर्वत तक मेरा है। मेरे सिवाय सीता किसी अन्यकी नहीं हो सकती। तुम्हारा राजा जो इसे ग्रहण करना चाहता है वह पराक्रमी नहीं है—शूरवीर नहीं है। इस सीताको अथवा अन्य किसी स्त्रीको ग्रहण करनेकी उसमें शक्ति है तो वह यहाँ आवे और युद्धके द्वारा मुझे जीतकर शीघ्र ही सीताको ले जावे। कौन मना करता है?'] इस प्रकार भाग्यकी प्रेरणासे रावणके नाशको सूचित करनेवाले वचन सुनकर अणुमान्ने मनमें विचार किया कि इस समय रामचन्द्र-के अभ्युदयको प्रकट करनेवाले शुभ सूचक निमित्त हो रहे हैं और इस विषयमें मुझे भी यही इष्ट है—मैं चाहता हूँ कि रामचन्द्र यहाँ आकर युद्धमें रावणको परास्त करें और अपना अभ्युदय बढ़ावें ॥४१७-४१८॥ तदनन्तर वह अणुमान् रामचन्द्रकी ओरसे दुष्ट और दुराचारी रावणसे फिर कहने लगा कि 'आप अन्यायको रोकनेवाले हैं, यदि रोकनेवालेको ही रोकना पड़े तो समुद्रमें बड़वानलके समान उसे कौन रोक सकता है? यह सीता अभेद्य है-इसे कोई विचलित नहीं कर सकता और मैं सिंहके समान पराक्रमी प्रसिद्ध रामचन्द्र हूँ ॥४१९-४२०॥ इस अकार्यके करनेसे जबतक चन्द्रमा रहेगा तबतक आपकी निष्प्रयोजन अकीर्ति बनी रहेगी इस बातका भी आपको विचार करना उचित है। मैंने भाईपनेके सम्बन्धसे आपके लिए हितकारी वचन कहे हैं। हे स्वामिन्! यदि आपको रुचिकर हों तो ग्रहण कीजिए अन्यथा मत कीजिए।' इस प्रकार दूत-अणुमान्के वचन सुनकर रावण फिर कहने लगा ॥४२१-४२२॥ कि 'चूँकि राजा जनकने अहंकार वश मुझे सूचना दिये बिना ही यह सीतारूपी रत्न रामचन्द्रके लिए दिया था इसलिए क्रोधसे मैं इसे ले आया हूँ ॥४२३॥ मेरे योग्य वस्तु स्वीकार करनेसे यदि मेरी अकीर्ति होती है तो हो। वह रामचन्द्र तो मेरे हाथसे चक्ररत्न भी ग्रहण करना चाहता है' इस प्रकार रावणने कहा। तदनन्तर अणुमान् रावणके कहे अनुसार उससे प्रसन्न तथा गम्भीर वचन कहने लगा कि सीता मैंने हरी है यह आप क्यों कहते हैं? यह सब जानते

---

१ [दर्पिष्ठानामसौ प्रष्ठो ज्येष्ठतां मे न बुध्यते। चक्रोत्पत्तिर्न किं तस्य श्रवणोपान्तवर्तिनी। भूनभश्चरभूपा-लमौलिमालास्थलाम्बुजम्। मत्क्रमद्वन्द्वमित्येतदागोपालप्रसिद्धिमत् ॥ सीता ममेयमित्यल्पमेतदा उत्तराचलात्। सीता नान्यस्य तां नासौ जिघृक्षुरिव विक्रमी ॥ इमां च तां च यद्यस्ति शक्तिरत्रैतु राघवः।] इत्ययं कोष्ठकान्तर्गतः पाठः क० ख० ग० घ० पुस्तकेषु मूलनिबद्धो वर्तते किंतु 'ज०' पुस्तके नास्ति। २ विग्रहेणामा क०, ख०, ग०, घ०, म०। ३ अभेद्योऽयं-क०, ख०, ग०, घ०। ४ निर्मिता म०। ५-दादातु ज०। ६ तदुक्त्यनु-ख०।

सीता मयाहृतेत्येतत्किं वक्षि विदितं जनैः । करे कस्य स्थिता सेति विभो त्वद्धरणक्षणे ॥४२६॥
किमेतेन भवच्छौर्यं वदात्र प्रकटीभवेत् । किं वृथोक्त्या प्रियेणैव राज्ञी मंक्षु [1]त्वयार्प्यताम् ॥४२७॥
इति तद्गूढहासोक्तिवह्नि[2]संतापिताशयः । पुष्पकाधिपतिर्दृष्टि[3]विषाहीन्द्रफणामणिम् ॥४२८॥
आदातुमिच्छतो गन्तुं गतिं रामोऽभिवाञ्छति । दूतस्त्वं [4]तन्न वध्योऽसि याहि याहीत्यतर्जयत् ॥४२९॥
निर्जित्य सिन्धुराशानि गर्जितेनोर्जिता क्रुधा । ततः कुम्भनिकुम्भोऽग्रकुम्भकर्णादिभिर्भटैः ॥४३०॥
इन्द्रजित्सेन्द्रचर्मातिकन्यार्कखरदूषणैः । खरेण दुर्मुखाख्येन महामुखखगेशिना ॥४३१॥
क्रुद्धैः कुमारैरन्यैश्च तर्ज्यमानोऽनिलात्मजः । गर्जितेन वृथानेन वनिताजनसंमुखम् ॥४३२॥
किं कृत्यमत्र संग्रामे मदीयं शृणुतोत्तरम् । इत्यवादीत्तदा नेदमुचितं दुरुदीरितम् ॥४३३॥
इति तान् वारयन् क्रुद्धान् नयवेदी विभीषणः । याहि भद्रानिवार्योऽयमकार्यंखरदूषणैः ॥४३४॥
शुभाशुभविपाकानां भाविनां को निवारकः । इत्युवाचाणुमांश्चैत्य जानकीं वर्जिताशनाम् ॥४३५॥
मन्दोदर्युपरुध्यास्या द्रागदृष्ट्वा पारणाविधिम् । ततो वाराशिमुल्लङ्घ्य रामाभ्यर्णमुपागतः ॥४३६॥
नत्वा किं बहुनोक्तेन सीता तेन न मोक्ष्यते । अतस्तदनुरूपं वा कार्यं मा भूत शीतकाः ॥४३७॥
शंसन्ति निश्चिते कृत्ये कृतज्ञाः क्षिप्रकारिताम् । इत्याहादाय तत्प्रोक्तमिक्ष्वाकुकुलकेसरी ॥४३८॥
चतुरङ्गबलेनामा चित्रकूटवनान्तरे । कालमेव बलं मत्वाऽनैषीद्धर्षतुमित्वरः ॥४३९॥

हैं कि जिस समय आपने सीता हरी थी उस समय वह किसके हाथमें थी–किसके पास थी ? आप सीताको हरकर नहीं लाये हैं किन्तु चुराकर लाये हैं। अतः यह कहिए कि इस कार्यसे क्या आपकी शूर-वीरता प्रकट होती है ? अथवा इन व्यर्थकी बातोंसे क्या लाभ है। आप मीठे वचनोंसे ही रानी सीताको शीघ्र वापस कर दीजिए ॥४२४–४२७॥ इस प्रकार अणुमान्से उत्पन्न हुए तिरस्कार सूचक रूपी अग्निसे जिसका हृदय सन्तप्त हो रहा है ऐसा पुष्पक विमानका स्वामी रावण कहने लगा कि 'रामचन्द्र, दृष्टिविष सर्पके फणामणिको ग्रहण करनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषकी गतिको प्राप्त करना चाहता है—मरना चाहता है। तू दूत होनेके कारण मारने योग्य नहीं है अतः यहाँसे चला जा, चला जा, इस प्रकार रावणने सिंहको जीतनेवाली अपनी गर्जनासे अणुमान्को ललकारा। तदनन्तर कुम्भ, निकुम्भ एवं क्रूर प्रकृतिवाले कुम्भकर्ण आदि योद्धाओंने इन्द्रजित्, इन्द्रचर्म, अतिकन्यार्क, खरदूषण, खर, दुर्मुख, महामुख आदि विद्याधरोंने और क्रुद्ध हुए अन्य कुमारोंने अणुमान्को बहुत ही ललकारा। तब अणुमान्ने कहा कि स्त्रीजनोंके सामने इस व्यर्थकी गर्जनासे क्या लाभ है ? इससे कौन-सा कार्य सिद्ध होता है ? आप लोग मेरा उत्तर संग्राममें ही सुनिए। यह सुन नयोंके जाननेवाले विभीषणने उन क्रुद्ध विद्याधरोंको रोकते हुए कहा कि यह दुर्वचन कहना ठीक नहीं है। विभीषणने अणुमान्से भी कहा कि हे भद्र ! तुम अपने घर जाओ। अकार्य करनेके कारण जिसे आर्य मनुष्योंने छोड़ दिया है ऐसे इस रावणको कोई नहीं रोक सकता—यह किसीकी बात माननेवाला नहीं है। ठीक ही है आगे आनेवाले शुभ-अशुभ कर्मके उदयको भला कौन रोक सकता है ? इस प्रकार विभीषणने कहा तब अणुमान्, जिसने आहार-पानी छोड़ रखा था ऐसी सीताके पास गया ॥४२८-४३५॥ मन्दोदरीके उपरोधसे सीताने कुछ थोड़ा-सा खाया था उसे देख अणुमान् शीघ्र ही समुद्रको पार कर रामचन्द्रके समीप आ गया ॥४३६॥ और नमस्कार कर कहने लगा कि बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? सबका सारांश यह है कि रावण सीताको नहीं छोड़ेगा इसलिए इसके अनुरूप कार्य करना चाहिए, विलम्ब मत कीजिए, क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य निश्चित किये हुए कार्यमें शीघ्रता करनेकी प्रशंसा करते हैं–जो कार्य निश्चित किया जा चुका है उसे शीघ्र ही कर डालना चाहिए। अणुमान्की बात सुनकर इक्ष्वाकु वंशके सिंह रामचन्द्र अपनी चतुरंग सेनाके साथ चित्रकूट नामक वनमें जा पहुँचे। वे यद्यपि शीघ्र ही लंकाकी ओर प्रयाण करना चाहते थे तथापि समयको

---

१ त्वयार्पिताम् क०, ख०। त्वयार्पिता क०। २ संतर्पिताशयः ख०। ३. दृष्ट ग०। ४ यत्न ख०,

तत्रस्थं वालिनो दूतः समीक्ष्य रघुनन्दनम् । प्रणम्योपायनं दत्त्वेत्यब्रवीदविमोहितम् ॥४४०॥
विज्ञापयति मत्स्वामी वालीति बलवानलम् । पूज्यपादो यदि प्रेष्यं मामिच्छति महीपतिः ॥४४१॥
[1]न प्रतीच्छतु भृत्यत्वं सुग्रीवानिलपुत्रयोः । यावत् किंचित्करावार्यौ वेत्ति चैतत्पराक्रमम् ॥४४२॥
तिष्ठत्वत्रैव देवोऽहं गत्वा लङ्कां दशाननम् । मानभङ्गे नियोऽप्यार्यामानयेऽद्यैव जानकीम् ॥४४३॥
इत्याकर्णिततद्वाक्यः [2]प्राप्राक्षील्लक्ष्मणाग्रजः । सामभेदविदो वाच्यं किष्किन्धेशः किमुत्तरम् ॥४४४॥
इति मन्त्रिगणं सर्वसंमतः संस्तुतोऽङ्गदः । शत्रुर्मित्रमुदासीन इति भूपास्त्रयो मताः ॥४४५॥
रावणस्तेषु नः शत्रुर्वाली मित्रस्य विद्विषः । [3]न कुर्मो यदि तत्कार्यं संधास्यत्येष शत्रुणा ॥४४६॥
तथा चोपचयः शत्रोर्दुरुच्छेदो हि तेन सः । अथ वालिवचः कुर्मः कर्म तत्त्वार्य दुष्करम् ॥४४७॥
ततो हठात्तवायातं किष्किन्धेशविनाशनम् । प्राक् पश्चाच्छक्तिसंपत्त्या सुखोच्छेद्यो दशाननः ॥४४८॥
इत्यब्रवीत्तदादाय दूतमाहूय भूपतिः । महामेघाभिधानं मे प्रदायानेकपाग्रिमम् ॥४४९॥
सहाभ्येतु मया लङ्कां चर्च्यं पश्चात्तदीप्सितम् । इत्युक्त्वाऽमुनात्मीयमपि दूतं व्यसर्जयत् ॥४५०॥
गत्वा तौ रामसंदेशात् सुग्रीवस्याग्रजन्मनः । कोपमानयतः स्मासावित्यवोचन्मदोद्धतः ॥४५१॥
एवं [4]प्रार्थयमानो मां रामो रामापहारिणम् । निर्मूल्यानीय सीतां किं यशो दिक्षु विकीर्णवान् ॥४५२॥

बलवान् मानकर उन्होंने वर्षाऋतु वहीं बितायी ॥४३७–४३९॥ जब रामचन्द्र चित्रकूट वनमें निवास कर रहे थे तब राजा वालिका दूत उनके पास आया और प्रणाम करनेके अनन्तर भेंट समर्पित करता हुआ बड़ी सावधानीसे यह कहने लगा ॥४४०॥ कि हे देव ! मेरे स्वामी राजा वालि बहुत ही बलवान् हैं। वे आपसे इस प्रकार निवेदन कर रहे हैं— कि यदि पूज्यपाद महाराज रामचन्द्र मुझे दूत बनाना चाहते हैं तो सुग्रीव और अणुमान्को दूत न बनावें क्योंकि वे दोनों बहुत थोड़ा कार्य करते हैं। यदि आप मेरा पराक्रम देखना चाहते हैं तो आप यहीं ठहरिए, मैं अकेला ही लंका जाकर और रावणका मान भंग कर आर्या जानकीको आज ही लिये आता हूँ ॥४४१–४४३॥ इस प्रकार वालिके दूतके वचन सुनकर रामचन्द्रने साम और भेदको जाननेवाले मन्त्रियोंसे पूछा कि किष्किन्धा नगरके राजा वालिको क्या उत्तर दिया जावे ॥४४४॥ इस प्रकार मन्त्रि-समूहसे पूछा। तब सर्वप्रिय एवं सर्वप्रशंसित अंगदने कहा कि शत्रु, मित्र और उदासीनके भेदसे राजा तीन प्रकारके होते हैं। इन तीन प्रकारके राजाओंमें रावण हमारा शत्रु है, और वालि मित्रका शत्रु है। यदि हम लोग उसके कहे अनुसार कार्य नहीं करेंगे तो वह शत्रुके साथ सन्धि कर लेगा—उसके साथ मिल जावेगा ॥४४५–४४६॥ और ऐसा होनेसे शत्रुकी शक्ति बढ़ जायेगी जिससे उसका उच्छेद करना दुःखसाध्य हो जायगा। यदि वालिकी बात मानते हैं तो यह कार्य आपके लिए कठिन है ॥४४७॥ इसलिए सबसे पहले किष्किन्धा नगरीके स्वामीके नाश करनेका काम जबरदस्ती आपके लिए आ पड़ा है इसके बाद शक्ति और सम्पत्ति बढ़ जानेसे रावणका नाश सुखपूर्वक किया जा सकेगा ॥४४८॥ इस प्रकार अंगदके वचन स्वीकृत कर रामचन्द्रने वालिके दूतको बुलाया और कहा कि आपके यहाँ जो महामेघ नामका श्रेष्ठ हाथी है वह मेरे लिए समर्पित करो तथा मेरे साथ लंकाके लिए चलो, पीछे आपके इष्ट कार्यकी चर्चा की जायेगी। ऐसा कहकर उन्होंने वालिके दूतको बिदा किया और उसके साथ ही अपना दूत भी भेज दिया ॥४४९–४५०॥ वे दोनों ही दूत जाकर सुग्रीवके बड़े भाई वालिके पास पहुँचे और उन्होंने रामचन्द्रका सन्देश सुनाकर उसे बहुत ही कुपित कर दिया। तब मदसे उद्धत हुआ वालि कहने लगा कि इस तरह मुझपर आक्रमण करनेवाले रामचन्द्र क्या स्त्रीको अपहरण करनेवाले रावणको नष्ट कर तथा सीताको वापस लाकर दिशाओंमें अपना यश

---

१ मा ल०, म० । २ सोऽप्राक्षीत् ल० । ३ कुर्मो यदि ल० । ४ अभियाति, 'याञ्चायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः ॥' इति केशवः । यद्वा अवरुणद्धि, इत्यर्थः । प्रा अर्थयते । 'प्रा स्याद्याञ्चावरोधयोः' इत्यभिधानात् । प्रा अवरोधेन, प्रा इति तृतीयान्तम्, आकारान्तस्य प्राशब्दस्य योगविभागात् 'आतो धातोः' इत्यालोपः ।

दशास्ये साम सामोक्त्या समीप्सौ सामवायिके । परुषोक्तिर्मयीत्यस्य धीशौर्ये पश्य कीदृशे ॥४५३॥
इमां तद्गर्वदुर्भाषां श्रुत्वा राघवसैनिना । चौर्येण परदाराणां नेतुरुन्मार्गगामिनः ॥४५४॥
दोषद्वयानुरूपं त्वं दण्डं द्रक्ष्यसि चाचिरात् । किं तेन तव चेत्पथ्यमिच्छेरुच्छिद्य दुर्मदम् ॥४५५॥
दत्त्वा गजं कुरूपासं स्वामिनो वृद्धिमेष्यति । अवश्यमचिरेणेति दूतेनोद्दीपितः क्रुधा ॥४५६॥
वाली कालानुकारी तं प्रत्याह परुषं वचः । वारणाशां त्यजत्वस्ति चेदाशा नास्ति वा रणम् ॥४५७॥
यातु मत्पादसेवां स मयामा यातु वारणम् । तदा तस्याशुभां वाणीं तद्विनाशविधायिनीम् ॥४५८॥
श्रुत्वा दूतोऽभ्युपेत्यैवद्वलिनं वालिनोऽन्तकम् । प्रातिकूल्येन वाली वः कृत्रिमः शत्रुरुत्थितः ॥४५९॥
पारिपन्थिकवन्मार्गो दुर्गस्तस्मिन् विरोधिनि । इत्यब्रवीत्ततो रामः सुग्रीवप्रमुखं बलम् ॥४६०॥
लक्ष्मणं नायकं कृत्वा प्राहिणोत्खादिरं वनम् । गत्वा वैद्याधरं सैन्यं वालिनोऽभ्यागतं बलम् ॥४६१॥
यथानेव वनं वज्रं प्रज्वलच्छस्त्रसंतति । स्वयं सर्वबलेनामा योद्धुं वाली तदागमत् ॥४६२॥
पुनस्तयोरभूद् युद्धं बलयोः काललीलयोः । प्रलये वान्तकस्तत्र प्रायस्तृप्तिमुपेयिवान् ॥४६३॥
आकर्णाकृष्टनिर्मुक्तनिशातसितपत्रिणा । लक्ष्मणेन शिरोऽग्राहि तालं वा वालिनः फलम् ॥४६४॥
तदा स्वस्थानमापन्नौ सुग्रीवानिलनन्दनौ । सद्यः फलति संसेवा प्रायेण प्रभुमाश्रिता ॥४६५॥
ततः सर्वेऽगमन् रामस्वामिनं सोऽप्यनीयत । स्वस्थानं सबलो भक्त्या सुग्रीवेण सहानुजः ॥४६६॥

फैला लेंगे ? ।।४५१–४५२।। स्त्रीका अपहरण करनेवाले रावणके लिए तो इन्होंने शान्तिके वचन कहला भेजे हैं और जो मिलकर इनके साथ रहना चाहता है ऐसे मेरे लिए ये कठोर शब्द कहला रहे हैं। इनकी बुद्धि और शूरवीरता तो देखो कैसी है ? ।।४५३।। गर्वसे भरी हुई बालिकी इस नीच भाषाको सुनकर रामचन्द्रके दूतने कहा कि रावण चोरीसे परस्त्री हरकर ले गया है सो उस उन्मार्गगामीको दोनों अपराधोंके अनुरूप जो दण्ड दिया जावेगा उसे आप शीघ्र ही देखेंगे। अथवा इससे आपको क्या प्रयोजन ? यदि आपको महामेघ हाथी देना इष्ट है तो इस दुष्ट अहंकारको छोड़कर वह हाथी दे दो और स्वामीकी सेवा करो। ऐसा करनेसे आप अवश्य ही शीघ्र वृद्धिको प्राप्त होंगे। इस प्रकार कहकर दूतने बालिको क्रोधसे प्रज्वलित कर दिया ।।४५४–४५६।। तब यमराजका अनुकरण करनेवाला बालि उत्तरमें निम्न प्रकार कठोर वचन कहने लगा। उसने कहा कि 'यदि रामचन्द्रको जीनेकी आशा है तो हाथीकी आशा छोड़ दें, यदि जीनेकी आशा नहीं है तो युद्धमें मेरे सामने आवें और उन्हें हाथीपर बैठनेकी ही इच्छा है तो मेरे चरणोंकी सेवाको प्राप्त हों फिर मेरे साथ इस हाथीपर बैठकर गमन करें।' इस प्रकार बालिका विनाश करनेवाली उसकी अशुभ वाणीको सुनकर वह दूत उसी समय बालिको नष्ट करनेवाले बलवान् रामचन्द्रके पास वापस आ गया और कहने लगा कि बालि प्रतिकूलतासे आपका कृत्रिम शत्रु प्रकट हुआ है ।।४५७–४५९।। उस विरोधीके रहते हुए आपका मार्ग चोरोंके मार्गके समान दुर्गम है अर्थात् जबतक आप उसे नष्ट नहीं कर देते हैं तबतक आपका लंकाका मार्ग सुगम नहीं है। इस प्रकार जब दूत कह चुका तब रामचन्द्रने लक्ष्मणको नायक बनाकर सुग्रीव आदिकी सेना खदिर-वनमें भेजी। जिसमें शस्त्रोंके समूह देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसी विद्याधरोंकी सेनाने सामने आयी हुई बालिकी सेनाको उस तरह काट डाला जिस तरह कि वज्र वनको काट डालता है—नष्ट कर देता है। जब सेना नष्ट हो चुकी तब बालि अपनी सम्पूर्ण शक्ति अथवा समस्त सेनाके साथ स्वयं युद्ध करनेके लिए आया ।।४६०–४६२।। कालके समान लीला करनेवाली दोनों सेनाओंमें फिरसे भयंकर युद्ध होने लगा और काल उस युद्धमें प्रलयके समान प्रायः तृप्त हो गया ।।४६३।। अन्तमें लक्ष्मणने कान तक खींचकर छोड़े हुए तीक्ष्ण सफेद बाणसे ताल वृक्षके फलके समान बालिका सिर काट डाला ।।४६४।। उसी समय सुग्रीव और अणुमान्को अपना स्थान मिल गया सो ठीक ही है क्योंकि अच्छी तरह की हुई प्रभुकी सेवा प्रायः शीघ्र ही फल देती है ।।४६५।। तदनन्तर सब लोग राजा रामचन्द्रके पास

विभोर्मनोहरोद्याने किष्किन्धे शरदागमे । बलं चतुर्दशाक्षौहिणीप्रमं भूभृतामभूत् ॥४६७॥
लक्ष्मणश्च जगत्पादगिरौ निरशनस्तदा । सप्ताहं शिवघोषाख्यमोक्षस्थाने कृतार्चनः ॥४६८॥
प्रज्ञप्तिं साधयामास भटाष्टशतरक्षितः । सुग्रीवोऽपि महाविद्याः पूजयामास सुव्रतः[1] ॥४६९॥
सोपवासो गिरौ संमेदाख्ये सिद्धशिलातले । तथान्येऽपि स्वविद्यानां खगाः पूजामकुर्वत ॥४७०॥
एवं भूखेचराधीशां बलं चलितकेतनम् । रामलक्ष्मणसुग्रीवमरुन्नन्दननायकम् ॥४७१॥
करीन्द्रमकराकीर्णं तुरंगमतरंगकम् । प्रलयाम्भोधिसङ्काशं लङ्कां प्रति चचाल तत् ॥४७२॥
लङ्कापुरेऽप्यणुमतो विनिवृत्तौ दशाननः । कुम्भकर्णादिभिरस्मदुग्रवंशस्य भास्वतः ॥४७३॥
कर्मेदमुचितं ख्यातपौरुषस्य तव प्रभो । स्त्रीरत्नमेतदुच्छिष्टं तदस्मदनुरोधतः ॥४७४॥
विसृज्यतामिति प्रोक्तोऽप्यासक्तस्त्यक्तुमक्षमः । भूयस्तृणमनुष्यस्य रामनाम्नो बलं किल ॥४७५॥
सीतां नेतुमितोऽस्माकमुपर्यागच्छतीति वाक् । श्रूयतेऽद्य कथं सीतामोक्षः कुलकलङ्ककृत् ॥४७६॥
इत्याख्यत्तद्वचः सोढुमक्षमो रावणानुजः । सूर्यवंशस्य शौर्यं किं रामस्तृणमनुष्यकः ॥४७७॥
न शृणोसि वचः पथ्यं बन्धूनां मदनान्धकः । परदारार्पणं दोषं वदन् दोषविदांवरः ॥४७८॥
परस्त्रीग्रहणं शौर्यं त्वदुपज्ञं भवेद् भुवि । मिथ्योत्तरेण किं मार्गविध्वंसोन्मार्गवर्तनम्[2] ॥४७९॥
दुर्धरं तव दुर्बुद्धे लोकद्वयभयावहम् । विषयानभिषिद्धांश्च परित्यक्तुं वयस्तव ॥४८०॥

गये । सुग्रीव, रामचन्द्रको लक्ष्मण और सब सेनाके साथ-साथ बड़ी भक्तिसे अपने नगरमें ले आया और किष्किन्धा नगरके मनोहर उद्यानमें उन्हें ठहरा दिया । उस समय शरद्-ऋतु आ गयी थी और रामचन्द्रके साथ राजाओंकी चौदह अक्षौहिणी प्रमाण सेना इकट्ठी हो गयी थी ॥४६६–४६७॥ जहाँ से शिवघोष मुनिने मोक्ष प्राप्त किया था ऐसे जगत्पाद नामक पर्वतपर जाकर लक्ष्मणने सात दिन तक निराहार रहकर पूजा की और प्रज्ञप्ति नामकी विद्या सिद्ध की। विद्या सिद्ध करते समय एक सौ आठ योद्धाओंने उसकी रक्षा की थी । इसी प्रकार सुग्रीवने भी उस समय उत्तम व्रत और उपवास धारण कर सम्मेदाचलपर सिद्धशिलाके ऊपर महा-विद्याओंकी पूजा की । इनके सिवाय अन्य विद्याधरोंने भी अपनी-अपनी विद्याओंकी पूजा की । इस प्रकार जिसमें ध्वजाएँ फहरा रही हैं, राम, लक्ष्मण, सुग्रीव और अणुमान् जिसमें प्रधान हैं, जो बड़े-बड़े हाथीरूपी मगरमच्छोंसे व्याप्त है, और घोड़े ही जिसमें बड़ी-बड़ी तरंगें हैं ऐसे प्रलयकालके समुद्रके समान वह भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजाओंकी सेना लंकाके लिए रवाना हुई ॥४६८–४७२॥

अथानन्तर—जब अणुमान् लंकासे लौट आया था तब कुम्भकर्ण आदि भाइयोंने रावण-से कहा था कि 'हे प्रभो ! आप हमारे उग्र वंशमें सूर्यके समान देदीप्यमान हैं और आपका पौरुष भी सर्वत्र प्रसिद्ध है अतः आपको यह कार्य करना उचित नहीं है । यह स्त्रीरत्न उच्छिष्ट है इसलिए हमलोगोंके अनुरोधसे आप इसे छोड़ दीजिए ।' इस प्रकार सबने कहा परन्तु चूँकि रावण सीतामें आसक्त था इसलिए उसे छोड़ नहीं सका । वह फिर कहने लगा कि रामचन्द्र तृण-मनुष्य हैं—तृणके समान अत्यन्त तुच्छ हैं, 'उनकी सेना सीताको लेनेके लिए यहाँ हमारे ऊपर आ रही है' ऐसे शब्द आज सुनाई दे रहे हैं इसलिए सीताको कैसे छोड़ा जा सकता है, यह बात तो कुलको कलंक लगानेवाली है ॥४७३–४७६॥ रावणका छोटा भाई विभीषण उसकी यह बात सह नहीं सका अतः कहने लगा कि आप रामचन्द्रको तृणमनुष्य मानते हैं पर सूर्य-वंशीय रामचन्द्रकी क्या शूर-वीरता है इसका आपको पता नहीं है । आप कामसे अन्धे हो रहे हैं इसलिए भाइयोंके हितकारी वचन नहीं सुन रहे हैं । आप परस्त्रीके समर्पण करनेको दोष बतला रहे हैं इसलिए मालूम होता है कि आप दोषोंके जानकारोंमें श्रेष्ठ हैं ? (व्यंग्य) ॥४७७-४७८॥ परस्त्रीग्रहण करना शूर-वीरता है, संसारमें इस बातका प्रारम्भ आपसे ही हो रहा है । आप जो अपनी दुर्बुद्धिसे मिथ्या उत्तर दे रहे हैं उससे क्या दोनों लोकोंमें भय उत्पन्न करनेवाले एवं दुर्धर उन्मार्गकी प्रवृत्ति नहीं होगी और सुमार्गका विनाश नहीं होगा ? जो

---

१ सव्रतः ब०, ख० । २ –वर्तिनम् ल० ।

परामृशात्र किं युक्तं निषिद्धविषयैषणम् । विद्धि वैद्याधरीं लक्ष्मीमिमां तव गुणप्रियाम् ॥४८१॥
अनर्पयन्तं सीतां त्वां त्यजत्यद्यैव निर्गुणम् । अकार्यकारिणामत्र [1]गणनायां किमग्रिमम् ॥४८२॥
त्वं करोष्यभिलाषात्मकार्येण परयोषिति । प्रतिकूलोऽसि पुण्यस्य दुर्वृत्त्या पापसंचयात् ॥४८३॥
ततोऽननुगुणं[2] दैवं विना दैवात्कुतः श्रियः । परस्त्रीहरणं नाम पापं पापेषु दुस्तरम् ॥४८४॥
विस्तरेण किमुक्तेन नेष्यत्येनो महातमः[3] । आस्तां तावददो भावि शापैः[4] शीलाढ्यस्त्रियः ॥४८५॥
अलमामूलतो दग्धुं कुलं क्रोधविधायिनाम् । नानिच्छन्तीं प्रतीच्छामीत्येकमेव तव व्रतम् ॥४८६॥
पोतभूतं भवाब्धि [5]तत्तरितुं किं विनाशयेः । प्राणैरपि यशः क्रेयं सतां प्राणैश्च तेन च ॥४८७॥
पापं कल्पान्तरस्थायि क्रीणास्ययशोऽयशश्च धिक् । कस्येयं दुहिता सीता किं तन्न ज्ञायते त्वया ॥४८८॥
सुज्ञानमप्यविज्ञेयं कामव्यामुग्धमानसैः । अत्यौत्सुक्यमनाप्तेषु प्राप्तेषु परितोषणम् ॥४८९॥
[6]भुज्यमानेषु वैरस्यं विषयेषु न वेत्सि किम् । अयोग्यायामनाथायां नाशहेतौ वृथा रतिम् ॥४९०॥
मा कृथा पापदुःखापलेपभाक् परयोषिति । आदेशः कीदृशः सोऽपि स्मार्यो वा [7]भाविवेदिनाम् ॥४९१॥
चक्रस्य परिपाकं च प्रादुर्भूतं च भावय । बलानामष्टमं रामं लक्ष्मणं चार्धचक्रिणाम् ॥४९२॥
आमनन्ति पुराणज्ञाः प्राज्ञ तच्च विचिन्तय । यादृगर्पयतो दोषस्तादृगर्पयतस्तथा ॥४९३॥
सीता नेति विनिश्चित्य तां रामाय समर्पय । इति लक्ष्मीलतावृद्धिसाधनं धर्मशर्मदम् ॥४९४॥

विषय निषिद्ध नहीं है उनका भी त्याग करनेकी आपकी अवस्था है फिर जरा विचार तो कीजिए इस अवस्थामें निषिद्ध विषयकी इच्छा करना क्या आपके योग्य है? आप यह निश्चित समझिए कि यह विद्याधरोंकी लक्ष्मी आपके गुणोंकी प्रिया है। यदि आप सीताको वापस नहीं करेंगे तो निर्गुण समझकर यह आपको आज ही छोड़ देगी। पर-स्त्रीकी अभिलाषा करने रूप इस अकार्यसे आप अपने-आपको अकार्य करनेवालोंमें अग्रणी—मुखिया क्यों बनाते हैं? इस समय आप इस दुष्ट प्रवृत्तिसे पापका संचय कर पुण्यके प्रतिकूल हो रहे हैं, पुण्यके प्रतिकूल रहनेसे दैव अनुकूल नहीं रहता और दैवके बिना लक्ष्मी कहाँ प्राप्त हो सकती है? परस्त्रीका हरण करना यह पाप सब पापोंसे बड़ा पाप है ॥४७९–४८४॥ अधिक विस्तारके साथ कहनेमें क्या लाभ है? यह पाप आपको सातवें नरक ले जावेगा। अथवा इसे जाने दो, यह पाप परभवमें दुःख देगा परन्तु शीलकी भाण्डारभूत स्त्रियाँ अपने प्रति क्रोध करनेवालोंके कुलको शापके द्वारा इसी भवमें आमूल नष्ट करनेके लिए समर्थ रहती हैं। आपने व्रत लिया था कि जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी मैं उसे नहीं चाहूँगा। आपका यह एक व्रत ही आपको संसाररूपी समुद्रसे पार करनेके लिए जहाजके समान है इसे क्यों नष्ट कर रहे हो? सज्जन पुरुषोंको प्राण देकर यश खरीदना चाहिए परन्तु आप ऐसे अज्ञानी हैं कि प्राण और यश देकर दूसरे कल्प काल तक टिकनेवाला पाप तथा अपयश खरीद रहे हैं, अतः आपके लिए धिक्कार है। यह सीता किसकी पुत्री है यह क्या आप नहीं जानते? ठीक ही है जिनका चित्त कामसे मोहित रहता है उनके लिए जानी हुई बात भी नहीं जानीके समान होती है। क्या आप यह नहीं जानते कि ये पंचेन्द्रियोंके विषय जबतक प्राप्त नहीं हो जाते तबतक इनमें उत्सुकता रहती है, प्राप्त हो जानेपर सन्तोष होने लगता है, और जब इनका उपभोग कर चुकते हैं तब नीरसता आ जाती है। इसलिए अयोग्य, अनाथ, विनाशका कारण, पाप और दुःखका संचय करनेवाली परस्त्रीमें व्यर्थका प्रेम मत कीजिए। भविष्यत्की बात जाननेवाले निमित्तज्ञानियोंने कैसा आदेश दिया था—क्या कहा था इसका भी आपको स्मरण करना चाहिए ॥४८५–४९१॥ तथा चक्र उत्पन्नके फलका भी विचार कीजिए। पुराणोंके जाननेवाले रामको आठवाँ बलभद्र और लक्ष्मणको आठवाँ नारायण कहते हैं। हे विद्वन्! आप इसका भी विचार कीजिए। सीताको नहीं सौंपनेमें जैसा दोष है वैसा दोष उसके सौंपनेमें नहीं है ॥४९२–४९३॥ इसलिए इन सब बातोंका

---

१ गणनीयं ल० । २ अनुकूलम् । ३ नेष्यते तलमस्तमं ग०, म० । ४ शापः शीलाढ्यस्त्रियः ल० । ५ किं तत्तरीतुं ल०, म० । ६ भुज्यमानेषु ल० । ७ भावि निवेदिनाम् ल० ।

वचोऽवोचद् विचार्योच्चैर्यशः कर्तुं शशिप्रभम् । भ्राता विभीषणायैवं भाषमाणाय भीषणः ॥४९५॥
रुषितो रावणो दूतेनैकत्वमुपगम्य मे । पराभवं सभामध्ये प्रागदुस्सहमकीजनः ॥४९६॥
संप्रत्यपि दुरुक्तोऽहं त्वया सहजतावशात् । अवध्यो याहि मद्देशादित्यभाषत निष्ठुरम् ॥४९७॥
सोऽपि दुश्चरितस्यास्य नाशोऽवश्यं भविष्यति । सहानेन विनाशो मां दूषयत्ययशस्करः ॥४९८॥
निर्वासितोऽहं निर्भर्त्स्य देशाद्धितमुदाहरन् । इष्ट एव किलारण्ये वृष्टो देव इति श्रुतिः ॥४९९॥
पुण्यान्ममाद्य संपन्ना यामि रामक्रमाम्बुजम् । इत्यन्तर्गतमालोच्य विनिश्चित्य विभीषणः ॥५००॥
अब्धेर्जलमुल्लङ्घ्य सौजन्यमिव सत्वरम् । महानदीप्रवाहो वा वारिधिं राममासदत् ॥५०१॥
लक्ष्मणप्रमुखान्मुख्यान् वेलालीलावहान् बहून् । प्रत्युद्गमय्य विश्रम्भ्य समानीय परीक्षया ॥५०२॥
सोऽपि ज्ञातानुभावत्वादेकीभावमुपागमत् । ततः कतिपयैरेव प्रयाणैर्गत्वाब्धिकम् ॥५०३॥
जलधेस्तटमाश्रित्य संनिविष्टं समन्ततः । तदा तत्राणुमानित्थं रामं विज्ञापयन्मिथः ॥५०४॥
देवादेशोऽस्ति चेद्गत्वा लङ्कां शौर्योजिहीर्षया । वनभङ्गेन ते शत्रोर्मानभङ्गं करोम्यहम् ॥५०५॥
लङ्कादाहेन दाहं च देहस्याहितकारिणः । तथा सति स मानित्वादसौ चेदागमिष्यति ॥५०६॥
स्थानभ्रंशात्सुखोच्छेद्यो नागच्छेत्तेजसः क्षतिः । इति श्रुत्वास्य विज्ञप्तिं तदस्त्वित्यवदन्नृपः ॥५०७॥
सहायांश्चादिशत्तस्य विद्येशान् शौर्यशालिनः । लब्धाज्ञः सोऽपि संतुष्य सद्यो वानरविद्यया ॥५०८॥
प्रादुर्भावितदुःप्रेक्ष्यनानावानरसेनया । द्रुतं वाराशिमुल्लङ्घ्य विक्रमाद् वनपालकान् ॥५०९॥

निश्चय कर सीता रामचन्द्रके लिए सौंप दीजिए। इस प्रकार विभीषणने अच्छी तरह विचार कर यशको चन्द्रमाके समान उज्ज्वल करनेके लिए लक्ष्मीरूपी लताको बढ़ानेवाले तथा धर्म और सुख देनेवाले उत्कृष्ट वचन कहे। परन्तु इस प्रकारके उत्तम वचन कहनेवाले विभीषणके लिए वह भयंकर रावण कुपित होकर कहने लगा कि 'तूने दूतके साथ मिलकर पहले सभाके बीच मेरा असहनीय तिरस्कार किया था और इस समय भी तू दुर्वचन बोल रहा है। तू मेरा भाई होनेसे मारने योग्य नहीं है इसलिए जा मेरे देशसे निकल जा'। इस प्रकार रावणने बहुत ही कठोर शब्द कहे ॥४९४-४९७॥ रावणकी बात सुनकर विभीषणने विचार किया कि इस दुराचारीका नाश अवश्य होगा, इसके साथ मेरा भी नाश होगा और यह अपयश करनेवाला नाश मुझे दूषित करेगा ॥४९८॥ इसने तिरस्कार कर मुझे देशसे निकाल दिया है यह अच्छा ही किया है क्योंकि मुझे यह इष्ट ही है। 'बादल जंगलमें ही बरसे' यह कहावत आज मेरे पुण्यसे सम्पन्न हुई है। अब मैं रामचन्द्रके चरणकमलोंके समीप ही जाता हूँ। इस प्रकार चित्तमें विभीषणने विचार किया और ऐसा ही निश्चय कर लिया ॥४९९-५००॥ वह शीघ्र ही सौजन्यकी तरह समुद्रके जलका उल्लंघन कर गया और जिस प्रकार किसी महानदीका प्रवाह समुद्रके पास पहुँचता है उसी प्रकार वह रामचन्द्रके समीप जा पहुँचा ॥५०१॥ रामचन्द्रने तरंगोंकी लीला धारण करनेवाले लक्ष्मण आदि अनेक बड़े-बड़े योद्धाओंको विभीषणकी अगवानी करनेके लिए भेजा और वे सब परीक्षा कर तथा विश्वास प्राप्त कर उसे ले आये। विभीषण भी रामचन्द्रके प्रभावको समझता था अतः उनके साथ एकीभावको प्राप्त हो गया—हिलमिल गया। तदनन्तर कुछ ही पड़ाव चलकर रामचन्द्रकी सेना समुद्रके तटपर आ पहुँची और चारों ओर ठहर गयी। उस समय अणुमान्ने परस्पर रामचन्द्रसे इस प्रकार कहा कि हे देव! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं अपनी शूर-वीरता प्रकट करनेकी इच्छासे लंकामें जाऊँ और वनका नाश कर आपके शत्रुका मान भंग करूँ ॥५०२-५०५॥ साथ ही लंकाको जलाकर शत्रुके शरीरमें दाह उत्पन्न करूँ। ऐसा करनेपर वह अहंकारी रावण अभिमानी होनेसे यहाँ आवेगा और उस दशामें स्थान-भ्रष्ट होनेके कारण वह सुखसे नष्ट किया जा सकेगा। यदि यहाँ नहीं भी आवेगा तो उसके प्रतापकी क्षति तो अवश्य होगी। अणुमान्‌की यह विज्ञप्ति सुनकर राजा रामचन्द्रने वैसा करनेकी अनुमति दे दी और शूर-वीरतासे सुशोभित अनेक विद्याधरोंको उसका सहायक बना दिया। रामचन्द्रकी आज्ञा पाकर अणुमान् बहुत सन्तुष्ट हुआ। उसने वानर-विद्याके द्वारा शीघ्र ही अनेक भयंकर वानरोंकी सेना बनायी और उसे साथ ले शीघ्र ही समुद्रका उल्लंघन किया। वहाँ वह

आग्रहं निग्रहं कृत्वा वनभङ्गं व्यधात् क्रुधा । [1]ऊर्ध्वीकृतकरा घोरं क्रोशन्तो वनपालकाः ॥५१०॥
प्राविशन्नगरीं घोरां श्रावयन्तोऽश्रुतश्रुतिम् । तदा राक्षसविद्योद्यद्ध्वजमालोपलक्षिताः ॥५११॥
अभियाता पुरारक्षा योद्धुं पवननन्दनम् । अथानिलसुत[2]दिष्टवानरानीकनायकाः ॥५१२॥
तानभञ्जन् समुद्धृत्य प्रहृत्य वनपादपैः । ततः स्फुरन् महाज्वालविद्ययाऽसौ बहिःपुरम् ॥५१३॥
निरधाक्षीदधिक्षिप्य रूक्षरक्षोबलं बली । एवं रावणदुर्वारप्रतापप्रोद्यद्द्रुमम् ॥५१४॥
प्रोन्मूल्य वानरानीकनायको राममाययौ । संनाह्य राघवः स्थित्वा [3]बलं संग्रामसंमुखम् ॥५१५॥
नागतो रावणः केन हेतुनेति विभीषणम् । अप्राक्षीदथ सोऽप्याख्यल्लङ्कायां नास्ति रावणः ॥५१६॥
बालिलोकान्तरापत्तिं सुग्रीवाणुमतोरपि । विद्याबलावलेपित्वमवगम्य स्वयं च सः ॥५१७॥
निवेश्य निजरक्षायां सुतमिन्द्रजिदाह्वयम् । अष्टोपवासमासाद्य सम्यग्नियमितेन्द्रियः ॥५१८॥
आदित्यपादशैलेन्द्रे विद्याः संसाधयन् स्थितः । राक्षसादिमहाविद्यासिद्धावुपचितो भवेत्[4] ॥५१९॥
तद्विघ्नपूर्वकं लङ्कामवष्टभ्य निवेशनम् । प्रयोजनमिति श्रद्दधत् सीतापतिं प्रति । ५२०॥
नायकाभ्यां ततः सुग्रीवाणुमन्तौ स्वसाधिताः । दत्त्वा गरुडसिंहादिवाहिन्यौ बन्धमोचनीम् ॥५२१॥
हननावरणीं विद्याश्चतस्रोऽस्य पृथक् पृथक् । प्रज्ञप्तिविद्याविकृतविमानेन महाबलम् ॥५२२॥
लङ्कापुरबहिर्भागे तन्निवेशयतः स्म तौ । नभश्चरकुमारेषु तदा रामाज्ञया गिरिम् ॥५२३॥
संप्राप्य युद्ध्यमानेषु रावणस्याग्रसूनुना । संभूयेन्द्रजिता यूयं युध्यध्वमिति संक्रुधा ॥५२४ ।

अपने पराक्रमसे वन-पालकोंको पकड़ कर उनका निग्रह करने लगा और क्रोधसे उसने रावणका समस्त वन नष्ट कर डाला । तब वनके रक्षक लोग अपनी भुजाएँ ऊँची कर जोर-जोरसे चिल्लाते हुए नगरीमें गये और जो कभी नहीं सुने थे उन भयंकर शब्दोंको सुनाने लगे । उस समय राक्षस-विद्याके प्रभावसे फहराती हुई ध्वजाओंके समूहसे उपलक्षित नगरके रक्षक लोग अणुमान्से युद्ध करनेके लिए उसके सामने आये । यह देख अणुमान्ने भी वानर-सेनाके सेनापतियोंको आज्ञा दी और तदनुसार वे सेनापति लोग वनके वृक्ष उखाड़कर उन्हींसे प्रहार करते हुए उन्हें मारने लगे । तदनन्तर बलवान् अणुमान्ने नगरके बाहर स्थित राक्षसोंकी रूखी सेनाको अपनी देदीप्यमान महाज्वाल नामकी विद्यासे वहाँका वहीं भस्म कर दिया । इस प्रकार वानर सेनाका सेनापति अणुमान्, रावणके दुर्वार प्रताप रूपी ऊँचे वृक्षको उखाड़कर रामचन्द्रके समीप वापस आ गया । इधर रामचन्द्र तबतक सेनाको तैयार कर युद्धके सम्मुख खड़े हो गये ॥५०६-५१५॥ उस समय उन्होंने विभीषणसे पूछा कि रावण किस कारणसे नहीं आया है ? तदनन्तर विभीषणने उत्तर दिया कि इस समय रावण लंकामें नहीं है । बालिका परलोक गमन और सुग्रीव तथा अणुमान्के विद्याबलका अभिमान सुनकर उसने अपनी रक्षाके लिए इन्द्रजित् नामक पुत्रको नियुक्त किया है तथा आठ दिन उपवास लेकर और इन्द्रियोंको अच्छी तरह वश कर आदित्यपाद नामके पर्वतपर विद्याएँ सिद्ध करता हुआ बैठा है । राक्षसादि महाविद्याओंके सिद्ध हो जानेपर वह बहुत ही शक्तिसम्पन्न हो जावेगा । इसलिए इस समय हम लोगोंका यही काम है कि उसकी विद्यासिद्धिमें विघ्न किया जाये और लंकाको घेरकर ठहरा जाये, इस प्रकार विभीषणने रामचन्द्रसे कहा । तदनन्तर सुग्रीव और अणुमान्ने अपने द्वारा सिद्ध की हुई गरुड़वाहिनी, सिंहवाहिनी, बन्धमोचनी और हननावरणी नामकी चार विद्याएँ अलग-अलग रामचन्द्र और लक्ष्मणके लिए दीं । इसके बाद दोनों भाइयोंने प्रज्ञप्ति नामकी विद्यासे बनाये हुए अनेक विमानोंके द्वारा अपनी उस बड़ी भारी सेनाको लंकानगरीके बाहर मैदानमें ले जाकर खड़ी कर दी । उसी समय कितने ही विद्याधर कुमार रामचन्द्रकी आज्ञासे आदित्यपाद नामक पर्वतपर जाकर उपद्रव करने लगे । तब रावणके बड़े पुत्र इन्द्रजित्ने क्रोधमें आकर विद्याधर राजाओं तथा पहले सिद्ध किये हुए समस्त देवताओंको यह आदेश देकर भेजा कि तुम सब लोग मिलकर इनसे युद्ध करो । इन्द्रजित्की बात सुनकर विद्या-देवताओंने कहा कि हमलोगोंने आपके

१ ऊर्ध्वीकृत-ल० । २ सुतादिष्ट ल० । ३ तत्र ख० । ४ -भवत् ख० ।

प्रेषिताः खचराधीशाः प्राच्याः सर्वाश्च देवताः । इयन्तं कालमस्माभिर्भवत्पुण्यबलोदयात् ॥ ५२५ ॥
यथाभिलषितं कार्यं साधितं पुण्यसंक्षये । समर्था नेत्यसावुक्तो व्यक्तं ताभिर्दशाननः ॥ ५२६ ॥
भवतीभिर्वराकीभिर्यात किं मम साध्यते । हन्म्यहं पौरुषेणैव नृमृगान् सह खेचरान् ॥ ५२७ ॥
सहायैः साधितं कार्यं लज्जायै ननु मानिनाम् । इति क्रुद्धः पुरीमागात्तदैवासौ सहेन्द्रजित् ॥ ५२८ ॥
दुश्चेष्टस्यास्तपुण्यस्य[1] भूतं भावि[2] विनश्यति । परिवारमुखाद् ज्ञात्वा परैर्लङ्कोपरोधनम् ॥ ५२९ ॥
हरिणैर्हरिरारुद्धः पश्य कालविपर्ययम् । अथवासन्नमृत्यूनां भवेत्प्रकृतिविभ्रमः ॥ ५३० ॥
इति गर्जन्समाक्रान्ततुङ्गमातङ्गसिंहवत् । रविकीर्तिं स्वसेनान्यं हरिणध्वजमादिशत् ॥ ५३१ ॥
युद्धायास्फाल्यतां भेरी शत्रुपक्षक्षयावहा । इत्यादिष्टस्तदैवासौ तथा कृत्वाखिलं बलम् ॥ ५३२ ॥
कालान्ते कालदूतो वा सहसैकीचकार तत् । अथ निर्गत्य लङ्काया विभक्तनिजसाधनः ॥ ५३३ ॥
सुकुम्भेन निकुम्भेन कुम्भकर्णेन चापरैः । सहजैरिन्द्रजिन्मुख्यैरिन्द्राख्येनेन्द्रकीर्तिना ॥ ५३४ ॥
इन्द्रवर्माभिधानेन तनुजैरपरैरपि । महामुखातिकायाख्य[3]दुर्मुखाख्यैर्महाबलैः ॥ ५३५ ॥
खरदूषणधूमाख्यप्रमुखैश्च खगेश्वरैः । [4]इव क्रूरग्रहैर्भास्वान्नैदाघः परिवारितः ॥ ५३६ ॥
त्रिजगद्ग्रसनालोलकालक्रीडां विडम्बयन् । न तौ मम पुरः स्थातुं समर्थौ रामलक्ष्मणौ ॥ ५३७ ॥
तिष्ठतः शशगोमायू किं पुनः संहतौ हरेः । अरावणं भवेदद्य जगद्वैतत्सतोस्तयोः ॥ ५३८ ॥
सहावश्यमहं ताभ्यां पालयामि महीं नहि । इत्याद्यतर्कितायातनिजामङ्गलमालपन् ॥ ५३९ ॥

पुण्योदयसे इतने समय तक आपका वाञ्छित कार्य किया परन्तु अब आपका पुण्य क्षीण हो गया है इसलिए आपके कहे अनुसार कार्य करनेमें हम समर्थ नहीं हैं। जब उक्त विद्या-देवताओंने रावणसे इस प्रकार स्पष्ट कह दिया तब रावण उनसे कहने लगा कि आप लोग जा सकती हैं, आप नीच देवता हैं, आपसे मेरा कौन-सा कार्य सिद्ध होनेवाला है? मैं अपने पुरुषार्थसे ही इन मनुष्यरूपी हरिणोंको विद्याधरोंके साथ-साथ अभी मार डालता हूँ॥ ५२६-५२७ ॥ सहायकोंके द्वारा सिद्ध किया हुआ कार्य अभिमानी मनुष्योंके लिए लज्जा उत्पन्न करता है। इस प्रकार क्रुद्ध होकर रावण उसी समय इन्द्रजित्के साथ नगरमें आ गया। देखो, जिसका पुण्य नष्ट हो चुकता है ऐसे दुश्चरित्र मनुष्यका भूत और भावी सब नष्ट हो जाता है। नगरमें आने-पर उसने परिवारके लोगोंसे ज्ञात किया कि शत्रुओंने लंकाको घेर लिया है॥ ५२८-५२९ ॥ उस समय रावण कहने लगा कि समयकी विपरीतता तो देखो, हरिणोंने सिंहको घेर लिया है। अथवा जिनकी मृत्यु निकट आ जाती है उनके स्वभावमें विभ्रम हो जाता है॥ ५३० ॥ इस प्रकार किसी ऊँचे हाथीपर आक्रमण करनेवाले सिंहके समान गरजते हुए रावणने हरिण-की ध्वजा धारण करनेवाले अपने रविकीर्ति नामक सेनापतिको आदेश दिया॥ ५३१ ॥ कि युद्धके लिए शत्रुपक्षका क्षय करनेवाली भेरी बजा दो। उसने उसी प्रकार रणभेरी बजा दी और कल्पकालके अन्तमें यमराजके दूतके समान अपनी समस्त सेना इकट्ठी की। तदनन्तर सेनाका अलग-अलग विभाग कर रावण लंकासे बाहर निकला॥ ५३२-५३३ ॥ उस समय वह सुकुम्भ, निकुम्भ, कुम्भकर्ण तथा अन्य भाइयोंमें सबसे मुख्य इन्द्रजित्, इन्द्रकीर्ति, इन्द्रवर्मा तथा अन्य राजपुत्रोंसे एवं महाबलवान् महामुख, अतिकाय, दुर्मुख, खरदूषण और धूम आदि प्रमुख विद्याधरोंसे घिरा हुआ था अतः दुष्ट ग्रहोंसे घिरे हुए ग्रीष्म ऋतुके सूर्यके समान जान पड़ता था और तीनों जगत्को ग्रसनेके लिए सतृष्ण यमराजकी लीलाको विडम्बित कर रहा था। वह कह रहा था कि राम और लक्ष्मण मेरे सामने खड़ा होनेके लिए समर्थ नहीं हैं। अरे, बहुत-से खरगोश और शृगाल इकट्ठे हो जावें तो क्या वे सिंहके सामने खड़े रह सकते हैं? आज उनके जीतेजी यह संसार रावणसे रहित भले ही हो जाये परन्तु मैं उनके साथ इस पृथिवीका पालन कदापि नहीं करूँगा। इस प्रकार अतर्कित रूपसे उपस्थित अपने अमंगलको

१ दुश्चेष्टस्याप्तपुण्यस्य ख० । २ च नश्यति ख० । ३ कार्याख्यः ख०, क०, घ०, म० । कामाख्यः ग० ।
४ इति ग० ।

कालमेघमहागन्धगजस्कन्धमधिष्ठितः । प्रतिवातहतप्रोद्यद्राक्षसध्वजराजितः ॥ ५४० ॥
अग्रेसरस्फुरच्चक्रछत्रस्थगितभास्करः । नानानूनानकध्वानबधिराशामेकप्रश्रुतिः ॥ ५४१ ॥
खेचराधीश्वरो योद्धुं सन्नद्धोऽस्थान्मदोद्धतः । इतो रामस्तदायानकथाकर्णनघूर्णितः ॥ ५४२ ॥
दुर्निवारो रिपुं कोपपावकेनेव निर्दहन् । चक्षुःप्रान्तविनिर्गच्छत् ज्वलदृष्टिशराशिखावलीः ॥ ५४३ ॥
उल्मुकालीरिवायोद्धुं विक्षिपन् दिक्षु मंक्षु सः । महाविद्यासमूहाप्तपञ्चमाङ्गबलान्वितः ॥ ५४४ ॥
तालध्वजः समारुह्य गजमञ्जनपर्वतम् । लक्ष्मणो [२]वलयाकलितविषधृद्गरुडध्वजः ॥ ५४५ ॥
उदयाद्रिमिवारुह्य गजं विजयपर्वतम् । जिनेशिनं प्रणम्यैतौ विश्वविघ्नविनाशनम् ॥ ५४६ ॥
सुग्रीवानिलपुत्रादिखगेशैः परिवेष्टितौ । सूर्याचन्द्रमसौ वैरितमो हन्तुं समुद्यतौ ॥ ५४७ ॥
भासमानौ नयौ वोभौ दृप्तदुर्मतिघातिनौ । रावणाभिमुखं योद्धुं विभज्य ध्वजिनीं निजाम् ॥ ५४८ ॥
युद्धभूमिमधिष्ठाय तस्थतुस्त्रासितद्विषौ । तत्र तूर्यमहाध्वानाः प्रतिसेनानकध्वनिम् ॥ ५४९ ॥
निर्भर्त्सयन्तो बोद्दण्डनिष्ठुरप्रहतेर्भयात् । गुहागह्वरदेशादीन् विशन्तो वा समन्ततः ॥ ५५० ॥
गजबृंहितवाहोरुहेषाघोषाविशेषतः । वर्धयन्तो भटानां च सुतरां शौर्यसंपदम् ॥ ५५१ ॥
द्विषां भयं प्रकुर्वन्तो नभोमार्गमरोधयन् । तदाविष्कृतसंरम्भाः कलत्राणीव दुर्जयाः ॥ ५५२ ॥
हस्ताग्रमितमध्यानि नवाम्भोदकुलानि वा । सशराणि मनांसीव गुणनम्राणि धीमताम् ॥ ५५३ ॥

वह रावण स्वयं कह रहा था ॥ ५३४–५३६ ॥ उस समय वह कालमेघ नामक महा मदोन्मत्त हाथीके ऊपर सवार था, प्रतिकूल (सामनेकी ओरसे आनेवाली) वायुसे ताड़ित होकर फहराती हुई राक्षसध्वजाओंसे सुशोभित था, उसके आगे-आगे चक्ररत्न देदीप्यमान हो रहा था, उसके छत्रसे सूर्य आच्छादित हो गया था—सूर्यका आतप रुक गया था और उसने अपने अनेक प्रकारके बड़े-बड़े नगाड़ोंके शब्दसे दिग्गजोंके कान बहरे कर दिये थे। इस प्रकार उस ओर मदसे उद्धत हुआ रावण युद्धके लिए तैयार होकर खड़ा हो गया और इस ओर रामचन्द्र उसके आनेकी बात सुनकर क्रोधसे झूमने लगे ॥५४०–५४२॥ वह उस समय अत्यन्त दुर्निवार थे और क्रोधरूपी अग्निके द्वारा मानो शत्रुको जला रहे थे। उनके नेत्रोंके समीपसे जो जलती हुई दृष्टि निकल रही थी वह बाणोंके समान जान पड़ती थी और उसे वे जलते हुए अंगारोंके समान युद्ध करनेके लिए दिशाओंमें बड़ी शीघ्रतासे फेंक रहे थे। महाविद्याओंके समूहसे जो उन्हें सेनाका पाँचवाँ अंग प्राप्त हुआ था वे उससे सहित थे। उनकी तालकी ध्वजा थी और वे अंजनपर्वत नामक हाथीपर सवार होकर निकले थे। साथ ही, जिसकी ध्वजामें वलयाकार साँपको पकड़े हुए गरुड़का चिह्न बना है ऐसा लक्ष्मण भी विजयपर्वत नामक हाथीपर सवार होकर निकला। इन दोनोंने पहले तो समस्त विघ्न नष्ट करनेवाले श्री जिनेन्द्रदेवको नमस्कार किया और फिर दोनों ही सुग्रीव तथा अणुमान् आदि विद्याधरोंसे वेष्टित हो सूर्य-चन्द्रमाके समान शत्रुरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए चल पड़े ॥ ५४३–५४७ ॥ वे दोनों भाई नयोंके समान सुशोभित थे और दृप्त तथा दुर्बुद्धियोंका घात करनेवाले थे। रावणके सामने युद्ध करनेके लिए उन्होंने अपनी सेनाका विभाग कर रखा था, इस प्रकार शत्रुओंको भयभीत करते हुए वे युद्ध-भूमिमें जाकर ठहर गये। वहाँ इनके नगाड़ोंके बड़े भारी शब्द शत्रुओंके नगाड़ोंके शब्दोंको तिरस्कृत कर रहे थे सो ऐसा जान पड़ता था कि मानो वे शब्द ऊँचे उठते हुए दण्डोंके कठोर प्रहारसे भयभीत हो गुहा अथवा गढ़े आदि देशोंमें सब ओरसे प्रवेश कर रहे हों—छिप रहे हों ॥ ५४८–५५० ॥ हाथियोंकी चिंघाड़ें और घोड़ोंके हींसनेके शब्द विशेष रूपसे योद्धाओंकी शूर-वीरता रूप सम्पत्तिको अच्छी तरह बढ़ा रहे थे ॥ ५५१ ॥ उस समय जो आरम्भ प्रकट हो रहे थे वे शत्रुओंको भयभीत करते हुए आकाश-मार्गको रोक रहे थे और स्त्रियोंके समान दुर्जय थे ॥ ५५२ ॥ धनुष धारण करनेवाले लोग अपने-अपने धनुष लेकर निकले थे। उन धनुषोंका मध्यम

१ अग्रसरच०। २ 'वलयाकारसर्पसहितगरुडपताका:' (म पुस्तके टिप्पणी) 'लक्ष्मणोऽपि मुखालम्बिविष-धृद्गरुडध्वजः' ल०।

दुरुक्तवचनानीव हृद्भेदीनि दूरतः । दिग्व्यापिमौर्वीनादत्वात् कोपहुङ्कारवन्ति वा ॥ ५५४ ॥
कर्णाभ्यर्णप्रवर्तित्वाज्जिगदन्तीव मन्त्रणम् । कृच्छ्रकृत्येऽप्यभङ्गत्वात्सङ्गतानीव सज्जनैः ॥ ५५५ ॥
शरासनानि संधार्य निरगच्छन् धनुर्धराः । खड्गवर्मधरा [1]धीरमहाश्च पटुराविणः ॥ ५५६ ॥
घनान् सतडितः कृष्णान् गर्जिनो विजिगीषवः । [2]नानाप्रहरणोपेता नानायुद्धविशारदाः ॥ ५५७ ॥
परे च परितः प्रापुर्योद्धुं परबलं भटाः । अतिद्रुताः खुराघातैर्दारयन्त इवावनिम् ॥ ५५८ ॥
सचामरा महीशा वा समहामणिपीठकाः । आमृतेरिष्टभृत्या वा स्वस्वामिहितकारिणः ॥ ५५९ ॥
भुञ्जाना इव सग्रासा मधुरैः किङ्किणीरवैः । विजयं वा स्वसैन्यस्य घोषयन्तो निरन्तरम् ॥ ५६० ॥
सपक्षा इव संपन्नकङ्कटा गगनान्तरम् । लिलङ्घयिषवो [3]लालाजलफेनप्रसूनकैः ॥ ५६१ ॥
स्वपादनटनृत्यार्थमर्चयन्तो धरामिव । हया यवनकाश्मीरवाह्लीकादिसमुद्भवाः ॥ ५६२ ॥
स्फुरदुत्खातखड्गांशुविकसत्सादिधिष्ठिताः । महासैन्याब्धिसंभूततरङ्गाभा विनिर्गताः ॥ ५६३ ॥
द्विषो भीषयितुं वोच्चैर्हेषाघोषैर्विभीषणैः । स्वानुकूलानिलाः शस्त्रभाण्डाः प्रोद्दण्डकेतवः ॥ ५६४ ॥
संग्रामाम्भोनिधेः पोता प्रचेलुः पृथवो रथाः । चक्रेणैकेन चेच्चक्री विक्रमी नस्तयोर्द्वयम् ॥ ५६५ ॥
मत्वेति वा द्रुतं पेतुर्दिक्चक्राक्रमिणो रथाः । नायकाधिष्ठिताः शस्त्रैः संपूर्णास्तूर्णवाजिनः ॥ ५६६ ॥

भाग हाथके अग्रभागके बराबर था, वे नये बादलोंके समूहके समान जान पड़ते थे, बाण सहित थे, बुद्धिमान् पुरुषोंके मनके समान गुण—डोरी (पक्षमें दया दाक्षिण्य आदि गुणों) से नम्र थे, कठोर वचनोंके समान दूरसे ही हृदयको भेदन करनेवाले थे, उनकी प्रत्यंचाका शब्द दिशाओंमें फैल रहा था अतः ऐसे जान पड़ते थे मानो क्रोध वश हुंकार ही कर रहे हों, खिंचकर कानोंके समीप तक पहुँचे हुए थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो कुछ मन्त्र ही कर रहे हों, और सज्जनोंकी संगतिके समान वे कठिन कार्य करते हुए भी कभी भग्न नहीं होते थे ऐसे धनुषोंको धारण कर धनुर्धारी लोग बाहर निकले। कुछ धीर वीर योद्धा तलवार और कवच धारण कर जोर-जोरसे चिल्ला रहे थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो बिजली सहित गरजते हुए काले मेघोंको ही जीतना चाहते हों। इनके सिवाय नाना प्रकारके हथियारोंसे सहित नाना प्रकार युद्ध करनेमें चतुर अन्य अनेक योद्धा भी चारों ओरसे शत्रुओंकी सेनाके साथ युद्ध करनेके लिए आ पहुँचे। उनके साथ जो घोड़े थे वे बड़े वेगसे चल रहे थे और उनके खुरोंके आघातसे मानो पृथिवीको विदार रहे थे ॥ ५५३–५५८ ॥ वे घोड़े चमरोंसे सहित थे तथा महामणियोंसे बनी हुई पीठ (काठी) से युक्त थे अतः राजाके समान जान पड़ते थे। अथवा किसी इष्ट–विश्वासपात्र सेवकके समान मरण-पर्यन्त अपने स्वामीका हित करनेवाले थे ॥५५९॥ उनके मुखमें घासके ग्रास लग रहे थे जिससे भोजन करते हुए-से जान पड़ते थे और छोटी-छोटी घंटियोंके मनोहर शब्दोंसे ऐसे मालूम हो रहे थे मानो निरन्तर अपनी जीतकी घोषणा ही कर रहे हों ॥ ५६० ॥ वे घोड़े कवच पहने हुए थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो पंखोंसे युक्त होकर आकाशके मध्यभागको ही लाँघना चाहते हों। उनके मुखोंसे लार रूपी जलका फेन निकल रहा था जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने पैररूपी नटोंके नृत्य करनेके लिए फूलोंसे पृथिवीकी पूजा ही कर रहे हों। वे घोड़े यूनान, काश्मीर और बाह्लीक आदि देशोंमें उत्पन्न हुए थे, उनपर ऊँची उठायी हुई देदीप्यमान तलवारोंकी किरणोंसे सुशोभित घुड़सवार बैठे हुए थे, वे महासेनारूपी समुद्रमें उत्पन्न हुई तरंगोंके समान इधर-उधर चल रहे थे, और भय उत्पन्न करनेवाले जोर-जोरसे हींसनेके शब्दोंसे शत्रुओंको भयभीत करनेके लिए ही मानो निकले हुए थे। इनके सिवाय वायु जिनके अनुकूल चल रही है जिसमें शस्त्ररूपी बर्तन भरे हुए हैं, जिनपर ऊँचे दण्ड वाली पताकाएँ फहरा रही हैं, और संग्रामरूपी समुद्रके जहाजके समान जान पड़ते हैं ऐसे बड़े-बड़े रथ भी वहाँ चल रहे थे। चक्रवर्ती रावण यदि एक चक्रसे पराक्रमी है तो हमारे पास ऐसे दो चक्र विद्यमान हैं ऐसा समझ कर समस्त दिशाओंमें आक्रमण करनेवाले रथ वहाँ बड़ी तेजीसे आ रहे थे। जिनके भीतर उनके स्वामी बैठे हुए

१ धीरभटाश्च म० । २ नानाप्रहारणोपेता ख० । ३ लोला ख० ।

संनद्धाः सन्तु नो युद्धे बद्धकक्षाः कथं रथाः। धावन्तु पत्तयो वाहा गजाश्चैभिः किमातुरैः ॥ ५६७ ॥
जयोऽस्मास्विति वा मन्दं सभराः स्यन्दना ययुः। सन्मार्गगामिभिः शस्त्रधारिभिश्चक्रवर्तिभिः ॥५६८॥
रथैर्दिक्चक्रमाक्रान्तं तैर्द्विचक्रं किमुच्यते। महीधरनिभैः पूर्वकायैरौदग्र्यधारिणः ॥ ५६९ ॥
पश्चात्प्रसारिताग्राङ्गुली विकङ्कय[1] स्वपेचकाः। अम्भोरुहाकरा बोधद्रक्तपुष्करशोभिनः ॥ ५७० ॥
परप्रणेयवृत्तित्वादर्भकानुविधायिनः। रुषेवोत्थापयन्तोऽलीन् कर्णतालैः कटस्थितान् ॥ ५७१ ॥
सबलाका इवाम्भोदाः समुद्यद्धवलध्वजैः। केचित्परमदामोदमाघ्रायाम्भोदवर्त्मनि ॥ ५७२ ॥
करैः प्रविकसत्पुष्करैस्तैर्योद्धुं समुद्यताः। निशितोद्ग्राङ्कुशाघातदलन्निर्याण[2]वारिताः ॥ ५७३ ॥
मुहुर्विधूतमूर्द्धानः करेणुगणसंनिधौ। प्रशान्तीभूतसंरम्भा [3]महामात्राद्यधिष्ठिताः ॥ ५७४ ॥
मातङ्गास्तुङ्गदेहत्वादाक्रामन्त इवाखिलम्। सर्वतो निर्ययुर्वोच्चैर्जङ्गमा धरणीधराः ॥ ५७५ ॥
केतवश्चानुकूलानिलेरिता [4]विद्विषं प्रति। चेलुर्दण्डान् परित्यज्य पुरो योद्धुमिवोद्यताः ॥ ५७६ ॥
नभसः शुद्धरूपस्य मालं जलधराकृतिम्। अथवापनयन्तो वा संच्छादितरवित्विषः ॥ ५७७ ॥
धृतदण्डप्रवृत्तित्वाद् वयोलीलानुकारिणः। काले विमुक्तिमत्त्वाच्च मुनिमार्गानुसारिणः ॥ ५७८ ॥
बलावष्टम्भखिन्नावनीनिःश्वसितसंनिभे। मिथ्याज्ञान इवाशेषबोधविध्वंसकारणे ॥ ५७९ ॥

हैं, जो अनेक शस्त्रोंसे परिपूर्ण हैं और जिनमें शीघ्रतासे चलनेवाले वेगगामी घोड़े जुते हुए हैं ऐसे तैयार खड़े हुए हमारे रथ युद्धके लिए बद्धकक्ष क्यों न हों? पैदल चलनेवाले सिपाही, घोड़े और हाथी भले ही आगे दौड़ते चले जावें पर इन व्यग्र प्राणियोंसे क्या होने-वाला है? विजय तो हम लोगोंपर ही निर्भर है। यह सोचकर ही मानो बोझसे भरे रथ धीरे-धीरे चल रहे थे। सन्मार्गपर चलनेवाले, शस्त्रोंके धारक एक चक्रवाले चक्रवर्तियोंने जब समस्त दिशाओंपर आक्रमण किया था तब दो चक्रवाले रथोंने समस्त दिशाओंपर आक्रमण किया इसमें आश्चर्य ही क्या है? जिनकी पूँछका मूलभाग पीछेकी ओर पसारी हुई अगली अंगुलीके समान था अर्थात् कुछ ऊँचेकी ओर उठ रहा था जो ऊपरकी ओर उठते हुए सूँड़के लाल-लाल अग्रभागसे सुशोभित थे और इसीलिए जो कमलोंके सरोवरके समान जान पड़ते थे। जिनकी वृत्ति परप्रणेय थी—दूसरोंके आधीन थी अतः जो बच्चोंके समान जान पड़ते थे, जो अपने गण्डस्थलोंपर स्थित भ्रमरोंको मानो क्रोधसे ही कानरूपी पंखोंकी फटकारसे उड़ा रहा थे। उड़ती हुई सफेद ध्वजाओंसे जो बग-लाओंकी पंक्तियों सहित काले मेघोंके समान जान पड़ते थे, जिनमें कितने ही हाथी दूसरे हाथियोंके मदकी सुगन्ध सूँघकर आकाशमें खिले हुए कमलके समान अग्रभागवाली सूँड़ोंसे युद्ध करनेके लिए तैयार हो रहे थे, जो पैनी नोकवाले अंकुशोंकी चोटसे अपांग प्रदेशमें घायल होनेके कारण युद्ध-क्रियासे रोके जा रहे थे, जो हथिनियोंके समूहके समीप बार-बार अपना मस्तक हिला रहे थे, जिनका सब क्रोध शान्त हो गया था, जिनपर प्रधान पुरुष बैठे हुए थे और जो उन्नत शरीर होनेके कारण समस्त संसारपर आक्रमण करते हुए-से जान पड़ते थे ऐसे चलते-फिरते पर्वतोंके समान ऊँचे-ऊँचे हाथी सब ओरसे निकलकर चल रहे थे ॥५६१–५७५॥ उस समय अनुकूल पवनसे प्रेरित ध्वजाएँ शत्रुओंकी ओर ऐसी जा रही थीं मानो दण्डोंको छोड़कर पहले ही युद्ध करनेके लिए उद्यत हो रही हों ॥५७६॥ अथवा सूर्यकी किरणोंको ढकनेवाली वे ध्वजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो निर्मल आकाशमें जो मेघरूपी मैल छाया हुआ था उसे ही दूर कर रही हों ॥५७७॥ अथवा वे ध्वजाएँ दण्ड धारण कर रही थीं अर्थात् दण्डोंमें लगी हुई थीं इसलिए वृद्ध पुरुषोंका अनुकरण कर रही थीं अथवा समयपर मुक्त होती थीं—खोलकर फहरायी जाती थीं इसलिए मुनिमार्गका अनुसरण करती थीं ॥५७८॥ उस समय धूलि उड़कर चारों ओर फैल गयी थी और वह ऐसी जान पड़ती थी मानो सेनाके बोझसे खिन्न हुई पृथिवी साँस ही ले रही

---

१ 'उल्के करिणः पुच्छमूलोपान्ते च पेचकः' इत्यमरः। २ 'अपाङ्गदेशो निर्याणम्' इत्यमरः। ३ 'महामात्राः प्रधानानि' इत्यमरः। ४ विद्विषः ख०।

महाभये वा संत्रासे रणविघ्नविधायिनि । पुरानर्जितपुण्ये वा समस्तनयनाप्रिये ॥ ५८० ॥
रजस्येवं नभोभागकक्षिन्याहितरंहसि । मूर्छितं गर्भगं कुड्यलिखितं चाभिशब्द्य तत् ॥ ५८१ ॥
बलं [1]कलकलं किंचिद्विचेष्टमभवत्तदा । विध्वस्तवैरिभूपालचित्तक्षोभोपमे शनैः ॥ ५८२ ॥
पृथौ तस्मिन् रजःक्षोभे प्रशान्ते सति सक्रुधः । प्रस्पष्टदृष्टिसंचाराः सेनानायकचोदिताः ॥ ५८३ ॥
गतिं प्रपातसंशुद्धा नवाब्दा वा धनुर्धराः । शरवृष्टिं विमुञ्चन्तो हृदयानि विरोधिनाम् ॥ ५८४ ॥
कुर्वन्ति स्मापरागाणि सङ्कटाभे रणाङ्गणे । युद्ध्यन्ते स्माहवोत्साहास्तेऽपि तैरिव चोदिताः ॥ ५८५ ॥
द्विषतो वा न सत्त्वाभिव्यक्तिः स्यात्सुहृदः सताम् । मया मज्जीवितुं दातुं नृपाज्जीवितमाददे ॥ ५८६ ॥
तस्य कालोऽयमित्येको व्यतरत्तरणं रणे । भृत्यकृत्यं यशः शूरगतिश्चात्र त्रयं[2] फलम् ॥ ५८७ ॥
पुरुषार्थत्रयं चैतदेवेत्यन्योन्ययुध्यते । नास्मद्बले मृतिं वीक्षे कस्यापि स पराभवः ॥ ५८८ ॥
ममेति मन्यमानोऽन्यः प्रागयुध्वाम्रियत स्वयम् । अयुध्यन्तैवमुत्क्रोधाः सर्वशस्त्रैरनारतम् ॥ ५८९ ॥
सव्यापसव्यमुक्तार्धमुक्तामुक्तैरनाकुलम् । [3]अमीतमार्गणेनैव मार्गणा मार्गमात्मनः ॥ ५९० ॥
मध्ये विधाय गत्वा द्राक् [4]परत्र पतिताः परे । [5]दूरं त्यक्त्वा गुणान्बाणैस्तीक्ष्णैः शोणितपायिभिः ॥ ५९१ ॥
ऋजुत्वाज्जहिरे प्राणान् गुणोऽपि न गुणः खले । न वैरं न फलं किंचित्तथाप्यघ्नन् शराः परान् ॥ ५९२ ॥

हो। अथवा पूर्ण ज्ञानको नाश करनेका कारण मिथ्याज्ञान ही फैल रहा हो ॥ ५७९ ॥ अथवा युद्धमें विघ्न करनेवाला कोई बड़ा भारी भय ही आकर उपस्थित हुआ था। जिसने पूर्वभवमें पुण्य संचित नहीं किया ऐसा मनुष्य जिस प्रकार सबके नेत्रोंके लिए अप्रिय लगता है इसी प्रकार वह धूलि भी सबके नेत्रोंके लिए अप्रिय लग रही थी ॥ ५८० ॥ इस प्रकार वेगसे भरी धूलि आकाशको उल्लंघन कर रही थी अर्थात् समस्त आकाशमें फैल रही थी। उस धूलिके भीतर समस्त सेना ऐसी हो गयी मानो मूर्छित हो गयी हो अथवा गर्भमें स्थित हो, अथवा दीवालपर लिखे हुए चित्रके समान निश्चेष्ट हो गयी हो। उसका समस्त कलकल शान्त हो गया। जिस प्रकार किसी पराजित राजाके चित्तका क्षोभ धीरे-धीरे शान्त हो जाता है उसी प्रकार जब वह धूलिका बहुत भारी क्षोभ धीरे-धीरे शान्त हो गया और दृष्टिका कुछ-कुछ संचार होने लगा तब सेनापतियोंके द्वारा जिन्हें प्रेरणा दी गयी है ऐसे क्रोधसे भरे योद्धा वर्षासे शुद्ध नये बादलोंके समान धनुष धारण करते हुए बाणोंकी वर्षा करने लगे और युद्धके मैदानमें शत्रु-योद्धाओंके हृदय राग-रहित करने लगे। सेनापतियोंके द्वारा प्रेरित हुए योद्धा बड़े उत्साहसे युद्ध कर रहे थे ॥ ५८१–५८५ ॥ सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंका बल शत्रुसे प्रकट नहीं होता किन्तु मित्रसे प्रकट होता है। मैंने अपना जीवन देनेके लिए ही राजासे आजीविका पायी है—वेतन ग्रहण किया है। अब उसका समय आ गया है यह विचार कर कोई योद्धा रणमें वह ऋण चुका रहा था। युद्ध करनेमें एक तो सेवकका कर्तव्य पूरा होता है, दूसरे यशकी प्राप्ति होती है और तीसरे शूर वीरोंकी गति प्राप्त होती है ये तीन फल मिलते हैं ॥ ५८६–५८७ ॥ तथा हम लोगोंके यही तीन पुरुषार्थ हैं यही सोचकर कोई योद्धा किसी दूसरे योद्धासे परस्पर लड़ रहा था। 'मैं अपनी सेनामें किसीका मरण नहीं देखूँगा क्योंकि वह मेरा ही पराभव होगा' यह मानता हुआ कोई एक योद्धा स्वयं सबसे पहले युद्ध कर मर गया था। इस प्रकार तीव्र क्रोध करते हुए सब योद्धा, दायें-बायें दोनों हाथोंसे छोड़ने योग्य, आधे छोड़ने योग्य, और न छोड़ने योग्य सब तरहके शस्त्रोंसे बिना किसी आकुलताके निरन्तर युद्ध कर रहे थे। दोनों ओरसे एक दूसरेके सम्मुख छोड़े जानेवाले बाण, बीचमें ही अपना मार्ग बनाकर बड़ी शीघ्रतासे एक दूसरेकी सेनामें जाकर पड़ रहे थे। गुण अर्थात् धनुषकी डोरीको छोड़कर दूर जानेवाले, तीक्ष्ण एवं खून पीनेवाले बाण सीधे होनेपर भी प्राणोंका घात कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट पुरुषमें रहनेवाले गुण, गुण नहीं कहलाते हैं। बाणोंका न तो किसीके साथ वैर था और न उन्हें कुछ फल ही मिलता था तो भी वे शत्रुओंका घात कर रहे थे ॥ ५८८–५९१ ॥ सो ठीक ही है क्योंकि जिनकी वृत्ति दूसरोंके द्वारा

१ (कलकलं यथा स्यात्, क० टि०) कालकलां काचित् ख० । २ फलत्रयम् ख० । ३ आनीत-ख०. म० । ४ परं प्रपतिताः ख० । ५ दूरे ख० ।

परप्रेरितवृत्तीनां तीक्ष्णानामीदृशी गतिः । [1]खगाः खगैः खगान् जघ्नुर्बद्धवैरा खगा इव ॥ ५९३ ॥
तृणाय मन्यमानाः स्वान् प्राणान् पापाः परस्परम् । [2]लक्ष्यबद्धास्मदृष्ट्यान्विताशुपातिशितैः शरैः ॥५९४॥
धन्विनः पातयन्ति स्म गिरीन्वा करिणो बहून् । एकैकैकः शरेणेभमवधीन्मर्मभेदिना ॥ ५९५ ॥
स्वीकुर्वन्त्यत एवान्यमर्मज्ञान् विजिगीषवः । प्रघातमूर्च्छितः कश्चित्प्रवहल्लोहितो भटः ॥ ५९६ ॥
आपतद् गृद्धपक्षानिलोत्थितोऽहन्बहून् पुनः । नीयमानमिवात्मानं वीक्ष्यान्यो देवकन्यया । ५९७ ।
सोत्सवः सहसोदस्थात्सहासो दरमूर्च्छितः । बाणाङ्किते रणतूर्यरणत्रङ्गे[3] निरन्तरम् ॥ ५९८ ॥
नृत्यत्कबन्धके सद्यः शरच्छादितमण्डपे । बद्धान्त्रमालमालोऽन्यो [4]बहलासाजत्राचितः ॥ ५९९ ॥
राक्षसेन विवाहेन वीरलक्ष्मीं समाक्षिपत् । डाकिन्यश्चटुलं नेटुरारुवन् भैरवं शिवाः ॥ ६०० ॥
ऊर्ध्ववक्त्रवमद्वह्निविस्फुलिङ्गविभीषणाः[5] । उत्क्षिप्तकर्तिकाजालचलकौलकपालभृत् ॥ ६०१ ॥
अतिपातनिपीतास्रमवमीद् राक्षसीगणः । निशातशरनाराचचक्राद्युपनिपातनात् ॥ ६०२ ॥
निःप्रभं निःप्रतापं च तदाभूदर्कमण्डलम् । स्याद्वादिभिः समाक्रान्तकुवादिकुलवत्तदा ॥ ६०३ ॥
दशाननबलान्यापन् भङ्गं राघवसैनिकैः । इति प्रवृत्ते संग्रामे सुचिरं तद्रणाङ्गणे ॥ ६०४ ॥
मृताः केचित्पुनः केचित् प्रहृताः प्राणमोक्षणे । अक्षमाः पापकर्माणः स्थिताः कण्ठगतासवः ॥ ६०५ ॥
समवर्ती नरान् सर्वान् प्रस्वान् जरयितुं सदा । निःशक्तिर्वान्तवानेतानिति शङ्काविधायिनः ॥ ६०६ ॥

प्रेरित रहती हैं ऐसे तीक्ष्ण (पैने-कुटिल) पदार्थोंकी ऐसी ही अवस्था होती है। जिनका परस्पर वैर बँधा हुआ है ऐसे अनेक विद्याधर पक्षियोंके समान अपने प्राणोंको तृणके समान मानते हुए बाणोंके द्वारा परस्पर विद्याधरोंका घात कर रहे थे ।। ५९२–५९४ ।। धनुष धारण करनेवाले कितने ही योद्धा लक्ष्यपर लगायी हुई अपनी दृष्टिके साथ-ही-साथ शीघ्र पड़नेवाले तीक्ष्ण बाणोंके द्वारा पर्वतोंके समान बहुत-से हाथियोंको मारकर गिरा रहे थे। किसी एक योद्धाने अपने मर्मभेदी एक ही बाणसे हाथीको मार गिराया था सो ठीक ही है क्योंकि इसीलिए तो विजयकी इच्छा करनेवाले शूर-वीर दूसरेका मर्म जाननेवालोंको स्वीकार करते हैं—अपने पक्षमें मिलाते हैं। कोई एक योद्धा चोटसे मूर्च्छित हो खूनसे लथ-पथ हो गया था तथा आये हुए गृद्ध पक्षियोंके पंखोंकी वायुसे उठकर पुनः अनेक योद्धाओंको मारने लगा था। कोई एक अल्प मूर्च्छित योद्धा, अपने आपको देवकन्या-द्वारा ले जाया जाता हुआ देख उत्सवके साथ हँसता हुआ अकस्मात् उठ खड़ा हुआ। जो बाणोंसे भरा हुआ है, जिसमें रणके मारू बाजे गूँज रहे हैं, जिसमें निरन्तर सिर रहित धड़ नृत्य कर रहे हैं, और जिसमें बाणोंका मण्डप छाया हुआ है ऐसे युद्ध-स्थलमें जिसकी सब अँतड़ियोंका समूह बँध रहा है और जो बहुत-से खूनके प्रवाहसे पूजित है ऐसे किसी एक योद्धाने राक्षस-विवाहके द्वारा वीर-लक्ष्मीको अपनी ओर खींचा था। उस युद्धस्थलमें डाकिनियाँ बड़ी चपलतासे नृत्य कर रही थीं और शृगाल भयंकर शब्द कर रहे थे। वे शृगाल ऊपरकी ओर किये हुए मुखोंसे निकलनेवाले अग्निकी चिनगारियों (तिलगों) से बहुत ही भयंकर जान पड़ते थे। जिसकी कैंचियोंका समूह ऊपरकी ओर उठ रहा है और जो चंचल कपालोंको धारण कर रहा है ऐसा राक्षसियोंका समूह बहुत अधिक पिये हुए खूनको उगल रहा था। अत्यन्त तीक्ष्ण बाण, नाराच और चक्र आदि शस्त्रोंके पड़नेसे उस समय सूर्यका मण्डल भी प्रभाहीन तथा कान्तिरहित हो गया था। जिस प्रकार स्याद्वादियोंके द्वारा आक्रान्त हुआ मिथ्यावादियोंका समूह पराजयको प्राप्त होता है उसी प्रकार उस समय रामचन्द्रजीके सैनिकोंके द्वारा आक्रान्त हुई रावणकी सेनाएँ पराजयको प्राप्त हो रही थीं। इस प्रकार उस रणांगणमें संग्राम प्रवृत्त हुए बहुत समय हो गया ।।५९५-६०४।। उस युद्धमें कितने ही लोग मर गये, कितने ही घायल हो गये, और कितने ही पापी, प्राण छोड़नेमें असमर्थ हो कण्ठगत प्राण हो गये ।। ६०५ ।। उस समय वे मरणासन्न पुरुष ऐसा सन्देह उत्पन्न कर रहे थे कि यमराज

---

१ नाना खगाः खगैः ल० । २ लक्ष्याबद्धा क०, ख०, घ०, ग०, म० । ३ निरन्तरे ख०, ग० । ४ प्रवरवधिरक्षरणर्चितः । ५ विभीषणः ल० ।

कृतस्ततो भटा व्यस्ताः सङ्गरे जर्जराङ्गकाः । भयमन्यन्तकस्यापि [1]वीक्षमाणस्य भीरसम् ॥६०७॥
वाजिनोऽत्र समुच्छिन्नचरणाः सत्त्वशालिनः । अङ्गेनैव समुत्थातुमुद्यच्छन्ति स्मोर्जितौजसः ॥६०८॥
[2]भमानिभा भटोन्मुक्तशरनाराचकीलिताः । प्रक्षरद्धातुनिष्यन्दगिरयो बालवेणवः ॥६०९॥
चक्राद्यवयवैर्भग्नैर्विक्षिप्ता सर्वतो रथाः । भान्ति स्म भिन्नपोता वा रणसंग्रामाब्धिमध्यगाः ॥६१०॥
दिनान्येवं बहून्यासीत् संग्रामो बलयोर्द्वयोः । प्रायेण विमुखे दैवे स्वं बलं वीक्ष्य भङ्गुरम् ॥६११॥
संतप्तो मायया सीताशिरश्छेदं दशाननः । विधाय तव देवीयं गृहाणेति रुषाक्षिपत् ॥६१२॥
शिरस्तत्पश्यतो भर्तुर्हृदि मोहे कृतास्पदे । खेचरेश्वरसैन्यस्य समीक्ष्य समरोत्सवम् ॥६१३॥
सीतां शीलवतीं कश्चिदपि स्प्रष्टुं त्वया विना । शक्तो नास्ति दशास्यस्य मायेयं मात्र गाः शुचम् ॥६१४॥
नाथेति राघवं तथ्यमब्रवीद् रावणानुजः । विभीषणस्य तद्वाक्यं श्रद्धाय रघुनन्दनः ॥६१५॥
गजारिर्गजयूथं वा भास्करो वा तमस्ततिम् । बलं विभेदयामास सद्यो विद्याधरेशिनः ॥६१६॥
प्रकाशयुद्धमुज्झित्वा मायायुद्धविधित्सया । स पुत्रैः सह पौलस्त्यो लङ्घते स्म नभोऽङ्गणम् ॥६१७॥
तं वीक्ष्य तद्रणे दक्षौ दुरीक्ष्यं रामलक्ष्मणौ । गजारिविनतासूनुवाहिनीभ्यां[3] समुद्यतौ ॥६१८॥
सुग्रीवाणुमदाद्यात्मविद्याधरबलान्वितौ । रावणेन समं रामो लक्ष्मणोऽप्यग्रसूनुना ॥६१९॥
सुग्रीवः कुम्भकर्णेन मरुत्प्रविकीर्तिना । खरेण केसुरक्षादिरङ्गदश्चेन्द्रकेतुना ॥६२०॥

खाते समय तो सबको खा गया परन्तु वह खाये हुए समस्त लोगोंको पचानेमें समर्थ नहीं हो सका, इसलिए ही मानो उसने उन्हें उगल दिया था ॥६०६॥ जिनके अंग जर्जर हो रहे हैं ऐसे कितने ही योद्धा उस युद्धस्थलमें जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े हुए थे और वे देखनेवाले यमराजको भी भयानक रस उत्पन्न कर रहे थे—उन्हें देख यमराज भी भयभीत हो रहा था ॥६०७॥ जिनके पैर कट गये हैं ऐसे कितने ही प्रतापी एवं बलशाली घोड़े अपने शरीरसे ही उठनेका प्रयत्न कर रहे थे ॥६०८॥ योद्धाओंके द्वारा छोड़े हुए बाणों और नाराचोंसे कीलित हाथी ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनसे गेरूके निर्झर झर रहे हैं और जिनपर छोटे-छोटे बाँस लगे हुए हैं ऐसे पर्वत ही हों ॥६०९॥ चक्र आदि अवयवोंके टूट जानेसे सब ओर बिखरे पड़े रथ ऐसे जान पड़ते थे मानो उस संग्रामरूपी समुद्रके बीचमें चलनेवाले जहाज ही टूटकर बिखर गये हों ॥६१०॥ इस प्रकार उन दोनों सेनाओंमें बहुत दिन तक युद्ध होता रहा। एक दिन रावण भाग्यके प्रतिकूल होनेसे अपनी सेनाको नष्ट होती देख बहुत दुःखी हुआ। उसी समय उसने मायासे सीताका सिर काटकर 'लो, यह तुम्हारी देवी है ग्रहण करो' यह कहते हुए क्रोधसे रामचन्द्रजीके सामने फेंक दिया ॥६११-६१२॥ इधर सीताका कटा हुआ सिर देखते ही रामचन्द्रजीके हृदयमें मोहने अपना स्थान जमाना शुरू किया और उधर रावणकी सेनामें युद्धका उत्सव होना शुरू हुआ। यह देख, विभीषणने रामचन्द्रजीसे सच बात कही कि शीलवती सीताको आपके सिवाय कोई दूसरा छूनेके लिए भी समर्थ नहीं है। हे नाथ, यह रावणकी माया है अतः आप इस विषयमें शोक न कीजिए। विभीषणकी इस बातपर विश्वास रखकर रामचन्द्रजी रावणकी सेनाको शीघ्र ही इस प्रकार नष्ट करने लगे जिस प्रकार कि सिंह हाथियोंके समूहको अथवा सूर्य अन्धकारके समूहको नष्ट करता है ॥६१३-६१६॥ अब रावण खुला युद्ध छोड़कर माया-युद्ध करनेकी इच्छासे अपने पुत्रोंके साथ आकाशरूपी आँगनमें जा पहुँचा ॥६१७॥ उस माया-युद्धमें रावणको दुरीक्ष्य (जो देखा न जा सके) देखकर, अत्यन्त चतुर राम और लक्ष्मण, सिंहवाहिनी तथा गरुड़वाहिनी विद्याओंके द्वारा अर्थात् इन विद्याओंके द्वारा निर्मित—आकाशगामी सिंह और गरुड़पर आरूढ़ होकर युद्ध करनेके लिए उद्यत हुए। सुग्रीव, अणुमान् आदि अपने पक्षके समस्त विद्याधरोंकी सेना भी उनके साथ थी। रावणके साथ रामचन्द्र, इन्द्रजीतके साथ लक्ष्मण, कुम्भकर्णके साथ सुग्रीव, रविकीर्तिके साथ अणुमान्; खरके साथ कमलकेतु, इन्द्रकेतुके

१ वीक्ष्यमाणस्य क०, ख०, ग०, म०। २ 'भमान् इभाः' इति पदच्छेदः भमान्-शोभन्ते स्म, इभा गजाः। ३ विनीताभ्यां ल०।

इन्द्रवर्माभिधानेन कुमुदो युद्धविश्रुतः । खरदूषणनाम्नापि नीलो मायाविशारदः ॥६२१॥
एवमन्येऽपि तैरन्ये रामभृत्या रणोद्धताः । दशास्यनायकैः सार्द्धं मायायुद्धमकुर्वत[1] ॥६२२॥
तदा रामेण संग्रामे परिभूतं[2] दशाननम् । अवलोक्येन्द्रजिन्मध्यं प्राविशद्वास्य जीवितम् ॥६२३॥
तं [3]शक्त्यापातयद् रामस्तं निरीक्ष्य खगाधिपः । कुपित्वाधावदुद्दिश्य सशस्त्रं लक्ष्मणाग्रजम् ॥६२४॥
तन्मध्ये लक्ष्मणस्तूर्णमभूत्तं दशकन्धरः । मायागजं समारुह्य व्यधान्नाराचपञ्जरं ॥६२५॥
[4]प्रहारावरणेनापि प्रतापी गरुडध्वजः । सिंहपोत इव दृप्तो दुर्निवारोऽरिवारणैः ॥६२६॥
तत्पञ्जरं विभिद्यासौ निर्ययौ निजविद्यया । दृष्ट्वा तद्रावणः क्रुध्वा प्रतीतं चक्रमादिशत् ॥६२७॥
सिंहनादं तदा कुर्वन् गगने नारदादयः । बाहौ प्रदक्षिणीकृत्य दक्षिणे स्वस्य तिष्ठता ॥६२८॥
चक्रेण विक्रमेणेव मूर्तीभूतेन चक्रिणा । तेन तेन शिरोऽग्राहि त्रिखण्डं वा खगेशितुः ॥६२९॥
सोऽपि प्रागेव बद्धायुर्दुराचाराद्धोगतिम् । प्रापद्दापत्करी घोरां पापिनां का परा गतिः ॥६३०॥
विजयाब्जं[5] समापूर्य केशवो विश्वविद्विषाम् । अभयं घोषयामास स धर्मो जितभूभुजाम् ॥६३१॥
[6]तदावशिष्टपौलस्त्यमहामात्रादयोऽलिवत् । मलिना बलचक्रेशपादपङ्कजमाश्रयन् ॥६३२॥
मन्दोदर्यादितद्देवीदुःखनोदनपूर्वकम् । विभीषणाय लङ्केशपट्टबन्धं[7] विधाय तौ ॥६३३॥
दशकण्ठान्वयायातविश्वभुक्तिं वितेरतुः । [8]अभूतां च त्रिखण्डेशौ प्रचण्डौ बलकेशवौ ॥६३४॥

साथ अंगद, इन्द्रवर्माके साथ युद्धमें प्रसिद्ध कुमुद और खरदूषणके साथ माया करनेमें चतुर नील युद्ध कर रहे थे । इसी प्रकार युद्ध करनेमें अत्यन्त उद्धत रामचन्द्रजीके अन्य भृत्य भी रावणके मुखिया लोगोंके साथ माया-युद्ध करने लगे ॥६१८-६२२॥ उस समय इन्द्रजीतने देखा कि रामचन्द्रजी युद्धमें रावणको दबाये जा रहे हैं—उसका तिरस्कार कर रहे हैं तब वह रावणके प्राणोंके समान बीचमें आ घुसा ॥६२३॥ परन्तु रामचन्द्रजीने उसे शक्तिकी चोटसे गिरा दिया । यह देख रावण कुपित होकर शस्त्रोंसे सुशोभित रामचन्द्रजीकी ओर दौड़ा ॥६२४॥ इसी बीचमें लक्ष्मण बड़ी शीघ्रतासे उन दोनोंके बीचमें आ गया और रावणने मायामयी हाथीपर सवार होकर उसे नाराच-पंजरमें घेर लिया । अर्थात् लगातार बाण वर्षा कर उसे ढँक लिया ॥६२५॥ परन्तु गरुडकी ध्वजा फहरानेवाला लक्ष्मण प्रहरणावरण नामकी विद्यासे बड़ा प्रतापी था । वह सिंहके बच्चेके समान दृप्त बना रहा और शत्रुरूपी हाथी उसे रोक नहीं सके ॥६२६॥ वह अपनी विद्यासे नाराच-पंजरको तोड़कर बाहर निकल आया । यह देख रावण बहुत कुपित हुआ और उसने क्रोधित होकर विश्वासपात्र चक्ररत्नके लिए आदेश दिया ॥६२७॥ उसी समय नारद आदि आकाशमें सिंहनाद करने लगे । वह चक्ररत्न मूर्तिधारी पराक्रमके समान प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मणके दाहिने हाथपर आकर ठहर गया । तदनन्तर चक्ररत्नको धारण करनेवाले लक्ष्मणने उसी चक्ररत्नसे तीन खण्डके समान रावणका सिर काटकर अपने अधीन कर लिया ॥६२८-६२९॥ रावण, अपने दुराचारके कारण पहले ही नरकायुका बन्ध कर चुका था । अतः, दुःख देनेवाली भयंकर (अधोगति) नरक गतिको प्राप्त हुआ सो ठीक ही है; क्योंकि, पापी मनुष्योंकी और क्या गति हो सकती है ? ॥६३०॥ तदनन्तर लक्ष्मणने विजय-शंख बजाकर समस्त शत्रुओंको अभयदानकी घोषणा की सो ठीक ही है । क्योंकि, राजाओंको जीतनेवाले विजयी राजाओंका यही धर्म है ॥६३१॥ उसी समय रावणके बचे हुए महामन्त्री आदिने भ्रमरोंके समान मलिन होकर रामचन्द्र तथा लक्ष्मणके चरण-कमलोंका आश्रय लिया ॥६३२॥ रावणकी मन्दोदरी आदि जो देवियाँ दुःखसे रो रही थीं उनका दुःख दूर कर राम और लक्ष्मणने विभीषणको लंकाका राजा बनाया तथा रावणकी वंश-परम्परासे आयी हुई समस्त विभूति उसे प्रदान कर दी । इस प्रकार दोनों भाई बलभद्र और नारायण होकर तीन खण्डके बलशाली स्वामी हुए ॥६३३-६३४॥

१ मायायुद्धं व्यकुर्वत, म०, ल० । २ परिभूतदशाननम् ख० । ३ शक्त्यापातयद्राम ल० । ४ प्रहारावरणेनाशु क०, ख०; घ०; प्रहारे रावणेनाशु, ग० । ५ विजयशङ्खम् । ६ तदावशिष्ट ल० । ७ लङ्केश्यपट्टबन्धं घ० । ८ वामूतां ल० ।

अथ शोकवतीं सीतामशोकवनमध्यगाम् । संग्रामविजयाकर्णनोदीर्णप्रमदान्विताम् ॥ ६३५ ॥
रावणानुजसुग्रीवपवमानात्मजादयः । गत्वा यथोचितं दृष्ट्वा ज्ञापयित्वा जयोत्सवम् ॥ ६३६ ॥
समयुञ्जत रामेण समं लक्ष्मीमिवापराम् । महामणिं वा हारेण कुशलाः कवयोऽथवा ॥ ६३७ ॥
वाचं मनोहरार्थेन सन्तो धर्मेण वा धियम् । [1]सद्भृत्यमित्रसंबन्धाद् भवन्त्यीप्सितसिद्धयः ॥ ६३८ ॥
वहन्ती जानकी दुःखमा[2]प्राणप्रियदर्शनात् । रामोऽपि तद्वियोगोत्थशोकव्याकुलिताशयः ॥ ६३९ ॥
तौ परस्परसंदर्शनात्परां प्रीतिमवापतुः । तृतीयप्रकृतिं प्राप्य नृपो वा सापि वा नृपम् ॥ ६४० ॥
आरभ्य विरहाद्वृत्तं यद्यत्तत्तदपृच्छताम् । अन्योन्यसुखदुःखानि निवेद्य सुखिनः प्रियाः ॥ ६४१ ॥
कृतदोषो हतः सीता निर्दोषेति निरूप्य ताम् । स्व्यकरोद्राघवः सन्तो विचारानुचराः सदा ॥ ६४२ ॥
ततोऽरिखेपुरोऽगच्छत्स्फुरत्पीठगिरौ स्थितः । अत्रैवाभिषवं प्राप्य सर्वतीर्थाम्बुसंभृतैः ॥ ६४३ ॥
अष्टोत्तरसहस्रोरुसुवर्णकलशैर्मुदा । देवविद्याधराधीशैः स्वहस्तेन समुद्धृतैः ॥ ६४४ ॥
कोटिकाख्यशिलां तस्मिन्नुजह्रे राघवानुजः । तन्माहात्म्यप्रतुष्टः सन् सिंहनादं व्यधाद्बलः ॥ ६४५ ॥
तन्निवासी सुनन्दाख्यो यक्षः संपूज्य तौ मुदा । असिं सौनन्दकं नाम्ना समानं चक्रिणोऽदित ॥६४६॥
अनुगङ्गं ततो गत्वा गङ्गाद्वारसमीपगे । वने निवेश्य शिबिरं रथमारुह्य चक्रभृत् ॥ ६४७ ॥
गोपुरेण प्रविश्याब्धिं निजनामाङ्कितं शरम् । मागधावाससुद्दिश्य व्यमुञ्चत् कुञ्चितक्रमः ॥ ६४८ ॥
मागधोऽपि शरं वीक्ष्य मत्वा स्वं स्वल्पपुण्यकम् । अभिष्टुवन् महापुण्यश्चक्रवर्तीति लक्ष्मणम् ॥६४९॥

तदनन्तर जो अशोक वनके मध्यमें बैठी है, और संग्राममें रामचन्द्रजीकी विजयके समाचार सुननेसे प्रकट हुए हर्षसे युक्त है ऐसी शीलवती सीताके पास जाकर विभीषण, सुग्रीव तथा अणुमान् आदिने उसके यथायोग्य दर्शन और विजयोत्सवकी खबर सुनायी ॥६३५-६३६॥ तत्पश्चात् जिस प्रकार कुशल कारीगर महामणिको हारके साथ, अथवा कुशल कवि शब्दको मनोहर अर्थके साथ अथवा सज्जन पुरुष अपनी बुद्धिको धर्मके साथ मिलाते हैं उसी प्रकार उन विभीषण आदिने दूसरी लक्ष्मीके समान सीताजीको रामचन्द्रजीके साथ मिलाया। सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम भृत्य और मित्रोंके सम्बन्ध-से इष्ट-सिद्धियाँ हो ही जाती हैं ॥ ६३७-६३८ ॥ उधर जबतक रामचन्द्रजीका दर्शन नहीं हो गया था तबतक सीता दुःखको धारण कर रही थी और इधर रामचन्द्रजीका हृदय भी सीताके वियोगसे उत्पन्न होनेवाले शोकसे व्याकुल हो रहा था। परन्तु उस समय परस्पर एक-दूसरेके दर्शन कर दोनों ही परम प्रीतिको प्राप्त हुए। रामचन्द्रजी तृतीय प्रकृतिवाली शान्त स्वभाववाली सीताको और सीता शान्त स्वभाववाले राजा रामचन्द्रजीको पाकर बहुत प्रसन्न हुए ॥६३९-६४०॥ विरहसे लेकर अबतकके जो-जो वृत्तान्त थे वे सब दोनोंने एक-दूसरेसे पूछे सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री-पुरुष परस्पर एक-दूसरेको अपना सुख-दुःख बतलाकर ही सुखी होते हैं ॥६४१॥ 'जिसने दोष किया था ऐसा रावण मारा गया, रही सीता, सो यह निर्दोष है' ऐसा विचार कर रामचन्द्रजीने उसे स्वीकृत कर लिया। सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन हमेशा विचारके अनुसार ही काम करते हैं ॥६४२॥ तदनन्तर-दोनों भाई लंकापुरीसे निकलकर अतिशय-सुन्दरपीठ नामके पर्वतपर ठहरे। वहाँपर देव और विद्याधरोंके राजाओंने अपने हाथसे उठाते हुए सुवर्णके एक हजार आठ बड़े-बड़े कलशोंके द्वारा दोनोंका बड़े हर्षसे अभिषेक किया। वहींपर लक्ष्मणने कोटि-शिला उठायी और उसके माहात्म्यसे सन्तुष्ट हुए रामचन्द्रजीने सिंहनाद किया ॥६४३-६४५॥ वहाँके रहनेवाले सुनन्द नामके यक्षने उन दोनोंकी बड़े हर्षसे पूजा की और लक्ष्मणके लिए बड़े सम्मान-से सौनन्दक नामकी तलवार दी ॥६४६॥ तदनन्तर दोनों भाइयोंने गंगा नदीके किनारे-किनारे जाकर गंगाद्वारके समीप ही वनमें सेना ठहरा दी। लक्ष्मणने रथपर सवार हो गोपुर द्वारसे समुद्रमें प्रवेश किया और पैरको कुछ टेढ़ा कर मागध देवके निवास-स्थानकी ओर अपने नाम-से चिह्नित बाण छोड़ा ॥६४७-६४८॥ मागध देवने भी बाण देखकर अपने-आपको

---

१ सद्भृत्यामित्र—ख० । २–मप्राण–ख० ।

रत्नहारं किरीटं च कुण्डलं शरमप्यमुम् । तीर्थाम्बुपूर्णकुम्भान्तर्गतमस्मै ददौ सुरः ॥६५०॥
ततोऽनुजलधिं गत्वा वैजयन्ताख्यगोपुरं । वशीकृत्य यथा प्राच्यं तथा वरतनुं च तम् ॥६५१॥
कटकं साङ्गदं चूडामणिं मौलिविभूषणम् । ग्रैवेयकं ततश्चक्री कटिसूत्रं च लब्धवान् ॥६५२॥
ततः प्रतीचीमागत्य सबलः सिन्धुगोपुरे । प्रविश्याब्धिं प्रभासं च विनतीकृत्य पूर्ववत् ॥६५३॥
मालां संतानकाख्यानां मुक्ताजालप्रलम्बकम् । श्वेतच्छत्रं ततो भूषणान्यन्यान्यपि चाददौ ॥६५४॥
ततः सिन्धोस्तटे गच्छन् प्रतीचीखण्डवासिनः । स्वकीयां श्रावयित्वाज्ञां सारवस्तूनि चाददत् ॥६५५॥
ऐन्द्र्याभिमुखो भूत्वा विजयार्धनिवासिनः । विनमय्य गजाश्वास्त्रविद्याधरकुमारिकाः ॥६५६॥
रत्नानि चात्मसात्कृत्य पूर्वखण्डनिवासिनः । विधाय करदान् म्लेच्छान् विजयी निर्गतस्ततः ॥६५७॥
द्विगुणाष्टसहस्राणि [1]पट्टबन्धान् महीभुजः । दशोत्तरशताख्यातपुराधीशान् खगेशिनः ॥६५८॥
त्रिखण्डवासिदेवांश्च विधायाज्ञाविधायिनः । द्वाचत्वारिंशदब्दान्ते परिनिष्ठितदिग्जयः ॥६५९॥
कृताञ्जलिभिरासेव्यो देवखेचरभूचरैः । अग्रजाग्रेसरश्चक्री सचक्रः सर्वपूजितः ॥६६०॥
कृतमङ्गलनेपथ्यां प्रार्थ्यमानसमागमाम् । कान्तामिव विनीतां [2]तां शक्रवत्प्राविशत्पुरीम् ॥६६१॥
लग्नगोचरसंशुद्धशुभवेलादिसंनिधौ । नरविद्याधरा व्यन्तराधिपप्रमुखाः समम् ॥६६२॥
सिंहासनं समारोप्य श्रीमन्तौ रामलक्ष्मणौ । तीर्थाम्बुपूर्णसौवर्णसहस्राष्टमहाघटैः ॥६६३॥
अभिषिच्य त्रिखण्डाधिराज्ये संपूजितौ युवाम् । प्रवर्धमानलक्ष्मीकावाशान्तव्याप्तयशोजुषौ ॥६६४॥

अल्प पुण्यवान् माना और यह महापुण्यशाली चक्रवर्ती है ऐसा समझकर लक्ष्मणकी स्तुति की। यही नहीं, उसने रत्नोंका हार, मुकुट, कुण्डल और उस बाणको तीर्थ-जलसे भरे हुए कलशके भीतर रखकर लक्ष्मणके लिए भेंट किया ॥६४९-६५०॥ तदनन्तर समुद्रके किनारे-किनारे चलकर वैजयन्त नामक गोपुरपर पहुँचे और वहाँ पूर्वकी भाँति वरतनु देवको वश किया ॥६५१॥ उस देवसे लक्ष्मणने कटक, केयूर, मस्तकको सुशोभित करनेवाला चूडामणि, हार और कटिसूत्र प्राप्त किया ॥६५२॥ तदनन्तर रामचन्द्रजीके साथ-ही-साथ लक्ष्मण पश्चिम दिशाकी ओर गया और वहाँ सिन्धु नदीके गोपुर द्वारसे समुद्रमें प्रवेश कर उसने पूर्वकी ही भाँति प्रभास नामके देवको वश किया ॥६५३॥ प्रभास देवसे लक्ष्मणने सन्तानक नामकी माला, जिसपर मोतियोंका जाल लटक रहा है ऐसा सफेद छत्र, और अन्य-अन्य आभूषण प्राप्त किये ॥६५४॥ तत्पश्चात् सिन्धु नदीके किनारे-किनारे जाकर पश्चिम दिशाके म्लेच्छ खण्डमें रहनेवाले लोगोंको अपनी आज्ञा सुनायी और वहाँकी श्रेष्ठ वस्तुओंको ग्रहण किया ॥६५५॥ फिर दोनों भाई पूर्व दिशाकी ओर सम्मुख होकर चले और विजयार्ध पर्वतपर रहनेवाले लोगोंको वश कर उसने हाथी, घोड़े, अस्त्र, विद्याधर कन्याएँ एवं अनेक रत्न प्राप्त किये, पूर्व खण्डमें रहनेवाले म्लेच्छोंको कर देनेवाला बनाया और तदनन्तर विजयी होकर वहाँसे बाहर प्रस्थान किया ॥६५६-६५७॥ इस प्रकार लक्ष्मणने सोलह हजार पट्टबन्ध राजाओंको, एक सौ दस नगरियोंके स्वामी विद्याधरोंको और तीन खण्डके निवासी देवोंको आज्ञाकारी बनाया था। उसकी यह दिग्विजय बयालीस वर्षमें पूर्ण हुई थी। देव, विद्याधर तथा भूमिगोचरी राजा हाथ जोड़कर सेवा करते थे। इस तरह बड़े भाई रामचन्द्रजीके आगे-आगे चलनेवाले चक्र-रत्नके स्वामी एवं सबके द्वारा पूजित लक्ष्मणने, मांगलिक वेषभूषासे सुशोभित तथा समागमकी प्रार्थना करनेवाली कान्ताके समान उस अयोध्या नगरीमें इन्द्रके समान प्रवेश किया ॥६५८-६६१॥ तदनन्तर किसी शुद्ध लग्न और शुभ मुहूर्तके आनेपर मनुष्य, विद्याधर और व्यन्तर देवोंके मुखिया लोगोंने एकत्रित होकर श्रीमान् राम और लक्ष्मणको एक ही साथ सिंहासनपर विराजमान कर उनका तीर्थजलसे भरे हुए सुवर्णके एक हजार आठ बड़े-बड़े कलशोंसे अभिषेक किया। इस प्रकार उन्हें तीन खण्डके साम्राज्यपर विराजमान कर प्रार्थना की कि आपकी लक्ष्मी बढ़ती रहे और आपका यश दिशाओंके अन्त तक फैल जावे। प्रार्थना करनेके बाद उन्हें रत्नोंके बड़े-बड़े मुकुट बाँधे, मणिमय आभूषण पहिनाये और बड़े-बड़े आशीर्वादोंसे

---

१ पट्टबन्धान् ब०। २ अयोध्याम्।

इत्यारोपितरत्नोरुमुकुटौ मणिभूषणौ । अलंकृत्य महाशीर्भिः [1]पूजयामासुरुत्सुकाः ॥ ६६५ ॥
पृथिवीसुन्दरीमुख्याः केशवस्य मनोरमाः । द्विगुणाष्टसहस्राणि देव्यः सत्योऽभवन् श्रियः ॥ ६६६ ॥
सीताद्यष्टसहस्राणि रामस्य प्राणवल्लभाः । द्विगुणाष्टसहस्राणि देशास्तावन्महीभुजः ॥ ६६७ ॥
शून्यं पञ्चाष्टरन्ध्रोक्तख्याता द्रोणमुखाः स्मृताः[2] । पत्तनानि सहस्राणि पञ्चविंशतिसंख्यया ॥ ६६८ ॥
कर्वटाः खत्रयद्व्येकप्रमिताः प्रार्थितार्थदाः । मटम्बास्तत्प्रमाणाः स्युः सहस्राण्यष्ट खेटकाः ॥ ६६९ ॥
शून्यसप्तकवस्वब्धिमिता ग्रामा महाफलाः । [3]अष्टाविंशमिता द्वीपाः समुद्रान्तर्वर्तिनः ॥ ६७० ॥
शून्यपञ्चकपक्षाब्धिमितास्तुङ्गमतङ्गजाः । रथवर्यास्तु तावन्तो नवकोट्यस्तुरंगमाः ॥ ६७१ ॥
खसप्तकद्विवार्ध्युक्ता युद्धशौण्डाः पदातयः । देवाश्चाष्टसहस्राणि गणबद्धाभिमानकाः ॥ ६७२ ॥
हलायुधं महारत्नमपराजितनामकम् । अमोघाख्याः [4]शरास्तीक्ष्णाः संज्ञया कौमुदी गदा ॥ ६७३ ॥
रत्नावतंसिका माला रत्नान्येतानि सीरिणः । तानि यक्षसहस्रेण रक्षितानि पृथक् पृथक् ॥ ६७४ ॥
चक्रं सुदर्शनाख्यानं कौमुदीत्युदिता गदा । असिः सौनन्दकोऽमोघमुखी [5]शक्तिः शरासनम् ॥ ६७५ ॥
शार्ङ्गं पञ्चमुखः पाञ्चजन्यः शङ्खो महाध्वनिः । कौस्तुभं स्वप्रभाभारभासमानं महामणिः ॥ ६७६ ॥
रत्नान्येतानि सप्तैव केशवस्य पृथक् पृथक् । सदा यक्षसहस्रेण रक्षितान्यमितद्युतेः ॥ ६७७ ॥
एवं तयोर्महाभागधेययोर्भोगसंपदा । निमग्नयोः सुखाम्भोधौ काले गच्छत्यथान्यदा ॥ ६७८ ॥
जिनं मनोहरोद्याने शिवगुप्तसमाह्वयम् । विनयेन समासाद्य पूजयित्वाभिवन्द्य तम्[6] ॥ ६७९ ॥
श्रद्धालुर्धर्ममप्राक्षीद्धीमान् रामः सकेशवः । प्रत्यासन्नात्मनिष्ठत्वान्निष्ठितार्थं[7] निरञ्जनम् ॥ ६८० ॥

अलंकृत कर उत्सुक हो उनकी पूजा की ॥६६२-६६५॥

लक्ष्मणके पृथ्वीसुन्दरीको आदि लेकर लक्ष्मीके समान मनोहर सोलह हजार पतिव्रता रानियाँ थीं और रामचन्द्रजीके सीताको आदि लेकर आठ हजार प्राणप्यारी रानियाँ थीं। सोलह हजार देश और सोलह हजार राजा उनके अधीन थे। नौ हजार आठ सौ पचास द्रोण-मुख थे, पचीस हजार पत्तन थे, इच्छानुसार फल देनेवाले बारह हजार कर्वट थे; बारह हजार मटम्ब थे, आठ हजार खेटक थे, महाफल देनेवाले अड़तालीस करोड़ गाँव थे, समुद्रके भीतर रहनेवाले अट्ठाईस द्वीप थे, बयालीस लाख बड़े-बड़े हाथी थे, इतने ही श्रेष्ठ रथ थे, नव करोड़ घोड़े थे, युद्ध करनेमें शूर-वीर बयालीस करोड़ पैदल सैनिक थे और आठ हजार गणबद्ध नामके देव थे ॥ ६६६–६७२ ॥ रामचन्द्रजीके अपराजित नामका हलायुध, अमोघ नामके तीक्ष्ण बाण, कौमुदी नामकी गदा और रत्नावतंसिका नामक माला ये चार महारत्न थे। इन सब रत्नोंकी अलग-अलग एक-एक हजार यक्षदेव रक्षा करते थे ॥ ६७३–६७४ ॥ इसी प्रकार सुदर्शन नामका चक्र, कौमुदी नामकी गदा, सौनन्दक नामका खड्ग, अमोघमुखी शक्ति, शार्ङ्ग नामका धनुष, महाध्वनि करनेवाला पाँच मुखका पांचजन्य नामका शंख और अपनी कान्तिके भारसे शोभायमान कौस्तुभ नामका महामणि ये सात रत्न अपरिमित कान्तिको धारण करनेवाले लक्ष्मणके थे और सदा एक-एक हजार यक्ष देव उनकी पृथक्-पृथक् रक्षा करते थे ॥ ६७५–६७७ ॥

इस प्रकार सुखरूपी सागरमें निमग्न रहनेवाले महाभाग्यशाली दोनों भाइयोंका समय भोग और सम्पदाओंके द्वारा व्यतीत हो रहा था कि किसी समय मनोहर नामके उद्यानमें शिवगुप्त नामके जिनराज पधारे। श्रद्धासे भरे हुए बुद्धिमान् राम और लक्ष्मणने बड़ी विनयके साथ जाकर उनकी पूजा-वन्दना की। तदनन्तर आत्म-निष्ठाके अत्यन्त निकट होनेके कारण कृतकृत्य एवं कर्ममल

---

१ वर्धयामासु ख०, ग०, घ०। २ म० पुस्तकेऽयं पाठो मूले मिलितः, क० पुस्तके खण्डलिकायां लिखितः, अन्यत्र नास्त्येव। 'ग्रामो वृत्यावृतः स्यान्नगरमुरुचतुर्गोपुरोद्भासिसालं, खेटं नद्यद्रिवेष्टं परिवृतमभितः कर्वटं पत्तनेन। ग्रामैर्युक्तं मटम्बं दलितदशशतैः पत्तनं रत्नयोनिः, द्रोणास्यं सिन्धुवेलावलयवलयितं वाहनं चाद्रिरूढम्'। ३ अष्टद्विसम्मिता—ल०। ४ खपास्तीक्ष्णा ल०। ५ मेघमुखी क०, ग०, ख०। ६—वन्द्यतां ख०। ७ निष्ठितार्थनिरञ्जनं क०, ख०। निष्ठितार्थो निरञ्जनः ल०।

भव्यानुग्रहमुख्यात्मप्रवृत्तिः सोऽप्यभाषत । स्ववाक्प्रसरसज्ज्योत्स्ना समाह्लादिततत्समः ॥ ६८१ ॥
प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगैर्ज्ञानहेतुभिः । गुणमुख्यनयादानविशेषबलकामलः ॥ ६८२ ॥
स्यात्छब्दकाञ्छितास्तित्वनास्तित्वाद्यन्तसंततम् । जीवादीनां पदार्थानां तत्त्वमाप्तस्वलक्षणम् ॥ ६८३ ॥
मार्गणा गुणजीवानां समासं संसृतिस्थितिम् । अन्यच्च धर्मसंबद्धं व्यक्तं युक्तिसमाश्रितम् ॥ ६८४ ॥
कर्मभेदान् फलं तेषां सुखदुःखादिभेदकम् । बन्धमोक्षयोर्हेतुं स्वरूपं मुक्तिमुक्तयोः ॥ ६८५ ॥
इति धर्मविशेषं तत्र ततः श्रुत्वा मनीषिणः । सर्वे रामादयोऽभूवन् गृहीतोपासकव्रताः ॥ ६८६ ॥
निदानशल्यदोषेण भोगासक्तः स केशवः । बध्वायुर्नारकं घोरं नागृहीद्दर्शनादिकम् ॥ ६८७ ॥
एवं संवत्सरान्नीत्वा साकेते कतिचित्सुखम् । तदाधिपत्यं भरतशत्रुघ्नाभ्यां प्रदाय तौ ॥ ६८८ ॥
स्वयं स्वपरिवारेण गत्वा वाराणसीं पुरीम् । प्राविशतामधिक्षिप्य शक्रलीलां स्वसंपदा ॥ ६८९ ॥
सुनो विजयरामाख्यो रामस्यामरसंनिभः । पृथिवीचन्द्रनामाभूच्चन्द्राभः केशवस्य च ॥ ६९० ॥
अन्यैश्च पुत्रपौत्राद्यैः परीतौ तौ धृतोदयौ । नयतः स्म सुखं कालं त्रिवर्गफलशालिनौ ॥ ६९१ ॥
कदाचिल्लक्ष्मणो नागशाहिनीशयने सुखम्[1] । सुप्तो न्यग्रोधवृक्षस्य भञ्जनं मत्तदन्तिना ॥ ६९२ ॥
सैंहिकेयनिगीर्णार्करसातलनिवेशनम् । सुधाधवलितोत्तुङ्गप्रासादैकांशविच्युतिम् ॥ ६९३ ॥
स्वप्ने दृष्ट्वा समुत्थाय समासाद्य निजाग्रजम् । स्वप्नान् संश्रयं सर्वान् यथादृष्टान्न्यवेदयत् ॥ ६९४ ॥
पुरोहितस्तदाकर्ण्य फलं तत्रेत्थमब्रवीत् । न्यग्रोधोन्मूलनाद् व्याधिमसाध्यं केशवो व्रजेत् ॥ ६९५ ॥

कलंकसे रहित उक्त जिनराजसे धर्मका स्वरूप पूछा ॥ ६७८-६८० ॥ भव्य जीवोंका अनुग्रह करना ही जिनका मुख्य कार्य है ऐसे शिवगुप्त जिनराज भी अपने वचन-समूहरूपी उत्तम चन्द्रिकासे उस सभाको आह्लादित करते हुए कहने लगे ॥ ६८१ ॥ कि इस संसारमें जीवादिक नौ पदार्थ हैं उनका प्रमाण नय निक्षेप तथा निर्देश आदि अनुयोगोंसे जो कि ज्ञान प्राप्तिके कारण हैं बोध होता है। गौण और मुख्य नयोंके स्वीकार करने रूप बलके मिल जानेसे 'स्यादस्ति,' 'स्यान्नास्ति' आदि भंगों-द्वारा प्रतिपादित धर्मोंसे वे जीवादि पदार्थ सदा युक्त रहते हैं। इनके सिवाय शिवगुप्त जिनराजने आप्त भगवान्‌का स्वरूप, मार्गणा, गुणस्थान, जीव-समास, संसारका स्वरूप, धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य युक्ति-युक्त पदार्थ, कर्मोंके भेद, सुख-दुःखादि अनेक भेद रूप कर्मोंके फल, बन्ध और मोक्षका कारण, मुक्ति और मुक्त जीवका स्वरूप आदि विविध पदार्थोंका विवेचन भी किया। इस प्रकार उनसे धर्मका विशेष स्वरूप सुनकर रामचन्द्रजी आदि समस्त बुद्धिमान् पुरुषोंने श्रावकके व्रत ग्रहण किये ॥६८२-६८६॥ परन्तु भोगोंमें आसक्त रहनेवाले लक्ष्मणने निदान शल्य नामक दोषके कारण नरककी भयंकर आयुका बन्ध कर लिया था इसलिए उसने सम्यग्दर्शन आदि कुछ भी ग्रहण नहीं किया ॥ ६८७ ॥ इस प्रकार राम और लक्ष्मणने कुछ वर्ष तो अयोध्यामें ही सुखसे बिताये तदनन्तर वहाँका राज्य भरत और शत्रुघ्नके लिए देकर वे दोनों अपने परिवारके साथ बनारस चले गये और अपनी सम्पदासे इन्द्रकी लीलाको तिरस्कृत करते हुए नगरीमें प्रविष्ट हुए ॥६८८-६८९॥ रामचन्द्रके देवके समान विजयराम नामका पुत्र था और लक्ष्मणके चन्द्रमाके समान पृथिवीचन्द्र नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था ॥ ६९० ॥ जिनका अभ्युदय प्रसिद्ध है और जो धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्गके फलसे सुशोभित हैं ऐसे रामचन्द्र और लक्ष्मण अन्य पुत्र-पौत्रादिकसे युक्त होकर सुखसे समय बिताते थे ॥ ६९१ ॥ किसी एक दिन लक्ष्मण नागशाहिनी शय्यापर सुखसे सोया हुआ था। वहाँ उसने तीन स्वप्न देखे—पहला मत्त हाथीके द्वारा वट वृक्षका उखाड़ा जाना, दूसरा राहुके द्वारा निगले हुए सूर्यका रसातलमें चला जाना और तीसरा चूनासे सफेद किये हुए ऊँचे राजभवनका एक देश गिर जाना। इन स्वप्नोंको देखकर वह उठा, बड़े भाई रामचन्द्रजीके पास गया और विनयके साथ सब स्वप्नोंको जिस प्रकार देखा था उसी प्रकार निवेदन कर गया ॥ ६९२-६९४ ॥ पुरोहितने सुनते ही उनका फल इस प्रकार कहा कि, वट वृक्षके उखड़नेसे लक्ष्मण असाध्य बीमारीको प्राप्त होगा, राहुके द्वारा ग्रस्त सूर्यके गिरनेसे उसके भाग्य, भोग

---

१ सुप्त्वा ख० ।

राहुग्रस्तार्कसंपाताद् [1]भाग्यभोगायुषां क्षयः । तुङ्गप्रासादभङ्गेन त्वं प्रयाता तपोवनम् ॥६९६॥
इत्येकान्ते वचस्तस्य श्रुत्वा रामो यथार्थवित् । धीरोदात्ततया नायान् मनागपि मनःक्षतिम् ॥६९७॥
लोकद्वयहितं मत्वा कारयामास [2]घोषणाम् । प्राणिनो नहि हन्तव्याः कैश्चिदेति दयोद्यतः ॥६९८॥
चकार शान्तिपूजां च सर्वज्ञस्नपनाविधिम् । ददौ दानं च दीनेभ्यो येन यद्यदभीप्सितम् ॥६९९॥
बभूव क्षीणपुण्यस्य ततः कतिपयैर्दिनैः । केशवस्य महाव्याधिरसातोदयचोदितः ॥७००॥
दुःसाध्येनामयेनासौ माघे मास्यसितेऽन्तिमे । दिने तेनागमच्चक्री पृथ्वीं पङ्कप्रभाभिधाम् ॥७०१॥
तद्वियोगेन शोकाग्निसंतप्तहृदयो बलः । कथं कथमपि ज्ञानात्संधार्यात्मानमात्मना ॥७०२॥
कृत्वा शरीरसंस्कारमनुजस्य यथाविधिः । सर्वान्तःपुरदुःखं च प्रशमय्य प्रसन्नवाक् ॥७०३॥
सर्वप्रकृतिसांनिध्ये पृथिवी [3]सुन्दरीसुते । ज्येष्ठे राज्यं विधायोच्चैः सपट्टं केशवात्मजे ॥७०४॥
अष्टौ विजयरामाद्याः सीतायाः सात्त्विकाः सुताः । लक्ष्मीमनभिवाञ्छत्सु तेषां ज्येष्ठेषु सप्तसु ॥७०५॥
दत्त्वाजितंजयाख्याय यौवराज्यं कनीयसे । मिथिलामर्पयित्वास्मै त्रिनिर्वेदपरायणः[4] ॥७०६॥
साकेतपुरमभ्येत्य वने सिद्धार्थनामनि । वृषभस्वामिनिष्क्रान्तितीर्थभूमौ महौजसः ॥७०७॥
शिवगुप्ताभिधानस्य समीपे केवलेशिनः । संसारमोक्षयोर्हेतुफले सम्यक् प्रबुद्धवान् ॥७०८॥
निदानशल्यदोषेण चतुर्थीं नारकीं भुवम् । केशवः प्राप्त इत्येतद्बुध्वाऽस्मादेव[5] शुद्धधीः ॥७०९॥
निरस्ततद्गतस्नेहविधिराभिनिबोधिकात् । वेदाद्यायुर्भवद्बोधिः सुग्रीवाणुमदादिभिः ॥७१०॥

और आयुका क्षय सूचित करता है तथा ऊँचे भवनके गिरनेसे आप तपोवनको जावेंगे ॥६९५-६९६॥ पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले रामचन्द्रजीने पुरोहितके यह वचन एकान्तमें सुने परन्तु धीर-वीर होनेके कारण मनमें कुछ भी विकारभावको प्राप्त नहीं हुए ॥६९७॥ तदनन्तर दयामें उद्यत रहनेवाले रामचन्द्रजीने दोनों लोकोंका हितकर मानकर यह घोषणा करा दी कि कोई भी मनुष्य किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करे ॥६९८॥ इसके सिवाय उन्होंने सर्वज्ञ देवका स्नपन तथा शान्ति-पूजा की और दीनोंके लिए जिसने जो चाहा वह दान दिया ॥६९९॥ तदनन्तर जिसका पुण्य क्षीण हो गया है ऐसे लक्ष्मणको कुछ दिनोंके बाद असाता वेदनीय कर्मके उदयसे प्रेरित हुआ महारोग उत्पन्न हुआ ॥७००॥ उसी असाध्य रोगके कारण चक्ररत्नका स्वामी लक्ष्मण मरकर माघ कृष्ण अमावस्याके दिन चौथी पंकप्रभा नामकी पृथिवीमें गया ॥७०१॥ लक्ष्मणके वियोगसे उत्पन्न हुई शोक-रूपी अग्निसे जिनका हृदय सन्तप्त हो रहा है ऐसे रामचन्द्रजीने ज्ञानके प्रभावसे किसी तरह अपने-आप आत्माको सुस्थिर किया, छोटे भाई लक्ष्मणका विधिपूर्वक शरीर संस्कार किया और प्रसन्नतापूर्ण वचन कहकर समस्त अन्तःपुरका शोक शान्त किया ॥७०२-७०३॥ फिर उन्होंने सब प्रजाके सामने पृथिवीसुन्दरी नामकी प्रधान रानीसे उत्पन्न हुए लक्ष्मणके बड़े पुत्रके लिए राज्य देकर अपने ही हाथसे उसका पट्ट बाँधा ॥७०४॥ सात्त्विक वृत्तिको धारण करनेवाले सीताके विजयराम आदिक आठ पुत्र थे। उनमें-से सात बड़े पुत्रोंने राज्यलक्ष्मी लेना स्वीकृत नहीं किया इसलिए उन्होंने अजितंजय नामके छोटे पुत्रके लिए युवराज पद देकर मिथिला देश समर्पण कर दिया और स्वयं संसार, शरीर तथा भोगोंसे विरक्त हो गये ॥७०५-७०६॥ विरक्त होते ही वे अयोध्या नगरीके सिद्धार्थ नामक उस वनमें पहुँचे जो कि भगवान् वृषभदेवके दीक्षाकल्याणकका स्थान होनेसे तीर्थस्थान हो गया था। वहाँ जाकर उन्होंने महाप्रतापी शिवगुप्त नामके केवलीके समीप संसार और मोक्षके कारण तथा फलको अच्छी तरह समझा ॥७०७-७०८॥ जब उन्हें इन्हीं केवली भगवान्से इस बातका पता चला कि लक्ष्मण निदान नामक शल्यके दोषसे चौथे नरक गया है तब उनकी बुद्धि और भी अधिक निर्मल हो गयी। तदनन्तर जिन्होंने लक्ष्मणका समस्त स्नेह छोड़ दिया है और आभिनिबोधिक-मतिज्ञानसे

---

१ भोग्यभोगा—ख०। २ घोषणम् ग०, म०, ख०। ३ सुन्दरे सुते ख०। ४ परायणैः ख०। ५ बुद्धा देवो विशुद्धध ख०।

विभीषणादिभिश्चामा भूमिपैः पञ्चभिः शतैः । अशीतिशतपुत्रैश्च सह संयममाप्तवान् ॥७११॥
तथा सीतामहादेवी पृथिवीसुन्दरीयुताः । देव्यः श्रुतवतीक्षान्तिनिकटे तपसि स्थिताः ॥७१२॥
तौ राजयुवराजौ च गृहीतश्रावकव्रतौ । जिनाङ्घ्रियुग्ममानम्य सम्यक् प्राविशतां पुरीम् ॥७१३॥
मोक्षमार्गमनुष्ठाय यथाशक्ति यथाविधि । रामाणुमन्तौ संजातौ श्रुतकेवलिनौ मुनी ॥७१४॥
जाताः शेषाश्च बुद्ध्यादिसप्तर्ध्याविष्कृतोदयाः । एवं छद्मस्थकालेऽस्य पञ्चाब्दोनचतुःशतैः ॥७१५॥
व्यतीतवति सद्ध्यानविशेषाद्धतघातिनः । रामस्य केवलज्ञानमुदपादर्कबिम्बवत् ॥७१६॥
समुद्गतैकछत्रादिप्रातिहार्यविभूषितः । असिञ्चद्भव्यसस्यानां वृष्टिं धर्ममयीमसौ ॥७१७॥
एवं केवलबोधेन नीत्वा षट्शतवत्सरान् । फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे शुक्लपक्षे चतुर्दशी ॥७१८॥
दिने संमेदगिर्यग्रे तृतीयं शुक्लमाश्रितः । योगत्रितयमारुध्य समुच्छिन्नक्रियाश्रयः ॥७१९॥
निःशेषन्यक्कृताघातिकर्मा सोऽणुमदादिभिः । शरीरत्रितयापायादवापत्पदमुत्तमम्[1] ॥७२०॥
विभीषणादयः केचित् प्रापन्ननुदिशं पुनः । रामचन्द्राग्रदेव्याद्याः काश्चिदीयुरितोऽच्युतम् ॥७२१॥
शेषाः कल्पेऽभवन्नाद्ये लक्ष्मणश्चागतः क्रमात् । नरकात् संयमं प्राप्य मोक्षलक्ष्मीमवाप्स्यति ॥७२२॥
[2]..। विनेयास्तस्य जन्तूनां भवेद्वैचित्र्यमीदृशम् ॥७२३॥

वसन्ततिलका

प्रोल्लङ्घ्य गोपदमिवाम्बुनिधिं स्वसैन्यै-
रुद्ध्वा रिपोः पुरमगारमिवैकमल्पम् ।
निर्मूल्य वैरिकुलमाशिव सत्यमीष-
ल्लक्ष्म्या सह क्षितिसुतामपहृत्य शत्रोः ॥७२४॥

जिन्हें वैराग्यकी प्राप्ति हुई है ऐसे रामचन्द्रजीने सुग्रीव, अणुमान् और विभीषण आदि पाँच सौ राजाओं तथा एक सौ अस्सी अपने पुत्रोंके साथ संयम धारण कर लिया ॥७०६-७११॥ इसी प्रकार सीता महादेवी और पृथिवीसुन्दरीसे सहित अनेक देवियोंने श्रुतवती आर्यिकाके समीप दीक्षा धारण कर ली ॥७१२॥ तदनन्तर जिन्होंने श्रावकके व्रत ग्रहण किये हैं ऐसे राजा तथा युवराजने जिनेन्द्र भगवान्‌के चरण-युगलको अच्छी तरह नमस्कार कर नगरीमें प्रवेश किया ॥७१३॥ रामचन्द्र और अणुमान् दोनों ही मुनि, शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक मोक्षमार्गका अनुष्ठान कर श्रुतकेवली हुए ॥७१४॥ शेष बचे हुए मुनिराज भी बुद्धि आदि सात ऋद्धियोंके ऐश्वर्यको प्राप्त हुए। इस प्रकार जब छद्मस्थ अवस्थाके तीन सौ पंचानवे वर्ष बीत गये तब शुक्लध्यानके प्रभावसे घातिया कर्मोंका क्षय करनेवाले मुनिराज रामचन्द्रको सूर्य-बिम्बके समान केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ॥७१५-७१६॥ प्रकट हुए एकछत्र आदि प्रातिहार्योंसे विभूषित हुए केवल रामचन्द्रजीने धर्ममयी वृष्टिके द्वारा भव्य-जीवरूपी धान्यके पौधोंको सींचा ॥७१७॥ इस प्रकार केवलज्ञानके द्वारा उन्होंने छह सौ वर्ष बिताकर फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशीके दिन प्रातःकालके समय सम्मेदाचलके शिखरपर तीसरा शुक्लध्यान धारण किया और तीनों योगोंका निरोध कर समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक चौथे शुक्ल ध्यानके आश्रयसे समस्त अघातिया कर्मोंका क्षय किया। इस प्रकार औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंका नाश हो जानेसे उन्होंने अणुमान् आदिके साथ उन्नत पद-सिद्ध क्षेत्र प्राप्त किया ॥७१८-७२०॥ विभीषण आदि कितने ही मुनि अनुदिशको प्राप्त हुए और रामचन्द्र तथा लक्ष्मणकी पट्टरानियाँ सीता तथा पृथिवीसुन्दरी आदि कितनी ही आर्यिकाएँ अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न हुईं ॥७२१॥ शेष रानियाँ प्रथम स्वर्गमें उत्पन्न हुईं। लक्ष्मण नरकसे निकलकर क्रम-क्रमसे संयम धारण कर मोक्ष-लक्ष्मीको प्राप्त होगा ॥७२२॥ सो ठीक ही है क्योंकि जीवोंके इसी प्रकारकी विचित्रता होती है ॥७२३॥ जिन्होंने समुद्रको गोपदके समान उल्लंघन किया, जिन्होंने अपनी सेनासे शत्रुके नगरको एक छोटे-से घरके समान घेर लिया, जिन्होंने शत्रुके समस्त वंशको धानके

१ पदमुत्तमम् ख०, म० । २ अस्मदुपलब्धसर्वपुस्तकेष्वस्य श्लोकस्य पूर्वार्धो नास्ति ।

शार्दूलविक्रीडितम्

आनम्रामरभूतभश्चरशिरःपीठे दृश्यताङ्घ्रिद्वयौ
निष्कण्टीकृतदक्षिणार्धभरताखण्डत्रिखण्डाधिपौ ।
साकेतं समधिष्ठितौ हृतशुचिप्रोद्भासिभास्वत्प्रभौ
दिक्प्रान्तद्विप[1]दर्पसर्पशमनव्यग्रप्रवीरश्रियौ ॥७२५॥
सीरादिप्रभृतिप्रसिद्धविकसद्रत्नावलीरञ्जित-
श्रीसंपादितभोगयोगसुखिनौ सर्वार्थिसंतर्पकौ ।
चन्द्रार्काविव तेजसा स्वयशसा विश्वं प्रकाश्य स्फुटं
श्रीमन्तौ बलकेशवौ क्षितिमिमां संपाल्य सार्धं चिरम् ॥७२६॥

वसन्ततिलका

एकस्त्रिलोकशिखरं सुखमध्यतिष्ठ-
दन्यश्चतुर्थनरकावनिनायकोऽभूत् ।
भोग्ये समेऽपि परिणामकृताद्विशेषा-
न्मा तद्व्यधादबुधवत् सुबुधो[2] निदानम् ॥७२७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

देशे सारसमुच्चये नरपतिर्देवो नरादिस्ततः
सौधर्मेऽ[3]निमिषोऽभवत्सुखनिधिस्तस्माच्च्युतोऽस्मिन्नभूत् ।
आक्रान्ताखिलखेचरोज्ज्वलशिरोमालो विनम्यन्वये
लोलो निजवंशकेतुरहिताचाराग्रणी रावणः ॥७२८॥

खेतके समान शीघ्र ही निर्मूल कर दिया, जिन्होंने लक्ष्मीके साथ-साथ शत्रुसे सीताको छीन लिया, जिनके दोनों चरण, नम्रीभूत देव, भूमिगोचरी राजा तथा विद्याधरोंके मस्तकरूपी सिंहासनपर सदा विद्यमान रहते थे, जिन्होंने दक्षिण दिशाके अर्धभरत क्षेत्रको निष्कण्टक बना दिया था, जो समस्त तीन खण्डोंके स्वामी थे, अयोध्या नगरीमें रहते थे, जिनकी प्रभा ज्येष्ठ मासके सूर्यकी प्रभाको भी तिरस्कृत करती थी। जिनकी वीरलक्ष्मी दिशाओंके अन्तमें रहनेवाले दिग्गजोंके गर्व-रूपी सर्पको शान्त करनेमें सदा व्यग्र रहती थी, हल आदि प्रसिद्ध तथा सुशोभित रत्नोंकी पंक्तिसे अनुरंजित लक्ष्मीके द्वारा प्राप्त कराये हुए भोगोंके संयोगसे जो सदा सुखी रहते थे, जो समस्त याचकोंको सन्तुष्ट रखते थे, जो तेजसे चन्द्र और सूर्यके समान थे, और जिन्होंने अपने यशसे समस्त संसारको अत्यन्त प्रकाशित कर दिया था ऐसे श्रीमान् बलभद्र और नारायण पदवीके धारक रामचन्द्र और लक्ष्मण चिरकाल तक साथ-ही-साथ इस पृथिवीका पालन करते रहे। उन दोनोंमें-से एक तो भोगोंकी समानता होनेपर भी परिणामोंके द्वारा की हुई विशेषतासे तीन लोकके शिखरपर सुखसे विराजमान हुआ और दूसरा चतुर्थ नरककी भूमिका नायक हुआ। इसलिए आचार्य कहते हैं कि विद्वानोंको मूर्खके समान कभी भी निदान नहीं करना चाहिए ॥७२४-७२७॥ रावणका जीव पहले सारसमुच्चय नामके देशमें नरदेव नामका राजा था। फिर सौधर्म स्वर्गमें सुखका भाण्डार-स्वरूप देव हुआ और तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर इसी भरतक्षेत्रके राजा विनमि विद्याधरके वंशमें समस्त विद्याधरोंके देदीप्यमान मस्तकोंकी मालापर आक्रमण करनेवाला, लोलम्पट, अपने वंशको नष्ट करनेके लिए केतु (पुच्छलतारा) के समान तथा दुराचारियोंमें अग्रेसर रावण हुआ ॥ ७२८ ॥

---

१ द्विपसर्पदर्पशमन ल० । २ प्रबुधो क०, ख० । ३ देवः ।

वसन्ततिलका

आसीदिहैव मलये विषये महीश-
स्तुक् चन्द्रचूल इति दुश्चरितः समाप्य ।
पश्चात्तपोऽजनि सुर. स सनत्कुमारे
तस्मादिहैत्य समभूद्विभुरर्धचक्री ॥७२९॥

द्रुतविलम्बितम्

मणिमतिः खचरी गुणभूषणा
कृतनिदानमृतेरति कोपिनी ।
ततयशाः समभूदिह सुव्रता
परिवृता जनकेशसुता सती ॥७३०॥

मालिनी

इह सचिवतनूजश्चन्द्रचूलस्य मित्रं
विजयविदितनामाजायत [1]स्वस्तृतीये ।
कथितकनकचूलो लालितो दिव्यभोगै-
रमवदमितवीर्यः सूर्यवंशे स रामः ॥७३१॥

जनयतु बलदेवो देवदेवो दुरन्ताद्
दुरितदुरुदयोत्थाद्दूष्यदुःखाद्दवीयान् ।
प्रवनतभुवनेशो विश्वदृश्वा विरागो[3]
निखिलसुखनिवासः सोऽष्टमोऽमीष्टमस्मान् ॥७३२॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे मुनिसुव्रततीर्थकर-हरिषेण-चक्रवर्तिरामबलदेवलक्ष्मीधरकेशवसीतारावणपुराणं परिसमाप्तमष्टषष्टं पर्व ॥६८॥

लक्ष्मणका जीव पहले इसी क्षेत्रके मलयदेशमें चन्द्रचूल नामका राजपुत्र था, जो अत्यन्त दुराचारी था। जीवनके पिछले भागमें तपश्चरण कर वह सनत्कुमार स्वर्गमें देव हुआ फिर वहाँसे आकर यहाँ अर्धचक्री लक्ष्मण हुआ था ॥७२९॥ सीता पहले गुणरूपी आभूषणोंसे सहित मणिमति नामकी विद्याधरी थी। उसने अत्यन्त कुपित होकर निदान मरण किया जिससे यशको विस्तृत करनेवाली तथा अच्छे व्रतोंका पालन करनेवाली जनकपुत्री सती सीता हुई ॥७३०॥ रामचन्द्रका जीव पहले मलय देशके मन्त्रीका पुत्र चन्द्रचूलका मित्र विजय नामसे प्रसिद्ध था फिर तीसरे स्वर्गमें दिव्य भोगोंसे लालित कनकचूल नामका प्रसिद्ध देव हुआ और फिर सूर्यवंशमें अपरिमित बलको धारण करनेवाला रामचन्द्र हुआ ॥७३१॥ जो दुःखदायी पापकर्मके दुष्ट उदयसे उत्पन्न होनेवाले निन्दनीय दुःखसे बहुत दूर रहते थे, जिन्होंने समस्त इन्द्रोंको नम्र बना दिया था, जो सर्वज्ञ थे, वीतराग थे, समस्त सुखोंके भाण्डार थे और जो अन्तमें देवोंके देव हुए—सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हुए ऐसे अष्टम बलभद्र श्रीरामचन्द्रजी हम लोगोंकी इष्टसिद्धि करें ॥७३२॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणके संग्रहमें मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर, हरिषेण चक्रवर्ती, राम बलभद्र, लक्ष्मीधर (लक्ष्मण) नारायण, सीता तथा रावणके पुराणका वर्णन करनेवाला अड़सठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥६८॥

---

१ -रपि ल० । २ स्वर्गे । ३ विरागी ल० ।

यस्य नामापि धर्तॄणां मुक्त्यै हृदयपङ्कजे । नमिर्नमयतात्स्वात् मोक्षलक्ष्मीं स सद्य नः ॥१॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे विषये वत्सनामनि । कौशाम्ब्यां नगरे राजा पार्थिवाख्यो विभुर्विशाम् ॥२॥
चक्षुरिक्ष्वाकुवंशस्य लक्ष्मीं वक्षःस्थले दधत् । साक्षाच्चक्रीव दिक्चक्रमाक्रम्याभात् स विक्रमी ॥३॥
तनूजस्तस्य सुन्दर्यां देव्यां सिद्धार्थनामभाक् । मुनिं मनोहरोद्याने परमावधिवीक्षणम् ॥४॥
दृष्ट्वा मुनिवराख्यानं कदाचिद् विनयानतः । संपृच्छ्य धर्मसद्भावं यथावत्तदुदीरितम् ॥५॥
समाकर्ण्य समुत्पन्नसंवेगः स महीपतिः । मृतिमूलधनेनाधमर्णो मृत्योरिहासुभृत् ॥६॥
वहन् दुःखानि तद्वृद्धिं सर्वो जन्मनि दुर्गतः । रत्नत्रयं समावर्ज्य तस्मै यावन्न दास्यति ॥७॥
ऋणं सवृद्धिकं तावत्कुतः स्वास्थ्यं कुतः सुखम् । इति निश्चित्य कर्मारीन्निहन्तुं विहितोद्यमः ॥८॥
सुताय श्रुतशास्त्राय प्रजापालनशालिने[1] । सिद्धार्थाय समर्थाय दत्त्वा राज्यमुदारधीः[2] ॥९॥
प्राव्राजीत् पूज्यपादस्य मुनेर्मुनिवरश्रुतेः । पादमूलं समासाद्य सतां सा वृत्तिरीदृशी ॥१०॥
सिद्धार्थो व्याप्तसम्यक्त्वो गृहीताणुव्रतादिकः । भोगान् सुखेन भुञ्जानः प्रचण्डोऽपालयत्प्रजाः ॥११॥
काले गच्छति तस्यैवं कदाचित् स्वगुरोर्मुनेः । श्रुत्वा शरीरसंन्यासं विच्छिन्नविषयस्पृहः ॥१२॥
सद्यो मनोहरोद्याने बुद्धतत्त्वार्थविस्तृतिः । [3]महाबलाभिधाख्यातात् केवलावगमेक्षणात् ॥१३॥

अथानन्तर—भक्त लोगोंके हृदय-कमलमें धारण किया हुआ जिनका नाम भी मुक्तिके लिए पर्याप्त है—मुक्ति देनेमें समर्थ है ऐसे नमिनाथ स्वामी हम सबके लिए शीघ्र ही मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करें ॥१॥ इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रके वत्स देशमें एक कौशाम्बी नामकी नगरी है। उसमें पार्थिव नामका राजा राज्य करता था ॥२॥ वह इक्ष्वाकु वंशके नेत्रके समान था, लक्ष्मीको अपने वक्षःस्थलपर धारण करता था, अतिशय पराक्रमी था और सब दिशाओं-पर आक्रमण कर साक्षात् चक्रवर्तीके समान सुशोभित होता था ॥३॥ उस राजाके सुन्दरी नामकी रानीसे सिद्धार्थ नामका पुत्र हुआ था। एक दिन वह राजा मनोहर नामके उद्यानमें गया था। वहाँ उसने परमावधिज्ञानरूपी नेत्रके धारक मुनिवर नामके मुनिके दर्शन किये और विनयसे नम्र होकर उनसे धर्मका स्वरूप पूछा। मुनिराजने धर्मका यथार्थ स्वरूप बतलाया उसे सुनकर राजाको वैराग्य उत्पन्न हो आया। वह विचार करने लगा कि संसारमें प्राणी मरण-रूपी मूलधन लेकर मृत्युका कर्जदार हो रहा है ॥४-६॥ प्रत्येक जन्ममें अनेक दुःखोंको भोगता और कर्जकी वृद्धि करता हुआ यह प्राणी दुर्गत हो रहा है—दुर्गतियोंमें पड़कर दुःख उठा रहा है अथवा दरिद्र हो रहा है। जबतक यह प्राणी रत्नत्रयरूपी धनका उपार्जन कर मृत्युरूपी साहूकारके लिए ब्याज सहित धन नहीं दे देगा तबतक उसे स्वास्थ्य कैसे प्राप्त हो सकता है? वह सुखी कैसे रह सकता है? ऐसा निश्चय कर वह कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट करनेका उद्यम करने लगा ॥७-८॥ उत्कृष्ट बुद्धिके धारक राजा पार्थिवने, अनेक शास्त्रोंके सुनने एवं प्रजाका पालन करनेवाले सिद्धार्थ नामके अपने समर्थ पुत्रके लिए राज्य देकर पूज्यपाद मुनिवर नामके मुनिराजके चरण-कमलोंके समीप जिनदीक्षा धारण कर ली सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषोंकी ऐसी ही प्रवृत्ति होती है ॥९-१०॥ प्रतापी सिद्धार्थ भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर तथा अणुव्रत आदि व्रत धारण कर सुखपूर्वक भोग भोगता हुआ प्रजाका पालन करने लगा ॥११॥

इस प्रकार समय व्यतीत हो रहा था कि एक दिन उसने अपने पिता पार्थिव मुनिराजका समाधिमरण सुना। समाधिमरणका समाचार सुनते ही उसकी विषय-सम्बन्धी इच्छा दूर हो गयी। उसने शीघ्र ही मनोहर नामके उद्यानमें जाकर महाबल नामक केवली भगवान्से तत्त्वार्थका विस्तार-

---

१–शीलने ल० । २ श्रियं सुधीः ल० । ३ महाबलाभिधाख्यातकेवला–अ०, म० । महाबलाभिधाना-ख्यात केवला–ल० ।

राज्यभारं समारोप्य श्रीदत्ते स्वसुते मति । लब्धक्षायिकसम्यक्त्वः शमी संयममाददे ॥१४॥
स धृत्वैकादशाङ्गानि बद्ध्वा षोडशकारणैः । अन्त्यनामादिकर्माणि पुण्यानि पुरुषोत्तमः ॥१५॥
स्वायुरन्ते समाराध्य विमाने [1]लवसत्तमः । देवोऽपराजिते पुण्यादुत्तरेऽनुत्तरेऽभवत् ॥१६॥
त्रयस्त्रिंशत्पयोध्यायुरेकारत्निसमुच्छ्रितिः । निःश्वासाहारलेश्यादिभावैस्तत्रोदितैर्युतः ॥१७॥
जीवितान्तेऽहमिन्द्रेऽस्मिन् षण्मासैरागमिष्यति । जम्बूपलक्षिते द्वीपे विषये वङ्गनामनि ॥१८॥
मिथिलायां महीपालः श्रीमान् गोत्रेण काश्यपः । विजयादिमहाराजो विख्यातो वृषभान्वये ॥१९॥
अनुरक्तं व्यधात् कुर्वन्नुद्यन्निव रविर्जगत् । स्वविरागाद् विरक्तं तत् सोऽतपत्तस्य तादृशम् ॥२०॥
[2]अवृणीत गुणालिस्तं लक्ष्मीश्च सुकृतोदयात् । पुष्कलाविष्क्रियं तस्मिन् पुरुषार्थत्रयं ततः ॥२१॥
तस्य राज्ये रवावेव तापः क्रोधोऽपि कामिषु । विग्रहाख्या तनुष्वेव मुनिष्वेव विरागता ॥२२॥
परार्थग्रहणं नाम कुकविष्वेव बन्धनम् । काव्येष्वेव विवादश्च विद्वत्स्वेव जयार्थिषु ॥२३॥
शरव्याप्तिः सरित्स्वेव ज्योतिःष्वेवानवस्थितिः । क्रौर्यं क्रूरग्रहेष्वेव देवेष्वेव पिशाचता ॥२४॥

के साथ स्वरूप समझा ॥११-१३॥ तदनन्तर श्रीदत्त नामक पुत्रके लिए राज्य देकर उसने क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया और शान्त होकर संयम धारण कर लिया ॥१४॥ उस पुरुषोत्तमने ग्यारह अंग धारण कर सोलह कारण भावनाओंके द्वारा तीर्थंकर नामक पुण्य कर्मका बन्ध किया ॥१५॥ और आयुके अन्तमें समाधिमरण कर अपराजित नामके श्रेष्ठ अनुत्तर विमानमें अतिशय शोभायमान देव हुआ ॥१६॥ वहाँ उसकी तैंतीस सागरकी आयु थी, एक हाथ ऊँचा शरीर था, तथा श्वासोच्छ्वास, आहार, लेश्या आदि भाव उस विमान-सम्बन्धी देवोंके जितने बतलाये गये हैं वह उन सबसे सहित था ॥१७॥ जब इस अहमिन्द्रके जीवनका अन्त आया और वह छह माह बाद वहाँसे चलनेके लिए तत्पर हुआ तब जम्बूवृक्षसे सुशोभित इसी जम्बूद्वीपके वङ्ग नामक देशमें एक मिथिला नामकी नगरी थी। वहाँ भगवान् वृषभदेवका वंशज, काश्यपगोत्री विजयमहाराज नामसे प्रसिद्ध सम्पत्तिशाली राजा राज्य करता था ॥१८-१९॥ जिस प्रकार उदित होता हुआ सूर्य संसारको अनुरक्त—लालवर्णका कर लेता है उसी प्रकार उसने राज्यगद्दीपर आरूढ़ होते ही समस्त संसारको अनुरक्त—प्रसन्न कर लिया था और ज्यों-ज्यों सूर्य स्वयं राग—लालिमासे रहित होता जाता है त्यों-त्यों वह संसारको विरक्त—लालिमासे रहित करता जाता है इसी प्रकार वह राजा भी ज्यों-ज्यों विराग—प्रसन्नतासे रहित होता जाता था त्यों-त्यों संसारको विरक्त—प्रसन्नतासे रहित करता जाता था। सारांश यह है कि संसारकी प्रसन्नता और अप्रसन्नता उसीपर निर्भर थी सो ठीक ही है क्योंकि उसने वैसा ही तप किया था और वैसा ही उसका प्रभाव था ॥२०॥ चूँकि पुण्य कर्मके उदयसे अनेक गुणोंके समूह तथा लक्ष्मीने उस राजाका वरण किया था इसलिए उसमें धर्म, अर्थ, कामरूप तीनों पुरुषार्थ अच्छी तरह प्रकट हुए थे ॥२१॥ उस राजाके राज्यमें यदि ताप—उष्णत्व था तो सूर्यमें ही था अन्यत्र ताप—दुःख नहीं था, क्रोध था तो सिर्फ कामी मनुष्योंमें ही था वहाँके अन्य मनुष्योंमें नहीं था, विग्रह नाम था तो शरीरोंमें ही था अन्यत्र विग्रह अर्थात् युद्धका नाम नहीं था, विरागता—वीतरागता यदि थी तो मुनियोंमें ही थी वहाँके अन्य मनुष्योंमें विरागता—स्नेहका अभाव नहीं था। परार्थ ग्रहण—अन्य कवियोंके द्वारा प्रतिपादित अर्थका ग्रहण करना कुकवियोंमें ही था अन्य मनुष्योंमें परार्थग्रहण—दूसरेके धनका ग्रहण करना नहीं था। बन्धन—हरबन्ध, छत्रबन्ध आदिकी रचना काव्योंमें ही थी वहाँके अन्य मनुष्योंमें बन्धन—पाश आदिसे बाँधा जाना नहीं था। विवाद—शास्त्रार्थ यदि था तो विजयकी इच्छा रखनेवाले विद्वानोंमें ही था वहाँके अन्य मनुष्योंमें विवाद—कलह नहीं था। शरव्याप्ति—एक प्रकारके तृणका विस्तार नदियोंमें ही था वहाँके मनुष्योंमें शरव्याप्ति—बाणोंका विस्तार नहीं था। अनवस्थिति—अस्थिरता यदि थी तो ज्योतिष्क देवोंमें ही थी—वे ही निरन्तर

---

१ अहमिन्द्रः । २ ल० पुस्तके तु 'अवृणीत गुणानेव सर्वान् सुकृतोदयात्' इति पाठः । अत्र द्वितीयपादे छन्दोभङ्गः ।

वप्पिला तन्महादेवी वसुधारादिपूजिता । श्रीह्रीधृत्यादिभिः सेव्या सुखसुप्ता निशावधौ ॥२५॥
[1]शरदादिद्वितीयायां नक्षत्रेऽश्व्यादिमे सति । स्वर्गावतरणे मनुर्दृष्ट्वा स्वप्नान् पुरोदितान् ॥२६॥
स्ववक्त्राब्जप्रविष्टेभमप्यालोक्य विनिद्रिका । प्रभातपटहध्वानश्रवणाविष्कृतोत्सवा ॥२७॥
अपृच्छन् फलमेतेषां नृपं देशावधीक्षणम् । सोऽप्यवादीद् भवद्गर्भे भावितीर्थकृदित्यदः ॥२८॥
तदैवागत्य देवेन्द्राः स्वर्गावतरणोत्सवम् । विधाय स्वनियोगेन निजधामागमन् समम् ॥२९॥
आषाढे स्वातियोगे तं कृष्णपक्षे महौजसम् । दशम्यां विश्वलोकेशमसूत तनुजोत्तमम् ॥३०॥
देवा द्वितीयकल्याणमप्यभ्येत्य तदा व्यधुः । नमिनामानमप्येनं व्याहरन् मोहभेदिनम् ॥३१॥
मुनिसुव्रततीर्थेशसंताने वर्षमानतः । गतेषु षट्सु लक्षेषु नमिनाथसमुद्भवः ॥३२॥
आयुर्दशसहस्राणि वर्षाणां परमं मतम् । उत्सेधो धनुषां पञ्चदश चास्याभिधीयते ॥३३॥
जातरूपद्युतिः सार्द्धद्विसहस्राब्दसंमिते । गते कुमारकालेऽभिषेकमाप्य सराज्यकम् ॥३४॥
राज्ये पञ्चसहस्राणि वत्सराणामगुर्विभोः । तदा प्रावृड्घनाटोपसंकटे गगनाङ्गणे ॥३५॥
[2]देवं वनविहाराय गतवन्तं महोदयम् । गजस्कन्धसमारूढं भानुमन्तमिवापरम् ॥३६॥
नभस्तलगतौ देवकुमारौ विहितानती । एवं विज्ञापयामासतुर्बद्धकरपङ्कजौ ॥३७॥
द्वीपेऽस्मिन् प्राग्विदेहेऽस्ति विषयो वत्सकावती । सुसीमा नगरी तत्र विमानादपराजितात् ॥३८॥

गमन करते रहते थे वहाँके मनुष्योंमें अनवस्थिति—अस्थिरता नहीं थी। क्रूरता यदि थी तो दुष्ट ग्रहोंमें ही थी वहाँके मनुष्योंमें क्रूरता—दुष्टता—निर्दयता नहीं थी और पिशाचता—पिशाच जाति यदि थी तो देवोंमें ही थी वहाँके मनुष्योंमें पिशाचता—नीचता नहीं थी ॥२२-२४॥ विजयमहाराजकी महादेवीका नाम वप्पिला था, देवोंने रत्नवृष्टि आदिसे उसकी पूजा की थी, श्री, ह्री, धृति आदि देवियाँ उसकी सेवा करती थीं। शरद् ऋतुकी प्रथम द्वितीया अर्थात् आश्विन कृष्ण द्वितीयाके दिन अश्विनी नक्षत्र और रात्रिके पिछले पहर जब कि भगवान्‌का स्वर्गावतरण हो रहा था तब सुखसे सोयी हुई महारानीने पहले कहे हुए सोलह स्वप्न देखे ॥२५-२६॥ उसी समय उसने अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। देखते ही उसकी निद्रा दूर हो गयी और प्रातःकालके बाजोंका शब्द सुननेसे उसके हर्षका ठिकाना नहीं रहा ॥२७॥ उसने देशावधि ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले राजासे इन स्वप्नोंका फल पूछा और राजाने भी कहा कि तुम्हारे गर्भमें भावी तीर्थंकरने अवतार लिया है ॥२८॥ उसी समय इन्द्रोंने आकर अपने नियोगके अनुसार भगवान्‌का स्वर्गावतरण महोत्सव—गर्भ-कल्याणकका उत्सव किया और तदनन्तर सब साथ-ही-साथ अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥२९॥ वप्पिला महादेवीने आषाढ़ कृष्ण दशमीके दिन स्वाति नक्षत्रके योगमें समस्त लोकके स्वामी महाप्रतापी श्रेष्ठपुत्रको उत्पन्न किया ॥३०॥ देवोंने उसी समय आकर जन्मकल्याणकका उत्सव किया और मोह शत्रुको भेदन करनेवाले जिन-बालकका नमिनाथ नाम रखा ॥३१॥ भगवान् मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरकी तीर्थ-परम्परामें जब छह लाख वर्ष बीत चुके थे तब नमिनाथ तीर्थंकरका जन्म हुआ था ॥३२॥ भगवान् नमिनाथकी आयु दस हजार वर्षकी थी, शरीर पन्द्रह धनुष ऊँचा था और कान्ति सुवर्णके समान थी। जब उनके कुमारकालके अढ़ाई हजार वर्ष बीत गये तब उन्होंने अभिषेकपूर्वक राज्य प्राप्त किया था ॥३३-३४॥ इस प्रकार राज्य करते हुए भगवान्‌को पाँच हजार वर्ष बीत गये। एक दिन जब कि आकाश वर्षाऋतुके बादलोंके समूहसे व्याप्त हो रहा था तब महान् अभ्युदयके धारक भगवान् नमिनाथ दूसरे सूर्यके समान हाथीके कन्धेपर आरूढ़ होकर वन-विहारके लिए गये ॥३५-३६॥ उसी समय आकाशमार्गसे आये हुए दो देवकुमार हस्तकमल जोड़कर नमस्कार करते हुए इस प्रकार प्रार्थना करने लगे ॥३७॥ वे कहने लगे कि इसी जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक वत्सकावती नामका

---

१ शारदादि—म० । २ वनं वनविहाराय म० । एवं वनविहाराय ग०, छ० ।

अवतीर्य समुत्पन्नस्तीर्थनाथोऽपराजितः । तस्य केवलपूजार्थं देवेन्द्राः समुपागताः ॥३९॥
तत्सभायामभूत् प्रश्नः किमस्ति भरतेऽधुना । कश्चित्तीर्थकृदित्याह सोऽप्येवं सकलार्थदृक् ॥४०॥
बङ्गाख्यदेशे मिथिलानगरे नमिनायकः । भावितीर्थकरः पुण्यादवतीर्णोऽपराजितात् ॥४१॥
देवोपनीतभोगानां भोक्ता संप्रति तिष्ठति । तपः प्राग्धातकीखण्डे कृत्वा सौधर्मनामनि ॥४२॥
संभूयेमौ द्वितीयेऽह्नि गत्वा तद्वचनश्रुतेः । भवन्तमीक्षितुं पूज्यमावामैव[1] सकौतुकौ ॥४३॥
इति सोऽपि समासन्नकेवलावगमोदयः । चित्ते विधाय तत्सर्वं महीशः प्राविशत् पुरम् ॥४४॥
तत्र स्वभवसंबन्धं स्मृत्वा तीर्थकरं च तम् । आजवंजवसंजातसद्भावं भावयन्मुहुः ॥४५॥
अनादिबन्धनैर्गाढं बद्ध्वात्मानमात्मना । कायकारागृहे स्थित्वा पापी पक्षीव पञ्जरे ॥४६॥
कुञ्जरो वार्यिताक्रान्तो कल्यस्थलमात्मनः । नाना दुःखानि भुञ्जानो भूयस्तैरेव रञ्जितः ॥४७॥
इन्द्रियार्थेषु संसक्तो रतितीव्रतरोदयात् । अशुचिष्वेवसंवृद्धतृष्णोऽवस्करकीटवत् ॥४८॥
बिभ्यन्मृत्योस्तमाधावन् वर्ज्यदुःखस्तदर्जयत् । विपर्यस्तमतिः कष्टमार्तरौद्राहिताशया ॥४९॥
भवे भ्राम्यत्यविश्राम्यन् प्रतान्वन् पापपाकजः । इमां निरूढां धिङ्मूढिममीष्टार्थविघातिनीम् ॥५०॥
इति निर्वेद[2]संयोगाद् भोगरागातिदूरगः । सारस्वतादिसर्वापरागामरसमर्चितः ॥५१॥
क्षयोपशमसंप्राप्तप्रशस्त[3]संज्वलनोदयः । लब्धबोधिः सुतं राज्ये निजे संयोज्य सुप्रभम् ॥५२॥

देश है। उसकी सुसोमा नगरीमें अपराजित विमानसे अवतार लेकर अपराजित नामके तीर्थंकर उत्पन्न हुए हैं। उनके केवलज्ञानकी पूजाके लिए सब इन्द्र आदि देव आये थे ॥३८-३९॥ उनकी सभामें प्रश्न हुआ कि क्या इस समय भरतक्षेत्रमें भी कोई तीर्थंकर है? सर्वदर्शी अपराजित भगवान्ने उत्तर दिया कि इस समय बंगदेशके मिथिलानगरमें नमिनाथ स्वामी अपराजित विमानसे अवतीर्ण हुए हैं वे अपने पुण्योदयसे तीर्थंकर होनेवाले हैं ॥४०-४१॥ इस समय वे देवोंके द्वारा लाये हुए भोगोंका अच्छी तरह उपभोग कर रहे हैं—गृहस्थावस्थामें विद्यमान हैं। हे देव! हम दोनों अपने पूर्व जन्ममें धातकीखण्ड द्वीपके रहनेवाले थे, वहाँ तपश्चरण कर सौधर्म नामक स्वर्गमें उत्पन्न हुए हैं। दूसरे दिन हमलोग अपराजित केवलीकी पूजाके लिए गये थे। वहाँ उनके वचन सुननेसे पूजनीय आपके दर्शन करनेके लिए कौतुकवश यहाँ आये हैं ॥४२-४३॥ जिन्हें निकट-कालमें ही केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेवाली है ऐसे भगवान् नमिनाथ देवोंकी उक्त समस्त बातोंको हृदयमें धारण कर नगरमें लौट आये ॥४४॥ वहाँ वे विदेह क्षेत्रके अपराजित तीर्थंकर तथा उनके साथ अपने पूर्वभवके सम्बन्धका स्मरण कर संसारमें होनेवाले भावोंका बार-बार विचार करने लगे ॥४५॥ वे विचार करने लगे कि इस आत्माने अपने-आपको अपने-आपके ही द्वारा अनादिकालसे चले आये बन्धनोंसे अच्छी तरह जकड़कर शरीर-रूपी जेलखानेमें डाल रखा है और जिस प्रकार पिंजड़ेके भीतर पापी पक्षी दुःखी होता है अथवा आलान—खम्भेसे बँधा हुआ हाथी दुःखी होता है उसी प्रकार यह आत्मा निरन्तर दुःखी रहता है। यह यद्यपि नाना दुःखोंको भोगता है तो भी उन्हीं दुःखोंमें राग करता है। रति नोकषायके अत्यन्त तीव्र उदयसे यह इन्द्रियोंके विषयमें आसक्त रहता है और विष्ठाके कीड़ाके समान अपवित्र पदार्थोंमें तृष्णा बढ़ाता रहता है यह प्राणी मृत्युसे डरता है किन्तु उसी ओर दौड़ता है, दुःखोंसे छूटना चाहता है किन्तु उनका ही संचय करता है। हाय-हाय, बड़े दुःखकी बात है कि आर्त और रौद्र ध्यानसे उत्पन्न हुई तृष्णासे इस जीवकी बुद्धि विपरीत हो गयी है। यह बिना किसी विश्रामके चतुर्गतिरूप भवमें भ्रमण करता है और पापके उदयसे दुःखी होता रहता है। इष्ट अर्थका विघात करनेवाली, दृढ़ और अनादि कालसे चली इस मूर्खताको धिक्कार हो ॥४६-५०॥

इस प्रकार वैराग्यके संयोगसे वे भोग तथा रागसे बहुत दूर जा खड़े हुए। उसी समय सारस्वत आदि समस्त वीतराग देवोंने—लौकान्तिक देवोंने उनकी पूजा की ॥५१॥ कर्मोंका

१ आवामैवः ख०, ग०, मावामेवं म०, क० (आवाम्, ऐव, इण् धातोर्लङुत्तमपुरुषद्वितीयवचनस्य रूपम् आवाम् आगतौ इति भावः)। २ निर्वेदसंवेगात् क० । ३ प्रशस्त क० पाठे छन्दोभङ्गः ।

साभिषेकं सुरैः [1]प्राप्य परिनिःक्रान्तिपूजनम् । यानमुत्तरकुर्वाख्यं समारुह्य मनोहरम् ॥५३॥
गत्वा [2]चैत्रवनोद्यानं षष्ठोपवसनं श्रितः । आषाढकालपक्षेऽश्विनक्षत्रे दशमीदिने ॥५४॥
अपराह्णे सहस्रेण क्षत्रियाणां सहाग्रहीत् । संयमं संयमापाद्यं[3] सज्ञानं च चतुर्थकम् ॥५५॥
भोक्तुं वीरपुरं तस्मै दत्तो गतवते नृपः । सुवर्णवर्णो दिव्याप्तमवापाश्चर्यपञ्चकम् ॥५६॥
छाद्मस्थ्येन ततः काले प्रयाते नववत्सरे । निजदीक्षावने रम्ये मूले वकुलभूरुहः ॥५७॥
तस्य षष्ठोपवासस्य नक्षत्रेऽश्वाभिधानके । मार्गशीर्षशुचौ पक्षे दिनान्ते केवलं विभोः ॥५८॥
दिने तृतीयनन्दायामभूदखिलगोचरम् । [4]नाककनायकसंघार्यंतुर्यकल्याणभागिनः[5] ॥५९॥
सुप्रभार्यादयः सप्तदशासन् गणनायकाः । चतुःशतानि पञ्चाशत् सर्वपूर्वधरा मताः ॥६०॥
शिक्षकाः षट्शतद्वादशसहस्राणि सद्व्रताः । त्रिज्ञानधारिणां संख्या सहस्रं षट् शताधिकम् ॥६१॥
तावन्तः पञ्चमज्ञाना मुनयो विक्रियर्द्धिकाः । सर्वे सार्धसहस्रं स्युर्मनःपर्ययबोधनाः ॥६२॥
शून्यपञ्चद्विकैकोक्तास्त्यक्तसङ्गाः प्रकीर्तिताः । सहस्रं वादिनां संख्या ते सर्वेऽपि समुच्चिताः ॥६३॥
विंशतिः स्युः सहस्राणि मङ्गिनीप्रमुखार्यिकाः । चत्वारिंशत्सहस्राणि तदष्टांशाधिका मताः ॥६४॥
श्रावका लक्षमेकं तु त्रिगुणाः श्राविकास्ततः । देवा देव्योऽप्यसंख्यातास्तिर्यञ्चः संख्यया मिताः ॥६५॥
एवं द्वादशसंख्यान[6]गणैर्नम्रैर्नमीश्वरः । सद्धर्मदेशनं कुर्वन्नार्यक्षेत्राणि सर्वतः ॥६६॥

क्षयोपशम होनेसे उनके प्रशस्त संज्वलनका उदय हो गया अर्थात् प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका क्षयोपशम और संज्वलन क्रोध मान माया लोभका मन्द उदय रह गया जिससे वैराग्य प्राप्त कर उन्होंने सुप्रभ नामक पुत्रको अपना राज्य-भार सौंप दिया ॥५२॥ तदनन्तर देवोंके द्वारा किये हुए अभिषेकके साथ-साथ दीक्षा-कल्याणकका उत्सव प्राप्त कर वे उत्तरकुरु नामकी मनोहर पालकीपर सवार हो चैत्रवन नामक उद्यानमें गये। वहाँ उन्होंने वेलाका नियम लेकर आषाढ़कृष्ण दशमीके दिन अश्विनी नक्षत्रमें सायंकालके समय एक हजार राजाओंके साथ संयम धारण कर लिया और उसी समय संयमी जीवोंके प्राप्त करनेके योग्य चतुर्थ—मनःपर्ययज्ञान भी प्राप्त कर लिया ॥५३-५५॥ पारणाके लिए भगवान् वीरपुर नामक नगरमें गये वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले राजा दत्तने उन्हें आहार दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥५६॥ तदनन्तर जब छद्मस्थ अवस्थाके नव वर्ष बीत गये तब वे एक दिन अपने ही दीक्षावनमें मनोहर बकुल वृक्षके नीचे वेलाका नियम लेकर ध्यानारूढ़ हुए। वहींपर उन्हें मार्गशीर्ष शुक्लपक्षकी * तीसरी नन्दा तिथि अर्थात् एकादशीके दिन सायंकालके समय समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ—उसी समय इन्द्र आदि देवोंने चतुर्थ—ज्ञानकल्याणकका उत्सव किया ॥५७-५९॥ सुप्रभार्यको आदि लेकर उनके सत्रह गणधर थे। चार सौ पचास समस्त पूर्वोंके जानकार थे, बारह हजार छह सौ अच्छे व्रतोंको धारण करनेवाले शिक्षक थे, एक हजार छह सौ अवधिज्ञानके धारकोंकी संख्या थी, इतने ही अर्थात् एक हजार छह सौ ही केवलज्ञानी थे, पन्द्रह सौ विक्रियाऋद्धिके धारक थे, बारह सौ पचास परिग्रह रहित मनःपर्ययज्ञानी थे और एक हजार वादी थे। इस तरह सब मुनियोंकी संख्या बीस हजार थी। मंगिनीको आदि लेकर पैंतालीस हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ थीं और संख्यात तिर्यंच थे ॥६०-६५॥ इस प्रकार समीचीन धर्मका उपदेश करते हुए भगवान् नमिनाथने नम्रीभूत बारह सभाओंके साथ आर्य क्षेत्रमें सब ओर विहार किया। जब उनकी आयुका एक माह बाकी रह गया तब वे विहार बन्द कर सम्मेदशिखरपर जा विराज-

१ प्राप्तपरिनिष्क्रान्तिपूजनः ख०, ग०। २ चित्रवनोद्यानं म०, ल०। ३ संयमासाद्यं ग०। ४ नायनायक ग०, ल०। ५ भोगिनः म०। ६ संख्यात म०, ग०।

* ज्योतिष शास्त्रमें नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा च तिथयः क्रमात्' इस श्लोकके क्रमानुसार प्रतिपदा आदि तिथियोंके क्रमसे नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा नाम हैं। षष्ठीसे दशमी तककी तथा एकादशीसे पूर्णिमा तककी तिथियोंके भी यही नाम हैं इस प्रकार तीसरी नन्दा तिथि एकादशी होती है।

विहृत्य विहृतिं त्यक्त्वा मासं संमेदपर्वते । सहस्रमुनिभिः सार्द्धं प्रतिमायोगमास्थितः ॥६७॥
वैशाखे मासि कृष्णायां चतुर्दश्यां निशात्यये । मुक्तिमश्व्याह्वनक्षत्रे नमिस्तीर्थकरोऽगमत् ॥६८॥
अकुर्वन्पञ्चमं देवाः कल्याणं चाखिलेशिनः । स्वं स्वमोकश्च संप्राप्तपुण्यपण्याः प्रपेदिरे ॥६९॥

पृथ्वीच्छन्दः

कनत्कनकविग्रहो विहितविग्रहो घातिभिः
सहाहितजयो[2] जयेति च नुतो नतैर्नाकिभिः ।
भियं भवभवां[3] बहुं नयतु नः क्षयं नायको
विनेयविदुषां स्वयं विहतविग्रहोऽन्ते नमिः ॥७०॥

शार्दूलविक्रीडितम्

कौशाम्ब्यां प्रथितस्तृतीयजनने सिद्धार्थनामा नृपः
कृत्वा तत्र तपोऽतिघोरमभवत्तुर्येऽमरोऽनुत्तरे ।
तस्मादेत्य पुरे बभूव मिथिलानाम्नीन्द्रवन्द्यो नमि-
स्तीर्थेशस्त्रिजगद्धितार्थवचनव्यक्त्यैकविंशो जिनः ॥७१॥

पृथ्वीवृत्तम्

नमिर्नमितसामरामरपतिः पतच्चामरो
भ्रमद्भ्रमरविभ्रमभ्रमितपुष्पवृष्ट्युत्करः ।
करोतु चरणारविन्दमकरन्दसंपायिनां
विनेयमधुपायिनामविरतोरुतृप्तिं जिनः ॥७२॥

जगत्त्रयजयोत्सिक्तमोहमाहात्म्यमर्दनात् । एकविंशो जिनो लब्धलक्ष्मीर्लक्ष्मीं ददातु नः ॥७३॥

मान हुए। वहाँ उन्होंने एक हजार मुनियोंके साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और वैशाख-कृष्ण चतुर्दशीके दिन रात्रिके अन्तिम समय अश्विनी नक्षत्रमें मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥६६-६८॥ उसी समय देवोंने आकर सबके स्वामी श्री नमिनाथ तीर्थंकरका पंचम—निर्वाणकल्याणकका उत्सव किया और तदनन्तर पुण्यरूपी पदार्थको प्राप्त हुए सब देव अपने-अपने स्थानको चले गये ॥६९॥ जिनका शरीर सुवर्णके समान देदीप्यमान था, जिन्होंने घातिया कर्मोंके साथ युद्ध किया था, समस्त अहितोंको जीता था अथवा विजय प्राप्त की थी, नम्रीभूत देव जय-जय करते हुए जिनकी स्तुति करते थे, जो विद्वान् शिष्योंके स्वामी थे और अन्तमें जिन्होंने शरीर नष्ट कर दिया था—मोक्ष प्राप्त किया था वे श्री नमिनाथ स्वामी हम सबके संसार-सम्बन्धी बहुत भारी भयको नष्ट करें ॥७०॥ जो तीसरे भवमें कौशाम्बी नगरमें सिद्धार्थ नामके प्रसिद्ध राजा थे, वहाँपर घोर तपश्चरण कर जो अनुत्तरके चतुर्थ अपराजित विमानमें देव हुए और वहाँसे आकर जो मिथिला नगरीमें इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय तीनों जगत्के हितकारी वचनोंको प्रकट करनेके लिए नमिनाथ नामक इकीसवें तीर्थंकर हुए, जिन्होंने देवों सहित समस्त इन्द्रोंसे नमस्कार कराया था, जिनपर चमर ढोरे जा रहे थे और जिनपर उड़ते हुए भ्रमरोंसे सुशोभित पुष्पवृष्टियोंका समूह पड़ा करता था ऐसे श्री नमिनाथ भगवान् चरण-कमलके मकरन्द-रसको पान करनेवाले शिष्यरूपी भ्रमरोंके लिए निरन्तर सन्तोष प्रदान करते रहें ॥७१-७२॥ तीनों जगत्को जीतनेसे जिसका गर्व बढ़ रहा है ऐसे मोहका माहात्म्य मर्दन करनेसे जिन्हें मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त हुई है ऐसे श्री नमिनाथ भगवान् हम सबके लिए भी मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करें ॥७३॥

---

१ नमितीर्थ म०, क०। २ अहितानां जयः, अथवा आहितो धृतो जयो येन सः। ३ भवः संसारो भवः कारणं यस्यास्ताम् भियम्।

द्वीपेऽस्मिन्नुत्तरे भागे महत्यैरावताह्वये । लक्ष्मीमान् श्रीपुराधीशो वसुंधरमहीपतिः ॥ ७४ ॥
पद्मावतीवियोगेन भृशं निर्विण्णमानसः । वने मनोहरे रम्ये वरधर्माखिलेक्षिणः ॥ ७५ ॥
निर्णीय धर्मसद्भावं तनये विनयंधरे । [1]निवेशितात्मभारः [2]सन् बहुभिर्भूभुजैः[3] समम् ॥ ७६ ॥
संयमं सम्यगादाय चारित्रं दुश्चरं चरन् । स्वाराधनविधानेन महाशुक्रे सुरोऽभवत् ॥ ७७ ॥
षोडशाब्ध्युपमस्यायुर्दिव्यान् भोगान् सुभुज्य सः । ततः प्रच्युत्य तत्तीर्थे वत्साख्यविषयेऽजनि ॥ ७८ ॥
नृपस्येक्ष्वाकुवंशस्य कौशाम्बीनगरेशिनः । तनूजो विजयाख्यस्य [4]प्रभाकर्यां प्रभाधिकः ॥ ७९ ॥
सर्वलक्षणसंपूर्णो जयसेनसमाह्वयः । त्रिसहस्रशरज्जीवी[5] षष्टिहस्तसमुच्छ्रितिः ॥ ८० ॥
तप्तचामीकरच्छायः स चतुर्दशरत्नभाक् । निधिभिर्नवभिः सेव्यो भोगैर्दशविधैः [6]सुखम् ॥ ८१ ॥
चिरमेकादशश्चक्रधरः कालमजीगमत् । अन्येद्युस्तुङ्गसौधाग्रे सुसुप्तोऽन्तःपुरावृतः ॥ ८२ ॥
कुर्वन् पर्वशशाङ्काभो दिगन्तरविलोकनम् । उल्काभिपतनं वीक्ष्य सुनिर्वेगपरायणः ॥ ८३ ॥
उच्चैःस्थितमिदं पश्य भास्वरं पर्यपद्यत । परित्यज्य सुसंप्रापदधोगतिमपप्रभम् ॥ ८४ ॥
उन्नतमूर्जितं तेजो ममेति मदमावहन् । अनाचरन् हितं मूढः पारलौकिकमात्मने ॥ ८५ ॥
विषयेषु विषक्तः सन्ध्रुवेष्ववितर्पिषु । प्रयाति गतिमेतस्य परोऽप्यत्र प्रमादवान् ॥ ८६ ॥
इत्याकलय्य कालादिलब्ध्या चक्रेडचक्रभीः । त्यक्तुं चक्रादिसाम्राज्यं [7]परिच्छित्योच्छ्रितेच्छया ॥ ८७ ॥
[8]सुक्षु राज्यमनिच्छत्सु महीयःसु कनीयसे । दत्वा पुत्राय साम्राज्यं वरदत्ताभिधायिनः ॥ ८८ ॥

अथानन्तर—इसी जम्बूद्वीपके उत्तर भागमें एक ऐरावत नामका बड़ा भारी क्षेत्र है उसके श्रीपुर नगरमें लक्ष्मीमान् वसुन्धर नामका राजा रहता था ॥७४॥ किसी एक दिन पद्मावती स्त्रीके वियोगसे उसका मन अत्यन्त विरक्त हो गया जिससे वह अत्यन्त सुन्दर मनोहर नामके वनमें गया। वहाँ उसने वरधर्म नामके सर्वज्ञ भगवान्से धर्मके सद्भावका निर्णय किया फिर विनयन्धर नामके पुत्रके लिए अपना सब भार सौंपकर अनेक राजाओंके साथ, संयम धारण कर लिया। तदनन्तर कठोर तपश्चरण कर समाधिमरण किया जिससे महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ ॥७५-७७॥ वहाँपर उसकी सोलह सागरकी आयु थी, दिव्य भोगोंका अनुभव कर वह वहाँसे च्युत हुआ और इन्हीं नमिनाथ तीर्थंकरके तीर्थमें वत्स देशकी कौशाम्बी नगरीके अधिपति, इक्ष्वाकुवंशी राजा विजयकी प्रभाकरी नामकी देवीसे कान्तिमान् पुत्र हुआ ॥७८-७९॥ वह सर्व लक्षणोंसे युक्त था, जयसेन उसका नाम था, तीन हजार वर्षकी आयु थी, साठ हाथकी ऊँचाई थी, तपाये हुए सुवर्णके समान कान्ति थी, वह चौदह रत्नोंका स्वामी था, नौ निधियाँ सदा उसकी सेवा करती थीं, ग्यारहवाँ चक्रवर्ती था और दस प्रकारके भोग भोगता हुआ सुखसे समय बिताता था। किसी एक दिन वह ऊँचे राजभवनकी छतपर अन्तःपुरवर्ती जनोंके साथ लेट रहा था ॥८०-८२॥ पौर्णमासीके चन्द्रमाके समान कान्तिका धारक वह समस्त दिशाओंको देख रहा था कि इतनेमें ही उसे उल्कापात दिखाई दिया। उसे देखते ही विरक्त होता हुआ वह इस प्रकार विचार करने लगा कि देखो यह प्रकाशमान वस्तु अभी तो ऊपर थी और फिर शीघ्र ही अपनी दो पर्यायें छोड़कर कान्तिरहित होती हुई नीचे चली गयी ॥८३-८४॥ 'मेरा तेज भी बहुत ऊँचा है, तथा बलवान् है' इस तरहके मदको धारण करता हुआ जो मूढ़ प्राणी अपनी आत्माके लिए हितकारी परलोक सम्बन्धी कार्यका आचरण नहीं करता है और उसके विपरीत नश्वर तथा सन्तुष्ट नहीं करनेवाले विषयोंमें आसक्त रहता है वह प्रमादी मनुष्य भी इसी उल्काकी गतिको प्राप्त होता है अर्थात् तेज रहित होकर अधोगतिको जाता है ॥८५-८६॥ ऐसा विचार कर सरल बुद्धिके धारक चक्रवर्तीने काल आदि लब्धियोंकी अनुकूलतासे चक्र आदि समस्त साम्राज्यको छोड़नेका निश्चय कर लिया।

१ निविशितात्म—ल० । २ स—ल० । ३ चिन्त्यः पाठः (भूभुग्भिर्बहुभिः समम्) ४ प्रभंकर्या ख०, ग० । ५ 'हायनोऽस्त्री शरत् समाः' इत्यमरः । ६ वरैः म०, ख० । ७ परिच्छेद्य मदृच्छया ख० । ८ पुत्रेषु 'सुत् तोकं चात्मजः प्रजाः ।'

केवलावगमात् प्राप्य संयमं बहुभिः समम् । श्रुतबुद्धितपोविक्रियौषधर्द्धिविभूषितः ॥ ८९ ॥
चारणत्वमपि प्राप्य प्रायोपगमनं श्रितः । संमेदे चारणोत्तुङ्गकूटे स्वाराधनाविधिः ॥ ९० ॥
जयन्तेऽनुत्तरे जातो विमाने लवसत्तम[1] । पुण्योत्तमानुभागोत्थमन्वभूत् सुचिरं सुखम् ॥ ९१ ॥

पृथ्वीवृत्तम्

वसुंधरमहीपतिः प्रथमजन्मनि प्राप्त स-
तपाः समजनिष्ट षोडश समुद्रमित्थायुषा ।
[2]सुरोऽजनि जनेश्वरोऽनुजयसेननामा ततो
बभूव लवसत्तमः सुखनिधिर्जयन्ते विभुः ॥ ९२ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे नमितीर्थंकरजयसेनचक्रवर्तिपुराणं परिसमाप्तम् एकोनसप्ततितमं पर्व ॥६९॥



वह अपने बड़े पुत्रोंके लिए राज्य देने लगा परन्तु उन्होंने तप धारण करनेकी उदात्त इच्छासे राज्य लेनेकी इच्छा नहीं की तब उसने छोटे पुत्रके लिए राज्य दिया और अनेक राजाओंके साथ वरदत्त नामके केवली भगवान्से संयम धारण कर लिया। वह कुछ ही समयमें श्रुत बुद्धि तप विक्रिया और औषध आदि ऋद्धियोंसे विभूषित हो गया ॥८७-८९॥ चारण ऋद्धि भी उसे प्राप्त हो गयी। अन्तमें सम्मेदशिखरके चारण नामक ऊँचे शिखरपर प्रायोपगमन संन्यास धारण कर आत्माकी आराधना करता हुआ जयन्त नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र हुआ और वहाँ उत्तम पुण्यकर्मके अनुभागसे उत्पन्न हुए सुखका चिरकालके लिए अनुभव करने लगा ॥९०-९१॥ जयसेनका जीव पहले भवमें वसुन्धर नामका राजा था फिर समीचीन तपश्चरण प्राप्त कर सोलह सागरकी आयुवाला देव हुआ, वहाँसे चयकर जयसेन नामका चक्रवर्ती हुआ और फिर जयन्त विमानमें सुखका भाण्डार स्वरूप अहमिन्द्र हुआ ॥९२॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराणके संग्रहमें नमिनाथ तीर्थंकर तथा जयसेन चक्रवर्तीके पुराणका वर्णन करनेवाला उनहत्तरवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥६९॥

१ अहमिन्द्रः । २ मरोऽजनि ल० ।

क्षान्त्यादिदश¹धर्मारालम्बनं यमुदाहरन् । सन्तः सद्धर्मचक्रस्य स नेमिः शंकरोऽस्तु नः ॥ १ ॥
संवेगजननं पुण्यं पुराणं जिनचक्रिणाम् । बलानां च श्रुतज्ञानमेतद् वन्दे त्रिशुद्धये ॥ २ ॥
पूर्वानुपूर्व्या वक्ष्येऽहं कृतमङ्गलसत्क्रियः । पुराणं हरिवंशाख्यं यथावृत्तं यथाश्रुतम् ॥ ३ ॥
अथ जम्बूमति द्वीपे विदेहेऽपरनामनि । ²सीतोदोदक्तटे देशे सुगन्धिकसमाह्वये ॥ ४ ॥
पुरे सिंहपुरे ख्यातो भूपोऽर्हद्दाससंज्ञकः । देव्यस्य जिनदत्ताख्या तयोः पूर्वभवार्जितात् ॥ ५ ॥
पुण्योदयात् समुद्भूतकामभोगैः सतृप्तयोः । काले गच्छत्यथान्येद्युरर्हतां परमेष्ठिनाम् ॥ ६ ॥
आष्टाह्निकमहापूजां विधाय नृपतिप्रिया । कुलस्य तिलकं पुत्रं लप्सीयाहमिति स्वयम् ॥ ७ ॥
आशास्यासौ सुखं सुप्ता निशायां सुप्रसन्नधीः । सिंहेभार्केन्दुपद्माभिषेकानैक्षिष्ट सुव्रता ॥ ८ ॥
स्वप्नानन्तरमेवास्या गर्भे प्रादुरभूत्कृती । नवमासावसानेऽसावसूत सुतमूर्जितम् ॥ ९ ॥
तज्जन्मनः प्रभृत्यन्यैरजय्यस्तत्पिताभवत् । ततोऽपराजिताख्यानमकुर्वंस्तस्य बान्धवाः ॥ १० ॥
रूपादिगुणसंपत्त्या सार्धं वृद्धिमसावगात् । आयौवनं मनोहारी सुरेन्द्रो वा दिवौकसाम् ॥ ११ ॥
तदा ³मनोहरोद्यानगतं विमलवाहनम् । तीर्थकर्तारमाकर्ण्य वनपालमुखान्नृपः । १२ ॥
स्वान्तःपुरपरीवारपरीतो भक्तिचोदितः । गत्वा प्रदक्षिणीकृत्य मुहुर्मुकुलिताञ्जलिः ॥ १३ ॥
प्रणम्य समभ्यर्च्य गन्धपुष्पाक्षतादिभिः । पीतधर्मामृतस्तस्मादकस्माद् भोगनिःस्पृहः ॥ १४ ॥

अथानन्तर—सज्जन लोग जिन्हें उत्तम क्षमा आदि दस धर्म रूपी अरोंका अवलम्बन बतलाते हैं जो समीचीन धर्मरूपी चक्रकी हाल हैं ऐसे श्री नेमिनाथ स्वामी हम लोगोंको शान्ति करनेवाले हों ॥१॥ जिनेन्द्र भगवान्, नारायण और बलभद्रका पुण्यवर्धक पुराण संसारसे भय उत्पन्न करनेवाला है इसलिए इस श्रुतज्ञानको मन-वचन-कायकी शुद्धिके लिए वन्दना करता हूँ ॥२॥ मंगलाचरण रूपी सत्क्रिया करके मैं हरिवंश नामक पुराण कहूँगा और वह भी पूर्वाचार्योंके अनुसार जैसा हुआ है अथवा जैसा सुना है वैसा ही कहूँगा ॥३॥ इसी जम्बूद्वीपके पश्चिम विदेह क्षेत्रमें सीतोदा नदीके उत्तर तटपर सुगन्धिला नामके देशमें एक सिंहपुर नामका नगर है उसमें अर्हद्दास नामका राजा राज्य करता था। उसकी स्त्रीका नाम जिनदत्त था। दोनों ही पूर्वभवमें संचित पुण्यकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए कामभोगोंसे सन्तुष्ट रहते थे। इस प्रकार दोनोंका सुखसे समय बीत रहा था। किसी एक दिन रानी जिनदत्ताने श्री जिनेन्द्र भगवान्की अष्टाह्निका सम्बन्धी महापूजा करनेके बाद आशा प्रकट की कि मैं कुलके तिलकभूत पुत्रको प्राप्त करूँ'। ऐसी आशा कर वह बड़ी प्रसन्नतासे रात्रिमें सुखसे सोयी। उसी रात्रिको अच्छे व्रत धारण करनेवाली रानीने सिंह, हाथी, सूर्य, चन्द्रमा और लक्ष्मीका अभिषेक इस प्रकार पाँच स्वप्न देखे। स्वप्न देखनेके बाद ही कोई पुण्यात्मा उसके गर्भमें अवतीर्ण हुआ और नौ माह बीत जानेपर रानीने बलवान् पुत्र उत्पन्न किया। उस पुत्रके जन्म समयसे लेकर उसका पिता शत्रुओं-द्वारा अजय हो गया था इसलिए भाई-बान्धवोंने उसका नाम अपराजित रखा ॥४–१०॥ वह रूप आदि गुणरूपी सम्पत्तिके साथ-साथ यौवन अवस्था तक बढ़ता गया इसलिए देवोंमें इन्द्रके समान सुन्दर दिखने लगा ॥११॥ तदनन्तर किसी एक दिन राजाने वनपालके मुखसे सुना कि मनोहर नामके उद्यानमें विमलवाहन नामक तीर्थंकर पधारे हुए हैं। सुनते ही वह भक्तिसे प्रेरित हो अपनी रानियों तथा परिवारके लोगोंके साथ वहाँ गया। वहाँ जाकर उसने बार-बार प्रदक्षिणाएँ दीं, हाथ जोड़े, प्रणाम किया, गन्ध, पुष्प अक्षत आदिके द्वारा अच्छी तरह पूजा की तथा धर्मरूपी अमृतका पान किया। यह सब

---

१ दशाराधर्मालम्बनं (?) क० । २ श्रीसीतोदकटे ख० । ३ मनोहरोद्याने ग०, म०, ख० ।

सुतेऽपराजिताख्याय दत्त्वा सहाङ्गसंपदम् । तपोऽग्र्यं समुपादत्त[1] पञ्चभिर्भूभुजां शतैः ॥ १५ ॥
कुमारोऽपि गृहीताणुव्रतादिः शुद्धदर्शनः । प्राविशल्लक्षितो लक्ष्म्या साक्षादिव पुरं हरिः ॥ १६ ॥
[2]तन्त्रावापगतां चिन्तां [3]निधाय निजमन्त्रिषु । सक्तः शास्त्रोक्तमार्गेण तदासौ धर्मकामयोः ॥ १७ ॥
कदाचिन्निजपित्रामा जिनं विमलवाहनम् । मुक्त्या वशीकृतं श्रुत्वा गन्धमादनपर्वते ॥ १८ ॥
अनिरीक्ष्य न भोक्ष्येऽहं जिनं विमलवाहनम् । इति प्रतिज्ञयाष्टोपवास्यासीदपराजितः ॥ १९ ॥
तदा शक्राज्ञया यक्षपतिर्विमलवाहनम् । तस्य संदर्शयामास साक्षात्कृत्वा महाशुभम्[4] ॥ २० ॥
जैनगेहे समभ्यर्च्य तं सोऽपि कृतवन्दनः । भुङ्क्ते स्म स्नेहशोकार्तचेतसां का विचारणा ॥ २१ ॥
वसन्तसमयेऽन्येद्युर्नन्दीश्वरदिवेष्वसौ । जिनचैत्यानि संपूज्य तत्संस्तवनपूर्वकम् ॥ २२ ॥
तत्र स्थितः स्वयं धर्मदेशनां विदधत्सुधीः । खाद् विपच्चारणौ साधू प्रापतुस्तस्थतुः पदः ॥ २३ ॥
प्रणिपत्य तयोर्देवतास्तवावसितौ नृपः । सोपचारं समभ्येत्य श्रुत्वा धर्ममभाषत ॥ २४ ॥
भगवन्तावहं पूज्यौ क्वचित्प्रागद्रष्टवानिति । ज्येष्ठो मुनिरुवाचैवं सत्यमावां त्वयेक्षितौ ॥ २५ ॥
तद्दर्शनप्रदेशं च वक्ष्यामि शृणु भूपते । पुष्करार्धापराद्रीन्द्रापरभागे महासरित् ॥ २६ ॥
तस्याश्चास्त्युत्तरे भागे गन्धिलो विषयो महान् । तत्खगाद्र्युत्तरश्रेण्यां सूर्यप्रभपुराधिपः ॥ २७ ॥
राजा सूर्यप्रभस्तस्य धारिणी प्राणवल्लभा । तयोश्चिन्तागतिर्ज्येष्ठस्तनुजोऽनुमनोगतिः ॥ २८ ॥
ततश्चपलगत्याख्यस्त्रिभिस्तैस्तौ मुदं गतौ । चिरं धर्मार्थकामैर्वा के न तुष्यन्ति सत्सुतैः ॥ २९ ॥

करते ही अकस्मात् उसकी भोगोंकी इच्छा शान्त हो गयी जिससे उसने अपराजित नामक पुत्रके लिए सब प्रकारकी विभूति प्रदान कर पाँच सौ राजाओंके साथ ज्येष्ठ तप धारण कर लिया ॥१२-१५॥ कुमार अपराजितने भी शुद्ध सम्यग्दृष्टि होकर अणुव्रत आदि श्रावकके व्रत ग्रहण किये और फिर जिस तरह इन्द्र अमरावतीमें प्रवेश करता है उसी तरह लक्ष्मीसे युक्त हो अपनी राजधानीमें प्रवेश किया ॥१६॥ उसने स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र सम्बन्धी चिन्ता तो अपने मन्त्रियोंपर छोड़ दी और स्वयं शास्त्रोक्त मार्गसे धर्म तथा काममें लीन हो गया ॥१७॥

किसी एक समय उसने सुना कि हमारे पिताके साथ श्री विमलवाहन भगवान् गन्धमादन पर्वतपर मोक्षको प्राप्त हो चुके हैं। यह सुनते ही उसने प्रतिज्ञा की कि 'मैं श्री विमलवाहन भगवान्के दर्शन किये बिना भोजन नहीं करूँगा।' इस प्रतिज्ञासे उसे आठ दिनका उपवास हो गया ॥१८-१९॥ तदनन्तर इन्द्रकी आज्ञासे यक्षपतिने उस राजाको महान् शुभ रूप श्री विमलवाहन भगवान्का साक्षात्कार कराकर दर्शन कराया। राजा अपराजितने जिन-मन्दिरमें उन विमलवाहन भगवान्की पूजा-वन्दना करनेके बाद भोजन किया सो ठीक ही है क्योंकि जिनका चित्त स्नेह तथा शोकसे पीड़ित हो रहा है उन्हें तत्त्वका विचार कैसे हो सकता है ? ॥२०-२१॥ किसी एक दिन वसन्त ऋतुकी आष्टाह्निकाके समय बुद्धिमान् राजा अपराजित जिन-प्रतिमाओंकी पूजाकर उनकी स्तुति कर वहींपर बैठा हुआ था और धर्मोपदेश कर रहा था कि उसी समय आकाशसे दो चारणऋद्धिधारी मुनिराज आकर वहींपर विराजमान हो गये। जिनेन्द्र भगवान्की स्तुतिके समाप्त होनेपर राजाने बड़ी विनयके साथ उनके सम्मुख आकर उनके चरणोंमें नमस्कार किया, धर्मोपदेश सुना और तदनन्तर कहा कि हे पूज्य ! मैंने पहले कभी आपको देखा है। उन दोनों मुनियोंमें जो ज्येष्ठ मुनि थे वे कहने लगे कि हाँ राजन् ! ठीक कहते हो, हम दोनोंको आपने देखा है ॥२२-२५॥ परन्तु कहाँ देखा है ? वह स्थान मैं कहता हूँ सुनो। पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिम सुमेरुकी पश्चिम दिशामें जो महानदी है उसके उत्तर तटपर एक गन्धिल नामका महादेश है। उसके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें सूर्यप्रभ नगरका स्वामी राजा सूर्यप्रभ राज्य करता था। उसकी स्त्रीका नाम धारिणी था। उन दोनोंके बड़ा पुत्र चिन्तागति, दूसरा मनोगति और तीसरा चपलगति

---

१ समुपादत्त ल० । २ तन्त्रवीगतां (?) ल० । ३ निधाय ख० । ४ महाशुभं ख०, ग० । महाशुभः ल० ।

तस्यामेवोत्तरश्रेण्यामरिंदमपुरेश्वरात् । अरिंजयाख्यादजितसेनायामभवत् सुता ॥ २० ॥
सती प्रीतिमती मेरुगिरेः सकलखेचरान्[1] । [2]त्रिर्भ्रान्त्या साजयच्चिन्तागतिं मुक्त्वा [3]स्वविद्यया ॥ २१ ॥
जित्वा चिन्तागतिर्वेगात्तां पश्चादिति चाब्रवीत् । संभावय कनीयांसं मम त्वं रत्नमालया ॥ २२ ॥
श्रुततद्वचना साह नाहं जितवतोऽपरैः । मालामिमां क्षिपामीति स तामित्यब्रवीत् पुनः ॥ २३ ॥
गतियुद्धं त्वया पूर्वमनुजाभ्यां कृतं मम । अभिलाषात्ततस्त्याज्या मया तद्वचनश्रुतेः ॥ २४ ॥
निर्विण्णा सा [4]निवृत्तार्यिकाभ्यासेऽगात्तपः परम् । तद्वीक्ष्य बहवस्तत्र निर्विद्य तपसि स्थिताः ॥ २५ ॥
अनुजाभ्यां समं चिन्तागतिश्चालोक्य साहसम् । कन्याया जातसंवेगो गुरुं दमवराभिधम् ॥ २६ ॥
संप्राप्य संयमं प्राप्य शुद्ध्यष्टकमधिष्ठितः । प्रान्ते सामानिकस्तुर्यकल्पेऽजायत सानुजः ॥ २७ ॥
तत्र भोगान्बहून् भुक्त्वा सप्ताब्धिवरमायुषा । ततस्तावनुजौ जम्बूद्वीपपूर्वविदेहगे ॥ २८ ॥
विषये पुष्कलावत्यां विजयार्धोत्तरे तटे । राजा गगनचन्द्राख्यः पुरे गगनवल्लभे ॥ २९ ॥
सुतौ गगनसुन्दर्यां तस्यामितमतिस्ततः । आवाममिततेजाश्च जातौ विद्यात्रयान्वितौ ॥ ४० ॥
अन्येद्युः पुण्डरीकिण्यामावाभ्यां जन्मपूर्वजम्[5] । आवयोः परिपृष्टेन जन्मत्रितयवृत्तकम् ॥ ४१ ॥
सर्वं स्वयंप्रभाख्येन तीर्थनाथेन भाषितम् । ततोऽस्मदग्रजः क्वाद्येत्यावयोरनुयोजने ॥ ४२ ॥
भूमौ सिंहपुरे जातो राजते सोऽपराजितः । नाम्ना राज्यं समासाद्य स्वयमित्यर्हतोदितम् ॥ ४३ ॥
तत्समीपे समादाय संयमं त्वां विलोकितुम् । त्वयि जन्मान्तरस्नेहादिहागमनमावयोः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार तीन पुत्र हुए थे। धर्म, अर्थ और कामके समान इन तीनों पुत्रोंसे वे दोनों माता-पिता सदा प्रसन्न रहते थे सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम पुत्रोंसे कौन नहीं सन्तुष्ट होते हैं? ॥२६-२६॥ उसी विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें अरिन्दमपुर नगरके राजा अरिंजय रहते थे। उनकी अजितसेना नामकी रानी थी और दोनोंके प्रीतिमती नामकी सती पुत्री हुई थी। उसने अपनी विद्यासे चिन्तागतिको छोड़कर समस्त विद्याधरोंको मेरु पर्वतकी तीन प्रदक्षिणा देनेमें जीत लिया था ॥२०-२१॥ तत्पश्चात् चिन्तागति उसे अपने वेगसे जीतकर कहने लगा कि तू रत्नोंकी मालासे मेरे छोटे भाईको स्वीकार कर। चिन्तागतिके वचन सुनकर प्रीतिमतीने कहा कि जिसने मुझे जीता है उसके सिवाय दूसरेके गलेमें मैं यह माला नहीं डालूँगी। इसके उत्तरमें चिन्तागतिने कहा कि चूँकि तूने पहले उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छासे ही मेरे छोटे भाइयों-के साथ गतियुद्ध किया था अतः तू मेरे लिए त्याज्य है। चिन्तागतिके यह वचन सुनते ही वह संसारसे विरक्त हो गयी और उसने विवृत्ता नामकी आर्यिकाके पास जाकर उत्कृष्ट तप धारण कर लिया। यह देख वहाँ बहुत-से लोगोंने विरक्त होकर दीक्षा धारण कर ली ॥२२-२५॥ कन्याका यह साहस देख जिसे वैराग्य उत्पन्न हो गया है ऐसे चिन्तागतिने भी अपने दोनों छोटे भाइयोंके साथ दमवर नामक गुरुके पास जाकर संयम धारण कर लिया और आठों शुद्धियोंको पाकर तीनों भाई चौथे स्वर्गमें सामानिक जातिके देव हुए ॥२६-२७॥ वहाँ सात सागर-की उत्कृष्ट आयु पर्यन्त अनेक भोगोंका अनुभव कर च्युत हुए और दोनों छोटे भाइयोंके जीव जम्बू-द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्र सम्बन्धी पुष्कलावती देशमें जो विजयार्ध पर्वत है उसकी उत्तर श्रेणीमें गगनवल्लभ नगरके राजा गगनचन्द्र और उनकी रानी गगनसुन्दरीके हम दोनों अमितमति तथा अमिततेज नामके पुत्र उत्पन्न हुए हैं। हम दोनों ही तीनों प्रकारकी विद्याओंसे युक्त थे ॥२८-४०॥ किसी दूसरे दिन हम दोनों पुण्डरीकिणी नगरी गये। वहाँ श्री स्वयंप्रभ तीर्थंकरसे हम दोनोंने अपने पिछले तीन जन्मोंका वृत्तान्त पूछा। तब स्वयंप्रभ भगवान्ने सब वृत्तान्त ज्योंका त्यों कहा। तदनन्तर हम दोनोंने पूछा कि हमारा बड़ा भाई इस समय कहाँ उत्पन्न हुआ है? इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा कि वह सिंहपुर नगरमें उत्पन्न हुआ है, अपराजित उसका नाम है, और स्वयं राज्य करता हुआ शोभायमान है ॥४१-४३॥ यह सुनकर हम दोनोंने उन्हीं स्वयं-

---

१ सकलखेचरात् ल०। २ त्रिरर्धांत्या (?) ल०। ३ तद्विद्यया ग०, घ०। ४ निवृत्तार्जिका ल०। ५ पूर्वकम् ग०, घ०। पूर्वजम् ख०।

पुण्योदयोद्भितान् भोगान् सर्वान् भूयोऽत्र भुक्तवान् । मासप्रमाणजीवी त्वं हितमद्य स्मराश्विति ॥४५॥
श्रुत्वा तद्वचनं राजा वन्दित्वा तौ मुनीश्वरौ । युवां जन्मान्तरस्नेहान्निःसङ्गत्वं गतावपि ॥ ४६ ॥
उपकारं महान्तं मे कृतवन्तौ हितैषिणौ । इत्याख्यत् स ततः प्रीतौ तौ निजस्थानमीयतुः ॥ ४७ ॥
तदैव स महीशोऽपि दत्त्वा राज्यं यथाविधि । प्रीतिंकरकुमाराय कृत्वाष्टाह्निकपूजनम् ॥ ४८ ॥
बन्धून् विसर्ज्य प्रायोपगमसंन्यासमुत्तमम् । विधाय षोडशे कल्पे द्वाविंशत्यब्धिजीवितः ॥ ४९ ॥
[1]सातंकरे विमानेऽभूदच्युतेन्द्रो महर्द्धिकः । दिव्यभोगांश्चिरं भुक्त्वा ततः प्रच्युत्य पुण्यभाक् ॥ ५० ॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे विषये कुरुजाङ्गले । हस्तिनाख्यपुराधीशः श्रीचन्द्रस्य महीपतेः ॥ ५१ ॥
श्रीमत्यां सुप्रतिष्ठाख्यः सुप्रतिष्ठः सुतोऽभवत् । आपूर्णयौवनस्यास्य सुनन्दासीत् सुखप्रदा ॥ ५२ ॥
सुतं योग्यतमं मत्वा श्रीचन्द्रधरणीश्वरः । दत्तराज्योऽग्रहीद् दीक्षां सुमन्दरयतिं श्रितः ॥ ५३ ॥
सुप्रतिष्ठोऽपि तद्राज्ये निःकोपे सुप्रतिष्ठितः । यशोधरमुनेर्दानाद्वापाश्चर्यपञ्चकम् ॥ ५४ ॥
अन्तःपुरान्वितोऽन्येद्युः शशाङ्ककरनिर्मले । रम्ये हर्म्यतले स्थित्वा कुर्वन् दिगवलोकनम् ॥ ५५ ॥
उल्कापतनमालोक्य भङ्गुरं भावयन् जगत् । सुदृष्टेर्ज्येष्ठपुत्रस्य कृत्वा राज्याभिषेचनम् ॥ ५६ ॥
सुमन्दरजिनाभ्याशे लब्धबोधिरदीक्षत । क्रमेणैकादशाङ्गानां पारगो भावनापरः ॥ ५७ ॥
सम्यक्त्वादिषु बद्ध्वासौ तीर्थकृत्कर्म निर्मलम् । स्वायुरन्ते समाधाय मासं संन्यासमास्थितः ॥ ५८ ॥
अनुत्तरे जयन्ताख्ये संप्रापदहमिन्द्रताम् । त्रयस्त्रिंशत्समुद्रोपमायुर्हस्ततनूच्छ्रितिः ॥ ५९ ॥

प्रभ भगवान्‌के समीप संयम धारण कर लिया और तुम्हें देखनेके लिए तुम्हारे जन्मान्तरके स्नेहसे हम दोनों यहाँ आये है ॥४४॥ हे भाई ! अब तू पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुए समस्त भोगोंका उपभोग कर चुका है। अब तेरी आयु केवल एक माहकी शेष रह गयी है इसलिए शीघ्र ही आत्मकल्याणका विचार कर ॥४५॥ राजा अपराजितने यह बात सुनकर दोनों मुनिराजोंकी वन्दना की और कहा कि आप यद्यपि निर्ग्रन्थ अवस्थाको प्राप्त हुए हैं तो भी जन्मान्तरके स्नेहसे आपने मेरा बड़ा उपकार किया है। यथार्थमें आप ही मेरे हितेच्छु हैं। तदनन्तर उधर उक्त दोनों मुनिराज प्रसन्न होते हुए अपने स्थानपर गये इधर राजा अपराजितने अपना राज्य विधिपूर्वक प्रीतिंकर कुमारके लिए दिया, आष्टाह्निक पूजा की, भाइयोंको विदा किया और स्वयं प्रायोपगमन नामका उत्कृष्ट संन्यास धारण कर लिया। संन्यासके प्रभावसे वह सोलहवें स्वर्गके सातंकर नामक विमानमें बाईस सागरकी आयुवाला बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंका धारक अच्युतेन्द्र हुआ। वह पुण्यात्मा वहाँके दिव्य भोगोंका चिरकाल तक उपभोग कर वहाँसे च्युत हुआ ॥४६-५०॥ और इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी कुरुजांगल देशमें हस्तिनापुरके राजा श्रीचन्द्रकी श्रीमती नामकी रानीसे सुप्रतिष्ठ नामका यशस्वी पुत्र हुआ। जब यह पूर्ण युवा हुआ तब सुनन्दा नामकी इसकी सुख देनेवाली स्त्री हुई ॥५१-५२॥ श्रीचन्द्र राजाने पुत्रको अत्यन्त योग्य समझकर उसके लिए राज्य दे दिया और स्वयं सुमन्दर नामक मुनिराजके पास जाकर दीक्षा धारण कर ली ॥५३॥ सुप्रतिष्ठ भी निष्कण्टक राज्यमें अच्छी तरह प्रतिष्ठाको प्राप्त हुआ। एक दिन उसने यशोधर मुनिके लिए आहार दान दिया था जिससे उसे पंचाश्चर्यकी प्राप्ति हुई थी ॥५४॥ किसी दूसरे दिन वह राजा चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल सुन्दर राजमहलके ऊपर अन्तःपुरके साथ बैठा हुआ दिशाओंको देख रहा था कि अकस्मात् उसकी दृष्टि उल्कापातपर पड़ी। उसे देखते ही वह संसारको नश्वर समझने लगा। तदनन्तर उसने सुदृष्टि नामक ज्येष्ठ पुत्रका राज्याभिषेक किया और आत्मज्ञान प्राप्त कर सुमन्दर नामक जिनेन्द्रके समीप दीक्षा धारण कर ली। अनुक्रमसे उसने ग्यारह अंगोंका अभ्यास किया और दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थंकर नामक निर्मल नामकर्मका बन्ध किया। जब आयुका अन्त आया तब समाधि धारण कर एक महीनेका संन्यास लिया जिसके प्रभावसे जयन्त नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र पदको प्राप्त किया। वहाँ इसकी तैंतीस सागरकी

---

१ पुष्पोत्तरे ल०।

साधंषोडशमासान्तनिःश्वासोऽभून्निराकुलम् । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राब्द्यतीतौ भोगसंपदम् ॥६०॥
भुञ्जानो निःप्रवीचारं लोकनालीगतावधिः । बलदीप्तिविकारादिगुणस्तत्क्षेत्रमात्रकः ॥६१॥
एवं देवगतौ दिव्यसुखं सुखमहाम्बुधेः । संप्राप ज्ञातसंतृप्तिः स्थितश्चिरसुखायुषा ॥६२॥
यतः परं तदुद्भूतेः क्रियते वंशवर्णनम् । द्वीपे जम्बूमति क्षेत्रे भरते वत्सदेशजे ॥६३॥
कौशाम्ब्याख्ये सुविख्याते नगरे मघवा नृपः । तद्देवी वीतशोकाभूत्सुतः ख्यातो रघुस्तयोः ॥६४॥
सुमुखो नाम तत्रैव जातः श्रेष्ठी महर्द्धिकः । इतः कलिङ्गविषये पुराद्दन्तपुराह्वयात् ॥६५॥
सार्थेन सममागच्छद् वीरदत्तो वणिक्सुतः । शम्ना व्याघ्रभयादेत्य भार्यया वनमालया ॥६६॥
कौशाम्बीनगरं तत्र सुमुखाख्यं समाश्रयत् । वनमालां समालोक्य स श्रेष्ठी विहरन् वने ॥६७॥
[1]विकायसायकैस्तीक्ष्णैः कदाचिच्छरधीकृतः[2] । मायावी वीरदत्तं तं पापी वाणिज्यहेतुना ॥६८॥
प्राहिणोद् द्वादशाब्दानां दत्त्वा पुष्कलजीविकाम् । स्वीचकार सहाकीर्त्या वनमालां विलोभिताम् ॥६९॥
अतिवाह्यागतो वीरदत्तो द्वादश वत्सरान् । तद्विक्रियां समाकर्ण्य स्मरन् संसारदुःस्थितिम् ॥७०॥
[3]शोकाकुलः सुनिर्विण्णः क्षीणपुण्यो निराश्रयः । वणिक् समग्रहीद् दीक्षां प्रोष्ठिलाख्यमुनिं श्रितः ॥७१॥
जीवितान्ते स संन्यस्य कल्पे सौधर्मनामनि । जातश्चित्राङ्गदो देवः प्रवीचारसुखाकरः ॥७२॥
स श्रेष्ठी वनमाला च धर्मसिंहतपोभृते । दत्त्वा प्रासुकमाहारं निन्दित्वा निजदुष्कृतम् ॥७३॥
अन्येद्युरशनेः पातात् संप्राप्य मरणं समम् । [4]भरते हरिवर्षाख्ये देशे भोगपुरेशिनः ॥७४॥
प्रभञ्जनाख्यनृपतेर्मृकण्डवाख्या मनोरमा । हरिवंशेऽजनि श्रेष्ठी सिंहकेतुस्तयोः सुतः ॥७५॥

आयु थी, एक हाथ ऊँचा शरीर था, वह साढ़े सोलह माहके अन्तमें एक बार श्वास ग्रहण करता था, बिना किसी आकुलताके जब तैंतीस हजार वर्ष बीत जाते थे तब एक बार आहार ग्रहण करता था, उसका सुख प्रवीचार-मैथुनसे रहित था, लोक-नाड़ीके अन्त तक उसके अवधि-ज्ञानका विषय था, वहींतक उसके बल, कान्ति तथा विक्रिया आदि गुण भी थे ॥५५-६१॥ इस प्रकार वह देवगतिमें दिव्य सुखका अनुभव करता था, सुखरूपी महासागरसे सदा सन्तुष्ट रहता था और सुखदायी लम्बी आयु तक वहीं विद्यमान रहा था ॥६२॥

अब इसके आगे वह जिस वंशमें उत्पन्न होगा उस वंशका वर्णन किया जाता है। जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें एक वत्स नामका देश है। उसकी कौशाम्बी नगरीमें अतिशय प्रसिद्ध राजा मघवा राज्य करता था। उसकी महादेवीका नाम वीतशोका था। कालक्रमसे उन दोनों-के रघु नामका पुत्र हुआ ॥६३-६४॥ उसी नगरमें एक सुमुख नामका बहुत धनी सेठ रहता था। किसी एक समय कलिंग देशके दन्तपुर नामक नगरमें वीरदत्त नामका वैश्य पुत्र, व्याघ्रोंके डरके कारण अपने साथियों तथा वनमाला नामकी स्त्रीके साथ कौशाम्बी नगरीमें आया और वहाँ सुमुख सेठके आश्रयसे रहने लगा। किसी दिन सुमुख सेठ वनमें घूम रहा था कि उसकी दृष्टि वनमालापर पड़ी। उसे देखते ही कामदेवने उसे अपने बाणोंका मानो तरकश बना लिया —वह कामदेवके बाणोंसे घायल हो गया। तदनन्तर मायाचारी पापी सेठने वीरदत्तको बहुत भारी आजीविका देकर बारह वर्षके लिए व्यापारके हेतु बाहर भेज दिया और स्वयं लुभायी हुई वनमालाको अपकीर्तिके साथ स्वीकृत कर लिया—अपनी स्त्री बना लिया ॥६५-६९॥ बारह वर्ष बिताकर जब वीरदत्त वापस आया तब वनमालाके विकारको सुन संसारकी दुःख-मय स्थितिका विचार करने लगा। अन्तमें शोकसे आकुल, पुण्यहीन, आश्रयरहित, वीरदत्तने विरक्त होकर प्रोष्ठिल मुनिके पास जिन-दीक्षा धारण कर ली ॥७०-७१॥ आयुके अन्तमें संन्यास मरण कर वह प्रथम सौधर्म स्वर्गमें प्रवीचारकी खान स्वरूप चित्रांगद नामका देव हुआ ॥७२॥ इधर सुमुख सेठ और वनमालाने भी किसी दिन धर्मसिंह नामक मुनिराजके लिए प्रासुक आहार देकर अपने पापकी निन्दा की ॥७३॥ दूसरे ही दिन वज्रके गिरनेसे उन दोनोंकी साथ-ही-साथ मृत्यु हो गयी। उनमें-से सुमुखका जीव तो भरत क्षेत्रके हरिवर्ष

---

१ कामबाणैः । २ इषधीकृतः । ३ शोकाकुलं क० । ४ भारते क० ।

[1]वस्त्वालयपुराधीशो वज्रचापमहीपतेः । तत्रैवासौ सुभायाश्च वनमालानुरूपिणी ॥७६॥
विद्युन्मालेति भूत्वा भूक् विद्युद्द्योतहासिनी । [2]आपूर्णयौवनस्यासीत् सिंहकेतोः रतिप्रदा ॥७७॥
जातु तौ दम्पती दृष्ट्वा देवे विहरणे वने । चित्राङ्गदे समुद्धृत्य हनिष्यामीति गच्छति ॥७८॥
रघुः पुरातनो भूप. सुमुखस्य सखा प्रियः । अणुव्रतफलेनाभूत् कल्पे सौधर्मनामनि ॥७९॥
वर्यः सूर्यप्रभो नाम वीक्ष्य चित्राङ्गदं तदा । शृणु मद्वचनं भद्र फलं किं तेऽनयोर्मृतौ ॥८०॥
पापानुबन्धि कर्मेदमयुक्तं युक्तिकारिणाम् । संसारद्रुमदुःखाभिधानं दुःखफलप्रदम् ॥८१॥
ततो मिथुनमेतच्च विसृजेत्यभ्यधान्मुहुः । श्रुत्वा तज्जातकारुण्यस्तदमुञ्चदसौ सुरः ॥८२॥
तौ संबोध्य समाश्वास्य तयोश्चम्पापुरे वने । सुखाप्तिं भाविनीं बुद्ध्वा सूर्यतेजा व्यसर्जयत् ॥८३॥
तत्पुराधीश्वरे चन्द्रकीर्तिनाममहीभुजि । निपुत्रे मरणं प्राप्ते राज्यसंततिसंस्थितेः ॥८४॥
सपुण्यं योग्यमन्वेष्टुं वारणं शुभलक्षणम् । गन्धादिभिः समभ्यर्च्यामुञ्चन् सन्मन्त्रिमण्डलम् ॥८५॥
सोऽपि दिव्यो गजो गत्वा वनं पुण्यविपाकतः । तावुद्धृत्य निजस्कन्धमारोप्य पुरमागमत् ॥८६॥
सिंहकेतोर्विधायाभिषेकं मन्त्र्यादयस्तदा । राज्यासनं समारोप्य बद्ध्वा पट्टं [3]ससंमदाः ॥८७॥
त्वं कस्यात्रागतः कस्मादित्याहुः सोऽब्रवीदिदम् । प्रभञ्जनः पिता माता मृकण्डूर्मण्डिता गुणैः ॥८८॥
हरिवंशामलव्योमसोमोऽहमिह केनचित् । सुरेणानीय मुक्तः सन् सह पत्न्या वने स्थितः ॥८९॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा मृकण्ड्वास्तनयो यतः । मार्कण्डेयस्तु नाम्नैष इति ते तमुदाहरन् ॥९०॥
एष देवोपनीतं तद्राज्यं सुचिरमन्वभूत् । संताने तस्य निर्यातो हरिर्हिमगिरिः परः ॥९१॥

नामक देशमें भोगपुर नगरके स्वामी हरिवंशीय राजा प्रभंजनकी मृकण्डु नामकी रानीसे सिंहकेतु नामका पुत्र हुआ और वनमालाका जीव उसी हरिवर्ष देशमें वस्वालय नगरके स्वामी राजा वज्रचापकी सुभा नामकी रानीसे बिजलीकी कान्तिको तिरस्कृत करनेवाली विद्युन्माला नामकी पुत्री हुई जो सिंहकेतुके पूर्ण यौवन होनेपर उसकी स्त्री हुई ॥७४-७७॥ किसी दिन वन-विहार करते समय चित्रांगद देवने उन दोनों दम्पतियोंको देखा और 'मैं इन्हें मारूँगा' ऐसे विचारसे वह इन्हें उठाकर जाने लगा ॥७८॥ पहले जन्ममें सेठ सुमुखका प्रियमित्र राजा रघु अणुव्रतों-के फलसे सौधर्म स्वर्गमें सूर्यप्रभ नामका श्रेष्ठ देव हुआ था। वह उस समय चित्रांगदको देख-कर कहने लगा कि 'हे भद्र ! मेरे वचन सुन, इन दोनोंके मर जानेसे तुझे क्या फल मिलेगा ? यह काम पापका बन्ध करनेवाला है, युक्तिपूर्वक काम करनेवालोंके अयोग्य है, संसाररूप वृक्षके दुःखरूपी दुष्ट फलका देनेवाला है। इसलिए तू यह जोड़ा छोड़ दे' इस प्रकार उसने बार-बार कहा। उसे सुनकर चित्रांगदको भी दया आ गयी और उसने उन दोनोंको छोड़ दिया। तदनन्तर सूर्यप्रभ देवने उन दोनों दम्पतियोंको सम्बोध कर आश्वासन दिया और आगे होने-वाले सुखकी प्राप्तिका विचार कर उन्हें चम्पापुरके वनमें छोड़ दिया ॥७९-८३॥ दैव योगसे उसी समय चम्पापुरका राजा चन्द्रकीर्ति बिना पुत्रके मर गया था इसलिए राज्यकी परम्परा ठीक-ठीक चलानेके लिए लिए सुयोग्य मन्त्रियोंने किसी योग्य पुण्यात्मा पुरुषको ढूँढ़नेके अर्थ किसी शुभ लक्षणवाले हाथीको गन्ध आदिसे पूजा कर छोड़ा था ॥८४-८५॥ वह दिव्य हाथी भी वनमें गया और पुण्योदयसे उन दोनों—सिंहकेतु और विद्युन्मालाको अपने कन्धेपर बैठा-कर नगरमें वापिस आ गया ॥८६॥ प्रसन्नतासे भरे हुए मन्त्री आदिने सिंहकेतुका अभिषेक किया, राज्यासनपर बैठाया और पट्ट बाँधा ॥८७॥ तदनन्तर उन लोगोंने पूछा कि आप किस-के पुत्र हैं और यहाँ कहाँसे आये हैं ? उत्तरमें सिंहकेतुने कहा कि 'मेरे पिताका नाम प्रभंजन है और माताका नाम गुणोंसे मण्डित मृकण्डु है। मैं हरिवंशरूपी निर्मल आकाशका चन्द्रमा हूँ, कोई एक देव मुझे [illegible] लाकर यहाँ वनमें छोड़ गया है, मैं अबतक वनमें ही स्थित था' ॥८८-८९॥ सिंहकेतुके वचन सुनकर लोग चूँकि यह मृकण्डुका पुत्र है इसलिए उसका मार्कण्डेय नाम रखकर उसी नामसे उसे पुकारने लगे ॥९०॥ इस प्रकार वह मार्कण्डेय, दैवयोगसे

---

१ अथ वीतपुराधीशो वज्रघोष म०, ख० । २ अपूर्णं ख० । ३ सहर्षाः ।

तृतीयो वसुगिर्याख्यः परेऽपि बहवो गताः । तदा कुशार्थविषये सद्वंशाम्बरभास्वतः ॥९१॥
अवार्यनिजशौर्येण निर्जिताशेषविद्विषः । ख्यातशौर्यपुराधीशसूरसेनमहीपतेः ॥९३॥
सुतस्य शूरवीरस्य धारिण्याश्च तनूद्भवौ । विख्यातोऽन्धकवृष्टिश्च पतिर्वृष्टिर्नराद्दिवाक् ॥९४॥
धर्मा[1] वान्धकवृष्टेश्च सुभद्रायाश्च सूनवः । समुद्रविजयोऽक्षोभ्यस्ततः स्तिमितसागरः ॥९५॥
हिमवान् विजयो विद्वानचलो धारणाह्वयः । पूरणः पूरितार्थीच्छो नवमोऽप्यभिनन्दनः ॥९६॥
वसुदेवोऽन्तिमश्चैवं दशाभूवन् शशिप्रभाः । कुन्ती माद्री च सोमे[2] वा सुते प्रादुर्बभूवतुः ॥९७॥
समुद्रविजयादीनां नवानां सुरतप्रदाः । शिवदेव्यनु तस्य धृतीश्वरा[3] स्वयंप्रभा ॥९८॥
सुनीताख्या च सीता च प्रियावाक् च प्रभावती । कालिङ्गी सुप्रभा चेति वनूवुर्वनितोत्तमाः ॥९९॥
पद्मावत्या द्वितीयस्य वृष्टेश्च तनयास्त्रयः । उग्रदेवमहाद्युक्तिसेनान्ताश्च गुणान्विताः ॥१००॥
गान्धारी च सुता प्रादुरभवत् शुभदायिनः । अथ कौरवमुख्यस्य हस्तिनाख्यपुरेशिनः ॥१०१॥
शक्तिनाममहीशस्य शतक्याश्च[4] पराशरः । तस्य मत्स्यकुलोत्पन्नराजपुत्र्यां सुतोऽभवत् ॥१०२॥
सत्यवत्यां सुधीर्व्यासः पुनर्व्याससुभद्रयोः । धृतराष्ट्रो महान् पाण्डुर्विदुरश्च सुतास्त्रयः ॥१०३॥
अथान्यैत्य विहारार्थं कदाचिद् वज्रमालिनि । नभोयायिनि विस्मृत्य गते हस्ताङ्गुलीयकम् ॥१०४॥
विलोक्य पाण्डुभूपालो गहने तत्समग्रहीत् । स्मृत्वा खगं विवृत्यैत्य मुद्रिकां तामितस्ततः ॥१०५॥
अन्विच्छन्तं विलोक्याह पाण्डुः किं मृग्यते त्वया । इति तद्वचनं श्रुत्वा विद्याधरमम मुद्रिका ॥१०६॥
विनष्टेत्यवदत्तस्य पाण्डुश्चैतामदर्शयत् । पुनः किमनया कृत्यमिति तस्यानुयोजनात् ॥१०७॥

प्राप्त हुए राज्यका चिरकाल तक उपभोग करता रहा। उसीके सन्तानमें हरिगिरि, हिमगिरि तथा वसुगिरि आदि अनेक राजा हुए। उन्हींमें कुशार्थ देशके शौर्यपुर नगरका स्वामी राजा शूरसेन हुआ जो कि हरिवंशरूपी आकाशका सूर्य था और अपनी शूरवीरतासे जिसने समस्त शत्रुओंको जीत लिया था। राजा शूरसेनके वीर नामका एक पुत्र था। उसकी स्त्रीका नाम धारिणी था। इन दोनोंके अन्धकवृष्टि और नरवृष्टि नामके दो पुत्र हुए ॥९१-९४॥ अन्धकवृष्टि-की रानीका नाम सुभद्रा था। उन दोनोंके धर्मके समान गम्भीर समुद्रविजय १, स्तिमितसागर २, हिमवान् ३, विजय ४, विद्वान् अचल ५, धारण ६, पूरण ७, पूरितार्थीच्छ ८, अभिनन्दन ९ और वसुदेव १० ये चन्द्रमाके समान कान्तिवाले दस पुत्र हुए तथा चन्द्रिकाके समान कान्तिवाली कुन्ती और माद्री नामकी दो पुत्रियाँ हुईं ॥९५-९७॥ समुद्रविजय आदि पहलेके नौ पुत्रोंके क्रमसे सम्भोग सुखको प्रदान करनेवाली शिवदेवी, धृतीश्वरा, स्वयम्प्रभा, सुनीता, सीता, प्रियावाक्, प्रभावती, कालिंगी और सुप्रभा नामकी संसारमें सबसे उत्तम स्त्रियाँ थीं ॥९८-९९॥ राजा शूरवीरके द्वितीय पुत्र नरवृष्टिकी रानीका नाम पद्मावती था और उससे उनके उग्रसेन, देवसेन तथा महासेन नामके तीन गुणी पुत्र उत्पन्न हुए ॥१००॥ इनके सिवाय एक गान्धारी नामकी पुत्री भी हुई। ये सब पुत्र-पुत्रियाँ अत्यन्त सुख देनेवाले थे। इधर हस्तिनापुर नगरमें कौरव वंशी राजा शक्ति राज्य करता था। उसकी शतकी नामकी रानीसे पराशर नाम-का पुत्र हुआ। उस पराशरके मत्स्य कुलमें उत्पन्न राजपुत्री रानी सत्यवतीसे बुद्धिमान् व्यास नामका पुत्र हुआ। व्यासकी स्त्रीका नाम सुभद्रा था उन दोनोंके धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये तीन पुत्र हुए ॥१०१-१०३॥

अथानन्तर—किसी एक समय वज्रमाली नामका विद्याधर क्रीड़ा करनेके लिए हस्तिनापुरके वनमें आया था। वह वहाँ अपने हाथकी अँगूठी भूलकर चला गया। इधर राजा पाण्डु भी उसी वनमें घूम रहे थे। उन्हें वह अँगूठी दिखी तो इन्होंने उठा ली। जब उस विद्याधरको अँगूठीका स्मरण आया तब वह लौटकर उसी वनमें आया तथा यहाँ-वहाँ उसकी खोज करने लगा। उसे ऐसा करते देख पाण्डुने कहा कि आप क्या खोज रहे हैं? पाण्डुके वचन सुनकर विद्याधरने कहा कि मेरी

---

१ धर्मा इव। २ चन्द्रिके इव। ३ धृतिश्वराव ख०, ग०। धृतीश्वरा ल०। ४ शतक्यास्च क०, घ०, म०। सतक्याश्च ख०।

मुद्रैषा कामरूपस्य माधनीत्यब्रवीत्खगः । यद्येवं कानिचिद् आवर्दिनान्येषास्तु मत्करे ॥१०८॥
प्रभावमस्याः पश्यामीत्यर्थिनस्तेन सोऽप्यदात् । पाण्डुश्च तत्कृतादृश्यनिजरूपेण संगमम् ॥१०९॥
कुन्त्या महाकृतोऽपश्चस्तत्र कर्णाह्वयः सुतः । ततः परैरविदितं मञ्जूषास्थं सकुण्डलम् ॥११०॥
सरत्नकवचं लेख्यपत्रकेण महार्भकम् । [1]कुन्तीपरिजनः कालिन्द्याः प्रवाहे मुमोच तम् ॥१११॥
चम्पापुरेश्वरो यान्तीमादायादित्यनामकः । बालभानुमिवान्तस्थं बालकं स सविस्मयः ॥११२॥
पश्यन् स्वदेव्यै[2] राधायै तोकः स्यादिति भाववित् । दत्त्वा सकुण्डिकोऽस्यैनं राधाकर्णपरिस्पृशम् ॥११३॥
अन्नु कर्णाभिधानोऽयमिति सादरमब्रवीत् । पाण्डोः कुन्त्या च माद्र्या च पाणिग्रहणपूर्वकम् ॥११४॥
प्राजापत्येन संबन्धो विवाहेनाभवत् पुनः । कुन्त्यामजनि धर्मिष्ठो धर्मपुत्रो[3] धराधिपः ॥११५॥
भीमसेनोऽनुपार्थश्च त्रयो वर्गत्रयोपमाः । माद्र्यां च नकुलो ज्येष्ठः सहदेवस्ततोऽन्वभूत् ॥११६॥
धृतराष्ट्राय गान्धारी दत्ता दुर्योधनोऽजनि । ततो दुःशासनः पश्चाद्य दुर्धर्षणस्ततः ॥११७॥
दुर्मर्षणाद्याः सर्वेऽपि शतमेकं महौजसः । एवं सुखेन सर्वेषां कालो गच्छति लीलया ॥११८॥
अन्येद्युः सुप्रतिष्ठाख्यो मुनीन्द्रो गन्धमादने । गिरौ संनिहितः शूरवीराख्यो वन्दितुं निजैः ॥११९॥
पुत्रपौत्रादिभिः सार्धं गत्वाभ्यर्च्याभिष्टुत्य तम् । श्रुत्वा धर्मं तदुद्दिष्टं स संवेगपरायणः ॥१२०॥
कृत्वाभिषेचनं दत्त्वा राज्यमन्धकवृष्टये । योग्योऽयमिति संयोज्य यौवराज्यं कनीयसे ॥१२१॥
संयमं स्वयमादाय तपांस्युग्रैः समाचरन् । गतेषु द्वादशाब्देषु पर्वते गन्धमादने ॥१२२॥
प्रतिमायोगमालम्ब्य सुप्रतिष्ठस्य तिष्ठतः । देवः सुदर्शनो नाम चकारोपद्रवं क्रुधा ॥१२३॥

अँगूठी गिर गयी है। इसके उत्तरमें पाण्डुने उसे अँगूठी दिखा दी। पश्चात् पाण्डुने उस विद्याधरसे पूछा कि इससे क्या काम होता है? उत्तरमें विद्याधरने कहा कि हे भद्र! यह अँगूठी इच्छानुसार रूप बनानेवाली है। यह सुनकर पाण्डुने प्रार्थना की कि हे भाई! यदि ऐसा है तो यह अँगूठी कुछ दिन तक मेरे हाथमें रहने दो, मैं इसका प्रभाव देखूँगा। पाण्डुकी इस प्रार्थनापर उस विद्याधरने वह अँगूठी उन्हें दे दी। पाण्डुने उस अँगूठीके द्वारा किये अपने अदृश्य रूपसे कुन्तीके साथ समागम किया जिससे उसके कर्ण नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। कुन्तीके परिजनोंने दूसरोंको विदित न होने पावे इस तरह छिपाकर उस बालकको एक सन्दूकचीमें रखा, उसे कुण्डल तथा रत्नोंका कवच पहिनाया और एक परिचायक पत्र साथ रखकर यमुना नदीके प्रवाहमें छोड़ दिया ॥१०४-१११॥ चम्पापुरके राजा आदित्यने बहती हुई सन्दूकचीको मँगाकर जब खोला तो उसके भीतर स्थित बालसूर्यके समान बालकको देखकर वह विस्मयमें पड़ गया। उसने सोचा कि यह पुत्र अपनी रानी राधाके लिए हो जायेगा। यह विचार कर उसने वह पुत्र राधाके लिए दे दिया। राधाने जब उस पुत्रको देखा तब वह अपने कर्ण—कानका स्पर्श कर रहा था इसलिए उसने बड़े आदरसे उसका कर्ण नाम रख दिया। यह सब होनेके बाद राजा पाण्डुका कुन्ती और माद्रीके साथ पाणिग्रहणपूर्वक प्राजापत्य विवाहसे सम्बन्ध हो गया। कुन्तीके धर्मपुत्र–युधिष्ठिर नामका धर्मात्मा राजा उत्पन्न हुआ फिर क्रमसे भीमसेन और अर्जुन उत्पन्न हुए। उसके ये तीनों पुत्र धर्म अर्थ काम रूप त्रिवर्गके समान जान पड़ते थे। इसी प्रकार माद्रीके ज्येष्ठ पुत्र सहदेव और उसके बाद नकुल उत्पन्न हुआ था ॥११२-११६॥ धृतराष्ट्रके लिए गान्धारी दी गयी थी अतः उन दोनोंके सर्व प्रथम दुर्योधन उत्पन्न हुआ। उसके पश्चात् दुःशासन, दुर्धर्षण तथा दुर्मर्षण आदि उत्पन्न हुए। ये सब महाप्रतापी सौ भाई थे। इस तरह सबका काल लीलापूर्वक सुखसे व्यतीत हो रहा था ॥११७-११८॥ किसी दूसरे दिन गन्धमादन नामक पर्वतपर श्री सुप्रतिष्ठ नामक मुनिराज आकर विराजमान हुए। राजा शूरवीर अपने पुत्र पौत्र आदिके साथ उनकी वन्दनाके लिए गया। वहाँ जाकर उसने उनकी पूजा की, स्तुति की और उनके द्वारा कहा हुआ धर्मका उपदेश सुना। उपदेश सुननेसे उसका चित्त संसारसे भयभीत हो गया अतः उसने अभिषेक कर अन्धकवृष्टिके लिए राज्य दे दिया और 'यह योग्य है' ऐसा समझकर छोटे पुत्र नरवृष्टिके लिए

---

१ कुन्त्याः परिजनः ल० । २ स्वसैन्यै ल० । ३ युधिष्ठिरः ग०, ल० ।

उपसर्गं विजित्यास्य सोढ्वाऽशेषपरीषहान् । ध्यानेनाहत्य घातीनि प्रादुरासीत् स केवली ॥१२४॥
देवैरन्धकवृष्टिश्च सह पूजार्थमागतः । अपृच्छदेवं देवायं देवस्ते केन हेतुना ॥१२५॥
महोपसर्गं पूज्यस्य कृतवानिति विस्मयात् । तत्पृष्टस्ततसितो व्यक्तं जिनेन्द्रोऽप्येवमब्रवीत् ॥१२६॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे कलिङ्गविषये पुरे । काञ्च्यां वणिक्सुतः सूरदत्तोऽपरश्च सुदत्तवाक् ॥१२७॥
लङ्काद्वीपादिषु स्वैरं समावर्ज्य निजं धनम् । पुरो न्यक्षिपतां गूढं प्रवेशे शुल्कभीलुकौ ॥१२८॥
मूले क्षुपविशेषस्यानभिज्ञानमथोऽन्यदा । कश्चिन्मद्यप्रयोगार्थं वने तद्योग्यभूरुहाम् ॥१२९॥
मूलान्युत्खन्य संगृह्णन् विलोक्य बहु तद्धनम् । किमनेन मुधा मूलखननेनाल्पहेतुना ॥ १३० ॥
सुप्रभूतमिदं लब्धं धनं दारिद्र्यविद्रुतिम् । विदधात्यामृतेर्भोगैरित्यादाय गतस्ततः ॥१३१॥
तदागत्य वणिक्पुत्रो तत्प्रदेशे निजं धनम् । अनिरीक्ष्य मृतौ हत्वाऽश्रद्धानौ परस्परम् ॥१३२॥
बद्ध्वायुः क्रोधलोभाभ्यामाद्यं नरकमीयतुः । तत्र दुःखं चिरं भुक्त्वा ततो विन्ध्याद्रिकन्दरे ॥१३३॥
जातौ मेषौ पुनस्तत्राप्यन्योन्यवधकारिणौ । गोकुले वृषभौ जातौ गङ्गातटनिवासिनि ॥१३४॥
तत्र जन्मान्तरद्वेषात् कृतयुद्धौ गतासुकौ । संमेदपर्वते जातौ वानरौ वा नरौ धिया ॥१३५॥
शिलासलिलहेतोस्तौ कलहं खलु चक्रतुः । मृतस्तयोः सपद्येकः परः कण्ठगतासुकः ॥१३६॥
सुरदेवादिगुर्वन्तचारणाभ्यां समुत्सुकः । श्रुत्वा पञ्चनमस्कारं धर्मश्रुतिपुरस्सरम् ॥१३७॥

युवराज पद दे दिया। तदनन्तर वह स्वयं संयम धारण कर उत्कृष्ट तपश्चरण करने लगा। अनुक्रमसे बारह वर्ष बीत जानेपर वही सुप्रतिष्ठ मुनिराज उसी गन्धमादन पर्वतपर प्रतिमा योग धारण कर पुनः विराजमान हुए। उस समय सुदर्शन नामके देवने क्रोधवश कुछ उपसर्ग किया परन्तु वे इसके द्वारा किये हुए समस्त उपसर्गको जीतकर तथा समस्त परिषहों-को सहकर ध्यानके द्वारा घातिया कर्मोंका क्षय करते हुए केवलज्ञानी हो गये ॥११६-१२४॥ उस समय सब देवोंके साथ-साथ अन्धकवृष्टि भी उनकी पूजाके लिए गया था। वहाँ उसने आश्चर्य-से पूछा कि हे देव ! इस देवने पूजनीय आपके ऊपर यह महान् उपसर्ग किस कारण किया है ? अन्धकवृष्टिके ऐसा कह चुकनेपर जिनेन्द्र भगवान् सुप्रतिष्ठ केवली इस प्रकार कहने लगे—

इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी कलिंग देशके कांचीपुर नगरमें सूरदत्त और सुदत्त नामके दो वैश्य पुत्र रहते थे ॥१२५-१२७॥ उन दोनोंने लंका आदि द्वीपोंमें जाकर इच्छानुसार बहुत-सा धन कमाया और लौटकर जब नगरमें प्रवेश करने लगे तब उन्हें इस बातका भय लगा कि इस धनपर टैक्स देना पड़ेगा। इस भयसे उन्होंने वह धन नगरके बाहर ही किसी झाड़ीके नीचे गाड़ दिया और कुछ पहचानके लिए चिह्न भी कर दिये। दूसरे दिन कोई एक मनुष्य मदिरा बनानेके लिए उसके योग्य वृक्षोंकी जड़ खोदता हुआ वहाँ पहुँचा। खोदते समय उसे वह भारी धन मिल गया। धन देखकर उसने विचार किया कि जिससे थोड़ा ही लाभ होता है ऐसे इन वृक्षोंकी जड़ोंके उखाड़नेसे क्या लाभ है ? मुझे अब बहुत भारी धन मिल गया है यह मेरी सब दरिद्रताको दूर भगा देगा। मैं मरण पर्यन्त इस धनसे भोगोंका सेवन करूँगा, ऐसा विचार वह सब धन लेकर चला गया ॥१२८-१३१॥ दूसरे दिन जब वैश्यपुत्र उस स्थानपर आये तो अपना धन नहीं देखकर परस्पर अविश्वास करते हुए लड़ने लगे और परस्पर एक दूसरेको मारकर मर गये। वे क्रोध और लोभके कारण नरकायुका बन्ध कर पहले नरकमें जा पहुँचे। चिरकाल तक वहाँके दुःख भोगनेके बाद वहाँसे निकले और विन्ध्याचलकी गुफामें मेढ़ा हुए। वहाँ भी परस्पर एक दूसरेका वध कर वे गंगा नदीके किनारे बसनेवाले गोकुलमें बैल हुए। वहाँ भी जन्मान्तरके द्वेषके कारण दोनों युद्ध कर मरे और सम्मेदपर्वतपर बुद्धिसे मनुष्योंकी समानता करनेवाले वानर हुए ॥१३२-१३५॥ वहाँपर भी पत्थरसे निकलने-वाले पानीके कारण दोनों कलह करने लगे। उनमें-से एक तो शीघ्र ही मर गया और दूसरा कण्ठगत प्राण हो गया। उसी समय वहाँ सुरगुरु और देवगुरु नामके दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज आ पहुँचे। उन्होंने उसे पञ्चनमस्कार मन्त्र सुनाया, जिसे उसने बड़ी उत्सुकतासे

सौधर्मकल्पे चित्राङ्गदाख्यो देवोऽजनिष्ट सः । ततो निर्गत्य जम्बूद्वीपे भरतमध्यगे ॥१३८॥
सुरम्यविषये पोदनेशः सुस्थितभूपतेः । सुलक्षणायां पुत्रोऽभूत् सुप्रतिष्ठो वरिष्ठधीः ॥१३९॥
कदाचित् प्रावृडारम्भे गिरावसितनामनि । युद्धं मर्कटयोर्वीक्ष्य स्मृतप्राग्जन्मचेष्टितः ॥१४०॥
सुधर्माचार्यमासाद्य दीक्षित्वाभवदीदृशः । सूरदत्तचरः सोऽहं सुदत्तोऽप्यनुजो भवे ॥१४१॥
भ्रान्त्वान्ते सिन्धुतीरस्थमृगायणतपस्विनः । विशालायाश्च तोकोऽभूद्गोतमाख्यः कुदर्शनात् ॥१४२॥
तपः पञ्चाग्निमध्येऽसौ विधाय ज्योतिषां गणैः । देवः सुदर्शनो नाम्ना भूत्वा प्राग्जन्मवैरतः ॥१४३॥
समायमकरोदीदृगिति तद्वाक्यमादरात् । श्रुत्वा सुदर्शनो मुक्तवैरः सद्धर्ममग्रहीत् ॥१४४॥
अथातोऽन्धकवृष्टिश्च श्रुत्वा मुकुलयन्करौ । स्वपूर्वभवसंबन्धमपृच्छज्जिनपुङ्गवम् ॥१४५॥
वीतरागोऽपि [1]सोऽप्याह तत्पृष्टं शिष्टगीर्गुणः । निर्निमित्तहिताख्यानं नाम तेषु निसर्गजम् ॥१४६॥
द्वीपेऽत्रैव विनीतायां नरेन्द्रोऽनन्तवीर्यवाक् । सुरेन्द्रदत्तस्तत्रैव वैश्यो वैश्रवणोपमः ॥१४७॥
दशभिर्नित्यपूजायामष्टम्यां द्विगुणैस्ततः । चतुर्गुणैरमावस्यायां पर्वण्यष्टभिर्गुणैः ॥१४८॥
दीनारैरर्हतां पूजां करोति विहितव्ययैः । सहितः पात्रदानेन सशीलः सोपवासकः ॥१४९॥
धर्मशील इति ख्यातिं स समापापपापकः । गन्तुं वारिपथं वाञ्छन्नन्येद्युर्वणिजां वरः ॥१५०॥
द्वादशाब्दैः समावर्ज्य धनमागन्तुकः परम् । जिनपूजाव्ययायार्थं द्वादशाब्दनिबन्धनम् ॥१५१॥
मित्रस्य रुद्रदत्तस्य ब्राह्मणस्य करे न्यधात् । अनेन जिनपूजादि कुर्वहं वा त्वमित्यसौ ॥१५२॥

सुना और धर्मश्रवणके साथ-साथ मरकर सौधर्म स्वर्गमें चित्रांगद नामका देव हुआ। वहाँसे निकलकर वह उसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रके मध्यमें स्थित पोदनपुर नगरके स्वामी राजा सुस्थितकी सुलक्षणा नामकी रानीसे उत्कृष्ट बुद्धिका धारक सुप्रतिष्ठ नामका पुत्र हुआ ॥१३६-१३९॥ किसी एक समय वर्षा ऋतुके प्रारम्भमें उसने असित नामके पर्वतपर दो वानरोंका युद्ध देखा। जिससे उसे अपने पूर्व जन्मकी समस्त चेष्टाओंका स्मरण हो गया ॥१४०॥ उसी समय उसने सुधर्माचार्यके पास जाकर दीक्षा ले ली। वही सूरदत्तका जीव मैं यह सुप्रतिष्ठ हुआ हूँ। मेरा छोटा भाई सुदत्त संसारमें भ्रमण करता हुआ अन्तमें सिन्धु नदीके किनारे रहनेवाले मृगायण नामक तपस्वीकी विशाला नामकी स्त्रीसे गोतम नामका पुत्र हुआ। मिथ्या-दर्शनके प्रभावसे वह पञ्चाग्नियोंके मध्यमें तपश्चरण कर सुदर्शन नामका ज्योतिष्क देव हुआ है। पूर्व भवके वैरके कारण ही इसने मुझपर यह उपसर्ग किया है। सुदर्शन देवने उन सुप्रतिष्ठ केवलीके वचन बड़े आदरसे सुने और सब वैर छोड़कर समीचीन धर्म स्वीकृत किया ॥१४१-१४४॥ तदनन्तर राजा अन्धकवृष्टिने यह सब सुननेके बाद हाथ जोड़कर उन्हीं सुप्रतिष्ठ जिनेन्द्रसे अपने पूर्व भवका सम्बन्ध पूछा ॥१४५॥ शिष्ट वचन बोलना ही जिनकी वाणीका विशेष गुण है ऐसे वीतराग सुप्रतिष्ठ भगवान् कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि बिना किसी निमित्तके हितकी बात कहना उन-जैसोंका स्वाभाविक गुण है ॥१४६॥

वे कहने लगे कि इसी जम्बूद्वीपकी अयोध्या नगरीमें अनन्तवीर्य नामका राजा रहता था। उसी नगरीमें कुबेरके समान सुरेन्द्रदत्त नामका सेठ रहता था। वह सेठ प्रतिदिन दस दीनारोंसे, अष्टमीको सोलह दीनारोंसे, अमावसको चालीस दीनारोंसे और चतुर्दशीको अस्सी दीनारोंसे अर्हन्त भगवान्‌की पूजा करता था। वह इस तरह खर्च करता था, पात्र दान देता था, शील पालन करता था और उपवास करता था। इन्हीं सब कारणोंसे पापरहित उस सेठने 'धर्मशील' इस तरहकी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। किसी एक दिन उस सेठने जलमार्गसे जाकर धन कमानेकी इच्छा की। उसने बारह वर्ष तक लौट आनेका विचार किया था इसलिए बारह वर्ष तक भगवान्‌की पूजा करनेके लिए जितना धन आवश्यक था उतना धन उसने अपने मित्र रुद्रदत्त ब्राह्मणके हाथमें सौंप दिया और कह दिया कि इससे तुम जिनपूजा आदि कार्य करते रहना क्योंकि आप मेरे ही समान हैं ॥१४७-१५२॥

---

1 तत्राह ख०।

तस्मिन् गते स विप्रोऽपि स्त्रीद्यूतव्यसनादिभिः । धनं कतिपयैरेव दिनैर्व्ययमनीनयत् ॥१५३॥
ततश्चौर्यादिदुष्कर्मसक्तं तलवरो द्विजम् । श्येनकाख्यो भ्रमन् दृष्ट्वा रात्रौ त्वां हन्म्यहं नहि ॥१५४॥
द्विजाख्याधारिणं याहि नगराद् द्रक्ष्यसे यदि । पुनः कृतान्तवक्त्रं त्वं नेष्यसे दुष्क्रियो मया ॥१५५॥
[1]इत्यस्वतर्जयत् सोऽपि कालकाख्येन पापिना । समम्बुल्कामुखीवासि वनिवासं रतिनागमत् ॥१५६॥
स कदाचिदयोध्यायां गोकुलापहृतौ द्विजः । श्येनकेन हतोऽयासीन्महापापादधोगतिम् ॥१५७॥
ततश्च्युत्वा महामत्स्यो हरिर्दृष्टिविषोरगः । शार्दूलो पक्षिणामीशो [2]व्यालो व्याधश्च सोऽभवत् ॥१५८॥
प्रविश्याधोगतीः सर्वाः कृच्छ्रात्ताभ्यो विनिर्गतः । त्रसस्थावरभावेन चिरकालं परिभ्रमन् ॥१५९॥
जम्बूपलक्षिते द्वीपे भरते कुरुजाङ्गले । हास्तिनाख्यं पुरं पाति धराधीशे धनंजये ॥१६०॥
सुतो गोतमपुत्रस्य संबभूव द्विजात्मजः । [3]कपिष्ठकस्य निःश्रीकः सोऽनुन्धर्यांश्च गोतमः ॥१६१॥
तस्समुत्पत्तिमात्रेण तत्क्षेपमभवत् कुलम् । मलव्याप्तः कृशीभूतजठरः प्रकटास्थिकः ॥१६२॥
[4]सिरावनद्धदुष्कायो यूकाञ्चितशिरोरुहः[5] । शयानश्चैव सर्वैश्च तर्जितो यत्र तत्र वा ॥१६३॥
कराग्रकर्परेणोपलक्ष्यमाणोऽनपायिना । सुमित्रेणैव सर्वत्र शरीरस्थितिहेतुना ॥१६४॥
वाञ्छितेन रसेनेव देहीति वचसा सदा । लोलुपो निवृत्तिं प्राप्तुं भिक्षामात्रेण दुर्विधः ॥१६५॥
काकवत्पर्वसु भ्रान्तः पश्यन् बलि[6] विसर्जनम् । अनाश्वानिव शीतोष्णवात[7] बाधाः सहन् मुहुः ॥१६६॥

सेठके चले जानेपर रुद्रदत्त ब्राह्मणने वह समस्त धन परस्त्रीसेवन तथा जुआ आदि व्यसनोंके द्वारा कुछ ही दिनोंमें खर्च कर डाला ॥१५३॥ तदनन्तर वह चोरी आदिमें आसक्त हो गया। श्येनक नामक कोतवालने उसे चोरी करते हुए एक रातमें देख लिया। देखकर कोतवालने कहा कि चूँकि तू ब्राह्मण नामको धारण करता है अतः मैं तुझे मारता नहीं हूँ. तू इस नगरसे चला जा, यदि अब फिर कभी ऐसा दुष्कर्म करता हुआ दिखेगा तो अवश्य ही मेरे द्वारा यमराजके मुखमें भेज दिया जायेगा—मारा जायेगा ॥१५४-१५५॥ यह कहकर कोतवालने उसे डाँटा। रुद्रदत्त भी, वहाँसे निकलकर उल्कामुखीपर रहनेवाले भीलोंके स्वामी पापी कालकसे जा मिला ॥१५६॥ वह रुद्रदत्त किसी समय अयोध्या नगरीमें गायोंके समूहका अपहरण करनेके लिए आया था उसी समय श्येनक कोतवालके द्वारा मारा जाकर वह महापापके कारण अधोगतिमें गया ॥१५७॥ वहाँसे निकलकर महामच्छ हुआ फिर नरक गया, वहाँसे आकर सिंह हुआ फिर नरक गया, वहाँसे आकर दृष्टिविष नामका सर्प हुआ फिर नरक गया, वहाँसे आकर शार्दूल हुआ फिर नरक गया, वहाँसे आकर गरुड़ हुआ फिर नरक गया, वहाँसे आकर सर्प हुआ फिर नरक गया और वहाँसे आकर भील हुआ। इस प्रकार समस्त नरकोंमें जाकर वहाँसे बड़े कष्टसे निकला और त्रस-स्थावर योनियोंमें चिरकाल तक भ्रमण करता रहा ॥१५८-१५९॥ अन्तमें इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी कुरुजांगल देशके हस्तिनापुर नगरमें जब राजा धनंजय राज्य करते थे तब गोतम गोत्री कपिष्ठल नामक ब्राह्मणकी अनुन्धरी नामकी स्त्रीसे वह रुद्रदत्तका जीव गोतम नामका महादरिद्र पुत्र हुआ। उत्पन्न होते ही उसका समस्त कुल नष्ट हो गया। उसे खानेके लिए अन्न नहीं मिलता था, उसका पेट सूख गया था, हड्डियाँ निकल आयी थीं, नसोंसे लिपटा हुआ उसका शरीर बहुत बुरा मालूम होता था, उसके बाल जुओंसे भरे थे, वह जहाँ कहीं सोता था वहीं लोग उसे फटकार बतलाते थे, वह अपने शरीर-की स्थितिके लिए कभी अलग नहीं होनेवाले श्रेष्ठ मित्रके समान अपने हाथके अग्रभागमें खप्पर लिये रहता था ॥१६०-१६४॥ वांछित रसके समान वह सदा 'देओ देओ' ऐसे शब्दोंसे केवल भिक्षाके द्वारा सन्तोष प्राप्त करनेका लोलुप रहता था परन्तु इतना अभागा था कि भिक्षासे कभी उसका पेट नहीं भरता था। जिस प्रकार पर्वके दिनोंमें कौआ बलिको ढूँढ़नेके लिए इधर-उधर फिरा करता है इसी प्रकार वह भी भिक्षाके लिए इधर-उधर भटकता रहता था। वह

१ इत्यतर्जयत् ल० । २ व्यालकाधरच ल० । ३ कापिष्ठस्य ल० । ४ स्नसावनद्ध क० । ५ तनूरुहः ख० । ६ बलिविसर्जनम् क० । ७ वाताः बाधाः ल० (?) ।

मलधारी परिभ्रष्टशेषेन्द्रियविजृम्भणः । जिह्वाविषयमेवेच्छन् दण्डधारीव भूपतिः ॥१६७॥
समस्तमःप्रजातानां रूपमीदृगवेदिति । वेधसेव स्फुटीकर्तुमिहस्थानां विनिर्मितः ॥१६८॥
दग्धमाषमषीवर्णमर्कभीत्यः तमश्चयः । नररूपधरो वातिजुगुप्स्यः पापभाक् क्वचित् ॥१६९॥
आकण्ठपूर्णाहारोऽपि नयनाभ्यामतृप्तवान् । परिवीतकटीजीर्णच्छिद्रिताशुभकर्पटैः ॥१७०॥
व्रणवैगन्ध्यसंलग्नमक्षिकौघैरितस्ततः । क्रुध्यंश्छत्रवदावेष्ट्यो मुखैररनपायिभिः ॥१७१॥
पौरबालकसंघातैरनुयातैरनुक्षणम् । उपलादिप्रहारेण ताड्यमानः प्रकोपवान् ॥१७२॥
अनुधावन्स्तम्नेव तु तैः कालमजीगमत् । कदाचिल्लब्धकालादिरनुयातो महामुनिम् ॥१७३॥
समुद्रसेननामानं पर्यटन्तं तनुस्थितेः । वणिग्वैश्रवणागारे तेनाकण्ठमभोज्यत ॥१७४॥
पुनर्मुन्याश्रमं गत्वा कुरु त्वामिव मामपि । इत्यवादीदसौ वास्तु भव्योऽयमिति निश्चयात् ॥१७५॥
दिवसैः सहवासेन कैश्चिल्लक्षिततन्मनाः । अग्राहयन्मुनिस्तेन संयमं शमसाधनम् ॥१७६॥
बुद्ध्यादिकर्द्धयस्तस्य जाताः संवत्सरादतः । [1]स श्रीगौतमनाम्नामा गुरुस्थानमवाप सः ॥१७७॥
जीवितान्ते गुरुस्तस्य मध्यग्रैवेयकोर्ध्वगे । विमाने सुविशालाख्ये समुत्पन्नः सुरोत्तमः ॥१७८॥
स श्रीगौतमनामापि विहिताराधनाविधिः । सम्यक् संन्यस्य तत्रैव संप्रापदहमिन्द्रताम् ॥ १७९ ॥
तत्र दिव्यं सुखं भुक्त्वा तस्माद् द्विजवरो मुनिः । अष्टाविंशतिवार्ध्यायुरतिक्रान्तौ च्युतो भवान् ॥१८०॥

मुनियोंके समान शीत, उष्ण तथा वायुकी बाधाको बार-बार सहता था, वह सदा मलिन रहता था, केवल जिह्वा इन्द्रियके विषयकी ही इच्छा रखता था, अन्य सब इन्द्रियोंके विषय उसके छूट गये थे। जिस प्रकार राजा सदा दण्डधारी रहता है—अन्यथा प्रवृत्ति करनेवालोंको दण्ड देता है उसी प्रकार वह भी सदा दण्डधारी रहता था—हाथमें लाठी लिये रहता था ॥१६५-१६७॥ 'सातवें नरकमें उत्पन्न हुए नारकियोंका रूप ऐसा होता है' यहाँके लोगोंको यह बतलानेके लिए ही मानो विधाताने उसकी सृष्टि की थी। वह उड़द अथवा स्याही-जैसा रंग धारण करता था। अथवा ऐसा जान पड़ता था कि सूर्यके भयसे मानो अन्धकारका समूह मनुष्यका रूप रखकर चल रहा हो। वह अत्यन्त घृणित था, पापी था, यदि उसे कहीं कण्ठ-पर्यन्त पूर्ण आहार भी मिल जाता था तो नेत्रोंसे वह अतृप्त-जैसा ही मालूम होता, वह जीर्ण-शीर्ण तथा छेदवाले अशुभ वस्त्र अपनी कमरसे लपेटे रहता था, उसके शरीरपर बहुत-से घाव हो गये थे, उनकी बड़ी दुर्गन्ध आती थी तथा भिनभिनाती हुई अनेक मक्खियाँ उसे सदा घेरे रहती थीं, कभी हटती नहीं थीं, उन मक्खियोंसे उसे क्रोध भी बहुत पैदा होता था। नगरके बालकोंके समूह सदा उसके पीछे लगे रहते थे और पत्थर आदिके प्रहारसे उसे पीड़ा पहुँचाते थे, वह झुँझलाकर उन बालकोंका पीछा भी करता था परन्तु बीचमें ही गिर पड़ता था। इस प्रकार बड़े कष्टसे समय बिता रहा था। किसी एक समय कालादि लब्धियोंकी अनुकूल प्राप्तिसे वह आहारके लिए नगरमें भ्रमण करनेवाले समुद्रसेन नामके मुनिराजके पीछे लग गया। वैश्रवण सेठके यहाँ मुनिराजका आहार हुआ। सेठने उस गोतम ब्राह्मणको भी कण्ठ पर्यन्त पूर्ण भोजन करा दिया। भोजन करनेके बाद भी वह मुनिराजके आश्रममें जा पहुँचा और कहने लगा कि आप मुझे भी अपने-जैसा बना लीजिए। मुनिराजने उसके वचन सुनकर पहले तो यह निश्चय किया कि यह वास्तवमें भव्य है फिर उसे कुछ दिन तक अपने पास रखकर उसके हृदयकी परख की। तदनन्तर उन्होंने उसे शान्तिका साधनभूत संयम ग्रहण करा दिया ॥१६८-१७६॥ बुद्धि आदिक ऋद्धियाँ भी उसे एक वर्षके बाद ही प्राप्त हो गयीं। अब वह गोतम नामके साथ-ही-साथ गुरुके स्थानको प्राप्त हो गया—उनके समान बन गया ॥१७७॥ आयुके अन्तमें उसके गुरु मध्यमग्रैवेयकके सुविशाल नामके उपरितन विमानमें अहमिन्द्र हुए और श्री गोतम मुनिराज भी आयुके अन्तमें विधि-पूर्वक आराधनाओंकी आराधनासे अच्छी तरह समाधिमरण कर उसी मध्यम ग्रैवेयकके सुविशाल विमानमें अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुए ॥१७८-१७९॥ वहाँके दिव्य सुखका उपभोग कर

---

१ श्रीगोतमेतिनाम्नामा म० । श्रीगोतमनाम्नामा (?) ।

अजन्यन्धकवृष्ट्याख्य इति तच्छ्रावयन् सुधीः। स्वपुत्रभवसंबन्धं सोऽन्वयुङ्क्त पुनर्जिनम् ॥१८१॥
सर्वभाषास्वभावेन ध्वनिना निजगाद सः। जम्बूपलक्षिते द्वीपे विषये मङ्गलाह्वये ॥१८२॥
नृपो मेघरथो नाम्ना पुरे भद्रिलनामनि। सुभद्रायां सुतस्तस्य रथान्तदृढनामकः ॥१८३॥
पट्टबन्धं स्वपुण्येन यौवराजस्य सोऽबिभः[१]। तत्र नन्दयशोनाम्न्यां धनदत्तवणिक्पतेः ॥१८४॥
धनादिर्देवपालाख्यौ देवपालौ जिनादिकौ। अर्हन्तौ दत्तदासान्तौ जिनदत्तश्च सप्तमः ॥१८५॥
प्रियमित्रोऽष्टमो धर्मरुचिश्चान्त्योऽभवत् सुतः। प्रियदर्शना ज्येष्ठा च जाते दुहितरौ तनः ॥१८६॥
नृपः सुदर्शनोद्याने मन्दिरस्थविरान्तिके। कदाचिद् वणिगीशश्च पुत्रादिपरिवारितौ ॥१८७॥
सक्रियं धर्ममाकर्ण्य निर्विद्य स महीपतिः। दत्त्वा दृढरथायाभिषेकपूर्वं स्वकं पदम् ॥१८८॥
आददे संयमं पश्चाच्छ्रेष्ठी च नवभिः सुतैः। ततो नन्दयशा पुत्रिकाद्वयेनागमन्नरः ॥१८९॥
सुदर्शनार्यिकाभ्यर्णे तूर्णनिर्णीतसंसृतिः। क्रमाद् वाराणसीबाह्ये केवलज्ञानिनोऽभवन् ॥१९०॥
वने प्रियङ्गुखण्डाख्ये मनोहरतमद्रुमे। गुरुर्मेघरथो ध्यात्वा धनदत्तश्च ते त्रयः ॥१९१॥
धर्मामृतमयीं वृष्टिमुद्गिरन्तो निरन्तरम्। जीवितान्ते तले सिद्धशिलायाः सिद्धिमभ्रजन् ॥१९२॥
पुरे राजगृहे पूज्याखिलजगज्जननायकैः। धनदेवादिकास्तस्मिन्नेवान्येद्युः शिलातले ॥१९३॥
तथापि विधिना संन्यस्यन्तो वीक्ष्य सुतायुता। निदानमकरोन्नन्दयशा मे सम्बन्धः वा ॥१९४॥
परत्राप्येवमेवैभिर्बन्धुत्वं भवतादिति। स्वयं च कृतसंन्यासा तैः सहानतकल्पजे ॥१९५॥

वह ब्राह्मण मुनिका जीव अट्ठाईस सागरकी आयु पूर्ण होनेपर वहाँसे च्युत हुआ और तू अन्धक-वृष्टि नामका राजा हुआ है। इस प्रकार अपने भवोंका अनुभव करता हुआ बुद्धिमान् अन्धक-वृष्टि फिर भगवान्‌से अपने पुत्रोंके भवोंका सम्बन्ध पूछने लगा ॥१८०-१८१॥ वे भगवान् भी सर्वभाषा रूप परिणमन करनेवाली अपनी दिव्य ध्वनिसे इस प्रकार कहने लगे—

जम्बूद्वीपके मंगला देशमें एक भद्रिलपुर नामका नगर है। उसमें मेघरथ नामका राजा राज्य करता था। उसकी देवीका नाम सुभद्रा था। उन दोनोंके दृढ़रथ नामका पुत्र हुआ। अपने पुण्योदयसे उसने यौवराज्यका पट्ट धारण किया था। उसी भद्रिलपुर नगरमें एक धनदत्त नामका सेठ रहता था, उसकी स्त्रीका नाम नन्दयशा था। उन दोनोंके धनपाल, देवपाल, जिनदेव, जिनपाल, अर्हद्दत्त, अर्हद्दास, सातवाँ जिनदत्त, आठवाँ प्रियमित्र और नौवाँ धर्मरुचि ये नौ पुत्र हुए थे। इनके सिवाय प्रियदर्शना और ज्येष्ठा ये दो पुत्रियाँ भी हुई थीं ॥१८२-१८६॥ किसी एक समय सुदर्शन नामके वनमें मन्दिरस्थविर नामके मुनिराज पधारे। राजा मेघरथ और सेठ धनदत्त दोनों ही अपने पुत्र-पौत्रादिसे परिवृत होकर उनके पास गये। राजा मेघरथ क्रिया सहित धर्मका स्वरूप सुनकर विरक्त हो गया अतः अभिषेक पूर्वक दृढ़रथ नामक पुत्रके लिए अपना पद देकर उसने संयम धारण कर लिया। तदनन्तर धनदत्त सेठने भी अपने नौ पुत्रोंके साथ संयम ग्रहण कर लिया। नन्दयशा सेठानी भी अपनी दोनों पुत्रियोंके साथ सुदर्शना नामकी आर्यिकाके पास गयी और शीघ्र ही संसारके स्वरूपका निर्णय कर उसने भी तप धारण कर लिया—क्रम-क्रमसे विहार करते हुए वे सब बनारस पहुँचे और वहाँ बाहर अत्यन्त सुन्दर वृक्षोंसे युक्त प्रियंगुखण्ड नामके वनमें जा विराजमान हुए। वहाँ सबके गुरु मन्दिरस्थविर, मेघरथ राजा और धनदत्त सेठ तीनों ही मुनि ध्यानकर केवलज्ञानी हो गये। तदनन्तर निरन्तर धर्मामृतकी वर्षा करते हुए वे तीनों, तीनों लोकोंके इन्द्रोंके द्वारा पूज्य होकर आयुके अन्तमें राजगृह नगरके समीप सिद्ध शिलासे सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हुए। किसी दूसरे दिन धनदेव आदि नौ भाई, दोनों बहिनों और नन्दयशाने उसी शिलातलपर विधिपूर्वक संन्यास धारण किया। पुत्र-पुत्रियोंसे युक्त नन्दयशाने उन्हें देखकर निदान किया कि 'जिस प्रकार ये सब इस जन्ममें मेरे पुत्र-पुत्रियाँ हुई हैं उसी प्रकार परजन्ममें भी मेरे ही पुत्र-पुत्रियाँ हों और इन सबके साथ मेरा सम्बन्ध इस जन्मकी तरह पर-जन्ममें भी बना रहे। ऐसा निदान कर उसने स्वयं

१ अबिभः दधार।

शातंकरे समुत्पन्ना विमाने भोगमन्वभूत् । विंशत्यब्धिमितायुस्ततः प्रच्युत्य सा तव ॥१९६॥
प्रियाऽजनि सुभद्राख्या धनदेवादयः सुताः । प्रख्यातपौरुषा जाताः समुद्रविजयादयः ॥१९७॥
प्रियदर्शना ज्येष्ठा च कुन्ती माद्रीति विश्रुते । अथापृच्छन्महीपालो वसुदेवभवावलीम् ॥१९८॥
जिनेन्द्रोऽप्यब्रवीदित्थं शुभं गम्भीरभाषया । प्रकृतिस्तादृशी तेषां यथा भव्येष्वनुग्रहः ॥१९९॥
ग्रामे पलाशकूटाख्ये विषये कुरुनामनि । दुर्गतः सोमशर्माख्यो द्विजस्तस्य सुतोऽभवत् ॥२००॥
नाम्ना नन्द्यसौ देवशर्मणः सततानुगः । मातुलस्याभिलाषेण तत्सुतासु विपुण्यकः ॥२०१॥
पुत्रिकास्तस्य मत्वासौ सोऽदादन्येभ्य एव ताः । तदलाभात् स नन्दी च महादुःखवशीकृतः ॥२०२॥
अथान्येद्युर्नटप्रेक्षां वीक्षितुं कौतुकाद् गतः । बलवद्भटसंघट्टमपतत् सोढुमक्षमः ॥२०३॥
समीक्ष्य तं जनोऽन्योन्यकरास्फालकलान्वितम् । हसत्यापन्नलज्जः सन् भृगुपाते कृतोद्यमः ॥२०४॥
अद्रिमस्तकमारुह्य टङ्कच्छिन्ने[1] स तस्थिवान् । पातोन्मुखो भयात् कुर्वन् प्रवर्तननिवर्तने ॥२०५॥
शङ्खनिर्नामिकाख्याभ्यां संयताभ्यां धरातले । सुस्थिताभ्यामियं छाया पृष्टः कस्येति सादरम् ॥२०६॥
सुगुरुर्द्रुमषेणाख्यः सत्रिबोधोऽब्रवीदिदम्[2] । भवे भावी तृतीयेऽस्माच्छायेयं युवयोः पिता ॥२०७॥
श्रुत्वा तत्तौ च गत्वैनं नन्दिनं भाविनन्दनौ । कुतस्ते मृतिनिर्बन्धो बन्धो विरम निष्फलात् ॥२०८॥
अमुष्मान्मरणाद् भाग्यसौभाग्यादि त्वयेप्सितम् । भविष्यति तपःसिद्धेरित्यग्राहयतां तपः ॥२०९॥

संन्यास धारण कर लिया और मरकर उन सबके साथ आनत स्वर्गके शातंकर नामक विमानमें उत्पन्न हो वहाँके भोग भोगने लगी। वहाँ उसकी बीस सागरकी आयु थी। आयु पूर्ण होनेपर वहाँसे च्युत होकर वह तुम्हारी सुभद्रा नामकी रानी हुई है, धनदेव आदि प्रसिद्ध पौरुषके धारक समुद्रविजय आदि पुत्र हुए हैं तथा प्रियदर्शना और ज्येष्ठा नामक पुत्रियोंके जीव अतिशय प्रसिद्ध कुन्ती माद्री हुए हैं। यह सब सुननेके बाद राजा अन्धकवृष्टिने अब सुप्रतिष्ठ जिनेन्द्रसे वसुदेवकी भवावली पूछी ॥१८७-१९८॥ जिनराज भी वसुदेवकी शुभ भवावली अपनी गम्भीर भाषा-द्वारा इस प्रकार कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि उनका स्वभाव ही ऐसा है कि जिससे भव्य जीवोंका सदा अनुग्रह होता है ॥१९९॥

वे कहने लगे कि कुरुदेशके पलाशकूट नामक गाँवमें एक सोमशर्मा नामका ब्राह्मण रहता था। वह जन्मसे ही दरिद्र था। उसके नन्दी नामका एक लड़का था। नन्दीके मामाका नाम देवशर्मा था। उसके सात पुत्रियाँ थीं। नन्दी अपने मामाकी पुत्रियाँ प्राप्त करना चाहता था इसलिए सदा उसके साथ लगा रहता था परन्तु पुण्यहीन होनेके कारण देवशर्माने वे पुत्रियाँ उसके लिए न देकर किसी दूसरेके लिए दे दीं। पुत्रियोंके न मिलनेसे नन्दी बहुत दुःखी हुआ ॥२००-२०२॥ तदनन्तर किसी दूसरे दिन वह कौतुकवश नटोंका खेल देखनेके लिए गया। वहाँ बड़े-बड़े बलवान् योद्धाओंकी भीड़ थी जिसे वह सहन नहीं कर सका किन्तु उसके विपरीत गिर पड़ा। उसे गिरा हुआ देख दूसरे लोग परस्पर ताली पीटकर उसकी हँसी करने लगे। इस घटनासे उसे बहुत ही लज्जा हुई और वह किसी पर्वतके शिखरसे नीचे गिरनेका उद्यम करने लगा ॥२०३-२०४॥ पर्वतके शिखरपर चढ़कर वह टाँकीसे कटी हुई एक शिलापर खड़ा हो गया और गिरनेका विचार करने लगा परन्तु भयके कारण गिर नहीं सका, वह बार-बार गिरनेके लिए तैयार होता और बार-बार पीछे हट जाता था ॥२०५॥ उसी पर्वतके नीचे पृथिवी तलपर द्रुमषेण नामके मुनिराज विराजमान थे वे मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानोंसे सहित थे, शंख और निर्नामिक नामके दो मुनि उनके पास ही बैठे हुए थे उन्होंने द्रुमषेण मुनिराजसे आदरके साथ पूछा कि यह छाया किसकी है ? उन्होंने उत्तर दिया कि जिसकी यह छाया है वह इससे तीसरे भवमें तुम दोनोंका पिता होगा ॥२०६-२०७॥ गुरुकी बात सुनकर उसके दोनों होनहार पुत्र नन्दीके पास जाकर पूछने लगे कि 'हे भाई ! तुझे यह मरणका आग्रह क्यों हो रहा है ? यदि तू इस मरणसे भाग्य तथा सौभाग्य आदि चाहता है तो यह सब तुझे तपकी सिद्धिसे प्राप्त हो जावेगा' इस प्रकार समझाकर उन्होंने उसे तप ग्रहण करा दिया ॥२०८-२०९॥

---

१ टङ्कच्छिन्नैः घ० । टङ्कच्छले ख० । २–विदि ख०, घ० ।

चिरं सोऽपि तपः कृत्वा महाशुक्रेऽमरोऽजनि । तत्र षोडशवार्ध्यायुरनुभूयाभिवाञ्छितम् ॥२१०॥
प्रादुरासीत्ततश्च्युत्वा वसुदेवो वसुंधराम् । वशीकर्तुमयं यस्माद् भाविनौ चक्रकेशवौ ॥२११॥
इति सर्वमिदं श्रुत्वा ससंवेगपरायणः । सप्रेक्षोऽन्धकवृष्ट्याख्यः स्वीचिकीर्षुः परं पदम् ॥२१२॥
समुद्रविजयाख्याय दत्त्वाभिषवपूर्वकम् । राज्यमुज्झितसङ्गः सन् शमसङ्गस्तपोऽग्रहीत् ॥२१३॥
सुप्रतिष्ठजिनाभ्यर्णे राजभिर्बहुभिः समम् । स संयमान्ते संन्यस्य विन्यासं निर्वृतेरगात् ॥२१४॥
समुद्रविजये पाति क्षितिं वर्णाश्रमाः सुखम् । सुधर्मकर्मसु स्वैरं प्रावर्तन्त यथोचितम् ॥२१५॥
राज्यं विभज्य दिक्पालैरिव भ्रातृभिरष्टभिः । सहान्वभूत् स भूपालः सकलं सर्वसौख्यदम् ॥२१६॥
एवं सुखेन सर्वेषां काले गच्छत्यथोदयात्[1] । चतुरङ्गबलोपेतो वसुदेवो युवाग्रणीः ॥२१७॥
गन्धवारणमारुह्य संचरच्चामरावलिः । वाद्यमानाखिलातोद्यध्वनिनिर्भिन्नदिक्तटः ॥२१८॥
वन्दिमागधसूतादिस्तूयमानाङ्कमालकः । नानाभरणभाभारभासमानस्वविग्रहः ॥२१९॥
निगृहीतुमिवोग्रांशुमुद्यतो निजतेजसा । अथो विधातुं वाप्येव[2] भूषणाङ्गसुरद्रुमम् ॥२२०॥
अमराणां कुमारो वा कुमारः प्रत्यहं बहिः । निर्गच्छति पुरात् स्वैरं स्वलीलादर्शनोत्सुकः ॥२२१॥
विस्मयकृद्विलोक्यैनं स्वव्यापारान् पुरस्त्रियः । निरादरा बभूवुश्च मातुलान्यादिवारणे[3] ॥२२२॥
निर्गमेऽथ कुमारस्य विषण्णा नागरास्तदा । गत्वा विज्ञापयामासुस्तद्वृत्तान्तं महीपतेः ॥२२३॥
श्रुत्वावधार्यं तद्राजा सहजस्नेहनिर्भरः । प्रकाशप्रतिषेधेन कदाचिद्विमुखो भवेत् ॥२२४॥

वह नन्दी भी चिरकाल तक तपश्चरण कर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ; वहाँ सोलह सागरकी आयु प्रमाण मनोवांछित सुखका उपभोग करता रहा। तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर पृथिवीको वश करनेके लिए वसुदेव हुआ है। बलभद्र और नारायणकी उत्पत्ति इसीसे होगी ॥२१०-२११॥ महाराज अन्धकवृष्टि यह सब सुनकर संसारसे भयभीत हो उठे। वे विद्याधर तो थे ही, अतः परम पद—मोक्षपद प्राप्त करनेकी इच्छासे उन्होंने अभिषेकपूर्वक समुद्रविजयके लिए राज्य दे दिया और स्वयं समस्त परिग्रह छोड़कर शान्तचित्त हो उन्हीं सुप्रतिष्ठित जिनेन्द्रके समीप बहुत-से राजाओंके साथ तप धारण कर लिया। संयम धारण कर अन्तमें उन्होंने संन्यास धारण किया और कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥२१२-२१४॥ इधर समुद्रविजय पृथिवीका पालन करने लगे। उनके राज्यमें समस्त वर्णों और समस्त आश्रमोंके लोग, उत्तम धर्मके कार्योंमें इच्छानुसार सुखपूर्वक यथायोग्य प्रवृत्ति करते थे ॥२१५॥ राजा समुद्रविजय राज्यका यथायोग्य विभाग कर दिक्पालोंके समान अपने आठों भाइयोंके साथ सर्व प्रकारका सुख देनेवाले राज्यका उपभोग करते थे ॥२१६॥ इस प्रकार पुण्योदयसे उन सबका काल सुखसे बीत रहा था। इन सबमें वसुदेव सबसे अधिक युवा थे इसलिए वे अपनी लीला दिखानेकी उत्कण्ठासे प्रतिदिन स्वेच्छानुसार गन्धवारण नामक हाथीपर सवार होकर नगरके बाहर जाते थे। उस समय चतुरंग सेना उनके साथ रहती थी, चमरोंके समूह उनके आस-पास ढुराये जाते थे, बजते हुए समस्त बाजोंका ऐसा जोरदार शब्द होता था जिससे कि दिशाओंके किनारे फटे-से जाते थे, बन्दी, मागध तथा सूत आदि लोग उनकी विरुदावलीका वर्णन करते जाते थे, अनेक प्रकारके आभरणोंकी कान्तिके समूहसे उनका शरीर देदीप्यमान रहता था जिससे ऐसा जान पड़ता था कि मानो अपने तेजसे सूर्यका निग्रह करनेके लिए ही उद्यत हो रहे हैं, अथवा भूषणांग जातिके कल्पवृक्षका तिरस्कार करनेके लिए ही तैयारी कर रहे हों। उस समय वे देवोंके कुमारके समान जान पड़ते थे इसलिए नगरकी स्त्रियाँ इन्हें देखकर अपना-अपना कार्य भूल जाती थीं और अपनी मामी आदिके रोकनेमें निरादर हो जाती थीं—किसीके निषेध करनेपर भी नहीं मानती थीं ॥२१७-२२२॥ इस तरह कुमार वसुदेवके निकलनेसे नगरनिवासी लोग दुःखी होने लगे इसलिए एक दिन उन्होंने यह समाचार महाराज समुद्रविजयके पास जाकर निवेदन किया ॥२२३॥ नगर-निवासियोंकी बात सुनकर भाईके स्नेहसे भरे हुए महाराज

१ पुण्योदयात् । २ वाप्येव-ख० । ३ : ख० ।

कुमार इति संचिन्त्य तमाहूय मिथोऽब्रवीत् । [1]कुमार तव कायस्य छायाद्येयमिवान्यथा ॥२२५॥
वृथाटनं परित्याज्यं शीतवातादिपु त्वया । विहर्तुं परिवाञ्छा चेत्परितो राजमन्दिरम् ॥२२६॥
धारागृहे वने रम्ये हर्म्ये विहितपर्वते । मन्त्रिसामन्तयोधाग्रमहामात्रात्मजैः समम् ॥२२७॥
यथेष्टं विचरेत्येतत् श्रुत्वा सोऽपि तथाचरन् । आदद्त्यमृतं वाप्तवचनं शुद्धबुद्धयः ॥२२८॥
एवं विहरमाणं तं वाचाटश्चेटकोऽपरम् । नाम्ना निपुणमत्याख्यो यथेष्टाचरणोत्सुकः ॥२२९॥
राज्ञा त्वं प्रतिषिद्धोऽसि सोपायं निर्गमं प्रति । इत्यवादीदसौ चाह किमर्थमिति चेटकम् ॥२३०॥
सोऽब्रवीत्तव निर्याणकाले रूपविलोकनात् । परे शिथिलचारित्रा मन्मथेनाकुलीकृताः ॥२३१॥
वीतलज्जा विमर्यादा विपरीतविचेष्टिताः[2] । पीतासवसमाः कन्याः सधवा विधवाश्च ताः ॥२३२॥
काश्चित् प्रस्विन्नसर्वाङ्गाः काश्चिदर्धात्तलोचनाः । काश्चित् संत्यक्तसंव्यानाः काश्चित्त्यक्तार्धभोजनाः ॥२३३॥
अवमत्य गुरून् काश्चित् काश्चिन्निर्भर्त्स्य रक्षकान् । मत्तृनविगणय्यान्याः पुत्रांश्चान्याश्च पुत्रकान् ॥२३४॥
मत्वा मर्कटकान् काश्चित् समुत्क्षिप्य [3]समाकुलाः । कम्बलं परिधायान्या विचित्र्योत्कृष्टवाससी ॥२३५॥
अङ्गरागं समाकोऽप्य काश्चिदालिप्य कर्दमम् । लोचने स्वे समाकोऽप्य ललाटेऽप्यस्तकज्जलाः ॥२३६॥
[4]स्वाः स्वास्तथाविधाः सर्वाः सर्वैरुद्विग्नमानसैः । निरीक्ष्य पौरैर्वाक्येन ज्ञापितोऽयं नरेश्वरः ॥२३७॥
तवेदृशीमुपायेन व्यवस्थां पर्यकल्पयत् । इति संश्रुत्य तेनोक्तं कुमारस्तत्परीक्षितुम् ॥२३८॥
राजगेहाद् विनिर्गन्तुकामो दौवारिकैस्तदा[5] । तवाग्रजस्य [6]नो देव निर्देशोऽस्माकमीदृशः ॥२३९॥

समुद्रविजयने विचार किया कि यदि इसे स्पष्ट ही मना किया जाता है तो सम्भव है यह विमुख हो जावेगा। इसलिए उन्होंने कुमार वसुदेवको एकान्तमें बुलाकर कहा कि 'हे कुमार! तुम्हारे शरीरकी कान्ति आज बदली-सी मालूम होती है इसलिए तुम्हें ठण्डी हवा आदिमें यह व्यर्थका भ्रमण छोड़ देना चाहिए। यदि भ्रमणकी इच्छा ही है तो राजभवनके चारों ओर धारागृह, मनोहर-वन, राजमन्दिर तथा कृत्रिम पर्वत आदिपर जहाँ इच्छा हो मन्त्रियों, सामन्तों, प्रधान योद्धाओं अथवा महामन्त्रियोंके पुत्रों आदिके साथ भ्रमण करो।' महाराज वसुदेवकी बात सुनकर कुमार वसुदेव ऐसा ही करने लगे सो ठीक ही है क्योंकि शुद्ध बुद्धिवाले पुरुष आप्तजनोंके वचनोंको अमृत-जैसा ग्रहण करते हैं ॥२२४-२२८॥ कुमार इस प्रकार राजमन्दिरके आसपास ही भ्रमण करने लगे। एक दिन जिसे बहुत बोलनेकी आदत थी और जो स्वेच्छानुसार आचरण करनेमें उत्सुक रहता था ऐसा निपुणमति नामका सेवक कुमार वसुदेवसे कहने लगा कि इस उपायसे महाराजने आपको बाहर निकलनेसे रोका है। कुमारने भी उस सेवकसे पूछा कि महाराजने ऐसा क्यों किया है? उत्तरमें वह कहने लगा कि जब आप बाहर निकलते हैं तब आपका सुन्दर रूप देखनेसे नगरकी स्त्रियोंका चरित्र शिथिल हो जाता है, वे कामसे आकुल हो जाती हैं, लज्जा छोड़ देती हैं, विपरीत चेष्टाएँ करने लगती हैं, कन्याएँ सधवाएँ और विधवाएँ सभी मदिरा पी हुईके समान हो जाती हैं, कितनी ही स्त्रियोंका सब शरीर पसीनासे तरबतर हो जाता है; कितनी ही स्त्रियोंके नेत्र आधे खुले रह जाते हैं, कितनी ही स्त्रियाँ पहननेके वस्त्र छोड़ देती हैं, कितनी ही भोजन छोड़ देती हैं, कितनी ही गुरुजनोंका तिरस्कार कर बैठती हैं, कितनी ही रक्षकोंको ललकार देती हैं, कितनी ही अपने पतियोंकी उपेक्षा कर देती हैं, कितनी ही पुत्रोंकी परवाह नहीं करती हैं, कितनी ही पुत्रोंको बन्दर समझकर दूर फेंक देती हैं, कितनी ही कम्बलको ही उत्तम वस्त्र समझकर पहिन लेती हैं, कितनी कीचड़को अंगराग समझकर शरीरपर लपेट लेती हैं और कितनी ही ललाटको नेत्र समझकर उसीपर कज्जल लगा लेती हैं। अपनी-अपनी समस्त स्त्रियोंकी ऐसी विपरीत चेष्टा देख समस्त नगरनिवासी बड़े दुःखी हुए और उन्होंने शब्दों-द्वारा महाराजसे इस बातका निवेदन किया। महाराजने भी इस उपायसे आपकी ऐसी व्यवस्था की है। निपुणमति सेवककी बात सुनकर उसकी परीक्षा

१ ख०, ग०, घ०, म० सम्मतः पाठः। ल० पुस्तके तु 'कुमार वपुरेतत्ते पश्यामि किमिवान्यथा' इति पाठः। २ विचेष्टितम् म०। ३ समाकुलान् ल०। ४ स्वास्तास्तथा-ल०। ५ तदा म०, ल०। ६ ख०, ग०, घ०, म० संमतः पाठः, ल० पुस्तके तु 'तवाग्रजस्य देवस्य नादेशोऽस्माकमीदृशः' इति पाठः।

बहिस्त्वया न गन्तव्यमिति रुद्धः स्थितोऽन्यदा । समुद्रविजयादीनामनुक्त्वाऽयशसो भयात् ॥२४०॥
[1]वसुदेवोऽमुतो गत्वा विद्यासंसाधनच्छलात् । श्मशानभूमावेकाकी महाज्वाले हुताशने ॥२४१॥
निपत्याकीर्तिभीर्मातुरिति पत्रं [2]विलिख्य तत् । कण्ठे निबध्य वाहस्य मुक्त्वा तत्रैव तं स्वयम् ॥२४२॥
वह्निं प्रदक्षिणीकृत्य दह्यमानशवान्वितम् । अगादलक्ष्यमार्गः स रात्रावेव द्रुतं ततः ॥२४३॥
[3]ततः सूर्योदये राजगेहे तद्रक्षकाग्रणीः । अनिरीक्ष्यानुजं राज्ञो राजादेशादितस्ततः ॥२४४॥
पर्यटन् बहुभि सार्धं तमन्वेष्टुमथैक्षत । भस्मीभूतं शवं तत्र भ्राम्यन्तं च तुरंगमम् ॥२४५॥
[4]तत्कण्ठे पत्रमादाय नीत्वा राज्ञे समर्पयत् । तत्पत्रार्थं समाकर्ण्य समुद्रविजयादयः ॥२४६॥
महीभुजः परं चातिशोकसंतप्तचेतसः । [5]नैमित्तिकोक्ततद्योगक्षेमज्ञाः शममागताः ॥२४७॥
भृत्यान्महीपतिः स्नेहात् स तदैव समन्ततः । तं [6]गवेषयितुं दक्षान् प्राहिणोत् सहितान् बहून् ॥२४८॥
विजयाख्यं पुरं गत्वा सोऽप्यशोकमहीरुहः । मूले विश्रान्तये तस्थौ तच्छायामवस्थिताम् ॥२४९॥
समीक्ष्यादेशिकप्रोक्तमभूदवितथं वचः । इत्युद्यानपतिर्गत्वा मगधेशमबूबुधत् ॥२५०॥
राजापि श्यामलाख्यां [7]स्वां सुतां तस्मै समार्पयत् । दिनानि कानिचित्तत्र विश्रम्य गतवांस्ततः ॥२५१॥
देवदारुवने पुष्परम्याख्ये वनजाकरे । अरण्यवारणेनासौ क्रीडित्वारुह्य तं मुदा ॥२५२॥

करनेके लिए कुमार वसुदेव ज्यों ही राजमन्दिरसे बाहर जाने लगे त्यों ही द्वारपालोंने यह कहते हुए मना कर दिया कि 'देव ! हम लोगोंको आपके बड़े भाईकी ऐसी ही आज्ञा है कि कुमारको बाहर नहीं जाने दिया जावे ।' द्वारपालोंकी उक्त बात सुनकर कुमार वसुदेव उस समय तो रुक गये परन्तु दूसरे ही दिन समुद्रविजय आदिसे कुछ कहे बिना ही अपयशके भयसे विद्या सिद्ध करनेके बहाने अकेले ही श्मशानमें गये और वहाँ जाकर माताके नाम एक पत्र लिखा कि 'वसुदेव अकीर्तिके भयसे महाज्वालाओंवाली अग्निमें गिरकर मर गया है ।' यह पत्र लिखकर घोड़ेके गलेमें बाँध दिया, उसे वहीं छोड़ दिया और स्वयं जिसमें मुरदा जल रहा था ऐसी अग्निकी प्रदक्षिणा देकर रात्रिमें ही बड़ी शीघ्रतासे किसी अलक्षित मार्गसे चले गये ॥२२९-२४३॥ तदनन्तर सूर्योदय होनेपर जब उनके प्रधान-प्रधान रक्षकोंने राजमन्दिरमें कुमार वसुदेवको नहीं देखा तो उन्होंने राजा समुद्रविजयको खबर दी और उनकी आज्ञानुसार अनेक लोगोंके साथ उन्हें खोजनेके लिए वे रक्षक लोग इधर-उधर घूमने लगे । कुछ समय बाद उन्होंने श्मशानमें जला हुआ मुरदा और उसके आस-पास घूमता हुआ कुमार वसुदेवका घोड़ा देखा ॥२४४-२४५॥ घोड़ाके गलेमें जो पत्र बँधा था उसे लेकर उन्होंने राजा समुद्रविजयके लिए सौंप दिया । पत्रमें लिखा हुआ समाचार सुनकर समुद्रविजय आदि भाई तथा अन्य राजा लोग सभी शोकसे अत्यन्त दुःखी हुए परन्तु निमित्तज्ञानीने जब कुमार वसुदेवके योग और क्षेमका वर्णन किया तो उसे जानकर सब शान्त हो गये ॥२४६-२४७॥ राजा समुद्रविजयने उसी समय स्नेहवश, बहुत-से हितैषी तथा चतुर सेवकोंको कुमार वसुदेवकी खोज करनेके लिए भेजा ॥२४८॥

इधर कुमार वसुदेव विजयपुर नामक गाँवमें पहुँचे और विश्राम करनेके लिए अशोक वृक्षके नीचे बैठ गये । कुमारके बैठनेसे उस वृक्षकी छाया स्थिर हो गयी थी उसे देखकर बागवान्ने सोचा कि उस निमित्तज्ञानीके वचन सत्य निकले । ऐसा विचार कर उसने मगधदेशके राजाको इसकी खबर दी और राजाने भी अपनी श्यामला नामकी कन्या कुमार वसुदेवके लिए समर्पित की । कुमारने कुछ दिन तक तो वहाँ विश्राम किया, तदनन्तर वहाँसे आगे चल दिया । अब वे देवदारु वनमें पुष्परम्य नामक कमलोंके सरोवरके पास पहुँचे और वहाँ किसी जंगली हाथीके साथ क्रीड़ा कर बड़ी प्रसन्नतासे उसपर सवार हो गये ॥२४९-२५२॥

---

१ वसुदेवस्ततो ग०, ल० । २ व्यलिख्यत ल० । ३ ख०, ग०, घ०, म० संमतः पाठः, ल० पुस्तके तु 'ततः सूर्योदये गेहे तद्रक्षणकराग्रणी': इति पाठः । ४-कण्ठपत्र-ल० । ५ नैमित्तिकोक्ततद्योगकाक्षज्ञाः म० । कायज्ञाः ल० । ६ तमावेषयितुं ल० । ७ तां ग०, ल० ।

इत्याश्चर्यमानः स्वयं केनचित् खगेन गजाधिपात् । अनास्य सहसानीतः खेचराद्रिं कृती पुरः ॥२५३॥
प्रभुः किन्नरगीतस्य द्वितीयां वा रतिं सताम् । सुतामशनिवेगस्य दत्तां शाल्मलिपूर्विकाम् ॥२५४॥
जातां पवनवेगायामादिष्टां परिणीतवान् । तया सह स्मरस्यापि सुखं स्मर्तुमगोचरम् ॥२५५॥
अनुभूय दिनान्यत्र विश्रान्तः कानिचित् पुनः । तयोपसर्तुकामं तं समीक्ष्याङ्गारवेगकः ॥२५६॥
उदहृन्याशनिवेगस्य दायादोऽयं नभस्तले । ज्ञात्वा वृत्तान्तशाल्मल्या समुद्गीर्णासिहस्तया ॥२५७॥
सोऽन्वीतस्तद्भयान्मुक्त्वा तं तस्मात् अपलायितः । विद्यया पर्णलघ्व्यासौ [1]प्रियाप्रहितया तया ॥२५८॥
चम्पापुरसमीपस्थसरोमध्ये शनैः शनैः । द्वीपे निपातितोऽपृच्छद्देहिनस्तीरवर्तिनः ॥२५९॥
द्वीपादमुष्मान्निर्गन्तुं किं तीर्थं वदतेति तान् । अवदंस्तेऽपि किं मत्र पतितः खात्त्वमित्यमुम् ॥२६०॥
सम्यग्भवति विज्ञातमिति तेन सुभाषिताः । प्रहस्यानेन मार्गेण जलान्निर्गम्यतामिति ॥२६१॥
व्यदिशन्प्रगतस्तस्मात् प्रविश्य नगरं गुरुम् । [2]दृष्ट्वा गन्धर्वविद्याया मनोहरसमाह्वयम् ॥२६२॥
उपविश्य तदभ्याशे वीणावादनशिक्षकान् । तत्र गन्धर्वदत्तायाः स्वयंवरविधिं प्रति ॥२६३॥
दृष्ट्वा निगूढतज्ज्ञानो वसुदेवो विमूढवत् । अहं चैभिः सहाभ्यासं करोमीत्यात्तवल्लकिः ॥२६४॥
[3]आदावेवाच्छिनत्तन्त्रीं तुम्बीजं वाभिनत् फलम् । [4]वैयात्यं पश्यतास्यालं दृष्ट्वा तं तेऽहसन् भृशम् ॥२६५॥
भर्ता गन्धर्वदत्तायास्त्वमेवैवं[5] विचक्षणः । गीतवाद्यविशेषेषु सर्वानस्मान् जयेरिति ॥२६६॥

उसी समय किसी विद्याधरने उनकी बड़ी प्रशंसा की और हाथीसे उठाकर उन पुण्यात्माको अकस्मात् ही विजयार्ध पर्वतपर पहुँचा दिया ॥२५३॥ वहाँ किन्नरगीत नामके नगरमें राजा अशनिवेग रहता था उसको शाल्मलिदत्ता नामकी एक पुत्री थी जो कि पवनवेगा स्त्रीसे उत्पन्न हुई थी और दूसरी रतिके समान जान पड़ती थी। अशनिवेगने वह कन्या कुमार वसुदेवके लिए समर्पित कर दी। कुमारने भी उसे विवाह कर उसके साथ स्मरणके भी अगोचर काम-सुखका अनुभव किया और कुछ दिन तक वहीं विश्राम किया। तदनन्तर जब कुमारने वहाँसे जानेकी इच्छा की तब अशनिवेगका दायाद (उत्तराधिकारी) अंगारवेग उन्हें जानेके लिए उद्यत देख उठाकर आकाशमें ले गया। इधर शाल्मलिदत्ताको जब पता चला तो उससे नंगी तलवार हाथमें लेकर उसका पीछा किया। शाल्मलिदत्ताके भयसे अंगारवेग कुमारको छोड़कर भाग गया। कुमार नीचे गिरना ही चाहते थे कि उसकी प्रिया शाल्मलिदत्ताके द्वारा भेजी हुई पर्णलघ्वी नामकी विद्याने उन्हें चम्पापुरके सरोवरके मध्यमें वर्तमान द्वीपपर धीरे-धीरे उतार दिया। वहाँ आकर कुमारने किनारेपर रहनेवाले लोगोंसे पूछा कि इस द्वीपसे बाहर निकलने-का मार्ग क्या है? आप लोग मुझे बतलाइए। तब लोगोंने कुमारसे कहा कि क्या आप आकाशसे पड़े हैं? जिससे कि निकलनेका मार्ग नहीं जानते। कुमारने उत्तर दिया कि आप लोगोंने ठीक जाना है सचमुच ही मैं आकाशसे पड़ा हूँ। कुमारका उत्तर सुनकर सब लोग हँसने लगे और 'इस मार्गके द्वारा आप जलसे बाहर निकल आइए' ऐसा कहकर उन्होंने मार्ग दिखा दिया। कुमार उसी मार्गसे निकलकर नगरमें प्रविष्ट हुए और मनोहर नामक गन्धर्वविद्याके गुरुके पास जा बैठे। गन्धर्वदत्ताको स्वयंवरमें जीतनेके लिए उनके पास बहुत-से शिष्य वीणा बजाना सीख रहे थे। उन्हें देख तथा अपने वीणाविषयक ज्ञानको छिपाकर कुमार मूर्खकी तरह बन गये और कहने लगे कि मैं भी इन लोगोंके साथ वीणा बजानेका अभ्यास करता हूँ। ऐसा कहकर उन्होंने एक वीणा ले ली। पहले तो उसकी तन्त्री तोड़ डाली और फिर तूँबा फोड़ दिया। उनकी इस क्रियाको देख लोग अत्यधिक हँसने लगे और कहने लगे कि इसकी धृष्टताको देखो। कुमार वसुदेवसे भी उन्होंने कहा कि तुम ऐसे चतुर हो, जान पड़ता है कि गन्धर्वदत्ताके तुम्हीं पति होओगे और हम सबको गाने-बजानेकी कलामें हरा दोगे ॥२५४-२६६॥

---

१ प्रियप्राहितया तया ग० । प्रियं प्रियतया तया ल० । २ गान्धर्वकुशलं प्राप ल० । ३ ख०, ग०, घ०, म० संमतः पाठः । आदावेवाच्छिनत्तंत्री तुंबाजं वाभिनत्फलं ल० । ४ वियात्यं ल० । ५ त्वमेवैव ल० ।

[1]एवं तत्र स्थिते तस्मिन् धरागगनगोचराः । प्रापुर्गन्धर्वदत्तायाः स्वयंवरसमुत्सुकाः ॥२६७॥
[2]तान्स्वयंवरशालायां बहून् जितवती स्वयम् । तदानीं गीतवाद्याख्यतत्कलारूपधारिणी ॥२६८॥
चारुदत्तादिभिः श्रोतृपदमध्यासितैः स्तुता । कलाकौशलमेतस्या विलक्षणमिति स्फुटम् ॥२६९॥
स्वोपाध्यायं तदापृच्छ्य कन्याभ्यर्णमुपागतः । वसुदेवोऽभणीद् वीणां निर्दोषामानयन्त्विति ॥२७०॥
तेऽपि तिस्रश्चतस्रश्च हस्ते वीणाः [3]समर्पयन् । तासां तन्त्रीषु [4]लोमांसं शल्यं चालोक्य सस्मितम् ॥२७१॥
तुम्बीफलेषु दण्डेषु शल्कपाषाणमप्यसौ । स्फुटीचकार तद्दृष्ट्वा त्वदिष्टा कीदृशी भवेत् ॥२७२॥
वीणेति कन्यया प्रोक्तो मदिष्टायाः समागमः । ईदृग्विध इति प्राह तत्राख्यानमीदृशम् ॥२७३॥
हास्तिनाख्यपुराधीशो राज्ञो मेघरथश्रुतेः । पद्मावत्याश्च संजातौ विष्णुपद्मरथौ सुतौ ॥२७४॥
सह विष्णुकुमारेण भूपतौ तपसि स्थिते । पद्मरथे राज्यमलंकुर्वत्यथान्यदा ॥२७५॥
प्रत्यन्तवासिसंक्षोभे संजाते सचिवाग्रणीः । सामादिभिरुपायैस्तं प्रशान्तिं समजीगमत् ॥२७६॥
राज्ञा तुष्टवतावादि स्वयेष्टं वाच्यतामिति । राज्यं सप्तदिनं कर्तुमिच्छामीत्यब्रवीद् बली ॥२७७॥
दत्तं जरत्तृणं मत्वा [5]तेन तस्मै तदूर्जितम् । कृतोपकारिणे देयं किं न तत्कृतवेदिभिः ॥२७८॥
तत्राकम्पनगुर्वाद्यमागत्य मुनिमण्डलम् । अग्रहीदातपे योगं [6]सर्वं सौम्यमहीभृति ॥२७९॥
निर्जितः [7]प्राग्विदुष्विण्यामकम्पनगुरोर्बलिः । वादे सभायां तत्कोपात्तं जिघांसुरधमात्मकः ॥२८०॥

इस प्रकार कुमार वसुदेव वहाँ कुछ समय तक स्थित रहे। तदनन्तर गन्धर्वदत्ताके स्वयंवरमें उत्सुक हुए भूमिगोचरी और विद्याधर लोग एकत्रित होने लगे ॥२६७॥ गाने-बजानेकी कलाका रूप धारण करनेवाली गन्धर्वदत्ताने स्वयंवरशालामें आये हुए बहुत-से लोगोंको गाने-बजानेके द्वारा तत्काल जीत लिया ॥२६८॥ वहाँ जो चारुदत्त आदि मुख्य-मुख्य श्रोता बैठे थे वे सब उस गन्धर्वदत्ताकी प्रशंसा कर रहे थे और कह रहे थे कि इसका कला-कौशल बड़ा ही विलक्षण है—सबसे अद्भुत है ॥२६९॥ तदनन्तर वसुदेव भी अपने गुरुसे पूछकर कन्याके पास गये और कहने लगे कि ऐसी वीणा लाओ जिसमें एक भी दोष नहीं हो ॥२७०॥ लोगोंने तीन चार वीणाएँ वसुदेवके हाथमें सौंप दीं। वसुदेवने उन्हें देखकर हँसते हुए कहा कि इन वीणाओंकी ताँतमें लोमांस नामका दोष है और तुम्बीफल तथा दण्डोंमें शल्क एवं पाषाण नामका दोष है। उन्होंने यह कहा ही नहीं किन्तु प्रकट करके दिखला भी दिया। यह देख कन्याने कहा कि तो फिर आप कैसी वीणा चाहते हैं? इसके उत्तरमें कुमारने कहा कि मुझे जो वीणा इष्ट है उसका समागम इस प्रकार हुआ था। ऐसा कह उन्होंने निम्नांकित कथा सुनायी ॥२७१-२७३॥

हस्तिनापुरके राजा मेघरथके पद्मावती रानीसे विष्णु और पद्मरथ नामके दो पुत्र हुए थे ॥२७४॥ कुछ समय बाद राजा मेघरथ तो विष्णुकुमार पुत्रके साथ तप करने लगे और पद्मरथ राज्य करने लगा। किसी अन्य समय समीपवर्ती किसी राजाने राज्यमें क्षोभ उत्पन्न किया जिसे प्रधान मन्त्री बलिने साम आदि उपायोंसे शान्त कर दिया। राजा पद्मरथने बलिके कार्यसे सन्तुष्ट होकर कहा कि 'तुझे क्या इष्ट है? तू क्या चाहता है?' सो कह! उत्तरमें बलिने कहा कि मैं सात दिन तक राज्य करना चाहता हूँ। राजाने भी बलिकी इस माँगको जीर्णतृणके समान तुच्छ समझ उसे सात दिनका राज्य देना स्वीकृत कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि जो किये हुए उपकारको जानते हैं अर्थात् कृतज्ञ हैं वे उपकार करनेवालेके लिए क्या नहीं देते हैं? ॥२७५-२७८॥ उसी समय अकम्पन गुरु आदि मुनियोंके समूहने हस्तिनापुर आकर वहाँके सौम्य पर्वतपर आतापन योग धारण कर लिया। पहले जब बलि मन्त्री उज्जयिनी नगरीमें रहता था तब उसे अकम्पन गुरुने शास्त्रार्थके समय विद्वानोंकी सभामें जीत लिया था इसलिए वह पापी क्रोधसे उनका घात करना

---

१ पठत्यत्र स्थिते ल० । २ ता ल० । ३ समार्पयत् ल० । ४ लौमस्यं ल० । ५ –मणवस्मैतदूर्जितम् ल० । ६ सर्वे ल० । ७ प्राग्विदुषिण्या ल० ।

यागव्याजं समारभ्य स मन्त्री परितो गिरिम् । [1]अर्थिनाहारदानार्थं देवसंतर्पणाय च ॥२८१॥
पाकं प्रवर्तयामास धूमज्वालाग्निसंततम् । ज्ञात्वा विष्णुकुमारस्तमुपसर्गं मुनीश्वरः ॥२८२॥
गत्वा पद्मरथाभ्यर्णं वीतरागासने स्थितः । राज्ञाभिवन्द्य संपूज्य किं कृत्यमिति भाषितः[2] ॥२८३॥
उपसर्गं त्वदामात्यो तवात्रातपयोगिनाम् । निवार्यतामसावाशु त्वयेत्याह महीपतिम्[3] ॥२८४॥
प्रतिपन्नं मया तस्मै राज्यं सप्तदिनावधि । न निवारयितुं शक्यः सत्यभेदभयादसौ ॥२८५॥
ततो भवद्भिरेवायं निवार्यो दुर्जनोऽधुना । न विदन्ति खलाः स्वैरा युक्तायुक्तविचेष्टितम् ॥२८६॥
इत्यवोचदसौ चैतदवगम्य मुनीश्वरः । प्रतिषेत्स्यामि पापिष्ठमहमेवाशु नश्वरम् ॥२८७॥
इति वामनरूपेण ब्राह्मणाकारमागतः । संप्राप्य बलिनोऽभ्यर्णं स्वस्तिवादपुरस्सरम् ॥२८८॥
[4]महाभागाहमर्थी त्वां दातृमुख्यमुपागमम् । देयं त्वयेत्यवादीत सोऽप्यभीष्टं प्रतिपन्नवान् ॥२८९॥
अभाषत द्विजो राजन् देयं मे विक्रमैस्त्रिभिः । प्रमितं क्षेत्रमित्यल्पं किमेतदभियाचितम् ॥२९०॥
गृहाणेति बली पाणिजलसेकसमन्वितम् । [5]अदितास्मै मुनिश्चाप्तविक्रियर्द्धिर्निजक्रमम् ॥२९१॥
[6]न्यधादेकं प्रमायोद्वैर्मानुषोत्तरमूर्धनि । द्वितीयमपि देवाद्रिचूलिकायां स्फुरद्द्युतिः ॥२९२॥
तदा विद्याधरा भूमिगोचराश्चाभ्यं संहर । चरणौ संसृतेर्हेतुं क्रोधं मा स्म कृथा वृथा ॥२९३॥
इति संगीतवीणादिमुखरा मुनिसत्तमम् । सद्यः प्रसादयामासुः सोऽप्यकृष्टो स्वौ समाहरत् ॥२९४॥
श्रुत्वा लक्षणवत्तेषां तदा गीतं सुधाशिनः[7] । तुष्टा घोषसुघोषाख्ये महाघोषां च सुस्वराम् ॥२९५॥

चाहता था ॥२७९-२८०॥ पापी वलि मन्त्रीने यज्ञका बहाना कर उस सौम्य पर्वतके चारों ओर याचकोंको दान देने तथा देवताओंको सन्तुष्ट करनेके लिए पाक अर्थात् रसोई बनवाना शुरू किया जिससे धुआँ तथा ज्वालाओंका समूह चारों ओर फैलने लगा। जब मुनिराज विष्णुकुमारको इस उपसर्गका पता चला तो वे आकर राजा पद्मरथके पास गये और वीतराग आसनपर बैठ गये। राजा पद्मरथने उनकी वन्दना की, पूजा की तथा कहा कि मुझसे क्या कार्य है ? ॥२८१-२८३॥ मुनिराज विष्णुकुमारने राजा पद्मरथसे कहा कि तुम्हारे मन्त्रीने आतप योग धारण करनेवाले मुनियोंके लिए उपसर्ग कर रखा है उसे तुम शीघ्र ही दूर करो ॥२८४॥ उत्तरमें राजाने कहा कि मैं उसके लिए सात दिनका राज्य देना स्वीकृत कर चुका हूँ अतः सत्यव्रतके खण्डित होनेके भयसे मैं उसे नहीं रोक सकता। हे पूज्य ! इस दुष्टका इस समय आप ही निवारण कीजिए। स्वच्छन्द रहनेवाले दुष्ट जन योग्य और अयोग्य चेष्टाओंको —अच्छे-बुरे कार्योंको नहीं जानते हैं ॥२८५-२८६॥ राजा पद्मरथने ऐसा उत्तर दिया, उसे सुनकर मुनिराजने कहा कि तो मैं ही शीघ्र नष्ट होनेवाले इस पापीको मना करता हूँ ॥२८७॥ इतना कहकर वे महामुनि वामन (बौने) ब्राह्मणका रूप रखकर बलिके पास पहुँचे और आशीर्वाद देते हुए बोले कि हे महाभाग ! आज तू दाताओंमें मुख्य है इसलिए मैं तेरे पास आया हूँ तू मुझे भी कुछ दे। उत्तरमें बलिने इष्ट वस्तु देना स्वीकृत कर लिया। तदनन्तर ब्राह्मण वेषधारी विष्णुकुमार मुनिने कहा कि हे राजन्, मैं अपने पैरसे तीन पैर पृथिवी चाहता हूँ यही तू मुझे दे दे। ब्राह्मणकी बात सुनकर बलिने कहा कि 'यह तो बहुत थोड़ा क्षेत्र है इतना ही क्यों माँगा ? ले लो', इतना कहकर उसने ब्राह्मणके हाथमें जलधारा छोड़कर तीन पैर पृथिवी दे दी। फिर क्या था ? मुनिराजने विक्रियाऋद्धिसे फैलाकर एक पैर तो मानुषोत्तर पर्वतके ऊँचे शिखरपर रखा और देदीप्यमान कान्तिका धारक दूसरा पैर सुमेरु पर्वतकी चूलिकापर रखा ॥२८८-२९२॥ उस समय विद्याधर और भूमिगोचरी सभी स्तुति कर मुनिराजसे कहने लगे कि हे प्रभो ! अपने चरणोंको संकोच लीजिए, वृथा ही संसारका कारणभूत क्रोध नहीं कीजिए ॥२९३॥ इस प्रकार संगीत और वीणा आदिसे मुखर हुए भूमिगोचरियों और विद्याधरोंने शीघ्र ही उन मुनिराजको प्रसन्न कर लिया और उन्होंने भी अपने दोनों चरण संकोच लिये ॥२९४॥ उस समय उनका लक्षणसहित संगीत सुनकर देव लोग बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने

---

१ प्रार्थिना म० । २ भाषितम् ख० । ३ महीपतिः ग०, ल० । ४ महाभागाहमद्य त्वां ल० । ५ आदितास्मै ल० । ६ न्यधादेकं म०, ल० । ७ सुधाशिनः ल० ।

वीणां घोषावतीं चासु ददति स्म सुसंगताम् । विद्याधरेभ्यो द्वे द्वे च भूचरेभ्यो यथाक्रमम् ॥२९६॥
वृथा त्वं याचितो विप्रवरेणापि मयाऽधुना । नावकाशस्तृतीयस्य चरणस्येति सत्वरम् ॥२९७॥
बध्वा बलिमसुद्वृत्तं बली विष्णुमुनीश्वरः । दुःसहं तं निराकार्षीदुपसर्गं मुनीशिनाम् ॥२९८॥
बद्धं बलिनमाहन्तुं समुद्युक्तं महीपतिम् । प्रतिषिध्य प्रसन्नात्मा सद्धर्मं समजिग्रहत् ॥२९९॥
एवं महामुनिस्तत्र कृतधर्मप्रभावनः । पूज्यः पद्मरथेनास्मात् स्वस्थानमगमन् सुधीः ॥३००॥
तासु घोषावती नाम वीणा वंशेऽत्र संनिधिम् । समागमद् भवद्भिस्तत् सा समानीयतां शुभा ॥३०१॥
एवमुक्तवते तस्मै तामेवानीय ते ददुः । तयासौ गीतवाद्याभ्यां [1]श्रोतृचेतोऽभिरञ्जनम् ॥३०२
समापादयदाकर्ण्य तद्वीणाकौशलं महत् । प्रीता गन्धर्वदत्तापि स्वां वा मालां समार्पयत् ॥३०३॥
तस्य कण्ठे सुकण्ठस्य कुण्ठिताखिलभूभुजः । [2]ननु प्राक्कृतपुण्यानां स्वयं सन्ति महर्द्धयः ॥३०४॥
ततः सर्वे प्रहृष्यास्य कल्याणाभिषवं व्यधुः । एवं विद्याधरश्रेण्यां क्रमात्सप्तशतान्यसौ ॥३०५॥
संप्राप्य खेचरेशेभ्यस्तत्कन्यादानमानितः । ततो निवृत्य भूभागमागत्य परमोदयः ॥३०६॥
हिरण्यवर्मणोऽरिष्टपुराधीशो महीपतेः[3] । पद्मावत्यामभूत् पुत्री रोहिणी रोहिणीव सा ॥३०७॥
स्वस्याः स्वयंवरायैत्य शिक्षकाभ्यान् कलागुणान् । वसुदेवमुपाध्यायतया बोधयितुं स्थितम् ॥३०८॥
स्वबाहुलतयेवैनं रोहिणी रत्नमालया । आश्लिष्टकण्ठमकरोदुत्कण्ठाकुण्ठितचेतसा ॥३०९॥
ततो विभिन्नमर्यादाः समुद्रविजयादयः । समुद्रा इव संहारे [4]संक्षोभमुपगम्य ताम् ॥३१०॥

अच्छे स्वरवाली घोषा, सुघोषा, महाघोषा और घोषवती नामकी चार वीणाएँ दीं। उन वीणाओं-में-से देवोंने यथाक्रमसे दो वीणाएँ तो विद्याधरोंकी दी थीं और दो वीणाएँ भूमिगोचरियोंको दी थीं ॥२९५-२९६॥ तदनन्तर उन मुनिराजने बलिसे कहा कि मुझ ब्राह्मणने तुझसे व्यर्थ ही याचना की क्योंकि तीसरा चरण रखनेके लिए अवकाश ही नहीं है। यह कहकर बलवान् विष्णुकुमार मुनिराजने उस दुराचारी बलिको शीघ्र ही बाँध लिया और अकम्पन आदि मुनियोंके उस दुःसह उपसर्गको दूर कर दिया ॥२९७-२९८॥ बँधे हुए बलिको मारनेके लिए राजा पद्मरथ उद्यत हुए परन्तु मुनिराजने उसे मना कर दिया और प्रसन्नचित्त होकर उन्होंने बलिको समीचीन धर्म ग्रहण कराया। इस प्रकार धर्मकी प्रभावना करनेवाले बुद्धिमान् महा-मुनिकी राजा पद्मरथने पूजा की। तदनन्तर वे अपने स्थानपर चले गये ॥२९९-३००॥ यह सब कथा कहनेके बाद कुमार वसुदेवने गन्धर्वदत्तासे कहा कि देवोंके द्वारा दी हुई चार वीणाओंमें-से घोषवती नामकी वीणा आपके इस वंशमें समागमको प्राप्त हुई थी अतः आप वही शुभ वीणा मेरे लिए मँगाइए ॥३०१॥ इस प्रकार कहनेवाले वसुदेवके लिए उन लोगोंने वही वीणा लाकर दी। वसुदेवने उसी वीणाके द्वारा गा-बजाकर सब श्रोताओंका चित्त प्रसन्न कर दिया। गन्धर्व-दत्ता वसुदेवकी वीणा बजानेमें बहुत भारी कुशलता देखकर प्रसन्न हुई और उसने अच्छे कण्ठवाले तथा समस्त राजाओंको कुण्ठित करनेवाले कुमार वसुदेवके गलेमें अपने आपकी तरह माला समर्पित कर दी सो ठीक ही है क्योंकि पूर्व पर्यायमें पुण्य करनेवाले लोगोंको बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ स्वयं आकर मिल जाती हैं ॥३०२-३०४॥ इसके बाद सबने हर्षित होकर वसुदेव-का कल्याणाभिषेक किया। इसी तरह विद्याधरोंकी श्रेणियों अर्थात् विजयार्ध पर्वतपर जाकर विद्याधर राजाओंके द्वारा कन्यादान आदिसे सम्मानित वसुदेवने सात सौ कन्याएँ प्राप्त कीं। तदनन्तर—परम अभ्युदयको धारण करनेवाले कुमार वसुदेव विजयार्ध पर्वतसे लौटकर भूमिपर आ गये ॥३०५-३०६॥ वहाँ अरिष्टपुर नगरके राजा हिरण्यवर्माके पद्मावती रानीसे उत्पन्न हुई रोहिणी नामकी पुत्री थी जो सचमुच ही रोहिणी—चन्द्रमाकी स्त्रीके समान जान पड़ती थी। उसके स्वयंवरके लिए अनेक कलाओं तथा गुणोंको धारण करनेवाले मुख्य शिक्षकोंके समान अनेक राजा लोग आये थे परन्तु वसुदेव 'हम सबके उपाध्याय हैं' लोगोंको यह बतलानेके लिए ही मानो सबसे अलग बैठे थे। उस समय रोहिणीने उत्कण्ठासे कुण्ठित चित्त होकर अपनी भुजलताके समान रत्नोंकी मालासे वसुदेवके कण्ठका आलिंगन किया था ॥३०७-३०९॥ यह देख, जिस

१ श्रोत्र ख० । २ ननु ग० । ३ महीपतिः ख०, ग०, ङ० । ४ प्रक्षोभ-ङ० ।

आक्रन्दंसुधयः सर्वे दृष्ट्वा तान् दुष्टचेतसः । योद्धुं हिरण्यवर्मापि सस्वबन्धुः समुद्ययौ ॥३११॥
वसुदेवकुमारोऽपि निजनामाक्षराङ्कितम् । प्रजिघाय शरं सद्यः समुद्रविजयं प्रति ॥३१२॥
नामाक्षराणि तस्यासौ वाचयित्वा सविस्मयः । वसुदेवकुमारोऽत्र पुण्यात् संमाचितो मया ॥३१३॥
इति तुष्ट्वा निवार्याशु सङ्ग्रामं समुपागमत् । सहानुजैः कनीयांसमनुजं जितमन्मथम् ॥३१४॥
समुद्रविजयाधीशं वसुदेवः कृताञ्जलिः । प्रणम्य प्रीणयामास शेषानपि निजाग्रजान् ॥३१५॥
भूखेचराः कुमारेण तदा सर्वं निजात्मजाः । परिणीताः पुरानीय समुद्रः समजीगमन् ॥३१६॥
कुमारेण समं गत्वा स्वपुरं विहितोत्सवम् । दशार्हाः स्वेप्सितं सौख्यमन्वभूवन्ननारतम् ॥३१७॥
एवं काले प्रयात्येषां श्लाघ्यैर्भोगैरभङ्गुरैः । महाशुक्रात् समुत्तीर्य शङ्खाख्यः प्राक्तनो मुनिः ॥३१८॥
रोहिण्याः पुण्यभाक्पद्मनामासौ समजायत । प्रतोषं बन्धुवर्गेषु वर्धयन्नवमो बलः ॥३१९॥
सप्रतापा प्रभेवास्य सौरी धीरस्य निर्मला । [1]शरदा प्राप्य संस्कारं श्रुत्या पद्मोद्भवावहा ॥३२०॥
दुर्वारो दुष्टविध्वंसी विशिष्टप्रतिपालकः । तत्प्रतापः कथं सौरमपि सारं न लङ्घते ॥३२१॥
इतः [2]प्रकृतमन्यत्तु वृत्तकं तन्निगद्यते । गङ्गागन्धावतीनद्योः संगमे सफलद्रुमे ॥३२२॥
तापसानामभूत्पल्ली नाम्ना जठरकौशिकः[3] । [4]वशिष्ठो नायकस्तत्र पञ्चाग्निव्रतमाचरन् ॥३२३॥

प्रकार प्रलयकालमें समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर क्षुभित हो जाता है उसी प्रकार समुद्रविजय आदि सभी राजा मर्यादा छोड़कर क्षुभित हो उठे और जबरदस्ती रोहिणीको हरनेका उद्यम करने लगे। यह देख, हिरण्यवर्मा भी अपने भाइयोंको साथ ले उन दुष्ट हृदयवाले राजाओंसे युद्ध करनेके लिए तैयार हो गया ॥३१०-३११॥ कुमार वसुदेवने भी अपने नामके अक्षरोंसे चिह्नित एक बाण शीघ्र ही समुद्रविजयकी ओर छोड़ा ॥३१२॥ बाणपर लिखे हुए नामाक्षरोंको बाँचकर समुद्रविजय आश्चर्यसे चकित हो गये, वे कहने लगे—अहो पुण्योदयसे मुझे वसुदेव मिल गया। उन्होंने सन्तुष्ट होकर शीघ्र ही संग्राम बन्द कर दिया और अपने अन्य छोटे भाइयोंको साथ लेकर वे कामदेवको जीतनेवाले लघु भाई वसुदेवसे मिलनेके लिए गये ॥३१३-३१४॥ हाथ जोड़े हुए कुमार वसुदेवने महाराज समुद्रविजयको प्रणाम कर प्रसन्न किया। तदनन्तर अपने अन्य बड़े भाइयोंको भी प्रणामके द्वारा प्रसन्न बनाया ॥३१५॥ कुमारके द्वारा पहले विवाही हुई अपनी-अपनी पुत्रियोंको भूमिगोचरी और विद्याधर राजा बड़े हर्षसे ले आये और उन्हें कुमारके साथ मिला दिया। समुद्रविजय आदिने कुमार वसुदेवको साथ लेकर उत्सवोंसे भरे हुए अपने नगरमें प्रवेश किया और वहाँ वे सब निरन्तर इच्छानुसार सुख भोगते हुए रहने लगे ॥३१६-३१७॥ इस प्रकार इन सबका समय अविनाशी तथा प्रशंसनीय भोगोंके द्वारा सुखसे व्यतीत हो रहा था। कुछ समय बाद जिनका वर्णन पहले आ चुका है ऐसे शंख नामके मुनिराजका जीव महाशुक्र स्वर्गसे चयकर वसुदेवकी रोहिणी नामक स्त्रीके पद्म नामका पुण्यशाली पुत्र उत्पन्न हुआ। वह अपने भाइयोंमें आनन्दको बढ़ाता हुआ नौवाँ बलभद्र होगा ॥३१८-३१९॥ उसकी निर्मल बुद्धि सूर्यकी प्रभाके समान प्रताप युक्त थी। जिस प्रकार शरद् ऋतुका संस्कार पाकर सूर्यकी प्रभा पद्म अर्थात् कमलोंके विकासको बढ़ाने लगती है उसी प्रकार उसकी बुद्धि शास्त्रोंका संस्कार पाकर पद्मा अर्थात् लक्ष्मीकी उत्पत्तिको बढ़ाने लगी थी ॥३२०॥ उसका प्रताप दुर्वार था, दुष्टोंको नष्ट करनेवाला था और विशिष्ट-पुरुषोंका पालन करनेवाला था फिर भला वह सूर्यके सारभूत तेजका उल्लंघन क्यों नहीं करता? ॥३२१॥

अब इसीसे सम्बन्ध [illegible] दूसरी कथा कही जाती है जो इस प्रकार है। जहाँ गंगा और गन्धावती नदियाँ मिलती हैं वहाँ बहुत-से फले-फूले वृक्ष थे। उन्हीं वृक्षोंके बीचमें जठरकौशिक नामकी तापसोंकी एक बस्ती थी। उस बस्तीका नायक वशिष्ठ तपस्वी था वह पंचाग्नि तप तपा करता था। एक दिन वहाँ गुणभद्र और वीरभद्र नामके दो चारण मुनि आये। उन्होंने उसके तपको

---

१ शारदा म०, ग० । २ प्राकृत ल० । ३ जठरकौशिकम् ल०, म० । ४ विशिष्ठो ल० ।

मद्रान्तगुणवीराभ्यां चारणाभ्यामिदं तपः । अज्ञानकृतमित्युक्तमाकर्ण्याप्ृच्छद्रुषा ॥३२४॥
कुतो ममेति सक्रोधं कुधीः स्थित्वा तयोः पुरः । आद्योऽत्र वक्तुमुद्युक्तः सन्तो हि हितभाषिणः ॥३२५॥
जटाकलापसंभूतलिक्षायूकाभिघट्टनम् । संततस्नानसंलग्नजटान्तर्मृतमीनकान् ॥३२६॥
दह्यमानेन्धनान्तःस्थस्फुरद्विविधकीटकान् । संदर्श्येदं तवाज्ञानमिति तं समबोधयत् ॥३२७॥
काललब्धिं समाश्रित्य वशिष्ठोऽपि विशिष्टधीः । दीक्षित्वातपयोगस्थः सोपवासं तपो व्यधात् ॥३२८॥
तपोमाहात्म्यतस्तस्य सप्तव्यन्तरदेवताः । मुनीश ब्रूहि संदेशमिष्टमित्यग्रतः स्थिताः ॥३२९॥
दृष्ट्वा ताः स मुनिः प्राह भवतीभिः प्रयोजनम् । नास्त्यत्रागच्छतान्यस्मिन् यूयं जन्मनि मामिति ॥३३०॥
क्रमेणैवं तपः कुर्वन्नागमन्मथुरापुरीम् । तत्र मासोपवासी सन्नातपं योगमाचरन् ॥३३१॥
अथान्येद्युर्विलोक्यैनमुग्रसेनमहीपतिः । भक्त्या [1]मद्गेह एवायं भिक्षां गृह्णातु नान्यतः ॥३३२॥
चकार घोषणां पुर्यामिति सर्वनिषेधिनीम् । स्वपारणादिने सोऽपि भिक्षार्थं प्राविशत्पुरीम् ॥३३३॥
उदतिष्ठत्तदैवाग्नी राजगेहे निरीक्ष्य तम् । मुनीश्वरो निवर्त्यायान्निराहारस्तपोवनम् ॥३३४॥
ततः पुनर्गते मासे बुभुक्षुः क्षीणदेहकः । प्रविश्य नगरीं वीक्ष्य क्षोभणं [2]चागहस्तिनः ॥३३५॥
सद्यो निवर्तते स्मास्मान्मासमात्राशनव्रतः । मासान्ते पुनरन्येद्युः शरीरस्थितये गतः ॥३३६॥
राजगेहं जरासन्धमहीट्प्रहितपत्रकम् । समाकर्ण्य महीपाले व्याकुलीकृतचेतसि ॥३३७॥
ततो निवर्तमानोऽसौ क्षीणाङ्गो जनजल्पितम् । न ददाति स्वयं भिक्षां निषिध्यति परानपि ॥३३८॥

अज्ञान तप बताया। यह सुनकर वह दुर्बुद्धि तापस क्रोध करता हुआ उनके सामने खड़ा होकर पूछने लगा कि मेरा अज्ञान क्या है? उन दोनों मुनियोंमें जो प्रथम थे ऐसे गुणभद्र मुनि कहनेके लिए तत्पर हुए सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुष हितका ही उपदेश देते हैं ॥३२२–३२५॥ उन्होंने जटाओंके समूहमें उत्पन्न होनेवाली लीखों तथा जुओंके संघटनको; निरन्तर स्नानके समय लगकर जटाओंके भीतर मरी हुई छोटी-छोटी मछलियोंको और जलते हुए ईंधनके भीतर रहकर छटपटानेवाले अनेक कीड़ोंको दिखाकर समझाया कि देखो यह तुम्हारा अज्ञान है ॥३२६–३२७॥ काललब्धिका आश्रय मिलनेसे विशिष्ट बुद्धिका धारक वह वशिष्ठ तापस दीक्षा लेकर आतापन योगमें स्थित हो गया और उपवास सहित तप करने लगा ॥३२८॥ उसके तपके प्रभावसे सात व्यन्तर देवता आये और आगे खड़े होकर कहने लगे कि हे मुनिराज! अपना इष्ट सन्देश कहिए, हम लोग करनेके लिए तैयार हैं ॥३२९॥ उन्हें देखकर वशिष्ठ मुनिने कहा कि मुझे आप लोगोंसे इस जन्ममें कुछ प्रयोजन नहीं है अन्य जन्ममें मेरे पास आना ॥३३०॥ इस प्रकार तप करते हुए वे अनुक्रमसे मथुरापुरी आये। वहाँ एक महीनेके उपवासका नियम लेकर उन्होंने आतापन योग धारण किया ॥३३१॥ तदनन्तर दूसरे दिन मथुराके राजा उग्रसेनने बड़ी भक्तिसे उन मुनिके दर्शन किये और नगरमें घोषणा करा दी कि यह मुनिराज हमारे ही घर भिक्षा ग्रहण करेंगे, अन्यत्र नहीं। इस घोषणासे उन्होंने अन्य सब लोगोंको आहार देनेका निषेध कर दिया। अपनी पारणाके दिन मुनिराजने भिक्षाके लिए नगरीमें प्रवेश किया परन्तु उसी समय राजमन्दिरमें आग लग गयी उसे देख मुनिराज निराहार ही लौटकर तपोवनमें चले गये ॥३३२–३३४॥ मुनिराजने एक मासके उपवासका नियम फिरसे ले लिया। तदनन्तर एक माह बीत जानेपर क्षीण शरीरके धारक मुनिराजने जब आहारकी इच्छासे पुनः नगरीमें प्रवेश किया तब वहाँपर हाथीका क्षोभ हो रहा था उसे देख वे शीघ्र ही नगरीसे वापस लौट गये और एक माहका फिर उपवास लेकर तप करने लगे। एक माह समाप्त होनेपर जब वे फिर आहारके लिए राजमन्दिरकी ओर गये तब महाराज जरासन्धका भेजा हुआ पत्र सुनकर राजा उग्रसेनका चित्त व्याकुल हो रहा था अतः उसने मुनिकी ओर ध्यान नहीं दिया ॥३३५–३३७॥ क्षीण शरीरके धारी वशिष्ठ मुनि जब वहाँसे लौट रहे थे तब उन्होंने लोगोंको यह कहते हुए सुना कि 'राजा न तो स्वयं भिक्षा देता है और न दूसरोंको

1 मद्गृह एवायं ध० । 2 यागहस्तित. क० ।

कोऽभिप्रायो महीशस्य न विद्मो वयमित्यदः । श्रुत्वा पापोदयात् क्रुध्वा निदानमकरोन्मुनिः ॥३३९॥
पुत्रो भूत्वास्य भूपस्य मदुग्रतपसः फलात् । निगृह्णनमिदं राज्यं गृह्णासमिति दुर्मतिः ॥३४०॥
एवं दुष्परिणामेन मुनिः प्राप्य [1]परासुताम् । जातः पद्मावतीगर्भे भूरिवैरानुबन्धतः ॥३४१॥
सापि गर्भानकक्रौर्यान्महीभृद्धृदयामिषम् । अभूदभिलषन्त्यार्ता तज्ज्ञात्वा मन्त्रिणस्तदा ॥३४२॥
प्रयोगविहितं भर्तुर्हन्मांसमिति दौहृदम् । स्वबुद्ध्या पूरयंस्तस्याः किं न कुर्वन्ति धीधनाः ॥३४३॥
निर्गौहृदा क्रमेणासावसूत [2]सुतपातकम् । दष्टोष्ठं निष्ठुराळोकं कृतभ्रूभङ्गसंगमम् ॥३४४॥
दृष्ट्वा तं पितरौ तस्य नात्र विस्रम्भ्य पोषणे । योग्योऽयमिति संस्मृत्य विधिं तस्य विसर्जने ॥३४५॥
मञ्जूषायां विनिक्षिप्य कांसमय्यां सपत्रकम् । तोकं कलिन्दकन्यायाः[3] प्रवाहे मुक्तः स्म तौ ॥३४६॥
अस्ति [4]मण्डोदरी नाम कौशाम्ब्यां [5]शौण्डकारिणी। तया प्रवाहे मञ्जूषामध्यस्थोऽसौ व्यलोकयत॥३४७॥
अवीवृधद् गृहीत्वैनमिव सा स्वसुतं हिता । किं न कुर्वन्ति पुण्यानि हीनान्यपि तपस्विनाम् ॥३४८॥
अहोभिः कैश्चिदाप्याद्य[6]लम्भनादिमहं वयः । आक्रीडमानाश्चिर्हैतुं समं सकलबालकान् ॥३४९॥
चपेटमुष्टिदण्डादिप्रहारैर्बाधते सदा । तद्दुराचारनिर्विण्णास्त्यजन्मण्डोदरी [7]च तम् ॥३५०॥
सोऽपि शौर्यपुरं गत्वा वसुदेवमहीपतेः । प्रतिपद्य पदातित्वं तत्सेवातत्परोऽभवत् ॥३५१॥
अथोऽन्यत्प्रकृतं भूमौ जरासन्धमहीपतिः । निर्जिताशेषभूपालः कदाचित् कार्यशेषवान् ॥३५२॥
सुरम्यविषयाभ्यन्तःपौदनाख्यपुराधिपम् । रिपुं सिंहरथं जित्वा बलायुद्धे ममान्तिकम् ॥३५३॥

देने देता है। इसका क्या अभिप्राय है सो जान नहीं पड़ता।' लोगोंका कहना सुनकर पाप कर्मके उदयसे मुनिराजको क्रोध आ गया जिससे उनकी बुद्धि जाती रही। उसी समय उन्होंने निदान किया कि 'मैंने जो उग्र तप किया है उसके फलसे मैं पुत्र होकर इस राजाका निग्रह करूँ तथा इसका राज छीन लूँ' ॥३३९-३४०॥ इस प्रकारके खोटे परिणामोंसे मुनिराजकी मृत्यु हो गयी और वे तीव्र वैरके कारण राजा उग्रसेनकी पद्मावती रानीके गर्भमें जा उत्पन्न हुए ॥३४१॥ उस रानी पद्मावतीको भी गर्भके बालककी क्रूरतावश राजाके हृदयका मांस खानेकी इच्छा हुई और उससे वह दुःखी होने लगी। यह जानकर मन्त्रियोंने अपनी बुद्धिसे कोई बनावटी चीज देकर कहा कि 'यह तुम्हारे पतिके हृदयका मांस है' इस प्रकार उसका दोहला पूरा किया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य क्या नहीं करते हैं? ॥३४२-३४३॥ जिसका दोहला पूरा हो गया है ऐसी रानी पद्मावतीने अनुक्रमसे वह पापी पुत्र प्राप्त किया, जिस समय वह उत्पन्न हुआ था उस समय अपने ओठ डस रहा था, उसकी दृष्टि क्रूर थी और भौंह टेढ़ी ॥३४४॥ माता-पिताने उसे देखकर विचार किया कि इसका यहाँ पोषण करना योग्य नहीं है यही समझकर उन्होंने उसे छोड़नेकी विधिका विचार किया और काँसेकी एक सन्दूक बनवाकर उसमें उस पुत्रको पत्रसहित रख दिया तथा यमुना नदीके प्रवाहमें छोड़ दिया ॥३४५-३४६॥ कौशाम्बी नामकी नगरीमें एक मण्डोदरी नामकी कलारन रहती थी। उसने प्रवाहमें बहती हुई सन्दूकके भीतर स्थित उस बालकको देखा। देखते ही वह उसे उठा लायी और हितैषिणी बन अपने पुत्रके समान उसका पालन करने लगी। सो ठीक ही है क्योंकि तपस्वियोंके हीन पुण्य भी क्या नहीं करते? ॥३४७-३४८॥ कितने ही दिनोंमें वह सुदृढ़ अवस्था पाकर साथ खेलनेवाले समस्त बालकोंको चाँटा, मुट्ठी तथा डण्डा आदिसे पीड़ा पहुँचाने लगा। उसके इस दुराचारसे खिन्न होकर मण्डोदरीने उसे छोड़ दिया—घरसे निकाल दिया ॥३४९-३५०॥ अब वह शौर्यपुरमें जाकर राजा वसुदेवका सेवक बन गया और सदा उनकी सेवामें तत्पर रहने लगा ॥३५१॥

अब इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक अन्य कथा कहते हैं और वह इस प्रकार है—यद्यपि राजा जरासन्धने सब राजाओंको जीत लिया था तो भी किसी समय उसका कुछ कार्य बाकी रह गया था। उसकी पूर्तिके लिए जरासन्धने सब राजाओंके पास इस आशयके

१ परां मृतिम् क०। २ सुतपावकम् ग०, घ०। ३ यमुनायाः। ४ मन्दोदरी ल०। ५ शौण्डसुन्दरी। ६ लम्भनादि सहं ख०, ग०, घ०, म०। लंघनादिसहं ल०। ७ सुतम् ल०।

बध्वानीतवते देशस्यार्धं मत्पुत्रिकामपि । कलिन्दसेनासंभूतां सतीं जीवद्यशोऽभिधाम् ॥३५४॥
दास्यामीत्यखिलभूपालान्प्राहिणोत् पत्रमालिकाः । वसुदेवकुमारस्तत्परिगृह्य प्रतापवान् ॥३५५॥
वाजिनः सिंहमूत्रेण भावयित्वा रथं स तैः । वाह्यमारुह्य संग्रामे जित्वा सिंहरथं पृथुम् ॥३५६॥
कंसेन निजभृत्येन बन्धयित्वा महीपतेः । स्वयं समर्पयामास सोऽपि तुष्ट्वा सुतां निजाम् ॥३५७॥
देशार्धेन समं तस्मै प्रतिपन्नां प्रदत्तवान् । वसुदेवोऽपि तां दुष्टलक्षणां वीक्ष्य नो मया ॥३५८॥
बद्धः सिंहरथः कर्म कंसेनानेन तत्कृतम् । कन्या प्रदीयतामस्मै भवत्प्रेषणकारिणे ॥३५९॥
इत्याह तद्वचः श्रुत्वा जरासन्धनरेश्वरः । कुलं कंसस्य विज्ञातुं दूतं मण्डोदरीं प्रति ॥३६०॥
प्रेषयामास तं दृष्ट्वा किं तत्राप्यपराधवान् । मत्पुत्र इति भीत्वाऽसौ समञ्जूषागमत् स्वयम् ॥३६१॥
आगत्य नृपतेरग्रे मातास्येयमिति क्षितौ । निक्षिप्य कंसमञ्जूषां प्रणिपत्यैवमब्रवीत् ॥३६२॥
आगतः कंसमञ्जूषामधिष्ठायायमर्भकः । जले कलिन्दकन्याया मयादायाभिवर्धितः ॥३६३॥
कंसनाम्ना समाहूतस्तत एव [1]पुरोद्भवैः । निसर्गशौर्यदर्पिष्ठः शैशवेऽपि निरर्गलः ॥३६४॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा मञ्जूषान्तःस्थपत्रकम् । गृहीत्वा वाचयित्वोग्रसेनमहीपतेः ॥३६५॥
पद्मावत्याश्च पुत्रोऽयमिति ज्ञात्वा महीपतिः । विततार सुतां तस्मै राज्यार्धं च प्रतुष्टवान् ॥३६६॥
कंसोऽप्युत्पत्तिमात्रेण स्वस्य नद्यां विसर्जनात् । प्रवृद्धपूर्ववैरः सन् कुपितो [2]मधुरापुरीम् ॥३६७॥
स्वयमादाय बन्धस्थौ गोपुरे पितरौ व्यधात् । विचारविकलाः पापाः कोपिनः किं न कुर्वते ॥३६८॥

पत्र भेजे कि जो राजा सुरम्य देशके मध्यमें स्थित पोदनपुरके स्वामी हमारे शत्रु सिंहरथको युद्धमें अपने बलसे जीतकर तथा बाँधकर हमारे पास लावेगा उसे मैं आधा देश तथा कलिन्दसेना रानीसे उत्पन्न हुई जीवद्यशा नामकी अपनी पतिव्रता पुत्री दूँगा। प्रतापी राजा वसुदेवने जब यह पत्र पाया तो उन्होंने सिंहका मूत्र मँगाकर घोड़ोंके शरीरपर लगवाया, उन्हें रथमें जोता और तदनन्तर ऐसे रथपर आरूढ़ होकर चल पड़े। वहाँ जाकर उन्होंने संग्राममें उस भारी राजा सिंहरथको जीत लिया और अपने सेवक कंसके द्वारा उसे बँधवाकर स्वयं राजा जरासन्धको सौंप दिया। राजा जरासन्ध भी सन्तुष्ट होकर वसुदेवके लिए आधे देशके साथ अपनी पूर्व प्रतिज्ञात पुत्री देने लगा। उस समय वसुदेवने देखा कि उस पुत्रीके लक्षण अच्छे नहीं हैं अतः कह दिया कि सिंहरथको मैंने नहीं बाँधा है यह कार्य इस कंसने किया है इसलिए इसी आज्ञाकारीके लिए यह कन्या दी जावे। वसुदेवके वचन सुनकर राजा जरासन्धने कंसका कुल जाननेके लिए मण्डोदरीके पास अपना दूत भेजा ॥३५९–३६०॥ दूतको देखकर मण्डोदरी डर गयी और सोचने लगी कि क्या मेरे पुत्रने वहाँ भी अपराध किया है? इसी भयसे वह सन्दूक साथ लेकर स्वयं राजा जरासन्धके पास गयी। वहाँ जाकर उसने 'यह सन्दूक ही इसकी माता है' यह कहते हुए पहले वह काँसकी सन्दूक राजाके आगे जमीनपर रख दी। तदनन्तर नमस्कार कर कहने लगी कि 'यह बालक काँसकी सन्दूकमें रखा हुआ यमुनाके जलमें बहा आ रहा था मैंने लेकर इसका पालन मात्र किया है ॥३६१–३६३॥ चूँकि यह काँसकी सन्दूकमें आया था इसलिए गाँवके लोगोंने इसे कंस नामसे पुकारना शुरू कर दिया। यह स्वभावसे ही अपनी शूर-वीरताका घमण्ड रखता है और बचपनसे ही स्वच्छन्द प्रकृतिका है ॥३६४॥ मण्डोदरीके ऐसे वचन सुनकर राजा जरासन्धने सन्दूकके भीतर रखा हुआ पत्र लेकर बचवाया। उसमें लिखा था कि यह राजा उग्रसेन और रानी पद्मावतीका पुत्र है। यह जानकर सन्तुष्ट हुए राजा जरासन्धने कंसके लिए जीवद्यशा पुत्री तथा आधा राज्य दे दिया ॥३६५–३६६॥ जब कंसने यह सुना कि उत्पन्न होते ही मुझे मेरे माता-पिताने नदीमें छोड़ दिया था तब वह बहुत ही कुपित हुआ, उसका पूर्व पर्यायका वैर वृद्धिंगत हो गया। उसी समय उसने मथुरापुरी जाकर माता-पिताको कैद कर लिया और दोनोंको गोपुर—नगरके प्रथम दरवाजेके ऊपर रख दिया सो ठीक ही है क्योंकि विचाररहित पापी मनुष्य कुपित

---

१ परोद्भवैः क० । २ मधुरापुरम् क० ।

अथ स्वपुरमानीय वसुदेवमहीपतिम् । देवसेनसुतामस्मै देवकीमनुजां निजाम् ॥३६९॥
विभूतिमद्वितीर्यैवं काले कंसस्य गच्छति । अन्येद्युरतिमुक्ताख्यमुनिर्भिक्षार्थमागमत् ॥३७०॥
राजगेहं समीक्ष्यैनं हासाज्जीवद्यशा मुदा । देवकी पुष्पजानन्दवस्त्रमेतत्तवानुजा ॥३७१॥
स्वस्याश्चेष्टितमेतेन प्रकाशयति ते मुने । इत्यवोचत्तदाकर्ण्य सकोपः सोऽपि गुप्तिभित् ॥३७२॥
सुतोऽस्यास्तव भर्तारं मान्यवश्यं हनिष्यति । इत्यवोचत्ततः क्रुध्वा सा तद्वस्त्रं द्विधा व्यधात् ॥३७३॥
पतिमेव न ते तेन पितरं च हनिष्यति । इत्युक्ता सा पुनः क्रुध्वा पादाभ्यां [1]तद्व्यमर्दयत् ॥३७४॥
तद्विलोक्य मुनिर्देवकीसुतः सागरावधिम् । पालयिष्यति भूनारीं नारीं वेत्यब्रवीत्स ताम् ॥३७५॥
जीवद्यशाश्च तत्सर्वमवधार्य यथाश्रुतम् । गत्वा शुद्धिमती कंसं मिथः समवबोधयत् ॥३७६॥
हासेनापि मुनिप्रोक्तमवन्ध्यमिति भीतिमान् । वसुदेवमहीशं स [2]स्नेहादिदमयाचत ॥३७७॥
प्रसूतिसमयेऽभ्यास्य देवकी मद्गृहान्तरम् । प्रसूतिविधिपर्याप्तिं विदध्यात्त्वन्मतादिति ॥३७८॥
सोऽपि तेनोपरुद्धः संस्तथास्त्वेतदमंस्त[3] तम् । अवश्यंभाविकार्येषु मुह्यन्त्यपि मुनीश्वराः ॥३७९॥
भिक्षार्थं देवकीगेहं स पुनश्च प्रविष्टवान् । प्रत्युत्थाय यथोक्तेन विधिना प्रतिगृह्य तम् ॥३८०॥
देवकी वसुदेवश्च दीक्षात्र स्यान्न वावयोः । किमिति [4]छद्मना भूतां ज्ञात्वा सोऽपि तदिङ्गितम् ॥३८१॥
सप्तपुत्राः समाप्स्यन्ते भवद्भ्यां तेषु षट्सुताः । परस्थाने वर्धित्वा यास्यन्ति परमां गतिम् ॥३८२॥
सप्तमः सकलां पृथ्वीं स्वच्छत्रच्छायया चिरम् । पालयिष्यति निर्वाप्य चक्रवर्तीत्यभाषत ॥३८३॥
देवकी च मुदा पश्चात् त्रिष्कृत्वा सवती यमान् । चरमाङ्गानिमान् [5]ज्ञातवता शक्रेण चोदितः ॥३८४॥

होकर क्या-क्या नहीं करते हैं ? ॥३६७–३६८॥ तदनन्तर कंस राजा वसुदेवको अपने नगरमें ले आया और उन्हें उसने बड़ी विभूतिके साथ राजा देवसेनकी पुत्री तथा अपनी छोटी बहन देवकी समर्पित कर दी। इस प्रकार कंसका समय सुखसे व्यतीत होने लगा। किसी दूसरे दिन अतिमुक्त मुनि भिक्षाके लिए राजभवन आये। उन्हें देख हँसीसे जीवद्यशा बड़े हर्षसे कहने लगी कि 'हे मुने ! यह देवकीका ऋतुकालका वस्त्र है, यह आपकी छोटी बहन इस वस्त्रके द्वारा अपनी चेष्टा आपके लिए दिखला रही है'। जीवद्यशाके उक्त वचन सुनकर मुनिका क्रोध भड़क उठा। वे वचनगुप्तिको भंग करते हुए बोले कि इस देवकीका जो पुत्र होगा वह तेरे पतिको अवश्य ही मारेगा। यह सुनकर जीवद्यशाको भी क्रोध आ गया और उसने उस वस्त्रके दो टुकड़े कर दिये। तब मुनिने कहा कि वह न केवल तेरे पतिको मारेगा किन्तु तेरे पिताको भी मारेगा। यह सुनकर तो उसके क्रोधका पार ही नहीं रहा। अबकी बार उसने उस वस्त्रको पैरोंसे कुचल दिया। यह देख मुनिने कहा कि देवकीका पुत्र स्त्रीकी तरह समुद्रान्त पृथिवी रूपी स्त्रीका पालन करेगा ॥३६९–३७५॥ जीवद्यशा इन सुनी हुई बातोंका विचार कर कंसके पास गयी और उसे परस्परमें सब समझा आयी ॥३७६॥ 'मुनि जो बात हँसीमें भी कह देते हैं वह सत्य निकलती है' यह विचार कर कंस डर गया और राजा वसुदेवके पास जाकर बड़े स्नेहसे याचना करने लगा कि आपकी आज्ञासे प्रसूतिके समय देवकी हमारे ही घर आकर प्रसूतिकी पूरी विधि करे ॥३७७॥ कंसके अनुरोधसे वसुदेवने भी 'ऐसा ही होगा' यह कहकर उसकी बात मान ली सो ठीक ही है क्योंकि अवश्यम्भावी कार्योंमें मुनिराज भी भूल कर जाते हैं ॥३७८–३७९॥ किसी दिन वही अतिमुक्त मुनि भिक्षाके लिए देवकीके घर प्रविष्ट हुए सो देवकीने खड़े होकर यथोक्त विधिसे उनका पडिगाहन किया। आहार देनेके बाद देवकी और वसुदेवने उनसे पूछा कि क्या कभी हम दोनों भी दीक्षा ले सकेंगे ? मुनिराजने उनका अभिप्राय जानकर कहा कि इस तरह छलसे क्यों पूछते हो ? आप दोनों सात पुत्र प्राप्त करेंगे, उनमें-से छह पुत्र तो अन्य स्थानमें बढ़कर निर्वाण प्राप्त करेंगे और सातवाँ पुत्र चक्रवर्ती होकर अपने छत्रको छायासे चिरकाल तक समस्त पृथिवीका पालन करेगा ॥३८०–३८३॥ यह सुनकर देवकी बहुत हर्षित हुई। तदनन्तर उसने तीन बारमें दो-दो युगल पुत्र

१ तद्व्यमेदयत् क०। २ स्नेहाद्विदमयाचत ख०। ३–दमंस्त सः क०। ४ छपता क०। ५ ज्ञानवता ख०।

दिविजो नैगमार्षाख्यो [1]भद्रिलाख्यपुरेऽलका । वणिक्सुताया निक्षिप्य पुरस्तात्तत्सुतान् मृतान् ॥३८५॥
तदा तदैव संभूय गृहीत्वा [2]त्रिमितान्यमान् । तान् पुरस्तान्निचिक्षेप देवक्या गूढकृत्यवित् ॥३८६॥
यमान् सोऽपि गतप्राणान् क्रमात् कंसः समीक्ष्य तान् । किमेभिर्मे गतप्राणैरभून्मुनिरसत्यवाक् ॥३८७॥
इति मत्वापि साशङ्कः शिलापट्टे न्यपातयत् । पश्चात्सा सप्तमे मास एव स्वस्य निकेतने ॥३८८॥
निर्नामकमसूतोक्तं महाशुक्राच्च्युतं सुतम् । कंसानवगमेनैव नन्दगोपगृहे सुखम् ॥३८९॥
बालकं वर्धयिष्याव इति [3]नीतिविशारदौ । पिता भ्राता च तद्देवकीं विज्ञाप्य ततो बलः ॥३९०॥
तमुदग्रे पिता चास्य दधारातपवारणम् । उक्षा निशातशृङ्गाग्रविकसन्मणिदीपकः ॥३९१॥
निरस्ततिमिराटोपो वृषभोऽभूत्तदग्रतः । तथा विकृतिमापन्ना तत्पुण्यात् पुरदेवता ॥३९२॥
सद्यस्तदास्य बालस्य चरणस्पर्शसंगमात् । उद्घाटितकवाटं तद्बभूव पुरगोपुरम् ॥३९३॥
उग्रसेनस्तदालोक्य बन्धनस्थः समब्रवीत् । कवाटोद्घाटनं कोऽत्र करोतीत्यतिसंभ्रमात् ॥३९४॥
तदाकर्ण्यैष बन्धात्त्वामचिरान्मोचयिष्यति । तूष्णीमुपविशेत्युक्तो बलेन मथुराधिपः ॥३९५॥
तथास्त्विति तमाशीर्भिः प्रतोषादभ्यनन्दयत् । तौ च तस्माद् विनिर्गत्य यमुनां प्रापतुर्निशि ॥३९६॥
भावि[4]चक्रिप्रभावेण दत्तमार्गा द्विधाभवत् । सा सवर्णाश्रितः को वा नार्द्रात्मा बन्धुतां व्रजेत् ॥३९७॥
[5]सविस्मयौ विलङ्घ्यैनां गच्छन्तौ नन्दगोपतिम् । उद्धृत्य बालिकां चरनेना[6]गच्छन्तमदर्शताम् ॥३९८॥
दृष्ट्वा ताभ्यां कुतो भद्र रात्रावागमनं तव । निःसत्त्वस्येति संपृष्टः स प्रणम्याभ्यभाषत ॥३९९॥

प्राप्त किये। इन्द्रको मालूम हुआ कि ये सब पुत्र चरमशरीरी हैं अतः उसने देवकीके गूढ़ कार्य-को जाननेवाले नैगमर्ष नामके देवको प्रेरणा की। इन्द्रके द्वारा प्रेरित हुआ नैगमर्ष देव देवकीके इन पुत्रोंको ले जाकर भद्रिलपुर नगरमें अलका नामकी वैश्यपुत्रीके आगे डाल आता था और उसके तत्काल उत्पन्न होकर मरे हुए तीन युगल पुत्रोंको देवकीके सामने डाल देता था ॥३८४-३८६॥ कंसने उन मरे हुए पुत्रोंको देखकर विचार किया कि इन निर्जीव पुत्रोंसे मेरी क्या हानि हो सकती है? मुनि असत्यवादी भी तो हो सकते हैं। उसने ऐसा विचार किया सही परन्तु उसकी शंका नहीं गयी इसलिए वह उन मृत पुत्रोंको शिलाके ऊपर पछाड़ता रहा। इसके बाद निर्नामक मुनिका जीव महाशुक्र स्वर्गसे च्युत होकर देवकीके गर्भमें आया। अबकी बार उसने अपने ही घर सातवें महीनेमें ही पुत्र उत्पन्न किया। नीतिविद्यामें निपुण वसुदेव और बलभद्र पद्मने विचार किया कि कंसको बिना जताये ही इस पुत्रका नन्दगोपके घर सुखसे पालन-पोषण करावेंगे। पिता और भाईने अपने विचार देवकीको भी बतला दिये। बलभद्रने उस बालकको उठा लिया और पिताने उसपर छत्र लगा लिया। उस समय घोर अन्धकार था अतः पुत्रके पुण्यसे नगरका देवता विक्रिया वश एक बैलका रूप बनाकर उनके आगे हो गया। उस बैलके दोनों पैने सींगोंपर देदीप्यमान मणियोंके दीपक रखे हुए थे उनसे समस्त अन्धकार दूर होता जाता था ॥३८७-३९२॥ गोपुरके किवाड़ बन्द थे परन्तु पुत्रके चरणोंका स्पर्श होते ही खुल गये। यह देख बन्धनमें पड़े हुए उग्रसेनने बड़े क्षोभके साथ कहा कि इस समय किवाड़ कौन खोल रहा है? यह सुनकर बलभद्रने कहा कि आप चुप बैठिए यह बालक शीघ्र ही आपको बन्धनसे मुक्त करेगा। मथुराके राजा उग्रसेनने सन्तुष्ट होकर 'ऐसा ही हो' कहकर आशीर्वाद दिया। बलभद्र और वसुदेव वहाँसे निकलकर रात्रिमें ही यमुना नदीके किनारे पहुँचे। होनहार चक्रवर्तीके प्रभावसे यमुनाने भी दो भागोंमें विभक्त होकर उन्हें मार्ग दे दिया सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन आर्द्रात्मा (जल स्वरूप पक्षमें दयालु) होगा जो अपने समान वर्णवालेसे आश्रित होता हुआ भाईचारेको प्राप्त नहीं हो ॥३९३-३९७॥ इधर बड़े आश्चर्यसे यमुनाको पार कर बलभद्र और वसुदेव नन्दगोपालके पास जा रहे थे इधर वह भी एक बालिकाको लेकर आ रहा था। बलदेव और वसुदेवने उसे देखते ही पूछा कि हे भद्र!

१ भद्रलाका ग०, म०। २ त्रीन्मृतान्यमान् ग०। त्रीन्मृतानिमान् ख०। ३ नन्दविशारदौ ल०। ४ चक्र- ख०। ५ सविस्मयौ ल०। ६ नागच्छन्तम्- ल०।

मत्प्रिया पुत्रलाभार्थं भवतः परिचारिका । गन्धादिभिः समभ्यर्च्य श्रद्धानाद् भूतदेवताः ॥४००॥
आशास्य त्वत्प्रसादाद्यापत्यमवाप्य सा । सशोका दीयतामेतत्ताभ्य एवेति माब्रवीत् ॥४०१॥
तदर्पयितुमायामो ममायं स्वामिनाविति । तद्वचः सम्यगाकर्ण्य सिद्धमस्मत्प्रयोजनम् ॥४०२॥
इति संतुष्य तत्सर्वमवबोध्य प्रवृत्तकम् । तदपत्यं समादाय दत्त्वा तस्मै स्वमर्भकम् ॥४०३॥
भाविचक्रधरं विद्धि बालमित्यभिधाय च । अनन्यविदितौ गूढं तौ तदाविशतां पुरम् ॥४०४॥
नन्दगोपोऽपि तं बालमादाय गृहमागतः । तुभ्यं सुतं महापुण्यं प्रसन्ना देवता ददुः ॥४०५॥
इत्युदीर्यार्पयामास स्वप्रियायै प्रियः पतिम् । कंसोऽपि देवकी क्वास्त्वयदपत्यमसूयत ॥४०६॥
इति श्रुत्वा समागत्य तां व्यधाद् [1]भुग्ननासिकाम् । भूमिगेहे प्रयत्नेन मात्रा साप्यभिवर्धिता ॥४०७॥
सा सुव्रतार्यिकाभ्यर्णे शोकात् स्वविकृताकृतेः । गृहीतदीक्षा विन्ध्याद्रौ स्थानयोगमुपाश्रिता ॥४०८॥
देवतेति समभ्यर्च्य गतेषु [2]वनवासिषु । व्याघ्रेण भक्षिता मंक्षु स्वर्गलोकमुपागमत् ॥४०९॥
अपरस्मिन्दिने व्याधैर्दृष्ट्वा हस्ताङ्गुलित्रयम् । तस्याः क्षीराङ्गरागादिपूजितं देशवासिनः ॥४१०॥
मूढात्मानः स्वयं चैनदार्यासौ विन्ध्यवासिनी । देवतेति समभ्यर्च्य तदारभ्याप्रमाणयन् ॥४११॥
अथाकस्मात्पुरे तस्मिन् महोत्पातविजृम्भणे । वरुणाख्यं निमित्तज्ञं द्राक्कंसः परिपृष्टवान् ॥४१२॥
किमेतेषां फलं ब्रूहि यथार्थमिति सोऽब्रवीत् । तव शत्रुः समुत्पन्नो महानिति निमित्तवित् ॥४१३॥
तदाकर्ण्य महीनाथं चिन्तयन्तं चिरन्तनाः । देवतास्तमवोचंस्ताः किंकर्तव्यमिति श्रिताः ॥४१४॥

रात्रिके समय अकेले ही तुम्हारा आना क्यों हो रहा है ? इस प्रकार पूछे जानेपर नन्दगोपने प्रणाम कर कहा कि 'आपकी सेवा करनेवाली मेरी स्त्रीने पुत्र-प्राप्तिके लिए श्रद्धाके साथ किन्हीं भूत देवताओंकी गन्ध आदिसे पूजा कर उनसे आशीर्वाद चाहा था। आज रात्रिको उसने यह कन्या रूप सन्तान पायी है। कन्या देखकर वह शोक करती हुई मुझसे कहने लगी कि ले जाओ यह कन्या उन्हीं भूत देवताओंको दे आओ-मुझे नहीं चाहिए। सो हे नाथ ! मैं यह कन्या उन्हीं भूत देवताओंको देनेके लिए जा रहा हूँ' उसकी बात सुनकर बलदेव और वसुदेवने कहा कि 'हमारा मनोरथ सिद्ध हो गया' ॥३९८-४०२॥ इस प्रकार सन्तुष्ट होकर उन्होंने नन्दगोपके लिए सब समाचार सुना दिये, उसकी लड़की ले ली और अपना पुत्र उसे दे दिया। साथ ही यह भी कह दिया कि तुम इसे होनहार चक्रवर्ती समझो। यह सब कामकर वे दोनों किसी दूसरेको मालूम हुए बिना ही गुप्त रूपसे नगरमें वापस आ गये ॥४०३-४०४॥

इधर नन्दगोप भी वह बालक लेकर घर आया और 'लो, प्रसन्न होकर उन देवताओंने तुम्हारे लिए यह महापुण्यवान् पुत्र दिया है' यह कहकर अपनी प्रियाके लिए उसने वहाँ होनहार चक्रवर्ती सौंप दिया। यहाँ, कंसने जब सुना कि देवकीने कन्या पैदा की है तो वह सुनते ही उसके घर गया और जाते ही उसने पहले तो कन्याकी नाक चपटी कर दी और तदनन्तर उसे धायके द्वारा एक तलघटमें रखकर बड़े प्रयत्नसे बढ़ाया ॥४०५-४०७॥ बड़ी होनेपर उसने अपनी विकृत आकृतिको देखकर शोकसे सुव्रता आर्यिकाके पास दीक्षा धारण कर ली और विन्ध्याचल पर्वतपर रहने लगी ॥४०८॥ एक दिन वनमें रहनेवाले भील लोग उसे देवता समझ उसकी पूजा करके कहीं गये थे कि इतनेमें व्याघ्रने उसे शीघ्र ही खा लिया। वह मरकर स्वर्ग चली गयी। दूसरे दिन जब भील लोग वापिस आये तो उन्हें वहाँ उसकी सिर्फ तीन अंगुलियाँ दिखीं। वहाँके रहनेवाले मूर्ख लोगोंने उन अंगुलियोंकी दूध तथा अंगराग आदिसे पूजा की। उसी समयसे 'यह आर्या ही विन्ध्यवासिनी देवी है' ऐसा समझकर लोग उसकी मान्यता करने लगे ॥४०९-४११॥

अथानन्तर-अकस्मात् ही मथुरा नगरीमें बड़े भारी उत्पात बढ़ने लगे। उन्हें देख, कंसने शीघ्र ही वरुण नामके निमित्तज्ञानीसे पूछा कि सच बतलाओ इन उत्पातोंका फल क्या है? निमित्त-ज्ञानीने उत्तर दिया कि आपका बड़ा भारी शत्रु उत्पन्न हो चुका है ॥४१२-४१३॥ निमित्तज्ञानीकी

---

१ भग्न- ल० । २ वनवासिषु ल० ।

शत्रुं मम समुत्पन्नमन्विष्याहत पापिनम् । इत्यसौ प्रेषयामास ताः सप्तापि तथास्त्विति ॥४१५॥
[1]आगमत्पूतना तासु वासुदेवं विभङ्गतः । विज्ञायादाय तन्मातृरूपं हन्तुमुपागता ॥४१६॥
विषस्तनपयःपायनोपायेन खलाग्रणीः । तद्बालपालनोद्युक्ता काप्यन्याबाध्य देवता ॥४१७॥
स्तनयोर्बलवत्पीडां तत्पानसमये व्यधात् । प्रपलायत साक्रुश्य तत्पीडां सोढुमक्षमा ॥४१८॥
शकटाकारमादाय पुनरन्यापि देवता । बालस्योपरि धावन्ती पादाभ्यां तेन सा हता ॥४१९॥
अन्येद्युर्नन्दगोपस्य बद्ध्वा कट्यामुलूखलम् । अगच्छज्जलमानेतुमन्वगच्छत्तथाप्यसौ ॥४२०॥
परिपीडयितुं बालं तदा ककुभपादपौ । भूत्वा स्थितौ सुरीभेदौ स मूलादुदपाटयत् ॥४२१॥
तच्चङ्क्रमणवेलायां तालस्याकृतिमास्थिता[2] । एका फलानि तन्मूर्ध्नि प्रपातयितुमुद्यता ॥४२२॥
रासभीरूपमापाद्य तं दष्टुमपरागता । चरणे रासभीं विष्णुर्गृहीत्वाहं स तं द्रुमम् ॥४२३॥
अन्येद्युर्देवतान्यापि विकृत्य तुरगाकृतिम् । तं हन्तुं प्रस्थिता तस्य सोऽदलद् वदनं रुषा ॥४२४॥
आहन्तुमसमर्थाः स्म इत्युक्त्वा सप्तदेवताः । कंसाभ्याशं समागत्य विलीना इव विद्युतः ॥४२५॥
शक्तयो देवतानां च निस्साराः पुण्यवज्जने । आयुधानामिवेन्द्राङ्के परस्मिन् दृष्टकर्मणाम् ॥४२६॥
अरिष्टाख्यसुरोऽन्येद्युर्वीक्षितुं तत्पराक्रमम् । आयात् कृष्णं वृषाकारस्तद्ग्रीवाभञ्जनोद्यतम्[3] ॥४२७॥

बात सुनकर राजा कंस चिन्तामें पड़ गया। उसी समय उसके पूर्व भवमें सिद्ध हुए सात व्यन्तर देवता आकर कहने लगे कि हम लोगोंको क्या कार्य सौंपा जाता है ॥४१४॥ कंसने कहा कि 'कहीं हमारा शत्रु उत्पन्न हुआ है उस पापीको तुम लोग खोजकर मार डालो।' ऐसा कहकर उसने उन सातों देवताओंको भेज दिया और वे देवता भी 'तथास्तु' कहकर चल पड़े ॥४१५॥ उन देवताओंमें-से पूतना नामकी देवताने अपने विभंगावधि ज्ञानसे कृष्णको जान लिया और उसकी माताका रूप रखकर मारनेके लिए उसके पास गयी ॥४१६॥ वह पूतना अत्यन्त दुष्ट थी और विष-भरे स्तनका दूध पिलाकर कृष्णको मारना चाहती थी। इधर पूतना कृष्णके मारनेका विचार कर रही थी उधर कोई दूसरी देवी जो बालक कृष्णकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर रहती थी पूतनाकी दुष्टताको समझ गयी। पूतना जिस समय कृष्णको दूध पिलानेके लिए तैयार हुई उसी समय उस दूसरी देवीने पूतनाके स्तनोंमें बहुत भारी पीड़ा उत्पन्न कर दी। पूतना उस पीड़ाको सहनेमें असमर्थ हो गयी और चिल्लाकर भाग गयी ॥४१७-४१८॥ तदनन्तर किसी दिन कोई देवी, गाड़ीका रूप रखकर बालक श्रीकृष्णके ऊपर दौड़ती हुई आयी, उसे श्रीकृष्णने दोनों पैरोंसे तोड़ डाला ॥४१९॥ किसी एक दिन नन्दगोपकी स्त्री बालक श्रीकृष्णको एक बड़ी ऊखली-से बाँधकर पानी लेनेके लिए गयी थी परन्तु श्रीकृष्ण उस ऊखलीको अपनी कमरसे घसीटता हुआ उसके पीछे चला गया ॥४२०॥ उसी समय दो देवियाँ अर्जुन वृक्षका रूप रखकर बालक श्रीकृष्णको पीड़ा पहुँचानेके लिए उनके पास आयीं परन्तु उसने उन दोनों वृक्षोंको जड़से उखाड़ डाला ॥४२१॥ किसी दिन कोई एक देवी ताड़का वृक्ष बन गयी। बालक श्रीकृष्ण चलते-चलते जब उसके नीचे पहुँचा तो दूसरी देवी उसके मस्तकपर फल गिरानेकी तैयारी करने लगी और कोई एक देवी गधीका रूप रखकर उसे काटनेके लिए उद्यत हुई। श्रीकृष्णने उस गधीके पैर पकड़कर उसे ताड़के वृक्षसे दे मारा जिससे वे तीनों ही देवियाँ नष्ट हो गयीं ॥४२२-४२३॥ किसी दूसरे दिन कोई देवी घोड़ेका रूप बनाकर कृष्णको मारनेके लिए चली परन्तु कृष्णने क्रोधवश उसका मुँह ही तोड़ दिया। इस प्रकार सातों देवियाँ कंसके समीप जाकर बोलीं कि 'हम लोग आपके शत्रुको मारनेमें असमर्थ हैं' इतना कहकर वे बिजलीके समान विलीन हो गयीं ॥४२४-४२५॥ अन्य लोगोंपर अपना कार्य दिखानेवाले शस्त्र जिस प्रकार इन्द्रके वज्रायुधपर निःसार हो जाते हैं उसी प्रकार अन्यत्र अपना काम दिखानेवाली देवोंकी शक्तियाँ भी पुण्यात्मा पुरुषके विषयमें निःसार हो जाती हैं ॥४२६॥ किसी एक दिन अरिष्ट नामका असुर श्रीकृष्णका बल देखनेके लिए काले बैलका रूप रखकर आया परन्तु श्रीकृष्ण उसकी गरदन ही तोड़नेके लिए

---

१ आगमत् ल० । २–मागता ब० । ३ भञ्जनोद्यतः ब०, ग०, म० ।

तस्य माताभितर्ज्यैनं विरमाफलचेष्टितात् । पुत्रैवमादिनः क्लेशान्तरसंपादकादिति ॥४२८॥
भूयो निवारयामास तथाप्येतन्मदोद्धुरः । सोऽन्वतिष्ठन्निवार्यन्ते नापदाने महौजसः ॥४२९॥
श्रुत्वा तत्पौरुषं ख्यातं जनजल्पैः समुत्सुकौ । गोमुखीनामधेयोपवासव्याजमुपागतौ ॥४३०॥
देवकी वसुदेवश्च विभूत्या सह सीरिणा । व्रजं गोधावनं यातौ परिवारपरिष्कृतौ ॥४३१॥
तत्र कृष्णं समालम्ब्य स्थितवन्तं महाबलम् । दर्पिणो वृषभेन्द्रस्य ग्रीवां भङ्क्त्वा तदैव तौ ॥४३२॥
विलोक्य गन्धमाल्यादिमाननानन्तरं पुनः । प्रीत्या भूषयतः स्मातः कुर्वत्या द्राक् प्रदक्षिणम् ॥४३३॥
देवक्याः स्तनयोः शातकुम्भकुम्भाभयोः पयः । निर्गलन्त्यपतन्मूर्ध्नि कृष्णस्येवाभिषेचनम् ॥४३४॥
सीरपाणिस्तदन्वीक्ष्य मन्त्रभेदभयाद् द्रुतम्[1] । उपवासपरिश्रान्ता मूर्छितेति वदन्सुधीः ॥४३५॥
कुम्भपूर्णपयोभिस्तामभ्यषिञ्चत् समन्ततः । ततो व्रजाधिपादीनामपि तद्योग्यपूजनम् ॥४३६॥
कृत्वा कृष्णं च गोपालकुमारैर्जातसंमदौ । भोजयित्वा स्वयं चात्र भुक्त्वा पुरमविक्षताम् ॥४३७॥
स कदाचिन्महावर्षापाते गोवर्धनाह्वयम् । हरिः पर्वतमुद्धृत्य चकारावरणं गवाम् ॥४३८॥
तेन ज्योत्स्नेव तत्कीर्तिर्व्याप्नोति स्माखिलं जगत् । अरातिवदनाम्भोजराजिसंकोचकारिणी ॥४३९॥
तत्पुरस्थापनाहेतुभूतजैनालयान्तिके । शक्रदिग्देवतागारे हरेः पुण्यातिरेकतः ॥४४०॥
सर्पशय्या धनुः शङ्खो रत्नत्रितयमुद्ययौ । देवतारक्षितं लक्ष्मीं भाविनीमस्य सूचयत् ॥४४१॥
सभयस्तानि दृष्ट्वाख्यद् वरुणं मथुरापतिः । प्रादुर्भवनमेतेषां किं फलं कथयेति तम् ॥४४२॥
राजन्नेतानि शास्त्रोक्तविधिना साधयेत् स यः । राज्यं चक्रेण संरक्ष्यमाप्स्यतीत्यभ्यधादसौ ॥४४३॥

तैयार हो गया। अन्तमें माताने उसे ललकारकर और 'हे पुत्र ! दूसरे प्राणियोंको क्लेश पहुँचानेवाली इन व्यर्थकी चेष्टाओंसे दूर रह' इत्यादि कहकर उसे रोका ॥४२७–४२८॥ यद्यपि माता यशोदा उसे इन कार्योंसे बार-बार रोकती थी पर तो भी मदसे उद्धत हुआ बालक कृष्ण इन कार्योंको करने लगता था सो ठीक ही है क्योंकि महाप्रतापी पुरुष साहसके कार्यमें रोके नहीं जा सकते ॥४२९॥ देवकी और वसुदेवने लोगोंके कहनेसे श्रीकृष्णके पराक्रमकी बात सुनी तो वे उसे देखनेके लिए उत्सुक हो उठे। निदान एक दिन वे गोमुखी नामक उपवासके बहाने बलभद्र तथा अन्य परिवारके लोगोंके साथ वैभव प्रदर्शन करते हुए व्रजके गोधा वनमें गये ॥४३०–४३१॥ जब ये सब वहाँ पहुँचे थे तब महाबलवान् कृष्ण किसी अभिमानी बैलकी गरदन झुकाकर उससे लटक रहे थे। देवकी तथा बलदेवने उसी समय कृष्णको देखकर गन्ध माला आदिसे उसका सन्मान किया और स्नेहसे आभूषण पहनाये। देवकीने उसकी प्रदक्षिणा दी। प्रदक्षिणाके समय देवकीके सुवर्ण कलशके समान दोनों स्तनोंसे दूध झरकर कृष्णके मस्तकपर इस प्रकार पड़ने लगा मानो उसका अभिषेक ही कर रही हो। बुद्धिमान् बलदेवने जब यह देखा तब उन्होंने मन्त्रभेदके भयसे शीघ्र ही 'यह उपवाससे थककर मूर्च्छित हो रही है' यह कहते हुए दूधसे भरे कलशोंसे उसका खूब अभिषेक कर दिया। तदनन्तर देवकी तथा वसुदेव आदिने व्रजके अन्य-अन्य प्रधान लोगोंका भी उनके योग्य पूजा-सत्कार किया, हर्षित होकर गोपाल बालकोंके साथ श्रीकृष्णको भोजन कराया, स्वयं भी भोजन किया और तदनन्तर लौटकर मथुरापुरीमें वापस आ गये ॥४३२–४३७॥ किसी एक दिन व्रजमें बहुत वर्षा हुई तब श्रीकृष्णने गोवर्धन नामका पर्वत उठाकर उसके नीचे गायोंकी रक्षा की थी ॥४३८॥ इस कामसे चाँदनीके समान उनकी कीर्ति समस्त संसारमें फैल गयी और वह शत्रुओंके मुखरूपी कमल-समूहको संकुचित करने लगी ॥४३९॥ तदनन्तर जो जैन-मन्दिर मथुरापुरीकी स्थापनाका कारण-भूत था उसके समीप ही पूर्व दिशाके दिक्पालके मन्दिरमें श्रीकृष्णके पुण्यकी अधिकतासे नाग-शय्या, धनुष और शंख ये तीन रत्न उत्पन्न हुए। देवता उनकी रक्षा करते थे और श्रीकृष्णकी होनहार लक्ष्मीको सूचित करते थे ॥४४०–४४१॥ मथुराका राजा कंस उन्हें देखकर डर गया और वरुण नामक निमित्तज्ञानीसे पूछने लगा कि इनकी उत्पत्तिका फल क्या है ? सो कहो ॥४४२॥ वरुणने कहा कि हे राजन् ! जो मनुष्य शास्त्रोक्त विधिसे इन्हें सिद्ध

---

१ मयान्वितम् ल०।

कंसस्तद्वचनं श्रुत्वा संसिसाधयिषुः स्वयम् । तान्यशक्तोऽमनाक्खिन्नो विरतः साधनोद्यमात् ॥४४४॥
अधिरुह्याहिजां शय्यां शङ्खमेककरेण यः । पूरयत्यपि यश्चापं चारोपयति हेलया ॥४४५॥
परेण तस्मै भूभर्ता स्वसुतां दास्यतीति सः । परिज्ञातुं स साशङ्को घोषणां पुर्यकारयत् ॥४४६॥
तद्वार्ताश्रवणाद् विश्वमहीशाः सहसागमन् । तथा राजगृहात् कंसमैथुनो भानुसंनिभः[1] ॥४४७॥
स्वभानुर्भानुनामानं स्वसूनुं सर्वसंपदा । समादाय समागच्छन्निवेष्टुमभिलाषवान् ॥४४८॥
गोधावननदीनागनिवाससरसस्तटे । विना कृष्णेन वार्यस्मदादेर्नु सरसः परैः ॥४४९॥
अशक्यमिति गोपालकुमारोक्त्या महीपतिः । तमाहूय बलं तत्र यथास्थानं न्यवीविशत् ॥४५०॥
क्व गम्यते त्वया राजन्निति कृष्णेन भाषितः । स्वर्भानुर्मथुरायानप्रयोजनमवूबुधत् ॥४५१॥
श्रुत्वैतत्कर्म किं कर्तुं स्यात्तदस्मद्विधैरपि । इति कृष्णपरिप्रश्ने वीक्ष्य पुण्याधिकः शिशुः ॥४५२॥
न केवलोऽयमित्येहि शक्तश्चेत्तस्य कर्मणः । इत्यादाय स्वपुत्रं वा स्वर्भानुस्तां पुरीमगात् ॥४५३॥
कंसं यथार्हमालोक्य तत्कर्मघटकान् बहून् । भग्नमानांश्च संवीक्ष्य कृत्वा भानुं समीपगम् ॥४५४॥
युगपत्त्रितयं कर्म समाप्तिमनयद्धरिः । ततः स्वर्भानुनादिष्टो दिष्ट्या कृष्णोऽगमद् व्रजम् ॥४५५॥
तत्कृतं भानुनैवेति कैश्चित्कंसो निबोधितः । कैश्चिच्च भानुनान्येन कुमारेणेति रक्षकैः ॥४५६॥
तच्छ्रुत्वान्विष्यतां सोऽन्यस्तस्मै कन्या प्रदीयते । स कस्य किं[2]कुलं क्वेति राजाऽब्रवीदिदम् ॥४५७॥
अवधार्य स्वपुत्रेण सम्यक्कंससमर्थितम् । गोमण्डलेन सोत्थामा नन्दगोपः पलायत ॥४५८॥

कर लेगा वह चक्ररत्नसे सुरक्षित राज्य प्राप्त करेगा ॥४४३॥ कंसने वरुणके वचन सुनकर उन तीनों रत्नोंको स्वयं सिद्ध करनेका प्रयत्न किया। परन्तु वह असमर्थ रहा और बहुत भारी खिन्न होकर उनके सिद्ध करनेके प्रयत्नसे विरत हो गया—पीछे हट गया ॥४४४॥ ऐसा कौन बलवान् है जो इस कार्यको सिद्ध कर सकेगा इसकी जाँच करनेके लिए भयभीत कंसने नगरमें यह घोषणा करा दी कि जो भी नागशय्यापर चढ़कर एक हाथसे शंख बजावेगा और दूसरे हाथसे धनुषको अनायास ही चढ़ा देगा उसे राजा अपनी पुत्री देगा ॥४४५–४४६॥ यह घोषणा सुनते ही अनेक राजा लोग मथुरापुरी आने लगे। राजगृहसे कंसका साला स्वर्भानु जो कि सूर्यके समान तेजस्वी था अपने भानु नामके पुत्रको साथ लेकर बड़े वैभवसे आ रहा था। वह मार्गमें गोधावनके उस सरोवरके किनारे जिसमें कि बड़े-बड़े सर्पोंका निवास था ठहरना चाहता था परन्तु जब उसे गोपाल बालकोंके कहनेसे मालूम हुआ कि इस सरोवरसे कृष्णके सिवाय किन्हीं अन्य लोगोंके द्वारा पानी लिया जाना शक्य नहीं है तब उसने कृष्णको बुलाकर अपने पास रख लिया और सेनाको यथास्थान ठहरा दिया ॥४४७–४५०॥ अवसर पाकर कृष्णने राजा स्वर्भानुसे पूछा कि हे राजन्! आप कहाँ जा रहे हैं? तब उसने मथुरा जानेका सब प्रयोजन कृष्णको बतला दिया। यह सुनकर कृष्णने फिर पूछा–क्या यह कार्य हमारे-जैसे लोग भी कर सकते हैं? कृष्णका प्रश्न सुनकर स्वर्भानुने सोचा कि यह केवल बालक ही नहीं है इसका पुण्य भी अधिक मालूम होता है। ऐसा विचार कर उसने कृष्णको उत्तर दिया कि यदि तू यह कार्य करनेमें समर्थ है तो हमारे साथ चल। इतना कहकर स्वर्भानुने कृष्णको अपने पुत्रके समान साथ ले लिया। मथुरा जाकर उन्होंने कंसके यथायोग्य दर्शन किये और तदनन्तर उन समस्त लोगोंको भी देखा कि नागशय्या आदिको वश करनेका प्रयत्न कर रहे थे परन्तु सफलता नहीं मिलनेसे जिनका मान भंग हो गया था। श्रीकृष्णने भानुको अपने समीप ही खड़ा कर उक्त तीनों कार्य समाप्त कर दिये और उसके बाद स्वर्भानुका संकेत पाकर शीघ्र ही वह कुशलतापूर्वक व्रजमें वापस आ गया ॥४५१–४५५॥ 'यह कार्य भानुने ही किया है' ऐसा कुछ पहरेदारोंने कंसको बतलाया और कुछने यह बतलाया कि यह कार्य भानुने नहीं किन्तु किसी दूसरे कुमारने किया है ॥४५६॥ यह सुनकर राजा कंसने कहा कि यदि ऐसा है तो उस अन्य कुमारकी खोज की जावे, वह किसका लड़का है? उसका क्या कुल है? और कहाँ रहता है? उसके लिए कन्या दी जावेगी ॥४५७॥ इधर नन्दगोपको जब अच्छी तरह निश्चय हो गया कि

१ संनिभम् क०। २ किंकुलः ग०।

शैलस्तम्भं समुद्धर्तुं तत्र सर्वेऽप्यदा गताः । नाशक्नुवन् समेत्यैते कृष्णेनैव समुद्धृतः ॥४५९॥
प्रहृष्य साद्भुतास्तस्मात् केचित्ता जनसंहतिः । परार्ध्यवस्त्रभूषादिदानेन तमपूजयन् ॥४६०॥
पितामुष्य प्रभावेण कुतश्चिदपि मे भयम् । नेति प्राक्तनमेवासौ स्थानं व्रजमवापयत् ॥४६१॥
नन्दगोपस्य पुत्रोऽयं कस्मात्त्रितयकर्मकृत् । इत्यन्वेष्टुं गतैः सम्यक् ज्ञापितेनाप्यनिश्चितेः[1] ॥४६२॥
सहस्रपत्रमम्भोजमन्यदप्यहीन्द्ररक्षितम् । समर्प्यतामिति प्रोक्तो राज्ञा जिज्ञासया रिपुम् ॥४६३॥
श्रुत्वा तद्गोपतिः शोकाद्व्याकुलः किल भूभुजः । प्रजानां रक्षितारस्ते कष्टमद्य हि मारकाः ॥४६४॥
इति निर्दिश्य चाहूय राजादिष्टमिमेदर्शी । त्वयैवाम्बुरुहाण्युग्रसर्परक्ष्याणि भूभुजः ॥४६५॥
नेयानीत्यब्रवीत् कृष्णं[2] सोऽपि किं चात्र दुष्करम् । नेष्यामीति महानागसरः क्षिप्रतरं ययौ ॥४६६॥
अविशच्चापि निःशङ्कं[3] तद्दृष्ट्वा कोपदीपितः । स्वनिःश्वाससमुद्भूतज्वलज्ज्वालाकणान् किरन् ॥४६७॥
चूडामणिप्रभाभास्वत्फणाटोपभयंकरः । चलज्जिह्वाद्वयः स्फूर्जद्दीक्षणात्युग्रवीक्षणः ॥४६८॥
अभ्युत्थाय यमाकारो निगलितुं तमुद्यतः । सोऽपि मद्वसनस्यैषा [4]स्फटा शुद्धशिलास्त्विति ॥४६९॥
पीताम्बरं समुद्धृत्य जलाद्रं मधुसूदनः । [5]स्फटामास्फालयामास पक्षेणैव पक्षिराट् ॥४७०॥
वज्रपातायितात्तस्माद् वस्त्रास्फालाद् बिभीतवान् । पूर्वपुण्योदयाच्चास्य फणीन्द्रोऽदृश्यतामगात् ॥४७१॥
हरिर्यथेष्टमब्जानि समादाय निजद्विषः । समर्पयं प्रापयत्तानि दुष्टारिं [6]दृष्टवानिव ॥४७२॥

यह कार्य हमारे ही पुत्रके द्वारा हुआ है तब वह डरकर अपनी गायोंके साथ कहीं भाग गया ॥४५८॥ किसी एक दिन वहाँ पत्थरका खम्भा उखाड़नेके लिए बहुत-से लोग गये परन्तु सब मिलकर भी उस खम्भाको नहीं उखाड़ सके और श्रीकृष्णने अकेले ही उखाड़ दिया ॥४५९॥ लोग इस कार्यसे बहुत प्रसन्न हुए और श्रीकृष्णके इस साहससे आश्चर्यमें पड़ गये। अनन्तर सब लोगोंने श्रेष्ठ वस्त्र तथा आभूषण आदि देकर उनकी पूजा की ॥४६०॥ यह देख नन्दगोपने विचार किया कि मुझे इस पुत्रके प्रभावसे किसीसे भय नहीं हो सकता। ऐसा विचार कर वह अपने पहलेके ही स्थानपर व्रजमें वापस आ गया ॥४६१॥ खोज करनेके लिए गये हुए लोगोंने यद्यपि कंसको यह अच्छी तरह बतला दिया था कि जिसने उक्त तीन कार्य किये थे वह नन्दगोपका पुत्र है तथापि उसे निश्चय नहीं हो सका इसलिए उसने शत्रुकी जाँच करनेकी इच्छासे दूसरे दिन नन्दगोपके पास यह खबर भेजी थी कि नागराज जिसकी रक्षा करते हैं वह सहस्रदल कमल भेजो। राजाकी आज्ञा सुनकर नन्दगोप शोकसे आकुल होकर कहने लगा कि राजा लोग प्रजाकी रक्षा करनेवाले होते हैं परन्तु खेद है कि वे अब मारनेवाले हो गये ॥४६२–४६४॥ इस तरह खिन्न होकर उसने कृष्णसे कहा कि हे प्रिय पुत्र! मेरे लिए राजाकी ऐसी आज्ञा है अतः जा, भयंकर सर्प जिनकी रक्षा करते हैं ऐसे कमल राजाके लिए तू ही ला सकता है। पिताकी बात सुनकर कृष्णने कहा कि 'इसमें कठिन क्या है? मैं ले आऊँगा' ऐसा कहकर वह शीघ्र ही महासर्पोंसे युक्त सरोवरकी ओर चल पड़ा ॥४६५–४६६॥ और बिना किसी शंकाके उस सरोवरमें घुस गया। यह जानकर यमराजके समान आकारवाला नागराज उठकर उसे निगलनेके लिए तैयार हो गया। उस समय वह नागराज क्रोधसे दीपित हो रहा था, अपनी श्वासोंसे उत्पन्न हुई देदीप्यमान अग्निकी ज्वालाओंके कण बिखेर रहा था, चूड़ामणिकी प्रभासे देदीप्यमान फणाके आटोपसे भयंकर था, उसकी दोनों जिह्वाएँ लप-लप कर रही थीं और चमकीले नेत्रोंसे उसका देखना बड़ा भयंकर जान पड़ता था, श्रीकृष्णने भी विचार किया कि इसकी यह फणा हमारा वस्त्र धोनेके लिए शुद्ध शिला रूप हो। ऐसा विचार कर वे जलसे भीगा हुआ अपना पीताम्बर उसकी फणापर इस प्रकार पछाड़ने लगे कि जिस प्रकार गरुड़ पक्षी अपना पंखा पछाड़ता है। वज्रपातके समान भारी दुःख देनेवाली उनके वस्त्रकी पछाड़से वह नागराज भयभीत हो गया और उनके पूर्व पुण्यके उदयसे अदृश्य हो गया ॥४६७–४७१॥ तदनन्तर

---

१ निश्चितैः ख०। २ कृष्णः छ०। ३ तं ज्ञात्वा ख०, ग०। ४ स्फुटा ख०। ५ स्फुट–ल०। ६ दुष्टवानिव ल० (?)।

नन्दगोपसमीपेऽस्थान्मच्छत्रुरिति निश्चयात् । कदाचिन्नन्दगोपालं मल्लयुद्धं निरीक्षितुम् ॥४७३॥
निजमल्लैः सहागच्छेदिति संदिशति स्म सः । सोऽपि कृष्णादिभिर्मल्लैः सह प्राविशदक्षयम् ॥४७४॥
किंचिन्मत्तगजं वीतबन्धनं यमसंनिभम् । मदगन्धसमाकृष्टलसद्भ्रमरसेवितम् ॥४७५॥
[1]विनयच्युतभूपालकुमारं वा निरङ्कुशम् । रदनाघातनिर्भिन्नसुधाभवनभित्तिकम् ॥४७६॥
आधावन्तं विलोक्यारात्तत्तस्योत्पाट्य [2]भीषणम् । रदमेकं कुमारस्तं तेनैव समताडयत् ॥४७७॥
सोऽपि भीतो गतो दूरं ततस्तुष्ट्वा हरिर्भृशम् । जयोऽनेन निमित्तेन स्फुटं वः प्रकटीकृतः[3] ॥४७८॥
इति गोपान् समुत्साह्य प्राविशत्कंससंसदम् । वसुदेवमहीपोऽपि[4] कंसाभिप्रायवित्तदा ॥४७९॥
स्वसैन्यं समुपायेन संनाह्यैकत्र तस्थिवान् । सीरपाणिः समुत्थाय कृतदोःस्फालनध्वनिः ॥४८०॥
कृष्णेन सह रङ्गं वा समन्तात्स परिभ्रमन् । कंसं नाशयितुं कालस्तवेत्याख्याय निर्गतः ॥४८१॥
तदा कंसाज्ञया विष्णुविद्वेषा गोपसूनवः । दर्पिणो भुजमास्फाल्य धृतमल्लपरिच्छदाः ॥४८२॥
श्रवणाह्लादिवादित्रचटुलध्वनिसंगताः । [5]क्रमोत्क्षेपविनिक्षेपाः प्रोन्नतांसद्वयोद्धुराः ॥४८३॥
पर्यायनर्तितप्रेङ्खद्भ्रूभङ्गा भीषणारवाः । निवर्तनैः [6]समावर्तनैः संभ्रमणवल्गनैः ॥४८४॥
प्लवनैः समवस्थानैरन्यैश्च करणैः स्फुटैः[7] । रङ्गाभ्यर्णमलंकृत्य तस्थुर्नेत्रमनोहराः ॥४८५॥

श्रीकृष्णने इच्छानुसार कमल तोड़कर शत्रुके पास पहुँचा दिये । उन्हें देखकर शत्रुने ऐसा समझा मानो मैंने शत्रुको ही देख लिया हो ॥४७२॥ इस घटनासे राजा कंसको निश्चय हो गया कि हमारा शत्रु नन्द गोपके पास ही रहता है । एक दिन उसने नन्द गोपालको सन्देश भेजा कि तुम अपने मल्लोंके साथ मल्लयुद्ध देखनेके लिए आओ । सन्देश सुनकर नन्द गोप भी श्रीकृष्ण आदि मल्लोंके साथ मथुरामें प्रविष्ट हुए ॥४७३–४७४॥ नगरमें घुसते ही श्रीकृष्णकी ओर एक मत्त हाथी दौड़ा । उस हाथीने अपना बन्धन तोड़ दिया था, वह यमराजके समान जान पड़ता था, मदकी गन्धसे खिंचे हुए अनेक भौंरे उसके गण्डस्थलपर लगकर शब्द कर रहे थे, वह विनयरहित किसी राजकुमारके समान निरंकुश था, और अपने दाँतोंके आघातसे उसने बड़े-बड़े पक्के मकानोंकी दीवारें गिरा दी थीं । उस भयंकर हाथीको सामने दौड़ता आता देख श्रीकृष्णने निर्भय होकर उसका एक दाँत उखाड़ लिया और दाँतसे ही उसे खूब पीटा । अन्तमें वह हाथी भयभीत होकर दूर भाग गया । तदनन्तर 'इस निमित्तसे आप लोगोंकी जीत स्पष्ट ही होगी' सन्तुष्ट होकर यह कहते हुए श्रीकृष्णने साथके गोपालोंको पहले तो खूब उत्साहित किया और फिर कंसकी सभामें प्रवेश किया । कंसका अभिप्राय जाननेवाले राजा वसुदेव भी उस समय किसी उपायसे अपनी सेनाको तैयार किये हुए वहीं एक स्थानपर बैठे थे । बलदेवने उठकर अपनी भुजाओंके आस्फालनसे ताल ठोककर शब्द किया और कृष्णके साथ रंगभूमिके चारों ओर चक्कर लगाया । उसी समय उन्होंने श्रीकृष्णसे कह दिया कि 'यह तुम्हारा कंसको मारनेका समय है' इतना कह वे रंगभूमिसे बाहर निकल गये ॥४७५–४८१॥ इसके बाद कंस-की आज्ञासे कृष्णके सेवक, अहंकारी तथा मल्लोंका वेष धारण करनेवाले अनेक गोपाल बालक अपनी भुजाओंको ठोकते हुए रंगभूमिमें उतरे । उस समय कानोंको आनन्दित करनेवाले बाजोंकी चंचल ध्वनि हो रही थी और उसीके अनुसार वे सब अपने पैर रखते उठाते थे, ऊँचे उठे हुए अपने दोनों कन्धोंसे वे कुछ गर्विष्ठ हो रहे थे, कभी दाहिनी भ्रुकुटि चलाते थे तो कभी बायीं । बीच-बीचमें भयंकर गर्जना कर उठते थे, वे कभी आगे जाकर पीछे लौट जाते थे, कभी आगे चक्कर लगाते थे, कभी थिरकते हुए चलते थे, कभी उछल पड़ते थे और कभी एक ही स्थानपर निश्चल खड़े रह जाते थे । इस तरह साफ-साफ दिखनेवाले अनेक पैंतरोंसे नेत्रोंको अच्छे लगनेवाले वे मल्ल रंगभूमिको अलंकृत कर खड़े थे । उनके साथ ही रंगभूमिको घेरकर चाणूर आदि कंसके प्रमुख मल्ल भी खड़े हुए थे । कंसके वे मल्ल अहंकारसे भरे हुए थे

१ नियम–ल० । २ भीषणः ल० । ३ कुटुम्बप्रकटीकृतः ल० । ४ महीशोऽपि ल० । ५ क्रमक्षेप–म० ।
६ सतावर्तनैः ल० । ७ स्फुटम् ख० ।

संनद्धाः कंसमल्लाश्च चाणूरप्रमुखास्तथा । रङ्गाभ्याशं समाक्रम्य विक्रमैकरसाः स्थिताः ॥४८६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

मध्येरङ्गमुदात्तचित्तविसरो वीरोरुमल्लाग्रणीः
प्रागेव प्रतिमल्लयुद्धविजयं प्राप्येव दीप्रद्युतिः ।
मार्तण्डं च दिवोऽवतीर्णमधुना यद्यद्य गतं मल्लताम्
जेष्यामीति विवृद्धविक्रमरसः संभावयन्स्म स्वयम् ॥४८७॥

मालिनी

घनधृतपरिधानो बद्धकेशो विकूर्चः
सहजमसृणगात्रश्चित्रवृत्तिप्रवीणः
सततकृतनियोगाद्गोपमल्लैरमल्लै-
रविकलजयकर्मा सर्वसंभावितौजाः ॥४८८॥
स्थिरचरणविवेशो वज्रसारास्थिबन्धो
भुजपरिघविशाली मुष्टिसंमाप्यमध्यः ।
कठिनपृथुलवक्षाः स्थूलनीलाद्रितुल्य-
स्त्रिगुणितनिजमूर्तिर्दर्पसर्पाद्दुरीक्ष्यः ॥४८९॥
अचलितचलनेत्रो निष्ठुराबद्धमुष्टिः
परिणतकरणौघो मंक्षु संचारदक्षः ।
भृशमशनिरिवोग्रो नन्दसूनुः स्थितः सन्
भयमवहदसह्यं प्रेतनाथस्य चोच्चैः ॥४९०॥

वसन्ततिलका

रूपीव शौर्यमखिलं मिलितं बलं वा
रंहः समस्तमपि संहतिमीयिवद्वा ।

और ऐसे जान पड़ते थे मानो वीर रसके अवतार ही हों ॥४८२-४८६॥ उस समय रंगभूमिमें खड़े हुए कृष्ण बहुत भले जान पड़ते थे, उनके चित्तका विस्तार अत्यन्त उदार था, वे बड़े-बड़े वीर पहलवानोंमें अग्रेसर थे, उनकी कान्ति ऐसी दमक रही थी मानो उन्होंने पहले ही प्रतिमल्लके युद्धमें विजय प्राप्त कर ली हो, उनका पराक्रमरूपी रस उत्तरोत्तर बढ़ रहा था और उन्हें ऐसा उत्साह था कि यदि इस समय मल्लका रूप धरकर सूर्य भी आकाशसे नीचे उतर आवे तो उसे भी जीत लूँगा ॥४८७॥ उस समय उनके वस्त्र बहुत कड़े बँधे थे, बाल बँधे थे, डाढ़ी मूँछ थी ही नहीं, शरीर स्वभावसे ही चिकना था, वे गोप मल्लोंके साथ अमल्लोंकी तरह सदा युद्धका अभ्यास करते और पूर्ण विजय प्राप्त करते थे, और उनके पराक्रमकी सब सराहना करते थे ॥४८८॥ उनके चरणोंका रखना स्थिर होता था, उनकी हड्डियोंका गठन वज्रके सारके समान सुदृढ़ था, उनकी भुजाएँ अर्गलके समान लम्बी तथा मजबूत थीं, उनकी कमर मुट्ठीमें समानेके योग्य थी, वक्षःस्थल अत्यन्त कठोर तथा चौड़ा था, वे बड़े भारी नील-गिरिके समान थे, उनका शरीर सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंकी मानो मूर्ति था और गर्वके संचारसे कोई उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता था ॥४८९॥ उनके चमकीले नेत्र चंचल हो रहे थे, वे बड़ी मजबूत मुट्ठी बाँधे थे, उनकी इन्द्रियोंका समूह पूर्ण परिपक्व था, वे शीघ्र गमन करनेमें दक्ष थे, और वज्रके समान अत्यन्त उग्र थे, इस प्रकार युद्ध-भूमिमें खड़े हुए नन्द गोपके पुत्र श्रीकृष्ण यमराजके लिए भी असहनीय भारी भय उत्पन्न कर रहे थे ॥४९०॥ वे श्रीकृष्ण ऐसे जान पड़ते थे मानो समस्त शूरवीरता ही रूप धरकर आ गयी

---

१ प्रावृत्ताः ।

सिंहाकृतिः स सहसा कृतसिंहनादो

रङ्गादलङ्घत नभोऽङ्गणमङ्गणं वा ॥४९१॥

आपत्य खादशनिवद्भुवमास्फपाद-

पाताभिघातचलिताचलसंधिबन्धः ।

वल्गन्मुहुः परिसरत्प्रविजृम्भमाणः

सिन्दूररञ्जितभुजौ चलदद्भुदग्रौ ॥४९२॥

क्रुद्धः कटीद्वितयपार्श्वविलम्बिपीत-

वस्त्रो नियुद्धकुशलं प्रतिमल्लमुग्रम् ।

चाणूरमद्रिशिखरोन्नतमापतन्त-

मासाद्य सिंहवदिभं सहसा बभासे ॥४९३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

दृष्ट्वेनं रुधिरोद्गमोग्रनयनो योद्धुं स्वयं मल्लतां

संप्राप्यापतदुग्रसेनतनयो जन्मान्तरद्वेषतः ।

तं व्योम्नि भ्रमयन् करेण चरणे संगृह्य बालाण्डजं

भूमौ नेतुमुपान्तमन्तकविभोः कृष्णः समास्फालयत् ॥४९४॥

आपेतुर्नभसस्तदा सुमनसो देवानकैर्दध्वने

स्वारावो वसुदेवसैन्यजलधौ प्रक्षोभणादुद्गतः ।

सीरी वीरवरो विरुद्धनृपतीन् क्रम्य रङ्गे स्थितः

स्वीकृत्याप्रतिमल्लमात्तविजयं शौर्योर्जितं स्वानुजम् ॥४९५॥

मालिनीच्छन्दः

अतुलबलमलङ्घ्यारातिमत्तेभघाताद्-

कुपितहरिसमानं माननीयापदानम्[२] ।

सपदि समुपयाता बन्दिभिर्वन्द्यमानं

जनितमकरागं तं हरिं वीरलक्ष्मीः ॥४९६॥

थी, अथवा समस्त बल आकर इकट्ठा हुआ था, अथवा समस्त बल एकत्रित हो गया था, सिंह-जैसी आकृतिको धारण करनेवाले उन्होंने सिंहनाद किया और रंगभूमिसे उछलकर आकाश-रूपी आँगनको लाँघ दिया मानो घरका आँगन ही लाँघ दिया हो ॥४९१॥ फिर आकाशसे वज्र-की भाँति पृथिवीपर आये, उन्होंने अपने पैर पटकनेकी चोटसे पर्वतोंके सन्धि-बन्धनको शिथिल कर दिया, वे बराबर गर्जने लगे, इधर-उधर दौड़ने लगे और सिन्दूरसे रँगी अपनी दोनों भुजाओंको चलाने लगे ॥४९२॥ उस समय वे अत्यन्त कुपित थे, उनकी कमरके दोनों ओर पीत वस्त्र बँधा हुआ था, और जिस प्रकार सिंह हाथीको मारकर सुशोभित होता है उसी प्रकार वे बाहु-युद्धमें कुशल, अतिशय दुष्ट और पहाड़के शिखरके समान ऊँचे प्रतिद्वन्द्वी चाणूर मल्लको सहसा मारकर सुशोभित हो रहे थे ॥४९३॥ यह देख, खूनके निकलनेके-से जिसके नेत्र अत्यन्त भयंकर हो रहे हैं ऐसा कंस स्वयं जन्मान्तरके द्वेषके कारण मल्ल बनकर युद्धके लिए रंगभूमिमें आ कूदा, श्रीकृष्णने हाथसे उसके पैर पकड़कर छोटे-से पक्षीकी तरह पहले तो उसे आकाशमें घुमाया और फिर यमराजके पास भेजनेके लिए जमीनपर पछाड़ दिया ॥४९४॥ उसी समय आकाशसे फूल बरसने लगे, देवोंके नगाड़ोंने जोरदार शब्द किया, वसुदेवकी सेनामें क्षोभके कारण बहुत कलकल होने लगा, और वीर शिरोमणि बलदेव, पराक्रमसे सुशो-भित, विजयी तथा शत्रुरहित छोटे भाई कृष्णको आगे कर विरुद्ध राजाओंपर आक्रमण करते हुए रंगभूमिमें जा डटे ॥४९५॥ जिनका बल अतुल्य है, जो अलंघनीय शत्रुरूपी मत्त हाथियों-

---

१-माइत्य ल० । २ माननीयावदानम् ।

वसन्ततिलका

दूतीव मे प्रियतमा वरवीरलक्ष्मी-
रेतस्य दक्षिणभुजं विजयैकगेहम् ।
प्राप्तं पतिं चिरतरादिति तं कटाक्षै-
रैक्षिष्ट रागतरलैर्भरतार्धलक्ष्मीः ॥४९७॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे नेमिस्वामिचरिते
कृष्णविजयो नाम सप्ततितमं पर्व ॥७०॥



के घातसे कुपित सिंहके समान हैं, जिनका पराक्रम माननीय है, बन्दीगण जिनकी स्तुति कर रहे हैं और जिन्होंने सब लोगोंको हर्ष उत्पन्न किया है ऐसे श्रीकृष्णके समीप वीरलक्ष्मी सहसा ही पहुँच गयी ॥४९६॥ मेरी दूतीके समान श्रेष्ठ वीरलक्ष्मी इनकी विजयी दाहिनी भुजाको प्राप्त कर चुकी है, इसलिए आधे भरत क्षेत्रकी लक्ष्मी भी चिरकालसे प्राप्त हुए उन श्रीकृष्णरूपी पतिको रागके द्वारा चंचल कटाक्षोंसे देख रही थी ॥४९७॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत, त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके अन्तर्गत नेमिनाथ स्वामीके चरितमें श्रीकृष्णकी विजयका वर्णन करनेवाला सत्तरवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥७०॥

अथ कंसवधूमुक्तलोचनाम्भःप्रवाहिनः । ¹भूरुहात् समुत्पन्नाः समन्तादुत्सवाङ्कुराः ॥१॥
वसुदेवमहीशस्य किलैष कृतिनः सुतः । व्रजे कंसभयाद् वृद्धिं गतः प्रच्छन्नमास्थितः ॥२॥
वृद्धिरस्य स्वपक्षस्य वृद्धये नैव केवलम् । जगतश्च तुषारांशोरिव वृद्धिः क्रमागता ॥३॥
इत्यभिष्टूयमानस्य पौरदेशवासिभिः । विपाशितोग्रसेनाख्यमहीशस्य महात्मनः ॥४॥
विसर्जितवतो नन्दगोपांश्चापूज्य सद्धनैः । प्रविश्य बन्धुभिः संगतस्य शौर्यपुरं हरेः ॥५॥
काले सुखेन यात्येवं देवी जीवद्यशास्ततः । दुःखिता मरणात्पत्युर्जरासंधमुपेत्य सा ॥६॥
तत्र प्रवृत्तवृत्तान्तमशेषं समबूबुधत् । अथासौ च रुषा पुत्रानादिशद्यादवान् प्रति ॥७॥
तेऽपि संनाह्य सैन्यं स्वं गत्वा युद्ध्वा रणाङ्गणे । भङ्गमापुः क ²वापुर्दैवे वैमुख्यमेयुषि ॥८॥
प्राहिणोत् स पुनः कोपात्तनूजमपराजितम् । मत्वैवान्वर्थनामानं तद्विषामन्तकोपमम् ॥९॥
शतत्रयं ³सषट्चत्वारिंशत्सोऽपि महाबलः । चिरं विधाय युद्धानां विपुण्योऽभूत् पराङ्मुखः ॥१०॥
पुनः पितृनिदेशेन प्रस्थानमकृतोद्यमी । यादवानुद्धरामीति तुक्कालयवनाभिधः ॥११॥
यादवाश्च तदायानमाकर्ण्यागामिवेदिनः । जहुः शौर्यपुरं हास्तिनाख्यं मथुरामपि ॥१२॥
मार्गे स्थितां तदा यादवेशिनां कुलदेवताम् । विविधेन्धनसंवृद्धज्वालामुत्थाप्य पावकम् ॥१३॥
स्ववृद्धाकृतिं वीक्ष्य तां कालयवनो युवा । किमेतदिति पप्रच्छ साप्याह शृणु भूपते ॥१४॥

अथानन्तर—कंसकी स्त्रियों-द्वारा छोड़े हुए अश्रुजलका पान कर पृथ्वीरूपी वृक्षसे चारों ओर उत्सवरूपी अंकुर प्रकट होने लगे ॥१॥ 'यह शूरवीर, पुण्यात्मा वसुदेव राजाका पुत्र है. कंसके भयसे छिपकर व्रजमें वृद्धिको प्राप्त हो रहा था, अनुक्रमसे होनेवाली वृद्धि, न केवल इनके पक्षकी ही वृद्धिके लिए है अपितु चन्द्रमाके समान समस्त संसारकी वृद्धिके लिए है' इस प्रकार नगरवासी तथा देशवासी लोग जिनकी स्तुति करते थे, जिन्होंने राजा उग्रसेनको बन्धन-मुक्त कर दिया था, जो महात्मा थे, जिन्होंने उत्तम धनके द्वारा नन्द आदि गोपालोंकी पूजा कर उन्हें विदा किया था, और जो भाई-बन्धुओंके साथ मिलकर शौर्यपुर नगरमें प्रविष्ट हुए थे ऐसे श्रीकृष्णका समय सुखसे बीत रहा था कि एक दिन कंसकी रानी जीवद्यशा पतिकी मृत्युसे दुःखी होकर जरासन्धके पास गयी। उसने मथुरापुरीमें जो वृत्तान्त हुआ था वह सब जरासन्धको बतला दिया ॥२–६॥ उस वृत्तान्तको सुनकर जरासन्धने क्रोधवश पुत्रोंको यादवोंके प्रति चढ़ाई करनेकी आज्ञा दी ॥७॥ वे पुत्र अपनी सेना सजाकर गये और युद्धके आँगनमें पराजित हो गये सो ठीक ही है क्योंकि भाग्यके प्रतिकूल होनेपर कौन पराजयको प्राप्त नहीं होते? ॥८॥ अबकी बार जरासन्धने कुपित होकर अपना अपराजित नामका पुत्र भेजा क्योंकि वह उसे सार्थक नामवाला तथा शत्रुओंके लिए यमराजके समान समझता था ॥९॥ बड़ी भारी सेना लेकर अपराजित गया और चिरकाल तक उसने तीनसौ छियालीस बार युद्ध किया परन्तु पुण्य क्षीण हो जानेसे उसे भी पराङ्मुख होना पड़ा ॥१०॥ तदनन्तर 'मैं पिताकी आज्ञासे यादवोंको अवश्य जीतूँगा' ऐसा संकल्प कर उसके उद्यमी कालयवन नामक पुत्रने प्रस्थान किया ॥११॥ कालयवनका आगमन सुनकर अग्रशोची यादवोंने शौर्यपुर, हस्तिनापुर और मथुरा तीनों ही स्थान छोड़ दिये ॥१२॥ कालयवन उनका पीछा कर रहा था, तब यादवोंका कुल-देवता बहुत-सा ईंधन इकट्ठा कर तथा ऊँची लौवाली अग्नि जलाकर और स्वयं एक बुढ़ियाका रूप बनाकर मार्गमें बैठ गयी। उसे देखकर युवा कालयवनने उससे पूछा कि यह क्या है?

---

१ भूमूरुहः ख० । २ वायुर्देवे ख०, ग० । ३ सषट्चत्वारि ° म० । ४ षट्चत्वारिंशत् क० ।

अस्मिञ्ज्वालाकरालाग्नौ सर्वेऽपि मम सूनवः । भयेन भवतोऽभूवन् भस्मतो यादवैः सह ॥१५॥
इति तद्वचनात् सोऽपि मद्भयात् किल शात्रवः । प्राविशन्मत्प्रतापाग्निशुभ्रगिं वाशुशुक्षणिम् ॥१६॥
इति प्रतिनिवृत्याशु मिथ्यागर्वं समुद्वहन् । जगाम पितुरभ्याशं धिगनालोचितचेष्टितम् ॥१७॥
[1]इतो जलनिधेस्तीरे बले यादवभूभुजाम् । निविष्टवति निर्मापयितुं स्थानीयमात्मनः ॥१८॥
अष्टोपवासमादाय विधिमन्त्रपुरस्सरम् । कंसारिः शुद्धभावेन दर्भशय्यातलं गतः ॥१९॥
अश्वाकृतिधरं देवं मामारुह्य पयोनिधेः । गच्छतस्ते भवेन्मध्ये पुरं द्वादशयोजनम् ॥२०॥
इत्युक्तो नैगमाख्येन सुरेण मधुसूदनः । चक्रे तथैव निश्चित्य सति पुण्ये न कः सखा ॥२१॥
प्राप्तवेगोद्धते तस्मिन्नारूढे मुरविद्विषः । हये धावति निर्द्वन्द्वं निश्चलत्कर्णचामरे ॥२२॥
द्वेधाभेद्भयाद्वार्धिर्भयादिव हरेस्तदा । मेधाधीशक्तियुक्तेन सङ्घातोऽपि जडात्मनाम् ॥२३॥
शक्राज्ञया तदा तत्र निधीशो विधिवद्धितम् । सहस्रकूटं धामासि भास्वद्रुक्ममयं महत् ॥२४॥
कृत्वा जिनगृहं[2] पूर्वं मङ्गलानां च मङ्गलम् । वप्रप्राकारपरिखागोपुराट्टालकादिभिः ॥२५॥
राजमानां हरेः पुण्यात्तीर्थेशस्य च संभवात् । निर्ममे नगरीं रम्यां सारपुण्यसमन्विताम् ॥२६॥
सरित्पतिमहावीचीभुजालिङ्गितगोपुराम् । दीप्त्या [3]द्वारवतीसंज्ञां हसन्तीं वासवीं पुरीम् ॥२७॥
सपिता साग्रजो विष्णुस्तां प्रविश्य यथासुखम् । लक्ष्मीकटाक्षसंवीक्ष्यस्तस्थिवान् यादवैः सह ॥२८॥
अथातो भुवनाधीशो जयन्तादागमिष्यति । विमानादहमिन्द्रोऽमूं महीं मासैः षडुन्मितैः ॥२९॥

उत्तरमें बुढ़िया कहने लगी कि हे राजन्! सुन, आपके भयसे मेरे सब पुत्र यादवोंके साथ-साथ इस ज्वालाओंसे भयंकर अग्निमें गिरकर मर गये हैं॥१३-१४॥ बुढ़ियाके वचन सुनकर कालयवन कहने लगा कि अहो, मेरे भयसे समस्त शत्रु मेरी प्रतापाग्निके समान इस अग्निमें प्रविष्ट हो गये हैं ॥१६॥ ऐसा विचार कर वह शीघ्र ही लौट पड़ा और झूठा अहंकार धारण करता हुआ पिताके पास पहुँच गया। आचार्य कहते हैं कि इस बिना विचारी चेष्टाको धिक्कार है ॥१७॥ इधर चलते-चलते यादवोंकी सेना अपना स्थान बनानेके लिए समुद्रके किनारे ठहर गयी ॥१८॥ वहाँ कृष्णने शुद्ध भावोंसे दर्भके आसनपर बैठकर विधिपूर्वक मन्त्रका जाप करते हुए अष्टोपवासका नियम लिया। उसी समय नैगम नामके देवने कहा कि मैं घोड़ाका रूप रखकर आऊँगा सो मुझपर सवार होकर तुम समुद्रके भीतर बारह योजन तक चले जाना। वहाँ तुम्हारे लिए नगर बन जायेगा। नैगम देवकी बात सुनकर श्रीकृष्णने निश्चयानुसार वैसा ही किया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यके रहते हुए कौन मित्र नहीं हो जाता? ॥१९-२१॥ जो प्राप्त हुए वेगसे उद्धत है, जिसपर श्रीकृष्ण बैठे हुए हैं, और जिसके कानोंके चमर निश्चल हैं ऐसा घोड़ा जब दौड़ने लगा तब मानो श्रीकृष्णके भयसे ही समुद्र दो भेदोंको प्राप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धि और शक्तिसे युक्त मनुष्योंके द्वारा जलका (पक्षमें मूर्ख लोगोंका) समूह भेदको प्राप्त हो ही जाता है ॥२२-२३॥ उसी समय वहाँ श्रीकृष्ण तथा होनहार नेमिनाथ तीर्थंकरके पुण्यसे इन्द्रकी आज्ञा पाकर कुबेरने एक सुन्दर नगरीकी रचना की। जिसमें सबसे पहले उसने विधिपूर्वक मंगलोंका मांगलिक स्थान और एक हजार शिखरोंसे सुशोभित देदीप्यमान एक बड़ा जिनमन्दिर बनाया फिर वप्र, कोट, परिखा, गोपुर तथा अट्टालिका आदिसे सुशोभित, पुण्यात्मा जीवोंसे युक्त मनोहर नगरी बनायी। समुद्र अपनी बड़ी-बड़ी तरंगरूपी भुजाओंसे उस नगरीके गोपुरका आलिंगन करता था, वह नगरी अपनी दीप्तिसे देवपुरीकी हँसी करती थी और द्वारावती उसका नाम था ॥२४-२७॥ जिन्हें लक्ष्मी कटाक्ष उठाकर देख रही है ऐसे श्रीकृष्णने पिता वसुदेव तथा बड़े भाई बलदेवके साथ उस नगरीमें प्रवेश किया और यादवोंके साथ सुखसे रहने लगे ॥२८॥

अथानन्तर—जो आगे चलकर तीन लोकका स्वामी होनेवाला है ऐसा अहमिन्द्रका जीव

---

१ इतो ख० । २ जिनालयं ग० । ३ द्वारावतीं ख० ।

राज्ञः काश्यपगोत्रस्य हरिवंशशिखामणेः । समुद्रविजयाख्यस्य शिवदेवी मनोरमा ॥३०॥
देवतोपास्यमानाङ्घ्रिर्वसुधारातिनन्दिता । षण्मासावसितौ मासे कार्तिके शुक्लपक्षगे ॥३१॥
षष्ठ्यामथोत्तराषाढे निशान्ते स्वप्नमालिकाम् । आलोकतानुवक्त्राब्जं प्रविष्टं च गजाधिपम् ॥३२॥
ततो बन्दिवचोयामभेरीध्वनिविबोधिता । कृतमङ्गलसुस्नाना धृतपुण्यप्रसाधना ॥३३॥
उपचारवदभ्येत्य नृपमर्धासने स्थिता । स्वदृष्टस्वप्नसाफल्य[1]मन्वयुङ्क्त [2]श्रुतागमम् ॥३४॥
संकलय्य नरेन्द्रोऽपि फलं तेषामभाषत । त्वद्गर्भे विश्वलोकेशोऽवतीर्ण इति सूक्ष्मधीः ॥३५॥
श्रुत्वा तदैव तं [3]लब्धवतीवातुषदप्यसौ । ज्ञात्वा स्वचिह्नैर्देवेन्द्राः संभूयागत्य संमदात् ॥३६॥
स्वर्गावतारकल्याणमहोत्सवविधायिनः । [4]स्वेषां पुण्यं च निर्वर्त्य स्वधाम समुपागमन् ॥३७॥
स पुनः श्रावणे शुक्लपक्षे षष्ठीदिने जिनः । ज्ञानत्रितयभृत्त्वाष्ट्रयोगे तुष्ट्यामजायत ॥३८॥
अथ स्वविष्टराकम्पसमुत्पन्नावधीक्षणाः । बुद्ध्वा भगवदुत्पत्तिं सौधर्मेन्द्रपुरस्सराः ॥३९॥
संजातसंमदाः प्राप्य परिवेष्ट्य पुरं स्थिताः । ऐरावतगजस्कन्धमारोप्य भुवनप्रभुम् ॥४०॥
सौधर्माधिपतिर्भक्त्या नीलाम्भोजदलद्युतिम् । ईशमीशानकल्पेशधृतातपनिवारणम् ॥४१॥
नमच्चमरवैरोचनोद्धूतचमरीरुहम् । धनेशनिर्मितत्रेधामणिसोपानमार्गगः[5] ॥४२॥
नीत्वा पयोदमार्गेण गिरेरीशानदिग्गते[6] । पाण्डुकाख्यशिलाग्रस्थमणिसिंहासने ॥४३॥
अनादिनिधने बालमारोप्यात्यर्कतेजसम् । क्षीराम्भोधिपयः[7]पूर्णसुवर्णकलशोत्तमैः ॥४४॥

जब छह माह बाद जयन्त विमानसे चलकर इस पृथिवीपर आनेके लिए उद्यत हुआ तब काश्यप-गोत्री, हरिवंशके शिखामणि राजा समुद्रविजयकी रानी शिवदेवी रत्नोंकी धारा आदिसे पूजित हुई और देवियाँ उसके चरणोंकी सेवा करने लगीं। छह माह समाप्त होनेपर रानीने कार्तिक शुक्ल षष्ठीके दिन उत्तराषाढ नक्षत्रमें रात्रिके पिछले समय सोलह स्वप्न देखे और उनके बाद ही मुख-कमलमें प्रवेश करता हुआ एक उत्तम हाथी भी देखा ॥२९-३२॥

तदनन्तर—वन्दीजनोंके शब्द और प्रातःकालके समय बजनेवाली भेरियोंकी ध्वनि सुनकर जागी हुई रानी शिवदेवीने मंगलमय स्नान किया, पुण्य रूप वस्त्राभरण धारण किये और फिर बड़ी नम्रतासे राजाके पास जाकर वह उनके अर्धासनपर बैठ गयी। पश्चात् उसने अपने देखे हुए स्वप्नोंका फल पूछा। सूक्ष्म बुद्धिवाले राजा समुद्रविजयने भी सुने हुए आगम-का विचार कर उन स्वप्नोंका फल कहा कि तुम्हारे गर्भमें तीन लोकके स्वामी तीर्थंकर अवतीर्ण हुए हैं ॥३३-३५॥ उस समय रानी शिवदेवी स्वप्नोंका फल सुनकर ऐसी सन्तुष्ट हुई मानो उसने तीर्थंकरको प्राप्त ही कर लिया हो। उसी समय इन्द्रोंने भी अपने-अपने चिह्नोंसे जान लिया। वे सब बड़े हर्षसे मिलकर आये और स्वर्गावतरण कल्याणक (गर्भकल्याणक) का महोत्सव करने लगे। उत्सव-द्वारा पुण्योपार्जन कर वे अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥३६-३७॥ फिर श्रावण शुक्ला षष्ठीके दिन ब्रह्मयोगके समय चित्रा नक्षत्रमें तीन ज्ञानके धारक भगवान्‌का जन्म हुआ ॥३८॥ तदनन्तर अपने आसन कम्पित होनेसे जिन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे सौधर्म आदि इन्द्र हर्षित होकर आये और नगरीको घेरकर खड़े हो गये। तदनन्तर जो नील कमलके समान कान्तिके धारक हैं, ईशानेन्द्रने जिनपर छत्र लगाया है, तथा नमस्कार करते हुए चमर और वैरोचन नामके इन्द्र जिनपर चमर ढोर रहे हैं ऐसे जिनेन्द्र बालकको सौधर्मेन्द्रने बड़ी भक्तिसे उठाया और कुबेर-निर्मित तीन प्रकारकी मणिमय सीढ़ियोंके मार्गसे चलकर उन्हें ऐरावत हाथीके स्कन्धपर विराजमान किया। अब इन्द्र आकाश-मार्गसे चलकर सुमेरुपर पहुँचा वहाँ उसने सुमेरु पर्वतकी ईशान दिशामें पाण्डुक शिलाके अग्रभागपर जो अनादि-निधन मणिमय सिंहासन रखा है उसपर सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी जिन-बालकको विराजमान कर दिया। वहीं उसने अनुक्रमसे हाथों-हाथ लाकर इन्द्रोंके द्वारा

---

१ नामाली—ल०, म०, ग०, घ० । २ शुभागमं क० । ३ संलब्धवती ल० । ४ तेषां ख० । ५-मार्गतः ख० । ६ दिग्गते ग०, घ० । दिग्गतं, ख० । दिग्तटे क० । ७ पयःपूर्णैः म० ।

अष्टाधिकसहस्रेण प्रमितैरमितप्रभैः । कुम्भैः क्रमेणाप्तक्षीरपयःसम्पूरितैः ॥४५॥
अभिषिच्य यथाकाममलङ्कृत्य यथोचितम् । नेमिं सद्धर्मचक्रस्य नेमिनाम्ना तमभ्यधात् ॥४६॥
तस्मादानीय सौधर्मो महामान्योदयं द्रुतम् । मातापित्रोः पुनर्दत्वा विधायानन्दनाटकम् ॥४७॥
विकृत्य विविधान् बाहून् रसभावनिरन्तरम् । स्वधामगमनत् सर्वैरादिकल्पेन्द्रः सहामरैः ॥४८॥
नमिभगवत्तीर्थसन्तानसमयादिकैः । [1]पञ्चलक्षसमाप्तान्ते तदन्तर्गतजीवितः ॥४९॥
जिनो नेमिः समुत्पन्नः सहस्राब्दायुरन्वितः । दशचापसमुत्सेधः शस्तसंस्थानसंहतिः ॥५०॥
त्रिलोकनायकाभ्यर्च्यः स्वभ्यर्णीकृतनिर्वृतिः । तस्थौ सुखानि दिव्यानि तस्मिन्ननुभवंश्चिरम् ॥५१॥
गच्छत्येवं क्षणे वास्य काले बहुतरेऽन्यदा । आत्तवारिपथोद्योगा नष्टदिक्का वणिक्सुताः ॥५२॥
प्राप्य द्वारावतीं केचित्पुण्यान्मगधवासिनः । राजलीलां विलोक्यात्र [2]विभूतिं च सविस्मयाः ॥५३॥
बहूनि रत्नान्यादाय सारभूतानि तत्पुरात् । गत्वा राजगृहं प्राप्तचक्ररत्नं महीपतिम् ॥५४॥
रत्नान्युपायनीकृत्य पुरस्कृत्य वणिक्पतिम् । ददृशुः कृतसन्मानस्तानपृच्छत् प्रजेश्वरः ॥५५॥
भो भवद्भिः कुतो लब्धमिदं रत्नकदम्बकम् । उदंशुभिरिवोन्मीलितेक्षणं कौतुकादिति ॥५६॥
शृणु देव महच्चित्रमनन्यदस्मद्विलोकितम् । पातालादिव चादृष्टपूर्वमुर्वीमुपस्थितम् ॥५७॥
संकुलीकृतसौधोरुभवनत्वादिवाम्बुधेः । फेनराशिस्तदाकारपरिणाममुपागतः ॥५८॥
अलङ्घ्यत्वात् परैः पुण्यं वापरं भरतेशिनः । नेमिस्वामिसमुत्पत्तिहेतुत्वान्नगरोत्तमम् ॥५९॥

सौंपे एवं क्षीरसागरके जलसे भरे, सुवर्णमय एक हजार आठ देदीप्यमान कलशोंके द्वारा उनका अभिषेक किया, उन्हें इच्छानुसार यथायोग्य आभूषण पहिनाये और ये समीचीन धर्म-रूपी चक्की नेमि हैं–चक्रधारा हैं' इसलिए उन्हें नेमि नामसे सम्बोधित किया। फिर सौधर्मेन्द्रने मुकुटबद्ध इन्द्रोंके द्वारा माननीय महाभ्युदयके धारक भगवान्को सुमेरु पर्वतसे लाकर माता-पिताको सौंपा, विक्रिया-द्वारा अनेक भुजाएँ बनाकर रस और भावसे भरा हुआ आनन्द नामक नाटक किया और यह सब करनेके बाद वह समस्त देवोंके साथ अपने स्थानपर चला गया ॥३९-४८॥ भगवान् नमिनाथकी तीर्थपरम्पराके पाँच लाख वर्ष बीत जानेपर नेमि जिनेन्द्र उत्पन्न हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तरालमें शामिल थी, उनकी आयु एक हजार वर्षकी थी, शरीर दश धनुष ऊँचा था, उनके संस्थान और संहनन उत्तम थे, तीनों लोकोंके इन्द्र उनकी पूजा करते थे, और मोक्ष उनके समीप था। इस प्रकार वे दिव्य सुखोंका अनुभव करते हुए चिरकाल तक द्वारावतीमें रहे ॥४९-५१॥ इस तरह सुखोपभोग करते हुए उनका बहुत भारी समय एक क्षणके समान बीत गया। किसी एक दिन मगध देशके रहनेवाले ऐसे कितने ही वैश्य-पुत्र, जो कि जलमार्गमें व्यापार करते थे, पुण्योदयसे मार्ग भूलकर द्वारावती नगरीमें आ पहुँचे। वहाँकी राजलीला और विभूति देखकर आश्चर्यमें पड़ गये। वहाँ जाकर उन्होंने बहुत-से श्रेष्ठ रत्न खरीदे। तदनन्तर राजगृह नगर जाकर उन वैश्य-पुत्रोंने अपने सेठको आगे किया और रत्नोंको भेंट देकर चक्ररत्नके धारक राजा जरासन्धके दर्शन किये। राजा जरासन्धने उन सबका सन्मान कर उनसे पूछा कि 'अहो वैश्य-पुत्रो! आप लोगोंने यह रत्नोंका समूह कहाँसे प्राप्त किया है? यह अपनी उठती हुई किरणोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो कौतुकवश इसने नेत्र ही खोल रखे हों' ॥५२-५६॥ उत्तरमें वैश्य-पुत्र कहने लगे कि हे राजन्! सुनिए, हम लोगोंने एक बड़ा आश्चर्य देखा है और ऐसा आश्चर्य, जिसे कि पहले कभी नहीं देखा है। समुद्रके बीचमें एक द्वारावती नगरी है जो ऐसी जान पड़ती है मानो पातालसे ही निकलकर पृथिवीपर आयी हो। वहाँ चूनासे पुते हुए बड़े-बड़े भवन सघनतासे विद्यमान हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो समुद्रके फेनका समूह ही नगरीके आकार परिणत हो गया हो। वह शत्रुओंके द्वारा अलंघनीय है अतः ऐसी जान पड़ती है मानो भरत चक्रवर्तीका दूसरा पुण्य ही हो। भगवान् नेमिनाथकी उत्पत्तिका कारण होनेसे वह नगरी सब नगरियोंमें उत्तम है,

१ पञ्चलक्षाः समाः ल० । २ विलोक्याथविभूतिं ल० ।

असंहतमनासेव्यमर्थिभिर्धीनगौरवम् । शरदम्बुदवृन्दं तिष्ठत्युपर्यस्मन्मेति वा ॥६०॥
सौधाग्रान्दोलितालोलपताकाबहुबाहुभिः । निराचिकीर्षु संप्रोद्य दूरमभ्रचयं स्थितम् ॥६१॥
पराध्यंभूरिरत्नत्वात् कृष्णतेजोविराजनात् । सदा गम्भीरशब्दत्वात् समुद्रोदकसन्निभम् ॥६२॥
नवयोजनविस्तारं दैर्घ्यद्वादशयोजनम् । पुरं द्वारावती नाम यादवानां पयोनिधेः ॥६३॥
मध्ये प्रवर्तते तस्मादेतद्रत्नकदम्बकम् । लब्धमस्माभिरित्येवमुदीरितं वणिक्सुतैः ॥६४॥
श्रुत्वा तद्वचनं[3] क्रोधेनान्धीभूतप्रधीश्च सः । जरासन्धो विधातृदग्धो दृप्तो दैवविनिहतः ॥६५॥
यथाकालाकालान्तचलितात्मबलाम्बुधिः । कर्तुं यादवलोकस्य विध्वंसं चलितः स्वयम् ॥६६॥
नारदस्तत्तदा ज्ञात्वा निर्हेतुसमरप्रियः । हरिं गत्वाभिगम्यास्य तद्विकारं व्यवेदयत् ॥६७॥
श्रुत्वा शार्ङ्गधरः शत्रुसमुद्योगमनाकुलः । कुमारं नेमिमभ्येत्य प्राह विश्वमिदं पुरः ॥६८॥
विजिगीषुः किलायाति मगधाधिप । मा भैषी हन्मि जीर्णं द्रुमं वा घुणभक्षितम् ॥६९॥
तूर्णं भवत्प्रभावेण गत्वेश्वरदृढोर्जितम् । प्रसन्नचेतास्तच्छ्रुत्वा स्मितस्मेरो मधुरेक्षणः ॥७०॥
सावधिर्निजयं तेन विनिश्चित्य विरोधिनाम् । स्फुरद्दशनरोचिष्णु नेमिरोमित्यवोचत ॥७१॥
स्मिताद्यैः स्वं जयं सोऽपि निश्चिकाय जनार्दनः । जैनो वादी व पक्षाद्यैर्लक्षणभूषणैः ॥७२॥

कोई भी उसका विघात नहीं कर सकता है, वह याचकोंसे रहित है, यह उसके महलोंपर बहुत-सी पताकाएँ फहराती रहती हैं जिनसे ऐसा जान पड़ता है कि 'यह गौरव रहित शरद् ऋतुके बादलोंका समूह मेरे ऊपर रहता है' इस ईर्ष्याके कारण ही वह मानो महलोंके अग्रभागपर फहराती हुई चंचल पताकाओंरूपी बहुत-सी भुजाओंसे आकाशमें ऊँचाईपर स्थित शरद् ऋतुके बादलोंको वहाँसे दूर हटा रही हो। वह नगरी ठीक समुद्रके जलके समान है क्योंकि जिस प्रकार समुद्रके जलमें बहुत-से रत्न रहते हैं उसी प्रकार उस नगरीमें भी बहुत-से रत्न विद्यमान हैं, जिस प्रकार समुद्रका जल कृष्ण तेज अर्थात् काले वर्णसे सुशोभित रहता है उसी प्रकार वह नगरी भी कृष्ण तेज अर्थात् वसुदेवके पुत्र श्री कृष्णके प्रतापसे सुशोभित है, और जिस प्रकार समुद्रके जलमें सदा गम्भीर शब्द होता रहता है उसी प्रकार उस नगरीमें भी सदा गम्भीर शब्द होता रहता है। वह नौ योजन चौड़ी तथा बारह योजन लम्बी है, समुद्रके बीचमें है तथा यादवोंकी नगरी कहलाती है। हम लोगोंने ये रत्न वहीं प्राप्त किये हैं' ऐसा वैश्य-पुत्रोंने कहा ॥५९-६४॥ जब दैवसे छले गये अहंकारी जरासन्धने वैश्य-पुत्रोंके उक्त वचन सुने तो वह क्रोधसे अन्धा हो गया, उसकी दृष्टि भयंकर हो गयी, यही नहीं, बुद्धिसे भी अन्धा हो गया ॥६५॥ जिसकी सेना, असमयमें प्रकट हुए प्रलयकालके लहराते समुद्रके समान चंचल है ऐसा वह जरासन्ध यादव लोगोंका शीघ्र ही नाश करनेके लिए तत्काल चल पड़ा ॥६६॥ बिना कारण ही युद्धसे प्रेम रखनेवाले नारदजीको जब इस बातका पता चला तो उन्होंने शीघ्र ही जाकर श्रीकृष्णसे जरासन्धके कोपका समाचार कह दिया ॥६७॥ 'शत्रु चढ़कर आ रहा है' यह समाचार सुनकर श्रीकृष्णको कुछ भी आकुलता नहीं हुई। उन्होंने नेमिकुमारके पास जाकर कहा कि आप इस नगरकी रक्षा कीजिए। सुना है कि मगधका राजा जरासन्ध हम लोगोंको जीतना चाहता है सो मैं उसे आपके प्रभावसे घुणके द्वारा खाये हुए जीर्ण वृक्षके समान शीघ्र ही नष्ट किये देता हूँ। श्रीकृष्णके वीरतापूर्ण वचन सुनकर जिनका चित्त प्रसन्नतासे भर गया है, जो कुछ-कुछ मुसकरा रहे हैं और जिनके नेत्र मधुरतासे ओत-प्रोत हैं ऐसे भगवान् नेमिनाथको अवधिज्ञान था अतः उन्होंने निश्चय कर लिया कि विरोधियोंके ऊपर हम लोगोंकी विजय निश्चित रहेगी। उन्होंने दाँतोंकी देदीप्यमान कान्तिको प्रकट करते हुए 'ओम्' शब्द कह दिया अर्थात् द्वारावतीका शासन स्वीकृत कर लिया। जिस प्रकार जैनवादी अन्यथानुपपत्ति रूप लक्षणसे सुशोभित पक्ष आदिके द्वारा ही अपनी जयका निश्चय कर लेता है उसी प्रकार श्रीकृष्णने भी नेमिनाथ भगवान्‌की मुसकान आदिसे ही अपनी विजयका निश्चय कर लिया था ॥६८-७२॥

१ असंहतत्तदना-ल० (?)। २ भूमि-ल०। ३ क्रोधादन्धीभूतो ल०।

अथ शत्रून् समुज्जेतुं जयेन विजयेन च । सारणेनाङ्गदाख्येन दवेनोद्धवेन च ॥७३॥
सुमुखाख्यपद्मैश्च जराख्येन सुदृष्टिना । पाण्डवैः पञ्चभिः सत्यकेनाथ द्रुपदेन च ॥७४॥
यादवैः सविराटाख्यैरप्रमेयैर्महाबलैः । धृष्टार्जुनोग्रसेनाभ्यां चमरेण रणेप्सुना ॥७५॥
विदुरेण नृपैरन्यैश्चान्वितौ बलकेशवौ । सन्नद्धावुद्धतौ योद्धुं कुरुक्षेत्रमुपागतौ ॥७६॥
जरासन्धोऽपि युद्धेच्छुर्भीष्मेणाविष्कृतोष्मणा । सद्रोणेन सकर्णेन साश्वत्थामेन रुक्मिणा ॥७७॥
शल्येन वृषसेनेन कृपेण कृतवर्मणा । रुदिरेणेन्द्रसेनेन जयद्रथमहीभुजा ॥७८॥
हेमप्रभेण भूभर्त्रा दुर्योधनधरेशिना । दुःशासनेन दुर्मर्षणेन दुर्धर्षणेन च ॥७९॥
दुर्जयेन कलिङ्गेशा भगदत्तेन भूभुजा । परैश्च भूरिभूपालैराजगाम स केशवम् ॥८०॥
तदा हरिबले युद्धदुन्दुभिध्वनिरुद्धरन् । शूरचेतो रसो वासः कौसुम्भो वाम्बरञ्जयत् ॥८१॥
तदाकर्ण्य नृपाः केचित्पूजयन्ति स्म देवताः । अहिंसादिव्रतान्यन्ये जगृहुर्गुरुसंनिधौ ॥८२॥
परे निस्तारकेष्वर्थान्वितरन्ति स्म सात्त्विकाः । [1]आमुञ्चत तनुत्राणं गृह्णीतासिलतां शिताम् ॥८३॥
आरोपयत चापौघान् संनह्यन्तां गजाग्रिमाः[2] । हरयो नद्धपर्याणाः क्रियन्तामधिकारिषु ॥८४॥
समर्प्यन्तां कलत्राणि युज्यन्तां वाजिनो रथाः । भोगोपभोगवस्तूनि भुज्यन्तामनिवारितम् ॥८५॥
बन्दिमागधवृन्देन वर्ण्यन्तां निजविक्रमाः । इति केचिज्जगुर्भृत्यान् नृपाः संग्रामसंमुखाः ॥८६॥
पतिभक्त्या निसर्गात्मपौरुषेण विरोधिनाम् । मात्सर्येण यशोहेतोः शूरलोकसमीप्सया ॥८७॥
निजान्वयाभिमानेन परैश्च रणकारणैः । समजायन्त राजानः प्राणव्ययविधायिनः ॥८८॥
वसुदेवसुतोऽप्यासीत्सगर्वः सविभूषणः । कुङ्कुमाङ्कितगात्रत्वादिव सिन्दूरितद्विपः ॥८९॥
जय जीवेति वन्दारुवृन्देन कृतमङ्गलः । नवो वाम्भोधरश्चातकध्वनिलक्षितः ॥९०॥

अथानन्तर कृष्ण और बलदेव, शत्रुओंको जीतनेके लिए जय, विजय, सारण, अंगद, दव, उद्धव, सुमुख, पद्म, जरा, सुदृष्टि, पाँचों पाण्डव, सत्यक, द्रुपद, समस्त यादव, विराट्, अपरिमित सेनाओंसे युक्त धृष्टार्जुन, उग्रसेन, युद्धका अभिलाषी चमर, विदुर तथा अन्य राजाओंके साथ उद्धत होकर युद्धके लिए तैयार हुए और वहाँसे चलकर कुरुक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥७३-७६॥ उधर युद्धकी इच्छा रखनेवाला जरासन्ध भी अपनी गरमी (अहंकार) प्रकट करनेवाले भीष्म, कर्ण, द्रोण, अश्वत्थामा, रुक्म, शल्य, वृषसेन, कृप, कृपवर्मा, रुदिर, इन्द्रसेन, राजा जयद्रथ, हेमप्रभ, पृथिवीका नाथ दुर्योधन, दुःशासन, दुर्मर्षण, दुर्धर्षण, दुर्जय, राजा कलिंग, भगदत्त तथा अन्य अनेक राजाओंके साथ कृष्णके सामने आ पहुँचा ॥७७-८०॥ उस समय श्री कृष्णकी सेनामें युद्धकी भेरियाँ बज रही थीं सो जिस प्रकार कुसुम्भ रंग वस्त्रको रँग देता है उसी प्रकार उन भेरियोंके उठते हुए शब्दने भी शूरवीरोंके चित्तको रँग दिया था ॥८१॥ उन भेरियोंका शब्द सुनकर कितने ही राजा लोग देवताओंकी पूजा करने लगे और कितने ही गुरुओंके पास जाकर अहिंसा आदि व्रत ग्रहण करने लगे ॥८२॥ युद्धके सम्मुख हुए कितने ही राजा अपने भृत्योंसे कह रहे थे कि 'तुम लोग कवच धारण करो, पैनी तलवार लो, धनुष चढ़ाओ और हाथी तैयार करो। घोड़ोंपर जीन कसकर तैयार करो, स्त्रियाँ अधिकारियोंके लिए सौंपो, रथोंमें घोड़े जोत दो, निरन्तर भोग-उपभोगकी वस्तुओंका सेवन किया जाय और बन्दी तथा मागध लोग अपने पराक्रमका वर्णन करें ॥८३-८६॥ उस समय कितने ही राजा, स्वामीकी भक्तिसे, कितने ही स्वाभाविक पराक्रमसे, कितने ही शत्रुओंपर जमी हुई ईर्ष्यासे, कितने ही यश पानेकी इच्छासे, कितने ही शूरवीरोंकी गति पानेके लोभसे, कितने ही अपने वंशके अभिमानसे और कितने ही युद्धसम्बन्धी अन्य-अन्य कारणोंसे प्राणोंका नाश करनेके लिए तैयार हो गये थे ॥८७-८८॥ उस समय श्रीकृष्ण भी बड़ा गर्व कर रहे थे, सब आभूषण पहने थे और शरीरपर केशर लगाये हुए थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो सिन्दूर लगाये हुए हाथी हों ॥८९॥ 'आपकी जय हो', 'आप चिरंजीव रहें'

---

१ आमुञ्चताशु ल० । २ गजाग्रिमाः ल० ।

सज्जनावर्ज्यनिर्णिक्तसौवर्णोरुककन्तिका • जलैराचम्य शुद्धाम्बुक्षिप्रपूर्णजलाञ्जलिः ॥९१॥
गन्धपुष्पादिभिर्विघ्नविनायकमनायकम् । भक्त्या जिनेन्द्रमभ्यर्च्य भव्यकल्पमहीरुहम् ॥९२॥
अभिवन्द्याप्तसामन्तैः समन्तात् परिवारितः । प्रतिपक्षमपक्षेप्तुं स्वक्षेणाभिमुखं ययौ ॥९३॥
ततः कृष्णेन निर्दिष्टाः प्रशस्तपरिचारिणः । सैन्यं यथोक्तविन्यासं रचयन्ति स्म रागिणः ॥९४॥
जरासन्धोऽपि संग्रामरङ्गमध्यमधिष्ठितः । स्वसैन्यं निष्ठुराकारैरध्यक्षैरन्वयोजयत् ॥९५॥
इति विन्यासिते सैन्ये दध्वने समरानकैः । शूरधानुष्कनिर्मुक्तशस्त्रासारावसंकुलम् ॥९६॥
नभो न्यरुणदुष्णांशुप्रसरत्करसंततिम् । वियोगमगमन्मोहात्तदास्तमयशङ्कया ॥९७॥
कोकयुग्मं विहङ्गाश्च रुवन्तो नीडमाश्रयन् । नेक्षन्ते स्म भटा योद्धुमन्योन्यं समराङ्गणे ॥९८॥
संक्रुद्धमत्तमातङ्गदन्तसंघट्टजन्मना । सप्तार्चिषा विधूतेऽन्धकारे दिगवलोकनात् ॥९९॥
पुनः प्रवृत्तसंग्रामाः [1]सर्वशस्त्रविचक्षणाः । नदीं रक्तमयीं चक्रुर्विक्रमैकरसाः क्षणम् ॥१००॥
करालकरवालाग्र[2]निकृत्तचरणद्वयाः । तुरंगमा गतिं प्रापुर्वने नष्टतपोधनाः ॥१०१॥
विच्छिन्नचरणाः पेतुर्द्विपाः प्रान्तमहामरु—न्निर्मूलपातितानीलविपुलाचललीलया ॥१०२॥
पातितानां परैः स्तूयमानसाहसकर्मणाम् । प्रसादवन्ति वक्त्राणि स्थलपद्मश्रियं दधुः ॥१०३॥
भटैः परस्परास्त्राणि खण्डितानि स्वकौशलात् । तत्खण्डैस्तत्र पार्श्वस्था बहवो व्यसवोऽभवन् ॥१०४॥

इस प्रकार बन्दीजन उनका मंगलपाठ पढ़ रहे थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो चातकोंकी सुन्दर ध्वनिसे युक्त नवीन मेघ ही हों ॥९०॥ उन्होंने सज्जनोंके द्वारा धारण की हुई पवित्र सुवर्णमय झारीके जलसे आचमन किया, शुद्ध जलसे शीघ्र ही पूर्ण जलांजलि दी और फिर गन्ध, पुष्प आदि द्रव्योंके द्वारा विघ्नोंका नाश करनेवाले, स्वामीरहित (जिनका कोई स्वामी नहीं) तथा भव्य जीवोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिए कल्पवृक्षके समान श्री जिनेन्द्रदेवकी भक्तिपूर्वक पूजा की, उन्हें नमस्कार किया। तदनन्तर चारों ओर गुरुजनों और सामन्तोंको अथवा प्रामाणिक सामन्तोंको रखकर स्वयं ही शत्रुको नष्ट करनेके लिए उसके सामने चल पड़े ॥९१-९३॥ तदनन्तर कृष्णकी आज्ञासे अनुराग रखनेवाले प्रशंसनीय परिचारकोंने यथायोग्य रीतिसे सेनाकी रचना की ॥९४॥ जरासन्ध भी संग्रामरूपी युद्ध-भूमिके बीचमें आ बैठा और कठोर सेनापतियोंके द्वारा सेनाकी योजना करवाने लगा ॥९५॥ इस प्रकार जब सेनाओंकी रचना ठीक-ठीक हो चुकी तब युद्धके नगाड़े बजने लगे। शूर-वीर धनुषधारियोंके द्वारा छोड़े हुए बाणोंसे आकाश भर गया और उसने सूर्यकी फैलती हुई किरणोंकी सन्ततिको रोक दिया—ढँक दिया। 'सूर्य अस्त हो गया है' इस भयकी आशंकासे मोहवश चकवा-चकवी परस्पर बिछुड़ गये। अन्य पक्षी भी शब्द करते हुए घोंसलोंकी ओर जाने लगे। उस समय युद्धके मैदानमें इतना अन्धकार हो गया था कि योद्धा परस्पर एक-दूसरेको देख नहीं सकते थे परन्तु कुछ ही समय बाद क्रुद्ध हुए मदोन्मत्त हाथियोंके दाँतोंकी टकरसे उत्पन्न हुई अग्निके द्वारा जब वह अन्धकार नष्ट हो जाता और सब दिशाएँ साफ-साफ दिखने लगतीं तब समस्त शस्त्र चलानेमें निपुण योद्धा फिरसे युद्ध करने लगते थे। विक्रमरससे भरे योद्धाओंने क्षण-भरमें खूनकी नदियाँ बहा दीं ॥९६-१००॥ भयंकर तलवारकी धारसे जिनके आगेके दो पैर कट गये हैं ऐसे घोड़े उन तपस्वियोंकी गतिको प्राप्त हो रहे थे जो कि तप धारण कर उसे छोड़ देते हैं ॥१०१॥ जिनके पैर कट गये हैं ऐसे हाथी इस प्रकार पड़ गये थे मानो प्रलय कालकी महावायुसे जड़से उखड़कर नीले रंगके बड़े-बड़े पहाड़ ही पड़ गये हों ॥१०२॥ शत्रु भी जिनके साहसपूर्ण कार्योंकी प्रशंसा कर रहे हैं ऐसे पड़े हुए योद्धाओंके प्रसन्नमुखकमल, स्थल कमल (गुलाब) की शोभा धारण कर रहे थे ॥१०३॥ योद्धाओंने अपनी कुशलतासे परस्पर एक-दूसरेके शस्त्र तोड़ डाले थे परन्तु उनके टुकड़ोंसे ही समीपमें खड़े हुए बहुत-से लोग मर गये थे

---

१ संग्रामे ख०, ग०, घ० । २ निकृन्त ख० ।

न मत्सरेण न क्रोधान्न यशसा न फलेच्छया । भटाः केचिदयुध्यन्त न्यायोऽयमिति केवलम् ॥१०५॥
सर्वशस्त्रसमुच्छिन्नशरीरा वीरयोधनाः । परिच्युता गजस्कन्धाच्चूलिकाकीलिताङ्घ्रयः ॥१०६॥
चिरं परिचितस्थानं परित्यक्तुमिवाक्षमाः । लम्बन्ते स्म कर्णाग्रमवलम्ब्यानताननाः ॥१०७॥
केचिद्वामकरोपात्तविचित्रदण्डस्वरक्षणाः । दक्षिणास्त्रभुजैर्जघ्नुः सदाश्वद्रुतचारिणः ॥१०८॥
तत्र वाच्यो मनुष्याणां मृत्योरुत्कृष्टसंचयः । कदलीघातजातस्येत्युक्तिस्तद्रणाङ्गणम् ॥१०९॥
एवं तुमुलयुद्धेन प्रवृत्ते संगरे चिरम् । सेनयोरन्तकस्यापि संतृप्तिः समजायत ॥११०॥
विक्लिन्नं बलं विष्णोर्बलेन क्षिपतां तथा । यथा क्षुद्रसरिद्वारि[1] महासिन्धुजलाम्बुना ॥१११॥
तदालोक्य हरिः क्रुद्धो[2] हरिर्वा करिणां कुलम् । सामन्तबलसंदोहसहितो हन्तुमुद्यतः ॥११२॥
भास्करस्योदयाद्ध्वान्तकारं शत्रुबलं तदा । विलीनं तन्निरीक्ष्यैत्य जरासन्धोऽन्वितः क्रुधा ॥११३॥
द्योतिताखिलदिक्चक्रं चक्रमादाय विक्रमात् । त्रिविक्रमं समुद्दिश्य न्यक्षिपद्रूक्षवीक्षणः ॥११४॥
तत्तं प्रदक्षिणीकृत्य स्थितवद्दक्षिणे भुजे । तदेवादाय कंसारिर्मगधेशोऽच्छिनच्छिरः ॥११५॥
सद्यो जयानकानीकं[3] नदति स्मापतन् दिवः । सुरद्रुमप्रसूनानि सह गन्धाम्बुबिन्दुभिः ॥११६॥
चक्री चक्रं पुरस्कृत्य विजिगीषुर्दिशो भृशम् । प्रस्थानमकरोत्सार्धं बलेन स्वबलेन च[4] ॥११७॥
मागधादीन्सुरान् जित्वा विधेयीकृत्य विश्रुतान् । गृहीत्वा साररत्नानि तद्दत्तान्यूर्जितोदयः[5] ॥११८॥
सिन्धुसिन्धुखगाद्र्यन्तरालस्थाधराधिपान् । स्वपादनखभाभारमानमय्योदवाहयत् ॥११९॥

॥१०४॥ कितने ही योद्धा न ईर्ष्यासे, न क्रोधसे, न यशसे, और न फल पानेकी इच्छासे युद्ध करते थे किन्तु 'यह न्याय है' ऐसा सोचकर युद्ध कर रहे थे ॥१०५॥ जिनका शरीर सर्व प्रकारके शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न हो गया है ऐसे कितने ही वीर योद्धा हाथियोंके स्कन्धसे नीचे गिर गये थे परन्तु कानोंके आभरणोंमें पैर फँस जानेसे लटक गये थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो वे अपना चिर-परिचित स्थान छोड़ना नहीं चाहते हों और इसीलिए कानोंके अग्रभागका सहारा ले नीचेकी ओर मुख कर लटक गये हों ॥१०६-१०७॥ बड़ी चपलतासे चलनेवाले कितने ही योद्धा अपनी रक्षाके लिए बायें हाथमें भाला लेकर शस्त्रोंवाली दाहिनी भुजासे शत्रुओंको मार रहे थे ॥१०८॥ आगममें जो मनुष्योंका कदलीघात नामका अकालमरण बतलाया गया है उसकी अधिकसे अधिक संख्या यदि हुई थी तो उस युद्धमें ही हुई थी ऐसा युद्धके मैदानके विषयमें कहा जाता है ॥१०९॥ इस प्रकार दोनों सेनाओंमें चिरकाल तक तुमुल युद्ध होता रहा जिससे यमराज भी खूब सन्तुष्ट हो गया था ॥११०॥ तदनन्तर जिस प्रकार किसी छोटी नदीके जलको महानदीके प्रवाहका जल दबा देता है उसी प्रकार श्रीकृष्णकी सेनाको शत्रुकी सेनाने दबा दिया ॥१११॥ यह देख, जिस प्रकार सिंह हाथियोंके समूहपर टूट पड़ता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण क्रुद्ध होकर तथा सामन्त राजाओंकी सेनाके समूह साथ लेकर शत्रुको मारनेके लिए उद्यत हो गये—शत्रुपर टूट पड़े ॥११२॥ जिस प्रकार सूर्यके उदय होते ही अन्धकार विलीन हो जाता है उसी प्रकार श्रीकृष्णको देखते ही शत्रुओंकी सेना विलीन हो गयी—उसमें भगदड़ मच गयी। यह देख, क्रोधसे भरा जरासन्ध आया और उसने रूक्ष दृष्टिसे देखकर, अपने पराक्रमसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करनेवाला चक्ररत्न ले श्रीकृष्णकी ओर चलाया ॥११३-११४॥ परन्तु वह चक्र प्रदक्षिणा देकर श्रीकृष्णकी दाहिनी भुजापर ठहर गया। तदनन्तर वही चक्र लेकर श्रीकृष्णने मगधेश्वर—जरासन्धका शिर काट डाला ॥११५॥ उसी समय श्रीकृष्णकी सेनामें जीतके नगाड़े बजने लगे और आकाशसे सुगन्धित जलकी बूँदोंके साथ-साथ कल्पवृक्षोंके फूल बरसने लगे ॥११६॥ चक्रवर्ती श्रीकृष्णने दिग्विजयकी भारी इच्छासे चक्ररत्न आगे कर बड़े भाई बलदेव तथा अपनी सेनाके साथ प्रस्थान किया ॥११७॥ जिनका उदय बलवान् है ऐसे श्रीकृष्णने मागध आदि प्रसिद्ध देवोंको जीतकर अपना सेवक बनाया और उनके द्वारा दिये हुए श्रेष्ठ रत्न ग्रहण किये ॥११८॥ लवण समुद्र सिन्धु नदी और विजयार्ध

---

१ वाहाः म० । वाहः ल० । २ क्रुध्वा ल० । ३ ददति स्म ल० । ४ वा ल० । ५—न्यूर्जितोदयैः ल० ।

खेचराचलवाराशिगङ्गामध्यगतान् पुनः । वशीकृत्य वशी तूर्णं म्लेच्छराजान् सखेचरान् ॥१२०॥
भरतार्धमहीनाथो दूरोच्छ्रितपताकिकाम् । सद्वन्दनतोरणां द्वारवतीं हृष्टो विवेश सः ॥१२१॥
प्रविष्टवन्तं तं देवविद्याधरधराधिपाः । त्रिखण्डाधिपतिं चक्रीत्यभ्यषिञ्चन्नयाचितम् ॥१२२॥
स सहस्रसमायुष्को दशचापसमुच्छ्रितिः[1] । स्फुरन्नीलाब्जवर्णाभो लक्ष्म्यालिङ्गितविग्रहः ॥१२३॥
चक्रं शक्तिर्गदा शङ्खो धनुर्दण्डः सनन्दकः । बभूवुः सप्तरत्नानि रक्षाण्यस्याक्षपालकैः[2] ॥१२४॥
रत्नमाला गदा सीरो मुसलं च हलेशिनः । महारत्नानि चत्वारि स्फुरद्दिव्यान्यभवन् विभोः[3] ॥१२५॥
रुक्मिणी सत्यभामा च सती जाम्बवतीति च । सुसीमा लक्ष्मणा गान्धारी गौरी सप्तमी प्रिया ॥१२६॥
पद्मावती च देव्योऽमूरष्टौ पट्टप्रसाधनाः । सर्वाः देव्यः सहस्राणि चाणूरान्तस्य षोडश ॥१२७॥
बलस्याष्ट सहस्राणि देव्योऽभीष्टसुखप्रदाः । ताभिस्तावमरं सौख्यमसौ वा प्रीतिनिर्भरौ ॥१२८॥
स्वपूर्वकृतपुण्यस्य परिपाकेन पुष्कलान् । भोगान् प्राप्नुवतस्तस्य काले गच्छति शार्ङ्गिणः ॥१२९॥
अन्येद्युर्वारिदान्तेऽन्तःपुरेणामा सरोवरे । मनोहराभिधानेऽभूज्जलकेली मनोहरा ॥१३०॥
तत्र नेमीशितुः सत्यभामायाश्चाम्बुसेचनात् । सल्लापोऽभवदित्युच्चैश्चतुरोक्त्या मनोहरः ॥१३१॥
[4]त्वत्प्रियावत्कुतो रन्ता मयि त्वं किं ममाप्रिया । [5]प्रियास्मि चेत्तव भ्राता यातु कां कामशायिनीम् ॥१३२॥
कासौ किं तां न वेत्सि त्वं सम्प्रत्यसौ वेदयिष्यति । वदन्ति त्वामृजुं सर्वे कुटिलस्त्वं तथापि च ॥१३३॥

पर्वतके बीचके म्लेच्छ राजाओंसे नमस्कार कराकर उनसे अपने पैरोंके नखोंकी कान्तिका भार उठवाया ॥११९॥ तदनन्तर विजयार्ध पर्वत, लवणसमुद्र और गंगानदीके मध्यमें स्थित म्लेच्छ राजाओंको विद्याधरोंके ही साथ जितेन्द्रिय श्रीकृष्णने शीघ्र ही वश कर लिया ॥१२०॥ इस प्रकार आधे भरतके स्वामी होकर श्रीकृष्णने, जिसमें बहुत ऊँची पताकाएँ फहरा रही हैं और जगह-जगह तोरण बाँधे गये हैं ऐसी द्वारावती नगरीमें बड़े हर्षसे प्रवेश किया ॥१२१॥ प्रवेश करते ही देव और विद्याधर राजाओंने उन्हें तीन खण्डका स्वामी चक्रवर्ती मानकर उनका बिना कुछ कहे-सुने ही अपने-आप राज्याभिषेक किया ॥१२२॥

श्रीकृष्णकी एक हजार वर्षकी आयु थी, दश धनुषकी ऊँचाई थी, अतिशय सुशोभित नीलकमलके समान उनका वर्ण था, और लक्ष्मीसे आलिंगित उनका शरीर था ॥१२३॥ चक्र, शक्ति, गदा, शंख, धनुष, दण्ड और नन्दक नामका खड्ग ये उनके सात रत्न थे। इन सभी रत्नोंकी देव लोग रक्षा करते थे ॥१२४॥ रत्नमाला, गदा, हल और मूसल ये देदीप्यमान चार महारत्न बलदेव प्रभुके थे ॥१२५॥ रुक्मिणी, सत्यभामा, सती जाम्बवती, सुसीमा, लक्ष्मणा, गान्धारी, सप्तमी, गौरी और प्रिया पद्मावती ये आठ देवियाँ श्रीकृष्णकी पट्टरानियाँ थीं। इनकी सब मिलाकर सोलह हजार रानियाँ थीं तथा बलदेवके सब मिलाकर अभीष्ट सुख देनेवाली आठ हजार रानियाँ थीं। ये दोनों भाई इन रानियोंके साथ देवोंके समान सुख भोगते हुए परम प्रीतिको प्राप्त हो रहे थे ॥१२६-१२८॥ इस प्रकार पूर्व जन्ममें किये हुए अपने पुण्य कर्मके उदयसे पुष्कल भोगोंको भोगते हुए श्रीकृष्णका समय सुखसे व्यतीत हो रहा था। किसी एक समय शरद् ऋतुमें सब अन्तःपुरके साथ मनोहर नामके सरोवरमें सब लोग मनोहर जलकेली कर रहे थे। वहींपर जल उछालते समय भगवान् नेमिनाथ और सत्यभामा-के बीच चतुराईसे भरा हुआ मनोहर वार्तालाप हुआ ॥१२९-१३०॥ सत्यभामाने कहा कि आप मेरे साथ अपनी प्रियाके समान क्रीड़ा क्यों करते हैं? इसके उत्तरमें नेमिराजने कहा कि क्या तुम मेरी प्रिया (इष्ट) नहीं हो? सत्यभामाने कहा कि यदि मैं आपकी प्रिया (स्त्री) हूँ तो फिर आपके भाई (कृष्ण) किसके पास जावेंगे? नेमिनाथने उत्तर दिया कि वे कामिनी-के पास जावेंगे? सत्यभामाने कहा कि सुनूँ तो सही वह कामिनी कौन-सी है? उत्तरमें नेमिनाथने कहा कि क्या तुम नहीं जानती? अच्छा अब जान जाओगी। सत्यभामाने कहा कि

---

१ सुमुच्छ्रितः ल० । २–क्षपाटकैः ख०, ग० ।–क्षवाटकैः ल० (रक्षितान्यपालकैः रक्ष्याण्यस्याक्ष-पालकैः इति वा पाठः सुष्ठु भाति) । ३ प्रभोः म० । ४ त्वं प्रियावत् ल० । ५ प्रिया चेत्तव भ्राता ल० ।

पुनः स्नानविनोदावसाने तामेवमब्रवीत् । स्नानवस्त्रं त्वया ग्राह्यं नीलोत्पलविलोचने ॥१३४॥
तस्य मे किं करोम्येतत्प्रक्षालय हरिर्भवान् । यो नागशय्यामास्थाय दिव्यं शार्ङ्गशरासनम् ॥१३५॥
हेलयारोपयच्चश्च प्रपूरितदिगन्तरम् । शङ्खमापूरयत्किं तत्साहसं नो भवेत्त्वया ॥१३६॥
कार्यं साधु करिष्यामीत्युक्त्वा गर्वप्रचोदितः । ततः पुरं समभ्येत्य विधातुं कर्म सोऽद्भुतम् ॥१३७॥
संप्रविश्यायुधागारं नागशय्यामधिष्ठितः । स्वां शय्यामिव नागेन्द्रमहामणिविभास्वराम् ॥१३८॥
भूयो विस्फालनोद्यज्ज्याकृतं च शरासनम् । आरोपयत् पयोजं च दध्मौ रुद्धदिगन्तरम् ॥१३९॥
तदा संभावयामास स्वं समाविष्कृतोन्नतिम् । रागाहंकारयोर्लेशोऽप्यवश्यं विकृतिं नयेत् ॥१४०॥
सहसैतदद्भुतं कर्म श्रुत्वाध्यास्य सभावनिम् । हरिः कुसुमचित्राख्यामाकुलाकुलमानसः ॥१४१॥
उद्गतविस्मयोऽपृच्छत्किमेतदिति किंकरान् । ते च तत्सम्यगन्विष्य चक्रनाथं व्यजिज्ञपन् ॥१४२॥
श्रुत्वा तद्वचनं चक्री सावधानं वितर्कयन् । रागि चेतः कुमारस्य चिराच्चित्रमजायत ॥१४३॥
अभूत्कल्याणयोग्योऽयमारूढनवयौवनः । बाधा खलेन कामेन कस्य न स्यात् सकर्मणः ॥१४४॥
इत्युग्रवंशवार्धीन्दोरुग्रसेनमहीभुजः । [2]जयावत्याश्च सर्वाङ्ग[3]शस्या राजीमतिः[4] सुता ॥१४५॥
तद्गृहं तां स्वयं गत्वा कन्यां मान्यामयाचत । त्रिलोकस्वामिनो नेमेः प्रियास्त्वेवेति सादरम् ॥१४६॥
त्रिखण्डजातरत्नानां त्वं पतिर्भो विशेषतः । देव त्वमेव नाथोऽसि प्रस्तुतार्थस्य के वयम् ॥१४७॥

सब लोग आपको सीधा कहते हैं पर आप तो बड़े कुटिल हैं। इस प्रकार जब विनोद करते-करते स्नान समाप्त हुआ तब नेमिनाथने सत्यभामासे कहा कि हे नीलकमलके समान नेत्रोंवाली ! तू मेरा यह स्नानका वस्त्र ले। सत्यभामाने कहा कि मैं इसका क्या करूँ ? नेमिनाथने कहा कि इसे धो डाल। तब सत्यभामा कहने लगी कि क्या आप श्रीकृष्ण हैं ? वह श्रीकृष्ण, जिन्होंने कि नागशय्यापर चढ़कर शार्ङ्ग नामका दिव्य धनुष अनायास ही चढ़ा दिया था और दिग्-दिगन्तको पूर्ण करनेवाला शंख पूरा था ? क्या आपमें वह साहस है, यदि नहीं है तो आप मुझसे वस्त्र धोनेको बात क्यों कहते हैं ? ॥१२१-१३६॥ नेमिनाथने कहा कि 'मैं यह कार्य अच्छी तरह कर दूँगा' इतना कहकर वे गर्वसे प्रेरित हो नगरकी ओर चल पड़े और वह आश्चर्यपूर्ण कार्य करनेके लिए आयुधशालामें जा घुसे। वहाँ वे नागराजके महामणियोंसे सुशोभित नागशय्यापर अपनी ही शय्याके समान चढ़ गये, बार-बार स्फालन करनेसे जिसकी डोरीरूपी लता बड़ा शब्द कर रही है ऐसा धनुष उन्होंने चढ़ा दिया और दिशाओंके अन्तरालको रोकनेवाला शंख फूँक दिया ॥१३७-१३९॥ उस समय उन्होंने अपने-आपको महान् उन्नत समझा सो ठीक ही है क्योंकि राग और अहंकारका लेशमात्र भी प्राणीको अवश्य ही विकृत बना देता है ॥१४०॥ जिस समय आयुधशालामें यह सब हुआ था उस समय श्रीकृष्ण कुसुमचित्रा नामकी सभाभूमिमें विराजमान थे। वे सहसा ही यह आश्चर्यपूर्ण काम सुनकर व्यग्र हो उठे, उनका मन अत्यन्त व्याकुल हो गया ॥१४१॥ बड़े आश्चर्यके साथ उन्होंने किंकरोंसे पूछा कि 'यह क्या है ?' किंकरोंने भी अच्छी तरह पता लगाकर श्रीकृष्णसे सब बात ज्योंकी त्यों निवेदन कर दी। किंकरोंके वचन सुनकर चक्रवर्ती कृष्णने बड़ी सावधानीके साथ विचार करते हुए कहा कि आश्चर्य है, बहुत समय बाद कुमार नेमिनाथका चित्त रागसे युक्त हुआ है। अब यह नवयौवनसे सम्पन्न हुए हैं अतः विवाहके योग्य हैं—इनका विवाह करना चाहिए। सो ठीक ही है ऐसा कौन सकर्मा प्राणी है जिसे दुष्ट कामके द्वारा बाधा नहीं होती हो ॥१४२-१४४॥ यह कहकर उन्होंने विचार किया कि उग्रवंशरूपी समुद्रको बढ़ानेके लिए चन्द्रमाके समान, राजा उग्रसेनको जयावती रानीसे उत्पन्न हुई राजीमति नामकी पुत्री है जो सर्वांग सुन्दर है ॥१४५॥ विचारके बाद ही उन्होंने राजा उग्रसेनके घर स्वयं जाकर बड़े आदरसे 'आपकी पुत्री तीन लोकके नाथ भगवान् नेमिकुमारकी प्रिया हो' इन शब्दोंमें उस माननीय कन्याकी याचना की ॥१४६॥ इसके उत्तरमें राजा उग्रसेनने कहा कि 'हे देव ! तीन खण्डमें उत्पन्न हुए रत्नोंके आप ही स्वामी

---

१ वक्रम् । २ जयवत्याश्च ल० । ३ सर्वाङ्गरम्या क० । ४ राजमतिः ल० ।

इत्युग्रसेनवाक्योत्थसंमदो यादवाधिपः । शुभेऽहनि समारभ्य विधातुं स तदुत्सवम् ॥१४८॥
पञ्चरत्नमयं रम्यं समानयदनुत्तरम् । विवाहमण्डपं तस्य मध्यस्थे जगतीतले ॥१४९॥
नवमुक्ताफलालोकरङ्गवल्लीविराजिनि । मङ्गलामोदि[1]पुष्पोपहारामारविकासिनि ॥१५०॥
विस्तृताभिनवानर्घ्यवस्त्रे[2] सौवर्णपट्टके । वध्वा सह समाधाय तण्डुलारोपणं वर ॥१५१॥
परेद्युःसमये पाणिजलसेकस्य माधवः । धियासुदुर्गतिं लोभमुनीत्रानुभवोदयात् ॥१५२॥
दुराशयः सुराधीशपूज्यस्यापि महात्मनः । स्वराज्यादानमाशङ्क्य नेमेर्मायाविदां वरः ॥१५३॥
निर्वेदकारणं किंचिन्निरीक्ष्यैष विरंस्यति । भोगेभ्य इति संचिन्त्य तदुपायविधित्सया ॥१५४॥
व्याधाधिपैर्धृतानीतं नानामृगकदम्बकम् । विधायैकत्र संकीर्णं वृतिं तत्परितः व्यधात् ॥१५५॥
अशिक्षयच्च तद्रक्षाध्यक्षान्यदि समीक्षितुम् । [3]दिशो नेमीश्वरोऽभ्येति मत्कृते सोऽभिधीयताम् ॥१५६॥
त्वद्विवाहे व्ययीकर्तुं चक्रिणैष मृगोत्करः । समानीत इति व्यक्तं महापापोपलेपकः[4] ॥१५७॥
अथ नेमिकुमारोऽपि नानाभरणभासुरः[5] । सहृत्कुन्तलो रक्तोत्पलमालाद्यलंकृतः ॥१५८॥
तुरंगमखुरोद्धूतधूलीलिप्तदिगाननः । सवयोभिरिति प्रीतैर्महासामन्तसूनुभिः ॥१५९॥
परीतः शिबिकां चित्रामारुह्य नयनप्रियः । दिशो विलोकितुं गच्छंस्तत्रालोक्य यदृच्छया ॥१६०॥
मृगानितस्ततो घोरं रुदित्वा करुणस्वनम्[6] । भ्रमतस्तृषितान् दीनदृष्टीनतिभयाकुलान् ॥१६१॥
किमर्थमिदमेकत्र निरुद्धं तृणभुक्कुलम् । इत्यन्वयुङ्क्त तद्रक्षानियुक्ताननुकम्पया ॥१६२॥

हैं, और खास हमारे स्वामी हैं, अतः यह कार्य आपको ही करना है—आप ही इसके नाथ हैं, हम लोग कौन होते हैं ?' इस प्रकार राजा उग्रसेनके वचन सुनकर श्रीकृष्ण महाराज बहुत ही हर्षित हुए। तदनन्तर उन्होंने किसी शुभ दिनमें वह विवाहका उत्सव करना प्रारम्भ किया और सबसे उत्तम तथा मनोहर पाँच प्रकारके रत्नोंका विवाहमण्डप बनवाया। उसके बीचमें एक वेदिका बनवायी गयी थी जो नवीन मोतियोंकी सुन्दर रंगावलीसे सुशोभित थी, मंगलमय सुगन्धित फूलोंके उपहार तथा वृष्टिसे मनोहर थी, उसपर सुन्दर नवीन वस्त्र ताना गया था, और उसके बीचमें सुवर्णकी चौकी रखी हुई थी। उसी चौकीपर नेमिकुमारने वधू राजीमतीके साथ गीले चावलोंपर बैठनेका नेग (दस्तूर) किया ॥१४८-१५१॥ दूसरे दिन वरके हाथमें जलधारा देनेका समय था। उस दिन मायाचारियोंमें श्रेष्ठ तथा दुर्गतिको जानेकी इच्छा करनेवाले श्रीकृष्णका अभिप्राय लोभ कषायके तीव्र उदयसे कुत्सित हो गया। उन्हें इस बातकी आशंका उत्पन्न हुई कि यहीं इन्द्रोंके द्वारा पूजनीय भगवान् नेमिनाथ हमारा राज्य न ले लें। उसी क्षण उन्हें विचार आया कि 'ये नेमिकुमार वैराग्यका कुछ कारण पाकर भोगोंसे विरक्त हो जावेंगे।' ऐसा विचार कर वे वैराग्यका कारण जुटानेका प्रयत्न करने लगे। उनकी समझमें एक उपाय आया। उन्होंने बड़े-बड़े शिकारियोंसे पकड़वाकर अनेक मृगोंका समूह बुलाया और उसे एक स्थानपर इकट्ठा कर उसके चारों ओर बाड़ी लगवा दी तथा वहाँ जो रक्षक नियुक्त किये थे उनसे कह दिया कि यदि भगवान् नेमिनाथ दिशाओंका अवलोकन करनेके लिए आवें और इन मृगोंके विषयमें पूछें तो उनसे आप लोग साफ-साफ कह देना कि आपके विवाहमें मारनेके लिए चक्रवर्तीने यह मृगोंका समूह बुलाया है। महापापका बन्ध करनेवाले श्रीकृष्णने ऐसा उन लोगोंको आदेश दिया ॥१५२-१५७॥ तदनन्तर जो नाना प्रकारके आभूषणों-से देदीप्यमान हैं, जिनके सिरके बाल सजे हुए हैं, जो लाल कमलोंकी मालासे अलंकृत हैं, घोड़ोंके खुरोंसे उड़ी हुई धूलिके द्वारा जिन्होंने दिशाओंके अग्रभाग लिप्त कर दिये हैं, और जो समान अवस्थावाले, अतिशय प्रसन्न बड़े-बड़े मण्डलेश्वर राजाओंके पुत्रोंसे घिरे हुए हैं ऐसे नयनाभिराम भगवान् नेमिकुमार भी चित्रा नामकी पालकीपर आरूढ़ होकर दिशाओंका अवलोकन करनेके लिए निकले। वहाँ उन्होंने घोर करुण स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर इधर-उधर दौड़ते, प्यासे, दीनदृष्टिसे युक्त तथा भयसे व्याकुल हुए मृगोंको देख दयावश वहाँके रक्षकोंसे

१-मोद-ल० । २ सौमर्म-ल० । ३-दीशो ल० । ४ महापापोपलिम्पकः ल० । ५ भारभाक् ल० ।
६ कलणस्वरम् ल० ।

देवैन्द्रानुदेवेन त्वद्विवाहमहोत्सवे । व्ययीकर्तुमिहानीतमित्यभाषन्त[1] तेऽपि तम् ॥१६३॥
वसन्त्यरण्ये खादन्ति तृणान्यनपराधकाः । किलैतांश्च स्वभोगार्थं पीडयन्ति धिगीदृशान् ॥१६४॥
किं न कुर्वन्त्यमी मूढाः प्रौढमिथ्यात्वचेतसः । प्राणिनः प्राणितुं प्राणैर्निर्घृणाः स्वैर्विनश्वरैः ॥१६५॥
स्वराज्यग्रहणे शङ्कां विधाय मयि दुर्मतिः । व्यधात् कपटमीदृशं कष्टं दुष्टविचेष्टितम् ॥१६६॥
इति निर्धार्य निर्विद्य निर्वृत्य निजमन्दिरम् । प्रविश्याविर्भवद्बोधिस्तत्कालोपगतामरैः ॥१६७॥
बोधितः समतीतात्मभवानुस्मृतिवेपितः । तदैवागत्य देवेन्द्रैः[2] कृतनिष्क्रमणोत्सवः ॥१६८॥
शिबिकां देवकुर्वाख्यामारुह्यामरवेष्टितः[3] । सहस्राम्रवणे षष्ठानशनः श्रावणे सिते ॥१६९॥
पक्षे चित्राख्यनक्षत्रे षष्ठ्यां सायाह्नसाश्रितः । शतत्रयकुमाराब्दव्यतीतौ सह भूभुजाम् ॥१७०॥
सहस्रेण समादाय संयमं प्रत्यपद्यत । चतुर्थज्ञानधारी च बभूवासन्नकेवलः[4] ॥१७१॥
संध्येव स तमस्ताद्रावनु[5] राजीमतिश्च तम् । ययौ वाचापि दत्तानां न्यायोऽयं कुलयोषिताम् ॥१७२॥
स्वदुःखेनापि निर्विण्णः श्रूयते न जनः परः । परदुःखेन सन्तोऽमी त्यजन्त्येव महाश्रियम्[6] ॥१७३॥
बलकेशवमुख्यावनीशाः संपूज्य संस्तवैः । सहसुरेशास्तमीशानं स्वं धाम समुपाश्रयन् ॥१७४॥
पारणादिवसे तस्मै वरदत्तो महीपतिः । कनकाभः प्रविष्टाय पुरीं द्वारावतीं सते ॥१७५॥
श्रद्धादिगुणसंपन्नः प्रतीच्छादिनवक्रियः । [7]अदितान्नं मुनिग्राह्यं पञ्चाश्चर्याणि चाप सः ॥१७६॥
[8]कोटिद्विदशरत्नानां सार्धाः सुरकरच्युताः । वृष्टिं सौमनसीं वायुं मान्द्यादित्रिगुणान्वितम् ॥१७७॥

पूछा कि यह पशुओंका बहुत भारी समूह यहाँ एक जगह किसलिए रोका गया है ? ॥१५८-१६२॥ उत्तरमें रक्षकोंने कहा कि 'हे देव ! आपके विवाहोत्सवमें व्यय करनेके लिए महाराज श्रीकृष्णने इन्हें बुलाया है' ॥१६३॥ यह सुनते ही भगवान् नेमिनाथ विचार करने लगे 'कि ये पशु जंगलमें रहते हैं, तृण खाते हैं और कभी किसीका कुछ अपराध नहीं करते हैं फिर भी लोग इन्हें अपने भोगके लिए पीड़ा पहुँचाते हैं। ऐसे लोगोंको धिक्कार है। अथवा जिनके चित्तमें गाढ़ मिथ्यात्व भरा हुआ है ऐसे मूर्ख तथा दयाहीन प्राणी अपने नश्वर प्राणोंके द्वारा जीवित रहनेके लिए क्या नहीं करते हैं ? देखो, दुर्बुद्धि कृष्णने मुझपर अपने राज्य-ग्रहणकी आशंका कर ऐसा कपट किया है। यथार्थमें दुष्ट मनुष्योंकी चेष्टा कष्ट देनेवाली होती है'। ऐसा विचार कर वे विरक्त हुए और लौटकर अपने घर आ गये। वैराग्यके प्रकट होनेसे उसी समय लौकान्तिक देवोंने आकर उन्हें समझाया, अपने पूर्व भवोंका स्मरण कर वे भयसे काँप उठे। उसी समय इन्द्रोंने आकर दीक्षाकल्याणकका उत्सव किया ॥१६४-१६८॥ तदनन्तर देवकुरु नामक पालकीपर सवार होकर वे देवोंके साथ चल पड़े। सहस्राम्रवनमें जाकर वेलाका नियम लिया और श्रावण शुक्ला षष्ठीके दिन सायंकालके समय कुमार-कालके तीन सौ वर्ष बीत जानेपर एक हजार राजाओंके साथ-साथ संयम धारण कर लिया। उसी समय उन्हें चौथा-मनःपर्ययज्ञान हो गया और केवलज्ञान भी निकट कालमें हो जावेगा ॥१६९-१७१॥ जिस प्रकार सन्ध्या सूर्यके पीछे-पीछे अस्ताचलपर चली जाती है उसी प्रकार राजीमती भी उनके पीछे-पीछे तपश्चरणके लिए चली गयी सो ठीक ही है क्योंकि शरीरकी बात तो दूर रही, वचन मात्रसे भी दी हुई कुलस्त्रियोंका यही न्याय है ॥१७२॥ अन्य मनुष्य तो अपने दुःखसे भी विरक्त हुए नहीं सुने जाते पर जो सज्जन पुरुष होते हैं वे दूसरेके दुःखसे ही महाविभूतिका त्याग कर देते हैं ॥१७३॥ बलदेव तथा नारायण आदि मुख्य राजा और इन्द्र आदि देव, सब अनेक स्तवनोंके द्वारा उन भगवान्की स्तुति कर अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥१७४॥ पारणाके दिन उन सज्जनोत्तम भगवान्ने द्वारावती नगरीमें प्रवेश किया। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिवाले तथा श्रद्धा आदि गुणोंसे सम्पन्न राजा वरदत्तने पड़िगाहन आदि नवधा भक्ति कर उन्हें मुनियोंके ग्रहण करने योग्य-शुद्ध प्रासुक आहार दिया तथा पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥१७५-१७६॥ उसके घर देवोंके हाथसे छोड़ी हुई साढ़े

१-मित्यभाषत ल० । २ देवेन्द्राः क० । ३-मरवेष्टिताम् ल० । ४ केवली ग० । ५ राजिमतिरच म० । राजमतिश्च क० । राजिमती च ख०, ग० । ६ महोश्रियम् ल० । ७ अदितान्नं ल० । ८ कोटिद्वदिश ल० ।

घनान्तरितकायामरानिनादितदुन्दुभि—ध्वानं मनोहरं साधुदानं घोषकम् ॥१७८॥
एवं तपस्यतस्तस्य षट्पञ्चाशद्दिनक्रमे । छद्मस्थसमये याते गिरौ रैवतकाभिधे ॥१७९॥
षष्ठोपवासयुक्तस्य महावेणोरधः[1] स्थितः । पूर्वेऽह्न्यश्वयुजे[2] मासि शुक्लपक्षादिमे दिने ॥१८०॥
चित्रायां केवलज्ञानमुदपद्यत सर्वगम् । पूजयन्ति स्म तं देवाः केवलावगमोत्सवे ॥१८१॥
वरदत्तादयोऽभूवन्नेकादश गणेशिनः । चतुःशतानि पूर्वज्ञाः श्रुतज्ञानाब्धिपारगाः ॥१८२॥
शून्यद्वितयवस्वेकैकमितास्तस्य शिक्षकाः । शून्यद्वितयपञ्चैकमितास्त्रिज्ञानलोचनाः ॥१८३॥
तावन्तः पञ्चमज्ञाना विक्रियर्द्धिसमन्विताः । शताधिकसहस्रं तु मनःपर्ययबोधनाः ॥१८४॥
शतानि नव विज्ञेया वादिनोऽष्टशतानि च । अष्टादशसहस्राणि ते सर्वेऽपि समुच्चिताः ॥१८५॥
यक्षी राजीमतिः कात्यायन्याद्याश्चार्यिकाः । चत्वारिंशत्सहस्राणि श्रावकाः लक्षमेकं[3] ॥१८६॥
त्रिलक्षाः श्राविका देवा देव्यश्चासंख्ययोदिताः । तिर्यञ्चः संख्यया प्रोक्ता गणैर्द्वादशभिर्युतः ॥१८७॥
परीतो भव्यपद्मानां विकासं जनयन्मुहुः । धर्मोपदेशनांशुप्रसरेणाबनायिता ॥१८८॥
विहृत्य देशान् विहृत्यान्ते प्राप्य द्वारावतीं कृती । स्थितो रैवतकोद्याने तच्छ्रुत्वा सहकेशवः ॥१८९॥
बलदेवश्च संप्राप्य स्वसर्वर्द्धिसमन्वितौ । वन्दित्वा श्रुतधर्माणौ प्रीतिमन्तौ[4] ततो हरिः ॥१९०॥
प्राहुर्नास्तीति यं केचित् केचिन्नित्यं क्षणस्थितिम् । केचित्केचिदणुं चाणोः केचिच्छ्यामाकसंमितम् ॥१९१॥
केचिदङ्गुष्ठमात्रं च योजनानां शतं परे । केचिच्छतानि पञ्चैव केचिद्गगनवद्विभुम् ॥१९२॥
केचिदेकं परे नाना परेऽज्ञमपरेऽन्यथा । तं जीवाख्यं प्रतिप्रायः संदेहोऽस्तीत्यवादयत् ॥१९३॥

बारह करोड़ रत्नोंकी वर्षा हुई, फूल बरसे, मन्दता आदि तीन गुणोंसे युक्त वायु चलने लगी, मेघोंके भीतर छिपे देवोंके द्वारा ताडित दुन्दुभियोंका सुन्दर शब्द होने लगा और आपने बहुत अच्छा दान दिया यह घोषणा होने लगी ॥१७७–१७८॥ इस प्रकार तपस्या करते हुए जब उनकी छद्मस्थ अवस्थाके छप्पन दिन व्यतीत हो गये तब एक दिन वे रैवतक (गिरनार) पर्वतपर बेलाका नियम लेकर किसी बड़े भारी बाँसके वृक्षके नीचे विराजमान हो गये। निदान, आश्विन शुक्ला प्रतिपदाके दिन चित्रा नक्षत्रमें प्रातःकालके समय उन्हें समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। देवोंने केवलज्ञान कल्याणका उत्सव कर उनकी पूजा की ॥१७९–१८१॥ उनकी सभामें वरदत्त आदि ग्यारह गणधर थे, चार सौ श्रुतज्ञानरूपी समुद्रके पारगामी पूर्वोंके जानकार थे, ग्यारह हजार आठ सौ शिक्षक थे, पन्द्रह सौ तीन ज्ञानके धारक थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, ग्यारह सौ विक्रियाऋद्धिके धारक थे, नौ सौ मनःपर्ययज्ञानी थे और आठ सौ वादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर उनकी सभामें अठारह हजार मुनिराज थे। यक्षी, राजीमती, कात्यायनी आदि सब मिलाकर चालीस हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ थीं और संख्यात तिर्यंच थे। इस तरह बारह सभाओंसे घिरे हुए भगवान् नेमिनाथ, पापोंको नष्ट करनेवाले, धर्मोपदेशरूपी सूर्यकी किरणोंके प्रसारसे भव्य जीवरूपी कमलोंको बार-बार विकसित करते हुए समस्त देशोंमें घूमे थे। अन्तमें कृतकृत्य भगवान् द्वारावती नगरीमें आकर रैवतक गिरिके उद्यानमें विराजमान हो गये। अन्तिम नारायण कृष्ण तथा बलदेवने जब यह समाचार सुना तब वे अपनी समस्त विभूतिके साथ उनके पास गये। वहाँ जाकर उन दोनोंने वन्दना की, धर्मका स्वरूप सुना और प्रसन्नताका अनुभव किया ॥१८२–१९०॥ तदनन्तर श्रीकृष्णने कहा कि हे भगवन्! कोई तो कहते हैं कि जीव नामका पदार्थ है ही नहीं, कोई उसे नित्य मानते हैं, कोई क्षणस्थायी मानते हैं, कोई अणुसे भी सूक्ष्म मानते हैं? कोई श्यामाक नामक धान्यके बराबर मानते हैं, कोई एक अंगुष्ठ प्रमाण मानते हैं, कोई पाँचसौ योजन मानते हैं, कोई आकाशकी तरह व्यापक मानते हैं? कोई एक मानते हैं, कोई नाना मानते हैं, कोई अज्ञानी मानते हैं,

१ –रधः स्थितः ल०, म० । २ पूर्वेऽह्न्यश्वयुजे. ल० । ३ लक्षमेकं पिता घ०, ग० । ४ प्रीतिमन्तौ ल० ।

पश्यन्तु सोऽपि नैवेषुक्तोऽपि विद्ध्यस्य लक्षणम्। ध्रौव्योत्पादव्ययात्मासौ गुणी सूक्ष्मः स्वकृत्यभुक् ॥१९४॥
ज्ञाता सदेहसम्मेयः स्वसंवेद्यः सुखादिभिः। अनादिकर्मसंबन्धः सरन् गतिचतुष्टये ॥१९५॥
कालादिलब्धिमासाद्य भव्यो नष्टाष्टकर्मकः। सम्यक्त्वाद्यष्टकं प्राप्य प्राग्देहपरिमाणभृत् ॥१९६॥
ऊर्ध्वव्रज्यास्वभावत्वात् त्रिजगन्मूर्ध्नि तिष्ठति। इति जीवस्य सद्भावं जगाद जगतां गुरुः ॥१९७॥
तन्निशम्यास्तिकाः सर्वे तथेति प्रतिपेदिरे। अभव्या दूरभव्याश्च मिथ्यात्वोदयदूषिताः ॥१९८॥
नामुञ्चन् केचनानादिवासनां भववर्धिनीम्। देवकी च तथापृच्छद् वरदत्तगणेशिनम् ॥१९९॥
भगवन्मद्गृहं द्वौ द्वौ भूत्वा भिक्षार्थमागताः। बान्धवेष्विव षट्स्वेषु स्नेहः किमिति जातवान् ॥२००॥
इति सोऽपि कथामित्थं वक्तुं प्रारब्धवान्गणी[1]। जम्बूपलक्षिते द्वीपे क्षेत्रेऽस्मिन्मथुरापुरे ॥२०१॥
शौर्यदेशाधिपः शूरसेनो नाम महीपतिः। तत्रैव भानुदत्ताख्यश्रेष्ठिनः सप्त सूनवः ॥२०२॥
मातैषां यमुनादत्ता सुभानुः सकलाग्रिमः। भानुकीर्तिस्ततो भानुषेणोऽभूद् भानुशूरवाक् ॥२०३॥
पञ्चमः शूरदेवाख्यः शूरदत्तस्ततोऽप्यभूत्। सप्तमः शूरसेनाख्यः पुत्रैस्तैस्तावलंकृतौ ॥२०४॥
स्वपुण्यफलसारेण जग्मतुर्गृहमेधिताम्। धर्ममन्येद्युरभ्यर्णादाचार्याभयनन्दिनः ॥२०५॥
श्रुत्वा नृपो वणिङ्मुख्योऽप्यग्रहीष्टां[2] सुसंयमम्। जिनदत्तार्यिकाभ्यर्णे श्रेष्ठिभार्या च दीक्षिता ॥२०६॥
सप्तव्यसनसंसक्ता जाताः सप्तापि तत्सुताः। पापान्मूलहरा भूत्वा राज्ञा निर्वासिताः पुरात् ॥२०७॥

और कोई उसके विपरीत ज्ञानसम्पन्न मानते हैं। इसलिए हे भगवन्, मुझे जीव तत्त्वके प्रति सन्देह हो रहा है, इस प्रकार श्रीकृष्णने भगवान्से पूछा। भगवान् उत्तर देने लगे कि जीव तत्त्वके विषयमें अबतक आप लोगोंने जो विकल्प उठाये हैं उनमें-से इस जीवका एक भी लक्षण नहीं है यह आप निश्चित समझिए। यह जीव उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यसे युक्त है, गुणवान् है, सूक्ष्म है, अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगता है, ज्ञाता है, ग्रहण किये शरीरके बराबर है, सुख-दुःख आदिसे इसका संवेदन होता है, अनादि कालसे कर्मबद्ध होकर चारों योनियोंमें भ्रमण कर रहा है। यदि यह जीव भव्य होता है तो कालादि लब्धियोंका निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका क्षय हो जानेसे सम्यक्त्व आदि आठ गुण प्राप्त कर लेता है और मुक्त होकर चरम शरीरके बराबर हो जाता है। चूँकि इस जीवका स्वभाव ऊर्ध्वगमनका है इसलिए वह तीन लोकके ऊपर विद्यमान रहता है। इस प्रकार जगद्गुरु भगवान् नेमिनाथने जीवके सद्भावका निरूपण किया ॥१९१-१९७॥ उसे सुनकर जो भव्य जीव थे, उन्होंने जैसा भगवान्ने कहा था वैसा ही मान लिया परन्तु जो अभव्य अथवा दूरभव्य थे वे मिथ्यात्वके उदयसे दूषित होनेके कारण संसारको बढ़ानेवाली अपनी अनादि वासना नहीं छोड़ सके। तदनन्तर देवकीने वरदत्त गणधरसे पूछा कि हे भगवन्! मेरे घरपर दो-दो करके छह मुनिराज भिक्षाके लिए आये थे उन छहोंमें मुझे कुटुम्बियों-जैसा स्नेह उत्पन्न हुआ था सो उसका कारण क्या है? ॥१९८-२००॥

इस प्रकार पूछनेपर गणधर भी उस कथाको इस प्रकार कहने लगे कि इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र-सम्बन्धी मथुरा नगरमें शौर्य देशका स्वामी शूरसेन नामका राजा रहता था। उसी नगरमें भानुदत्त सेठके सात पुत्र हुए थे। उनकी माताका नाम यमुनादत्ता था। उन सात पुत्रोंमें सुभानु सबसे बड़ा था, उससे छोटा भानुकीर्ति, उससे छोटा भानुशूर, पाँचवाँ शूरदेव, उससे छोटा शूरदत्त, सातवाँ शूरसेन था। इन सातों पुत्रोंसे माता-पिता दोनों ही सुशोभित थे और वे अपने पुण्य कर्मके फलस्वरूप गृहस्थ धर्मको प्राप्त हुए थे। किसी दूसरे दिन आचार्य अभयनन्दीसे धर्मका स्वरूप सुनकर राजा शूरसेन और सेठ भानुदत्त दोनोंने उत्कृष्ट संयम धारण कर लिया। इसी प्रकार सेठकी स्त्री यमुनादत्ताने भी जिनदत्ता नामकी आर्यिकाके पास दीक्षा धारण कर ली ॥२०१-२०६॥ माता-पिताके चले जानेपर सेठके सातों पुत्र सप्त व्यसनोंमें आसक्त हो गये। उन्होंने पापमें पड़कर अपना सब मूलधन नष्ट कर दिया और ऐसी दशामें राजाने भी

---

१ गुणी ख०। २ अग्रहीष्टां ख०।

अवन्तिविषयं गत्वा विशालायाः[1] श्मशानके । शूरसेनमवस्थाप्य शेषाश्चोरयितुं पुरम् ॥२०८॥
प्राविशन्नकृतं तस्मिन्निदमन्यदुपस्थितम् । तत्पुराधिपतिर्भूपो बभूव वृषभध्वजः ॥२०९॥
भृत्यो दृढप्रहार्याख्यः स सहस्रभटः पटुः । वप्रश्रीरस्य जायाऽऽसीद् वज्रमुष्टिस्तयोः सुतः ॥२१०॥
विमलायाः सुता मङ्गी विमलेन्दुविशश्च सा । तत्प्रिया भूभुजा सार्धं वसन्ते वनमन्यदा ॥२११॥
विहर्तुमुद्यताः सर्वे तत्कालसुखलिप्सया । वप्रश्रीः सह मालाभिः कालाहिं कलशेऽक्षिपत् ॥२१२॥
स्नुषायामसूयया कार्यं नाम नास्ति हि योषिताम् । मङ्गी चोद्यानयानार्थं मालादानसमुद्यता ॥२१३॥
दष्टा वसन्तकालाग्रविषेण विषमत्तृणा । विषव्याप्तशरीरत्वादस्पन्दाभूदसौ तदा ॥२१४॥
पलालवस्त्यां सावेष्ट्य स्नुषां प्रेतवनेऽत्यजत् । वज्रमुष्टिर्वनक्रीडाविरामेऽभ्येत्य पृष्टवान् ॥२१५॥
मङ्गी क्वेत्याकुलो माताप्यसद्वार्तां न्यवेदयत् । सशोकः ससमुत्खातनिशातकरवालधृत् ॥२१६॥
तामन्वेष्टुं व्रजन्नाशौ श्मशाने योगमास्थितम् । वरधर्ममुनिं दृष्ट्वा नतजङ्घया कृताञ्जलिः ॥२१७॥
यदि पूज्य प्रियां प्रेक्षे सहस्रदलवारिजैः । त्वां समभ्यर्चयिष्यामीत्याभाष्य गतवांस्तदा ॥२१८॥
[2]वीक्षते स्म प्रियामीषच्चेतनां विषदूषिताम् । पलालवर्ति मुक्त्वाशु समानीयान्तिकं मुनेः ॥२१९॥
तेन तत्पादसंस्पर्शभेषजेनाविषीकृता । सापि सद्यः समुत्थाय प्रियस्य प्रीतिमातनोत् ॥२२०॥
गुरुप्रीतमनस्यस्मिन्नम्भोजार्थं गते सति । शूरसेनस्तदा सर्वं तत्कर्मान्तर्हितो द्रुमैः ॥२२१॥
वीक्ष्य मङ्ग्याः परीक्षार्थं तदभ्यर्णमुपागतः । स्वाङ्गसंदर्शनं कृत्वा मधुरालापचेष्टितैः ॥२२२॥

उन्हें अपने देशसे बाहर निकाल दिया ॥२०७॥ अब वे अवन्तिदेशमें पहुँचे और उज्जयिनी नगरीके श्मशानमें छोटे भाई शूरसेनको बैठाकर बाकी छह भाई चोरी करनेके लिए नगरीमें प्रविष्ट हुए ॥२०८॥ उन छहों भाइयोंके चले जानेपर उस श्मशानमें एक घटना और घटी जो कि इस प्रकार है—उस समय उज्जयिनीका राजा वृषभध्वज था, उसके एक दृढ़प्रहार नामका चतुर सहस्रभट योद्धा था, उसकी स्त्रीका नाम वप्रश्री था और उन दोनोंके वज्रमुष्टि नामका पुत्र था ॥२०९-२१०॥ उसी नगरमें विमलचन्द्र सेठकी विमला स्त्रीसे उत्पन्न हुई मंगी नामकी पुत्री थी, वह वज्रमुष्टिकी प्रिया हुई थी। किसी एक दिन वसन्त ऋतुमें उस समयका सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे सब लोग राजाके साथ वनमें जानेके लिए तैयार हुए। मंगी भी जानेके लिए तैयार हुई। उसने मालाके लिए कलशमें हाथ डाला परन्तु उसकी सास वप्रश्रीने बहूकी ईर्ष्यासे एक काला साँप मालाके साथ उस कलशमें पहलेसे ही रख छोड़ा था सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन-सा कार्य है जिसे स्त्रियाँ नहीं कर सकें ॥२११-२१३ वसन्त ऋतुके तीव्र विषवाले साँपने उस मंगीको हाथ डालते ही काट खाया जिससे उसके समस्त शरीरमें विष फैल गया और वह उसी समय निश्चेष्ट हो गयी ॥२१४॥ वप्रश्री, बहूको पयालसे लपेटकर श्मशानमें छोड़ आयी। जब वज्रमुष्टि वनक्रीड़ा समाप्त होनेपर लौटकर आया तो उसने आकुल होकर अपनी माँसे पूछा कि मंगी कहाँ है ? माताने झूठमूठ कुछ उत्तर दिया परन्तु उससे वह सन्तुष्ट नहीं हुआ। मंगीके नहीं मिलनेसे वह बहुत दुःखी हुआ और नंगी तीक्ष्ण तलवार लेकर ढूँढ़नेके लिए रात्रिमें ही चल पड़ा ॥२१५-२१६॥ उस समय श्मशानमें वरधर्म नामके मुनिराज योग धारण कर विराजमान थे। वज्रमुष्टिने भक्तिसे हाथ जोड़कर उनके दर्शन किये और कहा कि हे पूज्य ! यदि मैं अपनी प्रियाको देख सकूँगा तो सहस्रदलवाले कमलोंसे आपकी पूजा करूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा कर वज्रमुष्टि आगे गया। आगे चलकर उसने जिसे कुछ थोड़ी-सी चेतना बाकी थी, ऐसी विषसे दूषित अपनी प्रिया देखी। वह शीघ्र ही पयाल हटाकर उसे मुनिराजके समीप ले आया ॥२१७-२१९॥ और मुनिराजके चरण-कमलोंके स्पर्शरूपी ओषधिसे उसने उसे विषरहित कर लिया। मंगीने भी उठकर अपने पतिका आनन्द बढ़ाया ॥२२०॥ तदनन्तर गुरुदेवके ऊपर जिसका मन अत्यन्त प्रसन्न है ऐसा वज्रमुष्टि इधर सहस्रदल कमल लानेके लिए चला गया। उधर वृक्षोंसे छिपा हुआ शूरसेन यह सब काम देख रहा था ॥२२१॥ वह मंगीकी परीक्षा करनेके लिए उसके

१ विशालायां ग०, ख० । २ वीक्ष्यते ल० ।

लीलावलोकनैर्नर्मव्याहृतिस्वमनं भृशम् । साप्याह भवता सार्धमागमिष्यामि मां भवान् ॥२२३॥
गृहीत्वा याहीति तद्वक्तं श्रुत्वा त्वत्पतेरहम् । बिभेमि तन्न वक्तव्यमिति तेनाभिलापिता ॥२२४॥
मा भैषीस्त्वं वराकोऽसौ किं करिष्यति भीरुकः । ततो येन तवापायो न स्यात् तत् क्रियते मया ॥२२५॥
इत्यन्योन्यकथाकाले हस्तनीतसरोरुहः । वज्रमुष्टिः समागत्य करवालं प्रियाकरे ॥२२६॥
निधाय मुनिपादाब्जयुगलाभ्यर्चने नमन् । आगमत् तं[1] प्रिया तस्य प्रहर्तुमसिमुद्दधे ॥२२७॥
करेण शूरसेनोऽस्यास्तत्कृपाणिं तदैव सः । आच्छिद्य न्यपतद् भूमौ शूरसेनकराङ्गुलिम् ॥२२८॥
वज्रमुष्टिस्तदालोक्य मा भैषीरित्यभाषत । भीताहमिति सा शाठ्याददितास्मै वृथोत्तरम् ॥२२९॥
तदैव शूरसेनोऽपि भ्रातृभिर्लब्धवित्तकैः । चौर्येणात्र भवद्भागं गृहाणेत्युदितः पृथक् ॥२३०॥
स भव्योऽतिविरक्तः सन्न धनेन प्रयोजनम् । संसारादतिभीतोऽहं तद्ग्रहीष्यामि संयमम् ॥२३१॥
इत्यग्रजैरयं हेतुः कस्तपोग्रहणे तव । वदेत्युक्तः स तैश्छिन्न[2]निजहस्ताङ्गुलिव्रणम् ॥२३२॥
दर्शयित्वाऽवदत् सर्वं मङ्ग्यात्मविचेष्टितम् । तत्सुभानुः समाकर्ण्य स्त्रीनिन्दामकरोदिति ॥२३३॥
स्थानं ता एव निन्दायाः परत्रासक्तिमागताः । वर्णमात्रेण राजन्त्यो रञ्जयन्त्योऽपरान् भृशम् ॥२३४॥
आदाय कृत्रिमं रागं रागिणां नयनप्रियाः । बिभ्रतीह भृशं नानारम्याश्चित्राकृतीः स्त्रियः ॥२३५॥
सुखं विषयजं प्राप्तुं प्राप्तमाधुर्यमल्लिकाः[3] । किंपाकफलमाला वा का न हन्युर्मनोरमाः ॥२३६॥
मातरः केवलं नैताः प्रजानामेव योषितः । दोषाणामपि दुःशिक्षा दुर्विद्या इव दुःखदाः ॥२३७॥

पास आया और उसने उसे अपना शरीर दिखाकर मीठी बातों, चेष्टाओं, लीलापूर्ण विलोकनों और हँसी-मजाक आदिसे शीघ्र ही अपने वश कर लिया। वह शूरसेनसे कहने लगी कि मैं आपके साथ चलूँगी, आप मुझे लेकर चलिए। मंगीकी बात सुनकर उसने स्पष्ट कहा कि मैं तुम्हारे पतिसे डरता हूँ। इसलिए तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। उत्तरमें मंगीने कहा कि तुम डरो मत, वह नीच डरपोक तुम्हारा क्या कर सकता है ? फिर भी जिससे तुम्हारी कुछ हानि न हो वह काम मैं किये देती हूँ ।।२२२-२२५।। इस प्रकार इन दोनोंकी परस्पर बात-चीत हो रही थी कि उसी समय हाथमें कमल लिये वज्रमुष्टि आ गया। उसने अपनी तलवार तो मंगीके हाथमें दे दी और स्वयं वह भक्तिसे मुनिराजके दोनों चरण-कमलोंकी पूजा करनेके लिए नम्रीभूत हुआ। उसी समय उसकी प्रियाने उसपर प्रहार करनेके लिए तलवार उठायी परन्तु शूरसेनने उसके हाथसे उसी वक्त तलवार छीन ली। इस कर्मसे शूरसेनके हाथकी अंगुलियाँ कट-कटकर जमीनपर गिर गयीं ।।२२६-२२८।। यह देखकर वज्रमुष्टिने कहा कि हे प्रिये ! डरो मत। इसके उत्तरमें मंगीने झूठमूठ ही कह दिया कि हाँ, मैं डर गयी थी ।।२२९।। जिस समय यह सब हो रहा था उसी समय शूरसेनके छह भाई चोरीका धन लेकर आ गये और उससे कहने लगे कि हे भाई ! तू अपना हिस्सा ले ले ।।२३०।। परन्तु, वह भव्य अत्यन्त विरक्त हो चुका था अतः कहने लगा कि मुझे धनसे प्रयोजन नहीं है, मैं तो संसारसे बहुत ही डर गया हूँ इसलिए संयम धारण करूँगा ।।२३१।। उसकी बात सुनकर भाइयोंने कहा कि तेरे तप ग्रहण करनेका क्या कारण है ? सो कह। इस प्रकार भाइयोंके कहनेपर उसने अपने हाथकी कटी हुई अंगुलियोंका घाव दिखाकर मंगी तथा अपने बीचकी सब चेष्टाएँ कह सुनायीं। उन्हें सुनकर सुभानु इस प्रकार स्त्रियोंकी निन्दा करने लगा ।।२३२-२३३।। कि पर-पुरुषमें आसक्तिको प्राप्त हुई स्त्रियाँ ही निन्दाका स्थान हैं। ये वर्ण मात्रसे सुन्दर दिखती हैं और दूसरे पुरुषोंको अत्यन्त रागयुक्त कर लेती हैं। ये बनावटी प्रेमसे ही रागी मनुष्योंके नेत्रोंको प्रिय दिखती हैं और अनेक प्रकारके आभूषणोंसे रमणीय चित्र-विचित्र वेष धारण करती हैं ।।२३४-२३५।। ये विषय-सुख करनेके लिए तो बड़ी मधुर मालूम होती हैं परन्तु अन्तमें किंपाक फलके समूहके समान जान पड़ती हैं। आचार्य कहते हैं कि ये स्त्रियाँ किन्हें नहीं नष्ट कर सकती हैं अर्थात् सभीको नष्ट कर सकती हैं ।।२३६।। ये स्त्रियाँ केवल अपने पुत्रोंकी

---

१ वानमन्तं ल० । २ छिन्नं ल० । ३ -माश्रिताः ल० ।

मृदवः शीतलाः श्लक्ष्णाः प्रायः स्पर्शसुखप्रदाः। भुजङ्ग्यो नाङ्गनाः प्राणहारिण्यः पापरूपिकाः ॥२३८॥
हन्युर्दन्तान्तसंक्रान्तं विषं द्विपन्नगं न वा। [1]सर्वाङ्गं सहजाहार्यं कान्तानां हन्ति हन्तरम् ॥२३९॥
परेषां प्राणपर्यन्ताः पापिनः स्वपकारक्रियाः। हिंसानामिव कान्तानामन्तातीता कृपा द्विषः ॥२४०॥
जातिमात्रेण सर्वाश्च योषितो विषमूर्तयः। न ज्ञातमेतन्नीतिज्ञैः कुर्वन्ति विषकन्यकाः ॥२४१॥
कौटिल्यस्यावधयः क्रौर्यपर्यन्ताः पञ्चपातकाः। नार्योऽनार्याः[2] कथं न स्युरस्युद्यत[3] वधे द्विताः ॥२४२॥
ततो निर्विद्य संसारात् सानुजः स निजार्जितम्। धनं दत्त्वा स्वकान्ताभ्यो वरधर्मान्तिकेऽगमत् ॥२४३॥
जिनदत्तार्यिकाभ्याशे स्त्रियोऽपि च तपो ययुः। हेतुरासन्नभव्यानां को वा न स्यात्तपोग्रहे ॥२४४॥
सहापि कानने ऽन्येद्युरुज्जयिन्याः प्रतिष्ठितान्। वज्रमुष्टिः समासाद्य प्रणम्य विधिपूर्वकम् ॥२४५॥
हेतुना केन दीक्षेयं भवतामित्यसौ जगौ। तेऽपि [4]निर्वर्णयामासुर्दीक्षाहेतुं यथागतम् ॥२४६॥
आर्यिकाणां च दीक्षायाः पृष्ट्वा मङ्क्ष्वपि कारणम्। उपान्ते तमभ्यर्णे प्रव्रज्यामासमंगिका ॥२४७॥
वरधर्मयतेर्वज्रमुष्टिः शिष्यत्वमेयिवान्। प्रान्ते संन्यस्य सप्तापि त्रायस्त्रिंशाः स्वरादिमे ॥२४८॥
द्विसागरोपमायुष्कास्ततश्च्युत्वा स्वपुण्यतः। [5]भरते धातकीखण्डे प्राच्यखाद्रौ विश्रुते ॥२४९॥
नित्यालोकपुरे श्रीमच्चन्द्र[6]चूलमहीपतेः। ज्यायान्देव्यां मनोहार्यां सूनुश्चित्राङ्गदोऽभवत् ॥२५०॥

ही माताएँ नहीं हैं किन्तु दोषोंकी भी माताएँ हैं और जिस प्रकार बुरी शिक्षामें प्राप्त हुई बुरी विद्याएँ दुःख देती हैं उसी प्रकार दुःख देती हैं ॥२३७॥ ये स्त्रियाँ यद्यपि कोमल हैं, शीतल हैं, चिकनी हैं और प्रायः स्पर्शका सुख देनेवाली हैं तो भी सर्पिणियोंके समान प्राण हरण करनेवाली तथा पाप रूप हैं॥२३८॥ साँपोंका विष तो उनके दाँतोंके अन्तमें ही रहता है फिर भी वह किसीको मारता है और किसीको नहीं मारता है किन्तु स्त्रीका विष उसके सर्व शरीरमें रहता है वह उनका सहभावी होनेके कारण दूर भी नहीं किया जा सकता और वह हमेशा मारता ही रहता है ॥२३९॥ पापी मनुष्य दूसरे प्राणियोंका अपकार करते अवश्य हैं परन्तु उनके प्राण रहते पर्यन्त ही करते हैं मरनेके बाद नहीं करते पर दयाके साथ द्वेष रखनेवाली स्त्रियाँ हिंसाके समान मरणोत्तर कालमें भी अपकार करती रहती हैं ॥२४०॥ जिन नीतिकारोंने अलग-से विषकन्याओंकी रचना की है उन्हें यह मालूम नहीं रहा कि सभी स्त्रियाँ उत्पत्ति मात्रसे अथवा स्त्रीत्व जाति मात्रसे विषकन्याएँ होती हैं ॥२४१॥ ये स्त्रियाँ कुटिलताकी अन्तिम सीमा हैं, इनकी क्रूरताका पार नहीं है, ये सदा पाँच पाप रूप रहती हैं और इनकी चेष्टाएँ सदा तलवार उठाये रखनेवाले पुरुषके समान दुष्टतापूर्ण रहती हैं फिर ये अनार्य अर्थात् म्लेच्छ क्यों न कही जावें ॥२४२॥ इस प्रकार सुभानुने अपने भाइयोंके साथ संसारसे विरक्त होकर अपना सब कमाया हुआ धन स्त्रियोंके लिए दे दिया और उन्हीं वरधर्म मुनिराजसे दीक्षा धारण कर ली ॥२४३॥ उनकी स्त्रियोंने भी जिनदत्ता नामक आर्यिकाके समीप तप ले लिया सो ठीक ही है क्योंकि निकट भव्य जीवोंके तप ग्रहण करनेमें कौन-सा हेतु नहीं हो जाता अर्थात् वे अनायास ही तप ग्रहण कर लेते हैं ॥२४४॥ दूसरे दिन ये सातों ही भाई उज्जयिनी नगरीके उपवनमें पधारे तब वज्रमुष्टिने पास जाकर उन्हें विधिपूर्वक प्रणाम किया और पूछा कि आप लोगोंने यह दीक्षा किस कारणसे ली है ? उन्होंने दीक्षा लेनेका जो यथार्थ कारण था वह बतला दिया। इसी प्रकार वज्रमुष्टिकी स्त्री मंगीने भी उन आर्यिकाओंसे दीक्षाका कारण पूछा और यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उन्हींके समीप दीक्षा धारण कर ली। वज्रमुष्टि वरधर्म मुनिराजका शिष्य बन गया। सुभानु आदि सातों मुनिराज आयुके अन्तमें संन्यासमरण कर प्रथम स्वर्गमें त्रायस्त्रिंश जातिके देव हुए ॥२४५-२४८॥ वहाँ दो सागर प्रमाण उनकी आयु थी। वहाँसे च्युत होकर, अपने पुण्य प्रभावसे धातकीखण्ड द्वीपमें भरतक्षेत्र-सम्बन्धी विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें जो नित्यालोक नामका नगर है उसके राजा चन्द्रचूलकी मनोहरी रानीसे सुभानुका जीव चित्रांगद नामका पुत्र हुआ

१ सर्वाङ्गं ख०, घ०। २ न आर्याः अनार्याः म्लेच्छा इत्यर्थः। ३–रत्यद्भुत–ल०। ४ निर्वेदयामासु- ल०। ५ भारते ख०, ग०, घ०। ६ चित्रकूट ग०, ख०।

इतरेऽपि तयोरेव त्रयस्ते जज्ञिरे यमाः । ध्वजवाहनशब्दान्तगरुडौ मणिचूलकः ॥२५१॥
पुष्पचूलाह्वयो नन्दनचरो गगनादिकौ । तत्रैव दक्षिणश्रेण्यां नृपो मेघपुराधिपः ॥२५२॥
धनंजयोऽस्य सर्वश्रीर्जाया तस्याः सुताऽभवत् । धनश्रीः श्रीरिवान्यैषा तत्रैवान्यो महीपतिः ॥२५३॥
ख्यातो नन्दपुराधीशो हरिषेणो हरिर्द्विषाम् । श्रीकान्ताऽस्य प्रिया तस्यां सुतोऽभूद्धरिवाहनः ॥२५४॥
धनश्रियोऽयं सम्बन्धेन मैथुनः प्रथितो गुणैः । तत्रैव नगरेऽयोध्यायां स्वयंवरकर्मणि ॥२५५॥
मालां संप्रापयत् प्रीत्या धनश्रीर्हरिवाहनम् । चक्रवांस्तदयोध्यायां पुष्पदन्तमहीपतिः ॥२५६॥
तस्य प्रीतिंकरी देवी तत्सूनुः पापपण्डितः । धनश्रियं सुदत्तोऽकान्निहत्य हरिवाहनम् ॥२५७॥
तन्निर्वेगेण चित्रांगदाद्याः सप्तापि संयमम् । भूतानन्दाख्यतीर्थेशपादमूले समाश्रयन् ॥२५८॥
ते कालान्तेऽभवन् कल्पे तुर्ये सामानिकाः सुराः । सप्ताब्ध्यायुः स्थितिप्रान्ते ततः प्रच्युत्य भारते ॥२५९॥
कुरुजाङ्गलदेशेऽस्मिन् हास्तिनाख्यपुरेऽभवत् । बन्धुमत्यां सुतः श्वेतवाहनाख्यवणिक्पतेः ॥२६०॥
शङ्खो नाम धनद्योऽपि सुभानुर्धनदः स्वयम् । तत्पुराधिपतेर्गङ्गदेवनामधरेशिनः ॥२६१॥
तद्देव्या नन्दयशसः शेषास्ते यमकास्त्रयः । गङ्गाख्यो गङ्गदेवश्च गङ्गमित्रश्च नन्दवाक् ॥२६२॥
सुनन्दो नन्दिषेणश्च जाताः स्निग्धाः परस्परम् । गर्भेऽप्यस्मिन् महीनाथस्तस्यामासीन्निरुत्सुकः ॥२६३॥
तदौदासीन्यमुत्पन्नपुत्रहेतुकमित्यसौ । न्यदिशद् रेवतीं धात्रीं तदपत्यनिराकृतौ ॥२६४॥
तं सा नन्दयशोज्येष्ठबन्धुमत्यै समर्पयत् । निर्नामकाख्यां तत्राप्य परेद्युर्नन्दने वने ॥२६५॥
प्रपश्यन् सहभुञ्जानान् षण्नरेशसुतान् समम् । त्वमप्यमीभिर्भुङ्क्ष्वेति शङ्खेन समुदाहृतम् ॥२६६॥

॥२४९-२५०॥ बाकी छह भाइयोंके जीव भी इन्हीं चन्द्रचूल राजा और मनोहरी रानीके दो-दो करके तीन बारमें छह पुत्र हुए। गरुडध्वज, गरुडवाहन, मणिचूल, पुष्पचूल, गगननन्दन और गगनचर ये उनके नाम थे। उसी धातकीखण्डद्वीपके पूर्व भरत क्षेत्रमें विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक मेघपुर नामका नगर है। उसमें धनंजय राजा राज्य करता था। उसकी रानीका नाम सर्वश्री था, उन दोनोंके धनश्री नामकी पुत्री थी जो सुन्दरतामें मानो दूसरी लक्ष्मी ही थी। उसी विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीमें एक नन्दपुर नामका नगर है उसमें शत्रुओंके लिए सिंहके समान राजा हरिषेण राज्य करता था। उसकी स्त्रीका नाम श्रीकान्ता था और उन दोनोंके हरिवाहन नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था। वह गुणोंसे प्रसिद्ध हरिवाहन नातेमें धनश्रीके भाईका साला था। उसी भरतक्षेत्रके अयोध्यानगरमें धनश्रीका स्वयंवर हुआ उसमें धनश्रीने बड़े प्रेमसे हरिवाहनके गलेमें वरमाला डाल दी। उसी अयोध्यामें पुष्पदन्त नामका चक्रवर्ती राजा था। उसकी प्रीतिंकरी स्त्री थी और उन दोनोंके पापकार्यमें पण्डित सुदत्त नामका पुत्र था। सुदत्तने हरिवाहनको मारकर धनश्रीको स्वयं ग्रहण कर लिया ॥२५१-२५७॥ यह सब देखकर चित्रांगद आदि सातों भाई विरक्त हो गये और उन्होंने श्रीभूतानन्द तीर्थंकरके चरणमूलमें जाकर संयम धारण कर लिया। आयुका अन्त होनेपर वे सब चतुर्थ स्वर्गमें सामानिक जातिके देव हुए। वहाँ सात सागरकी उनकी आयु थी। उसके बाद वहाँसे च्युत होकर इसी भरतक्षेत्रके कुरुजांगल देशसम्बन्धी हस्तिनापुर नगरमें सेठ श्वेतवाहनके उसकी स्त्री बन्धुमतीसे सुभानुका जीव शंख नामका पुत्र हुआ। वह सुभानु धन-सम्पदामें स्वयं कुबेर था। उसी नगरमें राजा गंगदेव रहता था। उसकी स्त्रीका नाम नन्दयशा था, सुभानुके बाकी छह भाइयोंके जीव उन्हीं दोनोंके दो-दो कर तीन बारमें छह पुत्र हुए। गंग, गंगदेव, गंगमित्र, नन्द, सुनन्द और नन्दिषेण ये उनके नाम थे। ये छहों भाई परस्परमें बड़े स्नेहसे रहते थे। नन्दयशाके जब सातवाँ गर्भ रहा तब राजा उससे उदास हो गया, रानीने राजाकी इस उदासीका कारण गर्भमें आया बालक ही समझा इसलिए उसने रेवती धायको आज्ञा दे दी कि तू इस पुत्रको अलग कर दे ॥१५८-२६४॥ रेवती भी उत्पन्न होते ही वह पुत्र नन्दयशाकी बड़ी बहन बन्धुमतीके लिए सौंप आयी। उसका नाम निर्नामक रखा गया। किसी एक दिन ये सब लोग नन्दनवनमें गये, वहाँपर राजाके छहों पुत्र एक साथ खा रहे थे, यह देखकर शंखने निर्नामकसे कहा कि तू भी इनके साथ खा।

स्थितो भोक्तुमसौ नन्दयशास्तं वीक्ष्य कोपिनी । कस्यायमिति पादेनाहंस्तावन्वभूतां शुचम् ॥२६७॥
शङ्खनिर्नामकौ राज्ञा कदाचित् सह वन्दितुम् । द्रुमसेनमुनिं यातावधिज्ञानलोचनम् ॥२६८॥
अभिवन्द्य ततो धर्मश्रवणानन्तरं पुनः । निर्नामकाय किं नन्दयशाः कुप्यत्यकारणम् ॥२६९॥
इति शङ्खेन पृष्टोऽसौ मुनिरेवमभाषत । सुराष्ट्रविषये राजा गिर्यादिनगराधिपः ॥२७०॥
अभूच्चित्ररथो नाम तस्यामृतरसायनः । सूपकारः पलं पक्तुं कुशलोऽस्मै प्रतुष्टवान् ॥२७१॥
अदित द्वादशग्रामान् महीशो मांसलोलुपः । स कदाचित् सुधर्माख्ययत्यभ्याशे श्रुतागमः ॥२७२॥
श्रद्धाय बोधिमासाद्य राज्यं मेघरथे सुते । नियोज्य संयतो जातः सुतोऽपि श्रावकोऽजनि ॥२७३॥
ततः सूपरसग्रामानेकशेषं समाहरत् । सोऽन्येद्युर्बद्धवैरः सन् सर्वसंसारसंस्कृतम् ॥२७४॥
[1]कोशातकीफलं पक्वं मुनीन्द्रं तमभोजयत् । ऊर्जयन्तगिरौ सोऽपि तन्निमित्तं गतासुकः ॥२७५॥
सम्यगाराध्य संभूतः कल्पातीतेऽपराजिते । जघन्यतद्गतायुः सन्नहमिन्द्रो महर्द्धिकः ॥२७६॥
सूपकारोऽपि कालान्ते तृतीयनरकं गतः । ततो निर्गत्य संसारे सुदुःखः सुचिरं भ्रमन् ॥२७७॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे विषये मङ्गलाह्वये । पलाशकूटग्रामस्य यक्षदत्तगृहेशिनः ॥२७८॥
सुतो यक्षादिदत्तायां यक्षनामा बभूव सः । तयोर्यक्षिलसंज्ञश्च सूनुरन्योऽप्यजायत ॥२७९॥
तयोः स्वकर्मणा ज्येष्ठो नाम्ना निरनुकम्पनः । सानुकम्पोऽपरोऽभावि जनैरर्थानुसारिभिः ॥२८०॥
कदाचित् सानुकम्पेन वार्यमाणोऽपि सोऽपरः । मार्गस्थितान्धसर्पस्य दयाक्रूरो वृषोपरि ॥२८१॥

शंखके कहनेसे निर्नामक उनके साथ खानेके लिए बैठा ही था कि नन्दयशा उसे देखकर क्रोध करने लगी और 'यह किसका लड़का है' यह कहकर उसे एक लात मार दी। इस प्रकरणसे शंख और निर्नामक दोनोंको बहुत शोक हुआ। किसी एक दिन शंख और निर्नामक दोनों ही राजाके साथ-साथ अवधिज्ञानी द्रुमसेन नामक मुनिराजकी वन्दनाके लिए गये। दोनोंने मुनिराजकी वन्दना की, धर्मश्रवण किया और तदनन्तर शंखने मुनिराजसे पूछा कि नन्दयशा निर्नामकसे अकारण ही क्रोध क्यों करती है? इस प्रकार पूछे जानेपर मुनिराज कहने लगे कि सुराष्ट्र देशमें एक गिरिनगर नामका नगर है। उसके राजाका नाम चित्ररथ था। चित्ररथके एक अमृत-रसायन नामका रसोइया था। वह मांस पकानेमें बहुत ही कुशल था इसलिए मांस-लोभी राजाने सन्तुष्ट होकर उसे बारह गाँव दे दिये थे। एक दिन राजा चित्ररथने सुधर्म नामक मुनिराजके समीप आगमका उपदेश सुना ॥२६५-२७२॥ उसकी श्रद्धा करनेसे राजाको वैराग्य-की प्राप्ति हो गयी। जिसके फलस्वरूप वह मेघरथ पुत्रके लिए राज्य देकर दीक्षित हो गया और राजपुत्र मेघरथ भी श्रावक बन गया ॥२७३॥ तदनन्तर राजा मेघरथने रसोइयाके पास एक ही गाँव बचने दिया, बाकी सब छीन लिये। 'इन मुनिके उपदेशसे ही राजाने मांस खाना छोड़ा है और उनके पुत्रने हमारे गाँव छीने हैं' ऐसा विचार कर वह रसोइया उक्त मुनिराजसे द्वेष रखने लगा। एक दिन उस रसोइयाने सब प्रकारके मसालोंसे तैयार की हुई कड़वी तुमड़ी-का आहार उन मुनिराजके लिए करा दिया। जिससे गिरनार पर्वतपर जाकर उनका प्राणान्त हो गया। वे समाधिमरण कर अपराजित नामक कल्पातीत विमानमें वहाँकी जघन्य आयु पाकर बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक अहमिन्द्र हुए। रसोइया आयुके अन्तमें तीसरे नरक गया और वहाँसे निकलकर अनेक दुःख भोगता हुआ चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता रहा ॥२७४-२७७॥ तद-नन्तर इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र-सम्बन्धी मंगलदेशमें पलाशकूट नगरके यक्षदत्त गृहस्थके उसकी यक्षदत्ता नामकी स्त्रीसे यक्ष नामका पुत्र हुआ। कुछ समय बाद उन्हीं यक्षदत्त और यक्षदत्ताके एक यक्षिल नामका दूसरा पुत्र भी उत्पन्न हुआ। उन दोनों भाइयोंमें बड़ा भाई अपने कर्मोंके अनुसार निरनुकम्प-निर्दय था इसलिए लोग उसे उसकी क्रियाओंके अनुसार निरनुकम्प कहते थे और छोटा भाई सानुकम्प था-दया सहित था इसलिए लोग उसे सानुकम्प कहा करते थे ॥२७८-२८०॥ किसी एक दिन दोनों भाई गाड़ीमें बैठकर कहीं जा रहे थे। मार्गमें एक अन्धा

---

१ घोषातकी ल० ।

शकटं भाण्डसंपूर्णं बलीवर्दैरयोजयत् । सर्पस्तन्मर्दितोऽकामनिर्जरो विगतासुकः ॥२८२॥
[1]पुरे श्वेतविकानाम्नि वासवस्य महीपतेः । [2]वसुंधर्या सुता नन्दयशाः समुदपाद्यसौ ॥२८३॥
पुनर्निरनुकम्पश्च भ्रात्रा दुःखनिमित्तकम् । त्वयेदृशं न कर्तव्यमित्युक्तः शममागतः ॥२८४॥
स्वायुरन्ते समुत्पन्नः सोऽयं निर्नामकाख्यया । ततः पूर्वभवोपात्तपापस्य परिपाकतः ॥२८५॥
जायते नन्दयशसः कोपो निर्नामकं प्रति । इति तस्य वचः श्रुत्वा ते निर्वेगपरायणाः ॥२८६॥
[3]नरेन्द्रषट्सुता दीक्षां शङ्खो निर्नामकोऽप्ययुः । तथा नन्दयशा रेवतीनामादित संयमम् ॥२८७॥
सुव्रताख्यार्थिकाभ्याशे पुत्रस्नेहाहितेच्छया । अन्यजन्मनि भावि.पामेव लाभे च वर्धने ॥२८८॥
ते निदानं विमूढत्वादुभे चाकुरुतां समम् । ततः सर्वे तपः कृत्वा समाराध्य यथोचितम् ॥२८९॥
महाशुक्रे समुत्पन्नाः प्रान्ते सामानिकाः सुराः । षोडशाब्ध्युपमायुष्का दिव्यभोगवशीकृताः ॥२९०॥
ततः प्रच्युत्य शङ्खोऽभूद् बलदेवो हलायुधः । मृगावत्याख्यविषये दशार्णपुरभूपतेः ॥२९१॥
देवसेनस्य चोत्पन्ना धनदेव्याश्च देवकी । त्वं सा नन्दयशाः स्त्रीत्वमुपगम्य निदानतः ॥२९२॥
भद्रिलपुरे देशे मलयेऽजनि रेवती । सुदृष्टेः श्रेष्ठिनः श्रेष्ठा श्रेष्ठिनी साऽलकाख्यया ॥२९३॥
प्राक्तनाः षट्कुमाराश्च यमा भूतास्तव त्रयः । तदानीमेव शक्रस्य निर्देशात् कंसतो भयात् ॥२९४॥
ते नैगमर्षिणा नीताः श्रेष्ठिन्या स्वालकाख्यया । वर्धिता देवदत्तश्च देवपालोऽनुजस्ततः ॥२९५॥
अनीकदत्तश्चानीकपालः शत्रुघ्नसंज्ञकः । जितशत्रुश्च जन्मन्येवात्र निर्वृतिगामिनः ॥२९६॥
नवे वयसि दीक्षित्वा भिक्षार्थं पुरमागताः । त्वया दृष्टास्ततस्तेषु स्नेहो जन्मान्तरागतः ॥२९७॥

साँप बैठा था। सानुकम्पके रोकनेपर भी दयासे दूर रहनेवाले निरनुकम्पने उस अन्धे साँपपर बरतनोंसे भरी गाड़ी बैलोंके द्वारा चला दी। उस गाड़ीके भारसे साँप कट गया और अकाम-निर्जरा करता हुआ मर गया ॥२८१-२८२॥ मरकर श्वेतविका नामके नगरमें वहाँके राजा वासवके उसकी रानी वसुन्धरासे नन्दयशा नामकी पुत्री हुआ ॥२८३॥ छोटे भाई सानुकम्पने निरनुकम्प नामक अपने बड़े भाईको फिर भी समझाया कि आपको इस प्रकार दूसरोंको दुःख देनेवाला कार्य नहीं करना चाहिए। इस प्रकार समझाये जानेपर वह शान्तिको प्राप्त हुआ ॥२८४॥ यही निरनुकम्प आयुके अन्तमें मरकर यह निर्नामक हुआ है। पूर्वभवमें उपार्जन किये हुए पापकर्मके उदयसे ही नन्दयशाका निर्नामकके प्रति क्रोध रहता है। राजा द्रुमसेनके यह वचन सुनकर राजाके छहों पुत्र, शंख तथा निर्नामक सब विरक्त हुए और सभीने दीक्षा धारण कर ली। इसी प्रकार पुत्रोंके स्नेहसे उत्पन्न हुई इच्छासे रानी नन्दयशा तथा रेवती धायने भी सुव्रता नामक आर्यिकाके समीप संयम धारण कर लिया। किसी एक दिन उन दोनों आर्यिकाओंने मूर्खतावश निदान किया। नन्दयशाने तो यह निदान किया कि 'आगामी जन्ममें भी ये मेरे पुत्र हों' और रेवतीने निदान किया कि 'मैं इनका पालन करूँ'। तदनन्तर तपश्चर्या कर और अपनी योग्यताके अनुसार आराधनाओंकी आराधना कर आयुके अन्तमें वे सब महाशुक्र स्वर्गमें सामानिक जातिके देव हुए। वहाँ सोलह सागरकी उनकी आयु थी और सब दिव्य भोगोंके वशीभूत रहते थे ॥२८५-२९०॥ वहाँसे च्युत होकर शंखका जीव हलको धारण करनेवाला बलदेव हुआ है और नन्दयशाका जीव मृगावती देशके दशार्णपुर नगरके राजा देवसेनकी रानी धनदेवीसे देवकी नामकी पुत्री पैदा हुई है। निदान-बन्धके कारण ही तू स्त्रीपर्यायको प्राप्त हुई है ॥२९१-२९२॥ रेवतीका जीव मलय देशके भद्रिलपुर नगरमें सुदृष्टि सेठकी अलका नामकी सेठानी हुई है। पहलेके छहों पुत्रोंके जीव दो-दो करके तीन बारमें तेरे छह पुत्र हुए। उसी समय इन्द्रकी आज्ञासे कंसके भयके कारण नैगमर्षि देवने उन्हें अलका सेठानीके घर रख दिया था इसलिए अलकाने ही उन पुत्रोंका पालन किया है। देवदत्त, देवपाल, अनीकदत्त, अनीकपाल, शत्रुघ्न और जितशत्रु ये उन छहों पुत्रोंके नाम हैं, ये सभी इसी भवसे मोक्ष प्राप्त करेंगे ॥२९३-२९६॥ ये सब नयी अवस्थामें ही दीक्षा लेकर भिक्षाके लिए नगरमें आये थे इसलिए इन्हें देखकर तेरा पूर्वजन्मसे चला

---

१ पुर- ख० । २ वसुधार्या ल० । ३ नरेन्द्रः ल० ।

स्वयंभूकेशवैश्वर्यं [1]तपःकाले निरीक्ष्य सः । निर्नामकसुतस्तेऽद्य कंसशत्रुरजायत ॥२९८॥
त्वं कुतस्ते कुतः कोऽयं संबन्धो निर्निबन्धनः । विधेर्विलसितं चित्रमगम्यं योगिनामपि ॥२९९॥
इति नैसर्गिकाशेषभव्यानुग्रहभावुकः । न्यगदद्भगवानेवं भक्त्यावन्दत देवकी ॥३००॥
अथानन्तरमेवैनं सत्यभामापि [2]भाक्तिका । स्वपूर्वभवसंबन्धमप्राक्षीदक्षरावधिम् ॥३०१॥
सोऽपि व्यापारयामास तदभीष्टनिवेदने । न हेतुः कृतकृत्यानामस्त्यन्योऽनुग्रहादिना ॥३०२॥
शीतलाख्यजिनाधीशतीर्थे धर्मे विनश्यति । भद्रिलाख्यपुराधीशो नाम्ना मेघरथो नृपः ॥३०३॥
प्रेयसी तस्य नन्दाख्या भूतिशर्मा द्विजाग्रणीः । तस्यासीत् कमला पत्नी मुण्डशालायनस्तयोः ॥३०४॥
तनुजो वेदवेदाङ्गपारगो भोगसक्तधीः । वृथा तपःपरिक्लेशो मूर्खैरेव प्रकल्पितः ॥३०५॥
निर्धनैः परलोकार्थं स्वयं साहसशालिभिः । भूसुवर्णादिदानेन सुखमिष्टमवाप्यते ॥३०६॥
इतीत्यादिकुदृष्टान्तकुहेतुनिपुणैर्नृपम् । कायक्लेशासहं वाक्यैरयथार्थमबूबुधत् ॥३०७॥
तथा परांश्च दुर्बुद्धीन् बोधयन् जीवितावधौ । भूत्वा सप्तमभूमिस्थस्तिर्यक्षु च भ्रमात् ॥३०८॥
गन्धमादनकुध्रोत्थ[3]महागन्धवतीनदीः । समीपगत[4]भल्लङ्कीनामपल्ल्यां स्वपापतः ॥३०९॥
जातो वनेचरः कालसंज्ञः स तु कदाचन । वरधर्मयतिं प्राप्य मध्वादिविनिवृत्तितः ॥३१०॥
विजयार्धेऽलकापुर्याः पत्युः पुरबलस्य च । ज्योतिर्मालाभिधायाश्च सुतो हरिबलोऽभवत् ॥३११॥

आया स्नेह इनमें उत्पन्न हो गया है ॥२९७॥ पूर्व जन्ममें जो तेरा निर्नामक नामका पुत्र था उसने तपश्चरण करते समय स्वयम्भू नारायणका ऐश्वर्य देखकर निदान किया था अतः वह कंसका मारनेवाला श्री कृष्ण हुआ है ॥२९८॥ गणधर देव देवकीसे कहते हैं कि 'हे देवकी ! तू कहाँसे आयी ? तेरे ये पुत्र कहाँसे आये ? और बिना कारण ही इनके साथ यह सम्बन्ध कैसे आ मिला ? इसलिए जान पड़ता है कि कर्मका उदय बड़ा विचित्र है और योगियोंके द्वारा भी अगम्य है' । इस प्रकार स्वभावसे ही समस्त भव्य जीवोंका उपकार करनेवाले गणधर भगवान्ने यह सब कथा कही । कथा सुनकर देवकीने उन्हें बड़ी भक्तिसे वन्दना की ॥२९९-३००॥

तदनन्तर—भक्तिसे भरी सत्यभामाने भी, अक्षरावधिको धारण करनेवाले गणधर भगवान्से अपने पूर्व भवोंका सम्बन्ध पूछा ॥३०१॥ तब गणधर भगवान् भी उसका अभीष्ट कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि कृतकृत्य मनुष्योंका अनुग्रहको छोड़कर और दूसरा कार्य नहीं रहता है ॥३०२॥ वे कहने लगे कि शीतलनाथ भगवान्के तीर्थमें जब धर्मका विच्छेद हुआ तब भद्रिलपुर नगरमें राजा मेघरथ राज्य करता था, उसकी रानीका नाम नन्दा था । उसी समय उस नगरमें भूतिशर्मा नामका एक श्रेष्ठ ब्राह्मण था, उसकी कमला नामकी स्त्री थी और उन दोनोंके मुण्डशालायन नामका पुत्र था । मुण्डशालायन यद्यपि वेदवेदांगका पारगामी था परन्तु साथ ही उसकी बुद्धि हमेशा भोगोंमें आसक्त रहती थी इसलिए वह कहा करता था कि तपका क्लेश उठाना व्यर्थ है, जिनके पास धन नहीं है ऐसे साहसी मूर्ख मनुष्योंने ही परलोकके लिए इस तपके क्लेशकी कल्पना की है । वास्तवमें पृथ्वीदान, सुवर्ण-दान आदिसे ही इष्ट सुख प्राप्त होता है । इस प्रकार उसने अनेक कुदृष्टान्त और कुहेतुओंके बतलानेमें निपुण वाक्योंके द्वारा कायक्लेशके सहनेमें असमर्थ राजाको झूठमूठ उपदेश दिया । राजाको ही नहीं, अन्य दुर्बुद्धि मनुष्योंके लिए भी वह अपने जीवन-भर ऐसा ही उपदेश देता रहा । अन्तमें मरकर वह सातवें नरक गया । वहाँसे निकलकर तिर्यंच हुआ । इस तरह नरक और तिर्यंच गतिमें घूमता रहा ॥३०३-३०८॥ अनुक्रमसे वह गन्धमादन पर्वतसे निकली हुई गन्धवती नदीके समीपवर्ती भल्लंकी नामकी पल्लीमें अपने पापकर्मके उदयसे काल नामका भील हुआ । उस भीलने किसी समय वरधर्म नामक मुनिराजके पास जाकर मधु आदि तीन मकारोंका त्याग किया था । उसके फलस्वरूप वह विजयार्ध पर्वतपर अलकानगरीके राजा पुरबल और उनकी रानी ज्योतिर्मालाके हरिबल नामका पुत्र हुआ । उसने अनन्तवीर्य नामके मुनिराजके पास द्रव्य-संयम धारण कर लिया जिसके

---

१ तपकाले ल० । २ भाक्तिका ल० । ३ कूटोत्थ ल० । कुध्रः पर्वतः । ४ भल्लंकि ल० ।

अनन्तवीर्ययत्यन्ते गृहीत्वा द्रव्यसंयमम् । सौधर्मकल्पे संभूय कालान्ते प्रच्युतस्ततः ॥३१२॥
सुकेतोर्विजयार्धाद्रौ रथनूपुरभूपतेः । सुता स्वयंप्रभायाश्च सत्यभामा त्वमित्यभूः ॥३१३॥
पित्रा ते मेऽस्यद्य कस्य सुता पत्नी भविष्यति । इत्युक्तोऽ[1]नुनिमित्तादिकुशलाख्योऽर्धचक्रिणः ॥३१४॥
भविष्यति महादेवीत्याख्यन्नैमित्तिकोत्तमः । इत्युदीरितमाकर्ण्य सत्यभामाऽतुषत्तराम् ॥३१५॥
रुक्मिण्याथ महादेव्या प्रणम्य स्वभवान्तरम् । परिपृष्टः [2]परार्थेहो व्याजहारेति इत्यवान् ॥३१६॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे मगधाख्यसरवर्तिनि । लक्ष्मीग्रामे द्विजः सोमोऽस्याभूल्लक्ष्मीमतिः प्रिया ॥३१७॥
प्रसाधिताङ्गी साऽन्येद्युर्दर्पणालोकनोद्यता । समाधिगुप्तमालोक्य मुनिं भिक्षार्थमागतम् ॥३१८॥
प्रस्वेदमलदिग्धाङ्गो दुर्गन्धोऽयमिति क्रुधा । विचिकित्सापरा साधिक्षेपाण्युद्गारिणी तदा ॥३१९॥
सहसोदुम्बराख्येन कुष्ठेन व्याप्तदेहका । शुनीव तर्ज्यमाना सा जनैः परुषभाषितैः ॥३२०॥
शून्यगेहेऽतिदुःखेन मृत्वा स्नेहाद्विराशया । गेहेऽस्यैव द्विजस्याभूद् दुर्गन्धश्छिक्कराशुकः ॥३२१॥
तस्योपरि मुहुर्धावंस्तेन कोपवता बहिः । गृहीत्वा निष्ठुरं क्षिप्तो मृतात्र्याऽहिरजायत ॥३२२॥
तत्रैवासौ पुनर्मृत्वा गर्दभोऽभूत् स्वपापतः । मुहुर्मुहुर्गृहं गच्छंस्तदैव कुपितैर्द्विजैः ॥३२३॥
हतो लकुटपाषाणैर्भग्नपादः कृमिव्रणैः । आकुलः पतितः कूपे दुःखितो मृतिमागतः ॥३२४॥
ततोऽन्धा[3]हिः समुत्पन्नो मृत्वान्धश्चाथ सूकरः । ग्रामे श्वभिः भक्षितो मृत्वा सोऽपि श्वभिरतोऽमुतः ॥३२५॥
मत्स्यस्य मन्दिरग्रामे नद्युत्तरणकारिणः । मण्डूक्याश्च सुता जाता पूतिका नाम पापिनी ॥३२६॥

प्रभावसे वह मरकर सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ, वहाँसे च्युत होकर उसी विजयार्ध पर्वतपर रथनूपुर नगरके राजा सुकेतुके उनकी स्वयम्प्रभा रानीसे तू सत्यभामा नामकी पुत्री हुई। एक दिन तेरे पिताने निमित्त आदिके जाननेमें कुशल किसी निमित्तज्ञानीसे पूछा कि मेरी यह पुत्री किसकी पत्नी होगी? इसके उत्तरमें उस श्रेष्ठ निमित्तज्ञानीने कहा था कि यह अर्धचक्रवर्तीकी महादेवी होगी। इस प्रकार गणधरके द्वारा कहे हुए अपने भव सुनकर सत्यभामा बहुत सन्तुष्ट हुई ॥३०६-३१५॥

अथानन्तर—महादेवी रुक्मिणीने नमस्कार कर अपने भवान्तर पूछे और जिनकी समस्त चेष्टाएँ परोपकारके लिए ही थीं ऐसे गणधर भगवान् कहने लगे ॥३१६॥ कि भरत क्षेत्र सम्बन्धी मगध देशके अन्तर्गत एक लक्ष्मीग्राम नामका ग्राम है। उसमें सोम नामका एक ब्राह्मण रहता था, उसकी स्त्रीका नाम लक्ष्मीमति था। किसी एक दिन लक्ष्मीमति ब्राह्मणी, आभूषणादि पहनकर दर्पण देखनेके लिए उद्यत हुई थी कि इतनेमें समाधिगुप्त नामके मुनि भिक्षाके लिए आ पहुँचे। 'इसका शरीर पसीना तथा मैलसे लिप्त है और यह दुर्गन्ध दे रहा है' इस प्रकार क्रोध करती हुई लक्ष्मीमतिने घृणासे युक्त होकर निन्दाके वचन कहे ॥३१७-३१९॥ मुनि-निन्दाके पापसे उसका समस्त शरीर उदुम्बर नामक कुष्ठसे व्याप्त हो गया इसलिए वह जहाँ जाती थी वहींपर लोग उसे कठोर शब्द कहकर कुत्तीके समान दुत्कार कर भगा देते थे ॥३२०॥ वह सूने मकानमें पड़ी रहती थी, अन्तमें हृदयमें पतिका स्नेह रख बड़े दुःखसे मरी और उसी ब्राह्मणके घर दुर्गन्ध युक्त छछूँदर हुई ॥३२१॥ वह पूर्व पर्यायके स्नेहके कारण बार-बार पतिके ऊपर दौड़ती थी इसलिए उसने क्रोधित होकर उसे पकड़ा और बाहर ले जाकर बड़ी दुष्टतासे दे पटका जिससे मरकर उसी ब्राह्मणके घर साँप हुई ॥३२२॥ फिर मरकर अपने पापकर्मके उदयसे वहीं गधा हुई, वह बार-बार ब्राह्मणके घर आता था इसलिए ब्राह्मणोंने कुपित होकर उसे लाठी तथा पत्थर आदिसे ऐसा मारा कि उसका पैर टूट गया, घावोंमें कीड़े पड़ गये जिनसे व्याकुल होकर वह कुएँमें पड़ गया और दुःखी होकर मर गया ॥३२३-३२४॥ फिर अन्धा साँप हुआ, फिर मरकर अन्धा सुअर हुआ, उस सुअरको गाँवके कुत्तोंने खा लिया जिससे मरकर मन्दिर नामक गाँवमें नदी पार करानेवाले मत्स्य नामक धीवरकी मण्डूकी नामकी स्त्रीसे पूतिका नामकी पापिनी पुत्री हुई। उत्पन्न होते ही

1 इत्युक्तोऽसौ ख०। 2 परार्थेऽस्य: ख०, ग०। परार्था ईहा यस्य सः परार्थेहः। 3 ततो बहिः समुत्पन्नो ख०।

स्वोत्पत्त्यनन्तरं लोकान्तरं यातः पिता ततः । माता च पोषिता मातामह्या सर्वाशुभाङ्गिका ॥३२७॥
विचिकित्स्या नदीतीरवर्तिनी सा कदाचन । समाधिगुप्तमालोक्य नदीतीरे पुरातनम् ॥३२८॥
काललब्ध्या समासाद्य प्रतिमायोगधारिणम् । गृहीतोपशमा योगिदेहस्थमशकादिकम् ॥३२९॥
अपास्यन्ती प्रयत्नेन निशान्ते योगनिष्ठितौ । उपविष्टस्य पादाब्जमुपाश्रित्योदितं मुनेः ॥३३०॥
श्रुत्वा धर्मं धियादत्त पर्वोपवसतिं सुधीः । परेद्युर्जिनपूजार्थं गच्छन्तीं वीक्ष्य चार्यिकाम् ॥३३१॥
ग्रामान्तरं समं गत्वा तदानीतान्नया तदा । प्राणसंधारणं कृत्वा कस्मिंश्चिद्भूधरे बिले ॥३३२॥
उपविष्टा निजाचारं पालयन्ती भयाद्भवात् । सम्यक्तत्रार्यिकाख्यानात् स्ववृत्तान्तं सकौतुकम्[1] ॥३३३॥
चित्रं नीचकुलोत्पन्नाप्येवंवृत्तेति सादरम् । पूजानिर्वर्तिकां द्रष्टुं स्वां वात्सल्यादुपागताम् ॥३३४॥
अभिधायाम्ब पापिष्ठां मां त्वं पुण्यवतीं कुतः । पश्यसीति निजातीतभवान् ज्ञातान् यतीश्वरात् ॥३३५॥
तस्या व्यावर्णयन्साऽपि वयस्या स्वाः पुरातनी । जीवस्तद्बुद्ध्यायाति मार्गं जैनमघक्षयात् ॥३३६॥
प्राग्जन्मार्जितपापस्य परिपाकाद् विरूपिता । रोगित्वं कुगन्धत्वं निर्धनत्वादिकं च कैः ॥३३७॥
न प्राप्यतेऽत्र संसारे त्वं भूर्माहिता शुचा । त्वयात्तं व्रतशीलोपवासादिपरजन्मने ॥३३८॥
पाथेयं दुर्लभं तस्मान्मा भैषीस्त्वमतः परम् । इति प्रोत्साहिता सख्या सा संन्यस्य समाधिना ॥३३९॥
च्युतप्राणाच्युतेन्द्रस्य वल्लभाभूदतिप्रिया । पल्यानां पञ्चपञ्चाशत् तत्राच्छिन्नसौख्यभाक् ॥३४०॥
च्युत्वा ततो विदर्भाख्यविषये कुण्डलाह्वये । पुरे वासवभूभर्तुः श्रीमत्याश्च सुताऽभवः ॥३४१॥

उसका पिता मर गया और माता भी चल बसी इसलिए मातामही (नानी) ने उसका पोषण किया। वह सब प्रकारसे अशुभ थी और सब लोग उससे घृणा करते थे। किसी एक दिन वह नदीके किनारे बैठी थी वहींपर उसे उन समाधिगुप्त मुनिराजके दर्शन हुए जिनकी कि उसने लक्ष्मीमतिपर्यायमें निन्दा की थी। वे मुनि प्रतिमायोगसे अवस्थित थे, पूतिकाकी काललब्धि अनुकूल थी इसलिए वह शान्तभावको प्राप्त कर रात्रि-भर मुनिराजके शरीरपर बैठनेवाले मच्छर आदिको दूर हटाती रही। जब प्रातःकालके समय प्रतिमायोग समाप्त कर मुनिराज विराजमान हुए तब वह उनके चरणकमलोंके समीप जा पहुँची और उनका कहा हुआ धर्मोपदेश सुनने लगी। धर्मोपदेशसे प्रभावित होकर उस बुद्धिमतीने पर्वके दिन उपवास करनेका नियम लिया। दूसरे दिन वह जिनेन्द्र भगवान्की पूजा (दर्शन) करनेके लिए जा रही थी कि उसी समय उसे एक आर्यिकाके दर्शन हो गये। वह उन्हीं आर्यिकाके साथ दूसरे गाँव तक चली गयी। वहींपर उसे भोजन भी प्राप्त हो गया। इस तरह वह प्रतिदिन ग्रामान्तरसे लाये हुए भोजनसे प्राण रक्षा करती और पापके भयसे अपने आचारकी रक्षा करती हुई किसी पर्वतकी गुफामें रहने लगी। एक दिन एक श्राविका आर्यिकाके पास आयी। आर्यिकाने उससे कहा कि पूतिका नीच कुलमें उत्पन्न होकर भी इस तरह सदाचारका पालन करती है यह आश्चर्यकी बात है। आर्यिकाकी बात सुनकर उस श्राविकाको बड़ा कौतुक हुआ। जब पूतिका पूजा (दर्शन) कर चुकी तब वह स्नेहवश उसके पास आकर उसकी प्रशंसा करने लगी। इसके उत्तरमें पूतिकाने कहा कि-हे माता! मैं तो महापापिनी हूँ, मुझे आप पुण्यवती क्यों कहती हैं? यह कह, उसने समाधिगुप्त मुनिराजसे जो अपने पूर्वभव सुने थे वे सब कह सुनाये। वह श्राविका पूतिकाकी पूर्वभवकी सखी थी। पूतिकाके मुखसे यह जानकर उसने कहा कि 'यह जीव पापका भय होनेसे ही जैनमार्ग-जैनधर्मको प्राप्त होता है। इस संसारमें पूर्वभवसे अर्जित पापकर्मके उदयसे विरूपता, रोगीपना, दुर्गन्धता तथा निर्धनता आदि किन्हें नहीं प्राप्त होती? अर्थात् सभीको प्राप्त होती है इसलिए तू शोक मत कर, तेरे द्वारा ग्रहण किये हुए व्रत शील तथा उपवास आदि पर-जन्मके लिए दुर्लभ पाथेय (संबल) के समान हैं, तू अब भय मत कर।' इस प्रकार उस श्राविकाने उसे खूब उत्साह दिया। तदनन्तर-समाधिमरण कर वह अच्युतेन्द्रकी अतिशय प्यारी देवी हुई। पचपन पल्य तक वह अखण्ड सुखका उपभोग करती रही। वहाँसे च्युत होकर विदर्भ देशके कुण्डलपुर नगरमें राजा वासवकी रानी श्रीमतीसे तू रुक्मिणी नामकी पुत्री हुई ॥३२७-३४१॥

---

१ सकौतुका ल०।

कस्मिंश्चिदथ पुरः कोसलाख्यया भूपतेः सुतः । भेषजस्याभवन्मद्र्यां शिशुपालस्त्रिलोचनः ॥३४२॥
अभूतपूर्वमेतत्तु मनुष्येष्वस्य किं फलम् । इति भूपतिना पृष्टः स्पष्टं नैमित्तिकोऽवदत् ॥३४३॥
तृतीयं नयनं यस्य दर्शनादस्य नश्यति । अयं हनिष्यते तेन संशयो नेत्यदृष्टवित्[1] ॥३४४॥
कदाचिद्भेषजो मद्री शिशुपालः परेऽपि च । गत्वा द्वारावतीं द्रष्टुं वासुदेवं समुत्सुकाः ॥३४५॥
अदृश्यतामगान्नेत्रं जरासन्धारिवीक्षणात् । तृतीयं शिशुपालस्य विचित्रा द्रव्यशक्तयः ॥३४६॥
विज्ञातादेशया मद्र्या तद्विलोक्य हरेर्भिया । ददस्व पूज्य मे पुत्रभिक्षामित्यभ्ययाचत ॥३४७॥
शतापराधपर्यन्तमन्तरेणास्य मद्भयम् । नास्त्यास्तीति हरेर्लब्धवरासौ स्वां पुरीमगात् ॥३४८॥
विशुद्धमण्डलो नित्यमुद्यन् ध्वस्तद्विषत्तमाः । पद्माह्लादकरस्तीक्ष्णकरः क्रूरः प्रतापवान् ॥३४९॥
प्रच्छाद्य परतेजांसि भूभृन्मूर्धस्थपादकः । शैशवे शिशुपालोऽसौ भासते स्मेव भास्करः ॥३५०॥
हरिं हरिरिवाक्रम्य विक्रमेणाक्रमैषिणा । राजकण्ठीरवत्वेन सोऽवाञ्छद् वर्तितुं स्वयम् ॥३५१॥
दर्पिणा यशसा विश्वसर्पिणा स्वायुरर्पिणा । शतं तेनापराधानां व्यधायि मधुविद्विषः ॥३५२॥
स्वमुद्ध्वींकृत्य मूर्धन्यः कृत्यपक्षोपलक्षितः । अधोक्षजमधिक्षिप्य स्वधर्मामाक्षेप्तुमुद्ययौ ॥३५३॥

तदनन्तर कोशल नामकी नगरीमें राजा भेषज राज्य करते थे। उनकी रानीका नाम मद्री था; उन दोनोंके एक तीन नेत्रवाला शिशुपाल नामक पुत्र हुआ। मनुष्योंमें तीन नेत्रका होना अभूतपूर्व था इसलिए राजाने निमित्तज्ञानीसे पूछा कि इसका क्या फल है? तब परोक्षकी बात जाननेवाले निमित्तज्ञानीने साफ-साफ कहा कि जिसके देखनेसे इसका तीसरा नेत्र नष्ट हो जावेगा यह उसीके द्वारा मारा जावेगा इसमें संशय नहीं है ॥३४२-३४४॥ किसी एक दिन राजा भेषज, रानी मद्री, शिशुपाल तथा अन्य लोग बड़ी उत्सुकताके साथ श्रीकृष्णके दर्शन करनेके लिए द्वारावती नगरी गये थे। वहाँ श्रीकृष्णके देखते ही शिशुपालका तीसरा नेत्र अदृश्य हो गया सो ठीक ही है क्योंकि द्रव्योंकी शक्तियाँ विचित्र हुआ करती हैं ॥३४५-३४६॥ यह देख मद्रीको निमित्तज्ञानकी बात याद आ गयी इसलिए उसने डरकर श्रीकृष्णसे याचना की कि 'हे पूज्य! मेरे लिए पुत्रभिक्षा दीजिए' ॥३४७॥ श्रीकृष्णने उत्तर दिया कि 'हे अम्ब! सौ अपराध पूर्ण हुए बिना इसे मुझसे भय नहीं है अर्थात् जबतक सौ अपराध नहीं हो जावेंगे तबतक मैं इसे नहीं मारूँगा' इस प्रकार श्रीकृष्णसे वरदान पाकर मद्री अपने नगरको चली गयी ॥३४८॥ इधर वह शिशुपाल बाल-अवस्थामें ही सूर्यके समान देदीप्यमान होने लगा क्योंकि जिस प्रकार सूर्यका मण्डल विशुद्ध होता है उसी प्रकार उसका मण्डल-मन्त्री आदिका समूह भी विशुद्ध था—विद्वेष रहित था, जिस प्रकार सूर्य उदित होते ही अन्धकारको नष्ट कर देता है उसी प्रकार शिशुपाल भी उदित होते ही निरन्तर शत्रुरूपी अन्धकारको नष्ट कर देता था, जिस प्रकार सूर्य पद्म अर्थात् कमलोंको आनन्दित करता है उसी प्रकार शिशुपाल भी पद्मा अर्थात् लक्ष्मीको आनन्दित करता था, जिस प्रकार सूर्यको किरण तीक्ष्ण अर्थात् उष्ण होती है उसी प्रकार उसका महसूल भी तीक्ष्ण अर्थात् भारी था, जिस प्रकार सूर्य क्रूर अर्थात् उष्ण होता है उसी प्रकार शिशुपाल भी क्रूर अर्थात् दुष्ट था, जिस प्रकार सूर्य प्रतापवान् अर्थात् तेजसे सहित होता है उसी प्रकार शिशुपाल भी प्रतापवान् अर्थात् सेना और कोशसे उत्पन्न हुए तेजसे युक्त था और जिस प्रकार सूर्य अन्य पदार्थोंके तेजको छिपाकर भूभृत् अर्थात् पर्वतके मस्तकपर—शिखरपर अपने पाद अर्थात् किरण स्थापित करता है उसी प्रकार शिशुपाल भी अन्य लोगोंके तेजको आच्छादित कर राजाओंके मस्तकपर अपने पाद अर्थात् चरण रखता था। वह आक्रमणकी इच्छा रखनेवाले पराक्रमसे अपने-आपको सब राजाओंमें श्रेष्ठ समझने लगा और सिंहके समान, श्रीकृष्णके ऊपर भी आक्रमण कर उन्हें अपनी इच्छानुसार चलानेकी इच्छा करने लगा ॥३४९-३५१॥ इस प्रकार अहंकारी, समस्त संसारमें फैलनेवाले यशसे उपलक्षित और अपनी आयुको समर्पण करनेवाले उस शिशुपालने श्रीकृष्णके सौ अपराध कर डाले ॥३५२॥ वह अपने-आपको ऊँचा—श्रेष्ठ बनाकर सबका शिरोमणि समझता था, सदा करने योग्य कार्योंकी

---

१ अदृष्टं परोक्षं दैवं वा वेत्ति जानातीति अदृष्टवित्।

संघः शान्तोऽपि शत्रूणां हन्त्येवाघसंचयः । विजिगीषुस्तमुच्छेत्तुं क्षेपकृन्न मुमुक्षुवत् ॥३५४॥
एवं प्रयाति काले त्वां शिशुपालाय ते पिता । दातुं समुद्यतः प्रीत्या तच्छ्रुत्वा युद्धकाङ्क्षिणा ।३५५॥
नारदेन हरिः सर्वं तत्कार्यमवबोधितः । षडङ्गबलसंपन्नो गत्वा हत्वा तमूर्जितम् ॥३५६॥
आदाय त्वां महादेवीपट्टबन्धे न्ययोजयत् । श्रुत्वा तद्वचनं तस्याः परितोषः परोऽजनि ॥३५७॥
इत्थं वृत्तकमाकर्ण्य कः करोति जुगुप्सनम् । मत्वा मलीमसाङ्गो यद्विना दुर्धीर्मुनीन्भवान् ॥३५८॥
अथ जाम्बवती नत्वा मुनिं स्वभवसंततिम् । पृच्छति स्मादरादेवमुवाच भगवानपि ॥३५९॥
द्वीपेऽस्मिन्प्राग्विदेहेऽस्ति विषयः पुष्कलावती । वीतशोकपुरं तत्र दमको वैश्यवंशजः ।३६०॥
पत्नी देवमतिस्तस्य सुतासीद्देविला तयोः । दत्तासौ वसुमित्राय विधवाभूदनन्तरम् ॥३६१॥
निर्विण्णा जिनदेवाख्ययतिमेत्याहितव्रता । अगाद्व्यन्तरदेवीत्वं मन्दरे नन्दने वने ।३६२॥
ततश्चतुरशीत्युक्तसहस्राब्दायुषश्च्युतौ । विषये पुष्कलावत्यां पुरे विजयधामनि ।३६३॥
मधुषेणाख्यवैश्यस्य बन्धुमत्याश्च बन्धुरा । सुता बन्धुयशा नाम बभूवाभ्युदयोन्मुखी ।३६४॥
जिनदेवसुता सख्या सहासौ जिनदत्तया । समुपोष्यादिमे कल्पे कुबेरस्याभवत् प्रिया ॥३६५॥
ततश्च्युत्वाऽभवत्पुण्डरीकिण्यां वज्रनामतः । वैश्यस्य सुभद्रायाश्च सुमतिः सुतोत्तमा ॥३६६॥
सा तत्र सुव्रताख्यार्यिकाहारार्पणपूर्वकम् । रत्नावलीमुपोष्याभूद् ब्रह्मलोकेऽप्सरोवरा ॥३६७॥
चिरात्ततो विनिष्क्रम्य द्वीपेऽस्मिन् खेचराचले । उदक्छ्रेण्यां पुरे जाम्बवाख्ये जाम्बवभूपतेः ।३६८॥
अभूस्त्वं जम्बुषेणायां सती जाम्बवती सुता । सूनुः पवनवेगस्य श्यामलायाश्च कामुकः ॥३६९॥

पक्षसे सहित रहता था और श्रीकृष्णको भी ललकारकर उनकी लक्ष्मी छीननेका उद्यम करता था ॥३५३॥ शान्त हुआ भी शत्रुओंका समूह पापोंके समूहके समान नष्ट कर ही देता है इसलिए विजयकी इच्छा रखनेवाले राजाको मुमुक्षुके समान, शत्रुको नष्ट करनेमें विलम्ब नहीं करना चाहिए ॥३५४॥ गणधर भगवान्, महारानी रुक्मिणीसे कहते हैं कि इस प्रकार समय बीत रहा था कि इसी बीचमें तेरा पिता तुझे बड़ी प्रसन्नतासे शिशुपालको देनेके लिए उद्यत हो गया। जब युद्धकी चाह रखनेवाले नारदने यह बात सुनी तो वह श्रीकृष्णको सब समाचार बतला आया। श्रीकृष्णने छह प्रकारकी सेनाके साथ जाकर उस बलवान् शिशुपालको मारा और तुझे लेकर महादेवीके पट्टपर नियुक्त किया। गणधर भगवान्के यह वचन सुनकर रुक्मिणीको बड़ा हर्ष हुआ। आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि इस तरह रुक्मिणीकी कथा सुनकर दुर्बुद्धिके सिवाय ऐसा कौन मनुष्य होगा जो कि महामुनियोंको मलिन देखकर उनसे घृणा करेगा ॥३५५-३५८॥

अथानन्तर रानी जाम्बवतीने भी बड़े आदरके साथ नमस्कार कर गणधर भगवान्से अपने पूर्वभव पूछे और गणधर भगवान् भी इस प्रकार कहने लगे कि इसी जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें पुष्कलावती नामका देश है। उसके वीतशोक नगरमें दमक नामका वैश्य रहता था ॥३५९-३६०॥ उसकी स्त्रीका नाम देवमति था, और उन दोनोंके एक देविला नामकी पुत्री थी। वह पुत्री वसुमित्रके लिए दी गयी थी परन्तु कुछ समय बाद विधवा हो गयी जिससे विरक्त होकर उसने जिनदेव नामक मुनिराजके पास जाकर व्रत ग्रहण कर लिये और आयुके अन्तमें वह मरकर मेरु पर्वतके नन्दनवनमें व्यन्तर देवी हुई ॥३६१-३६२॥ तदनन्तर वहाँकी चौरासी हजार वर्षकी आयु समाप्त होनेपर वह वहाँसे चयकर पुष्कलावती देशके विजयपुर नामक नगरमें मधुषेण वैश्यकी बन्धुमती स्त्रीसे अतिशय सुन्दरी बन्धुयशा नामकी पुत्री हुई। उसका अभ्युदय दिनोंदिन बढ़ता ही जाता था। वहींपर उसकी जिनदेवकी पुत्री जिनदत्ता नामकी एक सखी थी उसके साथ उसने उपवास किये, जिसके फलस्वरूप मरकर प्रथम स्वर्गमें कुबेरकी देवांगना हुई ॥३६३-३६५॥ वहाँ से चयकर पुण्डरीकिणी नगरीमें वज्रनामक वैश्य और उसकी सुभद्रा स्त्रीके सुमति नामकी उत्तम पुत्री हुई। उसने वहाँ सुव्रता नामकी आर्यिकाके लिए आहार दान देकर रत्नावली नामका उपवास किया, जिससे ब्रह्म स्वर्गमें श्रेष्ठ अप्सरा हुई। बहुत दिन बाद वहाँसे चयकर इसी जम्बूद्वीपके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीपर जाम्बव नामके नगरमें राजा जाम्बव और रानी जम्बुषेणाके तू जाम्बवती

भवत्याः स नमिर्नाम्ना मैथुनोऽभिधिकेच्छया । ज्योतिर्वनेऽन्यदा स्थित्वा देया जाम्बवती न चेत् ॥३७०॥
आच्छिद्याहं ग्रहीष्यामीत्यवोचज्जाम्बवः क्रुधा । खादितुं प्रेषयामास विद्यां माक्षिकलक्षिताम् ॥३७१॥
तदा नमिकुमारस्य किन्नराख्यपुराधिपः । मातुलो यक्षमाली तामच्छैत्सीत् खेचरेश्वरः ॥३७२॥
सर्वविद्याच्छिदां श्रुत्वा तज्जाम्बवननूद्भवे । बलेनाक्रम्य संप्राप्ते कुमारे जम्बुनामनि ॥३७३॥
पलायत निजस्थानान्नमिर्भीत्वा समातुलः । अनालोचितकार्याणां किं भुक्त्वान्यत् पराभवम् ॥३७४॥
नारदस्तद्विदित्वाशु संप्राप्य कमलोदरम् । वर्णयामास जाम्बवतीरूपमतिसुन्दरम् ॥३७५॥
हठात् कृष्णस्तदाकर्ण्य हरिष्यामीति तां सतीम् । संनद्धबलसंपत्त्या गत्वा [1]खगनगान्तिके ॥३७६॥
निविष्टो मत्साहोच्य ज्ञात्वा तत्कर्मदुष्करम् । उपोष्याचिन्तयद् रात्रौ केनेदं सेत्स्यतीत्यसौ ॥३७७॥
प्रसाधितत्रिखण्डोऽपि तत्राभूत् खण्डितायतिः[2] । तद्विपक्षखगेन्द्रस्य पुण्यं किमपि तादृशम् ॥३७८॥
यक्षिलाख्योऽनुजस्तस्य प्राक्तनस्तपसाभवत् । महाशुक्रे तदैत्यैते विद्ये द्वे साधयेति ते ॥३७९॥
दत्त्वा तत्साधनोपायमभिधाय गतो दिवम् । स क्षीरसागरं कृत्वा तत्राहिशयने स्थितः ॥३८०॥
साधयामास मासान्ते चतुरो विधिपूर्वकम् । सिंहाहिवरवाहिन्यौ विद्ये हलिहरी गतौ ॥३८१॥
आरुह्य जाम्बवं युद्धे विजित्यादाय तत्सुताम् । महादेवीपदे प्रीत्या त्वामकार्षीत् क्षिताविति ॥३८२॥
श्रुतं वक्तृविशेषेण यद्यप्यस्पष्टवर्णनम् । तद्दृष्टमिव विस्पष्टं सर्वं तस्यास्तदाभवत् ॥३८३॥

नामकी पुत्री हुई । इसी विजयार्ध पर्वतपर पवनवेग तथा श्यामलाका पुत्र नमि रहता था वह रिश्तेमें भाईका साला था और तुझे चाहता था । एक दिन वह ज्योतिर्वनमें बैठा था । वहाँ तेरे प्रति तीव्र इच्छा होनेके कारण उसने कहा कि यदि जाम्बवती मुझे नहीं दी जावेगी तो मैं उसे छीनकर ले लूँगा । यह सुनकर तेरे पिता जाम्बवको बड़ा क्रोध आ गया । उसने उसे खानेके लिए माक्षिकलक्षिता नामकी विद्या भेजी । उस समय वहाँ किन्नरपुरका राजा नमिकुमारका मामा यक्षमाली विद्याधर विद्यमान था उसने वह विद्या छेद डाली ॥३६६-३७२॥ अपनी सब विद्याओंके छेदी जानेकी बात सुनकर राजा जाम्बवने अपना जम्बु नाम पुत्र भेजा । सेनाके साथ आक्रमण करता हुआ जम्बुकुमार जब वहाँ पहुँचा तो वह नमि डरकर अपने मामाके साथ अपने स्थानसे भाग खड़ा हुआ सो ठीक ही है क्योंकि जो कार्य बिना विचारके किये जाते हैं उनका फल पराभवके सिवाय और क्या हो सकता है ? ॥३७३-३७४॥ नारद, यह सब जानकर शीघ्र ही कृष्णके पास आ गया और जाम्बवतीके अतिशय सुन्दर रूपका वर्णन करने लगा । यह सुनकर श्रीकृष्णने कहा कि मैं उस सतीको हठात् (जबरदस्ती) हरण करूँगा । यह कहकर वे अपनी सेनारूपी सम्पत्तिके साथ चल पड़े और विजयार्ध पर्वतके समीप ठहर गये । बलदेव उनके साथ थे ही । यह कार्य अत्यन्त कठिन है ऐसा जानकर उन्होंने उपवासका नियम लिया और रात्रिके समय मनमें विचार किया कि यह कार्य किसके द्वारा सिद्ध होगा । देखो, जिसने तीन खण्ड वश कर लिये ऐसे श्रीकृष्णका भी भविष्य वहाँ खण्डित दिखने लगा परन्तु उस विद्याधर राजाके विरोधी श्रीकृष्णका पुण्य भी कुछ वैसा ही प्रबल था ॥३७५-३७८॥ कि जिससे पूर्व जन्मका यक्षिल नामका छोटा भाई, जो तपकर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ था, आया और कहने लगा कि 'मैं ये दो विद्याएँ देता हूँ इन्हें तुम सिद्ध करो' इस प्रकार कहकर तथा विद्याएँ सिद्ध करनेकी विधि बतलाकर वह स्वर्ग चला गया । इधर श्रीकृष्ण क्षीरसागर बनाकर उसमें नागशय्यापर आरूढ़ हुए और विधिपूर्वक चार माह तक विद्याएँ सिद्ध करते रहे । अन्तमें बलदेवको सिंहवाहिनी और श्रीकृष्णको गरुड़वाहिनी विद्या सिद्ध हो गयी । तदनन्तर उन विद्याओंपर आरूढ़ होकर श्रीकृष्णने युद्धमें जाम्बवको जीता और उसकी पुत्री तुझ जाम्बवतीको ले आये । घर आकर उन्होंने तुझे बड़ी प्रीतिके साथ महादेवीके पदपर नियुक्त किया ॥३७९-३८२॥ यद्यपि पूर्व जन्मका वृत्तान्त अस्पष्ट था तो भी वक्ता विशेषके मुखसे सुननेके कारण वह सबका सब जाम्बवतीको प्रत्यक्षके समान स्पष्ट हो गया ॥३८३॥

१ खगनगान्तिके क० । २ खंडतायतिः ख० ।

अथानन्तरमेवैनं मुनीन्द्रं गणनायकम् । सुसीमा भवसंबन्धमात्मनः पृच्छति स्म सा ॥३८४॥
स्ववाक्किरणजालेन बोधयंस्तन्मनोऽम्बुजम् । इत्युवाच विनेयानां निर्निमित्तैकबान्धवः ॥३८५॥
धातकीखण्डपूर्वार्धप्राग्विदेहेऽतिविश्रुतः । भोगाङ्गमङ्गिनामेको विषयो मङ्गलावती ॥३८६॥
रत्नसंचयनामात्र पुरं तत्प्रतिपालकः । विश्वदेवः प्रियास्यासीद् देवी [1]श्रीमत्यनुन्दरी ॥३८७॥
तमयोध्यापतौ युद्धे हतवत्यतिशोकतः । सा मन्त्रिभिर्निषिद्धापि प्रविश्य हुतभोजिनम् ॥३८८॥
विजयार्धे सुरी भूत्वा व्यन्तरेष्वयुतायुषा । जीवित्वा तत्र तस्यान्ते भवे भ्रान्त्वा यथोचितम् ॥३८९॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते शालिग्रामे यक्षस्य गेहिनी । देवसेनानयोर्यक्षदेवी जाता सुता सुधीः ॥३९०॥
कदाचिद् [2]धर्मसेनाख्यमुनिं संश्रित्य सद्व्रता । मासोपवासिने तस्मै दत्वा कायस्य सुस्थितिम् ॥३९१॥
सा कदाचिद् वने रन्तुं गत्वा वर्षभयाद् गुहाम् । प्रविष्टाजगरागीर्णा हरिवर्षे तनुं श्रिता ॥३९२॥
निर्विश्य तद्गतान् भोगान् नागी जाता ततश्च्युता । च्युता ततो विदेहेऽस्मिन् पुष्कलावत्युदीरिते ॥३९३॥
विषये पुण्डरीकिण्यामशोकाख्यमहीपतेः । सोमश्रियश्च श्रीकान्ता सुता भूत्वा कदाचन ॥३९४॥
जिनदत्तार्यिकोपान्ते दीक्षामादाय सुव्रता । तपस्यन्ती चिरं घोरमुपोष्य कनकावलीम् ॥३९५॥
माहेन्द्रे दिविजीभूय भुक्त्वा भोगान् दिवौकसाम् । आयुरन्ते ततश्च्युत्वा सुज्येष्ठायां सुताभवः ॥३९६॥
सुराष्ट्रवर्धनाख्यस्य नृपस्य त्वं सुलक्षणा । हरेर्देवी प्रमोदेन वर्धसे वल्लभा सती ॥३९७॥
स्वभवान्तरसंबन्धमाकर्ण्यैवाप संमदम् । को न गच्छति संतोषमुत्तरोत्तरवृद्धितः ॥३९८॥
लक्ष्मणापि मुनिं नत्वा शुश्रूषुः स्वभवानभूत् । अभाषतैवमेतस्याश्चिकीर्षुः सोऽप्यनुग्रहम् ॥३९९॥

अथानन्तर—इन्हीं गणनायक मुनिराजको नमस्कार कर सुसीमा नामकी पट्टरानी अपने पूर्वभवोंका सम्बन्ध पूछने लगी ॥३८४॥ तब शिष्यजनोंके अकारण बन्धु गणधर भगवान् अपने वचनरूपी किरणोंके समूहसे उसके मनरूपी कमलको प्रफुल्लित करते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥३८५॥ धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वार्ध भागके पूर्व विदेहमें एक अतिशय प्रसिद्ध मंगलावती नामका देश है जो प्राणियोंके भोगोपभोगका एक ही साधन है। उसमें रत्नसंचय नामका एक नगर है। उसमें राजा विश्वदेव राज्य करता था और उसके शोभासम्पन्न अनुन्दरी नामकी रानी थी ॥३८६-३८७॥ किसी एक दिन अयोध्याके राजाने राजा विश्वदेवको मार डाला इसलिए अत्यन्त शोकके कारण मन्त्रियोंके निषेध करनेपर भी वह रानी अग्निमें प्रवेश कर जल मरी। मरकर वह विजयार्ध पर्वतपर दश हजार वर्षकी आयुवाली व्यन्तर देवी हुई। वहाँकी आयु पूर्ण होनेपर वह अपने कर्मोंके अनुसार संसारमें भ्रमण करती रही। तदनन्तर किसी समय इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी शालिग्राममें यक्षकी स्त्री देवसेनाके यक्षदेवी नामकी बुद्धिमती पुत्री हुई ॥३८८-३९०॥ किसी एक दिन उसने धर्मसेन मुनिके पास जाकर व्रत ग्रहण किये और एक महीनेका उपवास करनेवाले मुनिराजको उसने आहार दिया ॥३९१॥ यक्षदेवी किसी दिन क्रीड़ा करनेके लिए वनमें गयी थी। वहाँ अचानक बड़ी वर्षा हुई। उसके भयसे वह एक गुफामें चली गयी वहाँ एक अजगरने उसे निगल लिया जिससे हरिवर्ष नामक भोगभूमिमें उत्पन्न हुई। वहाँके भोग भोगकर नागकुमारी हुई। फिर वहाँसे चय कर विदेह क्षेत्रके पुष्कलावती देश-सम्बन्धी पुण्डरीकिणी नगरीमें राजा अशोक और सोमश्री रानीके श्रीकान्ता नामकी पुत्री हुई। किसी एक दिन उसने जिनदत्ता आर्यिकाके पास दीक्षा लेकर अच्छे-अच्छे व्रतोंका पालन किया, चिरकाल तक तपस्या की और कनकावली नामका घोर उपवास किया ॥३९२-३९५॥ इन सबके प्रभावसे वह माहेन्द्र स्वर्गमें देवी हुई, वहाँ देवोंके भोग भोगकर आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत हुई और सुराष्ट्रवर्धन राजाकी रानी सुज्येष्ठाके अच्छे लक्षणोंवाली तू पुत्री हुई है और श्रीकृष्णकी पट्टरानी होकर आनन्दसे बढ़ रही है ॥३९६-३९७॥ इस प्रकार अपने भवान्तरोंका सम्बन्ध सुनकर सुसीमा रानी हर्षको प्राप्त हुई सो ठीक ही है क्योंकि अपनी उत्तरोत्तर वृद्धिको सुनकर कौन सन्तोषको प्राप्त नहीं होता? ॥३९८॥

अथानन्तर—महारानी लक्ष्मणा भी मुनिराजको नमस्कार कर अपने भव सुननेकी इच्छा

---

१ धीमत्य-ल० । २-द्रुमसेनाख्य ल० ।

इह पूर्वविदेहेऽस्ति विषयः पुष्कलावती । तत्रारिष्टपुराधीशो वासवस्य महीपतेः ॥४००॥
वसुमत्यामभूत् सूनुः सुषेणाख्यो गुणाकरः । केनचिज्जातनिर्वेगो वासवो निकटेऽग्रहीत् ॥४०१॥
दीक्षां सागरसेनस्य तत्प्रिया सुतमोहिता । गेहवासं परित्यक्तुमसमर्था कुचेष्टया ॥४०२॥
मृत्वा पुलिन्दी संप्राप्ता सान्धेयुर्नन्दिवर्धनम् । मुनिं चारणमाश्रित्य गृहीतोपासकव्रता ॥४०३॥
मृत्वा जाताष्टमे कल्पे नर्तकीन्द्रस्य हृत्प्रिया । अवतीर्य ततो द्वीपे भरतेऽस्मिन् खगाचले ॥४०४॥
खगेशो दक्षिणश्रेण्यां जाता चन्द्रपुरेशिनः । महेन्द्रस्य सुतानुन्दर्याश्च नेत्रमनोहरा ॥४०५॥
मालान्तकनका सिद्धविद्या ख्याते स्वयंवरे । मालया स्वीचकारासौ कुमारं हरिवाहनम् ॥४०६॥
अन्येद्यु सिद्धकूटस्थगुरुं यमधराह्वयम् । समुपेत्य समाकर्ण्य स्वभवान्तरसंततिम् ॥४०७॥
मुक्तावलीमुपोष्यासीत्तृतीयेन्द्रमनःप्रिया । नवपल्योपमायुष्का कालान्तेऽसौ ततश्च्युता ॥४०८॥
सुप्रकारपुराधीशः शम्बराख्यमहीपतेः । [1]श्रीमत्याश्च सुतासीस्त्वं श्रीपद्मध्रुवसेनयोः ॥४०९॥
कनीयसी गुणैर्ज्येष्ठा लक्ष्मणा सर्वलक्षणा । तां त्वां पवनवेगाख्यखेचरः कमलोदरम् ॥४१०॥
समुपेत्य रथाङ्गेश वायुमार्गस्य निर्मला । कलेवी चन्द्रलेखेव तव योग्या खगेशिनः ॥४११॥
[2]तनदा लक्ष्मणा कामोद्दीपनेति जगाद सः । तद्वचःश्रवणानन्तरं त्वमेवानयेति तम् ॥४१२॥
प्रेषयामास कंसारिः सोऽपि गत्वाविलम्बितम् । त्वत्पित्रोरनुमित्या त्वामर्पयामास चक्रिणे ॥४१३॥
तेनापि पट्टबन्धेन त्वमेवमसि मानिता । इति श्रुत्वात्मजन्मान्तरावलिं सागमन्मुदम् ॥४१४॥
गान्धारीगौरीपद्मावतीनां जन्मान्तरावलिम् । गणीन्द्रो वासुदेवेन पृष्टोऽसावित्यभाषत ॥४१५॥

करने लगी और इसका अनुग्रह करनेकी इच्छा रखनेवाले मुनिराज भी इस प्रकार कहने लगे। इसी जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक पुष्कलावती नामका देश है। उसके अरिष्टपुर नगरमें राजा वासव राज्य करता था। उसकी वसुमती नामकी रानी थी और उन दोनोंके समस्त गुणोंकी खानस्वरूप सुषेण नामका पुत्र था। किसी कारणसे राजा वासवने विरक्त होकर सागरसेन मुनिराजके समीप दीक्षा ले ली परन्तु रानी वसुमती पुत्रके प्रेमसे मोहित होनेके कारण गृहवास छोड़नेके लिए समर्थ नहीं हो सकी। इसलिए कुचेष्टासे मरकर भीलनी हुई। एक दिन उसने नन्दिवर्धन नामक चारण मुनिके पास जाकर श्रावकके व्रत ग्रहण किये ॥३९९-४०३॥ मरकर वह आठवें स्वर्गमें इन्द्रकी प्यारी नृत्यकारिणी हुई। वहाँसे चयकर जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीपर चन्द्रपुर नगरके राजा महेन्द्रकी रानी अनुन्दरीके नेत्रोंको प्रिय लगनेवाली कनकमाला नामकी पुत्री हुई और सिद्ध-विद्य नामके स्वयंवरमें माला डालकर उसने हरिवाहनको अपना पति बनाया ॥४०४-४०६॥ किसी एक दिन उसने सिद्धकूटपर विराजमान यमधर नामक गुरुके पास जाकर अपने पहले भवोंकी परम्परा सुनी। तदनन्तर मुक्तावली नामका उपवास कर तीसरे स्वर्गके इन्द्रकी प्रिय इन्द्राणी हुई। वहाँ नौ पल्यकी उसकी आयु थी, आयुके अन्तमें वहाँसे चयकर सुप्रकारनगरके स्वामी राजा शम्बरकी श्रीमती रानीसे पुत्री हुई है। तू भी पद्म और ध्रुवसेनकी छोटी बहन है, गुणोंमें ज्येष्ठ है, सर्व लक्षणोंसे युक्त है और लक्ष्मणा तेरा नाम है। किसी एक दिन पवनवेग नामका विद्याधर श्रीकृष्णके समीप जाकर कहने लगा कि हे चक्रपते! विद्याधरोंके राजा शम्बरके एक लक्ष्मणा नामकी पुत्री है जो आकाशमें निर्मल चन्द्रमाकी कलाकी तरह सुशोभित है, कामको उद्दीपित करनेवाली है और आपके योग्य है। पवनवेगके वचन सुनकर श्रीकृष्णने 'तो तू ही उसे ले आ' यह कहकर उसे ही भेजा और वह भी शीघ्र ही जाकर तेरे माता-पिताकी स्वीकृतिसे तुझे ले आया तथा श्रीकृष्णको समर्पित कर दी ॥४०७-४१३॥ कृष्णने भी महादेवीका पट्ट बाँधकर तुझे इस प्रकार सम्मानित किया है। इस तरह अपने भवान्तर सुनकर लक्ष्मणा बहुत ही प्रसन्न हुई ॥४१४॥

तदनन्तर—श्रीकृष्णने गान्धारी, गौरी और पद्मावतीके भवान्तर पूछे। तब गणधरदेव इस

---

१ श्रीमत्याश्च ल० । २ तनूजा ल० ।

इह जम्बूमति द्वीपे विषयोऽस्ति सुकोशलः । तत्रायोध्यापुराधीशो रुद्रनाम्नो मनोरमा ॥४१६॥
विनयश्रीरिति ख्याता सिद्धार्थाख्यवनेऽन्यदा । बुद्धार्थमुनये दत्त्वा स्वायुःपरिक्षये ॥४१७॥
उदक्कुरुषु निर्विष्टभोगा तस्मात् परिच्युता । इन्दोश्चन्द्रवती देवी भूत्वातोऽप्यायुषोऽवधौ ॥४१८॥
द्वीपेऽत्र खगभूभर्तुरपाक्श्रेण्यां खगेशिनः । विद्युद्वेगस्य सद्देशे पुरे गगनवल्लभे ॥४१९॥
सुरूपाख्यसुता विद्युद्वेगायामजनिष्ट सा । नित्यालोकपुराधीशे विद्याविक्रमशालिने ॥४२०॥
महेन्द्रविक्रमायैषा दत्तान्येद्युर्मेरुगिरिम् । तौ गतौ चैत्यगेहेषु जिनपूजार्थमुत्सुकौ ॥४२१॥
विनीतचारणास्येन्दुसूतं धर्ममिवामृतम् । पीत्वा श्रवणयुग्मेन परां तृप्तिमवापतुः ॥४२२॥
तयोर्नरपतिर्दीक्षामादात्तच्चारणान्तिके । सुभद्रापादमासाद्य सापि संयममाददे ॥४२३॥
सौधर्मकल्पे देवीत्वमुपगम्योपसंचिता । स्वायुःपल्योपमप्रान्ते क्रमाच्च्युत्क्रम्य तद्गतेः ॥४२४॥
गान्धारविषये पुष्कलावतीनगरेशिनः । भूपस्येन्द्रगिरेर्मेरुमत्याश्च तनयाभवत् ॥४२५॥
गान्धारीत्यन्वया ख्याता प्रदातुं मैथुनाय ताम् । पितुः पापमतिः श्रुत्वा प्रारम्भं नारदस्तदा ॥४२६॥
सद्यस्तामेत्य तत्कर्म न्यगदज्जगदप्रियः । तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रेमवशः संनद्धसैन्यकः ॥४२७॥
युद्धे भङ्गं विधायेन्द्रगिरेश्चान्यमहीभुजाम् । आदाय तां महादेवीपट्टश्चैवं त्वया कृतः ॥४२८॥
अथ गौरीभवं चैवं वदामि शृणु माधव । अस्ति द्वीपेऽत्र विख्यातं पुन्नागाख्यपुरं पुरु ॥४२९॥
पालकस्तस्य हेमाभो देवी तस्य यशस्वती । सान्यदा चारणं दृष्ट्वा यशोधरमुनीश्वरम् ॥४३०॥
स्मृतपूर्वभवा राज्ञा पृष्टैवं प्रत्यभाषत । स्वभवं दशनोद्दीप्त्या स्नापयन्ती (स्नपयन्ती) मनोरमम् ॥४३१॥

प्रकार कहने लगे ॥४१५॥ इसी जम्बूद्वीपमें एक सुकोशल नामका देश है। उसकी अयोध्या नगरीमें रुद्र नामका राजा राज्य करता था और उसकी विनयश्री नामकी मनोहर रानी थी। किसी एक दिन उस रानीने सिद्धार्थ नामक वनमें बुद्धार्थ नामक मुनिराजके लिए आहार दान दिया जिससे अपनी आयु पूरी होनेपर उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमिमें उत्पन्न हुई। वहाँके भोगकर च्युत हुई तो चन्द्रमाकी चन्द्रवती नामकी देवी हुई। आयु समाप्त होनेपर वहाँसे च्युत होकर इसी जम्बूद्वीपके विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीपर गगनवल्लभ नगरमें विद्याधरोंके कान्तिमान् राजा विद्युद्वेगकी रानी विद्युद्वेगाके सुरूपा नामकी पुत्री हुई। वह विद्या और पराक्रमसे सुशोभित, नित्यालोकपुरके स्वामी राजा महेन्द्रविक्रमके लिए दी गयी। किसी एक दिन वे दोनों दम्पति चैत्यालयोंमें जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनेके लिए उत्सुक होकर सुमेरु पर्वतपर गये ॥४१६–४२१॥ वहाँपर विराजमान किन्हीं चारणऋद्धिधारी मुनिके मुखरूपी चन्द्रमासे झरे हुए अमृतके समान धर्मका दोनों कानोंसे पानकर वे दोनों ही परमतृप्तिको प्राप्त हुए ॥४२२॥ उन दोनोंमें-से राजा महेन्द्रविक्रमने तो उन्हीं चारण मुनिराजके समीप दीक्षा ले ली और रानी सुरूपाने सुभद्रा नामक आर्यिकाके चरणमूलमें जाकर संयम धारण कर लिया ॥४२३॥ आयु पूरी कर सौधर्म स्वर्गमें देवी हुई, जब वहाँकी एक पल्य प्रमाण आयु पूरी हुई तो वहाँसे चयकर गान्धार देशकी पुष्कलावती नगरीके राजा इन्द्रगिरिकी मेरुमती रानीसे गान्धारी नामकी पुत्री हुई है। राजा इन्द्रगिरि इसे अपनी बूआके लड़केको देना चाहता था, जब यह बात जगत्को अप्रिय पापबुद्धि नारदने सुनी तब शीघ्र ही उसने तुम्हें इसकी खबर दी। सुनते ही तू भी प्रेमके वश हो गया और सेना सजाकर युद्धके लिए चल पड़ा। युद्धमें राजा इन्द्रगिरि और उसके सहायक अन्य राजाओंको पराजित कर इस गान्धारीको ले आया और फिर इसे महादेवीका पट्टबन्ध प्रदान कर दिया—पट्टरानी बना लिया ॥४२४-४२८॥

अथानन्तर—गणधर भगवान् कहने लगे कि अब मैं गौरीके भव कहता हूँ सो हे कृष्ण, तू सुन। इसी जम्बूद्वीपमें एक पुन्नागपुर नामका अतिशय प्रसिद्ध बड़ा भारी नगर है। उसकी रक्षा करनेवाला राजा हेमाभ था और उसकी रानी यशस्वती थी। किसी एक दिन यशोधर नामके चारण ऋद्धिधारी मुनिराजको देखकर उसे अपने पूर्व भवोंका स्मरण हो आया। राजाके पूछनेपर वह अपने दाँतोंकी कान्तिसे उन्हें नहलाती हुई इस प्रकार अपने पूर्वभव कहने लगी ॥४२९-४३१॥

धातकीखण्डप्राङ्मन्दरापरस्थविदेहगम् । नाम्नाशोकपुरं तत्र वास्तव्यो वणिजां वरः ॥४३२॥
आनन्दस्तस्य भार्यायां जातानन्दयशःश्रुतिः । दत्त्वाऽमितमहामुक्तिसागराय तनुस्थितिम् ॥४३३॥
आश्चर्यपञ्चकं प्राप्य तत्पुण्यार्जितावधौ । उदक्कुरुषु संभूय भुक्त्वा तत्र सुखं ततः ॥४३४॥
भूत्वा भवनवासीन्द्रमहेन्द्रास्मीति संमदात् । ततः कदाचित् सिद्धार्थवने सागरसंज्ञकम् ॥४३५॥
गुरुमाश्रित्य संप्राप्तोपवासा मरणावधौ । देवी जाताऽऽदिमे कल्पे तत्र निर्वर्तितस्थितिः ॥४३६॥
द्वीपेऽस्मिन्नेव कौशाम्ब्यां सुमतिश्रेष्ठिनोऽभवत् । सुभद्रायां सुता धार्मिकीति संशब्दिता जनैः ॥४३७॥
पुनर्जिनमतिक्षान्तिदत्तां जिनगुणादिकाम् । संपत्तिं साधु निर्माप्य महाशुक्रेऽभवत् सुरी ॥४३८॥
चिरात्ततो विनिर्गत्य वीतशोकपुरेशिनः । महीशो मेरुचन्द्रस्य चन्द्रवत्यामजायत ॥४३९॥
गौरीति रूपलावण्यकान्त्याद्यैर्नामसौ खनिः । विजयाख्यपुराधीशो विभुर्विजयनन्दनः ॥४४०॥
वत्सलस्तुभ्यमानीय तामदत्त त्वयापि सा । पट्टे[1] नियोजितेत्याख्यत्ततो हरिरगान्मुदम् ॥४४१॥
ततः पद्मावतीजन्मसंबन्धं गणनायकः । गुणानामाकरोऽवादीदित्थं जनमनोहरम् ॥४४२॥
अस्मिन्नेवोज्जयिन्याख्यनगरीनायको नृपः । विजयस्तस्य विक्रान्तिरिव देव्यपराजिता ॥४४३॥
विनयश्रीः सुता तस्या हस्तशीर्षपुरेशिनः । हरिषेणस्य देव्यासीद्दत्त्वा दानमसौ मुदा ॥४४४॥
समाधिगुप्तयोगीशे भूत्वा हैमवते चिरम् । भुक्त्वा भोगान् भवप्रान्ते जाता चन्द्रस्य रोहिणी ॥४४५॥
[2]पल्योपमायुष्कालान्ते विषये मगधाभिधे । वसतः शाल्मलिग्रामे पद्मदेवी सुताजनि ॥४४६॥
सती विजयदेवस्य देविलायां कदाचन । वरधर्मयतेः संनिधाने सा व्रतमग्रहीत् ॥४४७॥

धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व मेरुसे पश्चिमकी ओर जो विदेह क्षेत्र है उसमें एक अशोकपुर नामका नगर है। उसमें आनन्द नामका एक उत्तम वैश्य रहता था, उसकी स्त्रीके एक आनन्दयशा नामकी पुत्री उत्पन्न हुई। किसी समय आनन्दयशाने अमितसागर मुनिराजके लिए आहार दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये। इस दानजन्य पुण्यके प्रभावसे वह आयु पूर्ण होनेपर उत्तरकुरुमें उत्पन्न हुई, वहाँके सुख भोगनेके बाद भवनवासियोंके इन्द्रकी इन्द्राणी हुई और वहाँसे च्युत होकर यहाँ उत्पन्न हुई हूँ। इस प्रकार रानी यशस्वतीने अपने पति राजा हेमाभके लिए बड़े हर्षसे अपने पूर्वभव सुनाये। तदनन्तर, रानी यशस्वती किसी समय सिद्धार्थ नामक वनमें गयी, वहाँ सागरसेन नामक मुनिराजके पास उसने उपवास ग्रहण किये। आयुके अन्तमें मरकर प्रथम स्वर्गमें देवी हुई। तदनन्तर वहाँकी स्थिति पूरी होनेपर इसी जम्बूद्वीपकी कौशाम्बी नगरीमें सुमति नामक सेठकी सुभद्रा नामकी स्त्रीसे धार्मिकी नामकी पुत्री हुई ॥४३२-४३७॥ वहाँपर उसने जिनमति आर्यिकाके दिये हुए जिनगुणसम्पत्ति नामके व्रतका अच्छी तरह पालन किया जिसके प्रभावसे मरकर महाशुक्र स्वर्गमें देवी हुई। बहुत समय बाद वहाँसे चयकर वीतशोक-नगरके स्वामी राजा मेरुचन्द्रकी चन्द्रवती रानीके रूप, लावण्य और कान्ति आदिकी खान यह गौरी नामकी पुत्री हुई है। स्नेहसे भरे, विजयपुर नगरके स्वामी राजा विजयनन्दनने यह लाकर तुझे दी है और तूने भी इसे पट्टरानी बनाया है। इस प्रकार गणधर भगवान्‌ने गौरीके भवान्तर कहे जिन्हें सुनकर श्रीकृष्ण हर्षको प्राप्त हुए ॥४३८-४४१॥

तदनन्तर—गुणोंकी खान, गणधर देव, लोगोंका मन हरण करनेवाले पद्मावतीके पूर्व भवोंका सम्बन्ध इस प्रकार कहने लगे ॥४४२॥ इसी भरतक्षेत्रकी उज्जयिनी नगरीमें राजा विजय राज्य करता था, उसकी विक्रान्तिके समान अपराजिता नामकी रानी थी। उन दोनोंके विनयश्री नामकी पुत्री थी। वह हस्तशीर्षपुरके राजा हरिषेणको दी गयी थी। विनयश्रीने एक बार समाधिगुप्त मुनिराजके लिए बड़े हर्षसे आहार-दान दिया था जिसके पुण्यसे वह हैमवत क्षेत्रमें उत्पन्न हुई। चिरकाल तक वहाँके भोग भोगकर आयुके अन्तमें वह चन्द्रमाकी रोहिणी नामकी देवी हुई। जब एक पल्य प्रमाण वहाँकी आयु समाप्त हुई तब मगध देशके शाल्मलि

---

१ पट्टेन योजिते ल०। २ पल्योपमायुषः साऽन्ते ल०।

अविज्ञातफलाभक्षणं कृच्छ्रेऽपि दृढव्रता । वरधर्मात् कदाचित् स ग्रामोऽवस्कन्दघातिभिः ॥४४८॥
भिल्लैर्विलुण्ठितः पद्मदेवी सिंहरथाद् भयात् । नीत्वा महाटवीं सर्वे जनाः क्षुद्वेदनार्दिताः ॥४४९॥
विषवल्लीफलान्याशु भक्षयित्वा मृतिं ययुः । व्रतभङ्गभयात्तानि सा विहायाहृतैर्विना ॥४५०॥
मृत्वा हैमवते भूत्वा जीवितान्ते ततश्च्युता । द्वीपे स्वयंप्रभे जाता देवी नाम्ना स्वयंप्रभा ॥४५१॥
स्वयंप्रभाख्यदेवस्य ततो निर्गत्य सा पुनः । द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे जयन्तपुरभूपतेः ॥४५२॥
श्रीधरस्य सुता भूत्वा श्रीमत्यां सुन्दराकृतिः । विमलश्रीरभूत् पत्नी भद्रिलाख्यपुरेशिनः ॥४५३॥
नृपस्य मेघनादस्य समीप्सितसुखप्रदा । राजा धर्ममुनेस्त्यक्त्वा राज्यं प्रव्रज्य शुद्धधीः ॥४५४॥
जातो व्रतधरस्तस्मिन् सहस्रारपतौ सति । अष्टादशसमुद्रायुर्भाजि भासुरदीधितौ ॥४५५॥
सापि पद्मावतीक्षान्तिं संप्राप्यादाय संयमम् । आचाम्लवर्धनामानं समुपोष्याद्युपावधौ ॥४५६॥
तत्रैव कल्पे देवीत्वं प्रतिपद्य निजायुषः । प्रान्तेऽरिष्टपुराधीशः श्रीमत्यां तनयाजनि ॥४५७॥
हिरण्यवर्मणः पद्मावतीत्येषा स्वयंवरे । संभाव्य संभृतस्नेहा भवन्तं रत्नमालया ॥४५८॥
[1]शीलावहा महादेवीपट्टं प्रापदिति स्फुटम् । तास्तिस्रोऽपि स्वजन्मानि श्रुत्वा मुदमगुर्हरेः ॥४५९॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्युक्तैर्गणनायको गुणनिधिः प्रस्पष्टमृष्टाक्षरैः
साक्षात्कृत्य भवावलीविलसितं व्यावर्णयन्निर्णयम् ।
[2]साध्व्याकर्ण्य चिरं सुखासुखमयीः[3] स्वेष्टाष्टदेवीकथाः[4]
संतुष्टिं स मुरारिरार[5] सुतरां प्रान्ते प्रबुद्धिप्रदाः ॥४६०॥

गाँवमें रहनेवाले विजयदेवकी देविला स्त्रीसे पद्मदेवी नामकी पतिव्रता पुत्री हुई। उसने किसी समय वरधर्म नामक मुनिराजके पास 'मैं कष्टके समय भी अनजाना फल नहीं खाऊँगी' ऐसा दृढ़ व्रत लिया। किसी एक समय आक्रमण कर घात करनेवाले भीलोंने उस गाँवको लूट लिया। उस समय सब लोग, भीलोंके राजा सिंहरथके डरसे पद्मदेवीको महाअटवीमें ले गये। वहाँ भूखसे पीड़ित होकर सब लोगोंने विषफल खा लिये जिससे वे शीघ्र ही मर गये परन्तु व्रतभंगके डरसे पद्मदेवीने उन फलोंको छुआ भी नहीं इसलिए वह आहारके बिना ही मरकर हैमवत क्षेत्र नामक भोगभूमिमें उत्पन्न हुई। आयु पूर्ण होनेपर वहाँसे चयकर स्वयंप्रभद्वीपमें स्वयंप्रभ नामक देवकी स्वयंप्रभा नामकी देवी हुई। वहाँसे चयकर इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी जयन्तपुर नगरमें वहाँके राजा श्रीधर और रानी श्रीमतीके सुन्दर शरीरवाली विमलश्री नामकी पुत्री हुई। वह भद्रिलपुरके स्वामी राजा मेघरथकी इच्छित सुख देनेवाली रानी हुई थी। किसी समय शुद्ध बुद्धिके धारक राजा मेघनादने राज्य छोड़कर धर्म नामक मुनिराजके समीप व्रत धारण कर लिया जिससे वह सहस्रार नामक स्वर्गमें अठारह सागरकी आयुवाला देदीप्यमान कान्तिका धारक इन्द्र हो गया। इधर रानी विमलश्रीने भी पद्मावती नामक आर्यिकाके पास जाकर संयम धारण कर लिया और आचाम्लवर्ध नामका उपवास किया जिसके फलस्वरूप वह आयुके अन्तमें उसी सहस्रार स्वर्गमें देवी हुई और आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत होकर अरिष्टपुर नगरके स्वामी राजा हिरण्यवर्माकी रानी श्रीमतीके यह पद्मावती नामकी पुत्री है। इसने स्नेहसे युक्त हो स्वयंवरमें रत्नमाला डालकर आपका सम्मान किया और तदनन्तर इस शीलवतीने महादेवीका पद प्राप्त किया। इस प्रकार गणधर भगवान्के मुखारविन्दसे अपने-अपने भव सुनकर श्रीकृष्णकी गौरी, गान्धारी और पद्मावती नामकी तीनों रानियाँ हर्षको प्राप्त हुईं ॥४४३-४५९॥ इस प्रकार गुणोंके भाण्डार गणधर देवने स्पष्ट और मिष्ट अक्षरोंके द्वारा पूर्व भवावलीसे सुशोभित निर्णयका साक्षात् वर्णन कर दिखाया और श्रीकृष्ण भी अपनी प्यारी आठों रानियोंकी सुखद-दुःख-भरी कथाएँ अच्छी तरह सुनकर अन्तमें प्रबुद्धि

---

१ शीलावहा: ख०, ग०, घ०। २ सा त्वाकर्ण्य ल०। ३ -मयीं ल०। ४ कथाम् ल०। ५ आर प्राप।

वसन्ततिलका

देव्योऽपि दिव्यवचनं मुनिपुङ्गवस्य
भक्त्यावहं बहुभवार्जितजांहसां तत् ।
कृत्वा हृदि प्रमुदिताः पृथुशर्मसारे
धर्मेऽर्हतो हिततमे स्वमतिं प्रतेनुः ॥४६१॥

मालिनी

नहि हितमिह किंचिद्धर्ममेकं विहाय
व्यवसितमसुमद्भ्यो धिग्विमुग्धात्मवृत्तम् ।
इति विहितवितर्काः सर्वसभ्याश्च धर्मं
समुपययुरपापाः स्वामिना नेमिनोक्तम् ॥४६२॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे नेमिचरिते भवान्तर-व्यावर्णनं नामैकसप्ततितमं पर्व ॥७१॥



प्रदान करनेवाले सन्तोषको प्राप्त हुए ॥४६०॥ वे देवियाँ भी अनेक जन्ममें कमाये हुए अपने पापोंका नाश करनेवाले श्री गणधर भगवान्‌के दिव्य वचन हृदयमें धारण कर बहुत प्रसन्न हुईं और सबने कल्याणकारी तथा बहुत भारी सुख प्रदान करनेवाले अर्हन्त भगवान्‌के धर्ममें अपनी बुद्धि लगायी ॥४६१॥ 'इस संसारमें एक धर्मको छोड़कर दूसरा कार्य प्राणियोंका कल्याण करनेवाला नहीं है, धर्मरहित मूर्ख जीवोंका जो चरित्र है उसे धिक्कार है' इस प्रकार विचार करते हुए सब सभासदोंने पापरहित होकर, श्री नेमिनाथ भगवान्‌का कहा हुआ धर्म स्वीकार किया ॥४६२॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके नेमिचरित्र प्रकरणमें भवान्तरोंका वर्णन करनेवाला इकहत्तरवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥७१॥

अथ [1]स्वज्ञातपूर्वं च जगत्त्रयसभावनौ । प्रकाशयितुकामेन बलदेवेन धीमता ॥१॥
प्रद्युम्नशम्भवोरुत्पत्तिसंबन्धः पृच्छ्यते स्म सः । वरदत्तग[2]णेन्द्रो नु स्वनुग्रहधियेत्यमब्रवीत् ॥२॥
जम्बूद्वीपेऽस्मिन् मगधे[3] देशे शालिग्रामनिवासिनः । द्विजस्य सोमदेवस्य भार्याभूदग्निलाख्यया ॥३॥
अग्निभूतिरभूत् सूनुर्वायुभूतिस्तयोरनु । तावन्येद्युः पुरे नन्दिवर्धनाख्ये मनोहरे ॥४॥
[4]नन्दने नन्दिघोषाख्ये वने मुनिमपश्यताम् । नन्दिवर्धननामानं [5]मुनिसंघविभूषणम् ॥५॥
दुष्टावुपागतौ दृष्ट्वा तौ मुनीन्द्रोऽब्रवीन्मुनीन् । विसंवदितुमायातावेतौ मिथ्यात्वदूषितौ ॥६॥
भवद्भिः कैश्चिदप्याभ्यां न कार्या सह संकथा । एतन्निमित्ततो[6] भूयानुपसर्गो भविष्यति ॥७॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा गुरुशासनकारिणः । मौनव्रतेन सर्वेऽपि स्थिताः संयमिनस्तदा ॥८॥
दृष्ट्वा तावेत्य सर्वेषां मूकीभूय व्यवस्थितिम् । कृतापहासौ स्वं ग्रामं गच्छन्तावशितुं गतम् ॥९॥
ग्रामान्तरात् समायातं मुनिमालोक्य सत्यकम् । तत्समीपमहंकारप्रेरितावुपगम्य तम् ॥१०॥
नास्त्याप्तो नागमो नैव पदार्थो [7]नग्न केवलम् । किं क्लिश्नासि वृथोन्मार्गे मूढो दृष्टविनाशिनि ॥११॥
इत्यभ्यक्षिपतां सोऽपि जिनवक्त्रविनिर्गतम् । विवक्षितेतरानेकस्वरूपान्तसमाश्रयम् ॥१२॥
द्रव्यतत्त्वं यथादृष्टं कथयन्तं [8]सहेतुकम् । स्याद्वादमवलम्ब्योच्चैस्तत्प्रणेतृप्रमाणताम् ॥१३॥
प्रसाध्यादृष्टमार्गेऽपि तदुक्तागम[9]सुस्थितिम् । निरूप्य वादकण्डूतिमपनीय दुरात्मनोः ॥१४॥

अथानन्तर—तीनों जगत्‌की सभाभूमि अर्थात् समवसरणमें अपने पूर्वभव जानकर बुद्धिमान् बलदेवने सबको प्रकट करनेके लिए प्रद्युम्नकी उत्पत्तिका सम्बन्ध पूछा सो वरदत्त गणधर अनुग्रहकी बुद्धिसे इस प्रकार कहने लगे ॥१–२॥ इसी जम्बूद्वीपके मगधदेश सम्बन्धी शालिग्राममें रहनेवाले सोमदेव ब्राह्मणकी एक अग्निला नामकी स्त्री थी ॥३॥ उन दोनोंके अग्निभूति और वायुभूति नामके दो पुत्र थे, किसी एक दिन वे दोनों पुत्र नन्दिवर्धन नामके दूसरे सुन्दर गाँवमें गये। वहाँ उन्होंने नन्दिघोष नामके वनमें, मुनि संघके आभूषणस्वरूप नन्दिवर्धन नामक मुनिराजके दर्शन किये ॥४–५॥ उन दोनों दुष्टोंको आया हुआ देख, मुनिराजने संघके अन्य मुनियोंसे कहा कि 'ये दोनों मिथ्यात्वसे दूषित हैं और विसंवाद करनेके लिए आये हैं अतः आप लोगोंमें-से कोई भी इनके साथ बातचीत न करें। अन्यथा इस निमित्तसे भारी उपसर्ग होगा' ॥६–७॥ शासन करनेवाले गुरुके इस प्रकारके वचन सुनकर सब मुनि उस समय मौन लेकर बैठ गये ॥८॥ वे दोनों ब्राह्मण सब मुनियोंको मौनी देखकर उनकी हँसी करते हुए अपने गाँवको जा रहे थे कि उन मुनियोंमें-से एक सत्यक नामके मुनि आहार करनेके लिए दूसरे गाँवमें गये थे और लौटकर उस समय आ रहे थे। अहंकारसे प्रेरित हुए दोनों ब्राह्मण उन सत्यक मुनिको देख उनके पास जा पहुँचे और कहने लगे कि 'अरे नंगे ! न तो कोई आप्त है, न आगम है, और न कोई पदार्थ ही है फिर क्यों मूर्ख बनकर प्रत्यक्षको नष्ट करनेवाले इस उन्मार्गमें व्यर्थ ही क्लेश उठा रहा है'। इस प्रकार उन दोनोंने उक्त मुनिका बहुत ही तिरस्कार किया। मुनिने भी, जिनेन्द्र भगवान्‌के मुखकमलसे निकले विवक्षित तथा अविवक्षित रूपसे अनेक धर्मोंका निरूपण करनेवाले, एवं प्रत्यक्ष सिद्ध द्रव्य तत्त्वका हेतु सहित कथन करनेवाले अतिशय उत्कृष्ट स्याद्वादका अवलम्बन लेकर उसका उपदेश देनेवाले आप्तकी प्रामाणिकता सिद्ध कर दिखायी तथा परोक्ष तत्त्वके विषयमें भी उन्हीं आप्तके द्वारा कथित आगमकी समीचीन स्थितिका निरूपण कर उन दुष्ट ब्राह्मणोंकी वाद करनेकी खुजली दूर की एवं विद्वज्जनोंके

---

१ तद्ज्ञान– ल० । २ गणीन्द्रो ख० । ३ मागधे ख० । ४ नन्दान ल० । ५ मुनिं संघ ल० । ६ निबन्धतो ल० । ७ नाग्न ल० । ८ सुहेतुकम् ल० । ९ संस्थितिम् ल० ।

तयोर्जयध्वजं प्रापद् विद्वज्जनसमर्पितम् । तौ मानभङ्गसंभूतक्रोधौ निशि शितायुधौ ॥१५॥
परेद्युः पापकर्माणौ विजने शुद्धचेतसम् । प्रतिमायोगमारूढं सत्यकं मुनिपुङ्गवम् ॥१६॥
शस्त्रेणाहन्तुमुद्युक्तावन्यायेऽयमिति क्रुधा । द्विजौ [1]सुवर्णयक्षेण स्तम्भितौ कीलिताविव ॥१७॥
तद्दृष्ट्वा शरणमायातास्तन्मातृपितृबान्धवाः । मुनीनामाकुलीभूय यक्षस्तानवदत् सुधीः ॥१८॥
हिंसाधर्मं परित्यज्य यदि जैनेश्वरं मतम् । भवन्तः स्वीकरिष्यन्ति भवेन्मोक्षोऽनयोरिति ॥१९॥
तेऽपि भीतास्तथा बाढं करिष्याम इति ब्रुवन् । मुनिं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य विधिपूर्वकम् ॥२०॥
[2]मिथ्यैव प्रत्यपद्यन्त धर्मं श्रावकपालितम् । ततस्तत्स्तम्भनापाये सति तैस्तावुदीरितौ ॥२१॥
विरन्तुमयमितो धर्मादस्माद्धेतोरुपासितात् । इति नास्मात्सन्मार्गाच्चेलतुः काललब्धितः ॥२२॥
तेन संक्रुध्य ते ताभ्यां मृत्वा पापविपाकतः । अभ्राम्यन् कुगतीर्दीर्घं तौ च ब्राह्मणपुत्रकौ ॥२३॥
सव्रतौ जीवितस्यान्ते कल्पे सौधर्मनामनि । पञ्चपल्योपमायुष्कौ जातौ पारिषदाग्रिमौ ॥२४॥
तत्रानुभूय सद्भोगान् द्वीपेऽस्मिन् कौशले पुरे । साकेतेऽरिंजयो राजा सशौर्योऽभूदरिंजयः[3] ॥२५॥
तत्रार्हद्दासवाक्छ्रेष्ठी वप्रश्रीस्तन्मनःप्रिया । अग्निभूतिस्तयोः पूर्णभद्रोऽन्यो माणिभद्रकः ॥२६॥
सुतौ समुद्भूतौ तावन्येद्युः स महीपतिः । सिद्धार्थवनमध्यस्थमहेन्द्रगुरुसंनिधिम् ॥२७॥
बहुभिः सह संप्राप्य श्रुत्वा धर्मं विशुद्धधीः । अरिंदमे समारोप्य राज्यभारं भरक्षमे ॥२८॥
अर्हद्दासादिभिः सार्धं संयमं प्रत्यपद्यत । तत्रैव पूर्णभद्रेण प्राक्तनं मद्गुरुद्वयम् ॥२९॥

द्वारा समर्पण की हुई उनकी विजय-पताका छीन ली। मान भंग होनेसे जिन्हें क्रोध उत्पन्न हुआ है ऐसे दोनों ही पापी ब्राह्मण तीक्ष्ण शस्त्र लेकर दूसरे दिन रात्रिके समय निकले। उस समय शुद्ध चित्तके धारक वही सत्यक मुनि, एकान्त स्थानमें प्रतिमा योग धारण कर विराजमान थे सो वे पापी ब्राह्मण उन्हें शस्त्रसे मारनेके लिए उद्यत हो गये। यह देखकर और यह अन्याय हो रहा है ऐसा विचारकर सुवर्णयक्षने क्रोधमें आकर उन दोनों ब्राह्मणोंको कीलित हुएके समान स्तम्भित कर दिया—ज्योंका त्यों रोक दिया ॥१–१७॥ यह देखकर उनके माता, पिता, भाई आदि सब व्याकुल होकर मुनियोंकी शरणमें आये। तब बुद्धिमान् यक्षने कहा कि 'यदि तुम लोग हिंसाधर्मको छोड़कर जैनधर्म स्वीकृत करोगे तो इन दोनोंका छुटकारा हो सकता है' ॥१८–१९॥ यक्षकी बात सुनकर सब डर गये और कहने लगे कि हम लोग शीघ्र ही ऐसा करेंगे अर्थात् जैनधर्म धारण करेंगे। इतना कहकर उन लोगोंने मुनिराजकी प्रदक्षिणा दी, उन्हें विधि-पूर्वक प्रणाम किया और झूठमूठ ही श्रावक धर्म स्वीकृत कर लिया। तदनन्तर दोनों पुत्र जब कीलित होनेसे छूट आये तब उनके माता-पिता आदिने उनसे कहा कि अब यह धर्म छोड़ देना चाहिए क्योंकि कारणवश ही इसे धारण कर लिया था। उन पुत्रोंकी काललब्धि अनुकूल थी अतः वे अपने-द्वारा ग्रहण किये हुए सन्मार्गसे विचलित नहीं हुए ॥२०–२२॥ पुत्रोंकी यह प्रवृत्ति देख, उनके माता-पिता आदि उनसे क्रोध करने लगे और मरकर पापके उदयसे दीर्घकाल तक अनेक कुगतियोंमें भ्रमण करते रहे। उधर उन दोनों ब्राह्मण-पुत्रोंने व्रतसहित जीवन पूरा किया इस-लिए मरकर सौधर्म स्वर्गमें पाँच पल्यकी आयुवाले पारिषद जातिके श्रेष्ठ देव हुए ॥२३–२४॥ वहाँपर उन्होंने अनेक उत्तम सुख भोगे। तदनन्तर इसी जम्बूद्वीपके कोशल देश सम्बन्धी अयोध्या नगरीमें शत्रुओंको जीतनेवाला अरिंजय नामका पराक्रमी राजा राज्य करता था। उसी नगरीमें एक अर्हद्दास नामका सेठ रहता था उसकी स्त्रीका नाम वप्रश्री था। वे अग्निभूति और वायुभूतिके जीव पाँचवें स्वर्गसे चयकर उन्हीं अर्हद्दास और वप्रश्रीके क्रमशः पूर्णभद्र और मणि-भद्र नामके पुत्र हुए। किसी एक दिन राजा अरिंजय, सिद्धार्थ नामक वनमें विराजमान महेन्द्र नामक गुरुके समीप गया। वहाँ उसने अनेक लोगोंके साथ धर्मका उपदेश सुना जिससे उसकी बुद्धि अत्यन्त पवित्र हो गयी और उसने भार धारण करनेमें समर्थ अरिन्दम नामक पुत्रके ऊपर राज्य भार रखकर अर्हद्दास आदिके साथ संयम धारण कर लिया। उसी समय पूर्णभद्र नामक श्रेष्ठिपुत्रने

१ सुवर्म इत्यपि क्वचित् । २ मिथ्या प्रत्यपद्यन्त ल० (छन्दोभङ्गः) । ३ अरिंजयन् म०, ल० ।

क्वाद्य वर्तेते इत्येतदपि पृष्टो मुनिर्जगौ । जिनधर्मविरुद्धात्मा कृतपापोऽभवत्सुतः ॥ ३० ॥
रत्नप्रभाबिले सर्पावर्तनाम्नि ततोऽजनि । मातङ्गः काकजङ्घाख्यः सोमदेवो भवत्पिता ॥ ३१ ॥
माताग्निला च तस्यैव जायते स्म शुनी गृहे । इत्याकर्ण्य तत्प्रेम्णा तेन तौ परिबोधितौ ॥ ३२ ॥
संप्राप्योपशमं भावं संन्यस्य विधिना मृतः । काकजङ्घोऽभवन्नन्दीश्वरद्वीपे निधीश्वरः ॥ ३३ ॥
तत्पुरार्धीश्वरारिन्दमाख्यभूभृत्पतेः सुता । श्रीमत्याश्च शुनी सुप्रबुद्धाख्याजायत प्रिया ॥ ३४ ॥
संपूर्णयौवना यान्ती सा स्वयंवरमण्डपम् । यक्षेण बोधिता दीक्षामित्वाप्य प्रियदर्शनाम् ॥ ३५ ॥
जीवितान्तेऽभवद् देवी मणिचूलेति रूपिणी । सौधर्माधिपतेः पूर्णभद्रस्तदनुजोऽपि च ॥ ३६ ॥
सप्तस्थानगतौ श्रावकौ तौ दृढव्रतौ । प्रान्ते सामानिकौ देवौ जातौ सौधर्मनामनि ॥ ३७ ॥
द्विसागरोपमानीतौ द्वीपेऽत्र कुरुजाङ्गले । हास्तिनाख्यपुराधीशस्यार्हद्दासमहीपतेः ॥ ३८ ॥
काश्यपायाश्च पुत्रौ तौ मधुक्रीडवनामकौ । समभूतां तयो राज्ञा राजत्वयुवराजते ॥ ३९ ॥
विधाय विमलां प्रापद्विमलप्रभशिष्यताम् । कण्ठान्तामलकाख्यस्य पुरस्येशः कदाचन ॥ ४० ॥
रथान्तकनकस्य स्वं समायातस्य सेवितुम् । कान्तां कनकमालाख्यां समीक्ष्य मदनातुरः ॥ ४१ ॥
स्वीचकार मधुः शोकाद्रथान्तकनकाह्वयः । पार्श्वे द्विजटिसंज्ञस्य[1] तापसव्रतमाददे ॥ ४२ ॥
मधुक्रीडवयोरेवं काले गच्छत्यथान्यदा । सम्यगाकर्ण्य सद्धर्मं मधुर्विमलवाहनात् ॥ ४३ ॥
गर्हणं स्वदुराचारे कृत्वा क्रीडवसंयुतः । संयमं समवाप्यान्ते संश्रित्याराधनाविधिम् ॥ ४४ ॥

मुनिराजसे पूछा कि हमारे पूर्वभवके माता-पिता इस समय कहाँपर हैं ? उत्तरमें मुनिराज कहने लगे कि तेरे पिता सोमदेवने जिनधर्मसे विरुद्ध होकर बहुत पाप किये थे अतः वह मरकर रत्नप्रभा पृथिवीके सर्पावर्त नामके बिलमें नारकी हुआ था और वहाँसे निकलकर अब इसी नगरमें काकजंघ नामका चाण्डाल हुआ है। इसी तरह तेरी माता अग्निलाका जीव मरकर उसी चाण्डालके घर कुत्ती हुआ है। मुनिराजके वचन सुनकर पूर्णभद्रने उन दोनों जीवोंको सम्बोधा जिससे उपशम भावको प्राप्त होकर दोनोंने विधिपूर्वक संन्यास धारण किया और उसके फलस्वरूप काकजंघ तो नन्दीश्वरद्वीपमें कुबेर नामका व्यन्तर देव हुआ। और कुत्ती उसी नगरके स्वामी अरिन्दम नामक राजाकी श्रीमती नामकी रानीसे सुप्रबुद्धा नामकी प्यारी पुत्री हुई ॥२५-३४॥ जब वह पूर्ण यौवनवती होकर स्वयंवर-मण्डपकी ओर जा रही थी तब उसके पूर्वजन्मके पति कुबेर नामक यक्षने उसे समझाया जिससे उसने प्रियदर्शना नामकी आर्यिकाके पास जाकर दीक्षा धारण कर ली और आयुके अन्तमें वह सौधर्म इन्द्रकी मणिचूला नामकी रूपवती देवी हुई। इधर पूर्णभद्र और उसके छोटे भाई मणिभद्रने बड़ी दृढ़तासे श्रावककी सातवीं प्रतिमाके व्रत पालन किये और आयुके अन्तमें दोनों ही सौधर्म नामक स्वर्गमें सामानिक जातिके देव हुए ॥३५-३७॥ वहाँ उनकी दो सागरकी आयु थी, उसके पूर्ण होनेपर वे इसी जम्बूद्वीपके कुरुजांगल देशसम्बन्धी हस्तिनापुर नगरके राजा अर्हद्दासकी काश्यपा नामकी रानीसे मधु और क्रीडव नामके पुत्र हुए। किसी एक दिन राजा अर्हद्दासने मधुको राज्य और क्रीडवको युवराज पद देकर विमलप्रभ मुनिकी निर्दोष शिष्यता प्राप्त कर ली अर्थात् उनके पास दीक्षा धारण कर ली। किसी समय अमलकण्ठ नगरका राजा कनकरथ (हेमरथ) राजा मधुकी सेवा करनेके लिए उसके नगर आया था, वहाँ उसकी कनकमाला नामकी स्त्रीको देखकर राजा मधु कामसे पीड़ित हो गया। निदान उसने कनकमालाको स्वीकृत कर लिया—अपनी स्त्री बना लिया। इस घटनासे राजा कनकरथको बहुत निर्वेद हुआ जिससे उसने द्विजटि नामक तापसके पास व्रत ले लिये। इधर मधु और क्रीडवका काल सुखसे व्यतीत हो रहा था। किसी एक दिन मधुने विमलवाहन नामक मुनिराजसे अच्छी तरह धर्मका स्वरूप सुना, अपने दुराचारकी निन्दा की और क्रीडवके साथ-साथ संयम धारण कर लिया। आयुके अन्तमें विधिपूर्वक आराधना कर मधु और क्रीडव दोनों ही महाशुक्र स्वर्गमें इन्द्र हुए। आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत होकर बड़ा भाई मधुका जीव अपने अवशिष्ट पुण्य कर्मके उदयसे शुभ स्वप्न पूर्वक रुक्मिणीके पुत्र उत्पन्न हुआ है सो ठीक

---

१ द्विजटि—म० । जटिल इत्यपि क्वचित् ।

अन्वभूत्स महाशुक्रस्याधिपत्यं सहानुजः । स्वायुरन्ते ततश्च्युत्वा स्वावशेषशुभोदयात् ॥ ४५ ॥
सुस्वप्नपूर्वकं ज्येष्ठो रुक्मिण्यामभवत्सुतः । दुराचारार्जितं पापं सच्चरित्रेण नश्यति ॥ ४६ ॥
द्वितीयेऽहनि तद्बालसंचितोग्राघसंनिभः । देवो ज्योतिर्गणे जातो धूमकेतुसमाह्वयः ॥ ४७ ॥
गच्छन्स्वेच्छया व्योम्नि विहर्तुं वातरंहसा । विमाने स्वे धृते वान्यैः प्रद्युम्नस्योपरिस्थिते ॥ ४८ ॥
चरमाङ्गस्य केनेदं कृतमित्युपयुक्तवान् । विभङ्गादात्मनः शत्रुं ज्ञात्वा प्राक्तनजन्मनि ॥ ४९ ॥
रथान्तकरकस्यायं दर्पाद्दारानमाहरत् । तत्फलं प्रापयाम्येनमिति वैराग्निना ज्वलन् ॥ ५० ॥
विधाय स महानिद्रामन्तःपुरनिवासिनाम् । तमुद्धृत्याब्दमार्गेण दूरं नीत्वा यथाचिरम् ॥ ५१ ॥
अनुभूय महादुःखं कुर्यात्प्राणविमोचनम् । करिष्यामि तथेत्यस्य पुण्येनैवं प्रचोदितः ॥ ५२ ॥
अवरुह्य नभोमार्गाद्वने खदिरनामनि । शिलायास्तक्षकाख्यायाः क्षिप्त्वाधस्तादमुं गतः ॥ ५३ ॥
तदैव विजयार्धाद्रिदक्षिणश्रेणिभूषणे । विषयेऽमृतवत्याख्ये मेघकूटपुराधिपः ॥ ५४ ॥
[1]कालसंवरविद्याधरेशः काञ्चनमालया । सह जैनेश्वरीरर्चाः प्रियया प्रार्चितुं प्रयान् ॥ ५५ ॥
महाशिलाशिलाङ्गानिचलनं वीक्ष्य विस्मयात् । समन्तादीक्षमाणोऽसौ दृष्ट्वा बालं ज्वलत्प्रभम् ॥ ५६ ॥
प्रकृतोऽयं न केनापि कोपात्प्राग्जन्मवैरिणा । निक्षिप्तः पापिनाऽमुष्मिन् पश्य बालार्कभास्वरः[2] ॥ ५७ ॥
तस्मात्तवास्तु पुत्रोऽयं गृहाणामुं मनोरमे । इत्याहोवाच साप्यस्मै यौवराज्यं ददासि चेत् ॥ ५८ ॥
गृहीष्यामीति तेनापि प्रतिपद्य तथास्त्विति । तत्कर्णगतसौवर्णपत्रेणारचि पट्टकः ॥ ५९ ॥
तौ तं बालं समादाय पुरमाविष्कृतोत्सवम् । प्रविश्य देवदत्ताख्यं व्यधातां विधिपूर्वकम् ॥ ६० ॥

ही है क्योंकि दुराचारके द्वारा कमाया हुआ पाप सम्यक् चारित्रके द्वारा नष्ट हो जाता है ॥३५–४६॥

इधर राजा कनकरथका जीव तपश्चरण कर धूमकेतु नामका ज्योतिषी देव हुआ था। वह बालक प्रद्युम्नके पूर्वभवमें संचित किये हुए तीव्र पापके समान जान पड़ता था। किसी दूसरे दिन वह इच्छानुसार विहार करनेके लिए आकाशमें वायुके समान वेगसे जा रहा था कि जब उसका विमान चरमशरीरी प्रद्युम्नके ऊपर पहुँचा तब वह ऐसा रुक गया मानो किन्हीं दूसरोंने उसे पकड़कर रोक लिया हो। यह कार्य किसने किया है ? यह जाननेके लिए जब उसने उपयोग लगाया तब विभंगावधि ज्ञानसे उसे मालूम हुआ कि यह हमारा पूर्वजन्मका शत्रु है। जब मैं राजा कनकरथ था तब इसने दर्पवश मेरी स्त्रीका अपहरण किया था। अब इसे उसका फल अवश्य ही चखाता हूँ। ऐसा विचार कर वह वैररूपी अग्निसे प्रज्वलित हो उठा ॥ ४७–५० ॥ वह अन्तःपुरमें रहनेवाले लोगोंको महानिद्रासे अचेत कर बालक प्रद्युम्नको उठा लाया और आकाशमार्गसे बहुत दूर ले जाकर सोचने लगा कि मैं इसकी ऐसी दशा करूँगा कि जिससे चिरकाल तक महादुःख भोगकर प्राण छोड़ दे—मर जावे। ऐसा विचार कर वह बालकके पुण्यसे प्रेरित हुआ आकाशसे नीचे उतरा और खदिर नामकी अटवीमें तक्षक शिलाके नीचे बालकको रखकर चला गया ॥ ५१–५३ ॥

उसी समय विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीके आभूषण स्वरूप मृतवती नामक देशके कालकूट नगरका स्वामी कालसंवर नामका विद्याधर राजा अपनी कांचनमाला नामकी स्त्रीके साथ जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमाओंकी पूजा करनेके लिए जा रहा था ॥ ५४–५५ ॥ वह उस बड़ी भारी शिलाके समस्त अंगोंको जोरसे हिलता देख आश्चर्यमें पड़ गया। सब ओर देखनेपर उसे देदीप्यमान कान्तिका धारक बालक दिखाई दिया। देखते ही उसने निश्चय कर लिया कि 'यह सामान्य बालक नहीं है, कोई पूर्वजन्मका वैरी पापी जीव क्रोधवश इसे यहाँ रख गया है। हे प्रिये ! देख, यह कैसा बालसूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा है। इसलिए हे सुन्दरी ! यह तेरा ही पुत्र हो, तू इसे ले ले'। इस प्रकार बालकको उठाकर विद्याधरने अपनी स्त्रीसे कहा। विद्याधरीने उत्तर दिया कि 'यदि आप इसे युवराजपद देते हैं तो ले लूँगी'। राजाने उसकी बात स्वीकार कर ली और रानीके कानमें पड़े हुए सुवर्णके पत्रसे ही उसका पट्टबन्ध कर दिया ॥ ५६–५९ ॥ इस प्रकार राजा कालसंवर

---

१ कालसंवर ल० । २ भास्करः ल० ।

तल्लालनलीलाविलासैर्हृष्टचेतसोः । तयोर्गच्छति निर्व्याजं काले सुसुखभोगतः ॥ ६१ ॥
इतः सुतवियोगेन रुक्मिणी शोकवह्निना । दह्यमाना स्थलाम्भोजवल्लीव वनवह्निना ॥ ६२ ॥
संपत्तिर्वा चरित्रस्य दयाभावविवर्जिता । कार्याकार्यविचारेषु मन्दमन्देव शेमुषी ॥ ६३ ॥
मेघमालेव कालेन निर्गलज्जलसंचया । नावभासे [1]गते प्राणे क्व कलेवरसुप्रभा ननु ॥ ६४ ॥
तथैव वासुदेवोऽपि तद्वियोगादगाच्छुचम् । पृथक्तरुलतायोगे न वज्राभिताडनम् ॥ ६५ ॥
जलाशयस्तृषार्तस्य केकिनो जलदागमः । यथा तथास्य संतृप्त्यै संप्रति नारदोऽगमत् ॥ ६६ ॥
तं वीक्ष्य बालवृत्तान्तं हरिरुक्त्वाभ्यधादिदम् । त्वया केनाप्युपायेन क्वापि सोऽन्विष्यतामिति ॥ ६७ ॥
नारदस्तत्समाकर्ण्य शृणु पूर्वविदेहजे । नगरे पुण्डरीकिण्यां मया तीर्थकृतो गिरा ॥ ६८ ॥
स्वयंप्रभस्य ज्ञातानि वार्तां बालस्य पृच्छता । भवान्तराणि तद्वृद्धिस्थानं लाभो महानपि ॥ ६९ ॥
सहयोगो युवाभ्यां च तस्य षोडशवत्सरैः । इत्यसौ वासुदेवं च रुक्मिणीं च यथाश्रुतम् ॥ ७० ॥
प्राबोधयत्तयोस्तस्मात्सुरसेनानृलोकयोः । प्रादुर्भावाज्जिनस्येव [2]प्रमोदः परमोऽभवत् ॥ ७१ ॥
क्रमेण कृतपुण्योऽसौ तत्र संपूर्णयौवनः । कदाचिदाज्ञया राज्ञः प्रद्युम्नः सबलो बली ॥ ७२ ॥
गत्वा द्विषोऽग्निराजस्य विक्रम्योपरि स्वयम् । निष्प्रतापं विधायैनं युद्धे जित्वार्पयत्पितुः ॥ ७३ ॥

और रानी कांचनमालाने उस बालकको लेकर अनेक उत्सवोंसे भरे हुए अपने नगरमें प्रवेश किया और बालकका विधिपूर्वक देवदत्त नाम रखा ॥६०॥ उस बालकके लालन-पालन तथा लीलाके विलासोंसे जिनका चित्त प्रसन्न हो रहा है और जो सदा उत्तमोत्तम सुखोंका अनुभव करते रहे हैं ऐसे राजा-रानीका समय बिना किसी छलसे व्यतीत होने लगा ॥६१॥

इधर जिस प्रकार दावानलसे गुलाबकी वेल जलने लगती है उसी प्रकार पुत्र-विरहके कारण रुक्मिणी शोकाग्निसे जलने लगी ॥६२॥ जिस प्रकार चारित्रहीन मनुष्यकी दयाभावसे रहित सम्पत्ति शोभा नहीं देती, अथवा जिस प्रकार कार्य और अकार्यके विचारमें शिथिल बुद्धि सुशोभित नहीं होती और जिस प्रकार काल पाकर जिसका पानी बरस चुका है ऐसी मेघमाला सुशोभित नहीं होती उसी प्रकार वह रुक्मिणी भी सुशोभित नहीं हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि प्राण निकल जानेपर शरीरकी शोभा कहाँ रहती है ? ॥६३–६४॥ रुक्मिणीकी भाँति श्रीकृष्ण भी पुत्रके वियोगसे शोकको प्राप्त हुए सो ठीक ही है क्योंकि जब वृक्ष और लताका संयोग रहता है तब उन्हें नष्ट करनेके लिए अलग-अलग वज्रपातकी आवश्यकता नहीं रहती ॥६५॥ जिस प्रकार प्याससे पीड़ित मनुष्यके लिए जलाशयका मिलना सुखदायक होता है और मयूरके लिए मेघका आना सुखदायी होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णको सुख देनेके लिए नारद उनके पास आया ॥६६॥ उसे देखते ही श्रीकृष्णने बालकका सब वृत्तान्त सुनाकर कहा कि जिस किसी भी उपायसे जहाँ कहीं भी सम्भव हो आप उस बालककी खोज कीजिए ॥६७॥ यह सुनकर नारद कहने लगा कि सुनो 'पूर्वविदेह क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीमें स्वयम्प्रभ तीर्थंकरसे मैंने बालककी बात पूछी थी। अपने प्रश्नके उत्तरमें मैंने उनकी वाणीसे बालकके पूर्व भव जान लिये हैं, वह वृद्धिका स्थान है अर्थात् सब प्रकारसे बढ़ेगा, उसे बड़ा लाभ होगा और सोलह वर्ष बाद उसका आप दोनोंके साथ समागम हो जावेगा'। इस प्रकार नारदने जैसा सुना था वैसा श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणीको समझा दिया ॥६८–७०॥ जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌का जन्म होते ही देवोंकी सेना तथा मनुष्य लोकमें परम हर्ष उत्पन्न होता है उसी प्रकार नारदके वचन सुनते ही रुक्मिणी तथा श्रीकृष्णको परम हर्ष उत्पन्न हुआ ॥७१॥

उधर पुण्यात्मा देवदत्त (प्रद्युम्न) क्रम-क्रमसे नवयौवनको प्राप्त हुआ। किसी एक समय अतिशय बलवान् प्रद्युम्न पिताकी आज्ञासे सेना साथ लेकर अपने पराक्रमसे स्वयं ही अग्निराज शत्रुके ऊपर जा चढ़ा और उसे युद्धमें प्रताप रहित बना जीतकर ले आया तथा पिताको सौंप

१–गतप्राणे ल० । २–द्विनस्येव ल० ।

तदा दृष्टपराक्रमस्य प्रद्युम्नस्य खगाधिपः । परार्ध्यवस्तुदानेन महतीं माननां व्यधात् ॥ ७४ ॥
अवतीर्णमिव स्वर्गाद्यौवनैकविभूषणम् । सुतं कदाचित्तद्रूपमाहार्यैश्चातिभास्वरम् ॥ ७५ ॥
अवलोक्य स्मराक्रान्तबुद्ध्या काञ्चनमालया । जन्मान्तरागतस्नेहकृतानेक[1]विकारया ॥ ७६ ॥
प्रकाशयन्त्या स्वान्तस्थं भावं पापवर्तिन्या । कुमार तुभ्यं मद्देयां गृहाण विधिपूर्वकम् ॥७७॥
[2]प्रज्ञप्तिर्विद्येत्यभियुक्तस्तया मायानयेहया । सोऽपि मातस्तथैवाहं करिष्यामीति [3]संमदात् ॥७८॥
आदाय धीमांस्तां विद्यां सिद्धकूटमुपागमत् । कृत्वा तत्र नमस्कारं चारणौ मुनिपुङ्गवौ ॥७९॥
श्रित्वा श्रुत्वा ततो धर्मं ज्ञात्वा विद्याप्रसाधने । हेतुं तदुपदेशेन संजयन्तं समाश्रयत् ॥८०॥
आकर्ण्य तत्पुराणं च तदंघ्रिद्वयसंश्रयात् । विद्यां संपाद्य संजातसंमदः पुरमागमत् ॥८१॥
दृष्ट्वा द्विगुणिताकारशोभं तं कामकातरा । प्रार्थयन्ती बहूपायैरनिच्छन्तं महामतिम् ॥८२॥
पुरुषव्रतसंपन्नमिङ्गितादबूबुधत् । कुमारः सहवासस्य योग्यो नायं कुचेष्टितः ॥८३॥
जानाम्यनभिजात्यमस्येति खचराधिपम् । विचारविकलः सोऽपि तदुक्तं तत्प्रतीतवान् ॥८४॥
विद्युद्दंष्ट्रादिकान्पञ्चशतानि तनुजन्मनः । आहूय देवदत्तोऽयं [4]दौष्ट्योपांशुवधोचितः ॥८५॥
ततः केनाप्युपायेन भवद्भिः क्रियतां व्यसुः । इत्याह खचराधीशो [5]लब्धाज्ञास्तेऽपि कोपिनः ॥८६॥
स्वयं प्रागपि तं [6]हन्तुं कृतमन्त्राः परस्परम् । तथेति प्रतिपद्यातो निर्ययुस्तच्छिरोधृतः ॥८७॥

दिया ॥६२-७३॥ उस समय राजा कालसंवरने, जिसका पराक्रम देख लिया है ऐसे प्रद्युम्नका श्रेष्ठ वस्तुएँ देकर बहुत भारी सन्मान किया ॥७४॥ यौवन ही जिसका आभूषण है, जो स्वर्गसे पृथिवीपर अवतीर्ण हुएके समान जान पड़ता है, और जो आभूषणोंसे अत्यन्त देदीप्यमान है ऐसे प्रद्युम्नको देखकर किसी समय राजा कालसंवरकी रानी कांचनमालाकी बुद्धि कामसे आक्रान्त हो गयी, वह पूर्वजन्मसे आये हुए स्नेहके कारण अनेक विकार करने लगी, तथा पापसे युक्त हो अपने मनका भाव प्रकट करती हुई कुमारसे कहने लगी कि 'हे कुमार, मैं तेरे लिए प्रज्ञप्ति नामकी विद्या देना चाहती हूँ उसे तू विधिपूर्वक ग्रहण कर'। इस प्रकार मायापूर्ण चेष्टासे युक्त रानीने कहा। बुद्धिमान् प्रद्युम्नने भी 'हे माता ! मैं वैसा ही करूँगा' यह कहकर बड़े हर्षसे उससे वह विद्या ले ली और उसे सिद्ध करनेके लिए सिद्धकूट चैत्यालयकी ओर गमन किया। वहाँ जाकर उसने चारणऋद्धिधारी मुनियोंको नमस्कार किया, उनसे धर्मोपदेश सुना और तदनन्तर उनके कहे अनुसार विद्या सिद्ध करनेके लिए संजयन्त मुनिकी प्रतिमाका आश्रय लिया ॥७५-८०॥ उसने संजयन्त मुनिका पुराण सुना, उनकी प्रतिमाके चरणोंके आश्रयसे विद्या सिद्ध की और तदनन्तर हर्षित होता हुआ वह अपने नगरको लौट आया ॥८१॥ विद्या सिद्ध होनेसे उसके शरीरकी शोभा दूनी हो गयी थी अतः उसे देखकर रानी कांचनमाला कामसे कातर हो उठी। उसने अनेक उपायोंके द्वारा कुमारसे प्रार्थना की परन्तु महाबुद्धिमान् कुमारने इच्छा नहीं की। जब उसे इस बातका पता चला कि यह कुमार पुरुषव्रत सम्पन्न है और हमारे सहवासके योग्य नहीं है तब उसने अपने पति कालसंवरसे कहा कि यह कुमार कुचेष्टा युक्त है अतः जान पड़ता है कि यह कुलीन नहीं है—उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ नहीं है। विचार रहित कालसंवरने स्त्रीकी बातका विश्वास कर लिया। उसने उसी समय विद्युद्दंष्ट्र आदि अपने पाँच सौ पुत्रोंको बुलाकर एकान्तमें आज्ञा दी कि 'यह देवदत्त अपनी दुष्टताके कारण एकान्तमें वध करनेके योग्य है अतः आप लोग इसे किसी उपायसे प्राणरहित कर डालिए'। इस प्रकार विद्याधरोंके राजा कालसंवरसे आज्ञा पाकर वे पाँच सौ कुमार अत्यन्त कुपित हो उठे। वे पहले ही उसे मारनेके लिए परस्पर सलाह कर चुके थे फिर राजाकी आज्ञा प्राप्त हो गयी। 'ऐसा ही करूँगा' यह कहकर उन्होंने पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की और सबके

१ देहविकारया ल० । २ प्रज्ञप्त ग० । प्रज्ञप्ति ल० । म० पुस्तके तु एष श्लोकः परिभ्रष्टः । ३ संमुदा ख०, घ० । ४ दोष्युपांशु ल० । ५ खचराधीशलब्धा ल० । खचराधीशाल्लब्धा ख०, ग०, घ०, म० । ६ ते हन्तुं ग० ।

हिंसाप्रधानशास्त्राद्वा राज्याद्वा नयवर्जितात् । तपसो वाऽसन्मार्गस्थाद् दुष्टकलत्राद् ध्रुवं क्षतिः ॥८८॥
चालयन्ति स्थिरामृज्वीं नयन्ति विपरीतताम् । छादयन्ति मतिं दीप्तां स्त्रियो वा दोषविक्रियाः ॥८९॥
तदैव तोषो रोषश्च पापिनीनां प्रियान् प्रति । न हेतुरत्र कोऽप्यन्यो लाभालाभद्वयाद्विना ॥९०॥
अकार्यमवशिष्टं यन्नास्तीह कुयोषिताम् । सुतेन पुत्रशीलापि तदप्यनया कृतम् ॥९१॥
योषित्सु व्रतशीलादिसत्क्रियास्वप्युवन्ति चेत् । न शुद्धिं ताः स्वदेहस्थं कथं मायान्त्यसत्क्रियाः ॥९२॥
अम्भो वाम्भोजपत्रेषु चित्तं तासां न केषुचित् । स्थानं नु तिष्ठति स्पृष्टाऽस्पृष्टवद्यतः पृथक् ॥९३॥
सर्वदोषमयो भावो दुर्लक्ष्यः सर्वयोषिताम् । दुःसाध्यश्च महामोहावहोऽसौ संनिपातवत् ॥९४॥
कः कं किं वक्ति केनेति विचार्यं कार्यकारिणा । ऐहिकामुष्मिकार्थेषु तेनाऽयं नैव वञ्च्यते ॥९५॥
प्रमाणवचनः किं वा नेति वक्ता[2] परीक्ष्यताम् । विदुषा तस्य वृत्तेन तद्विज्ञानेन च स्फुटम् ॥९६॥
एतस्मिन्संभवेदेतन्न वेति नयवेदिना । तदाचारैः परीक्ष्यः प्राग्यमुद्दिश्य वचस्तु च ॥९७॥
किं प्रत्येयमिदं नेति शब्देनार्थेन च ध्रुवम् । उक्तं वस्तु परीक्ष्यं तत्सम्यक्प्रेक्षापूर्वकारिभिः ॥९८॥
भिया स्नेहेन लोभेन मात्सर्येण क्रुधा[3] ह्रिया । किमबोधेन बोधेन परेषां प्रेरणेन वा[4] ॥९९॥
वक्तीत्येतन्निमित्तानि परीक्ष्याणि सुमेधसा । एवं प्रवर्तमानोऽयं विद्वान्निर्द्वन्द्वमेधते ॥१००॥

सब उसे पूरा करनेकी इच्छा करते हुए नगरसे बाहर निकल पड़े। यहीं आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार हिंसाप्रधान शास्त्रसे, नीति रहित राज्यसे और मिथ्या मार्गमें स्थित तपसे निश्चित हानि होती है उसी प्रकार दुष्ट स्त्रीसे निश्चित ही हानि होती है ॥८२-८८॥ दोषोंके विकारोंसे युक्त स्त्रियाँ मनुष्यकी स्थिर बुद्धिको चंचल बना देती हैं, सीधीको कुटिल बना देती हैं और देदीप्यमान बुद्धिको ढक लेती हैं ॥८९॥ ये पापिनी स्त्रियाँ अपने पतियोंके प्रति उसी समय सन्तुष्ट हो जाती हैं और उसी समय क्रोध करने लगती हैं और इनके ऐसा करनेमें लाभ वा हानि इन दोके सिवाय अन्य कुछ भी कारण नहीं है ॥९०॥ संसारमें ऐसा कोई कार्य बाकी नहीं जिसे खोटी स्त्रियाँ नहीं कर सकती हों। हाँ, पुत्रके साथ व्यभिचारकी इच्छा करना यह एक कार्य बाकी था परन्तु कांचनमालाने वह भी कर लिया ॥९१॥ जिन किन्हीं स्त्रियोंमें व्रत शील आदि सत्क्रियाएँ रहती हैं वे भी शुद्धिको प्राप्त नहीं होतीं फिर जिनमें सत्क्रियाएँ नहीं हैं वे अपनी अशुद्धताके परम प्रकर्षको क्यों न प्राप्त हों ? ॥९२॥ जिस प्रकार कमलके पत्तोंपर पानी स्थिर नहीं रहता उसी प्रकार इन स्त्रियोंका चित्त भी किन्हीं पुरुषोंपर स्थिर नहीं ठहरता। वह स्पर्श करके भी स्पर्श नहीं करनेवालेके समान उनसे पृथक् रहता है ॥९३॥ सब स्त्रियोंके सब दोषोंसे भरे भाव दुर्लक्ष्य रहते हैं—कष्टसे जाने जा सकते हैं। ये सन्निपातके समान दुःसाध्य तथा बहुत भारी मोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं ॥९४॥ 'कौन किसके प्रति किस कारणसे क्या कहता है !' इस बातका विचार कार्य करनेवाले मनुष्यको अवश्य करना चाहिए। क्योंकि जो इस प्रकार विचार करता है वह इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी कर्मोंमें कभी प्रतारणाको प्राप्त नहीं होता—ठगाया नहीं जाता ॥९५॥ 'यह वक्ता प्रामाणिक वचन बोलता है या नहीं' इस बातकी परीक्षा विद्वान् पुरुषको उसके आचरण अथवा ज्ञानसे स्पष्ट ही करना चाहिए ॥९६॥ नयोंके जाननेवाले मनुष्यको पहले यह देखना चाहिए कि इसमें यह बात सम्भव है भी या नहीं ? इसी प्रकार जिसे लक्ष्य कर वचन कहे जावें पहले उसके आचरणसे उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिए। विचार कर कार्य करनेवाले मनुष्यको शब्द अथवा अर्थके द्वारा कहे हुए पदार्थका 'यह विश्वास करनेके योग्य है अथवा नहीं' इस प्रकार स्पष्ट ही परीक्षा कर लेनी चाहिए ॥९७-९८॥ 'यह जो कह रहा है सो भयसे कह रहा है, या स्नेहसे कह रहा है, या लोभसे कह रहा है, या मात्सर्यसे कह रहा है, या क्रोधसे कह रहा है, या लज्जासे कह रहा है, या अज्ञानसे कह रहा है, या जानकर कह रहा है, और या दूसरोंकी प्रेरणासे कह रहा है, इस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्यको निमित्तोंकी परीक्षा करनी चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार प्रवृत्ति

१ वाम-ख० । २ वक्तुः ग०, घ०, म० । ३ क्षुधा ख० । ४ च ख० ।

मा कं स्वाज्ञाप्रवृत्तेन दुष्टा कष्टमयं च तत् । [1]शिष्टाशिष्टानुसंशिष्टौ शिष्ट संमोमुहीति यत् ॥१०१॥
तदैव तं समुत्साह्य विहर्तुं ते वनं गताः । अग्निकुण्डं प्रदर्श्यास्य पतन्त्यस्मिन्नभीरवः ॥१०२॥
इत्याहुः सोऽपि तच्छ्रुत्वा न्यपतत्तत्र निर्भयः । विचारयति धीमांश्च न कार्यं दैवचोदितः ॥१०३॥
देवैर्योऽत्र निवासिन्या प्रतिगृह्याभिपूजितः । कनकाम्बरभूषादिदानेनास्माद्विनिर्ययौ ॥१०४॥
तस्माद्विस्मयमापन्नाः गत्वा तेऽन्यत्र तं पुनः । प्रोत्साह्य मेषभूभृद्द्वयमध्यं प्रावेशयन् खलाः ॥१०५॥
पर्वतौ मेषरूपेण पतन्तौ भुजशालिनम् । तन्निरुध्य स्थितं दृष्ट्वा तुष्टा तद्गतदेवता ॥१०६॥
तस्मै दिव्ये ददौ रत्नकुण्डले मकराङ्किते । ततो निर्गतवान्भूयस्तन्निर्देशाद्विशन् त्रिकम् ॥१०७॥
वराहाद्रेरसावुग्रमापतन्तं वराहकम् । करेणैकेन दंष्ट्रायां धृत्वान्येनास्य मस्तकम् ॥१०८॥
प्रहृत्य हेलया तस्थौ तस्यास्यावारणेहितम् । सर्म दृष्ट्वा देवतास्तस्था रुक्मिणीप्रियसूनवे ॥१०९॥
शङ्खं विजयघोषाख्यं महाजालमपि द्रुतम् । ददाति स्म सपुण्यानां क वा लाभो न जायते ॥ ११०॥
तथा कालगुहायां च महाकालाख्यराक्षसात् । वृषभाख्यं रथं रत्नकवचं चाप निर्जितात् ॥१११॥
विद्याधरेण केनापि खचरः कोऽपि कीलितः । तरुद्वये स कामस्य[2] दृष्टिगोचरमापतत् ॥११२॥
असह्यवेदनार्तस्य खेटकस्य च वीक्षणात् । इङ्गितज्ञो हरेः पुत्रोऽगुलिकां[3] बन्धमोचनीम् ॥११३॥
खेटकस्थां समादाय तत्प्रयुज्य विमोचने । कृतोपकार[4] संप्रापत्तस्माद्विद्याद्वयं महत् ॥११४॥

करता है वह विद्वानोंमें भी विद्वान् माना जाता है ॥९९–१००॥ 'अच्छी और बुरी आज्ञा देनेमें जो शिष्ट (उत्तम) पुरुष भी भूल कर जाते हैं वह बड़े कष्टकी बात है' यह बात दुष्टा भी अपने खोटस्वभावके कारण नहीं समझ पाती है ॥१०१॥

अथानन्तर— विद्युद्दंष्ट्र आदि पाँच सौ राजकुमार प्रद्युम्नको उत्साहित कर उसी समय विहार करनेके लिए वनकी ओर चल दिये। वहाँ जाकर उन्होंने प्रद्युम्नके लिए अग्निकुण्ड दिखाकर कहा कि जो इसमें कूदते हैं वे निर्भय कहलाते हैं। उनकी बात सुनकर प्रद्युम्न निर्भय हो उस अग्निकुण्डमें कूद पड़ा। सो ठीक ही है क्योंकि भाग्यसे प्रेरित हुआ बुद्धिमान् मनुष्य किसी कार्यका विचार नहीं करता ॥१०२-१०३॥ उस कुण्डमें कूदते ही वहाँकी रहनेवाली देवीने उसकी अगवानी की तथा सुवर्णमय वस्त्र और आभूषणादि देकर उसकी पूजा की। इस तरह देवीके द्वारा पूजित होकर प्रद्युम्न उस कुण्डसे बाहर निकल आया ॥१०४॥ इस घटनासे उन सबको आश्चर्य हुआ। तदनन्तर वे दुष्ट उसे उत्साहित कर फिर ले चले और मेषके आकारके दो पर्वतोंके बीचमें उसे घुसा दिया ॥१०५॥ वहाँ दो पर्वत मेषका आकार रख दोनों ओरसे उसपर गिरने लगे तब भुजाओंसे सुशोभित प्रद्युम्न उन दोनों पर्वतोंको रोककर खड़ा हो गया। यह देख वहाँ रहनेवाली देवीने सन्तुष्ट होकर उसे मकरके चिह्नसे चिह्नित रत्नमयी दो दिव्य कुण्डल दिये। वहाँसे निकलकर प्रद्युम्न, भाइयोंके आदेशानुसार वराह पर्वतकी गुफामें घुसा। वहाँ एक वराह नामका भयंकर देव आया तो प्रद्युम्नने एक हाथसे उसकी दाढ़ पकड़ ली और दूसरे हाथसे उसका मस्तक ठोकना शुरू किया इस तरह वह दोनों जबड़ोंके बीचमें लीलापूर्वक खड़ा हो गया। रुक्मिणीके पुत्र प्रद्युम्नकी चेष्टा देखकर वहाँ रहनेवाली देवीने उसे विजयघोष नामका शंख और महाजाल ये दो वस्तुएँ दीं। सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यात्मा जीवोंको कहाँ लाभ नहीं होता है ? ॥१०६-११०॥

इसी तरह उसने काल नामक गुफामें जाकर महाकाल नामक राक्षसको जीता और उससे वृषभ नामका रथ तथा रत्नमय कवच प्राप्त किया ॥१११॥ आगे चलकर किसी विद्याधरने किसी विद्याधरको दो वृक्षोंके बीचमें कीलित कर दिया था वह प्रद्युम्नको दिखाई दिया, वह कीलित हुआ विद्याधर असह्य वेदनासे दुःखी हो रहा था। यद्यपि उसके पास बन्धनसे छुड़ानेवाली गुटिका थी परन्तु कीलित होनेके कारण वह उसका उपयोग नहीं कर सकता था। उसे देखते ही प्रद्युम्न उसके

---

१ 'इष्टशिष्टानुसंशिष्टाशिष्टः' ल० । इष्टं शिष्टानुसंशिष्टौ शिष्टः' म० । इष्टशिष्टानुसंशिष्टाविष्टः ल० । ग० पुस्तके त्रुटितोऽयं श्लोकः । २ प्रद्युम्नस्य । ३ गुटिकां म०, ख० । गुलिकां ग०, घ० । ४ कृतोपकारसंप्राप्त–ल० ।

सुरेन्द्रजालं जालान्तनरेन्द्रं प्रस्तरं च सः । पुनः सहस्रवक्त्राहिभवने शङ्खपूरणात् ॥ ११५ ॥
बिलान्निर्गत्य नागश्च नागी[1] च मकरध्वजम् । चित्रवर्णं धनुर्नन्दकाख्यासिं कामरूपिणीम् ॥ ११६ ॥
मुद्रिकां च प्रसन्नौ तौ सर्वं तस्मै वितेरतुः । कम्पनेन कपित्थाख्यभूरुहः पादुकाद्वयम् ॥ ११७ ॥
तेनानर्घ्यं समीयायि देवतायास्तदाश्रितेः[2] । सुवर्णकद्रुमे पञ्चफणाहिपतिनार्पितान् ॥ ११८ ॥
तपनस्तापनो मोहनाभिधानो विलापनः[3] । मारणश्चेति पञ्चैतान् शरान् संप्राप्य पुण्यभाक् ॥ ११९ ॥
मौलिमौषधिमालां च छत्रं चामरयुग्मकम् । दत्तं क्षीरवने मर्कटेशात्स प्रतिगृहीतवान् ॥ १२० ॥
स कदम्बमुखीवाप्यां[4] नागपाशमवाप्तवान् । अस्य वृद्धेरसोढारः सर्वे तं ज्ञातिसूनवः ॥ १२१ ॥
यः पातालमुखीवाप्यां पतेत्स सकलेश्वरः । भवेदित्यवदन्कामोऽप्यवगम्य तदिङ्गितम् ॥ १२२ ॥
प्रज्ञप्तिं निजरूपेण तस्यां वाप्यामपीपतत् । स्वयं पार्श्वे तिरोधाय स्वरूपं नयविदग्रणीः ॥ १२३ ॥
महाशिलाभिस्तैः सर्वैर्विधेयं वधमात्मनः[5] । विदित्वा कोपसंतप्तो विद्युद्दंष्ट्रादिविद्विषः ॥ १२४ ॥
गाढं पाशेन बद्ध्वाधोमुखान् प्रक्षिप्य तत्र सः । कृत्वा शिलापिधानं च प्रहित्य नगरं प्रति ॥ १२५ ॥
ज्योतिःप्रभं कनीयांसं तेषामाक्रम्य शिलां स्थितः । पापिनो हि स्वपापेन प्राप्नुवन्ति पराभवम् ॥ १२६ ॥
अथात्र नारदं कामचारिणं नभस्तलात्[6] । आगच्छन्तं निजस्थानं हरिसूनुरलोकत ॥ १२७ ॥
यथाविधि प्रतीक्ष्यैनमभ्युत्थानपुरस्सरम् । कृतसंभाषणस्तेन प्रणीतात्मप्रवृत्तकः ॥ १२८ ॥

पास गया और उसके संकेतको समझ गया। उसने विद्याधरके पासकी गुटिका लेकर उसकी आँखोंपर फेरा और उसे बन्धनसे मुक्त कर दिया। इस तरह उपकार करनेवाले प्रद्युम्नने उस विद्याधरसे सुरेन्द्र जाल, नरेन्द्र जाल, और प्रस्तर नामकी तीन विद्याएँ प्राप्त कीं। तदनन्तर—वह प्रद्युम्न, सहस्रवक्त्र नामक नागकुमारके भवनमें गया। वहाँ उसने शंख बजाया जिससे नाग और नागी दोनों ही बिलसे बाहर आये और प्रसन्न होकर उन्होंने उसके लिए मकरचिह्नसे चिह्नित ध्वजा, चित्रवर्ण नामका धनुष, नन्दक नामका खड्ग और कामरूपिणी नामकी अँगूठी दी। वहाँसे चलकर उसने एक कैथका वृक्ष हिलाया जिसके ऊपर रहनेवाली देवीसे आकाशमें चलनेवाली दो अमूल्य पादुकाएँ प्राप्त कीं ॥११५-११७॥ वहाँसे चलकर सुवर्णार्जुन नामक वृक्षके नीचे पहुँचा और वहाँ पाँच फणवाले नागराजके द्वारा दिये हुए तपन तापन, मोदन, विलापन और मारण नामके पाँच बाण उस पुण्यात्माको प्राप्त हुए॥११८-११९॥ तदनन्तर वह क्षीरवनमें गया। वहाँ सन्तुष्ट हुए मर्कट देवने उसे मुकुट, औषधिमाला, छत्र और दो चमर प्रदान किये ॥१२०॥ इसके बाद वह कदम्बमुखी नामकी बावड़ीमें गया और वहाँके देवसे एक नागपाश प्राप्त किया। तदनन्तर इसकी वृद्धिको नहीं सहनेवाले सब विद्याधरपुत्र इसे पातालमुखी बावड़ीमें ले जाकर कहने लगे कि जो कोई इसमें कूदता है वह सबका राजा होता है। नीतिका जाननेवाला प्रद्युम्न उन सबका अभिप्राय समझ गया इसलिए उसने प्रज्ञप्ति विद्याको अपना रूप बनाकर बावड़ीमें कुदा दिया और स्वयं अपने-आपको छिपाकर वहीं खड़ा हो गया ॥१२१-१२३॥ जब उसे यह मालूम हुआ कि ये सब बड़ी-बड़ी शिलाओंके द्वारा मुझे मारना चाहते थे तब वह क्रोधसे सन्तप्त हो उठा. उसने उसी समय विद्युद्दंष्ट्र आदि शत्रुओंको नागपाशसे मजबूतीके साथ बाँधकर तथा नीचेकी ओर मुख कर उसी बावड़ीमें लटका दिया और ऊपरसे एक शिला ढक दी। उन सब भाइयोंमें ज्योतिप्रभ सबसे छोटा था प्रद्युम्नने उसे समाचार देनेके लिए नगरकी ओर भेज दिया और स्वयं वह उसी शिलापर बैठ गया सो ठीक ही है क्योंकि पापी मनुष्य अपने पापसे पराभवको प्राप्त करते ही हैं ॥१२४-१२६॥

अथानन्तर—प्रद्युम्नने देखा कि इच्छानुसार चलनेवाले नारदजी आकाश-स्थलसे अपनी ओर आ रहे हैं ॥१२७॥ वह उन्हें आता देख उठकर खड़ा हो गया। उसने विधिपूर्वक उनकी पूजा की, उनके साथ बातचीत की तथा नारदने उसका सब वृत्तान्त कहा। उसे सुनकर प्रद्युम्न बहुत

१–गामि ल० । २ तदाश्रितः ल० । तरःश्रियः इत्यपि क्वचित् । ३ विलोपन. ख०, ग०, घ० । ४ कदम्बकमुखी ल० । ५ वधवात्मनः ल० । ६ नभसः स्थलात् इत्यपि क्वचित् ।

सम्यक्प्रदाय तत्सर्वं प्रहृष्टोऽरिबलागमम् । [1]दृष्ट्वाऽऽस्त विस्मितस्तावद्बलं तं खेचरेशितुः ॥ १२९ ॥
सद्म वेष्टनेवार्कं प्रावृड्जलदजालकम् । कालसंवरमुख्यं तस्य युद्ध्वा भङ्गमापयत् ॥ १३० ॥
तं सूनुकृतवृत्तान्तं बोधयित्वा यथाविधम् । अपनीय शिलां नागपाशं चैतान् व्यपाशयत् ॥ १३१ ॥
नारदागमहेतुं च ज्ञापयित्वा सविस्तरम् । आपृच्छ्य तु नतस्तेन रथं वृषभनामकम् ॥ १३२ ॥
नारदेन समारुह्य [2]प्रयान् द्वारावतीं प्रति । स्वपूर्वभवसंबन्धं शृण्वंस्तेन निरूपितम् ॥ १३३ ॥
हास्तिनाख्यपुरं प्राप्य दुर्योधनमहीभुजः । जलधेश्च सुतां कन्यां साध्वीमुदधिसंज्ञया ॥ १३४ ॥
दातुं भानुकुमाराय महाभिषवणोत्सवम् । विधीयमानं वीक्ष्यासौ रथे प्रस्तरविद्यया ॥ १३५ ॥
नारदं शिलयाच्छाद्य रथादुत्तीर्य भूतलम् । बहुप्रकारं हासानां तत्र कृत्वा ततो गतः ॥ १३६ ॥
मथुराया बहिर्भागे पाण्डवान् स्वप्रियां सुताम् । प्रदित्सून् गच्छतो भानुकुमाराय निवीक्ष्य[3] सः ॥ १३७ ॥
समारोपितकोदण्डहस्तो व्याधाकृतिं दधन् । तेषां कदर्थनं कृत्वा नाना द्वारवतीमितः ॥ १३८ ॥
निधाय विद्यया [4]प्राग्वन्नारदं स्यन्दनस्थितम् । एकाकी स्वयमागत्य विद्याशाखामृगाकृतिः ॥ १३९ ॥
बभञ्ज सत्यभामाया नन्दनं वा वनं घनम् । तत्पानवापीनिःशेषजलपूर्णकमण्डलुः ॥ १४० ॥
ततो गत्वान्तरं किंचित्[5]स्यन्दनोरभ्ररासभान् । विपर्यासं समायोज्य मायारूपधरः स्मरः ॥ १४१ ॥
पुरगोपुरनिर्यातप्रवेशनपरान् जनान् । सत्रासान् समापाद्य प्रविश्य नगरं पुनः ॥ १४२ ॥
[6]शालाख्यवैद्यवेषेण स्वं प्रकाश्य स्वविद्यया । विच्छिन्नकर्णसंधानवेदित्वादि प्रघोषयन् ॥ १४३ ॥

सन्तुष्ट हुआ और उसपर विश्वास कर वहीं बैठ गया। शत्रुकी सेनाका आगमन देखकर वह आश्चर्यमें पड़ गया। थोड़ी ही देर बाद, जिस प्रकार वर्षा ऋतुमें बादलोंका समूह सूर्यको घेर लेता है उसी प्रकार अकस्मात् विद्याधर राजाकी सेनाने प्रद्युम्नको घेर लिया परन्तु प्रद्युम्नने युद्ध कर उन कालसंवर आदि समस्त विद्याधरोंको पराजित कर दिया। तदनन्तर—उसने राजा कालसंवरके लिए उनके पुत्रोंका समस्त वृत्तान्त सुनाया, शिला हटाकर नागपाश दूर किया और सबको बन्धन रहित किया, इसी तरह नारदके आनेका कारण भी विस्तारके साथ कहा। तत्पश्चात् वह राजा कालसंवरको अनुमति लेकर वृषभ नामक रथपर सवार हो नारदके प्रति रवाना हुआ। बीचमें नारदजीके द्वारा कहे हुए अपने पूर्वभवोंका सम्बन्ध सुनता हुआ वह हस्तिनापुर जा पहुँचा। वहाँके राजा दुर्योधनकी जलधि नामकी रानीसे उत्पन्न हुई एक उदधिकुमारी नामकी उत्तम कन्या थी। भानुकुमारको देनेके लिए उसका महाभिषेक रूप उत्सव हो रहा था। उसे देख प्रद्युम्नने प्रस्तर विद्यासे उत्पन्न एक शिलाके द्वारा नारदजीको तो रथपर ही ढक दिया और आप स्वयं रथसे उतरकर पृथिवी तलपर आ गया और उन लोगोंकी बहुत प्रकारकी हँसी कर वहाँसे आगे बढ़ा ॥१२८-१३६॥ चलते-चलते वह मथुरा नगरके बाहर पहुँचा, वहाँपर पाण्डव लोग अपनी प्यारी पुत्री भानुकुमारको देनेके लिए जा रहे थे। उन्हें देख, उसने धनुष हाथमें लेकर एक भीलका रूप धारण कर लिया और उन सबका नाना प्रकारका तिरस्कार किया। तदनन्तर वहाँसे चलकर द्वारिका पहुँचा ॥१३७-१३८॥ वहाँ उसने नारदजीको तो पहलेके ही समान विद्याके द्वारा रथपर अवस्थित रखा और स्वयं अकेला ही नीचे आया। वहाँ आकर उसने विद्याके द्वारा एक वानरका रूप बनाया और नन्दन वनके समान सत्यभामाका जो वन था उसे तोड़ डाला, वहाँकी बावड़ीका समस्त पानी अपने कमण्डलुमें भर लिया। फिर कुछ दूर आकर उसने अपने रथमें उलटे मेंढे तथा गधे जोते और स्वयं मायामयी रूप धारण कर लिया ॥१३९-१४१॥ इस क्रियासे उसने नगरके गोपुरमें आने-जानेवाले लोगोंको खूब हँसाया। तदनन्तर नगरके भीतर प्रवेश किया ॥१४२॥ और अपनी विद्याके बलसे शाल नामक वैद्यका रूप बनाकर घोषणा करना शुरू कर दी कि मैं कटे हुए कानोंका जोड़ना आदि कर्म जानता

१ 'आसु उपवेशने' इत्यस्य लङिरूपम्। २ प्रयान् इत्यपि क्वचित्। ३ कुमारायाभिवीक्ष्य सः ल०, कुमारायातिवीक्ष्य म०। ४ नारदस्यन्दनस्थितिम् इत्यपि क्वचित्। ५ स्यन्दनोऽरचि रासभान् ल०। ६ आलोक्य वैद्यवेषेण संप्रत्येयं ल०।

प्राप्य भानुकुमाराय दातुमानीतकन्यकाः । नानाविधविनोदैश्च हास्यं सोऽनु द्विजाकृतिः ॥ १४४ ॥
सत्यभामागृहं गत्वा भोजनावसरे द्विजान् । निराकृत्य स्वधाष्ट्र्येन भुक्त्वा स्वं कृतदक्षिणः ॥१४५॥
ततः क्षुल्लकवेषेण समुपेत्य स्वमातरम् । बुभुक्षितोऽहं सद्दृष्टे भोजय मामिति ॥१४६॥
संप्रार्थ्य विविधाहारान् भुक्त्वा तृप्तिमनाप्तवान् । कुरु मे देवि संतृप्तिमिति व्याकुलतां नयन् ॥१४७॥
तद्वितीर्णमहामोदकप्रयोगात्स[1] तृप्तवान् । ईषच्छान्तमनास्तत्र सुखं समुपविष्टवान् ॥१४८॥
अकाले चम्पकाशोकपुष्पाण्यभिसमीक्ष्य सा । कलालिकोकिलालापवाचालितवनान्तरे ॥१४९॥
तदा विस्मयमापन्ना मुदा पप्रच्छ किं भवान् । भद्रासौ मत्सुतो नारदोक्तकाले समागतः ॥१५०॥
इति तस्याः परिप्रश्ने स्वं रूपं संप्रकाशयन् । कृत्वा शिरसि तत्पादनखदीधितिमञ्जरीः ॥१५१॥
अभिधाय स्ववृत्तान्तमशेषं परितोषयन् । जननीं सह[2] संभुज्य तया तदभिवाञ्छितैः ॥१५२॥
बालक्रीडाविशेषैस्तां परां प्रीतिमवापयन् । प्राग्जन्मोपार्जितापूर्वपुण्योदय इव स्थितः ॥१५३॥
तदा नापितकः कोऽपि रुक्मिणीं समुपागतः । हरिप्रश्नात्सुतोत्पत्तिं विज्ञाय विनयंधरात् ॥१५४॥
मुनीन्द्रादावयोर्यस्याः प्राग्जः स्वोपयमेऽलकान् । स्नात्वान्यस्याः स हृत्वेति युवाभ्यां विहिता स्थितिः ॥१५५॥
तस्मात्त्वत्कालकास्ते दीयतां तन्निबन्धनम् । स्मृत्वा भानुकुमारस्य स्नानार्थं सत्यभामया ॥१५६॥
प्रहितोऽहं विवाहेऽद्य[3] द्रुतमित्यब्रवीदिदम् । किमेतदिति संपृष्टा[4] कामेन तव जन्मना ॥१५७॥
समं भानुश्च संजातस्तदावाभ्यां युवां हरेः । नीतौ दर्शयितुं सुप्ते तस्मिंस्त्वं पादसंनिधौ ।१५८॥

हूँ ।। १४२-१४३ ।। इसके बाद भानुकुमारको देनेके लिए कुछ लोग अपनी कन्याएँ लाये थे उनके पास जाकर उसने उनकी अनेक प्रकारसे हँसी की। पश्चात् एक ब्राह्मणका रूप बनाकर सत्यभामाके महलमें पहुँचा वहाँ भोजनके समय जो ब्राह्मण आये थे उन सबको उसने अपनी धृष्टतासे बाहर कर दिया और स्वयं भोजन कर दक्षिणा ले ली ।। १४४-१४५।। तदनन्तर क्षुल्लकका वेष रखकर अपनी माता रुक्मिणीके यहाँ पहुँचा और कहने लगा कि हे सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाली ! मैं भूखा हूँ, मुझे अच्छी तरह भोजन करा। इस तरह प्रार्थना कर अनेक तरहके भोजन खाये परन्तु तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ तब फिर व्याकुलताको प्रकट करता हुआ कहने लगा कि हे देवि ! मुझे सन्तुष्ट कर, पेट-भर भोजन दे ! तदनन्तर उसके द्वारा दिये हुए महामोदक खाकर सन्तुष्ट हो गया। भोजनके पश्चात् वह कुछ शान्तचित्त होकर वहीं-पर सुखसे बैठ गया ।। १४६-१४८ ।। उसी समय रुक्मिणीने देखा कि असमयमें ही चम्पक तथा अशोकके फूल फूल गये हैं और साराका सारा वन भ्रमरों तथा कोकिलाओंके मनोहर कूजनसे शब्दायमान हो रहा है। यह देख वह आश्चर्यसे चकित बड़े हर्षसे पूछने लगी कि हे भद्र ! क्या आप मेरे पुत्र हैं और नारदके द्वारा कहे हुए समयपर आये हैं। माताका ऐसा प्रश्न सुनते ही प्रद्युम्नने अपना असली रूप प्रकट कर दिया और उसके चरण-नखोंकी किरण रूप मंजरीको सिरपर रखकर उसे अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया। माताके साथ भोजन किया, उसकी इच्छानुसार बाल-कालकी क्रीड़ाओंसे उसे परम प्रसन्नता प्राप्त करायी और पूर्व-जन्ममें उपार्जित अपूर्व पुण्य कर्मके उदयके समान वहीं ठहर गया ।।१४९-१५३।।

उसी समय एक नाई रुक्मिणीके पास आया और कहने लगा कि 'श्रीकृष्णके प्रश्न करनेपर श्रीविनयन्धर नामके मुनिराजसे सत्यभामा और तुम दोनोंने अपने पुत्रकी उत्पत्ति जानकर परस्पर शर्त की थी कि हम दोनोंमें जिसके पहले पुत्र होगा वह पुत्र, अपने विवाहके समय दूसरीके सिरके बाल हरण कर स्नान करेगा। इसलिए हे देवी ! आप उस शर्तका स्मरणकर भानुकुमारके स्नानके लिए अपने केश मुझे दीजिये। आज विवाहके दिन सत्यभामाने मुझे शीघ्र ही भेजा है'। नाईकी बात सुनकर प्रद्युम्नने मातासे पूछा कि 'यह क्या बात है ?' वह कहने लगी कि 'तुम्हारा और भानुकुमारका जन्म एक साथ हुआ था। हम दोनोंने श्रीकृष्णको दिखानेके लिए तुम दोनोंको भेजा था परन्तु उस समय वे सो रहे थे इसलिए तू उनके चरणोंके समीप रख दिया गया था और वह

---

१ सुतृप्तवान् ल० । २ संतुष्टया ल० । ३ द्रुत ल० (?) । ४ प्रद्युम्नेन ।

स्थापितः स शिरोभागे प्रबुध्य त्वां पुरा हरिः । विलोक्य ज्येष्ठतां तेऽदादिति माताऽभ्यधात्ततः ॥१५९॥
स नापितं विकाराणामकरोदाकरं पुनः । आगतांश्च व्यधाद् भृत्यान् गोपुरेऽधःस्थिताननान् ॥१६०॥
वासुदेवस्य रूपेणातर्जयच्च विदूषकम् । दीर्घीकृत्स्वपादेन जराख्यं च महत्तरम् ॥१६१॥
मेषरूपेण संपाताम्पातयन् स्वपितामहम् । हलिनं च हरिर्भूत्वा निगीर्य स्वमदृश्यताम् ॥१६२॥
गत्वात्र सुखमास्स्वाम्बेत्यभिधाय स्वविद्यया । रुक्मिणीरूपमापाद्य निर्विशेषं मनोहरम् ॥१६३॥
विमाने स्थापयित्वाशु गच्छन्स बलं हरिम् । प्राप्तवन्तं [1]समाहर्तुमाकालिकयमोपमम् ॥१६४॥
जित्वा नरेन्द्रजालाख्यविद्याविहितमायया । तस्थौ निष्प्रतिपक्षः सन्वीक्षणाभीकविग्रहः ॥१६५॥
नारदः स तदागत्य तनूजस्याद्य वीक्षणम् । युवयोर्दृष्टं लब्धविद्यस्येत्यभ्यधाद्धसन् ॥१६६॥
सोऽपि प्रकटितात्मीयरूपः [2]पद्मशरो बलम् । हरिं च स्वशिरोन्यस्ततत्क्रमाब्जोऽस्यमानयत् ॥१६७॥
ततश्चक्रधरोऽनङ्गं प्रेमालिङ्गितविग्रहः । आरोप्य स्वगजस्कन्धं प्रहृष्टः प्राविशत पुरम् ॥१६८॥
सत्यभामासुतोद्दिष्टकन्यकाभिः सह स्मरः । कल्याणाभिषवं दिष्ट्या संप्रापन् सर्वसंमतः ॥१६९॥
एवं प्रयाति कालेऽस्य स्वर्गादागत्य कश्चन । तनूजः कामसोदर्यो हरेः प्राच्यो भविष्यति ॥१७०॥
इत्यादेशं समाकर्ण्य सत्यभामात्मनः पतिम् । यथा स्यात्तत्सुतप्राप्तिः स्वस्यास्तादृगयाचत ॥१७१॥
तच्छ्रुत्वा रुक्मिणी चाह कामं जाम्बवती यथा । लप्स्यते तेऽनुजं प्राच्यं तथा कुर्विति सादरम् ॥१७२॥
सोऽप्यदान्मुद्रिकां कामरूपिणीं तामवाप्य सा । सत्यभामाकृतिं गत्वा पतिसंयोगतः सुखम् ॥१७३॥

उनके सिरके समीप रखा गया था। जब वे जागे तो उनकी दृष्टि सबसे पहले तुझपर पड़ी इसलिए उन्होंने तुझे ही जेठापन प्रदान किया था—तू ही बड़ा है यह कहा था'। माताके वचन सुनकर प्रद्युम्नने उस नाईको विकृतिकी खान बना दी—उसकी बुरी चेष्टा कर दी और उसके साथ जो सेवक आये थे उन सबको नीचे सिरकर गोपुरमें उलटा लटका दिया तथा श्रीकृष्णका रूप बनाकर उनके विदूषकको खूब डाँटा। तदनन्तर मार्गमें सो रहा और जगानेपर अपने पैर लम्बे कर जर नामक प्रतीहारीको खूब ही धौंस दी ॥१५४-१६१॥ फिर मेषका रूप बनाकर बाबा वासुदेवको टक्कर-द्वारा गिरा दिया और सिंह बनकर बलभद्रको निगलकर अदृश्य कर दिया। तदनन्तर-माताके पास आकर बोला कि 'हे माता ! तू यहींपर सुखसे रह' यह कहकर उसने अपनी विद्यासे ठीक रुक्मिणीके ही समान मनोहर रूप बनाया और उसे विमानमें बैठाकर शीघ्रतासे बलभद्र तथा कृष्णके पास ले जाकर बोला कि मैं रुक्मिणीको हर-कर ले जा रहा हूँ, यदि सामर्थ्य हो तो छुड़ा लो ! यह सुनकर असमयमें आये हुए यमराजकी उपमा धारण करनेवाले श्रीकृष्ण भी उसे छुड़ानेके लिए सामने जा पहुँचे परन्तु भीलका रूप धारण करनेवाले प्रद्युम्नने नरेन्द्रजाल नामक विद्याकी मायासे उन्हें जीत लिया और इस तरह वह शत्रु रहित होकर खड़ा रहा ॥१६२-१६५॥ उसी समय नारदने आकर हँसते हुए, बलभद्र तथा श्रीकृष्णसे कहा कि जिसे अनेक विद्याएँ प्राप्त हैं ऐसे पुत्रका आज आप दोनोंको दर्शन हो रहा है ॥१६६॥ उसी समय प्रद्युम्नने भी अपना असली रूप प्रकट कर दिया तथा बलभद्र और श्रीकृष्णको उनके चरण-कमलोंमें अपना सिर झुकाकर नमस्कार किया ॥१६७॥ तदनन्तर चक्रवर्ती श्रीकृष्ण महाराजने बड़े प्रेमसे प्रद्युम्नका आलिंगन किया, उसे अपने हाथीके स्कन्धपर बैठाया और फिर बड़े प्रेमसे नगरमें प्रवेश किया ॥१६८॥ वहाँ जाकर प्रद्युम्नने अपने पुण्योदयसे, सत्यभामाके पुत्र भानुकुमारके लिए जो कन्याएँ आयी थीं उनके साथ सबकी सम्मतिसे विवाह किया ॥१६९॥ इस प्रकार काल सुखसे बीतने लगा। किसी एक दिन सबने सुना कि प्रद्युम्नका पूर्वजन्मका भाई स्वर्गसे आकर श्रीकृष्णका पुत्र होगा। यह सुनकर सत्यभामाने अपने पतिसे याचना की कि जिस प्रकार वह पुत्र मेरे ही उत्पन्न हो ऐसा प्रयत्न कीजिए ॥१७०-१७१॥ जब रुक्मिणीने यह सुना तो उसने बड़े आदरके साथ प्रद्युम्नसे कहा कि तुम्हारे पूर्वभवके छोटे भाई-को जाम्बवती प्राप्त कर सके ऐसा प्रयत्न करो ॥१७२॥ प्रद्युम्नने भी जाम्बवतीके लिए इच्छानुसार

---

१ समाहर्तुं इत्यपि क्वचित्। २ पञ्चशरो बलं ल०।(?)

क्रीडवं जाम्बवत्याप [1]शम्भवाख्यं दिवश्च्युतम् । सुभानुं सत्यभामा च जातमत्सरयोस्तयोः ॥१७४॥
गान्धर्वादिविवादेषु सुभानुं शम्भवोऽजयत् । सर्वत्र [2]पूर्वपुण्यानां विजयो नैव दुर्लभः ॥१७५॥
रुक्मिणी सत्यभामा च गतमात्सर्यबन्धने । परस्परगतां प्रीतिमन्वभूतां मनः परम् ॥१७६॥
इत्यशेषं गणेशोक्तमाकर्ण्य सकलं सदः । ननाम मुकुलीभूतकराब्जं तत्क्रमाब्जयोः ॥१७७॥
अथान्यदा जिनं नेमिं सीरपाणिः कृताञ्जलिः । अवनम्यान्वयुङ्क्तैवं हरिस्नेहाप्तमानसः ॥१७८॥
भगवन् वासुदेवस्य राज्यं प्राज्यमहोदयम् । प्रवर्तनेऽप्रमेयं मे ब्रूहीदं च कियच्चिरम् ॥१७९॥
भद्र द्वादशवर्षान्ते नश्येन्मद्यनिमित्तकम् । द्वीपायनेन निर्मूलमियं द्वारावती पुरी ॥१८०॥
विष्णोर्जरत्कुमारेण गत्यन्तरगतिर्भवेत् । स एष प्रथमां पृथ्वीं प्रविश्याकृशुभायुषः ॥१८१॥
अन्ते तस्माद्विनिर्गत्य तीर्थेशोऽत्र भविष्यति । त्वमप्येतद्वियोगेन षण्मासकृतशोचनः ॥१८२॥
सिद्धार्थसुरसंबोधनापास्ताखिलदुःखकः । दीक्षामादाय माहेन्द्रकल्पे देवो जनिष्यसे ॥१८३॥
उत्कृष्टायुःस्थितिस्तत्र भुक्तभोगोऽत्र तीर्थकृत् । भूत्वा निर्दग्धकर्मारिर्देहमुक्तो भविष्यसि ॥१८४॥
इति तीर्थेशिना प्रोक्तं श्रुत्वा द्वीपायनाह्वयः । सद्यः संयममादाय प्रायाज्जनपदान्तरम् ॥१८५॥
तथा जरत्कुमारश्च कौशाम्ब्यारण्यमाश्रयत् । प्राग्बद्धनरकायुष्यो हरिरन्वाप्तदर्शनः ॥१८६॥
[3]भाव्यमानान्त्यनामासौ नाहं शक्नोमि दीक्षितुम् । शक्तांश्च प्रतिबध्नामीत्यास्त्रीबालकमघोषयत् ॥१८७॥
प्रद्युम्नादिसुता देव्यो रुक्मिण्याद्याश्च चक्रिणम् । बन्धूंश्चापृच्छ्य तैर्मुक्ताः प्रत्यपद्यन्त संयमम् ॥१८८॥

रूप बनानेवाली अँगूठी दे दी उसे पाकर जाम्बवतीने सत्यभामाका रूप बनाया और पतिके साथ संयोग कर स्वर्गसे च्युत हुए क्रीडवके जीवको प्राप्त किया, उत्पन्न होनेपर उसका शम्भव नाम रखा गया। उसी समय सत्यभामाने भी सुभानु नामका पुत्र प्राप्त किया। इधर शम्भव और सुभानुमें जब परस्पर ईर्ष्या बढ़ी तो गान्धर्व आदि विवादोंमें शम्भवने सुभानुको जीत लिया सो ठीक ही है क्योंकि जिन्होंने पूर्वभवमें पुण्य उपार्जन किया है उन्हें सब जगह विजय प्राप्त होना कठिन नहीं है ॥१७३-१७५॥ इसके बाद रुक्मिणी और सत्यभामा ईर्ष्या छोड़कर परस्परकी प्रीतिका अनुभव करने लगीं ॥१७६॥ इस प्रकार गणधर भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ सब चरित सुनकर समस्त सभाने हाथ जोड़कर उनके चरण-कमलोंमें नमस्कार किया ॥१७७॥

अथानन्तर किसी दूसरे दिन, श्रीकृष्णके स्नेहने जिनका चित्त वश कर लिया है ऐसे बलदेवने हाथ जोड़कर भगवान् नेमिनाथको नमस्कार किया और पूछा कि हे भगवन्! श्रीकृष्णका यह वैभवशाली निष्कण्टक राज्य कितने समय तक चलता रहेगा? कृपाकर आप यह बात मेरे लिए कहिए ॥१७८-१७९॥ उत्तरमें भगवान् नेमिनाथने कहा कि भद्र! बारह वर्षके बाद मदिराका निमित्त पाकर यह द्वारावती पुरी द्वीपायनके द्वारा निर्मूल नष्ट हो जायेगी। जरत्कुमारके द्वारा श्रीकृष्णका मरण होगा। यह एक सागरकी आयु लेकर प्रथम-भूमिमें उत्पन्न होगा और अन्तमें वहाँसे निकलकर इसी भरत क्षेत्रमें तीर्थंकर होगा। तू भी इसके वियोगसे छह माह तक शोक करता रहेगा और अन्तमें सिद्धार्थदेवके सम्बोधनसे समस्त दुःख छोड़कर दीक्षा लेगा तथा माहेन्द्र स्वर्गमें देव होगा ॥१८०-१८३॥ वहाँपर सात सागरकी उत्कृष्ट आयु पर्यन्त भोगोंका उपभोग कर इसी भरत क्षेत्रमें तीर्थंकर होगा तथा कर्मरूपी शत्रुओंको जलाकर शरीरसे मुक्त होगा ॥१८४॥ श्री तीर्थंकर भगवान्‌का यह उपदेश सुनकर द्वीपायन तो उसी समय संयम धारण कर दूसरे देशको चला गया तथा जरत्कुमार कौशाम्बीके वनमें जा पहुँचा। जिसने पहले ही नरकायुका बन्ध कर लिया था ऐसे श्रीकृष्णने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धमें कारणभूत सोलह कारण भावनाओंका चिन्तवन किया तथा स्त्री-बालक आदि सबके लिए घोषणा कर दी कि मैं तो दीक्षा लेनेमें समर्थ नहीं हूँ परन्तु जो समर्थ हों उन्हें मैं रोकता नहीं हूँ ॥१८५-१८७॥ यह सुनकर प्रद्युम्न आदि

---

१ सान्त्ववाक्यदिवश्च्युतम् ल०। २ पुण्यपण्यानां इत्यपि क्वचित्। ३ भाव्यनामात्यनामासौ ग०।

द्वीपायननिदानावसाने जाम्बवतीसुतः । अनिरुद्धश्च कामस्य सुतः संप्राप्य संयमम् ॥१८९॥
प्रद्युम्नमुनिना सार्धमूर्जयन्ताचलाग्रतः । कूटत्रयं समारुह्य प्रतिमायोगधारिणः ॥१९०॥
शुक्लध्यानं समापूर्य त्रयस्ते घातिघातिनः । कैवल्यनवकं प्राप्य प्रापन्मुक्तिमथान्यदा ॥१९१॥
पुण्यघोषणकृद्यक्षधर्मचक्रपुरस्सरः । पादन्यासे पुरः पश्चात्सप्ताब्जैः सप्तभिः पृथक् ॥१९२॥
कृतशोभो लसच्छत्राद्यष्टप्रातिहार्यकः । नभोमार्गगताशेषसुरखेचरसेवितः ॥१९३॥
पृथ्वीपथप्रवृत्तान्यविनेयजनतानुगः । पवनामरनिर्धूतधूलीकण्टकभूतलः ॥१९४॥
मेघामरकुमारोपसिक्तगन्धाम्बुसत्क्षितिः । इत्याद्याश्चर्यसंपन्नः सर्वप्राणिमनोहरः ॥१९५॥
धर्मामृतमयीं वृष्टिमभिषिञ्चन् जिनेश्वरः । विश्वान्देशान्विहृत्यायात्स देशं पल्लवाह्वयम् ॥१९६॥
अत्र पाण्डुतनूजानां प्रपञ्चोऽल्पः प्रभाष्यते । ग्रन्थविस्तरभीरूणामायुर्मेधानुरोधतः ॥१९७॥
काम्पिल्यायां धराधीशो नगरे द्रुपदाह्वयः । देवी दृढरथा तस्य द्रौपदी तनया तयोः ॥१९८॥
स्त्रीगुणैः सकलैः शस्या बभूव भुवनप्रिया । तां पूर्णयौवनां वीक्ष्य पित्रा कस्मै समर्प्यताम् ॥१९९॥
इयं कन्येति संपृष्टा मन्त्रिणो मन्त्रचर्चया । प्राभाषन्त प्रचण्डेभ्यः पाण्डवेभ्यः प्रदीयताम् ॥२००॥
एतान् सहजशत्रुत्वाद् दुर्योधनमहीपतिः । पाण्डुपुत्राननुपायेन लाक्षालयमवीविशत् ॥२०१॥
हन्तुं तेऽपि विज्ञाय स्वपुण्यपरिचोदिताः । प्रवृत्ताः पयसि क्ष्माजस्याधस्तात्किल्बिषं स्वयम् ॥२०२॥
अपहृत्य [1]सुरङ्गापातेन देशान्तरं गताः । स्वसंबन्ध्यादिदुःखस्य [2]वेदनायाश्च पाण्डवाः ॥२०३॥

आज्ञानुसार संयम धारण कर लिया ॥१८८॥ द्वीपायन द्वारिका-दाहका निदान अर्थात् कारण था जब वहाँसे अन्यत्र चला गया तब जाम्बवतीके पुत्र शम्भव तथा प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्धने भी संयम धारण कर लिया और प्रद्युम्नमुनिके साथ गिरनार पर्वतके ऊँचे तीन शिखरोंपर आरूढ होकर सब प्रतिमा योगके धारक हो गये ॥१८९-१९०॥ उन तीनोंने शुक्लध्यानको पूरा कर घातिया कर्मोंका नाश किया और नव केवललब्धियाँ पाकर मोक्ष प्राप्त किया ॥१९१॥ अथानन्तर-किसी दूसरे दिन भगवान् नेमिनाथने वहाँसे विहार किया। उस समय पुण्यकी घोषणा करनेवाले यक्षके द्वारा धारण किया हुआ धर्मचक्र उनके आगे चल रहा था, पैर रखनेकी जगह तथा आगे और पीछे अलग-अलग सात-सात कमलोंके द्वारा उनकी शोभा बढ़ रही थी, छत्र आदि आठ प्रातिहार्य अलग सुशोभित हो रहे थे, आकाशमार्गमें चलनेवाले समस्त देव तथा विद्याधर उनकी सेवा कर रहे थे, देव और विद्याधरोंके सिवाय अन्य शिष्य-जन पृथिवीपर ही उनके पीछे-पीछे जा रहे थे, पवनकुमार देवोंने पृथ्वीकी सब धूली तथा कण्टक दूर कर दिये थे और मेघकुमार देवोंने सुगन्धित जल बरसाकर भूमिको उत्तम बना दिया था, इत्यादि अनेक आश्चर्योंसे सम्पन्न एवं समस्त प्राणियोंका मन हरण करनेवाले भगवान् नेमिनाथ धर्मामृतकी वर्षा करते हुए समस्त देशोंमें विहार करनेके बाद पल्लव देशमें पहुँचे ॥१९२-१९६॥

आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि यहाँपर ग्रन्थके विस्तारसे डरनेवाले शिष्योंकी आयु और बुद्धिके अनुरोधसे पाण्डवोंका भी कुछ वर्णन किया जाता है ॥१९७॥ कम्पिला नामकी नगरीमें राजा द्रुपद राज्य करता था। उसकी देवीका नाम दृढरथा और उन दोनोंके द्रौपदी नामकी पुत्री थी। वह द्रौपदी स्त्रियोंमें होनेवाले समस्त गुणोंसे प्रशंसनीय थी तथा सबको प्यारी थी। उसे पूर्णयौवनवती देखकर पिताने मन्त्रचर्चाके द्वारा मन्त्रियोंसे पूछा कि यह कन्या किसे देनी चाहिए। मन्त्रियोंने कहा कि यह कन्या अतिशय बलवान् पाण्डवोंके लिए देनी चाहिए ॥१९८-२००॥ पाण्डवोंकी प्रशंसा करते हुए मन्त्रियोंने कहा कि राजा दुर्योधन इनका जन्मजात शत्रु है। उसने इन लोगोंको मारनेके लिए किसी उपायसे लाक्षाभवन (लाखके बने घर) में प्रविष्ट कराया था ॥२०१॥ परन्तु अपने पुण्यके उदयसे प्रेरित हुए ये लोग दुर्योधनकी यह चालाकी जान गये इसलिए जलमें खड़े हुए किसी वृक्षके नीचे रहनेवाले पिशाचको स्वयं हटाकर भाग गये और अपने कुटुम्बी जनोंसे

---

१ सुरङ्गोपान्तेन क० । २ छेदं नायस्य क० ।

पोदनाख्यपुरे चन्द्रदत्तनाममहीपतेः । देविलायाश्च [1]पुत्रं ते कलागुणविशारदम् ॥२०४॥
विधाय [2]निहतस्थूणगन्धा राज्यं व्यतारिषुः । अथेन्द्रवर्मणे प्रोच्येत्येवं चारतः श्रुता यतः ॥ २०५ ॥
इहाप्यवश्यमेष्यन्ति विधेयस्तत्स्वयंवरः । न केनचिद्विरोधोऽयमिति तद्वचनश्रुतेः ॥२०६॥
वसन्तेऽचीकरद् राजा स स्वयंवरमण्डपम् । तत्र सर्वमहीपालाः संप्रापन् पाण्डवेषु च ॥२०७॥
भीमस्य भोजनाद् गन्धगजस्य करतर्जनात् । पार्थस्य मत्स्यनिर्भेदचापारोहणसाहसात् ॥२०८॥
नारदागमनाच्चापि लक्ष्यमाणेषु निश्चितम् । समागतेषु सत्स्वर्हन्महापूजापुरस्सरम् ॥२०९॥
प्रविश्य भूषिता रत्नैः सा स्वयंवरमण्डपम् । भूमिपान् [3]कुलरूपादिगुणैः सिद्धार्थनामनि ॥२१०॥
पुरोधसि क्रमात् सर्वान् कथयत्यतिलङ्घ्य तान् । कन्या संभावयामास मालयोज्ज्वलयार्जुनम् ॥२११॥
द्रुपदाद्युग्रवंशोत्थमहीशाः कुरुवंशजाः । अन्येऽपि चानुरूपोऽयमिति तुष्टिं समागमन् ॥२१२॥
एवं संप्राप्तकल्याणाः प्रविश्य पुरमात्मनः । गमयन्ति स्म सौख्येन कालं दीर्घमिव क्षणम् ॥२१३॥
ततः पार्थात् सुभद्रायामभिमन्युरभूत् सुतः । द्रौपद्यां पञ्च पाञ्चालनामानोऽभवन् क्रमात् ॥२१४॥
द्यूतं युधिष्ठिरस्यात्र दुर्योधनमहीभुजा । भुजङ्गशैलपुर्यां[4] यत् कीचकानां विनाशनम् ॥२१५॥
विराटभूपतेर्भूरिगोमण्डलनिवर्तनम् । अनुयानेन भूपस्य विराटस्य सुशर्मणः ॥२१६॥
अल्पगोमण्डलस्यार्जुनोत्तराभ्यां निवर्तनम् । पुराणवेदिभिर्वाच्यं विस्तरेण यथाश्रुतम् ॥२१७॥
अथ युद्धे कुरुक्षेत्रे प्रवृत्ते कौरवैः समम् । [5]पाण्डवानां विनिर्जित्य दुर्योधनधराधिपम् ॥२१८॥

प्राप्त दुःखका अनुभव करनेके लिए देशान्तरको चले गये हैं। इधर गुप्तचरके मुखसे इनके विषयकी यह बात सुनी गयी है कि पोदनपुरके राजा चन्द्रदत्त और उनकी रानी देविलाके इन्द्रवर्मा नामक पुत्रको पाण्डवोंने समस्त कलाओं और गुणोंमें निपुण बनाया है तथा उसके प्रतिद्वन्द्वी स्थूणगन्धको नष्ट कर उसके लिए राज्य प्रदान किया है। सो वे पाण्डव यहाँ भी अवश्य ही आवेंगे। अतः अपने लिए द्रौपदीका स्वयंवर करना चाहिए क्योंकि ऐसा करनेसे किसीके साथ विरोध नहीं होगा। मन्त्रियोंके उक्त वचन सुनकर राजाने वसन्त ऋतुमें स्वयंवर-मण्डप बनवाया जिसमें सब राजा लोग आये। पाण्डव भी आये, उनमें भीम तो भोजन बनाने तथा मदोन्मत्त हाथीको हाथसे ताड़ित करनेसे प्रकट हुआ, अर्जुन मत्स्यभेद तथा धनुष चढ़ानेके साहससे प्रसिद्ध हुआ एवं अन्य लोग नारदके आगमनसे प्रकट हुए। जब सब लोग निश्चित रूपसे स्वयंवर-मण्डपमें आकर विराजमान हो गये तब अर्हन्त भगवान्‌की महा पूजा कर रत्नोंसे सजी हुई द्रौपदी स्वयंवर-मण्डपमें प्रविष्ट हुई। सिद्धार्थ नामक पुरोहित कुल-रूप आदि गुणोंका वर्णन करता हुआ समस्त राजाओंका अनुक्रमसे परिचय दे रहा था। क्रम-क्रमसे द्रौपदी समस्त राजाओंको उल्लंघन करती हुई आगे बढ़ती गयी। अन्तमें उसने अपनी निर्मल मालाके द्वारा अर्जुनको सम्मानित किया ॥२०२–२११॥ यह देखकर द्रुपद आदि उग्रवंशमें उत्पन्न हुए राजा कुरुवंशी तथा अनेक राजा 'यह सम्बन्ध अनुकूल सम्बन्ध है' यह कहते हुए सन्तोषको प्राप्त हुए ॥२१२॥ इस प्रकार अनेक कल्याणोंको प्राप्त कर वे पाण्डव अपने नगरमें गये और सुखपूर्वक बड़े लम्बे समयको क्षण-भरके समान व्यतीत करने लगे ॥२१३॥

तदनन्तर अर्जुनके सुभद्रासे अभिमन्यु नामक पुत्र हुआ और द्रौपदीके अनुक्रमसे पांचाल नामके पाँच पुत्र हुए ॥२१४॥ यहाँ युधिष्ठिरका राजा दुर्योधनके साथ जुआ खेला जाना, भुजंगशैल नामक नगरीमें कीचकोंका मारा जाना, पाण्डवका विराट नगरीके राजा विराटका सेवक बनकर रहना, अर्जुनके द्वारा राजा विराटकी बहुत भारी गायोंके समूहका लौटाया जाना, तथा अर्जुनके अनुज सहदेव और नकुलके द्वारा उसी सुख-सम्पन्न राजा विराटकी कुछ गायोंका वापस लौटाना, आदि जो घटनाएँ हैं उनका आगमके अनुसार पुराणके जाननेवाले लोगोंको विस्तारसे कथन करना चाहिए ॥२१५–२१७॥ अथानन्तर-कुरुक्षेत्रमें पाण्डवोंका

---

१ पुत्राय ख० । २ निहतस्थूणगन्धं ख० । ३ जल–ख० । ४ पर्याय म० । ५ पाण्डवास्तं ख०, ग० ।

युधिष्ठिर समस्तस्य विषयस्याभवद् विभुः । विभज्य स्वानुजैर्लक्ष्मीं भुञ्जानोऽरञ्जयज्जनम् ॥२१९॥
एवं स्वकृतपुण्यस्य ते सर्वे परिपाकजम् । सुखं निखिलमव्यग्रमन्वभूवन्ननारतम् ॥२२० ॥
तदा द्वारावतीदाहः कौशाम्बीगहनान्तरे । मृतिर्जरत्कुमारेण विष्णोर्ज्येष्ठस्य संयमः ॥२२१॥
भविष्यन्तीति यत्प्रोक्तं द्वारावत्यां जिनेशिना । निर्वृत्तं तत्तथा सर्वं न मिथ्यावादिनो जिनाः ॥२२२॥
तादृशं तादृशानामाद्धिग्धिग्दुष्कर्मणां गतिम् । निर्मूलयन्ति कर्माणि तत एव हि धीधनाः ॥२२३॥
तत्सर्वं पाण्डवाः श्रुत्वा तदात्मन्मधुराधिपाः । स्वामिबन्धुवियोगेन निर्विद्य त्यक्तराज्यकाः ॥२२४॥
महाप्रस्थानकर्माणः प्राप्य नेमिं जिनेश्वरम् । तत्कालोचितसत्कर्म सर्वं निर्माप्य भाक्तिकाः ॥२२५॥
स्वपूर्वभवसंबन्धमपृच्छन्संसृतेर्भयात् । अवोचद्भगवानित्थमप्रतर्क्यमहोदयः ॥२२६॥
जम्बूपलक्षिते द्वीपे भरतेऽङ्गे पुरी परा । चम्पाख्या कौरवस्तत्र महीशो मेघवाहनः ॥२२७॥
सोमदेवो द्विजोऽत्रैव च भार्या तस्य सोमिला । तयोः सुतास्त्रयः सोमदत्तसोमिलनामकः ॥२२८॥
सोमभूतिश्च वेदाङ्गपारगाः परमद्विजाः । भर्मायां मातुलस्याग्निभूतेस्तिस्रोऽभवन् सुताः ॥२२९॥
अग्निलायां धनश्री मित्रश्रीनागश्रियः प्रियाः । तेभ्यो यथाक्रमं दत्तास्ताः पितृभ्यां सुलक्षणाः ॥२३०॥
सोमदेवः सुनिर्विद्य सुधीः केनापि हेतुना । प्राव्राजीदन्यदा धर्मरुचिनामतपोधनम् ॥२३१॥
प्रविशन्तं गृहं भिक्षाकाले वीक्ष्यानुकम्पया । सोमदत्तः प्रतीक्ष्यैनमाह पत्नीं कनीयसः ॥२३२॥
नागश्रीर्विसरास्मै त्वं भिक्षामिति कृतादरम् । मामेव सर्वदा सर्वमेष प्रेषयतीति सा ॥ २३३॥
कुपिता विषसंमिश्रं ददावन्नं तपोभृते । स संन्यस्य समाराध्य प्रापदन्त्यमनुत्तरम् ॥२३४॥

कौरवोंके साथ युद्ध हुआ उसमें युधिष्ठिर दुर्योधन राजाको जीतकर समस्त देशका स्वामी हो गया और छोटे भाइयोंके साथ विभाग कर राज्यलक्ष्मीका उपभोग करता हुआ सबको प्रसन्न करने लगा ॥२१८-२१९॥ इस प्रकार वे सब पाण्डव अपने द्वारा किये हुए पुण्य कर्मके उदयसे उत्पन्न सम्पूर्ण सुखका बिना किसी आकुलताके निरन्तर उपभोग करने लगे ॥२२०॥

तदनन्तर—'द्वारावती जलेगी, कौशाम्बी-वनमें जरत्कुमारके द्वारा श्रीकृष्णकी मृत्यु होगी और उनके बड़े भाई बलदेव संयम धारण करेंगे' इस प्रकार द्वारावतीमें नेमिनाथ भगवान्ने जो कुछ कहा था वह सब वैसा ही हुआ सो ठीक ही है क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् अन्यथावादी नहीं होते हैं ॥२२१-२२२॥ आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि वैसे लोकोत्तर पुरुषोंकी वैसी दशा हुई इसलिए अशुभ कर्मोंकी गतिको बार-बार धिक्कार हो और निश्चयसे इसीलिए बुद्धिमान् पुरुष इन कर्मोंको निर्मूल करते हैं—उखाड़कर नष्ट कर देते हैं ॥२२३॥ मथुराके स्वामी पाण्डव, यह समाचार सुनकर वहाँ आये। वे सब, स्वामी–श्रीकृष्ण तथा अन्य बन्धुजनोंके वियोगसे बहुत विरक्त हुए और राज्य छोड़कर मोक्षके लिए महाप्रस्थान करने लगे। उन भक्त लोगोंने नेमिनाथ भगवान्के पास जाकर उस समयके योग्य नमस्कार आदि सत्कर्म किये तथा संसार-से भयभीत होकर अपने पूर्वभव पूछे। उत्तरमें अचिन्त्य वैभवके धारक भगवान् भी इस प्रकार कहने लगे ॥२२४-२२६॥ उन्होंने कहा कि इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी अंगदेशमें एक चम्पापुरी नामकी नगरी है उसमें कुरुवंशी राजा मेघवाहन राज्य करता था। उसी नगरी-में एक सोमदेव नामका ब्राह्मण रहता था। उसकी ब्राह्मणीका नाम सोमिला था। उन दोनोंके सोमदत्त, सोमिल और सोमभूति ये वेदांगोंके पारगामी परम ब्राह्मण तीन पुत्र हुए थे। इन तीनों भाइयोंके मामा अग्निभूति थे उसकी अग्निला नामकी स्त्रीसे धनश्री, मित्रश्री और नागश्री नामकी तीन प्रिय पुत्रियाँ उत्पन्न हुई थीं। अग्निभूति और अग्निलाने शुभ लक्षणोंवाली ये तीनों कन्याएँ अपने तीनों भानेजोंके लिए यथा क्रमसे दे दीं ॥२२७-२३०॥ तदनन्तर-बुद्धिमान् सोमदेवने किसी कारणसे विरक्त होकर जिन-दीक्षा ले ली। किसी एक दिन भिक्षाके समय धर्मरुचि नामके तपस्वी मुनिराजको अपने घरमें प्रवेश करते देखकर दयालुता वश सोमदत्तने उनका पडिगाहन किया और छोटे भाईकी पत्नीसे कहा कि हे नागश्री! तू इनके लिए बड़े आदरके साथ भिक्षा दे दे। नागश्रीने मनमें सोचा कि 'यह सदा सभी कार्यके लिए मुझे ही भेजा करता है' यह सोचकर वह बहुत ही क्रुद्ध हुई और उसी क्रुद्धावस्थामें उसने उन तपस्वी

नागश्रीविहिताकृत्यं ज्ञात्वा ते भ्रातरस्त्रयः । समीपे वरुणार्यस्य दीक्षां मोक्षीं समाययुः ॥२३५॥
गुणवत्यार्यिकाभ्याशे ब्राह्मण्याविरते तदा । ईयतुः संयमं वृत्तं सज्जनदुर्जनामिदम् ॥२३६॥
पञ्चाप्याराध्य तेऽभूवन्नारणाच्युतकल्पयोः । सामानिकामरा द्वाविंशत्यब्धिजीविनः ॥२३७॥
अन्वभूवंश्चिरं भोगांस्तत्र सप्रविचारकान् । नागश्रीरपि पापेन पञ्चमीं पृथिवीमगात् ॥२३८॥
दुःखं तत्रानुभूयान्ते स्वायुषोऽसौ ततश्च्युता । अभूत् स्वयंप्रभद्वीपे सर्पो दृष्टिविषो भुवः ॥२३९॥
द्वितीयनरकं गत्वा त्रिसमुद्रोपमायुषा । भुक्त्वा दुःखं विनिर्गत्य त्रसस्थावरयोनिषु ॥२४०॥
द्विसागरोपमं कालं परिभ्रम्य भवार्णवे । चम्पापुरे समुत्पन्ना मातङ्गी मन्दपापतः ॥२४१॥
समाधिगुप्तनामानं मुनिमासाद्य सान्यदा । वन्दित्वा धर्ममाकर्ण्य मधुमांसनिवृत्तितः ॥२४२॥
तस्मिन्नेव पुरे मृत्वा [1]सुतेभ्यस्याभवत् सती । सुबन्धोर्धनदेव्याश्च सुदुर्गन्धशरीरिका ॥२४३॥
सुकुमारीति संज्ञास्या विहितार्थानुयायिनी । पुरेऽस्मिन्नेव वैश्यस्य धनदेवस्य पुत्रकौ ॥२४४॥
प्राप्तावशोकदत्तायां देवदत्तौ जिनादिकौ । संप्रार्थ्य स्वबन्धूनामाहतं स्वस्य वेदिना ॥२४५॥
सुकुमार्याः सुदौर्गन्ध्याज्जिनदेवो जुगुप्सयन् । सुव्रताख्यमुनेरन्तेवासित्वं समवाप सः ॥२४६॥
कनीयान् जिनदत्तोऽथ प्रेरितो बन्धुभिर्मुहुः । आप्तबन्धुसुता नावमानयोग्येति तद्भयात् ॥२४७॥
गृहीत्वा तामसौ क्रुद्धफणिनीमिव नागमत् । स्वप्नेऽप्यस्य विरक्तत्वान्निन्दन्ती स्वां विपुण्यताम् ॥२४८॥
गृहीतानशनान्येद्युरार्यिकाभिः [2]सहागताम् । स्वगेहं सुव्रतां क्षान्तिमभिवन्द्य नतांहिके ॥२४९॥

मुनिराजके लिए विष मिला हुआ आहार दे दिया जिससे संन्यास धारण कर तथा चारों आराधनाओंकी आराधना कर उक्त मुनिराज सर्वार्थसिद्धि नामक अनुत्तर विमानमें जा पहुँचे ॥२३१-२३४॥ जब सोमदत्त आदि तीनों भाइयोंको नागश्रीके द्वारा किये हुए इस अकृत्यका पता चला तो उन्होंने वरुणार्यके समीप आकर मोक्ष प्रदान करनेवाली दीक्षा धारण कर ली ॥२३५॥ यह देख, नागश्रीको छोड़कर शेष दो ब्राह्मणियोंने भी गुणवती आर्यिकाके समीप संयम धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन और दुर्जनोंका चरित्र ऐसा ही होता है ॥२३६॥ इस प्रकार ये पाँचों ही जीव, आयुके अन्तमें आराधनाओंकी आराधना कर आरण और अच्युत स्वर्गमें बाईस सागरकी आयुवाले सामानिक देव हुए ॥२३७॥ वहाँ उन्होंने चिरकाल तक प्रवीचार सहित भोगोंका उपभोग किया। इधर नागश्री भी पापके कारण पाँचवें नरकमें पहुँची, वहाँके दुःख भोगकर आयुके अन्तमें निकली और वहाँसे च्युत होकर स्वयंप्रभ द्वीपमें दृष्टिविष नामका सर्प हुई। फिर मरकर दूसरे नरक गयी वहाँ तीन सागरकी आयु पर्यन्त दुःख भोगकर वहाँसे निकली और दो सागर तक त्रस तथा स्थावर योनियोंमें भ्रमण करती रही। इस प्रकार संसार-सागरमें भ्रमण करते-करते जब उसके पापका उदय कुछ मन्द हुआ तब चम्पापुर नगरमें चाण्डाली हुई ॥२३८-२४१॥ किसी एक दिन उसने समाधिगुप्त नामक मुनिराजके पास जाकर उन्हें नमस्कार किया, उनसे धर्म-श्रवण किया, और मधु-मांसका त्याग किया। इनके प्रभावसे वह मरकर उसी नगरमें सुबन्धु सेठकी धनदेवी स्त्रीसे अत्यन्त दुर्गन्धित शरीरवाली पुत्री हुई। माता-पिताने उसका 'सुकुमारी' यह सार्थक नाम रखा। इसी नगरमें एक धनदत्त नामका सेठ रहता था उसकी अशोकदत्ता स्त्रीसे जिनदेव और जिनदत्त नामके दो पुत्र हुए थे। जिनदेवके कुटुम्बी लोग उसका विवाह सुकुमारीके साथ करना चाहते थे परन्तु जब उसे इस बातका पता चला तो वह सुकुमारीकी दुर्गन्धतासे घृणा करता हुआ सुव्रत नामक मुनिराजका शिष्य हो गया अर्थात् उनके पास उसने दीक्षा धारण कर ली ॥२४२-२४६॥ तदनन्तर छोटे भाई जिनदत्तको उसके बन्धुजनोंने बार-बार प्रेरणा की कि बड़े लोगोंकी कन्याका अपमान करना ठीक नहीं है। इस भयसे उसने उसे विवाह तो लिया परन्तु क्रुद्ध सर्पिणीके समान वह कभी स्वप्नमें भी उसके पास नहीं गया। इस प्रकार पतिके विरक्त होनेसे सुकुमारी अपनी पुण्यहीनताकी सदा निन्दा करती रहती थी ॥२४७-२४८॥ किसी दूसरे दिन उसने उपवास किया, उसी दिन उसके

१ सुता, इभ्यस्य, अभवत्, इति पदच्छेदः । २ समागताम् म० ।

इमे द्वे दीक्षिते केन हेतुनेत्यन्वयुङ्क्त ताम् । अथ साप्यब्रवीदेवं क्षान्तिः कल्याणनामिके ॥२५०॥
स्वर्गेऽत्र जन्मनि प्राचि सौधर्माधिपतेः प्रिये । विमला सुप्रभा चेति देव्यौ सौधर्मसंयुते ॥२५१॥
गत्वा नन्दीश्वरद्वीपे जिनगेहार्चनविधेः । तत्र संविग्नचित्तत्वात् संप्राप्यास्मान्मनुष्यताम् ॥२५२॥
आवां तपः करिष्याव इत्यन्योन्यं व्यवस्थितिम् । अकुर्वतां ततश्च्युत्वा साकेतनगरेशिनः ॥२५३॥
श्रीषेणाख्यमहीशस्य श्रीकान्तायाश्च ते सुते । हरिश्रीपूर्वसेनाख्ये संभूय प्राप्तयौवने ॥२५४॥
स्वयंवरविवाहोरुमण्डपाभ्यन्तरे स्थिते । निजपूर्वभवं स्मृत्वा संधां च प्राक्तनीं कृताम् ॥२५५॥
विसर्ज्य बन्धुवर्गेण समं नृपकुमारकान् । इते दीक्षामिति क्षान्तिवचनाकर्णनेन सा ॥२५६॥
सुकुमारी च निर्विण्णा सम्मता निजबान्धवैः । तत्समीपेऽगमद्दीक्षामन्येद्युर्वनमागताम् ॥२५७॥
वेश्यां वसन्तसेनाख्यामावृत्य बहुभिर्विटैः । संप्रार्थ्यमानामालोक्य ममाप्येवं भवेदिति ॥२५८॥
निदानमकरोज्जीवितान्ते प्राक्तनजन्मनः । सोमभूतेरभूद्देवी प्रान्तकल्पनिवासिनः ॥२५९॥
उत्कृष्टजीवितं तत्र गमयित्वा त्रयोऽपि ते । सोदर्याः प्रच्युता यूयं जाता रत्नत्रयोपमाः ॥२६०॥
धर्मजो भीमसेनश्च पार्थश्चाख्यातपौरुषः । धनमित्रश्रियौ चात्राभूतां स्तुतविक्रमौ ॥२६१॥
नकुलः सहदेवश्च चन्द्रादित्यसमप्रभौ । सुकुमारी च काम्पिल्यपुरे द्रुपदभूपतेः ॥२६२॥
सुता दृढरथायाश्च द्रौपद्याख्याजनिष्ट सा । इति नेमीश्वरप्रोक्तमाकर्ण्य बहुभिः समम् ॥२६३॥
पाण्डवाः संयमं प्रापन् सतामेषा हि बन्धुता । कुन्ती सुभद्रा द्रौपद्यश्च दीक्षां ताः परां ययुः ॥२६४॥
निकटे राजिमत्याख्यगणिन्या गुणभूषणाः । तास्तिस्रः षोडशे कल्पे भूत्वा तस्मात् परिच्युताः ॥२६५॥

वर अन्य अनेक आर्यिकाओंके साथ सुव्रता और क्षान्ति नामकी आर्यिकाएँ आयीं उसने उन्हें वन्दना कर प्रधान आर्यिकासे पूछा कि इन दोनों आर्यिकाओंने किस कारण दीक्षा ली है ? यह बात आप मुझसे कहिए। सुकुमारीका प्रश्न सुनकर क्षान्ति नामकी आर्यिका कहने लगी कि हे शुभ नामवाली ! सुन, ये दोनों ही पूर्वजन्ममें सौधर्म स्वर्गके इन्द्रोंकी विमला और सुप्रभा नामकी प्रिय देवियाँ थीं। किसी एक दिन ये दोनों ही सौधर्म इन्द्रके साथ जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करनेके लिए नन्दीश्वर द्वीपमें गयी थीं। वहाँ इनका चित्त विरक्त हुआ इसलिए इन दोनों-ने परस्पर ऐसा विचार स्थिर किया कि हम दोनों इस पर्यायके बाद मनुष्य पर्याय पाकर तप करेंगी। आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत होकर ये दोनों, साकेत नगरके स्वामी श्रीषेण राजाकी श्रीकान्ता रानीसे हरिषेणा और श्रीषेणा नामकी पुत्रियाँ हुई हैं। यौवन अवस्था प्राप्त कर ये दोनों विवाहके लिए स्वयंवर-मण्डपके भीतर खड़ी थीं कि इतनेमें ही इन्हें अपने पूर्वभवमें की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण हो आया। उसी समय इन्होंने समस्त बन्धुवर्ग तथा राजकुमारोंका त्याग कर दीक्षा धारण कर ली। इस प्रकार क्षान्ति आर्यिकाके वचन सुनकर सुकुमारी बहुत विरक्त हुई और अपने कुटुम्बीजनोंकी सम्मति लेकर उसने उन्हीं आर्यिकाके पास दीक्षा धारण कर ली। किसी दूसरे दिन वनमें वसन्तसेना नामकी वेश्या आयी थी, उसे बहुत-से व्यभिचारी मनुष्य घेरकर उससे प्रार्थना कर रहे थे। यह देखकर सुकुमारीने निदान किया कि मुझे भी ऐसा ही सौभाग्य प्राप्त हो। आयुके अन्तमें मरकर वह, पूर्वजन्ममें जो सोमभूति नामका ब्राह्मण था और तपश्चरणके प्रभावसे अच्युत स्वर्गमें देव हुआ था उसकी देवी हुई ॥२४९-२५९॥ वहाँकी उत्कृष्ट आयु बिताकर उन तीनों भाइयोंके जीव वहाँसे च्युत होकर रत्नत्रयके समान तुम प्रसिद्ध पुरुषार्थके धारक युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन हुए हो। तथा धनश्री और मित्रश्रीके जीव प्रशंसनीय पराक्रमके धारक नकुल एवं सहदेव हुए हैं। इनकी कान्ति चन्द्रमा और सूर्यके समान है। सुकुमारीका जीव काम्पिल्य नगरमें वहाँके राजा द्रुपद और रानी दृढरथाके द्रौपदी नामकी पुत्री हुई है। इस प्रकार नेमिनाथ भगवान्‌के द्वारा कहे हुए अपने भवान्तर सुनकर पाण्डवोंने अनेक लोगोंके साथ संयम धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंका बन्धुपना यही है। गुणरूपी आभूषणको धारण करनेवाली कुन्ती, सुभद्रा तथा द्रौपदीने भी राजिमति गणिनीके पास उत्कृष्ट दीक्षा धारण कर ली। अन्तमें तीनोंके जीव सोलहवें स्वर्गमें उत्पन्न हुए और वहाँसे च्युत होकर निःसन्देह समस्त कर्ममलसे रहित हो मोक्ष

विश्वकर्ममलैर्मुक्ता मुक्तिमेष्यन्त्यसंशयम् । पञ्चापि पाण्डवा नेमिस्वामिनामहितर्द्धयः ॥२६६॥
विहृत्य भाक्तिकाः कांश्चित्समाः संप्राप्य भूधरम् । शत्रुंजयं समादाय योगमातपमास्थिताः ॥२६७॥
तत्र कौरवनाथस्य भागिनेयो निरीक्ष्य तान् । क्रूरः कुर्यवरः स्मृत्वा स्वमातुलवधं क्रुधा ॥२६८॥
आयसान्यग्नितप्तानि मुकुटादीनि पापभाक् । तेषां विभूषणानीति शरीरेषु निधाय सः ॥२६९॥
उपसर्गं व्यधात्तेषु कौन्तेयाः श्रेणिमाश्रिताः । शुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मैधाः सिद्धिमाप्नुवन् ॥२७०॥
नकुलः सहदेवश्च पञ्चमानुत्तरं ययौ । भट्टारकोऽपि संप्रापदूर्जयन्तं धराधरम् ॥२७१॥
नवरन्ध्रर्तुवर्षेषु चतुर्दिवसमंथुनै । युतेषु नवभिर्मासैर्विहारविधिविच्युतौ ॥२७२॥
पश्चात्पञ्चशतैः सार्धं संयतैस्त्रिंशता त्रिभिः । मासं योगं निरुध्यासौ हताघातिचतुष्टकः ॥२७३॥
आषाढमासि ज्योत्स्नायाः पक्षे चित्रासमागमे । शीतांशोः सप्तमीपूर्वरात्रौ निर्वाणमाप्तवान् ॥२७४॥
तदा सुराधिपाः प्राप्य कल्याणं पञ्चमं परम् । विधाय विधिवद्भक्त्या स्वं स्वमोकः[1] पुनर्ययुः ॥२७५॥

स्रग्धरा

शक्राद्या व्योम्नि दूरादमरपरिवृता वाहनेभ्योऽवतीर्णा-
स्तूर्णं मूर्धावनम्राः स्तुतिमुखरमुखाः कुड्मलीभूतहस्ताः ।
ध्वस्तान्तर्ध्वान्तधाम्नः प्रणिहितमनसो यस्य पादौ प्रणेमुः
क्षेमं श्रीमान् स नेमिर्झटिति घटयतु प्राप्तबोधप्रसिद्ध्यै ॥२७६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

प्राक्चिन्तागतिराख्ययावनु ततः कल्पे चतुर्थेऽमरो
जज्ञेऽस्मादपराजितः क्षितिपतिर्जातोऽच्युतेन्द्रस्ततः ।
तस्मात्सोऽजनि सुप्रतिष्ठनृपतिर्देवो जयन्तेऽन्वभू-
दासीदत्र महोदयो हरिकुलव्योमामलेन्दुर्जिनः ॥२७७॥

प्राप्त करेंगे । जिन्हें अनेक उत्तमोत्तम ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हैं और जो अतिशय भक्तिसे युक्त हैं ऐसे पाँचों पाण्डव कितने ही वर्षों तक नेमिनाथ भगवान्‌के साथ विहार करते रहे और अन्तमें शत्रुंजय पर्वतपर जाकर आतापन योग लेकर विराजमान हो गये । दैवयोगसे वहाँ दुर्योधनका भानजा 'कुर्यवर' आ निकला वह अतिशय दुष्ट था, पाण्डवोंको देखते ही उसे अपने मामाके वधका स्मरण हो आया जिससे क्रुद्ध होकर उस पापीने उनके शरीरोंपर अग्निसे तपाये हुए लोहेके मुकुट आदि आभूषण रखकर उपसर्ग किया । उन पाँचों भाइयोंमें कुन्तीके पुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तो क्षपकश्रेणी चढ़कर शुक्ल ध्यान रूपी अग्निके द्वारा कर्मरूपी इन्धनको जलाते हुए मुक्त अवस्थाको प्राप्त हुए और नकुल तथा सहदेव सर्वार्थसिद्धि विमानमें उत्पन्न हुए । इधर भट्टारक नेमिनाथ स्वामी भी गिरनार पर्वतपर जा विराजमान हुए ॥२६०-२७१॥ उन्होंने छह सौ निन्यानवे वर्ष नौ महीना और चार दिन विहार किया । फिर विहार छोड़कर पाँच सौ तैंतीस मुनियोंके साथ एक महीने तक योग निरोधकर आषाढ़ शुक्ल सप्तमीके दिन चित्रा नक्षत्रमें रात्रिके प्रारम्भमें ही चार अघातिया कर्मोंका नाश कर मोक्ष प्राप्त किया ॥२७२-२७४॥ उसी समय इन्द्रादि देवोंने आकर बड़ी भक्तिसे विधिपूर्वक उनके पंचम कल्याणकका उत्सव किया और तदनन्तर वे सब अपने-अपने स्थानको चले गये ॥२७५॥

जो दूरसे ही आकाशमें अपनी-अपनी सवारियोंसे नीचे उतर पड़े हैं, जिन्होंने शीघ्र ही अपने मस्तक झुका लिये हैं, जिनके मुख स्तुतियोंके पढ़नेसे शब्दायमान हो रहे हैं, जिन्होंने दोनों हाथ जोड़ लिये हैं और जिनका चित्त अत्यन्त स्थिर है ऐसे इन्द्र आदि श्रेष्ठदेव जिनके चरणोंमें नमस्कार करते हैं तथा जिन्होंने अपने तेजसे हृदयका समस्त अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसे श्रीमान् नेमिनाथ भगवान् केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिए हम सबका शीघ्र ही कल्याण करें ॥२७६॥ श्रीनेमि-

---

[1] स्थानम् ।

सा लक्ष्मीः सकलामरार्चितपदाम्भोजो यथार्थं विभु-
स्तत्कौमारममेयरूपविभवं कन्या च सातिस्तुतिः ।
धीमान् सर्वमिदं जरत्तृणसमं मत्वाग्रहीत्संयमं
धत्तां केन न धर्मचक्रमभितो नेमीश्वरो नेमिताम् ॥२७८॥

पृथ्वी

सुभानुरभवत्ततः प्रथमकल्पजोऽस्माच्च्युतः
खगाधिपतिरन्वतोऽजनि चतुर्थकल्पेऽमरः ।
वणिग्जनि शङ्खवागनु सुरो महाशुक्रज-
स्ततोऽपि नवमो बलोऽनु दिविजस्ततस्तीर्थकृत् ॥२७९॥

प्रहर्षिणी

प्रागासीदमृतरसायनस्तृतीये
श्वभ्रेऽभूदनु भववारिधौ भ्रमित्वा ।
भूयोऽभूद्गृहपतिरत्र यक्षनामा
निर्नामा नृपतिसुतस्ततोऽमृताशी ॥२८०॥

वसन्ततिलका

तस्मादभून्मुररिपुः कृतदुर्निदाना-
च्चक्रेश्वरो हतविरुद्धजरासन्धः ।
धर्मोद्भवादनुभवन् बहुदुःखमस्मा-
न्निर्गत्य तीर्थकृदनर्थविघातकृत्सः ॥२८१॥
द्रोहान्मुनेः [1]पलपवः स कुधीरधोऽगा-
सद्बीज एव तपसाप्य च चक्रिलक्ष्मीम् ।

नाथ भगवान्‌का जीव पहले चिन्तागति विद्याधर हुआ, फिर चतुर्थ स्वर्गमें देव हुआ, वहाँसे आकर अपराजित राजा हुआ, फिर अच्युत स्वर्गका इन्द्र हुआ, वहाँसे आकर सुप्रतिष्ठ राजा हुआ, फिर जयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुआ और उसके बाद इसी जम्बूद्वीपमें महान् वैभवको धारण करनेवाला, हरिवंशरूपी आकाशका निर्मल चन्द्रमास्वरूप नेमिनाथ तीर्थंकर हुआ ॥२७७॥ यद्यपि भगवान् नेमिनाथकी वह लक्ष्मी थी कि जिसके द्वारा उनके चरणकमलोंकी समस्त देव पूजा करते थे, उनकी वह कुमारावस्था थी कि जिसका सौन्दर्यरूपी ऐश्वर्य अपरिमित था, और वह कन्या राजीमति थी कि जिसकी अत्यन्त स्तुति हो रही थी तथापि इन बुद्धिमान् भगवान्‌ने इन सबको जीर्ण तृणके समान छोड़कर संयम धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा क्या कारण है कि जिससे भगवान् नेमिनाथ धर्मचक्रके चारों ओर नेमिपनाको-चक्रधारापनाको धारण न करें ? ॥२७८॥ बलदेवका जीव पहले सुभानु हुआ था, फिर पहले स्वर्गमें देव हुआ, वहाँसे च्युत होकर विद्याधरोंका राजा हुआ, फिर चतुर्थ स्वर्गमें देव हुआ, इसके बाद शंख नामका सेठ हुआ, फिर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ, फिर नौवाँ बलभद्र हुआ, उसके बाद देव हुआ, और फिर तीर्थंकर होगा ॥२७९॥ कृष्णका जीव पहले अमृतरसायन हुआ, फिर तीसरे नरकमें गया, उसके बाद संसार-सागरमें बहुत भारी भ्रमण कर यक्ष नामका गृहस्थ हुआ फिर निर्नामा नामका राजपुत्र हुआ, उसके बाद देव हुआ और उसके पश्चात् बुरा निदान करनेके कारण अपने शत्रु जरासन्धको मारनेवाला, चक्ररत्नका स्वामी कृष्ण नामका नारायण हुआ, इसके बाद प्रथम नरकमें उत्पन्न होनेके कारण बहुत दुःखोंका अनुभव कर रहा है और अन्तमें वहाँसे निकलकर समस्त अनर्थोंका विघात करनेवाला तीर्थंकर होगा ॥२८०-२८१॥

ध्वंसं समाप तदुपाश्रमपरिग्रहाणां
माकुरुध्वमल्पमपि पापधियापकारम् ॥२८२॥
चाणूरमेणमिव यो हतवान् हरिर्वा
कंसं च कंसमिव वाभिनिरन्वभैत्सीत् ।
मृत्युर्यथाहृत शिशुं शिशुपालमाजौ
तेजस्विनां कथमिहास्तु न सोऽग्रगण्यः ॥२८३॥

शिखरिणी

जरासन्धं हत्वोर्जितमिव गजं शौर्यजलधि-
र्गजारिर्वा गर्जन् प्रतिरिपुजयाद्विश्वविजयी ।
त्रिखण्डां निःखण्डां करविधृतदण्डोऽप्रतिहतां
यथापाद् बाल्ये गाः किल खलु स गोपोऽन्वपि ततः ॥२८४॥

मालिनी

क्व सकलपृथुशत्रुध्वंसनात्प्राप्तलक्ष्मीः
क्व च स भुवनबाह्यो हा हरेर्मूलनाशः ।
स्वकृतविधिविधानात्कस्य किं वात्र न स्याद्
भ्रमति हि भवचक्रं चक्रनेमिक्रमेण ॥२८५॥

वसन्ततिलका

बध्वायुरपि ह्रासमृच्यमयास्त्यनाम
धात्मार्द्धोः शमदसौ स्वनराज्यभारः ।
तद्धीधनाः कुरुत यत्नमखण्डमायु-
र्बन्धं प्रति प्रतिपदं सुखलिप्सवश्चेत् ॥२८६॥

कृष्णके जीवने चाण्डाल अवस्थामें मुनिके साथ द्रोह किया था इसलिए वह दुर्बुद्धि नरक गया और उसी कारणसे तपश्चरणके द्वारा राज्यलक्ष्मी पाकर अन्तमें उसके विनाशको प्राप्त हुआ इसलिए आचार्य कहते हैं कि परिग्रहका त्याग करनेवाले मुनियोंका पाप-बुद्धिसे थोड़ा भी अपकार मत करो ॥ २८२ ॥ जिस प्रकार सिंह हरिणको मार डालता है उसी प्रकार जिसने चाणूरमल्लको मार डाला था, जिस प्रकार वज्र कंस (काँसे) के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है उसी प्रकार जिसने कंसके (मथुराके राजाके) टुकड़े-टुकड़े कर डाले थे और जिस प्रकार मृत्यु बालकका हरण कर लेती है उसी प्रकार युद्धमें शिशुपालका हरण किया था—उसे पराजित किया था । ऐसा श्रीकृष्ण नारायण भला प्रतापी मनुष्योंमें सबसे मुख्य क्यों न हो ? ॥ २८३ ॥ जिस प्रकार सिंह बलवान् हाथीको जीतकर गरजता है उसी प्रकार शूरवीरताके सागर श्रीकृष्णने अतिशय बलवान् जरासन्धको जीतकर गर्जना की थी, इन्होंने अपने समस्त शत्रुओंको जीत लिया था इसलिए ये विश्वविजयी कहलाये थे तथा जिस प्रकार इन्होंने बाल अवस्थामें गायोंकी रक्षा की थी इसलिए गोप कहलाये थे उसी प्रकार इन्होंने तरुण अवस्थामें भी हाथमें केवल एक दण्ड धारण कर किसीके द्वारा अविजित इस तीन खण्डकी अखण्ड भूमिकी रक्षा की थी इसलिए बादमें भी वे गोप (पृथिवीके रक्षक) कहलाते थे ॥२८४॥ देखो, कहाँ तो श्रीकृष्णको बड़े-बड़े समस्त शत्रुओंका नाश करनेसे उस आश्चर्यकारी लक्ष्मीकी प्राप्ति हुई थी और कहाँ समस्त जगत्से जुदा रहकर निर्जन वनमें उनका समूल नाश हुआ सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार किसे क्या नहीं प्राप्त होता है ? यथार्थमें संसाररूपी चक्र पहियेकी हालकी तरह घूमा ही करता है॥२८५॥ देखो, श्रीकृष्णने

अनुष्टुप्

अस्यैव तीर्थसन्ताने ब्रह्मणो धरणीशितुः । [१]चूडादेव्याश्च संजज्ञे ब्रह्मदत्तो निधीशिनाम् ॥२८७॥
द्वादशो नामतः सप्तचापः सप्तशताब्दकैः । परिच्छिन्नप्रमाणायुस्तदन्ताश्चक्रवर्तिनः ॥२८८॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे नेमितीर्थंकर-पद्मनाभ-
बलदेव-कृष्णनामार्धचक्रि-जरासन्धप्रतिवासुदेव-ब्रह्मदत्तसकलचक्रवर्तिपुराणं
नाम द्विसप्ततितमं पर्व ॥ ७२ ॥



पहले नरक आयुका बन्ध कर लिया था और उसके बाद सम्यग्दर्शन तथा तीर्थंकर नाम-कर्म प्राप्त किया था इसीलिए उन्हें राज्यका भार धारण करनेके बाद नरक जाना पड़ा। आचार्य कहते हैं कि हे बुद्धिमान् जन ! यदि आप लोग सुखके अभिलाषी हैं तो पद-पदपर आयु बन्धके लिए अखण्ड प्रयत्न करो अर्थात् प्रत्येक समय इस बातका विचार रखो कि अशुभ आयुका बन्ध तो नहीं हो रहा है ॥ २८६ ॥ इन्हीं नेमिनाथ भगवान्‌के तीर्थमें ब्रह्मदत्त नामका बारहवाँ चक्रवर्ती हुआ था वह ब्रह्म नामक राजा और चूड़ादेवी रानीका पुत्र था, उसका शरीर सात धनुष ऊँचा था और सात सौ वर्षकी उसकी आयु थी। वह सब चक्रवर्तियोंमें अन्तिम चक्रवर्ती था—उसके बाद कोई चक्रवर्ती नहीं हुआ ॥ २८७-२८८ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद् गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें
नेमिनाथ तीर्थंकर, पद्म नामक बलभद्र, कृष्ण नामक अर्धचक्रवर्ती, जरासन्ध प्रतिनारायण और
ब्रह्मदत्त नामक सकल चक्रवर्तीके पुराणका वर्णन करनेवाला बहत्तरवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥

१ चूलादेव्याश्च क० ।

[1]स पातु पार्श्वनाथोऽस्मान् यन्महिम्नैव भूधरः । न्यषेधि केवलं भक्तिभोगिनीछत्रधारणम् ॥१॥
धर्मश्वेतातपत्रं ते सूते विश्वविसर्पिणीम् । छायां तापातपप्लुष्टास्तथापि किल केचन ॥२॥
सर्वभाषां भवद्भाषां सत्यां सर्वोपकारिणीम् । सन्तः शृण्वन्ति सन्तुष्टाः खलास्तां च न जातुचित् ॥३॥
अनभिव्यक्तमाहात्म्या देव[2] तीर्थकराः परे । त्वमेव व्यक्तमाहात्म्यो वाच्या ते सुष्ठु तत्कथा ॥४॥
कुमार्गवारिणी यस्मात्तस्मात्सन्मार्गधारिणी । तत्ते धर्म्यां कथां वक्ष्ये भव्यानां मोक्षगामिनाम् ॥५॥
जम्बूविशेषणे द्वीपे भरते दक्षिणे महान् । सुरम्यो विषयस्तत्र विस्तीर्णं पोदनं पुरम् ॥६॥
रक्षितास्यारविन्दाख्यो विख्यातो विक्रमादिभिः । पिप्रियुस्तं समाश्रित्य प्रजापतिमिव प्रजाः ॥७॥
तत्रैव विश्वभूत्याख्यो[3] ब्राह्मणः श्रुतिशास्त्रवित् । ब्राह्मण्यनुन्धरी तस्य प्रीत्यै श्रुतिरिवापरा ॥८॥
अभूतामेतयोः पुत्रौ विषामृतकृतोपमौ । कमठो मरुभूतिश्च पापधर्माविवापरौ ॥९॥
वरुणा ज्यायसो भार्या द्वितीयस्य वसुंधरी । मन्त्रिणौ तौ महीपस्य कनीयान्नीतिवित्तयोः ॥१०॥

अथानन्तर-धरणेन्द्र और भक्तिवश पद्मावतीके द्वारा किया हुआ छत्रधारण-इन दोनों का निषेध जिनकी केवल महिमासे ही हुआ था वे पार्श्वनाथ स्वामी हम सबकी रक्षा करें। भावार्थ—तपश्चरणके समय भगवान् पार्श्वनाथके ऊपर कमठके जीवने जो उपसर्ग किया था उसका निवारण धरणेन्द्र और पद्मावतीने किया था परन्तु इसी उपसर्गके बीच उन्हें केवलज्ञान हो गया उसके प्रभावसे उनका सब उपसर्ग दूर गया और उनकी लोकोत्तर महिमा बढ़ गयी। केवलज्ञानके समय होनेवाले माहात्म्यसे धरणेन्द्र और पद्मावतीका कार्य अपने आप समाप्त हो गया था ॥१॥ हे भगवन्! यद्यपि आपका धर्मरूपी श्वेत छत्र समस्त संसारमें फैलनेवाली छायाको उत्पन्न करता है तो भी आश्चर्य है कि कितने ही लोग पाप रूपी घामसे सन्तप्त रहते हैं ॥२॥ सर्व भाषा रूप परिणमन करनेवाली, सत्य तथा सबका उपकार करनेवाली आपकी दिव्यध्वनिको सन्तुष्ट हुए सज्जन लोग ही सुनते हैं—दुर्जन लोग उसे कभी नहीं सुनते ॥३॥ हे देव! अन्य तीर्थंकरोंका माहात्म्य प्रकट नहीं है परन्तु आपका माहात्म्य अतिशय प्रकट है इसलिए आपकी कथा अच्छी तरह कहनेके योग्य है ॥४॥ आचार्य कहते हैं कि हे प्रभो! चूंकि आपकी धर्मयुक्त कथा कुमार्गका निवारण और सन्मार्गका प्रसारण करनेवाली है अतः मोक्षगामी भव्य जीवोंके लिए उसे अवश्य कहूँगा ॥५॥

इसी जम्बूद्वीपके दक्षिण भरत क्षेत्रमें एक सुरम्य नामका बड़ा भारी देश है और उसमें बड़ा विस्तृत पोदनपुर नगर है ॥६॥ उस नगरमें पराक्रम आदिसे प्रसिद्ध अरविन्द नामका राजा राज्य करता था उसे पाकर प्रजा ऐसी सन्तुष्ट थी जैसी कि प्रजापति भगवान् आदिनाथको पाकर सन्तुष्ट थी। उसी नगरमें वेद-शास्त्रको जाननेवाला एक विश्वभूति नामक ब्राह्मण रहता था उसे प्रसन्न करनेवाली दूसरी श्रुतिके समान अनुन्धरी नामकी उसकी ब्राह्मणी थी ॥ ७-८ ॥ उन दोनोंके कमठ और मरुभूति नामके दो पुत्र थे जो विष और अमृतसे बनाये हुएके समान थे अथवा दूसरे पाप और धर्मके समान जान पड़ते थे ॥ ९ ॥ कमठकी स्त्रीका नाम वरुणा था और मरुभूतिकी स्त्रीका नाम वसुन्धरी था। ये दोनों राजाके मन्त्री थे और

---

१ ख० पुस्तके निम्नांकितौ श्लोकावधिकौ—'एकषष्ट्युत्तमनराः सर्वस्यां भरतावनौ । अपरा गुणगम्भीरा घ्नन्तु भव्यनृणां भियः ॥ १ ॥ आदीश्वराद्या अर्हन्तो भरताद्याश्च चक्रिणः । विष्णुप्रतिविष्णुबलाः पान्तु भव्यान् भवार्णवात्' ॥ २ ॥ पार्श्वकेऽन्योऽप्ययं श्लोको निबद्धः 'एकषष्टिमहानृणां पुराणं पूर्णतामगात् । द्वापष्टेः पार्श्वनाथस्य वदाम्यस्मिन् पुराणकम्' ॥ २ देवास्तीर्थकराः ख० । ३ –भूताख्यो ख०, ग० ।

वसुंधरीनिमित्तेन सदाचारं सतां मतम् । मरुभूतिं दुराचारो जघान कमठोऽधमः ॥११॥
मलये कुब्जकाख्याने विपुले सल्लकीवने । मरुभूतिरभून्मृत्वा वज्रघोषो द्विपाधिपः ॥१२॥
वरुणा च मृता तस्य करेणुरभवत्प्रिया । तयोस्तस्मिन्वने प्रीत्या काले गच्छत्यतुच्छके ॥१३॥
अरविन्दमहाराजस्त्यक्त्वा राज्यं विरज्य सः । सम्प्राप्य संयमं सार्थेनामा सम्मेदमीडितुम् ॥१४॥
व्रजन्वने स्ववेलायां प्रतिमायोगमागमत् । नोल्लङ्घन्ते नियोगं स्वं मनागपि मनस्विनः ॥१५॥
विलोक्य तं महानागः[1] प्रस्नुतमदद्रुतः । हन्तुमभ्युद्यतस्तस्य प्रतिमायोगधारिणः ॥१६॥
वीक्ष्य वक्षःस्थले साक्षात्संक्षु श्रीवत्सलाञ्छनम् । स्वपूर्वभवसंबन्धं प्रत्यक्षीकृत्य [2]चेतसा ॥१७॥
तस्मिन्प्राक्तनसौहार्दात्तोषी जोषमास्त सः । तिर्यञ्चोऽपि सुहृद्भावं पालयन्त्येव बन्धुषु ॥१८॥
धर्मतत्त्वं मुनेः सम्यग्ज्ञात्वा तस्मात्सहेतुकम् । स प्रोषधोपवासादि श्रावकव्रतमग्रहीत् ॥ १९ ॥
तदा प्रभृति नागेन्द्रो भग्नशाखाः परैर्द्विपैः । खादंस्तृणानि शुष्काणि पत्राणि च भयादघात् ॥२०॥
उपलास्फालनाक्षेपद्विपसंघातघट्टितम् । पिबंस्तोयं निराहारः पारणायां महाबलः ॥२१॥
चिरमेवं तपः कुर्वन् क्षीणदेहपराक्रमः । कदाचित्पातुमायातो वेगवत्या ह्रदेऽपतत् ॥२२॥
पङ्के पुनः समुत्थातुं विहितेहोऽप्यशक्नुवन् । कमठेन कुसृतेन कुक्कुटाहित्वमीयुषा[3] ॥२३॥
पूर्ववैरानुबन्धेन [4]दष्टो निकृष्टजीवितः । अभूत्कल्पे सहस्रारे षोडशाब्ध्युपमायुषा ॥२४॥
तत्र भोगान्यथायोग्यं भुक्त्वा प्रान्ते ततश्च्युतः । द्वीपेऽस्मिन्प्राग्विदेहेऽस्ति विषयः पुष्कलावती ॥२५॥

इनमें छोटा मरुभूति नीतिका अच्छा जानकार था ॥१०॥ नीच तथा दुराचारी कमठने वसुन्धरीके निमित्तसे सदाचारी एवं सज्जनोंके प्रिय मरुभूतिको मार डाला ॥११॥ मरुभूति मरकर मलय देशके कुब्जक नामक सल्लकीके बड़े भारी वनमें वज्रघोष नामका हाथी हुआ। वरुणा मरकर उसी वनमें हथिनी हुई और वज्रघोषके साथ क्रीड़ा करने लगी। इस प्रकार दोनोंका बहुत भारी समय प्रीतिपूर्वक व्यतीत हो गया ॥१२–१३॥ किसी एक समय राजा अरविन्दने विरक्त होकर राज्य छोड़ दिया और संयम धारण कर सब संघके साथ वन्दना करनेके लिए सम्मेद शिखरकी ओर प्रस्थान किया। चलते-चलते वे उसी वनमें पहुँचे और सामायिकका समय होनेपर प्रतिमा योग धारण कर विराजमान हो गये सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी मनुष्य अपने नियमका थोड़ा भी उल्लंघन नहीं करते हैं ॥१४–१५॥ उन्हें देखकर, जिसके दोनों कपोल तथा ललाटसे मद झर रहा है ऐसा वह मदोद्धत महाहाथी, उन प्रतिमा-योगके धारक अरविन्द मुनिराजको मारनेके लिए उद्यत हुआ ॥१६॥ परन्तु उनके वक्षःस्थल-पर जो वत्सका चिह्न था उसे देखकर उसके हृदयमें अपने पूर्वभवका सम्बन्ध साक्षात् दिखाई देने लगा ॥१७॥ मुनिराजमें पूर्वजन्मका स्नेह होनेके कारण वह महाहाथी चुपचाप खड़ा हो गया सो ठीक ही है क्योंकि तिर्यंच भी तो बन्धुजनोंमें मैत्रीभावका पालन करते हैं ॥१८॥ उस हाथीने उन मुनिराजसे हेतुपूर्वक धर्मका स्वरूप अच्छी तरह जानकर प्रोषधोपवास आदि श्रावकके व्रत ग्रहण किये ॥१९॥ उस समयसे वह हाथी पापसे डरकर दूसरे हाथियोंके द्वारा तोड़ी हुई वृक्षकी शाखाओं और सूखे पत्तोंको खाने लगा ॥२०॥ पत्थरोंपर गिरनेसे अथवा हाथियोंके समूहके संघटनसे जो पानी प्रासुक हो जाता था उसे ही वह पीता था तथा प्रोषधोपवासके बाद पारणा करता था। इस प्रकार चिरकाल तक तपश्चरण करता हुआ वह महाबलवान् हाथी अत्यन्त दुर्बल हो गया। किसी एक दिन वह पानी पीनेके लिए वेगवती नदीके दहमें गया था कि वहाँ कीचड़में गिर गया। यद्यपि कीचड़से निकलनेके लिए उसने बहुत भारी उद्यम किया परन्तु समर्थ नहीं हो सका। वहींपर दुराचारी कमठका जीव मरकर कुक्कुट साँप हुआ था उसने पूर्व पर्यायके वैरके कारण उस हाथीको काट खाया जिससे वह मरकर सहस्रार स्वर्गमें सोलह सागरकी आयुवाला देव हुआ ॥ २१–२४ ॥ यथायोग्य रीतिसे वहाँके भोग भोगकर वह आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत हुआ

---

१ निप्रस्नुत ल० । निप्रसृत ग० । २ चेतसः क०, ग०, म० । ३ –मेयुषा ल० । ४ दृष्टो ल० ।

तत्खेचराचले राजा त्रिलोकोत्तमनामनि । पुरे विद्युद्गतिर्विद्याधरेशस्तस्य वल्लभा ॥२६॥
विद्युन्माला तयोः सूनू रश्मिवेगाख्यया[1] जनि । सम्पूर्णयौवनो धीमानासन्नभवावधिः ॥२७॥
समाधिगुप्तमासाद्य मुनिं संप्राप्य संयमम् । गृहीतसर्वतोभद्रप्रमुखश्रेष्ठोपवासकः ॥२८॥
परेद्युर्हिमगिर्यद्रि[2]गुहायां योगमादधत् । प्राप्तधूमप्रभादुःखकुक्कुटोरगपापिना ॥२९॥
ततश्च्युतेन भूत्वाजगरेणालोक्य कोपिना । निर्गीर्णोऽच्युतकल्पस्थे विमाने पुष्करेऽभवत् ॥३०॥
द्वाविंशत्यब्धिमानायुस्तदन्ते पुण्यसारथिः । द्वीपेऽपरे विदेहेऽस्मिन् विषये पद्मसंज्ञके ॥३१॥
महीशोऽश्वपुराधीशो वज्रवीर्यस्य भूपतेः । विजयायाश्च तद्देव्या वज्रनाभिः सुतोऽभवत् ॥३२॥
स चक्रलाञ्छितां लक्ष्मीमक्षुण्णां पुण्यरक्षिताम् । भुक्त्वाप्यतृप्नुवन्मोक्तुं मोक्षलक्ष्मीं समुद्यतः ॥३३॥
क्षेमंकराख्यभट्टारकस्य वक्त्राब्जनिर्गतम् । धर्मामृतरसं पीत्वा त्यक्ताशेषरसस्पृहः ॥३४॥
सुतं स्वराज्ये सुस्थाप्य राजभिर्बहुभिः समम् । संयमं समगात्सत्यं सर्वसत्त्वानुकम्पनम्[3] ॥३५॥
प्राक्तनोऽजगरः षष्ठनरके तत्समाश्रितः । द्वाविंशत्यब्धिसंख्यातजीवितेनातिदुःखितः ॥३६॥
चिरात्तस्माद्विनिर्गत्य कुरङ्गाख्यो वनेचरः । कम्पयन्वनसंभूतान् संभूतः सर्वदेहिनः ॥३७॥
विवर्जितार्तध्यानस्य विधृतातपनस्थितेः । तस्य त्यक्तशरीरस्य शरीरबलशालिनः ॥३८॥
तपोधनस्य चक्रेशो[4] वैरं कातरदुस्सहम् । उपसर्गं स्फुरद्वैरः स पापी बहुधा व्यधात् ॥३९॥
धर्मध्यानं प्रविश्यासौ समाराध्य सुरोत्तमः । समुत्पन्नः सुभद्राख्ये मध्यममध्यमे ॥४०॥

और इसी जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें जो पुष्कलावती देश है उसके विजयार्ध पर्वतपर विद्यमान त्रिलोकोत्तम नामक नगरमें वहाँके राजा विद्युद्गति और रानी विद्युन्मालाके रश्मिवेग नामका पुत्र हुआ। जिसके संसारकी अवधि अत्यन्त निकट रह गयी है ऐसे उस बुद्धिमान् रश्मिवेगने सम्पूर्ण यौवन पाकर समाधिगुप्त मुनिराजके समीप दीक्षा धारण कर ली तथा सर्वतोभद्र आदि श्रेष्ठ उपवास धारण किये ॥२६-२८॥ किसी एक दिन वह हिमगिरि पर्वतकी गुहामें योग धारण कर विराजमान था कि इतनेमें जिस कुक्कुट सर्पने वज्रघोष हाथीको काटा था वही पापी धूमप्रभा नरकके दुःख भोगकर निकला और वहींपर अजगर हुआ था। उन मुनिराजको देखते ही अजगर क्रोधित हुआ और उन्हें निगल गया जिससे उनका जीव अच्युत स्वर्गके पुष्कर विमानमें बाईस सागरकी आयुवाला देव हुआ। वहाँकी आयु समाप्त होनेपर वह पुण्यात्मा, जम्बूद्वीपके पश्चिम विदेह क्षेत्रमें पद्मनामक देश सम्बन्धी अश्वपुर नगरमें वहाँके राजा वज्रवीर्य और रानी विजयाके वज्रनाभि नामका पुत्र हुआ ॥२९-३२॥ पुण्यके द्वारा रक्षित हुआ वज्रनाभि, चक्रवर्तीकी अखण्ड लक्ष्मीका उपभोग कर भी सन्तुष्ट नहीं हुआ इसलिए मोक्षलक्ष्मीका उपभोग करनेके लिए उद्यत हुआ ॥३३॥ उसने क्षेमंकर भट्टारकके मुख-कमलसे निकले हुए धर्मरूपी अमृत रसका पानकर अन्य समस्त रसोंकी इच्छा छोड़ दी तथा अपने राज्यपर पुत्रको स्थापित कर अनेक राजाओंके साथ समस्त जीवोंपर अनुकम्पा करनेवाला संयम अच्छी तरह धारण कर लिया ॥३४-३५॥ कमठका जीव, जो कि पहले अजगर हुआ था मरकर छठे नरकमें उत्पन्न हुआ और वहाँ बाईस सागर तक अत्यन्त दुःख भोगता रहा ॥३६॥ चिरकाल बाद वहाँसे निकलकर कुरंग नामका भील हुआ। यह भील उस वनमें उत्पन्न हुए समस्त जीवोंको कम्पित करता रहता था ॥३७॥ किसी एक दिन शरीर सम्बन्धी बलसे शोभायमान तथा शरीरसे स्नेह छोड़नेवाले तपस्वी चक्रवर्ती वज्रनाभि आर्तध्यान छोड़कर उस वनमें आतापन योगसे विराजमान थे। उन्हें देखते ही जिसका वैर भड़क उठा है ऐसे पापी भीलने उन मुनिराजपर कायर जनोंके द्वारा असहनीय अनेक प्रकारका भयंकर उपसर्ग किया ॥३८-३९॥ उक्त मुनिराजका जीव धर्मध्यानमें प्रवेश-कर तथा अच्छी तरह आराधनाओंकी आराधना कर सुभद्र नामक मध्यमग्रैवेयकके मध्यम

---

१ -रश्मिवेगाख्योऽजनि ल०, (छन्दोभङ्गः)। -रश्मिवेगाख्ययाजनि म०, ल०। २ हरिगिर्यद्रि ल०। ३ कम्पकम् ल०। ४ चक्रेसो ल०।

सप्तविंशतिवाराशिमितायुर्दिव्यभोगभाक् । ततश्च्युतोऽस्मिन् द्वीपेऽसौ जम्बूभूरुहभूषिते ॥४१॥
कोशले विषयेऽयोध्यानगरे काश्यपान्वये । इक्ष्वाकुवंशजातस्य वज्रबाहुमहीभृतः ॥४२॥
सुतो देव्यां प्रभंकर्यामानन्दाख्योऽजनि प्रियः । स संप्राप्तमहामाण्डलिकस्थानो महोदयः ॥४३॥
स्वस्य स्वामिहिताख्यस्य [1]महतो मन्त्रिणोऽन्यदा । [2]वाचा [3]वसन्तमासस्य नन्दीश्वरदिनाष्टके ॥४४॥
पूजां निर्वर्तयन्द्रष्टुकामं तत्र समागतम् । विपुलादिमतिं दृष्ट्वा गणेशं प्रश्रयाश्रयः ॥४५॥
अभिवन्द्य समाकर्ण्य सद्धर्मं सर्वशर्मदम् । भगवन् किंचिदिच्छामि श्रोतुं मे संशयास्पदम् ॥४६॥
अचेतने कथं पूजा निग्रहानुग्रहच्युते । जिनबिम्बे कृता भक्तिमतां पुण्य फलत्यसौ ॥ ४७॥
इत्यपृच्छदसौ चाह सहेत्विति वचस्तदा । शृणु राजन् जिनेन्द्रस्य चैत्यं चैत्यालयादि[4] च ॥४८॥
भवत्यचेतनं किन्तु भव्यानां पुण्यबन्धने । परिणामसमुत्पत्तिहेतुत्वात्कारणं भवेत् ॥४९॥
रागादिदोषहीनत्वादायुधाभरणादिकात् । [5]विमुखस्य प्रसन्नेन्दुकान्तिहासिमुखश्रियः ॥५०॥
अवर्तिताक्षसूत्रस्य लोकालोकावलोकिनः । कृतार्थत्वात्परित्यक्तजटादेः[6] परमात्मनः ॥५१॥
जिनेन्द्रस्यालयांस्तस्य प्रतिमाश्च प्रपश्यताम् । भवेच्छुभाभिसंधानप्रकर्षो नान्यतस्तथा ॥५२॥
कारणद्वयसांनिध्यात्सर्वकार्यसमुद्भवः । तस्मात्तत्साधु विज्ञेयं पुण्यकारणकारणम् ॥५३॥
तत्कथावसरे लोकत्रयचैत्यालयाकृतीः । सम्यग्वर्णयितुं वाञ्छन्नागादित्यविमानजे ॥५४॥
जिनेन्द्रभवने भूतां विभूतिं सोऽन्ववर्णयत् । तामसाधारणीं श्रुत्वानन्दः श्रद्धां परां वहन् ॥५५॥
दिनादौ च दिनान्ते च कराभ्यां कृतकुड्मलः । स्तुवन्नानम्रमुकुटो जिनेशान् मण्डले रवेः ॥५६॥

विमानमें सम्यग्दर्शनका धारक श्रेष्ठ अहमिन्द्र हुआ ॥४०॥ वहाँ वह सत्ताईस सागरकी आयु तक दिव्य भोग भोगता रहा । आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत होकर इसी जम्बूद्वीपके कौशल देश सम्बन्धी अयोध्या नगरमें काश्यप गोत्री इक्ष्वाकुवंशी राजा वज्रबाहु और रानी प्रभंकरीके आनन्द नामका प्रिय पुत्र हुआ । बड़ा होनेपर वह महावैभवका धारक मण्डलेश्वर राजा हुआ ॥४१-४३॥ किसी एक दिन उसने अपने स्वामिहित नामक महामन्त्रीके कहनेसे वसन्तऋतुकी अष्टाह्निकाओंमें पूजा करायी । उसे देखनेके लिए वहाँपर विपुलमति नामके मुनिराज पधारे । आनन्दने उनकी बड़ी विनयसे वन्दना की तथा उनसे सब जीवोंको सुख देनेवाला समीचीन धर्मका स्वरूप सुना और तदनन्तर कहा कि हे भगवान् ! मुझे कुछ संशय हो रहा है उसे आपसे सुनना चाहता हूँ ॥४४-४६॥ उसने पूछा कि जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमा तो अचेतन है उसमें भला-बुरा करनेकी शक्ति नहीं है फिर उसकी की हुई पूजा भक्तजनोंको पुण्य रूप फल किस प्रकार प्रदान करती है ॥४७॥ इसके उत्तरमें मुनिराजने हेतु सहित निम्न प्रकार वचन कहे कि हे राजन् ! सुन, यद्यपि जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमा और जिनेन्द्र मन्दिर अचेतन हैं तथापि भव्य जीवोंके पुण्य-बन्धके ही कारण हैं । यथार्थमें पुण्यबन्ध परिणामोंसे होता है और उन परिणामोंकी उत्पत्तिमें जिनेन्द्रकी प्रतिमा तथा मन्दिर कारण पड़ते हैं । जिनेन्द्र भगवान् रागादि दोषोंसे रहित हैं, शस्त्र तथा आभूषण आदिसे विमुख हैं, उनके मुखकी शोभा प्रसन्न चन्द्रमाके समान निर्मल है, लोक अलोकके जाननेवाले हैं, कृतकृत्य हैं, जटा आदिसे रहित हैं तथा परमात्मा हैं इसलिए उनके मन्दिरों और उनकी प्रतिमाओंका दर्शन करनेवाले लोगोंके शुभ परिणामोंमें जैसी प्रकर्षता होती है वैसी अन्य कारणोंसे नहीं हो सकती क्योंकि समस्त कार्योंकी उत्पत्ति अन्तरंग और बहिरंग दोनों कारणोंसे होती है इसलिए जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमा पुण्यबन्धके कारणभूत शुभ परिणामोंका कारण है यह बात अच्छी तरह जान लेनेके योग्य है ॥४८-५३॥ इसी उपदेशके समय उक्त मुनिराजने तीनों लोकों सम्बन्धी चैत्यालयोंके आकार आदिका वर्णन करना चाहा और सबसे पहले उन्होंने सूर्यके विमानमें स्थित जिन-मन्दिरकी विभूतिका अच्छी तरह वर्णन किया भी । उस असाधारण विभूतिको सुनकर राजा आनन्दको बहुत ही श्रद्धा हुई । वह उस समयसे प्रति दिन आदि और अन्त समयमें दोनों हाथ जोड़कर तथा

---

१ मनसा, इत्यपि क्वचित् । २ राजा, इत्यपि क्वचित् । ३ फाल्गुन इत्यपि क्वचित् । ४ वा ल० । ५ विमुक्तस्य ल० । ५ जपादेः ल० ।

शिल्पिभिः कारयित्वार्कविमानं मणिकाञ्चनैः । क्रोडे कृतजिनावासमवर्धं विततद्युति ॥५७॥
शास्त्रोक्तविधिना भक्त्या पूजामाष्टाह्निकीं व्यधात् । चतुर्मुखं रथावर्तं सर्वतोभद्रमूर्जितम् ॥५८॥
कल्पवृक्षं च दीनेभ्यो ददद्दानमवारितम् । तद्विलोक्य जनाः सर्वे तत्प्रामाण्यात्स्वयं च तत् ॥५९॥
स्तोतुमारेभिरे भक्त्या मण्डलं चण्डरोचिषः । तदाप्रभृति लोकेऽस्मिन् बभूवार्कोपसेवनम् ॥६०॥
अथान्यदा किलानन्दो महीट् शिरसि बुद्धवान् । पलितं दलयद्यौवनार्थिनां हृदयं द्विधा ॥६१॥
तन्निमित्तसमुद्भूतनिर्वेगो ज्येष्ठसूनवे । साभिषेकं निजं राज्यं दत्वादत्तास्पृहं तपः ॥६२॥
यतेः समुद्रगुप्तस्य समीपे बहुभिः समम् । राजभी राजसं भावं परित्यज्य सुलेश्यया ॥६३॥
साराधनाचतुष्कः सन्विशुद्ध्यैकादशाङ्गभृत् । प्रत्ययांस्तीर्थकृन्नाम्नो भावयामास षोडश ॥६४॥
यथोक्तं भावयित्वैनान्नाम बद्ध्वान्तिमं शुभम् । चिरं घोरं तपः कृत्वा प्रान्ते शान्तान्तरात्मकः ॥६५॥
प्रायोपगमनं प्राप्य प्रतिमायोगमास्थितः । धीरः क्षीरवने धर्मध्यानाधीनो निराकुलः ॥६६॥
कमठः प्राक्तनः पापी प्रच्युतो नरकक्षितेः । कण्ठीरवत्वमासाद्य तन्मुनेः कण्ठमग्रहीत् ॥६७॥
सोढसिंहोपसर्गोऽसौ चतुराराधनाधनः । व्यसुरानतकल्पेशो विमाने प्राणतेऽभवत् ॥६८॥
तत्र विंशतिवाराशिविहितोपमजीवितः । सार्धारत्नित्रयोन्मेयशरीरः शुक्ललेश्यया ॥६९॥
दशमासान्तनिश्वासी मनसाऽमृतमाहरन् । खचतुष्कद्विवर्षान्ते मनसा स्त्रीप्रचारवान् ॥७०॥
आपञ्चमक्षितिव्याप्ततृतीयावगमेक्षणः । स्वावधिक्षेत्रमानाभाविक्रियाबलसंगतः ॥७१॥
सामानिकादिसर्वर्द्धिसुधाशनसमर्चितः । कान्तकामप्रदानेकदेवीकृतसुखाकरः ॥७२॥

मुकुट झुकाकर सूर्यके विमानमें स्थित जिन-प्रतिमाओंकी स्तुति करने लगा। यही नहीं, उसने कारीगरोंके द्वारा मणि और सुवर्णका एक सूर्य-विमान भी बनवाया और उसके भीतर फैलती हुई कान्तिका धारक जिन-मन्दिर बनवाया। तदनन्तर उसने शास्त्रोक्त विधिसे भक्तिपूर्वक आष्टाह्निक पूजा की। चतुर्मुख, रथावर्त, सबसे बड़ी सर्वतोभद्र और दीनोंके लिए मन-चाहा दान देनेवाली कल्पवृक्ष-पूजा की। इस प्रकार उस राजाको सूर्यकी पूजा करते देख उसकी प्रामाणिकतासे अन्य लोग भी स्वयं भक्तिपूर्वक सूर्य-मण्डलकी स्तुति करने लगे। आचार्य कहते हैं कि इस लोकमें उसी समयसे सूर्यकी उपासना चल पड़ी है ॥५४–६०॥

अथानन्तर—किसी एक दिन राजा आनन्दने यौवन चाहनेवाले लोगोंके हृदयको दो टूक करनेवाला सफेद बाल अपने शिरपर देखा। इस निमित्तसे उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया। विरक्त होते ही उसने बड़े पुत्रके लिए अभिषेकपूर्वक अपना राज्य दे दिया और समुद्रगुप्त मुनिराजके समीप राजसी भाव छोड़कर अनेक राजाओंके साथ निःस्पृह (निःस्वार्थ) तप धारण कर लिया। शुभ लेश्याके द्वारा उसने चारों आराधनाओंकी आराधनाकी विशुद्धता प्राप्त कर ग्यारह अंगोंका अध्ययन किया, तीर्थंकर नामकर्मके बन्धमें कारणभूत सोलह कारण-भावनाओंका चिन्तवन किया, शास्त्रानुसार सोलह कारणभावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिका बन्ध किया और चिरकाल तक घोर तपश्चरण किया। आयुके अन्तमें, जिसकी अन्तरात्मा अत्यन्त शान्त हो गयी है, जो धीर वीर है, धर्मध्यानके अधीन है और आकुलतारहित है ऐसा वह आनन्द मुनि प्रायोपगमन संन्यास लेकर क्षीरवनमें प्रतिमा योगसे विराजमान हुआ ॥६१–६६॥ पूर्व जन्मके पापी कमठका जीव नरकसे निकलकर उसी वनमें सिंह हुआ था सो उसने आकर उन मुनिका कण्ठ पकड़ लिया ॥६७॥ इस प्रकार सिंहका उपसर्ग सहकर चार आराधनारूपी धनको धारण करनेवाला वह मुनि प्राणरहित हो अच्युत स्वर्गके प्राणत विमानमें इन्द्र हुआ ॥६८॥ वहाँपर उसकी बीस सागरकी आयु थी, साढ़े तीन हाथ ऊँचा शरीर था, शुक्ल लेश्या थी, वह दश माह बाद श्वास लेता था, और बीस हजार वर्ष बाद मानसिक अमृताहार ग्रहण करता था। उसके मानसिक स्त्रीप्रवीचार था, पाँचवीं पृथिवी तक अवधिज्ञानका विषय था, उतनी दूरी तक ही उसकी कान्ति, विक्रिया और बल था, सब ऋद्धियोंके धारक सामानिक आदि देव उसकी पूजा करते थे, और वह इच्छानुसार काम प्रदान करनेवाली अनेक देवियोंके द्वारा उत्पादित सुखकी खान था। इस प्रकार समस्त विषय-भोग

विश्वाम्बैषयिक[1] भोगान् शश्वत्संप्राप्य निर्विशन् । तल्लोको लीलया कालमकालीत्कलयन्कलाम् ॥७३॥
षण्मासैः निर्गमे तस्मिन्नागमिष्यत्यमूं महीम् । द्वीपेऽस्मिन् भरते काशीविषये नगरेऽधिपः ॥७४॥
वाराणस्यामभूद्विश्वसेनः काश्यपगोत्रजः । [2]ब्राह्म्यस्य देवी संप्राप्तवसुधारादिपूजना ॥७५॥
वैशाखकृष्णपक्षस्य द्वितीयायां निशात्यये । विशाखर्क्षे शुभस्वप्नान्निरीक्ष्य तदनन्तरम् ॥७६॥
स्ववक्त्राब्जं प्रविष्टोरुगजरूपविलोकिनी[3] । प्रभातपटहध्वानसमुन्मीलितलोचना ॥७७॥
मङ्गलाभिषवाविष्टपुष्टिः[4] पुण्यप्रसाधना । विभावरीव सज्ज्योत्स्ना [5]राजानं समुपेत्य सा ॥७८॥
कृतोपचारा संविश्य विष्टरार्द्धे[6] महीपतेः । स्वदृष्टसकलस्वप्नान्यथाक्रममभाषत ॥७९॥
श्रुत्वा तान् सावधिः सोऽपि फलान्येवं न्यवेदयत् । गजेन्द्रवीक्षणात्पुत्रो वृषभालोकनात्पतिः ॥८०॥
त्रिविष्टपस्य सिंहेन दृष्टेनानन्तवीर्यकः । मन्दराभिषवप्राप्तिः पद्माभिषवदर्शनात् ॥८१॥
दामद्वयावलोकेन धर्मद्वितयतीर्थकृत् । शशाङ्कमण्डलालोकात् त्रैलोक्यकुमुदप्रियः ॥८२॥
तेजस्वी भास्वतो मत्स्ययुगलेन सुखाविलः । निधीनामधिपः कुम्भवीक्षणात्सर्वलक्षणः ॥८३॥
सरसः सागरात्सर्वज्ञाता सिंहासनेक्षणात् । [7]सर्वलोकैकसंमान्यः स्वर्गादभ्यवतीर्णवान् ॥८४॥
भवतारद्विमानस्य भवनात्पवनाशिनः । त्रिबोधर्द्धिधिती रत्नराशिनालिङ्गितो[8] गुणैः ॥८५॥
विधूमधूमकेतूपलक्षणाद्दाहकोंऽहसाम् । वक्त्राम्भोजे गजेन्द्रस्य प्रवेशात्ते कृशोदरि ॥८६॥
अवस्थिति स संप्रापदुदरेऽमरपूजितः । इति श्रुत्वाऽनुषद्वाणी पत्युरेणीविलोचना ॥८७॥

प्राप्त कर वह निरन्तर उनका अनुभव करता रहता था और उन्हींमें सतृष्ण रहकर लीलापूर्वक बहुत लम्बे समयको एक कलाकी तरह व्यतीत करता था ।।६६–७३।। जिस समय उसकी आयुके अन्तिम छह माह रह गये और वह इस पृथिवीपर आनेके लिए सम्मुख हुआ उस समय इस जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्र-सम्बन्धी काशी देशमें बनारस नामका एक नगर था। उसमें काश्यपगोत्री राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी रानीका नाम ब्राह्मी था। देवोंने रत्नोंकी धारा बरसाकर उसकी पूजा की थी। रानी ब्राह्मीने वैशाखकृष्ण द्वितीयाके दिन प्रातःकालके समय विशाखा नक्षत्रमें सोलह शुभ स्वप्न देखे और उसके बाद अपने मुख-कमलमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। प्रातःकालके समय बजनेवाले नगाड़ोंके शब्दोंसे उसकी आँख खुल गयी और मंगलाभिषेकसे सन्तुष्ट होकर तथा वस्त्राभरण पहनकर वह राजाके समीप इस प्रकार पहुँची मानो चाँदनी रात चन्द्रमाके समीप पहुँची हो ।।७४–७८।। आदरपूर्वक वह महाराजके आधे सिंहासनपर बैठी और अपने द्वारा देखे हुए सब स्वप्न यथाक्रमसे कहने लगी ।।७९।। महाराज विश्वसेन अवधिज्ञानी थे ही, अतः स्वप्न सुनकर इस प्रकार उनका फल कहने लगे। वे बोले कि हाथीके स्वप्नसे पुत्र होगा, बैलके देखनेसे वह तीनों लोकोंका स्वामी होगा, सिंहके देखनेसे अनन्त वीर्यका धारक होगा, लक्ष्मीका अभिषेक देखनेसे उसे मेरु पर्वतपर अभिषेककी प्राप्ति होगी, दो मालाओंको देखनेसे वह गृहस्थ धर्म और मुनि धर्मरूप तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाला होगा, चन्द्रमण्डलके देखनेसे वह तीन लोकका चन्द्रमा होगा, सूर्यके देखनेसे तेजस्वी होगा, मत्स्योंका जोड़ा देखनेसे सुखी होगा, कलश देखनेसे निधियोंका स्वामी होगा, सरोवरके देखनेसे समस्त लक्षणोंसे युक्त होगा, समुद्रके देखनेसे सर्वज्ञ होगा, सिंहासनके देखनेसे समस्त लोगोंके द्वारा पूजनीय होगा, विमान देखनेसे स्वर्गसे अवतार लेनेवाला होगा, नागेन्द्रका भवन देखनेसे तीन ज्ञानका धारक होगा, रत्नोंकी राशि देखनेसे गुणोंसे आलिंगित होगा, निर्धूम अग्निके देखनेसे पापोंको जलानेवाला होगा और हे कृशोदरि ! मुखकमलमें हाथीका प्रवेश देखनेसे सूचित होता है कि देवोंके द्वारा पूजित होने वाला वह पुत्र आज तेरे उदरमें आकर विराजमान हुआ है। इस प्रकार वह मृगनयनी पतिसे स्वप्नोंका फल सुनकर बहुत सन्तुष्ट हुई ।।८०–८७।।

---

१ अच्छैत्सीत् म०, टि० । कालमालामैत्कलयन् ल० (?) । २ ब्रह्मास्य ल० । ३ विलोकनी ल० । ४ पुष्टिः ख०, ग० । ५ 'राजानं नृपं चन्द्रं वा ।' 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः' इति कोशः । ६ विष्टरार्धे ल० । ७ स्वर्गं ल० । ८ लिङ्गतो ल० ।

तदाखिलामराधीशाः समागत्य व्यधुर्मुदा । स्वर्गावतरणे पित्रोः कल्याणाभिषवोत्सवम् ॥८८॥
स्वर्गलोकं च तद्गेहमतिशेते स्म संपदा । किं करोति न कल्याणं कृतपुण्यसमागमः ॥८९॥
नवमे मासि संपूर्णे पौषे मास्यसिते सुतः । पक्षे योगेऽनिले प्रादुरासीदेकादशीतिथौ ॥९०॥
तदा निजासनाकम्पाद् ज्ञात्वा तीर्थकरोदयम् । सौधर्मप्रमुखाः सर्वे मन्दराचलमस्तके ॥९१॥
जन्माभिषेककल्याणपूजानिर्वृत्यनन्तरम् । पार्श्वाभिधानं कृत्वास्य पितृभ्यां तं समर्पयन् ॥९२॥
नेम्यन्तरे खपञ्चर्ष्यग्न्यष्टमितवत्सरे । प्राप्ते हन्ता कृतान्तस्य तदभ्यन्तरजीवितः ॥९३॥
पार्श्वनाथः समुत्पन्नः शतसंवत्सरायुषा । बालशालितनुच्छायः सर्वलक्षणलक्षितः ॥९४॥
नवारत्नितनूत्सेधो लक्ष्मीवानुग्रवंशजः । षोडशाब्दावसानेऽयं कदाचिन्नवयौवनः ॥९५॥
क्रीडार्थं स्वबलेनामा निर्यायायाद् बहिः पुरम् । आश्रमादिवने मातुर्महीपालपुराधिपम् ॥९६॥
पितरं तं महीपालनामानममरार्चितः । महादेवीवियोगेन दुःखात्तापसदीक्षितम् ॥९७॥
तपः कुर्वन्तमालोक्य पञ्चपावकमध्यगम् । तत्समीपे कुमारोऽस्थादनत्वैनमनादरः[1] ॥९८॥
अविचार्य तदाविष्टः कोपेन कुमुनिर्गुरुः । कुलीनोऽहं तपोवृद्धः पिता मातुर्नमस्क्रियाम् ॥९९॥
अकृत्वा मे कुमारोऽज्ञः स्थितवान्मदविह्वलः । इति प्रक्षोभमागत्य प्रशाम्यते पावके पुनः ॥१००॥
निक्षेप्तुं स्वयमेवोच्चैरुत्क्षिप्य परशुं घनम् । भिन्दन्निन्धनमज्ञोऽसौ मा भैत्सीरत्र विद्यते ॥१०१॥
प्राणीति वार्यमाणोऽपि कुमारेणावधित्विषा । अच्छिनत्तद्द्रुवं कर्म तस्याभ्यन्तरवर्तिनौ ॥१०२॥

उसी समय समस्त इन्द्रोंने आकर बड़े हर्षसे स्वर्गावतरणकी वेलामें भगवान्‌के माता-पिताका कल्याणाभिषेक कर उत्सव किया ॥८८॥ उस समय महाराज विश्वसेनका राजमन्दिर अपनी सम्पदाके द्वारा स्वर्गलोकका भी उल्लंघन कर रहा था सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यात्मा जीवोंका समागम कौन-सा कल्याण नहीं करता है ? अर्थात् सभी कल्याण करता है ॥८९॥ नौ माह पूर्ण होनेपर पौषकृष्ण एकादशीके दिन अनिलयोगमें वह पुत्र उत्पन्न हुआ ॥९०॥ उसी समय अपने आसनोंके कम्पायमान होनेसे सौधर्म आदि सभी इन्द्रोंने तीर्थंकर भगवान्‌के जन्मका समाचार जान लिया तथा सभीने आकर सुमेरु पर्वतके मस्तकपर उनके जन्मकल्याणककी पूजा की, पार्श्वनाथ नाम रखा और फिर उन्हें माता-पिताके लिए समर्पित कर दिया ॥९१-९२॥ श्री नेमिनाथ भगवान्‌के बाद तिरासी हजार सात सौ पचास वर्ष बीत जानेपर मृत्युको जीतनेवाले भगवान् पार्श्वनाथ उत्पन्न हुए थे, उनकी आयु सौ वर्षकी थी जो कि उसी पूर्वोक्त अन्तरालमें शामिल थी। उनके शरीरकी कान्ति धानके छोटे पौधेके समान हरे रंगकी थी, वे समस्त लक्षणोंसे सुशोभित थे, नौ हाथ ऊँचा उनका शरीर था, वे लक्ष्मीवान् थे और उग्र वंशमें उत्पन्न हुए थे, सोलह वर्ष बाद जब भगवान् नव यौवनसे युक्त हुए तब वे किसी समय क्रीड़ा करनेके लिए अपनी सेनाके साथ नगरसे बाहर गये। वहाँ आश्रमके वनमें इनकी माताका पिता, महीपाल नगरका राजा महीपाल अपनी रानीके वियोगसे तपस्वी होकर तप कर रहा था, वह पंचाग्नियोंके बीचमें बैठा हुआ तपश्चरण कर रहा था। देवोंके द्वारा पूजित भगवान् पार्श्वनाथ उसके समीप जाकर उसे नमस्कार किये बिना ही अनादरके साथ खड़े हो गये। यह देख, वह खोटा साधु, बिना कुछ विचार किये ही क्रोधसे युक्त हो गया। वह मनमें सोचने लगा कि 'मैं कुलीन हूँ—उच्च कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ, तपोवृद्ध हूँ—तपके द्वारा बड़ा हूँ, और इसकी माताका पिता हूँ फिर भी यह अज्ञानी कुमार अहंकारसे विह्वल हुआ मुझे नमस्कार किये बिना ही खड़ा है' ऐसा विचार कर वह अज्ञानी बहुत ही क्षोभको प्राप्त हुआ और बुझती हुई अग्निमें डालनेके लिए वहाँपर पड़ी हुई लकड़ीको काटनेकी इच्छासे उसने लकड़ी काटनेके लिए अपना मजबूत फरसा ऊपर उठाया ही था कि अवधिज्ञानी भगवान् पार्श्वनाथ 'इसे मत काटो, इसमें जीव हैं' यह कहते हुए मना किया परन्तु उनके मना करनेपर भी उसने लकड़ी काट ही डाली। इस कर्मसे उस लकड़ीके भीतर रहनेवाले सर्प और सर्पिणीके दो-दो टुकड़े हो

---

१ —मनादरम् ग० घ०।

नागी नागश्च तच्छेदाद् द्विधा खण्डमुपागतौ । तन्निरीक्ष्य सुभौमाख्यकुमारः समभाषत ॥१०३॥
अहं गुरुस्तपस्वीति गर्वं दुर्वहमुद्वहन् । पापास्रवो भवत्यस्मान्न वेत्येतच्च वेत्सि न ॥१०४॥
अज्ञानतपसानेन दुःखं तेऽत्र परत्र च । इति तद्वचनात्कोपी मुनिरित्थं समब्रवीत् ॥१०५॥
अहं प्रभुरमं मत्वा किं वा करोतीत्यवज्ञया । तपसो मम माहात्म्यमबुद्ध्वैवं ब्रवीषि किम् ॥१०६॥
पञ्चाग्निमध्यवर्तित्वं पवनाहारजीवनम् । ऊर्ध्वबाहुतया पादेनैकेनैव चिरं स्थितिः ॥१०७॥
स्वयंपतितपर्णादेरुपवासेन पारणम् । इत्यादिकायसंतापि तापसानां सुदुर्धरम् ॥१०८॥
तपो नाधिकमस्त्यस्मादिति तद्वचनश्रुतेः । सुभौमः सस्मितोऽवादीन्न भवन्तमहं गुरुन् ॥१०९॥
अवमन्ये पुनः किं तु संत्यज्याप्तागमादिकम् । मिथ्यात्वादिचतुष्केण पृथिव्यादिषु षट्स्वपि ॥११०॥
वाचा कायेन मनसा कृतकादित्रिकेण च । वधे प्रवर्तमानानामनाप्तमतसंश्रयात् ॥१११॥
निर्वाणप्रार्थनं तेषां तण्डुलावाप्तिवाञ्छया । तुषखण्डनखेदो वा घृतेच्छा वाम्बुमन्थनात् ॥११२॥
हेमोपलब्धिबुद्धिर्वा दाहादन्धाश्मसंहतेः । अन्धस्येवाग्निसंपातो दावभीत्या प्रधावतः[1] ॥११३॥
ज्ञानहीनपरिक्लेशो भाविदुःखस्य कारणम् । इति प्ररूप्यते युष्मत्स्नेहेन महता मया ॥११४॥
इत्येतदुक्तं ज्ञात्वापि पूर्ववैरानुबन्धनात् । निजपक्षानुरागित्वाद् दुःसंसारादिहागते ॥११५॥
प्रकृत्यैवातिदुष्टत्वादनादाय विरुद्धधीः । सुभौमको न मामत्र सस्मयोऽयं कुमारकः ॥११६॥
परामवति मामेवमिति तस्मिन् प्रकोपवान् । सशल्यो मृतिमासाद्य शम्बरो ज्योतिषामरः ॥११७॥
नाम्नाभवत् सकोपानां तपसाऽपीदृशी गतिः । नागी नागश्च संप्राप्तशमभावौ कुमारतः ॥११८॥

गये । यह देखकर सुभौम कुमार कहने लगा कि तू 'मैं गुरु हूँ, तपस्वी हूँ' यह समझकर यद्यपि भारी अहंकार कर रहा है परन्तु यह नहीं जानता कि इस कुतपसे पापास्रव होता है या नहीं। इस अज्ञान तपसे तुझे इस लोकमें दुःख हो रहा है और परलोकमें भी दुःख प्राप्त होगा। सुभौमकुमारके यह वचन सुनकर वह तपस्वी और भी कुपित हुआ तथा इस प्रकार उत्तर देने लगा ॥९३-१०५॥ कि 'मैं प्रभु हूँ, यह मेरा क्या कर सकता है' इस प्रकारकी अवज्ञासे मेरे तपका माहात्म्य बिना जाने ही तू ऐसा क्यों बक रहा है ? पंचाग्निके मध्यमें बैठना, वायु भक्षण कर ही जीवित रहना, ऊपर भुजा उठाकर चिरकाल तक एक ही पैरसे खड़े रहना, और उपवास कर अपने-आप गिरे हुए पत्ते आदिसे पारण करना इस प्रकार शरीरको सन्तापित करनेवाला तपस्वियोंका तप बहुत ही कठिन है, इस तपश्चरणसे बढ़कर दूसरा तपश्चरण हो ही नहीं सकता। उस तपस्वीके ऐसे वचन सुन सुभौमकुमार हँसकर कहने लगा कि मैं न तो आपको गुरु मानता हूँ और न आपका तिरस्कार ही करता हूँ किन्तु जो आप्त तथा आगम आदिको छोड़कर मिथ्यात्व एवं क्रोधादि चार कषायोंके वशीभूत हो पृथिवीकायिक आदि छह कायके जीवोंकी हिंसामें मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे प्रवृत्ति करते हैं और इस तरह अनाप्तके कहे हुए मतका आश्रय लेकर निर्वाणकी प्रार्थना करते हैं—मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं सो उनकी यह इच्छा चावल पानेकी इच्छासे धानके छिलके कूटनेके प्रयासके समान है, अथवा जल मथकर घी प्राप्त करनेकी इच्छाके समान है, अथवा अन्धपाषाणके समूहको जलाकर सुवर्ण करनेकी इच्छाके समान है, अथवा जिस प्रकार कोई अन्धा मनुष्य दावानलके डरसे भागकर अग्निमें जा पड़े उसके समान है। ज्ञानहीन मनुष्यका कायक्लेश भावी दुःखका कारण है। यह बात मैं, आपपर बहुत भारी स्नेह होनेके कारण कह रहा हूँ' ॥१०६-११४॥ इस प्रकार सुभौमकुमारके कहे वचन, विपरीत बुद्धिवाले उस तापसने समझ तो लिये परन्तु पूर्व वैरका संस्कार होनेसे, अथवा अपने पक्षका अनुराग होनेसे अथवा दुःखमय संसारसे आनेके कारण अथवा स्वभावसे ही अत्यन्त दुष्ट होनेके कारण उसने स्वीकार नहीं किये प्रत्युत, यह सुभौमकुमार अहंकारी होकर मेरा इस तरह तिरस्कार कर रहा है, यह सोचकर वह भगवान् पार्श्वनाथपर अधिक क्रोध करने लगा। इसी शल्यसे वह मरकर शम्बर नामका ज्योतिषी देव हुआ सो ठीक ही है

---

१ -मुना म०।

बभूवतुरहीन्द्रश्च तत्पत्नी च पृथुश्रियौ । ततस्त्रिंशत्समामान[1]कुमारसमये गते ॥११९॥
साकेतनगराधीशो [2]जयसेनो महीपतिः । भगलीदेशसंजातहयादिप्राभृतान्वितम् ॥१२०॥
अन्यदासौ निसृष्टार्थं प्राहिणोत्पार्श्वसंनिधिम् । गृहीत्वोपायनं पूजयित्वा दूतोत्तमं मुदा ॥१२१॥
साकेतस्य विभूतिं तं कुमारः परिपृष्टवान् । सोऽपि भट्टारकं पूर्वं वर्णयित्वा [3]पुरुं पुरम् ॥१२२॥
पश्चादवर्णयामास [4]प्राज्ञा हि क्रमवेदिनः । श्रुत्वा तत्र किं जातं तीर्थकृन्नामबन्धनात् ॥१२३॥
एष एव [5]पुरुर्मुक्तिमापदित्युपयोगवान् । [6]साक्षात्कृतनिजातीतसर्वभवसंततिः ॥१२४॥
विजृम्भितमतिज्ञानक्षयोपशमवैभवात्[7] । लब्धबोधिः पुनर्लौकान्तिकदेवप्रबोधितः ॥१२५॥
तत्क्षणागतदेवेन्द्रप्रमुखामरनिर्मित- । प्रसिद्धमध्यकल्याणस्नपनादिमहोत्सवः ॥१२६॥
प्रत्येययुक्तिमद्वाग्भिः कृतबन्धुविसर्जनः । आरुह्य शिबिकां रूढां विमलाभिधया विभुः ॥१२७॥
विधायाष्टममाहारत्यागमश्ववने महा- । शिलातले महासत्त्वः पल्यङ्कासनमास्थितः ॥१२८॥
उत्तराभिमुखः[8] पौषे मासे पक्षे सितेतरे । एकादश्यां सुपूर्वाह्णे समं त्रिशतभूभुजैः (?) ॥१२९॥
कृतसिद्धनमस्कारो दीक्षालक्ष्मीं समाददे । दूतिकां मुक्तिकन्याया मान्यां कृत्यप्रसाधिकाम् ॥१३०॥
केशान्निर्मोचितांस्तस्य मुष्टिभिः पञ्चभिः सुरेट् । समभ्यर्च्यादरान्नीत्वा न्यक्षिपत्क्षीरवारिधौ ॥१३१॥
आत्तसामायिकः शुद्ध्या चतुर्थज्ञानभास्वरः[9] । गुल्मखेटपुरं कायस्थित्यर्थं समुपेयिवान् ॥१३२॥
तत्र धन्याख्यभूपालः श्यामवर्णोऽष्टमङ्गलैः । प्रतिगृह्याशनं शुद्धं दत्वाप्तत्क्रियोचितम् ॥१३३॥

क्योंकि क्रोधी मनुष्योंकी तपसे ऐसी ही गति होती है। इधर सर्प और सर्पिणी कुमारके उपदेशसे शान्ति भावको प्राप्त हुए और मरकर बहुत भारी लक्ष्मीको धारण करनेवाले धरणेन्द्र और पद्मावती हुए। तदनन्तर भगवान् पार्श्वनाथका जब तीस वर्ष प्रमाण कुमारकाल बीत गया तब एक दिन अयोध्याके राजा जयसेनने भगली देशमें उत्पन्न हुए घोड़े आदिकी भेंटके साथ अपना दूत भगवान् पार्श्वनाथके समीप भेजा। भगवान् पार्श्वनाथने भेंट लेकर उस श्रेष्ठ दूतका हर्षपूर्वक बड़ा सम्मान किया और उससे अयोध्याकी विभूति पूछी। इसके उत्तरमें दूतने सबसे पहले भगवान् वृषभदेवका वर्णन किया और उसके पश्चात् अयोध्या नगरका हाल कहा सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् लोग अनुक्रमको जानते ही हैं। दूतके वचन सुनकर भगवान् विचारने लगे कि मुझे तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध हुआ है इससे क्या लाभ हुआ? भगवान् वृषभदेवको ही धन्य है कि जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया। ऐसा विचार करते ही उन्होंने अपने अतीत भवोंकी परम्पराका साक्षात्कार कर लिया—पिछले सब देख लिये ॥११९–१२४॥ मतिज्ञानावरण कर्मके बढ़ते हुए क्षयोपशमके वैभवसे उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो गया और लौकान्तिक देवोंने आकर उन्हें सम्बोधित किया। उसी समय इन्द्र आदि देवोंने आकर प्रसिद्ध दीक्षा-कल्याणकका अभिषेक आदि महोत्सव मनाया ॥१२५–१२६॥ तदनन्तर भगवान्, विश्वास करने योग्य युक्तियुक्त वचनोंके द्वारा भाई-बन्धुओंको विदा कर विमला नामकी पालकीपर सवार हो अश्ववनमें पहुँचे। वहाँ अतिशय धीर वीर भगवान् तेलाका नियम लेकर एक बड़ी शिलातलपर उत्तराभिमुख हो पर्यंकासनसे विराजमान हुए। इस प्रकार पौषकृष्ण एकादशीके दिन प्रातःकालके समय उन्होंने सिद्ध भगवान्को नमस्कार कर तीन सौ राजाओंके साथ दीक्षारूपी लक्ष्मी स्वीकृत कर ली। वह दीक्षा-लक्ष्मी क्या थी? मानो कार्य सिद्ध करनेवाली मुक्तिरूपी कन्याकी माननीय दूती थी ॥१२७–१३०॥ भगवान्ने पंच मुष्टियोंके द्वारा उखाड़कर जो केश दूर फेंक दिये थे इन्द्रने उनकी पूजा की तथा बड़े आदरसे ले जाकर उन्हें क्षीरसमुद्रमें डाल दिया ॥१३१॥ जिन्होंने दीक्षा लेते ही सामायिक चारित्र प्राप्त किया है और विशुद्धताके कारण प्राप्त हुए चतुर्थ—मनःपर्यय ज्ञानसे देदीप्यमान हैं ऐसे भगवान् पारणाके दिन आहार लेनेके लिए गुल्मखेट नामके नगरमें गये ॥१३२॥ वहाँ श्यामवर्णवाले धन्य नामक राजाने अष्ट मंगल द्रव्योंके द्वारा पड़गाहकर उन्हें शुद्ध आहार दिया और आहार देकर इस क्रियाके

---

१ कुमारे ल०। २ जयसेनमही–ल०। ३ वृषभदेवम्। ४ प्रज्ञा क०, ख०, ग०। ५ पुनर्मुक्ति ल०। ६ साक्षात्कृतविजानीत ल० (?)। ७ वैभवः क०, ख०, घ०। ८ उत्तराभिमुखे ल०। ९ भास्करः ल०।

नयन्स चतुरो मासान् छाद्मस्थ्येन विशुद्धिभाक् । दीक्षाग्रहवने देवदारुभूरिमहीरुहः ॥१३४॥
अधस्तादष्टमाहारत्यागशान्तविशुद्धिकः । प्रत्यासन्नभवप्रान्तो योगं सप्तदिनावधिम् ॥१३५॥
गृहीत्वा सत्यमार्गेऽस्थाद् धर्मध्यानं प्रवर्तयन् । शम्बरोऽम्बरे गच्छन्नगच्छन्न विमानकम् ॥१३६॥
लोकमानो विभङ्गेन स्पष्टप्राग्वैरबन्धनः । रोषात्कृतमहाघोषो महावृष्टिमपातयत् ॥१३७॥
व्यधाच्चैव सप्ताहान्यन्यांश्च विविधान्विधीः । महोपसर्गान् शैलोपनिपातान्तानिवान्तकः ॥१३८॥
[1]तं ज्ञात्वाऽवधिबोधेन धरणीशो विनिर्गतः । धरण्याः प्रस्फुरद्रत्नफणामण्डपमण्डितः ॥१३९॥
[2]भट्टं तमस्थाद्व्यावृत्य तत्पत्नी च फणाततेः । उपर्युच्चैः समुद्धृत्य स्थिता वज्रातपच्छिदम् ॥१४०॥
अमू क्रूरौ प्रकृत्यैव नागौ सस्मरतुः कृतम् । नोपकारं परे तस्माद्विस्मरन्त्यार्द्रचेतसः ॥१४१॥
ततो भगवतो ध्यानमाहात्म्यान्मोहसंक्षये । विनाशमगमद्विश्वो विकारः कमठद्विषः ॥१४२॥
द्वितीयशुक्लध्यानेन मुनिर्निर्जित्य कर्मणाम् । त्रितयं चैत्रमासस्य काले[3] पक्षे दिनादिमे ॥१४३॥
भागे विशाखनक्षत्रे चतुर्दश्यां महोदयः । संप्रापत्केवलज्ञानं लोकालोकावभासनम् ॥१४४॥
तदा केवलपूजां च सुरेन्द्रा निरवर्तयन् । शम्बरोऽप्याप्तकालादिलब्धिः शममुपागमत् ॥१४५॥
प्राप्तसम्यक्त्वशुद्धिं च दृष्ट्वा तद्वनवासिनः । तापसास्त्यक्तमिथ्यात्वाः शतानां सप्त संयमम् ॥१४६॥
गृहीत्वा शुद्धसम्यक्त्वाः पार्श्वनाथं कृतादराः । सर्वे प्रदक्षिणीकृत्य प्रणेमुः पादयोर्द्वयोः ॥१४७॥

योग्य उत्तम फल प्राप्त किया ॥१३३॥ इस प्रकार अत्यन्त विशुद्धिको धारण करनेवाले भगवान्ने छद्मस्थ अवस्थाके चार माह व्यतीत किये। तदनन्तर जिस वनमें दीक्षा ली थी उसी वनमें जाकर वे देवदारु नामक एक बड़े वृक्षके नीचे विराजमान हुए। वहाँ तेलाका नियम लेनेसे उनकी विशुद्धता बढ़ रही थी, उनके संसारका अन्त निकट आ चुका था और उनकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी, इस प्रकार वे सात दिनका योग लेकर धर्मध्यानको बढ़ाते हुए विराजमान थे। इसी समय कमठका जीव शम्बर नामका असुर आकाशमार्गसे जा रहा था कि अकस्मात् उसका विमान रुक गया। जब उसने विभंगावधि ज्ञानसे इसका कारण देखा तो उसे अपने पूर्वभवका सब वैर-बन्धन स्पष्ट दिखने लगा। फिर क्या था, क्रोधवश उसने महा गर्जना की और महावृष्टि करना शुरू कर दिया। इस प्रकार यमराजके समान अतिशय दुष्ट उस दुर्बुद्धिने सात दिन तक लगातार भिन्न-भिन्न प्रकारके महा उपसर्ग किये। यहाँतक कि छोटे-मोटे पहाड़ तक लाकर उनके समीप गिराये ॥१३४-१३८॥ अवधिज्ञानसे यह उपसर्ग जानकर धरणेन्द्र अपनी पत्नीके साथ पृथिवीतलसे बाहर निकला, उस समय वह, धरणेन्द्र जिसपर रत्न चमक रहे हैं ऐसे फणारूपी मण्डपसे सुशोभित था। धरणेन्द्रने भगवान्को सब ओरसे घेरकर अपने फणाओंके ऊपर उठा लिया और उसकी पत्नी वज्रमय छत्र तानकर खड़ी हो गयी ॥१३९-१४०॥ आचार्य कहते हैं कि देखो, स्वभावसे ही क्रूर रहनेवाले सर्प-सर्पिणीने अपने ऊपर किया उपकार याद रखा सो ठीक ही है क्योंकि दयालु पुरुष अपने ऊपर किये उपकारको कभी नहीं भूलते हैं ॥१४१॥

तदनन्तर भगवान्के ध्यानके प्रभावसे उनका मोहनीय कर्म क्षीण हो गया इसलिए वैरी कमठका सब उपसर्ग दूर हो गया ॥१४२॥ मुनिराज पार्श्वनाथने द्वितीय शुक्लध्यानके द्वारा अवशिष्ट तीन घातिया कर्मोंको और भी जीत लिया जिससे उन्हें चैत्रकृष्ण चतुर्दशीके दिन प्रातः-कालके समय विशाखा नक्षत्रमें लोक-अलोकको प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान प्राप्त हो गया और इस कारण उनका अभ्युदय बहुत भारी हो गया ॥१४३-१४४॥ उसी समय इन्द्रोंने केवल-ज्ञानकी पूजा की। शम्बर नामका ज्योतिषीदेव भी काललब्धि पाकर शान्त हो गया और उसने सम्यग्दर्शन सम्बन्धी विशुद्धता प्राप्त कर ली। यह देख, उस वनमें रहनेवाले सात सौ तप-स्वियोंने मिथ्यादर्शन छोड़कर संयम धारण कर लिया, सभी शुद्ध सम्यग्दृष्टि हो गये और बड़े आदरके साथ प्रदक्षिणा देकर भगवान् पार्श्वनाथके चरणोंमें नमस्कार करने लगे। आचार्य

---

१ तद् ज्ञात्वा ल० । २ भदन्तमस्थादावृत्य ख० । भट्टारमस्था---इति क्वचित् । भर्तारमस्थादावृत्य ग० । ३ कालपक्षे ल० ।

क तद्वैरं वृथा शान्तिरीदृशी कास्य पापिनः । सख्यमास्तां विरोधश्च वृद्धये हि महात्मभिः ॥१४८॥
[1]गणेशा दश तस्यासन् विख्यातादिं स्वयंभुवम् । सार्धानि त्रिशतान्युक्ता मुनीन्द्राः पूर्वधारिणः ॥१४९॥
यतयोऽयुतपूर्वाणि शतानि नव शिक्षकाः । चतुःशतोत्तरं प्रोक्ताः सहस्रमवधित्विषः ॥१५०॥
सहस्रमन्तिमज्ञानास्तावन्तो विक्रियर्द्धिकाः । शतानि सप्तपञ्चाशच्चतुर्थावगमाश्रिताः ॥१५१॥
वादिनः षट्शतान्येव ते सर्वेऽपि समुच्चिताः । अभ्यर्णीकृतनिर्वाणाः स्युः सहस्राणि षोडश ॥१५२॥
सुलोचनाद्याः षट्त्रिंशत्सहस्राण्यार्यिका विभोः । श्रावका लक्षमेकं तु त्रिगुणाः श्राविकास्ततः ॥१५३॥
देवा [2]देव्योऽप्यसंख्याताः संख्यातास्तिर्यगङ्गिनः । एवं द्वादशभिर्युक्तो गणैर्धर्मोपदेशनम् ॥१५४॥
कुर्वाणः पञ्चभिर्मासैर्विरहीकृतसप्ततिः । संवत्सराणां मासं स रुद्ध्वा विहृतिक्रियाम् ॥१५५॥
षट्त्रिंशन्मुनिभिः सार्धं प्रतिमायोगमास्थितः । श्रावणे मासि सप्तम्यां सितपक्षे दिनादिमे ॥१५६॥
भागे विशाखनक्षत्रे ध्यानद्वयसमाश्रयात् । गुणस्थानद्वये स्थित्वा संमेदाचलमस्तके ॥१५७॥
तत्कालोचितकार्याणि वर्तयित्वा यथाक्रमम् । निःशेषकर्मनिर्णाशान्निर्वाणे[3] निश्चलं स्थितः ॥१५८॥
कृतनिर्वाणकल्याणाः सुरेन्द्रास्तं ववन्दिरे । वन्दामहे वयं चैनं नन्दितुं सुन्दरैर्गुणैः ॥१५९॥
आदिमध्यान्तगम्भीराः सन्तोऽम्भोनिधिसंनिभाः । उदाहरणमेतेषां पार्श्वो गण्यः क्षमावताम् ॥१६०॥

शार्दूलविक्रीडितम्

त्वज्जन्माभिषवोत्सवे सुरगिरौ स्वोच्छ्वासनिःश्वासजैः
स्वर्गेशान्भृशमानयस्त्वमनिलैरान्दोलकेलीं मुहुः ।
किं कुर्यात्तव तादृशोऽयममरस्त्वत्क्षान्तिलक्ष्योदयः
पाठीनो जलधेरिवेत्यभिनुतः पार्श्वो जिनः पातु नः ॥१६१॥

कहते हैं कि पापी कमठके जीवका कहाँ तो निष्कारण वैर और कहाँ ऐसी शान्ति ? सच कहा है कि महापुरुषोंके साथ मित्रता तो दूर रही शत्रुता भी वृद्धिका कारण होती है ॥१४५–१४८॥

भगवान् पार्श्वनाथके समवसरणमें स्वयम्भूको आदि लेकर दश गणधर थे, तीन सौ पचास मुनिराज पूर्वके ज्ञाता थे, दश हजार नौ सौ शिक्षक थे, एक हजार चार सौ अवधिज्ञानी थे, एक हजार केवलज्ञानी थे, इतने ही विक्रिया ऋद्धिके धारक थे, सात सौ पचास मनःपर्यय ज्ञानी थे, और छह सौ वादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर शीघ्र ही मोक्ष जानेवाले सोलह हजार मुनिराज उनके समवसरणमें थे ॥१४९–१५२॥ सुलोचनाको आदि लेकर छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ थीं और संख्यात तिर्यंच थे। इस प्रकार बारह सभाओंके साथ धर्मोपदेश करते हुए भगवान्ने पाँच माह कम सत्तर वर्ष तक विहार किया। अन्तमें जब उनकी आयुका एक माह शेष रह गया तब वे विहार बन्द कर सम्मेदाचलके शिखरपर छत्तीस मुनियोंके साथ प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो गये। श्रावणशुक्ला सप्तमीके दिन प्रातःकालके समय विशाखा नक्षत्रमें शुक्लध्यानके तीसरे और चौथे भेदोंका आश्रय लेकर वे अनुक्रमसे तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानमें स्थित रहे फिर यथाक्रमसे उस समयके योग्य कार्य कर समस्त कर्मोंका क्षय हो जानेसे मोक्षमें अविचल विराजमान हो गये। उसी समय इन्द्रोंने आकर उनके निर्वाण कल्याणकका उत्सव कर उनकी वन्दना की। आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि उनके निर्मल गुणोंसे समृद्ध होनेके कारण हम भी इन भगवान् पार्श्वनाथको नमस्कार करते हैं ॥१५३–१५९॥ जो समुद्रके समान आदि मध्य और अन्तमें गम्भीर रहते हैं ऐसे सज्जनोंका यदि कोई उदाहरण हो सकता है तो क्षमावानोंमें गिनती करनेके योग्य भगवान् पार्श्वनाथ ही हो सकते हैं ॥१६०॥ 'भगवन् ! जन्माभिषेकके समय सुमेरुपर्वतपर अपने उच्छ्वास और निःश्वाससे उत्पन्न वायुके द्वारा आपने इन्द्रोंको भी अच्छी तरह बार-बार मूला झुला दिया था फिर भला यह शम्बर-जैसा

---

१ गणीशा ल० । २ देवदेव्यो ख०, क० । ३ निर्वाणं ख० ।

निष्कम्पं नव शुक्लतामुपगतं बोधं पयोधिर्महा-
वातोद्धूतमनुर्विनीलसलिलः प्राप्नोति दूरान्न तम् ।
ध्यानं ते च तथाचलस्य महतां श्वासानिलाद्वामरात्
क्षोभः कः कथमित्यनेकस्तुतिपतिः पार्श्वप्रभुः पातु नः ॥१६२॥
तीर्थेशाः सदृशो गुणैरनणुभिः सर्वेऽपि धैर्यादिभिः
सन्त्वप्येवमधीश विश्वविदितास्ते ते गुणाः प्रीणनाः ।
तत्सर्वं कमठात्तथा हि महतां शत्रोः कृतापक्रियात्
ख्यातिर्या महती न जातुचिदसौ मित्रात्कृतोपक्रियात् ॥१६३॥
दूरस्थामरविक्रियस्य भवतो बाधा न शान्तात्मनो
न क्रोधो न भयं च तेन न बुधैः सोढेति संस्तूयसे ।
माहात्म्यप्रशमौ तु विस्मयकरौ तौ तेन तीर्थेशिनः
स्तोतव्यं किमिति स्तुतो भवतु नः पार्श्वो भवोच्छित्तये ॥१६४॥
पश्यैतौ कृतवेदिनौ हि धरणौ धर्म्यावितीडाकृतौ
तावेवोपकृतिर्न ते त्रिभुवनक्षेमैकभूमेस्ततः ।
भूभृत्पातनिषेधनं ननु कृतं चेत्प्राक्तनोपद्रवाः
कैर्नाशितेति सारसंस्तुतिकृतः पार्श्वो जिनः पातु नः ॥१६५॥

क्षुद्रदेव आपका क्या कर सकता है ? जिस प्रकार मच्छ समुद्रमें उछल-कूदकर उसे पीड़ित करता है परन्तु स्वयं उसी समुद्रसे जीवित रहता है—उससे अलग होते ही छटपटाने लगता है उसी प्रकार इस क्षुद्रदेवने आपको पीड़ा पहुँचायी है तो भी यह अन्तमें आपकी ही शान्तिसे अभ्युदयको प्राप्त हुआ है' इस प्रकार जिनकी स्तुति की गयी वे पार्श्वनाथ स्वामी हम सबकी रक्षा करें ॥१६१॥ 'हे प्रभो ! अकम्प हुआ आपका ज्ञान अत्यन्त निर्मलताको प्राप्त है उसे समुद्रकी उपमा कैसे दी जा सकती है क्योंकि समुद्र तो महावायुके चलनेपर चंचल हो जाता है और उसमें भरा हुआ पानी नीला है इस प्रकार समुद्र दूरसे ही आपके ज्ञानको नहीं पा सकता है । इसी तरह आपका ध्यान भी अकम्प है तथा अत्यन्त शुक्लताको प्राप्त है उसे भी समुद्रकी उपमा नहीं दी जा सकती है । हे नाथ ! आप सुमेरु पर्वतके समान अचल हैं फिर भला श्वासोच्छ्वासकी वायुके समान इस क्षुद्रदेवसे आपको क्या क्षोभ हो सकता है ?' इस प्रकार अनेक स्तुतियोंके स्वामी पार्श्वनाथ भगवान् हमारी रक्षा करें ॥१६२॥ हे स्वामिन् ! धैर्य आदि बड़े-बड़े गुणोंसे यद्यपि सभी तीर्थंकर समान हैं तथापि सबको सन्तुष्ट करनेवाले आपके जो गुण संसारमें सर्वत्र प्रसिद्ध हैं वे सब एक कमठके कारण ही प्रसिद्ध हुए हैं। सो ठीक ही है क्योंकि अपकार करनेवाले शत्रुसे महापुरुषोंकी जो ख्याति होती है वह उपकार करनेवाले मित्रसे कभी नहीं होती ? ॥ १६३ ॥ हे देव ! आपने शान्तचित्त रहकर शम्बर देवकी विक्रिया दूर कर दी उससे आपको न कोई बाधा हुई, न क्रोध आया और न भय ही उत्पन्न हुआ इस कारण 'आप सहनशील हैं' इस प्रकार विद्वज्जन आपकी स्तुति नहीं करते किन्तु आपका माहात्म्य और शान्ति आश्चर्यजनक है इसलिए आपकी स्तुति की जानी चाहिए । इस प्रकार जिनकी स्तुति की गयी थी वे पार्श्वनाथ भगवान् हम सबके संसार-का उच्छेद करनेवाले हों ॥ १६४ ॥ देखो, ये धरणेन्द्र और पद्मावती दोनों ही बड़े कृतज्ञ हैं, और बड़े धर्मात्मा हैं इस प्रकार संसारमें स्तुतिको प्राप्त हुए हैं परन्तु तीनों लोकोंके कल्याण-की एकमात्र भूमिस्वरूप आपका ही यह उपकार है ऐसा समझना चाहिए । यदि ऐसा न माना जाये और दोनोंने ही पर्वतोंका पटकना आदि बन्द किया है ऐसा माना जाये तो फिर यह भी खोजना पड़ेगा कि पहले उपद्रव किसके द्वारा नष्ट हुए थे ? इस प्रकार जिनकी सारभूत स्तुति की जाती है वे पार्श्वनाथ भगवान् हम सबकी रक्षा करें ॥१६५॥ हे विभो ! पर्वतका

[1]भेदोऽद्रेः फणिमण्डपः फणिवधूछत्रं क्षतिर्घातिनां
कैवल्याप्ति[2]रधातुदेहमहिमा हानिर्भवस्यामरी ।
भीतिस्तीर्थकृदुद्गमोऽपगमनं विघ्नस्य चासन्समं
भर्तुर्यस्य स संततान्तकभयं हन्तूग्रवंशाग्रणीः ॥१६६॥

किं ध्यानात्फणिनः फणीन्द्रयुवतेः क्षान्तेर्महेन्द्रात्स्वत-
स्तन्त्रान्मन्त्रविजृम्भणाद् वत रिपोर्भीतेरगस्योदयात् ।
कालाद्घातिहतेरिदं शममभूदित्यर्घ्यहस्तैः सुरै-
[3]राशङ्क्यामरविघ्नविप्लुतिरयं हन्त्वागसं धीराग्रणीः ॥१६७॥

श्रुत्वा यस्य वचोऽमृतं श्रुतिसुखं हृद्यं हितं हेतुम-
न्मिथ्यात्वं दिविजोऽवमीद् विषमिव व्याविद्धवैरोद्धुरम् ।
यं स्तौति[4] स्म च तादृशोऽप्युपनतश्रेयः स पार्श्वो विभु-
र्विघ्नौघं हरिसंधृतासनशिखामध्यास्य सिद्धो हतात् ॥१६८॥

जातः प्राङ्मरुभूतिरन्विभपतिर्देवः सहस्रारजो
विद्येशोऽच्युतकल्पजः क्षितिभृतां श्रीवज्रनाभिः पतिः ।
देवो मध्यममध्यमे नृपगुणैरानन्दनामाऽऽनते[5]
देवेन्द्रो हतघातिसंहतिरवत्वस्मान्स पार्श्वेश्वरः ॥१६९॥

फटना, धरणेन्द्रका फणामण्डलका मण्डप तानना, पद्मावतीके द्वारा छत्र लगाया जाना, घातिया कर्मोंका क्षय होना, केवलज्ञानकी प्राप्ति होना, धातुरहित परमौदारिक शरीरकी प्राप्ति होना, जन्म-मरण रूप संसारका विघात होना, शम्बरदेवका भयभीत होना, आपके तीर्थंकर नामकर्मका उदय होना और समस्त विघ्नोंका नष्ट होना ये सब कार्य जिनके एक साथ प्रकट हुए थे ऐसे उग्र वंशके शिरोमणि भगवान् पार्श्वनाथ सदा यमराजका भय नष्ट करें—जन्ममरणसे हमारी रक्षा करें ॥१६६॥ 'यह शान्ति, क्या भगवान्के ध्यानसे हुई है ? या धरणेन्द्रसे हुई है ? अथवा पद्मावतीसे हुई है ? अथवा भगवान्की क्षमासे हुई है ? अथवा इन्द्रसे हुई है ? अथवा स्वयं अपने-आप हुई है ? अथवा मन्त्रके विस्तारसे हुई है ? अथवा शत्रुके भयभीत हो जानेसे हुई है ? अथवा भगवान्के पुण्योदयसे हुई है ? अथवा समय पाकर शान्त हुई है ? अथवा घातिया कर्मोंका क्षय होनेसे हुई है' इस प्रकार अर्घ हाथमें लिये हुए देव लोग, शंकरदेवके द्वारा किये हुए जिनके विघ्नोंकी शान्तिकी आशंका कर रहे हैं ऐसे धीर वीरोंमें अग्रगण्य भगवान् पार्श्वनाथ हमारे पाप नष्ट करें ॥१६७॥ कानोंको सुख देनेवाले, हृदयको प्रिय लगनेवाले, हित करनेवाले और हेतुसे युक्त जिनके वचन सुनकर शम्बरदेवने परम्परागत वैरसे उत्कट मिथ्यात्वको विषके समान छोड़ दिया, स्वयं आकर जिनकी स्तुति की और उस प्रकारका क्रूर होनेपर भी वह कल्याणको प्राप्त हुआ तथा जो सिंहों-द्वारा धारण किये हुए अर्थात् सिंहासनके अग्रभागपर विराजमान होकर सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हुए ऐसे भगवान् पार्श्वनाथ हमारे विघ्नोंके समूहको नष्ट करें ॥१६८॥ पार्श्वनाथका जीव पहले मरुभूति मन्त्री हुआ, फिर सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ, वहाँसे आकर विद्याधर हुआ, फिर अच्युत स्वर्गमें देव हुआ, वहाँसे आकर वज्रनाभि चक्रवर्ती हुआ, फिर मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुआ, वहाँसे आकर राजाओंके गुणोंसे सुशोभित आनन्द नामका राजा हुआ, फिर आनत स्वर्गमें इन्द्र हुआ और तदनन्तर घातिया

---

१ भेदोहे: ल० । २ –रधात्तु ल० । ३ –राशङ्क्योऽमर ल० । ४ नौति स्म ल० । ५ नतो घ०, म०, क०, । ततो ख० ।

आर्या

कमठः कुक्कुटसर्पः पञ्चमभूजोऽहिरभवदथ नरके ।
व्याधोऽधोगः सिंहो नरकी नरोऽनु शम्बरो दिविजः ॥१७०॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे पार्श्वतीर्थकरपुराणं नाम त्रिसप्ततितमं पर्व ॥७३॥

■

कर्मोंके समूहको नष्ट करनेवाला भगवान् पार्श्वनाथ हुआ ॥१६९॥ कमठका जीव पहले कमठ था, फिर कुक्कुट सर्प हुआ, फिर पाँचवें नरक गया, फिर अजगर हुआ, फिर नरक गया, फिर भील होकर नरक गया, फिर सिंह होकर नरक गया और फिर महीपाल राजा होकर शम्बर देव हुआ ॥१७०॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें पार्श्वनाथ तीर्थंकरके पुराणका वर्णन करनेवाला तिहत्तरवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥७३॥

[1]वर्धमानो जिनः श्रीमानाख्यामन्वर्थं समुद्वहन् । देयान्मे बुद्धिमुद्भूतघातिकर्मविनिर्मिताम् ॥१॥
तत्त्वार्थनिर्णयात्प्राप्य सन्मतित्वं सुबोधवाक् । पूज्यो देवागमत्वेनाकलङ्को बभूविथ ॥२॥
वीरसेनो महावीरो वीरसेनेन्द्रतां गतः । वीरसेनेन्द्रवन्द्याङ्घ्रिर्वीरसेनेन भावितः ॥३॥
देवालोकस्तवैवैको लोकालोकावलोकने । किमस्ति व्यस्तमप्यस्मिन्ननेनानवलोकितम् ॥४॥
रूपमेव तव ब्रूते नाथ कोपाद्यरोहनम् । मणेर्मलस्य वैकल्यं महतः केन कथ्यते ॥५॥
अतिक्रम्य कुतीर्थानि तव तीर्थं प्रवर्तते । सम्प्रत्यपीति स्तुत्वा तु पुराणं तत्प्रवक्ष्यते ॥६॥
महापुराणवाराशिपारावारप्रतिष्ठया । जिनसेनानुगामित्वमस्माभिर्निर्विवक्षुभिः ॥७॥
अगाधोऽयं पुराणाब्धिरपारश्च मतिर्मम । पश्योत्ताना सपारा च तं तितीर्षुः किलैतया ॥८॥
मतिरस्तु ममैषाल्पा पुराणं महदस्त्विदम् । नावेवाम्भोनिधेरस्य प्राप्तोऽहं[2] पारमेतया ॥९॥
कथाकथकयोस्तावद्वर्णना[3] प्राग्विधीयते । दोषं ताभ्यामदोषाभ्यां पुराणं नोपढौकते ॥१०॥
सा कथा यां समाकर्ण्य हेयोपादेयनिर्णयः । कर्णकट्वीभिरन्याभिः किं कथाभिर्हितार्थिनाम् ॥११॥
रागादिदोषनिर्मुक्तो निरपेक्षोपकारकृत् । भव्यानां दिव्यया वाचा कथकः स हि कथ्यते ॥१२॥

अथानन्तर—सार्थक नामको धारण करनेवाले श्रीमान् वर्धमान जिनेन्द्र, घातिया कर्मोंके नाशसे प्राप्त हुई बुद्धि मुझे दें ॥१॥ जिनके वचनोंसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसे आप तत्त्वार्थका निर्णय करनेसे सन्मति नामको प्राप्त हुए और देवोंके आगमनसे पूज्य होकर आप अकलंक हुए हैं ॥२॥ आपका नाम वीरसेन है, रुद्रके द्वारा आप महावीर कहलाये हैं, ऋद्धिधारी मुनियोंकी सेनाके नायक हैं। गणधरदेव आपके चरण-कमलोंकी पूजा करते हैं, तथा अनेक मुनिराज आपका ध्यान करते हैं ॥३॥ हे देव ! लोक और अलोकके देखनेमें आपका ही केवलज्ञानरूपी प्रकाश मुख्य गिना जाता है जिसे आपका केवलज्ञान नहीं देख सका ऐसा क्या कोई फुटकर पदार्थ भी इस संसारमें है ? ॥४॥ हे नाथ ! आपका रूप ही आपके क्रोधादिके अभावको सूचित करता है सो ठीक ही है क्योंकि बहुमूल्य मणियोंकी कालिमाके अभावको कौन कहता है ? भावार्थ—जिस प्रकार मणियोंकी निर्मलता स्वयं प्रकट हो जाती है उसी प्रकार आपका शान्ति भाव भी स्वयं प्रकट हो रहा है ॥५॥ हे प्रभो ! अन्य अनेक कुतीर्थोंका उल्लंघन कर आपका तीर्थ अब भी चल रहा है इसलिए स्तुतिके अनन्तर आपका पुराण कहा जाता है ॥६॥ यह महापुराण एक महासागरके समान है। इसके पार जानेके लिए कुछ कहनेकी इच्छा करनेवाले हम लोगोंको श्री जिनसेन स्वामीका अनुगामी होना चाहिए ॥७॥ यह पुराणरूपी महासागर अगाध और अपार है तथा मेरी बुद्धि थोड़ी और पारसहित है फिर भी मैं इस बुद्धिके द्वारा इस पुराणरूपी महासागरको पार करना चाहता हूँ ॥८॥ यद्यपि मेरी बुद्धि छोटी है और यह पुराण बहुत बड़ा है तो भी जिस प्रकार छोटी-सी नावसे समुद्रके पार हो जाते हैं उसी प्रकार मैं भी इस छोटी-सी बुद्धिसे इसके पार हो जाऊँगा ॥९॥ सबसे पहले कथा और कथाके कहनेवाले वक्ताका वर्णन किया जाता है क्योंकि यदि ये दोनों ही निर्दोष हों तो उनसे पुराणमें कोई दोष नहीं आता है ॥१०॥ कथा वही कहलाती है कि जिसके सुननेसे हेय और उपादेयका निर्णय हो जाता है। हित चाहनेवाले पुरुषोंके कानोंको कड़वी लगनेवाली अन्य कथाओंसे क्या प्रयोजन है ? ॥११॥ कथक—कथा कहनेवाला वह कहलाता है जो कि रागादि दोषोंसे रहित हो और अपने दिव्य वचनोंके द्वारा

---

१ ख० पुस्तकेऽयं श्लोकोऽधिकः 'वन्दारुन् वर्धमानोऽस्तु वर्धमानशिवप्रदः । हितकर्मानेकविधैः परीषह-गणैर्यकः' ॥ २ प्राप्ताहं ख० । ३ वर्णनं ख० ।

एतद्द्वितयमत्रैव पुराणे जिनभाषिते । नान्येषु दुष्पुराणेषु तस्माद् ग्राह्यमिदं बुधैः ॥१२॥
अथ जम्बूद्रुमालक्ष्ये द्वीपानां मध्यवर्तिनि । द्वीपे विदेहे पूर्वस्मिन् सीतासरिदुदक्तटे ॥१३॥
विषये पुष्कलावत्यां नगरी पुण्डरीकिणी । मधुकाख्ये[1] वने तस्या नाम्ना व्याधाधिपोऽभवत् ॥१५॥
पुरूरवाः प्रियास्यासीन् कालिका ख्यानुरागिणी । अनुरूपं विधत्ते हि वेधाः संगममङ्गिनाम् ॥१६॥
कदाचित् कानने तस्मिन् दिग्विभागविमोहनात् । मुनिं सागरसेनाख्यं पर्यटन्तमितस्ततः ॥१७॥
विलोक्य तं मृगं मत्वा हन्तुकामः स्वकान्तया । वनदेवाश्चरन्तीमे मावधीरिति वारितः ॥ ८॥
तदैव स प्रसन्नात्मा समुपेत्य पुरूरवाः । प्रणम्य तद्वचः श्रुत्वा सुशान्तः श्रद्धयाहितः ॥१९॥
शीतलाम्भस्तटाकं वा निदाघे तृषितो जनः । संसारदुःखहेतोर्वा सं हजैंनेश्वरं मतम् ॥२०॥
शास्त्राभ्यासनशीलो वा ख्यातं गुरुकुलं महत् । मध्वादित्रितयत्यागलक्षणं व्रतमासदत् ॥२१॥
आजीवितावसितौ सम्यक्पालयित्वादराद् व्रतम् । सागरोपमदिव्यायुः सौधर्मेऽनिमिषोऽभवत् ॥२२॥
द्वीपेऽस्मिन्भारते देशः कोसलाख्योऽस्ति [2]विश्रुतः । आर्यक्षेत्रस्य मध्यस्थः सौस्थित्यं सर्वदा भजन् ॥२३॥
बाधाभावादरक्षात्र रक्षकेभ्यो विना न सा । अदातारो न [3]कैनाश्यात्ते तृप्त्या ग्राहकैर्विना ॥२४॥
काठिन्यं कुचयोरेव नैव चेतसि कस्यचित् । देहि पाहीति संप्रैषो मार्थित्वेन भयेन वा ॥२५॥
कलङ्कक्षीणते राज्ञि चन्द्र एव परत्र न । स्थितिस्तपोवनेष्वेव विनाहारात्परेषु न ॥२६॥

निरपेक्ष होकर भव्य जीवोंका उपकार करता हो ॥१२॥ ये दोनों ही अर्थात् कथा और कथक, जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए इसी महापुराणमें हैं अन्य मिथ्या पुराणोंमें नहीं हैं इसलिए विद्वानोंके द्वारा यही पुराण ग्रहण करनेके योग्य है ॥१३॥

अथानन्तर—सब द्वीपोंके मध्यमें रहनेवाले इस जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें सीता नदीके उत्तर किनारेपर पुष्कलावती नामका देश है। उसकी पुण्डरीकिणी नगरीमें एक मधु नामका वन है। उसमें पुरूरवा नामका एक भीलोंका राजा रहता था। उसकी कालिका नामकी अनुराग करनेवाली स्त्री थी सो ठीक ही है क्योंकि विधाता प्राणियोंके अनुकूल ही समागम करता है ॥१४-१६॥ किसी एक दिन दिग्भ्रम हो जानेके कारण सागरसेन नामके मुनिराज उस वनमें इधर-उधर भ्रमण कर रहे थे। उन्हें देख, पुरूरवा भील मृग समझकर उन्हें मारनेके लिए उद्यत हुआ परन्तु उसकी स्त्रीने यह कहकर मना कर दिया कि 'ये वनके देवता घूम रहे हैं इन्हें मत मारो' ॥१७-१८॥ वह पुरूरवा भील उसी समय प्रसन्नचित्त होकर उन मुनिराजके पास गया और श्रद्धाके साथ नमस्कार कर तथा उनके वचन सुनकर शान्त हो गया ॥१९॥ जिस प्रकार ग्रीष्मऋतुमें प्यासा मनुष्य शीतल जलसे भरे हुए तालाबको पाकर शान्त होता है अथवा जिस प्रकार संसार-दुःखके कारणोंसे डरनेवाला जीव, जिनेन्द्र भगवान्‌का मत पाकर शान्त होता है अथवा जिस प्रकार शास्त्राभ्यास करनेवाला विद्यार्थी किसी बड़े प्रसिद्ध गुरुकुलको पाकर शान्त होता है उसी प्रकार वह भील भी सागरसेन मुनिराजको पाकर शान्त हुआ था। उसने उक्त मुनिराजसे मधु आदि तीन प्रकारके त्यागका व्रत ग्रहण किया और जीवन पर्यन्त उसका बड़े आदरसे अच्छी तरह पालन किया। आयु समाप्त होनेपर वह सौधर्म स्वर्गमें एक सागरकी उत्तम आयुको धारण करनेवाला देव हुआ ॥२०-२२॥

इसी जम्बूद्वीपके भरत-क्षेत्र सम्बन्धी आर्यक्षेत्रके मध्यभागमें स्थित तथा सदा अच्छी स्थितिको धारण करनेवाला एक कोसल नामका प्रसिद्ध देश है ॥२३॥ उस देशमें कभी किसीको बाधा नहीं होती थी इसलिए अरक्षा थी परन्तु वह अरक्षा रक्षकोंके अभावसे नहीं थी। इसी तरह वहाँपर कोई दातार नहीं थे, दातारोंका अभाव कृपणतासे नहीं था परन्तु सन्तुष्ट रहनेके कारण कोई लेनेवाले नहीं थे इसलिए था ॥२४॥ वहाँ कठोरता स्त्रियोंके स्तनोंमें ही थी, वहाँ रहनेवाले किसी मनुष्यके चित्तमें कठोरता—क्रूरता नहीं थी। इसी तरह मुझे कुछ देओ, यह शब्द माँगनेके लिए नहीं निकलता था और न हमारी रक्षा करो यह शब्द भयसे निकलता था ॥२५॥ इसी प्रकार कलंक

---

१ मधुकाख्यवने ल० । २ विश्रुतिः ग० । ३ कीनाशस्य भावः कैनाश्यं तस्मात् कार्पण्यात् ।

पीडा तिलातसीक्षूणां न स्वप्राणिषु केषुचित् । नान्यत्र शिरसश्छेदः प्रवृद्धेष्वेव शालिषु ॥२७॥
बन्धो मोक्षश्च राद्धान्ते श्रूयते नापराधिषु । विना विमुक्तरागेभ्यो नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहः[1] ॥२८॥
जाड्यं जलेषु नान्येषु [2]सूच्यादिष्वेव तीक्ष्णता । नान्यत्र कुञ्चिका स्वेव हृद्ये नान्यत्र वक्रता ॥२९॥
नाविदग्धाश्च गोपाला न स्त्रीबालाश्च [3]भीरुकाः । शठा न वणिजश्चाण्डालाश्च न दुष्कृताः ॥३०॥
नानिक्षुशालिका भूमिर्न क्षमाभृदचन्दनः । [4]नाकञ्जं जलस्थानं नैवास्वादुफलं वनम् ॥३१॥
मध्ये तस्य विनीताख्या हृदयग्राहिणी पुरी । जनानां सा विनीतेव रमणी सत्सुखप्रदा ॥३२॥
प्रकाशयितुमात्मीयं पुरनिर्माणकौशलम् । भक्तिं च तीर्थकृत्स्वादौ सा शक्रेणैव निर्मिता ॥३३॥
मुनेर्धीर्विनयेनेव स्वामिनेव पताकिनी । काञ्चीव मणिना मध्ये सा सालेन व्यभासत ॥३४॥
भूषणायैव सालोऽस्याः खातिकापरिवेष्टितः । शक्रः कर्ता पतिश्चक्री यदि कौतस्कुतं भयम् ॥३५॥
वर्तते जिनपूजाऽस्यां दिनं प्रति गृहे गृहे । सर्वमङ्गलकार्याणां तत्पूर्वत्वाद् गृहेशिनाम् ॥३६॥
विद्याभ्यासाद्विना बाल्यं विना भोगेन यौवनम् । वार्धक्यं न विना धर्माद्विनाशोऽपि समाधिना ॥३७॥
नावबोधः क्रियाशून्यो न क्रिया फलवर्जिता । अभुक्तं न फलं भोगो नार्थधर्मद्वयच्युतः ॥३८॥
प्रधानप्रकृतिः प्रायः स्वामित्वेनैव साधिका । जनेभ्यस्तद्विशामिभ्यो न भूषादिपरिच्छदैः[5] ॥३९॥

और क्षीणता ये दो शब्द चन्द्रमाके वाचक राजामें ही पाये जाते थे अन्य किसी राजामें नहीं पाये जाते थे। निराहार रहना तपस्वियोंमें ही था अन्यमें नहीं ॥२६॥ पीड़ा अर्थात् पेला जाना तिल, अलसी तथा ईखमें ही था अन्य किसी प्राणीमें पीड़ा अर्थात् कष्ट नहीं था। शिरका काटना बढ़े हुए धानके पौधोंमें ही था किसी दूसरेमें नहीं। बन्ध और मोक्षकी चर्चा आगम-में ही सुनाई देती थी किसी अपराधीमें नहीं। इन्द्रियोंका निग्रह विरागी लोगोंमें ही था किन्हीं दूसरे लोगोंमें नहीं। जड़ता जलमें ही थी किन्हीं अन्य मनुष्योंमें जड़ता—मूर्खता नहीं थी, तीक्ष्णता सुई आदिमें ही थी वहाँके मनुष्योंमें उग्रता नहीं थी, वक्रता तालियोंमें ही थी किसी अन्य कार्यमें कुटिलता—मायाचारिता नहीं थी। वहाँके गोपाल भी अचतुर नहीं थे, स्त्रियाँ तथा बालक भी डरपोक नहीं थे, बनिये भी धूर्त नहीं थे, चाण्डाल भी दुराचारी नहीं थे। वहाँ ऐसी कोई भूमि नहीं थी जो कि ईखोंसे सुशोभित नहीं हो, ऐसा कोई पर्वत नहीं था जिसपर चन्दन न हों, ऐसा कोई सरोवर नहीं था जिसमें कमल न हों और ऐसा कोई वन नहीं था जिसमें मीठे फल न हों ॥२७–३१॥

उस देशके मध्यभागमें हृदयको ग्रहण करनेवाली विनीता (अयोध्या) नामकी नगरी थी जो कि विनीत स्त्रीके समान मनुष्योंको उत्तम सुख प्रदान करती थी ॥३२॥ वह नगरी अपनी नगर-रचनाकी कुशलता दिखानेके लिए अथवा तीर्थंकरोंमें अपनी भक्ति प्रदर्शित करने-के लिए इन्द्रने ही सबसे पहले बनायी थी ॥३३॥ जिस प्रकार विनयसे मुनिकी बुद्धि सुशोभित होती है, स्वामीसे सेना शोभायमान होती है और मणिसे मेखला सुशोभित होती है, उसी प्रकार मध्यभागमें बने हुए परकोटेसे वह नगरी सुशोभित थी ॥३४॥ खाईसे घिरा हुआ इस नगरीका कोट, केवल इसकी शोभाके लिए ही था क्योंकि इसका बनानेवाला इन्द्र था और स्वामी चक्रवर्ती था फिर भला इसे भय किससे हो सकता था? ॥ ३५ ॥ वहाँपर प्रतिदिन घर-घरमें जिनकी पूजा होती थी क्योंकि गृहस्थोंके सब मांगलिक कार्य जिन-पूजापूर्वक ही होते थे ॥ ३६ ॥ वहाँपर बिना विद्याभ्यासके बालक-अवस्था व्यतीत नहीं होती थी, बिना भोगोंके यौवन व्यतीत नहीं होता था, बिना धर्मके बुढ़ापा व्यतीत नहीं होता था और बिना समाधिके मरण नहीं होता था ॥ ३७ ॥ वहाँपर किसीका भी ज्ञान क्रियारहित नहीं था, क्रिया फलरहित नहीं थी, फल बिना उपभोगके नहीं था और भोग अर्थ तथा धर्म दोनोंसे रहित नहीं था ॥ ३८ ॥ यदि वहाँके रहनेवाले लोगोंसे मन्त्री आदि प्रधान प्रकृतिका पृथक्करण होता था तो केवल स्वामित्वसे ही होता था आभूषणादि उपकरणोंसे नहीं

१. विग्रहः ल० । २ शुण्ठ्यादिष्वेव इति क्वचित् । सुण्ठ्यादिष्वेव ल० । ३ भीरुकाः ल० । ४ तृतीय-चतुर्थपादौ ल० पुस्तके त्रुटितौ । ५ छद्मासद ल० ।

सुरास्तत्र समागम्य स्वर्गायातैर्नरोत्तमैः । स्वर्गसंभूतसौहार्दाद् रमन्ते संततं मुदा ॥४०॥
सुराः केऽत्र नराः के वा सर्वे रूपादिभिः समाः । इत्यागताः खगाधीशाः मोमुह्यन्ते विवेचने ॥४१॥
तत्र पण्यस्त्रियो वीक्ष्य बाढं सुरकुमारकाः । विस्मयन्ते न रज्यन्ते ताभिर्जातिविशेषतः ॥४२॥
करणानामभीष्टा[1] ये विषयास्तत्र ते ततः । न नाकेऽपि यतस्तत्र [2]नाकिपूज्यसमुद्भवः ॥४३॥
अकृत्रिमाणि निर्जेतुं विमानानि स्वकौशलात् । सुरैः कृतगृहाण्यत्र चेत्कान्या तेषु वर्णना ॥४४॥
बभूवास्याः पतिः पङ्क्तेः स्वर्गस्येवामरेश्वरः । भरताख्यः पुरोः सूनुरिक्ष्वाकुकुलवर्धनः ॥४५॥
अकम्पनाद्या भूपाला नमिमुख्याश्च खेचराः । मागधाद्याश्च देवेशास्त्यक्तमानाः समुत्सुकाः ॥४६॥
यस्याज्ञां मालतीमालामिव स्वानम्रमौलयः । भूषाधिकेयमस्माकमिति संधारयन्ति ते ॥४७॥
सत्कर्मभावितैर्भावैः क्षायोपशमिकैश्च सः । भव्यभावविशेषाच्च श्रेष्ठकाष्ठामधिष्ठितः ॥४८॥
आदितीर्थकृतो ज्येष्ठपुत्रो राजसु षोडशः[3] । ज्यायांश्चक्री मुहूर्तेन मुक्तोऽयं कैस्तुलां भजेत् ॥४९॥
तस्यानन्तमतिर्देवी प्रख्यातिरिव देहिनी । विमुच्य कमलावासं रेजे[4] श्रीरिव चागता ॥५०॥
प्रज्ञाविक्रमयोर्लक्ष्मीविशेषो वा पुरूरवाः । मरुद्भूतस्तयोरासीन्मरीचिः सूनुरग्रणीः ॥५१॥
स्वपितामहसंत्यागे स्वयं च गुरुभक्तितः । राजभिः सह कच्छाद्यैः परित्यक्तपरिग्रहः ॥५२ ।
चिरं सोढ्वा तपःक्लेशं क्षुच्छीतादिपरीषहान् । दीर्घसंसारवासित्वात्पश्चात्सोढुमशक्नुवन् ॥५३॥

होता था ॥३९॥ वहाँके उत्तम मनुष्य स्वर्गसे आकर उत्पन्न होते थे इसलिए स्वर्गमें हुई मित्रताके कारण बहुत-से देव स्वर्गसे आकर बड़ी प्रसन्नतासे उनके साथ क्रीड़ा करते थे ॥४०॥ इनमें देव कौन हैं ? और मनुष्य कौन हैं ? क्योंकि रूप आदिसे सभी समान हैं। इस प्रकार आये हुए विद्याधरोंके राजा उनको अलग-अलग पहचाननेमें मोहित हो जाते थे ॥४१॥ वहाँकी वेश्याओंको देखकर देवकुमार बहुत ही आश्चर्य करते थे परन्तु जाति भिन्न होनेके कारण उनके साथ क्रीड़ा नहीं करते थे ॥४२॥ इन्द्रियोंको अच्छे लगनेवाले जो विषय वहाँ थे वे विषय चूँकि स्वर्गमें भी नहीं थे इसलिए देवताओंके द्वारा पूज्य तीर्थंकर भगवान्का जन्म वहीं होता था ॥४३॥ देवोंने अपने कौशलसे जो घर वहाँ बनाये थे वे अकृत्रिम विमानोंको जीतनेके लिए ही बनाये थे, इससे बढ़कर उनका और क्या वर्णन हो सकता है ? ॥४४॥ जिस प्रकार स्वर्गकी पंक्तिका स्वामी इन्द्र होता है उसी प्रकार उस नगरीका स्वामी भरत था जो कि इक्ष्वाकुवंशको बढ़ानेवाला था और भगवान् वृषभदेवका पुत्र था ॥४५॥ अकम्पन आदि राजा, नमि आदि विद्याधर और मागध आदि देव अपना अभिमान छोड़कर और उत्कण्ठित होकर अपना मस्तक झुकाते हुए मालतीकी मालाके समान जिसकी आज्ञाको 'यह हमारा सबसे अधिक आभूषण है' यह विचार कर धारण करते थे ॥४६-४७॥ अपने सत्कर्मोंकी भावनासे तथा कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले भावोंसे और भव्यत्व भावकी विशेषतासे वह श्रेष्ठ पुरुषोंकी अन्तिम सीमाको प्राप्त था अर्थात् सबसे अधिक श्रेष्ठ माना जाता था ॥४८॥ वह भरत भगवान् आदिनाथका जेष्ठ पुत्र था, सोलहवाँ मनु था, प्रथम चक्रवर्ती था और एक मुहूर्तमें ही मुक्त हो गया था (केवलज्ञानी हो गया था) इसलिए वह किनके साथ सादृश्यको प्राप्त हो सकता था ? अर्थात् किसीके साथ नहीं, वह सर्वथा अनुपम था ॥४९॥ उसकी अनन्तमति नामकी वह देवी थी जो कि ऐसी सुशोभित होती थी मानो शरीरधारिणी कीर्ति हो अथवा कमलरूपी निवासस्थानको छोड़कर आयी हुई मानो लक्ष्मी ही हो ॥५०॥ जिस प्रकार बुद्धि और पराक्रमसे विशेष लक्ष्मी उत्पन्न होती है उसी प्रकार उन दोनोंके पुरूरवा भीलका जीव देव, मरीचि नामका ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न हुआ ॥५१॥ अपने बाबा भगवान् वृषभदेवकी दीक्षाके समय स्वयं ही गुरु-भक्तिसे प्रेरित होकर मरीचिने कच्छ आदि राजाओंके साथ सब परिग्रहका त्याग कर दीक्षा धारण कर ली थी। उसने बहुत समय तक तो तपश्चरणका क्लेश सहा और क्षुधा, शीत आदि परीषह भी सहे परन्तु संसार-वासकी दीर्घताके कारण पीछे

---

१ अभीष्टा ल० । २ नाकिपूज्या ल० । ३ षोडश ल० । ४ विरेजे श्रीरिवागता इत्यपि क्वचित् ।

स्वयं गृहीतुमारब्धः फलं प्रावरणादिकम् । दृष्ट्वा तं देवता नायं क्रमो नैर्ग्रन्थ्यधारिणाम् ॥५३॥
गृहाण वेषमन्यं त्वं यथेष्टमिति चाब्रुवन् । श्रुत्वा तद्वचनं सोऽपि प्राग्मिथ्यात्वचोदितः ॥५५॥
परिव्राजकदीक्षायाः प्राधान्यं प्रत्यपद्यत । दीर्घसंसारभव्यानां तत्कर्म दुर्मार्गदेशनम् ॥५६॥
तच्छास्त्रव्युत्पत्तिरप्यस्य स्वयमेव किलाभवत् । सतामिवासतां च स्याद्बोधः स्वविषये स्वयम् ॥५७॥
श्रुत्वापि तीर्थकृद्वाचं सद्धर्मं नाग्रहीदसौ । पुरुर्यथात्मनैवात्र सर्वसङ्गविमोचनात् ॥५८॥
भुवनत्रयसंक्षोभकारिसामर्थ्यमाप्तवान् । मदुपज्ञं तथा लोके व्यवस्थाप्य मतान्तरम् ॥५९॥
अहं च तन्निमित्तोरुप्रभावात्त्रिदिवप्रभोः । प्रतीक्षां प्राप्तुमिच्छामि तन्मेऽवश्यं भविष्यति ॥६०॥
इति मानोदयात्पापी न व्यरंसीच्च दुर्मतात् । तमेव वेषमादाय तस्थिवान् दोषदूषितः ॥६१॥
त्रिदण्डधारकोऽप्येष सद्दण्डपरिवर्जितः । प्राप्ता कुराजवद्दण्डान् बहून् रत्नप्रभादिषु ॥६२॥
सम्यग्ज्ञानविहीनत्वात्सकमण्डलुरप्यसौ । अशौचबुद्धिरेवासीज्जलैः किं शुद्धिरात्मनः ॥६३॥
प्रातः शीतजलस्नानात्कन्दमूलफलाशनात् । परिग्रहपरित्यागात्कुर्वन्प्रख्यातिमात्मनः ॥६४॥
महेन्द्रजालकानीतचन्द्रार्काम्भोधिसन्निभम् । तत्त्वाभासमिदं तत्त्वमिति संदृष्टमात्मना ॥६५॥
कपिलादिस्वशिष्याणां यथार्थं प्रतिपादयन् । सूनुर्भरतराजस्य धरित्र्यां चिरमभ्रमत् ॥६६॥
स जीवितान्ते संभूय ब्रह्मकल्पेऽमृताशनः । दशाब्ध्युपमदेवायुरनुभूय सुखं ततः ॥६७॥

चलकर वह उन्हें सहन करनेके लिए असमर्थ हो गया इसलिए स्वयं ही फल तथा वस्त्रादि ग्रहण करनेके लिए उद्यत हुआ। यह देख वन-देवताओंने कहा कि निर्ग्रन्थ वेष धारण करनेवाले मुनियोंका यह क्रम नहीं है। यदि तुम्हें ऐसी ही प्रवृत्ति करना है तो इच्छानुसार दूसरा वेष ग्रहण कर लो। वन-देवताओंके उक्त वचन सुनकर प्रबल मिथ्यात्वसे प्रेरित हुए मरीचिने भी सबसे पहले परिव्राजककी दीक्षा धारण कर ली सो ठीक ही है क्योंकि जिनका संसार दीर्घ होता है उनके लिए वह मिथ्यात्व कर्म मिथ्यामार्ग ही दिखलाता है ॥५२-५६॥ उस समय उसे परिव्राजकोंके शास्त्रका ज्ञान भी स्वयं ही प्रकट हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंके समान दुर्जनोंको भी अपने विषयका ज्ञान स्वयं हो जाता है ॥५७॥ उसने तीर्थंकर भगवान्‌की दिव्यध्वनि सुनकर भी समीचीन धर्म ग्रहण नहीं किया था। वह सोचता रहता था कि जिस प्रकार भगवान् वृषभदेवने अपने-आप समस्त परिग्रहोंका त्याग कर तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाली सामर्थ्य प्राप्त की है उसी प्रकार मैं भी संसारमें अपने द्वारा चलाये हुए दूसरे मतकी व्यवस्था करूँगा और उसके निमित्तसे होनेवाले बड़े भारी प्रभावके कारण इन्द्रकी प्रतीक्षा प्राप्त करूँगा—इन्द्र-द्वारा की हुई पूजा प्राप्त करूँगा। मैं इच्छा करता हूँ कि मेरे यह सब अवश्य होगा ॥५८-६०॥ इस प्रकार मानकर्मके उदयसे वह पापी खोटे मतसे विरत नहीं हुआ और अनेक दोषोंसे दूषित होनेपर भी वही वेष धारण कर रहने लगा ॥६१॥ यद्यपि वह तीन दण्ड रखता था परन्तु समीचीन दण्डसे रहित था अर्थात् इन्द्रिय दमनरूपी समीचीन दण्ड उसके पास नहीं था। जिस प्रकार खोटा राजा अनेक प्रकारके दण्डोंको, सजाओंको पाता है उसी प्रकार वह भी रत्नप्रभा आदि पृथिवियोंमें अनेक प्रकारके दण्डोंको पानेवाला था ॥६२॥ वह सम्यग् ज्ञानसे रहित था अतः कमण्डलु-सहित होनेपर भी शौच जानेके बाद शुद्धि नहीं करता था और कहता था कि क्या जलसे आत्माकी शुद्धि होती है ॥६३॥ वह यद्यपि प्रातःकाल शीतल जलसे स्नान करता था और कन्द-मूल तथा फलोंका भोजन करता था फिर भी परिग्रहका त्याग बतलाकर अपनी प्रसिद्धि करता था, लोगोंमें इस बातकी घोषणा करता था कि मैं परिग्रहका त्यागी हूँ ॥६४॥ जिस प्रकार इन्द्रजालियाके द्वारा लाये हुए सूर्य, चन्द्रमा तथा समुद्र अवास्तविक होते हैं—आभास मात्र होते हैं उसी प्रकार उसके द्वारा देखे हुए तत्त्व अवास्तविक थे—तत्त्वाभास थे ॥६५॥ इस प्रकार कपिल आदि अपने शिष्योंके लिए अपने कल्पित तत्त्वका उपदेश देता हुआ सम्राट् भरतका पुत्र मरीचि चिरकाल तक इस पृथिवीपर भ्रमण करता रहा ॥६६॥ आयुके अन्तमें मरकर वह ब्रह्म स्वर्गमें दश सागरकी आयुवाला

परिव्राजकदीक्षायामासक्तिं पुनरादधत् । सप्ताब्ध्युपमितायुष्को माहेन्द्रेऽभवन्मरुत् ॥८५॥
ततोऽवतीर्य देशेऽस्मिन् मगधाख्ये पुरोत्तमे । जातो राजगृहे विश्वभूतिनाम्नो महीपतेः ॥८६॥
जैन्याश्च तनयो विश्वनन्दी विख्यातपौरुषः । विश्वभूतिमहीभर्तुरनुजातो महोदयः ॥८७॥
विशाखभूतिरेतस्य लक्ष्मणायामभूद् विधीः[1] । पुत्रो विशाखनन्द्याख्यस्ते सर्वे सुखमास्थिताः ॥८८॥
अन्येद्युः शरदभ्रस्य विभ्रंशं वीक्ष्य शुद्धधीः । निर्विण्णो विश्वभूत्याख्यः स्वराज्यमनुजन्मने ॥८९॥
विधाय यौवराज्यं च स्वसूनौ महदग्रणीः । सात्त्विकैस्त्रिशतैः सार्द्धं राजभिर्जातरूपताम् ॥९०॥
श्रीधराख्यगुरोः पार्श्वे समादाय समत्वभाक् । बाह्यमाभ्यन्तरं चोग्रमकरोत् स तपश्चिरम् ॥९१॥
अथान्यदा कुमारोऽसौ विश्वनन्दी मनोहरे । निजोद्याने समं स्वाभिर्देवीभिः क्रीडया स्थितः ॥९२॥
विशाखनन्दस्तं दृष्ट्वा तदुद्यानं मनोहरम् । स्वीकर्तुं मतिमादाय गत्वा स्वपितृसन्निधिम् ॥९३॥
मह्यं मनोहरोद्यानं दीयतां भवतान्यथा । कुर्यां देशपरित्यागमहमित्यभ्यधादसौ ॥९४॥
सत्सु सत्स्वपि भोगेषु विरुद्धविषयप्रियः । भवेद्भाविभवे भूयो भविष्यद्दुःखभारधृत् ॥९५॥
श्रुत्वा तद्वचनं चित्ते निधाय स्नेहनिर्भरः । [2]कियत्तत्ते ददामीति संतोष्य तनुजं निजम् ॥९६॥
विश्वनन्दिनमाहूय राज्यभारस्त्वयाधुना । गृह्यतामहमाक्रम्य प्रत्यन्तप्रतिभूभृतः ॥९७॥
कृत्वा तज्जनितक्षोभप्रशान्तिं गणितैर्दिनैः । प्रत्येष्यामीति सोऽवोचच्छ्रुत्वा तत्प्रत्युवाच तम् ॥९८॥
पूज्यपाद त्वमत्रैव निश्चिन्तमुपविश्यताम् । गत्वाहमेव तं प्रैषं करोमीति सुतोत्तमः ॥९९॥

था अतः उसका मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, तप, शान्ति, समाधि और तत्त्वावलोकन—सभी कुछ मरीचिके समान निष्फल था ॥८४॥ उसने फिर भी परिव्राजक मतकी दीक्षामें आसक्ति धारण की और मरकर माहेन्द्र स्वर्गमें सात सागरकी आयुवाला देव हुआ ॥८५॥ वहाँसे च्युत होकर वह इसी मगध देशके राजगृह नामक उत्तम नगरमें विश्वभूति राजाकी जैनी नामक स्त्रीसे प्रसिद्ध पराक्रमका धारी विश्वनन्दी नामका पुत्र हुआ। इसी राजा विश्वभूतिका विशाखभूति नामका एक छोटा भाई था जो कि बहुत ही वैभवशाली था। उसकी लक्ष्मणा नामकी स्त्रीसे विशाखनन्द नामका मूर्ख पुत्र उत्पन्न हुआ था। ये सब लोग सुखसे निवास करते थे ॥८६–८८॥

किसी दूसरे दिन शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाला राजा विश्वभूति, शरदृतुके मेघका नाश देखकर विरक्त हो गया। महापुरुषोंमें आगे रहनेवाले उस राजाने अपना राज्य तो छोटे भाईके लिए दिया और युवराज पद अपने पुत्रके लिए प्रदान किया। तदनन्तर उसने सात्त्विक वृत्तिको धारण करनेवाले तीन सौ राजाओंके साथ श्रीधर नामक गुरुके समीप दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली और समता भावसे युक्त हो चिरकाल तक बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके कठिन तप किये ॥८९–९१॥

तदनन्तर किसी दिन विश्वनन्दी कुमार अपने मनोहर नामके उद्यानमें अपनी स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा कर रहा था। उसे देख, विशाखनन्द उस मनोहर नामक उद्यानको अपने अधीन करनेकी इच्छासे पिताके पास जाकर कहने लगा कि मनोहर नामका उद्यान मेरे लिए दिया जाये अन्यथा मैं देश परित्याग कर दूँगा—आपका राज्य छोड़कर अन्यत्र चला जाऊँगा। आचार्य कहते हैं कि जो उत्तम भोगोंके रहते हुए भी विरुद्ध विषयोंमें प्रेम करता है वह आगामी भवमें होनेवाले दुःखोंका भार ही धारण करता है ॥९२–९५॥ पुत्रके वचन सुनकर तथा हृदयमें धारण कर स्नेहसे भरे हुए पिताने कहा कि 'वह वन कितनी-सी वस्तु है, मैं तुझे अभी देता हूँ' इस प्रकार अपने पुत्रको सन्तुष्ट कर उसने विश्वनन्दीको बुलाया और कहा कि 'इस समय यह राज्यका भार तुम ग्रहण करो, मैं समीपवर्ती विरुद्ध राजाओंपर आक्रमण कर उनके द्वारा किये हुए क्षोभको शान्त कर कुछ ही दिनोंमें वापस आ जाऊँगा'। राजाके वचन सुनकर श्रेष्ठपुत्र विश्वनन्दीने उत्तर दिया कि 'हे पूज्यपाद ! आप यहीं निश्चिन्त होकर रहिए, मैं ही जाकर उन राजाओंको दास बनाये लाता हूँ' ॥९६–९९॥ आचार्य कहते हैं कि देखो

---

१ विगता धीर्यस्य सः । २ कियत् ते प्रददामीति ल० ।

राज्यमस्यैव मे स्नेहाद् भ्रात्राऽदायीत्यनर्कयन् । वनार्थमतिसंधित्सुरभूत्तं धिग्दुराशयम् ॥१००॥
ततः स्वानुमते तस्मिन् स्वबलेन समं रिपून् । निर्जेतुं विहितोद्योगं गते विक्रमशालिनि ॥१०१॥
वनं विशाखनन्दाय स्नेहादन्यायकाङ्क्षिणे । विशाखभूतिरुल्लङ्घ्य क्रमं गतमतिर्ददौ ॥१०२॥
विश्वनन्दी तदाकर्ण्य सद्यः क्रोधाग्निदीपितः । पश्य मामतिसंधाय प्रत्यन्तनृपतीन् प्रति ॥१०३॥
प्रहित्य मद्वनं दत्तं पितृव्येनात्मसूनवे । देहीति वचनान्नाहं किं ददामि कियद्वनम् ॥१०४॥
विद्धात्यस्य दुश्चेष्टा मम सौजन्यभञ्जनम् । इति मत्वा निवृत्यासौ हन्तुं स्ववनहारिणम् ॥१०५॥
प्रारब्धवान् भयाद् गत्वा स कपित्थमहीरुहम् । कृत्वावृतिं स्थितः स्फीतं कुमारोऽपि महीरुहम् ॥१०६॥
समुन्मूल्य निहन्तुं तं तेनाधावत्ततोऽप्यसौ । अपसृत्य शिलास्तम्भस्याभ्यन्तर्धानं ययौ पुनः ॥१०७॥
बद्धा तलप्रहारेण स्तम्भं चाहत्य स द्रुतम् । पलायमानमालोक्य तस्मादप्यपकारिणम् ॥१०८॥
मा भैषीरिति सौहार्दकारुण्याभ्यां प्रचोदितः । समाहूय वनं तस्मै दत्त्वा संसारदुःस्थितिम् ॥१०९॥
भावयित्वा ययौ दीक्षां संभूतगुरुसंनिधौ । अपकारोऽपि नीचानामुपकारः सतां भवेत् ॥११०॥
तदा विशाखभूतिश्च संजातानुशयो मया । कृतं पापमिति प्रायश्चित्तं वा प्राप संयमम् ॥१११॥
कुर्वन् घोरं तपो विश्वनन्दी देशान् परिभ्रमन् । कृशीभूतः क्रमात् प्राप्य मथुरां स्वतनुस्थितेः ॥११२॥
प्रविष्टवान् विनष्टात्मबलस्खलत्पदस्थितिः । तदा [1]व्यसनसंसर्गाद् भ्रष्टराज्यो महीपतेः ॥११३॥
कस्यचिद्दूतभावेन [2]मथुरां पुरमागतः । विशाखनन्दो वेश्यायाः प्रासादतलमाश्रितः ॥११४॥

राजाने यह विचार नहीं किया कि राज्य तो इसीका है, भाईने स्नेहवश मुझे दिया है। केवल वनके लिए ही वह उस श्रेष्ठ पुत्रको ठगनेके लिए उद्यत हो गया सो ऐसे दुष्ट अभिप्रायको धिक्कार है ॥१००॥

तदनन्तर पराक्रमसे सुशोभित विश्वनन्दी जब काकाकी अनुमति ले, शत्रुओंको जीतनेके लिए अपनी सेनाके साथ उद्यम करता हुआ चला गया तब बुद्धिहीन विशाखभूतिने क्रमका उल्लंघन कर वह वन अन्यायकी इच्छा रखनेवाले विशाखनन्दके लिए दे दिया ॥१०१–१०२॥ विश्वनन्दीको इस घटनाका तत्काल ही पता चल गया। वह क्रोधाग्निसे प्रज्वलित हो कहने लगा कि देखो काकाने मुझे तो धोखा देकर शत्रु राजाओंके प्रति भेज दिया और मेरा वन अपने पुत्रके लिए दे दिया। क्या 'देओ' इतना कहनेसे ही मैं नहीं दे देता? वन है कितनी-सी चीज? इसकी दुश्चेष्टा मेरी सज्जनताका भंग कर रही है। ऐसा विचारकर वह लौट पड़ा और अपना वन हरण करनेवालेको मारनेके लिए उद्यत हो गया। इसके भयसे विशाखनन्द बाड़ी लगाकर किसी ऊँचे कैंथाके वृक्षपर चढ़ गया। कुमार विश्वनन्दीने वह कैंथाका वृक्ष जड़से उखाड़ डाला और उसीसे मारनेके लिए वह उद्यत हुआ। यह देख विशाखनन्द वहाँसे भागा और एक पत्थरके खम्भाके पीछे छिप गया परन्तु बलवान् विश्वनन्दीने अपनी हथेलियोंके प्रहारसे उस पत्थरके खम्भाको शीघ्र ही तोड़ डाला। विशाखनन्द वहाँसे भी भागा। यद्यपि वह कुमारका अपकार करनेवाला था परन्तु उसे इस तरह भागता हुआ देखकर कुमारको सौहार्द और करुणा दोनोंने प्रेरणा दी जिससे प्रेरित होकर कुमारने उससे कहा कि डरो मत। यही नहीं, उसे बुलाकर वह वन भी दे दिया तथा स्वयं संसारकी दुःखमय स्थितिका विचारकर सम्भूत नामक गुरुके समीप दीक्षा धारण कर ली सो ठीक ही है क्योंकि नीचजनोंके द्वारा किया हुआ अपकार भी सज्जनोंका उपकार करनेवाला ही होता है ॥१०३–११०॥ उस समय विशाखभूतिको भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ। 'यह मैंने बड़ा पाप किया है' ऐसा विचारकर उसने प्रायश्चित्तस्वरूप संयम धारण कर लिया ॥१११॥

इधर विश्वनन्दी सब देशोंमें विहार करता हुआ घोर तपश्चरण करने लगा। उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया। अनुक्रमसे वह मथुरा नगरीमें पहुँचा और आहार लेनेके लिए भीतर प्रविष्ट हुआ। उस समय उसकी निजकी शक्ति नष्ट हो चुकी थी और पैर डगमग पड़ रहे थे।

---

१ व्यसनसंसंगो ल० । व्यसनसंजात इत्यपि क्वचित् । २ तदेव पुर इत्यपि क्वचित् ।

नवप्रसूतसंक्रुद्धगोधेनुप्रतिघाततः । प्रस्खलन्तं समीक्ष्यैनं मुनिं कोपपरायणः ॥११५॥
तवाद्य तच्छिलास्तम्भभङ्गदृष्टः पराक्रमः । क्व यात इति दुश्चित्तः परिहासं व्यधादसौ ॥११६॥
मुनिश्च तद्वचश्चेतस्यवधार्य प्रकोपवान् । परिहासफलं प्राप्स्यसीति स्वान्तगतं वदन् ॥११७॥
सनिदानोऽभवत् प्रान्ते कृतसंन्यासनक्रियः । इत्थं विशाखभूतिश्च महाशुक्रमुपाश्रितौ ॥११८॥
तत्र षोडशवाराशिमानमेयायुषौ चिरम् । भोगान्भुक्त्वा ततश्च्युत्वा द्वीपेऽस्मिन्नेव भारते ॥११९॥
सुरम्यविषये रम्ये पोदनाख्यपुरे नृपः । प्रजापतिमहाराजोऽजनि देवी जयावती ॥१२०॥
तस्यामानन्दयोः सूनुः पितृव्यो विश्वनन्दिनः । विजयाख्यस्ततोऽस्यैव विश्वनन्द्यप्यनन्तरम् ॥१२१॥
मृगावत्यामभूत् पुत्रस्त्रिपृष्ठो भाविचक्रभृत् । त्रिखण्डाधिपतित्वस्य सपूर्वगणनां गतः ॥१२२॥
उद्गमेनैव निर्धूतरिपुचक्रोऽयमक्रमात् । अर्कस्येव प्रतापोऽस्य व्याप्य विश्वमनुस्थितः ॥१२३॥
अनन्यगोचरा लक्ष्मीरसंख्येयसमाः स्वयम् । इममेव प्रतीक्ष्यास्ते गाढमुत्कार्धचक्रिणम् ॥१२४॥
लक्ष्मीलाञ्छनमेवास्य चक्रं विक्रमसाधितम् । मागधाद्यमरारक्ष्यं ससमुद्रं महीतलम् ॥१२५॥
सिंहशौर्योऽयमित्येषो[1]ऽमेधोभिः कैश्चित्स्तुतः । किं सिंह इव [2]निर्धीको नमितामरमस्तकः ॥१२६॥
जित्वा ज्योत्स्नां मितक्षेत्रां वृद्धिहानिमतीं चिरम् । कीर्तिरस्याखिलं व्याप्य जातिर्वा वेधसः स्थिता ॥१२७॥
उदक्छ्रेण्यां खगाधीशो मयूरग्रीवनामभाक् । नीलाञ्जना प्रिया तस्याभूत्तयोरलकापुरे ॥१२८॥
विशाखनन्दः संसारे चिरं भ्रान्त्वातिदुःखितः । अश्वग्रीवाभिधः सूनुरजनिष्टापचारवान् ॥१२९॥

व्यसनोंके संसर्गसे जिसका राज्य भ्रष्ट हो गया है ऐसा विशाखनन्द भी उस समय किसी राजाका दूत बनकर उसी मथुरा नगरीमें आया हुआ था। वहाँ एक वेश्याके मकानकी छतपर बैठा था। दैव योगसे वहीं हालकी प्रसूता एक गायने क्रुद्ध होकर विश्वनन्दी मुनिको धक्का देकर गिरा दिया। उन्हें गिरता देख, क्रोध करता हुआ विशाखनन्द कहने लगा कि 'तुम्हारा जो पराक्रम पत्थरका खम्भा तोड़ते समय देखा गया था वह आज कहाँ गया'? इस प्रकार उसने खोटे परिणामोंसे उन मुनिकी हँसी की ॥११५–११६॥ मुनि भी उसके वचन चित्तमें धारण कर कुछ कुपित हुए और मन-ही-मन कहने लगे कि इस हँसीका फल तू अवश्य ही पावेगा ॥११७॥ अन्तमें निदान सहित संन्यास धारण कर वे महाशुक्र स्वर्गमें देव हुए और विशाखभूतिका जीव भी वहीं देव हुआ ॥११८॥ वहाँ उन दोनोंकी आयु सोलह सागर प्रमाण थी। चिर काल तक वहाँके सुख भोग कर दोनों ही वहाँसे च्युत हुए। उनमें-से विश्वनन्दीके काका विशाखभूतिका जीव सुरम्य देशके पोदनपुर नगरमें प्रजापति महाराजकी जयावती रानीसे विजय नामका पुत्र हुआ और उसके बाद ही विश्वनन्दीका जीव भी इन्हीं प्रजापति महाराजकी दूसरी रानी मृगावतीके त्रिपृष्ठ नामका पुत्र हुआ। यह होनहार अर्ध चक्रवर्ती था ॥११९–१२२॥ उत्पन्न होते ही एक साथ समस्त शत्रुओंको नष्ट करनेवाला इसका प्रताप, सूर्यके प्रतापके समान समस्त संसारमें व्याप्त होकर भर गया था ॥१२३॥ अर्ध चक्रवर्तियोंमें गाढ़ उत्सुकता रखनेवाली तथा जो दूसरी जगह नहीं रह सके ऐसी लक्ष्मी असंख्यात वर्षसे स्वयं इस त्रिपृष्ठकी प्रतीक्षा कर रही थी ॥१२४॥ पराक्रमके द्वारा सिद्ध किया हुआ उसका चक्ररत्न क्या था मानो लक्ष्मीका चिह्न ही था और मगधादि जिसकी रक्षा करते हैं ऐसा समुद्र पर्यन्तका समस्त महीतल उसके अधीन था ॥१२५॥ यह त्रिपृष्ठ 'सिंहके समान शूर वीर है' इस प्रकार जो लोग इसकी स्तुति करते थे वे मेरी समझसे बुद्धिहीन ही थे क्योंकि देवोंके भी मस्तकको नम्रीभूत करनेवाला वह त्रिपृष्ठ क्या सिंहके समान निर्बुद्धि भी था? ॥१२६॥ उसकी कान्तिने परिमित क्षेत्रमें रहनेवाली और हानि-वृद्धि सहित चन्द्रमाकी चाँदनी भी जीत ली थी तथा वह ब्रह्माकी जातिके समान समस्त संसारमें व्याप्त होकर चिरकालके लिए स्थित हो गयी थी ॥१२७॥

इधर विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीके अलकापुर नगरमें मयूरग्रीव नामका विद्याधरोंका राजा रहता था। उसकी रानीका नाम नीलांजना था। विशाखनन्दका जीव, चिरकाल तक

१ –मित्येव धीमुखीकैः—ल०। २ निर्भीकः ल०।

ते सर्वेऽपि पुरोपात्तपुण्यपाकविशेषतः[1] । अभीष्टकामभोगोपभोगैस्तृप्ताः स्थिताः सुखम् ॥१३०॥
इतः खेचरभूभर्तुर्दक्षिणश्रेण्यलंकृतिः । रथनूपुरशब्दादिचक्रवालपुरी परा ॥१३१॥
ज्वलनादिजटी पाति तां स वा पाकशासनः । कुलसाधितसंप्राप्तविद्यात्रयविभूषितः ॥१३२॥
प्रतापोपनताशेषाचाक्छ्रेणीखचरांशिनाम् । विनम्[2]मौलिमालाभिरलंकृतपदाम्बुजः ॥१३३॥
वायुवेगा प्रिया तस्य चन्द्राभखचरेशिनः । सुभद्रायाश्च तनया पुरे द्युतिलकाह्वये ॥१३४॥
अर्ककीर्तिस्तयोः सूनुः प्रतापेनार्कजित्सुधीः । सुता स्वयंप्रभाख्याभूत् प्रभयेव महामणिः ॥१३५॥
स्त्रीलक्षणानि सर्वाणि शस्यान्यापादमस्तकम् । उदाहरणतामापन्व्याप्य व्यक्तानि तत्तनुम् ॥१३६॥
संप्राप्य यौवनं तन्वी भूषणानां च भूषणम् । योषित्सर्गे कृतार्थत्वं स्वयासावनयद्विधिम् १३७॥
तां वीक्ष्यापूर्णसौन्दर्यां समीपीकृतचित्तजाम् । पिता वितरितुं कस्य योग्येयमिति चिन्तयन् ॥१३८॥
सद्यैवाहूय संभिन्नश्रोतारं तत्प्रयोजनम् । अपृच्छत्स निमित्तेषु कुशलः समभाषत ॥१३९॥
केशवस्यादिमस्येयं महादेवी भविष्यति । त्वमप्याप्स्यसि तद्दत्तां खगानां चक्रवर्तिताम् ॥१४०॥
इति तद्वचनं चित्ते प्रत्ययमवधार्य सः । अमात्यमिन्द्रनामानं[3] भाक्तिकं[4] सुश्रुतं शुचिम् ॥१४१॥
सलेखं प्राभृतं दत्वा प्राहिणोत्पोदनं प्रति । गत्वाऽविलम्बितं सोऽपि वने पुष्पकरण्डके[5] ॥१४२॥
पोदनाधिपतिं सप्रणाममालोक्य पत्रकम् । सप्राभृतं प्रदायास्मै यथास्थानमुपाविशत् ॥१४३॥
विलोक्य मुद्रामुद्भिद्य तदन्तःस्थितपत्रकम् । प्रसार्य वाचयामास नियुक्तः सन्धिविग्रहे ॥१४४॥

संसारमें भ्रमण कर तथा अत्यन्त दुःखी होकर अनेक दुराचार करनेवाला उन दोनोंके अश्वग्रीव नामका पुत्र हुआ ॥१२८-१२९॥ वे सब, पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मके विशिष्ट उदयसे प्राप्त हुए इच्छित काम भोग तथा उपभोगोंसे सन्तुष्ट होकर सुखसे रहते थे ॥१३०॥ इधर विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीको अलंकृत करनेवाला 'रथनूपुर चक्रवाल' नामका एक श्रेष्ठ नगर था ॥१३१॥ इन्द्रके समान ज्वलनजटी नामका विद्याधर उसका पालन करता था। वह ज्वलनजटी, कुल परम्परासे आयी हुई, सिद्ध की हुई तथा किसीसे प्राप्त हुई इन तीन विद्याओंसे विभूषित था ॥१३२॥ उसने अपने प्रतापसे दक्षिण श्रेणीके समस्त विद्याधर राजाओंको वश कर लिया था इसलिए उनके नम्रीभूत मुकुटोंकी मालाओंसे उसके चरणकमल सदा सुशोभित रहते थे ॥१३३॥ उसकी रानीका नाम वायुवेगा था जो कि द्युतिलक नगरके राजा विद्याधर और सुभद्रा नामक रानीकी पुत्री थी ॥१३४॥ उन दोनोंके अपने प्रतापसे सूर्यको जीतनेवाला अर्ककीर्ति नामका पुत्र हुआ था और स्वयम्प्रभा नामकी पुत्री हुई थी जो कि अपनी कान्तिसे महामणिके समान सुशोभित थी ॥१३५॥ उस स्वयम्प्रभाके शरीरमें सिरसे लेकर पैर तक स्त्रियोंके समस्त सुलक्षण विद्यमान थे जो कि उसके शरीरमें व्याप्त होकर उदाहरणताको प्राप्त हो रहे थे ॥१३६॥ आभूषणोंको भी सुशोभित करनेवाले यौवनको पाकर उस स्वयम्प्रभाने अपने-आपके द्वारा, विधाताको स्त्रियोंकी रचना करनेके कार्यमें कृतकृत्य बना दिया था ॥१३७॥ उसे पूर्ण सुन्दरी तथा कामको निकट बुलानेवाली देख पिता ज्वलनजटी विचार करने लगा कि यह किसे देनी चाहिए? किसके देनेके योग्य है? ॥१३८॥ उसी समय उसने सम्भिन्नश्रोता नामक पुरोहितको बुलाकर उससे वह प्रयोजन पूछा। वह पुरोहित निमित्तशास्त्रमें बहुत ही कुशल था इसलिए कहने लगा कि यह स्वयंप्रभा पहले नारायणकी महादेवी होगी और आप भी उसके द्वारा दिये हुए विद्याधरोंके चक्रवर्ती पदको प्राप्त होंगे ॥१३९-१४०॥ उसके इस प्रकार विश्वास करने योग्य वचन चित्तमें धारण कर उसने पवित्र हृदयवाले, शास्त्रोंके जानकार और राजभक्त इन्द्र नामक मन्त्रीको लेख तथा भेंट देकर पोदनपुरकी ओर भेजा। वह शीघ्रतासे जाकर पोदनपुर जा पहुँचा। उस समय पोदनपुरके राजा पुष्पकरण्डक नामक वनमें विराजमान थे। मन्त्रीने उन्हें देखकर प्रणाम किया, पत्र दिया, भेंट समर्पित की और वह यथास्थान बैठ गया ॥१४१-१४३॥ राजा प्रजापतिने मुहर देखकर पत्र खोला और भीतर रखा हुआ पत्र निकालकर

---

१ पुण्यपाकविशेषितम् क०। २ विनम्र-म०, ल०। ३ -मिन्दुनामानं इत्यपि क्वचित्। ४ भक्तिकं ल०। ५ पुष्पकरण्डके स०।

श्रीमानितः खगाधीशो जिनलोकशिखामणिः । स्वानुरक्तप्रजो राजा नगराद् रथनूपुरात् ॥१४५॥
ज्वलनादिजटी [1]ख्यातो नमिवंशाम्बरांशुमान् । पोदनाख्यपुराधीशं प्रजापतिमहानृपम् ॥१४६॥
आदिभट्टारकोत्पन्नबाहुबल्यन्वयोद्भवम् । प्रणम्य शिरसा स्नेहात्कुशलप्रश्नपूर्वकम् ॥१४७॥
सप्रश्रयं प्रजानाथमित्थं विज्ञापयत्यसौ । वैवाहिकः स संबन्धो विधेयो नाधुना मया ॥१४८॥
त्वया चास्त्यावयोरत्र पारम्पर्यसमागतः । न कार्यं वंशयोरद्य गुणदोषपरीक्षणम् ॥१४९॥
विशुद्धयोः प्रसिद्धत्वात् प्राक्चन्द्रादित्ययोरिव । पूज्य मद्भागिनेयस्य त्रिपृष्ठस्य स्वयंप्रभा ॥१५०॥
मत्सुता भामिनी वास्य लक्ष्मीः खण्डत्रयोद्भवा । आतनोतु रतिं स्वस्थां स्वमताकूर्यमिति ॥१५१॥
प्रजापतिमहाराजः श्रुत्वा तद्बन्धुभाषितम् । यथा तेनेष्टमेवेष्टमित्यमात्यमतोषयत् ॥१५२॥
सोऽपि संप्राप्तसंमानश्रीमत्तेन विसर्जितः । सद्यः संप्राप्य तत्सर्वं स्वमहीशं न्यवेदयत् ॥१५३॥
ज्वलनादिजटी चाशु सार्ककीर्तिः स्वयंप्रभाम् । आनीय सर्वसंपत्त्या त्रिपृष्ठाय समर्पयत् ॥१५४॥
यथोक्तविधिना सिंहवाहिनीं गरुडादिवाम् । वाहिनीं च ददौ सिद्धविद्ये विदितशक्तिके ॥१५५॥
[2]चरोपनीततद्वार्तो ज्वलनज्वलिताशयः । विद्यात्रितयसंपन्नैर्विद्याधरधराधिपैः ॥१५६॥
अध्वन्यैरभ्यमित्रीणैरायुधीयैर्भटैर्वृतः । रथावर्ताचलं प्रापदश्वग्रीवो युयुत्सया ॥१५७॥
तदागमनमाकर्ण्य चतुरङ्गबलान्वितः । प्रागेवागत्य तत्रास्थात्त्रिपृष्ठो रिपुनिष्ठुरः ॥१५८॥
क्रुध्वा तौ युद्धसंनद्धावुद्धतौ छन्नभास्करौ । स्वयं स्वधन्विभिः सार्धं शरसंघातवर्षणैः ॥१५९॥
[3]अश्वै रथैर्गजेन्द्रैश्च पदातिपरिवारितैः । यथोक्तविहितव्यूहैरयुध्येतां [4]महाबलौ ॥१६०॥

बाँचा। उसमें लिखा था कि सन्धि विग्रहमें नियुक्त, विद्याधरोंका स्वामी, अपने लोकका शिखामणि, अपनी प्रजाको प्रसन्न रखनेवाला, महाराज नमिके वंशरूपी आकाशका सूर्य, श्रीमान्, प्रसिद्ध राजा ज्वलनजटी रथनूपुर नगरसे, पोदनपुर नगरके स्वामी, भगवान् ऋषभदेवके पुत्र बाहुबलीके वंशमें उत्पन्न हुए महाराज प्रजापतिको सिरसे नमस्कार कर बड़े स्नेहसे कुशल प्रश्न पूछता हुआ बड़ी विनयके साथ इस प्रकार निवेदन करता है कि हमारा और आपका वैवाहिक सम्बन्ध आजका नहीं है क्योंकि हम दोनोंकी वंश-परम्परासे वह चला आ रहा है। हम दोनोंके विशुद्धवंश सूर्य और चन्द्रमाके समान पहलेसे ही अत्यन्त प्रसिद्ध हैं अतः इस कार्यमें आज दोनों वंशोंके गुण-दोषकी परीक्षा करना भी आवश्यक नहीं है। हे पूज्य! मेरी पुत्री स्वयंप्रभा, जो कि तीन खण्डमें उत्पन्न हुई लक्ष्मीके समान है वह मेरे भानेज त्रिपृष्ठकी स्त्री हो और अपने गुणोंके द्वारा अपने-आपमें इसकी बड़ी प्रीतिको बढ़ानेवाली हो ॥१४४–१५१॥ प्रजापति महाराजने भाईका यह कथन सुन, मन्त्रीको यह कहकर सन्तुष्ट किया, कि जो बात ज्वलनजटीको इष्ट है वह मुझे भी इष्ट है ॥१५२॥ प्रजापति महाराजने बड़े आदर-सत्कारके साथ मन्त्रीको बिदा किया और उसने भी शीघ्र ही जाकर सब समाचार अपने स्वामीसे निवेदन कर दिये ॥१५३॥ ज्वलनजटी अर्ककीर्तिके साथ शीघ्र ही आया और स्वयंप्रभाको लाकर उसने बड़े वैभवके साथ उसे त्रिपृष्ठके लिए सौंप दी—विवाह दी ॥१५४॥ इसके साथ-साथ ज्वलनजटीने त्रिपृष्ठके लिए यथोक्तविधिसे, जिनकी शक्ति प्रसिद्ध है तथा जो सिद्ध हैं ऐसी सिंहवाहिनी और गरुड़वाहिनी नामकी दो विद्याएँ भी दीं ॥१५५॥

इधर अश्वग्रीवने अपने गुप्तचरोंके द्वारा जब यह बात सुनी तो उसका हृदय क्रोधाग्निसे जलने लगा। वह युद्ध करनेकी इच्छासे, तीन प्रकारकी विद्याओंसे सम्पन्न विद्याधर राजाओं, शत्रुके सम्मुख चढ़ाई करनेवाले मार्ग कुशल एवं अनेक अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित योद्धाओंसे आवृत होकर रथावर्त नामक पर्वतपर आ पहुँचा ॥१५६–१५७॥ अश्वग्रीवकी चढ़ाई सुनकर शत्रुओंके लिए अत्यन्त कठोर त्रिपृष्ठकुमार भी अपनी चतुरंग सेनाके साथ पहलेसे ही आकर वहाँ आ डटा ॥१५८॥ जो युद्धके लिए तैयार हैं, अतिशय उद्धत हैं, स्वयं तथा अपने साथी अन्य धनुषधारियोंके साथ बाण-वर्षाकर जिन्होंने सूर्यको ढक लिया है और जो यथोक्त व्यूहकी रचना करनेवाले, पैदल सिपाहियोंसे घिरे हुए घोड़ों, रथों तथा हाथियोंसे महाबलवान् हैं

---

१ ख्यातनमिवंशा इति क्वचित्। २ चारोप–ल०। ३ अश्वै–ल०। ४ महाबलैः क०, ध०, ग०।

गजः कण्ठीरवेणेव वज्रेणेव महाचलः । भास्करेणान्धकारो वा त्रिपृष्ठेन पराजितः ॥१६१॥
स विलक्षो हयग्रीवो मायायुद्धेऽपि निर्जितः । चक्रं संप्रेषयामास त्रिपृष्ठमभिनिष्ठुरम् ॥१६२॥
तच्च प्रदक्षिणीकृत्य मङ्क्षु तद्दक्षिणे भुजे । तस्थौ सोऽपि तदादाय रिपुं प्रत्यक्षिपत् क्रुधा ॥१६३॥
खण्डद्वयं हयग्रीवग्रीवां सद्यो व्यधादद. । त्रिखण्डाधिपतित्वेन त्रिपृष्ठं चार्धचक्रिणम् ॥१६४॥
विजयेनात्र लब्धेन विजयेनेव चक्रभृत् । विजयार्धं समं गत्वा रथनूपुरभूपतिम् ॥१६५॥
श्रेणिद्वयाधिपत्येन प्रापयच्चक्रवर्तिताम् । प्रभोरभूत् फलस्यात्र व्यक्तिः कोपप्रसादयोः ॥१६६॥
राज्यलक्ष्मीं चिरं भुक्त्वाप्यतृप्त्या भोगकाङ्क्षया । मृत्वागात्सप्तमीं पृथ्वीं बह्वारम्भपरिग्रहः ॥१६७॥
परस्परकृतं दुःखमनुभूय चिरादसौ । स्वधात्रीकृतदुःखं च तस्मान्निर्गत्य दुस्तरात् ॥१६८॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते गङ्गानदीतटसमीपगे । वने सिंहगिरौ सिंहो भूत्वाऽसौ बृंहितांहसा ॥१६९॥
रत्नप्रभां प्रविश्यैव प्रज्वलद्धूममाश्रवान् । दुःखमेकाब्धिमेयायुस्ततश्च्युत्वा पुनश्च सः ॥१७०॥
द्वीपेऽस्मिन् [1]सिन्धुकूटस्य प्राग्भागे हिमवद्गिरेः । सानावभून्मृगाधीशो ज्वलत्केसरभासुरः ॥१७१॥
तीक्ष्णदंष्ट्राकरालाननः कदाचिद्भीषणः । कञ्चिन्मृगमवष्टभ्य भक्षयन् स समीक्षितः ॥१७२॥
अग्रेऽमितगुणेनामा गच्छतातिकृपालुना । अजितंजयनामाख्यचारणेन मुनीशिना ॥१७३॥
स मुनिस्तीर्थनाथोक्तमनुस्मृत्यानुकम्पया । अवतीर्य नभोमार्गात् समासाद्य मृगाधिपम् ॥१७४॥
शिलातले निविश्योच्चैर्धर्म्यां वाचमुदाहरन् । [3]भो भो भव्यमृगाधीश त्वं त्रिपृष्ठभवे पुरा ॥१७५॥
परार्ध्यं पञ्चधा प्रोक्तं मृदुशय्यातले चिरम् । स्वैरं कान्ताभिरिष्टाभिरभीष्टं सुखमन्वभूः ॥१७६॥

ऐसे वे दोनों योद्धा क्रुद्ध होकर परस्पर युद्ध करने लगे ॥१५९-१६०॥ जिस प्रकार सिंह हाथीको भगा देता है, वज्र महापर्वतको गिरा देता है और सूर्य अन्धकारको नष्ट कर देता है उसी प्रकार त्रिपृष्ठने अश्वग्रीवको पराजित कर दिया ॥१६१॥ जब अश्वग्रीव मायायुद्धमें भी पराजित हो गया तब उसने लज्जित होकर त्रिपृष्ठके ऊपर कठोर चक्र चला दिया परन्तु वह चक्र प्रदक्षिणा देकर शीघ्र ही उसकी दाहिनी भुजापर आकर स्थिर हो गया। त्रिपृष्ठने भी उसे लेकर क्रोधवश शत्रुपर चला दिया ॥१६२-१६३॥ उसने जाते ही अश्वग्रीवकी ग्रीवाके दो टुकड़े कर दिये। त्रिखण्डका अधिपति होनेसे त्रिपृष्ठको अर्धचक्रवर्तीका पद मिला ॥१६४॥ युद्धमें प्राप्त हुई विजयके समान विजय नामके भाईके साथ चक्रवर्ती त्रिपृष्ठ, विजयार्ध पर्वतपर गया और वहाँ उसने रथनूपुर नगरके राजा ज्वलनजटीको दोनों श्रेणियोंका चक्रवर्ती बना दिया सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीके क्रोध और प्रसन्न होनेका फल यहाँ ही प्रकट हो जाता है ॥१६५-१६६॥ उस त्रिपृष्ठने चिरकाल तक राज्यलक्ष्मीका उपयोग किया परन्तु तृप्त न होनेके कारण उसे भोगोंकी आकांक्षा बनी रही। फलस्वरूप बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहका धारक होनेसे वह मरकर सातवें नरक गया ॥१६७॥ वह वहाँ परस्पर किये हुए दुःखको तथा पृथिवी सम्बन्धी दुःखको चिरकाल तक भोगता रहा। अन्तमें उस दुस्तर नरकसे निकलकर वह तीव्र पापके कारण इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें गंगानदीके तटके समीपवर्ती वनमें सिंहगिरि पर्वतपर सिंह हुआ। वहाँ भी उसने तीव्र पाप किया अतः जिसमें अग्नि जल रही है ऐसी रत्नप्रभा नामकी पृथिवीमें गया। वहाँ एक सागर तक भयंकर दुःख भोगता रहा। तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर इसी जम्बूद्वीपमें सिन्धुकूटकी पूर्व दिशामें हिमवत् पर्वतके शिखरपर देदीप्यमान बालोंसे सुशोभित सिंह हुआ ॥१६८-१७१॥ जिसका मुख पैनी दाढ़ोंसे भयंकर है ऐसा भय उत्पन्न करनेवाला वह सिंह किसी समय किसी एक हरिणको पकड़कर खा रहा था। उसी समय अतिशय दयालु अजितंजयनामक चारण मुनि, अमितगुण नामक मुनिराजके साथ आकाशमें जा रहे थे। उन्होंने उस सिंहको देखा, देखते ही वे तीर्थंकरके वचनोंका स्मरण कर दयावश आकाशमार्गसे उतरकर उस सिंहके पास पहुँचे और शिलातलपर बैठकर जोर-जोरसे धर्ममय वचन कहने लगे। उन्होंने कहा कि हे भव्य मृगराज ! तूने पहले त्रिपृष्ठके भवमें पाँचों इन्द्रियोंके श्रेष्ठ विषयोंका

१ सिंधकूटस्य क०, म०, घ० । सिंहकूटस्य ल० । २–मनइस्य ल० । ३ भो भव्य ल० ।

दिव्यं सर्वरसं भोज्यं रसनेन्द्रियतर्पणम् । स्पर्धमानमभुङ्क्थाः प्राक्सुधामृतरसायनैः ॥१७७॥
धूपानुलेपनैर्माल्यैश्चूर्णैर्वासैः सुगन्धिभिः । तोषितं सुचिरं तत्र त्वया घ्राणपुटद्वयम् ॥१७८॥
रसभावसमाविष्टं विचित्रकरणोचितम् । नृत्तं निरीक्षितं चित्रमङ्गनाभिः प्रयोजितम् ॥१७९॥
शुद्धदेशजभेदं तत् षड्जादिस्वरसप्तकम् । चेतनेतरमिश्रोत्थं पूरितं कर्णयोर्द्वयोः ॥१८०॥
त्रिखण्डमण्डिते[2] क्षेत्रे जातं सर्वं ममैव तत् । इत्याभिमानिकं सौख्यं मनसा चिरमन्वभूः ॥१८१॥
एवं वैषयिकं सौख्यमन्वभूयाप्यतृप्तवान् । श्रद्धापञ्चव्रतापेतः प्रविष्टोऽसि तमस्तमः ॥१८२॥
भीमां वैतरणीं तत्र प्रक्वथद्वारिपूरिताम् । प्रवेशितोऽसि पापिष्ठैः प्राक्शक्त्या कृतमज्जनः ॥१८३॥
ज्वलज्ज्वालाकराले[3] स्थास्नुखण्डोपलाचले । [4]प्रधावितोऽसि सटङ्कच्छिन्नविच्छिन्नाखिलाङ्गकः ॥१८४॥
कदम्बवालुकातापप्लुष्टाष्टावयवोऽप्यभूः । प्रज्वलच्चितिकाक्षिप्तो भस्मसाद्भावमागतः ॥१८५॥
तप्तायस्पिण्डनिर्घातैश्चण्डैः संचूर्णितोऽप्यभूः । निस्त्रिंशच्छदसंछन्नवनेषु भ्रान्तवान्मुहुः ॥१८६॥
नानापक्षिमृगैः काककौलेयककुलैरलम् । परस्पराभिघातेन ताडनेन च पीडितः ॥१८७॥
बद्धो बहुविधैर्बन्धैर्निष्ठुरं निष्ठुराशयैः । कर्णौष्ठनासिकादीनां छेदनैश्च खेदितो भृशम् ॥१८८॥
पापैः समानशूलानामारोपणमवापिथ । एवं बहुविधं दुःखमवशोऽनुभवंश्चिरम् ॥१८९॥
प्रलापाक्रन्दरोदादिशब्दैरुद्धहरिद्वृथा । शरणं प्रार्थयन्दैन्यादप्राप्यानीव दुःखितः ॥१९०॥

अनुभव किया है। तूने कोमल शय्यातलपर मनोभिलषित स्त्रियोंके साथ चिरकाल तक मन-चाहा सुख स्वच्छन्दता पूर्वक भोगा है ॥१७२-१७६॥ रसना इन्द्रियको तृप्त करनेवाले, सब रसोंसे परिपूर्ण तथा अमृतरसायनके साथ स्पर्धा करनेवाले दिव्य भोजनका उपभोग तूने किया है ॥१७७॥ उसी त्रिपृष्ठके भवमें तूने सुगन्धित धूपके अनुलेपनोंसे, मालाओंसे, चूर्णोंसे तथा अन्य सुवासोंसे चिरकाल तक अपनी नाकके दोनों पुट सन्तुष्ट किये हैं ॥१७८॥ रस और भावसे युक्त, विविध करणोंसे संगत, स्त्रियोंके द्वारा किया हुआ अनेक प्रकारका नृत्य भी देखा है ॥१७९॥ इसी प्रकार जिसके शुद्ध तथा देशज भेद हैं, और जो चेतन-अचेतन एवं दोनोंसे उत्पन्न होते हैं ऐसे षड्ज आदि सात स्वर तूने अपने दोनों कानोंमें भरे हैं ॥१८०॥ तीन खण्डसे सुशोभित क्षेत्रमें जो कुछ उत्पन्न हुआ है वह सब मेरा ही है इस अभिमानसे उत्पन्न हुए मानसिक सुखका भी तूने चिरकाल तक अनुभव किया है ॥१८१॥ इस प्रकार विषयसम्बन्धी सुख भोगकर भी सन्तुष्ट नहीं हो सका और सम्यग्दर्शन तथा पाँच व्रतोंसे रहित होनेके कारण सप्तम नरकमें प्रविष्ट हुआ ॥१८२॥ वहाँ खौलते हुए जलसे भरी वैतरणी नामक भयंकर नदीमें तुझे पापी नारकियोंने घुसाया और तुझे जबर्दस्ती स्नान करना पड़ा ॥१८३॥ कभी उन नारकियोंने तुझे जिसपर जलती हुई ज्वालाओंसे भयंकर उछल-उछलकर बड़ी-बड़ी गोल चट्टानें पड़ रही थीं ऐसे पर्वतपर दौड़ाया और तेरा समस्त शरीर टाँकीसे छिन्न-भिन्न हो गया ॥१८४॥ कभी भाड़की बालूकी गरमीसे तेरे आठों अंग जल जाते थे और कभी जलती हुई चितामें गिरा देनेसे तेरा समस्त शरीर जलकर राख हो जाता था ॥१८५॥ अत्यन्त प्रचण्ड और तपाये हुए लोहेके घनोंकी चोटसे कभी तेरा चूर्ण किया जाता था तो कभी तलवार-जैसे पत्तोंसे आच्छादित वनमें बार-बार घुमाया जाता था ॥१८६॥ अनेक प्रकारके पक्षी वनपशु और कालके समान कुत्तोंके द्वारा तू दुःखी किया जाता था तथा परस्परकी मारकाट एवं ताडनाके द्वारा तुझे पीड़ित किया जाता था ॥१८७॥ दुष्ट आशयवाले नारकी तुझे बड़ी निर्दयताके साथ अनेक प्रकारके बन्धनोंसे बाँधते थे और कान ओठ तथा नाक आदि काटकर तुझे बहुत दुःखी करते थे ॥१८८॥ पापी नारकी तुझे कभी अनेक प्रकारके तीक्ष्ण शूलोंपर चढ़ा देते थे। इस तरह तूने परवश होकर वहाँ चिरकाल तक बहुत प्रकारके दुःख भोगे ॥१८९॥ वहाँ तूने प्रलाप आक्रन्द तथा रोना आदिके शब्दोंसे व्यर्थ ही दिशाओंको व्याप्त कर बड़ी दीनतासे शरणकी प्रार्थना की

१ वामाः ल० । २ मण्डितक्षेत्रे ल० । ३ करालोग्रा–म० । करालोच्चा–इति क्वचित् । ४ प्रवोधितोऽसि इत्यपि क्वचित् ।

स्वायुरन्ते विनिर्याय ततो भूत्वा मृगाधिपः । क्षुत्पिपासादिभिर्वातातपवर्षादिभिश्च धिक् ॥१९१॥
[1]बाध्यमानः पुनः प्राणिहिंसया मांसमाहरन् । क्रूरः पापं समुच्चित्य पृथिवीं प्रथमामगाः[2] ॥१९२॥
ततोऽप्यत्र समुद्भूय क्रौर्यमेव समुद्वहन् । महदंहः समावर्ज्य दुःखायोत्सहसे पुनः ॥१९३॥
अहो प्रवृद्धमज्ञानं तव यस्य प्रभावतः । पापिंस्तत्त्वं न जानासीत्याकर्ण्य तदुदीरितम् ॥१९४॥
सद्यो जातिस्मृतिं गत्वा घोरसंसारदुःखजात् । भयाच्चलितसर्वाङ्गो गलद्बाष्पजलोऽभवत् ॥१९५॥
लोचनाभ्यां हरेर्बाष्पसलिलं न्यगलच्चिरम् । सम्यक्त्वाय हृदि स्थानं मिथ्यात्वमिव दित्सु तत् ॥१९६॥
प्रत्यासन्नविनेयानां स्मृतप्राग्जन्मजन्मिनाम् । पश्चात्तापेन यः शोकः संसृतौ स न कस्यचित् ॥१९७॥
हरिं शान्तान्तरङ्गत्वात्स्वस्मिन्बद्धनिरीक्षणम् । विलोक्यैष हितग्राहीत्याहैवं स मुनिः पुनः ॥१९८॥
पुरा पुरूरवा भूत्वा धर्मात् सौधर्मकल्पजः । जातस्ततोऽवतीर्यात्र मरीचिरतिदुर्मतिः ॥१९९॥
सन्मार्गदूषणं कृत्वा कुमार्गमतिवर्धयन् । वृषभस्वामिनो वाक्यमनादृत्याजवञ्जवे ॥२००॥
भ्रान्तो जातिजरामृत्युसंततेः पापसंचयात् । विप्रयोगं प्रियैर्योगमप्रियैश्चाप्नुवंश्चिरम् ॥२०१॥
अपरं च महादुःखं बृहत्पापोदयोदितम् । त्रसस्थावरसंभूतावसंख्यातसमा भ्रमन् ॥२०२॥
केनापि हेतुनावाप्य विश्वनन्दित्वमाप्तवान् । संयमं त्वं निदानेन त्रिपृष्ठत्वमुपेयिवान् ॥२०३॥
इतोऽस्मिन्दशमे भावी भवेऽन्त्यस्तीर्थकृद्भवान् । सर्वमश्रावि तीर्थेशान्मयेदं श्रीधराह्वयात् ॥२०४॥
अद्यप्रभृति संसारघोरारण्यप्रपातनात् । धीमन्विरम दुर्मार्गादारमात्महिते मते ॥२०५॥
क्षेमं चेदाप्नुमिच्छास्ति कामं लोकाग्रधामनि । आप्तागमपदार्थेषु श्रद्धां धत्स्वेति तद्वचः ॥२०६॥

परन्तु तुझे कहीं भी शरण नहीं मिली जिससे अत्यन्त दुःखी हुआ ॥१९०॥ अपनी आयु समाप्त होनेपर तू वहाँसे निकलकर सिंह हुआ और वहाँ भी भूख-प्यास, वायु, गरमी, वर्षा आदिकी बाधासे अत्यन्त दुःखी हुआ। वहाँ तू प्राणिहिंसा कर मांसका आहार करता था इसलिए क्रूरताके कारण पापका संचय कर पहले नरक गया ॥१९१-१९२॥ वहाँसे निकलकर तू फिर सिंह हुआ है और इस तरह क्रूरता कर महान् पापका अर्जन करता हुआ दुःखके लिए फिर उत्साह कर रहा है ॥१९३॥ अरे पापी ! तेरा अज्ञान बहुत बड़ा हुआ है उसीके प्रभावसे तू तत्त्वको नहीं जानता है। इस प्रकार मुनिराजके वचन सुनकर उस सिंहको शीघ्र ही जाति स्मरण हो गया। संसारके भयंकर दुःखोंसे उत्पन्न हुए भयसे उसका समस्त शरीर काँपने लगा तथा आँखोंसे आँसू गिरने लगे ॥१९४-१९५॥ सिंहकी आँखोंसे बहुत देर तक अश्रुरूपी जल गिरता रहा जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो हृदयमें सम्यक्त्वके लिए स्थान देनेकी इच्छासे मिथ्यात्व ही बाहर निकल रहा था ॥१९६॥ जिन्हें पूर्व जन्मका स्मरण हो गया है ऐसे निकट-भव्य जीवोंको पश्चात्तापसे जो शोक होता है वह शोक संसारमें किसीको नहीं होता ॥१९७॥ मुनिराजने देखा कि इस सिंहका अन्तःकरण शान्त हो गया है और यह मेरी ही ओर देख रहा है इससे जान पड़ता है कि यह इस समय अवश्य ही अपना हित ग्रहण करेगा, ऐसा विचार कर मुनिराज फिर कहने लगे कि तू पहले पुरूरवा भील था फिर धर्म सेवन कर सौधर्म स्वर्ग-में देव हुआ। वहाँसे चयकर इसी भरतक्षेत्रमें अत्यन्त दुर्मति मरीचि हुआ ॥१९८-१९९॥ उस पर्यायमें तूने सन्मार्गको दूषित कर कुमार्गकी वृद्धि की। श्री ऋषभदेव तीर्थंकरके वचनोंका अनादर कर तू संसारमें भ्रमण करता रहा। पापोंका संचय करनेसे जन्म, जरा और मरणके दुःख भोगता रहा तथा बड़े भारी पापकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाले इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट संयोगका तीव्र दुःख चिरकाल तक भोगकर तूने त्रस स्थावर योनियोंमें असंख्यात वर्ष तक भ्रमण किया ॥२००-२०२॥ किसी कारणसे विश्वनन्दीकी पर्याय पाकर तूने संयम धारण किया तथा निदान कर त्रिपृष्ठ नारायणका पद प्राप्त किया ॥२०३॥ अब इस भवसे तू दसवें भवमें अन्तिम तीर्थंकर होगा। यह सब मैंने श्रीधर तीर्थंकरसे सुना है ॥२०४॥ हे बुद्धिमान् ! अब तू आजसे लेकर संसार-रूपी अटवीमें गिरानेवाले मिथ्यामार्गसे विरत हो और आत्माका हित करनेवाले मार्गमें रमण कर—उसीमें लीन रह ॥२०५॥ यदि आत्मकल्याणकी तेरी इच्छा है और लोकके अग्रभागपर तू

---

१ व्याध्यमानः (?) ल० । २ प्रथमां गतः ग० ।

विधाय हृदि योगीन्द्रयुग्मं भक्तिभराहितः । मुहुः प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य मृगाधिपः ॥२०७॥
तत्त्वश्रद्धानमासाद्य सद्यः कालादिलब्धितः । प्रणिधाय मनःश्रावकव्रतानि मनाददे ॥२०८॥
दया मुनिगिरास्यन्ती क्रूरतां तन्मनोऽविशत् । कालस्य बलमप्राप्य को विपक्षं निरस्यति ॥२०९॥
स्थिररौद्ररसः सद्यः स शमं समधारयत् । यच्छैलूषवन्मोहक्षयोपशमभावतः ॥२१०॥
व्रतं नैतस्य सामान्यं निराहारं यतो विना । क्रव्यादन्यस्य नाहारः साहसं किमतः परम् ॥२११॥
व्रतं प्राणव्ययात्तेन यन्निर्व्यूढमखण्डितम् । ततोऽमुना फलितं शौर्यं नाद्यं तस्यैव घातकम् ॥२१२॥
तमस्तमःप्रभायां च खलु सम्यक्त्वमादिमम् । निसर्गादेव गृह्णन्ति तस्मादस्मिन्न विस्मयः ॥२१३॥
निरस्तसर्वदुर्वृत्तः सर्वसद्वृत्तसंमुखः । प्रावर्तत चिरं धीरः समीप्सुः परमं पदम् ॥२१४॥
संयमं संयमादूर्ध्वं तिरश्चां नेति सूनृते । रुद्धस्तेनान्यथा मोक्षमेष्युक्तेरासीत् स गोचरः ॥२१५॥
तच्छौर्यं क्रौर्यसंदीप्तं किल संप्रति संशयम् । कलधौतमिवातप्तं निक्षिप्तं शीतलेऽम्भसि ॥२१६॥
स्वार्थं मृगारिशब्दोऽसौ जहौ तस्मिन् दयावति । प्रायेण स्वामिनीकल्पं संश्रितानां [1]प्रवर्तते ॥२१७॥
[2]लिखितो वा सजीवानां वपुषैव न चेतसा । अभयाय तथा शान्तो दयामाहात्म्यमीदृशम् ॥२१८॥
एवं व्रतेन संन्यस्य समाहितमतिर्व्यसुः । सद्यः सौधर्मकल्पेऽसौ सिंहकेतुः सुरोऽजनि ॥२१९॥
ततो द्विसागरायुष्को[3] निर्विष्टामरसौख्यकः । निष्क्रम्य धातकीखण्डपूर्वमन्दरपूर्वगे ॥२२०॥

स्थिर रहना चाहता है तो आप्त आगम और पदार्थोंकी श्रद्धा धारण कर ॥२०६॥

इस प्रकार उस सिंहने मुनिराजके वचन हृदयमें धारण किये तथा उन दोनों मुनिराजोंकी भक्तिके भारसे नम्र होकर बार-बार प्रदक्षिणाएँ दीं, बार-बार प्रणाम किया, काल आदि लब्धियोंके मिल जानेसे शीघ्र ही तत्त्वश्रद्धान धारण किया और मन स्थिर कर श्रावकके व्रत ग्रहण किये ॥२०७-२०८॥ मुनिराजके वचनोंसे क्रूरता दूर कर दयाने सिंहके मनमें प्रवेश किया सो ठीक ही है क्योंकि कालका बल प्राप्त किये बिना ऐसा कौन है जो शत्रुको दूर हटा सकता है ? ॥२०९॥ मोहनीय कर्मका क्षयोपशम होनेसे उस सिंहका रौद्र रस स्थिर हो गया और उसने नटकी भाँति शीघ्र ही शान्तरस धारण कर लिया ॥२१०॥ निराहार रहनेके सिवाय उस सिंहने और कोई सामान्य व्रत धारण नहीं किया क्योंकि मांसके सिवाय उसका और आहार नहीं था। आचार्य कहते हैं कि इससे बढ़कर और साहस क्या हो सकता है ? ॥२११॥ प्राण नष्ट होनेपर भी चूँकि उसने अपने व्रतका अखण्ड रूपसे पालन किया था इससे जान पड़ता था कि उसकी शूरवीरता सफल हुई थी और उसकी वह पुरानी शूरता उसीका घात करनेवाली हुई थी ॥२१२॥ तमस्तमःप्रभा नामक सातवें नरकके नारकी उपशम सम्यग्दर्शनको स्वभावसे ही ग्रहण कर लेते हैं इसलिए सिंहके सम्यग्दर्शन ग्रहण करनेमें आश्चर्य नहीं है ॥२१३॥ परम-पदकी इच्छा करनेवाला वह धीरवीर, सब दुराचारोंको छोड़कर सब सदाचारोंके सम्मुख होता हुआ चिरकाल तक निराहार रहा ॥२१४॥ 'तिर्यंचोंके संयमासंयमके आगेके व्रत नहीं होते ऐसा आगममें कहा गया है इसीलिए वह रुक गया था अन्यथा अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता' वह इस कहावतका विषय हो रहा था ॥२१५॥ जिस प्रकार अग्निमें तपाया हुआ सुवर्ण शीतल जलमें डालनेसे ठण्डा हो जाता है उसी प्रकार क्रूरतासे बढ़ी हुई उसकी शूरवीरता उस समय बिलकुल नष्ट हो गयी थी ॥२१६॥ दयाको धारण करनेवाले उस सिंहमें मृगारि शब्दने अपनी सार्थकता छोड़ दी थी अर्थात् अब वह मृगोंका शत्रु नहीं रहा था सो ठीक ही है क्योंकि आश्रित रहनेवाले मनुष्योंका स्वभाव प्रायः स्वामीके समान ही हो जाता है ॥२१७॥ वह सिंह सब जीवोंके लिए केवल शरीरसे ही चित्रलिखितके समान नहीं जान पड़ता था किन्तु चित्तसे भी वह इतना शान्त हो चुका था कि उससे किसीको भी भय उत्पन्न नहीं होता था सो ठीक ही है क्योंकि दयाका माहात्म्य ही ऐसा है ॥२१८॥ इस प्रकार व्रत सहित संन्यास धारण कर वह एकाग्र चित्तसे मरा और शीघ्र ही सौधर्म स्वर्गमें सिंहकेतु नामका देव हुआ ॥२१९॥ वहाँ उसने दो सागरकी आयु तक देवोंके सुख भोगे। तदनन्तर वहाँसे चयकर वह, धातकीखण्ड

---

१ प्रवर्तितम् घ० । २ लिखितः सोऽन्यजीवानां क०, म० । ३ द्विसागरायुष्यः ल० ।

विदेहे मङ्गलावत्यां विषये [1]खेचराचले । परार्ध्यमुत्तरश्रेण्यां नगरं कनकप्रभम् ॥२२१॥
पतिः कनकपुङ्खाख्यस्तस्य विद्याधराधिपः । प्रिया कनकमालाभूत्तयोस्तुक्कनकोज्ज्वलः ॥२२२॥
सार्धं कनकवत्यासौ मन्दरं क्रीडितुं गतः । समीक्ष्य प्रियमित्राख्यमवधिज्ञानवीक्षणम् ॥२२३॥
भक्त्या प्रदक्षिणीकृत्य कृती कृतनमस्कृतिः । ब्रूहि धर्मस्य सद्भावं [2]पूज्येति परिपृष्टवान् ॥२२४॥
धर्मो दयामयो धर्मं श्रय धर्मेण नीयसे । मुक्तिं धर्मेण कर्माणि छिन्धि[3] धर्माय सन्मतिम् ॥२२५॥
देहि [4]नापेहि धर्मात्त्वं याहि धर्मस्य भृत्यताम् । धर्मे तिष्ठ चिरं धर्म पाहि मामिति [5]चिन्तय ॥२२६॥
इति धर्मं विनिश्चित्य कर्त्राद्यन्वादिपर्ययम् । सततं चिन्तयानन्त्यं गन्तासि गणितैः क्षणैः ॥२२७॥
इत्यब्रवीदसौ सोऽपि निधाय हृदि तद्वचः । तृषितो वा जलं तस्मात् पीतधर्मरसायनः ॥२२८॥
भोगनिर्वेगयोगेन दूरीकृतपरिग्रहः । चिरं संयम्य संन्यस्य कल्पेऽभूत् सप्तमेऽमरः ॥२२९॥
त्रयोदशाब्धिमानायुरात्मसात्कृततत्सुखः । सुखेनास्मात् समागत्य सुसमाहितचेतसा ॥२३०॥
द्वीपेऽस्मिन् कोसले देशे साकेतनगरेशिनः । वज्रसेनमहीपस्य शीलवत्यामजायत ॥२३१॥
हरिषेणः कृताशेषहर्षो नैसर्गिकैर्गुणैः । वशीकृत्य श्रियं स्वस्य चिरं कुलवधूमिव ॥२३२॥
मालां वा लुप्तसारां तां परित्यज्य ययौ शमम् । [6]सुव्रतं [7]सुश्रुतं श्रित्वा सद्गुरुं श्रुतसागरम् ॥२३३॥
वर्धमानव्रतः प्रान्ते महाशुक्रेऽजनिष्ट सः । षोडशाम्भोधिमेयायुराविर्भूतसुखोदयः ॥२३४॥
अस्तमभ्युद्यतार्को वा प्रान्तकालं समासदत् । धातकीखण्डपूर्वाशा विदेहे पूर्वभागगे[8] ॥२३५॥

द्वीपके पूर्व मेरुसे पूर्वकी ओर जो विदेह क्षेत्र है उसके मंगलावती देशके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें अत्यन्त श्रेष्ठ कनकप्रभ नगरके राजा कनकपुंख विद्याधर और कनकमाला रानीके कनकोज्ज्वल नामका पुत्र हुआ ॥२२०-२२२॥ किसी एक दिन वह अपनी कनकवती नामक स्त्रीके साथ क्रीड़ा करनेके लिए मन्दरगिरिपर गया था वहाँ उसने प्रियमित्र नामक अवधिज्ञानी मुनिके दर्शन किये ॥२२३॥ उस चतुर विद्याधरने भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा देकर उन मुनिराजको नमस्कार किया और 'हे पूज्य ! धर्मका स्वरूप कहिए' इस प्रकार उनसे पूछा ॥२२४॥ उत्तरमें मुनिराज कहने लगे कि धर्म दयामय है, तू धर्मका आश्रय कर, धर्मके द्वारा तू मोक्षके निकट पहुँच रहा है, धर्मके द्वारा कर्मका बन्धन छेद, धर्मके लिए सद्बुद्धि दे, धर्मसे पीछे नहीं हट, धर्मकी दासता स्वीकृत कर, धर्ममें स्थिर रह और 'हे धर्म मेरी रक्षा कर' सदा इस प्रकारकी चिन्ता कर ॥२२५-२२६॥ इस प्रकार धर्मका निश्चय कर उसके कर्ता करण आदि भेदोंका निरन्तर चिन्तवन किया कर। ऐसा करनेसे तू कुछ ही समयमें मोक्षको प्राप्त हो जावेगा ॥२२७॥ इस तरह मुनिराजने कहा। मुनिराजके वचन हृदयमें धारण कर और उनसे धर्मरूपी रसायनका पानकर वह ऐसा सन्तुष्ट हुआ जैसा कि प्यासा मनुष्य जल पाकर सन्तुष्ट होता है ॥२२८॥ उसने उसी समय भोगोंसे विरक्त होकर समस्त परिग्रहका त्याग कर दिया और चिर काल तक संयम धारण कर अन्तमें संन्यास मरण किया जिसके प्रभावसे वह सातवें स्वर्गमें देव हुआ ॥२२९॥ वहाँ तेरह सागरकी आयु प्रमाण उसने वहाँके सुख भोगे और सुखसे काल व्यतीत कर समाधिपूर्वक प्राण छोड़े। वहाँसे च्युत होकर वह इसी जम्बूद्वीपके कोसल देश सम्बन्धी साकेतनगरके स्वामी राजा वज्रसेनकी शीलवती रानीसे अपने स्वाभाविक गुणोंके द्वारा सबको हर्षित करनेवाला हरिषेण नामका पुत्र हुआ। उसने कुलवधूके समान राज्यलक्ष्मी अपने वश कर ली ॥२३०-२३२॥ अन्तमें उसने सारहीन मालाके समान वह समस्त लक्ष्मी छोड़ दी और उत्तम व्रत तथा उत्तम शास्त्रज्ञानसे सुशोभित श्रीश्रुतसागर नामके सद्गुरुके पास जाकर दीक्षा धारण कर ली ॥२३३॥ जिसके व्रत निरन्तर बढ़ रहे हैं ऐसा हरिषेण आयुका अन्त होनेपर महाशुक्र स्वर्गमें देव उत्पन्न हुआ। वहाँ वह सोलह सागरकी आयु प्रमाण उत्तम सुख भोगता रहा ॥२३४॥ जिस प्रकार उदित हुआ सूर्य अस्त हो जाता है उसी प्रकार वह देव भी अन्तकालको

१ खचराचले ल० । २ ममेति ल० । ३ हन्ता ल० । ४ मावेहि क० । ५ चार्यय इति क्वचित् । ६ सव्रतं । ७ सश्रुतं इति क्वचित् । ८ पूर्वसागरे क० ।

विषये पुष्कलावत्यां नरेशः पुण्डरीकिणी । पतिः सुमित्रविख्यातिः सुव्रतास्य[1] मनोरमा ॥२३६॥
प्रियमित्रस्तयोरासीत्तनयो नयभूषणः । नाम्नैव नमिताशेषविद्विषश्चक्रवर्तिताम् ॥२३७॥
संप्राप्य भुक्तभोगाङ्गो भङ्गुरान्सर्वसंगमान् । क्षेमंकरजिनाधीशवक्त्राम्भोजविनिर्गतान्[2] ॥२३८॥
तत्त्वगर्भगभीरार्थवाक्यान्मत्वा विरक्तवान् । सर्वमित्राख्यसूनौ स्वं राज्यभारं निधाय सः ॥२३९॥
[3]भव्यभूपसहस्रेण सह संयममाददे । प्रतिष्ठानं समास्वस्मिन्नवा[4]पंस्तेऽष्टमातृभिः ॥२४०॥
प्रान्ते प्राप्य सहस्रारमभूत् सूर्यप्रभोऽमरः[5] । सुधाष्टादशवार्ध्यायुर्वृद्धर्द्धिर्भुक्तभोगकः ॥२४१॥
मेघाद्विद्युद्विशेषो वा ततः स्वर्गाद्विनिर्गतः । छत्राकारपुरेऽत्रैव नन्दिवर्धनभूभुजः ॥२४२॥
वीरवत्याश्च नन्दाख्यस्तनूजः सुजनोऽजनि । निष्ठाप्येष्टमनुष्ठानं स श्रेष्ठं प्रोष्ठिलं गुरुम् ॥२४३॥
संप्राप्य धर्ममाकर्ण्य [6]निर्णीताप्तागमार्थकः । संयमं संप्रपद्याशु स्वीकृतैकादशाङ्गकः ॥२४४॥
भावयित्वा भवध्वंसि तीर्थकृन्नामकारणम् । बद्ध्वा तीर्थकरं नाम सहोच्चैर्गोत्रकर्मणा ॥२४५॥
जीवितान्ते [7]समासाद्य सर्वमाराधनाविधिम् । पुष्पोत्तरविमानेऽभूदच्युतेन्द्रः सुरोत्तमः ॥२४६॥
द्वाविंशत्यब्धिमेयायुररत्नित्रयदेहकः । शुक्ललेश्याद्वयोपेतो द्वाविंशत्या स निःश्वसन् ॥२४७॥
पक्षैस्तावत्सहस्राब्दैराहरन् मनसामृतम् । सदा मनःप्रवीचारो भोगसारेण तृप्तवान् ॥२४८॥
[8]आपष्ठपृथिवीभागाद्व्याप्तावधिविलोचनः । स्वावधिक्षेत्रसंमेयबलाभाविक्रियावधिः ॥२४९॥

प्राप्त हुआ और वहाँ से चयकर धातकीखण्डद्वीपकी पूर्व दिशा-सम्बन्धी विदेह क्षेत्रके पूर्वभाग-में स्थित पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीमें राजा सुमित्र और उनकी मनोरमा नामकी रानीके प्रियमित्र नामका पुत्र हुआ। वह पुत्र नीतिरूपी आभूषणोंसे विभूषित था, उसने अपने नामसे ही समस्त शत्रुओंको नम्रीभूत कर दिया था, तथा चक्रवर्तीका पद प्राप्त कर समस्त प्रकारके भोगोंका उपभोग किया था। अन्तमें वह क्षेमंकर नामक जिनेन्द्र भगवान्‌के मुखार-विन्दसे प्रकट हुए, तत्त्वोंसे भरे हुए और गम्भीर अर्थको सूचित करनेवाले वाक्योंसे सब पदार्थों-के समागमको भंगुर मानकर विरक्त हो गया तथा सर्वमित्र नामक अपने पुत्रके लिए राज्यका भार देकर एक हजार राजाओंके साथ दीक्षित हो गया। पाँच समितियों और तीन गुप्तियों रूप आठ प्रवचन-मातृकाओंके साथ-साथ अहिंसा महाव्रत आदि पाँच महाव्रत उन मुनिराज-में पूर्ण प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए थे ॥२३५–२४०॥ आयुका अन्त होनेपर वे सहस्रार स्वर्गमें जाकर सूर्यप्रभ नामके देव हुए। वहाँ उनकी आयु अठारह सागर प्रमाण थी, अनेक ऋद्धियाँ बढ़ रही थीं और वे सब प्रकारके भोगोंका उपभोग कर चुके थे ॥२४१॥ जिस प्रकार मेघसे एक प्रकार-की बिजली निकल पड़ती है उसी प्रकार वह देव उस स्वर्गसे च्युत हुआ और इसी जम्बूद्वीपके छत्रपुर नगरके राजा नन्दिवर्धन तथा उनकी वीरवती नामकी रानीसे नन्दनामका सज्जन पुत्र हुआ। इष्ट अनुष्ठानको पूरा कर अर्थात् अभिलषित राज्यका उपभोग कर वह प्रोष्ठिल नामके श्रेष्ठ गुरुके पास पहुँचा। वहाँ उसने धर्मका स्वरूप सुनकर आप्त, आगम और पदार्थका निर्णय किया; संयम धारण कर लिया और शीघ्र ही ग्यारह अंगोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥२४२–२४४॥ उसने तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होनेमें कारणभूत और संसारको नष्ट करनेवाली दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारणभावनाओंका चिन्तवन कर उच्चगोत्रके साथ-साथ तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया ॥२४५॥ आयुके अन्त समय सब प्रकारकी आराधनाओंको प्राप्त कर वह अच्युत स्वर्गके पुष्पोत्तर विमानमें श्रेष्ठ इन्द्र हुआ ॥२४६॥ वहाँ उसकी बाईस सागर प्रमाण आयु थी, तीन हाथ ऊँचा शरीर था, द्रव्य और भाव दोनों ही शुक्ल लेश्याएँ थीं, बाईस पक्षमें एक बार श्वास लेता था, बाईस हजार वर्षमें एक बार मानसिक अमृतका आहार लेता था, सदा मानसिक प्रवीचार करता था और श्रेष्ठ भोगोंसे सदा तृप्त रहता था ॥२४७-२४८॥ उसका अवधिज्ञान रूपी दिव्य नेत्र छठी पृथिवी तककी बात जानता था और उसके बल, कान्ति तथा विक्रिया-

१ सुव्रताख्या ल०। २ विनिर्गमात् ल०। ३ राजकेन सहस्रेण इत्यपि क्वचित्। ४ नवापुस्ते ल०। नवापन् नष्ट ख०। ५ सूर्यप्रभामरः ल०। ६ निर्णीतार्थागमार्थकः ल०। ७ समाराध्य क०, ख०, म०। ८ आयष्ठपृथि-वीप्राप्तविद्यावधि ल०।

सामानिकादिभिर्देवैर्देवीभिश्च परिष्कृतः । पुण्योदयविशेषेण मज्जति स्म सुखाम्बुधौ ॥२५०॥
तस्मिन्षण्मासशेषायुष्यानाकादागमिष्यति । भरतेऽस्मिन्विदेहाख्ये विषये भवनाङ्गणे ॥२५१॥
राज्ञः कुण्डपुरेशस्य वसुधारापतत्पृथुः । सप्तकोटिर्मणिः सार्धा सिद्धार्थस्य दिनं प्रति ॥२५२॥
आषाढस्य सिते पक्षे षष्ठ्यां शशिनि चोत्तराषाढे सप्ततलप्रासादस्याभ्यन्तरवर्तिनि ॥२५३॥
नन्द्यावर्तगृहे रत्नदीपिकाभिः प्रकाशिते । रत्नपर्यङ्कके हंसतूलिकादिविभूषिते ॥२५४॥
रौद्रराक्षसगान्धर्वयामत्रितयनिर्गमे । मनोहराख्यतुर्यस्य यामस्यान्ते प्रसन्नधीः ॥२५५॥
[1]दरनिद्रावलोकिष्ट विशिष्टफलदायिनः । स्वप्नान् षोडशविच्छिन्नान् प्रियास्य प्रियकारिणी ॥२५६॥
तदन्तेऽपश्यदन्यं च गजं वक्त्रप्रवेशिनम् । प्रभातपटहध्वानैः पठितैर्बन्दिमागधैः ॥२५७॥
मङ्गलैश्च प्रबुध्याशु स्नात्वा पुण्यप्रसाधना । सा सिद्धार्थमहाराजमुपगम्य कृतानतिः ॥२५८॥
संप्राप्तार्धासना स्वप्नान्यथाक्रममुदाहरत् । सोऽपि तेषां फलं भावि [2]यथाक्रममबूबुधत् ।२५९॥
श्रुतस्वप्नफला देवी तुष्टा प्राप्तेव तत्फलम् । अथामराधिपाः सर्वे तयोरभ्येत्य सम्पदा ॥२६०॥
कल्याणाभिषवं कृत्वा नियोगेषु यथोचितम् । देवान् देवीश्च संयोज्य स्वं स्वं धाम ययुः पृथक् ॥२६१॥
नवमे मासि संपूर्णे चैत्रे मासि त्रयोदशी । दिने शुक्ले शुभे योगे सत्यर्यमणि नामनि ॥२६२॥
[3]अलंकारः कुलस्याभूच्छीलानामाकरो महान् । आकरो गुणरत्नानामाश्रयो विश्रुतश्रियः[4] ॥२६३॥

की अवधि भी अवधिज्ञानके क्षेत्रके बराबर ही थी ॥२४९॥ सामानिक देव और देवियोंसे घिरा हुआ वह इन्द्र अपने पुण्य कर्मके विशेष उदयसे सुखरूपी सागरमें सदा निमग्न रहता था ॥२५०॥ जब उसकी आयु छह माहकी बाकी रह गयी और वह स्वर्गसे आनेको उद्यत हुआ तब इसी भरत क्षेत्रके विदेह नामक देशसम्बन्धी कुण्डपुर नगरके राजा सिद्धार्थके भवनके आँगनमें प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ रत्नोंकी बड़ी मोटी धारा बरसने लगी॥२५१-२५२॥ आषाढ़ शुक्ल षष्ठीके दिन जब कि चन्द्रमा उत्तराषाढ़ा नक्षत्रमें था तब राजा सिद्धार्थकी प्रसन्नबुद्धि-वाली रानी प्रियकारिणी, सात खण्डवाले राजमहलके भीतर रत्नमय दीपकोंसे प्रकाशित नन्द्या-वर्त नामक राजभवनमें हंस-तूलिका आदिसे सुशोभित रत्नोंके पलंगपर सो रही थी। जब उस रात्रिके रौद्र, राक्षस और गन्धर्व नामके तीन पहर निकल चुके और मनोहर नामक चौथे पहरका अन्त होनेको आया तब उसने कुछ खुली-सी नींदमें सोलह स्वप्न देखे। सोलह स्वप्नोंके बाद ही उसने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक अन्य हाथी देखा। तदनन्तर सवेरेके समय बजने-वाले नगाड़ोंकी आवाजसे तथा चारण और मागधजनोंके द्वारा पढ़े हुए मंगलपाठोंसे वह जाग उठी और शीघ्र ही स्नान कर पवित्र वस्त्राभूषण पहन महाराज सिद्धार्थके समीप गयी। वहाँ नमस्कार कर वह महाराजके द्वारा दिये हुए अर्धासनपर विराजमान हुई और यथाक्रमसे स्वप्न सुनाने लगी। महाराजने भी उसे यथाक्रमसे स्वप्नोंका होनहार फल बतलाया ॥२५३-॥२५९॥ स्वप्नोंका फल सुनकर वह इतनी सन्तुष्ट हुई मानो उसने उनका फल उसी समय प्राप्त ही कर लिया हो। तदनन्तर सब देवोंने आकर बड़े वैभवके साथ राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणीका गर्भकल्याणक सम्बन्धी अभिषेक किया, देव और देवियोंको यथायोग्य कार्योंमें नियुक्त किया और यह सब करनेके बाद वे अलग-अलग अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥ २६०–२६१॥ तदनन्तर नौवाँ माह पूर्ण होनेपर चैत्रशुक्ल त्रयोदशीके दिन अर्यमा नामके शुभ योगमें, जिस प्रकार पूर्व दिशामें बाल सूर्य उत्पन्न होता है, रात्रिमें चन्द्रमा उत्पन्न होता है, पद्म नामक ह्रदमें गंगाका प्रवाह उत्पन्न होता है, पृथिवीमें धनका समूह प्रकट होता है, सरस्वतीमें शब्दोंका समूह उत्पन्न होता है और लक्ष्मीमें सुखका उदय उत्पन्न होता है उसी प्रकार उस रानीमें वह अच्युतेन्द्र नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पुत्र अपने कुलका आभूषण था, शीलका बड़ा भारी घर था, गुणरूपी रत्नोंकी खान था, प्रसिद्ध

१ दरसुप्ता क०, ग०, घ० । २ यथाचिन्त्य-घ० । यथावत्ता-इति क्वचित् । ३ अलङ्कार: कुलस्यर्द्ध-संपदामाकरो महान् क० । ४ विश्रुतश्रियाम् क० ।

भानुमान् बन्धुपद्मानां भुवनत्रयनायकः । दायको मुक्तिसौख्यस्य त्रायकः सर्वदेहिनाम् ॥२६४॥
भर्मद्युतिर्भवध्वंसी मर्मभित्कर्मविद्विषाम् । धर्मतीर्थस्य धौरेयो निर्मलः [१]शर्मवारिधिः ॥२६५॥
प्राच्यां दिशीव बालार्को यामिन्यामिव चन्द्रमाः । पद्मायामिव रत्नौघो धात्र्यामिव धनोत्करः ॥२६६॥
वाग्वध्वामिव वाग्राशिर्लक्ष्म्यामिव सुखोदयः । तस्यां सुतोऽच्युतार्धांशो लोकालोकैकभास्करः ॥२६७॥
मानुषाणां सुराणां च तिरश्चां च चकार सा । तत्प्रसूत्या पृथुं प्रीतिं तदन्वर्थं प्रियकारिणी ॥२६८॥
मुखाम्भोजानि सर्वेषां तदाकस्माद्दधुः श्रियम् । प्रमुक्तानि प्रसूनानि प्रमोदाश्रूणि वा दिवा ॥२६९॥
ननादानकसंघातो ननाट प्रमदागणः । [२]जगाद गायकानीकः पपाठौघोऽपि वन्दिनाम् ॥२७०॥
अवातरन्सुराः सर्वेऽप्युद्वास्यावासमात्मनः । मायाशिशुं पुरोधाय मातुः सौधर्मनायकः ॥२७१॥
नागेन्द्रस्कन्धमारोप्य बालं भास्करभास्वरम् । तत्तेजसा दिशो विश्वाः काशयन्नमरावृतः ॥२७२॥
संप्राप्य मेरुमारोप्य शिलायां सिंहविष्टरम् । अभिषिच्य ज्वलत्कुम्भैः क्षीरसागरवारिभिः ॥२७३॥
विशुद्धपुद्गलारब्धदेहस्य विमलात्मनः । शुद्धिरेतस्य काम्भोभिर्दूष्यैरशुचिभिः स्वयम् ॥२७४॥
चोदितास्तीर्थकृन्नाम्ना स्वाम्नायोऽयं समागतः । इति कैङ्कर्यमस्यैव कृताभिषवणा वयम् ॥२७५॥
अलं वदिति तं भक्त्या विभूष्योद्घविभूषणैः । वीरः श्रीवर्धमान[३]श्चेत्यस्याख्याद्वितयं व्यधात् ॥२७६॥
ततस्तं स समानीय सर्वामरसमन्वितः । मातुरङ्के निवेश्योच्चैर्विहितानन्दनाटकः ॥२७७॥
विभूष्य पितरौ चाभ्य तयोर्विहितसंमदः । श्रीवर्धमानमानम्य [४]स्वं धाम समगात् सुरैः ॥२७८॥

लक्ष्मीका आधार था; बन्धुरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्य था, तीन लोकोंका नायक था, मोक्षका सुख देनेवाला था, समस्त प्राणियोंकी रक्षा करनेवाला था, सूर्यके समान कान्तिवाला था, संसारको नष्ट करनेवाला था, कर्मरूपी शत्रुके मर्मको भेदन करनेवाला था, धर्मरूपी तीर्थका भार धारण करनेवाला था, निर्मल था, सुखका सागर था, और लोक तथा अलोकको प्रकाशित करनेके लिए एक सूर्यके समान था ॥२६२–२६७॥ रानी प्रियकारिणीने उस बालकको जन्म देकर मनुष्यों, देवों और तिर्यंचोंको बहुत भारी प्रेम उत्पन्न किया था इसलिए उसका प्रियकारिणी नाम सार्थक हुआ था ॥२६८॥ उस समय सबके मुख-कमलोंने अकस्मात् ही शोभा धारण की थी और आकाशसे आनन्दके आँसुओंके समान फूलोंकी वर्षा हुई थी ॥२६९॥ उस समय नगाड़ोंका समूह शब्द कर रहा था, स्त्रियोंका समूह नृत्य कर रहा था, गानेवालोंका समूह गा रहा था और बन्दीजनोंका समूह मंगल पाठ पढ़ रहा था ॥२७०॥ सब देव लोग अपने-अपने निवासस्थानको ऊजड़ बनाकर नीचे उतर आये थे। तदनन्तर, सौधर्मेन्द्रने मायामय बालकको माताके सामने रखकर सूर्यके समान देदीप्यमान उस बालको ऐरावत हाथीके कन्धेपर विराजमान किया। बालकके तेजसे दशों दिशाओंको प्रकाशित करता और देवोंसे घिरा हुआ वह इन्द्र सुमेरु पर्वतपर पहुँचा। वहाँ उसने जिनबालकको पाण्डुकशिलापर विद्यमान सिंहासनपर विराजमान किया और क्षीरसागरके जलसे भरे हुए देदीप्यमान कलशोंसे उनका अभिषेक कर निम्न प्रकार स्तुति की। वह कहने लगा कि हे भगवन्! आपकी आत्मा अत्यन्त निर्मल है, तथा आपका यह शरीर विशुद्ध पुद्गल परमाणुओंसे बना हुआ है इसलिए स्वयं अपवित्र निन्दनीय जलके द्वारा इनकी शुद्धि कैसे हो सकती है? हम लोगोंने जो अभिषेक किया है वह आपके तीर्थंकर नामकर्मके द्वारा प्रेरित होकर ही किया है अथवा यह एक आम्नाय है— तीर्थंकरके जन्मके समय होनेवाली एक विशिष्ट क्रिया ही है, इसीलिए हम लोग आकर आपकी किंकरताको प्राप्त हुए हैं ॥२७१–२७५॥ अधिक कहनेसे क्या? इन्द्रने उन्हें भक्तिपूर्वक उत्तमोत्तम आभूषणोंसे विभूषित कर उनके वीर और श्रीवर्धमान इस प्रकार दो नाम रखे ॥२७६॥ तदनन्तर सब देवोंसे घिरे हुए इन्द्रने, जिन-बालकको वापस लाकर माताकी गोदमें विराजमान किया, बड़े उत्सवसे आनन्द नामका नाटक किया, माता-पिताको आभूषण पहनाये, उत्सव मनाया और यह सब कर चुकनेके बाद श्रीवर्धमान स्वामीको नमस्कार कर देवोंके साथ अपने स्थानपर चला गया ॥२७७–२७८॥

पार्श्वेशतीर्थसंताने पञ्चाशद्द्विशताब्दके । तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्महावीरोऽत्र जातवान् ॥२७९॥
द्वासप्ततिसमाः किंचिदूनास्तस्यायुषः स्थितिः । सप्तारत्निमितोत्सेधः सर्वलक्षणभूषितः ॥२८०॥
निःस्वेदत्वादिनिर्दिष्टदशात्मजगुणोदयः । [1]भयसप्तकनिर्मुक्तः सर्वचेष्टाविराजितः ॥२८१॥
संजयस्यार्थसंदेहे संजाते विजयस्य च । जन्मानन्तरमेवैनमभ्येत्यालोकमात्रतः ॥२८२॥
तत्संदेहे[2] गते ताभ्यां चारणाभ्यां स्वभक्तितः । अस्त्वेष सन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृतः ॥२८३॥
अर्थिनः किं पुनर्वाच्याः शब्दाश्च गुणगोचराः । अप्राप्तार्थाः परेष्वस्मिन्नर्थवन्तोऽभवन् यदि ॥२८४॥
[3]त्यागेऽयमेव दोषोऽस्य शब्दा [4]दोषाभिधायिनः । पुष्कलार्थाः परत्रास्माद्गता दूरमनर्थकाः ॥२८५॥
न गोमिन्यां न कीर्त्यां वा प्रीतिरस्याभवद्विभोः । गुणेष्विव सुलेश्यानां प्रायेण हि गुणाः प्रियाः ॥२८६॥
तस्य कालवयोवाञ्छावशेनैलविलः स्वयम् । भोगोपभोगवस्तूनि स्वर्गसाराण्यहर्दिवम्[5] ॥२८७॥
शक्राज्ञया समानीय व्ययं प्रावर्तयत् सदा । अन्येद्युः स्वर्गनाथस्य सभायामभवत्कथा ॥२८८॥
देवानामधुना शूरो वीरस्वामीति तच्छ्रुतेः । देवः संगमको नाम संप्राप्तस्तं परीक्षितुम् ॥२८९॥
दृष्ट्वोद्यानवने राजकुमारैर्बहुभिः सह । काकपक्षधरैरेकवयोभिर्बाल्यचोदितम् ॥२९०॥
कुमारं भास्वराकारं द्रुमक्रीडापरायणम् । स विभीषयितुं वाञ्छन् महानागाकृतिं दधत् ॥२९१॥
मूलात् प्रभृति भूजस्य यावत्स्कन्धमवेष्टत[6] । विटपेभ्यो निपत्याशु धरित्रीं भयविह्वलाः ॥२९२॥
प्रपलायन्त तं दृष्ट्वा बालाः सर्वे यथायथम् । महाभये समुत्पन्ने महतोऽन्यो न तिष्ठति ॥२९३॥

श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकरके बाद दो सौ पचास वर्ष बीत जानेपर एक महावीर स्वामी उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु भी इसीमें शामिल है। कुछ कम बहत्तर वर्षकी उनकी आयु थी, वे सात हाथ ऊँचे थे, सब लक्षणोंसे विभूषित थे, पसीना नहीं आना आदि दशगुण उनके जन्मसे ही थे, वे सात भयोंसे रहित थे और सब तरहकी चेष्टाओंसे सुशोभित थे ॥२७९-२८१॥ एक बार संजय और विजय नामके दो चारणमुनियोंको किसी पदार्थमें सन्देह उत्पन्न हुआ था परन्तु भगवान्‌के जन्मके बाद ही वे उनके समीप आये और उनके दर्शन मात्रसे ही उनका सन्देह दूर हो गया इसलिए उन्होंने बड़ी भक्तिसे कहा था कि यह बालक सन्मति तीर्थंकर होनेवाला है, अर्थात् उन्होंने उनका सन्मति नाम रखा था ॥२८२-२८३॥ गुणोंको कहनेवाले सार्थक शब्दोंकी तो बात ही क्या थी। श्रीवीरनाथको छोड़कर अन्यत्र जिनका गुणवाचक अर्थ नहीं होता ऐसे शब्द भी श्रीवीरनाथमें प्रयुक्त होकर सार्थक हो जाते थे ॥२८४॥ उन भगवान्‌के त्यागमें यही दोष था कि दोषोंको कहनेवाले शब्द जहाँ अन्य लोगोंके पास जाकर खूब सार्थक हो जाते थे वहाँ वे ही शब्द उन भगवान्‌के पास आकर दूरसे ही अनर्थक हो जाते थे ॥२८५॥ उन भगवान्‌की जैसी प्रीति गुणोंमें थी वैसी न लक्ष्मीमें थी और न कीर्तिमें ही थी। सो ठीक ही है क्योंकि शुभलेश्याके धारक पुरुषोंको गुण ही प्यारे होते हैं ॥२८६॥ इन्द्रकी आज्ञासे कुबेर प्रतिदिन उन भगवान्‌के समय आयु और इच्छाके अनुसार स्वर्गकी सारभूत भोगोपभोग-की सब वस्तुएँ स्वयं लाया करता था और सदा खर्च करवाया करता था। किसी एक दिन इन्द्रकी सभामें देवोंमें यह चर्चा चल रही थी कि इस समय सबसे अधिक शूरवीर श्रीवर्धमान स्वामी ही हैं। यह सुनकर एक संगम नामका देव उनकी परीक्षा करनेके लिए आया ॥२८७-२८९॥ आते ही उस देवने देखा कि देदीप्यमान आकारके धारक बालक वर्द्धमान, बाल्यावस्थासे प्रेरित हो, बालकों जैसे केश धारण करनेवाले तथा समान अवस्थाके धारक अनेक राजकुमारोंके साथ बगीचामें एक वृक्षपर चढ़े हुए क्रीड़ा करनेमें तत्पर हैं। यह देख संगम नामका देव उन्हें डरवानेकी इच्छासे किसी बड़े साँपका रूप धारण कर उस वृक्षकी जड़-से लेकर स्कन्ध तक लिपट गया। सब बालक उसे देखकर भयसे काँप उठे और शीघ्र ही डालियोंपर-से नीचे जमीनपर कूदकर जिस किसी तरह भाग गये सो ठीक ही है क्योंकि महाभय उपस्थित होनेपर महापुरुषके सिवाय अन्य कोई नहीं ठहर सकता है ॥२९०-२९३॥

---

१ भयसप्तक- ल० । २ तत्सन्देहगते ल० । ३ त्यागोऽयमेव ल० । ४ दोषोऽभिधायिनः क०, ग० । ५–म्यहर्निशम् ख०, ग० । ६–मधिष्ठितः ल० ।

चलज्जिह्वाशतात्युग्रमारुह्य तमहिं विभीः । कुमारः क्रीडयामास [1]मातृपर्यङ्कवत्तदा ॥२९४॥
विजृम्भमाणहर्षाम्भोनिधिः संगमकोऽमरः । स्तुत्वा भवान्महावीर इति नाम चकार सः ॥२९५॥
त्रिंशच्छरद्भिरस्यैवं कौमारमगमद् वयः । ततोऽन्येद्युर्मतिज्ञानक्षयोपशमभेदतः ॥२९६॥
समुत्पन्नमहाबोधिः स्मृतपूर्वभवान्तरः । लौकान्तिकामरैः प्राप्य प्रस्तुतस्तुतिभिः स्तुतः ॥२९७॥
सकलामरसंदोहकृतनिष्क्रमणक्रियः । स्ववाक्प्रीणितसद्बन्धुसंभावितविसर्जनः ॥२९८॥
चन्द्रप्रभाख्यशिबिकामधिरूढो दृढव्रतः । ऊढां परिवृढैर्नृणां ततो विद्याधराधिपैः ॥२९९॥
ततश्चानिमिषाधीशैश्चलच्चामरसंहतिः । प्रभ्रमद्भ्रमरारावैः कोकिलालापनैरपि ॥३००॥
आह्वयद्वा प्रसूनौघैः प्रहसद्वा प्रमोदतः । पल्लवैरनुरागं वा स्वकीयं संप्रकाशयन् ॥३०१॥
नाथः षण्डवनं प्राप्य स्वयानादवरुह्य सः । श्रेष्ठः षष्ठोपवासेन [2]स्वप्रभापटलावृते ॥३०२॥
निविश्योदङ्मुखो वीरो रुन्द्ररत्नशिलातले । दशम्यां मार्गशीर्षस्य कृष्णायां शशिनि श्रिते ॥३०३॥
हस्तोत्तरर्क्षयोर्मध्यं भागं [3]चापास्तलक्ष्मणि । दिवसावसितौ धीरः संयमाभिमुखोऽभवत् ॥३०४॥
वस्त्राभरणमाल्यानि [4]स्वयं शक्रः समाददे । मुक्तान्येतेन पूतानि भर्त्रा माहात्म्यमीदृशम् ॥३०५॥
अङ्गरागोऽङ्गलग्नोऽस्य सगन्धोऽहं कथं मया । मोच्योऽयमिति मत्वेव स्थितः शोभां समुद्वहन् ॥३०६॥
मलिनाः कुटिला मुग्धैः पूज्यास्त्याज्या मुमुक्षुभिः । केशाः क्लेशसमास्तेन यूना मुक्तास्समुद्धृताः ॥३०७॥

जो लहलहाती हुई सौ जिह्वाओंसे अत्यन्त भयंकर दिख रहा था ऐसे उस सर्पपर चढ़कर कुमार महावीरने निर्भय हो उस समय इस प्रकार क्रीड़ा की जिस प्रकार कि माताके पलंगपर किया करते थे ॥२९४॥ कुमारकी इस क्रीड़ासे जिसका हर्षरूपी सागर उमड़ रहा था ऐसे उस संगम देवने भगवान्‌की स्तुति की और 'महावीर' यह नाम रखा ॥२९५॥ इस प्रकार तीस वर्षमें भगवान्‌का कुमार काल व्यतीत हुआ। तदनन्तर दूसरे ही दिन मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमविशेषसे उन्हें आत्मज्ञान प्रकट हो गया और पूर्वभवका स्मरण हो उठा। उसी समय स्तुति पढ़ते हुए लौकान्तिक देवोंने आकर उनकी स्तुति की ॥२९६–२९७॥ समस्त देवोंके समूहने आकर उनके निष्क्रमण कल्याणकी क्रिया की, उन्होंने अपने मधुर वचनोंसे बन्धुजनोंको प्रसन्न कर उनसे विदा ली। तदनन्तर व्रतोंको दृढ़तासे पालन करनेवाले वे भगवान् चन्द्रप्रभा नामकी पालकीपर सवार हुए। उस पालकीको सबसे पहले भूमिगोचरी राजाओंने, फिर विद्याधर राजाओंने और फिर इन्द्रोंने उठाया था। उनके दोनों ओर चामरोंके समूह ढुल रहे थे। इस प्रकार वे षण्ड नामके उस वनमें जा पहुँचे जो कि भ्रमण करते हुए भ्रमरोंके शब्दों और कोकिलाओंकी कमनीय कूकसे ऐसा जान पड़ता था मानो बुला ही रहा हो, फूलोंके समूहसे ऐसा जान पड़ता था मानो हर्षसे हँस ही रहा हो, और लाल-लाल पल्लवोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो अपना अनुराग ही प्रकट कर रहा हो ॥२९८–३०१॥ अतिशय श्रेष्ठ भगवान् महावीर, षण्डवनमें पहुँचकर अपनी पालकीसे उतर गये और अपनी ही कान्तिके समूहसे घिरी हुई रत्नमयी बड़ी शिलापर उत्तरकी ओर मुँहकर वेलाका नियम ले विराजमान हो गये। इस तरह मगसिर वदी दशमीके दिन जब कि निर्मल चन्द्रमा हस्त और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रके मध्यमें था, तब सन्ध्याके समय अतिशय धीर-वीर भगवान् महावीरने संयम धारण किया ॥३०२–३०४॥ भगवान्‌ने जो वस्त्र, आभरण तथा माला, आदि उतारकर फेंक दिये थे उन्हें इन्द्रने स्वयं उठा लिया सो ठीक ही है क्योंकि भगवान्‌का माहात्म्य ही ऐसा था ॥३०५॥ उस समय भगवान्‌के शरीरमें जो सुगन्धित अंगराग लगा हुआ था वह सोच रहा था कि मैं इन उत्तम भगवान्‌को कैसे छोड़ दूँ? ऐसा विचारकर ही वह मानो उनके शरीरमें स्थित रहकर शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥३०६॥ मलिन और कुटिल पदार्थ अज्ञानी जनोंके द्वारा पूज्य होते हैं परन्तु मुमुक्षु लोग उन्हें त्याज्य समझते हैं ऐसा जानकर ही मानो उन तरुण भगवान्‌ने मलिन और कुटिल (काले और घुँघराले) केश जड़से उखाड़कर दूर फेंक दिये

---

१ पितृ इति क्वचित् । २ तत्प्रभापटलान्विते क०, ग०, घ० । ३ चापास्त ल० । ४ माल्यादि-म० ।

सुराधीशः स्वहस्तेन तान्प्रतीक्ष्य महामणि-ज्वलत्पटलिकामध्ये विन्यस्याभ्यर्च्य मानितान् ॥३०८॥
विचित्रकरवस्त्रेण पिधाय विधृतान्सुरैः । स्वयं गत्वा समं क्षीरवारिराशौ न्यवेशयत् ॥३०९॥
तपोलक्ष्म्या निगूढोऽभूद् गाढं बाढममूढधीः । अभ्येत्य मोक्षलक्ष्मीष्टशम्फल्येव विदग्धया ॥३१०॥
अन्तर्ग्रन्थपरित्यागात्तस्य नैर्ग्रन्थ्यमात्मनो । भोगिनोऽप्यस्य निर्मोकत्यागवन्नावभासते ॥३११॥
चतुर्थोऽप्यवबोधोऽस्य संयमेन समर्पितः । तदैवान्त्यावबोधस्य सत्यंकार इवेशितुः ॥३१२॥
अप्रमत्तगुणस्थाने मुक्तिसाम्राज्यकण्ठिका । [1]तपस्तेन [2]सदालम्बि तत्कथं स्यात् प्रमादिनः ॥३१३॥
चतुर्थज्ञाननेत्रस्य निसर्गबलशालिनः । तस्याद्यमेव चारित्रं द्वितीयं तु प्रमादिनाम् ॥३१४॥
सिंहेनैव मया प्राप्तं वने मुनिमनाद् व्रतम् । मत्वेवेत्येकतां तत्र सैंहीं वृत्तिं समाप सः ॥३१५॥
अतीक्ष्णनखदंष्ट्रोऽयमक्रूरोऽरक्तकेसरः । शौर्यैकत्ववनस्थानैरन्वयान्मृगविद्विषम् ॥३१६॥
सुराः सर्वेऽपि नत्वैनमेतत्साहससंस्तवे । सक्ताः समगमन् स्वं स्वमोकः संतुष्टचेतसः ॥३१७॥
अथ भट्टारकोऽप्यस्मादगात् कायस्थितिं प्रति । कूलग्रामपुरीं[3] श्रीमान्[4] व्योमगामिपुरोपमम् ॥३१८॥
कूलनाम महीपालो दृष्ट्वा तं भक्तिभावितः । प्रियङ्गुकुसुमाङ्गाभस्त्रिःपरीत्य प्रदक्षिणम् ॥३१९॥
प्रणम्य पादयोर्मूर्ध्ना [5]निधिं वा गृहमागतम् । प्रतीक्ष्यार्घ्यादिभिः [6]पूज्यस्थाने सुस्थाप्य सुव्रतम् ॥३२०॥
गन्धादिभिर्विभूष्यैतत्पादोपान्तमहीतलम् । परमान्नं [7]विशुद्ध्यास्मै सोऽदितेष्टार्थसाधनम् ॥३२१॥

थे ॥३०७॥ इन्द्रने वे सब केश अपने हाथसे उठा लिये, मणियोंके देदीप्यमान पिटारेमें रखकर उनकी पूजा की, आदर-सत्कार किया, अनेक प्रकारकी किरण रूपी वस्त्रसे उन्हें लपेटकर रखा और फिर देवोंके साथ स्वयं जाकर उन्हें क्षीरसागरमें पधरा दिया ॥३०८-३०९॥ मोक्षलक्ष्मीकी इष्ट और चतुर दूतीके समान तपोलक्ष्मीने स्वयं आकर उनका आलिंगन किया था ॥३१०॥ अन्तरंग परिग्रहोंका त्याग कर देनेसे उनका निर्ग्रन्थपना अच्छी तरह सुशोभित हो रहा था सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार साँपका केवल काँचली छोड़ना शोभा नहीं देता उसी प्रकार केवल बाह्य परिग्रहका छोड़ना शोभा नहीं देता ॥३११॥ उसी समय संयमने उन भगवान्को केवलज्ञानके बयानेके समान चौथा मनःपर्ययज्ञान भी समर्पित किया था ॥३१२॥ अप्रमत्त-गुणस्थानमें जाकर उन भगवान्ने मोक्षरूपी साम्राज्यकी कण्ठी स्वरूप जो तपश्चरण प्राप्त किया था वह प्रमादी जीवको कहाँ सुलभ है ? ॥३१३॥ मनःपर्ययज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले और स्वाभाविक बलसे सुशोभित उन भगवान्के पहला सामायिक चरित्र ही था क्योंकि दूसरा छेदोपस्थापनाचरित्र प्रमादी जीवोंके ही होता है ॥३१४॥ मैंने पहले सिंह पर्यायमें ही वनमें मुनिराजके उपदेशसे व्रत धारण किये थे यही समझकर मानो उन्होंने सिंहके साथ एकताका ध्यान रखते हुए सिंहवृत्ति धारण की थी ॥३१५॥ यद्यपि उनके सिंहके समान तीक्ष्ण नख और तीक्ष्ण दाढ़ें नहीं थीं, वे सिंहके समान क्रूर नहीं थे और न सिंहके समान उनकी गरदनपर लाल बाल ही थे फिर भी शूरवीरता, अकेला रहना तथा वनमें ही निवास करना इन तीन विशेषताओंसे वे सिंहका अनुकरण करते थे ॥३१६॥ सब देव, उन भगवान्को नमस्कार कर तथा उनके साहसकी स्तुति करनेमें लीन हो सन्तुष्टचित्त होकर अपने-अपने स्थानको चले गये ॥३१७॥

अथानन्तर पारणाके दिन वे भट्टारक महावीर स्वामी आहारके लिए वनसे निकले और विद्याधरोंके नगरके समान सुशोभित कूलग्राम नामकी नगरीमें पहुँचे। वहाँ प्रियंगुके फूलके समान कान्तिवाले कूल नामके राजाने भक्ति-भावसे युक्त हो उनके दर्शन किये, तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, चरणोंमें सिर झुकाकर नमस्कार किया और घरपर आयी हुई निधिके समान माना। उत्तम व्रतोंको धारण करनेवाले उन भगवान्को उस राजाने श्रेष्ठ स्थानपर बैठाया, अर्घ आदिके द्वारा उनकी पूजा की, उनके चरणोंके समीपवर्ती भूतलको गन्ध आदिकसे विभूषित किया और उन्हें मन, वचन, कायकी शुद्धिके साथ इष्ट अर्थको सिद्ध करनेवाला परमान्न (खीरका आहार)

---

१ तपस्विना ल० । तपःस्थेन इत्यपि क्वचित् । २ सतालम्भि ल० । समालम्भि ख० । ३ पुरम् इति क्वचित् । ४ श्रीमद् ल० । ५ विधिना इति क्वचित् । ६ पूज्यं घ०, क० । ७ त्रिशुद्धया ल० ।

आनुषङ्गिकमेतत्ते फलं भावि महत्तरम् । इति वक्तुमिवाश्चर्यपञ्चकं तद्गृहेऽभवत् ॥३२२॥
पुण्यहेतुर्विनेयानां वीरो निर्गत्य तद्गृहात् । विहितेच्छो [1]विविक्तेषु विधातुं [2]विधिवत्तपः ॥३२३॥
विषयद्रुमसंकीर्णं करणाटविकोत्कटम्[3] । परीषहमहाघोरविश्वश्वापदसंकुलम् ॥३२४॥
कषायमत्तमातङ्गसंघातशतसंततम् । विवृतास्यान्तकानन्तकुम्भीनसविभीषणम् ॥३२५॥
चतुर्विधोपसर्गोग्रकण्ठीरवकठोरितम् । विघ्नौघतस्करारुद्धं त्यक्त्वा भववनं शनैः ॥३२६॥
तपोवनं सतां सेव्यमव्याहतसुखावहम् । महाजनसमाकीर्णं विस्तीर्णमनुपप्लुतम् ॥३२७॥
महाव्रतमहासामन्तान्वितः सुनयानुगः । दर्शनज्ञानचारित्र[4]व्यक्तशक्तित्रयोर्जितः ॥३२८॥
शीलायुधो गुणव्रातकवचः शुद्धमार्गगः । सद्भावनासहायः सन् प्रविश्य परमः पुमान् ॥३२९॥
[5]आवसंस्तत्र निःशङ्कं नानायोगान्प्रवर्तयन् । धर्म्यध्यानं विविक्तस्थो ध्यायन् दशविधं मुहुः ॥३३०॥
उज्जयिन्यामथान्येद्युस्तं श्मशानेऽतिमुक्तके । वर्धमानं महासत्त्वं प्रतिमायोगधारिणम् ॥३३१॥
निरीक्ष्य स्थाणुरेतस्य दौष्ट्याद्धैर्यं परीक्षितुम् । उत्कृत्य कृत्तिकास्तीक्ष्णाः प्रविष्टजठराण्यकम् ॥३३२॥
[6]व्यात्ताननानि भीष्माणि नृत्यन्ति विविधैर्लयैः । तर्जयन्ति स्फुरद्ध्वानैः साट्टहासैर्दुरीक्षणैः ॥३३३॥
स्थूलवेतालरूपाणि निशि कृत्वा समन्ततः । पुनरपि फणीन्द्रेभसिंहवह्न्यनिलैः समम् ॥३३४॥
किरातसैन्यरूपाणि पापैकार्जनपण्डितः[7] । विद्याप्रभावसंभावितोपसर्गैर्भयावहैः ॥३३५॥
स्वयं स्खलयितुं चेतः समाधेरसमर्थकः । स महतिमहावीराख्यां कृत्वा विविधाः स्तुतीः ॥३३६॥

समर्पण किया। यह तो तुम्हारे दानका आनुषंगिक फल है परन्तु इसका होनहार फल बहुत बड़ा है यही कहनेके लिए मानो उसके घर पंचाश्चर्योंकी वर्षा हुई ॥३१८-३२२॥ तदनन्तर शिष्योंका पुण्य बढ़ानेवाले वे भगवान् एकान्त स्थानोंमें विधिपूर्वक तप करनेकी इच्छासे उसके घरसे निकले ॥३२३॥ जो विषयरूपी वृक्षोंसे संकीर्ण है, इन्द्रियरूपी व्याधोंसे भरा हुआ है, परीषह रूपी महाभयंकर सब प्रकारके दुष्ट जीवोंसे सहित है, कषायरूपी मदोन्मत्त हाथियोंके सैकड़ों समूहसे व्याप्त है, मुँह फाड़े हुए यमराज रूपी अनन्त अजगरोंसे भयंकर है, चार प्रकारके उपसर्ग रूपी दुष्ट सिंहोंसे कठोर है, और विघ्नोंके समूह रूपी चोरोंसे घिरा हुआ है ऐसे संसार रूपी वनको धीरे-धीरे छोड़कर उन परम पुरुष भगवान्ने, जो सज्जनोंके द्वारा सेवन करने योग्य है, जिसमें अव्याबाध—बाधारहित सुख भरा हुआ है, जो उत्तम मनुष्योंसे व्याप्त है, विस्तीर्ण है और सब तरहके उपद्रवोंसे रहित है ऐसे तपोवनमें, महाव्रत रूपी महासामन्तों सहित, उत्तम नयोंकी अनुकूलता धारण कर, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूपी प्रकट हुई तीन शक्तियोंसे अत्यन्त बलवान्, शील रूपी आयुध लेकर, गुणोंके समूहका कवच पहनकर, शुद्धता रूपी मार्गसे चलकर और उत्तम भावनाओंकी सहायता लेकर प्रवेश किया ॥३२४-३२९॥ वहाँपर निःशंक रीतिसे रहकर उन्होंने अनेक योगोंकी प्रवृत्ति की और एकान्त स्थानमें स्थित होकर बार-बार दश प्रकारके धर्म्यध्यानका चिन्तवन किया ॥३३०॥

अथानन्तर—किसी एक दिन अतिशय धीर वीर वर्धमान भगवान् उज्जयिनीके अतिमुक्तक नामक श्मशानमें प्रतिमा योगसे विराजमान थे। उन्हें देखकर महादेव नामक रुद्रने अपनी दुष्टतासे उनके धैर्यकी परीक्षा करनी चाही। उसने रात्रिके समय ऐसे अनेक बड़े-बड़े वेतालोंका रूप बनाकर उपसर्ग किया कि जो तीक्ष्ण चमड़ा छीलकर एक दूसरेके उदरमें प्रवेश करना चाहते थे, खोले हुए मुँहोंसे अत्यन्त भयंकर दिखते थे, अनेक लयोंसे नाच रहे थे तथा कठोर शब्दों, अट्टहास और विकराल दृष्टिसे डरा रहे थे। इनके सिवाय उसने सर्प, हाथी, सिंह, अग्नि और वायुके साथ भीलोंकी सेना बनाकर उपसर्ग किया। इस प्रकार एक पापका ही अर्जन करनेमें निपुण उस रुद्रने, अपनी विद्याके प्रभावसे किये हुए अनेक भयंकर उपसर्गोंसे उन्हें समाधिसे विचलित करनेका प्रयत्न किया परन्तु वह उसमें समर्थ नहीं हो

---

१ विभक्तेषु क्वचित्। २ विविधं तपः क्वचित्। ३ करणाटविवोत्कटम् ल०। ४ व्यक्ति ल०। ५ भावयंस्तत्र क०, ख०, ग०, घ०, म०। ६ व्यात्ताननानि भीष्माणि क्वचित्। ७ पापोपार्जनपण्डितः क्वचित्।

उभया सममाख्याय नर्तित्वागाद्‌मत्सरः । पापिनोऽपि प्रतुष्यन्ति प्रस्पष्टं दृष्टसाहसाः ॥३३७॥
कदाचिच्चेटकाख्यस्य नृपतेश्चन्दनाभिधाम् । सुतां वीक्ष्य वनक्रीडासक्तां कामशरातुरः ॥३३८॥
कृतोपायो गृहीत्वैनां कश्चिद्‌गच्छन्नभश्चरः । पश्चाद्भीत्वा स्वभार्याया महाटव्यां व्यसर्जयत् ॥३३९॥
वनेचरपतिः कश्चित्तन्नालोक्य धनेच्छया । एनां वृषभदत्तस्य [1]वाणिजस्य समर्पयत् ॥३४०॥
तस्य भार्या सुभद्राख्या तया संपर्कमात्मनः । वणिजः [2]शङ्कमानासौ पुराणं [3]कोद्रवौदनम् ॥३४१॥
आरनालेन संमिश्रं शरावे निहितं सदा । दिशती शृङ्खलाबन्धभागिनीं तां व्यधाक्रुधा ॥३४२॥
परेद्युर्वत्सदेशस्य कौशाम्बीनगरान्तरम् । कायस्थित्यै विशन्तं तं महावीरं विलोक्य सा ॥३४३॥
प्रत्युद्व्रजन्ती विच्छिन्नशृङ्खलाकृतबन्धना । लोलालिकुलकीलोरुकेशभाराच्चलाच्चलात् ॥३४४॥
विगलन्मालतीमालादिव्याम्बरविभूषणा । नवप्रकारपुण्येशा भक्तिभावभरानता ॥३४५॥
शीलमाहात्म्यसंभूतपृथुहेमशराविका । शाल्यन्नभाववत्कोद्रवौदनं[4] विधिवत्सुधीः ॥३४६॥
अदमाश्चाणयत्तस्मै तेनाप्याश्चर्यपञ्चकम् । बन्धुभिश्च समायोगः कृतश्चन्दनया तदा ॥३४७॥
भगवान्वर्धमानोऽपि नीत्वा द्वादशवत्सरान् । छाद्मस्थ्येन जगद्बन्धुर्जृम्भिकग्रामसंनिधौ ॥३४८॥
ऋजुकूलानदीतीरे मनोहरवनान्तरे । महारत्नशिलापट्टे प्रतिमायोगमावसन् ॥३४९॥
स्थित्वा षष्ठोपवासेन [5]सोऽधस्तात्सालभूरुहः । वैशाखे मासि सज्योत्स्नदशम्यामपराह्णके ॥३५०॥
हस्तोत्तरान्तरं याते शशिन्यारूढशुद्धिकः । क्षपकश्रेणिमारुह्य शुक्लध्यानेन सुस्थितः ॥३५१॥

सका। अन्तमें उसने भगवान्‌के महति और महावीर ऐसे दो नाम रखकर अनेक प्रकारकी स्तुति की, पार्वतीके साथ नृत्य किया और सब मात्सर्यभाव छोड़कर वह वहाँसे चला गया। सो ठीक ही है क्योंकि साहसको स्पष्ट रूपसे देखनेवाले पापी जीव भी सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥३३१-३३७॥

अथानन्तर—किसी एक दिन राजा चेटककी चन्दना नामकी पुत्री वनक्रीड़ामें आसक्त थी, उसे देख कोई विद्याधर कामबाणसे पीडित हुआ और उसे किसी उपायसे लेकर चलता बना। पीछे अपनी स्त्रीसे डरकर उसने उस कन्याको महाटवीमें छोड़ दिया ॥३३८-३३९॥ वहाँ किसी भीलने देखकर उसको धनकी इच्छासे वृषभदत्त सेठको दी ॥३४०॥ उस सेठकी स्त्रीका नाम सुभद्रा था उसे शंका हो गयी कि कहीं अपने सेठका इसके साथ सम्बन्ध न हो जाये। इस शंकासे वह चन्दनाको खानेके लिए मिट्टीके शकोरामें कांजीसे मिला हुआ कोदोंका भात दिया करती थी और क्रोधवश उसे सदा साँकलसे बाँधे रहती थी ॥३४१-३४२॥ किसी दूसरे दिन वत्स देशकी उसी कौशाम्बी नगरीमें आहारके लिए भगवान् महावीर स्वामी गये। उन्हें नगरीके भीतर प्रवेश करते देख चन्दना उनके सामने जाने लगी। उसी समय उसके साँकलके सब बन्धन टूट गये, चंचल भ्रमर-समूहके समान काले उसके बड़े-बड़े केश चंचल हो उठे और उनसे मालतीकी माला टूटकर नीचे गिरने लगी, उसके वस्त्र आभूषण सुन्दर हो गये, वह नव प्रकारके पुण्यकी स्वामिनी बन गयी, भक्तिभावके भारसे झुक गयी, शीलके माहात्म्यसे उसका मिट्टीका शकोरा सुवर्णपात्र बन गया और कोदोंका भात शाली चावलोंका भात हो गया। उस बुद्धिमतीने विधिपूर्वक पड़गाहकर भगवान्‌को आहार दिया इसलिए उसके यहाँ पंचाश्चर्योंकी वर्षा हुई और भाई-बन्धुओंके साथ उसका समागम हो गया ॥३४३-३४७॥

इधर जगद्‌बन्धु भगवान् वर्धमानने भी छद्मस्थ अवस्थाके बारह वर्ष व्यतीत किये। किसी एक दिन वे जृम्भिक ग्रामके समीप ऋजुकूला नदीके किनारे मनोहर नामक वनके मध्यमें रत्नमयी एक बड़ी शिलापर सालवृक्षके नीचे वेलाका नियम लेकर प्रतिमा योगसे विराजमान हुए। वैशाख शुक्ला दशमीके दिन अपराह्न कालमें हस्त और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रके बीचमें चन्द्रमाके आ जानेपर परिणामोंकी विशुद्धताको बढ़ाते हुए वे क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ हुए।

---

१ वणिजोऽपत्यं पुमान् वाणिजः तस्य। २ शङ्कमानोऽसौ ल०। ३ कोद्रवोदनम् ल०। ४ कोद्रवोदनं क०, ख०, ग०, घ०, म०। ५ सोऽधःस्यात् ल०।

घातिकर्माणि निर्मूल्य प्राप्यानन्तचतुष्टयम् । चतुस्त्रिंशदतीशेषव्याभासिमहिमालयः ॥३५२॥
सयोगभावपर्यन्ते स्वपरार्थप्रसाधकः । परमौदारिकं देहं बिभ्रदभ्राङ्गणे बभौ ॥३५३॥
चतुर्विधामरैः सार्धं सौधर्मेन्द्रस्तदागमत् । तुर्यकल्याणसत्पूजाविधिं सर्वं समानयत् ॥३५४॥
अपापप्राप्तितस्त्रिज्यास्थायिकातिशयोर्जितः । [1]परमात्मपदं [2]प्रापत्परमेष्ठी स सन्मतिः ॥३५५॥
अथ दिव्यध्वनेर्हेतुः को [3]भावीत्युपयोगवान् । तूर्णमवज्ञाननेत्रेण ज्ञात्वा मां परितुष्टवान् ॥३५६॥
सदैवागत्य मद्ग्रामं गौतमाख्यं शचीपतिः । तत्र गौतमगोत्रोऽहमिन्द्रभूतिं द्विजोत्तमम् ॥३५७॥
महाभिमानमादित्यविमानादेत्य [4]भास्वरम् । शेषैः पुण्यैः समुत्पन्नं वेदवेदाङ्गवेदिनम् ॥३५८॥
दृष्ट्वा केनाप्युपायेन समानीयान्तिकं विभोः । स्वपिपृच्छिषितं जीवभावं पृच्छेत्यचोदयत् ॥३५९॥
अस्ति किं नास्ति वा जीवस्तत्स्वरूपं निरूप्यताम् । इत्यप्राक्षमतो मह्यं भगवान्भव्यवत्सलः ॥३६०॥
अस्ति जीवः स चोपात्तदेहमात्रः सदादिभिः । किमादिभिश्च निर्देश्यो नोत्पन्नो न विनङ्क्ष्यति ॥३६१॥
द्रव्यरूपेण पर्यायैः परिणामी प्रतिक्षणम् । चैतन्यलक्षणः कर्ता भोक्ता सर्वैकदेशवित् ॥३६२॥
संसारी निर्वृतश्चेति द्वैविध्येन निरूपितः । अनादिरस्य संसारः सादिर्निर्वाणमिष्यते ॥३६३॥
न निर्वृतस्य संसारो नित्या कस्यापि संसृतिः । अनन्ताः संसृतौ मुक्तास्तदनन्ताः [5]सुरक्षिताः ॥३६४॥
सति व्ययेऽपि बन्धानां हानिरेव न हि क्षयः । आनन्त्यमेव तद्धेतुः शर्काणामिव वस्तुनः ॥३६५॥

उसी समय उन्होंने शुक्लध्यानके द्वारा चारों घातिया कर्मोंको नष्ट कर अनन्तचतुष्टय प्राप्त किये और चौंतीस अतिशयोंसे सुशोभित होकर वे महिमाके घर हो गये ॥३५८-३५२॥ अब वे सयोगकेवली गुणस्थानके धारक हो गये, निज और परका प्रयोजन सिद्ध करने लगे, तथा परमौदारिक शरीरको धारण करते हुए आकाशरूपी आँगनमें सुशोभित होने लगे ॥३५३॥ उसी समय सौधर्म स्वर्गका इन्द्र चारों प्रकारके देवोंके साथ आया और उसने ज्ञानकल्याणक सम्बन्धी पूजाकी समस्त विधि पूर्ण की ॥३५४॥ पुण्यरूप परमौदारिक शरीरकी पूजा तथा समवसरणकी रचना होना आदि अतिशयोंसे सम्पन्न श्रीवर्धमान स्वामी परमेष्ठी कहलाने लगे और परमात्मा पदको प्राप्त हो गये ॥३५५॥ तदनन्तर इन्द्रने भगवान्की दिव्यध्वनिका कारण क्या होना चाहिए इस बातका विचार किया और अवधिज्ञानसे मुझे उसका कारण जानकर वह बहुत ही सन्तुष्ट हुआ ॥३५६॥ वह उसी समय मेरे गाँवमें आया। मैं वहाँपर गोतमगोत्रीय इन्द्रभूति नामका उत्तम ब्राह्मण था, महाभिमानी था, आदित्य नामक विमानसे आकर शेष बचे हुए पुण्यके द्वारा वहाँ उत्पन्न हुआ था, मेरा शरीर अतिशय देदीप्यमान था, और मैं वेद-वेदांगका जाननेवाला था ॥३५७-३५८॥ मुझे देखकर वह इन्द्र किसी उपायसे भगवान्के समीप ले आया और प्रेरणा करने लगा कि तुम जीवतत्त्वके विषयमें जो कुछ पूछना चाहते थे पूछ लो ॥३५९॥ इन्द्रकी बात सुनकर मैंने भगवान्से पूछा कि हे भगवन्! जीव नामक कोई पदार्थ है या नहीं? उसका स्वरूप कहिए। इसके उत्तरमें भव्यवत्सल भगवान् कहने लगे कि जीव नामक पदार्थ है और वह ग्रहण किये हुए शरीरके प्रमाण है, सत्संख्या आदि सदादिक और निर्देश आदि किमादिकसे उसका स्वरूप कहा जाता है। वह द्रव्य रूपसे न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट होगा किन्तु पर्याय रूपसे प्रतिक्षण परिणमन करता है। चेतना उसका लक्षण है, वह कर्ता है, भोक्ता है और पदार्थोंके एकदेश तथा सर्वदेशका जानकार है ॥३६०-३६२॥ संसारी और मुक्तके भेदसे वह दो प्रकारका निरूपण किया जाता है। इसका संसार अनादिकालसे चला आ रहा है और मोक्ष सादि माना जाता है ॥३६३॥ जो जीव मोक्ष चला जाता है उसका फिर संसार नहीं होता अर्थात् वह लौटकर संसारमें नहीं आता। किसी-किसी जीवका संसार नित्य होता है अर्थात् वह अभव्य या दूराद्दूर भव्य होनेके कारण सदा संसारमें रहता है। इस संसारमें अनन्त जीव मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं और अनन्त जीव ही अभी बाकी हैं। कर्मबन्धनमें बँधे हुए जीवोंमें-से मुक्त हो जानेपर हानि अवश्य होती

---

१ परमात्म-इति क्वचित् । २ प्राप म०, ल० । ३ कोऽसावीत्युप-ल० । ४-दित्यभासुरं ल० । ५ सलक्षिता क०, ख०, ग०, घ०, म० ।

इति जीवस्य याथात्म्यं युक्त्या व्यक्तं व्यरेदयत् । द्रव्यहेतुं विधायास्य वचः कालादिसाधनः ॥३६६॥
विनेयोऽहं कृतश्राद्धो जीवतत्त्वविनिश्चये । सौधर्मपूजितः पञ्चशतब्राह्मणसूनुभिः ॥३६७॥
श्रीवर्धमानमानम्य संयमं प्रतिपन्नवान् । तदैव मे समुत्पन्नाः परिणामविशेषतः ॥३६८॥
ऋद्धयः सप्तसर्वाङ्गानामप्यर्थपदान्यतः । भट्टारकोपदेशेन श्रावणे बहुले तिथौ ॥३६९॥
पक्षाद्यावयवरूपेण सद्यः पर्यगमन् स्फुटम् । पूर्वाह्णे पश्चिमे भागे पूर्वाणामप्यनुक्रमात् ॥३७०॥
इत्यनुज्ञातसर्वाङ्गपूर्वार्थो धीचतुष्कवान् । अङ्गानां ग्रन्थसंदर्भं पूर्वरात्रौ व्यधामहम् ॥३७१॥
पूर्वाणां पश्चिमे भागे ग्रन्थकर्ता ततोऽभवम् । इति श्रुतर्द्धिभिः पूर्णोऽभूवं गणभृदादिमः ॥३७२॥
ततः परं जिनेन्द्रस्य वायुभूत्यग्निभूतिकौ । सुधर्ममौर्यौ मौन्द्राख्यः पुत्रमैत्रेयसंज्ञकौ ॥३७३॥
अकम्पनोऽन्धवेलाख्यः[1] प्रभासश्च मया सह । एकादशेन्द्रसंपूज्याः सन्मतेर्गणनायकाः ॥३७४॥
शतानि त्रीणि पूर्वाणां [2]धारिणः शिक्षकाः परं । शून्यद्वितयरन्ध्रादिरन्ध्रोक्ताः सत्यसंयमाः ॥३७५॥
सहस्रमेकं त्रिज्ञानलोचनास्त्रिशताधिकम् । पञ्चमावगमाः सप्तशतानि परमेष्ठिनः ॥३७६॥
शतानि नवविज्ञेया विक्रियर्द्धिविवर्द्धिताः । शतानि पञ्च संपूज्याश्चतुर्थज्ञानलोचनाः ॥३७७॥
चतुःशतानि संप्रोक्तास्तत्रानुत्तरवादिनः । चतुर्दशसहस्राणि पिण्डिताः स्युर्मुनीश्वराः ॥३७८॥
चन्दनाद्यार्यिकाः शून्यत्रयषड्वह्निसंमिताः । श्रावका लक्षमेकं तु त्रिगुणाः श्राविकास्ततः ॥३७९॥
देवा देव्योऽप्यसंख्यातास्तिर्यञ्चः कृतसंख्यकाः । गणैर्द्वादशभिः प्रोक्तैः परीतेन जिनेशिना ॥३८०॥
सिंहविष्टरमध्यस्थेनार्धमागधभाषया । षड्द्रव्याणि पदार्थांश्च सप्तसंसृतिमोक्षयोः ॥३८१॥

है परन्तु उनका क्षय नहीं होता और उसका कारण जीवोंका अनन्तपना ही है। जिस प्रकार पदार्थमें अनन्त शक्तियाँ रहती हैं अतः उनका कभी अन्त नहीं होता इसी प्रकार संसारमें अनन्त जीव रहते हैं अतः उनका कभी अन्त नहीं होता ॥३६४-३६५॥ इस प्रकार भगवान्‌ने युक्तिपूर्वक जीव तत्त्वका स्पष्ट स्वरूप कहा। भगवान्‌के वचनको द्रव्यहेतु मानकर तथा काललब्धि आदिको कारण सामग्री मिलनेपर मुझे जीवतत्त्वका निश्चय हो गया और मैं उसकी श्रद्धा कर भगवान्‌का शिष्य बन गया। तदनन्तर सौधर्मेन्द्रने मेरी पूजा की और मैंने पाँच सौ ब्राह्मणपुत्रोंके साथ श्रीवर्धमान स्वामीको नमस्कार कर संयम धारण कर लिया। परिणामोंकी विशेष शुद्धि होनेसे मुझे उसी समय सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गयीं। तदनन्तर भट्टारक वर्धमान स्वामीके उपदेशसे मुझे श्रावण वदी प्रतिपदाके दिन पूर्वाह्न कालमें समस्त अंगोंके अर्थ और पद स्पष्ट जान पड़े। इसी तरह उसी दिन अपराह्न कालमें अनुक्रमसे पूर्वोंके अर्थ तथा पदोंका भी स्पष्ट बोध हो गया॥ ३६६-३७०॥ इस प्रकार जिसे समस्त अंगों तथा पूर्वोंका ज्ञान हुआ है और जो चार ज्ञानसे सम्पन्न है ऐसे मैंने रात्रिके पूर्व भागमें अंगोंकी और पिछले भागमें पूर्वोंकी ग्रन्थ-रचना की। उसी समयसे मैं ग्रन्थकर्ता हुआ। इस तरह श्रुतज्ञान रूपी ऋद्धिसे पूर्ण हुआ मैं भगवान् महावीर स्वामीका प्रथम गणधर हो गया ॥३७१-३७२॥ इसके बाद वायुभूति, अग्निभूति, सुधर्म, मौर्य, मौन्द्रय, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अन्धवेला तथा प्रभास ये गणधर और हुए। इस प्रकार मुझे मिलाकर श्रीवर्धमान स्वामीके इन्द्रों-द्वारा पूजनीय ग्यारह गणधर हुए ॥३७३-३७४॥ इनके सिवाय तीन सौ ग्यारह अंग और चौदह पूर्वोंके धारक थे, नौ हजार नौ सौ यथार्थ संयमको धारण करनेवाले शिक्षक थे, एक हजार तीन सौ अवधिज्ञानी थे, सात सौ केवलज्ञानी परमेष्ठी थे, नौ सौ विक्रियाऋद्धिके धारक थे, पाँच सौ पूजनीय मनःपर्ययज्ञानी थे और चार सौ अनुत्तरवादी थे इस प्रकार सब मुनीश्वरोंकी संख्या चौदह हजार थी ॥ ३७५-३७८॥ चन्दनाको आदि लेकर छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ थीं, और संख्यात तिर्यंच थे। इस प्रकार ऊपर कहे हुए बारह गणोंसे परिवृत भगवान्‌ने सिंहासनके मध्यमें स्थित हो अर्धमागधी भाषाके द्वारा छह द्रव्य, सात तत्त्व, संसार और मोक्षके

1 अकम्पनोऽन्धवेलाख्यः इति क्वचित्। 2 धारकाः म०, ल०।

[1]प्रत्ययस्तत्फलं चैतत्सर्वमेव प्रपञ्चतः । प्रमाणनयनिक्षेपाद्युपायैः सुनिरूपितम् ॥३८२॥
[2]औत्पत्तिक्यादिधीयुक्ताः श्रुतवन्तः सभासदः । केचित्संयममापन्नाः संयमासंयमं परे ॥३८३॥
सम्यक्त्वमपरे भव्याः स्वभव्यत्वविशेषतः । एवं श्रीवर्धमानेशो विदधद्धर्मदेशनाम् ॥३८४॥
क्रमाद्राजगृहं प्राप्य तस्थिवान् विपुलाचले । श्रुत्वैतदागमं सद्यो मगधेशत्वमागतः ॥३८५॥
इति सर्वं समाकर्ण्य प्रतुष्टः प्रणतो मुहुः । जातसंवेगनिर्वेदः स्वपूर्वभवसंततिम् ॥३८६॥
अन्वयुङ्क्त गणाधीशं सोऽपीति प्रत्यबूबुधत् । त्रिषष्टिलक्षणं पूर्वं पुराणं पृष्टमादितः ॥३८७॥
निर्दिष्टं च मया स्पष्टं श्रुतं च भवता स्फुटम् । शृणु चित्तं समाधाय श्रेणिक श्रावकोत्तम[3] ॥३८८॥
वृत्तकं तव वक्ष्यामो भवत्रयनिबन्धनम् । इह जम्बूमति द्वीपे विन्ध्याद्रौ [4]कुटजाह्वये ॥३८९॥
वने खदिरसाराख्यः किरातः सोऽन्यदा मुनिम् । समाधिगुप्तनामानं समीक्ष्य न्यनमन्मुदा ॥३९०॥
धर्मलाभोऽस्तु तेऽद्येति चाकृताशासनं मुनिः । [5]स धर्मो नाम किंरूपस्तेन किं कृत्यमङ्गिनाम् ॥३९१॥
किरातेनेति संपृष्टः सोऽपीति प्रत्यभाषत । निवृत्तिर्मधुमांसादिसेवायाः पापहेतुतः ॥३९२॥
स धर्मस्तस्य लाभो यो धर्मलाभः स उच्यते । तेन कृत्यं परं पुण्यं पुण्यात्स्वर्गे सुखं परम् ॥३९३॥
श्रुत्वा तन्नाहमस्य स्यामित्युवाच वनेचरः । [6]तदाकूतं वितर्क्याह मुनिः किं काकमांसकम् ॥३९४॥
भव्य भक्षितपूर्वं ते न वेत्ति सुधियां वरः । तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याख्यत्तत्कदापि न भक्षितम् ॥३९५॥
भवेत्येवं यदि त्याज्यं तत्त्वयेत्यब्रवीन्मुनिः । सोऽपि तद्वाक्यमाकर्ण्य प्रतुष्टो दीयतां व्रतम् ॥३९६॥
तदित्यादाय वन्दित्वा गतस्तस्य कदाचन । व्याधावसाध्ये संभूते काकमांसस्य भक्षणात् ॥३९७॥

कारण तथा उनके फलका प्रमाण नय और निक्षेप आदि उपायोंके द्वारा विस्तारपूर्वक निरूपण किया। भगवान्का उपदेश सुनकर स्वाभाविक बुद्धिवाले कितने ही शास्त्रज्ञ सभासदोंने संयम धारण किया, कितनों हीने संयमासंयम धारण किया, और कितनोंने अपने भव्यत्व गुणकी विशेषतासे शीघ्र ही सम्यग्दर्शन धारण किया। इस प्रकार श्रीवर्धमान स्वामी धर्मदेशना करते हुए अनुक्रमसे राजगृह नगर आये और वहाँ विपुलाचल नामक पर्वतपर स्थित हो गये। हे मगधेश! जब तुमने भगवान्के आगमनका समाचार सुना तब तुम शीघ्र ही यहाँ आये ॥३७९-३८५॥ यह सब सुनकर राजा श्रेणिक बहुत ही सन्तुष्ट हुआ, उसने बार-बार उन्हें प्रणाम किया, तथा संवेग और निर्वेदसे युक्त होकर अपने पूर्वभव पूछे। उसके उत्तरमें गणधर स्वामी भी समझाने लगे कि तूने पहले तिरसठशलाका पुरुषोंका पुराण पूछा था सो मैंने स्पष्ट रूपसे तुझे कहा है और तूने उसे स्पष्टरूपसे सुना भी है। हे श्रावकोत्तम श्रेणिक! अब मैं तेरे तीन भवका चरित कहता हूँ सो तू चित्तको स्थिर कर सुन। इसी जम्बूद्वीपके विन्ध्याचल पर्वतपर एक कुटज नामक वन है उसमें किसी समय खदिरसार नामका भील रहता था। एक दिन उसने समाधिगुप्त नामके मुनिराजके दर्शन कर उन्हें बड़ी प्रसन्नतासे नमस्कार किया ॥३८६-३९०॥ इसके उत्तरमें मुनिराजने 'आज तुझे धर्म लाभ हो' ऐसा आशीर्वाद दिया। तब उस भीलने पूछा कि हे प्रभो! धर्म क्या है? और उससे लाभ क्या है? भीलके ऐसा पूछनेपर मुनिराज कहने लगे कि मधु, मांस आदिका सेवन करना पापका कारण है अतः उससे विरक्त होना धर्म लाभ कहलाता है। उस धर्मकी प्राप्ति होना धर्मलाभ कहलाता है। उस धर्मसे पुण्य होता है और पुण्यसे स्वर्गमें परम सुखकी प्राप्ति होती है ॥३९१-३९३॥ यह सुनकर भील कहने लगा कि मैं ऐसे धर्मका अधिकारी नहीं हो सकता। मुनिराज उसका अभिप्राय समझकर कहने लगे कि, हे भव्य! क्या तूने कभी पहले कौआका मांस खाया है? बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भील, मुनिराजके वचन सुनकर और विचारकर कहने लगा कि मैंने वह तो कभी नहीं खाया है। इसके उत्तरमें मुनिराजने कहा कि यदि ऐसा है तो उसे छोड़ देना चाहिए। मुनिराजके वचन सुनकर उसने बहुत ही सन्तुष्ट होकर कहा कि हे प्रभो! यह व्रत मुझे दिया जाय ॥३९४-३९६॥ तदनन्तर

१ प्रत्ययः ल० । २ उत्पत्तिकादि ल० । ३ श्रावकोत्तमः ल० । ४ कुटजाह्वये ल० । ५ किरातः कीदृशो धर्मस् ल० । ६ तदा कुल-ल० ।

शान्तिरस्येति निर्दिष्टं भिषग्भिः स वनेचरः । प्रयान्त्वमी मम प्राणाः किं कृत्यमिव तैश्चलैः ॥३९८॥
व्रतं तपोवनाभ्याशे गृहीतं धर्ममिच्छता । कृतसंकल्पभङ्गस्य कुतस्तत्पुरुषव्रतम् ॥३९९॥
पापेनानेन मांसेन नाद्य प्राणिणिषाम्यहम् । इति नैच्छत्तदुक्तं तच्छ्रुत्वा तन्मैथुनः पुरात् ॥४००॥
सारसौख्यात्समागच्छन् शूरवीराभिधानकः । महागहनमध्यस्थन्यग्रोधपृथिवीरुहः ॥४०१॥
अधस्ताद्योषितं कांचिद्रुदतीमभिवीक्ष्य सः । रोदिषीत्थं कुतो ब्रूहीत्यप्राक्षीत् साप्युवाच तम् ॥४०२॥
शृणु चित्तं समाधाय वनयक्षी वसाम्यहम् । वने खदिरसारस्ते मैथुनो व्याधिपीडितः ॥४०३॥
काकमांसनिवृत्त्यासौ पतिर्मम भविष्यति । गच्छंस्त्वं तं परित्यक्तमांसं भोजयितुं पुनः ॥४०४॥
नरके घोरदुःखानां भाजनं कर्तुमिच्छसि । ततो मे रोदनं तस्मात्त्यज भद्र तवाग्रहम् ॥४०५॥
इति तद्देवताप्रोक्तमथवाक्याटवीपतिः[1] । संप्राप्यातुरमालोक्य भिषक्कथितमौषधम् ॥४०६॥
त्वया मत्प्रीतिनोदार्थमुपयोक्तव्यमित्यसौ । अगाद् सोऽपि तद्वाक्यमनिच्छन्नेवमब्रवीत् ॥४०७॥
त्वं मे प्राणसमो बन्धुर्मां जिजीवयिषुः स्निहा । ब्रवीष्येवं हितं नैवं जीवितं व्रतभञ्जनात् ॥४०८॥
दुर्गतिप्राप्तिहेतुत्वादिति तद्व्रतनिश्चितम् । ज्ञात्वा यक्षीप्रपञ्चं तं शूरवीरोऽप्यबोधयत् ॥४०९॥
तद्वृत्तान्तं विचार्यासौ श्रावकव्रतपञ्चकम् । समादायाखिलं जीवितान्ते सौधर्मकल्पजः ॥४१०॥
देवोऽभवदनिर्देश्यः शूरवीरोऽपि दुःखितः । परलोकक्रियां कृत्वा स्वावासं समुपव्रजन् ॥४११॥
वटद्रुमसमीपस्थो यक्षि किं मे स मैथुनः । पतिस्तवाभवत्तेति यक्षीमाहावदच्च सा ॥४१२॥
समस्तव्रतसंपन्नो व्यन्तरत्वपराङ्मुखः । अभूत्सौधर्मकल्पेऽसौ पतिर्मम कथं भवेत् ॥४१३॥

वह भील व्रत लेकर चला गया। किसी एक समय उस भीलको असाध्य बीमारी हुई तब वैद्योंने बतलाया कि कौआका मांस खानेसे यह बीमारी शान्त हो सकती है। इसके उत्तरमें भीलने दृढ़ताके साथ उत्तर दिया कि मेरे ये प्राण भले ही चले जावें? मुझे इन चंचल प्राणोंसे क्या प्रयोजन है, मैंने धर्मकी इच्छासे तपस्वी-मुनिराजके समीप व्रत ग्रहण किया है। जो गृहीत व्रतका भंग कर देता है उससे पुरुष व्रत कैसे हो सकता है? मैं इस पापरूप मांसके द्वारा आज जीवित नहीं रहना चाहता। इस प्रकार कहकर उसने कौआका मांस खाना स्वीकृत नहीं किया। यह सुनकर उसका साला शूरवीर जो कि सारसौख्य नामक नगरसे आया था कहने लगा कि जब मैं यहाँ आ रहा था तब मैंने सघन वनके मध्यमें स्थित वट वृक्षके नीचे किसी स्त्रीको रोती हुई देखा। उसे रोती देख, मैंने पूछा कि तू क्यों रो रही है? इसके उत्तरमें वह कहने लगी कि तू चित्त लगाकर सुन। मैं वनकी यक्षी हूँ और इसी वनमें रहती हूँ। तेरा बहनोई खदिरसार रोगसे पीड़ित है और कौआका मांस त्याग करनेसे वह मेरा पति होगा! पर अब तू उसे त्याग किया हुआ मांस खिलानेके लिए जा रहा है और उसे नरक गतिके भयंकर दुःखोंका पात्र बनाना चाहता है। मैं इसीलिए रो रही हूँ। हे भद्र! अब तू अपना आग्रह छोड़ दे ॥३९७-४०५॥ इस प्रकार देवीके वचन सुनकर शूरवीर, बीमार-खदिरसारके पास पहुँचा और उसे देखकर कहने लगा कि वैद्यने जो औषधि बतलायी है वह और नहीं तो मेरी प्रसन्नताके लिए ही तुझे खाना चाहिए। खदिरसार उसकी बात अस्वीकृत करता हुआ कहने लगा कि तू प्राणोंके समान मेरा भाई है। स्नेह वश मुझे जीवित रखनेके लिए ही ऐसा कर रहा है परन्तु व्रत भंगकर जीवित रहना हितकारी नहीं है क्योंकि व्रत भंग करना दुर्गतिकी प्राप्तिका कारण है। जब शूरवीरको निश्चय हो गया कि वह अपने व्रतमें दृढ़ है तब उसने उसे यक्षीका वृत्तान्त बतलाया ॥४०६-४०९॥ यक्षीके वृत्तान्तका विचार कर खदिरसारने श्रावकके पाँचों व्रत धारण कर लिये जिससे आयु समाप्त होनेपर वह सौधर्मस्वर्गमें अनुपम देव हुआ। इधर शूरवीर भी बहुत दुःखी हुआ और पारलौकिक क्रिया करके अपने घरकी ओर चला। मार्गमें वह उसी वटवृक्षके समीप खड़ा होकर उस यक्षीसे कहने लगा कि हे यक्षि! क्या हमारा वह बहनोई तेरा पति हुआ है? इसके उत्तरमें यक्षीने कहा कि नहीं, वह समस्त व्रतोंसे

---

१ कर्णाटवीं प्रति ल०।

प्रकृष्टदिव्यभोगानां भोक्तेति वननायकः। तस्वार्थं तद्वचो ध्यायन्नहो माहात्म्यमीदृशम् ॥४१४॥
व्रतस्याभीप्सितं सौख्यं प्रापयेदिति भावयन्। समाधिगुप्तमभ्येत्य श्रावकव्रतमग्रहीत् ॥४१५॥
भव्योऽयमिति तं मत्वा यक्षी तत्पक्षपाततः। उपायेनानयज्जैनं धर्मं सा हि हितैषिता ॥४१६॥
स्वर्गात्खदिरसारोऽपि द्विसागरमितायुषा। दिव्यं भोगोपभोगांस्ते निदानात्प्रच्युतस्ततः ॥४१७॥
सूनुः कुणिकभूपस्य श्रीमत्यां त्वमभूरसौ। अथान्यदा पिता तेऽसौ[1] मत्पुत्रेषु भवेत्पतिः ॥४१८॥
राज्यस्य कतमोऽत्रेति निमित्तैः सकलैरपि। सम्यक्परीक्ष्य संतुष्टो निसर्गात्स्नेहितस्त्वयि ॥४१९॥
राज्यस्यार्होऽयमेवेति निश्चित्यापायशङ्कया। दायादेभ्यः परित्रातुं त्वां सुधीः कृत्रिमक्रुधा ॥४२०॥
निराकरोत्पुरात्तस्माद्देशान्तरमभीयुषः। [2]अप्रकाशनृपादेशभयात्ताः सकलाः प्रजाः ॥४२१॥
नन्दिग्रामनिवासिन्यः प्रत्युत्थानपुरस्सरम्। स्नानभोजनशय्यादिक्रियावैमुख्यमागमन् ॥४२२॥
ततस्त्वमपि केनापि ब्राह्मणेन समं व्रजन्। देवताजातिपाष[3]ण्डिमोहप्रतिविधायिनीः ॥४२३॥
कथाः प्रकथयन्प्रीत्या तदीयस्थानमापिवान्। त्वद्वाग्मित्वयुवत्वादिगुणरक्तमतिर्द्विजः ॥४२४॥
वितीर्णवान् सुतां तुभ्यं निजामापूर्णयौवनाम्। तत्पाणिग्रहणं कृत्वा चिरं [4]तत्रावसः [5]सुखम् ॥४२५॥
कदाचित्केनचिद्धेतुनायं राज्यं परित्यजन्। भवन्तं ब्राह्मणग्रामादानीय कुणिकक्षितीट् ॥४२६॥
स्वं राज्यं दत्तवांस्तुभ्यं त्वं च तत्प्रतिपालयन्। अनभिव्यक्तकोपः सन् पूर्वाविशानसंस्मृते. ॥४२७॥
विधित्सुर्निग्रहं सूग्रं नन्दिग्रामनिवासिनाम्। आदिष्टवान् करं तेषां निर्वोढुमतिदुष्करम् ॥४२८॥

सम्पन्न हो गया था अतः व्यन्तर योनिसे पराङ्मुख होकर सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ है वह मेरा पति कैसे हो सकता था ॥४१०-४१३॥ वह तो स्वर्गके श्रेष्ठ भोगोंका भोक्ता हुआ है। इस प्रकार वनका स्वामी शूरवीर. यक्षीके यथार्थ वचनोंपर विचार करता हुआ कहने लगा कि अहो! व्रतका ऐसा माहात्म्य है? अवश्य ही वह इच्छित सुखको प्राप्त कराता है। ऐसा विचारकर उसने समाधिगुप्त मुनिराजके समीप जाकर श्रावकके व्रत धारण कर लिये ॥४१४-४१५॥ इस प्रकार उस यक्षीने उसे भव्य समझकर उसके पक्षपातसे इस उपायके द्वारा उसे जैनधर्म धारण कराया सो ठीक ही है क्योंकि हितैषिता—पर हितकी चाह रखना, यही है ॥४१६॥ उधर खदिरसारका जीव भी दो सागर तक दिव्य भोगोंका उपभोग कर स्वर्गसे च्युत हुआ और यहाँ राजा कुणिककी श्रीमती रानीसे तू श्रेणिक नामका पुत्र हुआ है। अथानन्तर किसी दिन तेरे पिताने यह जानना चाहा कि मेरे इन पुत्रोंमें राज्यका स्वामी कौन होगा? उसने निमित्त-ज्ञानियोंके द्वारा बताये हुए समस्त निमित्तोंसे तेरी अच्छी तरह परीक्षा की और वह इस बात-का निश्चय कर बहुत ही सन्तुष्ट हुआ कि राज्यका स्वामी तू ही है। तुझपर वह स्वभावसे ही स्नेह करता था अतः राज्यका अधिकारी घोषित होनेके कारण तुझपर कोई संकट न आ पड़े इस भयसे दायादोंसे तेरी रक्षा करनेके लिए उस बुद्धिमान्ने तुझे बनावटी क्रोधसे उस नगरसे निकाल दिया। तू दूसरे देशको जानेकी इच्छासे नन्दिग्राममें पहुँचा। राजाकी प्रकट आज्ञाके भयसे नन्दिग्राममें रहनेवाली समस्त प्रजा तुझे देखकर न उठी और न उसने स्नान, भोजन, शयन आदि कार्योंकी व्यवस्था ही की, वह इन सबसे विमुख रही ॥४१७-४२२॥

तदनन्तर तू भी किसी ब्राह्मणके साथ आगे चला और देवमूढ़ता, जातिमूढ़ता तथा पाषण्डिमूढ़ताका खण्डन करनेवाली कथाओंको कहता हुआ बड़े प्रेमसे उसके स्थानपर पहुँचा। तेरे वचनकौशल और यौवन आदि गुणोंसे अनुरंजित होकर उस ब्राह्मणने तेरे लिए यौवन-वती पुत्री दे दी और तू उसके साथ विवाह कर वहाँ चिरकाल तक सुखसे रहने लगा ॥४२३-४२५॥ किसी एक समय किसी कारणवश राजा कुणिकने अपने राज्यका परित्याग करना चाहा तब उन्होंने उस ब्राह्मणके गाँवसे तुझे बुलाकर अपना सब राज्य तुझे दे दिया और तू भी राज्यका पालन करने लगा। यद्यपि तूने अपना क्रोध बाहरमें प्रकट नहीं होने दिया था तो भी पहले किये हुए अनादर

१ ते स ल०। २ सुप्रकाशनृपादेशभयात्ताः सकलाः ल०। ३ पाखण्ड-ल०। ४ तत्रावसत्सुखी ल०। ५ सखी म० ल०।

भवतो विप्रकन्यायां सुतोऽभूदभयाह्वयः । स कदाचिन्निजस्थानादागच्छंस्त्वां समीक्षितुम् ॥४२९॥
समं जनन्या सन्नन्दिग्रामे त्वत्तः समाकुलाः । प्रजाः समीक्ष्य ते कोपमुपायैः [1]समशीशमत् ।४३०॥
नानोपायप्रवीणोऽयमभयाख्योऽस्तु पण्डितः । नाम्नेति विद्भिराहूतः स तदा तेन धीमता ॥४३१॥
पुत्रेणानेन सार्धं त्वमिहाद्यैनमुपस्थितः । शृण्वन्पुराणसद्भावमित्याहाकर्ण्य तद्वचः ॥४३२॥
सर्वं निधाय तच्चित्ते श्रद्धाभून्महती मते । जैने कुतस्तथापि स्यान्न मे व्रतपरिग्रहः ॥४३३॥
इत्यनुश्रेणिकप्रश्नादवादीद् गणनायकः । भोगसंजननाद्गाढमिथ्यात्वानुभवोदयात् ॥४३४॥
दुश्चरित्रान्महारम्भात्संचित्यैनो निकाचितम् । नारकं बद्धवानायुस्त्वं प्रागेवात्र जन्मनि ॥४३५॥
बद्धदेवायुषोऽन्यायुर्नाङ्गी स्वीकुरुते व्रतम् । श्रद्धानं तु समाधत्से तस्मात्त्वं नाग्रहीर्व्रतम् ॥४३६॥
पुराणश्रुतसंभूतविशुद्ध्या करणत्रयात् । सम्यक्त्वमादिमं प्राप्य शान्तसप्तमहारजाः ॥४३७॥
अन्तर्मुहूर्तकालेन सम्यक्त्वोदयभाविते । क्षायोपशमिके स्थित्वा श्रद्धाने संचलात्मके ॥४३८॥
सप्तप्रकृतिनिर्मूलक्षयात्क्षायिकमागतः । आज्ञामार्गोपदेशोत्थं सूत्रबीजसमुद्भवम् ॥४३९॥
संक्षेपाद्विस्तृतेरर्थाज्जाताऽऽसमवगाढकम् । परमावगाढं च सम्यक्त्वं दशधोदितम् ॥४४०॥
सर्वज्ञाज्ञानिमित्तेन षड्द्रव्यादिषु या रुचिः । साज्ञा निस्संगनिश्चैकपाणिपात्रत्वलक्षणः ॥४४१॥
मोक्षमार्ग इति श्रुत्वा या रुचिर्मार्गजा त्वसौ । त्रिषष्टिपुरुषादीनां या पुराणप्ररूपणात् ॥४४२॥

की याद आनेसे तू नन्दिग्रामके निवासियोंका अत्यन्त कठोर निग्रह करना चाहता था इसी इच्छासे तूने वहाँ रहनेवाले लोगोंपर इतना कठोर कर लेनेका आदेश दिया जितना कि वे सहन नहीं कर सकते थे ॥४१६-४२८॥ तेरे उस ब्राह्मणकी पुत्रीसे अभयकुमार नामका पुत्र हुआ था। वह किसी समय अपने घरसे तेरे दर्शन करनेके लिए माताके साथ आ रहा था। जब वह नन्दिग्राममें आया तब उसने वहाँकी प्रजाको तुझसे अत्यन्त व्यग्र देखा, इसलिए उसने वहीं ठहरकर योग्य उपायोंसे तेरा क्रोध शान्त कर दिया ॥४२९-४३०॥ तेरा वह अभय नामका पुत्र नाना उपायोंमें निपुण है इसलिए उस समय बुद्धिमानोंने उसे 'पण्डित' इस नामसे पुकारा था ॥४३१॥ हे राजन्! आज तू यहाँ उसी बुद्धिमान् पुत्रके साथ उपस्थित हुआ पुराण श्रवण कर रहा है। इस प्रकार गणधर स्वामीके वचन सुनकर राजा श्रेणिकने अपने हृदयमें धारण किये और कहा कि हे भगवन्! यद्यपि मेरी जैनधर्ममें श्रद्धा बहुत भारी है तो भी मैं व्रत ग्रहण क्यों नहीं कर पाता? ॥४३२-४३३॥ राजा श्रेणिकका प्रश्न समाप्त होनेपर गणधर स्वामीने कहा कि तूने इसी जन्ममें पहले भोगोंकी आसक्ति, तीव्र मिथ्यात्वका उदय, दुश्चरित और महान् आरम्भके कारण, जो बिना फल दिये नहीं छूट सकती ऐसी पापरूप नरकायुका बन्ध कर लिया है। ऐसा नियम है कि जिसने देवायुको छोड़कर अन्य आयुका बन्ध कर लिया है वह उस पर्यायमें व्रत धारण नहीं कर सकता। हाँ, सम्यग्दर्शन धारण कर सकता है। यही कारण है कि तू इच्छा रहते हुए भी व्रत धारण नहीं कर पा रहा है ॥४३४-४३६॥ इस प्रकार पुराणोंके सुननेसे उत्पन्न हुई विशुद्धिके द्वारा उसने अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप तीन परिणाम प्राप्त किये और उनके प्रभावसे मोहनीय कर्मकी सात प्रकृतियोंका उपशम कर प्रथम अर्थात् उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त किया ॥४३७॥ अन्तर्मुहूर्तके बाद उसके सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय हो गया जिससे चलाचलात्मक, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनमें आ गया और उसके कुछ ही बाद सातों प्रकृतियोंका निर्मूल नाश कर वह क्षायिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त हो गया। सम्यग्दर्शन उत्पत्तिकी अपेक्षा दश प्रकारका कहा गया है—आज्ञा, मार्ग, उपदेशोत्थ, सूत्रसमुद्भव, बीजसमुद्भव, संक्षेपज, विस्तारज, अर्थज, अवगाढ और परमावगाढ ॥४३८-४४०॥ सर्वज्ञ देवकी आज्ञाके निमित्तसे जो छह द्रव्य आदिमें श्रद्धा होती है उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं। मोक्षमार्ग परिग्रह रहित है, वस्त्र रहित है और पाणिपात्रतारूप है इस प्रकार मोक्षमार्गका स्वरूप सुनकर जो श्रद्धान होता है वह मार्गज सम्यक्त्व है। तिरसठ शलाकापुरुषोंका

१ समुपाकरोद् म०, ख०।

श्रद्धा सद्यः समुत्पन्ना सोपदेशसमुद्गता[1] । आचाराख्यादिमाङ्गोक्ततपोभेदश्रुतेर्द्रुतम् ॥४४३॥
प्रादुर्भूता रुचिस्तज्ज्ञैः सूत्रजेति निरूप्यते । या तु बीजपदादान[2]पूर्वसूक्ष्मार्थजा रुचिः ॥४४४॥
बीजजासौ पदार्थानां संक्षेपोक्त्या समुद्गता । या सा संक्षेपजा यास्या न्यासाद्विस्तारजा तु सा ॥४४५॥
प्रमाणनयनिक्षेपाद्युपायैरतिविस्तृतैः । अवगाह्य परिज्ञानात्तत्त्वस्याङ्गादिभाषितम् ॥४४६॥
वाग्विस्तरपरित्यागादुपदेष्टुर्महात्मने । अर्थमात्र[3]समादानसमुत्था रुचिरर्थजा ॥४४७॥
अङ्गाङ्गबाह्यसद्भावभावनातः समुद्गता । क्षीणमोहस्य या श्रद्धा सावगाढेति कथ्यते ॥४४८॥
केवलावगमालोकिताखिलार्थगता रुचिः । परमावगाढाऽसौ श्रद्धेति परमर्षिभिः ॥४४९॥
एतास्वपि महाभाग तव सन्त्यद्य काश्चन । दर्शनाद्यागमप्रोक्तशुद्धषोडशकारणैः ॥४५०॥
भव्यो व्यस्तैः समस्तैश्च नामार्हं कुरुतेऽन्तिमम् । तेषु श्रद्धादिभिः कैश्चिद् बद्ध्वा तन्नामकारणैः ॥४५१॥
रत्नप्रभां प्रविष्टः सन् तत्फलं मध्यमायुषा । भुक्त्वा निर्गम्य भव्यास्मिन् महापद्माख्यतीर्थकृत् ॥४५२॥
आगाम्युत्सर्पिणीकालस्यादिमः क्षेमकृत्सताम् । तस्मादासन्नभव्योऽसि मा भैषीः संसृतेरिति ॥४५३॥
स्वस्य रत्नप्रभावाप्तेर्विषण्णः श्रेणिकः पुनः । अप्राक्षीद्धीधनान्योऽपि पुरेऽस्मिन् पुण्यधामनि ॥४५४॥
किमस्त्यधोगतिं यास्यन्नित्यतो मुनिरादिशत् । कालसौकरिकस्यात्र शुभायाश्च प्रवेशनम् ॥४५५॥
अस्ति द्विजतनूजायास्तच्छृणु श्रेणिक श्रव्यताम् । कालसौकरिकोऽत्रैव पुरे नीचकुले भृशम् ॥४५६॥
भवस्थितिवशाद् बद्धनरायुः पापकर्मणा । सप्तकृत्वोऽधुना जातिस्मरो भूत्वैवमस्मरत् ॥४५७॥

पुराण सुननेसे जो शीघ्र ही श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है वह उपदेशोत्थ सम्यग्दर्शन है। आचारांग आदि शास्त्रोंमें कहे हुए तपके भेद सुननेसे जो शीघ्र ही श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सूत्रज सम्यग्दर्शन कहलाता है। बीजपदोंके ग्रहण पूर्वक सूक्ष्म पदार्थोंसे जो श्रद्धा होती है उसे बीजज सम्यग्दर्शन कहते हैं। पदार्थोंके संक्षेप कथनसे जो श्रद्धा होती है वह संक्षेपज सम्यग्दर्शन है, जो विस्तारसे कहे हुए प्रमाण नय निक्षेप आदि उपायोंके द्वारा अवगाहन कर अंग पूर्व आदिमें कहे हुए तत्त्वोंकी श्रद्धा होती है वह विस्तारज सम्यग्दर्शन कहलाता है। वचनोंका विस्तार छोड़कर महाबुद्धिमान् उपदेशकसे जो केवल अर्थमात्रका ग्रहण होनेसे श्रद्धा उत्पन्न होती है वह अर्थज सम्यग्दर्शन है। जिसका मोहनीय कर्म क्षीण हो गया है ऐसे मनुष्यको अंग तथा अंग-बाह्य ग्रन्थोंकी भावनासे जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह अवगाढ़ सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥४४१–४४८॥ केवल-ज्ञानके द्वारा देखे हुए समस्त पदार्थोंकी जो श्रद्धा होती है उसे परमावगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं ऐसा परमर्षियोंने कहा है ॥४४९॥ हे महाभाग ! इन श्रद्धाओंमें-से आज कितनी ही श्रद्धाएँ—सम्यग्दर्शन विद्यमान हैं। इनके सिवाय आगममें जिन दर्शन-विशुद्धि आदि शुद्ध सोलह कारण भावनाओंका वर्णन किया गया है उन सभीसे अथवा यथासम्भव प्राप्त हुई पृथक्-पृथक् कुछ भावनाओंसे भव्य जीव तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध करता है। उनमें-से दर्शनविशुद्धि आदि कितने ही कारणोंसे तू तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध कर रत्नप्रभा नामक पहली पृथिवीमें प्रवेश करेगा, मध्यम आयुसे वहाँका फल भोगकर निकलेगा और तदनन्तर हे भव्य ! तू इसी भरतक्षेत्रमें आगामी उत्सर्पिणी कालमें सज्जनोंका कल्याण करनेवाला महापद्म नामका पहला तीर्थंकर होगा। तू निकट भव्य है अतः संसारसे भय मत कर ॥ ४५०–४५३ ॥ तदनन्तर अपने-आपको रत्नप्रभा पृथिवीकी प्राप्ति सुनकर जिसे खेद हो रहा है ऐसे राजा श्रेणिकने फिर पूछा कि हे बुद्धिरूपी धनको धारण करनेवाले गुरुदेव ! पुण्यके घर स्वरूप इस नगरमें मेरे सिवाय और भी क्या कोई नरक जानेवाला है ? उत्तरमें गणधर भगवान् कहने लगे कि हाँ, इस नगरमें कालसौकरिक और ब्राह्मणकी पुत्री शुभाका भी नरकमें प्रवेश होगा। उनका नरकमें प्रवेश क्यों होगा ? यदि यह जानना चाहता है तो सुन मैं कहता हूँ। कालसौकरिक इसी नगरमें नीच कुलमें उत्पन्न हुआ था। वह यद्यपि पहले बहुत पापी था तो भी उसने भवस्थितिके वशसे सात बार मनुष्य आयुका बन्ध किया था। अबकी बार उसे जातिस्मरण हुआ है जिससे वह सदा ऐसा विचार करता रहता है

---

१ समुद्भवा ल० । २ पूर्वा ख०, ग० । ३ अर्थमात्रं समादाय म०, ल० । अर्थमात्रसमाधान इति क्वचित् ।

पुण्यपापफलेनास्ति सम्बन्धो यदि देहिनाम् । मया कथमिवालम्भि मनुष्यभवसंभवः ॥४५८॥
ततः पुण्यं न पापं वा यथेष्टं वर्तनं सुखम् । इति कृत्वानु निश्शङ्कं पापी हिंसादिपञ्चकम् ॥४५९॥
मांसाद्याहारसंसक्तो बह्वारम्भपरिग्रहैः[1] । अनुबद्धोऽपि[2] बद्ध्वायुर्नारकं परमावधि ॥४६०॥
तेन यास्यत्यसौ पृथ्वीं सप्तमीं घोरदुःखदाम् । शुभा चोग्रानुभागोत्थस्त्रीवेदोदयभाविता ॥४६१॥
प्रवृद्धरागप्रद्वेषपैशुन्यादिप्रदूषिता । गुणशीलसदाचारान् श्रुत्वालोक्य च कोपिनी ॥४६२॥
संक्लेशेन सदाबद्धनरकायुस्तनुच्युतौ । तमःप्रभामहादुःखभागिनीयं भविष्यति ॥४६३॥
इति तद्वचनप्रान्ते प्रणिपत्य मुनीश्वरम् । कुमारोऽप्यभयोऽपृच्छत्स्वभवान्तरसंततिम् ॥४६४॥
तदनुग्रहबुद्ध्यैवमाहासौ भव्यवत्सलः । [3]इतोऽभवत्तृतीयेऽत्र भवे भव्योऽपि सन्मुधीः[4] ॥४६५॥
कश्चिद्विप्रसुतो वेदाभ्यासहेतोः परिभ्रमन् । देशान्तराणि पाषण्डिदेवतातीर्थजातिभिः ॥४६६॥
लोकेन च विमुग्धाकुलीभूतस्तत्प्रशंसनम् । तदाचरितमप्युच्चैरनुतिष्ठन्नयेच्छया ॥४६७॥
केनचित्पथिकेनामा जैनेन पथि स व्रजन् । पाषाणराशिसंलक्ष्य भूताधिष्ठितभूरुहः ॥४६८॥
समीपं प्राप्य भक्त्यासौ दैवमेतदिति[5] द्रुमम् । परीत्य प्रागमद् दृष्ट्वा तच्चेष्टां श्रावकः स्मिती ॥४६९॥
तस्यावमतिविध्यर्थं तद्द्रुमादात्तपल्लवैः । परिमृज्य स्वपादाब्जधूलिं ते पश्य देवता ॥४७०॥
नार्हतानां विघाताय समर्थेत्यवदद् द्विजम् । विप्रेणानु तथैवास्तु को दोषस्तव देवताम् ॥४७१॥
परिभूतिपदं नेष्याम्युपाध्यायस्त्वमत्र मे । इत्युक्तस्तेन तस्मात्स प्रदेशान्तरमासवान् ॥४७२॥

॥४५४-४५७॥ कि यदि पुण्य-पापके फलके साथ जीवोंका सम्बन्ध रहता है तो फिर मुझ-जैसे पापीको मनुष्य-भव कैसे मिल गया ? इसलिए जान पड़ता है कि न पुण्य है और न पाप है— इच्छानुसार प्रवृत्ति करना ही सुख है। ऐसा विचार कर वह पापी निःशंक हो हिंसादि पाँचों पाप करने लगा है, मांस आदि खानेमें आसक्त हो गया है और बहुत आरम्भ तथा परिग्रहोंके कारण नरककी उत्कृष्ट आयुका बन्ध भी कर चुका है। अब वह मरकर भयंकर दुःख देनेवाली सातवीं पृथिवीमें जावेगा। इसी प्रकार शुभा भी तीव्र अनुभागजन्य स्त्रीवेदके उदयसे युक्त है, अतिशय बढ़े हुए रागद्वेष पैशुन्य आदि दोषोंसे अत्यन्त दूषित है, गुण शील तथा सदाचारकी बात सुनकर और देखकर बहुत क्रोध करती है। निरन्तर संक्लेश परिणाम रखनेसे वह नरकायुका बन्ध कर चुकी है और शरीर छूटनेपर तमःप्रभा पृथिवी सम्बन्धी घोर दुःख भोगेगी ॥४५८-४६३॥ इस प्रकार गणधरके वचन समाप्त होनेपर अभयकुमारने उठकर उन्हें नमस्कार किया और अपने भवान्तरोंका समूह पूछा ॥४६४॥

भव्य जीवोंपर स्नेह रखनेवाले गणधर भगवान्, अभय कुमारका उपकार करनेकी भावनासे इस प्रकार कहने लगे कि तू इस भवसे तीसरे भवमें कोई ब्राह्मणका पुत्र था और भव्य होनेपर भी दुर्बुद्धि था। वह वेद पढ़नेके लिए अनेक देशोंमें घूमता-फिरता था, पाषण्डिमूढ़ता, देवमूढ़ता, तीर्थमूढ़ता, जातिमूढ़ता और लोकमूढ़तासे मोहित हो व्याकुल रहता था, उन्हींके द्वारा किये हुए कार्योंकी बहुत प्रशंसा करता था और पुण्य-प्राप्तिकी इच्छासे उन्हींके द्वारा किये हुए कार्योंका स्वयं आचरण करता था ॥४६५-४६७॥ एक बार वह किसी जैनी पथिकके साथ मार्गमें कहीं जा रहा था। मार्गमें पत्थरोंके ढेरके समीप दिखाई देनेवाला भूतोंका निवासस्थान स्वरूप एक वृक्ष था। उसके समीप जाकर और उसे अपना देव समझकर ब्राह्मण-पुत्रने उस वृक्षकी प्रदक्षिणा दी तथा उसे नमस्कार किया। उसकी इस चेष्टाको देखकर श्रावक हँसने लगा तथा उसका अनादर करनेके लिए उसने उस वृक्षके कुछ पत्ते तोड़कर उनसे अपने पैरोंकी धूलि झाड़ ली और ब्राह्मणसे कहा कि देख तेरा देवता जैनियोंका कुछ भी विघात करनेमें समर्थ नहीं है। इसके उत्तरमें ब्राह्मणने कहा कि अच्छा ऐसा ही सही, क्या दोष है ? मैं भी तुम्हारे देवताका तिरस्कार कर लूँगा, इस विषयमें तुम मेरे गुरु ही सही। इस प्रकार कहकर वे दोनों फिर साथ चलने लगे और किसी एक

---

१ परिग्रहः म० । २ अनुबद्धोऽस्ति ल० । ३ इतो भवात्तृतीयेऽत्र ल० । ४ कुधीः ल० । ५ द्रुतम् ल० ।

श्रावकः कपिरोमाख्यवल्लीजालं समीक्ष्य मे । दैवमेतदिति व्यक्तमुक्त्वा भक्त्या परीत्य तत् ॥४७३॥
प्रणम्य स्थितवान् विप्रोऽप्याविष्कृतरुषाज्ञकः[1] । कराभ्यां तत्समुच्छिन्दन् विमृद्नंश्च समन्ततः ॥४७४॥
तत्कृतासह्यकण्डूयाविशेषेणातिबाधितः । एतत्सन्निहितं दैवं त्वदीयमिति भीतवान् ॥४७५॥
सहासो विद्यते नान्यद्विधा तु सुखदुःखयोः । प्राणिनां प्राक्तनं कर्म मुक्त्वास्मिन्मूल[2]कारणम् ॥४७६॥
श्रेयोऽवाप्तुं ततो यत्नं तपोदानादिकर्मभिः । कुरु त्वं मतिमन्मौढ्यं हित्वा दैवनिबन्धनम् ॥४७७॥
देवाः खलु सहायत्वं यान्ति पुण्यवतां नृणाम् । [3]न ते किंचित्कराः पुण्यविलये भृत्यसंनिभाः ॥४७८॥
इत्युक्त्वास्तद्विजाज्ञानदैवमूढ्यस्ततः क्रमात् । श्रावकस्तेन विप्रेण गङ्गातीरं समागमत् ॥४७९॥
बुभुक्षुस्तत्र विप्रोऽसौ मणिगङ्गाख्यमुत्तमम् । तीर्थमेतदिति स्नात्वा तीर्थमूढं समागमत् ॥४८०॥
अथास्मै भोक्तुकामाय भुक्त्वा स श्रावकः स्वयम् । स्वोच्छिष्टं सुरसिन्ध्वम्बुमिश्रितं पावनं त्वया ॥४८१॥
भोक्तव्यमिति विप्राय ददौ ज्ञापयितुं हितम् । तद्दृष्ट्वाहं कथं भुञ्जे तवोच्छिष्टं विशिष्टताम् ॥४८२॥
किं न वेत्सि ममैवं त्वं वक्तेति स तमब्रवीत् । कथं तीर्थजलं पापमलापनयने क्षमम् ॥४८३॥
यद्यद्योच्छिष्टदोषं चेन्नापनेतुं समीहते । ततो निर्हेतुकामेतां[4] प्रत्येयां मुग्धचेतसाम् ॥४८४॥
त्यज दुर्वासनां पापं प्रक्षाल्यमिति वारिणा । तथैव चेत्तपोदानाद्यनुष्ठानेन किं वृथा ॥४८५॥
तेनैव पापं प्रक्षाल्यं सर्वत्र सुलभं जलम् । मिथ्यात्वादिचतुष्केण बध्यते पापमूर्जितम् ॥४८६॥
सम्यक्त्वादिचतुष्केण पुण्यं प्राप्ते च निर्वृतिः । एतज्जैनेश्वरं तत्त्वं गृहाणेत्यवदत् पुनः ॥४८७॥

स्थानमें जा पहुँचे। वहाँ करेंचकी लताओंका समूह देखकर श्रावकने कहा कि 'यह हमारा देवता है' यह कहकर श्रावकने उस लता-समूहकी भक्तिसे प्रदक्षिणा की, नमस्कार किया और यह सब कर वह वहीं खड़ा हो गया। अज्ञानी ब्राह्मणने कुपित होकर दोनों हाथोंसे उस लता समूहके पत्ते तोड़ लिये तथा उन्हें मसलकर उनका रंग सब शरीरमें लगा लिया। लगाते देर नहीं हुई कि वह, उस करेंचके द्वारा उत्पन्न हुई असह्य खुजलीकी भारी पीड़ासे दुःखी होने लगा तथा डरकर श्रावकसे कहने लगा कि इसमें अवश्य ही तुम्हारा देव रहता है ॥४६८-४७५॥ ब्राह्मण-पुत्रकी बात सुन, श्रावक हँसता हुआ कहने लगा कि जीवोंको जो सुख-दुःख होता है उसमें उनके पूर्वकृत कर्मको छोड़कर और कुछ मूल कारण नहीं है ॥४७६॥ इसलिए तू तप दान आदि सत्कार्योंके द्वारा पुण्य प्राप्त करनेका प्रयत्न कर और हे बुद्धिमन्! इस देवविषयक मूढ़ताको छोड़ दे। निश्चयसे देवता पुण्यात्मा मनुष्योंकी ही सहायता करते हैं वे भृत्यके समान हैं और पुण्य क्षीण हो जानेपर किसीका कुछ भी नहीं कर सकते हैं ॥४७७-४७८॥ इस प्रकार कहकर श्रावकने उस ब्राह्मणकी देवमूढ़ता दूर कर दी। तदनन्तर अनुक्रमसे उस ब्राह्मणके साथ चलता हुआ श्रावक गंगा नदीके किनारे पहुँचा ॥४७९॥ भूख लगनेपर उस ब्राह्मणने 'यह मणिगंगा नामका उत्तम तीर्थ है' यह समझकर वहाँ स्नान किया और इस तरह वह तीर्थमूढ़ताको प्राप्त हुआ ॥४८०॥ तदनन्तर जब वह ब्राह्मण भोजन करनेकी इच्छा करने लगा तब उस श्रावकने पहले स्वयं भोजन कर अपनी जूँठनमें गंगाका जल मिला दिया और हितका उपदेश देनेके लिए यह कहते हुए उसे दिया कि 'यह पवित्र है तुम खाओ'। यह देख ब्राह्मणने कहा कि 'मैं तुम्हारी जूँठन कैसे खाऊँ? क्या तुम मेरी विशेषता नहीं जानते?' ब्राह्मणकी बात सुनकर श्रावक कहने लगा कि तीर्थजल यदि आज जूँठनका दोष दूर करनेमें समर्थ नहीं है तो फिर पाप रूप मलको दूर हटानेमें समर्थ कैसे हो सकता है? इसलिए तू अकारण तथा मूर्ख जनोंके द्वारा विश्वास करने योग्य इस मिथ्या वासनाको छोड़ दे कि जलके द्वारा पाप धोया जा सकता है। यदि जलके द्वारा पाप धोये जाने लगे तो फिर व्यर्थ ही तप तथा दान आदिके करनेसे क्या लाभ है? ॥४८१-४८५॥ जल सब जगह सुलभ है अतः उसीके द्वारा पाप धो डालना चाहिए। यथार्थमें बात यह है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय इन चारके द्वारा तीव्र पापका बन्ध होता है और सम्यक्त्व,

१ रुषोद्धुरः ल०। २ मूढ इत्यपि क्वचित्। ३ नते किञ्चित्कराः पुण्यवलये क०। ४ प्रत्येयां ल०।

श्रुत्वा तद्वचनं विप्रस्तीर्थमौढ्यं निराकरोत् । अथ तत्रैव पञ्चाग्निमध्येऽन्यैर्दुस्सहं तपः ॥४८८॥
कुर्वतस्तापसस्योच्चैः प्रज्वलद्वह्निसंहतौ । षड्जीवप्राणिनां घातं षड्भेदानामनारतम् ॥४८९॥
तस्य पाषण्डमौढ्यं च युक्तिभिः स[1] निराकृत । गोमांसभक्षणागम्यागमाद्यैः पतितेक्षणात् ॥४९०॥
वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्नप्यदर्शनात् । ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रदर्शनात् ॥४९१॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत् । आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते ॥४९२॥
जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः । येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः ॥४९३॥
अच्छेदो मुक्तियोग्याया विदेहे जातिसंततेः । तद्धेतुनामगोत्राढ्यजीवाविच्छिन्नसंभवात् ॥४९४॥
शेषयोस्तु चतुर्थे स्यात्काले तज्जातिसंततिः । एवं वर्णविभागः स्यान्मनुष्येषु जिनागमे ॥४९५॥
इत्यादिहेतुभिर्जातिमौढ्यमस्य निराकरोत् । वटेऽस्मिन् खलु वित्तेशो वसतीत्येवमादिकम् ॥४९६॥
वाक्यं श्रद्धाय तद्योग्यमाचरन्तो महीभुजः । किं न जानन्ति लोकस्य मार्गोऽयं प्रथितो महान् ॥४९७॥
न त्यक्तुं शक्य इत्यादि न ग्राह्यं लौकिकं वचः । आप्तोक्तागमबाह्यत्वान्मत्तोन्मत्तकवाक्यवत्[2] ॥४९८॥
इति तल्लोकमौढ्यं च[3] निरास्थदथ सोऽब्रवीत् । आप्तोक्तागमवैमुख्यादिति हेतुर्न मां प्रति ॥४९९॥
सांख्याद्याप्तप्रवादानां पौरुषेयत्वदोषतः । दूषिताः पुरुषाः सर्वे यावद् रागाद्यविद्यया ॥५००॥

ज्ञान, चारित्र तथा तप इन चारके द्वारा पुण्यका बन्ध होता है। और अन्तमें इन्हींसे मोक्ष प्राप्त होता है। यह जिनेन्द्र देवका तत्त्व है—मूल उपदेश है, इसे तू ग्रहण कर। ऐसा उस श्रावकने ब्राह्मणसे कहा ॥४८६-४८७॥ श्रावकके उक्त वचन सुनकर ब्राह्मणने तीर्थमूढ़ता छोड़ दी। तदनन्तर वहीं एक तापस, पंचाग्नियोंके मध्यमें अन्य लोगोंके द्वारा दुःसह—कठिन तप कर रहा था। वहाँ जलती हुई अग्निके बीचमें छह कायके जीवोंका जो निरन्तर घात होता था उसे दिखलाकर श्रावकने युक्तियोंके द्वारा उस ब्राह्मणकी पाषण्डिमूढ़ता भी दूर कर दी। तदनन्तर जाति मूढ़ता दूर करनेके लिए वह श्रावक कहने लगा कि गोमांस भक्षण और अगम्य-स्त्रीसेवन आदिसे लोग पतित हो जाते हैं यह देखा जाता है, इस शरीरमें वर्ण तथा आकृतिकी अपेक्षा कुछ भी भेद देखनेमें नहीं आता और ब्राह्मणी आदिमें शूद्र आदिके द्वारा गर्भधारण किया जाना देखा जाता है इसलिए जान पड़ता है कि मनुष्योंमें गाय और घोड़ेके समान जाति कृत कुछ भी भेद नहीं है यदि आकृतिमें कुछ भेद होता तो जातिकृत भेद माना जाता परन्तु ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्रमें आकृति भेद नहीं है अतः उनमें जातिकी कल्पना करना अन्यथा है। जिनकी जाति तथा गोत्र आदि कर्म शुक्लध्यानके कारण हैं वे त्रिवर्ण कहलाते हैं और बाकी शूद्र कहे गये हैं। विदेह क्षेत्रमें मोक्षमें जानेके योग्य जातिका कभी विच्छेद नहीं होता क्योंकि वहाँ उस जातिमें कारणभूत नाम और गोत्रसे सहित जीवोंकी निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें चतुर्थकालमें ही जातिकी परम्परा चलती है अन्य कालोंमें नहीं। जिनागममें मनुष्योंका वर्णविभाग इस प्रकार बतलाया गया है ॥४८८-४९५॥ इत्यादि हेतुओंके द्वारा श्रावकने ब्राह्मणकी जातिमूढ़ता दूर कर दी। 'इस वटवृक्षपर कुबेर रहता है' इत्यादि वाक्यों-का विश्वास कर राजा लोग जो उसके योग्य आचरण करते हैं, उसकी पूजा आदि करते हैं सो क्या कुछ जानते नहीं हैं। कुछ सचाई होगी तभी तो ऐसा करते हैं। यह लोकका मार्ग बहुत बड़ा प्रसिद्ध मार्ग है इसे छोड़ा नहीं जा सकता—लोकमें जो रूढ़ियाँ चली आ रही हैं उन्हें छोड़ना नहीं चाहिए इत्यादि लौकिक जनोंके वचन, आप्त भगवान्के द्वारा कहे इस आगमसे बाह्य होनेके कारण नशेसे मत्त अथवा पागल मनुष्यके वचनोंके समान ग्राह्य नहीं हैं ॥४९६-४९८॥ इस प्रकार श्रावकने उस ब्राह्मणकी लोकमूढ़ता भी दूर कर दी। तदनन्तर ब्राह्मणने श्रावकसे कहा कि तुमने जो हेतु दिया है कि आप्त-भगवान्के द्वारा कहे हुए आगमसे बाह्य होनेके कारण लौकिक वचन ग्राह्य नहीं हैं सो तुम्हारा यह हेतु मेरे प्रति लागू नहीं होता क्योंकि सांख्य आदि आप्तजनोंके जो भी आगम विद्यमान हैं वे पौरुषेयत्व दोषसे प्रमाणभूत नहीं

---

१ शुद्धि रूपम् । २ महोन्मत्तक ल० । ३ तिरस्तुदय ल० ।

इत्यनालोचितार्थस्य वचस्तेनैति सारताम् । यतो रागाद्यविद्यानां क्वचिन्निर्मूलसंक्षयः ॥५०१॥
सर्वज्ञस्य विरागस्य प्रयोगः साधनं प्रति । क्रियते युक्तिवादानुसारिणो विदुषस्तव ॥५०२॥
क्वचिदात्यन्तिकीं पुंसि यान्ति सार्धमविद्यया । रागादयस्तिरोभूतिं तारतम्यावलोकनात् ॥५०३॥
सामग्रीसंनिधानेन कनकाश्मकमङ्कवत् । तत्तथात्वं जायेत तारतम्यं च नो भवेत् ॥५०४॥
दृष्टेस्तदस्तु चेन्मूलहानिः केन निवार्यते । सर्वशास्त्रकलाभिज्ञे सर्वज्ञोक्तिर्जनोद्भवा ॥५०५॥
मुख्यसर्वज्ञसंसिद्धिं गौणत्वात्साधयेदियम् । चैत्रे सिंहाभिधानेन मुख्यसिंहस्य सिद्धिवत् ॥५०६॥
न मां प्रति प्रयोगोऽयं मुक्तिहेतोर्निराकृतेः । अवस्थादेशकालादिभेदाद्भिन्नासु शक्तिषु ॥५०७॥
भावानामनुमानेन प्रतीतिरतिदुर्लभा । यत्नेन साधितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ॥५०८॥
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथा क्रियते यतः । हस्तस्पर्शादिवान्धस्य विषमे पथि धावतः ॥५०९॥
अनुमानप्रधानस्य विनिपातो न दुर्लभः । इति चेद्विप्र नैतेन गृह्यते महतां मनः ॥५१०॥
हेतुवादोऽप्रमाणं चेद्यथा श्रुतिरकृत्रिमा । इतीदं सत्यमेवं किं कृत्रिमा श्रुतिरित्यपि ॥५११॥
वाक्प्रयोगो न तथ्यः स्याद्धेत्वभावाविशेषतः । कृत्वा शीर्षाणि सद्धेतुरेषितव्यस्त्वयापि सः ॥५१२॥
इष्टे तस्मिन्मयाभीष्टो विश्वविन्किं न सिध्यति । ततस्तत्प्रोक्तसूक्तेन विरुद्धं लक्ष्यते बुधैः ॥५१३॥

हैं । पुरुषकृत रचना होनेसे ग्राह्य नहीं हैं । यथार्थमें संसारमें जितने पुरुष हैं वे सभी रागादि अविद्यासे दूषित हैं अतः उनके द्वारा बनाये हुए आगम प्रमाण कैसे हो सकते हैं ? ॥४९९-५००॥ इसके उत्तरमें श्रावकने कहा कि चूँकि तुमने पदार्थका अच्छी तरह विचार नहीं किया है इसलिए तुम्हारे वचन सारताको प्राप्त नहीं हैं—ठीक नहीं हैं । तुमने जो कहा है कि संसारके सभी पुरुष रागादि अविद्यासे दूषित हैं यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि किसी पुरुषमें राग आदि अविद्याओंका निर्मूल क्षय हो जाना सम्भव है । तुम युक्तिवादका अनुसरण करनेवाले विद्वान् हो अतः तुम्हारे लिए सर्वज्ञवीतरागकी सिद्धिका प्रयोग किया जाता है ॥५०१-५०२॥ रागादिक भावों और अविद्यामें तारतम्य देखा जाता है अतः किसी पुरुषमें अविद्याके साथ-साथ रागादिक भाव सर्वथा अभावको प्राप्त हो जाते हैं । जिस प्रकार सामग्री मिलनेसे सुवर्ण पाषाणकी किट्ट कालिमा आदि दोष दूर हो जाते हैं उसी प्रकार तपश्चरण आदि सामग्री मिलनेपर पुरुषके रागादिक दोष भी दूर हो सकते हैं । यदि ऐसा नहीं माना जाय तो उनमें तारतम्य—हीनाधिकपना भी सिद्ध नहीं हो सकेगा परन्तु तारतम्य देखा जाता है इसलिए रागादि दोषोंकी निर्मूल हानिको कौन रोक सकता है ? समस्त शास्त्रों और कलाओंके जाननेवाले मनुष्यको लोग सर्वज्ञ कह देते हैं सो उनकी यह सर्वज्ञकी गौण युक्ति ही मुख्य सर्वज्ञको सिद्ध कर देती है जिस प्रकार कि चैत्र नामक किसी पुरुषको सिंह कह देनेसे मुख्य सिंहकी सिद्धि हो जाती है ॥५०३-५०६॥ 'कदाचित् यह कहा जाय कि सर्वज्ञ सिद्ध करनेका यह प्रयोग मेरे लिए नहीं हो सकता क्योंकि आपने जो मोक्षका कारण बतलाया है उसका निराकरण किया जा चुका है ॥ अवस्था देश-काल आदिके भेदसे शक्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रकारकी हैं इसलिए रागादि दोषोंकी हीनाधिकता तो सम्भव है परन्तु उनका सर्वथा अभाव सम्भव नहीं है । अनुमानके द्वारा भावोंकी प्रतीति करना अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि बड़े कुशल अनुमाता यत्नपूर्वक जिस पदार्थको सिद्ध करते हैं अन्य प्रवादियोंकी ओरसे वह पदार्थ अन्यथा सिद्ध कर दिया जाता है । जिस प्रकार केवल हाथके स्पर्शसे विषय-मार्गमें दौड़नेवाले अन्धे मनुष्यका मार्गमें पड़ जाना दुर्लभ नहीं है उसी प्रकार अनुमानको प्रधान मानकर चलनेवाले पुरुषका भी पड़ जाना दुर्लभ नहीं है । हे विप्र ! यदि तुम ऐसा कहते हो तो इससे महापुरुषोंका मन आकर्षित नहीं हो सकता' ॥५०७-५१०॥ इसका भी कारण यह है कि यदि हेतुवादको अप्रमाण मान लिया जाता है तो जिस प्रकार 'वेद अकृत्रिम हैं—अपौरुषेय हैं' आपका यह कहना सत्य है तो उसी प्रकार 'वेद कृत्रिम हैं—पौरुषेय हैं' हमारा यह कहना भी सत्य ही क्यों नहीं होना चाहिए ? हेतुके अभावकी बात कहो तो वह दोनों ओर समान है । इस प्रकार मर-खपकर भी आपको हेतुवाद स्वीकृत करना ही पड़ेगा और जब आप इस तरह हेतुवाद स्वीकृत कर लेते हैं

विप्रस्त्वं षट्प्रमावादी न चार्वाको न मां प्रति । प्रयोगोऽनभ्युपेतत्वादित्युक्तिर्घटते न ते ।।५१४।।
साध्यसाधनसंबन्धो हेतुश्चाध्यक्षगोचरः । ऊहाद्व्याप्तिः कथं न स्यात्प्रयोगस्त्वां प्रति प्रमा ।।५१५।।
क्वाचित्कव्यभिचाराच्चेत्प्रत्यक्षेऽपि न सोऽस्ति किम् । नानुमानं प्रमेत्यार्य मुच्यतामयमाग्रहः ।।५१६।।
प्रत्यक्षमविसंवादि प्रमाणमिति चेत्कुतः । अनुमानेऽपि तत्रेष्टमनिष्टं किं क्षितीशिभिः ।।५१७।।
अस्तु सांख्यादिवादानामप्रामाण्यं विरोधतः । दृष्टेन तेन संवादसिद्धेर्वादस्य नार्हतः ।।५१८।।
इत्यार्हतोक्तं तत्तथ्यं श्रुत्वा सर्वं द्विजात्मजः । त्वद्गृहीतो ममाप्यस्तु धर्मोऽद्य प्रभृतीति सः ।।५१९।।
तदाज्ञयाऽग्रहीद्धर्मं निर्मलं जिनभाषितम् । सद्वचो हितमन्ते स्यादातुरायेव भेषजम् ।।५२०।।
अथ तौ सह गच्छन्तावटवीगहनान्तरे । पापोदयात्परिभ्रष्टमार्गौ दिङ्मूढतां गतौ ।।५२१।।
देशकोऽस्ति न मार्गस्य वनमेतदमानुषम् । नास्ति कश्चिदुपायोऽत्र विहाय जिनभाषितम् ।।५२२।।
परिच्छेदो हि पाण्डित्यं शूरस्याहारदेहयोः । इति संन्यस्य सद्ध्यानेनासीनं श्रावकं द्विजः ।।५२३।।
विलोक्य स्वयमप्येतदुपदेशेन [1]शुद्धधीः । स्थित्वा तथैव संप्राप्तसमाधिर्जीवितावधौ ।।५२४।।
सौधर्मकल्पे देवोऽभूद्भुक्त्वा तत्रामरं सुखम् । स्वायुरन्ते स्वपुण्येन श्रेणिकस्य महीपतेः ।।५२५।।

तब मेरे द्वारा अभीष्ट सर्वज्ञ क्या सिद्ध नहीं हो जाता है ? अवश्य सिद्ध हो जाता है । इसलिए विद्वान् लोग सर्वज्ञ भगवान्‌के द्वारा कहे हुए वचनोंके विरुद्ध कोई बात स्वीकृत नहीं करते हैं ।।५११-५१३।। इसके सिवाय एक बात यह भी विचारणीय है कि हे प्रिय ! तुम प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणोंको माननेवाले मीमांसक हो, केवल प्रत्यक्षको माननेवाले चार्वाक नहीं हो अतः तुम्हारा मेरे प्रति यह कहा जाना कि अनुमानका प्रयोग मुझे स्वीकृत नहीं है । संगत नहीं बैठता ।।५१४।। साध्य-साधनके सम्बन्धको हेतु कहते हैं वह प्रत्यक्षका विषय है और अविनाभाव सम्बन्धसे उसकी व्याप्तिका ज्ञान होता है फिर आप अनुमानको प्रमाण क्यों नहीं मानते ? ।।५१५।। यदि यह कहा जाय कि अनुमानमें कदाचित् व्यभिचार (दोष) देखा जाता है तो यह व्यभिचार क्या प्रत्यक्षमें भी नहीं होता ? अवश्य होता है । इसलिए हे आर्य ! 'अनुमान प्रमाण नहीं है' यह आग्रह छोड़िए।।५१६।। यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्ष विसंवादरहित है इसलिए प्रमाणभूत है तो अनुमानमें भी तो विसंवादका अभाव रहता है उसे भी प्रमाण क्यों नहीं मानते हो । युक्तिकी समानता रहते हुए एकको प्रमाण माना जाय और दूसरेको अप्रमाण माना जाय यदि यही आपका पक्ष है तो फिर राजाओंकी क्या आवश्यकता ? अथवा सांख्य आदि दर्शनोंमें अप्रामाणिकता भले ही रहे क्योंकि उनमें विरोध देखा जाता है परन्तु अरहन्त भगवान्‌के दर्शनमें अप्रामाणिकता नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणसे उसका संवाद देखा जाता है । इस प्रकार साथके जैनी-श्रावकके द्वारा कहे हुए समस्त यथार्थ तत्त्वको सुनकर ब्राह्मणने कहा कि जिस धर्मको आपने ग्रहण किया है वही धर्म आजसे मेरा भी हो ।।५१७-५१९।। श्रावककी आज्ञासे उस ब्राह्मणने जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ निर्मल धर्म ग्रहण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार औषधि, बीमार मनुष्यका हित करती है उसी प्रकार सज्जन पुरुषके वचन भी अन्तमें हित ही करते हैं ।।५२०।।

अथानन्तर वे दोनों ही साथ-साथ जाते हुए किसी सघन अटवीके बीचमें पापके उदयसे मार्ग भूलकर दिशाभ्रान्त हो गये ।।५२१।। उस समय श्रावकने विचार किया कि 'चूँकि यह वन मनुष्य रहित है अतः यहाँ कोई मार्गका बतलानेवाला नहीं है । इस समय जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए उपायको छोड़कर और कोई उपाय नहीं है । ऐसी दशामें आहार तथा शरीरका त्याग कर देना ही शूरवीरकी पण्डिताई है' ऐसा विचारकर वह संन्यासकी प्रतिज्ञा लेकर सद्ध्यानके लिए बैठ गया । श्रावकको बैठा देख उसके उपदेशसे जिसकी बुद्धि निर्मल हो गयी है ऐसा ब्राह्मण भी समाधिका नियम लेकर उसी प्रकार बैठ गया । आयु पूर्ण होनेपर वह ब्राह्मण

1 बुद्धधीः ख०, ग०, घ० ।

अभयाख्यः सुतो धीमानभिज्ञास्त्वमीदृशः । अतः परं तपः कृत्वा जिनेन्द्रद्विषड्भेदितम् ॥५२६॥
अवाप्स्यसि पदं मुक्तेरित्यसौ चावबुध्य तत् । अभिवन्द्य जिनं राज्ञा सह तुष्टोऽविशत्पुरम् ॥५२७॥
अथान्येद्युर्महाराजः श्रेणिकः सदसि स्थितः । अभयं सर्वशास्त्रज्ञं कुमारं वरवाग्मिनम् ॥५२८॥
तन्माहात्म्यप्रकाशार्थं तत्त्वं पप्रच्छ वस्तुनः । सोऽप्यासन्नविनेयत्वाद्वस्तुयाथात्म्यदर्शिधीः ॥५२९॥
स्वद्विजोत्सर्पिभाभारविभासितसभान्तरः । एवं निरूपयामास स्पष्टमृष्टेष्टगीर्गुणः ॥५३०॥
यस्य जीवादिभावानां याथात्म्येन प्रकाशनम् । तं पण्डितं बुधाः प्राहुः परे नाम्नैव पण्डिताः ॥५३१॥
जीवाद्याः कालपर्यन्ताः पदार्था जिनभाषिताः । द्रव्यपर्यायभेदाभ्यां नित्यानित्यस्वभावकाः ॥५३२॥
सर्वथात्मादितत्त्वानां मोहान्नित्यत्वकल्पने । सर्वद्रव्येषु संभूतिः परिणामस्य नो भवेत् ॥५३३॥
क्षणिकत्वे पदार्थानां न क्रिया कारकं च न । न फलं च तथा लोकव्यवहारविलोपनम् ॥५३४॥
नित्यत्वस्योपचारेण सत्त्वात्तस्य विलोपनम् । नो चेन्मिथ्योपचारेण कथं सत्यस्य साधनम् ॥५३५॥
धर्मद्वयोपलम्भाभ्यां दृष्टाऽप्यर्थक्रियां ब्रुवन् । भ्रान्तमन्यतरं ब्रूयादन्यस्याभ्रान्ततां कुतः ॥५३६॥
एकधर्मात्मकं सर्वं वाञ्छतोऽखिलवादिनः । सामान्येतरसंभूतौ कुतः संशयनिर्णयौ ॥५३७॥
प्रतीयमानज्ञानाभिधानासत्याभिभाषिणः । तयोरसत्यज्ञानाभिधानयोः केन मान्यता ॥५३८॥

सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ और वहाँ देवोंके सुख भोगकर आयुके अन्तमें अपने पुण्यके उदयमें यहाँ राजा श्रेणिकके तू अभय नामका ऐसा बुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न हुआ है। आगे तू श्री जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ बारह प्रकारका तपश्चरण कर मुक्तिका पद प्राप्त करेगा। यह सब जानकर अभयकुमार बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और श्रीजिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर राजा श्रेणिकके साथ नगरमें चला गया ॥५२२-५२७॥

अथानन्तर किसी एक दिन महाराज श्रेणिक राजसभामें बैठे हुए थे वहाँ उन्होंने समस्त शास्त्रोंके जाननेवाले श्रेष्ठ वक्ता अभयकुमारसे उसका माहात्म्य प्रकट करनेकी इच्छा-से तत्त्वका यथार्थ स्वरूप पूछा। अभयकुमार भी निकटभव्य होनेके कारण वस्तुके यथार्थ स्वरूपको देखनेवाला था तथा स्पष्ट मिष्ट और इष्टरूप वाणीके गुणोंसे सहित था इसलिए अपने दाँतोंकी फैलनेवाली कान्तिके भारसे सभाके मध्यभागको सुशोभित करता हुआ इस प्रकार निरूपण करने लगा ॥५२८-५३०॥ आचार्य कहते हैं कि जिसे जीवादि पदार्थोंका ठीक-ठीक बोध होता है विद्वान् लोग उसे ही पण्डित कहते हैं बाकी दूसरे लोग तो नाममात्रके पण्डित कहलाते हैं ॥५३१॥ अभयकुमार कहने लगा कि जिनेन्द्र भगवान्ने जीवसे लेकर काल पर्यन्त अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह पदार्थ कहे हैं। ये सभी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयके भेदसे क्रमशः नित्य तथा अनित्य स्वभाववाले हैं ॥५३२॥ यदि जीवादि पदार्थोंको अज्ञान वश सर्वथा नित्य मान लिया जावे तो सभी द्रव्योंमें जो परिणमन देखा जाता है वह संभव नहीं हो सकेगा ॥५३३॥ इसी प्रकार यदि सभी पदार्थोंको सर्वथा क्षणिक मान लिया जावे तो न क्रिया बन सकेगी, न कारक बन सकेगा, न क्रियाका फल सिद्ध हो सकेगा और लेन-देन आदि समस्त लोक-व्यवहारका सर्वथा नाश हो जावेगा ॥५३४॥ कदाचित् यह कहा जाय कि उपचारसे पदार्थ नित्य है इसलिए लोकव्यवहारका सर्वथा नाश नहीं होगा तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि उपचारसे सत्य पदार्थकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? आखिर उपचार तो असत्य ही है उससे सत्य पदार्थका निर्णय होना सम्भव नहीं है ॥५३५॥ जबकि नित्य-अनित्य दोनों धर्मोंसे ही पदार्थकी अर्थ क्रिया होती देखी जाती है तब दो धर्मोंमें-से एकको भ्रान्त कहनेवाला पुरुष दूसरे धर्मको अभ्रान्त किस प्रकार कह सकता है ? भावार्थ—जब अर्थ क्रियामें दोनों धर्म साधक हैं तब दोनों ही अभ्रान्त हैं यह मानना चाहिए ॥५३६॥ जो वादी समस्त पदार्थोंको एक धर्मात्मक ही मानते हैं उनके मतमें सामान्य तथा विशेषसे उत्पन्न होनेवाले संशय और निर्णय, सामान और विशेष धर्मके आश्रयसे ही उत्पन्न होते हैं इसलिए जब पदार्थको सामान्य विशेष—दोनों रूप मानकर एक रूप ही माना जायगा तो उनकी उत्पत्ति असम्भव हो जायगी ॥५३७॥ पदार्थ उभय धर्मात्मक है ऐसा ही ज्ञान

गुणगुण्यभिसंबन्धे संबन्धान्तरवादिनः । निःसंबन्धानवस्थाभ्युपेतहान्यनिवारणम् ॥५३९॥
त्यक्त्वैकान्तदुर्वादगर्वं सर्वज्ञभाषितम् । नित्यानित्यात्मकं तत्त्वं प्रत्येतव्यं मनीषिणा ॥५४०॥
[1]सर्वविन्मतश्रद्धा सम्यग्दर्शनमिष्यते । ज्ञातिस्तत्प्रोक्तवस्तूनां सम्यग्ज्ञानमुदाहृतम् ॥५४१॥
तदागमोपदेशेन योगत्रयनिषेधनम् । चारित्रं तत्त्रयं युक्तं मुक्तेर्भव्यस्य साधनम् ॥५४२॥
समेतमेव सम्यक्त्वज्ञानाभ्यां चरितं मतम् । स्यातां विनापि ते तेन गुणस्थाने चतुर्थके ॥५४३॥
कार्त्स्न्येन कर्मणां कृत्वा संवरं निर्जरां पराम् । [2]आप्नोतु परमस्थानं विनेयो विश्वदृक् ततः ॥५४४॥
इति सर्वं मनोहारि श्रुत्वा तस्य निरूपणम्[3] । वस्तुतत्त्वोपदेशेऽयं कुशलोऽभयपण्डितः ॥५४५॥
इति सर्वे सभासीनास्तन्माहात्म्यं समस्तुवन् । सन्मार्गवर्तिनं के वा न स्तुवन्ति [4]गुणान्वितम् ॥५४६॥

होता है और ऐसा ही कहनेमें आता है फिर भी जो उसे असत्य कहता है उसके उस असत्य ज्ञान और असत्य अभिधानमें सत्यता किस कारण होती है ? भावार्थ—जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है और लोकव्यवहारमें जिसका निरन्तर कथन होता देखा जाता है उसे प्रतिवादी असत्य बतलाता है सो उसके इस बतलानेसे सत्यता है इसका निर्णय किस हेतुसे होता है ? प्रतीयमान पदार्थको असत्य और अप्रतीयमान पदार्थको सत्य मानना युक्तिसंगत नहीं है ॥५३८॥ पदार्थोंमें गुण-गुणी सम्बन्ध विद्यमान है। उसके रहते हुए भी जो वादी समवाय आदि अन्य सम्बन्धोंकी कल्पना करता है उसके मतमें सम्बन्धका अभाव होनेसे अभ्युपेत—स्वीकृत मतकी हानि होती है और अनवस्था दोषकी अनिवार्यता आती है। भावार्थ—गुण-गुणी सम्बन्धके रहते हुए भी जो वादी समवाय आदि अन्य सम्बन्धोंकी कल्पना करता है उससे पूछना है कि तुम्हारे द्वारा कल्पित समवाय आदि सम्बन्धोंका पदार्थके साथ सम्बन्ध है या नहीं ? यदि नहीं है तो सम्बन्धका अभाव कहलाया और ऐसा माननेसे 'तुम्हारा जो स्वीकृत पक्ष है कि सम्बन्धरहित कोई पदार्थ नहीं है' उस पक्षमें बाधा आती है। इससे बचनेके लिए यदि यह मानते हो कि समवाय आदि सम्बन्धोंका पदार्थके साथ सम्बन्ध है तो प्रश्न होता है कि कौन-सा सम्बन्ध है ? इसके उत्तरमें किसी दूसरे सम्बन्धकी कल्पना करोगे तो उस दूसरे सम्बन्धके लिए तीसरे सम्बन्धकी कल्पना करनी पड़ेगी इस तरह अनवस्था दोष अनिवार्य हो जावेगा ॥५३९॥ इसलिए बुद्धिमानोंको एकान्त मिथ्यावादका गर्व छोड़कर सर्वज्ञ भगवान्के द्वारा कहा हुआ नित्यानित्यात्मक ही पदार्थ मानना चाहिए ॥५४०॥ सर्व और सर्वज्ञके द्वारा कहे हुए मतमें श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन है, सर्वज्ञके द्वारा कहे हुए पदार्थोंका जानना सो सम्यग्ज्ञान है और सर्वज्ञप्रणीत आगमके कहे अनुसार तीनों योगोंका रोकना सम्यक्चारित्र कहलाता है। ये तीनों मिलकर भव्य जीवके मोक्षके कारण माने गये हैं ॥५४१-५४२॥ सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे सहित ही होता है परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चतुर्थगुणस्थानमें सम्यक्चारित्रके बिना भी होते हैं। भावार्थ—सम्यक्चारित्रके एकदेश और सर्वदेशकी अपेक्षा दो भेद हैं। उनमें एक देशचारित्र पञ्चम गुणस्थानमें होता है और सर्वदेशचारित्र षष्ठ आदि गुणस्थानमें होता है। जिस जीवको सम्यक्चारित्र हो जाता है उसके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अनिवार्य रूपसे होते हैं परन्तु जिसमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है उसे सम्यक्चारित्र अनिवार्य नहीं है। होता भी है और नहीं भी होता। नहीं होनेकी अवस्था सिर्फ चतुर्थ गुणस्थानमें ही संभव है, क्योंकि वहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो है पर सम्यक्चारित्र नहीं है ॥५४३॥ इसलिए सम्यग्दृष्टि भव्य जीवको समस्त कर्मोंका उत्कृष्ट संवर और उत्कृष्ट निर्जरा कर मोक्ष रूप परमस्थान प्राप्त करना चाहिए ॥५४४॥ इस प्रकार मनको हरण करनेवाला, अभयकुमारका समस्त निरूपण सुनकर सभामें बैठे हुए सब लोग कहने लगे कि यह अभयकुमार, वस्तुतत्त्वका उपदेश देनेमें बहुत ही कुशल पण्डित

---

१ सर्ववित् तन्मते श्रद्धा क०, ख०, ग०, घ०। २ प्राप्नोति इत्यपि क्वचित्। ३ प्ररूपणम् इत्यपि क्वचित्। ४ गुणात्मताम् ल०।

पृथिवीच्छन्दः

धियोऽस्य सहजन्मना कुशलिमः कुशाग्रं यता
श्रुतेन कृतसंस्कृतेर्निशितता तु चान्यैव सा ।
ततः स निखिलां सभामभयपण्डितो वाग्गुणै-
रुपायनिपुणेषु लब्धविजयध्वजोऽरञ्जयत् ॥५४७॥

मालिनीच्छन्दः

क्व स सुविदिततत्त्वः श्रावकः क्वायमज्ञ-
स्फुरितदुरितदूरारूढमौढ्यैर्दृढीयान् ।
अमरपरिवृढत्वं प्राप्य[1] तस्योपदेशा-
दभयविभुरभूत्सत्संगमः किं न कुर्यात् ॥५४८॥

शार्दूलविक्रीडितम्

स्याद्धीस्तत्त्वविमर्शिनी कृतधियः श्रद्धानुविद्धा तया
हित्वा हेयमुपेयमाप्य विचरन् विच्छिद्य बन्धांस्ततः ।
सत्कर्माणि च संततं बहुगुणं संक्षापयन् संततेः
प्रान्तं प्राप्य भवेद्विवाभयविभुर्निर्वाणसौख्याकरः ॥५४९॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे अन्तिमतीर्थंकर-श्रेणिकाभय-कुमारचरितव्यावर्णनं नाम चतुःसप्ततितमं पर्व ॥७४॥



है । इस तरह सभी लोगोंने उसके माहात्म्यकी स्तुति की सो ठीक ही है क्योंकि ईर्ष्या रहित ऐसे कौन मनुष्य हैं जो सज्जनोंके गुणोंकी स्तुति नहीं करते ? ॥ ५४५-५४६ ॥ इस बुद्धिमान्की बुद्धि जन्मसे ही कुशाग्र थी फिर शास्त्रके संस्कारसे और भी तेज होकर अनोखी हो गयी थी इसीलिए अनेक उपायोंमें निपुण मनुष्योंमें विजयपताका प्राप्त करनेवाले उस अभयकुमार पण्डितने अपने वचनके गुणोंसे समस्त सभाको प्रसन्न कर दिया था ॥५४७॥ आचार्य कहते हैं कि देखो, कहाँ तो अच्छे तत्त्वोंको जाननेवाला वह श्रावक और कहाँ उदयागत पापकर्मके कारण बहुत दूर तक बढ़ी हुई मूढ़ताओंसे अत्यन्त दृढ़ यह अज्ञानी ब्राह्मण ? फिर भी उसके उपदेशसे देवपद पाकर यह वैभवशाली अभयकुमार हुआ है सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंका समागम क्या नहीं करता है ? अर्थात् सब कुछ करता है ॥५४८॥ जिस कुशल पुरुषकी बुद्धि तत्त्वोंका विचार करनेवाली है तथा उस बुद्धिके साथ अटल श्रद्धा अनुविद्ध है वह उस बुद्धिके द्वारा छोड़ने योग्य तत्त्वको छोड़कर तथा ग्रहण करने योग्य तत्त्वको ग्रहण कर विचरता है। मिथ्यात्व आदि प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति करता है, सत्तामें स्थित कर्मोंकी निरन्तर असंख्यातगुणी निर्जरा करता है और इस तरह संसारका अन्त पाकर अभयकुमारके समान मोक्षसुखका स्थान बन जाता है ॥५४९॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान स्वामी, राजा श्रेणिक और अभयकुमारके चरितका वर्णन करनेवाला चौहत्तरवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥७४॥



१ प्राप्यते स्मोपदेशात् ल० ।

पञ्चसप्ततितमं पर्व

अथान्येद्युः समासीनं गणेन्द्रं विपुलाचले । श्रेणिकः प्रीणिताशेषभव्यं सुव्यक्ततेजसम् ॥१॥
गणिन्याश्चन्दनार्यायाः संबन्धमिह जन्मनः । अन्वयुङ्क्त गणी चैवमाहाहितमहर्द्धिकः ॥२॥
सिन्ध्वाख्यविषये भूभृद्वैशाली नगरेऽभवत् । चेटकाख्योऽतिविख्यातो विनीतः परमार्हतः ॥३॥
तस्य देवी सुभद्राख्या तयोः पुत्रा दशाभवन् । धनाख्यौ दत्तभद्रान्तावुपेन्द्रोऽन्यः सुदत्तवाक् ॥४॥
सिंहभद्रः सुकुम्भोजोऽकम्पनः सपतङ्गकः । प्रभञ्जनः प्रभासश्च धर्मा इव सुनिर्मलाः ॥५॥
सप्तर्द्धयो वा पुत्र्यश्च ज्यायसी प्रियकारिणी । ततो मृगावती पश्चात्सुप्रभा च[1] प्रभावती ॥६॥
चेलिनी पञ्चमी ज्येष्ठा षष्ठी चान्त्या च चन्दना । विदेहविषये कुण्डसंज्ञायां पुरि भूपतिः ॥७॥
नाथो नाथकुलस्यैकः सिद्धार्थाख्यस्त्रिसिद्धिभाक्[2] । तस्य पुण्यानुभावेन [3]प्रियासीत्प्रियकारिणी ॥८॥
विषये वत्सवासाख्ये कौशाम्बीनगराधिपः । सोमवंशे शतानीको देव्यस्यासीन्मृगावती ॥९॥
दशार्णविषये राजा हेमकच्छपुराधिपः । सूर्यवंशाम्बरे राजसमो दशरथोऽभवत् ॥१०॥
तस्याभूत्सुप्रभा देवी भास्वतो वा प्रभामला । कच्छाख्यविषये रोरुकाख्यायां पुरि भूपतिः ॥११॥
महानुदयनस्तस्य [4]प्रेमदाऽभूत्प्रभावती । प्राप शीलवतीख्यातिं सा सम्यक्छीलधारणात् ॥१२॥
गान्धारविषये ख्यातो महीपालो महीपुरे । याचित्वा सत्यको ज्येष्ठामलब्ध्वा क्रुद्धवान् विधिः ॥१३॥
युद्ध्वा रणाङ्गणे प्राप्तमानभङ्गः स सत्रपः । सद्यो दमवरं प्राप्य ततः संयममग्रहीत् ॥१४॥

अथानन्तर—किसी दूसरे दिन समस्त भव्य जीवोंको प्रसन्न करनेवाले और प्रकट तेजके धारक गौतम गणधर विपुलाचलपर विराजमान थे। उनके समीप जाकर राजा श्रेणिकने समस्त आर्यिकाओंकी स्वामिनी चन्दना नामकी आर्यिकाकी इस जन्मसम्बन्धी कथा पूछी सो अनेक बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले गणधर देव इस प्रकार कहने लगे ॥१-२॥ सिन्धु नामक देशकी वैशाली नगरीमें चेटक नामका अतिशय प्रसिद्ध, विनीत और जिनेन्द्र देवका अतिशय भक्त राजा था। उसकी रानीका नाम सुभद्रा था। उन दोनोंके दश पुत्र हुए जो कि धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त, सिंहभद्र, सुकुम्भोज, अकम्पन, पतंगक, प्रभंजन और प्रभास नामसे प्रसिद्ध थे तथा उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंके समान जान पड़ते थे ॥३-५॥ इन पुत्रोंके सिवाय सात ऋद्धियोंके समान सात पुत्रियाँ भी थीं। जिनमें सबसे बड़ी प्रियकारिणी थी, उससे छोटी मृगावती, उससे छोटी सुप्रभा, उससे छोटी प्रभावती, उससे छोटी चेलिनी, उससे छोटी ज्येष्ठा और सबसे छोटी चन्दना थी। विदेह देशके कुण्डनगरमें नाथ वंशके शिरोमणि एवं तीनों सिद्धियोंसे सम्पन्न राजा सिद्धार्थ राज्य करते थे। पुण्यके प्रभावसे प्रियकारिणी उन्हींको स्त्री हुई थी ॥६-८॥ वत्सदेशकी कौशाम्बीनगरीमें चन्द्रवंशी राजा शतानीक रहते थे। मृगावती नामकी दूसरी पुत्री उनकी स्त्री हुई थी ॥ ९ ॥ दशार्ण देशके हेमकच्छ नामक नगरके स्वामी राजा दशरथ थे जो कि सूर्यवंश रूपी आकाशके चन्द्रमाके समान जान पड़ते थे। सूर्यकी निर्मलप्रभाके समान सुप्रभा नामकी तीसरी पुत्री उनकी रानी हुई थी, कच्छ-देशकी रोरुका नामक नगरीमें उदयन नामका एक बड़ा राजा था। प्रभावती नामकी चौथी पुत्री उसीकी हृदयवल्लभा हुई थी। अच्छी तरह शीलव्रत धारण करनेसे इसका दूसरा नाम शीलवती भी प्रसिद्ध हो गया था ॥१०-१२॥ गान्धार देशके महीपुर नगरमें राजा सत्यक रहता था। उसने राजा चेटकसे उसकी ज्येष्ठा नामकी पुत्रीकी याचना की परन्तु राजाने नहीं दी इससे उस दुर्बुद्धि मूर्खने कुपित होकर रणांगणमें युद्ध किया परन्तु युद्धमें वह हार गया जिससे मानभंग होनेसे लज्जित होनेके कारण उसने शीघ्र ही दमवर नामक मुनिराजके समीप जाकर

---

१ सुप्रभातः ल०, क्वचिदन्यापि च । २ स्वसिद्धिभाक् ल० । ३ प्रियाभूत् ल० । ४ प्रमदा ल० ।

स चेटकमहाराजः स्नेहाद् रूपमलीलिखत्[1] । पट्टके सप्तपुत्रीणां विशुद्धं शश्वदीक्षितुम् ॥१५॥
निरीक्ष्य तत्र चेलिन्या रूपस्य पतितं मनाक् । बिन्दुमूरौ चित्रज्ञेऽस्य नृपे कुपितवत्यसौ ॥१६॥
पूज्यद्वित्रिर्मया बिन्दुः प्रमृष्टः[2] संस्तथापि सः । तथैव पतितस्तस्मिन्नाव्यमङ्केन तादृशा[3] ॥१७॥
इति मत्वानुमानेन पुनर्न तममार्जिषम् । इत्यब्रवीत्तदुक्तेन भूपतिः प्रीतिमीयिवान्[4] ॥१८॥
स देवार्चनवेलायां जिनबिम्बोपकण्ठके । तत्पट्टकं प्रसार्येज्यां निर्वर्तयति सर्वदा ॥१९॥
कदाचिच्चेटको गत्वा ससैन्यो मागधं पुरम् । [5]राजा राजगृहं बाह्योद्याने स्नानपुरस्सरम् ॥२०॥
जिनप्रतिनिधीन्पूर्वमभ्यर्च्याभ्यर्णपट्टकम् । आनर्च तद्विलोक्य त्वमप्राक्षीः पार्श्ववर्तिनः ॥२१॥
किमेतदिति तेऽवोचन् राज्ञः सप्तापि पुत्रिकाः । किलितास्तासु चतस्रः समप्रापिताः ॥२२॥
तिस्रो नाद्यापि दीयन्ते तत्र द्वे प्राप्तयौवने । कनिष्ठा बालिका राजन्निति तद्वचनश्रुतेः ॥२३॥
[6]भवान् रक्तं तयोश्चित्तं मन्त्रिणः समविज्ञपत् । तेऽपि तत्कार्यमभ्येत्य कुमारमवदन्निति ॥२४॥
चेटकाख्यमहीशस्य सुतयोरनुरक्तवान् । पिता ते याच्यमानोऽसौ न दत्ते वयमश्च्युतेः ॥२५॥
इदमावश्यकर्तव्यं कोऽप्युपायोऽत्र कथ्यताम् । सोऽपि मन्त्रिवचः श्रुत्वा तत्कार्योपायपण्डितः ॥२६॥
[7]जोषमाध्वमहं कुर्वे तत्समर्थनमित्यमून् । संतोष्य मन्त्रिणः सोऽपि तत्स्वरूपं विकासवत् ॥२७॥
पट्टके सम्यगालिख्य वस्त्रेणाच्छाद्य यत्नतः । तत्पार्श्ववर्तिनः सर्वान् [8]स्वीकृत्योत्कोचदानतः ॥२८॥

दीक्षा धारण कर ली ॥१३-१४॥ तदनन्तर महाराज चेटकने स्नेहके कारण सदा देखनेके लिए पट्टकपर अपनी सातों पुत्रियोंके उत्तम चित्र बनवाये। चेलिनीके चित्रमें जाँघपर एक छोटा-सा बिन्दु पड़ा हुआ था उसे देखकर राजा चेटक बनानेवालेपर बहुत कुपित हुए। चित्रकारने नम्रतासे उत्तर दिया कि हे पूज्य! चित्र बनाते समय यहाँ बिन्दु पड़ गया था मैंने उसे यद्यपि दो-तीन बार साफ किया परन्तु वह फिर-फिरकर पड़ता जाता था इसलिए मैंने अनुमानसे विचार किया कि यहाँ ऐसा चिह्न होगा ही। यह मानकर ही मैंने फिर उसे साफ नहीं किया है। चित्रकारकी बात सुनकर महाराज प्रसन्न हुए॥१५-१८॥ राजा चेटक देव-पूजाके समय जिनप्रतिमाके समीप ही अपनी पुत्रियोंका चित्रपट फैलाकर सदा पूजा किया करते थे॥१९॥ किसी एक समय राजा चेटक अपनी सेनाके साथ मगधदेशके राजगृह नगरमें गये वहाँ उन्होंने नगरके बाह्य उपवनमें डेरा दिया। स्नान करनेके बाद उन्होंने पहले जिन-प्रतिमाओंकी पूजा की और उसके बाद समीपमें रखे हुए चित्रपटकी पूजा की। यह देखकर तूने समीपवर्ती लोगोंसे पूछा कि यह क्या है? तब उन लोगोंने कहा कि हे राजन्! ये राजाकी सातों पुत्रियोंके चित्रपट हैं इनमें-से चार पुत्रियाँ तो विवाहित हो चुकी हैं परन्तु तीन अविवाहित हैं उन्हें यह अभी दे नहीं रहा है। इन तीनमें दो तो यौवनवती हैं और छोटी अभी बालिका है! लोगोंके उक्त-वचन सुनकर तूने अपने मन्त्रियोंको बतलाया कि मेरा चित्त इन दोनों पुत्रियोंमें अनुरक्त हो रहा है। मन्त्री लोग भी इस कार्यको लेकर अभयकुमारके पास जाकर बोले कि तुम्हारे पिता चेटक राजाकी दो पुत्रियोंमें अनुरक्त हैं उन्होंने वे पुत्रियाँ माँगी भी हैं परन्तु अवस्था ढल जानेके कारण वह देता नहीं है॥२०-२५॥ यह कार्य अवश्य करना है इसलिए कोई उपाय बतलाइए। मन्त्रियोंके वचन सुनकर उस कार्यके उपाय जाननेमें चतुर अभयकुमारने कहा कि आप लोग चुप बैठिए, मैं इस कार्यको सिद्ध करता हूँ। इस प्रकार सन्तुष्ट कर अभयकुमारने मन्त्रियोंको बिदा किया और स्वयं एक पटियेपर राजा श्रेणिकका विलासपूर्ण चित्र बनाया। उसे वस्त्रसे ढककर बड़े यत्नसे ले गया। राजाके समीपवर्ती लोगोंको घूस देकर उसने अपने वश कर लिया और स्वयं वोद्रक नामका व्यापारी बनकर राजा चेटकके घरमें प्रवेश

१ व्यलीलिखत् ख०। रूपावलीलिखत् ग०, क०, घ०। २ सत चापि सः ल०। ३ तादृशम् क०, ग०, घ०। ४-मासवान् ल०। ५ राजद्राजगृहं ल०। ६ भवद् ल०। ७ योष-ल०। ८ स्वीकृत्योत्कोटदानतः ल०, म०, स्वीकृत्योत्कटदानतः ग०, घ०, क०। 'उत्कोचो कौकनं तथा। उपप्रदानमुपदोपहारोपायने समे' इति नामकोशे यतीन्द्राः (ख०, टि०)।

स्वयं च चोद्रको नाम वणिग्भूत्वा तदालयम् । प्राविशत्पट्टके रूपं कन्ये ते तत्करस्थिते[1] ॥२९॥
विलोक्य भवति प्रीत्या [2]सौरङ्गादतिसाहसात् । कुमारविहितान्मार्गाद् गत्वा किंचित्ततोऽन्तरे ॥३०॥
चेलिनी कुटिला ज्येष्ठां मुक्त्वा त्वं गच्छ विस्मृता । आनयाभरणानीति स्वयं तेन सहागमत् ॥३१॥
साप्यादायाभरणाऽऽगत्य तामदृष्ट्वातिसंधिता । तयाहमिति शोकार्ता निजमामीं यशस्वतीम् ॥३२॥
दृष्ट्वा क्षान्तिं समीपेऽस्याः श्रुत्वा धर्मं जिनोदितम् । निर्विद्य संसृतेर्दीक्षां प्राप पापविनाशिनीम् ॥३३॥
भवतापि महाप्रीत्या चेलिनीयं यथाविधि । गृहीतानुमहादेवी पट्टबन्धात्तुतोष सा ॥३४॥
चन्दना च यशस्वत्या गणिन्याः संनिधौ स्वयम् । सम्यक्त्वं श्रावकाणां च व्रतान्यादत्त सुव्रता ॥३५॥
ततः खगाद्रियाम्यश्रेणीसुवर्णाभपुरेश्वरः । मनोवेगः खगाधीशः स मनोवेगया समम् ॥३६॥
स्वच्छन्दं चिरमाक्रीड्य प्रत्यायाँश्चन्दनां वने । अशोकाख्ये समाक्रीडमानां परिजनैः सह ॥३७॥
विलोक्यानङ्गनिर्मुक्तशरजर्जरिताङ्गकः । प्रापय्य स्वप्रियां गेहं रूपिणीविद्यया स्वयम् ॥३८॥
विकृत्य रूपं स्वं तत्र निधाय हरिविष्टरे । अशोकवनमभ्येत्य गृहीत्वा चन्दनां द्रुतम् ॥३९॥
प्रत्यागतो मनोवेगाप्येतं[3] विहितवञ्चनम् । ज्ञात्वा कोपारुणीभूतविभीषणविलोचना ॥४०॥
तां विद्यादेवतां वामपादेनाक्रम्य साब्रवीत् । कृताट्टहासा सा विद्याप्यगात्सिंहासनात्तदा ॥४१॥
[4]चेष्टामालोकिनीविद्यातो ज्ञात्वा स्वपतेरनु । गच्छन्त्यर्धपथे दृष्ट्वा विसृजेमां स्वजीवितम् ॥४२॥
यदि वाञ्छेरिति क्रोधात्तं निर्भर्त्सयति स्म सा । स भूतरमणेऽरण्ये तां स्वदारातिभीलुकः ॥४३॥

किया । वहाँ वे दोनों कन्याएँ चोद्रकके हाथमें स्थित पटियेपर लिखा हुआ आपका रूप देखकर आपमें प्रेम करने लगीं । कुमारने एक सुरंगका मार्ग पहलेसे ही तैयार करवा लिया था अतः वे कन्याएँ बड़े साहसके साथ उस मार्गसे चल पड़ीं । चेलिनी कुटिल थी इसलिए कुछ दूर जानेके बाद ज्येष्ठासे बोली कि मैं आभूषण भूल आयी हूँ तू जाकर उन्हें ले आ । यह कहकर उसने ज्येष्ठाको तो वापिस भेज दिया और स्वयं अभयकुमारके साथ आ गयी ॥२६–३१॥ जब ज्येष्ठा आभूषण लेकर लौटी तो वहाँ चेलिनी तथा अभयकुमारको न पाकर बहुत दुःखी हुई और कहने लगी कि चेलिनीने मुझे इस तरह ठगा है । अन्तमें उसने अपनी मामी यशस्वती नामकी आर्यिकाके पास जाकर जैनधर्मका उपदेश सुना और संसारसे विरक्त होकर पापोंका नाश करनेवाली दीक्षा धारण कर ली ॥३२–३३॥ आपने भी बड़ी प्रीतिसे विधिपूर्वक चेलिनीके साथ विवाह कर उसे महादेवीका पट्ट बाँधा जिससे वह बहुत ही सन्तुष्ट हुई ॥३४॥

इधर उत्तम व्रत धारण करनेवाली चन्दनाने स्वयं यशस्वती आर्यिकाके समीप जाकर सम्यग्दर्शन और श्रावकोंके व्रत ग्रहण कर लिये ॥३५॥ किसी एक समय वह चन्दना अपने परिवारके लोगोंके साथ अशोक नामक वनमें क्रीड़ा कर रही थी । उसी समय दैवयोगसे विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीके सुवर्णाभ नगरका राजा मनोवेग विद्याधर अपनी मनोवेगा रानीके साथ स्वच्छन्द क्रीड़ा करता हुआ वहाँसे निकला और क्रीड़ा करती हुई चन्दनाको देखकर कामके द्वारा छोड़े हुए बाणोंसे जर्जरशरीर हो गया । वह शीघ्र ही अपनी स्त्रीको घर भेजकर रूपिणी विद्यासे अपना दूसरा रूप बनाकर सिंहासनपर बैठा आया और अशोक वनमें आकर तथा चन्दनाको लेकर शीघ्र ही वापस चला गया । उधर मनोवेगा उसकी मायाको जान गयी जिससे क्रोधके कारण उसके नेत्र लाल होकर भयंकर दिखने लगे । उसने उस विद्या देवताको बाँयें पैरकी ठोकर देकर मार दिया जिससे वह अट्टहास करती हुई सिंहासनसे उसी समय चली गयी ॥३६–४१॥ तदनन्तर वह मनोवेगा रानी आलोकिनी नामकी विद्यासे अपने पतिकी सब चेष्टा जानकर उसके पीछे दौड़ी और आधे मार्गमें चन्दना सहित लौटते हुए पतिको देखकर बोली कि यदि अपना जीवन चाहते हो तो इसे छोड़ दो । इस प्रकार क्रोधसे उसने उसे बहुत ही डाँटा । मनोवेग अपनी स्त्रीसे बहुत

१ करस्थितम् छ० । २ सौभाग्या–ख०, ग०, क० । ३–प्येतन्निहितवञ्चनाम् म०, छ० । ४–भामोगिनी छ० ।

ऐरावतीसरिद्दक्षिणान्ते साधितविद्यया । पर्णलघ्व्या तदैवास्तां कृतशोको विमुक्तवान् ॥४४॥
सापि पञ्चनमस्कारपरिवर्तनतत्परा । निनाय शर्वरीं कृच्छ्राद्भानुमत्युदिते स्वयम् ॥४५॥
तत्र संनिहितो दैवात्कालकाख्यो वनेचरः । तस्मै निजपराध्योरुस्फुरिताभरणान्यदात् ॥४६॥
धर्मं च कथयामास तेन तुष्टो वनेचरः । भीमकूटाचलोपान्तनिवासी सिंहसंज्ञकः ॥४७॥
भयंकराख्यपल्लीशस्तस्य तां स समर्पयत् । सोऽपि पापी[1] विलोक्यैनां कामव्यामोहिताशयः ॥४८॥
निग्रहेण ग्रहः क्रूरो वाऽऽत्मसात्कर्तुमुद्यतः । तद्वीक्ष्य पुत्र मैवं त्वं कृथाः प्रत्यक्षदेवता ॥४९॥
यदि कुप्येदियं तापशापदुःखप्रदायिनी । इति मातुरुक्तिभीत्या तां दुर्जनोऽपि व्यसर्जयत् ॥५०॥
तत्रैव चन्दना तस्य मात्रा सम्यग्विधानतः । पोष्यमाणा विनिश्चिन्ता कंचित्कालमजीगमत् ॥५१॥
अथ वत्साह्वये देशे कौशाम्ब्यां प्रवरे पुरे । श्रेष्ठी वृषभसेनाख्यस्तस्य कर्मकरोऽभवत् ॥५२॥
मित्रवीरो वनेशस्य मित्रं तस्य वनाधिपः । चन्दनामर्पयामास सोऽपि भक्त्या वणिक्पतेः ॥५३॥
धनेन महता सार्धं नीत्वा कन्यां न्यवेदयत् । कदाचिच्छ्रेष्ठिनः पातुं जलमुद्धृत्य यत्नतः ॥५४॥
आवर्जयन्त्याः केशानां कलापं मुक्तबन्धनम् । लम्बमानं करेणाऽऽत्तं जलार्द्रं धरातले ॥५५॥
चन्दनायास्तदालोक्य तद्रूपादतिशङ्किनी[2] । श्रेष्ठिनी तस्य भद्राख्या स्वभर्तुरनया समम् ॥५६॥
संपर्कं मनसा मत्वा कोपात्प्रस्फुरिताधरा । निक्षिप्य शृङ्खलां कन्यां दुराहारेण दुर्जना ॥५७॥
प्रतर्जनादिभिश्चैनां निरन्तरमबाधत । सापि मत्कृतपापस्य विपाकोऽयं वराकिका ॥५८॥

हो डर गया । इसलिए उसने हृदयमें बहुत ही शोक कर सिद्ध की हुई पर्णलघ्वी नामकी विद्यासे उस चन्दनाको भूतरमण नामक वनमें ऐरावती नदीके दाहिने किनारेपर छोड़ दिया ॥४२-४४॥ पंचनमस्कार मन्त्रका जप करनेमें तत्पर रहनेवाली चन्दनाने वह रात्रि बड़े कष्टसे बितायी। प्रातःकाल जब सूर्यका उदय हुआ तब भाग्यवश एक कालक नामका भील वहाँ स्वयं आ पहुँचा । चन्दनाने उसे अपने बहुमूल्य देदीप्यमान आभूषण दिये और धर्मका उपदेश भी दिया जिससे वह भील बहुत ही सन्तुष्ट हुआ। वहीं कहीं भीमकूट नामक पर्वतके पास रहनेवाला एक सिंह नामका भीलोंका राजा था, जो कि भयंकर नामक पल्लीका स्वामी था । उस कालक नामक भीलने वह चन्दना उसी सिंह राजाको सौंप दी । सिंह पापी था अतः चन्दनाको देखकर उसका हृदय कामसे मोहित हो गया ॥४५-४८॥ वह क्रूर ग्रहके समान निग्रह कर उसे अपने अधीन करनेके लिए उद्यत हुआ । यह देख उसकी माताने उसे समझाया कि हे पुत्र ! तू ऐसा मत कर, यह प्रत्यक्ष देवता है, यदि कुपित हो गयी तो कितने ही सन्ताप, शाप और दुःख देनेवाली होगी । इस प्रकार माताके कहनेसे डरकर उसने स्वयं दुष्ट होनेपर भी वह चन्दना छोड़ दी ॥४९-५०॥ तदनन्तर चन्दनाने उस भीलकी माताके साथ निश्चिन्त होकर कुछ काल वहींपर व्यतीत किया । वहाँ भीलकी माता उसका अच्छी तरह भरण-पोषण करती थी ॥५१॥

अथानन्तर—वत्स देशके कौशाम्बी नामक श्रेष्ठ नगरमें एक वृषभसेन नामका सेठ रहता था । उसके मित्रवीर नामका एक कर्मचारी था जो कि उस भीलराजका मित्र था । भीलोंके राजाने वह चन्दना उस मित्रवीरके लिए दे दी और मित्रवीरने भी बहुत भारी धनके साथ भक्तिपूर्वक वह चन्दना अपने सेठके लिए सौंप दी। किसी एक दिन वह चन्दना उस सेठके लिए जल पिला रही थी उस समय उसके केशोंका कलाप छूट गया था और जलसे भीगा हुआ पृथिवीपर लटक रहा था उसे वह बड़े यत्नसे एक हाथसे सँभाल रही थी ॥५२-५५॥ सेठकी स्त्री भद्रा नामक सेठानीने जब चन्दनाका वह रूप देखा तो वह शंकासे भर गयी । उसने मनमें समझा कि हमारे पतिका इसके साथ सम्पर्क है । ऐसा मानकर वह बहुत ही कुपित हुई । क्रोधके कारण उसके ओठ काँपने लगे । उस दुष्टाने चन्दनाको साँकलसे बाँध दिया तथा खराब भोजन और ताड़न-मारण आदिके द्वारा वह उसे निरन्तर कष्ट पहुँचाने लगी । परन्तु चन्दना यही विचार करती थी कि यह सब मेरे-द्वारा किये हुए पाप-कर्मका फल है । यह बेचारी सेठानी क्या कर सकती है ? ऐसा विचारकर वह निरन्तर आत्मनिन्दा करती

---

१ पापी ल०, म० । २–दतिकोपिनी ल० ।

श्रेष्ठिनी किं करोतीति कुर्वन्त्यात्मविगर्हणम् । स्वाग्रजाया मृगावत्या अप्येतन्न न्यवेदयत् ॥५९॥
अन्यदा नगरे तस्मिन्नेव वीरस्तनुस्थितेः । प्रविष्टवान्निरीक्ष्यासौ तं भक्त्या मुक्तशृङ्खला ॥६०॥
सर्वाभरणहृद्याङ्गी[1] तद्भारेणेव भूतलम् । शिरसास्पृश्य नत्वोच्चैः प्रतिगृह्य यथाविधि ॥६१॥
भोजयित्वाप तद्दानान्मानिनी मानितामरैः । वसुधारां मरुत्पुष्पवृष्टिं सुरभिमारुतम् ॥६२॥
सुरदुन्दुभिनिर्घोषं दानस्तवनघोषणम् । सद्योत्कृष्टपुण्यानि फलन्ति विपुलं फलम् ॥६३॥
अग्रजास्यास्तदाकर्ण्य पुत्रेणामा मृगावती । तदागत्योदयनाख्येन स्नेहादालिङ्ग्य चन्दनाम् ॥६४॥
पृष्ट्वा तां प्राक्तनं वृत्तं श्रुत्वा शोकाकुला भृशम् । [2]निजगेहं समानीय सुस्थिता भयविह्वलौ ॥६५॥
तत्पादशरणौ भद्रा श्रेष्ठिनं च दयावती[3] । चन्दनापादपङ्केजयुगलं तावनीनमत् ॥६६॥
क्षमा मूर्तिमतीवेयं कृत्वाह्लादं तयोस्ततः । तद्वार्ताकर्णनोदीर्णरागादागतबन्धुभिः ॥६७॥
प्रापितैनत्पुरं वीरं वन्दितुं निजबान्धवान् । विसृज्य जातनिर्वेगा गृहीत्वैव संयमम् ॥६८॥
तपोज्ञानमाहात्म्यादध्यस्थाद्गणिनीपदम् । इतीहजन्मसंबन्धं श्रुत्वा तत्रानुचेटकः ॥६९॥
प्राक्किं कृत्वागता चन्दनात्रैतत्स च पृष्टवान् । सोऽप्यवादीदिहैवास्ति मगधे नगरी पृथुः ॥७०॥
वत्सेति पालयत्येनां महीपाले प्रसेनिके । विप्रस्तत्राग्निमित्राख्यस्तस्यैका ब्राह्मणी प्रिया ॥७१॥
परा वैश्यसुता[4] सूनुर्ब्राह्मण्यां शिवभूतिवाक् । दुहिता चित्रसेनाख्या[5] विट्सुतायामजायत ॥७२॥

रहती थी। उसने यह सब समाचार अपनी बड़ी बहन मृगावतीके लिए भी कहलाकर नहीं भेजे थे ।।५६-५६।।

तदनन्तर किसी दूसरे दिन भगवान् महावीर स्वामीने आहारके लिए उसी नगरीमें प्रवेश किया। उन्हें देख चन्दना बड़ी भक्तिसे आगे बढ़ी। आगे बढ़ते ही उसकी साँकल टूट गयी और आभरणोंसे उसका सब शरीर सुन्दर दिखने लगा। उन्हींके भारसे मानो उसने झुककर शिरसे पृथिवी तलका स्पर्श किया, उन्हें नमस्कार किया और विधिपूर्वक पड़गाहकर उन्हें भोजन कराया। इस आहार दानके प्रभावसे वह मानिनी बहुत ही सन्तुष्ट हुई, देवोंने उसका सम्मान किया, रत्नधाराकी वृष्टि की, सुगन्धित फूल बरसाये, देव-दुन्दुभियोंका शब्द हुआ और दानकी स्तुतिकी घोषणा होने लगी सो ठीक ही है क्योंकि उत्कृष्ट पुण्य अपने बड़े भारी फल तत्काल ही फलते हैं ।।६०-६३।। तदनन्तर चन्दनाकी बड़ी बहन मृगावती यह समाचार जानकर उसी समय अपने पुत्र उदयनके साथ उसके समीप आयी और स्नेहसे उसका आलिंगन कर पिछला समाचार पूछने लगी तथा सब पिछला समाचार सुनकर बहुत ही व्याकुल हुई। तदनन्तर रानी मृगावती उसे अपने घर ले जाकर सुखी हुई। यह देख भद्रा सेठानी और वृषभसेन सेठ दोनों ही भयसे घबड़ाये और मृगावतीके चरणोंकी शरणमें आये। दयालु रानीने उन दोनोंसे चन्दनाके चरण-कमलोंमें प्रणाम कराया ।।६४-६६।। चन्दनाके क्षमा कर देनेपर वे दोनों बहुत ही प्रसन्न हुए और कहने लगे कि यह मानो मूर्तिमती क्षमा ही है। इस समाचारके सुननेसे उत्पन्न हुए स्नेहके कारण चन्दनाके भाई-बन्धु भी उसके पास आ गये। उसी नगरमें सब लोग महावीर स्वामीकी वन्दनाके लिए गये थे, चन्दना भी गयी थी, वहाँ वैराग्य उत्पन्न होनेसे उसने अपने सब भाई-बन्धुओंको छोड़कर दीक्षा धारण कर ली और तपश्चरण तथा सम्यग्ज्ञानके माहात्म्यसे उसने उसी समय गणिनीका पद प्राप्त कर लिया। इस प्रकार चन्दनाके वर्तमान भवकी बात सुनकर राजा चेटकने फिर प्रश्न किया कि चन्दना पूर्व जन्ममें ऐसा कौन-सा कार्य करके यहाँ आयी है। इसके उत्तरमें गणधर भगवान् कहने लगे—इसी मगध देशमें एक वत्सा नामकी विशाल नगरी है। राजा प्रसेनिक उसमें राज्य करता था। उसी नगरीमें एक अग्निमित्र नामका ब्राह्मण रहता था। उसकी दो स्त्रियाँ थीं एक ब्राह्मणी और दूसरी वैश्यकी पुत्री। ब्राह्मणीके शिवभूति नामका पुत्र हुआ और वैश्य पुत्रीके चित्रसेना नामकी लड़की

---

१ सर्वाभरणहृद्याङ्गा ल० । २ निजगृहं ब० । ३ मृगावती ल० । ४ सूनुब्राह्मण्यां ल० । ५ वैश्यपुत्र्या इति क्वचित् ।

शिवभूतेरभूद्भार्या सोमिला सोमशर्मणः । सुता तद्देवशर्मास्यश्चित्रसेनास्य च प्रिया ॥७३॥
अग्निभूतौ गतप्राणे तनूजस्तत्पदेऽभवत् । विधवा चित्रसेनापि पोष्यत्वं सह सूनुभिः ॥७४॥
शिवभूतेः समापन्ना दैवस्य कुटिला गतिः । सोमिला चित्रसेनायास्तत्सुतानां च पोषणम् ॥७५॥
पापिष्ठाऽसहमानाऽसौ तर्जिता शिवभूतिना । क्रुद्ध्वा जीवत्यमा चित्रसेनयायं स चेत्यसत् ॥७६॥
अकरोद्दूषणं धिग्धिङ्नाकार्यं नाम योषिताम् । चित्रसेनापि मामेषा ह्यत्रादूषयन्मृषा ॥७७॥
निग्रहीष्यामि मृत्वैनां निदानमकरोदिति । अन्यदामन्त्रणे पूर्वं शिवगुप्तमुनीश्वरम् ॥७८॥
सोमिलाभोजयत्तस्यै शिवभूतिः स्म कुप्यति । तत्तपोधनमाहात्म्यकथनेन तया पतिः ॥७९॥
प्रसादितस्ततः साधु तद्दानं सोऽन्वमन्यत । स कालान्तरमाश्रित्य लोकान्तरगतः सुतः ॥८०॥
जातोऽत्र विषये [1]वङ्गे कान्ते कान्तपुरेशिनः । सुवर्णवर्मणो विद्युल्लेखायाश्च महाबलः ॥८१॥
देशेऽङ्गेऽत्रैव चम्पायां श्रीषेणाख्यमहीपतेः । सुवर्णवर्मसोदर्या धनश्रीः प्रेमदायिनी ॥८२॥
सोमिलाभूत्तयोः पुत्री कनकादिलताभिधा । महाबलकुमाराय दातव्येयमिति स्वयम् ॥८३॥
अम्मन्येवाभ्युपेतैषा मात्रा पित्रा च संमदात् । वर्धमानः पुरे तस्मिन्नेव बालिकया समम् ॥८४॥
अभ्यर्णे यौवने यावद्विवाहसमयो भवेत् । [2]तावत्पृथग्वसेदस्मादिति मातुलवाक्यतः ॥८५॥
बहिः स्थितः कुमारोऽसौ कन्यायामतिसक्तवान् । तयोर्योगोऽभवत्कामावस्थामसहमानयोः ॥८६॥
ततः कान्तपुरं लज्जाप्रेरितौ तौ गतौ तदा । [3]दृष्ट्वा तत्र कुमारस्य[4] मात्रा पित्रा च शोकतः ॥८७॥

उत्पन्न हुई ॥६७-७२॥ शिवभूतिकी स्त्रीका नाम सोमिला था जो कि सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्री थी और उसी नगरमें एक देवशर्मा नामक ब्राह्मण-पुत्र था उसे चित्रसेना ब्याही गयी थी ॥७३॥ कितने ही दिन बाद जब अग्निभूति ब्राह्मण मर गया तब उसके स्थानपर उसका पुत्र शिवभूति ब्राह्मण अधिरूढ़ हुआ। इधर चित्रसेना विधवा हो गयी इसलिए अपने पुत्रोंके साथ शिवभूतिके घर आकर रहने लगी सो ठीक ही है क्योंकि कर्मोंकी गति बड़ी टेढ़ी है। शिवभूति, अपनी बहन चित्रसेना और उसके पुत्रोंका जो भरण-पोषण करता था वह पापिनी सोमिलाको सह्य नहीं हुआ इसलिए शिवभूतिने उसे ताड़ना दी तब उसने क्रोधित होकर मिथ्या दोष लगाया कि यह मेरा भर्ता चित्रसेनाके साथ जीवित रहता है अर्थात् इसका उसके साथ अनुराग है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि स्त्रियोंको कोई भी कार्य अकार्य नहीं है अर्थात् वे बुरासे बुरा कार्य कर सकती हैं इसलिए इन स्त्रियोंको बार-बार धिक्कार हो। चित्रसेनाने भी क्रोधमें आकर निदान किया कि इसने मुझे मिथ्या दोष लगाया है। इसलिए मैं मरनेके बाद इसका निग्रह करूँगी—बदला लूँगी। तदनन्तर किसी एक दिन सोमिलाने शिवगुप्त नामक मुनिराजको पड़गाहकर आहार दिया जिससे शिवभूतिने सोमिलाके प्रति बहुत ही क्रोध प्रकट किया परन्तु उन मुनिराजका माहात्म्य कहकर सोमिलाने शिवभूतिको प्रसन्न कर लिया और उसने भी उस दानकी अच्छी तरह अनुमोदना की। समय पाकर वह शिवभूति मरा और अत्यन्त रमणीय वंग देशके कान्तपुर नगरमें वहाँके राजा सुवर्णवर्मा तथा रानी विद्युल्लेखाके महाबल नामका पुत्र हुआ ॥७४-८१॥ इसी भरतक्षेत्रके अंग देशकी चम्पा नगरीमें राजा श्रीषेण राज्य करते थे। इनकी रानीका नाम धनश्री था, यह धनश्री कान्तपुर नगरके राजा सुवर्णवर्माकी बहन थी। सोमिला उन दोनोंके कनकलता नामकी पुत्री हुई। जब यह उत्पन्न हुई थी तभी इसके माता-पिताने बड़े हर्षसे अपने-आप यह निश्चय कर लिया था कि यह पुत्री महाबल कुमारके लिए देनी चाहिए और उसके माता-पिताने भी यह स्वीकृत कर लिया था। महाबलका लालन-पालन भी इसी चम्पा नगरीमें मामाके घर बालिका [illegible]के साथ होता था। जब वह क्रमसे वृद्धिको प्राप्त हुआ और यौवनका समय निकट आ गया तब मामाने कहा कि जबतक तुम्हारे विवाहका समय आता है तबतक तुम यहाँसे पृथक् रहो। मामाके यह कहनेसे महाबल यद्यपि बाहर रहने लगा तो भी वह कन्यामें सदा आसक्त रहता था। वे दोनों ही कामकी अवस्थाको सह नहीं सके इसलिए उन दोनोंका समागम हो गया ॥८२-८६॥ इस कार्यसे वे दोनों स्वयं

---

१ वङ्गे ल० । २ तस्मात्पृथग् ल० । ३ दृष्टौ क०, ग०, घ०, । ४ कुमारं च ल० ।

तत्रारक्षिपुत्रेण दृढरक्षेण संगतिम् । कृत्वा तत्पुरशिष्टानां शास्त्रव्याख्यानकर्मणा ॥१०३॥
उपाध्यायत्वमध्यास्य तत्राप्तवसुना निजाम् । जननीं स्वस्वसारं च स्वयं च [1] परिपोषयन् ॥१०४॥
स्वमातुलानीपुत्राय नन्दिग्रामनिवासिने । कुलवाणिजनाम्ने स्वामनुजामदितादरात् ॥१०५॥
स कदाचिदुपश्लोकपूर्वकं क्षितिनायकम् । विलोक्य तत्प्रसादाप्तसंमानधनसंमदः ॥१०६॥
कृतमातृपरिप्रश्नः पितुरागत्य संनिधिम् । प्रणमत्तत्पदाम्भोजं धनदेवः समीक्ष्य तम् ॥१०७॥
जीव पुत्रात्र तिष्ठेति प्रियैः प्रीणयति स्म सः । सोऽपि रत्नादिवस्तुभागं देहीत्ययाचत ॥१०८॥
पिता तु पुत्र मद्वस्तु पलाशद्वीपमध्यगे । [2]स्थितं पुरे पलाशाख्ये तत्त्वयानीय गृह्यताम् ॥१०९॥
इत्याख्यन्नकुलेनामा भ्रात्रा दायादकेन सः । सहदेवेन चाभीष्टसिद्धिर्यदि भवेदहम् ॥११०॥
प्रत्यागत्य करिष्यामि पूजां जैनेश्वरीमिति । आशास्यानु जिनान्स्तुत्वा[3] कृतगुरुवन्दनः[4] ॥१११॥
आरुह्य नावमम्भोधिमवगाह्य व्रजन् द्रुतम् । पलाशपुरमासाद्य तत्र स्थापितपोतकः ॥११२॥
पुरं [5]विनरसंचारं किमेतदिति विस्मयात् । ततः प्रसारितायामिरज्जुभिस्तदवाप्तवान् ॥११३॥
प्रविश्य तत्पुरं तत्र कन्यामेकाकिनीं स्थिताम् । एकत्रालोक्य तामाह वदैतन्नगरं कुतः ॥११४॥
जातमीदृक्त्वयं का चेत्यादरात्साब्रवीदिदम् । प्रागेतन्नगरेशस्य दायादः कोऽपि कोपतः[6] ॥११५॥
सिद्धराक्षसविद्यत्वात्संप्राप्तो राक्षसाभिधाम् । पुरं पुराधिनाथं च स नि[illegible]नीनशत् ॥११६॥
तद्वंशजेन केनापि समन्त्रं साधितासिना । कृतरक्षं तदैवैतत्स्थापितं नगरं पुनः ॥११७॥

मनुष्योंके हृदयोंमें आह्लाद उत्पन्न कर देता था ॥१०२॥ वहाँके कोटपालके पुत्र दृढरक्षके साथ मित्रता कर उसने उस नगरके शिष्ट मनुष्योंको शास्त्रोंकी व्याख्या सुनायी जिससे उपाध्याय पद प्राप्त कर बहुत-सा धन कमाया तथा अपनी माता, बहन और अपने-आपका पोषण किया॥१०३-१०४॥ नन्दी नामक गाँवमें रहनेवाले कुलवाणिज नामके अपनी मामीके पुत्रके साथ उसने बड़े आदरसे अपनी छोटी बहनका विवाह कर दिया ॥१०५॥ किसी एक दिन उसने बहुत-से श्लोक सुनाकर राजाके दर्शन किये और राजाकी प्रसन्नतासे बहुत भारी सम्मान, धन तथा हर्ष प्राप्त किया ॥१०६॥ किसी एक दिन मातासे पूछकर वह अपने पिताके पास आया और उनके चरण-कमलोंको प्रणाम कर खड़ा हो गया। सेठ धनदेवने उसे देखकर 'हे पुत्र चिरंजीव रहो, यहाँ बैठो' इत्यादि प्रिय वचन कहकर उसे सन्तुष्ट किया। तदनन्तर नागदत्तने अपने भाग-की रत्नादि वस्तुएँ माँगी ॥१०७-१०८॥ इसके उत्तरमें पिताने कहा कि 'हे पुत्र मेरी सब वस्तुएँ पलाशद्वीपके मध्यमें स्थित पलाश नामक नगरमें रखी हैं सो तू लाकर ले ले'। पिताके ऐसा कहनेपर वह अपने हिस्सेदार नकुल और सहदेव नामक भाइयोंके साथ नावपर बैठकर समुद्र-के भीतर चला। चलते समय उसने यह आकांक्षा प्रकट की कि यदि मेरी इष्टसिद्धि हो गयी तो मैं लौटकर जिनेन्द्रदेवकी पूजा करूँगा। ऐसी इच्छा कर उसने बार-बार जिनेन्द्र भगवान्‌की स्तुति की और पिताको नमस्कार कर चला। वह चलकर शीघ्र ही पलाशपुर नगरमें जा पहुँचा। वहाँ उसने अपना जहाज खड़ा कर देखा कि यह नगर मनुष्योंके संचारसे रहित है। यह देख वह आश्चर्य करने लगा कि यह नगर ऐसा क्यों है ? तदनन्तर लम्बी रस्सी फेंककर उनके आश्रय-से वह उस नगरके भीतर पहुँचा ॥१०९-११३॥ नगरके भीतर प्रवेश कर उसने एक जगह अकेली बैठी हुई एक कन्याको देखा और उससे पूछा कि यह नगर ऐसा क्यों हो गया है ? तथा तू स्वयं कौन है ? सो कह। इसके उत्तरमें वह कन्या आदरके साथ कहने लगी कि 'पहले इस नगरके स्वामीका कोई भागीदार था जो अत्यन्त क्रोधी था और राक्षस विद्या सिद्ध होनेके कारण 'राक्षस' इस नामको ही प्राप्त हो गया था। उसीने क्रोधवश नगरको और नगरके राजाको समूल नष्ट कर दिया था। तदनन्तर उसके वंशमें होनेवाले किसी पुरुषने मन्त्रपूर्वक तलवार सिद्ध की थी और उसी तलवारके प्रभावसे उसने इस नगरको सुरक्षित कर फिरसे

१ परितोषयन् ख०, म० । २ स्थिते ल० । ३–नत्वा ख०, म० । ४ वन्दनम् म० । ५ विगतसञ्चारं ल० । ६ कोपनः ल० ।

तयोर्विरुद्धचारित्वादप्रियावावयोरपि । यातं देशान्तरं मात्र स्थातव्यमिति जल्पितौ ॥८८॥
तदैवाकुलितौ तौ च प्रत्यन्तनगरे स्थितिम् । विहरन्तावथान्येद्युरुद्याने मुनिपुङ्गवम् ॥८९॥
मुनिगुप्ताभिधं वीक्ष्य भक्त्या भिक्षागवेषिणम् । प्रत्युत्थाय परीत्याभिवन्द्याभ्यर्च्य यथाविधि ॥९०॥
स्वोपयोगनिमित्तानि यानि खाद्यानि मोदतः । स्वादूनि लड्डुकादीनि दत्त्वा तस्मै तपोभृते ॥९१॥
नवभेदं जिनोद्दिष्टमदृष्टं स्वेष्टमापतुः । वनेऽन्यदा कुमारोऽसौ मधुमासे दिवाहिना ॥९२॥
दष्टो नष्टासुको जातो दृष्ट्वा तं देहमात्रकम् । तस्यासिधेनुना सापि विधाय स्वां गतासुकाम् ॥९३॥
अगात्तदनुमार्गेण तमन्वेष्टुमिव प्रिया । परां काष्ठामवाप्तस्य भवेद्धि गतिरीदृशी ॥९४॥
अस्मिन्नेवोज्जयिन्याख्यमवन्तिविषये पुरम् । प्रजापतिमहाराजः पालकस्तस्य हेलया ॥९५॥
तत्रैव धनदेवाख्यश्रेष्ठी तद्गेहिनी सती । धनमित्रा तयोः सूनुर्नागदत्तो महाबलः ॥९६॥
तनूजा चानुजास्यासीदर्थस्वामिन्यभिख्यया । पलाशद्वीपमध्यस्थपलाशनगरेशिनः ॥९७॥
महाबलमहीशस्य कनकादिलताऽभवत् । काञ्चनादिलतायाश्च ख्याता पद्मलता सुता ॥९८॥
उपयम्यापरां श्रेष्ठी श्रेष्ठिनीं विससर्ज ताम् । सापि देशान्तरं गत्वा ससुता जातसंविदा ॥९९॥
शीलदत्तगुरोः पार्श्वे गृहीतश्रावकव्रता । सूनुमप्यर्पयामास शास्त्राभ्यासनिमित्ततः ॥१००॥
सोऽपि कालान्तरे बुद्धिनौनिस्तीर्णश्रुताम्बुधिः[1] । सत्कविश्च स्वयं भूत्वा शास्त्रव्याख्याप्तसद्यशाः ॥१०१॥
नानालंकाररम्योक्तिप्रसन्नसुभाषितैः । विशिष्टजनचेतस्सु प्रह्लादमुदपादयत् ॥१०२॥

ही लज्जित हुए और कान्तपुर नगरको चले गये । उन्हें देख, महाबलके माता-पिताने बड़े शोकसे कहा कि चूँकि तुम दोनों विरुद्ध आचरण करनेवाले हो अतः हम लोगोंको अच्छे नहीं लगते । अब तुम किसी दूसरे देशमें चले जाओ यहाँ मत रहो । माता-पिताके ऐसा कहनेपर वे उसी समय वहाँ से चले गये और प्रत्यन्तनगरमें जाकर रहने लगे । किसी एक दिन वे दोनों उद्यानमें विहार कर रहे थे कि उनकी दृष्टि मुनिगुप्त नामक मुनिराजपर पड़ी । वे मुनिराज भिक्षाकी तलाशमें थे । महाबल और कनकलताने भक्तिपूर्वक उनके दर्शन किये, उठकर प्रदक्षिणा दी, नमस्कार किया और विधिपूर्वक पूजा की । तदनन्तर उन दोनोंने अपने उपयोगके लिए तैयार किये हुए लड्डू आदि मिष्ट खाद्य पदार्थ, हर्षपूर्वक उन मुनिराजके लिए दिये जिससे उन्होंने जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ इच्छित नव प्रकारका पुण्य संचित किया । किसी एक दिन महाबल कुमार मधुमास–चैत्रमासमें वनमें घूम रहा था वहाँ एक विषैले साँपने उसे काट खाया जिससे वह शीघ्र ही मर गया । पतिको शरीर मात्र (मृत) देखकर उसकी स्त्री कनकलताने उसीकी तलवारसे आत्मघात कर लिया मानो उसे खोजनेके लिए उसीके पीछे ही चल पड़ी हो । आचार्य कहते हैं कि जो स्नेह अन्तिम सीमाको प्राप्त हो जाता है उसकी ऐसी ही दशा होती है ॥८७-९४॥

इसी भरत क्षेत्रके अवन्ति देशमें एक उज्जयिनी नामका नगर है । प्रजापति महाराज उसका अनायास ही पालन करते थे ॥९५॥ उसी नगरमें धनदेव नामका एक सेठ रहता था । उसकी धनमित्रा नामकी पतिव्रता सेठानी थी । महाबलका जीव उन दोनोंके नागदत्त नामका पुत्र हुआ ॥९६॥ इन्हीं दोनोंके अर्थस्वामिनी नामकी एक पुत्री थी जो कि नागदत्तकी छोटी बहन थी । पलाश द्वीपके मध्यमें स्थित पलाश नगरमें राजा महाबल राज्य करता था । कनकलता, इसी महाबल राजाकी कांचनलता नामकी रानीसे पद्मलता नामकी प्रसिद्ध पुत्री हुई ॥९७-९८॥ किसी एक समय उज्जयिनी नगरीके सेठ धनदेवने दूसरी स्त्रीके साथ विवाह कर पहली स्त्री धनमित्राको छोड़ दिया इसलिए वह अपने पुत्रसहित देशान्तर चली गयी । एक समय ज्ञान उत्पन्न होनेपर उसने शीलदत्त गुरुके पास श्रावकके व्रत ग्रहण किये और शास्त्रोंका अभ्यास करनेके लिए अपना पुत्र उन्हीं मुनिराजको सौंप दिया ॥९९-१००॥ समय पाकर वह पुत्र भी अपनी बुद्धिरूपी नौकाके द्वारा शास्त्ररूपी समुद्रको पार कर गया । वह उत्तम कवि हुआ और शास्त्रोंकी व्याख्यासे सुयश प्राप्त करने लगा ॥१०१॥ वह नाना अलंकारोंसे मनोहर वचनों तथा प्रसादगुण पूर्ण सुभाषितोंसे विशिष्ट

---

१ श्रुताम्बुधेः (?) ल० ।

तत्रारक्षिपुत्रेण दृढरक्षेण संगतिम् । कृत्वा तत्पुरशिष्टानां शास्त्रव्याख्यानकर्मणा ॥१०३॥
उपाध्यायत्वमभ्यास्य तत्रात्तवसुना निजाम् । जननीं स्वस्वसारं च स्वयं च [1]परिपोषयन् ॥१०४॥
स्वमातुलानीपुत्राय नन्दिग्रामनिवासिने । कुलवाणिजनाम्ने स्वामनुजामदितादरात् ॥१०५॥
स कदाचित्सुपश्लोकपूर्वकं क्षितिनायकम् । विलोक्य तत्प्रसादाप्तसंमानधनसंमदः ॥१०६॥
कृतमातृपरिप्रश्नः पितुरागत्य संनिधिम् । प्रणमत्तत्पदाम्भोजं धनदेवः समीक्ष्य तम् ॥१०७॥
जीव पुत्रात्र तिष्ठेति प्रियैः प्रीणयति स्म सः । सोऽपि रत्नादिकं स्वस्य भागं देहीत्ययाचत ॥१०८॥
पिता तु पुत्र मद्वस्तु पलाशद्वीपमध्यगे । [2]स्थितं पुरे पलाशाख्ये त्वमानीय गृह्यताम् ॥१०९॥
इत्याख्यन्नकुलेनामा भ्रात्रा दायादकेन सः । सहदेवेन चाप्तेष्टसिद्धिर्यदि भवेदहम् ॥११०॥
प्रत्यागत्य करिष्यामि पूजां जैनेश्वरीमिति । आशास्यानु जिनान्[3]नुत्वा कृतात्मगुरुवन्दनः[4] ॥१११॥
आरुह्य नावमम्भोधिमवगाह्य व्रजन् द्रुतम् । पलाशपुरमासाद्य तत्र स्थापितपोतकः ॥११२॥
पुरं [5]विनरसंचारं किमेतदिति विस्मयात् । ततः प्रसारितायामिरज्जुभिस्तदवाप्तवान् ॥११३॥
प्रविश्य तत्पुरं तत्र कन्यामेकाकिनीं स्थिताम् । एकत्रालोक्य तामाह वदैतन्नगरं कुतः ॥११४॥
जातमीदृक्त्वयं का वेत्यादरात्साब्रवीदिदम् । प्रागेतन्नगरेशस्य दायादः कोऽपि कोपनः[6] ॥११५॥
सिद्धराक्षसविद्यत्वात्संप्राप्तो राक्षसाभिधाम् । पुरं पुराधिनाथं च स नि ं ध्वर्नामवान् ॥११६॥
तद्वंशजेन केनापि समन्त्रं साधितासिना । कृतरक्षं तदैवैतत्स्थापितं नगरं पुनः ॥११७॥

मनुष्योंके हृदयोंमें आह्लाद उत्पन्न कर देता था ॥१०२॥ वहाँके कोटपालके पुत्र दृढरक्षके साथ मित्रता कर उसने उस नगरके शिष्ट मनुष्योंको शास्त्रोंकी व्याख्या सुनायी जिससे उपाध्याय पद प्राप्त कर बहुत-सा धन कमाया तथा अपनी माता, बहन और अपने-आपका पोषण किया॥१०३-१०४॥ नन्दी नामक गाँवमें रहनेवाले कुलवाणिज नामके अपनी मामीके पुत्रके साथ उसने बड़े आदरसे अपनी छोटी बहनका विवाह कर दिया ॥१०५॥ किसी एक दिन उसने बहुत-से श्लोक सुनाकर राजाके दर्शन किये और राजाकी प्रसन्नतासे बहुत भारी सम्मान, धन तथा हर्ष प्राप्त किया ॥१०६॥ किसी एक दिन मातासे पूछकर वह अपने पिताके पास आया और उनके चरण-कमलोंको प्रणाम कर खड़ा हो गया। सेठ धनदेवने उसे देखकर 'हे पुत्र चिरंजीव रहो, यहाँ बैठो' इत्यादि प्रिय वचन कहकर उसे सन्तुष्ट किया। तदनन्तर नागदत्तने अपने भागकी रत्नादि वस्तुएँ माँगी ॥१०७-१०८॥ इसके उत्तरमें पिताने कहा कि 'हे पुत्र मेरी सब वस्तुएँ पलाशद्वीपके मध्यमें स्थित पलाश नामक नगरमें रखी हैं सो तू लाकर ले ले'। पिताके ऐसा कहनेपर वह अपने हिस्सेदार नकुल और सहदेव नामक भाइयोंके साथ नावपर बैठकर समुद्रके भीतर चला। चलते समय उसने यह आकांक्षा प्रकट की कि यदि मेरी इष्टसिद्धि हो गयी तो मैं लौटकर जिनेन्द्रदेवकी पूजा करूँगा। ऐसी इच्छा कर उसने बार-बार जिनेन्द्र भगवान्की स्तुति की और पिताको नमस्कार कर चला। वह चलकर शीघ्र ही पलाशपुर नगरमें जा पहुँचा। वहाँ उसने अपना जहाज खड़ा कर देखा कि यह नगर मनुष्योंके संचारसे रहित है। यह देख वह आश्चर्य करने लगा कि यह नगर ऐसा क्यों है? तदनन्तर लम्बी रस्सी फेंककर उनके आशयसे वह उस नगरके भीतर पहुँचा ॥१०९-११३॥ नगरके भीतर प्रवेश कर उसने एक जगह अकेली बैठी हुई एक कन्याको देखा और उससे पूछा कि यह नगर ऐसा क्यों हो गया है? तथा तू स्वयं कौन है? सो कह। इसके उत्तरमें वह कन्या आदरके साथ कहने लगी कि 'पहले इस नगरके स्वामीका कोई भागीदार था जो अत्यन्त क्रोधी था और राक्षस विद्या सिद्ध होनेके कारण 'राक्षस' इस नामको ही प्राप्त हो गया था। उसीने क्रोधवश नगरको और नगरके राजाको समूल नष्ट कर दिया था। तदनन्तर उसके वंशमें होनेवाले किसी पुरुषने मन्त्रपूर्वक तलवार सिद्ध की थी और उसी तलवारके प्रभावसे उसने इस नगरको सुरक्षित कर फिरसे

---

१ परितोषयन् ख०, म० । २ स्थिते ल० । ३–नत्वा ख०, म० । ४ वन्दनम् म० । ५ विगतसञ्चारं ल० । ६ कोपनः ल० ।

पतिर्महाबलोऽस्यास्य[1] काञ्चनादिलता प्रिया । तस्यै[2] तयोरहं पद्मलताऽभूवं सुताख्यया ॥११८॥
कदाचिन्मत्पिता मन्त्रसाधितं खड्गमात्मनः । प्रमादान्न करोति स्म करे तद्रन्ध्रवीक्षणात् ॥११९॥
राक्षसेन हतस्तस्मात्पुरं शून्यमभूदिदम् । मत्सुता मिति शेषेति मां मत्वामारयन् गतः ॥१२०॥
आगन्तासौ पुनर्नेतुमिति तद्वचनश्रुतेः । वैश्यः खड्गं समादाय गोपुरान्तर्हितः खगम् ॥१२१॥
आयान्तमवधीत्सोऽपि पठन् पञ्चनमस्कृतिम् । न्यपतन्मेदिनीभागे समाहितमतिस्तदा ॥१२२॥
श्रुत्वा श्रीनागदत्तोऽपि नमस्कारपदावलीम् । मिथ्या मे दुष्कृतं सर्वमित्यपास्यायुधं निजम् ॥१२३॥
कुतो धर्मस्तवेत्येतमप्राक्षीत्सव्रणं खगम् । सोऽपि श्रावकपुत्रोऽहं क्रोधादेतत्कृतं मया ॥१२४॥
क्रोधान्मित्रं भवेच्छत्रुः क्रोधाद्धर्मो विनश्यति । क्रोधाद्राज्यपरिभ्रंशः क्रोधान्मोमुच्यतेऽसुभिः ॥१२५॥
क्रोधान्मातापि सक्रोधा भवेत्क्रोधादधोगतिः । ततः श्रेयोर्थिनां त्याज्यः स सदेति जिनोदितम् ॥१२६॥
तज्जानन्नपि पापेन कोपेनाहं वशीकृतः । प्राप्तं तत्फलमद्यैव परलोके किमुच्यते ॥१२७॥
इत्यात्मानं विनिन्द्यैनं कुतस्त्वं भजेः क वा । इत्यवोचत्सभोगस्तं वैश्योऽप्येवमुदाहरत् ॥१२८॥
प्राघूर्णिकोऽहं[3] दृष्ट्वेमां कन्यकां शोकविह्वलाम् । त्वद्भयाद्रक्ष्य[4] पास्यामीत्याविष्कृतपराक्रमः ॥१२९॥
अबुध्वा धर्मभक्तं[5] त्वं कृतवान्कार्यमीदृशम् । त्यक्तं सद्धर्मवात्सल्यं सारं जैनेन्द्रशासने ॥१३०॥
जैनशासनमर्यादामतिलङ्घयतो मम । अपराधं क्षमस्वेति तदुक्तमवगम्य सः ॥१३१॥
किं कृतं भवता पूर्वं मदुपार्जितकर्मणः । परिपाकविशेषोऽयमिति पञ्चनमस्क्रियाम् ॥१३२॥

बसाया है ॥११४-११७॥ इस समय इस नगरका राजा महाबल है और उसकी रानीका नाम कांचनलता है। मैं इन्हीं दोनोंकी पद्मलता नामकी पुत्री हुई थी ॥११८॥ मेरा पिता उस मन्त्र-साधित तलवारको कभी भी अपने हाथसे अलग नहीं करता था परन्तु प्रमादसे एक बार उसे अलग रख दिया और छिद्र देखकर राक्षसने उसे मार डाला जिससे यह नगर फिरसे सूना हो गया है। उसने मुझे अपनी पुत्रीके समान माना अतः वह मुझे बिना मारे ही चला गया। अब वह मुझे लेनेके लिए फिर आवेगा'। कन्याकी बात सुनकर वह वैश्य उस तलवारको लेकर नगरके गोपुर (मुख्य द्वार) में जा छिपा और जब वह विद्याधर आया तब उसे मार दिया। वह विद्याधर भी उसी समय पंचनमस्कार मन्त्रका पाठ करता हुआ चित्त स्थिर कर पृथिवीपर गिर पड़ा ॥११९-१२२॥ पंचनमस्कार पदको सुनकर नागदत्त विचार करने लगा कि हाय, मैंने यह सब पाप व्यर्थ ही किया है। उसने झट अपनी तलवार फेंक दी और उस घाव लगे विद्याधरसे पूछा कि तेरा धर्म क्या है ? इसके उत्तरमें विद्याधरने कहा कि, मैं भी श्रावकका पुत्र हूँ, मैंने यह कार्य क्रोधसे ही किया है ॥१२३-१२४॥ देखो क्रोधसे मित्र शत्रु हो जाता है, क्रोधसे धर्म नष्ट हो जाता है, क्रोधसे राज्य भ्रष्ट हो जाता है और क्रोधसे प्राण तक छूट जाते हैं। क्रोधसे माता भी क्रोध करने लगती है और क्रोधसे अधोगति होती है, इसलिए कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको सदाके लिए क्रोध करना छोड़ देना चाहिए ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है। मैं जानता हुआ भी क्रोधके वशीभूत हो गया था सो उसका फल मैंने अभी प्राप्त कर लिया, अब परलोककी बात क्या कहना है ? इस प्रकार अपनी निन्दा करता हुआ वह विद्याधर नागदत्तसे बोला कि आप यहाँ कहाँसे आये हैं।? इसके उत्तरमें वैश्यने कहा कि मैं एक पाहुना हूँ और इस कन्याको शोकसे विह्वल देखकर तेरे भयसे इसकी रक्षा करनेके लिए यह पराक्रम कर बैठा हूँ ॥ १२५-१२६ ॥ तू 'धर्म भक्त है' यह जाने बिना ही मैं यह ऐसा कार्य कर बैठा हूँ और मैंने जिनेन्द्रदेवके शासनमें कहे हुए सारभूत धर्म-वात्सल्यको छोड़ दिया है ॥१३०॥ हे भव्य ! जैन शासनकी मर्यादाका उल्लंघन करनेवाले मेरे इस अपराधको तू क्षमा कर। नागदत्तकी कही हुई यह सब बात समझकर वह विद्याधर कहने लगा

---

१ महाबलोऽप्यस्य इति क्वचित्। २ तस्यै तयोरहं इति क्वचित्। ३ पृष्ट्वेमां ल०। ४ दास्यामी- ल०। ५ धर्ममात्त्वं ते।

श्रीनागदत्तसंप्रोक्तां भावयन्नाकमापिवान्। ततः पद्मलतां कन्यां धनं च निभृतं चितम् ॥१३३॥
समाकर्षणरज्ज्वावतार्य भ्रातुर्निजस्य तौ। नकुलः सहदेवश्च रज्जुमाकर्षयंश्चिरम् ॥१३४॥
अदत्त्वा च पशुबुद्धयास्मात्सकृच्छ्रु स्वपुरमीयतुः। छिद्रमासाद्य तत्किं न दायादा यत्र कुर्वते ॥१३५॥
तौ दृष्ट्वा नागदत्तोऽपि युवाभ्यां सह यातवान्। किन्नायातीति भूपेन साशङ्केन जनेन च ॥१३६॥
पृष्टौ सहैव गत्वासौ पृथक्क्वापि गतस्ततः। नाविद्मेति व्यधत्तां तावनुज्ञातरहस्यकम् ॥१३७॥
श्रीनागदत्तमातापि व्याकुलीकृतचेतसा। शीलदत्तं गुरुं प्राप्य समपृच्छत्सुतः कथाम् ॥१३८॥
सोऽपि तत्संभ्रमं दृष्ट्वा कारुण्याहितमानसः। निर्विघ्नं ते तनूजो द्राक् मा भैषीरागमिष्यति ॥१३९॥
इत्याश्वासं मुनिस्तस्या व्यधात्संज्ञानलोचनः। इतः श्रीनागदत्तोऽपि विलोक्य जिनमन्दिरम् ॥१४०॥
किंचित्प्रदक्षिणीकृत्य निषीदाम्यहमित्यदः। प्रविश्य विहितस्तोत्रः सचिन्तस्तत्र संस्थितः ॥१४१॥
तदा विद्याधरः कश्चित् दृष्ट्वा ज्ञातवृत्तकः। जैनः सवित्तं नीत्वास्माद् द्वीपमध्यान्मनोहरे ॥१४२॥
वनेऽवतार्य सुस्थाप्य समापृच्छ्यादरान्वितः। यथेष्टमगमत्सा हि धर्मवत्सलता सताम् ॥१४३॥
तत्समीपेऽनुजा ग्रामे वसन्त्यस्यैव सादरम्। प्रत्यग्रहीद्धनं तत्र सोऽपि निक्षिप्य सुस्थितः ॥१४४॥
अथोपगम्य तं स्नेहात् स्वानुजान्विलनामयः। कुमाराभिनवां कन्यां नकुलस्याभिशुश्रुम ॥१४५॥
अहिता वयमाहूता निस्स्वत्वाद्रिक्तपाणयः। कथं तत्र गमिष्याम इत्यस्याकुलचेतसः ॥१४६॥
अद्य सर्वेऽपि जाताः स्म इति ते न्यगदन्नमी। तच्छ्रुत्वा सारवस्तूनि निजकक्षमकाम् ॥१४७॥

कि इसमें आपने क्या किया है यह मेरे ही पूर्वोपार्जित कर्मका विशिष्ट उदय है। इस प्रकार नागदत्तके द्वारा कहे हुए पंचनमस्कार मन्त्रकी भावना करता हुआ विद्याधर स्वर्गको प्राप्त हुआ। तदनन्तर पद्मलता कन्या और पिताके कमाये हुए धनको खींचनेकी रस्सीसे उतारकर जहाजपर पहुँचाया तथा सहदेव और नकुल भाईको भी जहाजपर पहुँचाया। नकुल और सहदेवने जहाजपर पहुँचकर पाप बुद्धिसे खींचनेकी वह रस्सी नागदत्तको नहीं दी और दोनों भाई अकेले ही उस नगरसे चलकर शीघ्र ही अपने नगर जा पहुँचे सो ठीक ही है क्योंकि छिद्र पाकर ऐसा कौन-सा कार्य है जिसे दायाद-भागीदार न कर सकें ॥१३१-१३५॥ उन दोनों भाइयोंको देखकर वहाँके राजा तथा अन्य लोगोंको कुछ शंका हुई और इसीलिए उन सबने पूछा कि तुम दोनोंके साथ नागदत्त भी तो गया था वह क्यों नहीं आया? इसके उत्तरमें उन्होंने कहा कि यद्यपि नागदत्त हम लोगोंके साथ ही गया था परन्तु वह वहाँ जाकर कहीं अन्यत्र चला गया इसलिए हम उसका हाल नहीं जानते हैं। इस प्रकार उन दोनोंने भाई होकर भी नागदत्तके छोड़नेकी बात छिपा ली ॥१३६-१३७॥ पुत्रके न आनेकी बात सुनकर नागदत्तकी माता बहुत व्याकुल हुई और उसने श्री शीलदत्त गुरुके पास जाकर अपने पुत्रकी कथा पूछी ॥१३८॥ उसकी व्याकुलता देख मुनिराजका हृदय दयासे भर आया अतः उन्होंने सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्रसे देखकर उसे आश्वासन दिया कि तू डर मत, तेरा पुत्र किसी विघ्नके बिना शीघ्र ही आवेगा। इधर नागदत्तने एक जिन-मन्दिर देखकर उसकी कुछ प्रदक्षिणा दी और मैं यहाँ बैठूँगा इस विचारसे उसके भीतर प्रवेश किया। भीतर जाकर उसने भगवान्की स्तुति पढ़ी और फिर चिन्तातुर होकर वह वहीं बैठ गया ॥१३९-१४१॥ दैवयोगसे वहींपर एक जैनी विद्याधर आ निकला। नागदत्तको देखकर उसने उसके सब समाचार मालूम किये और फिर उसे धन सहित इस द्वीपके मध्यसे निकालकर मनोहर नामके वनमें जा उतारा। तदनन्तर उसे वहाँ अच्छी तरह ठहराकर और बड़े आदरसे पूछकर वह विद्याधर अपने इच्छित स्थानपर चला गया सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषोंकी धर्म-वत्सलता यही कहलाती है ॥१४२-१४३॥

उस मनोहर वनके समीप ही नन्दीग्राममें नागदत्तकी छोटी बहन रहती थी इसलिए वह वहाँ पहुँचा और अपना सब धन उसके पास रखकर अच्छी तरह रहने लगा ॥१४४॥ कुछ समय बाद उसकी बहनके ससुर आदि बड़े स्नेहसे नागदत्तके पास आकर कहने लगे कि हे कुमार! नयी आयी हुई कन्याको सेठ अपने नकुल पुत्रके लिए ग्रहण करना चाहता है इसलिए उसने हम सबको बुलाया है परन्तु निर्धन होनेसे हम सब खाली हाथ वहाँ कैसे जावेंगे? यह

तेभ्यो नाना मुदा दत्त्वा यूयमागमनं मम । वदध्वं संनिवेद्यैतां कन्यायै रत्नमुद्रिकाम् ॥१४८॥
इत्युक्त्वा स्वयमिन्वातु शीलदत्तगुरुं मिथः । वन्दित्वा रक्षिसूनुं च दृष्ट्वा सन्मित्रमात्मनः ॥१४९॥
आमूलात्कार्यमाख्याय सह तेन ततो गतः । सारत्नैर्महीपालं सानुरागं व्यलोकत ॥१५०॥
दृष्ट्वा भवानहो नागदत्त कस्मात्समागतः । क्व वा गतं त्वयेत्येष तुष्टः पृष्टो महीभुजा ॥१५१॥
आगमायाचनायात्रादि सर्वमामूलतोऽब्रवीत् । तदाकर्ण्य नृपः क्रुद्ध्वा प्रवृत्तः श्रेष्ठिनिग्रहे ॥१५२॥
न युक्तमिति निर्बन्धान्नागदत्तेन वारितः । दत्त्वा श्रेष्ठिपदं तस्मै सारवित्तसमन्वितम् ॥१५३॥
विवाहविधिना पद्मलतामपि समर्पयन् । अथात्मसंसदि व्यक्तमवनीन्द्रोऽभ्यधादिदम् ॥१५४॥
पश्य पुण्यस्य माहात्म्यं राक्षसाद्यन्तरायतः । व्यपेत्यायं महारत्नान्यात्मीकृत्यागतः सुखम् ॥१५५॥
पुण्याज्जलायते वह्निर्विषमप्यमृतायते । मित्रायन्ते द्विषः पुण्यात्पुण्याच्छाम्यन्ति भीतयः[1] ॥१५६॥
दुर्विधाः सधनाः पुण्यात् पुण्यात्स्वर्गश्च लभ्यते । तस्मात्पुण्यं विचिन्वन्तु[2] हतापत्सम्पदैषिणः ॥१५७॥
जिनोक्तधर्मशास्त्रानुयानेन विहितक्रियाः । इति सभ्याश्च तद्वाक्यं बहवश्चेतसि व्यधुः ॥१५८॥
अथ श्रीनागदत्तोऽपि संजातानुशयं तदा । क्षमस्व मे कुमारेति प्रणमन्तं [3]सपुत्रकम् ॥१५९॥
समार्यं श्रेष्ठिनं नैवमित्युत्थाप्य प्रियोक्तिभिः । संतोष्य निजपूजां च प्राक्प्रोक्तामकरोत्कृती ॥१६०॥
एवं श्रावकसद्धर्ममभिगम्य परस्परम् । जातसौहार्दचित्तानां दानपूजादिकर्मभिः ॥१६१॥

विचारकर हम सभी लोग आज अत्यन्त व्याकुलचित्त हो रहे हैं। उनकी बात सुनकर नागदत्तने अपने रत्नोंके समूहमें-से निकालकर अच्छे-अच्छे अनेक रत्न प्रसन्नतासे उन्हें दिये और साथ ही यह कहकर एक रत्नमयी अंगूठी भी दी कि तुम मेरे आनेकी खबर देकर उस कन्याके लिए यह अंगूठी दे देना ! यही नहीं, नागदत्त स्वयं भी उनके साथ गया। वहाँ जाकर उसने पहले शील-दत्त मुनिराजकी वन्दना की। तदनन्तर अपने मित्र कोतवालके पुत्र इढरक्षके पास पहुँचा। वहाँ उसने प्रारम्भसे लेकर सब कथा इढरक्षको कह सुनायी। फिर उसीके साथ जाकर अच्छे-अच्छे रत्नोंकी भेंट देकर बड़ी प्रसन्नतासे राजाके दर्शन किये॥१४५-१५०॥ उसे देखकर महाराजने पूछा कि अहो नागदत्त ! तुम कहाँसे आ रहे हो और कहाँ चले गये थे ? राजाकी बात सुनकर नागदत्त बड़ा सन्तुष्ट हुआ। उसने अपना हिस्सा माँगने और उसके लिए यात्रा करने आदिके सब समाचार आदिसे लेकर अन्त तक कह सुनाये। उन्हें सुनकर राजा बहुत ही कुपित हुआ और सेठका निग्रह करनेके लिए तैयार हो गया परन्तु ऐसा करना उचित नहीं है यह कहकर आग्रहपूर्वक नागदत्तने राजाको मना कर दिया। राजाने बहुत-सा अच्छा धन देकर नागदत्तको सेठका पद दिया और विधिपूर्वक विवाह कर वह पद्मलता कन्या भी उसे सौंप दी। तदनन्तर राजाने अपनी सभामें स्पष्ट रूपसे कहा कि देखो, पुण्यका कैसा माहात्म्य है ? यह नागदत्त राक्षस आदि अनेक विघ्नोंसे बचकर और श्रेष्ठ रत्नोंको अपने अधीनकर सुखपूर्वक यहाँ आ गया है ॥१५१-१५५॥ इसलिए कहना पड़ता है कि पुण्यसे अग्नि जल हो जाती है, पुण्यसे विष भी अमृत हो जाता है, पुण्यसे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, पुण्यसे सब प्रकारके भय शान्त हो जाते हैं, पुण्यसे निर्धन मनुष्य भी धनवान् हो जाते हैं और पुण्यसे स्वर्ग भी प्राप्त होता है इसलिए आपत्तिरहित सम्पदाकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको श्रीजिनेन्द्रदेवके कहे हुए धर्मशास्त्रके अनुसार सब क्रियाएँ कर पुण्यका बन्ध करना चाहिए। राजाका यह उपदेश सभाके सब लोगोंने अपने हृदयमें धारण किया ॥१५६-१५८॥ तदनन्तर सेठको भी बहुत पश्चात्ताप हुआ वह उसी समय 'हे कुमार ! क्षमा करो' यह कहकर अपने अन्य पुत्रों तथा स्त्री सहित प्रणाम करने लगा परन्तु नागदत्तने उसे ऐसा नहीं करने दिया और उठाकर प्रिय वचनोंसे उसे सन्तुष्ट कर दिया। तदनन्तर उस बुद्धिमान्ने यात्राके पहले कही हुई जिनेन्द्र भगवान्की पूजा की ॥१५९-१६०॥ इस प्रकार सबने श्रावकका उत्तम धर्म स्वीकृत किया, सबके हृदयमें परस्पर मित्रता

---

१ द्रुवन्तः क० । २ निबध्नन्तु ख० । ३ स्वपुत्रकम् ल० ।

काले गच्छति जीवान्ते संन्यासविधिमाश्रितः । श्रीनागदत्तः सौधर्मकल्पेऽनल्पामरोऽभवत् ॥१६२॥
तत्र निर्विष्टदिव्योरुभोगस्च्युत्वा ततोऽजनि । इहैवास्मिन् भारते खेचराचले नगरे वरे ॥१६३॥
शिवंकरे तदीशस्य विद्याधरधरेशिनः । सुनः पवनवेगस्य सुवेगायां सुखावहः ॥१६४॥
मनोवेगोऽन्यजन्मोद्यत्स्नेहेन विवशीकृतः । अनैषीच्चन्दनामेनामतिस्नेहोऽपथं नयेत् ॥१६५॥
स एषोऽभ्यर्णभव्यत्वादमुष्मिन्नेव जन्मनि । जिनाकृतिं समाश्रित्य संप्राप्स्यत्यग्रिमं पदम् ॥१६६॥
ततः श्रीनागदत्तस्य नाकलोकात्कनीयसी । इहागत्याभवज्जाता मनोवेगा महाद्युतिः ॥१६७॥
पलाशनगरे नागदत्तहस्तमृतः खगः । सुरलोकादभूः सोमवंशे त्वं चेटको नृपः ॥१६८॥
माता श्रीनागदत्तस्य धनमित्रा दिवंगता । ततश्च्युत्वा तवैवाभीत्सुभद्रेयं मनःप्रिया ॥१६९॥
यासौ पद्मलता सापि कृतोपवसना दिवम् । गत्वागत्य जनिष्टेयं चन्दना नन्दना तव ॥१७०॥
नकुलः संसृतौ भ्रान्त्वा सिंहाख्योऽभूद्वनेचरः । प्राग्जन्मस्नेहवैराभ्यामबाधिष्ट स चन्दनाम् ॥१७१॥
सहदेवोऽपि संभ्रम्य संसारे सुचिरं पुनः । कौशाम्ब्यां वैश्यसुर्भूत्वा मित्रवीराह्वयः सुधीः ॥१७२॥
भृत्यो वृषभसेनस्य चन्दनां स समर्पयत् । पिता श्रीनागदत्तस्य धनदेवो वणिग्वरः ॥१७३॥
स्वर्लोकं शान्तचित्तेन गत्वैत्य श्रेष्ठितां गतः । श्रीमान्वृषभसेनाख्यः कौशाम्ब्यां कलितो गुणैः ॥१७४॥
सोमिलायां[1] कृतद्वेषा चित्रसेना चतुर्गतिम् । परिभ्रम्य चिरं शान्त्वा मनाक् तत्रैव विट्सुता ॥१७५॥
भूत्वा वृषभसेनस्य पत्नी भद्राभिधाऽभवत् । निदानकृतवैरेण न्यगृह्णाच्चन्दनाममूम् ॥१७६॥
चन्दनैषाच्युतात्कल्पात्प्रत्यागत्य शुभोदयात् । द्वितीयवेदं संप्राप्य परमात्म्यमवाप्स्यति ॥१७७॥

हो गयो और दान पूजा आदि उत्तम कार्योंसे सबका समय व्यतीत होने लगा । आयुके अन्त-में नागदत्तने संन्यास पूर्वक प्राण छोड़े जिससे वह सौधर्म स्वर्गमें बड़ा देव हुआ ।।१६१–१६२।। स्वर्गके श्रेष्ठ भोगोंका उपभोग कर वह वहाँसे च्युत हुआ और इसी भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वतपर शिवंकर नगरमें विद्याधरोंके स्वामी राजा पवनवेगकी रानी सुवेगासे यह अत्यन्त सुखी मनोवेग नामका पुत्र हुआ है। दूसरे जन्मके बढ़ते हुए स्नेहसे विवश होकर ही इसने चन्दनाका हरण किया था सो ठीक ही है क्योंकि भारी स्नेह कुमार्गमें ले ही जाता है ।।१६३–१६५।। यह निकटभव्य है और इसी जन्ममें दिगम्बर मुद्रा धारण कर मोक्ष पद प्राप्त करेगा ।।१६६।। नागदत्तकी छोटी बहन अर्थस्वामिनी स्वर्गलोकसे आकर यहाँ महाकान्तिको धारण करनेवाली मनोवेगा हुई है ।।१६७।। जो विद्याधर पलाशनगरमें नागदत्तके हाथसे मारा गया था वह स्वर्गसे आकर तू सोमवंशमें राजा चेटक हुआ है ।।१६८।। धनमित्रा नामकी जो नागदत्तकी माता थी वह स्वर्ग गयी थी और वहाँसे च्युत होकर मनको प्रिय लगनेवाली वह तेरी सुभद्रा रानी हुई है ।।१६९।। जो नागदत्तकी स्त्री पद्मलता थी वह अनेक उपवास कर स्वर्ग गयी थी और वहाँसे आकर वह चन्दना नामकी तेरी पुत्री हुई है ।।१७०।। नकुल संसारमें भ्रमण कर सिंह नामका भील हुआ है उसने पूर्व जन्मके स्नेह और वैरके कारण ही चन्दनाको तंग किया था ।।१७१।। सहदेव भी संसारमें चिरकाल तक भ्रमण कर कौशाम्बी नगरीमें मित्रवीर नामका बुद्धिमान् वैश्यपुत्र हुआ है जो कि वृषभसेनका सेवक है और उसीने यह चन्दना वृषभसेन सेठके लिए समर्पित की थी। नागदत्तका पिता सेठ धनदेव शान्तचित्तसे मरकर स्वर्ग गया था और वहाँसे आकर कौशाम्बी नगरीमें अनेक गुणोंसे युक्त श्रीमान् वृषभ-सेन नामका सेठ हुआ है ।।१७२–१७४।। चित्रसेनाने सोमिलासे द्वेष किया था इसलिए वह चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करती रही। तदनन्तर कुछ शान्त हुई तो कौशाम्बी नगरीमें वैश्यपुत्री हुई और भद्रा नामसे प्रसिद्ध होकर वृषभसेनकी पत्नी हुई है। निदानके समय जो उसने वैर किया था उसीसे उसने चन्दनाका निग्रह किया था–उसे कष्ट दिया था ।।१७५–१७६।। यह चन्दना अच्युत स्वर्ग जायेगी और वहाँसे वापिस आकर शुभ कर्मके उदयसे पुंवेदको पाकर

---

१ सोमिलायाः ख० ।

एवं बन्धविधानोक्तमिथ्याभावादिपञ्चकात् । संचितैः कर्मभिः प्राप्य द्रव्यादिपरिवर्तनम् ॥१७८॥
संसारे पञ्चधा प्रोक्तं दुःखान्युप्राप्यनारतम् । प्राप्नुवन्तः कृतान्तास्यं हन्त सीदन्ति जन्तवः ॥१७९॥
त एव[1] लब्धकालादिसाधना मुक्तिसाधनम् । सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोरूपमनुत्तरम् ॥१८०॥
अभ्येत्य पुण्यकर्माणः परमस्थानसप्तके । संप्राप्तपरमैश्वर्या भवन्ति सुखभागिनः ॥१८१॥
इति तद्गौतमाधीशश्रीमद्ध्वनिरसायनात् । सभा सर्वा बभूवासौ तदैवाजरामरा ॥१८२॥
अन्यदाऽसौ महाराजः श्रेणिकाख्यः परिभ्रमन् । प्रीत्या गन्धकुटीबाह्यभास्वद्वनचतुष्टये ॥१८३॥
स्थितं पिण्डीद्रुमस्याधो जीवंधरमुनीश्वरम् । ध्यानारूढं विलोक्यैतद्रूपादिषु विषक्तधीः ॥१८४॥
सकौतुकः समभ्येत्य सुधर्मगणनायकम् । भाक्तिकोऽभ्यर्च्य वन्दित्वा यथास्थानं निविश्य तम् ॥१८५॥
प्राञ्जलिर्भगवन्नेष यतीन्द्रः सर्वकर्मणा[2] । मुक्तो वाद्यैव को वेति पप्रच्छ प्रश्रयाश्रयः ॥१८६॥
अवबोधचतुष्कात्मा सोऽप्येवं समभाषत । खेदो न हि सतां वृत्तवक्तुः श्रोतुश्च चेतसः ॥१८७॥
शृणु श्रेणिक जम्बूभूजविभूषितभूतले । अत्र हेमाङ्गदे देशे राजन् राजपुराधिपः ॥१८८॥
[3]राजेव रञ्जिताशेषः सत्यंधरमहीपतिः । विजयास्य महादेवी विजयश्रीरिवापरा ॥१८९॥
सर्वकर्मक्षणोऽमात्यः काष्ठाङ्गारिकनामभृत् । [4]हन्ता दैवोपघातानां रुद्रदत्तः पुरोहितः ॥१९०॥
कदाचिद्विजया देवी सुप्ता गर्भगृहे सुखम् । मुकुटं भूभुजा हेमघण्टाष्टकविराजितम् ॥१९१॥
दत्तं स्वस्यै श्रिताशोकतरोर्मूलं च केनचित् । छिन्नं परशुना जातं पुनर्बालमहीरुहम् ॥१९२॥

अवश्य ही परमात्मपद—मोक्षपद प्राप्त करेगी ॥१७७॥ इस प्रकार बन्धके साधनोंमें जो मिथ्यादर्शन आदि पाँच प्रकारके भाव कहे गये हैं उनके निमित्तसे संचित हुए कर्मोंके द्वारा ये जीव द्रव्य क्षेत्र आदि परिवर्तनोंको प्राप्त होते रहते हैं। ये पाँच प्रकारके परिवर्तन ही संसारमें सबसे भयंकर दुःख हैं। खेदकी बात है कि ये प्राणी निरन्तर इन्हीं पंच प्रकारके दुःखोंको पाते हुए यमराजके मुँहमें जा पड़ते हैं ॥१७८–१७९॥ फिर ये ही जीव काललब्धि आदिका निमित्त पाकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप रूप मोक्षके उत्कृष्ट साधन पाकर पुण्य कर्म करते हुए सात परमस्थानोंमें परम ऐश्वर्यको प्राप्त होते हैं और यथा क्रमसे अनन्त सुखके भाजन होते हैं ॥१८०–१८१॥ इस प्रकार वह सब सभा गौतम स्वामीकी पुण्य रूपी लक्ष्मीसे युक्त ध्वनिरूपी रसायनसे उसी समय अजर-अमरके समान हो गयी ॥१८२॥

अथानन्तर—किसी दूसरे दिन महाराज श्रेणिक गन्धकुटीके बाहर देदीप्यमान चारों वनोंमें बड़े प्रेमसे घूम रहे थे। वहींपर एक अशोक वृक्षके नीचे जीवन्धर मुनिराज ध्यानारूढ़ होकर विराजमान थे। महाराज श्रेणिक उन्हें देखकर उनके रूप आदिमें आसक्तचित्त हो गये और कौतुकके साथ भीतर जाकर उन्होंने सुधर्म गणधरदेवकी बड़ी भक्तिसे पूजा-वन्दना की तथा यथायोग्य स्थानपर बैठ हाथ जोड़कर बड़ी विनयसे उनसे पूछा कि हे भगवन्! जो मानो आज ही समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जावेंगे ऐसे ये मुनिराज कौन हैं? ॥१८३–१८६॥ इसके उत्तरमें चार ज्ञानके धारक सुधर्माचार्य निम्न प्रकार कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंके चरित्रको कहनेवाले और सुननेवाले-दोनोंके ही चित्तमें खेद नहीं होता है ॥१८७॥ वे कहने लगे कि हे श्रेणिक! सुन, इसी जम्बू वृक्षसे सुशोभित होनेवाली पृथिवीपर एक हेमांगद नामका देश है और उसमें राजपुर नामका एक शोभायमान नगर है। उसमें चन्द्रमाके समान सबको आनन्दित करनेवाला सत्यंधर नामका राजा था और दूसरी विजयलक्ष्मीके समान विजया नामकी उसकी रानी थी ॥१८८–१८९॥ उसी राजाके सब कामोंमें निपुण काष्ठांगारिक नामका मन्त्री था और दैवजन्य उपद्रवोंको नष्ट करनेवाला रुद्रदत्त नामका पुरोहित था ॥१९०॥ किसी एक दिन विजया रानीके घरके भीतर सुखसे सो रही थी वहाँ उसने बड़ी प्रसन्नतासे रात्रिके पिछले पहरमें दो स्वप्न देखे। पहला स्वप्न देखा कि

---

१ एवं स० । २ सर्वकर्मभिः ल० । ३ चन्द्र इव । 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः' इति कोशः । ४ महता ल० ।

निशायाः पश्चिमे यामे स्वप्नावेतौ प्रपश्यती। विलोक्य सा तयोर्ज्ञातुं फलमभ्येत्य भूपतिम् ॥१९३॥
सप्रश्रयं समीक्ष्यैनमन्वयुङ्क्त मदत्यये। अष्टौ लाभानवाप्यान्ते क्षितेर्भोक्तारमात्मजम् ॥१९४॥
आप्स्यस्याशु त्वमित्याह महीपालः प्रियाप्रियम्। श्रुत्वा शोकप्रमोदाभ्यां तामाविर्भूतचेतसम् ॥१९५॥
राज्ञीं राजा समालोक्य सद्बुद्ध्या समतर्पयत्। सुखेनैवं तयोः काले याति कश्चिन्मसागमः ॥१९६॥
देवलोकात्स्थितिं लेभे देवीगर्भगृहे सुखम्। स पुण्यो राजहंसो वा शारदाब्जसरोवरे ॥१९७॥
अथान्येद्युर्वणिग्वर्यो वास्तव्यस्तत्पुरान्तरे। धनी गन्धोत्कटो नाम शीलगुप्तमहामुनिम् ॥१९८॥
मनोहरवनोद्याने ज्ञानत्रयविलोचनम्। विलोक्य विनयाभ्यर्च्य प्राप्राक्षीद्भगवन्मम ॥१९९॥
बहवोऽल्पायुषोऽभूवंस्तनयाः पापपाकतः। दीर्घायुषो भविष्यन्ति सुता मे किमतः परम् ॥२००॥
इति सोऽपि दयालुत्वान्मुनीशः प्रत्यभाषत। बाढं समुपलप्स्यन्ते त्वया सुचिरजीविनः ॥२०१॥
अभिज्ञानमिदं तस्य सम्यक्छृणु वणिग्वर। लप्स्यमानं सुतं सद्यो मृतं त्यक्तुं वनं गतः ॥२०२॥
तत्र कंचित्तनूजं त्वं लप्स्यसे पुण्यभाजनम्। स समस्तां महीं भुक्त्वा तृप्तो वैषयिकैः सुखैः ॥२०३॥
प्रान्ते विध्वस्य कर्माणि मोक्षलक्ष्मीमवाप्स्यति। इति तद्वचनं श्रुत्वा काचित्तत्संनिधौ स्थिता ॥२०४॥
यक्षी भविष्यतो राजसूनोः पुण्यप्रचोदिता। तस्योत्पत्तौ स्वयं मातुरुपकारविधित्सया ॥२०५॥
गत्वा राजकुलं वैनतेययन्त्रगताभवत्। प्रायः[1] प्राक्कृतपुण्येन संनिधित्सन्ति देवताः ॥२०६॥
अथागते मधौ मासे सर्वसत्त्वसुखावहे। पुरोहितोऽहितोऽन्येद्युः प्रातरेव समागमः ॥२०७॥

राजाने सुवर्णके आठ घण्टोंसे सुशोभित अपना मुकुट मेरे लिए दे दिया है और दूसरा स्वप्न देखा कि मैं अशोक वृक्षके नीचे बैठी हूँ परन्तु उस अशोक वृक्षकी जड़ किसीने कुल्हाड़ीसे काट डाली है और उसके स्थानपर एक छोटा अशोकका वृक्ष उत्पन्न हो गया है। स्वप्न देखकर उनका फल जाननेके लिए वह राजाके पास गयी ॥१९१-१९३॥ और बड़ी विनयके साथ राजाके दर्शन कर स्वप्नोंका फल पूछने लगी। इसके उत्तरमें राजाने कहा कि तू मेरे मरनेके बाद शीघ्र ही ऐसा पुत्र प्राप्त करेगी जो आठ लाभोंको पाकर अन्तमें पृथिवीका भोक्ता होगा। स्वप्नोंका प्रिय और अप्रिय फल सुनकर रानीका चित्त शोक तथा दुःखसे भर गया। उसकी व्यग्रता देख राजाने उसे अच्छे शब्दोंसे सन्तुष्ट कर दिया। तदनन्तर दोनोंका काल सुखसे व्यतीत होने लगा। इसके बाद किसी पुण्यात्मा देवका जीव स्वर्गसे च्युत होकर रानीके गर्भरूपी गृहमें आया और इस प्रकार सुखसे रहने लगा जिस प्रकार कि शरदऋतुके कमलोंके सरोवरमें राजहंस रहता है ॥१९४-१९७॥

अथानन्तर किसी दूसरे दिन उसी नगरमें रहनेवाले गन्धोत्कट नामके धनी सेठने मनोहर नामक उद्यानमें तीन ज्ञानके धारी शीलगुप्त नामक मुनिराजके दर्शन कर विनयसे उन्हें नमस्कार किया और पूछा कि हे भगवन्! पाप कर्मके उदयसे मेरे बहुत-से अल्पायु पुत्र हुए हैं क्या कभी दीर्घायु पुत्र भी होंगे? ॥१९८-२००॥ इस प्रकार पूछनेपर दयालुतावश मुनिराजने कहा कि हाँ, तुम भी चिरजीवी पुत्र प्राप्त करोगे॥२०१॥ हे वैश्यवर! चिरजीवी पुत्रप्राप्त होनेका चिह्न यह है, इसे तू अच्छी तरह सुन तथा जो पुत्र तुझे प्राप्त होगा वह भी सुन। तेरे एक मृत पुत्र होगा उसे छोड़नेके लिए तू वनमें जायेगा। वहाँ तू किसी पुण्यात्मा पुत्रको पावेगा। वह पुत्र समस्त पृथिवीका उपभोग कर विषय सम्बन्धी सुखोंसे सन्तुष्ट होगा और अन्तमें समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त करेगा। जिस समय उक्त मुनिराज गन्धोत्कट सेठसे ऊपर लिखे वचन कह रहे थे उस समय वहाँ एक यक्षी भी बैठी थी। मुनिराजके वचन सुनकर यक्षीके मनमें होनहार राजपुत्रकी माता-का उपकार करनेकी इच्छा हुई। निदान, जब राजपुत्रकी उत्पत्तिका समय आया तब वह यक्षी उसके पुण्यसे प्रेरित होकर राजकुलमें गयी और एक गरुड़ यन्त्रका रूप बनाकर पहुँची। सो ठीक ही है क्योंकि पूर्वकृत पुण्यके प्रभावसे प्रायः देवता भी समीप आ जाते हैं ॥२०२-२०६॥ तदनन्तर

---

१ प्रकृत ल०।

महीपतिगृहं देवीं वीक्ष्य वीतविभूषणाम् । उपविष्टां क्व राजेति समपृच्छत्स सादरम् ॥२०८॥
साप्याह सुप्तवान् राजा शक्यो नैव निरीक्षितुम् । इति तद्वचनं सोऽपि दुर्निमित्तं विभावयन् ॥२०९॥
ततो निवृत्तः संप्राप्य काष्ठाङ्गारिकमन्त्रिणः । भास्करोदयवेलायां गेहं तत्रावलोक्य तम् ॥२१०॥
पापबुद्धिमिथोऽवादीद्राज्यं तव भविष्यति । महीपतिर्निहन्तव्यस्त्वयेति तदुदीरितम् ॥२११॥
श्रुत्वा कर्मकरं मन्त्रिपदे मां विनियोजयन् । राजाप्यमकृतज्ञो वा कथं वापकरोम्यहम् ॥२१२॥
रुद्रदत्त त्वया प्रज्ञावताप्येतत्सुदुर्नयम् । निरूपितमिति श्रोत्रपिधानं सभयो व्यधात् ॥२१३॥
पुरोहितस्तदाकर्ण्य भविष्यत्सूनुरस्य ते । प्राणहारी भवेत्तत्र प्रतीकारं ततः कुरु ॥२१४॥
इत्येतदभिधायाशु गत्वा तत्पापपाकतः । तृतीयदिवसे व्याधिपीडितो विगतासुकः ॥२१५॥
रुद्रदत्तोऽगमच्छ्वाभ्रीं गतिं सुचिरदुःखदाम् । काष्ठाङ्गारिकमन्त्री च रुद्रदत्तनिरूपितात् ॥२१६॥
नृपं स्वमृत्युमाशङ्क्य प्रजिघांसुर्दुराशयः । द्विसहस्रमहीपालैर्दानभिन्नैर्भटोत्कटैः ॥२१७॥
राजगेहं समुद्दिश्य संनद्धगजवाजिभिः । समं समभियाति स्म तद्विदित्वा महीपतिः ॥२१८॥
देवीं गरुडयन्त्रस्थामपसार्य प्रयत्नतः । प्राङ्मन्त्रिवशीकृतात्मीयमहीपालैः स्वदर्शनात् ॥२१९॥
विमुक्तमन्त्रिभिः सार्धं क्रुध्वा संप्राप्य मन्त्रिणम् । युद्धे सद्यः स निर्जित्य भयोन्मार्गमनीनयत् ॥२२०॥
तत्काष्ठाङ्गारिकस्तस्य सङ्गरं भङ्गवार्तया । सक्रोधो बहुभिर्नद्धबलेन सहसागतः ॥२२१॥
काष्ठाङ्गारिकपापोऽपि पुनस्तेनैव सङ्गतः । हत्वा युद्धे महीपालं तस्मिन् राज्येऽप्यवस्थितः[१] ॥२२२॥

सब जीवोंको सुख देनेवाला वसन्तका महीना आ गया। किसी एक दिन अहित करनेवाला रुद्रदत्त नामका पुरोहित प्रातःकालके समय राजाके घर गया। वहाँ रानीको आभूषणरहित बैठी देखकर उसने आदरके साथ पूछा कि राजा कहाँ हैं ? ॥२०७-२०८॥ रानीने भी उत्तर दिया कि राजा सोये हुए हैं इस समय उनके दर्शन नहीं हो सकते। रानीके इन वचनोंको ही अपशकुन समझता हुआ वह वहाँसे लौट आया और सूर्योदयके समय काष्ठांगारिक मन्त्रीके घर जाकर उससे मिला। उस पापबुद्धि पुरोहितने एकान्तमें काष्ठांगारिकसे कहा कि यह राज्य तेरा हो जावेगा तू राजाको मार डाल। पुरोहितकी बात सुनकर काष्ठांगारिकने कहा कि मैं तो राजाका नौकर हूँ, राजाने ही मुझे मन्त्रीके पदपर नियुक्त किया है। यद्यपि यह राजा अकृतज्ञ है—मेरा किया हुआ उपकार नहीं मानता है तो भी मैं यह अपकार कैसे कर सकता हूँ ? ॥२०९-२१२॥ हे रुद्रदत्त ! तूने बुद्धिमान् होकर भी यह अन्यायकी बात क्यों कही। यह कहकर उसने भयभीत हो अपने कान ढक लिये ॥२१३॥ काष्ठांगारिकके ऐसे वचन सुनकर पुरोहितने कहा कि इस राजाके जो पुत्र होनेवाला है वह तेरा प्राणघातक होगा इसलिए इसका प्रतिकार कर ॥२१४॥ इतना कहकर रुद्रदत्त शीघ्र ही अपने घर चला गया और इस पापके उदयसे रोगपीड़ित हो तीसरे दिन मर गया तथा चिरकाल तक दुःख देनेवाली नरक-गतिमें जा पहुँचा। इधर दुष्ट आशयवाले काष्ठांगारिक मन्त्रीने रुद्रदत्तके कहनेसे अपनी मृत्यु-की आशंका कर राजाको मारनेकी इच्छा की। उसने धन देकर दो हजार शूरवीर राजाओंको अपने अधीन कर लिया था। वह उन्हें साथ लेकर युद्धके लिए तैयार किये हुए हाथियों और घोड़ोंके साथ राज-मन्दिरकी ओर चला। जब राजाको इस बातका पता चला तो उसने शीघ्र ही रानीको गरुडयन्त्रपर बैठाकर प्रयत्नपूर्वक वहाँसे दूर कर दिया। काष्ठांगारिक मन्त्रीने पहले जिन राजाओंको अपने वश कर लिया था उन राजाओंने जब राजा सत्यन्धरको देखा तब वे मन्त्रीको छोड़कर राजाके अधीन हो गये। राजाने उन सब राजाओंके साथ कुपित होकर मन्त्री-पर आक्रमण किया और उसे शीघ्र ही युद्धमें जीतकर भयके मार्गपर पहुँचा दिया—भयभीत बना दिया ॥२१५-२२०॥ इधर काष्ठांगारिकके पुत्र कालांगारिकने जब युद्धमें अपने पिताकी हारका समाचार सुना तब वह बहुत ही कुपित हुआ और युद्धके लिए तैयार खड़ी बहुत सी सेना लेकर अकस्मात् आ पहुँचा। पापी काष्ठांगारिक भी उसीके साथ जा मिला। अन्तमें वह

१ व्यवस्थितः इति क्वचित्।

सविषं चाशनं मित्रं कृतघ्नं वा सहिंसकम् । धर्मं वाससदं राज्यं तदैव[1] सचिवाधमः ॥२२३॥
ततो विजयदेवी च यन्त्रमारुह्य गारुडम् । शोकाग्निदह्यमानाङ्गी रुदन्ती यक्षिरक्षिता ॥२२४॥
व्रणवक्त्रगलद्धाराक्लेदिताक्रान्तशूलकैः । शूलनिर्भेदसंभूतवेदनामुक्तमानुकैः ॥२२५॥
कम्पमानैरधोवक्त्रैः स्वनैर्नानाविधै रवैः । आसिदग्धं शवं वह्नेराकृष्योच्छिद्य खण्डशः ॥२२६॥
कृन्तिकाभिर्निशाताभिर्डाकिनीभिः समन्ततः । खादन्तीभिश्च संकीर्णं पितृग्राममसद् वनम् ॥२२७॥
तत्र रात्रौ कृतारक्षा यक्ष्या विगतबाधिका । अकष्टं तनयं कान्तं द्यौरिवामृतदीधितिम् ॥२२८॥
नाभूदुत्सवलेशोऽपि पुत्रोत्पत्तिसमुद्भवः । शोकः प्रत्युत संभूतो विलोमे विधिवर्तिनः ॥२२९॥
ततो यक्षी च सुस्थाप्य समन्तान्मणिदीपिकाः । शोकाकुलां विलोक्यैनां दावाग्न्यालीढवीरुधम् ॥२३०॥
सर्वस्थानानि दुःखानि गत्वर्यो यौवनश्रियः । विध्वंसी बन्धुसंबन्धो जीवितं दीपचञ्चलम् ॥२३१॥
कायः सर्वाशुचिप्रायो हेयोऽयमिह धीमताम् । राज्यं सर्वजगत्पूज्यं विद्युद्द्योतनसंनिभम् ॥२३२॥
पर्यायेष्वेव सर्वेषां प्रीतिः सर्वेषु वस्तुषु । तेऽवश्यं नश्वरास्तस्मात्प्रीतिः पर्यन्ततापिनी ॥२३३॥
सत्यप्यर्थे रतिर्न स्यात् स्वत्वं चासति चेष्टिते । सति स्वस्मिन्रतौ चार्थो त्रयाणां वा स्थितेः क्षतिः ॥२३४॥
यस्य निष्क्रममाक्रम्य[2] विश्वं विज्ञानमीक्षते । वेक्षितं स्थास्नु तेनापि क्वापि किंचित्कदाचन ॥२३५॥
सत्सु भाविषु च प्रीतिरस्ति चेदस्तु वस्तुषु । वृथा प्रथयति प्रीतिं विनष्टेषु सुधीः स कः ॥२३६॥
इति संसारसद्भावं विचिन्त्य विजये प्रिये । शुचं मा गा व्यतीतेषु कृथाः प्रीतिं च मा वृथा ॥२३७॥

युद्धमें राजाको मारकर उसके राज्यपर आरूढ हो गया ॥२२१-२२२॥ उस नीच मन्त्रीने विष मिले हुए भोजनके समान, कृतघ्न मित्रके समान अथवा हिंसक धर्मके समान दुःख देनेवाला वह राज्य प्राप्त किया था ॥२२३॥ इधर विजया महादेवी गरुड यन्त्रपर बैठकर चली। शोकरूपी अग्निसे उसका सारा शरीर जल रहा था और वह रो रही थी परन्तु यक्षी उसकी रक्षा कर रही थी ॥२२४॥ इस प्रकार चलकर वह विजया रानी उस श्मशानभूमिमें जा पहुँची जहाँ घावोंके अग्रभागसे निकलती हुई खूनकी धाराओंसे शूल भींग रहे थे, शूल छिद जानेसे उत्पन्न हुई वेदनासे जिनके प्राण निकल गये हैं तथा जिनके मुख नीचेकी ओर लटक गये हैं ऐसे चोर जहाँ नाना प्रकारके शब्द कर रहे थे। कहींपर डाकिनियाँ अधजले मुरदेको अग्निमेंसे खींचकर और तीक्ष्ण छुरियोंसे खण्ड-खण्ड कर खा रही थीं। ऐसी डाकिनियोंसे वह श्मशान सब ओरसे व्याप्त था ॥२२५-२२७॥ उस श्मशानमें यक्षी रात-भर उसकी रक्षा करती रही जिससे उसे रंचमात्र भी कोई बाधा नहीं हुई। जिस प्रकार आकाश चन्द्रमाको प्राप्त करता है उसी प्रकार उस रानीने उसी रात्रिमें एक सुन्दर पुत्र प्राप्त किया ॥२२८॥ उस समय विजया महारानीको पुत्र उत्पन्न होनेका थोड़ा भी उत्सव नहीं हुआ था किन्तु भाग्यकी प्रतिकूलतासे बढ़ा हुआ शोक ही उत्पन्न हुआ था। यक्षीने सब ओर शीघ्र ही मणिमय दीपक रख दिये और दावानलसे झुलसी हुई लताके समान महारानीको शोकाकुल देखकर निम्न प्रकार उपदेश दिया। वह कहने लगी कि इस संसारमें सभी स्थान दुःखसे भरे हैं, यौवनकी लक्ष्मी नश्वर है, भाई-बन्धुओंका समागम नष्ट हो जानेवाला है, जीवन दीपकके समान चञ्चल है, यह शरीर समस्त अपवित्र पदार्थोंसे भरा हुआ है, अतः बुद्धिमान् पुरुषोंके द्वारा हेय है—छोड़ने योग्य है। जिसकी समस्त संसार पूजा करता है ऐसा यह राज्य बिजलीकी चमकके समान है। सब जीवोंकी समस्त वस्तुओंकी पर्यायोंमें ही प्रीति होती है परन्तु वे पर्याय अवश्य ही नष्ट हो जाती हैं इसलिए उनमें की हुई प्रीति अन्तमें सन्ताप करनेवाली होती है। अनिष्ट पदार्थके रहते हुए भी उसमें प्रीति नहीं होती और नष्ट पदार्थके रहते हुए उसपर अपना अधिकार नहीं होता तथा अपने-आपमें प्रीति होनेपर पदार्थ, अपना एवं अधिकार इन तीनोंकी ही स्थितिका क्षय हो जाता है। जिनका ज्ञान बिना किसी क्रमके एक साथ समस्त पदार्थोंको देखता है उन्होंने भी नहीं देखा कि कहीं कोई पदार्थ स्थायी रहता है। यदि विद्यमान और होनहार वस्तुओंमें प्रेम होता है तो भले ही हो परन्तु जो नष्ट हुई वस्तुओंमें भी प्रेम करता है उसे बुद्धिमान् कैसे कहा जा सकता है? इसलिए हे विजये! संसारके स्वरूपका विचारकर शोक

---

१ राज्यमादत्त ल० । २ –माक्रम्य ल० ।

श्रीमानामुक्तिपर्यन्तं सुतोऽयमुदितोदितः । निहत्याराति दुर्वृत्तं मोदं ते जनयिष्यति ॥२३८॥
स्नाहि चित्तं समाधेहि योग्यमाहारमाहर । किं वृथानेन शोकेन धिग्देहक्षयकारिणा ॥२३९॥
पर्यायान्तरेऽपि ते भर्ता न हि शोकेन लभ्यते । गतयो भिन्नवर्त्मानः कर्मभेदेन देहिनाम् ॥२४०॥
इत्यादियुक्तिमद्वाग्भिः संविधाय विशोकिकाम् । पार्श्वे तस्याः स्वयं सास्थात्सतां सौहार्दमीदृशम् ॥२४१॥
तत्र गन्धोत्कटः स्वस्य स्वयं शिशुशवं तदा । गच्छन्निक्षिप्य गम्भीरमाकर्ण्यार्भकसुस्वरम् ॥२४२॥
जीव जीवेति जीवंधराख्यां वा भाविनीं वदन् । सत्यं मुनिसमादिष्टमिति तुष्टोऽवगम्य तम् ॥२४३॥
करौ प्रसार्य सस्नेहं बालं समुदतिष्ठिपत् । देवी तत्स्वरमाकर्ण्य बुद्ध्वा गन्धोत्कटाह्वयम् ॥२४४॥
अवबोध्य तमात्मानं भद्र त्वं तनयं मम । वर्धयान्यैरविज्ञातमिति तस्मै समर्पयत् ॥२४५॥
सोऽपि तं प्रतिगृह्यैवं करोमीति कृतत्वरः । गत्वा गृहं स्वकान्तायै नन्दायै तत्प्रवृत्तकम् ॥२४६॥
किमप्यप्रतिपाद्यास्यै कुप्यन्निव गतस्मृते । सप्राणमपरीक्ष्यैव त्वरया तदपत्यकम् ॥२४७॥
विसर्जनाय मद्धस्ते निर्विचारं समर्पितम् । आयुष्मान्पुण्यवानेष गृहाणेति वितीर्णवान् ॥२४८॥
प्रत्यैच्छत्साऽपि संतुष्टा कराभ्यां बालभास्करम् । विराजितं पराजित्य बालं लोकविलोचना ॥२४९॥
तस्यान्यदा वणिग्वर्यः कृतमङ्गलसत्क्रियः । अन्नप्राशनपर्यन्ते व्यधाज्जीवंधराभिधाम् ॥२५०॥
अथैषा तेन यन्त्रेण तस्मात्सा विजयाह्वया । दण्डकारण्यमध्यस्थं महान्तं तापसाश्रमम् ॥२५१॥
तत्राप्रकाशमेवैषा वसति स्म समाकुला । तां यक्षी समुपागत्य तच्छोकापनुदेच्छया ॥२५२॥

मत कर, और अतीत पदार्थोंमें व्यर्थ ही प्रीति मत कर। तेरा यह पुत्र बहुत ही श्रीमान् है और मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त इसका अभ्युदय निरन्तर बढ़ता ही रहेगा। यह दुराचारी शत्रुको नष्ट कर अवश्य ही तुझे आनन्द उत्पन्न करेगा। तू स्नान कर, चित्तको स्थिर कर और योग्य आहार ग्रहण कर। शरीरका क्षय करनेवाला यह शोक करना वृथा है, इस शोकको धिक्कार है, शोक करनेसे इस पर्यायकी बात तो दूर रही, दूसरी पर्यायमें भी तेरा पति तुझे नहीं मिलेगा क्योंकि अपने-अपने कर्मोंमें भेद होनेसे जीवोंकी गतियाँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। इत्यादि युक्ति-भरे वचनोंसे यक्षीने विजया रानीको शोकरहित कर दिया। इतना ही नहीं वह स्वयं रात्रि-भर उसके पास ही रही सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंकी मित्रता ऐसी ही होती है ॥२२९-२४१॥ इतनेमें ही गन्धोत्कट सेठ, अपने मृत पुत्रका शव रखनेके लिए वहाँ स्वयं पहुँचा। वह शवको रखकर जब जाने लगा तब उसने किसी बालकका गम्भीर शब्द सुना। शब्द सुनते ही उसने 'जीव जीव' ऐसे आशीर्वादात्मक शब्द कहे मानो उसने आगे प्रचलित होनेवाले उस पुत्रके 'जीवन्धर' इस नामका ही उच्चारण किया हो। मुनिराजने जो कहा था वह सच निकला यह जानकर गन्धोत्कट बहुत ही सन्तुष्ट हुआ। उसने दोनों हाथ फैलाकर बड़े स्नेहसे उस बालकको उठा लिया। विजया देवीने गन्धोत्कटकी आवाज सुनकर ही उसे पहचान लिया था। इसलिए उसने अपने-आपका परिचय देकर उससे कहा कि हे भद्र, तू मेरे इस पुत्रका इस तरह पालन करना जिस तरह कि किसीको इसका पता न चल सके। यह कहकर उसने वह पुत्र गन्धोत्कट-के लिए सौंप दिया ॥२४२-२४५॥ सेठ गन्धोत्कटने भी 'मैं ऐसा ही करूँगा' यह कहकर वह पुत्र ले लिया और शीघ्रताके साथ घर आकर अपनी नन्दा नामकी स्त्रीके लिए दे दिया। देते समय उसने स्त्रीके लिए उक्त समाचार तो कुछ भी नहीं बतलाया परन्तु कुछ कुपित-सा होकर कहा कि हे मूर्खे! वह बालक जीवित था, तूने बिना परीक्षा किये ही श्मशानमें छोड़ आनेके लिए मेरे हाथमें विचार किये बिना ही रख दिया था। ले, यह बालक चिरजीवी है और पुण्यवान् है, यह कहकर उसने वह पुत्र अपनी स्त्रीको दिया था ॥२४६-२४८॥ सुनन्दा सेठानीने सन्तुष्ट होकर वह बालक दोनों हाथोंसे ले लिया। वह बालक प्रातःकालके सूर्यको पराजित कर सुशोभित हो रहा था और सेठानीकी आँखें उसे देख-देखकर सतृष्ण हो रही थीं ॥२४९॥ किसी एक दिन उस सेठने अनेक मांगलिक क्रियाएँ कर अन्नप्राशन संस्कारके बाद उस पुत्रका 'जीवन्धर' नाम रखा ॥२५०॥

अथानन्तर—विजया रानी उसी गरुडयन्त्रपर बैठकर दण्डकके मध्यमें स्थित तपस्वियोंके

तदवस्थोचितश्रव्यकथाभिः संसृतेः स्थितिम् । प्रोच्य धर्ममार्गं च प्रत्यहं समरीरमत् ॥२५३॥
इतः सत्यंधराख्यस्य नृपेन्द्रस्य कनीयसी । भामारतिः परानङ्गपताका च मनोरमे ॥२५४॥
मधुरं बकुलं चान्यमलभेतां सुतावुभौ । ज्ञात्वा तद्धर्मसद्भावं गृहीतश्रावकव्रतौ ॥२५५॥
तौ च गन्धोत्कटेनैव पोषितौ वृद्धिमापतुः । तत्रैव श्रावको जातो मत्यन्तविजयाह्वयः ॥२५६॥
सागरो धनपालाख्यश्चतुर्थो मतिसागरः । सेनापतिः पुरोधाश्च श्रेष्ठी मन्त्री च भूभुजः ॥२५७॥
भार्या जयावती श्रीमती श्रीदत्ता यथाक्रमम् । चतुर्थ्यनुपमा तेषां देवसेनः सुतोऽपरः ॥२५८॥
बुद्धिषेणो वरादिश्च दत्तो मधुमुखः क्रमात् । षट् ते जीवंधराख्येन मधुराद्याः सुताः समम् ॥२५९॥
अवर्धन्त कुमारेण बालकेलीपरायणाः । जीवादयः पदार्था वा लोकाकाशान्महाशयात् ॥२६०॥
नक्तंदिवं निजप्राणसमाः क्वाप्यनपायिनः । अथ नन्दापि नन्दाढ्यं क्रमेणासवती सुतम् ॥२६१॥
अन्येद्युर्नगरोद्याने कोऽपि तापसरूपधृत् । कुमारं गोलकाद्युक्तबालक्रीडानुषक्तकम् ॥२६२॥
विलोक्यास्मात्कियद्दूरं पुरं भद्रेति पृष्टवान् । वृद्धस्यापि तवाज्ञत्वं बालोऽप्यत्र न मुह्यति ॥२६३॥
बाह्यं पुरवरोद्याने बालक्रीडावलोकनात् । पुरस्यासन्नवर्तित्वं केन वा नानुमीयते ॥२६४॥
धूमोपलम्भनादग्निमभ्यं वेत्ति कृतस्मितः । जीवंधरोऽवदत्तस्य चेष्टाच्छायास्वरादिकम् ॥२६५॥
दृष्ट्वा श्रुत्वा विविच्यैष सामान्यो नैव बालकः । राजवंशसमुद्भूतिः चिह्नैरस्यानुमीयते ॥२६६॥
इति केनाप्युपायेन तद्वंशं स परीक्षितुम् । वाञ्छयावर्तनं मे भोजनं दीयतामिति ॥२६७॥

किसी बड़े आश्रममें पहुँची और वहाँ गुप्त रूपसे—अपना परिचय दिये बिना ही रहने लगी। जब वह विजया रानी शोकसे व्याकुल होती थी तब वह यक्षी आकर उसका शोक दूर करनेकी इच्छासे उसकी अवस्थाके योग्य श्रवणीय कथाओंसे उसे संसारकी स्थिति बतलाती थी, धर्मका मार्ग बतलाती थी और इस तरह प्रति दिन उसका चित्त बहलाती रहती थी ॥२५१-२५३॥ इधर महाराज सत्यन्धरकी भामारति और अनंगपताका नामकी दो छोटी स्त्रियाँ और थीं। उन दोनोंने मधुर और बकुल नामके दो पुत्र प्राप्त किये। इन दोनों ही रानियोंने धर्मका स्वरूप जानकर श्रावकके व्रत धारण कर लिये थे। इसलिए ये दोनों ही भाई गन्धोत्कटके यहाँ ही पालन-पोषण प्राप्त कर बड़े हुए थे। उसी नगरमें विजयमति, सागर, धनपाल और मतिसागर नामके चार श्रावक और थे जो कि अनुक्रमसे राजाके सेनापति, पुरोहित, श्रेष्ठी और मन्त्री थे ॥२५४-२५७॥ इन चारोंकी स्त्रियोंके नाम अनुक्रमसे जयावती, श्रीमती, श्रीदत्ता और अनुपमा थे। इनसे क्रमसे देवसेन, बुद्धिषेण, वरदत्त और मधुमुख नामके पुत्र उत्पन्न हुए थे। मधुरको आदि लेकर वे छहों पुत्र, जीवन्धर कुमारके साथ ही वृद्धिको प्राप्त हुए थे, निरन्तर कुमारके साथ ही बालक्रीड़ा करनेमें तत्पर रहते थे और जिस प्रकार जीवाजीवादि छह पदार्थ कभी भी लोकाकाशको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते हैं उसी प्रकार वे छहों पुत्र उत्कृष्ट अभिप्रायके धारक जीवन्धर कुमारको छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जाते थे। रात-दिन उनके साथ ही रहते थे और उनके प्राणोंके समान थे। तदनन्तर गन्धोत्कटकी स्त्री सुनन्दाने भी अनुक्रमसे नन्दाढ्य नामका पुत्र प्राप्त किया ॥२५८-२६१॥

किसी एक दिन जीवन्धर कुमार नगरके बाह्य बगीचेमें अनेक बालकोंके साथ गोलीडण्टा आदि बालकोंके खेल खेलनेमें व्यस्त थे कि इतनेमें एक तपस्वी आकर उनसे पूछता है कि यहाँसे नगर कितनी दूर है ? तपस्वीका प्रश्न सुनकर जीवन्धर कुमारने उत्तर दिया कि 'आप वृद्ध तो हो गये परन्तु इतना भी नहीं जानते। अरे, इसमें तो बालक भी नहीं भूलते। नगरके बाह्य बगीचेमें बालकोंको खेलता देख भला कौन नहीं अनुमान लगा लेगा कि नगर पास ही है ? जिस प्रकार कि धूम देखनेसे अग्निका अनुमान हो जाता है उसी प्रकार नगरके बाह्य बगीचेमें बालकोंकी क्रीड़ा देख नगरकी समीपताका अनुमान हो जाता है' इस प्रकार मुसकराते हुए जीवन्धर कुमारने कहा। कुमारकी चेष्टा कान्ति तथा स्वर आदिको देखकर तपस्वीने सोचा कि यह बालक सामान्य बालक नहीं है, इसके चिह्नोंसे पता चलता है कि इसकी उत्पत्ति राजवंशमें हुई है। ऐसा विचारकर उस तपस्वीने किसी उपायसे उसके वंशकी परीक्षा करनी चाही। अपना मनोरथ

कुमारोऽपि प्रतिज्ञाय नीत्वा तं स्वं समीपगम् । पितुः संनिधिमाहारो मयास्मै स्म प्रदीयते ॥२६८॥
भवन्मतमितिव्याहृत्यश्रुत्वा तत्पिता मुदा । विनीतोऽयं सुतः श्लाघ्यो ममेत्याश्लिष्य तं मुहुः ॥२६९॥
पुत्र स्नानावसानेऽयं त्वयामा साधु भोक्ष्यते । त्वया व्यपगताशङ्कं भोक्तव्यमिति सोऽभ्यधात् ॥२७०॥
सहायैः सह संविश्य भोक्तुं प्रारब्धवानसौ । अथार्भकस्वभावेन सर्वमुष्णमिदं कथम् ॥२७१॥
भुञ्जेऽहमिति रोदित्वा जननीमकदर्थयत् । रुदन्तं तं समालोक्य भद्र त्वत्ते न युज्यते ॥२७२॥
अपि त्वं वयसा हीयान् धीरधीर्वीर्यादिभिर्गुणैः । अधरीकृतविश्वोऽसि हेतुना केन रोदिषि ॥२७३॥
इति तापसवेषेण भाषितः स कुमारकः । शृणु पूज्य न वेत्सि त्वं रोदनेऽस्मिन्गुणानिमान् ॥२७४॥
निर्याति सुचिरश्लेष्मा नैर्मल्यमपि नेत्रयोः । शीतीभवति चाहारः कथमेतन्निवार्यते ॥२७५॥
इत्याख्यत्तत्समाकर्ण्य मातास्य मुदिता सती । यथाविधि सहायैस्तं सह सम्यगभोजयत् ॥२७६॥
ततो गन्धोत्कटो भुक्त्वा संनिविष्टो यथासुखम् । तेन तापसवेषोऽपि भुक्त्वायमेवमभाषत ॥२७७॥
कुमारेऽस्मिन्मम स्नेहोऽभूद्वीक्ष्यास्य योग्यताम् । मया शास्त्राब्धिसंधौतमतिरेष करिष्यते ॥२७८॥
इति तद्भाषितं श्रुत्वा वरिष्ठः श्रावकेष्वहम् । नान्यलिङ्गिनमस्कारं कुर्वे केनापि हेतुना ॥२७९॥
स्याद्दौर्मनस्यं तेऽवश्यं तदभावेऽभिमानिनः । इति श्रेष्ठ्याह तच्छ्रुत्वा स्वसद्भावमथाब्रवीत् ॥२८०॥
राजा सिंहपुरस्याहमार्यवर्माभिधानकः । वीरनन्दिमुनेः श्रुत्वा धर्मं संशुद्धदर्शनः ॥२८१॥
धृतिषेणाय सद्राज्यं प्रदायादाय संयमम् । तीव्रोदराग्निसंभूतमहादाहासहिष्णुकः ॥२८२॥

सिद्ध करनेके लिए उसने जीवन्धर कुमारसे याचना की कि तुम भोजन दो ॥२६२-२६७॥ जीवन्धर कुमार उसे भोजन देना स्वीकृत कर अपने साथ ले पिताके पास पहुँचे और कहने लगे कि मैंने इसे भोजन देना स्वीकृत किया है फिर, जैसी आप आज्ञा दें । कुमारकी बात सुनकर पिता बहुत ही प्रसन्न हुए और कहने लगे कि मेरा यह पुत्र बड़ा ही विनम्र और प्रशंसनीय है । यह कहकर उन्होंने उसका बार-बार आलिंगन किया और कहा कि हे पुत्र ! यह तपस्वी स्नान करनेके बाद मेरे साथ अच्छी तरह भोजन कर लेगा । तू निःशंक होकर भोजन कर ॥२६८-२७०॥ तदनन्तर जीवन्धरकुमार अपने मित्रोंके साथ बैठकर भोजन करनेके लिए तैयार हुए । भोजन गरम था इसलिए जीवन्धर कुमार रोकर कहने लगे कि यह सब भोजन गरम रखा है मैं कैसे खाऊँ ? इस प्रकार रोकर उन्होंने माताको तंग किया । उन्हें रोता देख तपस्वी कहने लगा कि भद्र ! तुझे रोना अच्छा नहीं लगता । यद्यपि तू अवस्थासे छोटा है तो भी बड़ा बुद्धिमान् है, तूने अपने वीर्य आदि गुणोंसे सबको नीचा कर दिया है फिर तू क्यों रोता है ? ॥२७१-२७३॥ तपस्वीके ऐसा कह चुकनेपर जीवन्धरकुमारने कहा कि हे पूज्य ! आप जानते नहीं हैं । सुनिए, रोनेमें ये गुण हैं—पहला गुण तो यह है कि बहुत समयका संचित हुआ कफ निकल जाता है, दूसरा गुण यह है कि नेत्रोंमें निर्मलता आ जाती है और तीसरा गुण यह है कि भोजन ठण्डा हो जाता है । इतने गुण होनेपर भी आप मुझे रोनेसे क्यों रोकते हैं ? ॥२७४-२७५॥ पुत्रकी बात सुनकर माता बहुत ही प्रसन्न हुई और उसने मित्रोंके साथ उसे विधिपूर्वक अच्छी तरह भोजन कराया ॥२७६॥ तदनन्तर जब गन्धोत्कट भोजन कर सुखसे बैठा और तपस्वी भी उसीके साथ भोजन कर चुका तब तपस्वीने गन्धोत्कटसे कहा कि इस बालककी योग्यता देखकर इसपर मुझे स्नेह हो गया है अतः मैं इसकी बुद्धिको शास्त्ररूपी समुद्रमें अवगाहन कर निर्मल बनाऊँगा ॥२७७-२७८॥ तपस्वीकी बात सुनकर गन्धोत्कटने कहा कि मैं श्रावकोंमें श्रेष्ठ हूँ—श्रावकके श्रेष्ठ व्रत पालन करता हूँ इसलिए अन्य लिंगियोंको किसी भी कारणसे नमस्कार नहीं करता हूँ और नमस्कारके अभावमें अतिशय अभिमानी आपके लिए अवश्य ही बुरा लगेगा । सेठकी बात सुनकर वह तापस इस प्रकार अपना परिचय देने लगा ॥२७९-२८०॥

मैं सिंहपुरका राजा था, आर्यवर्मा मेरा नाम था, वीरनन्दी मुनिसे धर्मका स्वरूप सुनकर मैंने निर्मल सम्यग्दर्शन धारण किया था । तदनन्तर धृतिषेण नामक पुत्रके लिए राज्य देकर मैंने संयम धारण कर लिया था—मुनिव्रत अंगीकृत कर लिया था परन्तु जठराग्निकी तीव्र बाधासे उत्पन्न

सम्यग्दृष्टिर्गृहीतोऽयं वेषस्ते धर्मबान्धवः । इति तद्वचनं सत्यकरं श्रुत्वा वणिजां वरः ॥२८३॥
सुतं समर्पयामास तस्मै [1]तं सखिभिः समम् । क्षेत्रे बीजमिव स्थाने योग्ये किं नार्प्यते बुधैः ॥२८४॥
[2]स सद्दृष्टिस्तमादाय निसर्गमतिविस्तृतिम् । अचिरेणैव कालेन विश्वविद्यान्तमानयत् ॥२८५॥
कुमारोऽपि रविर्वाम्भोदान्ते विद्याभिरद्युतत् । प्राप्तैश्वर्यो द्विपो वा नु संप्राप्तनवयौवनः ॥२८६॥
उपाध्यायोऽपि कालान्तरेणाप्तसंयमः शिवम् । तत्काले कालकूटाख्यो लुब्धो वननिवासिनाम् ॥२८७॥
मर्त्याकारं प्रपन्नो वा सूर्यरश्मिभयात्स्वयम् । अन्धकारः सकोदण्डशरहस्तो दुरीक्षकः ॥२८८॥
केनाप्यसह्यमाराते कटुकं वा महौषधम् । निर्घृणं बलमादाय विषाणोद्घोषभीषणम् ॥२८९॥
तमालकाननिर्भासिभूगोचरमुपागतः । गोग्रो विघ्नं स साधूनां गोमण्डलजिघृक्षया ॥२९०॥
तां किंवदन्तीमाकर्ण्य कन्यां गोदावरीं सतीम् । पुत्रीं गोपेन्द्रगोपश्रीसंभूतां गोविमोक्षणम् ॥२९१॥
विधास्यते ददामीति काष्ठाङ्गारिकभूभुजा । घोषणां कारितां श्रुत्वा काष्ठाङ्गारिकसंगतः ॥२९२॥
जीवंधरः सहायैः स्वैः परीतो व्याधसंनिधिम् । संप्राप्याकृष्टकोदण्डनिशातशरसन्ततिम् ॥२९३॥
संदधत्सन्ततिं मुञ्चंश्च शिक्षाविशेषतः । धनुर्वेदसमादिष्टं स्थानकं सर्वमाभजन् ॥२९४॥
बाणपातान्परेषां च वञ्चयन्संश्च संचरन् । विकृन्तन् शत्रुबाणौघं स्वशस्त्राणि भीरुषु ॥२९५॥
इति युद्ध्वा चिरं व्याधान् जित्वा वा दुर्नयान्नयः । जयश्रिया समाश्लिष्टः सर्वाशा यशसा भृशम् ॥२९६॥
पूरयञ्छशिहंसांसकुन्दप्रसवहासिना । सत्पताकपुरं चञ्चद्ध्वजपङ्क्त्या विराजितम् ॥२९७॥

हुई महादाहको सहन नहीं कर सका इसलिए मैंने यह ऐसा वेष धारण कर लिया है, मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, तुम्हारा धर्मबन्धु हूँ। इस प्रकार तपस्वीके वचन सुनकर और अच्छी तरह परीक्षा कर सेठने उसके लिए मित्रों-सहित जीवन्धरकुमारको सौंप दिया सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम खेतमें बीजकी तरह योग्य स्थानमें बुद्धिमान् मनुष्य क्या नहीं अर्पित कर देता है? अर्थात् सभी कुछ अर्पित कर देता है ॥२८२-२८४॥ उस सम्यग्दृष्टि तपस्वीने, स्वभावसे ही जिसकी बुद्धिका बहुत बड़ा विस्तार था ऐसे जीवन्धर कुमारको लेकर थोड़े ही समयमें समस्त विद्याओंका पारगामी बना दिया ॥२८५॥ जिस प्रकार शरद् ऋतुमें सूर्य देदीप्यमान होता है और ऐश्वर्य पाकर हाथी सुशोभित होता है उसी प्रकार नव यौवनको पाकर जीवन्धरकुमार भी विद्याओंसे देदीप्यमान होने लगे ॥२८६॥ वह उपाध्याय भी समयानुसार संयम धारण कर मोक्षको प्राप्त हुआ। अथानन्तर— उस समय कालकूट नामका एक भीलोंका राजा था जो ऐसा काला था मानो सूर्यकी किरणोंसे डरकर स्वयं अन्धकारने ही मनुष्यका आकार धारण कर लिया था, वह पशुहिंसक था और साधुओंके विघ्नके समान जान पड़ता था। जो धनुष-बाण हाथमें लिया है, जिसे कोई देख नहीं सकता, युद्धमें जिसे कोई सहन नहीं कर सकता, जो महौषधिके समान कटुक है, दया-रहित है और सींगोंके शब्दोंसे भयंकर है ऐसी सेना लेकर वह कालकूट गोमण्डलके हरण करनेकी इच्छासे तमालुओंके वनसे सुशोभित नगरके बाह्य मैदानमें आ डटा ॥२८७-२९०॥ इस समाचारको सुनकर काष्ठांगारिक राजाने घोषणा करायी कि मैं गायोंको छुड़ानेवालेके लिए गोपेन्द्रकी स्त्री गोपश्रीसे उत्पन्न गोदावरी नामकी उत्तम कन्या दूँगा। इस घोषणाको सुनकर जीवन्धर कुमार काष्ठांगारिकके पुत्र कालांगारिक तथा अपने अन्य मित्रोंसे युक्त होकर उस कालकूट भीलके पास पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने अपना धनुष चढ़ाया, उसपर तीक्ष्ण बाण रखे, वे अपनी विशिष्ट शिक्षाके कारण जल्दी-जल्दी बाण रखते और छोड़ते थे, धनुर्वेदमें बताये हुए सभी पैंतरा बदलते थे, दूसरोंकी बाण-वर्षाको बचाते हुए जल्दी-जल्दी घूमते थे, शत्रुओंके बाणोंके समूहको काटते थे और कायर लोगोंपर अस्त्र छोड़नेसे रोकते थे, अर्थात् कायर लोगोंपर अस्त्रोंका प्रहार नहीं करते थे। इस तरह जिस प्रकार नय मिथ्या नयोंको जीत लेता है उसी प्रकार उन्होंने बहुत देर तक युद्ध कर भीलोंको जीत लिया। जयलक्ष्मीने उनका आलिंगन किया और वे चन्द्रमा, हंस, तूल तथा कुन्दके फूलके समान सुशोभित यशके द्वारा समस्त दिशाओंको व्याप्त करते हुए फहराती हुई पताकाओंसे सुशोभित नगरमें प्रविष्ट हुए ॥२९१-२९७॥

---

१ तैः ख० । २ सम्यग्दृष्टिस्तमा-म० ।

तदा चूते कुमारस्य शौर्यादिकुसुमाचिते । जनानेत्रालयः पेतुः कीर्तिगन्धावकर्षिताः ॥२९८॥
तदा कुमारस्तद्वैश्यानेकवाक्येन शिष्टसुताः । गोविमोक्षणमेतेन कृतं ब्रूध्वेति भूपतिम् ॥२९९॥
विज्ञाप्यादापयत्कन्यां नन्दाढ्याय पुरोदिताम् । गोदावरीं विवाहेन विचित्राः कार्यवृत्तयः ॥३००॥
अथात्र भारते खेचराद्रौ दक्षिणभागगम् । गगनर्द्धिविशालाभि पुरं गगनवल्लभम् ॥३०१॥
तत्पुराधिपतिः खेचरेन्द्रो गरुडवेगकः । दायादात्ताभिमानः सन् रत्नद्वीपे परं पुरम् ॥३०२॥
रमणीयाभिधं कृत्वा नगाद्रौ मनुजोदये । निविष्टवान्पुरेऽस्यासीद्धारिणी प्राणवल्लभा ॥३०३॥
तत्सुतोपवासेन परिम्लानशरीरिकाम् । गन्धर्वदत्तामन्येद्युः पूजयित्वा जिनेश्वरान् ॥३०४॥
शेषमालां समादाय दातुं स्वस्मै समागताम् । आपूर्णयौवनां वीक्ष्य कस्मै देयेयमित्यसौ ॥३०५॥
अपृच्छत्खेचराधीशो [1]मन्त्रिणं मतिसागरम् । सोऽपि प्राक्छ्रुतमित्याह सिद्धादेशमपारधीः ॥३०६॥
जिनेन्द्रानहमन्येद्युर्वन्दितुं मन्दरं गतः । नन्दने पूर्वदिग्भागे वने जिननिकेतनम् ॥३०७॥
भक्त्या प्रदक्षिणीकृत्य स्तुत्वा विधिपुरस्सरम् । तत्रस्थचारणं नत्वा मत्यन्तविपुलादिकम् ॥३०८॥
श्रुत्वा धर्मं जगत्पूज्य भर्तास्मत्स्वामिनः सुता । कस्य गन्धर्वदत्ताख्या भोगयोग्या भविष्यति ॥३०९॥
इत्यप्राक्षं तदावोच सोऽप्येवमवधीक्षणः । द्वीपेऽस्मिन्भारते हेमाङ्गददेशे मनोहरे ॥३१०॥
राजा राजपुरे सत्यन्धरः सत्यविभूषणः । विजयाख्या महादेवी तयोः श्रीमान्सुधीः सुतः ॥३११॥
वीणास्वयंवरे तस्य दत्ता भार्या भविष्यति । इति मन्त्रिवचः श्रुत्वा खगेशः किंचिदाकुलः ॥३१२॥

उस समय शूरवीरता आदि गुणरूपी फूलोंसे सुशोभित कुमारके शरीररूपी आमके वृक्षपर कीर्ति-रूपी गन्धसे खिंचे हुए मनुष्योंके नेत्ररूपी भौंरे पड़ रहे थे ॥२९८॥ तदनन्तर जीवन्धर कुमारने सब वैश्यपुत्रोंसे कहा कि तुम लोग एक स्वरसे अर्थात् किसी मतभेदके बिना ही राजासे कहो कि इस नन्दाढ्यने ही युद्ध कर गायोंको छुड़ाया है। इस प्रकार राजाके पास सन्देश भेजकर पहले कही हुई गोदावरी नामकी कन्या विवाहपूर्वक नन्दाढ्यके लिए दिल-वायी। सो ठीक ही है क्योंकि कार्योंकी प्रवृत्ति अनेक प्रकारकी होती है। अर्थात् कोई कार्यको बिना किये ही यश लेना चाहते हैं और कोई कार्य करके भी यश नहीं लेना चाहते ॥२९९-३००॥

अथानन्तर—इसी भरतक्षेत्र सम्बन्धी विजयार्ध पर्वतकी दक्षिणश्रेणीमें एक गगनवल्लभ नामका नगर है जो आकाशसे पड़ती हुई श्रीके समान जान पड़ता है। उसमें विद्याधरोंका स्वामी गरुड़वेग राज्य करता था। दैवयोगसे उसके भागीदारोंने उसका अभिमान नष्ट कर दिया इसलिए वह भागकर रत्नद्वीपमें चला गया और वहाँ मनुजोदय नामक पर्वतपर रमणीय नामका सुन्दर नगर बसाकर रहने लगा। उसकी रानीका नाम धारिणी था ॥३०१-३०३॥ किसी दिन उसकी गन्धर्वदत्ता पुत्रीने उपवास किया जिससे उसका शरीर मुरझा गया। वह जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा कर शेष बची हुई माला लेकर पिताको देनेके लिए गयी। गन्धर्व-दत्ता पूर्ण यौवनवती हो गयी थी। उसे देख पिताने अपने मतिसागर नामक मन्त्रीसे पूछा कि यह कन्या किसके लिए देनी चाहिए। इसके उत्तरमें अपार बुद्धिके धारक मन्त्रीने भविष्यके ज्ञाता मुनिराजसे पहले जो बात सुन रखी थी वह कह सुनायी ॥३०४-३०६॥ उसने कहा कि हे राजन्! किसी एक दिन मैं जिनेन्द्र-भगवान्‌की वन्दना करनेके लिए सुमेरु पर्वतपर गया था। वहाँ नन्दन वनकी पूर्व दिशाके वनमें जो जिन-मन्दिर है उसकी भक्तिपूर्वक प्रद-क्षिणा देकर तथा विधिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान्‌की स्तुति कर मैं बैठा ही था कि मेरी दृष्टि वहाँपर विराजमान विपुलमति नामक चारण ऋद्धिधारी मुनिराजपर पड़ी। मैंने उन्हें नमस्कार कर उनसे धर्मका उपदेश सुना। तदनन्तर मैंने पूछा कि हे जगत्पूज्य! हमारे स्वामीके एक गन्धर्वदत्ता नामकी पुत्री है वह किसके भोगने योग्य होगी? मुनिराज अवधिज्ञानी थे अतः कहने लगे कि इसी भरतक्षेत्रके हेमांगद देशमें एक अत्यन्त सुन्दर राजपुर नामका नगर है। उसमें सत्यरूपी आभूषणसे सुशोभित सत्यन्धर नामका राजा राज्य करता है। उसकी महारानीका नाम विजया है उन दोनोंके एक बुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न हुआ है। वीणाके स्वयंवरमें वह

१ मन्त्रिणां ल०।

भविता कथमस्माकं संबन्धो भूमिगोचरैः । इत्यप्राक्षीत्पुनश्चैनं मन्त्रिणं मतिसागरम् ॥२१३॥
सोऽप्यन्यच्च मुनेः श्रुतं स्पष्टमेवमभाषत । श्रेष्ठी वृषभदत्ताख्यस्तस्मिन्नेव पुरे स्थितः ॥२१४॥
तस्य पद्मावती सूनुर्जिनदत्तस्तयोरभूत् । स कदाचित्पुरे तस्मिन्नुद्याने प्रीतिवर्धने ॥२१५॥
जिनं सागरसेनाख्यं केवलज्ञानपूजने । भक्त्या वन्दितुमायातस्त्वं च तत्रागतः समम् ॥२१६॥
दृष्ट्वा तं तत्र देवानां प्रीतिस्ते समजायत । देहभेदाद्विनान्येन भेदो न युवयोरभूत् ॥२१७॥
एवं दिनेषु गच्छत्सु केषुचिद्वणिजां वरः । जिनदत्तमवस्थाप्य स्वस्थाने निकटे मुनेः ॥२१८॥
गुणपालाभिधानस्य लब्धबोधिरदीक्षत । सुव्रताक्षान्तिसांनिध्यं संप्राप्याद्याद संयमम् ॥२१९॥
पद्मावती च कौलीन्यं सुव्रता समपालयत् । जिनदत्तोऽपि वित्तेशः पितुः स्थानमधिष्ठितः ॥२२०॥
[1]मनोहरादिरामाभिः कामं कामान्समन्वभूत् । स रत्नद्वीपमर्थार्थी स्वयमेवागमिष्यति ॥२२१॥
तेनैवास्मदभिप्रेतकार्यसिद्धिर्भविष्यति । इत्यसौ चागमत्केषुचिद्दिनेषु तदन्तिकम् ॥२२२॥
ततस्तुष्टः खगाधीशः कृतप्राघूर्णिकक्रियः । मित्र गन्धर्वदत्तायाः मत्सुतायाः स्वयंवरम् ॥२२३॥
स्वत्पुरे कारयेत्येनमभ्यधादधिकादरः । जिनदत्तोऽपि तां नीत्वा सह राजपुरं खगैः ॥२२४॥
स्वयंवरं [2]समुद्घोष्य मनोहरवनान्तरे । मनोहरं समुत्पाद्य स्वयंवरमहागृहम् ॥२२५॥
[3]कलाविदग्धविद्येशभूगोचरमहीशिषु । [4]कुमारेषु प्रयातेषु जिनपूजां व्यवर्तयत ॥२२६॥

गन्धर्वदत्ताको जीतेगा और इस तरह गन्धर्वदत्ता उसीकी भार्या होगी। मन्त्रीके इस प्रकारके वचन सुनकर राजा कुछ व्याकुल हुआ और उसी मतिसागर मन्त्रीसे पूछने लगा कि हम लोगोंका भूमिगोचरियोंके साथ सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है ? ॥२०७-२१३॥ इसके उत्तरमें मन्त्रीने मुनिराजसे जो कुछ अन्य बातें मालूम की थीं वे सब स्पष्ट कह सुनायीं। उसने कहा कि उसी राजपुर नगरमें एक वृषभदत्त नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम पद्मावती था। उन दोनोंके एक जिनदत्त नामका पुत्र हुआ था। किसी एक समय उसी राजपुर नगरके प्रीतिवर्धन नामक उद्यानमें सागरसेन नामक जिनराज पधारे थे उनके केवलज्ञानकी भक्तिसे पूजा-वन्दना करनेके लिए वह अपने पिताके साथ आया था। आप भी वहाँपर गये थे इसलिए उसे देखकर आपका उसके साथ प्रेम हो गया था। इतना अधिक प्रेम हो गया था कि शरीर-भेदको छोड़कर और किसी बातकी अपेक्षा आप दोनोंमें भेद नहीं रह गया था ॥२१४-२१७॥ इस प्रकार कितने ही दिन व्यतीत हो जानेपर एक दिन वृषभदत्त सेठ अपने स्थानपर जिनदत्तको बैठाकर आत्मज्ञान प्राप्त होनेसे गुणपाल नामक मुनिराजके निकट दीक्षित हो गया और उसकी स्त्री पद्मावतीने भी सुव्रता नामकी आर्यिकाके पास जाकर संयम धारण कर लिया तथा उत्तम व्रत धारण कर वह अपनी कुलीनताकी रक्षा करने लगी। इधर जिनदत्त भी धनका मालिक होकर अपने पिताके पदपर आरूढ हुआ और मनोहरा आदि स्त्रियोंके साथ इच्छानुसार भोग भोगने लगा। वह जिनदत्त धन कमानेके लिए स्वयं ही इस रत्नद्वीपमें आवेगा ॥२१८-२२१॥ उसीसे हमारे इष्ट कार्यकी सिद्धि होगी। इस तरह कितने ही दिन बीत जानेपर वह जिनदत्त गरुडवेगके पास आया। इससे गरुडवेग बहुत ही सन्तुष्ट हुआ। उसने जिनदत्तका अच्छा सत्कार किया। तदनन्तर विद्याधरोंके राजा गरुडवेगने बड़े आदरके साथ जिनदत्तसे कहा कि हे मित्र ! आप अपनी नगरीमें मेरी पुत्री गन्धर्वदत्ताका स्वयंवर करा दो। उसकी आज्ञानुसार जिनदत्त भी अनेक विद्याधरोंके साथ गन्धर्वदत्तको राजपुर नगर ले गया ॥२२२-२२४॥ वहाँ जाकर उसने मनोहर नामके वनमें स्वयंवर होनेकी घोषणा करायी और एक बहुत सुन्दर बड़ा भारी स्वयंवर-गृह बनवाया ॥२२५॥ जब अनेक कलाओंमें चतुर विद्याधर तथा भूमिगोचरी राजकुमार आ गये तब उसने जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करायी ॥२२६॥

---

१ मनोरमादि-ल० । २ समुद्घुष्य ल० । ३ कलाविद्याविदग्धेषु ल० । ४ सुकुमारेषु यातेषु ख०, ग०, म० ।

तदा गन्धर्वदत्तापि स्वयंवरसभागृहम् । प्रविश्य [1]वीणां चादाय सुघोषाख्यां सुलक्षणाम् ॥३२७॥
स्वरग्रामादिनद्वार्थं शुद्धदेशजलक्षणम् । गीतमिश्रं विधायैनामधरीकृत्य भूभुजः ॥३२८॥
[2]स्थिता जीवंधरस्तस्या वीणाविद्याकृतं मदम् । निराचिकीर्षुरागत्य स्वयंवरसभागृहम् ॥३२९॥
अपक्षपतितान् प्राज्ञान् वीणाविद्याविशारदान् । गुणदोषपरीक्षायां नियोज्योभयसंमतान् ॥३३०॥
निर्दोषा दीयतां वीणेत्यस्य वाक्यनियोगिनः । वीणास्तिस्रश्चतस्रस्तस्मै तदानीय समर्पयन् ॥३३१॥
केशरोमलवादीनां दोषाणां तासु दर्शनात् । स ताः सर्वा निराकृत्य कन्यकां प्रत्यपादयत् ॥३३२॥
यदि निर्मत्सरासि त्वं त्वद्वीणा दीयतामिति । अदितासौ च तां वीणां स्वकरस्थां कृतादरम् ॥३३३॥
तामादाय कुमारेण शास्त्रमार्गानुसारिणा । गीतमिश्रितवाद्येन मन्द्रतारेण हारिणा ॥३३४॥
मधुरेण मृगाणां च मनोविभ्रमकारिणा । गीतं च साधुवादोद्यत्प्रसूनार्चनभासिना ॥३३५॥
हृदि गन्धर्वदत्तेनं वक्ष्माणप्रचोदिता । मालयालंचकारायं[3] संमुखे किं न जायते ॥३३६॥
हीनभासोऽभवन्केचिद्दिनदीपोपमाः परे । निशाप्रदीपसङ्काशा भासमानाननास्तदा ॥३३७॥
सुघोषा हेतुना प्राप्तकुमारा परितोषिणी । गन्धर्वदत्ता तां वीणामास्मन्येवमभाषत ॥३३८॥
कुलोचिता सुघोषा त्वं मधुरा चित्तहारिणी । कुमारसंगमे हेतुर्दूतीव कुशला मम ॥३३९॥
काष्ठाङ्गारिकपुत्रेण चोदितेन सुदुर्जनैः । गन्धर्वदत्तामाहर्तुमुद्यमो विहितस्तदा ॥३४०॥
कुमारोऽपि विदित्वैतद्वत्ताधिकपुरस्सरैः । विद्याधरैः समं गन्धगजं जयगिरिश्रुतिम् ॥३४१॥

उसी समय गन्धर्वदत्ताने भी सुघोषा नामकी उत्तम लक्षणोंवाली वीणा लेकर स्वयंवरके सभागृहमें प्रवेश किया ॥३२७॥ वहाँ आकर उसने गीतोंसे मिले हुए शुद्ध तथा देशज स्वरोंके समूहसे वीणा बजायी और सब राजाओंको नीचा दिखा दिया। तदनन्तर उसका वीणासम्बन्धी मद दूर करनेकी इच्छासे जीवन्धर कुमार स्वयंवर-सभाभवनमें आये। आते ही उन्होंने उन लोगोंको गुण और दोषकी परीक्षा करनेमें नियुक्त किया कि जो किसीके पक्षपाती नहीं थे, बुद्धिमान् थे, वीणाकी विद्यामें निपुण थे और दोनों पक्षके लोगोंको इष्ट थे ॥३२८-३३०॥ इसके बाद उन्होंने कार्य करनेके लिए नियुक्त पुरुषोंसे 'निर्दोष वीणा दी जाय' यह कहा। नियोगी पुरुषोंने तीन-चार वीणाएँ लाकर उन्हें सौंप दीं परन्तु जीवन्धरकुमारने उन सबमें केश, रोम, लव आदि दोष दिखाकर उन्हें वापस कर दिया और कन्या गन्धर्वदत्तासे कहा कि 'यदि तू ईर्ष्यारहित है तो अपनी वीणा दे'। गन्धर्वदत्ताने अपने हाथकी वीणा बड़े आदरसे उन्हें दे दी। कुमारने उसकी वीणा लेकर गाया, उनका वह गाना शास्त्रके मार्गका अनुसरण करनेवाला था, गीत और बाजेकी आवाजसे मिला हुआ था, गम्भीर ध्वनिसे सहित था, मनोहर था, मधुर था, हरिणोंके मनमें विभ्रम उत्पन्न करनेवाला था और उस विद्याके जानकार लोगोंके धन्यवाद रूपी श्रेष्ठ फूलोंकी पूजासे सुशोभित था ॥३३१-३३५॥ उनका ऐसा गाना सुनकर गन्धर्वदत्ता हृदयमें कामदेवके बाणोंसे प्रेरित हो उठी। इसलिए इसने उन्हें मालासे अलंकृत कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यके सम्मुख रहते हुए क्या नहीं होता है? अर्थात् सब कुछ होता है ॥३३६॥ उस समय कितने ही लोग दिनमें जलाये हुए दीपकके समान कान्तिहीन हो गये और कितने ही लोग रात्रिमें जलाये हुए दीपकोंके समान देदीप्यमान मुखके धारक हो गये। भावार्थ—जो ईर्ष्यालु थे वे जीवन्धर कुमारकी कुशलता देखकर मलिनमुख हो गये और जो गुणग्राही थे उनके मुख सुशोभित होने लगे ॥३३७॥ गन्धर्वदत्ता सुघोषा नामक वीणाके द्वारा ही जीवन्धर कुमारको प्राप्त कर सकी थी इसलिए वह सन्तुष्ट होकर अपने मनमें इस प्रकार कह रही थी कि हे सुघोषा! तू मेरे कुलके योग्य है, मधुर है, और मनको हरण करनेवाली है, कुमारका संग प्राप्त करानेमें तू ही चतुर दूतीके समान कारण हुई है ॥३३८-३३९॥ उस समय दुर्जनोंके द्वारा प्रेरित हुए काष्ठांगारिकके पुत्र कालांगारिकने गन्धर्वदत्ताको हरण करनेका उद्यम किया। जब जीवन्धर कुमारको इस बातका पता चला तब वे अधिक

1 वीणामादाय म०, ल०। 2 स्थितो ल०। 3 अये पुण्ये।

आरुह्य शत्रुसैन्यस्य प्रतीपमगमत्क्रुधा । तदा गरुडवेगाख्यविद्याधरधराधिपः ॥३४२॥
पिता गन्धर्वदत्ताया गत्वा मध्यस्थतां तयोः । उपायकुशलः शत्रुबलं प्रशममानयत् ॥३४३॥
ततस्तयोर्विवाहेन विधायासौ समागमम् । कृतार्थोऽभूत्पितुर्नान्यत्कार्यं कन्यासमर्पणात् ॥३४४॥
तयोः परस्परप्रेमप्रवृद्धसुखयोरगात् । निर्वृतिः परमां काष्ठां समसंयोगसंभवा ॥३४५॥
अथान्यदा मधौ मासे मदनोदयसाधने । सुरादिमलयोद्याने वनक्रीडानिमित्तकम् ॥३४६॥
नृपेण सह सर्वेषु पौरेषु सुखलिप्सया । आविष्कृतस्वसम्पत्सु यातेषु परमोत्सवात् ॥३४७॥
पुरे तस्मिन्वणिङ्मुख्योऽभूद्वैश्रवणदत्तवाक् । तनूजा चूतमञ्जर्यां तस्यासीत्सुरमञ्जरी ॥३४८॥
तस्याः श्यामलता चेट्यसौ चन्द्रोदयाह्वयः । चूर्णवासोऽयमस्त्यन्यो नास्माद्गन्धेन बन्धुरः ॥३४९॥
इत्यात्मस्वामिनीदाक्ष्यप्रकाशनपरायणा । इतस्ततः समुद्घुष्य विचचार जनान्तरे ॥३५०॥
कुमारदत्तवैश्यस्य विमलायां सुताभवत् । गुणमालामला तस्याश्चेटकी पटुमापर्गा ॥३५१॥
विद्युल्लताभिधा चूर्णवासोऽयं षट्पदाहृतः । वर्यः सूर्योदयो नाम नेदृक्स्वर्गेऽपि विद्यते ॥३५२॥
इति विद्वत्सभामध्ये भूयः स्वस्वामिनीगुणम् । विद्योतयन्ती बभ्राम सुभ्रूर्गर्वग्रहाहिता ॥३५३॥
एवं तयोः समुद्भूतमात्सर्याहितचेतसोः । विवादे सति तद्विद्यावेदिनस्तत्परीक्षितुम् ॥३५४॥
अभूवन्नक्षमास्तत्र जीवंधरयुवेश्वरः । वीक्ष्य तत्स्वयं सम्यक्छ्रेष्ठश्चन्द्रोदयोऽनयोः ॥३५५॥
प्रत्ययः कोऽस्य चेद्व्यक्तं दर्शयामीति तद्द्वयम् । आदाय स्वहस्ताभ्यां दिविक्षेप ततो द्रुतम् ॥३५६॥
चन्द्रोदयमशिश्रायो गन्धोत्कर्षात्परीतवान् । दृष्ट्वा सर्वेऽपि तत्रस्थास्तत्तमेवाभ्यनन्दिषुः ॥३५७॥

बलवान् विद्याधरोंके साथ जयगिरि नामक गन्धगजपर सवार होकर बड़े क्रोधसे शत्रु-सेनाके सम्मुख गये। उसी समय उपाय करनेमें निपुण गन्धर्वदत्ताके पिता गरुडवेग नामक विद्याधरोंके राजाने उन दोनोंकी मध्यस्थता प्राप्त कर शत्रुकी सेनाको शान्त कर दिया ॥३४०-३४३॥ तदनन्तर विवाहके द्वारा जीवन्धर कुमार और गन्धर्वदत्तका समागम कराकर गरुडवेग कृतकृत्य हो गया सो ठीक ही है क्योंकि पिताको कन्या समर्पण करनेके सिवाय और कुछ काम नहीं है ॥३४४॥ परस्परके प्रेमसे जिनका सुख बढ़ रहा है ऐसे उन दोनोंको सम संयोगसे उत्पन्न होनेवाली तृप्ति परम सीमाको प्राप्त हो रही थी ॥३४५॥

अथानन्तर—कामदेवको उत्तेजित करनेवाला वसन्त ऋतु आया। उसमें सब नगर-निवासी लोग सुख पानेकी इच्छासे अपनी सब सम्पत्ति प्रकट कर बड़े उत्सवसे राजाके साथ सुरमलय उद्यानमें वन-क्रीड़ाके निमित्त गये ॥३४६-३४७॥ उसी नगरमें वैश्रवणदत्त नामक एक सेठ रहता था। उसकी आम्रमंजरी नामकी स्त्रीसे सुरमंजरी नामकी कन्या हुई थी। उस सुर-मंजरीकी एक श्यामलता नामकी दासी थी। वह भी सुरमंजरीके साथ उसी उद्यानमें आयी थी। उसके पास एक चन्द्रोदय नामका चूर्ण था उसे लेकर वह यह घोषणा करती फिरती थी कि सुगन्धिकी अपेक्षा इस चूर्णसे बढ़कर दूसरा चूर्ण है ही नहीं। इस प्रकार वह अपनी स्वा-मिनीकी चतुराईको प्रकट करती हुई लोगोंके बीच घूम रही थी ॥३४८-३५०॥ उसी नगरमें एक कुमारदत्त नामका सेठ रहता था। उसकी विमला स्त्रीसे अत्यन्त निर्मल गुणमाला नामकी पुत्री हुई थी। गुणमालाकी विद्युल्लता नामकी दासी थी जो बात-चीत करनेमें बहुत ही चतुर थी। अच्छी भौंहोंको धारण करनेवाली तथा अभिमान रूपी पिशाचसे ग्रसी वह विद्युल्लता विद्वानोंकी सभामें बार-बार अपनी स्वामिनीके गुणोंको प्रकाशित करती और यह कहती हुई घूम रही थी कि यह सूर्योदय नामका श्रेष्ठ चूर्ण है और इतना सुगन्धित है कि इसपर भौंरे आकर पड़ रहे हैं ऐसा चूर्ण स्वर्गमें भी नहीं मिल सकता है ॥३५१-३५३॥ इन दोनों दासियोंमें जब परस्पर विवाद होने लगा और इस विद्याके जानकार लोग जब इसकी परीक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सके तब वहींपर खड़े हुए जीवन्धर कुमारने स्वयं अच्छी तरह परीक्षा कर कह दिया कि इन दोनों चूर्णोंमें चन्द्रोदय नामका चूर्ण श्रेष्ठ है। 'इसका क्या कारण है ? यदि आप यह जानना चाहते हैं तो मैं यह अभी स्पष्ट रूपसे दिखाता हूँ' ऐसा कहकर जीवन्धर कुमारने उन दोनों चूर्णोंको दोनों हाथोंसे लेकर ऊपरको फेंक दिया। फेंकते देर नहीं लगी कि सुगन्धिकी

तदा प्रभृति ते कन्ये परस्परनिबन्धनम् । विद्याविहितसङ्घर्षं त्यजतः [1]स्मास्तमत्सरे ॥३५८॥
अथात्र नागरेष्वात्मवाञ्छया क्रीडनं वने । कुर्वत्स्वेकं समालोक्य कुक्कुरं खलबालकाः ॥३५९॥
सन्त्रंयन्ति स्म चापल्यात्सोऽपि धावन् भयाकुलः । ह्रदे निपत्य तत्रैव प्राणमोक्षोन्मुखोऽभवत् ॥३६०॥
भृत्यैस्ततस्तमानाय्य जीवंधरकुमारकः । कर्णौ तस्य नमस्कारपदैः संपर्यपूरयत् ॥३६१॥
प्रतिगृह्य नमस्कारं चन्द्रोदयगिरावभूत् । यक्षः सुदर्शनो नाम स्मृतपूर्वभवस्तदा ॥३६२॥
प्रत्यागत्य कुमारं तं त्वत्प्रसादान्मयेदृशी । लब्धा विभूतिरित्युच्चैः स्तुत्वा संपाद्य विस्मयम् ॥३६३॥
सर्वेषां [2]दिव्यभूषाभिः कृतवित्तमपूजयत् । इतः प्रभृत्यहं स्मर्यो व्यसनोत्सवयोस्त्वया ॥३६४॥
कुमारेति [3]समभ्यर्थ्य स्वं धामैव जगाम सः । अकारणोपकाराणामवश्यंभावि तत्फलम् ॥३६५॥
चिरं वने विहृत्यैवं निवृत्तौ गन्धवारणः । तन्महीशस्य नाम्नाशनिघोषो जनघोषतः ॥३६६॥
समुद्भ्रान्तो निवार्योऽन्यैरधावत् स्यन्दनं प्रति । सुदत्तः सुरमञ्जर्याः स कुमारो विलोक्य तम् ॥३६७॥
विनयोभयनिर्णीतक्रियः संप्राप्य हेलया । कृत्वा परिश्रमं तस्य द्वात्रिंशत्केलिभिः स्वयम् ॥३६८॥
वीतश्रमस्तमस्पन्दं हेलयालानमापयत् । दृष्ट्वास्य गजविज्ञानं पुरं शंसन् जनोऽविशत् ॥३६९॥
तदा प्रभृत्यगात् कामव्यामोहं सुरमञ्जरी । जीवंधरकुमारावलोकनाकुलिताशया ॥३७०॥
इङ्गितैश्चेष्टितैस्तस्याः संकथाभिश्च सूचितः । माता पिता च जीवंधराभिलाषपरायणाम् ॥३७१॥

कारण भौंरोंके समूहने चन्द्रोदय चूर्णको घेर लिया। यह देख, वहाँ जो भी विद्वान् उपस्थित थे वे सब जीवन्धर कुमारकी स्तुति करने लगे ॥३५४-३५७॥ उस समयसे उन दोनों कन्याओंने विद्यासे उत्पन्न होनेवाली परस्परकी ईर्ष्या छोड़ दी और दोनों ही मात्सर्यरहित हो गयीं ॥३५८॥ तदनन्तर—उधर नगरवासी लोग वनमें अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगे इधर कुछ दुष्ट बालकोंने एक कुत्ताको देखकर चपलतावश मारना शुरू किया। भयसे व्याकुल होकर वह कुत्ता भागा और एक कुण्डमें गिरकर मरणोन्मुख हो गया। जब जीवन्धर कुमारने यह हाल देखा तो उन्होंने अपने नौकरोंसे उस कुत्तेको वहाँसे निकलवाया और उसके दोनों कान पंचनमस्कार मन्त्रसे भर दिये। नमस्कार मन्त्रको ग्रहण कर वह कुत्ता चन्द्रोदय पर्वतपर सुदर्शन नामका यक्ष हुआ। पूर्व भवका स्मरण होते ही वह जीवन्धर कुमारके पास वापस आया और कहने लगा कि मैंने यह उत्कृष्ट विभूति आपके ही प्रसादसे पायी है। इस प्रकार दिव्य आभूषणोंके द्वारा उस कृतज्ञ यक्षने सबको आश्चर्यमें डालकर जीवन्धर कुमारकी पूजा की और कहा कि हे कुमार! आजसे लेकर दुःख और सुखके समय आप मेरा स्मरण करना। इस प्रकार कुमारसे प्रार्थना कर वह अपने स्थानपर चला गया। आचार्य कहते हैं कि बिना कारण ही जो उपकार किये जाते हैं उनका फल अवश्य होता है ॥३५९-३६५॥

इस प्रकार वनमें चिरकाल तक क्रीड़ा कर जब सब लोग लौट रहे थे तब राजाका अशनिघोष नामका मदोन्मत्त हाथी लोगोंका हल्ला सुनकर बिगड़ उठा। वह अहंकारसे भरा हुआ था और साधारण मनुष्य उसे वशमें नहीं कर सकते थे। वह हाथी सुरमंजरीके रथकी ओर दौड़ा चला आ रहा था। उसे देखकर जीवन्धर कुमारने हाथीकी विनय और उभय क्रियाका शीघ्र ही निर्णय कर लिया, वे लीलापूर्वक उसके पास पहुँचे, बत्तीस तरहकी क्रीड़ाओंके द्वारा उसे खेद-खिन्न कर दिया परन्तु स्वयंको कुछ भी खेद नहीं होने दिया। अन्तमें वह हाथी निश्चेष्ट खड़ा हो गया और उन्होंने उसे आलानसे बाँध दिया। यह सब देख नगरवासी लोग जीवन्धर कुमारके हस्ति-विज्ञानकी प्रशंसा करते हुए नगरमें प्रविष्ट हुए ॥३६६-३६९॥ जीवन्धर कुमारके देखनेसे जिसका हृदय व्याकुलित हो रहा है ऐसी सुरमंजरी उसी समयसे कामसे मोहित हो गयी ॥३७०॥ सुरमंजरीके माता-पिताने, उसके इंगितोंसे, चेष्टाओंसे तथा बात-चीतसे युक्तिपूर्वक यह जान लिया कि इसकी जीवन्धर कुमारमें

---

१ स्मास्तवक्रुरे इति क्वचित् ।

विज्ञाय तां निवेद्यैतत्पित्रे तदनुज्ञया । विभूतिमत्कुमाराय शुभयोगे दिनेरनुः ॥३७२॥
ततः समुचितप्रेम्णा स कामं सुखमन्वभूत् । तत्र तच्छौर्यसौभाग्यसंकथां संततं जनैः ॥३७३॥
क्रियमाणां दुरात्माऽसौ काष्ठाङ्गारिकभूपतिः । कोपादशक्नुवन् सोढुं मद्गन्धगजबाधनम् ॥३७४॥
कृत्वा जीवंधरस्तस्य परिभूतिं व्यधादधीः । पथ्यामलकशुण्ठ्यादिनानाग्रहणकर्मणः ॥३७५॥
निजजात्यनुरूपाद्यो विमुखः सुष्ठु गर्वितः । राजपुत्रोचिते वृत्ते विषक्तोऽयं वराटकः ॥३७६॥
कृतान्तवदनं सद्यः प्रापयेमं कुचेष्टितम् । इत्याख्यच्चण्डदण्डाख्यं मुख्यं तत्पुररक्षिणम्[2] ॥३७७॥
स संनद्धबलोऽधावदभि जीवंधरं क्रुधा । स कुमारोऽपि तज्ज्ञात्वा ससहायो युयुत्सया ॥३७८॥
तमभ्येत्य तदैवास्मै ददौ भङ्गमभङ्गुरः । पुनः कुपितवान्काष्ठाङ्गारिकः स्वबलं बहु ॥३७९॥
प्राहिणोत्तन्निरीक्ष्यार्द्रचित्तो जीवंधरो वृथा । क्षुद्रप्राणिविघातेन किमनेन दुरात्मकम् ॥३८०॥
काष्ठाङ्गारिकमेवैनमुपायैः प्रशमं नये । इति यक्षं निजं मित्रमस्मरत् सोऽप्युपागतः ॥३८१॥
ज्ञातजीवंधराकूतस्तत्सर्वं शान्तिमानयत् । ततो विजयगिर्याख्यं समारोप्य गजाधिपम् ॥३८२॥
कुमारं तदनुज्ञानात् स्वावासमनयत् सुहृत् । स्वगेहदर्शनं नाम सद्भावः सुहृदां स हि ॥३८३॥
सहाया बान्धवाश्चास्य प्रवृत्तेरनभिज्ञकाः । पवनान्दोलिताशोकबालपल्लवलीलया ॥३८४॥
अकम्पिषत सर्वेऽपि स्वान्संधर्तुमशक्नकाः । गन्धर्वदत्ता तद्यानिमित्तज्ञा निराकुला ॥३८५॥
कुमारस्य न भीरस्ति तद्विभीत स्म मात्र भोः । स ऐष्यतीति तान् सर्वान् प्रशान्तिं प्रापयत्सुधीः ॥३८६॥
जीवंधरोऽपि यक्षस्य वसतौ सुचिरं सुखम् । स्थित्वा जिगमिषां स्वस्याज्ञापयद्यक्षमिङ्गितैः ॥३८७॥

लग रहो है। तदनन्तर उन्होंने जीवन्धर कुमारके माता-पितासे निवेदन किया और उनकी आज्ञानुसार शुभ योगमें ऐश्वर्यको धारण करनेवाले जीवन्धर कुमारके लिए वह कन्या समर्पण कर दी ॥३७१-३७२॥ इसके बाद जीवन्धर कुमार उचित प्रेम करते हुए सुरमंजरीके साथ इच्छानुसार सुखका उपभोग करने लगे। तदनन्तर नगरके लोग निरन्तर जीवन्धर कुमारकी शूर-वीरता और सौभाग्य-शीलताकी कथा करने लगे परन्तु उसे दुष्ट काष्ठांगारिक राजा सहन नहीं कर सका इसलिए उसने क्रोधमें आकर लोगोंसे कहा कि इस मूर्ख जीवन्धरने मेरे गन्धवारण हाथीको बाधा पहुँचाकर उसका तिरस्कार किया है। यह वैश्यका पुत्र है इसलिए हरड, आँवला, सोंठ आदि चीजोंका क्रय-विक्रय करना इसका काम है परन्तु यह अपनी जातिके कार्योंसे तो विमुख रहता है और अहंकारसे चूर होकर राजपुत्रोंके करने योग्य कार्यमें आसक्त होता है। इसलिए खोटी चेष्टा करनेवाले इस दुष्टको शीघ्र ही यमराजके मुखमें भेज दो। इस प्रकार उसने चण्डदण्ड नामक, नगरके मुख्य रक्षकको आज्ञा दी ॥३७३-३७७॥ चण्डदण्ड भी सेना तैयार कर क्रोधसे जीवन्धर कुमारके सम्मुख दौड़ा। इधर जीवन्धर कुमारको भी इसका पता लग गया इसलिए वे भी मित्रोंको साथ ले युद्ध करनेकी इच्छासे उसके सम्मुख गये और स्वयं सुरक्षित रहकर उसे उसी समय पराजित कर दिया॥ इससे काष्ठांगारिक और भी कुपित हुआ और उसने बहुत-सी सेना भेजी। उस सेनाको देखकर जीवन्धर कुमार दयार्द्रचित्त होकर विचार करने लगे कि इन क्षुद्र प्राणियोंको व्यर्थ मारनेसे क्या लाभ है? मैं किन्हीं उपायोंसे इस दुष्ट काष्ठांगारिकको ही शान्त करता हूँ। ऐसा विचार कर उन्होंने अपने मित्र सुदर्शन यक्षका स्मरण किया और उसने भी आकर तथा जीवन्धर कुमारका अभिप्राय जानकर सब उपद्रव शान्त कर दिया॥ तदनन्तर वह यक्ष, जीवन्धर कुमारकी सम्मतिसे उन्हें विजयगिरि नामक हाथीपर बैठाकर अपने घर ले गया सो ठीक ही है क्योंकि मित्रके लिए अपना घर दिखलाना मित्रोंका सद्भाव रहना ही है॥३७८-३८३॥ जीवन्धर कुमारकी प्रवृत्तिको नहीं जाननेवाले उनके साथी और भाई-बन्धु लोग हवासे हिलते हुए चंचल छोटे पत्तोंके समान काँपने लगे और वे सब अपने-आपको सँभालनेमें समर्थ नहीं हो सके। परन्तु गन्धर्वदत्ता जीवन्धरके जानेका कारण जानती थी इसलिए वह निराकुल रही। 'कुमारको कुछ भी भय नहीं है, इसलिए आप लोग डरिए नहीं, वे शीघ्र ही आ जावेंगे,' ऐसा कहकर उस बुद्धिमतीने सबको शान्त कर दिया ॥३८४-३८६॥ इधर जीवन्धर कुमार भी यक्षके घरमें बहुत दिन

१ सद्भाव्य ल० । २ तत्पुररक्षिणाम् ल० ।

तदभिप्रायमालक्ष्य यक्षो दत्त्वा स्फुरत्प्रभाम् । साधनीमीप्सितार्थानां मुद्रिकां कामरूपिणीम् ॥३८८॥
तदद्रेरवतार्यैनं न भीरस्य कुतश्चन । इति किंचिदनुव्रज्य तमसुञ्चत् कृताञ्जनः ॥३८९॥
कुमारोऽपि ततः किंचिद्गत्वान्तरमुपेयिवान् । पुरं चन्द्राभनामानं सज्योत्स्नं वा सुधागृहैः ॥३९०॥
नृपो धनपतिस्तस्य पालको लोकपालवत् । देवी तिलोत्तमा तस्य तयोः पद्मोत्तमा सुता ॥३९१॥
सा विहर्तुं वनं याता दष्टा दुष्टाहिना तदा । य इमां निर्विषीकुर्यान्मणिमन्त्रौषधादिभिः ॥३९२॥
मयेयं कन्यका तस्मै सार्धराज्या प्रदास्यते । घोषणामिति भूपालः पुरे तस्मिन्नचीकरत् ॥३९३॥
फणिवैद्यास्तदाकर्ण्य प्रागप्यादिष्टमादरात् । मुनिनादित्यनाम्नेति कन्यालोभाच्चिकित्सितुम् ॥३९४॥
संप्राप्य बहवो नोपसंहर्तुं तदशक्नुवन् । राजाज्ञया पुनर्वैद्यमन्वेष्टुं परिचारकाः ॥३९५॥
धावन्तो दैवसंयोगात् कुमारमवलोक्य ते । किमस्ति विषविज्ञानमित्यपृच्छंस्तमाकुलाः ॥३९६॥
सोऽपि तज्ज्ञायते किंचिन्मयेति प्रत्यभाषत । तद्वचःश्रुतिसंतुष्टास्ते नयन्ति स्म तं मुदा ॥३९७॥
सोऽपि यक्षमनुस्मृत्य [1]फणिमन्त्रविशारदः । अभिमन्त्र्याकरोद्वीतविषवेगां नृपात्मजाम् ॥३९८॥
जाततोषो नृपस्तस्य तेजश्छायादिलक्षणैः । अवश्यं राजवंशोऽयमिति निश्चित्य पुत्रिकाम् ॥३९९॥
अर्धराज्यं च पूर्वोक्तं तस्मै वितरति स्म सः । ततः सलोकपालादिकन्यकाभ्रातृभिः समम् ॥४००॥
द्वात्रिंशता चिरं रेमे तद्गुणैरनुरञ्जितः । दिनानि कानिचित्तत्र स्थित्वा दैवप्रचोदितः ॥४०१॥
कदाचिन्निशि केनापि जनेनानुपलक्षितः । गत्वा गव्यूतिकाः काश्चित्क्षेमाख्यविषये पुरम् ॥४०२॥

तक सुखसे रहे। तदनन्तर चेष्टाओंसे उन्होंने यक्षसे अपने जानेकी इच्छा प्रकट की ॥३८७॥ उनका अभिप्राय जानकर यक्षने उन्हें जिसकी कान्ति देदीप्यमान है, जो इच्छित कार्योंको सिद्ध करनेवाली है, और इच्छानुसार रूप बना देनेवाली है ऐसी एक अँगूठी देकर उस पर्वतसे नीचे उतार दिया और उन्हें किसीसे भी भयकी आशंका नहीं है यह विचारकर वह यक्ष कुछ दूर तो उनके पीछे आया और बादमें पूजा कर चला गया ॥३८८-३८९॥ कुमार भी वहाँसे कुछ दूर चलकर चन्द्राभ नामक नगरमें पहुँचे। वह नगर चूनासे पुते हुए महलोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो चाँदनीसे सहित ही हो ॥३९०॥ वहाँके राजाका नाम धनपति था जो कि लोकपालके समान नगरकी रक्षा करता था। उसकी रानीका नाम तिलोत्तमा था और उन दोनोंके पद्मोत्तमा नामकी पुत्री थी ॥३९१॥ वह कन्या विहार करनेके लिए वनमें गयी थी, वहाँ दुष्ट साँपने उसे काट खाया, यह देख राजाने अपने नगरमें घोषणा करायी कि जो कोई मणि मन्त्र औषध आदिके द्वारा इस कन्याको निर्विष कर देगा मैं उसे यह कन्या और आधा राज्य दूँगा ॥३९२-३९३॥ आदित्य नामके मुनिराजने यह बात पहले ही कह रखी थी इसलिए राजाकी यह घोषणा सुनकर साँपके काटनेकी दवा करनेवाले बहुत-से वैद्य, कन्याके लोभसे चिकित्सा करनेके लिए आये परन्तु उस विषको दूर करनेमें समर्थ नहीं हो सके। तदनन्तर राजाकी आज्ञासे सेवक लोग फिर भी किसी वैद्यको ढूँढ़नेके लिए निकले और इधर-उधर दौड़-धूप करनेवाले उन सेवकोंने भाग्यवश जीवन्धर कुमारको देखा। देखते ही उन्होंने बड़ी व्यग्रतासे पूछा कि क्या आप विष उतारना जानते हैं? ॥३९४-३९६॥ जीवन्धर कुमारने भी उत्तर दिया कि हाँ, कुछ जानता हूँ। उनके वचन सुनकर सेवक लोग बहुत ही सन्तुष्ट हुए और उन्हें बड़े हर्षसे साथ ले गये ॥३९७॥ साँप काटनेका मन्त्र जाननेमें निपुण जीवन्धरने भी उस यक्षका स्मरण किया और मन्त्रसे अभिमन्त्रित कर राजपुत्रीको विष-वेगसे रहित कर दिया ॥३९८॥ इससे राजाको बहुत सन्तोष हुआ। उसने तेज तथा कान्ति आदि लक्षणोंसे निश्चय कर लिया कि यह अवश्य ही राजवंशमें उत्पन्न हुआ है इसलिए उसने अपनी पुत्री और पहले कहा हुआ आधा राज्य उन्हें समर्पण कर दिया। उस कन्याके लोकपाल आदि बत्तीस भाई थे उनके गुणोंसे अनुरंजित होकर जीवन्धर कुमार उन्हींके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहे। तदनन्तर वहाँ कुछ दिन रहकर भाग्यकी प्रेरणासे वे किसीसे कुछ कहे बिना ही रात्रिके समय चुपचाप वहाँ से

१ मणिमन्त्र-क० ।

क्षेमाह्वयमवाप्यास्य वने बाह्ये मनोरमे । सहस्रकूटं राजन्तं जिनालयमलोकत ॥४०२॥
लोकनानन्तरं नत्वा कृताञ्जलिपुटः पुनः । त्रिःपरीत्य स्तुतिं कर्तुं विधिनारब्धवांस्तदा ॥४०३॥
सहसैवात्मनो रागं व्यक्तं बहिरिवार्पयन् । चम्पकानोकहः प्रादुरासीदको निजोद्गमैः ॥४०५॥
कोकिलाश्च पुरा मूकीभूतास्तदागमभेषजैः । चिकित्सिता इव श्राव्यमकूजन्मधुरस्वरम्[1] ॥४०६॥
तज्जैनभवनाभ्यर्णवर्तिन्यच्छाम्बुसंभृते । स्फटिकद्रवपूर्णे वा व्यकसन् सरसि स्फुटम् ॥४०७॥
सर्वाणि जलपुष्पाणि संभ्रमद्भ्रमरारवम् । तद्गोपुरकवाटानामुद्घाटनमभूत् स्वयम् ॥४०८॥
तद्विलोक्य समुत्पन्नभक्तिः स्नानविशुद्धिभाक् । तत्सरोवरसंभूतप्रसवैर्बहुभिर्जिनम् ॥४०९॥
अभ्यर्च्यार्थ्यैर्मुदाव्यग्रमस्तोष्टेष्टैरभिष्टवैः । सुता तत्र सुभद्राख्यश्रेष्ठिनो निर्वृतेश्च सा ॥४१०॥
साक्षाल्लक्ष्मीरिवाक्षूणाभून्नाम्ना क्षेमसुन्दरी । तस्यापि भर्तृसांनिध्ये चम्पकप्रसवादिकम् ॥४११॥
समादिशत् पुरा सर्वं मुनीन्द्रो विनयंधरः । तत्रस्थास्तत्परीक्षार्थं नियुक्तपुरुषास्तदा ॥४१२॥
जीवंधरकुमारावलोकनाजातसंमदाः । सफलोऽस्मन्नियोगोऽभूदिति तत्क्षणमेव ते ॥४१३॥
न्यबोधयन् समस्तं तत्संप्राप्य स्वामिनं निजम् । सोऽपि संतुष्य नासत्यं मुनीनां जातुचिद्वचः ॥४१४॥
इति तस्मै सुतां योग्यां विधिना श्रीमतेऽदित । तथा प्राङ् मे मुदा राजपुरे निवसते नृपः ॥४१५॥
सत्यंधरोऽददादेतद्धनुरेतान् शरांश्च ते । योग्यांस्तत्त्वं गृहाणेति भूयस्तेनाभिभाषितः ॥४१६॥
गृहीत्वा सुष्ठु संतुष्टस्तत्पुरं सुखमावसत् । एवं गच्छति कालेऽस्य कदाचिच्चिर्मविजया ॥४१७॥

चल पड़े और कितने ही कोश चलकर क्षेम देशके क्षेम नामक नगरमें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने नगरके बाहर मनोहर वनमें हजार शिखरोंसे सुशोभित एक जिन-मन्दिर देखा ॥३९९-४०२॥ जिन-मन्दिरको देखते ही उन्होंने नमस्कार किया, हाथ जोड़े, तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और उसी समय विधिपूर्वक स्तुति करना शुरू कर दिया ॥४०४॥ उसी समय अकस्मात् एक चम्पाका वृक्ष मानो अपना अनुराग बाहर प्रकट करता हुआ अपने फूलोंसे युक्त हो गया ॥४०५॥ जो कोकिलाएँ पहले गूँगीके समान हो रही थीं वे उन कुमारके शुभागमन रूप औषधिसे चिकित्सा की हुईके समान ठीक होकर सुननेके योग्य मधुर शब्द करने लगीं ॥४०६॥ उस जैन-मन्दिरके समीप ही एक सरोवर था जो स्वच्छ जलसे भरा हुआ था और ऐसा जान पड़ता था मानो स्फटिक मणिके द्रवसे ही भरा हो। उस सरोवरमें जो कमल थे वे सबके सब एक साथ फूल गये और उनपर भ्रमर मँडराते हुए गुंजार करने लगे। इसके सिवाय उस मन्दिरके द्वारके किवाड़ भी अपने आप खुल गये ॥४०७-४०८॥ यह अतिशय देख, जीवन्धर कुमारकी भक्ति और भी बढ़ गयी। उन्होंने उसी सरोवरमें स्नान कर विशुद्धता प्राप्त की और फिर उसी सरोवरमें उत्पन्न हुए बहुत-से फूल लेकर जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा की तथा अर्थोंसे भरे हुए अनेक इष्ट स्तोत्रोंसे निराकुल होकर उनकी स्तुति की। उस नगरमें सुभद्र सेठकी निर्वृति नामकी स्त्रीसे उत्पन्न हुई एक क्षेमसुन्दरी नामकी कन्या थी जो कि साक्षात् लक्ष्मीके समान सुशोभित थी। पहले किसी समय विनयन्धर नामके मुनिराजने कहा था कि क्षेमसुन्दरीके पतिके समीप आनेपर चम्पाका वृक्ष फूल जायगा, आदि चिह्न बतलाये थे। उसी समय सेठने उसकी परीक्षा करनेके लिए वहाँ कुछ पुरुष नियुक्त कर दिये थे ॥४०९-४१२॥ जीवन्धर कुमारके देखनेसे वे पुरुष बहुत ही हर्षित हुए और कहने लगे कि आज हमारा नियोग पूरा हुआ। उन लोगोंने उसी समय जाकर यह सब समाचार अपने स्वामीसे निवेदन किया। उसे सुनकर सेठ भी सन्तुष्ट होकर कहने लगा कि मुनियोंका वचन कभी असत्य नहीं होता ॥४१३-४१४॥ इस प्रकार प्रसन्न होकर उसने श्रीमान् जीवन्धर कुमारके लिए विधि-पूर्वक अपनी योग्य कन्या समर्पित कर दी। तदनन्तर वही सेठ जीवन्धर कुमारसे कहने लगा कि जब मैं पहले राजपुर नगरमें रहता था तब राजा सत्यन्धरने मुझे यह धनुष और ये बाण दिये थे, ये आपके ही योग्य हैं इसलिए इन्हें आप ही ग्रहण करें—इस प्रकार कहकर वह धनुष और बाण भी दे दिये ॥४१५-४१६॥ जीवन्धर कुमार धनुष और बाण लेकर बहुत ही

१ मधुरस्वरैः म०।

गन्धर्वदत्ता संप्राप्य जीवंधरकुमारकम् । तं सुखासीनमालोक्य केनाप्यविदितं पुनः ॥४१८॥
आयाद् राजपुरं प्रीतिः प्रीतानां हि प्रियोत्सवः । ततः कतिपयैरेव दिनैः प्रागिव तत्पुरात् ॥४१९॥
चापबाणधरो गत्वा विषये सुजनाह्वये । हेमाभनगरं प्राप्तः कुमारः पुण्यसाधनः ॥४२०॥
तत्पतिर्दृढमित्राख्यो नलिना तस्य वल्लभा । हेमाभाख्या तयोः पुत्री तज्जन्मन्येव केनचित् ॥४२१॥
कृतः किलैवमादेशो मनोहरवनान्तरे । खलूरिकायां धानुष्कव्यायामे येन चोदितः ॥४२२॥
लक्ष्याभ्यर्णान्निवृत्तः सन् शरः पश्चात्समेष्यति । वल्लभा तस्य बालेयं भवितेति सुलक्षणा ॥४२३॥
धनुर्विद्याविदः सर्वे तदादेशश्रुतेस्तदा । तथा गुणयितुं युक्ताः समभूवंस्तदाशया ॥४२४॥
जीवंधरकुमारोऽपि तत्प्रदेशमुपागमत् । धानुष्कास्तं विलोक्याहुरादेशोक्तधनुःश्रमः ॥४२५॥
किमङ्गास्तीति सोऽप्याह किंचिदस्तीति तैरिदम् । विध्यतां लक्ष्यमित्युक्तः सज्जीकृतधनुः शरम् ॥४२६॥
आदाय विद्धवान् लक्ष्यमप्राप्यैष न्यवर्तत । तं तदालोक्य तत्रस्था महीपतिमबोधयन् ॥४२७॥
मृग्यमाणो हि मे वल्लीविशेषश्चरणेऽसजत् । इति क्षितीश्वरः प्रीतो विवाहविधिना सुताम् ॥४२८॥
अग्राहयद्विभूत्यास्मै तदिदं पुण्यमुच्यते । आदिमो गुणमित्रोऽन्यो बहुमित्रस्ततः परः ॥४२९॥
सुमित्रो धनमित्रोऽन्यस्तथान्ये चास्य मैथुनाः । तान् सर्वान् सर्वविज्ञानकुशलान् विदधच्चिरम् ॥४३०॥
तत्र पूर्वकृतं पुण्यं कुमारोऽनुभवन् स्थितः । इतो जीवंधराभ्यर्णमप्रकाशं मुहुर्मुहुः ॥४३१॥
गत्वा गमनमालोक्य नन्दाढ्येन कदाचन । अज्ञाता केनचिद्यासि क्व यियासुरहं च तत् ॥४३२॥
वदेति पृष्ट्वा गन्धर्वदत्ता स्मित्वाब्रवीदिदम् । मया प्राप्यं प्रदेशं चेत्त्वं गन्तुं यदीच्छसि ॥४३३॥

सन्तुष्ट हुए और उसी नगरमें सुखसे रहने लगे । इस तरह कुछ समय व्यतीत होनेपर किसी समय गन्धर्वदत्ता अपनी विद्याके द्वारा जीवन्धर कुमारके पास गयी और उन्हें सुखसे बैठा देख, किसीके जाने बिना ही फिरसे राजपुर वापस आ गयी सो ठीक ही है क्योंकि प्रियजनोंका उत्सव ही प्रेमी जनोंका प्रेम कहलाता है । तदनन्तर कितने ही दिन बाद पहलेके समान उस नगरसे भी वे पुण्यवान् जीवन्धर कुमार धनुष-बाण लेकर चल पड़े और सुजन देशके हेमाभ नगरमें जा पहुँचे ॥४१७-४२०॥ वहाँके राजाका नाम दृढमित्र और रानीका नाम नलिना था । उन दोनोंके एक हेमाभा नामकी पुत्री थी। हेमाभाके जन्म-समय ही किसी निमित्त-ज्ञानीने कहा था कि मनोहर नामके वनमें जो आयुधशाला है वहाँ धनुषधारियोंके व्यायामके समय जिसके द्वारा चलाया हुआ बाण लक्ष्य स्थानसे लौटकर पीछे वापस आ जावेगा यह उत्तम लक्षणोंवाली कन्या उसीकी वल्लभा होगी ॥४२१-४२३॥ उस आदेशको सुनकर उस समय जो धनुष-विद्याके जाननेवाले थे वे सभी उक्त कन्याकी आशासे उसी प्रकारका अभ्यास करनेमें लग रहे थे ॥४२४॥ भाग्यवश जीवन्धर कुमार भी उस स्थानपर जा पहुँचे । धनुषधारी लोग उन्हें देखकर कहने लगे कि हे भाई ! राजाके आदेशानुसार क्या आपने भी धनुष चलानेमें कुछ परिश्रम किया है ॥४२५॥ इसके उत्तरमें जीवन्धर कुमारने कहा कि हाँ,कुछ है तो। तब उन धनुषधारियोंने कहा कि अच्छा तो यह लक्ष्य वेधो—यहाँ निशाना मारो। इसके उत्तरमें जीवन्धर कुमारने तैयार किया हुआ धनुष-बाण लेकर उस लक्ष्यको वेध दिया और उनका वह बाण लक्ष्य प्राप्त करनेके पहले ही लौट आया। यह सब देख, वहाँ जो खड़े हुए थे उन्होंने राजाको खबर दी ॥४२६-४२७॥ राजा सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ और कहने लगा कि मैं जिस विशिष्ट लताको ढूँढ़ रहा था वह स्वयं आकर पैरोंमें लग गयी । तदनन्तर उसने विवाहकी विधिके अनुसार बड़े वैभवसे वह कन्या जीवन्धर कुमारके लिए दे दी । आचार्य कहते हैं कि देखो, पुण्य यह कहलाता है । गुणमित्र, बहुमित्र, सुमित्र, धनमित्र तथा और भी कितने ही जीवन्धर कुमारके साले थे उन सबको वे समस्त विद्याओंमें निपुण बनाते तथा पूर्वकृत पुण्यका उपभोग करते हुए वहाँ चिरकाल तक रह आये । इधर गन्धर्वदत्ता बार-बार छिपकर जीवन्धर कुमारके पास आती-जाती थी उसे देख एक समय नन्दाढ्यने पूछा कि बता तू छिपकर कहाँ जाती है ? मैं भी वहाँ जाना चाहता हूँ । इसके उत्तरमें गन्धर्वदत्ताने हँसकर कहा कि जहाँ मैं जाया करती हूँ उस

देवताधिष्ठिता नाम्ना शय्या स्मरतरङ्गिणी । पुत्राग्रजं तव स्मृत्वा स्वप्यास्त्वं विधिपूर्वकम् ॥४३४॥
तथा प्राप्नोषि संतोषात् तत्समीपमिति स्फुटम् । तदुक्तमवधार्यासौ रात्रौ तच्छयनेऽस्वपत् ॥४३५॥
तं तदा भोगिनीविद्या शय्ययानयदग्रजम् । तदा कुमारनन्दाढ्यौ मुदा वीक्ष्य परस्परम् ॥४३६॥
समाश्लिष्य सुखप्रश्नपूर्वकं तत्र तस्थतुः । नाधिकं प्रीतयेऽन्यत्स्याद्भ्रातृसोदर्यसंगमात् ॥४३७॥
राष्ट्रेऽस्मिन्नेव विख्याते सुजनेऽस्ति परं पुरम् । नाम्ना नगरशोभाख्यं दृढमित्रस्य भूपतेः ॥४३८॥
भ्राता तस्य सुमित्राख्यो राज्ञी तस्य वसुंधरा । रूपविज्ञानसंपन्ना श्रीचन्द्रा तनया तयोः ॥४३९॥
आपूर्णयौवनारम्भा सा कदाचिद्गृहाङ्गणे । वीक्ष्य पारावतद्वन्द्वं स्वैरं क्रीडत्स्वेच्छया ॥४४०॥
जातजातिस्मृतिर्मूर्च्छां सहसा समुपागमत् । तद्दृष्ट्वाकुलीकृतास्तत्समीपगाः ॥४४१॥
कुशलाश्चन्दनोशीरशीतकाम्भोभिषेचिताम् । व्यजनापादिताह्लादिपवनाश्वासिताशयाम् ॥४४२॥
तां संबोध्य सुखालापैर्विभावितविबोधनाम् । विदधुः किं न कुर्वन्ति कृच्छ्रेषु सुहृदो हिताः ॥४४३॥
श्रुत्वैतत्पितरौ कन्याप्रियामलकसुन्दरीम् । पुत्रीं तिलकचन्द्रादिचन्द्रिकाया विमूर्च्छिताम् ॥४४४॥
कन्यां गवेषयस्वेति तदा जगदतुः शुचा । सापि संप्राप्य संलापनिपुणा कन्यकां मिथः ॥४४५॥
भट्टारिके वदेत्तत्ते किं मूर्च्छाकरणं मम । इति पृष्टवती मूर्च्छाहेतुं चेच्छ्रोतुमिच्छसि ॥४४६॥
न ह्यस्त्यकथनीयं मे तव प्राणाधिकप्रिये । शृणु चेतः समाधायेत्यसौ सम्यगनुस्मृतिः ॥४४७॥
स्वपूर्वभवसंबन्धमशेषं प्रत्यपीपदत् । तत्सर्वमवधार्याशु सुधीरलकसुन्दरी ॥४४८॥
तदैवागत्य तन्मूर्च्छाकारणं प्राग्यथाश्रुतम् । प्रस्पष्टमधुरालापैस्तयोरेवमभाषत ॥४४९॥

स्थानपर यदि तू जाना चाहता है तो देवतासे अधिष्ठित स्मरतरंगिणी नामक शय्यापर अपने बड़े भाईका स्मरण कर विधि-पूर्वक सो जाना। इस प्रकार सन्तोषपूर्वक तू उनके पास पहुँच जायगा। गन्धर्वदत्ताकी बातका निश्चय कर नन्दाढ्य रात्रिके समय स्मरतरंगिणी शय्यापर सो गया और भोगिनी नामकी विद्याने उसे शय्या सहित बड़े भाईके पास भेज दिया। तदनन्तर जीवन्धर कुमार और नन्दाढ्य दोनों एक दूसरेको देखकर बड़ी प्रसन्नतासे मिले और सुख-समाचार पूछकर वहीं रहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें प्रसन्नतासे भरे हुए दो भाइयोंके समागमसे बढ़कर और कोई दूसरी वस्तु प्रीति उत्पन्न करनेवाली नहीं है ॥४२८-४३७॥

अथानन्तर इसी प्रसिद्ध सुजन देशमें एक नगरशोभ नामका नगर था उसमें दृढमित्र राजा राज्य करता था। उसके भाईका नाम सुमित्र था। सुमित्रकी स्त्रीका नाम वसुन्धरा था और उन दोनोंके रूप तथा विज्ञानसे सम्पन्न श्रीचन्द्रा नामकी पुत्री थी ॥४३८-४३९॥ जिसके यौवनका आरम्भ पूर्ण हो रहा है ऐसी उस श्रीचन्द्राने किसी समय अपने भवनके आँगनमें इच्छानुसार क्रीड़ा करते हुए कबूतर और कबूतरीका जोड़ा देखा ॥४४०॥ देखते ही उसे जातिस्मरण हुआ और वह अकस्मात् ही मूर्च्छित हो गयी। उसकी दशा देख, समीप रहनेवाली सखियाँ घबड़ा गयीं, उनमें जो कुशल थीं उन्होंने चन्दन तथा खसके ठण्डे जलसे उसे सींचा, पंखासे उत्पन्न हुई आनन्ददायी हवासे उसके हृदयको सन्तोष पहुँचाया और मीठे वचनोंसे सम्बोध कर उसे सचेत किया सो ठीक ही है क्योंकि हितकारी मित्रगण कष्टके समय क्या नहीं करते हैं? अर्थात् सब कुछ करते हैं ॥४४१-४४३॥ यह समाचार सुनकर उसके माता-पिताने तिलकचन्द्राकी पुत्री और श्रीचन्द्राकी सखी अलकसुन्दरीसे शोकवश कहा कि तू जाकर मूर्च्छाका कारण तलाश कर। माता-पिताकी बात सुनकर बातचीत करनेमें निपुण अलकसुन्दरी भी श्रीचन्द्राके पास गयी और एकान्तमें पूछने लगी कि हे भट्टारिके! मुझे बतला कि तेरी मूर्च्छाका कारण क्या है? इसके उत्तरमें श्रीचन्द्राने कहा कि हे प्राणोंसे अधिक प्यारी सखि! यदि तू मेरी मूर्च्छाका कारण सुनना चाहती है तो चित्त लगाकर सुन, मेरी ऐसी कोई बात नहीं है जो तुझसे कहने योग्य न हो। इस प्रकार अच्छी तरह स्मरणकर उसने अपने पूर्वभवका समस्त सम्बन्ध अलकसुन्दरीको कह सुनाया। अलकसुन्दरी बड़ी बुद्धिमती थी वह शीघ्र ही सब बातको अच्छी तरह समझकर उसी समय श्रीचन्द्राके माता-पिताके पास गयी और स्पष्ट तथा मधुर शब्दोंमें उसकी मूर्च्छाका कारण जैसा कि उसने पहले सुना था इस प्रकार कहने लगी ॥४४४-४४९॥

इतस्तृतीये कन्यैषा बभूव किल जन्मनि । देशे हेमाङ्गदे राजपुरे वैश्यकुलाग्रणीः ॥४५०॥
रत्नतेजाः प्रिया तस्य रत्नमाला तयोः सुता । सुरूपानुपमा नाम्ना नाम्नैव न गुणैरपि ॥४५१॥
तस्मिन्नेव पुरे वंशे विशां कनकतेजसः । तनूजश्चन्द्रमालायामभवद्दुर्विधो विधीः ॥४५२॥
सुवर्णतेजा नाम्नाभूत्तस्मै प्राक्परिभाषिताम् । पुनस्तदवमानेन तन्मातापितरौ किल ॥४५३॥
समश्राणयतां वैश्यपुत्राय मणिकारिणे । गुणमित्राय तत्रेयं स्तोकं कालमगात् सुखम् ॥४५४॥
कदाचिज्जलयात्रायामम्भोनिधिनदीमुखात् । निर्गमे विषमावर्ते गुणमित्रे मृतिंगते ॥४५५॥
स्वयं चैत्य प्रदेशं तं मृत्युमेषा समाश्रयत् । ततो राजपुरे गन्धोत्कटवैश्यसुधालये ॥४५६॥
पतिः पवनवेगाख्यो रतिवेगेयमप्यभूत् । पारावतकुले द्वन्द्वं तद्बालाक्षरशिक्षणे ॥४५७॥
स्वयं चैत्याक्षराभ्यासं गृहिणोः श्रावकव्रतम् । तयोर्दृष्ट्वा प्रशान्तोपयोगं जन्मान्तरागतात् ॥४५८॥
स्नेहादन्योन्यसंसक्तं सुखं तत्रावसच्चिरम् । सुवर्णतेजास्तद्बद्धवैरेण पुरुदंशताम् ॥४५९॥
मृत्वा समाप्य तद्द्वन्द्वं दृष्ट्वा क्वापि यदृच्छया । अग्रहीद्रतिवेगाख्यां[1] राहुर्मूर्तिमिवैन्दवीम् ॥४६०॥
आत्तकोपः कपोतोऽमुं नखपक्षप्रताडनैः । तुण्डघातैश्च [2]हत्वाशु निजभामाममूमुचत् ॥४६१॥
कदाचित्तत्पुरं[3] प्रत्यासन्नभूध्रबिलान्तरे । पाशे विरचिते पापैः कपोते पतिते सति ॥४६२॥
स्वयं गृहं समागत्य रतिवेगात्मनो मृतिम् । पत्युस्तुण्डेन संलिख्य [4]तान्सर्वानवबोधयत् ॥४६३॥
तद्वियोगमहादुःखपीडिता विगतासुका । श्रीचन्द्राख्याजनिष्टेयमभीष्टा भवतोः सुता ॥४६४॥

इस जन्मसे पहले तीसरे जन्मकी बात है तब इसी हेमांगद देशके राजपुर नगरमें वैश्य-कुल शिरोमणि रत्नतेज नामका एक सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम रत्नमाला था। यह कन्या उन दोनोंकी अनुपमा नामकी अतिशय रूपवती पुत्री थी। अनुपमा केवल नाम-से ही अनुपमा नहीं थी किन्तु गुणोंसे भी अनुपमा (उपमा रहित) थी। उसी नगरमें वैश्य-वंशमें कनकतेजकी स्त्री चन्द्रमालासे उत्पन्न हुआ सुवर्णतेज नामका एक पुत्र था जो कि बहुत ही बुद्धिहीन और भाग्यहीन था। अनुपमाके माता-पिताने पहले इसी सुवर्णतेजको देनी कही थी परन्तु पीछे उसे दरिद्र और मूर्खताके कारण अपमानित कर जवाहरातका काम जाननेवाले गुणमित्र नामक किसी दूसरे वैश्य-पुत्रके लिए दे दी। अनुपमा उसके पास कुछ समय तक सुखसे रही ॥४५०-४५४॥ किसी एक समय गुणमित्र जलयात्राके लिए गया था अर्थात् जहाजमें बैठकर कहीं गया था परन्तु समुद्रमें नदीके मुँहानेसे जब निकल रहा था तब किसी बड़ी भँवरमें पड़कर मर गया। उसकी स्त्री अनुपमाने जब यह खबर सुनी तब यह भी स्वयं उस स्थानपर जाकर डूब मरी। तदनन्तर उसी राजपुर नगरके गन्धोत्कट सेठके घर गुण-मित्रका जीव पवनवेग नामका कबूतर हुआ और अनुपमा रतिवेगा नामकी कबूतरी हुई। गन्धो-त्कटके घर उसके बालक अक्षराभ्यास करते थे उन्हें देखकर उन दोनों कबूतर-कबूतरीने भी अक्षर लिखना सीख लिया था। गन्धोत्कट और उसकी स्त्री, दोनों ही श्रावकके व्रत पालन करते थे इसलिए उन्हें देखकर कबूतर-कबूतरीका भी उपयोग अत्यन्त शान्त हो गया था। इस प्रकार जन्मान्तरसे आये हुए स्नेहसे वे दोनों परस्पर मिलकर वहाँ बहुत समय तक सुखसे रहे आये। सुवर्णतेजको अनुपमा नहीं मिली थी इसलिए वह गुणमित्र और अनुपमासे वैर बाँधकर मरा तथा मरकर बिलाव हुआ। एकदिन वह कबूतरोंका जोड़ा कहीं इच्छानुसार क्रीड़ा कर रहा था उसे देखकर उस बिलावने रतिवेगा नामकी कबूतरीको इस प्रकार पकड़ लिया जिस प्रकार कि राहु चन्द्रमाके बिम्बको ग्रस लेता है ॥ ४५५-४६०॥ यह देख कबूतरको बड़ा क्रोध आया, उसने नख और पंखोंको ताड़नासे तथा चोंचके आघातसे बिलावको मारकर अपनी स्त्री छुड़ा ली ॥४६१॥ किसी एक समय उसी नगरके समीपवर्ती पहाड़की गुफाके समीप पापी लोगोंने एक जाल बनाया था, पवनवेग कबूतर उसमें फँसकर मर गया तब रतिवेगा कबूतरीने स्वयं घर आकर और चोंचसे लिखकर सब लोगोंको अपने पतिके मरनेकी खबर समझा दी ॥४६२-४६३॥ तदन-न्तर उसके वियोगरूपी भारी दुःखसे पीड़ित होकर वह कबूतरी भी मर गयी और यह आप दोनोंकी

---

१ वेगां तं ल० । २ निजभार्याममूमुचत् म० । ३ तत्पुरे म० । ४ तत्सर्वानप्यबो-ल० ।

अद्य पारावतद्वन्द्वं वीक्ष्य जन्मान्तरस्मृतेः । [1]मूर्च्छामुष्मिन् नियमेनैतद्व्यक्तं सर्वं समाब्रवीत् ॥४६५॥
[2]इत्यलकसुन्दर्या वचः श्रुत्वाकुलाकुलौ । सुतापतिसमन्वेषणेच्छया पितरौ तदा ॥४६६॥
तद्भवान्तरवृत्तान्तं पट्टके लिखितं स्फुटम् । रङ्गतेजोभिधानस्य नटवर्यो पटीयसः ॥४६७॥
मदनादिलतायाश्च दानसंमानपूर्वकम् । तत्कर्तव्यं समाख्याय यत्नेनाकुरुतां करे ॥४६८॥
पुष्पकाख्ये वने तौ च कृतपट्टप्रसारणौ । स्वयं नर्तितुमारब्धौ नानाजनसमाकुलम् ॥४६९॥
पितास्यास्तद्वने रन्तुं गतस्तत्र मुनीश्वरम् । समाधिगुप्तमालोक्य परीत्य कृतवन्दनः ॥४७०॥
धर्मसद्भावमाकर्ण्य पप्रच्छ तदनन्तरम् । पूज्य मत्पुत्रिकापूर्वभवभर्ता क वर्तते ॥४७१॥
कथ्यतामिति दिव्यावधीक्षणः सोऽप्यभाषत । स हेमाभपुरे वैश्यतनयोऽद्याप्तयौवनः ॥४७२॥
इति श्रुत्वा मुनेर्वाक्यं तदैव स महीपतिः । सनटः ससुहृत्सर्वपरिवारपरिष्कृतः ॥४७३॥
गत्वा तत्र मनोहारि नृत्तं विस्मयमाजयत् । नागरैः सह नन्दाढ्यो नृत्तमालोकितुं गतः ॥४७४॥
जन्मान्तरस्मृतेर्मूर्च्छां सहसा साभ्यपद्यत । शीतक्रियाविशेषापनीतमूर्च्छं तदग्रजः ॥४७५॥
जीवन्धरोऽवदन्मूर्च्छाकारणं कथयेति तम् । पट्टकालिखितं सर्वमभिधायाब्रवीदिदम् ॥४७६॥
सोऽप्यहं तव सोदर्योऽजनिषीत्यग्रजं प्रति । तुष्टोऽसौ च विवाहार्थं प्रागारब्ध महामहम् ॥४७७॥
इदं प्रकृतमत्रान्यच्छृणुतां समुपस्थितम् । किराताधीश्वरो नाम्ना विश्रुतो हरिविक्रमः ॥४७८॥
सदायादभयाद्गत्वा कपित्थाख्यवनेऽकरोत् । दिशागिरौ पुरं तस्य वनादिगिरिसुन्दरी ॥४७९॥
प्रिया सुतो वनराजोऽस्याजायत वनेशिनः । वटवृक्षाह्वयो मृत्युश्चित्रसेनः परैः सह ॥४८०॥

प्यारी श्रीचन्द्रा नामकी पुत्री हुई ॥४६ ॥ आज कबूतरोंका युगल देखकर पूर्वभवका स्मरण हो आनेसे ही यह मूर्च्छित हुई थी, यह सब बात इसने मुझे साफ-साफ बतलायी है ॥४६५॥ इस प्रकार अलकसुन्दरीके वचन सुनकर माता-पिता अपनी पुत्रीके पतिकी तलाश करनेकी इच्छासे बहुत ही व्याकुल हुए ॥४६६॥ उन्होंने अपनी पुत्रीके पूर्वभवका वृत्तान्त एक पटियेपर साफ-साफ लिखवाया और नटोंमें अत्यन्त चतुर रंगतेज नामका नट तथा उसकी स्त्री मदनलताको बुलाया, दान देकर उनका योग्य सम्मान किया, करने योग्य कार्य समझाया और 'यत्नसे यह कार्य करना' ऐसा कहकर वह चित्रपट उनके हाथमें दे दिया ॥४६७-४६८॥ वे नट और नटी भी चित्रपट लेकर पुष्पक वनमें गये और उसे वहीं फैलाकर सब लोगोंके सामने नृत्य करने लगे ॥४६९॥ इधर श्रीचन्द्राका पिता भी उसी वनमें क्रीड़ा करनेके लिए गया था, वहाँ उसने समाधिगुप्त मुनिराजको देखकर प्रदक्षिणाएँ दीं, नमस्कार किया, धर्मका स्वरूप सुना और तदनन्तर पूछा कि हे पूज्य ! मेरी पुत्रीका पूर्वभवका पति कहाँ है ? सो कहिए। मुनिराज अवधिज्ञानरूपी दिव्य नेत्रके धारक थे इसलिए कहने लगे कि वह आज हेमाभनगरमें है तथा पूर्ण यौवनको प्राप्त है ॥४७०-४७२॥ इस प्रकार मुनिराजके वचन सुनकर वह राजा नट, मित्र तथा समस्त परिवारके लोगोंके साथ हेमाभनगर पहुँचा और वहाँ पहुँचकर उसने मनको हरण करनेवाले एक आश्चर्यकारी नृत्यका आयोजन किया। उस नृत्यको देखनेके लिए नगरके अन्य लोगोंके साथ नन्दाढ्य भी गया था ॥४७३-४७४॥ परन्तु वह जन्मान्तरका स्मरण हो आनेसे सहसा मूर्च्छित हो गया। तदनन्तर विशेष-विशेष शीतलोपचार करनेसे जब उसकी मूर्च्छा दूर हुई तब बड़े भाई जीवन्धर कुमारने उससे कहा कि मूर्च्छा आनेका कारण बतला। इसके उत्तरमें नन्दाढ्यने चित्रका सब हाल कहकर जीवन्धरसे कहा कि वही गुणमित्रका जीव आज मैं तेरा छोटा भाई हुआ हूँ। यह सुनकर जीवन्धर कुमार बहुत ही सन्तुष्ट हुए और विवाहके लिए पहलेसे ही महामह पूजा प्रारम्भ करने लगे ॥४७५-४७७॥ इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा और कहता हूँ उसे भी सुनो। हरिविक्रम नामसे प्रसिद्ध एक भीलोंका राजा था। उसने भाई, बन्धुओंसे डरकर कपित्थ नामक वनमें दिशागिरि नामक पर्वतपर वनगिरि नामक नगर बसाया था। उस वनके स्वामी भीलके सुन्दरी नामकी स्त्री थी और वनराज नामका पुत्र था। वटवृक्ष, मृत्यु, चित्रसेन

१ विमूर्च्छायामेवैतत् ल० । २ इत्यपालक-इति क्वचित् ।

अरिंजयाह्वयः शत्रुमर्दनोऽतिबलोऽप्यमी । भृत्यास्तस्यात्मजस्यापि लोहजङ्घः सखापरः ॥४८१॥
श्रीषेणश्चान्यदा गत्वा पुरं तौ तद्वनान्तरे । रममाणां समालोक्य श्रीचन्द्रां चन्द्रिकोपमाम् ॥४८२॥
प्रशस्य यान्तौ वीक्ष्याम्बु पातुं यान्तं तुरंगमम् । रक्षकानभिभूयाश्वं नीत्वा दत्वास्मै तोषमापतुः ॥४८३॥
हरिविक्रमतः पश्चात्तावभ्येत्य हितैषिणौ । मिथो [1]वनेचरेशात्मजस्यान्यायानुसारिणः ॥४८४॥
वनराजस्य तत्कान्तारूपकान्त्यादिसंपदम् । सम्यग्वर्णयतः स्मैतच्छ्रुत्वा तदभिलाषिणा ॥४८५॥
सुवर्णतेजसा प्रीतिमतास्यां पूर्वजन्मनि । सा केनापि प्रकारेण मां प्रत्यानीयतामिति ॥४८६॥
प्रेषितावथ तेनेत्वा महाभटपरिष्कृतौ । तत्कन्याशयनागारं ज्ञात्वा कृतसुरङ्गकौ ॥४८७॥
निष्कृष्य कन्यां श्रीषेणलोहजंघौ सपौरुषौ । गतौ कन्यां गृहीत्वेति तस्मिंल्लिखितपत्रकम् ॥४८८॥
सुरङ्गे समवस्थाप्य वनराजस्य संनिधिम् । रजन्यां सेन्दुरेखौ वा प्रस्थितौ मन्दभूमिजौ ॥४८९॥
आदित्योद्गमवेलायां विदित्वा लेखवाचनात् । कन्यापहरणं तस्या भ्रातरौ नृपचोदितौ ॥४९०॥
अनुसृत्य द्रुतं ताभ्यां युध्यमानौ निरीक्ष्य सा । मित्रान्तकिन्नरं यक्षमित्रं चाकुलिताशया ॥४९१॥
श्रीचन्द्राहं न भोक्ष्येऽस्मन्नगरस्थजिनालयम् । अदृष्ट्वा किंचिदप्यस्मिन्निति मौनं समादधे ॥४९२॥
सखायौ वनराजस्य विनिर्जित्य नृपात्मजौ । नीत्वा तां निजमित्राय ददतुः प्राप्तसंमदौ ॥४९३॥
सुविरक्तां वनेशोऽसौ प्रत्याख्यानं विबुध्य ताम् । प्रौढास्तद्योजनोपाये दक्षाः समाहूय दूतिकाः ॥४९४॥
[2]कुरुते मां मयि प्रीतामुपायैरित्यभाषत । ताश्च तत्प्रेषणं लब्ध्वा श्रीचन्द्राभ्याशमागताः ॥४९५॥

सैन्धव, अरिंजय, शत्रुमर्दन और अतिबल ये उस भीलके सेवक थे। लोहजंघ और श्रीषेण ये दोनों उसके पुत्र वनराजके मित्र थे। किसी एक दिन लोहजंघ और श्रीषेण दोनों ही हेमाभनगरमें गये। वहाँके वनमें चाँदनीके समान श्रीचन्द्रा खेल रही थी। उसे देखकर उन दोनोंने उसकी प्रशंसा की। वहींपर पानी पीनेके लिए एक घोड़ा आया था उसे देख इन दोनोंने उस घोड़ेके रक्षकका तिरस्कार कर वह घोड़ा छीन लिया और ले जाकर हरिविक्रम भीलको देकर उसे सन्तुष्ट किया। तदनन्तर हितकी इच्छा रखनेवाले वे दोनों मित्र हरिविक्रमके पाससे चलकर अन्याय मार्गका अनुसरण करनेवाले उसके पुत्र वनराजके समीप गये और श्रीचन्द्राके रूप, कान्ति आदि सम्पदाका अच्छी तरह वर्णन करने लगे। यह सुनकर वनराजकी उसमें अभिलाषा जागृत हो गयी। वनराज पूर्वभवमें सुवर्णतेज था और श्रीचन्द्रा अनुपमा नामकी कन्या थी। उस समय सुवर्णतेज अनुपमाको चाहता था परन्तु उसे प्राप्त नहीं हो सकी थी। उसी अनुरागसे उसने अपने दोनों मित्रोंसे कहा कि किसी भी उपायसे उसे मेरे पास लाओ ॥४७८-४८६॥ कहा ही नहीं, उसने बड़े-बड़े योद्धाओंके साथ उन दोनों मित्रोंको भेज भी दिया। दोनों मित्रोंने हेमाभनगरमें जाकर सबसे पहले कन्याके सोनेके घरका पता लगाया और फिर सुरंग लगाकर कन्याके पास पहुँचे। वहाँ जाकर उन दोनोंने इस आशयका एक पत्र लिखकर सुरंगमें रख दिया कि पुरुषार्थी श्रीषेण तथा लोहजंघ कन्याको लेकर गये हैं और जिस प्रकार रात्रिके समय चन्द्रमाकी रेखाके साथ शनि और मंगल जाते हैं उसी प्रकार हम दोनों कन्याको लेकर वनराजके समीप जाते हैं। यह पत्र तो उन्होंने सुरंगमें रखा और श्रीचन्द्राको लेकर चल दिये। दूसरे दिन सूर्योदयके समय उक्त पत्र बाँचनेसे कन्याके हरे जानेका समाचार जानकर राजाने कन्याके दोनों भाइयोंको उसे वापस लानेके लिए प्रेरित किया। दोनों भाई शीघ्र ही गये और उनके साथ युद्ध करने लगे। अपने भाई किन्नरमित्र और यक्षमित्रको युद्ध करते देख श्रीचन्द्राको बहुत दुःख हुआ इसलिए उसने प्रतिज्ञा कर ली कि जबतक मैं अपने नगरके भीतर स्थित अपने जिनालयके दर्शन नहीं कर लूँगी तबतक कुछ भी नहीं खाऊँगी। ऐसी प्रतिज्ञा लेकर उसने मौन धारण कर लिया ॥४८७-४९२॥ इधर वनराजके मित्र श्रीषेण और लोहजंघने युद्धमें राजाके पुत्रोंको हरा दिया और बहुत ही प्रसन्न होकर वह कन्या वनराजके लिए सौंप दी ॥४९३॥ जब वनराजने देखा कि श्रीचन्द्रा मुझसे विरक्त है तब उसने उसके साथ मिलानेवाले उपाय करनेमें चतुर अपनी

---

१ वनचरेशात्मजस्या– ल० । २ इमां मयि प्रीतां कुरुत इति भावः । कुर्वीतेमां ल० ।

सामभेदविधानज्ञाः प्रवेष्टुं हृदयं शनैः । किमेवं तिष्ठसि स्नाहि परिधत्स्व विभूषणैः ॥४९६॥
अलंकुरु स्रजं धेहि भुंक्ष्वाहारं मनोहरम् । ब्रूहि विस्रब्धमस्माभिः श्रीचन्द्रे सुखसंकथाम् ॥४९७॥
मनुष्यजन्म संप्राप्तं दुःखेनानेकयोनिषु । दुर्लभं [1]भोगवैमुख्यादेतन्मा नीनशो वृथा ॥४९८॥
वनराजात्परो नास्ति वरो रूपादिभिर्गुणैः । लोकेऽस्मिन्लोचने सम्यक्तवोन्मील्य न पश्यसि ॥४९९॥
लक्ष्मीरिवादिचक्रेशं भूषेवाभरणद्रुमम् । संपूर्णेन्दुमिव ज्योत्स्ना वनराजमुपाश्रय ॥५००॥
प्राप्य चूडामणिं मूढः को नामावमन्यते । इत्यन्यैश्च भयप्रायैर्वचनैरकदर्थयन् ॥५०१॥
तदुपद्रवमाकर्ण्य प्रच्छन्नैर्हरिविक्रमः । विपत्तिर्निग्रहेणासां कन्यायाः प्रतिपत्स्यते ॥५०२॥
कदाचिदिति संचिन्त्य निर्भर्त्स्य वनराजकम् । तस्या निजतनूजाभिः सहवासं चकार सः ॥५०३॥
दृढमित्रादयः सर्वे तदा संप्राप्य बान्धवाः । सन्नद्धबलसंपन्नास्तस्थुरावेष्ट्य तत्पुरम् ॥५०४॥
युयुत्सवो विपक्षाश्च जीवंधरकुमारकः । तद्दृष्ट्वा दयालुर्यो युद्धं बहुजनान्तकृत् ॥५०५॥
किमनेनेति यक्षेशं स्वं सुदर्शनमस्मरत् । अनुस्मरणमात्रेण यक्षोऽप्यानीय कन्यकाम् ॥५०६॥
कुमारायार्पयामास कस्याप्यकृतपीडनम् । संसाधयन्ति कार्याणि सोपायं पापभीरवः ॥५०७॥
ते सर्वे सिद्धसाध्यत्वाद्युद्धं संहार्य संमुखम् । नगरस्यागमन्नैवागात्त्वसौ वनराजकः ॥५०८॥
युयुत्सया स्थितं वीक्ष्य तं यक्षो दुष्टचेतसम् । परिगृह्य हठात्सद्यः कुमाराय समर्पयत् ॥५०९॥
बन्दीकृत्य कुमारोऽपि वनराजं निविष्टवान् । ससैन्यः सरसि श्रीमान्सेनारम्याभिधानके ॥५१०॥

दूतियाँ बुलाकर उनसे कहा कि तुम लोग किसी भी उपायसे इसे मुझपर प्रसन्न करो। वनराजकी प्रेरणा पाकर वे दूतियाँ श्रीचन्द्राके पास गयीं और साम-भेद आदि अनेक विधानोंको जाननेवाली वे दूतियाँ धीरे-धीरे उसके हृदयमें प्रवेश करनेके लिए कहने लगीं कि 'हे श्रीचन्द्रे! तू इस तरह क्यों बैठी है? स्नान कर, कपड़े पहन, आभूषणोंसे अलंकार कर, माला धारण कर, मनोहर भोजन कर और हम लोगोंके साथ विश्वासपूर्वक सुखकी कथाएँ कह ॥४९६-४९७॥ अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करते-करते यह दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाया है इसलिए इसे भोगोपभोगकी विमुखतासे व्यर्थ ही नष्ट मत कर ॥४९८॥ इस संसारमें रूप आदि गुणोंकी अपेक्षा वनराजसे बढ़कर दूसरा वर नहीं है यह तू अपने नेत्र अच्छी तरह खोलकर क्यों नहीं देखती है? ॥४९९॥ जिस प्रकार भरत चक्रवर्तीके साथ लक्ष्मी रहती थी, आभूषण जातिके वृक्षोंके समीप शोभा रहती है और पूर्ण चन्द्रमाके साथ चाँदनी रहती है उसी प्रकार तू वनराजके समीप रह। चूडामणि रत्नको पाकर ऐसा कौन मूर्ख होगा जो उसका तिरस्कार करता हो', इस प्रकारके तथा भय देनेवाले और भी वचनोंसे उन दूतियोंने श्रीचन्द्राको बहुत तंग किया ॥५००-५०१॥ वनराजके पिता हरिविक्रमने गुप्त रीतिसे कन्याका यह उपद्रव सुनकर विचार किया कि ये दूतियाँ इसे तंग करती हैं इसलिए सम्भव है कि कदाचित् यह कन्या आत्मघात कर ले इसलिए उसने वनराजको डाँटकर वह कन्या अपनी पुत्रियोंके साथ रख ली ॥५०२-५०३॥ इधर दृढमित्र आदि सब भाई-बन्धुओंने मिलकर सेना तैयार कर ली और उस सेनाके द्वारा वनराजका नगर घेरकर सब आ डटे ॥५०४॥ उधरसे विरोधी दलके लोग भी युद्ध करनेकी इच्छासे बाहर निकले। यह देख दयालु जीवंधर कुमारने विचार किया कि युद्ध अनेक जीवोंका विघात करनेवाला है इसलिए इससे क्या लाभ होगा? ऐसा विचार कर उन्होंने उसी समय अपने सुदर्शन यक्षका स्मरण किया। स्मरण करते ही यक्षने किसीको कुछ पीड़ा पहुँचाये बिना ही वह कन्या जीवन्धर कुमारके लिए सौंप दी सो ठीक ही है क्योंकि पापसे डरनेवाले पुरुष योग्य उपायसे ही कार्य सिद्ध करते हैं ॥५०५-५०७॥ दृढमित्र आदि सभी लोग कार्य सिद्ध हो जानेसे युद्ध बन्द कर नगरकी ओर चले गये परन्तु वनराज युद्धकी इच्छासे वापस नहीं गया। यह देख, यक्षने उसे दुष्ट अभिप्रायवाला समझकर जबर्दस्ती पकड़ लिया और जीवन्धर कुमारको सौंप दिया। श्रीमान् जीवन्धर कुमार भी वनराजको कैद कर सेनाके साथ सेनारम्य नामके सरोवरके किनारे ठहर

---

१ दुःखवैमुख्या- ल०।

तत्रैकं चारणं वीक्ष्य सहसा महसां निधिम् । भिक्षाहेतोर्यतिं प्राप्तमभ्युत्थाय यथोचितम् ॥५११॥
कृताभिवन्दनो योग्यं भक्तितोऽदात्सुभोजनम् । तद्दानादर्जितायोऽयमथाद्याश्चर्यपञ्चकम् ॥५१२॥
तद्दानफलमालोक्य वनराजः स्वजन्मनः । संबन्धं यथयावृत्तं स तत्सर्वमवागमत् ॥५१३॥
बलेन महता योद्धुं हरिविक्रमनागतम् । यक्षस्तं च समादाय कुमारस्य करेऽकरोत् ॥५१४॥
वनराजस्तदा स्वेषां सर्वेषां सत्यथाब्रवीत् । जन्मनीतस्तृतीये ह बभूव वणिजां सुतः ॥५१५॥
सुवर्णतेजास्तस्माच्च मृत्वा मार्जारतां गतः । कपोतीं प्राग्भवे कन्यामिमां हन्तुं समुद्यतः ॥५१६॥
केनचिन्मुनिनाधीतं चतुर्गतिविगतश्रुतेः । मुक्तवैरोऽत्र भूत्वैतत्स्नेहाद्धृतामनीनयम् ॥५१७॥
तदुक्तं ते समाकर्ण्य नायं कन्यामनीनयत् । दर्पेण किन्तु संस्नेहेनेत्यवधार्य समं गताः ॥५१८॥
पितरं वनराजस्य तं च निर्मुक्तबन्धनम् । कृत्वा विसर्जयामासुर्धार्मिकत्वं हि सत्सताम् ॥५१९॥
ततो राज्ञः पुरं गत्वा स्थित्वा द्वित्रिदिनानि ते । गत्वा नगरशोभाख्ये श्रीचन्द्रां बन्धमालिनीम् ॥५२०॥
नन्दाढ्याय ददुर्भूरिभूत्या यूने धनेशिने । एवं विवाहनिर्वृत्तौ हेमाभं बन्धुभिः समम् ॥५२१॥
पुरं प्रत्यागमे सत्यंधरसूनुं निवेश्य तम् । कस्यचित्सरसस्तीरे तत्रानेतुं जलं गताः ॥५२२॥
परिवारजना दष्टा दुष्टैर्मधुकमाक्षिकैः । तत्राशु बोधयन्ति स्म जीवंधरकुमारकम् ॥५२३॥
तदाकर्ण्य विचिन्त्यैतत्कुमारोऽपि सविस्मयः । हेतुरस्त्यत्र कोऽपीति तज्ज्ञातुं यक्षमस्मरत् ॥५२४॥
सोऽपि संनिहितस्तत्र विद्यां विध्वस्य खेचरीम् । तं खेचरं कुमारस्य पुरस्तादकरोद्द्रुतम् ॥५२५॥

गये ॥५०८-५१०॥ वहीं उन्होंने तेजके निधिस्वरूप एक चारण मुनिराजके अकस्मात् दर्शन किये। वे मुनिराज भिक्षाके लिए आ रहे थे इसलिए जीवन्धर कुमारने उठकर उन्हें योग्य रीतिसे नमस्कार किया और बड़ी भक्तिसे यथायोग्य उत्तम आहार दिया। इस दानके फलसे उन्हें भारी पुण्यबन्ध हुआ और उसीसे उन्होंने पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥५११-५१२॥ उस दानका फल देखकर वनराजको अपने पूर्व जन्मका सब वृत्तान्त ज्योंका त्यों याद आ गया ॥५१३॥ उधर हरिविक्रम अपने पुत्र वनराजको कैद हुआ सुनकर बड़ी भारी सेनाके साथ युद्ध करनेके लिए आ रहा था सो यक्षने उसे भी पकड़कर जीवन्धर कुमारके हाथमें दे दिया ॥५१४॥ तदनन्तर वनराजने सबके सामने अपना समस्त वृत्तान्त इस प्रकार निवेदन किया कि 'मैं इस जन्मसे तीसरे जन्ममें सुवर्णतेज नामका वैश्यपुत्र था। वहाँसे मरकर बिलाव हुआ। उस समय इस श्रीचन्द्राका जीव कबूतरी था इसलिए इसे मारनेका मैंने उद्यम किया था। किसी समय एक मुनिराज चारों गतियोंके भ्रमणका पाठ कर रहे थे उसे सुनकर मैंने सब वैर छोड़ दिया और मरकर यह वनराज हुआ हूँ। पूर्व भवके स्नेहसे ही मैंने इस श्रीचन्द्राका हरण किया था' ॥५१५-५१७॥ वनराजका कहा सुनकर सब लोगोंने निश्चय किया कि इसने अहंकारसे कन्याका अपहरण नहीं किया है किन्तु पूर्वभवके स्नेहसे किया है ऐसा सोचकर सब शान्त रह गये ॥५१८॥ और वनराज तथा उसके पिताको बन्धनरहित कर छोड़ दिया सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंका धार्मिकपना यही है ॥५१९॥ इसके बाद वे सब लोग राजाके नगर (हेमाभनगर) में गये वहाँ दो-तीन दिन ठहरकर फिर नगरशोभा नामक नगरमें गये। वहाँ कल्याणरूप भाग्यको धारण करनेवाली श्रीचन्द्रा बड़ी विभूतिके साथ धनके स्वामी युवक नन्दाढ्यको प्रदान की। इस प्रकार विवाहकी विधि समाप्त होनेपर भाई-बन्धुओंके साथ फिर सब लोग हेमाभनगरको लौटे। मार्गमें किसी सरोवरके किनारे ठहरे। वहाँपर परिवारके लोग जीवन्धर कुमारको बैठाकर उस सरोवरमें जल लेनेके लिए गये। वहाँ जाते ही मधु-मक्खियोंने उन लोगोंको काट खाया तब उन लोगोंने उनके भयसे लौटकर इसकी खबर जीवन्धरकुमारको दी। यह सुनकर तथा विचारकर जीवन्धर कुमार आश्चर्यमें पड़ गये और कहने लगे कि इसमें कुछ कारण अवश्य है? कारणका पता चलानेके लिए उन्होंने उसी समय यक्षका स्मरण किया ॥५२०-५२४॥ यक्ष शीघ्र ही आ गया और उसने उसकी सब खेचरी विद्या नष्ट कर शीघ्र ही उस विद्याधरको जीवन्धर कुमारके आगे

---

१ वर: म०।

इदं सरस्त्वया केन रक्ष्यते हेतुनेति सः । परिपृष्टः कुमारेण खेचरः सम्यगब्रवीत् ॥५२६॥
शृणु भद्र प्रवक्ष्यामि मत्कथां कृतचेतनः । अभवत्पुष्पदन्ताख्यमालाकारवरो धनी ॥५२७॥
सुतो राजपुरे जातिभटाख्यः कुसुमश्रियः । तत्रैव धनदत्तस्य नन्दिन्यां तनयोऽभवत् ॥५२८॥
चन्द्राभो मे सखा तस्य कदाचिद्धर्ममभ्यधात् । भवानहं च धर्मं तेन प्राप्तवांस्तदा ॥५२९॥
विधाय मद्यमांसादिनिवृत्तिं तत्फलाच्च्युतः । इह विद्याधरो भूत्वा सिद्धकूटजिनालये ॥५३०॥
विलोक्य चारणद्वन्द्वं विनयेनोपसृत्य तत् । आवयोर्भवसंबन्धमाकर्ण्य त्वां निरीक्षितुम् ॥५३१॥
रक्षित्वैतत्सरोऽन्येषां प्रवेशाद्विधया स्थितः । वक्ष्ये त्वद्भवसंबन्धं दिव्यावधिनिरूपितम् ॥५३२॥
धातकीखण्डप्राग्भागमेरुपूर्वविदेहगे । विषये पुष्कलावत्यां नगरी पुण्डरीकिणी ॥५३३॥
पतिर्जयंधरस्तस्य तनूजोऽभूज्जयद्रथः । [1]जयवत्यास्त्वमन्येद्युर्वनं नाम्ना मनोहरम् ॥५३४॥
विहर्तुं प्रस्थितस्तस्य सरस्यां हंसशावकम् । विलोक्य चेटकैर्दक्षैस्तमानाय्य सकौतुकः ॥५३५॥
स्थितस्तत्पोषणोद्योगे तन्मातापितरौ तदा । सशोकौ करुणाक्रन्दं नभस्यकुरुतां मुहुः ॥५३६॥
चेटकस्ते तदाकर्ण्य कर्णान्ताकृष्टचापकः । शरेणापातयत्तातं तस्याकार्यं न पापिनाम् ॥५३७॥
तन्निरीक्ष्य भवन्माता कारुण्यार्द्रीकृताशया । किमेतदिति संपृच्छ्य प्रबुद्धा परिचारकात् ॥५३८॥
कुपित्वा चेटकायैनं वृथा विद्धवते सती । निर्भर्त्स्य त्वां च हे पुत्र न युक्तमिदमाश्रमम् ॥५३९॥
मात्रा संयोजयेत्याह त्वं चाज्ञानादिदं मया । कृतं कर्मेति निन्दित्वा गर्हित्वात्मानमार्द्रधीः ॥५४०॥

लाकर खड़ा कर दिया ॥५२५॥ तब जीवन्धर कुमारने उससे पूछा कि तू इस सरोवरकी रक्षा किसलिए करता है ? इस प्रकार कुमारके पूछनेपर वह विद्याधर अच्छी तरह कहने लगा कि हे भद्र ! मेरी कथाको चित्त लगाकर सुनिए, मैं कहता हूँ। पहले जन्ममें मैं राजपुर नगरमें अत्यन्त धनी पुष्पदन्त मालाकारकी स्त्री कुसुमश्रीका जातिभट नामका पुत्र था। उसी नगरमें धनदत्तकी स्त्री नन्दिनीसे उत्पन्न हुआ चन्द्राभ नामका पुत्र था। वह मेरा मित्र था, किसी एक समय आपने उस चन्द्राभके लिए धर्मका स्वरूप कहा था उसे सुनकर मेरे हृदयमें भी धर्मप्रेम उत्पन्न हो गया ॥५२६-५२९॥ और मैंने उसी समय मद्य-मांस आदिका त्याग कर दिया उसके फलसे मरकर मैं यह विद्याधर हुआ। किसी समय मैंने सिद्धकूट जिनालयमें दो चारण मुनियोंके दर्शन किये। मैं बड़ी विनयसे उनके पास पहुँचा और उनके समीप अपने तथा आपके पूर्वभवका सम्बन्ध सुनकर आपके दर्शन करनेके लिए ही अन्य लोगोंके प्रवेशसे इस सरोवरकी रक्षा करता हुआ यहाँ रहता हूँ। उन मुनिराजने अपने दिव्य अवधिज्ञानसे देखकर जो आपके पूर्वभवका सम्बन्ध बतलाया था उसे अब मैं कहता हूँ ॥५३०-५३२॥

धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व मेरु सम्बन्धी पूर्व विदेह क्षेत्रमें पुष्कलावती नामका देश है। उसकी पुण्डरीकिणी नगरीमें राजा जयन्धर राज्य करता था। उसकी जयवती रानीसे तू जयद्रथ नामका पुत्र हुआ था। किसी एक समय वह जयद्रथ क्रीड़ा करनेके लिए मनोहर नामके वनमें गया था वहाँ उसने सरोवरके किनारे एक हंसका बच्चा देखकर कौतुक वश चतुर सेवकोंके द्वारा उसे बुला लिया और उसके पालन करनेका उद्योग करने लगा। यह देख, उस बच्चेके माता-पिता शोकसहित होकर आकाशमें बार-बार करुण क्रन्दन करने लगे। उसका शब्द सुनकर तेरे एक सेवकने कान तक धनुष खींचा और एक बाणसे उस बच्चेके पिताको नीचे गिरा दिया सो ठीक ही है क्योंकि पापी मनुष्योंको नहीं करने योग्य कार्य क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥५३३-५३७॥ यह देख जयद्रथकी माताका हृदय दयासे आर्द्र हो गया और उसने पूछा कि यह क्या है ? सेवकसे सब हाल जानकर वह सती व्यर्थ ही पक्षीके पिताको मारनेवाले सेवकपर बहुत कुपित हुई तथा तुझे भी डाँटकर कहने लगी कि हे पुत्र ! तेरे लिए यह कार्य उचित नहीं है, तू शीघ्र ही इसे इसकी मातासे मिला दे। इसके उत्तरमें तूने कहा कि यह कार्य मैंने अज्ञानवश किया है। इस प्रकार आर्द्र परिणाम होकर अपने आपकी बहुत

---

१ जयवत्यां त्वमन्येद्यु– ल० ।

तद्वादानदिनादूर्ध्वमर्भकं षोडशे दिने । चातकं घनकालो वा सजलाम्भोदमालया ॥५४१॥
प्रसवं मधुमासो वा लतया चूतसंश्रया । पद्मिन्यार्कोदयो वालिं तं मात्रा समजीगमः ॥५४२॥
एवं विनोदैरन्यैश्च काले याते निरन्तरम् । सुखेन केनचिद् भोगनिर्वेगे सति हेतुना ॥५४३॥
राज्यभारं परित्यज्य तपोभारं समुद्वहन् । जीवितान्ते तनुं त्यक्त्वा सहस्रारे सुरोऽभवः ॥५४४॥
तत्राष्टादशवार्ध्यायुर्दिव्यभोगाभिवर्तितः । ततश्च्युत्वेह संभूतः शुभाशुभविपाकतः ॥५४५॥
चेटकेन हतो हंसः स काष्ठाङ्गारिकोऽभवत् । तेनैव त्वत्पिता युद्धे हतः प्रागेव जन्मनः ॥५४६॥
मन्दसानशिशोः पित्रोर्वियोगकृतैनसः । फलात्षोडशवर्षाणि वियोगस्तव बन्धुभिः ॥५४७॥
सह संजात इत्येतद्विद्याधरनिरूपितम् । श्रुत्वा कल्याणबन्धुस्त्वं ममेत्येनमपूजयत् ॥५४८॥
तस्मादागत्य हेमाभनगरं प्राप्य संमदात् । कामभोगसुखं स्वैरमिष्टैरनुभवन् स्थितः ॥५४९॥
इदं प्रकृतमत्रान्यत्संविधानमुदीर्यते । नन्दाढ्यस्य पुरात्तस्मान्निर्याणानन्तरे दिने ॥५५०॥
गन्धर्वदत्ता संपृष्टा स्नेहितैर्मधुरादिभिः । वदास्माकं विवेत्सि त्वं कुमारौ क्व गताविति ॥५५१॥
साप्याह सुजने देशे हेमाभनगरे सुखम् । वसतस्तत्र का चिन्ता युष्माकमिति सादरम् ॥५५२॥
ज्ञात्वा ताभ्यां स्थितं स्थानं ते सर्वे तद्दिदृक्षया । आपृच्छ्य स्वजनान् सर्वान् संतोषात्तैर्विवेचिताः ॥५५३॥
गच्छन्तो दण्डकारण्ये व्यश्राम्यंस्तापसाश्रये । तापसीषु समागत्य तान् पश्यन्तीषु कौतुकात् ॥५५४॥
महादेवी च तान् दृष्ट्वा यूयं कस्मात्समागताः । गमिष्यथ क्व वेत्येतदपृच्छत्स्नेहनिर्भरा ॥५५५॥
यथावृत्तान्तमेतेषु कथयत्सु प्रमोदिनी । मत्पुत्रपरिवारोऽयं सख्यो यूयमिति स्फुटम् ॥५५६॥

ही निन्दा की और जिस दिन उस बालकको पकड़वाया था उसके सोलहवें दिन, जिस प्रकार वर्षाकाल चातकको सजल मेघमालासे मिला देता है, वसन्त ऋतु फूलको आमकी लताके साथ मिला देता है और सूर्योदय भ्रमरको कमलिनीके साथ मिला देता है उसी प्रकार उसकी माताके साथ मिला दिया ॥५३८-५४२॥ इस प्रकारके अन्य कितने ही विनोदोंसे जयद्रथका काल निरन्तर सुखसे बीत रहा था कि एक दिन उसे किसी कारणवश भोगोंसे वैराग्य हो गया फल-स्वरूप राज्यका भार छोड़कर उसने तपश्चरणका भार धारण कर लिया और जीवनके अन्तमें शरीर छोड़कर सहस्रार स्वर्गमें देव पर्याय प्राप्त कर ली ॥५४३-५४४॥ वहाँ वह अठारह सागर-की आयु तक दिव्य भोगोंसे सन्तुष्ट रहा। तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर पुण्य पापके उदयसे यहाँ उत्पन्न हुआ है ॥५४५॥ जिस सेवकने हंसको मारा था वह काष्ठांगारिक हुआ है और उसीने तुम्हारा जन्म होनेके पहले ही युद्धमें तुम्हारे पिताको मारा है। तुमने हंसके बच्चेको सोलह दिन तक उसके माता-पितासे जुदा रखा था उसी पापके फलसे तुम्हारा सोलह वर्ष तक भाई-बन्धुओंके साथ वियोग हुआ है। इस प्रकार विद्याधरकी कही कथा सुनकर जीवन्धर-कुमार कहने लगे कि तू मेरा कल्याणकारी बन्धु है ऐसा कहकर उन्होंने उसका खूब सत्कार किया ॥५४६-५४८॥ तदनन्तर वे बड़ी प्रसन्नतासे सबके साथ हेमाभ नगर आये और इष्ट-जनोंके साथ इच्छानुसार कामभोगका सुख भोगते हुए रहने लगे ॥५४९॥

सुधर्माचार्य राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक ! यह तुझे प्रकृत बात बतलायी। अब इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा कही जाती है। जिस दिन नन्दाढ्य राजपुर नगरसे निकल गया उसके दूसरे ही दिन मधुर आदि मित्रोंने गन्धर्वदत्तासे पूछा कि दोनों कुमार कहाँ गये हैं ? तू सब जानती है, बतला। इसके उत्तरमें गन्धर्वदत्ताने बड़े आदरसे कहा कि आप लोग उनकी चिन्ता क्यों करते हैं, वे दोनों भाई सुजन देशके हेमाभ नगरमें सुखसे रहते हैं ॥५५०-५५२॥ इस प्रकार गन्धर्वदत्तासे उनके रहनेका स्थान जानकर मधुर आदि सब मित्रोंको उनके देखनेकी इच्छा हुई और वे सब अपने आत्मीय जनोंसे पूछकर तथा उनसे बिदा लेकर सन्तोषके साथ चल पड़े ॥५५३॥ चलते-चलते उन्होंने दण्डक वनमें पहुँचकर तपस्वियोंके आश्रममें विश्राम किया। कौतुकवश वहाँकी तापसी स्त्रियाँ आकर उन्हें देखने लगीं। उन स्त्रियोंमें महादेवी विजया भी थी, वह उन सबको देखकर कहने लगी कि आप लोग कौन हैं ? कहाँसे आये हैं ? और कहाँ जायेंगे ? विजयाने यह सब बड़े स्नेहके साथ पूछा ॥५५४-५५५॥ जब मधुर आदिने अपना सब वृत्तान्त

विज्ञायायात्र विश्रम्य भवद्भिर्गम्यतां पुनः । समागमनकालेऽसाविहैवानीयतामिति ॥५५७॥
सम्यक्प्रार्थयतैतांस्तेऽप्येषा जीवंधरश्रुतेः । रूपेण निर्विशेषा किं तन्मातेत्यात्तसंशयाः ॥५५८॥
कुर्मस्तथेति संतोष्य तां प्रियानुगतोक्तिभिः । गत्वा ततोऽन्तरं किंचित्तत्र व्याधैः कदर्थिताः ॥५५९॥
युद्धे पुरुषकारेण क्रव्यादानभिभूय तान् । यान्तो यदृच्छया व्याधैर्मार्गेऽन्यैर्योगमागमन् ॥५६०॥
हेमाभपुरसार्थाभिहरणारम्भसम्भ्रमे । तत्कर्म नागरैरूर्ध्वन्यस्तहस्तैर्निवेदितः[1] ॥५६१॥
आक्रोशद्भिः सकारुण्यो जीवंधरसमाह्वयः । गत्वा व्याधबलं युद्धे निरुध्यातर्क्यविक्रमः ॥५६२॥
तद्गृहीतं धनं सर्वं वणिग्भ्यो ह्यार्पयन्पुनः । युद्ध्वा चिरं विमुक्तात्मनामाङ्कशरदर्शनात् ॥५६३॥
जीवंधरकुमारेण विदिता मधुरादयः । संगतास्ते कुमारस्य वार्तां राजपुरोद्भवाम् ॥५६४॥
सर्वां निवेद्य विश्रम्य कंचित्कालं स्थिताः सुखम् । ततः कुमारमादाय गच्छन्तः स्वपुरं प्रति ॥५६५॥
अरण्यमप्रयाणार्थं दण्डकाख्यमुपागमन् । तत्र स्नेहान्महादेवी क्षीरपूर्णोन्नतस्तनी ॥५६६॥
बाष्पाविलविलोलाक्षी क्षामक्षामाङ्गयष्टिका । चिन्तासहस्रसंतप्तजटीभूतशिरोरुहा ॥५६७॥
निरन्तरोष्णनिःश्वासवैवर्ण्यंगमिताधरा । ताम्बूलादिव्यपायोरुमलदिग्धद्विजावली ॥५६८॥
अशोचत्पुत्रमालोक्य रुक्मिणीव मनोभवम् । इष्टकालान्तरालोकस्तत्क्षणे दुःखकारणम् ॥५६९॥
तनूजस्पर्शसंभूतमस्पृशन्तीं सुखामृतम् । [2]ज्ञापयित्वा पतत्पादपद्मयोः प्रकृताञ्जलिः ॥५७०॥
कुमारोत्तिष्ठ कल्याणशतभागी भवेस्त्वसौ । तमाशिषां शतैः स्नेहादभिनन्द्याब्रवीदिति ॥५७१॥

कहा तब वह, यह स्पष्ट जानकर बहुत ही सन्तुष्ट हुई कि यह युवाओंका संघ मेरे ही पुत्रका परिवार है। उसने फिर कहा कि आज आप लोग यहाँ विश्राम कर जाइए और आते समय उसे यहाँ ही लाइए ॥५५६-५५७॥ इस प्रकार उसने उन लोगोंसे अच्छी तरह प्रार्थना की। वह देवी रूपकी अपेक्षा जीवन्धरके समान ही थी इसलिए सबको संशय हो गया कि शायद यह जीवन्धरकी माता ही हो। तदनन्तर उन लोगोंने प्रिय और अनुकूल वचनोंके द्वारा उस देवीको सन्तुष्ट किया और कहा कि हम लोग ऐसा ही करेंगे। इसके बाद वे आगे चले, कुछ ही दूर जानेपर उन्हें भीलोंने दुःखी किया परन्तु वे अपने पुरुषार्थसे युद्धमें भीलोंको हराकर इच्छानुसार आगे बढ़े। आगे चलकर मार्गमें ये सब लोग दूसरे भीलोंके साथ मिल गये और सबने हेमाभ नगरमें जाकर वहाँके सेठोंको लूटना शुरू किया। इससे क्षुभित हुए नगरवासी लोगोंने हाथ ऊपर कर तथा जोर-जोरसे चिल्लाकर जीवन्धर कुमारको इस कार्यकी सूचना दी। निदान, अचिन्त्य पराक्रमके धारक दयालु जीवन्धर कुमारने जाकर युद्धमें वह भीलोंकी सेना रोकी और उनके द्वारा हरण किया हुआ सब धन छीनकर वैश्योंके लिए वापस दिया। इधर मधुर आदिने चिरकाल तक युद्ध कर अपने नामसे चिह्नित बाण चलाये थे उन्हें देखकर जीवन्धर कुमारने उन सबको पहचान लिया। तदनन्तर उन सबका जीवन्धर कुमारसे मिलाप हो गया और सब लोग कुमारके लिए राजपुर नगरकी सब कथा सुनाकर वहाँ कुछ काल तक सुखसे रहे। इसके बाद वे कुमारको लेकर अपने नगरकी ओर चले। विश्राम करनेके लिए वे उसी दण्डक वनमें आये। वहाँ उन्हें महादेवी विजया मिली, स्नेहके कारण उसके स्तन दूधसे भरकर ऊँचे उठ रहे थे, नेत्र आँसुओंसे व्याप्त होकर मलिन हो रहे थे, शरीर-यष्टि अत्यन्त कृश थी, वह हजारों चिन्ताओंसे सन्तप्त थी, उसके सिरके बाल जटा रूप हो गये थे, निरन्तर गरम श्वास निकलनेसे उसके ओठोंका रंग बदल गया था और पान आदिके न खानेसे उसके दाँतोंपर बहुत भारी मैल जमा हो गया था। जिस प्रकार रुक्मिणी प्रद्युम्नको देखकर दुःखी हुई थी उसी प्रकार विजया महादेवी भी पुत्रको देखकर शोक करने लगी सो ठीक ही है क्योंकि इष्ट पदार्थका बहुत समय बाद देखना तत्कालमें दुःखका कारण होता ही है ॥५५८-५६९॥ पुत्रके स्पर्शसे उत्पन्न हुए सुखरूपी अमृतका जिसने स्पर्श नहीं किया है ऐसी माताको सुखका अनुभव कराते हुए जीवन्धर कुमार हाथ जोड़कर उसके चरण-कमलोंमें गिर पड़े ॥५७०॥ 'हे कुमार ! उठ, सैकड़ों

---

१ निवेदितम् म०, स० । २ ज्ञापयन् वा ल० ।

प्रतिपक्षादिवोद्भूतदर्पभूतसुखसंगमात् । कुमार भीतभीतं वा मद्दुःखं सहसा गतम् ॥५७२॥
एवं देव्यां सुतेन सार्कं निगदन्त्यां तदन्तरे । संप्राप्य सत्वरं यक्षो दक्षः स्नेहात्कुमारजान् ॥५७३॥
स्नानस्रग्लेपनाशेषभूषावस्त्राशनादिभिः । संपूज्य जैनसद्धर्मवात्सल्यात्तत्कलात्पृथक् ॥५७४॥
अपास्य मधुरालापैस्तत्त्वगर्भैः सयुक्तिभिः । मदनादिकथाभिश्च शोकं मातुः सुतस्य च ॥५७५॥
जगाम संतुष्य यक्षः स्वस्थानं प्राप्य सत्क्रियाम् । तत्सौहार्दं सदापत्सु सुहृद्भिरनुभूयते ॥५७६॥
राज्ञी चैव महापुण्यभागित्यालोच्य तं पृथक् । कुमारमभ्यधादेवं प्रज्ञाविक्रमशालिनम् ॥५७७॥
सत्यंधरमहाराजं तव राजपुरे गुरुम् । हत्वा राज्ये स्थितः शत्रुस्तत्काष्ठाङ्गारिकस्तव ॥५७८॥
पितृस्थानपरित्यागो न योग्यस्ते मनस्विनः । इत्यसौ च तदाकर्ण्य प्रतिपद्योदितं तथा ॥५७९॥
अकालसाधनं शौर्यं न फलाय प्रकल्पते । धान्यं वा संप्रतीक्ष्यो वः कालः कार्यस्य साधकः ॥५८०॥
इति संचिन्त्य संजातक्रोधं प्रच्छाद्य तं हृदि । अस्मैतत्कार्यपर्याप्तौ बलं नन्दाढ्यनायकम् ॥५८१॥
त्वामानेतुं प्रहेष्यामि तावदत्र त्वयास्यताम् । दिनानि कानिचिद्वीतशोकेति महामतिः ॥५८२॥
तद्योग्यसर्ववस्तूनि परिवारं च कंचन । तत्संनिधाववस्थाप्य गत्वा राजपुरं स्वयम् ॥५८३॥
प्राप्य तन्निजभृत्यादीन्पुरः प्रस्थाप्य कस्यचित् । मदागतिर्न वाच्येति प्रतिपाद्य पृथक् पृथक् ॥५८४॥
वैश्यवेषं समादाय विद्यामुद्राप्रभावतः । पुरं प्रविश्य कस्मिंश्चिदापणे समवस्थितः ॥५८५॥
तत्र तत्संनिधानेन नानारत्नादिभाण्डकम् । अपूर्वलाभसंवृत्तं दृष्ट्वा सागरदत्तकः ॥५८६॥

कल्याणोंको प्राप्त हो' इस प्रकार सैकड़ों आशीर्वादोंसे उन्हें प्रसन्न कर विजया महादेवी बड़े स्नेहसे इस प्रकार कहने लगी ॥५७१॥ कि 'हे कुमार ! तुझे देखनेसे जो सुख मुझे उत्पन्न हुआ है उसके समागमरूपी शत्रुसे ही मानो डरकर मेरा दुःख अकस्मात् भाग गया है' ॥५७२॥ इस प्रकार वह महादेवी पुत्रके साथ बातचीत कर रही थी कि इसी बीचमें कुमारके स्नेहसे वह चतुर यक्ष भी बड़ी शीघ्रतासे वहाँ आ पहुँचा ॥५७३॥ उसने आकर उत्तम जैनधर्मके वात्सल्यसे स्नान, माला, लेपन, समस्त आभूषण, वस्त्र तथा भोजन आदिके द्वारा सबका अलग-अलग सत्कार किया। तदनन्तर उसने युक्तियोंसे पूर्ण और तत्त्वसे भरे हुए मधुर वचनोंसे तथा प्रद्युम्न आदिकी कथाओंसे माता और पुत्र दोनोंका शोक दूर कर दिया। इस प्रकार आदर-सत्कार कर वह यक्ष अपने स्थानकी ओर चला गया सो ठीक ही है क्योंकि मित्रता वही है जिसका कि मित्र लोग आपत्तिके समय अनुभव करते हैं ॥५७४-५७६॥ इसके बाद विजयादेवीने 'यह महा पुण्यात्मा है' ऐसा विचार कर बुद्धि और बलसे सुशोभित कुमारको अलग ले जाकर इस प्रकार कहा कि 'राजपुर नगरके सत्यन्धर महाराज तेरे पिता थे उन्हें मारकर ही काष्ठांगारिक राज्यपर बैठा था अतः वह तेरा शत्रु है। तू तेजस्वी है अतः तुझे पिताका स्थान छोड़ देना योग्य नहीं है'। इस प्रकार माताके कहे हुए वचन सुनकर और अच्छी तरह समझकर जीवन्धर कुमारने विचार किया कि 'समय और साधनके बिना प्रकट हुई शूर-वीरता फल देनेके लिए समर्थ नहीं है अतः धान्यकी तरह उस कालकी प्रतीक्षा करनी चाहिए जो कि कार्यका साधक है'। जीवन्धर कुमारको यद्यपि क्रोध तो उत्पन्न हुआ था परन्तु उक्त विचार कर उन्होंने उसे हृदयमें ही छिपा लिया और मातासे कहा कि 'हे अम्ब ! यह कार्य पूरा होनेपर मैं तुझे लेनेके लिए नन्दाढ्यको सेनापति बनाकर सेना भेजूँगा तबतक कुछ दिन तू शोक रहित हो यहींपर रह।' ऐसा कहकर तथा उसके योग्य समस्त पदार्थ और कुछ परिवारको उसके समीप रखकर महाबुद्धिमान् जीवन्धर कुमार स्वयं राजपुर चले गये ॥५७७-५८३॥ राजपुर नगरके समीप आकर उन्होंने अपने सेवक आदि सब लोगोंको अलग-अलग यह कहकर कि 'किसीसे मेरे आनेकी खबर नहीं कहना' पहले ही नगरमें भेज दिया और स्वयं विद्यामयी अँगूठीके प्रभावसे वैश्यका वेष रखकर नगरमें प्रविष्ट हो किसीकी दूकानपर जा बैठे ॥५८४-५८५॥ वहाँ उनके समीप बैठ जानेसे सागरदत्त सेठको अनेक रत्न आदिके पिटारे तथा और भी अपूर्व वस्तुओंका लाभ हुआ। यह देख उसने विचार किया कि 'निमित्तज्ञानीने जिसके लिए कहा था यह वही

वणिगाजेशनिर्दिष्टो दैवज्ञैरयमित्यसौ । दत्तवान्विमलां तस्मै सुतां [1]स्वां कमलोद्भवाम् ॥५८७॥
दिनानि कानिचित्तत्र संवसन् सुखमन्यदा । परिव्राजकवेषेण काष्ठाङ्गारिकसंसदम् ॥५८८॥
प्रविश्य तं समालोक्य कृताशीर्वादसत्क्रियः । शृणु राजन्नहं भोक्तुं याचे त्वामतिथिर्गुणी ॥५८९॥
मां भोजयेत्युवाचैतच्छ्रुत्वा संप्रतिपन्नवान् । मदुद्योगफलस्यैतन्निमित्तं कुसुमं परम् ॥५९०॥
इत्यग्रासनमास्थाय भुक्त्वा तस्मात्स निर्गतः । वशीकरणचूर्णादिप्रत्यक्षफलमौषधम् ॥५९१॥
मत्करे विद्यते यस्मै रुचिर्गृह्णात्वसाविदम् । इति राजकमभ्येत्य पृथक्पृथगघोषयन् ॥५९२॥
तच्छ्रुत्वा पश्य नैर्लज्ज्यमस्य वार्धक्यमीदृशम् । वशीकरणचूर्णाञ्जनादिबन्धकमस्त्यदः ॥५९३॥
इति तद्वचनात्सर्वैः कृत्वा हासं द्विजोत्तम । कन्यका गुणमालाख्या पुरेऽस्मिन्नस्ति विश्रुता ॥५९४॥
जीवंधरेण मच्चूर्णवासस्य न कृता स्तुतिः । इति नृद्वेषिणी जाता तां त्वच्चूर्णाञ्जनादिभिः ॥५९५॥
वशीकुरु ततो क्रेष्य तव मन्त्रौषधादिकम् । मौल्येन बहुना सर्वमाददिष्यामहे वयम् ॥५९६॥
इत्युक्तस्तैः सकोपो वा युष्मज्जीवंधरो विधीः । चूर्णवासादिभेदं किं स जानाति परीक्षितुम् ॥५९७॥
इत्युक्तवांस्ततः सर्वे सकोपा विप्रमब्रुवन् । यथेष्टं किं प्रवीष्येवं नृरत्नमविवेचयन् ॥५९८॥
आत्मस्तवोऽन्यनिन्दा च मरणान्न विशिष्यते । इति लोकप्रसिद्धं किं न श्रुतं दुःश्रुतोद्धत ॥५९९॥
इत्यसौ तैरधिक्षिप्तः किं न सन्ति प्रशंसकाः । युष्मद्विधा ममापीति समाख्यात्मानमुद्धतः ॥६००॥
घटदासीं विधास्यामि गुणमालां मुहूर्ततः । समेन मक्करं कृत्वा प्रस्थितस्तद्गृहं प्रति ॥६०१॥

पुरुष है, ऐसा विचारकर उसने अपनी स्त्री कमलासे उत्पन्न हुई विमला नामकी पुत्री उन्हें समर्पित कर दी ॥५८६-५८७॥ विवाहके बाद जीवन्धर कुमार कुछ दिन तक सागरदत्त सेठके यहाँ सुखसे रहे। तदनुसार किसी अन्य समय परिव्राजकका वेष रखकर काष्ठांगारिककी सभामें गये। वहाँ प्रवेश कर तथा काष्ठांगारको देखकर उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा कि 'हे राजन्! सुनो, मैं एक गुणवान् अतिथि हूँ, तुझसे भोजन चाहता हूँ, मुझे खिला दे'। यह सुनकर काष्ठांगारिकने उसे भोजन कराना स्वीकृत कर लिया। 'यह निमित्त, मेरे उद्योगरूपी फलको उत्पन्न करनेके लिए मानो फूल ही है' ऐसा विचारकर उन्होंने अगले आसनपर आरूढ़ होकर भोजन किया और भोजनोपरान्त वहाँसे चल दिया। तदनन्तर उन्होंने राजाओंके समूहमें जाकर अलग-अलग यह घोषणा कर दी कि 'मेरे हाथमें प्रत्यक्ष फल देनेवाला वशीकरण चूर्ण आदि उत्तम ओषधि है जिसकी इच्छा हो वह ले ले'। उनकी यह घोषणा सुनकर सब लोग हँसी करते हुए कहने लगे कि 'देखो इसकी निर्लज्जता, इसका ऐसा तो बुढ़ापा है फिर भी वशीकरण चूर्ण, अंजन तथा बन्धक आदिकी ओषधियाँ रखे हुए है।' इस प्रकार कहते हुए उन लोगोंने हँसी कर कहा कि 'हे ब्राह्मण! इस नगरमें एक गुणमाला नामकी प्रसिद्ध कन्या है। 'जीवन्धरने मेरे चूर्णकी सुगन्धिकी प्रशंसा नहीं की है' इसलिए वह पुरुष मात्रसे द्वेष रखने लगी है। तू अपने चूर्ण तथा अंजन आदिसे पहले उसे वशमें कर ले, बादमें यह देख हम सब लोग तेरे मन्त्र तथा ओषधि आदिको बहुत भारी मूल्य देकर खरीद लेंगे' ॥५८८-५९६॥ इस प्रकार लोगोंके कहनेपर वह ब्राह्मण क्रोधित-सा होकर कहने लगा कि तुम्हारा जीवन्धर मूर्ख होगा, वह चूर्णोंकी सुगन्धि आदिके भेदकी परीक्षा करना क्या जाने ॥५९७॥ इसके उत्तरमें सब लोग क्रोधित होकर उस ब्राह्मणसे कहने लगे कि 'जीवन्धर मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं' इसका विचार किये बिना ही तू उनके प्रति इच्छानुसार यह क्या बक रहा है ॥५९८॥ हे मिथ्याशास्त्रसे उद्दण्ड! क्या तूने यह लोक-प्रसिद्ध कहावत नहीं सुनी है कि अपनी प्रशंसा और दूसरेकी निन्दामें मरणसे कुछ विशेषता (अन्तर) नहीं है अर्थात् मरणके ही समान है ॥५९९॥ इस प्रकार उन लोगोंके द्वारा निन्दित हुआ ब्राह्मण कहने लगा कि, 'तो क्या आप-जैसे लोग मेरी भी प्रशंसा करनेवाले नहीं हैं? 'मैं भी कोई पुरुष हूँ' इस तरह अपनी प्रशंसा कर उस उद्धत ब्राह्मणने प्रतिज्ञा की कि 'मैं क्षण-भरमें गुणमालाको अपनी घटदासी बना लूँगा'। ऐसी प्रतिज्ञा कर वह गुणमाला...

१ स्वामकलोद्भवाम् इति क्वचित् ।

तत्र तच्चेटिकामेकामाहूय स्वामिनीं निजाम् । ज्ञापयेति स्थितः कश्चिद्विप्रो द्वारीत्यबूबुधत् ॥६०२॥
सापि स्वस्वामिनीमेतद्विप्रोक्तमबोधयत् । ततः स्वानुमतायातं वृद्धविप्रं यथोचितम् ॥६०३॥
प्रतिगृह्य [1]कुतो यातो गमिष्यसि कुतोऽथवा । इति तस्याः परिप्रश्ने पश्चादिह समागतः ॥६०४॥
पुनः पुरो गमिष्यामीत्याहासौ तच्छ्रुतेर्जनः । पार्श्ववर्ती व्यधाद्धासं [2]दारिकाया द्विजोऽपि तम् ॥६०५॥
न हास्यं कुरुतैवं भो वार्धक्यं विपरीतताम् । उत्पादयति युष्माकं किं न भावीति सोऽवदत् ॥६०६॥
पुनः [3]पुरः क्व गन्तव्यमिति तस्यत्युदीरणे । कन्यातीर्थपरिप्राप्तेर्यावत्तावद्गतिर्मम ॥६०७॥
इति द्विजोदितं श्रुत्वा कायेन वयसाप्ययम् । वृद्धो न चेतसेत्येवं नर्मप्रायोक्तिपूर्वकम् ॥६०८॥
अग्रासने निधायैनं स्वयमभ्यवहृत्य सा । इदानीं भवतो यत्र वाञ्छा तत्राशु गम्यताम् ॥६०९॥
इत्याह सोऽपि सुष्ठूक्तं त्वया भद्रे ममेति ताम् । प्रशंसन् प्रस्खलन् कृच्छ्रादुत्थायाक्रम्य यष्टिकाम् ॥६१०॥
तदीयशयनारोहं व्यधात्तुष्ट इवैतया । चेटिकास्तद्विलोक्यास्य पश्य निर्लज्जतामिति ॥६११॥
हस्तावलम्बनेनैनं निराकर्तुं समुद्यताः । युष्माभिः सम्यगेवोक्तं लज्जा स्त्रीविषयैव सा ॥६१२॥
न पुंसु यदि तत्रास्ति लज्जा साधारणी भवेत् । ततः स्त्रीभिः कथं पुंसां संगमोऽनङ्गसंस्कृतः ॥६१३॥
इति वृद्धोक्तिमाकर्ण्य ब्राह्मणोऽयं न केवलः । कोऽपि रूपपरावृत्तिविद्यया [4]समुपागतः ॥६१४॥
इत्याकलय्य को दोषो विप्रः प्राघूर्णिको मम । तिष्ठत्वत्रेति तच्चेटिका निवारयति स्म सा ॥६१५॥
सविभावसितौ शुद्धदेशजस्वरभेदवित् । गीतवान्मधुरं वृद्धश्चिरं श्रोत्रमनोहरम् ॥६१६॥
गन्धर्वदत्ताकल्याणकाले सालंक्रियं कलम् । जीवंधरकुमारस्य गीतं वैतच्छ्रुतेः सुखम् ॥६१७॥

घरकी ओर चल पड़ा। वहाँ जाकर तथा एक दासीको बुलाकर उसने कहा कि तुम अपनी मालकिनसे कहो कि द्वारपर कोई ब्राह्मण खड़ा है ॥६००-६०२॥ दासीने भी अपनी मालकिनको ब्राह्मणकी कही हुई बात समझा दी। गुणमालाने अपनी अनुमतिसे आये हुए उस वृद्ध ब्राह्मणका यथायोग्य सत्कार कर पूछा कि 'आप कहाँसे आये हैं और यहाँसे कहाँ जावेंगे?' गुणमालाके इस प्रश्नके उत्तरमें उसने कहा कि 'यहाँ पीछेसे आया हूँ और आगे जाऊँगा'। ब्राह्मणकी बात सुनकर कन्या गुणमालाके समीपवर्ती लोग हँसने लगे। यह देख, ब्राह्मणने भी उनसे कहा कि इस तरह आप लोग हँसी न करें। बुढ़ापा विपरीतता उत्पन्न कर देता है, क्या आप लोगोंका भी बुढ़ापा नहीं आवेगा? ॥६०३-६०६॥ तदनन्तर उन लोगोंने फिर पूछा कि आप आगे कहाँ जावेंगे? ब्राह्मणने कहा कि जबतक कन्या तीर्थकी प्राप्ति नहीं हो जावेगी तबतक मेरा गमन होता रहेगा ॥६०७॥ इस प्रकार ब्राह्मणका उत्तर सुनकर सबने हँसते हुए कहा कि यह शरीर और अवस्थासे बूढ़ा है, मनसे बूढ़ा नहीं है। तदनन्तर गुणमालाने उसे अग्र आसनपर बैठाकर स्वयं भोजन कराया और फिर कहा कि अब आपकी जहाँ इच्छा हो वहाँ शीघ्र ही जाइए ॥६०८-६०९॥ इसके उत्तरमें ब्राह्मणने कहा कि 'हे भद्र! तूने ठीक कहा' इस तरह उसकी प्रशंसा करता और डगमगाता हुआ वह ब्राह्मण लाठी टेककर बड़ी कठिनाईसे उठा और उसकी शय्यापर इस प्रकार चढ़ गया मानो उसने इसे चढ़नेकी आज्ञा ही दे दी हो। यह देख, दासियाँ कहने लगीं कि इसकी निर्लज्जता देखो। वे हाथ पकड़कर उसे शय्यासे दूर करनेके लिए उद्यत हो गयीं। तब ब्राह्मणने कहा कि आप लोगोंने ठीक ही तो कहा है, यथार्थमें लज्जा स्त्रियोंमें ही होती है पुरुषोंमें नहीं, यदि इनमें भी स्त्रियोंके समान ही लज्जा होने लगे तो फिर स्त्रियोंके साथ कामसे संस्कृत किया हुआ उनका समागम कैसे हो सकता है? ॥६१०-६१३॥ इस प्रकार वृद्ध ब्राह्मणकी बात सुनकर गुणमालाने विचार किया कि यह केवल ब्राह्मण ही नहीं है किन्तु रूपपरावर्तनी विद्याके द्वारा रूप बदलकर कोई अन्य पुरुष यहाँ आया है। ऐसा विचारकर उसने दासियोंको रोक दिया और उस ब्राह्मणसे कहा कि क्या दोष है? आप मेरे पाहुने हैं अतः इस शय्यापर बैठिए ॥६१४-६१५॥ रात्रि समाप्त होनेपर शुद्ध तथा देशज स्वरके भेदोंको जाननेवाले उस वृद्ध ब्राह्मणने चिरकाल तक श्रोत्र तथा मनको हरण करनेवाले मधुर गीत गाये। गन्धर्वदत्ताके विवाहके समय जीवन्धरकुमारने जो अलंकार सहित मनोहर गीत गाये थे उन्हें सुन-

---

१ कुतस्त्वस्त्वं क० । २ दारिकायां क० । ३ पुनः इति क्वचित् । ४ मामुपागतः क० ।

इति प्रातः समुत्थाय विनयेनोपसृत्य तम् । साप्राक्षीत्केषु शास्त्रेषु प्रबोधो भवतामिति ॥६१८॥
धर्मार्थकामशास्त्राणि भूयोऽभ्यस्तानि यत्नतः । तेषु धर्मार्थयोः कामशास्त्रात्फलविनिश्चयः ॥६१९॥
कथं तदिति चेत्किंचिन्मया तत्र निरूप्यते । पञ्चेन्द्रियाणि तेषां च विषयाः पञ्चधा स्मृताः ॥६२०॥
स्पर्शादयोऽष्टधा स्पर्शाः कर्कशाद्याः श्रुतोदिताः । रसोऽपि [1]षड्विधः प्रोक्तो मधुरादिर्मनीषिभिः ॥६२१॥
कृतकः सहजश्चेति गन्धोऽपि द्विविधो मतः । सर्वः सुगन्धदुर्गन्धश्चेतनेतरवस्तुगः ॥६२२॥
रूपं पञ्चविधं श्वेतकृष्णादिप्रविभागभाक् । षड्जादयः स्वराः सप्त जीवाजीवसमुद्भवाः ॥६२३॥
इत्यष्टाविंशतिर्भूत्वा द्वैगुण्यं पुनरागताः । इष्टानिष्टविकल्पाभ्यां षट्पञ्चाशद्विकल्पनाः ॥६२४॥
तेष्विष्टाः कृतपुण्यानां तानि पुण्यानि धर्मतः । निषिद्धविषयत्यागो धर्मः सद्भिरुदाहृतः ॥६२५॥
निषिद्धविषयांस्तस्मात्परिहृत्य विचक्षणाः । शेषाननुभवन्तोऽत्र कामशास्त्रविदो मताः ॥६२६॥
त्वयानुभूयमानेषु दोषाः सन्तीह केषुचित् । इति तेनोदितं श्रुत्वा तद्दोषविनिवृत्तये ॥६२७॥
त्वयोपदेशः कर्तव्यो यास्यामि तव शिष्यताम् । इत्युदीर्णवतीं विप्रस्तां व्यनैषीत्कलादिषु ॥६२८॥
सर्वे ते पुनरन्येद्युर्विहर्तुं वनमागमन् । स्थितवांस्तत्रायमेकान्तप्रदेशे गुणमालया ॥६२९॥
सह स्वाभाविकं रूपमात्मनः समदर्शयत् । कन्या दृष्ट्वाथ तं जातसंशया सत्रपा सती ॥६३०॥
मौनेनावस्थिता वीक्ष्य तामेष प्राक्तनोक्तिभिः । चूर्णवासादिवार्ताभिः प्रत्याययदतिद्रुतम् ॥६३१॥
पुनः प्राक्तनरूपस्थः पुष्पशय्यामधिष्ठितः । कुरु मत्पादसंवाहमिति प्रेषयति स्म ताम् ॥६३२॥

कर गुणमालाको जैसा सुख हुआ था वैसा ही सुख इस वृद्धके गीत सुनकर हुआ। सवेरा होनेपर गुणमालाने बड़ी विनयके साथ उसके पास जाकर पूछा कि आपको किन-किन शास्त्रोंका अच्छा ज्ञान है? ॥६१६-६१८॥ इसके उत्तरमें ब्राह्मणने कहा कि मैंने बड़े यत्नसे धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्रका बार-बार अभ्यास किया है। उनमें धर्म और अर्थके फलका निश्चय कामशास्त्रसे ही होता है। वह किस प्रकार होता है? यदि यह जानना चाहती हो तो मैं इसका कुछ निरूपण करता हूँ। इन्द्रियाँ पाँच हैं और उनके स्पर्श आदि विषय भी पाँच ही हैं। उनमें-से स्पर्शके कर्कश आदि आठ भेद शास्त्रोंमें कहे गये हैं। विद्वानोंने मधुर आदिके भेदसे रस भी छह प्रकारका कहा है। सुगन्ध और दुर्गन्ध रूप चेतन अचेतन वस्तुओंमें पाया जानेवाला सब तरहका गन्ध भी कृतक और सहजके भेदसे दो प्रकारका माना गया है। श्वेत, कृष्ण आदिके भेदसे रूप पाँच तरहका कहा गया है और जीव तथा अजीवसे उत्पन्न हुए षड्ज आदि स्वर सात तरहके होते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर पाँचों इन्द्रियोंके अट्ठाईस विषय होते हैं। इनमें-से प्रत्येकके इष्ट, अनिष्टकी अपेक्षा दो-दो भेद हैं अतः सब मिलकर छप्पन हो जाते हैं ॥६१९-६२४॥ इनमें जो इष्ट विषय हैं वे पुण्य करनेवालोंको प्राप्त होते हैं, धर्मसे पुण्य होता है और निषिद्ध विषयोंका त्याग करना ही सज्जनोंने धर्म कहा है ॥६२५॥ इसलिए जो बुद्धिमान् मनुष्य निषिद्ध विषयोंको छोड़कर शेष विषयोंका अनुभव करते हैं वे ही इस लोकमें कामशास्त्रके जाननेवाले कहे जाते हैं ॥६२६॥ यह कहनेके बाद उस ब्राह्मणने गुणमालासे कहा कि तू जिन विषयोंका अनुभव करती है उनमें-से कितनेमें ही अनेक दोष हैं। इस तरह ब्राह्मणका कहा सुनकर गुणमालाने उससे कहा कि आप उन दोषोंको दूर करनेके लिए उपदेश कीजिए मैं आपकी शिष्य हो जाऊँगी। ऐसा कहनेपर उस ब्राह्मणने गुणमालाको कला आदिकी शिक्षा देकर निपुण बना दिया ॥६२७-६२८॥

एक दिन वे सब लोग विहार करनेके लिए वनमें गये थे। वहाँ जब वह एकान्त स्थानमें गुणमालाके साथ बैठा था तब उसने अपना स्वाभाविक रूप दिखा दिया। उसे देखकर कन्याको संशय उत्पन्न हो गया और वह सती लज्जा सहित चुप बैठ गयी। यह देखकर ब्राह्मणने सुगन्धित चूर्णसे सम्बन्ध रखनेवाली प्राचीन कथाएँ कहकर बहुत ही शीघ्र उसे विश्वास दिला दिया ॥६२९-६३१॥ तदनन्तर वह उसी ब्राह्मणका रूप धारण कर पुष्पशय्यापर बैठ गया और गुणमाला को

---

१ पञ्चविधः ल० ?

तां च स्नेहेन तत्कर्म कुर्वतीं वीक्ष्य विस्मयात् । ते राजसूनवः सर्वे तन्मन्त्रादिकमस्मरन् ॥६३३॥
अथ तस्माद्द्विजो गेहमागतो गुणमालया । मातुः पितुश्च जीवंधरागतिः कथिता मिथः ॥६३४॥
विवाहविधिना तौ च तां तस्याकुरुतां प्रियाम् । दिनानि कानिचित्तत्र स्थित्वा जीवंधरस्तया ॥६३५॥
सुखानि सह भुञ्जानः सर्वबन्धुजनान्वितः । जनप्रस्तूयमानोरुभाग्यो गन्धगजं गिरिम् ॥६३६॥
विजयाद्रिं समारुह्य चतुरङ्गबलावृतः । गृहं गन्धोत्कटाख्यस्य प्राविशत्परमोदयः ॥६३७॥
तदुत्सवं समाकर्ण्य स काष्ठाङ्गारिकः क्रुधा । पश्य वैश्यात्मजो मत्तो मनाक्च न बिभेति मत् ॥६३८॥
इति प्रकाशकोपोऽभूत्तद्वीक्ष्य सचिवोत्तमाः । जीवंधरकुमारोऽयं दैवादाविष्कृतोदयः ॥६३९॥
गन्धर्वदत्तया साक्षाल्लक्ष्म्येव समुपाश्रितः । यक्षेण कृतसंवृद्धिर्मित्रेणाव्यभिचारिणा ॥६४०॥
मधुरादिसहायैश्च सहितो [1]यत्ततो महान् । अभेद्यविक्रमस्तेन[2] विग्रहो नैव युज्यते ॥६४१॥
बलिना सह युद्धस्य हेतुः कोऽपि न विद्यते । इत्यादियुक्तिमद्वाग्भिस्तमाशु समशीशमन् ॥६४२॥
इदमन्यदितः किंचित्प्रस्तुतं प्रतिपाद्यते । विदेहविषये ख्यातं विदेहाख्यं पुरं परम् ॥६४३॥
गोपेन्द्रो भूपतिस्तस्य पाता घातितविद्विषः । तत्पृथिव्यादिसुन्दर्यां राज्ञ्यां रत्नवती सती ॥६४४॥
चन्द्रकवेधने दक्षं मालयालंकरोम्यहम् । नेच्छाम्यन्यं पतिं कंचिदकरोदिति सङ्गरम् ॥६४५॥
तज्ज्ञात्वास्याः पिता चापवेदवेदिषु निश्चितः । जीवंधरोऽस्य तत्कन्यामिमां तत्संनिधिं नये ॥६४६॥
इति राजपुरं गत्वा सकन्यः सहसाधनः । घोषणां कारयामास स्वयंवरविधिं प्रति ॥६४७॥
तद्घोषणां समाकर्ण्य सर्वे भूखेचरेश्वराः । कन्यापरिग्रहायायान्मंक्षु राजपुरं प्रति ॥६४८॥

स्नेह वश उसके पैर दाबने लगी। यह देख, वे सब राजकुमार आश्चर्यमें पड़कर ब्राह्मणके मन्त्र आदिकी स्तुति करने लगे ॥६३२–६३३॥ इसके बाद ब्राह्मण-वेषधारी जीवन्धर कुमार वनसे अपने घर आ गये और गुणमालाने भी अपने माता-पितासे जीवन्धरकुमारके आनेका समाचार कह दिया ॥६३४॥ निदान, उसके माता-पिताने विधि-पूर्वक विवाह कर उसे जीवन्धर कुमारकी प्रिया बना दी। इसके बाद वह जीवन्धर कुछ दिन तक वहींपर गुणमालाके साथ रहा और सब भाई-बन्धुओंके साथ सुखका उपभोग करता रहा। तदनन्तर सब लोग जिनके बड़े भारी भाग्यकी प्रशंसा कर रहे थे ऐसे, उत्कृष्ट वैभवको धारण करनेवाले जीवन्धर कुमारने विजयगिरि नामक गन्धगजपर सवार होकर चतुरंग सेनाके साथ गन्धोत्कटके घरमें प्रवेश किया ॥६३५–६३६॥ इस उत्सवकी बात सुनकर काष्ठांगारिक बहुत कुपित हुआ। वह कहने लगा कि देखो उन्मत्त हुआ यह वैश्यका लड़का मुझसे कुछ भी नहीं डरता है। इस प्रकार कह कर वह प्रकट रीतिसे क्रोध करने लगा। यह देख श्रेष्ठ मन्त्रियोंने उसे समझाया कि ये जीवन्धर कुमार हैं, पुण्यके उदयसे इन्हें अभ्युदयकी प्राप्ति हुई है, साक्षात् लक्ष्मीके समान गन्धर्वदत्तासे सहित हैं, यक्षरूपी अखण्ड मित्रने इनकी वृद्धि की है, मधुर आदि अनेक मित्रोंसे सहित हैं अतः महान् हैं और अजेय पराक्रमके धारक हैं इसलिए इनके साथ द्वेष करना योग्य नहीं है। फिर बलवान्‌के साथ युद्ध करनेका कोई कारण भी नहीं है। इत्यादि युक्ति-पूर्ण वचनोंके द्वारा मन्त्रियोंने काष्ठांगारिकको शीघ्र ही शान्त कर दिया ॥६३७–६४२॥

सुधर्माचार्य राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि अब इससे भिन्न एक दूसरी प्रकृत कथा और कहता हूँ। विदेह देशमें एक विदेह नामका प्रसिद्ध नगर है। राजा गोपेन्द्र उसकी रक्षा करते हैं, शत्रुओंको नष्ट करनेवाले राजा गोपेन्द्रको रानीका नाम पृथिवीसुन्दरी है और उन दोनोंके एक रत्नवती नामकी कन्या है। रत्नवतीने प्रतिज्ञा की थी कि जो चन्द्रक वेधमें चतुर होगा मैं उसे ही मालासे अलंकृत करूँगी—अन्य किसी पुरुषको अपना पति नहीं बनाऊँगी। कन्याकी ऐसी प्रतिज्ञा जानकर उसके पिताने विचार किया कि इस समय धनुर्वेदको जाननेवाले और अतिशय ऐश्वर्यशाली जीवन्धर-कुमार ही हैं अतः उनके पास ही यह कन्या लिये जाता हूँ। ऐसा विचार कर वह राजा कन्याको साथ लेकर अपनी सब सेनाके साथ-साथ राजपुर नगर पहुँचा और वहाँ जाकर उसने स्वयंवर विधिकी घोषणा करा दी ॥६४४–६४७॥ उस घोषणाको सुनकर सभी भूमिगोचरी और विद्याधर

---

१ यत्ततो क० । २ अभेद्यविक्रमोऽनेन क० ।

स्वयंवरविधौ तस्मिंश्चन्द्रकव्यधने नृपान् । स्खलितांस्तान्बहून्वीक्ष्य जीवंधरकुमारकः ॥६४९॥
कृतसिद्धनमस्कारः स्वगुरोश्चार्यवर्मणः । विधाय विनयं बालभानुर्वोदयशैलगः ॥६५०॥
स्थित्वा चिमाक्षरस्तस्मिंश्चक्रे स्खलनवर्जितम् । कृतवेधो व्यधात्सिंहनादं नादितदिक्तटम् ॥६५१॥
साधु विद्धमनेनेति प्रशंसन् प्राश्निकास्तदा । कण्ठे मालां कुमारस्य सा समासञ्जयन्मुदा ॥६५२॥
साधवस्तत्र योग्योऽयमनयोर्ननु संगमः । शरत्समयहंसाल्योरिवेति प्रीतिमागताः ॥६५३॥
सर्वत्र विजयः पुण्यवतां को वात्र विस्मयः । इत्यौदासीन्यमापन्ना मध्यमाः कृतबुद्धयः ॥६५४॥
काष्ठाङ्गारिकमुख्यास्ते नीचाः प्राक्पराभवाः । प्राक्तस्मात्तदनुस्मृत्य दुष्टकोपप्रचोदिताः ॥६५५॥
पापास्तुमुलयुद्धेन कन्यामाहर्तुमुद्यताः । बुद्ध्वा जीवंधरस्तेषां वैषम्यं नयकोविदः ॥६५६॥
सत्यंधरमहाराजसामन्ताभ्यर्णकं तदा । प्राहिणोदिति संदिश्य दूतान् सोपायनान् बहून् ॥६५७॥
अहं सत्यंधराधीशाद्विजयायां सुतोऽभवम् । मत्पूर्वकृतदैवेन ताभ्यामुत्पत्त्यनन्तरम् ॥६५८॥
वियुक्तोऽस्मि वणिग्वर्यभवने समवर्धिषि । काष्ठाङ्गारिकपापोऽयं काष्ठाङ्गारविक्रयात् ॥६५९॥
प्राणसंधारणं कुर्वन्नृपत्युर्वीभुजा कृतः । द्वितीयप्रकृतिर्नीचो लब्धरन्ध्रो दुराशयः ॥६६०॥
तमेवाहिरिवाहत्य स्वयं राज्ये व्यवस्थितः । उच्छेद्यो न ममैवायं शत्रुत्वाद्भवतामपि ॥६६१॥
रसातलं गतोऽप्येष मयावश्यं हनिष्यते । सत्यंधरमहीशस्य सामन्तास्तस्य भाक्तिकाः ॥६६२॥
योधाः पुष्टा महामात्रास्तेनान्ये चानुजीविनः । कृतघ्नममुमुच्छेत्तुमर्हन्ति कृतवेदिनः ॥६६३॥

राजा उस कन्याके साथ विवाह करनेके लिए राजपुर नगरमें जा पहुँचे ॥६४८॥ स्वयंवरके समय उस चन्द्रक यन्त्रके वेधनेमें अनेक राजा स्खलित हो गये–चूक गये। उन्हें देख, जीवन्धर कुमार उठे। सबसे पहले उन्होंने सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार किया, फिर अपने गुरु आर्यवर्माको विनय की और फिर जिस प्रकार बालसूर्य उदयाचलके शिखरपर आरूढ़ होता है उसी प्रकार उस चक्रपर आरूढ़ हो गये। उस समय वे अतिशय देदीप्यमान हो रहे थे, उन्होंने बिना किसी भूलके चन्द्रकयन्त्रका वेध कर दिया। और दिशाओंके तट तक गूँजनेवाला सिंहनाद किया ॥ ६४९–६५१॥ उसी समय धनुष विद्याके जाननेवाले लोग उनकी प्रशंसा करने लगे कि इन्होंने अच्छा निशाना मारा और कन्या रत्नवतीने भी प्रसन्न होकर उनके गलेमें माला पहनायी ॥ ६५२॥ उस सभामें जो सज्जन पुरुष विद्यमान थे वे यह कहते हुए बहुत ही प्रसन्न हो रहे थे कि जिस प्रकार शरद् ऋतु और हंसावलीका समागम योग्य होता है उसी प्रकार इन दोनोंका समागम भी योग्य हुआ है ॥६५३॥ जो बुद्धिमान् मध्यम पुरुष थे वे यह सोचकर उदासीन हो रहे थे कि सब जगह पुण्यात्माओंकी विजय होती ही है इसमें आश्चर्यकी क्या बात है ॥६५४॥ और जो काष्ठांगारिक आदि नीच मनुष्य थे वे जीवन्धरसे पहले भी पराभव प्राप्त कर चुके थे अतः उस सब पराभवका स्मरण कर दुष्ट क्रोधसे प्रेरित हो रहे थे। वे पापी भयंकर युद्धके द्वारा कन्याको हरण करनेका उद्यम करने लगे। नीति-निपुण जीवन्धर कुमारने उनकी यह विषमता जान ली जिससे उन्होंने उसी समय भेंट लेकर तथा निम्नलिखित सन्देश देकर बहुत-से दूत सत्यन्धर महाराजके सामन्तोंके पास भेजे ॥६५५-६५७॥ 'मैं सत्यन्धर महाराजकी विजया रानीसे उत्पन्न हुआ पुत्र हूँ। अपने पूर्वकृत कर्मके उदयसे मैं उत्पन्न होनेके बाद ही अपने माता-पितासे वियुक्त होकर गन्धोत्कट सेठके घरमें वृद्धिको प्राप्त हुआ हूँ। यह पापी काष्ठांगार (कोयला) बेचकर अपनी आजीविका करता था परन्तु आपके महाराजने इसे मन्त्री बना लिया था। यह राजसी प्रकृति अत्यन्त नीच पुरुष है। छिद्र पाकर इस दुराशयने साँपकी तरह उन्हें मार दिया और स्वयं उनके राज्यपर आरूढ़ हो गया। यह न केवल मेरे ही द्वारा नष्ट करनेके योग्य है परन्तु शत्रु होनेसे आप लोगोंके द्वारा भी नष्ट करनेके योग्य है। यदि आज यह रसातलमें भी चला जाय तो भी मेरे द्वारा अवश्य ही मारा जायेगा। आप लोग सत्यन्धर महाराजके सामन्त हैं, उनके भक्त हैं, योद्धा हैं, उनके द्वारा पुष्ट हुए हैं, अतिशय चतुर हैं और कृतज्ञ हैं इसलिए आप तथा अन्य अनुजीवी लोग इस कृतघ्नको अवश्य ही नष्ट करें' ॥६५८–६६३॥

ते तत्संदेशमाकर्ण्य कुमारोऽयं नृपात्मजः । सत्यमेवेति संभाव्य बहवस्तेन संगताः ॥६६४॥
ततः संनद्धसैन्यः संस्तस्य गत्वोपरि स्वयम् । युध्वा नानाप्रकारेण चिरं निर्जित्य तद्बलम् ॥६६५॥
गिर्यन्तविजयं गन्धगजं समदमूर्जितम् । समारूढः प्रकृष्टाज्ञं काष्ठाङ्गारिकमुद्धतम् ॥६६६॥
अशनिवेगाख्यविख्यातकरिणः स्थितम् । हत्वा चकार चक्रेण तदुशेषं रुषा द्विषम् ॥६६७॥
विलोक्य तद्बले भङ्गं भयादुपगते सति । तदाकार्षीत्समाश्वासं विधायाभयघोषणाम् ॥६६८॥
बन्धून् सर्वान् समाहूय [1]विनेयानवलोक्य तान् । तत्कालोचितसंभाषणादिभिः ह्लादमानयत् ॥६६९॥
जिनपूजां विनिर्वृत्य कृतमङ्गलसत्क्रियः । यक्षेण भूभुजैः सर्वैश्वाप्तराज्याभिषेचनः ॥६७०॥
रत्नवत्या च संप्राप्य स विवाहमहोत्सवम् । कृत्वा गन्धर्वदत्ताया महत्याः पट्टबन्धनम् ॥६७१॥
नन्दाढ्यादिसमानीतमातृजायादिभिर्युतः । संप्राप्य परमैश्वर्यमूर्जितो निर्जितद्विषः ॥६७२॥
यथान्यायं प्रजाः सर्वाः पालयन्हेलयेप्सितान् । लीलयानुभवन् भोगान् स्वपुण्यफलितान् स्थितः ॥६७३॥
सुरादिमलयोद्याने कदाचिद्विहरन् विभुः । वरधर्मयतिं दृष्ट्वा संप्राप्य विहितानतिः ॥६७४॥
ततस्तत्त्वं विदित्वाप्तव्रतोऽभूद्दर्शनेऽमलः । नन्दाढ्याद्याश्च सम्यक्त्वव्रतशीलान्युपागमन् ॥६७५॥
एतैः सुखमगौ स्वाप्तैः साकं कालमजीगमत् । अथाशोकवनेऽन्येद्युर्युध्यमानं परस्परम् ॥६७६॥
कपीनां यूथमालोक्य प्रज्वलत्क्रोधहुताशनम् । आत्तसंसारनिर्वेगस्तस्मिन्नेव वनान्तरे ॥६७७॥
प्रशस्तवङ्कनामानं चारणं वीक्ष्य सादरम् । पूर्वश्रुतानुसारेण श्रुतात्मभवसन्ततिः ॥६७८॥

सामन्त लोग जीवन्धरकुमारका सन्देश सुनकर कहने लगे कि यह सचमुच ही राजपुत्र है। इस तरह सम्मान कर बहुत-से सामन्त उसके साथ आ मिले ॥६६४॥ तदनन्तर—अपनी सेना तैयार कर जीवन्धरकुमारने स्वयं ही उसपर चढ़ाई की और चिरकाल तक नाना प्रकारका युद्ध कर उसकी सेनाको हरा दिया ॥६६५॥ जीवन्धर कुमार, मदोन्मत्त तथा अतिशय बलवान् विजयगिरि नामक हाथीपर सवार थे और जिसकी आज्ञा बहुत समयसे जमी हुई थी ऐसा उद्धत काष्ठांगारिक अशनिवेग नामक प्रसिद्ध हाथीपर आरूढ़ था। जीवन्धर कुमारने क्रोधमें आकर चक्रसे शत्रु काष्ठांगारिकको मार गिराया, यह देख उसकी सेना भयसे भागने लगी तब जीवन्धर कुमारने अभय घोषणा कर सबको आश्वासन दिया ॥६६६-६६८॥ तदनन्तर कुमारने अपने सब भाई-बन्धुओंको बुलाया और सबको नम्र देखकर उस कालके योग्य सम्भाषण आदिके द्वारा सबको हर्ष प्राप्त कराया ॥६६९॥ इसके बाद जिनेन्द्र भगवान्की पूजा कर उत्तम मांगलिक क्रियाएँ की गयी और फिर यक्ष तथा सब राजाओंने मिलकर जीवन्धर कुमारका राज्याभिषेक किया। तदनन्तर रत्नवतीके साथ विवाहका महोत्सव प्राप्त कर गन्धर्वदत्ताको महारानीका पट्टबन्ध बाँधा ॥६७०-६७१॥ नन्दाढ्य आदि जाकर माता विजयाको तथा हेमाभा आदि अन्य स्त्रियोंको ले आये। उन सबके साथ जीवन्धर कुमार परम ऐश्वर्यको प्राप्त हुए। उस समय वे अतिशय बलवान् थे और जिसके समस्त शत्रु नष्ट कर दिये गये हैं ऐसी समस्त प्रजाका नीतिपूर्वक पालन करते थे। अपने पुण्यके फलस्वरूप अनायास ही प्राप्त हुए इष्ट भोगोंका लीलापूर्वक उपभोग करते हुए सुखसे रहते थे ॥६७२-६७३॥ किसी एक समय महाराज जीवन्धर सुरमलय नामक उद्यानमें विहार कर रहे थे वहाँपर उन्होंने वरधर्म नामक मुनिराजके दर्शन किये, उनके समीप जाकर नमस्कार किया, उनसे तत्त्वोंका स्वरूप जाना और व्रत लेकर सम्यग्दर्शनको निर्मल किया। नन्दाढ्य आदि भाइयोंने भी सम्यग्दर्शन व्रत और शील धारण किये। इस प्रकार जीवन्धर महाराज अपने इन आप्त जनोंके साथ सुखसे समय बिताने लगे। तदनन्तर वे किसी एक दिन अशोक वनमें गये वहाँपर जिनकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो रही थी ऐसे दो बन्दरोंके झुण्डोंको परस्पर लड़ते हुए देख संसारसे विरक्त हो गये। उसी वनके मध्यमें एक प्रशस्तवंक नामके चारण मुनि विराजमान थे इसलिए जीवन्धर महाराजने बड़े आदरसे उनके दर्शन किये और पहले सुने अनुसार अपने पूर्वभवोंकी परम्परा सुनी ॥६७४-६७८॥

---

१ विनयेनावलोक्य इति क्वचित्।

जिनपूजां विधायातु वर्धमानविशुद्धिकः । सुरादिमलयोद्यानायातं वीरजिनेशितुः ॥६७९॥
श्रुत्वा विभूतिमद्गत्वा संपूज्य परमेश्वरम् । महादेवीतनूजाय दत्त्वा राज्यं यथाविधि ॥६८०॥
वसुंधरकुमाराय वीतमोहो महामनाः । मातुलादिमहीपालैर्नन्दाढ्यमधुरादिभिः ॥६८१॥
सर्वसंगपरित्यागात्संयमं प्रत्यपद्यत । भुक्तभोगा हि निष्काङ्क्षा भवन्ति भुवनेश्वराः ॥६८२॥
सत्यंधरमहादेव्या सहाष्टौ सदृशः स्नुषाः । सखो गन्धर्वदत्ताद्यास्तासामपि च मातरः ॥६८३॥
समीपे चन्दनार्यायाः जगृहुः संयमं परम् । महानेकोऽभवद्धेतुर्बहूनामर्थसिद्धये ॥६८४॥
भवता परिपृष्टोऽयं जीवंधरमुनीश्वरः । महीयान् सुतपा राजन् संप्रति श्रुतकेवली ॥६८५॥
घातिकर्माणि विध्वस्य जनित्वा गृहकेवली । सार्धं विहृत्य तीर्थेशा तस्मिन्मुक्तिमधिष्ठिते ॥६८६॥
विपुलाद्रौ हताशेषकर्मा शर्माग्रमेष्यति । हृष्टाष्टगुणसंपूर्णो निष्ठितात्मा निरञ्जनः ॥६८७॥
इत्याकर्ण्य सुधर्माख्यगणभृद्वचनामृतम् । प्रीतवान् श्रेणिकः कस्य न धर्मः प्रीतये भवेत् ॥६८८॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अन्यैर्यः समवाप पूर्वसुकृतात्कन्याष्टकं दुर्लभं
यः शत्रुं पितृघातिनं रणमुखे लोकान्तरं प्रापयत् ।
यः प्रव्रज्य विभिन्नकर्मतिमिरोऽभासिष्ट मुक्तिप्रिया
तं वन्दे मुकुलीकृताञ्जलिरहं जीवंधरं श्रीवहम्[2] ॥६८९॥

वसन्ततिलका

विश्लेष्य षोडशदिनानि स मन्दसान-
शायं विहाय करुणां विमनिः पितृभ्याम् ।

तदनन्तर उन्होंने जिन-पूजा कर अपनी विशुद्धता बढ़ायी। फिर उसी सुरमलय उद्यानमें श्री वीरनाथ जिनेन्द्रका आगमन सुना, सुनते ही बड़े वैभवके साथ वहाँ जाकर उन्होंने परमेश्वरकी पूजा की और गन्धर्वदत्ता महादेवीके पुत्र वसुन्धर कुमारके लिए विधिपूर्वक राज्य दिया। जिनका मोह शान्त हो गया है और जिनका मन अतिशय विशाल है ऐसे उन जीवन्धर महाराजने अपने मामा आदि राजाओं और नन्दाढ्य मधुर आदि भाइयोंके साथ परिग्रहका त्याग कर संयम धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि जो राजा लोग भोग भोग चुकते हैं वे अन्तमें आकांक्षा रहित हो ही जाते हैं ॥६७९-६८२॥ सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाली गन्धर्वदत्ता आदि आठों रानियोंने तथा उन रानियोंकी माताओंने सत्यन्धर महाराजकी महादेवी विजयाके साथ चन्दना आर्याके समीप उत्कृष्ट संयम धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि एक ही बड़ा पुरुष अनेक लोगोंकी अर्थ-सिद्धिका कारण हो जाता है ॥६८३-६८४॥ सुधर्माचार्य राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्! तूने जिनके विषयमें पूछा था वे यही जीवन्धर मुनिराज हैं, ये बड़े तपस्वी हैं और इस समय श्रुतकेवली हैं। घातिया कर्मोंको नष्ट कर ये अनगार-केवली होंगे और श्री महावीर भगवान्‌के साथ विहार कर उनके मोक्ष चले जानेके बाद विपुलाचल पर्वतपर समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्षका उत्कृष्ट सुख प्राप्त करेंगे—वहाँ ये अष्टगुणोंसे सम्पूर्ण, कृतकृत्य और निरंजन—कर्म-कालिमासे रहित हो जावेंगे ॥६८५-६८७॥ इस प्रकार सुधर्माचार्य गणधरके वचनामृतका पानकर राजा श्रेणिक बहुत ही सन्तुष्ट हुआ सो ठीक ही है क्योंकि धर्म किसको प्रीतिके लिए नहीं होता? ॥६८८॥ जिन्होंने पूर्व पुण्य कर्मके उदयसे अन्य लोगोंको दुर्लभ आठ कन्याएँ प्राप्त कीं, जिन्होंने पिताका घात करनेवाले शत्रुको युद्धमें परलोक पहुँचाया, जिन्होंने दीक्षा लेकर कर्मरूपी अन्धकारको नष्ट किया और जो मुक्तिरूपी लक्ष्मीसे

---

१ पिप्रिये ल०। २ जीवन्धरस्वामिनम्।

संप्राप्य षोडशसमाः [1]स्वस्वजनाभिभेदं
जीवंधरः कुरुत तद्दुरितं न भव्याः ॥६९०॥

मालिनी

क स निजगुरुमृत्युः क श्मशाने प्रसूति-
र्वणिजुपगमनं क क स्वयक्षोपकारः ।
क महाभ्युदयविधानं शत्रुघातः क चित्रम्
विविधविलसितमेतत्पश्य जीवंधरेऽस्मिन् ॥६९१॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे चन्दनार्यिका-
जीवंधरचरितं नाम पञ्चसप्ततितमं पर्व ॥७५॥



सुशोभित हुए ऐसे लक्ष्मीपति श्री जीवन्धर स्वामीको मैं हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ ॥६८९॥ जीवन्धर कुमारने पूर्वभवमें मूर्खतासे दयाको दूर कर हंसके बच्चेको सोलह दिन तक उसके माता-पितासे अलग रखा था इसीलिए उन्हें अपने कुटुम्बसे अलग रहना पड़ा था अतः हे भव्य जनो ! पापको दूरसे ही छोड़ो ॥६९०॥ देखो, कहाँ तो पिता राजा सत्यन्धरकी मृत्यु, कहाँ श्मशानमें जन्म लेना, कहाँ वैश्यके घर जाकर पलना, कहाँ अपने द्वारा यक्षका उपकार होना, कहाँ वह अभ्युदयकी प्राप्ति, और कहाँ शत्रुका घात करना । इन जीवन्धर महाराजमें ही यह विचित्र कर्मोंका विपाक है ॥६९१॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें चन्दना आर्यिका और जीवन्धर स्वामीका चरित वर्णन करनेवाला यह पचहत्तरवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

---

१ स्वजनाभिभेदं म० ।

अथान्येद्युर्महावीरः सुरासुरपरिष्कृतः । विहृत्य विविधान् देशान् पुनस्तत्पुरमागतः ॥१॥
गणैर्द्वादशभिः पूज्यः स्थितः स विपुलाचले । गच्छंस्तं श्रेणिकः स्तोतुं वृक्षमूलशिलातले ॥२॥
मुनिं धर्मरुचिं नाम्ना निस्तरंगमिवोदधिम् । प्रदीपमिव निष्कम्पं साम्बुं वाम्भोदमुन्नतम् ॥३॥
जितेन्द्रियसमाहारं पर्यङ्कविहितासनम् । ईषन्निरुद्धनिःश्वासं मनाङ्मीलितलोचनम् ॥४॥
ध्यायन्तं वीक्ष्य वन्दित्वा साशङ्को विकृताननात् । ततो गत्वा जिनं प्राप्य स्तुत्वा मुकुलिताञ्जलिः ॥५॥
गौतमं च मया दृष्टः कश्चिदेकस्तपोधनः । ध्यायन्साक्षादिव ध्यातिस्वरूपेण व्यवस्थिता ॥६॥
स को मे कौतुकं तस्मिन् ब्रूहि नाथेत्यभाषत । अनुयुक्तो गणी तेन प्रोवाच वचसां पतिः ॥७॥
अस्त्यत्र विषयेऽङ्गाख्यः संगतः सर्ववस्तुभिः । नगरी तत्र चम्पाख्या तत्पतिः श्वेतवाहनः ॥८॥
श्रुत्वा धर्मं जिनादस्मात्त्रिनिर्वेगाहिताशयः । राज्यभारं समारोप्य सुते विमलवाहने ॥९॥
संयमं बहुभिः सार्धमत्रैव प्रतिपन्नवान् । चिरं मुनिगणैः साकं विहृत्याखण्डसंयमः ॥१०॥
धर्मेषु रुचिमातन्वन् दशस्वप्यनिशं जनैः । प्राप्तधर्मरुचिख्यातिः सख्यं यस्सर्वजन्तुषु ॥११॥
अद्य मासोपवासान्ते भिक्षार्थं प्राविशत्पुरम् । पुरुषाः संहतास्तत्र तत्समीपमितास्त्रयः ॥१२॥
नरलक्षणशास्त्रज्ञस्तेष्वेको वीक्ष्य तं मुनिम् । लक्षणान्यस्य साम्राज्यपदवीप्राप्तिहेतवः ॥१३॥

अथानन्तर—सुर-असुरोंसे घिरे हुए भगवान् महावीर अनेक देशोंमें विहार कर किसी दिन फिर उसी राजगृह नगरमें आ पहुँचे ॥१॥ बारह सभाओंसे पूज्य वे भगवान् विपुलाचल पर्वतपर विराजमान हुए। राजा श्रेणिक उनकी स्तुतिके लिए गया, जाते समय उसने एक वृक्षके नीचे शिलातलपर विराजमान धर्मरुचि नामके मुनिराजको देखा। वे मुनिराज निस्तरंग समुद्रके समान निश्चल थे, दीपकके समान निष्कम्प थे और जलसहित मेघके समान उन्नत थे, उन्होंने इन्द्रियोंके व्यापारको जीत लिया था, वे पर्यंकासनसे विराजमान थे, श्वासोच्छ्वासको उन्होंने थोड़ा रोक रखा था, और नेत्र कुछ बन्द कर लिये थे ॥२-४॥ इस प्रकार ध्यान करते हुए मुनिराजको देखकर श्रेणिकने उनकी वन्दना की परन्तु मुनिराजका मुख कुछ विकृत हो रहा था इसलिए उसे देखकर श्रेणिकको कुछ शंका उत्पन्न हो गयी। वहाँसे चलकर वह भगवान् महावीर जिनेन्द्रके समीप पहुँचा। वहाँ उसने हाथ जोड़कर उनकी स्तुति की फिर गौतमगणधरकी स्तुति कर उनसे पूछा कि हे प्रभो ! मैंने मार्गमें एक तपस्वी मुनिराज देखे हैं वे ध्यान कर रहे हैं मानो उनका रूप धारण कर साक्षात् ध्यान ही विराजमान हो। हे नाथ ! वे कौन हैं ? यह जाननेका मुझे बड़ा कौतुक हो रहा है सो कृपा कर कहिए। इस प्रकार राजा श्रेणिकके द्वारा पूछे जानेपर वचनोंके स्वामी श्रीगणधर भगवान् इस प्रकार कहने लगे ॥५-७॥

इसी भरत क्षेत्रके अंग देशमें सर्व वस्तुओंसे सहित एक चम्पा नामकी नगरी है। उसमें राजा श्वेतवाहन राज्य करता था। इन्हीं भगवान् महावीर स्वामीसे धर्मका स्वरूप सुनकर उसका चित्त तीनों प्रकारके वैराग्यसे भर गया जिससे इसने विमलवाहन नामक अपने पुत्रके लिए राज्यका भार सौंपकर बहुत लोगोंके साथ संयम धारण कर लिया। बहु दिन तक मुनियोंके समूहके साथ विहारकर अखण्ड संयमको धारण करते हुए वे मुनिराज यहाँ आ विराजमान हुए हैं। ये दश धर्मोंमें सदा प्रेम रखते थे इसीलिए लोगोंके द्वारा धर्मरुचिके नामसे प्रसिद्ध हुए हैं सो ठीक ही है क्योंकि मित्रता वही है जो सर्व जीवोंमें होती है ॥८-११॥ आज ये मुनि एक महीनेके उपवासके बाद नगरमें भिक्षाके लिए गये थे वहाँ तीन मनुष्य मिलकर इनके पास आये। उनमें एक मनुष्य मनुष्योंके लक्षण शास्त्रका जानकार था, उसने इन मुनिराजको देखकर कहा कि इनके लक्षण तो साम्राज्य पदवीके कारण हैं परन्तु ये भिक्षाके लिए भटकते फिरते हैं इसलिए शास्त्रमें जो कहा है वह झूठ मालूम होता है। इसके उत्तरमें दूसरे

अवस्थैव च निश्चार्यं शास्त्रोक्तं तन्नृपेष्वसौ । यदृच्छिविहितोऽन्येन न मृषा शास्त्रभाषितम् ॥१४॥
त्यक्तसाम्राज्यतन्त्रोऽयमृषिः केनापि हेतुना । निर्विण्णस्तनये बाले निधाय व्यापृतिं निजाम् ॥१५॥
एवं तपः करोतीति तदा तद्वचनं परः । अवोचत्किमनेनास्य तपसा पापहेतुना ॥१६॥
दुरात्मनः कृपां हित्वा बालं समसमर्थकम् । लोकसंव्यवहाराज्ञं स्थापयित्वा [1]धरातले ॥१७॥
स्वयं स्वार्थं समुद्दिश्य तपः कर्तुमिहागतः । मन्त्रिप्रभृतिभिः सर्वैः कृत्वा तं शृङ्खलावृतम् ॥१८॥
राज्यं विभज्य तत्स्वैरं पापैस्तदनुभूयते । इति तद्वचनं श्रुत्वा स्नेहमानप्रचोदितः ॥१९॥
अभुक्तान्नः पुरादाशु निवृत्यैत्य वनान्तरे । वृक्षमूलं समाश्रित्य बाह्यकारणसंनिधौ ॥२०॥
अन्तःक्रोधकषायानुभागोग्रस्पर्धकोदयात् । संक्लेशाध्यवसानेन वर्धमानत्रिलेश्यकः ॥२१॥
मन्त्र्यादिप्रतिकूलेषु हिंसाद्यखिलनिग्रहान् । ध्यायन् संरक्षणानन्दरौद्रध्यानं प्रविष्टवान् ॥२२॥
अतः परं मुहूर्तं चेदेवमेव स्थितिं भजेत् । आयुषो नारकस्यापि प्रायोग्योऽयं भविष्यति ॥२३॥
ततस्त्वयाशु संबोध्यो ध्यानमेतदशुभन्त्यज । शमय क्रोधदुर्वह्निं मोहजालं निराकुरु ॥२४॥
गृहाण संयमं त्यक्तं पुनस्त्वं मुक्तिसाधनम् । दारदारकबन्ध्वादिसंबन्धनमबन्धुरम् ॥२५॥
संसारवर्धनं साधो जहीहीत्येवमादिभिः । युक्तिमद्भिर्वचोभिः सप्रत्यवस्थानमाहवान् ॥२६॥
शुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धघातिकर्मघनाटविः । नवकेवललब्धीद्धशुद्धभावो भविष्यति ॥२७॥
इत्यसौ च गणाधीशवचनान्मगधाधिपः । गत्वा तदुक्तमार्गेण सद्यः प्रासादयन्मुनिम् ॥२८॥
सोऽपि संप्राप्य सामग्रीं कषायक्षयक्षान्तिजाम् । द्वितीयशुक्लध्यानेन कैवल्यमुदपादयत् ॥२९॥

मनुष्यने कहा कि शास्त्रमें जो कहा गया है वह झूठ नहीं है। ये साम्राज्य तन्त्रका त्याग कर ऋषि हो गये हैं। किसी कारणसे विरक्त होकर इन्होंने अपना राज्यका भार बालक—छोटी ही वयको धारण करनेवाले अपने पुत्रके लिए दे दिया है और स्वयं विरक्त होकर इस प्रकार तपश्चरण कर रहे हैं। इसके वचन सुनकर तीसरा मनुष्य बोला कि 'इसका तप पापका कारण है अतः इससे क्या लाभ है? यह बड़ा दुरात्मा है इसलिए दया छोड़कर लोक-व्यवहारसे अनभिज्ञ असमर्थ बालकको राज्यभार सौंपकर केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए यहाँ तप करनेके लिए आया है। मन्त्री आदि सब लोगोंने उस बालकको सांकलसे बाँध रखा है और राज्यका विभाग कर पापी लोग इच्छानुसार स्वयं उसका उपभोग करने लगे हैं'। तीसरे मनुष्यके उक्त वचन सुनकर इन मुनिका हृदय स्नेह और मानसे प्रेरित हो उठा जिससे वे भोजन किये बिना ही नगरसे लौटकर वनके मध्यमें वृक्षके नीचे आ बैठे हैं ॥१२-२०॥ बाह्य कारणोंके मिलनेसे उनके अन्तःकरणमें तीव्र अनुभागवाले क्रोध कषायके स्पर्धकोंका उदय हो रहा है। संक्लेशरूप परिणामोंसे उनके तीन अशुभ लेश्याओंकी वृद्धि हो रही है। जो मन्त्री आदि प्रतिकूल हो गये हैं उनमें हिंसा आदि सब प्रकारके निग्रहोंका चिन्तवन करते हुए वे संरक्षणानन्द नामक रौद्र ध्यानमें प्रविष्ट हो रहे हैं। यदि अब आगे अन्तर्मुहूर्त तक उनकी ऐसी ही स्थिति रही तो वे नरक आयुका बन्ध करनेके योग्य हो जावेंगे ॥२१-२३॥ इसलिए हे श्रेणिक ! तू शीघ्र ही जाकर उसे समझा दे और कह दे कि हे साधो ! शीघ्र ही यह अशुभ ध्यान छोड़ो, क्रोधरूपी अग्निको शान्त करो, मोहके जालको दूर करो, मोक्षका कारणभूत जो संयम तुमने छोड़ रखा है उसे फिरसे ग्रहण करो, यह स्त्री-पुत्र तथा भाई आदिका सम्बन्ध अमनोज्ञ है तथा संसारका बढ़ानेवाला है। इत्यादि युक्ति पूर्ण वचनोंसे तू उनका स्थितीकरण कर। तेरे उपदेशसे वे पुनः स्वरूपमें स्थित होकर शुक्ल ध्यानरूपी अग्निके द्वारा घातिया कर्मरूपी सघन अटवीको भस्म कर देंगे और नव केवललब्धियोंसे देदीप्यमान शुद्ध स्वभावके धारक हो जावेंगे ॥२४-२७॥ गणधर महाराजके उक्त वचन सुनकर राजा श्रेणिक शीघ्र ही उन मुनिके पास गया और उनके बताये हुए मार्गसे उन्हें प्रसन्न कर आया ॥२८॥ उक्त मुनिराजने भी कषायके क्षयसे उत्पन्न होनेवाली शान्तिसे उत्पन्न सामग्री प्राप्त कर द्वितीय शुक्लध्यानके द्वारा केवलज्ञान उत्पन्न कर लिया ॥२९॥

---

१ पराधुरि इति क्वचित् ।

तदा पूजां समायातैः श्रेणिको शक्रादिभिः । सह धर्मरुचेः कृत्वा पुनर्वीरं समाश्रितः ॥३०॥
भरते कोऽत्र पाश्चात्यः स्तुत्यः केवलवीक्षणः । इत्यप्राक्षीद्गणी चैवं विवक्षुरभवत्तदा ॥३१॥
ब्रह्मकल्पाधिपो ब्रह्महृदयाख्यविमानजः । विद्युन्माली ज्वलन्मौलिः प्रियस्वासुन्दर्शने ॥३२॥
विद्युद्वादिप्रभावेगे देव्योऽन्याश्चास्य तद्वृतः । जिनमागत्य वन्दित्वा यथास्थानमुपाविशत् ॥३३॥
तं निरूप्य परिच्छेदोऽनेन स्यात्केवलद्युतेः । तत्कथं चेद्वदिष्यामि दिवेऽस्मात्सप्तमे दिनात् ॥३४॥
ब्रह्मेन्द्रोऽयं दिवोऽभ्येत्य पुरेऽस्मिन्नेव धारणम् । सरः शालिवनं निर्धूमानलं प्रज्वलच्छिखम् ॥३५॥
सुकुमारसमानीयमानजम्बूफलानि च । स्वप्नानेतान् पुरः कुर्वन्नर्हद्दासाभिधानकात् ॥३६॥
इभ्यात् कृती सुतो भावी जिनदास्यां महाद्युतिः । जम्ब्वाख्योऽनावृताद्देवात्प्राप्तपूजोऽतिविश्रुतः ॥३७॥
विनीतो यौवनारम्भेऽप्यनाविष्कृतविक्रियः । वीरः पावापुरे तस्मिन् काले प्राप्स्यति निर्वृतिम् ॥३८॥
तदैवाहमपि प्राप्य बोधं केवलसंज्ञकम् । सुधर्माख्यगणेशेन सार्धं संसारवह्निना ॥३९॥
करिष्यन्प्रतितप्तानां ह्लादं धर्मामृताम्बुना । इदमेव पुरं भूयः संप्राप्यात्रैव भूधरे ॥४०॥
स्थास्याम्येतत्समाकर्ण्य कुणिकश्चेलिनीसुतः । तत्पुराधिपतिः सर्वपरिवारपरिष्कृतः ॥४१॥
आगत्याभ्यर्च्य वन्दित्वा श्रुत्वा धर्मं ग्रहीष्यति । दानशीलोपवासादि साधनं स्वर्गमोक्षयोः ॥४२॥
जम्बूनामापि निर्वेदात्प्रव्रज्याग्रहणोत्सुकः । सहैवाल्पेषु वर्षेषु व्यतीतेषु वयं त्वया ॥४३॥
सर्वे दीक्षां ग्रहीष्याम इति बन्धुजनोदितम् । सोऽशक्नुवन्निराकर्तुमायास्यति पुरं तदा ॥४४॥
मोहं विधित्सुभिस्तस्य बन्धुभिः सुखबन्धनः । [1]आरप्स्यते विवाहस्तैः श्रेयोविघ्ना हि बन्धवः ॥४५॥

उसी समय इन्द्र आदि देव उन धर्मरुचि केवलीकी पूजा करनेके लिए आये सो राजा श्रेणिकने भी उन सबके साथ उनकी पूजा की और फिर वह भगवान् वीरनाथके पास आया ॥३०॥ आते ही उसने गणधर स्वामीसे पूछा कि हे प्रभो ! इस भरतक्षेत्रमें सबसे पीछे स्तुति करने योग्य केवलज्ञानी कौन होगा ? इसके उत्तरमें गणधर कुछ कहना ही चाहते थे कि उसी समय वहाँ देदीप्यमान मुकुटका धारक विद्युन्माली नामका ब्रह्मस्वर्गका इन्द्र आ पहुँचा, वह इन्द्र ब्रह्महृदय नामक विमानमें उत्पन्न हुआ था, प्रियदर्शना, सुदर्शना, विद्युद्वेगा और प्रभावेगा ये चार उसकी देवियाँ थीं, उन सभीके साथ वह वहाँ आया था। आकर उसने जिनेन्द्र भगवान्की वन्दना की। तदनन्तर यथास्थान बैठ गया। उसकी ओर दृष्टिपात कर गणधर स्वामी राजा श्रेणिकसे कहने लगे कि इसके द्वारा ही केवल-ज्ञानका विच्छेद हो जायगा अर्थात् इसके बाद फिर कोई केवल ज्ञानी नहीं होगा। वह किस प्रकार होगा यदि यह जानना चाहते हो तो मैं इसे भी कहता हूँ, सुनो। आजसे सातवें दिन यह ब्रह्मेन्द्र, स्वर्गसे च्युत होकर इसी नगरके सेठ अर्हद्दासकी स्त्री जिनदासीके गर्भमें आवेगा। गर्भमें आनेके पहले जिनदासी पाँच स्वप्न देखेगी—हाथी, सरोवर, चावलोंका खेत, जिसकी शिखा ऊपरको जा रही है ऐसी धूम रहित अग्नि और देव-कुमारोंके द्वारा लाये हुए जामुनके फल। यह पुत्र बड़ा ही भाग्यशाली और कान्तिमान् होगा, जम्बूकुमार इसका नाम होगा, अनावृत्त देव उसकी पूजा करेगा, वह अत्यन्त प्रसिद्ध तथा विनीत होगा, और यौवनके प्रारम्भसे ही वह विकारसे रहित होगा। जिस समय भगवान् महावीर स्वामी मोक्ष प्राप्त करेंगे उसी समय मुझे भी केवलज्ञान प्राप्त होगा। तदनन्तर सुधर्माचार्य गणधरके साथ संसाररूपी अग्निसे सन्तप्त हुए पुरुषोंको धर्मामृत रूपी जलसे आनन्दित करता हुआ मैं फिर भी इसी नगरमें आकर विपुलाचल पर्वतपर स्थित होऊँगा। मेरे आनेका समाचार सुनकर इस नगरका राजा चेलिनीका पुत्र कुणिक सब परिवारके साथ आवेगा और पूजा-वन्दना कर तथा धर्मका स्वरूप सुनकर स्वर्ग और मोक्षका साधनभूत दान, शीलोपवास आदि धारण करेगा ॥३१-४२॥ उसी समय जम्बूकुमार भी विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण करनेके लिए उत्सुक होगा परन्तु भाई-बन्धु लोग उसे समझावेंगे कि थोड़े ही वर्षोंके व्यतीत होनेपर हम लोग भी तुम्हारे ही साथ दीक्षा धारण करेंगे। भाई-बन्धुओंके इस कथनको वह टाल नहीं सकेगा और उस समय पुनः नगरमें वापस आ जावेगा। तदनन्तर भाई-बन्धु लोग उसे मोहमें

---

१ अरस्यते ल० (?)।

सुता सागरदत्तस्य पद्मावत्यां सुलक्षणा । पद्मश्रीरपरा श्रीर्वा कनकश्रीः शुभेक्षणा ॥४६॥
सुता कुबेरदत्तस्य जाता कनकमालया । वीक्ष्या विनयवत्याश्च या वैश्रवणदत्तजा ॥४७॥
विनयश्री रैदत्तस्य रूपश्रीश्च धनश्रियः । आभिः सागरदत्तादिपुत्रिकाभिर्यथाविधि ॥४८॥
सौधागारे निरस्तान्धकारे सन्मणिदीपिभिः । विचित्ररत्नसंचूर्णरङ्गवल्लीविभूषिते ॥४९॥
नानासुरभिपुष्पोपहाराढ्ये अगर्मतले । स्थास्यत्याप्तविवाहोऽयं पाणिग्रहणपूर्वकम् ॥५०॥
सुतो ममायं रागेण प्रेरितो विकृतिं भजन् । स्मितहासकटाक्षेक्षणादिमान् किं भवेन्न वा ॥५१॥
इत्यात्मानं तिरोधाय पश्यन्ती स्थास्यति स्निहा । माता तस्य तदैवैकः पापिष्ठः प्रथमांशकः ॥५२॥
सुरम्यविषये ख्यातपोदनाख्यपुरेशिनः । विद्युद्राजस्य सुविद्युत्प्रभो नाम [1]भटाग्रणीः ॥५३॥
तीक्ष्णो विमलवत्याश्च क्रुध्वा केनापि हेतुना । निजाग्रजाय निर्गत्य तस्मात्पञ्चशतैर्भटैः ॥५४॥
विद्युच्चोराह्वयं कृत्वा स्वस्य प्राप्य पुरीमिमाम् । जानन्नदृश्यदेहत्वकवाटोद्घाटनादिकम् ॥५५॥
चोरशास्त्रोपदेशेन तन्त्रमन्त्रविधानतः । अर्हद्दासगृहाभ्यन्तरस्थं चोरयितुं धनम् ॥५६॥
प्रविश्य नष्टनिद्रां तां जिनदासीं विलोक्य सः । निवेद्यात्मानमेवं किं विनिद्रासीति वक्ष्यति ॥५७॥
सूनुर्ममैक एवायं प्रातरेव तपोवनम् । अहं [2]गमीति संकल्प्य स्थितस्तेनास्मि शोकिनी ॥५८॥
धीमानसि यदीमं त्वं व्यावर्तयस्याग्रहात्ततः । उपायैरथ ते सर्वं धनं दास्याम्यभीप्सितम् ॥५९॥
इति वक्त्री भवेत्सापि सोऽपि संप्रतिपद्य तत् । एवं संपन्नभोगोऽपि किलैष विरिरंसति ॥६०॥

फँसानेके लिए सुखदायी बन्धन स्वरूप उसका विवाह करना प्रारम्भ करेंगे सो ठीक ही है क्योंकि भाई-बन्धु लोग कल्याणमें विघ्न करते ही हैं ॥४३-४५॥ इसी नगरमें सागरदत्त सेठकी पद्मावती स्त्रीसे उत्पन्न हुई उत्तम लक्षणोंवाली पद्मश्री नामकी कन्या है जोकि दूसरी लक्ष्मीके समान जान पड़ती है। इसी प्रकार कुबेरदत्त सेठकी कनकमाला स्त्रीसे उत्पन्न हुई शुभ नेत्रोंवाली कनकश्री नामकी कन्या है। इसके अतिरिक्त वैश्रवणदत्त सेठकी विनयवती स्त्रीसे उत्पन्न हुई देखनेके योग्य विनयश्री नामकी पुत्री है और इसके सिवाय धनदत्त सेठकी धनश्री स्त्रीसे उत्पन्न हुई रूपश्री नामकी कन्या है। इन चारों पुत्रियोंके साथ उसका विधिपूर्वक विवाह होगा। तदनन्तर पाणिग्रहण पूर्वक जिसका विवाह हुआ है ऐसा जम्बूकुमार, उत्तम मणिमय दीपकोंके द्वारा जिसका अन्धकार नष्ट हो गया है, जो नाना प्रकारके रत्नोंके चूर्णसे निर्मित रंगावलीसे सुशोभित है और अनेक प्रकारके सुगन्धित फूलोंके उपहारसे सहित है ऐसे महलके भीतर पृथिवी तलपर बैठेगा। 'मेरा यह पुत्र रागसे प्रेरित होकर विकार भावको प्राप्त होता हुआ मन्द मुसकान तथा कटाक्षावलोकन आदिसे युक्त होता है या नहीं' यह देखनेके लिए उसकी माता स्नेहवश अपने-आपको छिपाकर वहीं कहीं खड़ी होगी। उसी समय सुरम्य देशके प्रसिद्ध पोदनपुर नगरके स्वामी विद्युद्राजकी रानी विमलमतीसे उत्पन्न हुआ विद्युत्प्रभ नामक चोर आवेगा। वह विद्युत्प्रभ महापापी तथा नम्बर एकका चोर होगा, शूरवीरोंमें अग्रेसर तथा तीक्ष्ण प्रकृतिका होगा। वह किसी कारणवश अपने बड़े भाईसे कुपित होकर पाँच-सौ योद्धाओं-के साथ नगरसे निकलेगा और विद्युच्चोर नाम रखकर इस नगरीमें आवेगा। वह चोर शास्त्रके अनुसार तन्त्र-मन्त्रके विधानसे अदृश्य होकर किवाड़ खोलना आदि सब कार्योंका जानकार होगा और सेठ अर्हद्दासके घरके भीतर रखे हुए धनको चुरानेके लिए इसीके घर आवेगा। वहाँ जम्बूकुमारकी माताको निद्रारहित देखकर वह अपना परिचय देगा और कहेगा कि तू इतनी रात तक क्यों जाग रही है? ॥४६-५७॥ इसके उत्तरमें जिनदासी कहेगी कि 'मेरे यही एक पुत्र है और यह भी संकल्प कर बैठा है कि मैं सवेरे ही दीक्षा लेनेके लिए तपोवनको चला जाऊँगा' इसीलिए मुझे शोक हो रहा है। यदि तू बुद्धिमान् है और किन्हीं उपायोंसे इसे इस आग्रहसे छुड़ाता है—इसका दीक्षा लेनेका आग्रह दूर करता है तो आज मैं तुझे तेरा मनचाहा सब धन दे दूँगी। जिनदासीकी बात सुनकर विद्युच्चोरने यह कार्य करना स्वीकृत किया। तदनन्तर

१ तदग्रणीः ल० । गामीति ग०, घ०, म० ।

धिङ् मां धनमिहाहर्तुं प्रविष्टमिति निन्दनम् । स्वस्य कुर्वन् गताशङ्कः संप्राप्यानु तदन्तिकम् ॥६१॥
कन्यकानां कुमारं तं तासां मध्यमधिष्ठितम् । विजृम्भमाणसद्बुद्धिं पञ्जरस्थमिवाण्डजम् ॥६२॥
जाललग्नैणपोतं वा भद्रं वा कुंजराधिपम् । अपारकर्दमे मग्नं सिंहं वा लोहपंजरे ॥६३॥
निरुद्धं लब्धनिर्वेगं प्रत्यासन्नभवक्षयम् । विद्युच्चोरः समीक्ष्यैवं वक्तोष्ट्राख्यानकं सुधीः ॥६४॥
कुमारः श्रूयतां कश्चिदेकदा स्वेच्छया, चरन् । गिरेः क्रमेलकः स्वादु तृणं तुङ्गप्रदेशतः ॥६५॥
पतन्मधुरसोन्मिश्रमास्वाद्य सकृदुत्सुकः । तादृगेवाहरिष्यामीत्येतत्पातामिवाञ्छया ॥६६॥
तृणान्तरोपयोगादिपराङ्मुखतया स्थितः । मृतस्तथैव त्वं चैतान् भोगान् भोक्तुमुपस्थितान् ॥६७॥
अनिच्छन् स्वर्गभोगार्थी भविता रहितो धिया । इत्यैकागारिकप्रोक्तं तदाकर्ण्य वणिग्वरः ॥६८॥
प्रतिवक्ता स तं चोरं स्पष्टदृष्टान्तपूर्वकम् । नरः कश्चिन्महादाहज्वरेण परिपीडितः ॥६९॥
नदीसरस्तटाकादिपयः पीत्वा मुहुर्मुहुः । तथाप्यगततृष्णः किं तृणाग्रस्थाम्बुबिन्दुना ॥७०॥
तृप्तिं प्राप्नोत्यसौ वायं जीवो दिव्यसुखं चिरम् । भुक्त्वाऽप्रतृप्तः स्वप्नेऽपि गजकर्णास्थिरात्मना ॥७१॥
सुखेनासाधुनानेन कथं तृप्तिमवाप्नुयात् । इति तद्वाचमाकर्ण्य चोरोऽनुव्याहरिष्यति ॥७२॥
वने वनेचरश्चण्डः कृत्वाधारं महाद्रुमम् । गण्डान्ताकृष्टकोदण्डः काण्डेनाखण्डच वारणम् ॥७३॥
महीरुट्कोटरस्थेन संदष्टः फणिना स्वयम् । स चाहिं च गजं चाज्ञो गत्यन्तरमजीगमत् ॥७४॥
अथ सर्वान् मृतान् दृष्ट्वा [1]तान्क्रोष्टैकोऽतिलुब्धकः । तावदेतानहं नाद्मि स्नायुं मौर्वीद्वयाग्रगम् ॥७५॥

वह विचार करने लगा कि देखो यह जम्बूकुमार सब प्रकारकी भोग-सामग्री रहते हुए भी विरक्त होना चाहते हैं और मैं यहाँ धन चुरानेके लिए प्रविष्ट हुआ हूँ मुझे धिक्कार हो। इस प्रकार अपनी निन्दा करता हुआ वह विद्युच्चोर निःशंक होकर, कन्याओंके बीचमें बैठे हुए जीवन्धर कुमारके समीप पहुँचेगा। उस समय जिसे सद्बुद्धि उत्पन्न हुई है ऐसा जम्बूकुमार, उन कन्याओंके बीचमें बैठा हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो पिंजरेके भीतर बैठा हुआ पक्षी ही हो अथवा जालमें फँसा हुआ हरिणका बच्चा ही हो अथवा बहुत भारी कीचड़में फँसा हुआ उत्तम जातिवाला गजराज ही हो, अथवा लोहेके पिंजरेमें रुका हुआ सिंह ही हो। वह अत्यन्त विरक्त था और उसके संसार-भ्रमणका क्षय अत्यन्त निकट था। ऐसे उस जम्बूकुमार-को देखकर बुद्धिमान् विद्युच्चोर ऊँटकी कथा कहेगा ॥५८-६४॥ वह कहेगा कि हे कुमार! सुनिए, किसी समय कोई एक ऊँट स्वेच्छासे मीठे तृण चरता हुआ पहाड़के निकट जा पहुँचा। जहाँ वह चर रहा था वहाँकी घास ऊँचे स्थानसे पड़ते हुए मधुके रससे मिल जानेके कारण मीठी हो रही थी। उस ऊँटने एक बार वह मीठी घास खायी तो यही संकल्प कर लिया कि मैं ऐसी ही घास खाऊँगा। इस संकल्पसे वह मधुके पड़नेकी इच्छा करने लगा तथा दूसरी घासके उपभोग आदिसे विरक्त होकर वहीं बैठा रहा तदनन्तर भूखसे पीड़ित हो मर गया। इसी प्रकार हे कुमार! तू भी इन उपस्थित भोगोंकी उपेक्षा कर स्वर्गके भोगोंकी इच्छा करता है सो तू भी उसी ऊँटके समान बुद्धिसे रहित है। इस प्रकार विद्युच्चोरके द्वारा कही हुई ऊँटकी कथा सुनकर वैश्यशिरोमणि जम्बूकुमार एक स्पष्ट दृष्टान्त देता हुआ उस चोरको उत्तर देगा कि एक मनुष्य महादाह करनेवाले ज्वरसे पीड़ित था, उसने नदी, सरोवर तथा ताल आदिका जल बार-बार पिया था तो भी उसकी प्यास शान्त नहीं हुई थी सो क्या तृणके अग्रभागपर स्थित जलकी बूँदसे उसकी तृप्ति हो जावेगी? इसी प्रकार इस जीवने चिरकाल तक स्वर्गके सुख भोगे हैं फिर भी यह तृप्त नहीं हुआ सो क्या हाथीके कानके समान चंचल इस वर्तमान सुखसे यह तृप्त हो जायेगा? इस प्रकार जम्बूकुमारके वचन सुनकर विद्युच्चोर फिर कहेगा ॥६५-७२॥ कि किसी वनमें एक चण्ड नामका भील रहता था। उसने एक बड़े वृक्षको आधार बनाकर अर्थात् उसपर बैठकर गाल तक धनुष खींचा और एक हाथीको मार गिराया। इतनेमें ही उस वृक्षकी कोटरसे निकलकर एक साँपने उसे काट खाया। काटते ही उस अज्ञानी भीलने उस साँपको भी मार डाला। इस तरह हाथी और साँप दोनोंको मारकर वह स्वयं मर गया। तदनन्तर उन

१ क्रोष्टिकोऽतिलुब्धकः ल० ।

खादामीति कृतोद्योगस्तच्छेदमकरोद्द्रुधीः । सद्यश्चापाग्रनिर्भिन्नगलः सोऽपि वृथा मृतः ॥७६॥
ततोऽतिगृध्नुता त्याज्येत्यस्योक्तिविरतौ सुधीः । कुमारः स्मृतिमाधाय सूक्तं[1] प्रत्यभिधास्यति ॥७७॥
चतुर्मार्गसमायोगदेशमध्ये महाद्युतिम् । रत्नराशिं समभ्येत्य सुग्रहं पथिको विधीः ॥७८॥
तदानादाय केनापि हेतुना गतवान्पुनः । समादित्सुस्तमागत्य किं तद्देशं लभेत सः ॥७९॥
तथा दुष्प्रापमालोक्य गुणमाणिक्यसंचयम् । अस्वीकुर्वन् कथं पश्चात्प्राप्नुयाद्भववारिधौ ॥८०॥
तदुदीरितमेतस्य कृत्वा चित्ते परं स्फुटम् । वदिष्यति तदाख्यानमन्यदन्यायसूचनम् ॥८१॥
शृगालः कश्चिदास्यस्थं मांसपिण्डं विसृष्टवान् । संक्रीडमानमीनादानेच्छुर्निपतितोऽम्भसि ॥८२॥
तद्वेगवत्प्रवाहेण प्रेर्यमाणोऽगमन्मृतिम् । ततो मीनोऽपि दीर्घायुर्जलमध्ये स्थितः सुखम् ॥८३॥
एवं शृगालवल्लुब्धो मुग्धोऽन्योऽपि विनश्यति । इति तस्करमुख्योक्तिमाकर्ण्यानाकुलात्मकः ॥८४॥
प्रत्यासन्नविनेयत्वाद्ध्रुवः प्रतिभणिष्यति । निद्रालुको वणिक्कश्चिन्निद्रासुखविमोहितः ॥८५॥
सुप्तः परार्घ्यमाणिक्यगर्भकक्षपुटे निजे । चौरैरपहृतोऽनेन दुःखेनाभूतदुर्मृतिः ॥८६॥
विषयाल्पसुखेष्वेवं संसक्तो [2]रागचोरकैः । ज्ञानदर्शनचारित्ररत्नेष्वपहृतेष्वयम् ॥८७॥
जन्मी नश्यति निर्मूलमित्यतः स गदिष्यति । स्वमातुलानीदुर्वाक्यकोपात्काचिन्मुमूर्षुकाम् ॥८८॥
वृक्षमूले स्थितां वीक्ष्य सर्वाभरणभूषिताम् । अज्ञातोद्बन्धनोपायामाकुलाकुलचेतसम् ॥८९॥
[3]सुवर्णदारको नाम पापी मार्दङ्गिकस्तदा । तदाभरणमादित्सुर्मृदङ्गं स्वं तरोरधः ॥९०॥

सबको मरा देखकर एक अत्यन्त लोभी गीदड़ आया । वह सोचने लगा कि मैं पहले इन सबको नहीं खाकर धनुषकी डोरीके दोनों छोरपर लगी हुई ताँतको खाता हूँ । ऐसा विचार कर उस मूर्खने ताँतको काटा ही था कि उसी समय धनुषके अग्रभागसे उसका गला फट गया और वह व्यर्थ ही मर गया । इसलिए अधिक लोभ करना छोड़ देना चाहिए । इस प्रकार कहकर जब चोर चुप हो रहेगा तब बुद्धिमान् जम्बूकुमार विचार कर एक उत्तम बात कहेगा ॥७३-७७॥ कि कोई मूर्ख पथिक कहीं जा रहा था उसे चौराहेपर महा देदीप्यमान रत्नोंकी राशि मिली, उस समय वह उसे चाहता तो अनायास ही ले सकता था परन्तु किसी कारणवश उसे बिना लिये ही चला गया । फिर कुछ समय बाद उसे लेनेकी इच्छा करता हुआ उस चौराहेपर आया सो क्या वह उस रत्नराशिको पा सकेगा ? अर्थात् नहीं पा सकेगा । इसी प्रकार जो मनुष्य संसार-रूपी समुद्रमें दुर्लभ गुणरूपी मणियोंके समूहको पाकर भी उसे स्वीकृत नहीं करता है सो क्या वह उसे पीछे भी कभी पा सकेगा ? अर्थात् नहीं पा सकेगा ॥७८-८०॥ जम्बूकुमारके द्वारा कही हुई बातको हृदयमें रखकर विद्युच्चोर अन्यायको सूचित करनेवाली एक दूसरी कथा कहेगा ॥८१॥ वह कहेगा कि एक शृगाल मुखमें मांसका टुकड़ा दबाकर पानीमें जा रहा था वहाँ क्रीड़ा करती हुई मछलीको पकड़नेकी इच्छासे उसने वह मांसका टुकड़ा छोड़ दिया और पानी-में कूद पड़ा । पानीके प्रवाहका वेग अधिक था अतः वह उसीमें बहकर मर गया उसके मरनेके बाद दीर्घायु मछली पानीमें सुखसे रहने लगी । इसी प्रकार जो मूर्ख, शृगालके समान लोभी होता है वह अवश्य ही नष्ट होता है । इस तरह विद्युच्चोरकी बात सुनकर निकट भव्य होनेके कारण जिसे कुछ भी आकुलता नहीं हुई है ऐसा जम्बूकुमार कहेगा कि निद्रालु प्रकृतिका एक वैश्य नींदके सुखसे विमोहित होकर सो गया और चोरोंने उसके घरमें घुसकर सब बहुमूल्य रत्न चुरा लिये । इसी दुःखसे वह मर गया । इसी प्रकार यह जीव विषयजन्य थोड़े-से सुखोंमें आसक्त हो रहा है और रागरूपी चोर इसके ज्ञान-दर्शन तथा चारित्ररूपी रत्न चुरा रहे हैं । इन रत्नोंकी चोरी होनेपर यह जीव निर्मूल नष्ट हो जाता है । इसके उत्तरमें वह चोर कहेगा कि कोई स्त्री सासके दुर्वचन सुनकर क्रोधित हुई और मारनेकी इच्छासे किसी वृक्षके नीचे जा बैठी । वह सब आभूषणोंसे सुशोभित थी परन्तु फाँसी लगाना नहीं जानती थी इसलिए उसका चित्त बड़ा ही व्याकुल हो रहा था ॥८२-८९॥ उसी समय सुवर्णदारक नामका मृदंग बजानेवाला

---

१ प्रत्यभ्यधास्यति (?) ल० । २ रोग-ल० । ३ सुवर्णदारुक इति क्वचित् ।

स्थापयित्वा समारुह्य स्वगलोद्बद्धरज्जुकः । उद्बन्धनक्रमं तस्या दर्शयन् मृत्युचोदितः ॥९१॥
मृदङ्गे पतिते भूमौ सद्यः केनापि हेतुना । रज्जुपाताविलीभूतकण्ठः प्रोद्वृत्तलोचनः ॥९२॥
प्रापत्प्रेताधिवासं तद्वीक्ष्यासौ दुर्मृतेर्भयात् । आयाद्गृहमतस्तद्वल्लोभो हेयो महाँस्त्वया ॥९३॥
इत्यस्य सोऽपि वाग्जालमसोढोदाहरिष्यति । किल धूर्तविटं वीक्ष्य ललिताङ्गाभिधानकम् ॥९४॥
कस्यचित्सा महादेवी जाता मदनविह्वला । तद्विदानयनोपायनिरन्तरनियुक्तया ॥९५॥
तद्धात्र्या गुप्तमानीतः [1]पथिकोऽन्तः प्रवेशितः । सह तेन महादेवी रममाणा यथेप्सितम् ॥९६॥
अहोभिर्बहुभिर्ज्ञाता शुद्धैः शुद्धान्तरक्षिभिः । तन्मुखात्तद्दुराचारे राज्ञापि विदिते सति ॥९७॥
जारापनयनोपायमाज्ञप्ताः [2]परिचारिकाः । अवस्करगृहं नीत्वा सा तं तत्राक्षिपन्खलम् ॥९८॥
स दुर्गन्धेन तज्जन्तुमिश्रं [3]दुःखमवाप्नुवन् । अत्रैव नरकावासमासवान् पापपाकतः ॥९९॥
तद्वदल्पसुखस्याभिलाषिणो नरकादिषु । भवन्ति दुस्तरापारघोरदुःखा गतिष्विति ॥१००॥
पुनः कुमार एवैकं प्रपञ्चाद्गदिता स तम् । येन संसारनिर्वेगो जायते सहसा [4]सताम् ॥१०१॥
भ्राम्यन्संसारकान्तारे मृत्युमत्तद्विपेषिणा । रुषा जिघांसुना जन्तुरनुयातोऽतिभीलुकः ॥१०२॥
पलायमानो मानुष्यभूरुहान्तर्हितात्मकः । तन्मूले कुलगोत्रादिनानावल्लीसमाकुले ॥१०३॥
जन्मकूपे पतित्वायुर्वल्लीलग्नशरीरकः । सितासितादिनानेकमूषकोच्छेद्यतल्लकः ॥१०४॥
नरकव्यात्तवक्त्रोरुसर्पसप्तकसंनिधिः [5] । तद्भूजेष्टार्थसूनोत्थसौख्यक्षौद्ररसोत्सुकः ॥१०५॥

पापी मृत्युसे प्रेरित हो वहाँसे आ निकला। वह उस स्त्रीके आभूषण लेना चाहता था इसलिए वृक्षके नीचे अपना मृदंग रखकर तथा उसपर चढ़कर अपने गलेमें फाँसीकी रस्सी बाँध उसे मरनेकी रीति दिखलाने लगा। उसने अपने गलेमें रस्सी बाँधी ही थी कि किसी कारणसे नीचेका मृदंग जमीनपर लुढ़क गया। फाँसी लग जानेसे उसका गला फँस गया और आँखें निकल आयीं। इस प्रकार वह मरकर यमराजके घर गया। उसका मरण देख वह स्त्री उस दुःखदायी मरणसे डर गयी और अपने घर वापस आ गयी। कहनेका अभिप्राय यह है कि आपको उस मृदंग बजानेवालेके समान बहुत भारी लोभ नहीं करना चाहिए ॥९०-९३॥ इस प्रकार उस चोरका वाग्जाल जम्बूकुमार सहन नहीं कर सकेगा अतः उत्तरमें दूसरी कथा कहेगा। वह कहेगा कि ललितांग नामके किसी धूर्त व्यभिचारी मनुष्यको देखकर किसी राजाकी रानी कामसे विह्वल हो गयी। उसने किसी भी उपायसे उस पथिकको लानेके लिए एक धाय नियुक्त की और धाय भी उसे गुप्त रूपसे महलके भीतर ले गयी। महारानी उसके साथ इच्छानुसार रमण करने लगी। बहुत समय बाद अन्तःपुरकी रक्षा करनेवाले शुद्ध खोजा लोगोंने रानीकी यह बात जान ली और उनके कहनेसे राजाको भी रानीके इस दुराचारका पता लग गया ॥९४-९७॥ राजाने इस दुराचारकी बात जानकर किसी भी उपायसे उस जारको पकड़नेके लिए सेवकोंको आज्ञा दी। यह जानकर रानीने उसे टट्टीमें ले जाकर छिपा दिया। वहाँकी दुर्गन्ध और कीड़ोंसे वह वहाँ बहुत दुःखी हुआ तथा पाप कर्मके उदयसे इसी जन्ममें नरकवासके दुःख भोगने लगा ॥९८-९९॥ इसी प्रकार थोड़े सुखकी इच्छा करनेवाले पुरुष नरकमें पड़ते हैं और वहाँके दुस्तर, अपार तथा भयंकर दुःख उठाते हैं ॥१००॥ इसके बाद भी वह एक ऐसी कथा और कहेगा जिसके द्वारा सत्पुरुषोंको संसारसे शीघ्र ही निर्वेग हो जाता है ॥१०१॥ वह कहेगा कि एक जीव संसाररूपी वनमें घूम रहा था। एक मदोन्मत्त हाथी क्रोधवश उसे मारनेकी इच्छासे उसके पीछे-पीछे दौड़ा। वह जीव भयसे भागता-भागता मनुष्यरूपी वृक्षकी आड़में छिप गया। उस वृक्षके नीचे कुल, गोत्र आदि नाना प्रकारकी लताओंसे भरा हुआ एक जन्मरूपी कुआँ था। वह जीव उस जन्मरूपी कुएँमें गिर पड़ा परन्तु आयुरूपी लतामें उसका शरीर उलझ गया जिससे नीचे नहीं जा सका। वह आयुरूपी लताको शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षके दिनरूपी अनेक चूहे कुतर रहे थे। सातों नरकरूपी सर्प ऊपरकी ओर मुँह खोले उसके गिरनेकी प्रतीक्षा

---

१ पथिकान्तःप्रवेशिता ल० (?)। २ परिचायकाः ल०। ३ -मवाप्नुयात् ग०। ४ सताम् ल०। ५ सन्निधिम् ल०।

तद्ग्रहोत्थापितात्युग्रव्यापन्माक्षिकभक्षितः । तत्संसेवां सुखं मत्वा कष्टं सर्वोऽपि जीवति ॥१०६॥
विधीर्विषयसंसक्तो धीमानपि कथं तथा । वर्तते त्यक्तसंगः सन्नकुर्वन्दुर्वहं तपः ॥१०७॥
इत्याकर्ण्य वचस्तस्य माता कन्याश्च तस्कराः । तनुसंसारभोगेषु यातारोऽतिविरागताम् ॥१०८॥
तदा तमः समाधूय भासमानो दिवाकरः । योजयन् प्रियया कोकं कुमारमिव दीक्षया ॥१०९॥
करैर्निजैः कुमारस्य मनो वास्पृश्य रञ्जयन् । उद्यमस्तपसीवोच्चैः शिखरेऽद्रेरुदेष्यति ॥११०॥
सर्वसंतापकृत्तीक्ष्णकरः क्रूरोऽनवस्थितः । रविः कुवलयध्वंसी भजिता कुनृपोपमाम् ॥१११॥
नित्योदयो बुधाधीशो विशुद्धाखण्डमण्डलः । पद्माह्लादी प्रवृद्धोष्मा सुराजानं स जेष्यति ॥११२॥
ज्ञात्वा संसारवैमुख्यं कुमारस्यास्य बान्धवाः । तदा कुणिमहाराजः श्रेणयोऽष्टादशापि च ॥११३॥
सहानावृतदेवेन परिनिष्क्रमणं प्रति । अभिषेकं करिष्यन्ति संगता मङ्गलैर्जलैः ॥११४॥
तत्कालोचितवेषोऽसौ शिबिकां देवनिर्मिताम् । आरुह्य भूतिभूत्योच्चैर्विपुलाचलमस्तके ॥११५॥

कर रहे थे । उसी वृक्षपर पुत्रादिक इष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ सुखरूपी मधुका रस टपक रहा था जिसे खानेके लिए वह बड़ा उत्सुक हो रहा था । उस मधु रसके चाटनेसे उड़ी हुई भयंकर आपत्तिरूपी मधुकी मक्खियाँ उसे काट रही थीं परन्तु वह जीव मधु-बिन्दुओंके उस सेवनको सुख मान रहा था । इसी प्रकार संसारके समस्त प्राणी बड़े कष्टसे जीवन बिता रहे हैं । जो मूर्ख हैं वे भले ही विषयोंमें आसक्त हो जायें परन्तु जो बुद्धिमान हैं वे क्यों ऐसी प्रवृत्ति करते हैं ? उन्हें तो सब परिग्रहका त्याग कर कठिन तपश्चरण करना चाहिए ॥१०२-१०७॥ जंबूकुमारकी यह बात सुनकर उसकी माता, वे कन्याएँ, और वह चोर सब, संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त होंगे ॥१०८॥ तदनन्तर चकवाको चकवीके समान कुमारको दीक्षाके साथ मिलाता हुआ अपनी किरणोंसे कुमारके मनको स्पर्श कर प्रसन्न करता हुआ, तपश्चरणके लिए श्रेष्ठ उद्यमके समान सब अन्धकारको नष्ट कर उदयाचलके शिखरपर सूर्य उदित होगा ॥१०९-११०॥ उस समय वह सूर्य किसी अन्यायी राजाकी उपमा धारण करेगा क्योंकि जिस प्रकार अन्यायी राजा सर्व सन्तापकृत् होता है उसी प्रकार वह सूर्य भी सबको सन्ताप करनेवाला था, जिस प्रकार अन्यायी राजा तीक्ष्णकर होता है अर्थात् कठोर टैक्स लगाता है उसी प्रकार वह सूर्य भी तीक्ष्णकर था अर्थात् उष्ण किरणोंका धारक था, जिस प्रकार अन्यायी राजा क्रूर अर्थात् निर्दय होता है उसी प्रकार वह सूर्य भी क्रूर अर्थात् अत्यन्त उष्ण था, जिस प्रकार अन्यायी राजा अनवस्थित रहता है—एक समान नहीं रहता है—कभी सन्तुष्ट रहता है और कभी असन्तुष्ट रहता है उसी प्रकार वह सूर्य भी अनवस्थित था—एक जगह स्थिर नहीं रहता था और जिस प्रकार अन्यायी राजा कुवलयध्वंसी होता है अर्थात् पृथ्वी मण्डलको नष्ट कर देता है उसी प्रकार वह सूर्य भी कुवलयध्वंसी था अर्थात् नीलकमलोंको नष्ट करनेवाला था ॥१११॥ अथवा वह सूर्य किसी उत्तम राजाको जीतनेवाला होगा क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजाका नित्योदय होता है अर्थात् उसका अभ्युदय निरन्तर बढ़ता रहता है उसी प्रकार वह सूर्य भी नित्योदय होता है अर्थात् प्रतिदिन उसका उदय होता रहता है । जिस प्रकार उत्तम राजा बुधाधीश होता है अर्थात् विद्वानोंका स्वामी होता है उसी प्रकार वह सूर्य भी बुधाधीश था अर्थात् बुधग्रहका स्वामी था । जिस प्रकार उत्तम राजाका मण्डल अर्थात् देश विशुद्ध-शत्रुरहित और अखण्ड होता है उसी प्रकार सूर्यका मण्डल भी अर्थात् बिम्ब भी विशुद्ध और अखण्ड था, जिस प्रकार उत्तम राजा पद्माह्लादी होता है अर्थात् लक्ष्मीसे प्रसन्न रहता है उसी प्रकार सूर्य भी पद्माह्लादी था अर्थात् कमलोंको विकसित करनेवाला था और जिस प्रकार उत्तम राजा प्रवृद्धोष्मा होता है अर्थात् बढ़ते हुए अहंकारको धारण करता है उसी प्रकार वह सूर्य भी प्रवृद्धोष्मा था अर्थात् उसकी गरमी निरन्तर बढ़ती जाती थी ॥११२॥ जम्बूकुमार संसारसे विमुख—विरक्त हुआ है यह जानकर उसके भाई-बन्धु, कुणिक राजा, उसकी अठारह प्रकारकी सेनाएँ और अनावृत देव आवेंगे तथा सब लोग मांगलिक जलसे उसका दीक्षा-कल्याणकका अभिषेक करेंगे ॥११३-११४॥ उस समयके योग्य वेषभूषा धारण कर वह कुमार देवनिर्मित पालकीपर सवार होकर बड़े वैभवके साथ विपुलाचल

मां निविष्टं समभ्येत्य महामुनिनिषेवितम् । भक्त्या प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्य यथाविधि ॥११६॥
वर्णत्रयसमुद्भूतैर्विनेयैर्बहुभिः समम् । विद्युच्चोरेण तत्पञ्चशतभृत्यैश्च संयमम् ॥११७॥
सुधर्मगणभृत्पार्श्वे समचित्तो ग्रहीष्यति । कैवल्यं द्वादशाब्दान्ते मय्यन्त्यां गोतमाह्वये ॥११८॥
सुधर्मा केवली जम्बूनामा च श्रुतकेवली । भूत्वा पुनस्ततो द्वादशाब्दान्ते निर्वृतिं गते ॥११९॥
सुधर्मण्यन्तिमं ज्ञानं जम्बूनाम्नो भविष्यति । तस्य शिष्यो भवो नाम चत्वारिंशत्समा महान् ॥१२०॥
इह धर्मोपदेशेन धरित्र्यां विहरिष्यति । इत्यवादीत्तदाकर्ण्य स्थितस्तस्मिन्ननावृतः ॥१२१॥
देवो मदीयवंशस्य माहात्म्यमिदमद्भुतम् । अन्यत्रादृष्टमित्युच्चैरकृतानन्दनाटकम् ॥१२२॥
कस्मादनेन बन्धुत्वमस्येति श्रेणिकोऽभ्यधात् । गौतमं विनयात्सोऽपि व्यगदत्तदतिस्फुटम् ॥१२३॥
जम्बूनाम्नोऽन्वये पूर्वं धर्मप्रियवणिक्पतेः । गुणदेव्याश्च नाम्नार्हद्दासः पुत्रोऽजनिष्ट सः ॥१२४॥
धनयौवनदर्पेण शिक्षामगणयन् पितुः । निरंकुशोऽभवत्सप्तव्यसनेषु विभेदवान् ॥१२५॥
स दुश्चेष्टितदौर्गत्यात्पश्चात्तापानुशयो मया । न श्रुता मत्पितुः शिक्षेत्यभवच्छमभावनः ॥१२६॥
किंचित्पुण्यं समावर्ज्य व्यन्तरत्वमुपागतः । आददेऽनावृताख्योऽयं तत्र सम्यक्त्वसंपदम् ॥१२७॥
इति तद्वचनप्रान्ते गौतमं मगधाधिपः । अन्वयुङ्क्तागतः कस्मात्किं पुण्यं कृतवानयम् ॥१२८॥
विद्युन्माली भवेऽतीते प्रभाऽस्यान्तेऽप्यनाहता । इत्यनुग्रहबुद्ध्यैव भगवानेवमब्रवीत् ॥१२९॥
अस्मिन्विदेहे पूर्वस्मिन् वीतशोकाह्वयं पुरम् । विषये पुष्कलावत्यां महापद्मोऽस्य पालकः ॥१३०॥
वनमालास्य देव्यस्याः सुतः शिवकुमारकः । नवयौवनसंपन्नः सवयोभिः समं वने ॥१३१॥

के शिखरपर पहुँचेगा। वहाँ विराजमान देखकर वह मेरे ही पास आवेगा। उस समय बड़े-बड़े मुनि हमारी सेवा कर रहे होंगे। वह आकर बड़ी भक्तिसे प्रदक्षिणा देगा और विधिपूर्वक नमस्कार करेगा ॥११५-११६॥ तदनन्तर शान्त चित्तको धारण करनेवाला वह जम्बूकुमार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंमें उत्पन्न हुए अनेक लोगोंके साथ तथा विद्युच्चर चोर और उसके पाँच सौ भृत्योंके साथ सुधर्माचार्य गणधरके समीप संयम धारण करेगा। जब केवलज्ञानके बारह वर्ष बाद मुझे निर्वाण प्राप्त होगा तब सुधर्माचार्य केवली और जम्बूकुमार श्रुतकेवली होंगे। उसके बारह वर्ष बाद जब सुधर्माचार्य मोक्ष चले जावेंगे तब जम्बूकुमारको केवलज्ञान होगा। जम्बूस्वामीका भव नामका एक शिष्य होगा, उसके साथ चालीस वर्ष तक धर्मोपदेश देते हुए जम्बूस्वामी पृथ्वीपर विहार करेंगे। इस प्रकार गौतम स्वामीने जम्बूस्वामीकी कथा कही। उसे सुनकर वहींपर बैठा हुआ अनावृत नामका यक्ष कहने लगा कि मेरे वंशका यह ऐसा अद्भुत माहात्म्य है कि कहीं दूसरी जगह देखनेमें भी नहीं आता। ऐसा कहकर उसने आनन्द नामका उत्कृष्ट नाटक किया ॥११७-१२२॥

यह देख, राजा श्रेणिकने बड़ी विनयके साथ गौतम गणधरसे पूछा कि इस अनावृत देवका जम्बूस्वामीके साथ भाईपना कैसे है? इसके उत्तरमें गणधर भगवान् स्पष्ट रूपसे कहने लगे ॥१२३॥ कि जम्बूकुमारके वंशमें पहले धर्मप्रिय नामका एक सेठ था। उसकी गुणदेवी नामकी स्त्रीसे एक अर्हद्दास नामक पुत्र हुआ था ॥१२४॥ धन और यौवनके अभिमानसे वह पिताकी शिक्षाको कुछ नहीं गिनता हुआ कर्मोदयसे सातों व्यसनोंमें स्वच्छन्द हो गया था। इन खोटी चेष्टाओंके कारण जब उसकी दुर्गति होने लगी तब उसे पश्चात्ताप हुआ और 'मैंने पिताकी शिक्षा नहीं सुनी' यह विचार करते हुए उसकी भावना कुछ शान्त हो गयी ॥१२५-१२६॥ तदनन्तर कुछ पुण्यका संचय कर वह अनावृत नामका व्यन्तर देव हुआ है। इसी पर्यायमें इसने सम्यग्दर्शन धारण किया है ॥१२७॥ इस प्रकार जब गौतम स्वामी कह चुके तब राजा श्रेणिकने पुनः उनसे दूसरा प्रश्न किया। उसने पूछा कि हे भगवन्! यह विद्युन्माली कहाँसे आया है? और इसने पूर्वभवमें कौन-सा पुण्य किया है क्योंकि अन्तिम दिनमें भी इसकी प्रभा कम नहीं हुई है। इसके उत्तरमें गणधर भगवान् अनुग्रहकी बुद्धिसे इस प्रकार कहने लगे ॥१२८-१२९॥ इसी जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें पुष्कलावती देशके अन्तर्गत एक वीतशोक नामका नगर है। वहाँ महापद्म नामका राजा राज्य करता था। उसकी रानीका

विहृत्य पुनरागच्छन्संभ्रमेण समन्ततः । गन्धपुष्पादिमाङ्गल्यद्रव्यसद्धरिजस्यया ॥१३२॥
जनानाव्रजतो दृष्ट्वा किमेतदिति विस्मयात् । तनूजं पृच्छति स्मासौ बुद्धिसागरमन्त्रिणः ॥१३३॥
कुमार शृणु वक्ष्यामि मुनीन्द्रः श्रुतकेवली । ख्यातः सागरदत्ताख्यस्तपसा दीप्तसंज्ञया ॥१३४॥
असौ मासोपवासान्ते पारणार्थं प्रविष्टवान् । पुरं सामसमृद्धाख्यः श्रेष्ठी तस्मै यथाविधि ॥१३५॥
दत्त्वा विश्वणनं भक्त्या प्रापदाश्चर्यपञ्चकम् । मुनिं मनोहरोद्यानवासिनं तं सकौतुकः ॥१३६॥
संपूज्य वन्दितुं यान्ति पौराः परमभक्तितः । इत्याख्यत्सोऽपि तच्छ्रुत्वा पुनरप्यन्वयुङ्क्त सः ॥१३७॥
कथं सागरदत्ताख्यां [1]विविधर्द्धीस्तपःश्रुतीः । प्रापदित्यब्रवीन्मन्त्रिसुतोऽप्यनु यथाश्रुतम् ॥१३८॥
विषये पुष्कलावत्यां नगरी पुण्डरीकिणी । वज्रदन्तः पतिस्तस्याश्चक्रेणाक्रान्तभूतलः ॥१३९॥
देवी यशोधरा तस्य गर्भिणी जातदोहदा । महाविभूत्या गत्वासौ सीतासागरसंगमे ॥१४०॥
महाद्वारेण संप्राप्य जलधिं जलजानना । जलकेलीविधौ पुत्रमलब्धाभ्यर्णनिर्वृतिम् ॥१४१॥
तस्मात्सागरदत्ताख्यामस्याकुर्वन्सनाभयः । अथ यौवनसंप्राप्तौ स कदाचन नाटकम् ॥१४२॥
सार्धं स्वपरिवारेण पश्यन् हर्म्यतले स्थितः । चेटकेनानुकूलाख्यनामधेयेन भाषितः ॥१४३॥
कुमार मन्दराकारस्तिष्ठत्येष पयोधरः । पश्याश्चर्यमिति प्रीत्या प्रोन्मुखो लोचनप्रियम् ॥१४४॥
तं निरीक्षितुमैक्षिष्ट नष्टस्तत्काल एव सः । जलदस्तद्विचिन्त्यैवं यौवनं विभवो वपुः ॥१४५॥

नाम वनमाला था। उन दोनोंके शिवकुमार नामका पुत्र हुआ था। नवयौवनसे सम्पन्न होनेपर किसी दिन वह अपने साथियोंके साथ क्रीड़ा करनेके लिए वनमें गया था। वहाँ क्रीड़ा कर जब वह वापस आ रहा था तब उसने सब ओर बड़े सम्भ्रमके साथ सुगन्धित पुष्प आदि मंगलमय पूजाकी सामग्री लेकर आते हुए बहुत-से आदमी देखे। उन्हें देखकर उसने बड़े आश्चर्यके साथ बुद्धिसागर नामक मन्त्रीके पुत्रसे पूछा कि 'यह क्या है?' ॥१३०-१३३॥ इसके उत्तरमें मन्त्रीका पुत्र कहने लगा कि 'हे कुमार! सुनिए, मैं कहता हूँ, दीप्त नामक तपश्चरणसे प्रसिद्ध सागरदत्त नामक एक श्रुतकेवली मुनिराज हैं। उन्होंने एक मासका उपवास किया था, उसके बाद पारणाके लिए आज उन्होंने नगरमें प्रवेश किया था। वहाँ सामसमृद्ध नामक सेठने उन्हें विधिपूर्वक भक्तिसे आहार दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये हैं। वे ही मुनिराज इस समय मनोहर नामक उद्यानमें ठहरे हुए हैं, कौतुकसे भरे हुए नगरवासी लोग बड़ी भक्तिसे उन्हींकी पूजा-वन्दना करनेके लिए जा रहे हैं'। इस प्रकार मन्त्रीके पुत्रने कहा। यह सुनकर राजकुमारने फिर पूछा कि, इन मुनिराजने सागरदत्त नाम, अनेक ऋद्धियाँ, तपश्चरण और शास्त्रज्ञान किस कारण प्राप्त किया है? इसके उत्तरमें मन्त्री-पुत्रने भी जैसा सुन रखा था वैसा कहना शुरू किया। वह कहने लगा कि पुष्कलावती देशमें पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है। उसके स्वामीका नाम वज्रदन्त था। वह वज्रदन्त चक्रवर्ती था इसलिए उसने चक्ररत्नसे समस्त पृथिवी अपने अधीन कर ली थी ॥१३४-१३९॥ जब उसकी यशोधरा रानी गर्भिणी हुई तब उसे दोहला उत्पन्न हुआ और उसी दोहलेके अनुसार वह कमलमुखी बड़े वैभवके साथ जहाँ सीतानदी समुद्रमें मिलती है उसी महाद्वारसे जलक्रीड़ा करनेके लिए समुद्रमें गयी। वहीं उसने निकट कालमें मोक्ष प्राप्त करनेवाला पुत्र प्राप्त किया। चूँकि उस पुत्रका जन्म सागर-समुद्रमें हुआ था इसलिए परिवारके लोगोंने उसका सागरदत्त नाम रख लिया। तदनन्तर यौवन अवस्था प्राप्त होनेपर किसी दिन वह सागरदत्त महलकी छतपर बैठा हुआ अपने परिवारके लोगोंके साथ नाटक देख रहा था, उसी समय अनुकूल नामक एक सेवकने कहा कि हे कुमार! यह आश्चर्य देखो, यह बादल मन्दरगिरिके आकारसे कैसा सुन्दर बना हुआ है? यह सुनकर प्रीतिसे भरा राजकुमार ज्योंही ऊपरकी ओर मुँह कर उस नयनाभिराम दृश्यको देखनेके लिए उद्यत हुआ त्योंही वह बादल नष्ट हो गया। उसे नष्ट हुआ देखकर कुमार विचार करने लगा कि जिस प्रकार यह बादल नष्ट हो गया है उसी प्रकार

---

१. विविधर्द्धीस्तपःश्रुती ग०। विविधर्द्धीश्वरो श्रुती ल०। विविधर्द्धीश्च स श्रुतीः इति क्वचित्।

[1]आयुरन्यच्च विध्वंसि यथार्थं स्वजनयिस्तुकः । इति संसारनिर्वेगयोगभाक्समजायत ॥१४६॥
स्वपित्रा सममन्येद्युः संप्राप्यामृतसागरम्[2] । स्थितं मनोहरोद्याने धर्मतीर्थस्य नायकम् ॥१४७॥
श्रुत्वा धर्मं तदभ्यर्णे निर्णीतसकलस्थितिः । संयमं बहुभिः सार्धं कृतबन्धुविसर्जनः ॥१४८॥
प्रतिगृह्य मनःपर्ययादिं प्राप्यर्द्धिसंपदम् । देशान् विहृत्य सद्धर्मदेशनेह समागतः ॥१४९॥
इति तच्छ्रवणात्सद्यः प्रतिचेताः स्वयं च सः । गत्वा मुनीश्वरं स्तुत्वा पीत्वा धर्मामृतं ततः ॥१५०॥
भवन्तं भगवन्दृष्ट्वा स्नेहो मे समभून्महान् । हेतुना केन वक्तव्यमित्यपृच्छत्स चाब्रवीत् ॥१५१॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते क्षेत्रे विषये मगधाह्वये । वृद्धग्रामे सुतौ जातौ रेवत्यां नरजन्मनः ॥१५२॥
ज्येष्ठोऽत्र राष्ट्रकूटस्य[3] भगदत्तस्ततः परः । भवदेवस्तयोर्ज्यायान् संयमं प्रत्यपद्यत ॥१५३॥
सुस्थिताख्यगुरुं प्राप्य तेनामा विनयान्वितः । नानादेशान् विहृत्यायात् स्वजन्मग्राममेव सः ॥१५४॥
तदा तद्बान्धवाः सर्वे समागत्य ससंमदाः । मुनिं प्रदक्षिणीकृत्य संपूज्यानन्तुमुद्यताः ॥१५५॥
ग्रामे दुर्मर्षणो नाम तस्मिन्नेव गृहाधिपः । तस्य नागवसुर्भार्या नागश्रीरनयोः सुता ॥१५६॥
ताभ्यां सा भवदेवाय प्रादायि विधिपूर्वकम् । अग्रजागमनं श्रुत्वा सद्यः संजातसंमदः ॥१५७॥
भवदेवोऽप्युपागत्य भगदत्तमुनीश्वरम् । विनयात्प्रणम्यास्त तत्कृताश्वासनाङ्कितः ॥१५८॥
आख्याय धर्मयाथात्म्यं वैरूप्यमपि संसृतेः । गृहीतपाणिरेकान्ते संयमो गृह्यतां त्वया ॥१५९॥
इत्याह तं मुनिः सोऽपि प्रत्यवादीदिदं वचः । नागश्रीमोक्षणं कृत्वा कर्तास्मि भवतोदितम् ॥१६०॥
इति तन्मुनिराकर्ण्य जगादाज्ञमने जनः । भार्यादिपाशसंबद्धः करोत्यात्महितं कथम् ॥१६१॥

यह यौवन, धन-सम्पदा, शरीर, आयु और अन्य सभी कुछ नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसा विचार-कर वह संसारसे विरक्त हो गया ॥१४०-१४६॥ दूसरे दिन ही वह मनोहर नामके उद्यानमें स्थित अमृतसागर नामक तीर्थंकरके समीप पहुँचा, वहाँ उसने धर्मका स्वरूप सुना। समस्त पदार्थोंकी स्थितिका निर्णय किया और भाई-बन्धुओंको विदाकर अनेक लोगोंके साथ संयम धारण कर लिया। तदनन्तर मनःपर्यय आदि अनेक ऋद्धियों रूप सम्पदा पाकर धर्मोपदेश देते हुए सब देशोंमें विहार कर वे ही सागरदत्त मुनिराज यहाँ पधारे हैं ॥१४७-१४९॥ इस प्रकार मन्त्रि-पुत्रके वचन सुनकर वह राजकुमार—शिवकुमार बहुत ही प्रसन्न हुआ, उसने शीघ्र ही स्वयं मुनिराजके पास जाकर उनकी स्तुति की, धर्मरूपी अमृतका पान किया और तदनन्तर बड़ी विनयसे पूछा कि हे स्वामिन् ! आपको देखकर मुझे बड़ा भारी स्नेह उत्पन्न हुआ है इसका क्या कारण है ? आप कहिए। इसके उत्तरमें मुनिराज कहने लगे कि—॥१५०-१५१॥

इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी मगधदेशमें एक वृद्ध नामका ग्राम था। उसमें राष्ट्रकूट नामका वैश्य रहता था। उसकी रेवती नामक स्त्रीसे दो पुत्र हुए थे। एक भगदत्त और दूसरा भवदेव। उनमें बड़े पुत्र भगदत्तने सुस्थित नामक मुनिराजके पास जाकर दीक्षा धारण कर ली। तदनन्तर उन्हीं गुरुके साथ बड़ी विनयसे अनेक देशोंमें विहारकर वह अपनी जन्मभूमिमें आया ॥१५२-१५४॥ उस समय उनके सब भाई-बन्धु बड़े हर्षसे उनके पास आये और उन मुनिकी प्रदक्षिणा तथा पूजा कर उन्हें नमस्कार करनेके लिए उद्यत हुए ॥१५५॥ उसी नगरमें एक दुर्मर्षण नामका गृहस्थ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम नागवसु था। उन दोनोंके नागश्री नामकी पुत्री उत्पन्न हुई थी। उन दोनोंने अपनी पुत्री, भगदत्त मुनिराजके छोटे भाई भवदेवके लिए विधिपूर्वक प्रदान की थी। बड़े भाईका आगमन सुनकर भवदेव बहुत ही हर्षित हुआ। वह भी उनके समीप गया और विनयके साथ बार-बार प्रणाम कर वहीं बैठ गया। उस समय मुनिराजके उपदेशसे उसके परिणाम बहुत ही आर्द्र हो रहे थे ॥१५६-१५८॥ धर्मका यथार्थ स्वरूप और संसारकी विरूपता बतलाकर मुनिराज भगदत्तने अपने छोटे भाई भवदेवका हाथ पकड़कर एकान्तमें कहा कि तू संयम ग्रहण कर ले ॥१५९॥ इसके उत्तरमें भवदेवने कहा कि मैं नागश्रीसे छुट्टी लेकर आपका कहा करूँगा ॥१६०॥ यह सुनकर मुनिराजने कहा कि इस संसारमें स्त्री आदिकी पाशमें फँसा हुआ यह

---

१ अन्यैरन्यच्च ल० । २ मितसागरमिति क्वचित् । ३ कूटाख्याद् म० ।

त्यज तन्मोहमित्येनं भवदेवोऽप्यनुत्तरः । मतिं ज्येष्ठानुरोधेन व्यधाद्दीक्षाविधौ च सः ॥१६२॥
नीत्वा स्वगुरुसामीप्यं भगदत्तो भवच्छिदे । दीक्षामग्राहयन्मोक्षीं सतां [1]सोदर्यमीदृशम् ॥१६३॥
स द्रव्यसंयमी भूत्वा [2]विधीर्द्वादशवत्सरान् । विहृत्य गुरुभिः सार्धमन्येद्युरसहायकः ॥१६४॥
वृद्धग्रामं निजं गत्वा सुव्रतागणिनीमभि । समीक्ष्यास्मिन् किमस्त्यम्ब नागश्रीर्नाम काचन ॥१६५॥
इति संप्रश्नयामास सा तस्येङ्गितवेदिनी । नाहं वेद्मि मुने सम्यगुदन्तं तन्निबन्धनम् ॥१६६॥
इत्यौदासीन्यमापन्ना गुणवत्यार्यिकां प्रति । संयमे तं स्थिरीकर्तुमर्थाख्यानकमब्रवीत् ॥१६७॥
वैश्यः सर्वसमृद्धाख्यस्तद्दासीतनयः शुचिः । दारुकाख्यः स्वमात्रास्मच्छ्रेष्ठ्युच्छिष्टाशितं त्वया॥ १६८॥
भोक्तव्यमिति निर्बन्धाद्भोजितः स जुगुप्सया । वान्तवान् कंसपात्रेण तत्तन्मात्राहितं पुनः ॥१६९॥
बुभुक्षुर्मातरं भोक्तुं प्रार्थयामास दारुकः । तयापि कंसपात्रस्थं पुरस्तादुपढौकितम् ॥१७०॥
बुभुक्षापीडितोऽप्येष नाग्रहीद्वान्तमात्मना । सोऽपि चेत्तादृशः साधुः कथं त्यक्तमभीप्सति ॥१७१॥
[3]अथाख्यानमिदं चैकं शृणु रुन्ध्वाशयं स्थिरम् । नरेशो नरपालाख्यः श्वानमेकं सकौतुकः ॥१७२॥
मृष्टाशनेन संपोष्य स्वर्णाभरणभूषितम् । सदा वनविहृत्यादिगतौ कनकशिबिकाम् ॥१७३॥
आरोप्य शिबिकामेवं मन्दबुद्धिरपालयत् । कदाचिच्छिबिकां रूढो गच्छन्कौलेयकाधमः ॥१७४॥
विष्ठामालोक्य बालस्य लिप्सुरापतति स्म ताम् । तद्दृष्ट्वापाकरोद्भूतो लकुटीताडनेन तम् ॥१७५॥
तद्वन्मुनिश्च सर्वेषां पूजनीयः पुरातनः । त्यक्ताभि ाम्छया भूयः संप्राप्नोति पराभवम् ॥१७६॥

प्राणी आत्माका हित कैसे कर सकता है ? ॥१६१॥ इसीलिए तू स्त्रीका मोह छोड़ दे । बड़े भाई-के अनुरोधसे भवदेव चुप रह गया और उसने दीक्षा धारण करनेका विचार कर लिया ॥१६२॥ अन्तमें भगदत्तने अपने गुरुके पास ले जाकर उसे संसारका छेद करनेके लिए मोक्ष प्राप्त करानेवाली दीक्षा ग्रहण करवा दी सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंका भाईपना ऐसा ही होता है ॥१६३॥ उस मूर्खने द्रव्यसंयमी होकर बारह वर्ष तक गुरुओंके साथ विहार किया । एक दिन वह अकेला ही अपनी जन्मभूमि वृद्ध ग्राममें आया और सुव्रता नामकी गणिनीके पास जाकर पूछने लगा कि हे माता ! इस नगरमें क्या कोई नागश्री नामकी स्त्री रहती है ? ॥१६४-१६५॥ गणिनीने उसका अभिप्राय समझकर उत्तर दिया कि हे मुने ! मैं उसका वृत्तान्त अच्छी तरह नहीं जानती हूँ । इस प्रकार उदासीनता दिखाकर गणिनीने उस द्रव्यलिंगी मुनिको संयममें स्थिर करनेके लिए गुणवती नामकी दूसरी आर्यिकासे निम्नलिखित कथा कहनी शुरू कर दी ॥१६६-१६७॥ वह कहने लगी कि एक सर्वसमृद्ध नामका वैश्य था। उसके शुद्ध हृदयवाला दारुक नामका दासी-पुत्र था । किसी एक दिन उसकी माताने उससे कहा कि तू हमारे सेठका जूठा भोजन खाया कर । इस तरह कहकर उसने जबरदस्ती उसे जूँठा भोजन खिला दिया । वह खा तो गया परन्तु ग्लानि आनेसे उसने वह सब भोजन वमन कर दिया । उसकी माताने वह सब वमन काँसेकी थालीमें ले लिया और जब उस दारुकको भूख लगी और उसने मातासे भोजन माँगा तब उसने काँसेके पात्रमें रखा हुआ वही वमन उसके सामने रख दिया । दारुक यद्यपि भूखसे पीड़ित था तो भी उसने वह अपना वमन नहीं खाया । जब दासी-पुत्रने भी अपना वमन किया हुआ भोजन नहीं खाया तब मुनि छोड़े हुए पदार्थको किस तरह चाहते हैं ? ॥१६८-१७१॥ 'अब मैं एक कथा और कहती हूँ तू चित्त स्थिर कर सुन' यह कहकर गणिनी दूसरी कथा कहने लगी । उसने कहा कि एक नरपाल नामका राजा था । कौतुकवश उसने एक कुत्ता पाल रखा था । वह मीठे-मीठे भोजन-के द्वारा सदा उसका पालन करता था और सुवर्णके आभूषण पहनाता था । जब वह वनविहार आदि कार्योंके लिए जाता था, तब वह मन्दबुद्धि उसे सोनेकी पालकीमें बैठाकर ले जाता था । एक दिन वह नीच कुत्ता, पालकीमें बैठा हुआ जा रहा था कि अकस्मात् उसकी दृष्टि किसी बालककी विष्ठापर पड़ी । दृष्टि पड़ते ही वह, उस विष्ठाको प्राप्त करनेकी इच्छासे उसपर कूद पड़ा । यह देख राजाने उसे डण्डेसे पीटकर भगा दिया ॥१७२-१७५॥ इसी प्रकार जो मुनि पहले

---

१ भ्रातृत्वम् । २ मूर्खः । ३ अर्थाख्यान–ल० ।

इदमन्यत्कश्चिदेकस्त्रित्पथिकः सद्वनान्तरे । सुगन्धिफलपुष्पादिसेवयाऽयन् सुखं ततः ॥१७७॥
गत्वा विहाय सन्मार्गं महागहनसंकटे । दृष्ट्वा क्षुधितमत्युग्रं स चमूरं जिघांसुकम् ॥१७८॥
भीत्वा धावन् तदैकस्मिन् भीमकूपेऽपतद्दुर्धीः । तत्र शीतादिभिः पापाद्दोषत्रितयसंभवे ॥१७९॥
वाग्दृष्टिश्रुतिगत्यादिहीनं सर्पादिबाधितम् । तं तन्निर्गमनोपायमजानन्तं यदृच्छया ॥१८०॥
कश्चिन्निषग्वरो वीक्ष्य दययार्द्रीकृताशयः । निर्गमय्य ततः केनाप्युपायेन महादरात् ॥१८१॥
मन्त्रौषधिप्रयोगेण कृतपादप्रसारणम् । सूक्ष्मरूपसमालोकनोन्मीलितविलोचनम् ॥१८२॥
स्पष्टाकर्णनविज्ञातस्वशक्तिश्रवणद्वयम् । व्यक्तवाक्प्रसरोपेतरसनं च व्यधादनु ॥१८३॥
स सर्वरमणीयाख्यं पुरं तन्मार्गदर्शनात् । प्रास्थापयन्न कस्योपकुर्वन्ति विशदाशयाः ॥१८४॥
पुनः स विषमासक्तमतिः पथिकदुर्मतिः । प्रकटीकृतदिग्भेदमोहः प्राक्तनकूपकम् ॥१८५॥
संप्राप्य पतितस्तस्मिंस्तथा कांश्चन संसृतौ । मिथ्यात्वादिकपञ्चोग्रबाधिर्यादीन्युपागतान् ॥१८६॥
जन्मकूपे क्षुधादाहाद्यार्तान् संवीक्ष्य सन्मतिः । गुरुवैद्यो दयालुत्वाद्धर्माख्योपायपण्डितः ॥१८७॥
निर्गमय्य ततो जैनवाग्‌औषधनिषेवणात् । सम्यक्त्वनेत्रमुन्मील्य सम्यग्ज्ञानश्रुतिद्वयम् ॥१८८॥
समुद्घटय्य सद्वृत्तपादौ कृत्वा प्रसारितौ । व्यक्तां दयामयीं जिह्वां विधाय विधिपूर्वकम् ॥१८९॥
पञ्चप्रकारस्वाध्यायवचनान्यभिधाप्य तान् । सुधीरगमयन्मार्गं साधुः स्वर्गापवर्गयोः ॥१९०॥
निजपापोदयाद्दीर्घसंसारास्तत्र केचन । सुगन्धिबन्धुरोद्भिन्नचम्पकाभ्याशवर्तिनः ॥१९१॥
तत्सौरभावबोधाद्वमुक्ताः षट्चरणा यथा । पार्श्वस्थाख्याः सदृग्ज्ञानचारित्रोपान्तवर्तनात् ॥१९२॥

सबके पूजनीय होते हैं वही छोड़ी हुई वस्तुकी इच्छा कर फिर अनादरको प्राप्त होने लगते हैं। इस कथाके बाद एक कथा और कहती हूँ—

किसी उत्तम वनमें कोई पथिक सुगन्धित फल-पुष्प आदि लानेके लिए सुखसे जा रहा था परन्तु वह अच्छा मार्ग छोड़कर महासंकीर्ण वनमें आ पहुँचा। वहाँ उसने भूखा, अतिशय दुष्ट और मारनेकी इच्छासे सामने आता हुआ एक व्याघ्र देखा। उसके भयसे वह दुर्बुद्धि पथिक भागा और भागता-भागता एक भयंकर कुएँमें जा पड़ा। वहाँ पाप-कर्मके उदयसे उसे शीत आदिके कारण वात-पित्त-कफ—तीनों दोष उत्पन्न हो गये। बोलना, देखना-सुनना तथा चलने आदिमें बाधा होने लगी। इनके सिवाय उसे सर्प आदिकी भी बाधा थी। वह पथिक उस कुएँसे निकलनेका उपाय भी नहीं जानता था। दैववश कोई एक उत्तम वैद्य वहाँसे आ निकला। उस पथिकको देखकर उसका हृदय दयासे आर्द्र हो गया। उसने बड़े आदरसे किसी उपायके द्वारा उसे कुएँसे बाहर निकलवाया और मन्त्र तथा ओषधिके प्रयोगसे उसे ठीक कर दिया। उसके पाँव पसरने लगे, सूक्ष्मसे सूक्ष्म रूप देखनेके योग्य उसके नेत्र खुल गये, उसके दोनों कान सब बातें साफ-साफ सुनने लगे तथा उसकी जिह्वासे भी वचन स्पष्ट निकलने लगे ॥१७६–१८३॥ यह सब कर चुकनेके बाद उत्तम वैद्यने उसे मार्ग दिखाकर सर्वरमणीय नामक नगरकी ओर रवाना कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि जिनका अभिप्राय निर्मल है ऐसे पुरुष किसका उपकार नहीं करते? ॥१८४॥ इसके बाद वह दुर्बुद्धि पथिक फिरसे विषयोंमें आसक्त हो गया, फिरसे दिशा भ्रान्त हो गया, और फिरसे उसी पुराने कुएँके पास जाकर उसमें गिर पड़ा। इसी प्रकार ये जीव भी संसार रूपी कुएँमें पड़कर मिथ्यात्व आदि पाँच कारणोंसे बाधिर्य–बहिरापन आदि रोगोंको प्राप्त हो रहे हैं, तथा क्षुधा, दाह आदिसे पीड़ित हो रहे हैं। उन्हें देखकर उत्तम ज्ञानके धारक तथा धर्मका व्याख्यान करनेमें निपुण गुरु-रूपी वैद्य दयालुताके कारण इन्हें इस संसार-रूपी कुएँसे बाहर निकालते हैं। तदनन्तर जैनधर्मरूपी ओषधिके सेवनसे इनके सम्यग्दर्शन रूपी नेत्र खोलते हैं, सम्यग्ज्ञान रूपी दोनों कान ठीक करते हैं, सम्यक्चारित्ररूपी पैरोंको फैलाते हैं, दयारूपी जिह्वाको विधिपूर्वक प्रकट करते हैं, और पाँच प्रकारके स्वाध्याय रूपी वचन कहलाकर उन्हें स्वर्ग तथा मोक्षके मार्गमें भेजते हैं। वे गुरुरूपी वैद्य अत्यन्त बुद्धिमान् और उत्तम प्रकृतिके होते हैं ॥१८५–१९०॥ उनमें-से बहुत-से लोग पापकर्मके उदयसे दीर्घसंसारी होते हैं। जिस प्रकार सुगन्धिसे भरे विकसित चम्पाके समीप रहते

कषायविषयारम्भलौकिकज्ञानवेदकैः । जिह्वाषड्भेदसंबन्धाः कुशीलाख्या दुराशयाः ॥१९३॥
संसक्ताख्या निषिद्धेषु द्रव्यभावेषु लोलुपाः । अवसन्नाह्वया हीयमानज्ञानादिकत्वतः ॥१९४॥
समाचारबहिर्भूता मृगचार्यभिधानकाः । महामोहानिवृत्त्याजवंजवागाधकूपके ॥१९५॥
पतन्ति स्म पुनश्चेति भवदेवोऽपि तच्छ्रुतेः । संप्राप्तशान्तभावोऽभूद् ज्ञात्वा तत्सार्थिकाग्रणीः ॥१९६॥
नागश्रियं च दौर्गत्यभावोत्पादितदुःस्थितिम् । आनाय्यादर्शयत्सोऽपि तां दृष्ट्वा संसृतिस्थितिम् ॥१९७॥
स्मृत्वा धिगिति निन्दित्वा गृहीत्वा संयमं पुनः । भ्रात्रा सहायुषः प्रान्ते क्रमात्स्वाराधनाश्रितः ॥१९८॥
मृत्वा माहेन्द्रकल्पेऽभूद्बलभद्रविमानके । सामानिकः सुरः सप्तसागरोपमजीवितः ॥१९९॥
ज्यायानहमजाये त्वं कनिष्ठोऽभूस्ततश्च्युतः । इति सोऽपि मुनिप्रोक्तश्रवणेन विरक्तवान् ॥२००॥
दीक्षां गृहीतुमुद्युक्तो मात्रा पित्रा च वारितः । प्रविश्य नगरं जातसंविदप्रासुकाशनम् ॥२०१॥
नाहमाहारयामीति कुमारोऽकृत निश्चितिम् । तद्वार्ताश्रवणाद्भूयो यः कश्चिद्भोजयत्यमुम् ॥२०२॥
तस्मै [1]संप्रार्थितं दास्यामीति संसद्यघोषयत् । तद्ज्ञात्वा दृढवर्माख्यः सप्तस्थानसमाश्रयः ॥२०३॥
श्रावकः समुपेत्यैनं कुमारा ज्ञातिशत्रवः । तवैते स्वपरध्वंसकोविदाः पापहेतवः ॥२०४॥
भावसंयमविध्वस्तिमकृत्वा प्रासुकाशनैः । करिष्ये भद्र [2]पर्युप्तिमविमुक्तस्य बन्धुभिः ॥२०५॥
दुर्लभा संयमे वृत्तिरित्यवोचद्धितं वचः । सोऽपि मत्वा तदाचाम्लनिर्विकृत्य [3]रसाशनः ॥२०६॥
स्त्रियस्त्रीसंनिधौ स्थित्वा सदाविकृतचेतसा । तृणाय मन्यमानस्तास्तपो द्वादशवत्सरान् ॥२०७॥

हुए भी भ्रमर उसकी सुगन्धिसे दूर रहते हैं उसी प्रकार जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रके समीपवर्ती होकर भी उनके रसास्वादनसे दूर रहते हैं वे पार्श्वस्थ कहलाते हैं ॥१९१–१९२॥ जो कषाय, विषय, आरम्भ तथा लौकिक ज्ञानके वशीभूत होकर जिह्वा, इन्द्रिय सम्बन्धी छह रसोंमें आसक्त रहते हैं वे दुष्ट अभिप्रायवाले कुशील कहलाते हैं ॥१९३॥ जो निषिद्ध द्रव्य और भावोंमें लोभी रहते हैं वे संसक्त कहलाते हैं। जिनके ज्ञान, चारित्र आदि घटते रहते हैं वे अवसन्न कहलाते हैं और जो सदाचारसे दूर रहते हैं वे मृगचारी कहलाते हैं। ये सब लोग महामोहका त्याग नहीं होनेसे संसाररूपी अगाध कुएँमें बार-बार पड़ते हैं। गणिनीकी ये सब बातें सुनकर भवदेव मुनिको भी शान्त भावकी प्राप्ति हुई। यह जानकर गणिनीने, दुर्गतिके कारण जिसकी खराब स्थिति हो रही थी ऐसी नागश्रीको बुलवाकर उसे दिखाया। भवदेवने उसे देखकर संसारकी स्थितिका स्मरण किया, अपने-आपको धिक्कार दिया, अपनी निन्दा कर फिरसे संयम धारण किया और बड़े भाई भगदत्त मुनिराजके साथ आयुके अन्तमें अनुक्रमसे चारों आराधनाओंका आश्रय लिया। मरकर अपने भाईके ही साथ माहेन्द्र-स्वर्गके बलभद्र नामक विमानमें सात सागरकी आयुवाला सामानिक देव हुआ ॥१९४–१९९॥ वहाँसे चयकर बड़े भाई भगदत्तका जीव मैं हुआ हूँ और छोटे भाई भवदेवका जीव तू हुआ है। इस प्रकार मुनिराजका कहा सुनकर शिवकुमार विरक्त हुआ ॥२००॥ वह दीक्षा लेनेके लिए तैयार हुआ परन्तु माता-पिताने उसे रोक दिया। जिसे आत्मज्ञान प्रकट हुआ है ऐसा वह कुमार यद्यपि नगरमें गया तो भी उसने निश्चय कर लिया कि मैं अप्रासुक आहार नहीं ग्रहण करूँगा। यह बात सुनकर राजाने सभामें घोषणा कर दी कि जो कोई कुमारको भोजन करा देगा मैं उसे इच्छानुसार धन दूँगा। राजाकी यह घोषणा जानकर सात धर्मक्षेत्रोंका आश्रयभूत दृढवर्मा नामक श्रावक कुमारके पास आकर कहने लगा कि हे कुमार! अपने और दूसरेके आत्माको नष्ट करनेमें पण्डित तथा पापके कारण ये कुटुम्बी लोग तेरे शत्रु हैं इसलिए हे भद्र! भाव-संयमका नाश नहीं कर प्रासुक भोजनके द्वारा मैं तेरी सेवा करूँगा। जो परिवारके लोगोंसे विमुक्त नहीं हुआ है अर्थात् उनके अनुरागमें फँसा हुआ है उसकी संयममें प्रवृत्ति होना दुर्लभ है, इस प्रकार हितकारी वचन कहे। कुमारने भी उसकी बात मानकर निर्विकार आचाम्ल रसका आहार किया ॥२०१–२०६॥ वह यद्यपि सुन्दर स्त्रियोंके समीप रहता था तो भी उसका

१ तत्प्रार्थितं ब० । २ सेवाम् । ३ रसाशनः ब०, क०, म० ।

धरन्निव निशातासिधारायां संप्रवर्तयन् । संन्यस्य जीवितप्रान्ते कल्पे ब्रह्मेन्द्रनामनि ॥२०८॥
विद्युन्माल्येष देवोऽभूद्देहदीप्त्याप्तदिक्तटः । इत्यथ श्रेणिकप्रश्नादिदं चोवाच गौतमः ॥२०९॥
विद्युन्मालिन एवामूर्देव्योऽन्वैत्येभ्यपुत्रिकाः । जम्बूनाम्नश्चतस्रोऽपि भार्यास्तेनाप्य संयमम् ॥२१०॥
सहान्त्यकल्पे भूत्वेह यास्यन्ति परमं पदम् । ज्ञात्वा सागरदत्ताख्यो दिवमन्यैत्य निर्वृतिम् ॥२११॥
जम्बूनाम्नो गृहत्यागसमये यास्यतीत्यपि । सर्वमेतद्गणाधीशनायकव्याहृतं मुदा ॥२१२॥
निशम्य मगधाधीशो जिनं तं चान्ववन्दत । मानयन्ति न के सन्तः श्रेयोमार्गोपदेशिनम् ॥२१३॥
अथान्येद्युः पुनः प्राप्य भगवन्तं भवान्तकम्[2] । प्रपूज्य प्रणतस्तस्मिन् सदस्युदिततेजसम् ॥२१४॥
दृष्ट्वा तारागणे तारापतिं वा प्रीतिकेतनम् । प्रीतिंकरं पुरानेन किं कृत्वा रूपमीदृशम् ॥२१५॥
संप्राप्तमिति सोऽप्राक्षीद्गणभृच्चैवमब्रवीत् । एतस्मिन् मगधे देशे सुप्रतिष्ठाह्वयं पुरम् ॥२१६॥
[3]जयसेनो महीपालः पालकस्तस्य लीलया । तत्र सागरदत्ताख्यः श्रेष्ठी तस्य प्रभाकरी ॥२१७॥
भार्या तयोरभून्नागदत्तो ज्येष्ठः सुतोऽनुजः । कुबेरदत्तो वित्तेशसमस्तद्गृहवासिनः ॥२१८॥
नागदत्तं विनान्ये सर्वेऽभूवन्नुपासकाः । रत्नाकरेऽपि सद्रत्नं नाप्नं त्यक्तपुण्यकः ॥२१९॥
तेषां काले व्रजत्येवं गिरौ धरणिभूषणे । वने प्रियंकरोद्याने कदाचित्समवस्थितम् ॥२२०॥
मुनिं सागरसेनाख्यं जयसेननृपादयः । गत्वा संपूज्य वन्दित्वा धर्मं साध्वन्वयुञ्जत ॥२२१॥
सोऽप्येवमब्रवीत्प्राप्तसम्यग्दर्शनलोचनाः[4] । दानपूजाव्रतोपोषितादिभिः प्राप्तपुण्यकाः ॥२२२॥

चित्त कभी विकृत नहीं होता था वह उन्हें तृणके समान तुच्छ मानता था। इस तरह उसने बारह वर्ष तक तीक्ष्ण तलवारकी धारापर चलते हुएके समान कठिन तप धारण कर आयुके अन्त समयमें संन्यास धारण किया जिसके प्रभावसे ब्रह्मस्वर्गमें यह अपने शरीरकी कान्तिसे दिशाओंको व्याप्त करता हुआ विद्युन्माली देव हुआ है। यह कथा कहनेके बाद राजा श्रेणिकके पूछनेपर गौतम गणधर फिर कहने लगे कि इस विद्युन्माली देवकी जो स्त्रियाँ हैं वे सेठोंकी पुत्रियाँ होकर जम्बूकुमारकी चार स्त्रियाँ होंगी और उसीके साथ संयम धारण कर अन्तिम स्वर्गमें उत्पन्न होंगी तथा वहाँसे आकर मोक्ष प्राप्त करेंगी। सागरदत्तका जीव स्वर्ग जावेगा, फिर वहाँसे आकर जम्बूकुमारकी दीक्षा लेनेके समय मुक्त होगा। इस प्रकार गणधरोंमें प्रधान गौतम स्वामीके द्वारा कही हुई यह सब कथा सुनकर मगधदेशका स्वामी राजा श्रेणिक बहुत ही प्रसन्न हुआ। अन्तमें उसने वर्धमान स्वामी और गौतम गणधर दोनोंको नमस्कार किया सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे कौन सज्जन हैं जो कि कल्याण मार्गका उपदेश देनेवालेको नहीं मानते हों—उसकी विनय नहीं करते हों ॥२०७-२१३॥

अथानन्तर—दूसरे दिन राजा श्रेणिक फिर संसारके पारगामी भगवान् महावीर स्वामीके समीप पहुँचा और पूजा तथा प्रणाम कर वहीं बैठ गया। जहाँ उसने ताराओंमें चन्द्रमाके समान प्रकाशमान तेजके धारक, तथा प्रीतिकी पताका-स्वरूप प्रीतिंकर मुनिको देखकर गणधर देवसे पूछा कि पूर्व जन्ममें इन्होंने ऐसा कौन-सा कार्य किया था जिससे कि ऐसा रूप प्राप्त किया है? इसके उत्तरमें गणधर इस प्रकार कहने लगे कि इसी मगध देशमें एक सुप्रतिष्ठ नामका नगर है। राजा जयसेन उसका लीलापूर्वक पालन करता था। उसी नगरमें एक सागरदत्त नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम प्रभाकरी था। उन दोनोंको दो पुत्र हुए—उनमें नागदत्त बड़ा था और छोटा कुबेरकी समता रखनेवाला कुबेरदत्त था। नागदत्तको छोड़कर उसके घरके सब लोग श्रावक हो गये थे सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यहीन मनुष्य समुद्रमें भी उत्तम रत्नको नहीं प्राप्त करता है ॥२१ .-२१९॥ इस तरह उन सबका समय सुखसे व्यतीत हो रहा था। किसी समय धरणिभूषण नामक पर्वतके प्रियंकर नामक उद्यानमें सागरसेन नामक मुनिराज आकर विराजमान हुए। यह सुन राजा जयसेन आदिने जाकर उनकी पूजा-वन्दना की तथा धर्मका यथार्थ स्वरूप पूछा ॥२२०-२२१॥ उत्तरमें मुनिराज इस प्रकार कहने लगे कि जिन्होंने सम्यग्दर्शन-रूपी नेत्र प्राप्त कर लिये हैं

१ब्रह्मेन्द्र-ख० । २ भवान्तगम् ख० । ३ जयसेनमहीपालः ल० । ४ लोचनः ल० ।

प्राप्नुवन्ति सुखं स्वर्गे चापवर्गं च संयमात् । मिथ्यादृशश्च दानादिपुण्येन स्वर्गजं सुखम् ॥२२३॥
संप्राप्नुवन्ति तत्रैते शममाहात्म्यतः पुनः । कालादिलब्धिमाश्रित्य स्वतो वा परतोऽपि वा ॥२२४॥
सद्धर्मलाभयोग्याश्च भवन्त्यभ्यर्णमोक्षकाः । अन्ये तु भोगसंसक्ता गाढमिथ्यात्वशल्यकाः ॥२२५॥
हिंसानृतान्यरैरामारम्भपरिग्रहैः । पापं संचित्य संसारदुःखकूपे निपतन्ति ते ॥२२६॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा बहवो धर्ममाचरन् । अथ सागरदत्ताख्यश्रेष्ठिना स्वायुषोऽवधौ ॥२२७॥
परिपृष्टे मुनिश्चाह दिवसांस्त्रिंशदित्यसौ । तच्छ्रुत्वा[2]नगरं श्रेष्ठी प्रविश्याष्टाह्निकीं मुदा ॥२२८॥
पूजां विधाय स्वात्मपदं ज्येष्ठाय सूनवे । आपृच्छ्य बान्धवान् सर्वान् द्वाविंशतिदिनानि सः ॥२२९॥
संन्यस्य विधिवल्लोकमवापदमृताशिनाम् । अन्येद्युर्नागदत्तोऽसौ लोभेनाद्येन चोदितः ॥२३०॥
कुबेरदत्तमाहूय तव सारधनं पिता । किमदर्शयदित्येवं पृष्टवान् दुष्टचेतसा ॥२३१॥
तीव्रलोभविषक्तोऽयमित्यसाववगम्य तत् । किमावाभ्यामविज्ञातं धनमस्ति गुरोः पृथक् ॥२३२॥
संन्यस्य विधिना स्वर्गगतस्योपरि दूषणम् । महत्पापमिदं वक्तुं भ्रातस्तव न युज्यते ॥२३३॥
श्रोतुं ममापि चेत्याह सोऽप्यपास्यास्य दुर्मतिम् । विभज्य सकलं वस्तु चैत्यचैत्यालयादिकम् ॥२३४॥
निर्माप्य जिनपूजाश्च विधाय विविधाः सदा । दानं चतुर्विधं पात्रत्रये भक्त्या प्रदत्य तौ ॥२३५॥
कालं गमयतः स्मोरुप्रीती प्रति परस्परम् । दत्वा सागरसेनाय कदाचिद्भक्तिपूर्वकम् ॥२३६॥
भिक्षां कुबेरदत्ताख्यः सहितो धनमित्रया । अभिवन्द्य किमावाभ्यां सनूजो लप्स्यते न वा ॥२३७॥
नैवं चेत्प्रव्रजिष्याव इत्यप्राक्षीत्स चाब्रवीत् । युवां सुतं महापुण्यभागिनं चरमाङ्गकम् ॥२३८॥

ऐसे पुरुष दान, पूजा, व्रत, उपवास आदिके द्वारा पुण्यबन्ध कर स्वर्गके सुख पाते हैं और संयम धारण कर मोक्षके सुख पाते हैं। यदि मिथ्या-दृष्टि जीव दानादि पुण्य करते हैं तो स्वर्ग-सम्बन्धी सुख प्राप्त करते हैं। वहाँ कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव अपने शान्त परिणामोंके प्रभावसे कालादि लब्धियाँ पाकर स्वयमेव अथवा दूसरेके निमित्तसे समीचीन धर्मको प्राप्त होनेके योग्य हो जाते हैं। यह बात निकट कालमें मोक्ष प्राप्त करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवोंकी है परन्तु जो तीव्र मिथ्यादृष्टि निरन्तर भोगोंमें आसक्त रहकर हिंसा, झूठ, पर-धनहरण, पर-नारी-रमण, आरम्भ और परिग्रहके द्वारा पापका संचय करते हैं वे संसार-रूपी दुःखदायी कुएँमें गिरते हैं ॥२२२-२२६॥ इस प्रकार मुनिराजके वचन सुनकर बहुत लोगोंने धर्म धारण कर लिया। इसके पश्चात् सेठ सागरदत्तने अपनी आयुकी अवधि पूछी सो मुनिराजने उसकी आयु तीस दिनकी बतलायी। यह सुनकर सेठने नगरमें प्रवेश किया और बड़े हर्षसे आष्टाह्निक पूजाकर अपना पद अपने बड़े पुत्रके लिए सौंप दिया। तदनन्तर समस्त भाई-बन्धुओंसे पूछकर उसने विधिपूर्वक बाईस दिनका संन्यास धारण किया और अन्त समयमें देव पद प्राप्त किया। किसी दूसरे दिन अनन्तानुबन्धी लोभसे प्रेरित हुए नागदत्तने कुबेरदत्तको बुलाकर दुर्भावनासे पूछा कि क्या पिताजी तुम्हें सारभूत-श्रेष्ठ धन दिखला गये हैं? ॥२२७-२३१॥ 'यह तीव्रलोभसे आसक्त हो रहा है' ऐसा समझकर कुबेरदत्तने उत्तर दिया कि क्या पिताजीके पास अलगसे ऐसा कोई धन था जिसे हम दोनों नहीं जानते हों। वे विधिपूर्वक संन्यास धारण कर स्वर्ग गये हैं अतः उनपर दूषण लगाना पाप है। भाई! यह बात न तो तुझे कहने योग्य है और न मुझे सुननेके योग्य है। इस तरह कुबेरदत्तने नागदत्तकी सब दुर्बुद्धि दूर कर दी। सब धनका बाँट किया, अनेक चैत्य और चैत्यालय बनवाये, अनेक तरहकी जिनपूजाएँ कीं, तीनों प्रकारके पात्रोंके लिए भक्तिपूर्वक चार प्रकारका दान दिया। इस प्रकार जिनकी परस्परमें प्रीति बढ़ रही है ऐसे दोनों भाई सुखसे समय बिताने लगे। किसी एक दिन कुबेरदत्तने अपनी स्त्री, धन, मित्रोंके साथ सागरसेन मुनिराजके लिए शक्तिपूर्वक आहार दिया। आहार देनेके बाद नमस्कार कर उसने मुनिराजसे पूछा कि क्या कभी हम दोनों पुत्र लाभ करेंगे अथवा नहीं? ॥२३२-२३७॥ यदि नहीं करेंगे तो फिर हम दोनों जिन-दीक्षा धारण कर लें। इसके उत्तरमें

१-मादद्‌ म०, ख०, ल०। २ नगरश्रेष्ठी क०।

लभेथामिति तद्वाक्यश्रवणात्तोषिताशयौ । यद्येवं पूज्यपादस्य भवतः क्षुल्लकोऽस्त्वसौ ॥२३९॥
तस्मिन्नुत्पन्नवत्येव दास्याव इति तौ सुखम् । भुञ्जानौ कतिचिन्मासान्गमयित्वा सुतोत्तमम् ॥२४०॥
लब्ध्वा प्रीतिंकराह्वानमेतस्याकुरुतां मुदा । करोतु स्वगुणैस्तोषं सर्वेषां जगतामिति ॥२४१॥
पञ्चसंवत्सरातीतौ तस्मिन्धान्यपुरान्मुनौ । आगते सति गत्वैनमभिवन्द्य मुनीन्द्र ते ॥२४२॥
क्षुल्लकोऽयं गृहाणेति तस्मै दत्तः स्म ते तदा । प्रतिगृह्य गुरुर्धान्यपुरमेव गतः पुनः ॥२४३॥
तत्र तं सर्वशास्त्राणि दशवर्षाण्यशिक्षयत् । सोऽप्यासन्नविनेयत्वात्संयमग्रहणोत्सुकः ॥२४४॥
[1]गुरुभिर्नार्य ते दीक्षाकालोऽयमिति वारितः । तथैवास्त्विति तान्भक्त्या वन्दित्वा पितरौ प्रति ॥२४५॥
पथि [2]स्वाभ्यस्तशास्त्राणि शिष्टानां समुपादिशन् । छात्रवेषधरो गत्वा सर्वबन्धुकदम्बकम् ॥२४६॥
विलोक्यानन्तरं राज्ञा सम्यग्विहितसत्कृतिः । असाधारणमात्मानं मन्यमानः कुलादिभिः ॥२४७॥
धनं बहुतरं सारं यावन्नावर्जयाम्यहम् । तावन्न संग्रहीष्यामि पत्नीमिति विचिन्तयन् ॥२४८॥
अन्येद्युर्नागरैः कैश्चिज्जलयात्रोन्मुखैः सह । यियासुर्बान्धवान्सर्वानापृच्छ्यैतत्प्रयोजनम् ॥२४९॥
संमतस्तैर्नमस्कर्तुं गत्वा गुरुमुदात्तधीः । पत्रमेकं निजाभिप्रेतार्थाक्षरसमर्पितम् ॥२५०॥
गुरुणार्पितमादाय कर्णे सुस्थाप्य सादरम् । शकुनाद्यानुकूल्येन ससखः पोतसाधनः ॥२५१॥
अवगाह्य पयोराशिं पुरं भूतिलकाह्वयम् । परीतं वलयाकारगिरिणा प्राप पुण्यवान् ॥२५२॥

मुनिराजने कहा कि आप दोनों, महापुण्यशाली तथा चरमशरीरी पुत्र अवश्य ही प्राप्त करेंगे । इस प्रकार मुनिराजके वचन सुनकर उन दोनोंका हृदय आनन्दसे भर गया । वे प्रसन्नचित्त होकर बोले कि यदि ऐसा है तो वह बालक आप पूज्यपादके चरणोंमें क्षुल्लक होवे । उसके उत्पन्न होते ही हम दोनों उसे आपके लिए समर्पित कर देंगे । इस तरह सुखका उपभोग करते हुए उन दोनोंने कुछ मास सुखसे बिताये । कुछ मास बीत जानेपर उन्होंने उत्तम पुत्र प्राप्त किया । 'यह पुत्र अपने गुणोंसे समस्त संसारको सन्तुष्ट करेगा' ऐसा विचार कर उन्होंने उसका बड़े हर्षसे प्रीतिंकर नाम रखा ॥२३८-२४१॥ पुत्र-जन्मके बाद पाँच वर्ष बीत जानेपर उक्त मुनिराज धान्यपुर नगरसे फिर इस नगरमें आये । कुबेरदत्त और धनमित्राने जाकर उनकी वन्दना की तथा कहा कि 'हे मुनिराज ! यह आपका क्षुल्लक है, इसे ग्रहण कीजिए' इस प्रकार कहकर वह बालक उन्हें सौंप दिया । मुनिराज भी उस बालकको लेकर फिरसे धान्यपुर नगरमें चले गये ॥२४२-२४३॥ वहाँ उन्होंने उसे लगातार दस वर्ष तक समस्त शास्त्रोंकी शिक्षा दी । वह बालक निकटभव्य था अतः संयम धारण करनेके लिए उत्सुक हो गया परन्तु गुरुओंने उसे यह कहकर रोक दिया कि हे आर्य ! यह तेरा दीक्षा-ग्रहण करनेका समय नहीं है । प्रीतिंकरने भी गुरुओंकी बात स्वीकृत कर ली । तदनन्तर वह भक्ति-पूर्वक उन्हें नमस्कार कर अपने माता-पिताके पास चला गया । वह अपने द्वारा पढ़े हुए शास्त्रोंका मार्गमें शिष्ट पुरुषोंको उपदेश देता जाता था । इस प्रकार वह छात्रका वेष रखकर अपने समस्त बन्धुओंके पास पहुँचा । जब राजाको उसके आनेका पता चला तब उसने उसका बहुत सत्कार किया । अपने-आपको कुल आदिके द्वारा असाधारण मानते हुए प्रीतिंकरने विचार किया कि जबतक मैं बहुत-सा श्रेष्ठ धन नहीं कमा लेता हूँ तबतक मैं पत्नीको ग्रहण करूँगा ॥२४४-२४८॥

किसी दिन कितने ही नगरवासी लोग जलयात्रा—समुद्रयात्रा करनेके लिए तैयार हुए । उनके साथ प्रीतिंकर भी जानेके लिए उद्यत हुआ । उसने इस कार्यके लिए अपने सब भाई-बन्धुओंसे पूछा । सम्मति मिल जानेपर उत्कृष्ट बुद्धिका धारक प्रीतिंकर नमस्कार करनेके लिए अपने गुरुके पास गया । गुरुने अपने अभिप्रेत अर्थको सूचित करनेवाले अक्षरोंसे परिपूर्ण एक पत्र लिखकर उसे दिया । उसने वह पत्र बड़े आदरके साथ लेकर कानमें बाँध लिया तथा शकुन आदिकी अनुकूलता देख मित्रोंके साथ जहाजपर बैठकर समुद्रमें प्रवेश किया । तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद वह पुण्यात्मा, वलयके आकारवाले पर्वतसे घिरे हुए भूमितिलक नामके नगरमें

---

१ -नार्य ते क०, ख०, ग० । २ प्रत्येत्याभ्यस्त म०, ल० ।

शङ्खतूर्यादिभिस्तस्मिन् ध्वनद्भिः संमुखान् जनान् । निर्गच्छतो प्रपश्यन्निराशङ्क्य वणिजां वरैः ॥२५३॥
गत्वैतत्पुरमन्विष्य प्रत्येतुमिह कः सहः । इत्युदीरितमाकर्ण्य प्रीतिंकरकुमारकः ॥२५४॥
कर्मणोऽस्य समर्थोऽहमिति संगीर्णवांस्तदा । चोचवल्कजनिष्पन्नरज्ज्वा तैरवतारितः ॥२५५॥
विस्मयात्परितः [1]पश्यन्प्रविश्य नगरं पुरा । निरीक्ष्य भवनं जैनं परीत्य विहितस्तुतिः ॥२५६॥
ततो गत्वायुधापातविगतासून्निरूपयन् । समन्तात्कन्यकां कांचिदागच्छन्तीं सरसो [2]गृहान् ॥२५७॥
केयमित्यनुयातोऽसौ तं सालोक्य गृहाङ्गणे । भद्रागतः कुतो चेति पीठमस्मै समर्पयत् ॥२५८॥
सोऽपि तस्योपरि स्थित्वा नगरं केन हेतुना । संजातमीदृशं ब्रूहीत्याह तामथ साब्रवीत् ॥२५९॥
तद्वक्तुं नास्ति कालोऽस्माद्भद्र त्वं याहि सत्वरम् । भयं महत्तवेहास्तीत्येतच्छ्रुत्वा स निर्भयः ॥२६०॥
यो भयं मम कर्तात्र स किं बाहुसहस्रकः । इत्याह तद्वयोन्मुक्तवाग्गम्भीरविजृम्भणात् ॥२६१॥
शिथिलीभूतभीः कन्याप्यवोचद्विस्तरेण तत् । एतत्खगाद्र्युदीच्यालकेश्वराः सहजास्त्रयः ॥२६२॥
ज्यायान्हरिबलस्तस्य महासेनोऽनुजोऽनुजः । तस्य भूतिलकस्तेषु धारिण्यां ज्यायसोऽभवत् ॥२६३॥
तनूजो भीमकस्तस्मादेव विद्याधरेशिनः । हिरण्यवर्मा श्रीमत्यामजायत सुतोऽपरः ॥२६४॥
महासेनस्य सुन्दर्यामुग्रसेनः सुतोऽजनि । वरसेनश्च तस्यानुजा जाताहं वसुंधरा ॥२६५॥
कदाचिन्मत्पिता भौमविहारे विपुलं पुरम् । निरीक्ष्येदं चिरं चित्तहारीति स्वीचिकीर्षुकः ॥२६६॥
एतन्निवासिनीर्जित्वा रणे व्यन्तरदेवताः । [3]अत्र भूतिलकाख्येन सोदर्येण समन्वितः ॥२६७॥

पहुँचा ॥२४६-२५२॥ उस समय शंख तुरही आदि बाजे बजाते हुए लोग सामने ही नगरके बाहर निकल रहे थे उन्हें देखकर श्रेष्ठ वैश्योंने भयभीत हो यह घोषणा की कि नगरमें जाकर तथा इस बातका पता चलाकर वापस आनेके लिए कौन समर्थ है ? यह घोषणा सुनकर प्रीतिंकर कुमारने कहा कि, मैं यह कार्य करनेके लिए समर्थ हूँ। वैश्योंने उसी समय उसे दालचीनीकी छालसे बने हुए रस्सेसे नीचे उतार दिया ॥२५३-२५५॥ आश्चर्यसे चारों ओर देखते हुए कुमारने नगरमें प्रवेश किया सो सबसे पहले उसे जिन-मन्दिर-दिखाई दिया । उसने मन्दिरकी प्रदक्षिणा देकर स्तुति की । उसके बाद आगे गया तो क्या देखता है कि जगह-जगह शस्त्रोंके आघातसे बहुत लोग मरे पड़े हैं । उसी समय उसे सरोवरसे निकलकर घरकी ओर जाती हुई एक कन्या दिखी । यह कौन है ? इस बातका पता चलानेके लिए वह कन्याके पीछे चला गया । घरके आँगनमें पहुँचनेपर कन्याने प्रीतिंकरको देखा तो उसने कहा, 'हे भद्र ! यहाँ कहाँसे आये हो ?' यह कहकर उसके बैठनेके लिए एक आसन दिया ॥२५६-२५८॥ कुमारने उस आसनपर बैठकर कन्यासे पूछा कि कहो, 'यह नगर ऐसा क्यों हो गया है ?' इसके उत्तरमें कन्याने कहा कि यह कहनेके लिए समय नहीं है । हे भद्र ! तुम यहाँसे शीघ्र ही चले जाओ क्योंकि यहाँ तुम्हें बहुत भारी भय उपस्थित है । कन्याकी बात सुनकर निर्भय रहनेवाले कुमारने कहा कि यहाँ जो मेरे लिए भय उत्पन्न करेगा उसके क्या हजार भुजाएँ हैं ? कुमारका ऐसा भयरहित गम्भीर उत्तर सुनकर जिसका भय कुछ दूर हो गया है ऐसी कन्या विस्तारसे उसका कारण कहने लगी । उसने कहा कि इस विजयार्ध पर्वतकी उत्तर दिशामें जो अलका नामकी नगरी है उसके स्वामी तीन भाई थे । हरिबल उनमें बड़ा था, महासेन उससे छोटा था और भूतिलक सबसे छोटा था । हरिबलकी रानी धारिणीसे भीमक नामका पुत्र हुआ था और उसीकी दूसरी रानी श्रीमतीसे हिरण्यवर्मा नामका दूसरा पुत्र हुआ था । महासेनकी सुन्दरी नामक स्त्रीसे उग्रसेन और वरसेन नामके दो पुत्र हुए और मैं वसुन्धरा नामकी कन्या हुई ॥२५९-२६५॥ किसी एक समय मेरे पिता पृथिवीपर विहार करनेके लिए निकले थे उस समय इस मनोहारी विशाल नगरको देखकर उनकी इच्छा इसे स्वीकृत करनेकी हुई । पहले यहाँ कुछ व्यन्तर देवता रहते थे, उन्हें युद्धमें जीतकर हमारे पिता यहाँ भूतिलक नामक भाईके

१ पुरतः पुरम् म० । नगरं प्रियः क०, घ०, ग० । पुरा ल० । २ गृहम् म०, ल० । ३ अतो क०, ग०, घ० ।

इह संवासिभिर्भूपैः सेव्यमानः सुखेन सः । कालं गमयति स्मैवं कंचित्संचितपुण्यकः ॥२६८॥
इतः कनीयसे विद्यां भीमकायालकश्रियम् । दत्त्वा संसारभीरुत्वाद्विनिर्विद्य विजितेन्द्रियः ॥२६९॥
कर्मनिर्मूलनं कर्तुं दीक्षां हरिबलाह्वयः । विद्वान्विपुलमत्याख्यचारणस्याप्य संनिधौ ॥२७०॥
शुक्लध्यानानलालीढदुरिताष्टकदुष्टकः । अष्टमीमगमत्पृथ्वीमिष्टामष्टगुणान्वितः ॥२७१॥
प्रकुर्वन् भीमको राज्यं विद्याः[1] शाठ्येन केनचित् । हिरण्यवर्मणो हृत्वा तं च हन्तुं समुद्यतः ॥२७२॥
ज्ञात्वा हिरण्यवर्मैतत्संमेदाद्रिमशिश्रियत् । भीमकस्तं क्रुधान्विष्य गिरिं गन्तुमशक्तकः ॥२७३॥
तीर्थेशसंनिधानेन तीर्थत्वात्तागमत्पुरम् । ततो हिरण्यवर्मापि पितृव्यं समुपागतः ॥२७४॥
तच्छ्रुत्वा तं निराकर्तुं पूज्यपादोऽहंवोत्यसौ । महासेनमहाराजं[2] प्राहिणोत्प्रतिपत्रकम् ॥२७५॥
तस्यानिराकृतिं[3] तस्माद् ज्ञात्वायातं युयुत्सया । क्रूर एष दुरात्मेति मत्पिता भीमकं रणे ॥२७६॥
निर्जित्य शृङ्खलाक्रान्तमकरोत्क्रमयोर्द्वयोः । पुनः क्रमेण शान्तात्मा नैतद्युक्तं ममेति तम् ॥२७७॥
मुक्त्वा विधाय संधानं प्रशमय्य हितोक्तिभिः । हिरण्यवर्मणा सार्धं दत्त्वा राज्यं च पूर्ववत् ॥२७८॥
विससर्ज तथाबद्धा बद्धवैरः स भीमकः । हिरण्यवर्मणि प्रायो विद्यां संसाध्य राक्षसीम् ॥२७९॥
तया हिरण्यवर्माणं पापी मत्पितरं पुरम् । मद्बन्धूनपि विध्वस्य मामुद्दिश्यागमिष्यति ॥२८०॥
इति सर्वं समाकर्ण्य कुमारो विस्मयं वहन् । शय्यातलस्थमालोक्य खड्गमेष सुलक्षणः ॥२८१॥

साथ सुखसे रहने लगे। वहाँ रहनेवाले राजा लोग उनकी सेवा करते थे। इस प्रकार पुण्यका संचय करते हुए उन्होंने वहाँ कुछ काल व्यतीत किया ॥२६६-२६८॥ उधर इन्द्रियोंको जीतनेवाले विद्वान् राजा हरिबलको वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने अपने छोटे पुत्र हिरण्यवर्माके लिए विद्या दी और बड़े पुत्र भीमकको अलकापुरीका राज्य दिया। संसारसे भयभीत होनेके कारण विरक्त होकर समस्त कर्मोंका क्षय करनेके लिए विपुलमति नामक चारण मुनिराजके पास जाकर उसने दीक्षा ले ली और शुक्लध्यान रूपी अग्निके द्वारा आठों दुष्ट कर्मोंको जलाकर आठ गुणोंसे सहित हो इष्ट आठवीं पृथिवी प्राप्त कर ली (मोक्ष प्राप्त कर लिया) ॥२६९-२७१॥ इधर भीमक राज्य करने लगा, उसने किसी छलसे हिरण्यवर्माकी विद्याएँ हर लीं। यही नहीं, वह उसे मारनेके लिए भी तैयार हो गया ॥२७२॥ हिरण्यवर्मा यह जानकर सम्मेदशिखर पर्वतपर भाग गया। क्रोधवश भीमकने वहाँ भी उसका पीछा किया परन्तु तीर्थंकर भगवान्‌के सन्निधान और स्वयं तीर्थ होनेके कारण वह वहाँ जा नहीं सका इसलिए नगरमें लौट आया। तदनन्तर हिरण्यवर्मा अपने काका महासेनके पास चला गया ॥२७३-२७४॥ जब भीमकने यह समाचार सुना तो उसने महाराज महासेनके लिए इस आशयका एक पत्र भेजा कि आप पूज्यपाद हैं—हमारे पूजनीय हैं इसलिए हमारे शत्रु हिरण्यवर्माको वहाँसे निकाल दीजिए। महाराज महासेनने भी इसका उत्तर भेज दिया कि मैं उसे नहीं निकाल सकता। यह जानकर भीमक युद्धकी इच्छासे यहाँ आया। 'यह दुरात्मा बहुत ही क्रूर है' यह समझकर हमारे पिताने युद्धमें भीमकको जीत लिया तथा उसके दोनों पैर साँकलसे बाँध लिये। तदनन्तर अनुक्रमसे शान्त होनेपर हमारे पिताने विचार किया कि मुझे ऐसा करना उचित नहीं है ऐसा विचारकर उन्होंने उसे छोड़ दिया और हितसे भरे शब्दोंसे उसे शान्त कर हिरण्यवर्माके साथ उसकी सन्धि करा दी तथा पहलेके समान ही राज्य देकर उसे भेज दिया। भीमक उस समय तो चला गया परन्तु इस अपमानके कारण उसने हिरण्यवर्माके साथ वैर नहीं छोड़ा। फलस्वरूप उस पापी भीमकने राक्षसी विद्या सिद्ध कर हिरण्यवर्माको, मेरे पिताको तथा मेरे भाइयोंको मार डाला है, इस नगरको उजाड़ दिया है और अब मुझे लेनेके उद्देश्यसे आनेवाला है ॥२७५-२८०॥ यह सब कथा सुनकर आश्चर्यको धारण करते हुए कुमार प्रीतिंकरने शय्यातलपर पड़ी हुई एक तलवारको देखकर कहा कि इस तलवारके बहुत ही अच्छे लक्षण हैं। यह तलवार जिसके हाथमें होगी उसे इन्द्र भी जीतनेके लिए समर्थ नहीं हो सकता है। क्या तुम्हारे पिताने इस

१ विद्या शाठ्येन म०, ख०। २ महाराजः ख०। ३ न्यायकृतिं क०।

यस्य हस्तगतो जेतुं तं शक्रोऽपि न शक्नुयात् । इति मत्वा पितानेन किं ते केनापि युद्धवान् ॥२८२॥
इत्यप्राक्षीत्स तां सापि न स्वप्नेऽपीत्यभाषत । तदा प्रीतिंकरो हस्तगतमस्त्रं विधाय तत् ॥२८३॥
तं हन्तुं निर्भयो भीमं गोपुराभ्यन्तरे स्थितः । निगूढतनुराविष्कृतोज्ज्वलत्तिर्वसुनं[2] दधत् ॥२८४॥
तस्मिन्क्षणे समागत्य समन्तादीक्ष्य भीमकः । स्वविद्यां प्रेषयामास दृष्ट्वा दुष्टं जहीति तम् ॥२८५॥
सम्यग्दृष्टिरयं सप्तविधभीतिविदूरगः । चरमाङ्गो महाशूरो नाहं हन्तुमिमं क्षमा ॥२८६॥
इति भीत्वा तदभ्यर्णे संचरन्तीमितस्ततः । विलोक्य भीमको विद्यां शक्तिहीनां व्यसर्जयत् ॥२८७॥
निस्साराभूर्व्रजेत्युक्त्वा साप्यगच्छददृश्यताम् । स्वयमेवासिमुद्गाय भीमकस्तं जिघांसुकः ॥२८८॥
संप्राप्तवान्कुमारोऽपि तर्जयन्नतिभीषणम् । तद्घातं वञ्चयित्वाहंस्तं प्राणैः सोऽप्यमुच्यत ॥२८९॥
ततो विध्वस्य दुष्टारिमायान्तमभिवीक्ष्य सा । कुमारं कन्यकाभ्येत्य व्यधास्त्वं भद्र साहसम् ॥२९०॥
इत्यारोप्यासनं स्वर्णमयं राजगृहाङ्गणे । अभिषिच्य जलापूर्णैः कलशैः कलधौतकैः ॥२९१॥
विन्यस्य मणिभाभासि मुकुटं चारुमस्तके । यथास्थानमशेषाणि विशिष्टाभरणान्यपि ॥२९२॥
विलासिनीकरोद्धूयमानचामरशोभितम् । अकरोत्तन्निरीक्ष्याह प्रीतिंकरकुमारकः ॥२९३॥
किमेतदिति सावोचदस्यस्याः स्वामिनी पुरः । दत्त्वा राज्यं मदीयं ते [3]पट्टबन्धपुरस्सरम् ॥२९४॥
रत्नमालां गले कृत्वा त्वां प्रेम्णा समभीप्सवम् । इति तत्प्रोक्तमाकर्ण्य कुमारः प्रत्यभाषत ॥२९५॥
विना पित्रोरनुज्ञानान्नैव स्वीक्रियसे मया । कोऽपि प्रागेव संकल्पो विहितोऽयमिति स्फुटम् ॥२९६॥
यद्येवं तत्समायोगकालेऽभीष्टं भविष्यति । इति तद्वचनं कन्या प्रतिपाद्य धनं महत् ॥२९७॥

तलवारके द्वारा किसीके साथ युद्ध किया है ? इस प्रकार उस कन्यासे पूछा । कन्याने उत्तर दिया कि इस तलवारसे पिताने स्वप्नमें भी युद्ध नहीं किया है । तदनन्तर प्रीतिंकर कुमारने वह तलवार अपने हाथमें ले ली ॥२८१-२८३॥ जो निर्भय है, जिसने अपना शरीर छिपा रखा है और जो देदीप्यमान दिव्य तलवारको धारण कर रहा है ऐसा प्रीतिंकर भीमकको मारनेके लिए गोपुरके भीतर छिप गया । उसी समय भीमक भी आ गया, उसने सब ओर देखकर तथा यह कहकर अपनी विद्याको भेजा कि गोपुरके भीतर छिपे हुए उस दुष्ट पुरुषको देखकर मार डालो ॥२८४-२८५॥ विद्या प्रीतिंकरके पास जाते ही डर गयी, वह कहने लगी कि यह सम्यग्दृष्टि है, सात भयोंसे सदा दूर रहता है, चरमशरीरी है और महाशूरवीर है; मैं इसे मारनेके लिए समर्थ नहीं हूँ । इस प्रकार भयभीत होकर वह उसके पास ही इधर-उधर फिरने लगी । यह देख, भीमक समझ गया कि यह विद्या शक्तिहीन है तब उसने 'तू सारहीन है अतः चली जा' यह कह-कर उसे छोड़ दिया और वह भी अदृश्यताको प्राप्त हो गयी । विद्याके चले जानेपर प्रीतिंकरको मारनेकी इच्छासे भीमक स्वयं तलवार उठाकर उसपर झपटा । इधर प्रीतिंकरने भी उसे बहुत भयंकर डाँट दिखाकर तथा उसके वारको बचाकर ऐसा प्रहार किया कि उसके प्राण छूट गये ॥२८६-२८९॥ तदनन्तर दुष्ट शत्रुको मारकर आते हुए कुमारको देखकर कन्या सामने आयी और कहने लगी कि हे भद्र ! आपने बहुत बड़ा साहस किया है ॥२९०॥ इतना कहकर उसने राजभवनके आँगनमें सुवर्ण-सिंहासनपर उसे बैठाया और जलसे भरे हुए सुवर्णमय कलशोंसे उसका राज्याभिषेक किया ॥२९१॥ मणियोंकी कान्तिसे देदीप्यमान मुकुट उसके सुन्दर मस्तकपर बाँधा; यथास्थान समस्त अच्छे-अच्छे आभूषण पहनाये और विलासिनी स्त्रियोंके हाथोंसे ढोरे हुए चमरोंसे उसे सुशोभित किया । यह सब देख प्रीतिंकर कुमारने कहा कि यह क्या है ? इसके उत्तरमें कन्याने कहा कि 'मैं इस नगरकी स्वामिनी हूँ, अपना राज्यपट्ट बाँधकर आपके लिए देती हूँ और यह रत्नमाला आपके गलेमें डालकर प्रेमपूर्वक आपकी सहधर्मिणी हो रही हूँ ।' यह सुनकर कुमारने उत्तर दिया कि मैं माता-पिताकी आज्ञाके बिना तुम्हें स्वीकृत नहीं कर सकता क्योंकि मैंने पहले ऐसा ही संकल्प कर रखा है । यदि तुम्हारा ऐसा आग्रह ही है तो माता-पितासे मिलनेके समय तेरा अभीष्ट सिद्ध हो जावेगा । कन्याने प्रीतिंकरकी यह बात मान ली और बहुत-सा धन बाँधकर उस लम्बी रस्सीके द्वारा जहाजपर उतारनेके लिए

---

१ जेतुं ल० । २ वसुनन्दकृत् इत्यपि क्वचित् । ३ पट्टबन्धपुरस्सराम् क०, ग०, घ० ।

बध्नावतरणायामि रज्ज्वा तेन सह स्वयम् । चिचालुरासीद्रज्जुं तां [1]प्रमोदात्सोऽप्यचालयत् ॥२९८॥
सचलत्तच्चालनं दृष्ट्वा नागदत्तो बहिर्गतः । समाकृष्याग्रहीत्तं च तां च द्रव्यं च तुष्टवान् ॥२९९॥
पोतप्रस्थानकालेऽस्याः साराभरणसंहतिम् । विस्मृतां स कुमारस्तामानेतुं गतवान् पुनः ॥३००॥
नागदत्तस्तदा रज्जुमाकृष्य द्रव्यमेतया । सारं संप्राप्तमेतन्मे भोक्तुमामरणाद्भवेत् ॥३०१॥
कृतार्थोऽहं कुमारेण यद्वा तद्वानुभूयताम् । इति [2]प्रास्थित सार्धं तैलंब्धरन्ध्रो वणिग्जनैः ॥३०२॥
नागदत्तेऽङ्गितं ज्ञात्वा कन्यका मौनमब्रवीत् । प्रीतिंकराद्विनात्रान्यैर्नं वदाम्यहमित्यसौ ॥३०३॥
नागदत्तोऽपि कन्यैषा मूकीति प्रतिपादयन् । तां द्रव्यरक्षणेऽयौक्षीत्प्रीत्या स्वाङ्गुलिसंज्ञया ॥३०४॥
क्रमात्स्वनगरं प्राप श्रेष्ठी प्रीतिंकरस्तदा । गतो भूतिलकं नायात्कुत इत्यवदत्स तम् ॥३०५॥
नागदत्तमसौ नाहं जानामीत्युत्तरं ददौ । भूषणानि समादाय समुद्रतटमागतः ॥३०६॥
नागदत्तेन पापेन स कुमारोऽतिसंधितः । अदृष्ट्वा पोतमुद्विग्नः पुरं प्रति निवृत्तवान् ॥३०७॥
सचिन्तस्तत्र जैनेन्द्रगेहमेकं विलोक्य तम् । पुष्पादिभिः समभ्यर्च्यं विधाय विधिवन्दनाम् ॥३०८॥
जिन [3]त्वद्दृष्टमात्रेण मत्पापं क्वाप्यलीयत । निशि दीपेन वा ध्वान्तं समुन्मीलितचक्षुषः ॥३०९॥
चेतनः कर्मभिर्ग्रस्तः सर्वोऽप्यन्यदचेतनम् । सर्वविल्कर्मनिर्मुक्तो जिन केनोपमीयसे ॥३१०॥
सांख्यादीन् लोकविख्यातान् सर्वथा सावधारणान् । एको भवान् जिनाजैषीच्चित्रं निरवधारणः ॥३११॥
अबोधतमसाक्रान्तमनाद्यन्तं जगत्त्रयम् । सुप्तं त्वमेव जागर्षि शश्वद्विश्वं च पश्यसि ॥३१२॥

कुमारके साथ किनारेपर आ गयी। कुमारने भी बड़े हर्षसे वह रस्सी हिलायी। रस्सीका हिलना देखकर नागदत्त बाहर आया और उस कन्याको तथा उसके धनको जहाजमें खींचकर बहुत सन्तुष्ट हुआ। जब जहाज चलनेका समय आया तब कुमार उस कन्याके भूले हुए सारपूर्ण आभरणोंको लानेके लिए फिरसे नगरमें गया ॥२९८-३००॥ इधर उसके चले जानेपर नागदत्तने वह रस्सी खींच ली और 'इस कन्याके साथ मुझे बहुत-सा अच्छा धन मिल गया है, वह मेरे मरने तक भोगनेके काम आवेगा, मैं तो कृतार्थ हो चुका, प्रीतिंकरकुमार जैसा-तैसा रहे' ऐसा विचार कर और छिद्र पाकर नागदत्त अन्य वैश्योंके साथ चला गया ॥३०१-३०२॥ कन्याने नागदत्तका अभिप्राय जानकर मौन धारण कर लिया और ऐसी प्रतिज्ञा कर ली कि मैं इस जहाजपर प्रीतिंकरके सिवाय अन्य किसीसे बातचीत नहीं करूँगी ॥३०३॥ नागदत्तने भी लोगों-पर ऐसा प्रकट कर दिया कि यह कन्या गूँगी है और उसे अपनी अंगुलीके इशारेसे बड़े प्रेमके साथ द्रव्यकी रक्षा करनेमें नियुक्त किया ॥३०४॥ अनुक्रमसे नागदत्त अपने नगरमें पहुँच गया। पहुँचनेपर सेठने उससे पूछा कि उस समय प्रीतिंकर भी तो तुम्हारे साथ भूतिलक नगरको गया था वह क्यों नहीं आया ? इसके उत्तरमें नागदत्तने कहा कि मैं कुछ नहीं जानता हूँ। आभूषण लेकर प्रीतिंकर कुमार समुद्रके तटपर आया परन्तु पापी नागदत्त उसे धोखा देकर पहले ही चला गया था। जहाजको न देखकर वह उद्विग्न होता हुआ नगरकी ओर लौट गया ॥३०५-३०७॥ चिन्तासे भरा प्रीतिंकर वहीं एक जिनालय देखकर उसमें चला गया। पुष्पादिक-से उसने वहाँ विधिपूर्वक भगवान्‌की पूजा-वन्दना की। तदनन्तर निम्न प्रकार स्तुति करने लगा ॥३०८॥

"हे जिनेन्द्र ! जिस प्रकार रात्रिमें खुले नेत्रवाले मनुष्यका सब अन्धकार दीपकके द्वारा नष्ट हो जाता है उसी प्रकार आपके दर्शन मात्रसे मेरे सब पाप नष्ट हो गये हैं ॥३०९॥ हे जिनेन्द्र ! आप, शुद्ध जीव, कर्मोंसे ग्रसित संसारी जीव और जीवोंसे भिन्न अचेतन द्रव्य इन सबको जानते हैं तथा कर्मोंसे रहित हैं अतः आपकी उपमा किसके साथ दी जा सकती है ? ॥३१०॥ हे भगवन् ! यद्यपि आप इन्द्रिय-ज्ञानसे रहित हैं तो भी इन्द्रिय-ज्ञानसे सहित सांख्य आदि लोक प्रसिद्ध दर्शनकारोंको आपने अकेले ही जीत लिया है यह आश्चर्यकी बात है ॥३११॥ हे देव ! आदि और अन्तसे रहित यह तीनों लोक अज्ञान रूपी अन्धकारसे व्याप्त होकर सो रहा

---

१. प्रमादात् क०, ग०, घ०, म० । २. प्रस्थितः ल० । ३. त्वद्दृष्टिमात्रेण म०, ल० ।

वस्तुबोधे विनेयस्य जिनेन्द्र भवदागमः । निर्मलः शर्मदो हेतुरालोको[1] वा सचक्षुषः ॥३१३॥
इत्थं स्वकृतसंस्तोत्रः शुद्धश्रद्धावबोधनः । सम्यक्संसारसद्भावं भावयन्कर्मनिर्मितम् ॥३१४॥
[2]अभिषेचनशालायां सुप्तवान्किञ्चिदाकुलः । तदा नन्दमहानन्दावागतौ गुह्यकामरौ ॥३१५॥
वन्दितुं मन्दिरं जैनं वीक्ष्य तं कर्णपत्रकम् । तौ तदीयं समादाय सधर्मा [3]वां कुमारकः ॥३१६॥
इति प्रापयतं देवौ द्रव्येण महता सह । सुप्रतिष्ठं पुरं प्रीतिंकरमेनं प्रमोदिनम् ॥३१७॥
प्रेषणं युवयोरेतदस्माकमिति तद्गतम् । गुरोः संदेशमालोक्य [4]स्मृत्वा प्राग्भववृत्तकम् ॥३१८॥
वाराणस्यां पुरे पूर्वं धनदेववणिक्पतेः । भूत्वावां जिनदत्तायां शान्तवो रमणः सुतौ ॥३१९॥
तत्र शास्त्राणि सर्वाणि विदित्वा ग्रन्थतोऽर्थतः । चोरशास्त्रबलात्पापौ परार्थहरणे रतौ ॥३२०॥
अभूवास्मद्गुरुस्तस्मान्निवारयितुमक्षमः । सर्वसङ्गपरित्यागमकरोदतिदुस्तरम् ॥३२१॥
इतो धान्यपुराभ्यर्णशिखिभूधरनामनि । भूधरे मुनिमाहात्म्याद् दुष्टाः शार्दूलकादयः ॥३२२॥
मृगाः कांश्चिन्न बाधन्त इति श्रुत्वा जनोदितम्[5] । कृततद्भूधरावासौ तत्र भूरितपोधनम् ॥३२३॥
दृष्ट्वा सागरसेनाख्यं तत्समीपे जिनोदितम् । श्रुत्वा धर्मं परित्यज्य मधुमांसादिभक्षणम् ॥३२४॥
तस्मिन्गुरौ ततः सुप्रतिष्ठाख्यनगरं गते । शार्दूलोपद्रवान्मृत्वा देवभूयं गताविदम् ॥३२५॥
सर्वमेतद्गुरोरात्तव्रतादित्यभिमत्य तम् । गत्वा संप्राप्य संपूज्य किमावाभ्यां निदेशनम् ॥३२६॥
कर्तव्यमिति संपृष्टो मुनिनाथोऽभ्यधादसौ । अतः परं दिनैः कैश्चित्कर्तव्यं यद्भविष्यति ॥३२७॥

है उसमें केवल आप ही जग रहे हैं और समस्त संसारको देख रहे हैं ॥३१२॥ हे जिनेन्द्र ! जिस प्रकार चक्षुसहित मनुष्यको पदार्थका ज्ञान होनेमें प्रकाश कारण है उसी प्रकार शिष्यजनोंको वस्तुतत्त्वका ज्ञान होनेमें आपका निर्मल तथा सुखदायी आगम ही कारण है ॥३१३॥ इस प्रकार शुद्ध ज्ञानको धारण करनेवाले प्रीतिंकर कुमारने अपने-द्वारा बनाया हुआ स्तोत्र पढ़ा तथा कर्मके द्वारा निर्मित संसारकी दशाका अच्छी तरह विचार किया ॥३१४॥ तदनन्तर कुछ व्याकुल होता हुआ वह अभिषेकशाला (स्नानगृह) में सो गया। उसी समय नन्द और महानन्द नामके दो यक्ष देव, जिन-मन्दिरकी वन्दना करनेके लिए आये ॥३१५॥ उन्होंने जिन-मन्दिरके दर्शन कर प्रीतिंकरके कानमें बँधा हुआ पत्र देखा और देखते ही उसे ले लिया। पत्रमें लिखा था कि 'यह प्रीतिंकरकुमार तुम्हारा सधर्मा भाई है, इसलिए सदा प्रसन्न रहनेवाले इस कुमार-को तुम बहुत भारी द्रव्यके साथ सुप्रतिष्ठ नगरमें पहुँचा दो। तुम दोनोंके लिए मेरा यही कार्य है' इस प्रकार उन दोनों देवोंने उस पत्रसे अपने गुरुका सन्देश तथा अपने पूर्वभवका सब समाचार जान लिया ॥३१६-३१८॥ पहले वाराणसी नगरमें धनदेव नामका एक वैश्य रहता था। हम दोनों उसकी जिनदत्ता नामकी स्त्रीसे शान्तव और रमण नामके दो पुत्र हुए थे ॥३१९॥ वहाँ हमने ग्रन्थ और अर्थसे सब शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया परन्तु चोर शास्त्रका अधिक अभ्यास होनेसे हम दोनों दूसरेका धन-हरण करनेमें तत्पर हो गये ॥३२०॥ हमारे पिता भी हम लोगों-को इस चोरीके कार्यसे रोकनेमें समर्थ नहीं हो सके। इसलिए उन्होंने अत्यन्त कठिन समस्त परिग्रहका त्याग कर दिया अर्थात् मुनिदीक्षा धारण कर ली ॥३२१॥ इधर धान्यपुर नगरके समीप शिखिभूधर नामक पर्वतपर मुनिराजके माहात्म्यसे वहाँपर रहनेवाले सिंह, व्याघ्र आदि दुष्ट जीव भी किसीको बाधा नहीं पहुँचाते हैं इस प्रकार लोगोंका कहना सुनकर हम दोनोंने पर्वतपर जाकर वहाँ सागरसेन नामके अतिशय तपस्वी मुनिराजके दर्शन किये, उनके समीप जैनधर्मका उपदेश सुना और मधु, मांस आदिका त्याग कर दिया ॥३२२-३२४॥ तदनन्तर वे मुनिराजके सुप्रतिष्ठ नगरमें चले जानेपर सिंहके उपद्रवसे मरकर हम दोनों इस देव-पर्यायको प्राप्त हुए हैं ॥३२५॥ 'यह सब गुरु महाराजसे लिये हुए व्रतके प्रभावसे ही हुआ है' ऐसा जानकर हम दोनों उनके समीप गये, उनकी पूजा की और तदनन्तर दोनोंने पूछा कि हमारे

१. रालोकावासचक्षुषः-ल० । २. अभिषिच्यन-ल० । ३. युवयोः । ४. ज्ञात्वा ल० । ५. जनोदितात् ल० ।

भवद्भ्यामेव तज्ज्ञात्वा विधेयमिति सादरम्। स एष तस्य संदेश इति पत्रं प्रदर्श्य तत् ॥३२८॥
द्रव्येण बहुना सार्धं विमानमधिरोप्य तम्। सुप्रतिष्ठपुराभ्यर्णगिरिं धरणिभूषणम् ॥३२९॥
सद्यः प्रापयतः स्मैतौ किं न कुर्याद्‌शोदयः। तदागमनमाकर्ण्य भूपतिस्तस्य बान्धवाः ॥३३०॥
नागराश्च विभूत्यैनं संमदात्समुपागताः। तेभ्यः प्रीतिंकरं दत्वा स्वावासं जग्मतुः सुरौ ॥३३१॥
पुरं प्रविश्य सद्रत्नैः स महीशमपूजयत्। सोऽपि संभाव्य तं स्थानमानादिभिरतोषयत् ॥३३२॥
अथान्येद्युः कुमारस्य ज्यायसीं प्रियमित्रिकाम्। मातरं स्वतनूजस्य प्राप्ये परिणयोत्सवे ॥३३३॥
आत्मस्नुषामलंकर्तुं रत्नाभरणसंहतिम्। गृहीत्वा रथमारुह्य महादर्शनकर्मणे ॥३३४॥
यान्तीं द्रष्टुं समायाता रथ्यायां मूकिका स्वयम्। वीक्ष्य स्वभूषासंदोहं स्पष्टमङ्गुलिसंज्ञया ॥३३५॥
मदीयमेतदित्युक्त्वा जवान् सा तां रथस्थिताम्। रुध्वा स्थितवती सापि प्राहैषा ग्रहिकेति ताम् ॥३३६॥
तज्ज्ञाश्च मन्त्रतन्त्रादिविधिभिः सुप्रयोजितैः। परीक्ष्येयं न भूतोपसृष्टेति व्यक्तमब्रुवन् ॥३३७॥
कुमारोऽपि तदाकर्ण्य न बिभेतु कुमारिका। राजाभ्याशं समभ्येतु तत्राहं चास्म्युपस्थितः ॥३३८॥
इत्यस्याः प्राहिणोत्पत्रं गूढं तद्वीक्ष्य सत्तथा। श्रद्धायाह्लादिता राज्ञः समीपमगमन्मुदा ॥३३९॥
तदाभरणवृत्तान्तपरिच्छेदाय भूपतिः। धर्माध्यक्षान्समाहूय विचाराय न्ययोजयत् ॥३४०॥
वसुन्धरां च तत्रैव कृत्वा संनिहितां[1] तदा। राजा कुमारमप्राक्षीद्वेत्सीदं किं भवानिति ॥३४१॥
अभिधाय स्वविज्ञातं शेषं वेत्तीयमेव तत्। देवेत्याहमित्येवं सोऽपि भूपमबोधयत् ॥३४२॥

लिए क्या आज्ञा है ? इसके उत्तरमें मुनिराजने कहा था कि कुछ दिनोंके बाद मेरा कार्य होगा और आप दोनों उसे अच्छी तरह जानकर आदरसे करना। सो मुनिराजका वह सन्देश यही है यह कहकर वह पत्र खोलकर दिखाया ॥३२६-३२८॥ इसके पश्चात् उन देवोंने बहुत-से धनके साथ उस प्रीतिंकरको विमानमें बैठाया और सुप्रतिष्ठित नगरके समीपवर्ती धरणिभूषण नामके पर्वतपर उसे शीघ्र ही पहुँचा दिया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यका उदय क्या नहीं करता है ? प्रीतिंकरका आना सुनकर राजा, उसके भाई-बन्धु और नगरके लोग बड़े हर्षसे अपनी-अपनी विभूतिके साथ उसके समीप आये। उन देवोंने वह प्रीतिंकर कुमार उन सबके लिए सौंपा और उसके बाद वे अपने निवास-स्थानपर चले गये ॥३२९-३३१॥ प्रीतिंकरने नगरमें प्रवेश कर समीचीन रत्नोंकी भेंट देकर राजाकी पूजा की और राजाने भी योग्य स्थान तथा मान आदि देकर उसे सन्तुष्ट किया ॥३३२॥

अथानन्तर किसी दूसरे दिन प्रीतिंकर कुमारकी बड़ी माँ प्रियमित्रा अपने पुत्रके विवाहोत्सवमें अपनी पुत्रवधूको अलंकृत करनेके लिए रत्नमय आभूषणोंका समूह लेकर तथा रथपर सवार होकर सबको दिखलानेके लिए जा रही थी। उसे देखनेके लिए वह गूँगी कन्या स्वयं मार्गमें आयी और अपने आभूषणोंका समूह देखकर उसने अँगुलीके इशारेसे सबको बतला दिया कि यह आभूषणोंका समूह मेरा है। तदनन्तर वह कन्या रथमें बैठी हुई प्रियमित्राको रोककर खड़ी हो गयी। इसके उत्तरमें रथपर बैठी हुई प्रियमित्राने सबको समझा दिया कि यह कन्या पगली है ॥३३३-३३६॥ तब मन्त्र-तन्त्रादिके जाननेवाले लोगोंने विधिपूर्वक मन्त्र-तन्त्रादिका प्रयोग किया और परीक्षा कर स्पष्ट बतला दिया कि न यह पागल है और न इसे भूत लगा है ॥३३७॥ यह सुनकर प्रीतिंकर कुमारने उस कन्याके पास गुप्त रूपसे इस आशयका एक पत्र भेजा कि हे कुमारी ! तू बिलकुल भय मत कर, राजाके पास आ, मैं भी वहाँ उपस्थित रहूँगा। पत्र देखकर तथा विश्वास कर वह कन्या बड़े हर्षसे राजाके समीप गयी। राजाने भी उसके आभूषणोंका वृत्तान्त जाननेके लिए धर्माधिकारियोंको बुलाकर नियुक्त किया ॥३३८-३४०॥ राजाने वसुन्धरा कन्याको समीप ही आड़में बिठलाकर कुमार प्रीतिंकरसे पूछा कि क्या आप इसका कुछ हाल जानते हैं ? ॥३४१॥ इसके उत्तरमें कुमारने अपना जाना हुआ हाल कह दिया और फिर राजासे समझाकर कह दिया कि बाकीका हाल मैं नहीं जानता

१ ज्ञात्वा सन्निहितो तदा ल० ।

गन्धादिभिः समभ्यर्च्य तां पटान्तरितां नृपः । देव ते ब्रूहि यद्दृष्टं तत्तथेत्यनुयुक्तवान् ॥३४३॥
सा नागदत्तदुश्चेष्टां महीनाथमबूबुधत् । श्रुत्वा तत्सुविचार्यास्मै कुपित्वानेन पापिना ॥३४४॥
कृतः पुत्रवधः स्वामिवधश्चेति महीपतिः । सर्वस्वहरणं कृत्वा निगृहीतुं समुद्यतः ॥३४५॥
प्रतिषिद्धः कुमारेण नैतद्युक्तं तवेति सः । सौजन्यतस्तदा तुष्टा कुमाराय निजात्मजाम् ॥३४६॥
पृथिवीसुन्दरीं नाम्ना कन्यकां च वसुंधराम् । द्वात्रिंशद्वैश्यपुत्रीश्च कल्याणविधिना ददौ ॥३४७॥
सह पूर्वधनस्थानमर्धराज्यं च मावते । पुरा विहितपुण्यानां स्वयमायान्ति संपदः ॥३४८॥
प्रीतः प्रीतिंकरस्तत्र कामभोगान्समीप्सितान् । स्वेच्छया वर्धमानेच्छश्चिरायानुबभूव सः ॥३४९॥
मुनौ सागरसेनाख्ये संन्यस्यान्येद्युरीयुषि । लोकान्तरं तदागत्य चारणौ समुपस्थितौ ॥३५०॥
ऋजुश्च विपुलाख्यश्च मत्यन्तौ मतिभूषणौ । रम्ये मनोहरोद्याने गत्वा स्तुत्वा वणिग्वरः ॥३५१॥
धर्मं समन्वयुङ्क्तैतावित्याहर्जुमतिस्तयोः[1] । धर्मोऽपि द्विविधो ज्ञेयः स गृहागृहभेदतः ॥३५२॥
एकादशविधस्तत्र धर्मो गृहनिवासिनाम् । श्रद्धानव्रतभेदादिः शेषो दशविधः स्मृतः ॥३५३॥
क्षान्त्यादिः कर्मविध्वंसी तच्छ्रुत्वा तदनन्तरम् । स्वपूर्वभवसंबन्धं पप्रच्छैवं च सोऽब्रवीत् ॥३५४॥
शृणु सागरसेनाख्यमुनिमातपयोगिनम् । पुरेऽस्मिन्नेव भूपाकप्रमुखा वन्दितुं गताः ॥३५५॥
नानाविधार्चनाद्रव्यैः संपूज्य पुरमागतः । शङ्खतूर्यादिनिर्घातं[2] श्रुत्वैकमिह जम्बुकम् ॥३५६॥
कश्चिल्लोकान्तरं यातः पुरेऽद्यैतं जनो बहिः । क्षिप्त्वा यातु ततो भक्षयिष्यामीत्यागतं मुनिः[3] ॥३५७॥

यह देवी ही जानती है ॥३४२॥ राजाने कपड़ेकी आड़में बैठी हुई उस देवीकी गन्ध आदिसे पूजा कर पूछा कि देवि ! तूने जो देखा हो वह ज्योंका त्यों कह ॥३४३॥ इसके उत्तरमें उस देवीने राजाको नागदत्तकी सब दुष्ट चेष्टाएँ बतला दीं। उन्हें सुनकर तथा उनपर अच्छी तरह विचार कर राजा नागदत्तसे बहुत ही कुपित हुआ। उसने कहा कि इस पापीने पुत्रवध किया है और स्वामिद्रोह भी किया है। यह कहकर उसने उसका सब धन लुटवा लिया और उसका निग्रह करनेका भी उद्यम किया परन्तु कुमार प्रीतिंकरने यह कहकर मना कर दिया कि आपके लिए यह कार्य करना योग्य नहीं है। उस समय कुमारकी सुजनतासे राजा बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और उसने अपनी पृथिवीसुन्दरी नामकी कन्या, वसुन्धरा नामकी कन्या तथा वैश्योंकी अन्य बत्तीस कन्याएँ विधिपूर्वक उसके लिए व्याह दीं ॥३४४-३४७॥ इसके सिवाय पहलेका धन, स्थान तथा अपना आधा राज्य भी दे दिया सो ठीक ही है क्योंकि जिन्होंने पूर्वभवमें पुण्य किया है ऐसे मनुष्योंको सम्पदाएँ स्वयं प्राप्त हो जाती हैं ॥३४८॥ इस प्रकार जो अतिशय प्रसन्न है तथा जिसकी इच्छाएँ निरन्तर बढ़ रही हैं ऐसे प्रीतिंकर कुमारने वहाँ अपनी इच्छानुसार चिरकाल तक मनचाहे काम-भोगोंका उपभोग किया ॥३४९॥

तदनन्तर किसी एक दिन मुनिराज सागरसेन, आयुके अन्तमें संन्यास धारण कर स्वर्ग चले गये। उसी समय वहाँ बुद्धि-रूपी आभूषणोंसे सहित ऋजुमति और विपुलमति नामके दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज मनोहर नामक उद्यानमें आये। प्रीतिंकर सेठने जाकर उनकी स्तुति की और धर्मका स्वरूप पूछा। उन दोनों मुनियोंमें जो ऋजुमति नामके मुनिराज थे वे कहने लगे कि गृहस्थ और मुनिके भेदसे धर्म दो प्रकारका जानना चाहिए। गृहस्थोंका धर्म दर्शन-प्रतिमा, व्रत-प्रतिमा आदिके भेदसे ग्यारह प्रकारका है और कर्मोंका क्षय करनेवाला मुनियोंका धर्म क्षमा आदिके भेदसे दश प्रकारका है। धर्मका स्वरूप सुननेके बाद प्रीतिंकरने मुनिराजसे अपने पूर्वभवोंका सम्बन्ध पूछा। इसके उत्तरमें मुनिराज इस प्रकार कहने लगे कि सुनो, मैं कहता हूँ—किसी समय इसी नगरके बाहर सागरसेन मुनिराजने आतापन योग धारण किया था इसलिए उनकी वन्दनाके लिए राजा आदि बहुत-से लोग गये थे, वे नाना प्रकारकी पूजाकी सामग्रीसे उनकी पूजा कर शंख तुरही आदि बाजोंके साथ नगरमें आये। उन बाजोंका शब्द सुनकर एक शृगालने विचार किया कि

---

१ –स्तयो ल० (?) । २ निर्ध्वानं ख० । ३ मुनिं ख० ।

भव्योऽयं व्रतमादाय मुक्तिमाशु गमिष्यति । इति मत्वा तमासन्नमसावेवमभाषत ॥३५८॥
प्राग्जन्मकृतपापस्य फलेनाभूः शृगालकः । इदानीं च कुधीः साधुसमायोगेऽपि मन्यसे ॥३५९॥
दुष्कर्म विरमैतस्माद्दुरन्तदुरितावहात् । गृहाण व्रतमभ्येहि परिणाम शुभावहम् ॥३६०॥
इति तद्वचनादेष मुनिर्मन्मनसि स्थितम् । ज्ञातवानिति संजातसंमदः स शृगालकम् ॥३६१॥
मुनिस्तदिङ्गिताभिज्ञः पुनरेवं समब्रवीत् । त्वमन्यत्र न शक्नोषि व्रतस्यामिषलालसः ॥३६२॥
गृहाणेदं व्रतं श्रेष्ठं रात्रिभोजनवर्जनम् । परलोकस्य पाथेयमिति भव्यं मुनेर्वचः ॥३६३॥
श्रुत्वा भक्त्या परीत्यैनं प्रणम्य कृतसंमदः । गृहीत्वा तद्व्रतं मद्यमांसादीनि च सोऽत्यजत् ॥३६४॥
तदा प्रभृति शाल्यादि विशुद्धाशनमाहरन् । अतिकृच्छ्रं तपः कुर्वन् कंचित्कालमजीगमत् ॥३६५॥
शुष्काहारमथान्येद्युर्भुक्त्वा तृष्णातिबाधितः । अर्कास्तमयवेलायां पयःपानाभिलाषया ॥३६६॥
कूपं सोपानमार्गेण प्रविश्यान्तः किमप्यसौ । तत्रालोकमनालोक्य दिनेशोऽस्तमुपागतः ॥३६७॥
इति निर्गत्य दृष्ट्वा भां पुनः पातुं प्रविष्टवान् । गोमायुरेवं द्विस्त्रिर्वा कुर्वंस्तत्र समागमौ ॥३६८॥
दिनेशमस्तमानीय सोढतृष्णापरीषहः । विशुद्धपरिणामेन मृतिमित्वा दृढव्रतः ॥३६९॥
एवं कुबेरदत्तस्य भूत्वा प्रीतिंकरः सुतः । व्रतेन धनमित्रायामीदृगैश्वर्यमाप्तवान् ॥३७०॥
इति तद्वचनाज्जातसंवेगस्तं यतीश्वरम् । शंसन् व्रतस्य माहात्म्यमभिवन्द्य ययौ गृहम् ॥३७१॥
निव्रतः संसृतौ दीर्घमश्नन् दुःखान्यनारतम् । अपारं खेदमायाति दुर्भिक्षे दुर्विधो यथा ॥३७२॥

'आज कोई नगरमें मर गया है इसलिए लोग उसे बाहर छोड़कर आये हैं, मैं जाकर उसे खाऊँगा' ऐसा विचार कर वह शृगाल मुनिराजके समीप आया। उसे देखकर मुनिराज समझ गये कि यह भव्य है और व्रत लेकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करेगा। ऐसा विचार कर मुनिराज उस निकटभव्यसे इस प्रकार कहने लगे कि पूर्व जन्ममें जो तूने पाप किये थे उनके फलसे अब शृगाल हुआ है और अब फिर दुर्बुद्धि होकर मुनियोंका समागम मिलनेपर भी उसी दुष्कर्मका विचार कर रहा है। हे भव्य ! तू दुःखदायी पापको देनेवाले इस कुकर्मसे विरत हो व्रत ग्रहण कर और शुभ परिणाम धारण कर ॥३५०-३६०॥ मुनिराजके यह वचन सुनकर शृगालको इस बातका बहुत हर्ष हुआ कि यह मुनिराज मेरे मनमें स्थित बातको जानते हैं। शृगालकी चेष्टा-को जाननेवाले मुनिराजने उस शृगालसे फिर कहा कि तू मांसका लोभी होनेसे अन्य व्रत ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है अतः रात्रिभोजन त्याग नामका श्रेष्ठ व्रत धारण कर ले। मुनिराज-के वचन क्या थे मानो परलोकके लिए सम्बल (पाथेय) ही थे। मुनिराजके धर्मपूर्ण वचन सुनकर वह शृगाल बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने भक्तिपूर्वक उनकी प्रदक्षिणा दी, उन्हें नमस्कार किया और रात्रिभोजन त्यागका व्रत लेकर मद्य-मांस आदिका भी त्याग कर दिया ॥३६१-३६४॥ उस समयसे वह शृगाल चावल आदिका विशुद्ध आहार लेने लगा। इस तरह कठिन तपश्चरण करते हुए उसने कितना ही काल व्यतीत किया ॥३६५॥ किसी एक दिन उस शृगालने सूखा आहार किया जिससे प्याससे पीड़ित होकर वह सूर्यास्तके समय पानी पीनेकी इच्छासे सीढ़ियों-के मार्ग-द्वारा किसी कुएँके भीतर गया। कुएँके भीतर प्रकाश न देखकर उसने समझा कि सूर्य अस्त हो गया है इसलिए पानी बिना पिये ही बाहर निकल आया। बाहर आनेपर प्रकाश दिखा इसलिए पानी पीनेके लिए फिरसे कुएँके भीतर गया। इस तरह वह शृगाल दो-तीन बार कुएँके भीतर गया और बाहर आया। इतनेमें सचमुच ही सूर्य अस्त हो गया। निदान, उस शृगालने अपने व्रतमें दृढ़ रहकर तृषा-परिषह सहन किया और विशुद्ध परिणामोंसे मरकर कुबेरदत्त सेठकी धनमित्रा स्त्रीसे प्रीतिंकर नामका पुत्र हुआ। व्रतके प्रभावसे ही उसने ऐसा ऐश्वर्य प्राप्त किया है। इस प्रकार मुनिराजके वचन सुनकर प्रीतिंकर संसारसे भयभीत हो उठा, उसने व्रतके माहात्म्यकी बहुत भारी प्रशंसा की तथा मुनिराजको नमस्कार कर वह अपने घर लौट आया ॥३६६-३७१॥ आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार दुर्भिक्ष पड़नेपर दरिद्र मनुष्य बहुत ही दुःखी होता है उसी प्रकार इस संसारमें व्रतरहित मनुष्य दीर्घकाल तक दुःख भोगता हुआ निरन्तर अपार खेदको प्राप्त होता रहता है ॥३७२॥ व्रतके कारण इस जीवका सब विश्वास

व्रतात्प्रत्ययमायाति निर्व्रतः शङ्क्यते जनैः । व्रती सफलवृक्षो वा निर्व्रतो वन्ध्यवृक्षवत् ॥३७३॥
अभीष्टफलमाप्नोति व्रतवान्परजन्मनि । न व्रतादपरो बन्धुर्नाव्रतादपरो रिपुः ॥३७४॥
सर्वैर्वाग्व्रतिनो ग्राह्या निर्व्रतस्य न केनचित् । उग्रामिर्देवताभिश्च व्रतवान्नाभिभूयते ॥३७५॥
अन्त्योऽपि नमस्त्येव व्रतवन्तं [1]वयोनवम् । वयोवृद्धो व्रताद्धीनस्तृणवद्गण्यते जनैः ॥३७६॥
प्रवृत्त्यादीयते पापं निवृत्त्या तस्य संक्षयः । व्रतं निवृत्तिमेवाहुस्तद्गृह्णन्त्युत्तमो व्रतम् ॥३७७॥
व्रतेन जायते संपन्नाव्रतं संपदे भवेत् । तस्मात्संपदमाकाङ्क्षन्निःकांक्षः सुव्रतो भवेत् ॥३७८॥
स्वर्गापवर्गयोर्बीजं जन्तोः स्वल्पमपि व्रतम् । तत्र प्रीतिंकरो वाच्यो व्यक्तं दृष्टान्तकांक्षिणाम् ॥३७९॥
पूर्वोपात्तव्रतस्येष्टं फलमत्रानुभूयते । कश्चित्कदाचित्किंचित्किं जायते कारणाद्विना ॥३८०॥
कारणादिच्छता कार्यं कार्ययोः सुखदुःखयोः । धर्मपापे विपर्यस्ते तदा वाग्यत्तदीक्ष्यताम् ॥३८१॥
धर्मपापे [2]विमुच्यान्यद्विलयं कारणं वदन् । को विधीर्व्यसनी नोचेन्निर्घृणो नास्तिकोऽथवा ॥३८२॥
धीमानुदीक्षते [3]पश्यन् जन्मनोऽस्य हिताहिते । भाविनस्ते प्रपश्यन्तः स्युर्न धीमत्तमाः कथम् ॥३८३॥
इति मत्वा जिनप्रोक्तं व्रतमादाय शुद्धधीः । स्वर्गापवर्गसौख्याय यतेताविष्कृतोद्यमः ॥३८४॥
अथ प्रियंकराख्याय साभिषेकं स्वसंपदम् । वसुंधरासुते प्रीतिंकरोऽदत्त विरक्तधीः ॥३८५॥
एत्य राजगृहं सार्धं बहुभिर्भृत्यबान्धवैः । भगवत्पार्श्वमासाद्य संयमं प्राप्तवानयम् ॥३८६॥

करते हैं और व्रतरहित मनुष्यसे सब लोग सदा शंकित रहते हैं। व्रती फलसहित वृक्षके समान हैं और अव्रती फलरहित वन्ध्य वृक्षके समान है॥३७३॥व्रती मनुष्य पर-जन्ममें इष्ट फलको प्राप्त होता है, इसलिए कहना पड़ता है कि इस जीवका व्रतसे बढ़कर कोई भाई नहीं है और अव्रतसे बढ़कर कोई शत्रु नहीं है ॥३७४॥ व्रती मनुष्यके वचन सभी स्वीकृत करते हैं परन्तु व्रतहीन मनुष्यकी बात कोई नहीं मानता। बड़े-बड़े देवता भी व्रती मनुष्यका तिरस्कार नहीं कर पाते हैं ॥३७५॥ व्रती मनुष्य अवस्थाका नया हो तो भी वृद्ध जन उसे नमस्कार करते हैं और वृद्धजन व्रतरहित हो तो उसे लोग तृणके समान तुच्छ समझते हैं ॥३७६॥ प्रवृत्तिसे पापका ग्रहण होता है और निवृत्तिसे उसका क्षय होता है। यथार्थमें निवृत्तिको ही व्रत कहते हैं इसलिए उत्तम मनुष्य व्रतको अवश्य ही ग्रहण करते हैं ॥३७७॥ व्रतसे सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है और अव्रतसे कभी सम्पत्ति नहीं मिलती। इसलिए सम्पत्तिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको निष्काम होकर उत्तम व्रती होना चाहिए ॥३७८॥ इस जीवके लिए छोटा-सा व्रत भी स्वर्ग और मोक्षका कारण होता है। इस विषयमें जो दृष्टान्त चाहते हैं उन्हें प्रीतिंकरका दृष्टान्त अच्छी तरह दिया जा सकता है ॥३७९॥ जिन्होंने पूर्वभवमें अच्छी तरह व्रतका पालन किया है वे इस भवमें इच्छानुसार फल भोगते हैं सो ठीक ही है क्योंकि बिना कारणके क्या कभी कोई कार्य होता है? ॥३८०॥ जो कारणसे कार्यकी उत्पत्ति मानता है उसे सुख-दुःखरूपी कार्यका कारण धर्म और पाप ही मानना चाहिए अर्थात् धर्मसे सुख और पापसे दुःख होता है, ऐसा मानना चाहिए। जो इससे विपरीत मानते हैं उन्हें विपरीत फलकी ही प्राप्ति होती देखी जाती है ॥३८१॥ यदि वह मूर्ख, व्यसनी, निर्दय, अथवा नास्तिक नहीं है तो धर्म और पापको छोड़कर सुख और दुःखका कारण कुछ दूसरा ही है ऐसा कौन कहेगा? ॥३८२॥ जो केवल इसी जन्मके हित-अहितको देखता है वह भी बुद्धिमान् कहलाता है फिर जो आगामी जन्मके भी हित-अहितका विचार रखते हैं वे अत्यन्त बुद्धिमान् क्यों नहीं कहलायें? अर्थात् अवश्य ही कहलायें ॥३८३॥ ऐसा मानकर शुद्ध बुद्धिके धारक पुरुषको चाहिए कि वह जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा हुआ व्रत लेकर उद्यम प्रकट करता हुआ स्वर्ग और मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करे ॥३८४॥ तदनन्तर विरक्त बुद्धिको धारण करनेवाले प्रीतिंकरने अपनी स्त्री वसुन्धराके पुत्र प्रियंकरके लिए अभिषेकपूर्वक अपनी सब सम्पदाएँ समर्पित कर दीं और अनेक सेवक तथा भाई-बन्धुओंके साथ राजगृह

१ वयसा नवो वयोनवस्तम् नवयौवनसम्पन्नम्। 'वयौवनम्' इति क्वचित्, नवयौवन (?)।
२ विमुच्यन् ये ल०। ३ पश्य ल०।

निश्चयव्यवहारात्मसारनिर्वाणसाधनम् । त्रिरूपमोक्षसन्मार्गभावनं तद्बलोदयात् ॥३८७॥
निहत्य घातिकर्माणि प्राप्यानन्तचतुष्टयम् । अघातीनि च विध्वस्य पारमात्म्यं प्रयास्यति ॥३८८॥
इति श्रीमद्गणाधीशनिर्देशान्मगधेश्वरः । प्रीतवानभिवन्द्यायान्मन्वानः स्वकृतार्थताम् ॥३८९॥
अथान्यदा महाराजः श्रेणिकः क्षायिकीं दृशम् । दधन्नत्वा गणाधीशं कुड्मलीकृतहस्तकः ॥३९०॥
शेषावसर्पिणीकालस्थितिं निरवशेषतः । आगाम्युत्सर्पिणीकालस्थितिमप्यनुयुक्तवान् ॥३९१॥
गणी निजद्विजाभीपुप्रसरैः प्रीणयन् सभाम् । गिरा गम्भीरया व्यक्तमुक्तवानिति स क्रमात् ॥३९२॥
चतुर्थकालपर्यन्ते स्थिते संवत्सरत्रये । साष्टमासे सपक्षे स्यात् सिद्धः सिद्धार्थनन्दनः ॥३९३॥
दुष्षमायाः स्थितिर्वर्षसहस्राण्येकविंशतिः । शतवर्षायुषस्तस्मिन्नुत्कृष्टेन मता नराः ॥३९४॥
सप्तारत्निप्रमाणाङ्गा रूक्षच्छाया विरूपकाः । त्रिकालाहारनिरताः सुरतासक्तमानसाः ॥३९५॥
परेऽपि दोषाः प्रायेण तेषां स्युः कालदोषतः । यतोऽस्यां पापकर्माणो जनिष्यन्ते सहस्रशः ॥३९६॥
यथोक्तभूभुजामावाज्जाते वर्णादिसंकरे । दुष्षमायां सहस्राब्दव्यतीतौ धर्महानितः ॥३९७॥
पुरे पाटलिपुत्राख्ये शिशुपालमहीपतेः । पापी तनूजः पृथिवीसुन्दर्यां दुर्जनादिमः ॥३९८॥
चतुर्मुखाह्वयः कल्किराजो वेजितभूतलः । उत्पत्स्यते माघसंवत्सरयोगसमागमे ॥३९९॥
समानां सप्ततिस्तस्य परमायुः प्रकीर्तितम् । चत्वारिंशत्समा राज्यस्थितिश्चाक्रमकारिणः ॥४००॥
षण्णवत्युक्तपाषण्डिवर्गस्याज्ञाविधायिनः । निजभृत्यत्वमापाद्य महीं कृत्स्नां स भोक्ष्यति ॥४०१॥
अथान्येद्युः स्वमिथ्यात्वपाकाविष्कृतचेतसा । पाषण्डिषु किमस्माकं सन्त्यत्राज्ञापराङ्मुखाः ॥४०२॥

नगरमें भगवान् महावीर स्वामीके पास आकर संयम धारण किया है ॥३८५-३८६॥ निश्चय और व्यवहाररूप मोक्षका साधन, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्गकी भावना ही है। सो इसके बलसे ये प्रीतिंकर मुनिराज घातिया कर्मोंको नष्ट कर अनन्तचतुष्टय प्राप्त करेंगे और फिर अघातिया कर्मोंको नष्ट कर परमात्मपद प्राप्त करेंगे ॥३८७-३८८॥ इस प्रकार श्रीमान् गणधरदेवकी कही कथासे राजा श्रेणिक बहुत ही प्रसन्न हुआ तथा उन्हें नमस्कार कर अपने-आपको कृतार्थ मानता हुआ नगरमें चला गया ॥३८९॥

अथानन्तर किसी दूसरे दिन क्षायिक सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले राजा श्रेणिकने हाथ जोड़कर गणधरदेवको नमस्कार किया तथा उनसे बाकी बची हुई अपसर्पिणी कालकी स्थिति और आनेवाली उत्सर्पिणी कालकी समस्त स्थिति पूछी ॥३९०-३९१॥ तब गणधर भगवान् अपने दाँतोंकी किरणोंके प्रसारसे सभाको सन्तुष्ट करते हुए गम्भीर वाणी-द्वारा इस प्रकार अनुक्रमसे स्पष्ट कहने लगे ॥३९२॥ उन्होंने कहा कि जब चतुर्थ कालके अन्तके तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी रह जायेंगे तब भगवान् महावीर स्वामी सिद्ध होंगे ॥३९३॥ दुःषमा नामक पंचम कालकी स्थिति इक्कीस हजार वर्षकी है। उस कालमें मनुष्य उत्कृष्ट रूपसे सौ वर्षकी आयुके धारक होंगे ॥३९४॥ उनका शरीर अधिकसे अधिक सात हाथ ऊँचा होगा, उनकी कान्ति रूक्ष हो जायेगी, रूप भद्दा होगा, वे तीनों समय भोजनमें लीन रहेंगे और उनके मन काम-सेवनमें आसक्त रहेंगे ॥३९५॥ कालदोषके अनुसार उनमें प्रायः और भी अनेक दोष उत्पन्न होंगे क्योंकि पाप करनेवाले हजारों मनुष्य ही उस समय उत्पन्न होंगे ॥३९६॥ शास्त्रोक्त लक्षणवाले राजाओंका अभाव होनेसे लोग वर्णसंकर हो जायेंगे। उस दुःषमा कालके एक हजार वर्ष बीत जानेपर धर्मकी हानि होनेसे पाटलिपुत्र नामक नगरमें राजा शिशुपालकी रानी पृथिवीसुन्दरीके चतुर्मुख नामका एक ऐसा पापी पुत्र होगा जो कि दुर्जनोंमें प्रथम संख्याका होगा, पृथिवीको कम्पायमान करेगा और कल्कि राजाके नामसे प्रसिद्ध होगा। यह कल्कि मघा नामके संवत्सरमें होगा ॥३९७-३९९॥ आक्रमण करनेवाले उस कल्किकी उत्कृष्ट आयु सत्तर वर्षकी होगी और उसका राज्यकाल चालीस वर्ष तक रहेगा ॥४००॥ पाषण्डी साधुओंके जो छियानवे वर्ग हैं, उन सबको वह आज्ञाकारी बनाकर अपना सेवक बना लेगा और इस तरह समस्त पृथिवीका उपभोग करेगा ॥४०१॥ तदनन्तर मिथ्यात्वके उदयसे जिसका चित्त भर रहा है ऐसा पापी कल्कि अपने मन्त्रियोंसे पूछेगा कि कहो इन पाषण्डी साधुओंमें अब भी क्या कोई ऐसे हैं जो हमारी

कथ्यतामिति पापेन प्रष्टव्यास्तेन मन्त्रिणः । निर्ग्रन्थाः सन्ति देवेति ते वदिष्यन्ति सोऽपि तान् ॥४०३॥
आचारः कीदृशस्तेषामिति प्रक्ष्यति भूपतिः । निजपाणिपुटामत्रा धनहीना गतस्पृहाः ॥४०४॥
अहिंसाव्रतरक्षार्थं त्यक्तचेलादिसंवराः । साधनं तपसो मत्वा देहस्थित्यर्थमाहृतिम् ॥४०५॥
[1]एकद्व्युपोषितप्रान्ते भिक्षाकालेऽङ्गदर्शनात् । निर्याचनास्स्वशास्त्रोक्तां ग्रहीतुमभिलाषिणः ॥४०६॥
आत्मनो घातके त्रायके च ते समदर्शिनः । क्षुत्पिपासादिबाधायाः सहाः सत्यपि कारणे ॥४०७॥
परपाषण्डिवच्चान्यैरदत्तमभिलाषुकाः । [2]सर्पा वा विहितावासा ज्ञानध्यानपरायणाः ॥४०८॥
अनृमंचारदेशेषु संवसन्ति मृगैः समम् । इति वक्ष्यन्ति दृष्टं स्वैर्विशिष्टास्तेऽस्य मन्त्रिणः ॥४०९॥
श्रुत्वा तत्सहितुं नाहं शक्नोम्यक्रमवर्तनम् । तेषां पाणिपुटे प्राच्यः पिण्डः शुल्को विधीयताम् ॥४१०॥
इति राजोपदेशेन याचिष्यन्ते नियोगिनः । अग्रपिण्डमभुञ्जानाः स्थास्यन्ति मुनयोऽपि ते ॥४११॥
तद्दृष्ट्वा दर्पिणो नग्ना नाज्ञां राज्ञः प्रतीप्सवः । किं जातमिति ते गत्वा ज्ञापयिष्यन्ति तं नृपम् ॥४१२॥
सोऽपि पापः स्वयं क्रोधादरुणीभूतवीक्षणः । उद्यमी पिण्डमाहर्तुं प्रस्फुरद्दशनच्छदः ॥४१३॥
सोढुं तदक्षमः कश्चिदसुरः शुद्धदृक्तदा । हनिष्यति तमन्यायं शक्तः सन् सहते न हि ॥४१४॥
सोऽपि रत्नप्रभां गत्वा सागरोपमजीवितः । चिरं चतुर्मुखो दुःखं लोभादनुभविष्यति ॥४१५॥
धर्मनिर्मूलविध्वंसं सहन्ते न प्रभावुकाः । नास्ति सावद्यलेशेन विना धर्मप्रभावना ॥४१६॥

आज्ञासे पराङ्मुख रहते हों ? इसके उत्तरमें मन्त्री कहेंगे कि हे देव ! निर्ग्रन्थ साधु अब भी आपकी आज्ञासे बहिर्भूत हैं ॥४०२-४०३॥ यह सुनकर राजा फिर पूछेगा कि उनका आचार कैसा है ? इसके उत्तरमें मन्त्री लोग कहेंगे कि अपना हस्तपुट ही उनका बरतन है अर्थात् वे हाथमें ही भोजन करते हैं, धनरहित होते हैं, इच्छारहित होते हैं, अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए वस्त्रादिका आवरण छोड़कर दिगम्बर रहते हैं, तपका साधन मानकर शरीरकी स्थितिके लिए एक दो उपवासके बाद भिक्षाके समय केवल शरीर दिखलाकर याचनाके बिना ही अपने शास्त्रोंमें कही हुई विधिके अनुसार आहार ग्रहण करनेकी इच्छा करते हैं, वे लोग अपना घात करनेवाले अथवा रक्षा करनेवालेपर समान दृष्टि रखते हैं, क्षुधा, तृषा आदिकी बाधाको सहन करते हैं, कारण रहते हुए भी वे अन्य साधुओंके समान दूसरेके द्वारा नहीं दी हुई वस्तुकी कभी अभिलाषा नहीं रखते हैं, वे सर्पके समान कभी अपने रहनेका स्थान बनाकर नहीं रखते हैं, ज्ञान-ध्यानमें तत्पर रहते हैं और जहाँ मनुष्योंका संचार नहीं ऐसे स्थानोंमें हरिणोंके साथ रहते हैं। इस प्रकार उस राजाके विशिष्ट मन्त्री अपने द्वारा देखा हुआ हाल कहेंगे ॥४०४-४०९॥ यह सुनकर राजा कहेगा कि मैं इनकी अक्रम प्रवृत्तिको सहन करनेके लिए समर्थ नहीं हूँ, इसलिए इनके हाथमें जो पहला भोजनका ग्रास दिया जावे वही कर रूपमें इनसे वसूल किया जावे ॥४१०॥ इस तरह राजाके कहनेसे अधिकारी लोग मुनियोंसे प्रथम ग्रास माँगेंगे और मुनि भोजन किये बिना ही चुपचाप खड़े रहेंगे। यह देख अहंकारसे भरे हुए कर्मचारी राजासे जाकर कहेंगे कि मालूम नहीं क्या हो गया है ? दिगम्बर साधु राजाकी आज्ञा माननेको तैयार नहीं हैं ॥४११-४१२॥ कर्मचारियोंकी बात सुनकर क्रोधसे राजाके नेत्र लाल हो जावेंगे और ओठ फड़कने लगेगा। तदनन्तर वह स्वयं ही ग्रास छीननेका उद्यम करेगा ॥४१३॥ उस समय शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारक कोई असुर यह सहन नहीं कर सकेगा इसलिए राजाको मार देगा सो ठीक ही है क्योंकि शक्तिशाली पुरुष अन्यायको सहन नहीं करता है ॥४१४॥ यह चतुर्मुख राजा मरकर रत्नप्रभा नामक पहली पृथिवीमें जावेगा, वहाँ एक सागर प्रमाण उसकी आयु होगी और लोभ-कषायके कारण चिरकाल तक दुःख भोगेगा ॥४१५॥ प्रभावशाली मनुष्य धर्मका निर्मूल नाश कभी नहीं सहन कर सकते और कुछ सावद्य (हिंसापूर्ण) कार्यके बिना धर्म-प्रभावना हो नहीं सकती इसलिए सम्यग्दृष्टि असुर अन्यायी

---

१ एकायुषो—इति क्वचित् । सर्पा वा ऌ० । सर्प्या वा क०, ख०, ग०, घ०, म० ।

धर्मो माता पिता धर्मो धर्मस्त्राताभिवर्धकः । धर्ता भवभृतां धर्मो निर्मले निश्चले पदे ॥४१७॥
धर्मध्वंसे सतां ध्वंसस्तस्माद्धर्मद्रुहोऽधमान् । निवारयन्ति ये सन्तो रक्षितं तैः सतां जगत् ॥४१८॥
निमित्तैरष्टधाप्रोक्तैस्तपोभिर्जनरञ्जनैः । धर्मोपदेशनैरन्यवादिदर्पातिशातनैः ॥ ४१९॥
नृपचेतोहरैः श्रव्यैः काव्यैः शब्दार्थसुन्दरैः । सद्भिः शौर्येण वा कार्यं शासनस्य प्रकाशनम् ॥४२०॥
चिन्तामणिसमाः केचित्प्रार्थितार्थप्रदायिनः । दुर्लभा धीमतां पूज्या धन्या धर्मप्रकाशकाः ॥४२१॥
रुचिः प्रवर्तते यस्य जैनशासनभासने । हस्ते तस्य स्थिता मुक्तिरिति सूत्रे निगद्यते ॥४२२॥
स शाब्दः स हि तर्कज्ञः स सैद्धान्तः स सत्तपाः । यः शासनसमुद्भासी न चेत्किं तैरनर्थकैः ॥४२३॥
भास्वतेव जगद्येन भासते जैनशासनम् । तस्य पादाम्बुजद्वन्द्वं [1]ध्रियते मूर्ध्नि धार्मिकैः ॥४२४॥
उदन्वानिव रत्नस्य मलयश्चन्दनस्य वा । धर्मस्य प्रभवः श्रीमान् पुमान् शासनभासनः ॥४२५॥
कण्टकानिव राज्यस्य नेता धर्मस्य कण्टकान् । सदोद्धरतिसोद्योगो यः स लक्ष्मीधरो भवेत् ॥४२६॥
प्रमदप्रसवाकीर्णे मनोरङ्गे महानटः । नटताज्जैनसद्धर्मभासनाभिनयो मम ॥४२७॥
तनूजः कल्किराजस्य बुद्धिमानजितंजयः । पत्न्या [2]बालनया सार्धं यास्यनं शरणं सुरम् ॥४२८॥
सम्यग्दर्शनरत्नं च महार्घं स्वीकरिष्यति । जिनेन्द्रधर्ममाहात्म्यं दृष्ट्वा सुरविनिर्मितम् ॥४२९॥
तदा प्रभृति दुर्दर्पस्त्याज्यः पाषण्डिपापिभिः । कंचित्कालं जिनेन्द्रोक्तधर्मो वर्तिष्यतेतराम् ॥४३०॥

चतुर्मुख राजाको मारकर धर्मकी प्रभावना करेगा ॥४१६॥ इस संसारमें धर्म ही प्राणियोंकी माता है, धर्म ही पिता है, धर्म ही रक्षक है, धर्म ही बढ़ानेवाला है, और धर्म ही उन्हें निर्मल तथा निश्चल मोक्ष पदमें धारण करनेवाला है ॥४१७॥ धर्मका नाश होनेसे सज्जनोंका नाश होता है इसलिए जो सज्जन पुरुष हैं वे धर्मका द्रोह करनेवाले नीच पुरुषोंका निवारण करते ही हैं और ऐसे ही सत्पुरुषोंसे सज्जन-जगत्की रक्षा होती है ॥४१८॥ आठ प्रकारके निमित्त-ज्ञान, तपश्चरण करना, मनुष्योंके मनको प्रसन्न करनेवाले धर्मोपदेश देना, अन्यवादियोंके अभिमानको चूर करना, राजाओंके चित्तको हरण करनेवाले मनोहर तथा शब्द और अर्थसे सुन्दर काव्य बनाना, तथा शूरवीरता दिखाना, इन सब कार्योंके द्वारा सज्जन पुरुषोंको जिन-शासनकी प्रभावना करनी चाहिए ॥४१९-४२०॥ चिन्तामणि रत्नके समान अभिलषित पदार्थों-को देकर धर्मकी प्रभावना करनेवाले, बुद्धिमानोंके द्वारा पूज्य धन्य पुरुष इस संसारमें दुर्लभ हैं ॥४२१॥ जैन-शासनकी प्रभावना करनेमें जिसकी रुचि प्रवर्तमान है मानो मुक्ति उसके हाथमें ही स्थित है, ऐसा जिनागममें कहा जाता है ॥४२२॥ जो जिन-शासनकी प्रभावना करनेवाला है वही वैयाकरण है, वही नैयायिक है, वही सिद्धान्तका ज्ञाता है और वही उत्तम तपस्वी है। यदि वह जिन-शासनकी प्रभावना नहीं करता है तो इन व्यर्थकी उपाधियों-से क्या लाभ है ? ॥४२३॥ जिस प्रकार सूर्यके द्वारा जगत् प्रकाशमान हो उठता है उसी प्रकार जिसके द्वारा जैन शासन प्रकाशमान हो उठता है उसके दोनों चरणकमलोंको धर्मात्मा अपने मस्तकपर धारण करते हैं ॥४२४॥ जिस प्रकार समुद्र रत्नोंकी उत्पत्तिका कारण है और मलयगिरि चन्दनकी उत्पत्तिका स्थान है उसी प्रकार जिन-शासनकी प्रभावना करनेवाला श्रीमान् पुरुष धर्मकी उत्पत्तिका कारण है ॥४२५॥ जिस प्रकार राजा राज्यके कण्टकोंको उखाड़ फेंकता है उसी प्रकार जो सदा धर्मके कण्टकोंको उखाड़ फेंकता है और सदा ऐसा ही उद्योग करता है वह लक्ष्मीका धारक होता है ॥४२६॥ आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि हर्ष-रूपी फूलोंसे व्याप्त मेरे मन-रूपी रंगभूमिमें जिनेन्द्र-प्रणीत समीचीन धर्मकी प्रभावनाका अभिनय-रूपी महानट सदा नृत्य करता रहे ॥४२७॥

तदनन्तर उस कल्किका अजितंजय नामका बुद्धिमान् पुत्र, अपनी बालना नामकी पत्नीके साथ उस देवकी शरण लेगा तथा महामूल्य सम्यग्दर्शनरूपीरत्न स्वीकृत करेगा। देवके द्वारा किया हुआ जिनधर्मका माहात्म्य देखकर पापी पाखण्डी लोग उस समयसे मिथ्या अभिमान छोड़ देंगे और जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा हुआ धर्म कुछ काल तक अच्छी तरह फिरसे

---

१ म्रियन्ता मूर्ध्नि धार्मिकाः ल० । २ चेलकया इति क्वचित् ।

एवं प्रतिसहस्राब्दं तत्र विंशतिकल्किषु । गतेषु तेषु पापिष्ठः पश्चिमो जलमन्थनः ॥४३१॥
राज्ञां स भविता नाम्ना तदा मुनिषु पश्चिमः । [1]चन्द्राचार्यस्य शिष्यः स्यान्मुनिर्वीराङ्गजाह्वयः ॥४३२॥
सर्वश्रीरार्यिकावर्गे पश्चिमः श्रावकोत्तमः । अग्निलः फल्गुसेनाख्या श्राविका चापि सद्व्रता ॥४३३॥
एते सर्वेऽपि साकेतवास्तव्या दुष्षमान्त्यजाः । सत्सु पञ्चमकालस्य त्रिषु वर्षेष्वथाष्टसु ॥४३४॥
मासेष्वहःसु मासार्धमितेषु च सुभावनाः । कार्तिकस्यादिपक्षान्ते पूर्वाह्णे स्वातिसंगमे ॥४३५॥
वीराङ्गजोऽग्निलः सर्वश्रीस्त्यक्त्वा श्राविकापि सा । देहमायुश्च सद्धर्माद् गमिष्यन्त्यादिमां दिवम् ॥४३६॥
मध्याह्ने भूभुजो ध्वंसः सायाह्ने पाकभोजनम् । षट्कर्मकुलदेशार्थहेतुधर्मश्च मूलतः ॥४३७॥
सार्धं स्वहेतुसंप्राप्तौ प्राप्स्यन्ति विलयं ध्रुवम् । ततोऽतिदुष्षमादौ स्युर्विंशत्यब्दपरायुषः ॥४३८॥
नरोऽर्धाभ्यधिकारत्नित्रयमानशरीरकाः । सतताहारिणः पापा गतिद्वयसमागताः ॥४३९॥
पुनस्तद्गेव यास्यन्ति तिर्यङ्नारकनामकम् । कार्पासवसनाभावाद् गतेष्वब्देषु केषुचित् ॥४४०॥
पर्णादिवसनाः कालस्यान्ते नग्ना यथेप्सितम् । चरिष्यन्ति फलादीनि दीनाः शाखामृगोपमाः ॥४४१॥
एकविंशतिरब्दानां सहस्राण्यल्पवृष्टयः । जलदाः कालदोषेण कालो हि दुरतिक्रमः ॥४४२॥
क्रमाद्धीबलकायायुरादिह्रासो भविष्यति । प्रान्ते षोडशवर्षायुर्जीविनो हस्तदेहकाः ॥४४३॥
अस्थिराद्यशुभान्येव प्रफलिष्यन्ति नामसु । कृष्णा रूक्षतनुच्छाया दुर्भगा दुस्स्वराः खलाः ॥४४४॥
दुरीक्ष्या विकटाकारा दुर्बला विरलद्विजाः । निमग्नवक्षोगण्डाक्षिदेशाश्चिपुटनासिकाः ॥४४५॥

प्रवर्तमान होगा ॥४२८-४३०॥ इस प्रकार दुष्पमा नामक पंचम कालमें एक-एक हजार वर्षके बाद जब क्रमशः बीस कल्कि हो चुकेंगे तब अत्यन्त पापी जलमन्थन नामका पिछला कल्कि होगा। वह राजाओंमें अन्तिम राजा होगा अर्थात् उसके बाद कोई राजा नहीं होगा। उस समय चन्द्राचार्यके शिष्य वीरांगज नामके मुनि सबसे पिछले मुनि होंगे, सर्वश्री सबसे पिछली आर्यिका होंगी, अग्निल सबसे पिछला श्रावक होगा और उत्तम व्रत धारण करनेवाली फल्गुसेना नामकी सबसे पिछली श्राविका होगी ॥४३१-४३३॥ वे सब अयोध्याके रहनेवाले होंगे, दुःषमा कालके अन्तिम धर्मात्मा होंगे और पंचम कालके जब साढ़े आठ माह बाकी रह जावेंगे तब कार्तिक मासके कृष्णपक्षके अन्तिम दिन प्रातःकालके समय स्वातिनक्षत्रका उदय रहते हुए वीरांगज मुनि, अग्निल श्रावक, सर्वश्री आर्यिका और फल्गुसेना श्राविका ये चारों ही जीव, शरीर तथा आयु छोड़कर सद्धर्मके प्रभावसे प्रथम स्वर्गमें जावेंगे। मध्याह्नके समय राजाका नाश होगा, और सायंकालके समय अग्निका नाश होगा। उसी समय षट्कर्म, कुल, देश और अर्थके कारणभूत धर्मका समूल नाश हो जावेगा। ये सब अपने-अपने कारण मिलनेपर एक साथ विनाशको प्राप्त होंगे। तदनन्तर अतिदुःषमा काल आवेगा। उसके प्रारम्भमें मनुष्य बीस वर्षकी आयुवाले, साढ़े तीन हाथ ऊँचे शरीरके धारक, निरन्तर आहार करनेवाले पापी, नरक अथवा तिर्यंच इन दो गतियोंसे आनेवाले और इन्हीं दोनों गतियोंमें जानेवाले होंगे। कपास और वस्त्रोंके अभावसे कुछ वर्षों तक तो वे पत्ते आदिके वस्त्र पहनेंगे परन्तु छठे कालके अन्त समयमें वे सब नग्न रहने लगेंगे और बन्दरोंके समान दीन होकर फलादिका भक्षण करने लगेंगे ॥४३४-४४१॥ कालदोषके कारण मेघोंने इक्कीस हजार वर्ष तक थोड़ी-थोड़ी वर्षा की सो ठीक ही है क्योंकि कालका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ॥४४२॥ मनुष्योंकी बुद्धि, बल, काय और आयु आदिका अनुक्रमसे ह्रास होता जावेगा। इस कालके अन्तिम समयमें मनुष्योंकी आयु सोलह वर्षकी और शरीरकी ऊँचाई एक हाथकी रह जावेगी ॥४४३॥ उस समय नामकर्मकी प्रकृतियोंमें-से अस्थिर आदि अशुभ प्रकृतियाँ ही फल देंगी। उस समयके मनुष्य काले रंगके होंगे, उनके शरीरकी कान्ति रूखी होगी, वे दुर्भग, दुःस्वर, खल, दुःखसे देखनेके योग्य, विकट आकारवाले, दुर्बल तथा विरल दाँतोंवाले होंगे। उनके वक्षःस्थल, गाल और नेत्रोंके स्थान, भीतरको धँसे होंगे, उनकी नाक चपटी होगी, वे सब प्रकारका सदाचार छोड़ देंगे, भूख-प्यास आदिसे पीड़ित

१ इन्द्राङ्गणस्य इति क्वचित्।

त्यक्तसर्वसदाचाराः क्षुत्पिपासादिबाधिताः । सरोगा निष्प्रतीकारा दुःखास्वादैकवेदिनः ॥४४६॥
एवं गच्छति कालेऽस्मिन्नेतस्य परमावधौ । निःशेषशोषमेतम्बु शरीरमिव संक्षयम् ॥४४७॥
[1]अतिरौक्ष्याः धरा तत्र भाविनी स्फुटिता स्फुटम् । विनाशचिन्तयेवांघ्रिपाश्च प्रम्लानयष्टयः ॥४४८॥
प्रलयः प्राणिनामेवं प्रायेणोपजनिष्यते । सुरसिन्धोश्च सिन्धोश्च खेचराद्रेश्च वेदिकाः ॥४४९॥
श्रित्वा नदीसमुद्भूतमीनमण्डूककच्छपान् । कृत्वा कर्कटकादींश्च निजाहारान्मनुष्यकाः ॥४५०॥
विष्टा क्षुद्रबिलादीनि द्वासप्ततिकुलोद्भवाः । हीना दीना दुराचारास्तदा स्थास्यन्ति केचन ॥४५१॥
सरसं विरसं तीक्ष्णं रूक्षमुष्णं विषं विषम् । [2]क्षारं मेघाः क्षरिष्यन्ति सप्त सप्तदिनान्यलम् ॥४५२॥
ततो धरण्या वैषम्यविगमे सति सर्वतः । भवेच्चित्रा समा भूमिः समाप्तात्रावसर्पिणी ॥४५३॥
इतोऽतिदुष्षमोत्सर्पिण्याः पूर्वोक्तप्रमाणभाक् । वर्तिष्यति प्रजावृद्ध्यै ततः क्षीरपयोधराः ॥४५४॥

रहेंगे, निरन्तर रोगी होंगे, रोगका कुछ प्रतिकार भी नहीं कर सकेंगे और केवल दुःखके स्वादका ही अनुभव करनेवाले होंगे ॥४४४-४४६॥ इस प्रकार समय बीतनेपर जब अतिदुःषमा कालका अन्तिम समय आवेगा तब समस्त पानी सूख जावेगा, और शरीरके समान ही नष्ट हो जावेगा ॥४४७॥ पृथिवी अत्यन्त रूखी-रूखी होकर जगह-जगह फट जावेगी, इन सब चीजोंके नाश हो जानेकी चिन्तासे ही मानो सब वृक्ष सूखकर मलिनकाय हो जावेंगे ॥४४८॥ प्रायः इस तरह समस्त प्राणियोंका प्रलय हो जावेगा। गंगा सिन्धु नदी और विजयार्ध पर्वतकी वेदिकापर कुछ थोड़े-से मनुष्य विश्राम लेंगे और वहाँ नदीके मुखमें उत्पन्न हुए मछली, मेंढक, कछुए और केंकड़ा आदिको खाकर जीवित रहेंगे। उनमें-से बहत्तर कुलोंमें उत्पन्न हुए कुछ दुराचारी दीन-हीन जीव छोटे-छोटे बिलोंमें घुसकर ठहर जावेंगे ॥४४९-४५०॥ तदनन्तर मेघ सात-सात दिन तक क्रमसे सरस, विरस, तीक्ष्ण, रूक्ष, उष्ण, विष-रूप और खारे पानीकी वर्षा करेंगे*। इसके बाद पृथिवीकी विषमता (ऊँच-नीचपना) नष्ट हो जायेगी, सब ओर भूमि चित्रा पृथिवीके समान हो जावेगी और यहींपर अपसर्पिणी कालकी सीमा समाप्त हो जायेगी ॥४५१-४५३॥ इसके आगे उत्सर्पिणी कालका अतिदुःषमा काल चलेगा, वह भी इक्कीस हजार वर्षका होगा। इसमें प्रजाकी वृद्धि होगी। पहले ही क्षीर

१ अतिरूक्षाधरा ल०। २ क्षारमेघाः ल०।

* त्रिलोकसारमें नेमिचन्द्राचार्यने अतिदुःषमा कालके अन्तमें होनेवाले प्रलयका वर्णन इस प्रकार किया है—

संवत्तयणामणिलो गिरि तरुभूपहुदि चुण्णणं करिय ।
भमदि दिसंतं जीवा मरंति मुच्छंति छट्टंते ॥८६४॥
खग गिरि गंग दुवेदी खुद्दविलादिं विसंति आसण्णा ।
णेंति दया खचरसुरा मणुस्स जुगलादि बहुजीवे ॥८६५॥
छट्टमचरिमे होंति मरुदादी सत्तसत्त दिवसवही ।
अदिसीद खार विसपरुसग्गीरजधूमवरिसाओ ॥८६६॥

अर्थात्—छठे कालके अन्त समय संवर्तक नामका पवन चलता है जो पर्वत, वृक्ष, पृथिवी आदिको चूर्ण कर अपने क्षेत्रकी अपेक्षा दिशाओंके अन्त तक भ्रमण करता है। उस पवनके आघातसे वहाँ रहनेवाले जीव मूर्च्छित होकर मर जाते है। विजयार्ध पर्वत, गंगा सिन्धु नदी, इनकी वेदिका और इनके क्षुद्र बिल आदिकमें वहाँके निकटवर्ती प्राणी घुस जाते हैं तथा कितने ही दयालु विद्याधर और देव, मनुष्य युगलको आदि लेकर बहुत-से जीवोंको बाधारहित स्थानमें ले जाते है। छठे कालके अन्तमें पवन आदि सात वर्षा सात-सात दिन पर्यन्त होती है। वे ये हैं—१ पवन २ अत्यन्त शीत ३ क्षाररस ४ विष ५ कठोर अग्नि ६ धूलि और ७ धुआँ। इस सात रूप परिणत पुद्गलोंकी वर्षा ४९ दिन तक होती है।

उत्तरपुराणके ४५१ वें श्लोकमें जो क्रम दिया है उसका क्रम कुछ दूसरा ही है। पं० लालारामजीने श्लोकका जो अनुवाद दिया है वह मालूम होता है त्रिलोकसारके आधारपर दिया है।

तावद्दिननिरन्धेन निर्विराममहर्दिवम् । पयः पयांसि दास्यन्ति धात्री त्यक्ष्यति रूक्षताम् ॥५५५॥
तन्निबन्धनवर्णादिगुणं चावाप्स्यति क्रमात् । तथैवामृतमेघाश्च तावद्दिवसगोचराः ॥५५६॥
वृष्टिमापातयिष्यन्ति निष्पत्स्यन्तेऽत्र पूर्ववत् । ओषध्यस्तरवो गुल्मतृणादीन्यप्यनन्तरम् ॥५५७॥
ततो रसाधिकाम्भोदवर्षणात्षड्रसोद्भवः[1] । यस्यामादौ बिलादिभ्यो निर्गत्य मनुजास्तदा ॥५५८॥
तेषां रसोपयोगेन जीविष्यन्त्यात्तसंमदाः । वृद्धिर्गच्छति कालेऽस्मिन् क्रमात्प्राग्ह्रासमात्मनाम् ॥५५९॥
तन्वादीनां पुनर्दुःषमासमायाः प्रवेशने । आयुर्विंशतिवर्षाणि नराणां परमं मतम् ॥५६०॥
सार्धारत्नित्रयोत्सेधदेहानां वृद्धिमीयुषाम् । प्राक्प्रणीतप्रमाणेऽस्मिन् काले विमलबुद्धयः ॥५६१॥
षोडशाविर्भविष्यन्ति क्रमेण कुलधारिणः । प्रथमस्य मनागूना तनुश्चतुररत्निषु ॥५६२॥
अन्त्यस्यापि तनुः सप्तारत्निभिः संमिता भवेत् । आदिमः कनकस्तेषु द्वितीयः कनकप्रभः ॥५६३॥
ततः कनकराजाख्यश्चतुर्थः कनकध्वजः । [2]कनकः पुङ्गवान्तोऽस्मान्नलिनो नलिनप्रभः ॥५६४॥
ततो नलिनराजाख्यो नवमो नलिनध्वजः । पुङ्गवान्तश्च नलिनः पद्मः पद्मप्रभाह्वयः ॥५६५॥
पद्मराजस्ततः पद्मध्वजः पद्मादिपुङ्गवः । महापद्मश्च विज्ञेयाः [3]प्रज्ञापौरुषशालिनः ॥५६६॥
एतेषां क्रमशः काले शुभभावेन वर्धनम् । महीसलिलकालानां धान्यादीनां च [4]संगतम् ॥५६७॥
मनुष्याणामनाचारत्यागो योग्याशभोजनम् । काले परिमिते मैत्री लज्जा सत्यं दया दमः ॥५६८॥
सन्तुष्टिर्विनयः क्षान्ती रागद्वेषाद्यतीव्रता । इत्यादि साधुवृत्तं च वह्निपाकेन भोजनम् ॥५६९॥
द्वितीयकाले वृत्ते तृतीयस्य प्रवर्तने । सप्तारत्निप्रमाणाङ्गाः सद्विंशत्यब्दायुषो नराः ॥५७०॥
ततस्तीर्थकरोत्पत्तिस्तेषां नामाभिधीयते । आदिमः श्रेणिकस्तस्मात्सुपार्श्वोदङ्कसंज्ञकः ॥५७१॥

जातिके मेघ सात-सात दिन बिना विश्राम लिये जल और दूधकी वर्षा करेंगे जिससे पृथिवी रूक्षता छोड़ देगी और उसीसे पृथिवी अनुक्रमसे वर्णादि गुणोंको प्राप्त होगी। इसके बाद अमृत जातिके मेघ सात दिन तक अमृतकी वर्षा करेंगे जिससे ओषधियाँ, वृक्ष, पौधे और घास पहलेके समान निरन्तर होंगे ॥५५४-५५७॥ तदनन्तर रसाधिक जातिके मेघ रसकी वर्षा करेंगे जिससे छह रसोंकी उत्पत्ति होगी। जो मनुष्य पहले बिलोंमें घुस गये थे वे अब उनसे बाहर निकलेंगे और उन रसोंका उपयोग कर हर्षसे जीवित रहेंगे। ज्यों-ज्यों कालमें वृद्धि होती जावेगी त्यों-त्यों प्राणियोंके शरीर आदिका ह्रास दूर होता जावेगा—उनमें वृद्धि होने लगेगी ॥५५८-५५९॥ तदनन्तर दुःषमा नामक कालका प्रवेश होगा, उस समय मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयु बीस वर्षकी और शरीरकी ऊँचाई साढ़े तीन हाथकी होगी। इस कालका प्रमाण भी इक्कीस हजार वर्षका ही होगा। इसमें अनुक्रमसे निर्मल बुद्धिके धारक सोलह कुलकर उत्पन्न होंगे। उनमें-से प्रथम कुलकरका शरीर चार हाथसे कुछ कम होगा और अन्तिम कुलकरका शरीर सात हाथ प्रमाण होगा। कुलकरोंमें सबसे पहला कुलकर कनक नामका होगा, दूसरा कनकप्रभ, तीसरा कनकराज, चौथा कनकध्वज, पाँचवाँ कनकपुंगव, छठा नलिन, सातवाँ नलिनप्रभ, आठवाँ नलिनराज, नौवाँ नलिनध्वज, दशवाँ नलिनपुंगव, ग्यारहवाँ पद्म, बारहवाँ पद्मप्रभ, तेरहवाँ पद्मराज, चौदहवाँ पद्मध्वज, पन्द्रहवाँ पद्मपुंगव और सोलहवाँ महापद्म नामका कुलकर होगा। ये सभी बुद्धि और बलसे सुशोभित होंगे ॥५६०-५६६॥ इनके समयमें क्रमसे शुभ भावोंकी वृद्धि होनेसे भूमि, जल तथा धान्य आदिकी वृद्धि होगी ॥५६७॥ मनुष्य अनाचारका त्याग करेंगे, परिमित समयपर योग्य भोजन करेंगे। मैत्री, लज्जा, सत्य, दया, दमन, सन्तोष, विनय, क्षमा, रागद्वेष आदिकी मन्दता आदि सज्जनोचित चारित्र प्रकट होंगे और लोग अग्निमें पकाकर भोजन करेंगे ॥५६८-५६९॥ यह सब कार्य दूसरे कालमें होंगे। इसके बाद तीसरा काल लगेगा। उसमें लोगोंका शरीर सात हाथ ऊँचा होगा और आयु एक सौ बीस वर्षकी होगी ॥५७०॥ तदनन्तर इसी कालमें तीर्थंकरोंकी उत्पत्ति होगी। जो जीव तीर्थंकर होंगे उनके नाम इस प्रकार हैं—श्रेणिक १, सुपार्श्व २, उदंक ३, प्रोष्ठिल ४, कटप्रू ५, क्षत्रिय ६, श्रेष्ठी ७, शंख ८,

---

१ षड्रसोद्भवः ल० । २ कनकपुङ्गवा ल० । ३ प्रज्ञाः पौरुषेयसमन्विताः ल० (?) । ४ संततम् ल० ।

प्रोष्ठिकाख्यः कटप्रूश्च क्षत्रियः श्रेष्ठिसंज्ञकः । सप्तमः शङ्खनामा च नन्दनोऽथ सुनन्दवाक् ॥ ४७२ ॥
शशाङ्कः सेवकः प्रेमकश्चातोरणसंज्ञकः । रैवतो वासुदेवाख्यो भगलिर्वागलिस्ततः परः ॥ ४७३ ॥
भगलिर्वागलिर्द्वैपायनः कनकसंज्ञकः । पादान्तो नारदश्चारुपादः सत्यकिपुत्रकः ॥ ४७४ ॥
त्रयोविंशतिरित्येते सप्तारत्निप्रमादिकाः । तत्रैवान्येऽपि तीर्थेशाश्चतुर्विंशतिसंमिताः ॥ ४७५ ॥
तत्राद्यः षोडशप्रान्तशताब्दायुःप्रमाणकः । सप्तारत्नितनूत्सेधश्चरमस्तीर्थनायकः ॥ ४७६ ॥
पूर्वकोटिमिताब्दायुश्चापपञ्चशतोच्छ्रुतिः । तेषामाद्यो महापद्मः सुरदेवः सुपार्श्ववाक् ॥ ४७७ ॥
स्वयंप्रभश्च सर्वात्मभूताख्यो देवपुत्रवाक् । कुलपुत्रस्तथोदङ्कः प्रोष्ठिलो जयकीर्तिवाक् ॥ ४७८ ॥
मुनिसुव्रतनामारसंज्ञोऽपापाभिधानकः । निष्कषायः[1] सविपुलो निर्मलश्चित्रगुप्तकः ॥ ४७९ ॥
समाधिगुप्तसंज्ञश्च स्वयंभूरिति नामभाक् । अनिवर्ती च विजयो विमलो देवपालवाक् ॥ ४८० ॥
अनन्तवीर्यो विश्वेन्द्रवन्दिताङ्घ्रिसरोरुहः । कालेऽस्मिन्नेव चक्रेशा भाविनो द्वादशोच्छ्रयः ॥ ४८१ ॥
भरतो दीर्घदन्तश्च मुक्तदन्तस्तृतीयकः । गूढदन्तश्चतुर्थस्तु श्रीषेणः पञ्चमो मतः ॥ ४८२ ॥
षष्ठः श्रीभूतिशब्दाख्यः श्रीकान्तः सप्तमः स्मृतः । पद्मोऽष्टमो महापद्मो विचित्रादिश्च वाहनः ॥ ४८३ ॥
दशमोऽस्मात्परः ख्यातश्चक्री विमलवाहनः । अरिष्टसेनः सर्वान्त्यः संपन्नः सर्वसंपदा ॥ ४८४ ॥
सीरिणोऽपि नवैवात्र तत्राद्यश्चन्द्रनामकः । महाचन्द्रो द्वितीयः स्यात्ततश्चक्रधरो भवेत् ॥ ४८५ ॥
हरिचन्द्राभिधः सिंहचन्द्रश्चन्द्रो वरादिकः । पूर्णचन्द्रः सुचन्द्रश्च श्रीचन्द्रः केशवार्चितः ॥ ४८६ ॥
केशवाश्च नवैवात्र तेष्वाद्यो नन्दिनामकः । नन्दिमित्रो द्वितीयः स्यान्नन्दिषेणस्ततः परः ॥ ४८७ ॥
नन्दिभूतिश्चतुर्थस्तु प्रतीतः पञ्चमो बलः । षष्ठो महाबलस्तेषु सप्तमोऽतिबलाह्वयः ॥ ४८८ ॥
अष्टमोऽभूत् त्रिपृष्ठाख्यो द्विपृष्ठो नवमो विभुः । तद्वैरिणापि तावन्त एव विज्ञेयसंज्ञकाः ॥ ४८९ ॥
ततस्तत्कालपर्यन्ते भवेत्सुषमदुष्षमा । आदौ तस्या मनुष्याणां पञ्चचापशतोच्छ्रुतिः ॥ ४९० ॥

नन्दन ९, सुनन्द १०, शशांक ११, सेवक १२, प्रेमक १३, अतोरण १४, रैवत १५, वासुदेव १६, भगलि १७, वागलि १८, द्वैपायन १९, कनकपाद २०, नारद २१, चारुपाद २२, और सत्यकिपुत्र २३; ये तेईस जीव आगे तीर्थंकर होंगे। सात हाथको आदि लेकर इनके शरीरकी ऊँचाई होगी। इस प्रकार तेईस ये तथा एक अन्य मिलाकर चौबीस तीर्थंकर होंगे ॥४७१–४७५॥ उनमें-से पहले तीर्थंकर सोलहवें कुलकर होंगे। सौ वर्ष उनकी आयु होगी और सात अरत्नि ऊँचा शरीर होगा। अन्तिम तीर्थंकरकी आयु एक करोड़ वर्ष पूर्वकी होगी और शरीर पाँचसौ धनुष ऊँचा होगा। उन तीर्थंकरोंमें पहले तीर्थंकर महापद्म होंगे। उनके बाद निम्नलिखित २३ तीर्थंकर और होंगे—सुरदेव १, सुपार्श्व २, स्वयंप्रभ ३, सर्वात्मभूत ४, देवपुत्र ५, कुलपुत्र ६, उदंक ७, प्रोष्ठिल ८, जयकीर्ति ९, मुनिसुव्रत १०, अरनाथ ११, अपाप १२, निष्कषाय १३, विपुल १४, निर्मल १५, चित्रगुप्त १६, समाधिगुप्त १७, स्वयंभू १८, अनिवर्ती १९, विजय २०, विमल २१, देवपाल २२, और अनन्तवीर्य २३। इन समस्त तीर्थंकरोंके चरण-कमलोंकी समस्त इन्द्र लोग सदा पूजा करेंगे। इसी तीसरे कालमें उत्कृष्ट लक्ष्मीके धारक बारह चक्रवर्ती भी होंगे ॥४७६–४८१॥ उनके नाम इस प्रकार होंगे—पहला भरत, दूसरा दीर्घदन्त, तीसरा मुक्तदन्त, चौथा गूढदन्त, पाँचवाँ श्रीषेण, छठवाँ श्रीभूति, सातवाँ श्रीकान्त, आठवाँ पद्म, नौवाँ महापद्म, दसवाँ विचित्र-वाहन, ग्यारहवाँ विमलवाहन और बारहवाँ सब सम्पदाओंसे सम्पन्न अरिष्टसेन ॥४८२–४८४॥ नौ बलभद्र भी इसी कालमें होंगे। उनके नाम क्रमानुसार इस प्रकार हैं—१ चन्द्र, २ महाचन्द्र, ३ चक्रधर, ४ हरिचन्द्र, ५ सिंहचन्द्र, ६ वरचन्द्र, ७ पूर्णचन्द्र, ८ सुचन्द्र और नौवाँ नारायणके द्वारा पूजित श्रीचन्द्र ॥४८५–४८६॥ नौ नारायण भी इसी कालमें होंगे। उनके नाम इस प्रकार होंगे—पहला नन्दी, दूसरा नन्दिमित्र, तीसरा नन्दिषेण, चौथा नन्दिभूति, पाँचवाँ सुप्रसिद्धबल, छठा महाबल, सातवाँ अतिबल, आठवाँ त्रिपृष्ठ और नौवाँ द्विपृष्ठ नामक विभु होगा। इन नारायणोंके शत्रु नौ प्रतिनारायण भी होंगे। उनके नाम अन्य ग्रन्थोंसे जान लेना चाहिए ॥४८७–४८९॥ तदनन्तर इस कालके बाद सुषम-दुष्षम काल आवेगा। उसके प्रारम्भमें मनुष्योंकी ऊँचाई

---

१ 'निष्कषायः सविपुलश्चित्रगुप्तसमाह्वयः' इत्यपि पाठः किन्त्वत्रैकतीर्थंकरनाम त्रुटितं भवति।

साधिका पूर्वकोट्यायुःस्थितिर्वर्षेषु केषुचित् । वर्षेषु निर्विशेषात्र जघन्यार्यजनस्थितिः ॥ ४९१ ॥
ततः पञ्चमकालेऽपि मध्यभोगभुवः स्थितिः । षष्ठकालेऽपि विज्ञेया वर्यभोगभुवः स्थितिः ॥ ४९२ ॥
एवं शेषनवस्थानकर्मभूमिषु वर्तनम् । एवं कल्पस्थितिः प्रोक्ता भूतेष्वपि च भाविषु ॥ ४९३ ॥
एष एव विधिर्ज्ञेयः कल्पेषु जिनभाषितः । विदेहेषु च सर्वेषु पञ्चचापशतोच्छ्रितिः ॥ ४९४ ॥
मनुष्याणां परं चायुः [1]पूर्वकोटिमितं मतम् । तत्र तीर्थकृतश्चक्रवर्तिनो रामकेशवाः ॥ ४९५ ॥
पृथक्पृथग्बहुत्वेन शतं षष्ट्यधिकं स्मृताः । अल्पत्वेनापि ते विंशतिर्भवन्ति पृथक्पृथक् ॥ ४९६ ॥
उत्कृष्टेन शतं सप्ततिश्च स्युः सर्वभूमिजाः । उत्पद्यन्ते नरास्तत्र चतुर्गतिसमागताः ॥ ४९७ ॥
गतीर्गच्छन्ति पञ्चापि निजाचारवशीकृताः । भोगभूमिषु सर्वासु कर्मभूमिसमुद्भवाः ॥ ४९८ ॥
मनुष्याः संज्ञिनस्तिर्यञ्चश्च यान्त्युपपादनम् । आदिकल्पद्वये भावनादिदेवेषु च त्रिषु ॥ ४९९ ॥
जीवितान्ते नियोगेन सर्वे ते देवभाविनः । मनुष्येषूत्तमा भोगभूमिजाः कर्मभूभुवः ॥ ५०० ॥
निजवृत्तिविशेषेण त्रिविधास्ते प्रकीर्तिताः । शलाकापुरुषाः कामः खगाश्चान्ये सुरार्चिताः ॥ ५०१ ॥
[2]सन्तो दिव्यमनुष्याः स्युः षष्ठकालाः कनिष्ठकाः । एकोरुकास्तथा भाषाविहीनाः [3]शङ्कुकर्णकाः ॥५०२॥
कर्णप्रावरणालम्बकाश्चादिकर्णकाः । अश्वसिंहमुखाश्चान्ये दुष्प्रेक्ष्या महिषाननाः ॥ ५०३ ॥

पाँचसौ धनुष होगी और कुछ अधिक एक करोड़ वर्षकी आयु होगी। इसके बाद कुछ वर्ष व्यतीत हो जानेपर यहाँपर जघन्यभोगभूमिके आर्य जनोंके समान सब स्थिति आदि हो जावेगी ॥४९०-४९१॥ फिर पंचम काल आवेगा। उसमें मध्यम भोगभूमिकी स्थिति होगी और उसके अनन्तर छठा काल आवेगा उसमें उत्तम भोगभूमिकी स्थिति रहेगी ॥४९२॥ जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रके सिवाय और जो बाकी नौ कर्मभूमियाँ हैं उनमें भी इसी प्रकारकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार जो काल हो चुके हैं और जो आगे होंगे उन सबमें कल्पकालकी स्थिति बतायी गयी है अर्थात् उत्सर्पिणीके दश कोड़ा-कोड़ी सागर और अवसर्पिणीके १० कोड़ा-कोड़ी सागर दोनों मिलाकर बीस कोड़ा-कोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है और यह सभी उत्सर्पिणियों तथा अवसर्पिणियोंमें होता है। सभी विदेहक्षेत्रोंमें मनुष्योंकी ऊँचाई पाँचसौ धनुष प्रमाण होती है और आयु एक करोड़ वर्ष पूर्व प्रमाण रहती है। वहाँ तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र और नारायण अधिकसे अधिक हों तो प्रत्येक एक सौ साठ, एक सौ साठ होते हैं और कमसे कम हों तो प्रत्येक बीस-बीस होते हैं। भावार्थ—अढ़ाई द्वीपमें पाँच विदेह क्षेत्र हैं और एक-एक विदेहक्षेत्रके बत्तीस-बत्तीस भेद हैं इसलिए सबके मिलाकर एक सौ साठ भेद हो जाते हैं, यदि तीर्थंकर आदि शलाकापुरुष प्रत्येक विदेह क्षेत्रमें एक-एक होवें तो एक सौ साठ हो जाते हैं और कमसे कम हों तो एक-एक महाविदेह सम्बन्धी चार-चार नगरियोंमें अवश्यमेव होनेके कारण बीस ही होते हैं ॥४९३-४९६॥ इस प्रकार सब कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए तीर्थंकर आदि महापुरुष अधिकसे अधिक हों तो एक सौ सत्तर हो सकते हैं। इन भूमियोंमें चारों गतियोंसे आये हुए जीव उत्पन्न होते हैं और अपने-अपने आचारके वशीभूत होकर मोक्षसहित पाँचों गतियोंमें जाते हैं। सभी भोग-भूमियोंमें, कर्मभूमिज मनुष्य और संज्ञी तिर्यंच ही उत्पन्न होते हैं। भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीव मरकर पहले और दूसरे स्वर्गमें अथवा भवनवासी आदि तीन निकायोंमें उत्पन्न होते हैं। यह नियम है कि भोगभूमिके सभी मनुष्य और तिर्यंच नियमसे देव ही होते हैं। भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य उत्तम ही होते हैं और कर्मभूमिमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य अपनी-अपनी वृत्तिकी विशेषतासे तीन प्रकारके कहे गये हैं–उत्तम, मध्यम और जघन्य। शलाकापुरुष, कामदेव तथा विद्याधर आदि, जो देवपूजित सत्पुरुष हैं वे दिव्य मनुष्य कहलाते हैं तथा छठवें कालके मनुष्य जघन्य श्रेणीके हैं। इनके सिवाय एक पैरवाले, भाषा रहित, शंकुके समान कानवाले, कानको ही ओढ़ने-बिछानेवाले अर्थात्

१ पूर्वकोटीपरं मतम् क०, ख०, ग०, घ०। २ सन्तो दिव्यमनुष्या स्यु स्पष्टकालाः कनिष्ठकाः। क०, म०, घ०,। सन्तो दिव्यमनुष्यास्त्र षष्ठिकालाः कनिष्ठकाः म०। सन्तो दिव्यमनुष्यास्तु षष्ठकालाः कनिष्ठकाः ल०। ३ शष्कुल इत्यपि क्वचित्।

[1]कोकव्याघ्रमुखाश्चैवमुलूकमुखनामकाः । शाखामृगमुखा मत्स्यमुखाः कालमुखास्तथा ॥ ५०४ ॥
गोमेषमेघवक्त्राश्च विद्युदादर्शवक्त्रकाः । हस्तिवक्त्राः कुमानुष्यजा लाङ्गूलविषाणिनः ॥ ५०५ ॥
एते च नीचका यस्मादन्तर्द्वीपवासिनः । म्लेच्छखण्डेषु सर्वेषु विजयार्धेषु च स्थितिः ॥ ५०६ ॥
तीर्थकृत्कालवद् वृद्धिह्रासवत्कर्मभूमिषु । इदं च श्रेणिकप्रश्नादिन्द्रभूतिर्गणाधिपः ॥ ५०७ ॥
इत्याह वचनांशुभिर्निरस्तान्तस्तमस्ततिः । इहान्त्यतीर्थनाथोऽपि विहृत्य विषयान् बहून् ॥ ५०८ ॥
क्रमात्पावापुरं प्राप्य मनोहरवनान्तरे । बहूनां सरसां मध्ये महामणिशिलातले ॥ ५०९ ॥
स्थित्वा दिनद्वयं वीतविहारो वृद्धनिर्जरः । कृष्णकार्तिकपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये ॥ ५१० ॥
स्वातियोगे तृतीयेद्धशुक्लध्यानपरायणः । कृतत्रियोगसंरोधः समुच्छिन्नक्रियं श्रितः ॥ ५११ ॥
हताघातिचतुष्कः सन्नशरीरो गुणात्मकः । गन्ता मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववाञ्छितम् ॥ ५१२ ॥
तदेव पुरुषार्थस्य पर्यन्तोऽनन्तसौख्यकृत् । अथ सर्वेऽपि देवेन्द्रा वह्नीन्द्रमुकुटस्फुरत् ॥ ५१३ ॥
हुताशनशिखान्यस्ततद्देहा मोहविद्विषम् । अभ्यर्च्य गन्धमाल्यादिद्रव्यैर्दिव्यैर्यथाविधि ॥ ५१४ ॥
वन्दिष्यन्ते भवातीतमर्थ्यैर्वन्दारवः स्तवैः । वीरनिर्वृतिसंप्राप्तदिन एवास्तघातिकः ॥ ५१५ ॥
भविष्याम्यहमप्युद्यत्केवलज्ञानलोचनः । भव्यानां धर्मदेशेन विहृत्य विषयांस्ततः ॥ ५१६ ॥
गत्वा विपुलशब्दादिगिरौ प्राप्स्यामि निर्वृतिम् । मन्निर्वृतिदिने लब्धा सुधर्मः श्रुतपारगः ॥ ५१७ ॥
लोकालोकावलोकैकालोकमन्त्यविलोचनम् । तन्निर्वाणक्षणे भावी जम्बूनामान्त्यकेवली ॥ ५१८ ॥
अन्त्यः केवलिनामस्मिन्भरते स प्रकल्प्यते । नन्दी मुनिस्ततः श्रेष्ठो नन्दिमित्रोऽपराजितः ॥ ५१९ ॥

लम्बे कानवाले, खरगोशके समान कानवाले, घोड़े आदिके समान कानवाले, अश्वमुख, सिंहमुख, देखनेके अयोग्य महिषमुख, कोलमुख (शूकरमुख), व्याघ्रमुख, उलूकमुख, वानरमुख, मत्स्यमुख, कालमुख, गोमुख, मेषमुख, मेघमुख, विद्युन्मुख, आदर्शमुख, हस्तिमुख, पूँछवाले, और सींगवाले ये कुभोगभूमिके मनुष्य भी नीच मनुष्य कहलाते हैं। ये सब अन्तर्द्वीपोंमें रहते हैं। सब म्लेच्छखण्डों और विजयार्ध पर्वतोंकी स्थिति तीर्थकरोंके समयके समान होती है और वृद्धि-ह्रास सदा कर्मभूमियोंमें ही रहता है। इस प्रकार श्रेणिक राजाके प्रश्नके अनुसार इन्द्रभूति गणधरने वचनरूपी किरणोंके द्वारा अन्तःकरणके अन्धकारसमूहको नष्ट करते हुए यह हाल कहा। उन्होंने यह भी कहा कि भगवान् महावीर भी बहुत-से देशोंमें विहार करेंगे ॥४९७-५०८॥ अन्तमें वे पावापुर नगरमें पहुँचेंगे। वहाँके मनोहर नामके वनके भीतर अनेक सरोवरोंके बीचमें मणिमयी शिलापर विराजमान होंगे। विहार छोड़कर निर्जराको बढ़ाते हुए वे दो दिन तक वहाँ विराजमान रहेंगे और फिर कार्तिककृष्ण चतुर्दशीके दिन रात्रिके अन्तिम समय स्वातिनक्षत्रमें अतिशय देदीप्यमान तीसरे शुक्लध्यानमें तत्पर होंगे। तदनन्तर तीनों योगोंका निरोध कर समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको धारण कर चारों अघातिया कर्मोंका क्षय कर देंगे और शरीररहित केवलगुण रूप होकर एक हजार मुनियोंके साथ सबके द्वारा वाञ्छनीय मोक्षपद प्राप्त करेंगे ॥५०९-५१२॥ वही उनका, अनन्त सुखको करनेवाला सबसे बड़ा पुरुषार्थ होगा—उनके पुरुषार्थकी वही अन्तिम सीमा होगी। तदनन्तर इन्द्रादि सब देव आवेंगे और अग्नीन्द्रकुमारके मुकुटसे प्रज्वलित होनेवाली अग्निकी शिखापर भगवान् महावीर स्वामीका शरीर रखेंगे। स्वर्गसे लाये हुए गन्ध, माला आदि उत्तमोत्तम पदार्थोंके द्वारा मोहके शत्रुभूत उन तीर्थंकर भगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा करेंगे और फिर अनेक अर्थोंसे भरी हुई स्तुतियोंके द्वारा संसार-भ्रमणसे पार होनेवाले उन भगवान्‌की स्तुति करेंगे। जिस दिन भगवान् महावीर स्वामीको निर्वाण प्राप्त होगा उसी दिन मैं भी घातिया कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञान रूपी नेत्रको प्रकट करनेवाला होऊँगा और भव्य जीवोंको धर्मोपदेश देता हुआ अनेक देशोंमें विहार करूँगा। तदनन्तर विपुलाचल पर्वतपर जाकर निर्वाण प्राप्त करूँगा। मेरे निर्वाण जानेके दिन ही समस्त-श्रुतज्ञानके पारगामी सुधर्म गणधर भी लोक और अलोकको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञान रूपी अन्तिम लोचनको प्राप्त करेंगे और उनके मोक्ष जानेके समय ही जम्बूस्वामी केवलज्ञान प्राप्त करेंगे। वह जम्बूस्वामी भरत क्षेत्रमें अन्तिम केवली कहलावेंगे।

---

१ कोड इत्यपि क्वचित्।

गोवर्धनश्चतुर्थोऽन्यो भद्रबाहुर्महातपाः । नानानयविचित्रार्थसमस्तश्रुतपूर्णताम् ॥ ५२० ॥
एते क्रमेण पञ्चापि प्राप्स्यन्त्यासविशुद्धयः । ततो भावी विशाखार्यः प्रोष्ठिलः क्षत्रियान्तकः ॥ ५२१ ॥
जयनामानुनागाह्वः सिद्धार्थो धृतिषेणकः । विजयो बुद्धिलो गङ्गदेवश्च क्रमतो मताः ॥ ५२२ ॥
एकादश सह श्रीमद्धर्मसेनेन धीमता । द्वादशाङ्गार्थकुशला दशपूर्वधराश्च ते ॥ ५२३ ॥
भव्यानां कल्पवृक्षाः स्युर्जिनधर्मप्रकाशकाः[1] । ततो नक्षत्रनामा च [2]जयपालश्च पाण्डुना ॥ ५२४ ॥
द्रुमसेनोऽनुकंसार्यो विदितैकादशाङ्गकाः । सुभद्रश्च यशोभद्रो यशोबाहुः प्रकृष्टधीः ॥ ५२५ ॥
लोहनामा चतुर्थः स्यादाचाराङ्गविदस्त्वमी । जिनेन्द्रवदनोद्गीर्णं पावनं पापलोपनम् ॥ ५२६ ॥
श्रुतं तपोभृतामेषा प्रणेष्यति परम्परा । शेषैरपि श्रुतज्ञानस्यैको देशस्तपोधनैः ॥ ५२७ ॥
जिनसेनानुगैर्वीरसेनैः प्राप्तमहर्द्धिभिः । समाप्ते दुष्षमायाः प्राक्प्रायशो वर्तयिष्यते ॥ ५२८ ॥
भरतः सागराख्योऽनु सत्यवीर्यो [3]नृभिः स्तुतः । महीशो मित्रभावाह्वो मित्रवीर्योऽर्कसद्द्युतिः ॥ ५२९ ॥
धर्मदानादिवीर्यौ च मघवान् बुद्धवीर्यकः । सीमंधरस्त्रिपृष्ठाख्यः स्वयंभूः पुरुषोत्तमः ॥ ५३० ॥
पुण्डरीकान्त्यपुरुषो दत्तः सत्यादिभिः स्तुतः । कुनालः पालकः पृथ्व्याः पतिर्नारायणो नृणाम् ॥५३१॥
सुभौमः सार्वभौमोऽजितंजयो विजयाभिधः । उग्रसेनो महासेनो जिनस्त्वं श्रेणिकेश्वरो ॥५३२॥
सर्वे क्रमेण श्रीमन्तो धर्मप्रश्नविदां वराः । चतुर्विंशतितीर्थेशां संततं पादसेविनः ॥५३३॥
पुरूरवाः सुरः प्राच्यकल्पेऽभूद्भरतात्मजः । मरीचिर्ब्रह्मकल्पोत्थस्ततोऽभूज्जटिलद्विजः ॥५३४॥
सुरः सौधर्मकल्पेऽनु पुष्यमित्रद्विजस्ततः । सौधर्मजोऽमरस्तस्माद्द्विजन्माग्निसमाह्वय ॥५३५॥
सनत्कुमारदेवोऽस्मादग्निमित्राभिधो द्विजः । माहेन्द्रकल्पेऽभूद्भारद्वाजो द्विजान्वये ॥५३६॥

इनके बाद नन्दी मुनि, श्रेष्ठ नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और महातपस्वी भद्रबाहु मुनि होंगे। ये पाँचों ही मुनि अतिशय विशुद्धिके धारक होकर अनुक्रमसे अनेक नयोंसे विचित्र अर्थोंका निरूपण करनेवाले पूर्ण श्रुतज्ञानको प्राप्त होंगे अर्थात् श्रुतकेवली होंगे। इनके बाद विशाखार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और बुद्धिमान् धर्मसेन ये ग्यारह अनुक्रमसे होंगे तथा द्वादशांगका अर्थ कहनेमें कुशल और दश पूर्वके धारक होंगे ॥५१९-५२२॥ ये ग्यारह मुनि भव्योंके लिए कल्पवृक्षके समान तथा जैनधर्मका प्रकाश करनेवाले होंगे। उनके बाद नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंसार्य ये ग्यारह अंगोंके जानकार होंगे। इनके बाद सुभद्र, यशोभद्र, प्रकृष्ट बुद्धिमान्, यशोबाहु और चौथे लोहाचार्य ये चार आचारांगके जानकार होंगे। इन सब तपस्वियोंकी यह परम्परा जिनेन्द्रदेवके मुखकमलसे निकले हुए, पवित्र तथा पापोंका लोप करनेवाले शास्त्रोंका प्ररूपण करेंगे। इनके बाद बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले जिनसेन, वीरसेन आदि अन्य तपस्वी भी श्रुतज्ञानके एकदेशका प्ररूपण करेंगे। प्रायः कर श्रुतज्ञानका यह एकदेश दुःषमा नामक पंचम कालके अन्त तक चलता रहेगा ॥५२३-५२८॥ भरत, सागर, मनुष्योंके द्वारा प्रशंसनीय सत्यवीर्य, राजा मित्रभाव, सूर्यके समान कान्तिवाला मित्रवीर्य, धर्मवीर्य, दानवीर्य मघवा, बुद्धवीर्य, सीमन्धर, त्रिपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषपुण्डरीक, प्रशंसनीय सत्यदत्त, पृथिवीका पालक कुनाल, मनुष्योंका स्वामी नारायण, सुभौम, सार्वभौम, अजितंजय, विजय, उग्रसेन, महासेन और आगे चलकर जिनेन्द्रका पद प्राप्त करनेवाला तू। गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक ! ये सभी पुरुष श्रीमान् हैं, धर्म सम्बन्धी प्रश्न करनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, और निरन्तर चौबीस तीर्थंकरोंके चरण-कमलोंकी सेवा करनेवाले हैं ॥५२९-५३३॥ भगवान् महावीर स्वामीका जीव पहले पुरूरवा नामका भील था, फिर पहले स्वर्गमें देव हुआ, फिर भरतका पुत्र मरीचि हुआ, फिर ब्रह्मस्वर्गमें देव हुआ, फिर जटिल नामका ब्राह्मण हुआ ॥५३४॥ फिर सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ, फिर पुष्यमित्र नामका ब्राह्मण हुआ, फिर अग्निसम नामका ब्राह्मण हुआ ॥५३५॥ फिर सनत्कुमार स्वर्गमें देव हुआ, फिर अग्निमित्र नामका ब्राह्मण हुआ, फिर माहेन्द्र

---

१ प्रकाशनात् इति क्वचित्। २ यशः पालश्च इत्यपि क्वचित्। ३ जिनस्तुतः ल०।

जातो माहेन्द्रकल्पेऽनु मनुष्योऽनु ततश्च्युतः । नरकेषु त्रसस्थावरेष्वसंख्यातवत्सरान् ॥५३७॥
भ्रान्त्वा ततो विनिर्गत्य स्थावराख्यो द्विजोऽभवत् । ततश्चतुर्थकल्पेऽभूद्विश्वनन्दी ततश्च्युतः ॥५३८॥
महाशुक्रे ततो देवस्त्रिखण्डेशस्त्रिपृष्ठवाक् । सप्तमे नरके तस्मात्तस्मात्र गतविद्विषः ॥५३९॥
आदिमे नरके तस्मात्सिंहः सद्धर्मनिर्मलः । ततः सौधर्मकल्पेऽभूत्सिंहकेतुः सुरोत्तमः ॥५४०॥
कनकोज्ज्वलनामाभूत्ततो विद्याधराधिपः । देवः सप्तमकल्पेऽनु हरिषेणस्ततो नृपः ॥५४१॥
महाशुक्रे ततो देवः प्रियमित्रोऽनु चक्रभृत् । स सहस्रारकल्पेऽभूद्देवः सूर्यप्रभाह्वयः ॥५४२॥
राजानन्दाभिधस्तस्मात्पुष्पोत्तरविमानजः । अच्युतेन्द्रस्ततश्च्युत्वा वर्धमानो जिनेश्वरः ॥५४३॥
प्राप्तपञ्चमहाकल्याणर्द्धिः प्रस्तुतसिद्धिभाक् । प्रदिश्याद्गुणभद्रेभ्यः स विभुः सर्वमङ्गलम् ॥५४४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्थं गौतमवक्त्रवारिजलसद्वाग्वल्लभावाङ्मयैः
पीयूषैः सुकथारसातिमधुरैर्भक्त्योपयुक्तैश्चिरम् ।
सा संसन्मगधाधिपश्च महतीं तुष्टिं समं जग्मतुः
पुष्टिं दृष्टिविबोधयोर्विदधतीं सर्वार्थसम्पत्करीम् ॥५४५॥

वसन्ततिलका

श्रीवर्धमानमनिशं[1] जिनवर्धमानं
त्वां तं नये स्तुतिपथं पथि संप्रधौते ।
योऽन्त्योऽपि तीर्थकरमग्रिममप्यजैषीत्
काले कलौ च पृथुलीकृतधर्मतीर्थः ॥५४६॥

स्वर्गमें देव हुआ, फिर भारद्वाज नामक ब्राह्मण हुआ, फिर माहेन्द्र स्वर्गमें देव हुआ, फिर वहाँ से च्युत होकर मनुष्य हुआ, फिर असंख्यात वर्षों तक नरकों और त्रस-स्थावर योनियोंमें भ्रमण करता रहा ॥५३६-५३७॥ वहाँसे निकलकर स्थावर नामका ब्राह्मण हुआ, फिर चतुर्थ स्वर्गमें देव हुआ, वहाँसे च्युत होकर विश्वनन्दी हुआ, फिर महाशुक्रमें देव हुआ, फिर त्रिपृष्ठ नामका तीन खण्डका स्वामी—नारायण हुआ, फिर सप्तम नरकमें उत्पन्न हुआ। वहाँसे निकल कर सिंह हुआ ॥५३८-५३९॥ फिर पहले नरकमें गया, वहाँसे निकलकर फिर सिंह हुआ, उसी सिंहकी पर्यायमें उसने समीचीन धर्म धारण कर निर्मलता प्राप्त की, फिर सौधर्म स्वर्गमें सिंह-केतु नामका उत्तम देव हुआ, फिर कनकोज्ज्वल नामका विद्याधरोंका राजा हुआ, फिर सप्तम स्वर्गमें देव हुआ, फिर हरिषेण राजा हुआ, फिर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ, फिर प्रियमित्र नामका चक्रवर्ती हुआ, फिर सहस्रार स्वर्गमें सूर्यप्रभ नामका देव हुआ, वहाँसे आकर नन्द नामका राजा हुआ, फिर अच्युत स्वर्गके पुष्पोत्तर विमानमें उत्पन्न हुआ और फिर वहाँसे च्युत होकर वर्धमान तीर्थंकर हुआ है ॥५४०-५४३॥ जो पंचकल्याण रूप महाऋद्धिको प्राप्त हुए हैं तथा जिन्हें मोक्षलक्ष्मी प्राप्त हुई है ऐसे वे वर्धमान स्वामी गुणभद्रके लिए अथवा गुणोंसे श्रेष्ठ समस्त पुरुषोंके लिए सर्व प्रकारके मंगल प्रदान करें ॥५४४॥

इस प्रकार अच्छी कथाके रससे मधुर तथा भक्तिसे आस्वादित, गौतम स्वामीके मुख-कमलमें सुशोभित सरस्वती देवीके वचन रूपी अमृतसे, वह सभा तथा मगधेश्वर राजा श्रेणिक दोनों ही, समस्त अर्थ रूप सम्पदाओंको देनेवाले एवं ज्ञान और दर्शनको पुष्ट करनेवाले बड़े भारी सन्तोषको प्राप्त हुए ॥५४५॥ जो निर्मल मोक्षमार्गमें रात-दिन लक्ष्मीसे बढ़ते ही जाते हैं, जिन्होंने इस कलिकालमें भी धर्म तीर्थका भारी विस्तार किया है, और इस तरह जिन्होंने अन्तिम तीर्थंकर होते हुए भी पूर्व तीर्थंकरोंको जीत लिया है ऐसे श्रीवर्धमान जिनेन्द्रको मैं स्तुतिके मार्गमें लिये जाता हूँ—अर्थात् उनकी स्तुति करता हूँ ॥५४६॥

१ —मजितं इति क्वचित्पाठः ।

स्तुत्यं प्रसादयितुमर्थिजनो विनौति
न त्वय्यदस्तव स मोहजयस्ततोऽयम् ।
तस्यार्थिनः स्तुतिरिहेश ममास्ति वाद
स्तुत्यस्तुतिप्रणयिनोऽर्थपराङ्मुखस्य ॥५४७॥

येषां प्रमेयविमुखं सुमुखप्रमाणं
ते न स्तुतेर्हितजुषां विषयीभवेयुः ।
त्वं विश्वभावविहितावगमात्मकोऽर्हन्
वक्ता हि तस्य तत एव हितैषियम्यः ॥५४८॥

दातासि न स्तुतिफलं समुपैत्यवश्यं
स्तोता महज्झटिति शुभ्रमयाचितोऽयम् ।
कुर्यां कुतस्तव न संस्तवनं जिनेश
दैन्यातिभीरुरहमग्र्यफलाभिलाषी ॥५४९॥

निष्कारणं तृणलवं च ददद्विधीः को
कोके जिन त्वयि ददाति निरर्थकत्वम् ।
मुक्तिप्रदायिनि तथापि भवन्तमेव
प्रेक्षावतां प्रथमगण्यमुशन्ति चित्रम् ॥५५०॥

सर्वस्वमर्थिजनताः स्वामिह स्वकीयं
चक्रुः परे निरुपधिस्थिरसत्त्वसाराः ।
प्रोल्लङ्घ्य तान् जिन वदन्ति वदान्यवर्यं
त्वां वाग्भिरेव वितरन्तमहो विदग्धाः ॥५५१॥

हे ईश ! अर्थी लोग—कुछ पानेकी इच्छा करनेवाले लोग, किसी स्तुत्य अर्थात् स्तुति करनेके योग्य पुरुषकी जो स्तुति करते हैं सो उसे प्रसन्न करनेके लिए ही करते हैं परन्तु यह बात आपमें नहीं है क्योंकि आप मोहको जीत चुके हैं इसलिए मैं किसी वस्तुकी आकांक्षा रखकर स्तुति नहीं कर रहा हूँ, मुझे सिर्फ स्तुति करने योग्य जिनेन्द्रकी स्तुति करनेका ही अनुराग है, मैं सब प्रयोजनोंसे विमुख हूँ ॥५४७॥ हे सुमुख ! जिनका प्रमाण अर्थात् ज्ञान, प्रमेय अर्थात् पदार्थसे रहित है—जो समस्त पदार्थोंको नहीं जानते हैं वे हिताभिलाषी लोगोंकी स्तुतिके विषय नहीं हो सकते। हे अर्हन् ! आप समस्त पदार्थोंको जानते हैं—समस्त पदार्थोंका जानना ही आपका स्वरूप है और आप ही उन समस्त पदार्थोंके वक्ता हैं—उपदेश देनेवाले हैं इसलिए हिताभिलाषी लोगोंके द्वारा आप ही स्तुति किये जानेके योग्य हैं ॥५४८॥ हे जिनेन्द्र ! यद्यपि आप स्तुतिका फल नहीं देते हैं तो भी स्तुति करनेवाला मनुष्य बिना किसी याचनाके शीघ्र ही स्तुतिका बहुत भारी श्रेष्ठ फल अवश्य पा लेता है इसलिए दीनतासे बहुत डरनेवाला और श्रेष्ठ फलकी इच्छा करनेवाला मैं आपका स्तवन क्यों न करूँ ? ॥५४९॥ हे जिनेन्द्र ! यदि इस संसारमें कोई किसीके लिए बिना कारण तृणका एक टुकड़ा भी देता है तो वह मूर्ख कहलाता है परन्तु आप बिना किसी कारण मोक्ष लक्ष्मी तक प्रदान करते हैं (इसलिए आपको सबसे अधिक मूर्ख कहा जाना चाहिए) परन्तु आप बुद्धिमानोंमें प्रथम ही गिने जाते हैं यह महान् आश्चर्यकी बात है ॥५५०॥ इस संसारमें कितने ही अन्य लोगोंने अपना सर्वस्व-धन देकर याचक जनोंके लिए छलरहित स्थायी धनसे श्रेष्ठ बनाया है और हे जिनेन्द्र ! आप केवल वचनोंके द्वारा ही दान करते हैं फिर भी आश्चर्यकी बात है कि चतुर मनुष्य उन सबका उल्लंघन कर एक आपको ही उत्कृष्ट दाता कहते हैं। भावार्थ—धन सम्पत्तिका दान करनेवाले पुरुष संसारमें फँसानेवाले हैं परन्तु आप वैराग्यसे ओत-प्रोत उपदेश देकर जीवोंको संसार-समुद्रसे बाहर निकालते हैं अतः सच्चे और उत्कृष्ट दानी आप ही हैं ॥५५१॥

धीः पौरुषं च विषयार्जनमेव येषां
सौख्यं च विश्वविषया विरतोपभोगः ।
तेषां कथं तदुभयप्रतिपक्षरूपं
त्वच्छासनं श्रवणभिज्जिन मा जनिष्ट ॥५५२॥
पुण्यं त्वया जिन विनेयविधेयमिष्टं
गत्यादिभिः परमनिर्वृतिसाधनत्वात् ।
नैवामराखिलसुखं प्रति तच्च यस्माद्
बन्धप्रदं विषयनिघ्नमभीष्टघाति ॥५५३॥
कायादिकं सदसि[1] ते विफलं किलाङ्ग-
नैतद्वचस्तव निशम्य निशाम्य साक्षात् ।
स्वां यान्ति निर्वृतिमिहैव विनेयमुख्या
मुख्यं फलं ननु फलेषु परोपकारः ॥५५४॥
यल्लक्षणक्षतिकृदात्मनि तद्धि कर्म-
नामादिकं किमु निहन्ति तवोपयोगम् ।
तत्सत्तया जिन भवन्तमसिद्धमिच्छ-
न्निच्छेदनूर्ध्वगमनादतनोरसिद्धिम् ॥५५५॥
साद्यन्तहीनमनवद्यमनादिसान्तं
सावद्यमादिरहितावसानमाहुः ।

हे जिन ! विषयोंका अर्जन करना ही जिनकी बुद्धि अथवा पुरुषार्थ रह गया है तथा समस्त विषयोंका निरन्तर उपभोग करना ही जिन्होंने सुख मान रखा है उन दोनोंसे विरुद्ध रहनेवाला आपका शासन, उन लोगोंके कानको फोड़नेवाला क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा ॥५५२॥ हे जिनेन्द्र ! आपने जिस पुण्यका उपदेश दिया है वही ज्ञान आदिके द्वारा परम निर्वाणका साधन होनेसे इष्ट है तथा भव्य जीवोंके द्वारा करनेके योग्य है। देवोंके समस्त सुख प्रदान करनेवाला जो पुण्य है वह पुण्य नहीं है क्योंकि वह बन्धका देनेवाला है, विषयोंमें फँसानेवाला है और अभीष्ट (मोक्ष) का घात करनेवाला है ॥५५३॥ हे भगवन् ! समवसरणमें आपके जो शरीरादिक विद्यमान हैं वे निष्फल नहीं हैं क्योंकि उत्तम शिष्य आपके वचन सुनकर तथा साक्षात् आपके दर्शन कर इसी लोकमें परम आनन्दको प्राप्त होते हैं सो ठीक ही है क्योंकि जितने फल हैं उन सबमें परोपकार करना ही मुख्य फल है ॥५५४॥ हे भगवन् ! ज्ञान दर्शनादिरूप लक्षणोंका घात करनेवाला जो नामादि कर्म आपकी आत्मामें विद्यमान है वह क्या आपके उपयोगको नष्ट कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता । हे जिनेन्द्र ! आत्मामें कर्मोंकी सत्ता होनेसे जो आपको असिद्ध-अमुक्त मानता है वह यह क्यों नहीं मानने लगता है कि निरन्तर ऊर्ध्वगमन न होनेसे शरीररहित सिद्ध भगवान् भी अभी सिद्धिको प्राप्त नहीं हुए हैं। भावार्थ— यद्यपि अरहन्त अवस्थामें नामादि कर्म विद्यमान रहते हैं परन्तु मोहनीयका योग न होनेसे वे कुछ कर सकनेमें समर्थ नहीं हैं अतः उनकी जीवन्मुक्त अवस्था ही मानने योग्य है ॥५५५॥ हे प्रभो ! गणधरादिक देव, आपको आदिसहित, अन्तरहित, आदिरहित, अन्तसहित, अनादि-अनन्त, पापसहित, पापरहित, दुःखी, सुखी और दुःख-सुख दोनोंसे रहित कहते हैं इसलिए जो मनुष्य नयोंसे अनभिज्ञ हैं वे आपको नहीं जान सकते हैं— उनके द्वारा आप अज्ञेय हैं। भावार्थ—आत्माकी जो सिद्ध पर्याय प्रकट होती है वह पहलेसे विद्यमान नहीं रहती इसलिए सिद्ध पर्यायकी अपेक्षा आप सादि हैं तथा सिद्ध पर्याय एक बार प्रकट होकर फिर कभी नष्ट नहीं होती इसलिए आप अन्तरहित हैं। आपकी संसारी पर्याय आदिरहित है अतः उसकी

1 सदपि इत्यपि क्वचित् ।

त्वां दुःखिनं सुखिनमप्युभयव्यपेतं
तेनैव दुर्गमतमोऽसि मयानभिज्ञः ॥५५६॥
संयोगजः स्वज इति द्विविधो हि भावो
जीवस्य योगविगमाद्विगमा तदुत्थः ।
स्वोत्थे स्थितिः परमनिर्वृतिरेष मार्गो
दुर्गः परस्य तव वाक्यबहिष्कृतस्य ॥५५७॥
आस्तामनादि निगडच्छिदया ददासि
यन्मुक्तिमन्तरहितां तदिहालमेषा ।
स्नेहादिहेतुविनिवृत्तसमस्तसत्त्व-
संपालनप्रवणतैव तवाप्ततायै ॥५५८॥
बोधस्तवाखिलविलोकनविभ्रमो किं
किं वाग्मितामितपदार्थनिरूपणायाम् ।
किं स्वार्थसंपदि परार्थपराङ्मुखस्त्वं
किं नासि सत्सु जिन पूज्यतमस्त्वमेव ॥५५९॥
विश्वावलोकनवितन्वदनन्तवीर्य-
व्यापारपारसरणं न कदापि ते स्यात् ।
चित्रं तथापि सुखिनां सुखिनं भवन्तं
सन्तो वदन्ति किमु भक्तिरुतावबोधः ॥५६०॥

अपेक्षा अनादि हैं और कर्म क्षय हो जानेपर संसारी पर्यायका अन्त हो जाता है उसकी अपेक्षा अन्तसहित हैं। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सामान्य जीवत्वभावसे आप न आदि हैं और न अन्त हैं अतः आप आदि और अन्त दोनोंसे रहित हैं। हिंसादि पापोंका आप त्याग कर चुके हैं अतः अनवद्य हैं—निष्पाप हैं और असातावेदनीय आदि कितनी ही पाप प्रकृतियोंका उदय अरहन्त अवस्थामें भी विद्यमान है अतः सावद्य हैं—पाप प्रकृतियोंसे सहित हैं। अरहन्त अवस्थामें असातावेदनीयका उदय विद्यमान रहनेसे कारणकी अपेक्षा आप दुःखी हैं, मोह कर्मका अभाव हो जानेसे आकुलताजन्य दुःख नष्ट हो चुका है इसलिए सुखी हैं, और आप अव्याबाधगुणसे सहित हैं अतः सुखी और दुःखी इन दोनों व्यवहारोंसे रहित हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न नयोंकी अपेक्षा आप अनेक रूप हैं। जो इस नयवादको नहीं समझता है वह आपके इन विविध रूपोंको कैसे समझ सकता है ? ॥५५६॥ हे देव ! जीवोंके भाव दो प्रकारके हैं—एक संयोगसे उत्पन्न होनेवाले और दूसरे स्वाभाविक। जो संयोगसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं वे संयोगके नष्ट हो जानेपर नष्ट हो जाते हैं, उनके नष्ट होनेसे ज्ञानादिक स्वाभाविक भावोंमें आत्माकी जो स्थिति है वही परमनिर्वृत्ति या परम मुक्ति कहलाती है परन्तु यह मार्ग आपके वचनोंसे दूर रहनेवाले अन्य दर्शनकारोंको कठिन है ॥५५७॥ हे भगवन् ! आप अनादि कर्मबन्धनको छेदकर जो अन्तरहित मुक्ति प्रदान करते हैं वह बात तो दूर ही रही किन्तु स्नेह आदि कारणोंसे रहित होकर भी समस्त प्राणियोंकी रक्षा करनेमें जो आपकी दक्षता है वही आपकी आप्तता सिद्ध करनेके लिए बहुत है ॥५५८॥ हे भगवन् ! क्या आपका ज्ञान समस्त पदार्थोंके देखनेके कौतूहलसे सहित नहीं है ? क्या अपरिमित पदार्थोंके निरूपण करनेमें आपकी वचन-कुशलता नहीं है ? क्या परपदार्थोंसे पराङ्मुख रहनेवाले आप स्वार्थरूप सम्पदाके सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हैं और क्या सज्जनोंके बीच एक आप ही पूज्य नहीं हैं ? ॥५५९॥ हे नाथ ! समस्त संसारको देखनेके लिए फैलनेवाले आपके अनन्तवीर्यके व्यापारका पार कभी नहीं प्राप्त किया जा सकता है तो भी आश्चर्य है कि सज्जन लोग आपको ही सुखियोंमें सबसे अधिक सुखी बतलाते हैं परन्तु उनकी यह भक्ति है अथवा यथार्थज्ञान

भव्यात्मनां परमनिर्वृतिसाधनार्थं
स्वच्चेष्टितं तव न तत्र फलोपलिप्सा ।
तस्मात्त्वमेव जिन वागमृताम्बुवृष्ट्या
संतर्पयन् जगदकारणबन्धुरेकः ॥५६१॥
जीवोऽयमुद्यदुपयोगगुणोपलक्ष्य-
स्तस्योपहन्तृ ननु घातिचतुष्कमेव ।
घातेन तस्य जिन पुष्कललक्षणस्त्वं
त्वां तादृशं वद वदन्तु कथं न सिद्धम् ॥५६२॥
साधारणास्तव न सन्तु गुणास्तदिष्टं[1]
[2]दृश्यो न तेषु जिन सत्सु गुणेषु साक्षात् ।
दृष्टे भवेद्भवति भक्तिरसौ ययाय[3]-
श्चेचीयते स्रवति पापमपि [4]प्रभूतम् ॥५६३॥
देवावगाढममवत्तव मोहघाता-
च्छुद्धानमावृतिहतेः परमावगाढम् ।
आद्ये चरित्रपरिपूर्तिरथोत्तरत्र
विश्वावबोधविभुतासि ततोऽभिवन्द्यः ॥५६४॥
ध्वस्तं त्वया प्रबलपापबलं परं च
प्रोच्छिन्नपालिजलवत्प्रवहत्यजस्रम् ।
श्रद्धादिभिस्त्रिभिरभूस्त्रितयी च सिद्धिः
सद्धर्मचक्रभुवनत्रिभुवनैकनाथः ॥५६५॥
देहो विकाररहितस्तव वाग्यथार्थ-
दक्[illegible] यत्वमुपेत्य सद्यः ।

है सो जान नहीं पड़ता है ॥५६०॥ हे जिनेन्द्र ! आपकी जितनी चेष्टाएँ हैं वे सभी भक्त जीवोंके मोक्ष सिद्ध करनेके लिए हैं परन्तु आपको उसके किसी फलकी इच्छा नहीं है इसलिए कहना पड़ता है कि वचनामृतरूपी जलकी वृष्टिसे संसारको तृप्त करते हुए एक आप ही अकारण बन्धु हैं ॥५६१॥ यह जीव प्रकट हुए उपयोगरूपी गुणोंके द्वारा जाना जाता है और उस उपयोगको नष्ट करनेवाले चार घातिया कर्म हैं। उन घातिया कर्मोंको नष्ट करनेसे आपका उपयोगरूपी पूर्ण लक्षण प्रकट हो चुका है इसलिए हे जिनेन्द्र ! आप ही कहिए कि ऐसे आत्मलक्षणवाले आपको सिद्ध कैसे न कहें ? ॥५६२॥ हे भगवन् ! आपके गुण साधारण नहीं हैं यह मैं मानता हूँ परन्तु उन असाधारण गुणोंके रहते हुए भी आप साक्षात् दिखते नहीं हैं यह आश्चर्य है, यदि आपके साक्षात् दर्शन हो जावें तो वह भक्ति उत्पन्न होती है जिसके कि द्वारा बहुत भारी पुण्यका संचय होता है और बहुत भारी पाप नष्ट हो जाते हैं ॥५६३॥ हे देव ! मोहनीय कर्मका घात होनेसे आपके अवगाढ सम्यग्दर्शन हुआ था और अब ज्ञानावरणका क्षय हो जानेसे परमावगाढ सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है। अवगाढ सम्यग्दर्शनमें चारित्रकी पूर्णता होती है और परमावगाढ सम्यग्दर्शनमें समस्त पदार्थोंके जाननेकी सामर्थ्य होती है इस तरह दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणकी पूर्णताके कारण आप वन्दनीय हैं—वन्दना करनेके योग्य हैं ॥५६४॥ हे भगवन् ! आपने प्रबल घातिया कर्मोंकी सेनाको तो पहले ही नष्ट कर दिया था अब अघातिया कर्म भी, जिसका बाँध टूट गया है ऐसे सरोवरके जलके समान निरन्तर बहते रहते हैं—खिरते जाते हैं। हे नाथ ! इस तरह व्यवहार-रत्नत्रयके द्वारा आपको निश्चय-रत्नत्रयकी सिद्धि प्राप्त हुई है और समीचीन धर्मचक्रके द्वारा आप तीनों लोकोंके एक स्वामी हुए हैं ॥५६५॥ हे कामदेवके मानको मर्दन करनेवाले प्रभो ! आपका शरीर विकारसे रहित है

१ तदिष्टो म०, ख० । २ यस्योन्नतेषु क०, ग०, घ०, । दृष्टो नु तेषु ख० । ३ पुण्यम् । ४ प्रचुरम् ।

स्वामस्तरागमखिलावगमं च कस्य
न स्थापयेन्मनसि मन्मथमानमर्दिन् ॥५६६॥
किं वस्त्विहाक्षणिकमन्वयरूपमस्ति
व्यस्तान्वयं वद हि किं क्षणिकं च किंचित् ।
बुद्धादयो बुधप गर्भगतार्भकाभा
भेदोऽयमर्थविमुखोवगमो ह्यमीषाम् ॥५६७॥
तिष्ठत्वगोचरमनन्तचतुष्टयं ते
स्वाभाविकात्वतिशयेष्वपरोऽपि कश्चित् ।
कस्यापि संभवति किं कपिलादिकानां
केनाप्तपङ्क्तिमुपयान्ति तपस्विनोऽमी[1] ॥५६८॥
त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांसं
ध्वस्तत्रिवेदमपि किं परमाङ्गसङ्गात्[2] ।
किं मोहमल्लदहनाकिमनन्तवीर्यात्
किं सिद्धतापरिणतेर्गुणगौरवाद्वा ॥५६९॥
देहत्रयापनयनेन विनापि सिद्धि-
स्त्वं शुद्धिशक्त्यतुलधृत्युदितोदितत्वात् ।
आधिक्यमस्त्यधिपते[3] त्वदुदीरितोरु-
सन्मार्गगान्नयसि यत्परमात्मभावम् ॥५७०॥

और आपके वचन पदार्थके यथार्थ स्वरूपको देखनेवाले हैं यदि कदाचित् ये दोनों ही नेत्र और कर्ण इन्द्रियके विषय हो जावें तो वे दोनों ही, रागद्वेषसे रहित तथा समस्त पदार्थोंको जाननेवाले आपको किसके मनमें शीघ्र ही स्थापित नहीं कर देंगे अर्थात् सभीके मनमें स्थापित कर देंगे। भावार्थ—आपका निर्विकार शरीर देखकर तथा पदार्थके यथार्थ स्वरूपका निरूपण करनेवाली आपकी वाणी सुनकर सभी लोग अपने हृदयमें आपका ध्यान करने लगते हैं। आपका शरीर निर्विकार इसलिए है कि आप वीतराग हैं तथा आपकी वाणी पदार्थका यथार्थ स्वरूप इसलिए कहती है कि आप सब पदार्थोंको जाननेवाले हैं—सर्वज्ञ हैं ॥५६६॥ हे विद्वानोंके पालक ! क्या इस संसारमें वस्तुका स्वरूप अन्वय रूपसे नित्य है अथवा निरन्वय रूपसे क्षणिक है। कैसा है सो कहिए, इसका स्वरूप कहनेमें बुद्धादिक गर्भमें बैठे हुए बच्चेके समान हैं, वास्तविक बात यह है कि इन सबका ज्ञान पदार्थज्ञानसे विमुख है ॥५६७॥ हे देव ! आपका अनन्तचतुष्टय कपिलादिके विषयभूत नहीं है यह बात तो दूर रही परन्तु निःस्वेदत्व आदि जो आपके स्वाभाविक अतिशय हैं उनमें-से क्या कोई भी कपिलादिमें किसी एकके भी सम्भव है ? अर्थात् नहीं है; फिर भला ये बेचारे कपिलादि आप्तकी पंक्तिमें कैसे बैठ सकते हैं ? आप्त कैसे कहला सकते हैं ? ॥५६८॥ हे भगवन् ! यद्यपि आपने तीनों वेदोंको नष्ट कर दिया है फिर भी मुनिगण आपको परमपुरुष कहते हैं सो क्या परमौदारिक शरीरकी संगतिसे कहते हैं ? या मोह रूपी मल्लको भस्म करनेसे कहते हैं ? या सिद्धता गुणरूप परिणमन करनेसे कहते हैं या गुणोंके गौरवसे कहते हैं ? ॥५६९॥ हे भगवन् ! यद्यपि अभी आपने औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंको नष्ट नहीं किया है तो भी शुद्धि, शक्ति और अनुपम धैर्यके सातिशय प्रकट होनेसे आप सिद्ध हो चुके हैं। हे स्वामिन् ! आप अपने द्वारा कहे हुए विशाल एवं समीचीन मार्गमें चलनेवाले लोगोंको परमात्म-अवस्था प्राप्त करा देते हैं।

१ तपस्विनोऽपि क०, ख०, ग०, घ०, म०। २ सङ्गम् क०, ख०, ग०, घ०। ३—मप्यधिपते क०, ख०, घ०, म०।

अस्त्येव देव तव चौदयिकोऽपि भावः
किं त्वेष मोहरहितस्य न बन्धहेतुः ।
योगानुरोधसमवाप्तशुभाणुवेद्य-
बन्धं निबन्धनं[1] मुख्यस्त्यविरोधकत्वात् ॥५७१॥
त्वत्पादपङ्कजषडङ्घ्रितयाप्तपुण्याद्
गण्योऽभवत्सुरगणो गणनातिगश्रीः ।
आनम्रमौलिरत एव नखोन्मुखांशु-
भास्वन्मुखः शतमखः सुमुखस्त्वदङ्घ्र्योः ॥५७२॥

मालिनी

प्रशमपरमकाष्ठानिष्ठितोदात्तमूर्तेः
क्रमकरणविहीनज्ञानधामैकधाम्नः ।
द्वितयनयमयोद्यद्धीरदिव्यध्वनेस्ते
ननु जिन परमात्मप्राभवं भाति भर्तुः ॥५७३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

ज्ञानं सर्वगतं स्वरूपनियतं ते स्यादहेतुः कृते-
र्वीतेच्छायतनाः स्वकृत्यपटवो वाचो विवाचामपि ।
प्रस्थानस्थितयोऽप्यनात्मविहिता मात्मान्यबाधाप्रदाः
स त्वं निर्मलबोधदर्पणतले ज्ञेयाकृतिं धत्स्व मे ॥५७४॥
विश्वस्यास्खलित प्रशास्ति तव वाग्याथात्म्यमात्मेश्विनो
यस्माद्दृष्टविरोधरोधरहिता[2] रागाद्यविद्याच्छिदः ।

यही आपकी सबसे अधिक विशेषता है ॥५७०॥ हे देव ! यद्यपि आपके औदयिक भाव हैं परन्तु चूँकि आप मोहसे रहित हैं अतः वह बन्धका कारण नहीं है मात्र योगोंके अनुरोध सद्भावसे आपके सातावेदनीय नामक पुण्य प्रकृतिका थोड़ा-सा बन्ध होता है पर वह आपका कुछ भी विघात नहीं कर सकता इसलिए आपको यथार्थमें बन्धरहित ही कहते हैं ॥५७१॥ हे भगवन् ! आपके चरण-कमलोंका भ्रमर बननेसे जो पुण्य प्राप्त हुआ था उसीसे यह देवताओं-का समूह गणनीय (माननीय) गिना गया है और उसी कारणसे उसकी लक्ष्मी संख्याके बाहर हो गयी है। यही कारण है कि नखोंकी ऊपरकी ओर उठनेवाली किरणोंसे जिसका मुख देदीप्यमान हो रहा है ऐसा यह इन्द्र मुकुट झुकाकर आपके चरणोंके सम्मुख हो रहा है—आपके चरणोंकी ओर निहार रहा है ॥५७२॥ हे जिनेन्द्र ! आपका उत्कृष्ट शरीर प्रशम भाव-की चरम सीमासे परिपूर्ण है, आप क्रम तथा इन्द्रियोंसे रहित केवलज्ञानरूपी तेजके एक मात्र स्थान हैं, आपकी गम्भीर दिव्यध्वनि निश्चय और व्यवहारनयसे परिपूर्ण होकर प्रकट हुई है तथा आप सबके स्वामी हैं इसलिए हे नाथ ! आपके परमात्मपदका प्रभाव बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा है ॥५७३॥ हे भगवन् ! यद्यपि आपका ज्ञान सर्वत्र व्याप्त है तो भी स्वरूपमें नियत है और वह किसी कार्यका कारण नहीं है। आपकी वाणी इच्छाके बिना ही खिरती है तो भी वचनरहित (पशु आदि) जीवोंका भी आत्मकल्याण करनेमें समर्थ है। इसी प्रकार आपका जो विहार तथा ठहरना होता है वह भी अपनी इच्छासे किया हुआ नहीं होता है और वह भी निज तथा पर किसीको भी बाधा नहीं पहुँचाता है। ऐसे हे देव ! आप मेरे निर्मलज्ञानरूपी दर्पणके तलमें ज्ञेयकी आकृतिको धारण करो अर्थात् मेरे ज्ञानके विषय होओ ॥५७४॥ हे भगवन् ! आप आत्माके स्वामी हैं—अपनी इच्छाओंको अपने अधीन रखते हैं तथा आपने रागादि अविद्याओंका उच्छेद कर दिया है इसलिए आपके वचन प्रत्यक्षादि

---

१ -मसत्यविरोधसत्वात् क०, ग०, घ० । २ दृष्टिविरोधरोधविहिता ख० ।

तस्माद्वीर विकायसायकशिखामौखर्यवीयद्रुहो
मोहद्रोहजयस्तवैव न परेष्वन्यायविन्यासिषु ॥५७५॥
देवो वीरजिनोऽयमस्तु [1]जगतां वन्द्यः [2]सदा मूर्धिन मे
देवस्त्वं हृदये गणेश वचसा स्पष्टेन येनाखिलम्।
कारुण्यात्प्रथमानुयोगमवदः श्रद्धाभिवृद्ध्यावहं
मद्भाग्योदयत: सतां स सहजो भावो ह्ययं तादृशाम् ॥५७६॥

मालिनी

इति कतिपयवाग्भिर्वर्धमानं जिनेन्द्रं
मगधपतिरुदीर्णश्रद्धया सिद्धकृत्यः[3]।
गणधरमपि नुत्वा गौतमं धर्मधुर्यः[4]
स्वपुरमविशदुद्यत्तुष्टिरागामिसिद्धिः ॥५७७॥

अनुष्टुप्छन्दसा ज्ञेया ग्रन्थसंख्या तु विंशतिः। सहस्राणां पुराणस्य व्याख्यातृश्रोतृलेखकैः ॥५७८॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
श्रीवर्धमानस्वामिपुराणं नाम षट्सप्ततितमं पर्व ।



विरोधसे रहित होकर समस्त संसारके लिए बिना किसी बाधाके यथार्थ उपदेश देते हैं। इसी तरह हे वीर ! आपने कामदेवके बाणोंकी शिखाकी वाचालता और शक्ति दोनों ही नष्ट कर दी हैं इसलिए मोहकी शत्रुताको जीतना आपके ही सिद्ध है अन्याय करनेवाले अन्य लोगोंमें नहीं ॥५७५॥ समस्त जगत्के द्वारा वन्दना करने योग्य देवाधिदेव श्री वर्धमान स्वामी सदा मेरे मस्तकपर विराजमान रहें और हे गणधर देव ! आप भी सदा मेरे हृदयमें विद्यमान रहें क्योंकि आपने मेरे भाग्योदयसे करुणा कर स्पष्ट वाणीके द्वारा श्रद्धाकी वृद्धि करनेवाला यह प्रथमानुयोग कहा है सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे पुरुषोंका ऐसा भाव होना स्वाभाविक ही है ॥५७६॥ इस प्रकार जिसे आगामी कालमें मोक्ष होनेवाला है जिसने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है, जो धर्मका भार धारण करनेवाला है और जिसे भारी हर्ष उत्पन्न हो रहा है ऐसा मगधपति राजा श्रेणिक, श्री वर्धमान जिनेन्द्र और गौतम गणधरकी स्तुति कर अपने नगरमें प्रविष्ट हुआ ॥५७७॥

आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि व्याख्यान करनेवाले, सुननेवाले और लिखनेवालोंको इस पुराणकी संख्या अनुष्टुप् छन्दसे बीस हजार समझनी चाहिए ॥५७८॥

इस प्रकार भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत, आर्ष नामसे प्रसिद्ध, त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें श्री वर्धमान स्वामीका पुराण वर्णन करनेवाला यह छिहत्तरवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥७६॥



१ जगतः ल०। २ सतां इति क्वचित्। ३ सिद्धकृत्यं ल०। ४ धर्मधुर्यम् ल०। ५ 'अनुष्टुप्छन्दसा ज्ञेया चतुर्विंशसहस्रिका। पुराणे ग्रन्थके संख्या व्याख्यातृश्रोतृलेखकैः॥ क०, ख०, ग०'।

अथ प्रशस्तिः

यस्यानताः पदनखेन्दववबिम्बचुम्बि-चूडामणिप्रकटसन्मुकुटाः सुरेन्द्राः ।
न्यक्कुर्वते स्म हरमर्धशशाङ्कमौलिलीलोद्धतं स जयताज्जिनवर्धमानः ॥१॥

श्रीमूलसङ्घवाराशौ मणीनामिव सार्चिषाम् । महापुरुषरत्नानां स्थानं सेनान्वयोऽजनि ॥२॥

तत्र वित्रासिताशेषप्रवादिमदवारणः । वीरसेनाग्रणीर्वीरसेनभट्टारको बभौ ॥३॥

ज्ञानचारित्रसामग्रीवाग्रहीदिव[2] विग्रहम् । विराजते विधातुं यो विनेयानामनुग्रहम् ॥४॥

यत्क्रमानम्रराजन्यमुखाब्जान्यादधुः श्रियम् । चित्रं विकासमासाद्य नखचन्द्रमरीचिभिः ॥५॥

सिद्धिभूपद्धति[3] यस्य[4] टीकां संवीक्ष्य भिक्षुभिः । टीक्यते हेलयान्येषां विषमापि पदे पदे ॥६॥

यस्यास्याब्जजवाक्छ्रिया धवलया कीर्त्यैव संश्राव्यया[5]
संप्रीतिं सततं समस्तसुधियां संपादयन्त्या सताम् ।
विश्वव्याप्तिपरिश्रमादिव चिरं लोके स्थितिं[6] संश्रिताः
श्रोत्रालीनमलान्यनाद्युपचितान्यस्तानि निःशेषतः ॥७॥

अभवदिव हिमाद्रेर्देवसिन्धुप्रवाहो
ध्वनिरिव सकलज्ञात्सर्वशास्त्रैकमूर्तिः ।

इन्द्र लोग जिन्हें नमस्कार करते थे और इसीलिए जिनके चरण-नखरूपी चन्द्रमाके बिम्बका स्पर्श करनेसे जिन इन्द्रोंके उत्तम मुकुट प्रकट हो रहे थे वे इन्द्र, मस्तकपर अर्ध चन्द्रको धारण करनेकी लीलासे उन्मत्त हुए महादेवका भी तिरस्कार करते थे ऐसे श्री वर्धमान स्वामी सदा जयशील हों ॥१॥ जिस प्रकार समुद्रमें अनेक देदीप्यमान रत्नोंके स्थान होते हैं उसी प्रकार मूलसंघरूपी समुद्रमें महापुरुष-रूपी रत्नोंके स्थान स्वरूप एक सेनवंश हो गया है ॥२॥ उसमें समस्त प्रवादी रूपी मदोन्मत्त हाथियोंको त्रास देनेवाले एवं वीरसेन संघमें अग्रणी वीरसेन भट्टारक सुशोभित हुए थे ॥३॥ वे ज्ञान और चारित्रकी सामग्रीके समान शरीरको धारण कर रहे थे और शिष्यजनोंका अनुग्रह करनेके लिए ही मानो सुशोभित हो रहे थे ॥४॥ यह आश्चर्यकी बात थी कि उन वीरसेन भट्टारकके चरणोंमें नम्र हुए राजा लोगोंके मुखरूपी कमल उनके नखरूपी चन्द्रमाकी किरणोंसे प्रफुल्लित होकर शोभाको धारण कर रहे थे ॥५॥ सिद्धिभूपद्धति ग्रन्थ यद्यपि पद-पदपर विषम या कठिन था परन्तु उन वीरसेन स्वामीके द्वारा निर्मित उसकी टीका देखकर भिक्षु लोग उसमें अनायास ही प्रवेश करने लगे थे ॥६॥ जिन वीरसेन स्वामीके मुखरूपी कमलसे प्रकट हुई वचन रूपी लक्ष्मी, धवल कीर्तिके समान श्रवण करने योग्य है, समस्त बुद्धिमान् सज्जनोंको सदा प्रेम उत्पन्न करनेवाली है और समस्त संसारमें फैलनेके परिश्रमसे ही मानो इस लोकमें बहुत दिनसे स्थित है उसी वचनरूपी लक्ष्मीके द्वारा अनादि कालसे संचित कानोंमें भरे हुए मैल पूर्णरूपसे नष्ट हो जाते हैं। विशेषार्थ—श्री वीरसेन स्वामीने षट्खण्डागमके ऊपर जो धवला नामकी टीका लिखी है वह मानो उनके मुखरूपी कमलसे प्रकट हुई लक्ष्मी ही है, कीर्तिके समान श्रवण करनेके योग्य है, समस्त सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंको निरन्तर उत्तम प्रीति उत्पन्न करती है, उसका प्रभाव समस्त लोकमें फैला हुआ है। और वह लोकमें सिद्धान्त ग्रन्थोंकी सीमाके समान स्थित है। आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि उनकी वह धवला टीका श्रोतृजनोंके अज्ञान रूपी मैलको चिरकाल तक सम्पूर्ण

---

१ मपुस्तकेऽयं श्लोकोऽधिकः—'चतुर्विंशतितीर्थेशां चतुर्गतिनिवृत्तये । वृषभादिमहावीरपर्यन्तान् प्रणमाम्यहम् ।' २–मग्रहीदिव ल० । ३ पद्धतिर्यस्य ल० । ४ यस्या क०, ख०, ग०, घ० । ५ संश्रव्याय क०, घ०, म० । ६ स्थितिः म० ।

उदयगिरितटाद्वा भास्करो भासमानो
मुनिरनु जिनसेनो वीरसेनादमुष्मात् ॥८॥
यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भवत्
पादाम्भोजरजःपिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः ।
संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं
स श्रीमाञ्जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥९॥
प्रावीण्यं पदवाक्ययोः परिणतिः पक्षान्तराक्षेपणे
सद्भावावगतिः कृतान्तविषया श्रेयःकथाकौशलम् ।
ग्रन्थग्रन्थिभिदिः सदध्वकवितेत्यग्र्यो गुणानां गणो
यं संप्राप्य चिरं कलङ्कविकलः काले कलौ सुस्थितः ॥१०॥
ज्योत्स्नेव तारकाधीशे सहस्रांशाविव प्रभा । स्फटिके स्वच्छतेवासीत्सहजास्मिन्सरस्वती ॥११॥
दशरथगुरुरासीत्तस्य धीमान्सधर्मा
शशिन इव दिनेशो विश्वलोकैकचक्षुः ।
निखिलमिदमदीपि व्यापि तद्वाङ्मयूखैः
प्रकटितनिजभावं निर्मलैर्धर्मसारैः ॥१२॥
सद्भावः सर्वशास्त्राणां तद्भास्वद्वाक्यविस्तरे । दर्पणार्पितबिम्बाभो बालैरप्याशु बुध्यते ॥१३॥
प्रत्यक्षीकृतलक्ष्यलक्षणविधिर्विश्वोपविद्यां[1] गतः
सिद्धान्ता[2]ब्ध्यवसानयानजनितप्रागल्भ्यवृद्धीद्धधीः ।

रूपसे नष्ट करता रहे। जिस प्रकार हिमवान् पर्वतसे गंगानदीका प्रवाह प्रकट होता है, अथवा सर्वज्ञ देवसे समस्त शास्त्रोंकी मूर्ति स्वरूप दिव्य ध्वनि प्रकट होती है अथवा उदयाचलके तटसे देदीप्यमान सूर्य प्रकट होता है उसी प्रकार उन वीरसेन स्वामीसे जिनसेन मुनि प्रकट हुए ॥७-८॥ श्री जिनसेन स्वामीके देदीप्यमान नखोंके किरणसमूह धाराके समान फैलते थे और उसके बीच उनके चरण कमलके समान जान पड़ते थे उनके उन चरण-कमलोंकी रजसे जब राजा अमोघवर्षके मुकुटमें लगे हुए नवीन रत्नोंकी कान्ति पीली पड़ जाती थी तब वह अपने-आपको ऐसा स्मरण करता था कि मैं आज अत्यन्त पवित्र हुआ हूँ। आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि उन पूजनीय भगवान् जिनसेनाचार्यके चरण संसारके लिए मंगल रूप हों ॥९॥ पद और वाक्यकी रचनामें प्रवीण होना, दूसरे पक्षका निराकरण करनेमें तत्परता होना, आगम-विषयक उत्तम पदार्थोंको अच्छी तरह समझना, कल्याणकारी कथाओंके कहनेमें कुशलता होना, ग्रन्थके गूढ़ अभिप्रायको प्रकट करना और उत्तम मार्ग युक्त कविताका होना ये सब गुण जिनसेनाचार्यको पाकर कलिकालमें भी चिरकाल तक कलंकरहित होकर स्थिर रहे थे ॥१०॥ जिस प्रकार चन्द्रमामें चाँदनी, सूर्यमें प्रभा और स्फटिकमें स्वच्छता स्वभावसे ही रहती है उसी प्रकार जिनसेनाचार्यमें सरस्वती भी स्वभावसे ही रहती थी ॥११॥ जिस प्रकार समस्त लोकका एक चक्षुस्वरूप सूर्य चन्द्रमाका सधर्मा होता है। उसी प्रकार अतिशय बुद्धिमान् दशरथ गुरु, उन जिनसेनाचार्यके सधर्मा बन्धु थे—एक गुरु-भाई थे। जिस प्रकार सूर्य अपनी निर्मल किरणोंसे संसारके सब पदार्थोंको प्रकट करता है उसी प्रकार वे भी अपने वचनरूपी किरणोंसे समस्त जगत्‌को प्रकाशमान करते थे ॥१२॥ जिस प्रकार दर्पणमें प्रतिबिम्बित सूर्यके मण्डलको बालक लोग भी शीघ्र जान जाते हैं उसी प्रकार जिनसेनाचार्यके शोभायमान वचनोंमें समस्त शास्त्रोंका सद्भाव था यह बात अज्ञानी लोग भी शीघ्र ही समझ जाते थे ॥१३॥ सिद्धान्त-शास्त्ररूपी समुद्रके पारगामी होनेसे जिसकी बुद्धि अतिशय

---

१ विम्बोऽसौ म०, घ०, ग०, क०, विश्वोपविद्यान्तरात् म०, घ०, म० । विद्योपविद्यातिगः ल० ।
२ सिद्धान्ताद्व्यवहारयान क०, ग०, घ०, म० ।

नानानूननयप्रमाणनिपुणोऽगण्यैर्गुणैर्भूषितः
शिष्यः श्रीगुणभद्रसूरिरनयोरासीज्जगद्विश्रुतः ॥१४॥
पुण्यश्रियोऽयमजयत्सुभगत्वदर्प-
मित्याकलय्य परिशुद्धमतिस्तपःश्रीः ।
मुक्तिश्रिया पटुतमा प्रहितेव दूती
प्रीत्या महागुणधनं समशिश्रियद्यम् ॥१५॥
तस्य वचनांशुविसरः संततहततमस्तरान्तरङ्गतमाः ।
कुवलयपद्माह्लादी जितशिशिराशिशिररश्मिप्रसरः ॥१६॥
कविपरमेश्वरनिगदितगद्यकथामातृकं पुरोश्चरितम् ।
सकलच्छन्दोलङ्कृतिलक्ष्यं सूक्ष्मार्थगूढपदरचनम् ॥१७॥
व्यावर्णनानुसारं साक्षात्कृतसर्वशास्त्रसद्भावम् ।
अपहस्तितान्यकाव्यं श्रव्यं व्युत्पन्नमतिभिरादेयम् ॥१८॥
जिनसेनभगवतोक्तं मिथ्याकविदर्पदलनमतिललितम् ।
सिद्धान्तोपनिबन्धनकर्त्रा भर्त्रा चिरेयानाम् ॥१९॥
अतिविस्तरभीरुत्वादवशिष्टं संगृहीतममलधिया ।
गुणभद्रसूरिणेदं प्रहीणकालानुरोधेन ॥२०॥
व्यावर्णनादिरहितं सुबोधमखिलं सुलेखमखिलहितम् ।
महितं महापुराणं पठन्तु शृण्वन्तु भक्तिमद्भव्याः ॥२१॥
इदं भावयतां पुंसां भूयो भवविभित्सया । भव्यानां भाविसिद्धीनां शुद्धदृग्वृत्तविद्धताम् ॥२२॥
शान्तिर्वृद्धिर्जयः श्रेयः प्रायः प्रेयः समागमः । विगमो विघ्नवध्याप्तेरासिरस्त्यर्थसंपदाम् ॥२३॥

प्रगल्भ तथा देदीप्यमान (तीक्ष्ण) थी, जो अनेक नय और प्रमाणके ज्ञानमें निपुण था, अगणित गुणोंसे भूषित था तथा समस्त जगत्में प्रसिद्ध था ऐसा गुणभद्राचार्य, उन्हीं जिनसेनाचार्य तथा दशरथ गुरुका शिष्य था ॥१४॥ 'गुणभद्रने पुण्य-रूपी लक्ष्मीके सौभाग्यशाली होनेका गर्व जीत लिया है' ऐसा समझकर मुक्तिरूपी लक्ष्मीने उनके पास अत्यन्त चतुर दूतके समान विशुद्ध बुद्धिवाली तपोलक्ष्मीको भेजा था और वह तपोलक्ष्मीरूपी दूती महागुण-रूपी धनसे सम्पन्न रहनेवाले उस गुणभद्रकी बड़ी प्रीतिसे सेवा करती रहती थी ॥१५॥

उन गुणभद्रके वचनरूपी किरणोंके समूहने हृदयमें रहनेवाले अज्ञानान्धकारको सदाके लिए नष्ट कर दिया था और वह कुवलय तथा कमल दोनोंको आह्लादित करनेवाला था (पक्षमें महीमण्डलकी लक्ष्मीको हर्षित करनेवाला था) इस तरह उसने चन्द्रमा और सूर्य दोनोंके प्रसारको जीत लिया था ॥१६॥ परमेश्वर कविके द्वारा कथित गद्य काव्य जिसका आधार है, जो समस्त छन्दों और अलंकारोंका उदाहरण है, जिसमें सूक्ष्म अर्थ और गूढ़पदोंकी रचना है, जिसने अन्य काव्योंको तिरस्कृत कर दिया है, जो श्रवण करनेके योग्य है, मिथ्या कवियोंके दर्पको खण्डित करनेवाला है, और अतिशय सुन्दर है ऐसा यह महापुराण सिद्धान्त ग्रन्थपर टीका लिखनेवाले तथा [illegible] चिरकाल तक पालन करनेवाले श्री जिनसेन भगवान्ने कहा है ॥१७-१९॥ ग्रन्थका जो भाग, भगवान् जिनसेनके कथनसे बाकी बच रहा था उसे निर्मल बुद्धिके धारक गुणभद्र सूरिने हीनकालके अनुरोधसे तथा भारी विस्तारके भयसे संक्षेपमें ही संगृहीत किया है ॥२०॥ यह महापुराण व्यर्थके वर्णनसे रहित है, सरलतासे समझा जा सकता है, उत्तम लेखसे युक्त है, सब जीवोंका हित करनेवाला है, तथा पूजित है—सब इसकी पूजा करते हैं ऐसे इस समग्र महापुराण ग्रन्थको भक्तिसे भरे हुए भव्य जीव अच्छी तरह पढ़ें तथा सुनें ॥२१॥ संसारके छेदकी इच्छासे जो भव्य जीव इस ग्रन्थका बार-बार चिन्तवन करते हैं, ऐसे निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके धारक

बन्धहेतुफलज्ञानं स्याच्छुभाशुभकर्मणाम् । विज्ञेयो मुक्तिसद्भावो मुक्तिहेतुश्च निश्चितः ॥२४॥
निर्वेगत्रितयोद्भूतिर्धर्मश्रद्धाप्रवर्धनम् । असंख्येयगुणश्रेण्या निर्जराशुभकर्मणाम् ॥२५॥
आस्रवस्य च संरोधः कृत्स्नकर्मविमोक्षणात् । शुद्धिरात्यन्तिकी प्रोक्ता सैव संसिद्धिरात्मनः ॥२६॥
तदेतदेव व्याख्येयं श्रव्यं भव्यैर्निरन्तरम् । चिन्त्यं पूज्यं मुदा लेख्यं लेखनीयं च भाक्तिकैः ॥२७॥

विदितसकलशास्त्रो लोकसेनो मुनीशः
कविरविकलवृत्तस्तस्य शिष्येषु मुख्यः ।
सततमिह पुराणे प्रार्थ्य साहाय्यमुच्चै-
र्गुरुविनयमनैषीन्मान्यतां स्वस्य सद्भिः ॥२८॥

यस्योत्तुङ्गमतङ्गजा निजमदस्रोतस्विनीसंगमा-
द्गाङ्गं वारि कलङ्कितं कटु मुहुः पीत्वापगच्छत्तृषः ।
कौमारं घनचन्दनं वनमपां पत्युस्तरङ्गानिलै-
र्मन्दान्दोलितमस्तभास्करकरच्छायं समाशिश्रियन् ॥२९॥

दुग्धाब्धौ गिरिणा हरौ हतसुखा गोपीकुचोद्घट्टनैः
पद्मे भानुकरैर्विदेहिक्रमदले रात्रौ च संकोचने[1] ।
यस्योरःशरणे प्रथीयसि भुजस्तम्भान्तरोत्तम्भित-
स्थेये हारकलापतोरणगुणे श्रीः सौख्यमागाच्चिरम् ॥३०॥

पुरुषोंको अवश्य ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, सब प्रकारकी शान्ति मिलती है, वृद्धि होती है, विजय होती है, कल्याणकी प्राप्ति होती है, प्रायः इष्ट जनोंका समागम होता है, उपद्रवोंका नाश होता है, बहुत भारी सम्पदाओंका लाभ होता है, शुभ-अशुभ कर्मोंके बन्धके कारण तथा उनके फलोंका ज्ञान होता है, मुक्तिका अस्तित्व जाना जाता है, मुक्तिके कारणोंका निश्चय होता है, तीनों प्रकारके वैराग्यकी उत्पत्ति होती है, धर्मकी श्रद्धा बढ़ती है, असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा होती है, अशुभ कर्मोंका आस्रव रुकता है और समस्त कर्मोंका क्षय होनेसे वह आत्यन्तिक शुद्धि प्राप्त होती है जो कि आत्माकी सिद्धि कही जाती है । इसलिए भक्तिसे भरे हुए भव्योंको निरन्तर इसी महापुराण ग्रन्थकी व्याख्या करनी चाहिए, इसे ही सुनना चाहिए, इसीका चिन्तवन करना चाहिए, हर्षसे इसीको पूजा करनी चाहिए और इसे ही लिखना चाहिए ॥२२-२७॥

समस्त शास्त्रोंके जाननेवाले एवं अखण्ड चारित्रके धारक मुनिराज लोकसेन कवि, गुणभद्राचार्यके शिष्योंमें मुख्य शिष्य थे । इन्होंने इस पुराणको सहायता देकर अपनी उत्कृष्ट गुरु-विनयको सत्पुरुषोंके द्वारा मान्यता प्राप्त करायी थी ॥२८॥ जिनके ऊँचे हाथी अपने मद रूपी नदीके समागमसे कलंकित गंगा नदीका कटु जल बार-बार पीकर प्याससे रहित हुए थे तथा समुद्रकी तरंगोंसे जो मन्द-मन्द हिल रहा था और जिसमें सूर्यकी किरणोंकी प्रभा अस्त हो जाती थी ऐसे कुमारीपर्वतके सघन चन्दनवनमें बार-बार विश्राम लेते थे । भावार्थ—जिनकी सेना दक्षिणसे लेकर उत्तरमें गंगा नदी तक कई बार घूमी थी ॥२९॥ लक्ष्मीके रहनेके तीन स्थान प्रसिद्ध हैं—एक क्षीर-समुद्र, दूसरा नारायणका वक्षःस्थल और तीसरा कमल । इनमें-से क्षीरसमुद्रमें लक्ष्मीको सुख इसलिए नहीं मिला कि वह पर्वतके द्वारा मथा गया था, नारायणके वक्षःस्थलमें इसलिए नहीं मिला कि वहाँ गोपियोंके स्तनोंका बार-बार आघात लगता था और कमलमें इसलिए नहीं मिला कि उसके दल सूर्यकी किरणोंसे दिनमें तो खिल जाते थे परन्तु रात्रिमें संकुचित हो जाते थे । इस तरह लक्ष्मी इन तीनों स्थानोंसे हटकर, भुज रूप स्तम्भोंके आधारसे अत्यन्त सुदृढ़ तथा हारोंके समूह रूपी तोरणोंसे सुसज्जित जिनके विशाल वक्षःस्थल-रूपी घरमें रहकर चिरकाल तक सुखको प्राप्त हुई थी ॥३०॥

१ वासावसंकोचिनः ल० ।

अकालवर्षभूपाले पालयत्यखिलामिलाम् । तस्मिन्विध्वस्तनिश्शेषद्विषि वीध्रयशोजुषि ॥३१॥

पद्मालयमुकुलकुलप्रविकासकसत्प्रतापततमहसि ।
श्रीमति लोकादित्ये प्रध्वस्तप्रथितशत्रुसंतमसे ॥३२॥

चेल्लपताके चेल्लध्वजानुजे चेल्लकेतनतनूजे ।
जैनेन्द्रधर्मवृद्धिविधायिनि विधुवीध्रपृथुयशसि ॥३३॥

वनवासदेशमखिलं भुञ्जति निष्कण्टकं सुखं सुचिरम् ।
तत्पितृनिजनामकृते ख्याते बङ्कापुरे पुरेष्वधिके ॥३४॥

शकनृपकालाभ्यन्तरविंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते ।
मङ्गलमहार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्तजनसुखदे ॥३५॥

श्रीपञ्चम्यां बुधार्द्रायुजि दिवसजे मन्त्रिवारे बुधांशे
पूर्वायां सिंहलग्ने धनुषि धरणिजे सैंहिकेये तुलायाम् ।
सूर्ये शुक्रे कुलीरे गवि च सुरगुरौ निष्ठितं भव्यवर्यैः
प्राप्तेज्यं सर्वसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम् ॥३६॥

यावद्धरा जलनिधिर्गगनं हिमांशु-
स्तिग्मद्युतिः सुरगिरिः ककुभां विभागः ।
तावत्सतां वचसि चेतसि पूतमेत-
च्छ्रोत्रस्यितिस्थितिमुपैतु महापुराणम् ॥३७॥

धर्मोऽत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र
तीर्थेशिनां चरितमत्र महापुराणे ।
यद्वा कवीन्द्रजिनसेनमुखारविन्द-
निर्यद्वचांसि न मनांसि हरन्ति केषाम् ॥३८॥

जिन्होंने समस्त शत्रु नष्ट कर दिये थे, और जो निर्मल यशको प्राप्त थे ऐसे राजा अकालवर्ष जब इस समस्त पृथिवीका पालन कर रहे थे ॥३१॥ तथा कमलाकरके समान अपने प्रपितामह मुकुलके वंशको विकसित करनेवाले सूर्यके प्रतापके समान जिसका प्रताप सर्वत्र फैल रहा था, जिसने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध शत्रुरूपी अन्धकारको नष्ट कर दिया था, जो चेल्ल पताकावाला था—जिसकी पताकामें मयूरका चिह्न था—चेल्लध्वजका अनुज था, चेल्लकेतन (बंकेय) का पुत्र था, जैनधर्मकी वृद्धि करनेवाला था, और चन्द्रमाके समान उज्ज्वल यशका धारक था ऐसा श्रीमान् लोकादित्य राजा, अपने पिताके नामपर बसाये हुए अतिशय प्रसिद्ध बंकापुर नामके श्रेष्ठ नगरमें रहकर कण्टक रहित समस्त वनवास देशका सुखपूर्वक चिरकालसे पालन करता था ॥३२-३४॥ तब महामंगलकारी और समस्त मनुष्योंको सुख देनेवाले पिंगल नामक ८२० शक संवत्में श्री पंचमी (श्रावण वदी ५), गुरुवारके दिन, पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्रमें, सिंह लग्नमें, जब कि बुध आर्द्रा नक्षत्रका, शनि मिथुन राशिका, मंगल धनुष राशिका, राहु तुलाराशिका, सूर्य-शुक्र कर्कराशिका, और बृहस्पति वृष राशिपर था तब यह उत्तरपुराण ग्रन्थ पूर्ण हुआ था, उसी दिन भव्यजीवोंने इसकी पूजा की थी। इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ एवं पुण्यरूप यह पुराण संसारमें जयवन्त है ॥३५-३६॥ जबतक पृथिवी है, आकाश है, सूर्य है, चन्द्रमा है, सुमेरु है और दिशाओंका विभाग है, तबतक सज्जनोंके वचनमें, चित्तमें और कानमें यह पवित्र महापुराण स्थितिको प्राप्त हो अर्थात् सज्जन पुरुष वचनों-द्वारा इसकी चर्चा करें, हृदयमें इसका विचार करें और कानोंसे इसकी कथा श्रवण करें ॥३७॥ इस महापुराणमें धर्मशास्त्र, मोक्षका मार्ग है, कविता है, और तीर्थंकरोंका चरित्र है अथवा कविराज जिनसेनके मुखारविन्द निकले

महापुराणस्य पुराणपुंसः पुरा पुराणे तदकारि किंचित् ।
कवीशिनानेन यथा न काव्यचर्चासु चेतोविकलाः कवीन्द्राः ॥३९॥
[1]स जयति जिनसेनाचार्यवर्यः कवीड्यः
विमलमुनिगणेड्यः भव्यमालासमीड्यः ।
सकलगुणसमाढ्यो दुष्टवादीभसिंहो-
विदितसकलशास्त्रः सर्वराजेन्द्रवन्द्यः ॥४०॥
यदि सकलकवीन्द्रप्रोक्तसूक्तप्रचार-
श्रवणसरसचेतास्तत्त्वमेवं सखे स्याः ।
कविवरजिनसेनाचार्यवक्त्रारविन्द-
प्रणिगदितपुराणाकर्णनाभ्यर्णकर्णः ॥४१॥
[2]स जयति गुणभद्रः सर्वयोगीन्द्रवन्द्यः
सकलकविवराणामग्रिमः सूरिवन्द्यः
जितमदनविलासो दिक्चलत्कीर्तिकेतु-
र्दुरिततरुकुठारः सर्वभूपालवन्द्यः ॥४२॥
धर्मः कश्चिदिहास्ति नैतदुचितं वक्तुं पुराणं महत्
श्रव्याः किन्तु कथास्त्रिषष्टिपुरुषाख्यानं चरित्रार्णवः ।

हुए वचन किनका मन हरण नहीं करते ? अर्थात् सभीका करते हैं ॥३८॥ महाप्राचीन पुराण पुरुष भगवान् आदिनाथके इस पुराणमें कवियोंके स्वामी इन जिनसेनाचार्यने ऐसा कुछ अद्भुत कार्य किया है कि इसके रहते कवि लोग काव्यकी चर्चाओंमें कभी भी हृदयरहित नहीं होते ॥३९॥ वे जिनसेनाचार्य जयवन्त रहें जो कि कवियोंके द्वारा स्तुत्य हैं, निर्मल मुनियोंके समूह जिनकी स्तुति करते हैं, भव्यजीवोंका समूह जिनका स्तवन करता है, जो समस्त गुणोंसे सहित हैं, दुष्टवादी रूपी हाथियोंको जीतनेके लिए सिंहके समान है, समस्त शास्त्रोंके जाननेवाले हैं, और सब राजाधिराज जिन्हें नमस्कार करते हैं ॥४०॥ हे मित्र ! यदि तेरा चित्त, समस्त कवियोंके द्वारा कहे हुए सुभाषितोंका समूह सुननेमें सरस है तो तू कवि श्रेष्ठ जिनसेनाचार्यके मुखारविन्दसे कहे हुए इस पुराणके सुननेमें अपने कर्ण निकट कर ॥४१॥ वे गुणभद्राचार्य भी जयवन्त रहें जो कि समस्त योगियोंके द्वारा वन्दनीय हैं, समस्त श्रेष्ठ कवियोंमें अग्रगामी हैं, आचार्योंके द्वारा वन्दना करनेके योग्य हैं, जिन्होंने कामके विलासको जीत लिया है, जिनकी कीर्तिरूपी पताका समस्त दिशाओंमें फहरा रही है, जो पापरूपी वृक्षके नष्ट करनेमें कुठारके समान हैं और समस्त राजाओंके द्वारा वन्दनीय हैं ॥४२॥ 'यह महापुराण केवल पुराण ही है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि यह अद्भुत धर्मशास्त्र है, इसकी कथाएँ श्रवणीय हैं—अत्यन्त

१ कविवरजिनसेनाचार्यवर्यार्यमासौ मधुरमणितकाव्यं नाभिसूनोः पुराणे । तदनु च गुणभद्राचार्यवाचो विचित्राः सकलकविकरीन्द्रव्रातसिंहा जयन्ति ॥ म०, क०, ग०, घ० । २. असौ श्लोकः क०, ग०, घ०, म० पुस्तके नास्ति ।

कोऽप्यस्मिन्कवितागुणोऽस्ति कवयोऽप्येतद्वचोऽब्जालयः
कोऽप्यावत्र कविः कवीन्द्रगुणभद्राचार्यवर्यः स्वयम् ॥४३॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षण-महापुराणसंग्रहे प्रशस्तिव्यावर्णनं
नाम सप्तसप्ततितम पर्व ॥७७॥



नोहर हैं, यह त्रेशठ शलाकापुरुषोंका व्याख्यान है, चरित्र वर्णन करनेका मानो समुद्र ही ;, इसमें कोई अद्भुत कविताका गुण है, और कविलोग भी इसके वचनरूपी कमलोंपर भ्मरोंके समान आसक्त हैं, यथार्थमें इस ग्रन्थके रचयिता श्रीगुणभद्राचार्य स्वयं कोई ाद्भुत कवि हैं ॥४३॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके
संग्रहमें प्रशस्तिका वर्णन करनेवाला सतहत्तरवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।



पुराणाब्धिरगम्योऽयमर्थवीचिविभूषितः ।
सर्वथा शरणं मन्ये गुणभद्रं महाकविम् ॥

पारग्रामो जन्मभूमिर्यदीया
गल्लीलालो जन्मदाता यदीयः ।
पन्नालालः स्वल्पबुद्धिः स चाहं
टीकामेतामल्पबुद्ध्या चकार ॥

मधुमासासितपक्षे शुक्रे वारेऽपराह्णवेलायाम् ।
शून्याष्टचतुर्युग्म-वर्षे वीराब्दसंज्ञिते पूर्णा ॥

ते ते जयन्तु विद्वांसो वन्दनीयगुणाकराः ।
यत्कृपाकोणमालम्ब्य तीर्णोऽयं शास्त्रसागरः ॥

येषां कृपाकोमलदृष्टिपातैः सुपुष्पिताभून्मम सूक्तिवल्ली ।
तान्प्रार्थये वर्णिगणेशपादान् फलोदयं तत्र नतेन मूर्ध्ना ॥

यस्यानुकम्पामृतपानतृप्ता बुधा न हीच्छन्ति सुधासमूहम् ।
भूयात्प्रमोदाय बुधाधिपानां गुणाम्बुराशिः स गुरुर्गणेशः ॥